राजनीति-दर्शन
का
इतिहास

[यूनानी राजनीति-चिंतन से फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद तक]

लेखक

जॉर्ज एच० सेबाइन

अनुवादक

विश्वप्रकाश गुप्त

1977

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०

राम नगर, नई दिल्ली-110055

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०
रामनगर, नई दिल्ली-110055
शोरूम : 4/16-बी, आसफअली रोड, नई दिल्ली-110002

शाखाएं :

अमीनाबाद पार्क, लखनऊ-226001
285/जे, बिपिन बिहारी गांगुली स्ट्रीट, कलकत्ता-700012
सुल्तान बाजार, हैदराबाद-500001
3, गांधी सागर ईस्ट, नागपुर-440002
खजांची रोड, पटना-800004
माई हीरा गेट, जालन्धर-144001
35, माउण्ट रोड, मद्रास-600002
ब्लैकी हाउस, 103/5 वालचन्द हीराचन्द मार्ग, बम्बई 400001
के० पी० सी० सी० बिल्डिंग, रेस कोर्स रोड, बंगलौर-560009

70105

"Paper used for the printing of this book was made available by the Govt. of India at concessional rates."

पुन. मुद्रित 1977

मूल्य : 25 00

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०, रामनगर, नई दिल्ली-110055 द्वारा प्रकाशित एवं राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिंटर्स (प्रा०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली-110055 द्वारा मुद्रित

हिन्दी संस्करण की प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ जार्ज एच० सेबाइन के *A History of Political Theory* ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद है। यह ग्रन्थ अरसे से पाश्चात्य राजनीति-दर्शन पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता रहा है—पश्चिम के विश्वविद्यालयों में भी और भारत के विश्वविद्यालयों में भी। आज जब कि देश के अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी स्नातक और स्नातकोत्तर शिक्षा-परीक्षा का माध्यम हो गई है, इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद की महती आवश्यकता थी। मुझे प्रसन्नता है कि देश के अग्रमान्य प्रकाशक श्री श्यामलाल गुप्त, स्वत्वाधिकारी मैसर्स एस० चंद एंड कम्पनी के सहयोग और उत्साह से यह कार्य पूरा हो गया है। श्री गुप्त अपनी प्रकाशन संस्था के माध्यम से हिन्दी में उच्चस्तरीय वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य के निर्माण और प्रकाशन की दिशा में अनेक वर्षों से प्रयत्नशील रहे हैं और इस क्षेत्र में उनका योगदान सराहनीय है।

सेबाइन के इस ग्रन्थ का अनुवाद कई वर्ष पूर्व आरम्भ किया गया था। अनेक बाधाओं के बावजूद यह काम धीरे-धीरे प्रगति करता रहा और आज हिन्दी पाठकों के हाथों में ग्रन्थ को प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें यूनानी राजनीति चिंतन से फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद तक के पाश्चात्य राजनीति-दर्शन के प्रमुख वेत्ताओं और उनकी प्रवृत्तियों का विवेचन है।

मेरी अन्यान्य रचनाओं की भाँति इस कृति के एक एक पन्ने पर भी मेरी पत्नी श्रीमती मनमोहिनी गुप्त के परिश्रम की छाप है। लेकिन, इस बारे में मेरा मौन रहना ही उचित है।

—विश्वप्रकाश

अनुवाद निदेशालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

भाग १ : नगर-राज्य का सिद्धान्त

(The Theory of the City State)

भाग ३ : राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त

(The Theory of the National State)

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

भाग २

अध्याय पृष्ठ

भाग १

नगर-राज्य का सिद्धान्त

(THE THEORY OF THE CITY-STATE)

अध्याय १

नगर-राज्य

(The City-State)

आजकल के अधिकांश राजनैतिक आदर्शों या कम-से-कम उनकी परिभाषाओं का श्रीगणेश उसी समय से होने लगता है, जब से यूनानी विचारकों ने नगर-राज्य (City state)[1] की संस्थाओं के सम्बन्ध में चिन्तन प्रारम्भ किया। इन राजनैतिक आदर्शों में न्याय स्वतन्त्रता, संवैधानिक शासन (Constitutional Government) और विधि के प्रति सम्मान (respect for the law) प्रमुख हैं। राजनैतिक तत्त्वज्ञान का इतिहास बहुत लम्बा है। इस लम्बे इतिहास में इन शब्दों का अर्थ भी समय समय पर बदला है। यह अर्थ उन संस्थाओं की, जिनके द्वारा इन आदर्शों को सिद्ध किया जाता था, और उस समाज की, जिसमें ये संस्थाएँ कार्य करती थीं, पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। यूनान का नगर-राज्य आजकल के राजनैतिक समाजों (Political Communities) से इतना भिन्न था कि उनके सामाजिक और राजनैतिक जीवन के चित्रण के लिए बृहत् कल्पना-शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी। यूनानी दार्शनिकों ने जिन राजनैतिक प्रथाओं (Political Practices) पर विचार किया था, वे उन प्रथाओं से बिलकुल भिन्न थी, जो आधुनिक संसार में प्रचलित रही हैं। विचारों के जिस वातावरण में उन्होंने काम किया था, वह आजकल के वातावरण से बिल्कुल भिन्न था। यद्यपि उनकी समस्याओं और आजकल की समस्याओं में थोड़ा-बहुत साम्य अवश्य पाया जाता है, फिर भी उनकी समस्याएँ आजकल की समस्याओं से अभिन्न कदापि नहीं थी। यूनान के राजनैतिक जीवन का मूल्यांकन करने वाले नैतिक आदर्श वर्तमान युग के नैतिक आदर्शों से बिलकुल पृथक् थे। यदि हम उनके सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझना चाहते हैं, तो हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम सबसे पहले, कम से-कम स्थूल रूप से, इस बात को समझें कि उनके मनोजगत् में किस प्रकार की संस्थाएँ थीं और उस जनता की दृष्टि में जिसके लिए उन्होंने लिखा, नागरिकता का यथार्थ और आदर्श दोनों रूपों में क्या अर्थ था। इस प्रयोजन के लिए एथेंस

1. वह राज्य जिसमें प्रभुसत्ता (Sovereignty) स्वतन्त्र नगर के स्वतन्त्र नागरिकों में निहित रहती है। प्राचीन काल में एथेंस और रोम नगर राज्यों के श्रेष्ठ उदाहरण थे। (अनु०)

(Athens)[1] का शासन विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण अंशतः तो यह है कि वह सबसे अधिक विख्यात है, लेकिन, मुख्यतः यह है कि यूनान के महत्तम दार्शनिकों के चिन्तन का वही विशेष आधार था।

सामाजिक वर्ग

(Social Classes)

क्षेत्रफल और जनसंख्या दोनों की दृष्टि से प्राचीन नगर-राज्य (City-state) आधुनिक राज्यों की तुलना में बहुत ही छोटा था। एटिका (Attica)[2] का सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र (Territory) र्होड आइलैंड (Rhode Island)[3] के दो-तिहाई क्षेत्रफल से कुछ ही अधिक था। जनसंख्या की दृष्टि से एथेंस (Athens) की तुलना डेनेवर (Denver)[4] अथवा रोचेस्टर (Rochester)[5] जैसे नगर के साथ ही की जा सकती है। एथेंस (Athens) की जनसंख्या के सम्बन्ध में अधिकृत रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन अनुमानतः वह तीन लाख से कुछ ही अधिक रही होगी। इस प्रकार, एक छोटा भू भाग और उसमें एक प्रधान नगर—यह नगर-राज्य का सामान्य रूप था।

यूनान के नगर-राज्य (City-state) की जनसंख्या तीन मुख्य वर्गों में बँटी हुई थी। ये वर्ग राजनैतिक और कानूनी दृष्टि से एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न थे। यूनान के सामाजिक जीवन में दासों का स्थान सबसे नीचे था। प्राचीन काल में दासता एक सार्वभौमिक प्रथा मानी जाती थी। सम्भवतः, एथेंस की कुल जनसंख्या में दासों की संख्या एक-तिहाई थी। फलतः, नगर-राज्य की अर्थ-व्यवस्था (Economy) में दासता का प्रायः वही महत्त्व था, जो आजकल की अर्थ-व्यवस्था में मजूरी (wage-earning) का है। यह ठीक है, कि नगर-राज्य में राजनैतिक जीवन में दासों का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। यूनान की राजनैतिक विचारधारा में दास का अस्तित्व उसी प्रकार से स्वयं-स्वीकृत मान लिया गया था, जिस प्रकार कि मध्य-युग (Middle ages) में सामंत वर्ग (feudal ranks) का था या आजकल मज़दूर और मालिक का माना जाता है। कभी-कभी उसकी दशा पर तरस खाया जाता था और कभी-कभी इस प्रथा का (उसके दोषों का नहीं) मण्डन किया जाता था। लेकिन, यूनान के नगर-राज्य में दासों की संख्या फिर भी काफ़ी थी। पुनः, उनकी संख्या को बढ़ा-चढ़ा कर भी बताया जाता है। इस कारण, एक ऐसी मनगढ़त बात चल पड़ी है जो बिलकुल गलत है। यह मनगढ़त बात है—नगर-राज्य के नागरिक एक ऐसे

---

1 यूनान का सबसे प्रमुख नगर-राज्य। (अनु०)

2 यूनान का एक अन्य प्रमुख नगर-राज्य। (अनु०)

3 अमरीकी संघ का एक राज्य। (अनु०)

4 अमरीका के कोलारैडो राज्य की राजधानी और वहाँ का सबसे बड़ा नगर। इसका क्षेत्रफल ६६ वर्गमील है। (अनु०)

5. अमरीका के न्यूयार्क राज्य का एक नगर। (अनु०)

अवकाशजीवी वर्ग (leisured class) के सदस्य थे और उनका राजनैतिक दर्शन एक ऐसे वर्ग का दर्शन था जिसे शारीरिक श्रम से छूट मिली हुई थी।

यह भ्रम है। एथेंस का यह अवकाशजीवी वर्ग (leisured class) समान आकार वाले एक अमरीकी नगर के अवकाशजीवी वर्ग से मुश्किल से ही बड़ा रहा होगा। इसका कारण यह है कि यूनानियों की आर्थिक दशा बहुत अच्छी नहीं थी। वे जैसे-तैसे अपना काम ही चला पाते थे। यदि उन्हें आजकल के लोगों की अपेक्षा अधिक अवकाश प्राप्त था, तो इसका कारण यह था कि वे अवकाश का उपयोग करते थे। उनका आर्थिक ढांचा बहुत बना हुआ नहीं था। उन्हें अपने इस अवकाश का मूल्य भी चुकाना पड़ता था। यह मूल्य था—खान-पान का निम्न-स्तर। आजकल के एक अमरीकी को यह सरलता एक बोझ मालूम पड़ेगी। यह निश्चित है कि एथेंस के अधिकांश नागरिक व्यापारी या कारीगर या किसान रहे होंगे और वे अपने अपने कारबार द्वारा रोजी कमाते होंगे। उनके लिए जीविका का और कोई साधन नहीं था। फलत, वे अपने राजनैतिक कार्य ऐसे समय में ही करते थे, जब उन्हें अपने व्यक्तिगत कारोबार से फुरसत होती थी। आजकल भी तो यही होता है। यह सही है कि अरस्तू (Aristotle)[1] ने इस बात की निन्दा की है। उसके विचार से यह ज्यादा अच्छा होता कि सारा शारीरिक श्रम दास ही करते और नागरिकों को इतना समय मिल जाता कि वे अपना पूरा ध्यान राजनीति पर ही केन्द्रित कर सकते। इस आदर्श की बुद्धिमत्ता के बारे में चाहे कुछ भी सोचा जाए, यह निश्चित है कि अरस्तू वस्तु-स्थिति का वर्णन नहीं कर रहा था, बल्कि वह राजनीति में सुधार करने के लिए एक परिवर्तन का सुझाव दे रहा था। कभी-कभी यूनान के राजनैतिक दर्शन ने अवकाशजीवी वर्ग (leisured class) को आदर्श रूप में चित्रित किया है और कुलीनतन्त्रात्मक राज्यों (aristocratic states) में शासक वर्ग जमींदार हो सकता है। लेकिन यह कल्पना करना बिलकुल गलत है कि एथेंस जैसे नगर में ऐसे नागरिक रहे होंगे जिनके हाथ कीचड़ और मिट्टी से न सने हों।

हम दासों पर विचार कर चुके हैं। यूनानी नगर में दूसरा मुख्य वर्ग निवासी विदेशियों (metics)[2] या दूसरे राज्यों के नागरिकों का था। एथेंस जैसे व्यापारिक नगर में ऐसे व्यक्तियों की संख्या काफी हो सकती है। हो सकता है कि इन व्यक्तियों में से बहुत से व्यक्ति वहां पर काफी लम्बे समय तक भी रहते हों। लेकिन ऐसे व्यक्तियों का कानूनी रूप से देशीकरण (naturalization)[3] नहीं होता था। ये विदेशी लोग पीढ़ी दर पीढ़ी रहने के बाद भी नागरिक समुदाय से बाहर ही रहते थे। हां, यह दूसरी बात थी कि वे कभी नागरिक समुदाय की भूल

---

1 अरस्तू शब्द के हिन्दी में कई रूप प्रचलित हैं— अरिस्टाटल, अरिस्तू और अरस्तू। इनमें सबसे अधिक चलन अरस्तू का है। प्रस्तुत ग्रंथ में उसी का प्रयोग किया गया है। (अनु०)

2 एथेंस में निवास करने वाला वह विदेशी जिसे कुछ नागरिक विशेषाधिकार प्राप्त थे। (अनु०)

3 किसी विदेशी का दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त करना। (अनु०)

अथवा चश्मपोशी के फलस्वरूप राजनीति में भाग लेने लगते। लेकिन, सामान्य रूप से दासों की भाँति ही इन विदेशी लोगों का नगर के राजनैतिक जीवन में कोई भाग नहीं था। फिर भी, ये लोग आजाद थे और उनके साथ किसी प्रकार का सामाजिक भेदभाव नहीं बर्ता जाता था।

सबसे अन्त में नागरिकों का वह वर्ग आता है जो नगर-राज्य के सदस्य होते थे और जिन्हें उसके राजनैतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त था। यह विशेषाधिकार (privilege) जन्म द्वारा प्राप्त होता था। यूनानी अपने माता-पिता के शहर का नागरिक रहता था। नागरिकता का अर्थ सदस्यता होता था। इसका अभिप्राय यह था कि नागरिक को नगर के राजनैतिक जीवन में कुछ-न-कुछ योग अवश्य देना पड़ता था। इस कुछ-न-कुछ का मतलब यह भी हो सकता था कि वह नगर सभा में उपस्थित होता। इस नगर सभा का महत्त्व इस बात पर निर्भर होता था कि नगर में कितना लोकतन्त्र है। इस कुछ-न-कुछ का यह भी अर्थ हो सकता था कि नागरिक कुछ राजनैतिक पदों का पात्र होता। अरस्तू ने एथेंस की प्रथा को ध्यान में रखते हुए ही कहा था कि न्यायाधीश के कर्त्तव्य का पालन करने की पात्रता नागरिकता की सर्वश्रेष्ठ कसौटी है। मनुष्य कई पदों के योग्य है या केवल थोड़े से पदों के यह बात भी उस नगर में प्रचलित लोकतन्त्र की मात्रा के ऊपर निर्भर थी। लेकिन, ध्यान देने योग्य बात यह है कि यूनानी के लिए नागरिकता का अर्थ सदैव यह था कि वह नगर के राजनैतिक जीवन में कुछ-न-कुछ भाग अवश्य ले। इस प्रकार, यह विचार नागरिकता के आधुनिक विचार की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ और कम कानूनी था। आजकल नागरिक का अर्थ वह व्यक्ति माना जाता है जिसे कानूनी रूप से कुछ अधिकार प्राप्त हों। इस विचार को यूनानी की अपेक्षा रोमन अधिक अच्छी तरह समझ सकते थे। लैटिन शब्द jus का कुछ अर्थ व्यक्तिगत अधिकार या स्वामित्व भी है। इसके विपरीत यूनानी के लिए नागरिकता का अर्थ स्वामित्व नहीं बल्कि सहभागिता थी, बहुत कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार कि परिवार की सदस्यता होती है। यूनान के राजनैतिक दर्शन पर इस तथ्य का भारी प्रभाव पड़ा था। इस दृष्टि से यूनानियों के सामने मुख्य समस्या यह नहीं थी कि मनुष्य को उसके अधिकार प्राप्त हों। उनके सामने मुख्य समस्या यह थी कि मनुष्य को उसके योग्य स्थान प्राप्त हो। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यूनानी विचारकों की दृष्टि में राजनैतिक समस्या इस बात की खोज करना था कि प्रत्येक वर्ग को स्वस्थ समाज में क्या स्थान प्राप्त हो जिससे कि सभी महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य सुचारु रूप से चल सकें।

राजनैतिक संस्थाएँ

(Political Institutions)

यूनान के नागरिक-सदस्य (citizen members) अपना राजनैतिक कार्य जिन संस्थाओं द्वारा चलाते थे, उनका अध्ययन करने के लिए हम एथेंस का उदा-

ग्रहण ले सकते हैं। इसका कारण यह है कि एथेंस का लोकतन्त्रात्मक संविधान[1] सबसे अधिक विख्यात है। एथेंस में सभी पुरुष नागरिक सभा (Assembly or Ecclesia) के सदस्य होते थे। यह सभा नगर की सभा थी। एथेंस का प्रत्येक पुरुष इक्कीस वर्ष की आयु का होने पर इस सभा का सदस्य हो जाता था। सभा की साल में दस बार बैठक होती थी। परिषद् (Council) के आदेश पर सभा के असाधारण अधिवेशन भी होते थे। इस नगर सभा के कार्य आजकल के अधिनियमों से साम्य रखते हैं। आजकल के अधिनियमों में सम्पूर्ण राजनैतिक समुदाय की सार्वजनिक सत्ता (public authority) अन्तर्निहित मानी जाती है। लेकिन, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इस सभा में नीतियों का निर्माण होता था या राजनैतिक कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में हटकर विचार विमर्श होता था। एक जगह एकत्रित जनता द्वारा संचालित प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct Democracy) शासन का एक रूप नहीं बल्कि एक राजनैतिक कल्पना मात्र है। अपरन्तु, यूनानी शासन के सभी रूपों (कानून बाह्य अधिनायकतन्त्र को छोड़कर) में चाहे वे कुलीनतन्त्रात्मक हों या लोकतन्त्रात्मक, किसी न किसी प्रकार की जनसभा अवश्य रहती थी। यह दूसरी बात है कि शासन में उनका योग बहुत कम रहता हो।

एथेंस के शासन के सम्बन्ध में रोचक बात सम्पूर्ण जनता की सभा नहीं है बल्कि वे राजनैतिक उपाय हैं जो मजिस्ट्रेटों तथा पदाधिकारियों को नागरिक सभा के प्रति उत्तरदायी बनाने के उद्देश्य से निर्मित हुए थे। यह योजना एक प्रकार से प्रतिनिधान (representation) द्वारा कार्यान्वित की गई थी। तथापि, एथेंस की प्रतिनिधान पद्धति आजकल के प्रतिनिधान सम्बन्धी विचारों से भिन्न थी। मुख्य उद्देश्य यह था कि जनता के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों को चुन लिया जाय और वे प्रतिनिधि किसी विशेष मामले में या थोड़े से समय के लिये सम्पूर्ण जनता के नाम से काम करें। इन प्रतिनिधियों के कार्यकाल छोटे होते थे। सामान्यतः पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था नहीं थी। इसके फलस्वरूप अन्य नागरिकों को भी सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध में भाग लेने के लिये बारी आ सकती थी। इस नीति के अनुसार ही न्याय पदों पर व्यक्ति नहीं बल्कि दस दस आदमियों के बोर्ड रहते थे। बोर्ड के सदस्य प्रत्येक कबीले में से चुने जाते थे। यूनान के नागरिक कई कबीलों में विभक्त थे। यूनान के मजिस्ट्रेटों की शक्तियां बहुत कम थीं। यूनान के नगर शासन का नियन्त्रण दो संस्थाओं के हाथ में था। एक संस्था तो पांच सौ प्रतिनिधियों की परिषद्

---

1 यह क्लीस्थनीज (Cleisthenes) का संविधान था। क्लीस्थेनीज के सुधारों को ५०८ ई० पू० में अंगीकार किया गया था। इसमें समय समय पर थोड़े बहुत परिवर्तन किये गए थे। इन परिवर्तनों का उद्देश्य निर्वाचन तथा लाट द्वारा चुने गए मजिस्ट्रेटों एवं वेतन पाने वाले कर्मचारियों की संख्या में विस्तार करना था। ये दोनों जनता के शासन के उपाय थे। क्लीस्थेनीज के सुधारों ने एथेंस के संविधान के उस रूप की स्थापना की थी जो एथेंस के स्वर्ण काल में था। पेलोपोनेशियन युद्ध की समाप्ति पर एथेंस में कुछ काल के लिए अल्पजनतन्त्र या धनिकतन्त्र की प्रतिक्रिया हुई थी, लेकिन ४०३ ई० पू० में पुराना संविधान पुनः चालू हो गया था।

(Council of Five Hundred) थी। दूसरी संस्था उन अदालतों की थी जिनके न्यायाधीश जनता द्वारा निर्वाचित होते थे।

इन शासी संस्थाओं के सदस्यों के चुनाव का एक विशेष ढंग था। जिस ढंग से वे चुने जाते थे, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करते थे। स्थानीय शासन के लिये एथेंस के नागरिक प्रायः सौ क्षेत्रों (demes) में विभक्त कर दिये जाते थे। ये क्षेत्र स्थानीय शासन के एकक (units) होते थे। वे एक दृष्टि से आजकल के स्थानीय एककों से बिलकुल भिन्न थे। उनकी सदस्यता आनुवंशिक (hereditary) होती थी। यद्यपि एथेंस का नागरिक एक स्थान से दूसरे स्थान को चला जाता था, फिर भी वह एक ही क्षेत्र (deme) का सदस्य रहता था। यद्यपि यह क्षेत्र एक बस्ती होता था, फिर भी शुद्ध स्थानीय प्रतिनिधान (local representation) की पद्धति नहीं थी। इन क्षेत्रों को कुछ स्थानीय स्वायत्तता (local autonomy) प्राप्त थी। उनके पास कुछ मामूली पुलिस कार्य भी रहते थे। ये क्षेत्र वे द्वार थे जिनसे होकर एथेंसवासी नागरिकता के प्रांगण में प्रवेश करते थे। इन क्षेत्रों में अपने सदस्यों का रजिस्टर रहता था। जब एथेंस का कोई लड़का अठारह साल का हो जाता, उसका नाम इस रजिस्टर में लिख लिया जाता था। इन क्षेत्रों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य उम्मीदवारों को उन विभिन्न संस्थाओं में जाने के लिये प्रस्तुत करना था, जिनसे केन्द्रीय शासन चलता था। यह पद्धति निर्वाचन और लाट का समन्वय थी। क्षेत्र उम्मीदवारों को अपने आकार के अनुपात में निर्वाचित करते थे। वास्तविक पदाधिकारी निर्वाचन द्वारा इस प्रकार तैयार किये गये पैनल में से लाट द्वारा चुने जाते थे। यूनानियों की समझ से लाट द्वारा पदों को भरने की यह पद्धति पूरी तरह से लोकतन्त्रात्मक थी, क्योंकि इसकी वजह से प्रत्येक व्यक्ति को पद धारण करने का समान अवसर रहता था।

एथेंस के पदाधिकारियों की एक महत्त्वपूर्ण संस्था इस योजना के बाहर रहती थी। इस संस्था की शक्ति भी अन्य संस्थाओं से अधिक थी। यह संस्था यूनान के दस सेनापतियों की थी। ये लोग प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाते थे। इनका बार-बार पुनर्निर्वाचन भी हो सकता था। ये सेनापति सिद्धान्ततः तो सैनिक अधिकारी होते थे, लेकिन साम्राज्य-काल में वे न केवल एथेंस साम्राज्य के विदेशी भागों में महत्त्वपूर्ण शक्तियों का प्रयोग करते थे, प्रत्युत स्वदेश में परिषद् (Council) और सभा के निर्णयों पर भी इनका भारी प्रभाव रहता था। इस प्रकार, इन सेनापतियों का पद केवल सैनिक पद ही नहीं था, कुछ अवस्थाओं में वह उच्चतम महत्त्व का राजनैतिक पद भी था। पेरीक्लीज (Pericles)[1] ने कई वर्षों तक सेनापति पद पर कार्य किया था। इस रूप में वह एथेंस का नीतिनिर्माता भी रहा था। उसकी स्थिति परिषद् (Council) और सभा (Assembly) के संदर्भ में एक सभापति की सी

---

1 एथेंस का एक महान् राजनेता जिसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की और जो नागरिकों की सहमति से वर्षों तक निरपेक्ष शासक बन गया। पेरीक्लीज ने एथेंस को उन्नति की चोटी पर पहुँचा दिया। उसकी मृत्यु ४२६ ई० पू० में हुई। (अनु०)

नहीं बल्कि आधुनिक शासन के प्रधानमन्त्री (Prime Minister) के समान भी। लेकिन उसकी शक्ति का रहस्य यह था कि वह सभा को अपने साथ ले जा सकता था। यदि वह ऐसा न कर पाता तो वह उसी प्रकार अपदस्थ किया जा सकता था जिस प्रकार कि लोक सभा का प्रतिकूल मत उत्तरदायी मन्त्री को पदच्युत कर देता है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, एथेंस में वास्तविक शासी संस्थाएँ दो ही थी। पाँच सौ सदस्यों की परिषद् (Council of Five Hundred) और जनता द्वारा निर्वाचित न्यायाधीशों की अदालतें। यूनान के प्राय सभी नगर राज्यों में इस प्रकार की एक न एक परिषद् अवश्य रहती थी। लेकिन स्पार्टा जैसे कुलीनतन्त्रात्मक राज्यों में इस परिषद् का कार्य एक सीनेट (Senate) करता था। यह सीनेट उन वयोवृद्ध राजनीतिज्ञों से मिल कर बनता था जो जीवन भर के लिये निर्वाचित होते थे और जो सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। ऐसी परिषद् की सदस्यता प्राय उन्हीं व्यक्तियों को मिलती थी जो सुविख्यात शासक वंश में जन्म लेते थे। इसकी सदस्यता एथेंस की जनता द्वारा निर्वाचित परिषद् की सदस्यता से बिलकुल भिन्न होती थी। एरियोपेगस की परिषद् (The Council of the Areopagus)[1] उस भूतपूर्व कुलीनतन्त्रात्मक सीनेट का अवशेषमात्र थी जो उठते हुए लोकतन्त्र द्वारा अपनी शक्तियों से वंचित कर दिया गया था। कहने का सार यह है कि पाँच सौ सदस्यों की परिषद् (Council of Five Hundred) सभा की कार्यकारी और संचालन समिति थी।

शासन का वास्तविक कार्य यह समिति ही करती थी। लेकिन पाँच सौ सदस्यों की परिषद् इतनी बड़ी थी कि वह काम ठीक से नहीं कर पाती थी। फलत, उसके विभिन्न पद सदस्यों को बारी बारी से दिये जाते थे। इस प्रकार, इस परिषद् का आकार काफी छोटा हो जाता था। एथेंस में कुल दस कबीले थे। प्रत्येक कबीला पचास पचास सदस्य देता था। एक कबीले के पचास सदस्य वार्षिक पदावधि के दसवें भाग के लिये कार्य करते थे। पचास सदस्यों की इस समिति में शेष नौ कबीलों में से प्रत्येक का एक एक सदस्य और रहता था। ये लोग ही सम्पूर्ण परिषद् के नाम से सारा काम करते थे। इन पचास सदस्यों में से एक व्यक्ति एक दिन के लिये प्रधान (President) चुना जाता था। एथेंस का कोई भी व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवन में यह सम्मान एक से अधिक दिन के लिये प्राप्त नहीं कर सकता था। परिषद् नागरिकों की आम सभा के विचार के लिये प्रस्ताव उपस्थित करती थी। आम सभा केवल उन्हीं प्रस्तावों पर विचार करती थी जो उसके पास परिषद् द्वारा आते थे। जब एथेंस का संविधान अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में था, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि सभा नहीं, प्रत्युत् परिषद् ही वास्तविक नीति का निर्माण करती थी। मालूम होता है कि बाद के दिनों में परिषद् ने अपने काम को सीमित कर लिया था और वह केवल उन प्रस्तावों का मसौदा ही तैयार कर देती थी जिन पर बाद में सभा में बहस होती थी। इन विधायी कर्त्तव्यों के अतिरिक्त परिषद् शासन की केन्द्रीय कार्यकारी संस्था भी थी।

1 एथेंस का उच्चतम न्यायाधिकरण जो पहले उच्च कोटि के राजनैतिक तथा धार्मिक कार्य किया करता था लेकिन जिसका कार्यक्षेत्र पेरीक्लीज के बाद गुरुतर अपराधों पर विचार करना ही रह गया। (अनु०)

विदेशी दूतावास केवल परिषद् के जरिये ही जनता तक पहुँच सकते थे। न्यायाधीशों के ऊपर भी इस परिषद् का ही नियन्त्रण रहता था। परिषद् नागरिकों को कारावास में डाल सकती थी, वह उन्हें प्राणदंड तक दे सकती थी। वह अपराधियों को सीधे साधारण अदालतों के सुपुर्द भी कर सकती थी। वित्त-व्यवस्था, सार्वजनिक सम्पत्ति और कराधान (taxation) के ऊपर भी उनका ही नियन्त्रण था। देश का जहाजी बेड़ा और उसका सारा साज-सामान भी उसके ही नियन्त्रण में रहता था। अनेक प्रकार के आयोग और प्रशासनिक संस्थाएं तथा सेवक वर्ग न्यूनाधिक रूप से उसकी मातहती में ही थे।

तथापि, परिषद् की महान् शक्तियाँ सदैव सभा की सद्भावना (good will) के ऊपर आश्रित रहती थीं। सभा परिषद् द्वारा प्रस्तुत किए गए विभिन्न मामलों पर अपना निर्णय देती थी। वह कुछ को पास करती, कुछ में संशोधन करती और कुछ को अस्वीकार कर देती थी। सभा में उपस्थित किया गया कोई प्रस्ताव परिषद् के पास भेजा जा सकता था या परिषद् किसी प्रस्ताव को अपनी किसी सिफारिश के बिना ही सभा के सामने उपस्थित कर सकती थी। युद्ध या शान्ति की घोषणा, सन्धियाँ करना, प्रत्यक्ष करारोपण या सामान्य विधायी अधिनियम जैसे सभी महत्वपूर्ण विषय जनता के अनुमोदन के लिए सभा (Assembly) के सामने जाते थे। लेकिन, एथेंस की राजनीति के स्वर्ण-काल में परिषद् से यह आशा कभी नहीं की जाती थी कि वह केवल मसौदे बनाने का ही काम करे। आज्ञप्तियाँ (decrees) हमेशा ही परिषद् और जनता (council and the people) के नाम से ही पास की जाती थीं।

मजिस्ट्रेटों और विधि के ऊपर जनता के नियन्त्रण का सर्वश्रेष्ठ रूप अदालतों द्वारा प्रकट होता था। एथेंस की अदालतें सम्पूर्ण लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था की प्राण थीं। उनकी स्थिति आधुनिक शासन की अदालतों की भाँति नहीं थी। यह ठीक है कि अन्य अदालतों की तरह वे भी दीवानी या फौजदारी मुकदमों का फैसला करती थीं। लेकिन, उनकी शक्तियाँ इनसे कहीं अधिक थीं। आधुनिक विचारों के अनुसार उनकी शक्तियाँ केवल न्यायिक (judicial) ही नहीं थीं, बल्कि कार्यकारी (executive) और विधायी (legislative) भी थीं।

इन अदालतों के सदस्य या जूरीमैन (jurymen), डीमों (demes) द्वारा नामांकित होते थे। प्रति वर्ष छः हजार व्यक्तियों का एक पैनल (panel) निर्वाचित होता था। इन व्यक्तियों में से कुछ को लाट द्वारा विशेष मामलों में विशेष अदालतों में बैठने के लिए चुना जाता था। एथेंस का कोई भी तीस वर्षीय नागरिक इस पद के लिए चुना जा सकता था। अदालत काफी बड़ी होती थी। उसमें कम से कम २०१ न्यायाधीश तो रहते ही थे। सामान्यतः, उसमें ५०१ और कभी-कभी तो इससे भी अधिक न्यायाधीश रहते थे। ये नागरिक न्यायाधीश (judge) और न्यायसभ्य (jurymen) एक साथ ही होते थे। जब कोई विधि व्यवस्था तकनीकी दृष्टि से बहुत विकसित होती है, तब उसका संगठन भी एक विशेष प्रकार का होता है। एथेंस की अदालत का संगठन ऐसा नहीं था। मुकदमे में दोनों दलों को अपने पक्ष स्वयं

उपस्थित होकर प्रस्तुत करने पड़ते थे। अदालत केवल मत ही देती थी। पहले वह अपराध के प्रश्न पर मत देती थी। यदि निर्णय (verdict) यह होता कि अपराध किया गया है तो इसके बाद प्रत्येक पक्ष यह कहता था कि हमारे मत से यह दंड (punishment) उचित है। तत्पश्चात्, अदालत दंड के सम्बन्ध में अपना निर्णय सुना देती थी। अदालत का निर्णय अन्तिम होता था। अपील की कोई व्यवस्था नहीं थी। यह बिलकुल तर्कसम्मत था क्योंकि एथेंस की अदालतों का यह सिद्धान्त था कि अदालत सम्पूर्ण जनता के नाम से ही अपना काम करती और मुकदमे निपटाती थी। अदालत केवल न्यायांग (judicial organ) ही नहीं थी। इस कार्य के लिए यह समस्त एथेंस की जनता ही समझी जाती थी। इसलिए एक अदालत का निर्णय दूसरी अदालत के ऊपर बन्धनकारी नहीं था। वस्तुतः, कुछ दृष्टियों से अदालत सभा (Assembly) के समान ही थी। सभा और अदालत दोनों ही जनता थी। संक्षेपतः, अदालतें पदाधिकारियों और विधि (law) दोनों के ऊपर जनता का नियन्त्रण स्थापित करती थीं।

अदालतें मजिस्ट्रेटों के ऊपर तीन तरीकों से नियन्त्रण स्थापित करती थीं। प्रथमतः, वे किसी प्रत्याशी की उसके पद ग्रहण के पूर्व, परीक्षा ले सकती थीं। कोई भी व्यक्ति प्रत्याशी के ऊपर यह आक्षेप लगा सकता था कि प्रत्याशी पद धारण करने लायक नहीं है। अदालत उस व्यक्ति को अनर्ह (disqualify) कर सकती थी। इस प्रक्रिया के कारण लाट द्वारा मजिस्ट्रेटों का चुनाव संयोग के ऊपर जितना पहले पहल निर्भर मालूम पड़ता है उससे कम ही रहा था। दूसरे, जब पदाधिकारी अपने कार्यकाल के पश्चात् अवकाश ग्रहण करता था, कार्यकाल में उसके द्वारा किए गए सभी कार्यों का पुनरीक्षण (review) होता था। यह पुनरीक्षण अदालत के सामने ही होता था। अन्ततः कार्यकाल के अन्त में लेखाओं (accounts) की लेखा परीक्षा (auditing) होती थी और यह देखा जाता था कि सार्वजनिक धन का ठीक से उपयोग हुआ है या नहीं। एथेंस का मजिस्ट्रेट दुबारा निर्वाचित नहीं हो सकता था। पद ग्रहण के पूर्व और पद त्यागने के बाद, लाट द्वारा चुने गए उसके पाँच सौ या इससे भी अधिक साथी-नागरिकों की अदालत उसकी जाँच करती थी। इस प्रकार, उसे बहुत कम स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इसके विपरीत, सेनापति पुनर्निर्वाचित हो सकते थे और उनके कार्यों का पुनरीक्षण भी नहीं हो सकता था। इन्हीं दो कारणों से एथेंस के अधिकारियों में वे सबसे अधिक स्वतन्त्र थे।

अदालतों का केवल मजिस्ट्रेटों के ऊपर ही नियन्त्रण नहीं रहता था, उनका स्वयं कानून (law) के ऊपर भी नियन्त्रण रहता था। इस प्रकार कुछ विषय अवस्थाओं में उनकी शक्तियाँ सभा (Assembly) के समान ही हो जाती थीं। अदालतें न केवल मनुष्यों की ही बल्कि कानून की भी जाँच कर सकती थीं। परिषद् अथवा सभा के निर्णय पर एक विशेष प्रकार के लेख (writ) द्वारा इस आधार पर आपत्ति की जा सकती थी कि वह संविधान के प्रतिकूल है। कोई भी नागरिक इस प्रकार की शिकायत कर सकता था। जब तक विवादग्रस्त कानून के सम्बन्ध में अदालत अन्तिम निर्णय न दे देती, कानून स्थगित रहता था। विवादग्रस्त कानून

पर व्यक्ति के समान ही विचार होता था। अदालत का प्रतिकूल निर्णय कानून को खत्म कर देता था। व्यवहार में इस प्रकार की कार्यवाही के आधार की कोई सीमा नहीं थी। सिर्फ यही कहा जा सकता था कि विवादग्रस्त कानून अनिष्टकर है। पुनः, यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के कार्यों के लिए एथेंसवासी अदालत को भी सारी जनता के साथ समीकृत मानते थे।

राजनैतिक आदर्श
(Political Ideals)

एथेंस में परिषद (Council) जनता द्वारा निर्वाचित होती थी और वह सभा (Assembly) के प्रति उत्तरदायी होती थी। वहाँ की अदालतें भी स्वतन्त्र थीं और जनता ही उनको चुनती थी। ये एथेंस के लोकतन्त्र की विशिष्ट संस्थाएँ थीं। जैसा कि प्रत्येक शासन-प्रणाली में होता है, इन संस्थाओं के पीछे कुछ सिद्धान्त थे कि वे संस्थाएँ कैसी होनी चाहिएँ। संस्थाओं से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे कुछ महत्त्वपूर्ण राजनैतिक आदर्शों को कार्यान्वित करने का प्रयास करें। इन आदर्शों की खोज करना या इनका वर्णन करना मुश्किल है लेकिन राजनैतिक दर्शन को समझने के लिए राजनैतिक संस्थाओं की भाँति इन्हें भी समझना आवश्यक है। सौभाग्यवश, इतिहासकार थूसीडाइड्स (Thucydides)[1] ने एक महत्त्वपूर्ण अवतरण में विचारशील एथेंसवासियों की लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा का स्पष्टीकरण किया है। यह पैरीक्लीज (Pericles) का सुप्रसिद्ध अन्त्येष्टि भाषण (Funeral Oration) है। पैरीक्लीज एथेंस में लोकतन्त्र का नेता था। उसने यह भाषण उन सिपाहियों के सम्मान में दिया था जो एथेंस स्पार्टा के महायुद्ध में खेत रहे थे।[2] शायद इतिहास सम्बन्धी साहित्य में किसी राजनैतिक आदर्श का इतने सुन्दर ढंग से कभी वर्णन नहीं किया गया। इस उद्धरण की एक एक पंक्ति से यह ध्वनित होता है कि एथेंसवासी अपने नगर पर कितना अभिमान करते थे, वहाँ के नागरिक जीवन में वे कितने प्रेम से भाग लेते थे और वे अपने लोकतन्त्र को कितना नैतिक महत्त्व देते थे। पैरीक्लीज के भाषण का मुख्य उद्देश्य अपने श्रोताओं के मन में यह भाव जाग्रत करना था कि उनका नगर उनकी सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति है और उसकी सेवा में उन्हें अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार रहना चाहिए। भाषण देशभक्ति की अपील के रूप में है। भाषण का अवसर पर्याप्त महत्त्व का है। भाषणकर्ता से आशा की जाती है कि वह परम्परागत गरिमा का अथवा पूर्वजों की महत्ता का गुणगान करेगा। लेकिन पैरीक्लीज परम्परा अथवा अतीत का कोई खास उल्लेख नहीं करता। वह संयुक्त और समेकित एथेंस के वर्तमान गौरव का ही वर्णन करता है। वह अपने

---

1 यूनान का महान् इतिहासकार। थूसीडाइड्स कृत पेलोपोनेशियन युद्ध का इतिहास अपने विषय का मान्य ग्रंथ है। जीवन-काल ४७१ से ४०० ई० पू०। (अनु०)

2 Thusydides Bk. II ३५-४६ ये उद्धरण बेंजमिन जावेट (Benjamin Jowett) के अनुवाद से लिए गए हैं। दूसरा संस्करण (ऑक्सफर्ड, १९००)।

श्रोताओं से निवेदन करता है कि वे एथेंस के वास्तविक रूप को, नागरिकों के जीवन में उसके महत्व को समझें मानो एथेंस अनुपम रूप लावण्ययुक्त सुन्दरी हो।

मैं चाहूँगा कि आप अपनी दृष्टि उस समय तक नित्य ही एथेंस की महत्ता पर केंद्रित रखें जब तक कि आप उसके प्रेम से परिपूर्ण न हो जायें। जब आप उसके गौरव को अपने हृदय में उतार लें, तब आप विचार करें कि यह साम्राज्य उन व्यक्तियों ने अर्जित किया था जो अपने कर्तव्य से अवगत थे और जिनमें अपने कर्तव्य पालन का साहस था, जो संघर्ष की बेला में इस बात का सदैव ध्यान रखते थे कि कहीं एथेंस की मानहानि न होने पाये। यदि वे किसी कार्य में असफल होते थे, तो अपने देश की गौरव पताका नहीं झुकने देते थे बल्कि स्वेच्छा से उसके चरणों पर अपने प्राणों की बलि चढ़ाते थे।[1]

अब, उनकी एथेंस की नागरिकता उनका सबसे बड़ा गौरव है। "नगर की गौरव वृद्धि करके मैंने उनकी गौरव वृद्धि की है।" किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए, कौन सा खजाना इससे बढ़ कर हो सकता है? कौन सी ऐसी सम्पत्ति है जिसे वह इससे बढ़ कर माने या जिसके लिए वह अधिक कुर्बानी करे? क्या वह अपनी सम्पत्ति अथवा अपने परिवार को अधिक महत्व देगा? सम्पत्ति का प्रयोजन यही है कि उसकी वजह से व्यक्ति नगर के जीवन में सक्रिय भाग ले सकता है। परिवार चाहे कितना पुराना और सम्माननीय क्यों न हो, उसका मूल्य यही है कि वह व्यक्ति के लिए नागरिक जीवन के द्वार उन्मुक्त कर देता है। सब बातों, सब चीजों से ऊपर नगर है। नगर ही उनका जीवनदाता और धारक है। परिवार, मित्र और सम्पत्ति का उपभोग तभी किया जा सकता है यदि वे उस सर्वोच्च हित के साधक हों जो नगर के जीवन और कार्यकलापों में भाग लेने से प्राप्त होता है।

इस अंत्येष्टि भाषण में काफी अलंकारिक अतिशयोक्ति है जो अवसर को देखते हुए स्वाभाविक है। फिर भी, यह तथ्य है कि इसमें यूनान के राजनैतिक जीवन के एक वास्तविक आदर्श का निरूपण किया गया है। इस जीवन में कुछ ऐसी घनिष्ठता थी जो आज के आदमी को नहीं मिल सकती। आजकल के राज्य इतने बड़े, इतने दूर और इतने निर्वैयक्तिक हैं कि आधुनिक जीवन में उनका वह स्थान नहीं हो सकता जो यूनानियों के जीवन में अपने नगर का था। एथेंसवासी के स्वार्थ कम विभाजित थे। वे एक दूसरे से असम्बद्ध विभिन्न खंडों में बँटे हुए नहीं थे। वे सब नगर में ही केन्द्रित थे। उसकी कला नागरिक कला थी। उसका धर्म जहाँ तक वह पारिवारिक वस्तु न था, नगर का धर्म था और उसके धार्मिक समारोह नागरिक समारोह थे। उसकी जीविका के साधन तक आधुनिक जीवन की तुलना में राज्य के

---

1 "I would have you day by day fix your eyes upon the greatness of Athens, until you become filled with love of her, and when you are impressed by the spectacle of her glory reflect that this empire has been acquired by men who knew their duty and had the courage to do it, who in the hour of conflict had the fear of dishonour always present to them, and who, if ever failed in an enterprise, would not allow their virtues to be lost to their country, but freely gave their lives to her as the fairest offering which they could present at her feast" (Pericles)

ऊपर नहीं अधिक निर्भर थे। इसलिए, यूनानी के लिए नगर का जीवन सामूहिक जीवन था। अरस्तू (Aristotle) के शब्दों में, उसका संविधान कानूनी रचना न होकर "जीवन की एक शैली (mode of life)" था। फलतः, यूनान के राजनैतिक दर्शन में मूल विचार इस सामूहिक जीवन की समरसता का था। इसके विभिन्न पक्षों में बहुत कम भेद किया जाता था। यूनानी के लिए नगर-सिद्धान्त के अन्तर्गत नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और आधुनिक संकुचित अर्थ में राजनीति तक का समावेश था।

यह सामूहिक जीवन कितना व्यापक था और एथेंसवासी उसे कितना महत्त्व देते थे, यह उनकी संस्थाओं से स्पष्ट है। एथेंस में पद बारी-बारी से मिलते थे तथा विभिन्न पदों पर एक साथ कई व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था। वहाँ की शासी संस्थाएँ (governing bodies) बहुत बड़ी होती थीं। इसका उद्देश्य यही था कि अधिक से अधिक नागरिकों को शासन-कार्य में भाग दिया जा सके। एथेंसवासी इन रीतियों के विरोधी तर्कों को भली भाँति समझता था लेकिन उसके विचार से इनके लाभ हानियों की अपेक्षा अधिक थे। उसका शासन लोकतन्त्र था "क्योंकि प्रशासन कुछ व्यक्तियों के हाथों में नहीं, प्रत्युत् बहुत से व्यक्तियों के हाथों में है।" आधुनिक राजनीति में इस प्रकार की शब्दावली पर विश्वास नहीं किया जायेगा। आजकल तो मताधिकार ही वास्तविक लोकतन्त्र माना जाता है। आजकल के लोकतन्त्रवादियों के लिए पद धारण करना विशेष महत्त्व नहीं रखता। आजकल पद धारण करना तो उन्हीं के लिए महत्त्वपूर्ण है जो राजनीति को अपना पेशा बना लेते हैं। एथेंसवासी की दृष्टि में नागरिक के जीवन में यह बहुत मामूली बात है। अरस्तू (Aristotle) ने अपने ग्रंथ 'एथेंस का संविधान' (Constitution of Athens) में जो आँकड़े दिए हैं, उनके आधार पर अनुमान लगाया गया है कि एक साल में छः नागरिकों में से एक नागरिक को सिविल शासन में भाग मिलता था चाहे यह भाग न्याय सेवा (jury service) तक ही सीमित क्यों न हो। यदि उसे कोई पद न मिलता, तब भी वह साल में नियमित रूप से दस चार नागरिकों की आम सभा में राजनैतिक घटना के विवेचन में भाग ले सकता था। सार्वजनिक प्रश्नों का यह औपचारिक या अनौपचारिक विवेचन उसके लिए अत्यन्त रोचक और आनन्दप्रद होता था।

इसीलिए, पेरीक्लीज (Pericles) को सबसे अधिक अभिमान इस बात का है कि एथेंस ने यह रहस्य पा लिया है कि नागरिकों की व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी चिन्ताओं का सार्वजनिक जीवन में उनके योगदान के साथ किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जाए।

एथेंस का नागरिक राज्य की इसलिए उपेक्षा नहीं करता क्योंकि वह अपने घर की देखभाल करता है। इनमें से जो लोग व्यापार में लगे हुए हैं, उन्हें भी राजनीति का अच्छा ज्ञान है। जो व्यक्ति सार्वजनिक मामलों में रुचि नहीं लेता, उसे हम निष्क्रिय व्यक्ति नहीं, प्रत्युत् निरर्थक व्यक्ति मानते हैं। यदि हममें से थोड़े से लोग ही मौलिक हैं, हम सभी नीति के श्रेष्ठ निर्णायक हैं।[1]

---

1. "An Athenian citizen does not neglect the state because he

यदि पेरीक्लीज के समय का कोई व्यक्ति अपना सारा समय व्यक्तिगत कार्य मे ही लगाता, तो उस समय का एथेंसवासी इसे मूल्यो की अत्यधिक विकृति मानता। एथेंस मे बरतन और हथियार बनाने की कला अपनी पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी। यदि इन चीजों के निर्माताओं तक को नागरिक मामलो में रुचि लेने का समय न मिलता तो वे अपने जीवन से विद्रोह कर बैठते।

इस इच्छा के साथ कि नागरिक जीवन मे सभी व्यक्तियों को भाग लेना चाहिए, यह आदर्श भी लगा हुआ था कि स्थिति अथवा धन व बाहरी भेदों के आधार पर किसी व्यक्ति को सार्वजनिक जीवन से वंचित न रखा जाए।

जब कोई नागरिक किसी प्रकार विशिष्ट होता है, उसे सार्वजनिक पद पर विशेषाधिकार के तौर पर नहीं, प्रत्युत योग्यता के पुरस्कार के रूप में नियुक्त किया जाता है। दरिद्रता रुकावट नहीं है। किसी व्यक्ति की कैसी भी हालत क्यों न हो वह अपने देश को लाभ पहुँचा सकता है।[1]

दूसरे शब्दो मे, कोई व्यक्ति किसी पद के लिए पैदा नहीं होता और न वह किसी पद को खरीदता ही है। व्यक्ति अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के अनुरूप ही पद को प्राप्त कर लेता है।

अन्त मे, सामूहिक जीवन का यह आदर्श जिसमे सभी भाग ले सकें, इस आशापूर्ण धारणा पर आधारित था कि औसत आदमी मे स्वाभाविक राजनैतिक क्षमता होती है। दूसरी तरफ, यहाँ यह मान लिया गया था कि कठोर प्रशिक्षण और अत्यधिक विशेषीकरण (specialization) राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों पर ठीक से विचार करने के लिए आवश्यक नहीं है। पेरीक्लीज के भाषण मे यह बात बिलकुल साफ तरीके से कह दी गई है कि लोकतन्त्रवादी एथेंस नागरिक को अपनी 'सुखद बहुमुखी प्रतिभा (happy versatility)' पर काफी नाज था।

हम प्रबन्ध-कौशल या चालबाजी पर नहीं, बल्कि अपने दिलों और हाथों पर भरोसा करते हैं। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, वे लोग (स्पार्टा के लोग) बचपन से ही कठोर परिश्रम करते हैं जिससे कि वे बहादुर बन जाएँ। लेकिन हम चैन से रहते हैं। फिर भी हम उनकी तरह ही इस प्रकार के खतरों का सामना करने के लिए तैयार हैं।[2]

उस समय स्पार्टा मे सैनिक अनुशासन अत्यन्त कठोर था। यह स्पार्टा के प्रति

---

takes care of his own household, and even those of us who are engaged in business have a very fair idea of politics. We alone regard a man who takes no interest in public affairs, not as a harmless but as a useless character and if few of us are originators, we are all sound judges of policy." (*Pericles*)

1 "When a citizen is in any way distinguished, he is preferred to the public service not as a matter of privilege but as the reward of merit. Neither is poverty a bar but a man may benefit his country whatever be the obscurity of his condition." (*Pericles*)

2 'We rely not upon management or trickery, but upon our own hearts and hands. And in the matter of education whereas they (*the Spartans*) from early youth are always undergoing laborious exercises which are to make them brave, we live at ease, and yet are equally ready to face the perils which they face." (*Pericles*)

एक प्रकार का व्यंग्य तो है ही, उससे भी कुछ अधिक है। एथेंस की राजनैतिक पद्धति में अविशेषज्ञ (amateur) की भावना बलवती है। एथेंस का वाग्वैदग्ध्य तीव्र है। एथेंसवासी नुकसान सहकर भी यह मानने के लिए तैय्यार था कि बुद्धि की तीव्रता ज्ञान की विशेषज्ञता और विशेषीकरण की योग्यता की स्थानापन्न हो सकती है। फिर भी, एथेंसवासी की इस गर्वोक्ति में सचाई थी कि अपनी बौद्धिक योग्यता से ही यह कला, दस्तकारी, लोगुद्ध और राजनेतृत्व में सब राष्ट्रों को पछाड़ देता था।

इस प्रकार, एथेंस में नगर एक समाज था। इसके सदस्य समरसतापूर्ण सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे। अधिक से अधिक सदस्यों को नागरिक मामलों में सक्रिय भाग लेने का अवसर दिया जाता था। नागरिकों के बीच स्थिति अथवा सम्पत्ति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं बर्ता जाता था। सभी सदस्यों को अपनी स्वाभाविक क्षमताओं के विकास का अवसर प्राप्त होता था। पेरीक्लीज (Pericles) के एथेंस ने यह आदर्श अन्य किसी मानव समाज की अपेक्षा काफी हद तक प्राप्त कर लिया था। फिर भी, यह एक आदर्श ही था तथ्य नहीं। अपने उत्कृष्टतम रूप में भी लोकतन्त्र का एक दुर्बल पक्ष था। इस पक्ष का सम्बन्ध जहाँ राजनैतिक दर्शन के प्रारम्भ से था, वहाँ उसकी सफलताओं से भी था। प्लेटो की 'रिपब्लिक' (Republic) को "कुशल बहुमुखी प्रतिभा" के लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त की टीका माना जा सकता है। स्वयं प्लेटो को यह सिद्धान्त लोकतन्त्रात्मक संविधान का अपरिहार्य दोष प्रतीत होता था। प्लेटो ने पेलोपोनेशियन युद्ध (Peloponnesian war) के भयंकर दुष्परिणाम देख लिए थे। उसे एथेंस के वे सारे मूल्य जिनकी पेरीक्लीज इतनी प्रशंसा करता था, सन्देहास्पद लगते थे। थूसीडाइड्स के इतिहास (Thucydide's History) में भी अन्त्येष्टि भाषण एक भयंकर व्यंग्य ही मालूम पड़ता है। कुछ समय बाद ही एथेंस को पराजय का मुँह देखना पड़ा था।

जहाँ तक समरसतापूर्ण सामूहिक जीवन को प्राप्त करने का प्रश्न है, इस दृष्टि से भी एथेंस को पूरी सफलता नहीं मिल पाई थी। नगर-राज्य की अत्यधिक घनिष्ठता और व्यापकता आदर्श की नैतिक उन्नति का मूल थी। लेकिन, इसकी वजह से कुछ ऐसे दोष भी उत्पन्न हो गए जो उसके गुणों के बिलकुल विपरीत थे। नगर राज्यों में दलगत झगड़े आम बात थी। ये झगड़े बड़े कटुतापूर्ण और उग्र थे। ज्यों-ज्यों महायुद्ध बढ़ता गया, यूनान के नगर-राज्यों में अशान्ति और कलह ने भी अपने पैर पसारे। थूसीडाइड्स (Thucydides) ने इसका सजीव वर्णन किया है।

विचाररहित दिलेरी को निष्ठापूर्ण साहस माना जाता था। जानबूझ कर की गई देरी बुजदिल के लिए बहाना था। नम्रता कायर की दुर्बलता को छिपाने का साधन थी। सर्वज्ञता का अर्थ निष्क्रियता था। उत्तेजनापूर्ण शक्ति प्रदर्शन मनुष्य का वास्तविक गुण था। हिंसा के प्रेमी का सदैव विश्वास किया जाता था। दल का सम्बन्ध रक्त सम्बन्ध से अधिक मजबूत था। सद्भावना और दैवी विधान नहीं प्रत्युत अपराध में गठजोड़ था [1]

---

1 "Reckless daring was held to be loyal courage, prudent delay was the excuse of a coward, moderation was the disguise of

युद्ध समाप्त होने के बाद प्लेटो (Plato) ने दुख से कहा था "प्रत्येक नगर, चाहे वह कितना छोटा क्यों न हो, दो भागों में बँटा होता है—एक गरीबों का नगर, दूसरा अमीरों का।"[1]

यूनान में समरसता के आदर्श को आंशिक अथवा संदिग्ध रूप में ही हस्तगत किया गया था। यही कारण है कि यह वहाँ के राजनैतिक दर्शन का एक अभिन्न भाग है। यूनान में एक विशेष प्रकार की शासन प्रणाली अथवा दल के प्रति निष्ठा रहती थी, नगर के प्रति नहीं। इससे राजनैतिक अहंकारिता (political egoism) की वृद्धि होती थी जो व्यक्तियों को दल के प्रति भी निष्ठावान् नहीं रहने देती थी। इस दृष्टि से एथेंस औसत से अच्छा था। परन्तु वहाँ भी एल्सिबियाडेस (Alcibiades)[2] का चरित्र दलबन्दी और निपट स्वार्थ के उन खतरों को स्पष्ट कर देता है जो एथेंस की राजनीति में सम्भव थे।

यद्यपि यह आदर्श पूरी तरह प्राप्त नहीं किया गया था लेकिन फिर भी यह यूनान के राजनैतिक दर्शन का एक मुख्य सिद्धान्त बना रहता है कि समरसतापूर्ण सामूहिक जीवन में भाग लेना प्रत्येक नागरिक के लिए परम प्रसन्नता की बात होनी चाहिए। आजकल का पाठक जब प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं को पढ़ता है तो उसे कुछ अजनबीपन सा मालूम पड़ता है। इस अजनबीपन का यही कारण है। यूनान के राजनैतिक दर्शन में हमारी सामान्यतम राजनैतिक धारणाएँ नहीं पाई जातीं। प्रत्येक नागरिक के कुछ व्यक्तिगत अधिकार होते हैं। राज्य कानून द्वारा नागरिकों के इन अधिकारों की रक्षा करता है। इस प्रयोजन के लिए राज्य नागरिकों को कुछ कर्तव्यों का पालन करने के लिए भी बाध्य करता है। यूनान के राजनैतिक दर्शन में इस धारणा का विशेष रूप से अभाव है। हमारा सबसे अधिक परिचित राजनैतिक दर्शन इन दो विरोधी प्रवृत्तियों के बीच सतुलन की कल्पना करता है। उसके अनुसार राज्य के पास इतनी शक्ति रहनी चाहिए कि वह अपना कार्य कर सके। साथ ही नागरिक के पास इतनी स्वतन्त्रता रहनी चाहिए कि वह एक स्वाधीन अभिकर्ता (agent) बना रहे। नगर-राज्य के दर्शनवेत्ता ने न तो ऐसे किसी विरोध की कल्पना की और न ऐसे किसी सतुलन की। उसके अनुसार अधिकार अथवा न्याय का अर्थ सामूहिक जीवन का ऐसा संविधान अथवा संगठन है जिसमें सब भाग ले सकें। उसके मत से कानून का प्रयोजन यह है कि प्रत्येक व्यक्ति नगर के समग्र जीवन में अपना स्थान, स्थिति, कार्य प्राप्त कर सके। नागरिक के अधिकार अवश्य हैं लेकिन उसके ये अधि-

---

unmanly weakness to know everything was to do nothing Frantic energy was the true quality of a man The lover of violence was always trusted The tie of party was stronger than the tie of blood The seal of good faith was not divine law, but fellowship in crime" Bk III, 82

1 *Republic*, Bk IV, 422e

2 एथेंस का एक उच्चवंशीय, योग्य लेकिन स्वार्थी राजनीतिज्ञ। इसने अपने देश को सिसली के साथ युद्ध में फँसा दिया और समय पर देश के साथ विश्वासघात किया। ४५० ई० पू० ४०४ ई०पू० । (अनु०)

कार उनके अपने निजी व्यक्तित्व के अग न होकर उसकी स्थिति के परिणाम हैं। उसके दायित्व भी हैं। लेकिन, वह इन दायित्वों का पालन करने के लिए राज्य द्वारा बाध्य नहीं किया जाता। वह इन दायित्वों का पालन इसलिए करता है क्योंकि वह अपनी क्षमताओं का विकास करना चाहता है। यूनानी को न तो यही गलतफहमी थी कि उसे मनचाहा कार्य करने का जन्मसिद्ध अधिकार है और न वह इस भ्रम में रहता था कि उसका कर्तव्य दैवी प्रेरणा से ओतप्रोत था।

नागरिक समरसता और सामूहिक जीवन के सिद्धान्त द्वारा निर्धारित परिधि के अन्तर्गत एथेंसवासी ने दो आधारभूत राजनैतिक मूल्यों की खोज की थी। ये मूल्य यूनानी मानस में सदैव सयुक्त रहते थे और ये वहाँ की राजनैतिक प्रणाली के स्तम्भ थे। मूल्य थे—स्वतन्त्रता और कानून के प्रति श्रद्धा। पेरीक्लीज (Pericles) ने इन दोनों मूल्यों को एक ही वाक्य में सयुक्त किया है

> हमारे सार्वजनिक जीवन में किसी प्रकार की वर्जनशीलता नहीं है। अपने व्यक्तिगत सम्पर्क में हम एक-दूसरे के ऊपर सन्देह नहीं करते। यदि हमारा पड़ोसी मनचाहा कार्य करता है, तो हम नाराज नहीं होते। हम उसे ऐसी टेढ़ी नजर से नहीं देखते जो हानिरहित होते हुए भी सुन्दर नहीं होती। इस प्रकार जहाँ व्यक्तिगत व्यवहार में हम बहुत कुछ उदार रहते हैं, हमारे सार्वजनिक कार्यों में कुछ श्रद्धा की भावना रहती है। हमारे मन में अधिकारियों और कानूनों के प्रति आदर का भाव रहता है। इसी कारण हम गलत काम करने से बच जाते हैं। हम उन अधिकारियों का जो पीड़ितों की रक्षा के लिए नियत हैं, सम्मान करते हैं। हमारे मन में उन अलिखित कानूनों के प्रति भी श्रद्धा है जिनका उल्लघन होने पर उल्लघनकर्ताओं को सब लोग भर्त्सना की दृष्टि से देखते हैं।[1]

नागरिक ऐच्छिक सहयोग से नगर के कार्यकलापों का सचालन करते हैं। इस सहयोग का मुख्य साधन नीति के सम्पूर्ण पक्षों पर स्वतन्त्र और पूर्ण विचार-विमर्श है।

> हमारे मत से कार्य में बड़ी बाधा विचार-विमर्श नहीं, बल्कि उस ज्ञान का अभाव है जो कार्य से पहले विचार-विमर्श द्वारा प्राप्त किया जाता है। काम करने से पहले विचार करने की हमारे अन्दर एक अपूर्व शक्ति है। अन्य व्यक्ति अज्ञान के कारण साहसी होते हैं और वे विचार करने में सकोच करते हैं।[2]

1. "There is no exclusiveness in our public life, and in our private intercourse we are not suspicious of one another, nor angry with our neighbour if he does what he likes, we do not put our sour looks at him which, though harmless, are not pleasant. While we are thus unconstrained in our private intercourse, a spirit of reverence pervades our public acts, we are prevented from doing wrong by respect for the authorities and for the laws, having an especial regard to those which are ordained for the protection of the injured as well as those unwritten laws which bring upon the transgressor of them the reprobation of the general sentiment." (Pericles)

2. The great impediment to action is, in our opinion, not discussion but the want of that knowledge which is gained by dis-

एथेंसवासी का विचार-विमर्श में पूरा विश्वास था। वह समझता था कि सार्वजनिक नियमों के निर्माण और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए विचार-विमर्श जरूरी है। कोई भी श्रेष्ठ नियम अथवा संस्था बहुतों के विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप ही निर्मित हो सकती है। इस विश्वास ने ही एथेंसवासी को राजनैतिक दर्शन का स्रष्टा बनाया। वह रूढ़ि का तिरस्कार नहीं करता था। लेकिन, वह नहीं मानता था कि कोई रूढ़ि केवल प्राचीन होने से ही बन्धनकारी हो जाती है। वह रूढ़ि को उचित तर्क की कसौटी पर कसना पसन्द करता था। रूढ़ि तथा तर्क के मध्य सम्बन्ध की यह समस्या नगर-राज्य के सम्पूर्ण दर्शन में व्याप्त थी। प्लेटो के विचार से केवल मात्र रूढ़ि पर आधारित अधिकार सबसे भयंकर सामाजिक विष था। वह ऐसी राजनैतिक संस्थाओं का कायल नहीं था जो केवल रूढ़ि पर ही आधारित हों। लेकिन, इस सम्बन्ध में प्लेटो यूनान के इस मूल विचार का ही समर्थन करता था कि अन्तिम रूप में शासन बल पर नहीं प्रत्युत् विश्वास पर आधारित है और उसकी संस्थाएँ आश्वस्त करने के लिए हैं, बल प्रयोग करने के लिए नहीं। शासन का कार्य रहस्य से आच्छादित नहीं है। वह केवल कुछ कुलीनवंशीय लोगों के लिए ही सुलभ नहीं है। नागरिक की स्वतन्त्रता इस बात पर आधारित है कि अपने साथियों के साथ मुक्त विचार-विनिमय के दौरान वह उन्हें किसी बात के लिए राजी कर सकता है अथवा उनकी किसी बात पर राजी हो सकता है। यूनानी के मन में यह बात जम कर बैठ गई थी कि दुनिया के सारे लोगों के बीच वही एक ऐसा आदमी है जो इतनी बुद्धि रखता है तथा सब प्रकार की सरकारों के बीच नगर-राज्य ही एकमात्र ऐसी शासन-प्रणाली है जिसमें यह व्यवस्था चल सकती है। इसी दृष्टिकोण के कारण बर्बरों के प्रति उसका नजरिया बड़ा अभिमानपूर्ण था। अरस्तू ने इन लोगों के सम्बन्ध में कहा है कि ये स्वभाव से ही दास होते हैं।

स्वतन्त्रता सम्बन्धी इस धारणा में कानून के प्रति सम्मान का भाव निहित है। एथेंसवासी अपने को पूरी तरह से निरंकुश नहीं मानता था। लेकिन वह दो प्रकार के नियन्त्रण मानता है। एक प्रकार का नियन्त्रण तो यह है कि कोई आदमी दूसरे आदमी की मनमानी इच्छा के अधीन हो। दूसरे प्रकार का नियन्त्रण वह होता है जो आदमी खुद अपने ऊपर लागू कर ले। इस दूसरे प्रकार के नियन्त्रण के अधीन व्यक्ति कानून का इसलिए सम्मान करता है कि वह सम्मान के लायक है। एथेंसवासी इस दूसरे नियन्त्रण का ही भक्त था। एक प्रश्न ऐसा है जिसके ऊपर यूनान का प्रत्येक राजनैतिक दार्शनिक सहमत है। वह प्रश्न है—अत्याचारी शासन सबसे निकृष्ट शासन है। अत्याचारी शासन का अर्थ अवैधानिक बल का प्रयोग करना है। यद्यपि यह, कदाचित्, और परिस्थिति की दृष्टि से हितकारी हो सकता है, लेकिन वह फिर भी खराब है क्योंकि वह स्वशासन को नष्ट कर देता है।

इससे बदतर कोई शत्रु नहीं हो सकता कि अत्याचारी शासक के हाथ में राज्य की बागडोर

---

cussion preparatory to action For we have a peculiar power of thinking before we act and of acting too, whereas other men are courageous from ignorance but hesitate upon reflection" (Pericles)

हो। ऐसे शासन में किसी प्रकार के सामान्य कानून नहीं होते। ऐसा शासक कानून को अपनी मुट्ठी में रखता है।[1]

स्वतन्त्र राज्य में प्रभु नहीं प्रत्युत् कानून शासक होता है। कानून नागरिक के आदर का पात्र होता है चाहे कभी-कभी वह उसे नुकसान ही पहुँचाता हो। स्वतन्त्रता और कानून का शासन श्रेष्ठ शासन के पूरक तत्त्व हैं। यूनानी के विचार से नगर राज्य का यही रहस्य था। यूनानी इसे अपना एक ऐसा परमाधिकार मानता था जिससे दुनिया के और लोग वंचित थे।

पेरीक्लीज को गर्व था कि, "एथेंस यूनान की पाठशाला है"। पेरीक्लीज की गर्वोक्ति का यही अभिप्राय है। एथेंस के आदर्श को एक सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है—स्वतन्त्र राज्य में स्वतन्त्र नागरिकता का सिद्धान्त। शासन की प्रक्रिया निष्पक्ष न्याय की प्रक्रिया है। निष्पक्ष न्याय इसलिए बन्धनकारी होता है क्योंकि वह सही होता है। नागरिक की स्वतन्त्रता उसकी समझने की, विचार करने की और अपने पद अथवा धन के अनुसार नहीं प्रत्युत् अपनी जन्मजात क्षमता के अनुसार मत-दान देने में है। सम्पूर्ण व्यवस्था का एकमात्र उद्देश्य एक ऐसे सामूहिक जीवन का विकास करना है जिसमें व्यक्ति को अपनी स्वाभाविक शक्तियों के विकास का पूरा अवसर मिले और समाज सभ्य जीवन की समस्त सुविधाओं को प्राप्त कर सके, जिसमें भौतिक उन्नति हो, कला, धर्म और स्वतन्त्र बौद्धिक विकास का द्वार उन्मुक्त हो। इस प्रकार के सामूहिक जीवन में व्यक्ति के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यही है कि वह अपनी योग्यता के अनुसार नागरिक जीवन में पूरा भाग ले। एथेंसवासी को यह गर्व था कि मानव इतिहास में उसने ही पहली बार इस आदर्श को करीब-करीब हस्तगत कर लिया है। बाद के किसी भी देश ने संस्थाओं और दर्शन से अप्रभावित नागरिक स्वतन्त्रता के ऐसे आदर्श को अपने सामने नहीं रखा। एथेंसवासी की यह काफी बड़ी सफलता है।

Selected Bibliography

Greek Political Theory, Plato and his Predecessors. By Ernest Barker. Second edition. London, 1925, Chs. 1, 2.

Lawyers and Litigants in Ancient Athens. By Robert J Bonner. Chicago, 1927.

Aspects of Athenian Democracy. By Robert J. Bonner. Berkeley, 1933.

Griechische Staatskunde. By George Busolt. 2 Vols. Munich, 1920 26.

Greek Imperialism. By W. S Ferguson Boston, 1913

Thucydides. By John H. Finley, Junior. Cambridge, Massachusetts, 1942

1. No worse foe than the despot hath a state,
Under whom, first, can be no common laws,
But one rules, keeping in his private hands
The Law.

—*Euripides, The Suppliants*, II, 429-432 (Way's trans.)

The Greek City and its Institutions By G Glotey English translation by N Mallinson, London, 1929

Euripides. The Suppliants, II-429-432 (Way's Trans)

Essays in Greek History and Literature By A W Gomme Oxford, 1937 Chaps 4, 5 9, 11

A Handbook of Greek Constitutional History By A H J Greenidge, London, 1896

"Democracy at Athens" By George M Harper Junior, in *The Greek Political Experience* Princeton, 1941

"Cleisthenes and the Development of the Theory of Democracy at Athens" By J A O Larsen, in *Essays in Political Theory*, Ed Milton R Konvitey and Arthur E Murphy Ithaca, 1948.

"Athens The Reform of Cleisthenes" By E M Walker, in *The Cambridge Ancient History, Vol IV (1926), Ch 6*

"The Periclean Democracy." By E M Walker, in *The Cambridge Ancient History*, Vol V (1927), Ch 4

Greek Oligarchies, their Character and Organization By Leonard Whibley. London and New York *1896*

A Companion to Greek Studies Ed Leonard Whibley Third edition, revised and enlarged Cambridge, 1916, Ch VI

Staat and Gesellschaft der Griechen By Ulrich von Wilamowitz —Moellendorff Second edition, 1923 Ed P Hinneberg, Berlin, 1906—25

The Greek Commonwealth By Alfred E Zimmern Fifth edition, revised Oxford 1931

अध्याय २

(Chapter II)

प्लेटो से पहले का राजनैतिक दर्शन

(Political Thought Before Plato)

एथेंस के सार्वजनिक जीवन का महान् युग ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के तीसरे चतुर्थांश मे पड़ता है। लेकिन, एथेंस मे महान् राजनैतिक दर्शन का युग स्पार्टा के साथ लड़ाई मे एथेंस की पराजय के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। जैसा कि अक्सर इतिहास मे हुआ करता है, यहाँ भी सफलता के पश्चात विचार शुरू हुआ। सिद्धान्तो का सूक्ष्म विवेचन काफी समय तक उनके आचरण के पश्चात किया गया। पाँचवीं शताब्दी के एथेंसवासी की किताबें पढ़ने या लिखने मे ज्यादा दिलचस्पी नही थी। मुमकिन है कि प्लेटो से पहले कुछ राजनैतिक ग्रन्थो की रचना हुई हो, लेकिन वे अब उपलब्ध नही हैं। फिर भी, इस बात के काफी सकेत मिलते हैं कि पाँचवी शताब्दी मे राजनैतिक समस्याओ के सम्बन्ध मे काफी विचार मथन हुआ था। प्लेटो और अरस्तू की रचनाओ मे जो सिद्धान्त पाए जाते हैं उनम से कई सिद्धान्त पहले ही कार्यान्वित हो चुके थे। इन विचारो के मूल और विकास का ठीक-ठीक वर्णन नही किया जा सकता लेकिन हम विचारों के उस वातावरण का निर्देश कर सकते हैं जिसमे आगामी शताब्दी का स्पष्ट राजनैतिक दर्शन विकसित हुआ।

जनसाधारण की राजनैतिक चर्चा

(Popular Political Discussion)

यह कहने की कोई खास जरूरत नही है कि पाँचवीं शताब्दी के एथेंसवासी राजनैतिक चर्चाओ में आकण्ठ मग्न रहते थे। सार्वजनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले विविध मामलो मे उनकी गहरी दिलचस्पी थी। एथेंसवासी मौखिक चर्चा और वार्तालाप के एक ऐसे वातावरण मे रहता था जिसकी आज का आदमी कल्पना नहीं कर सकता। एथेंस के जिज्ञासु और नागरिक हर तरह के राजनैतिक प्रश्न पर विचार-विनिमय करने के लिए तैयार रहते थे। उस समय की परिस्थितियाँ भी राजनैतिक जाँच-पड़ताल के सर्वथा अनुकूल थी। यूनानी नागरिक तुलनात्मक शासन के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए प्राय विवश ही हो गए थे। यूनानी ससार मे अनेक प्रकार की राजनैतिक सस्थाएँ थी। यद्यपि वे सब नगर-राज्य ही थे फिर भी उनमे भारी भेद थे। यूनानी ससार के दो ही प्रमुख राज्य थे, एथेंस और स्पार्टा। एथेंस मे लोकतन्त्रात्मक प्रणाली थी और स्पार्टा मे कुलीनतन्त्रात्मक। जहाँ एथेंस प्रगतिशील राज्य था, स्पार्टा अनुदार। प्रत्येक एथेंसवासी अपने जीवन के आरम्भ काल से ही एथेंस और स्पार्टा की शासन-प्रणालियों के भेद समझता था। पूर्व मे फारस का साम्राज्य था। वह भी यूनानियों की चेतना से परे नही था। यूनानी फारस

की शासन-प्रणाली को बर्बर शासन-प्रणाली समझता था। फिर भी फारस की शासन-प्रणाली वह पृष्ठभूमि थी जिसके आधार पर उसने अपनी बेहतर संस्थाओं की सृष्टि की। ज्यों-ज्यों यूनानी आगे बढ़ते गए—मिश्र, भूमध्य-सागर का पश्चिमी भाग, कारथेज, एशिया के अन्तर्वर्ती प्रदेश आदि स्थानों में वे पहुँचे—उन्हें तुलना के लिए बराबर नई सामग्री मिलती गई।

हेरोडोटस (Herodotus)[1] ने अपने इतिहास में बहुत-सी मानव शास्त्रीय बातों को स्थान दिया है। इससे यह साफ जाहिर हो जाता है कि पाँचवीं शताब्दी में यूनानी को अपनी दुनिया के विचित्र कानूनों और संस्थाओं में गजब की दिलचस्पी थी। विभिन्न देशों के रीति-रिवाजों पर हेरोडोटस (Herodotus) ने काफी प्रकाश डाला है। जो बात एक देश में अच्छी मानी जाती है दूसरे देश में उसी को घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। हर आदमी अपने देश के रीति-रिवाजों को ही पसन्द करता है। हो सकता है कि ये रीति रिवाज दूसरे देशों के रीति-रिवाजों से बेहतर न हों। लेकिन, हर आदमी की जिन्दगी कुछ न कुछ आदर्शों के सहारे ही चलती है। मनुष्य को ये आदर्श अपने रीति-रिवाजों और संस्थाओं में श्रद्धा भाव रखने से ही प्राप्त हो सकते हैं। हेरोडोटस को विभिन्न देशों के रीति-रिवाजों में जो विभिन्नता दिखाई दी, उसे लक्ष्य कर वह आश्चर्यचकित रह गया। परन्तु, फिर भी उसके मन में उनके प्रति सहिष्णुता और आदर का भाव था। उसने कैम्बीसेस (Cambyses)[2] के पागलपन का सब से बड़ा प्रमाण यह माना है कि वह फारसियों के अलावा अन्य राष्ट्रों के धार्मिक संस्कारों का अपमान और तिरस्कार करता था। 'मेरे विचार से पिंडार की कविता में यह ठीक ही कहा गया है कि प्रयोग और अभ्यास सब के स्वामी हैं।'[3]

इस अदार्शनिक पुस्तक में भी इस बात की झलक मिल जाती है कि यूनान का जन-मानस शासन-सम्बन्धी सिद्धान्त-निर्माण में कहाँ तक आगे बढ़ गया था। इस पुस्तक में एक अवतरण ऐसा है जिसमें सात ईरानी राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र के सापेक्ष गुणों का विवेचन करते हुए दिखाए गए हैं।[4] अधिकतर तर्क इस प्रकार के हैं: राजा अत्याचारी हो जाता है, लोकतन्त्र सब आदमियों को कानून के सम्मुख बराबर बना देता है। लेकिन लोकतन्त्र भीड़ का शासन बन जाता है। सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा किया हुआ शासन ही सब से अच्छा होता है। एक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा किया हुआ शासन सब से ऊपर है। यह वास्तव में यूनान की छाप है जिसे हेरोडोटस ईरान में नहीं समझ सका। सरकारों का यह मानक वर्गीकरण जनता

1. यूनान का सबसे पहला इतिहासकार जो 'इतिहास का जनक' कहा जाता है। इसने एशिया माइनर, मिश्र और सीरिया आदि विविध देशों की यात्रा की और अपने अनुभवों को लिपिबद्ध किया। ४८४-४२४ ई० पू० (अनु०)।

2. फारस का अभिमानी और क्रूर शासक (अनु०)।

3. "It is, I think, rightly said in Pindar's poem that 'use and wont is lord of all." Herodotus, Book, III, 38

4. Herodotus Book, III, 80-82.

मे बहुत पहले से चला आता था। जब प्लेटो और अरस्तू इसकी चर्चा करते हैं तो इसे बहुत गम्भीर नही मानना चाहिए। यह उस समय भी बहुत मामूली सी बात है।

राजनैतिक दर्शन के आरम्भ मे दूसरे देशो के सम्बन्ध मे नि:स्वार्थ कौतूहल का कुछ महत्त्व था। लेकिन यह मुख्य प्रेरक उद्देश्य नही था। आवश्यक बात यह थी कि एथेंस मे शासन बडी तेजी से बदला था और यह परिवर्तन अत्यन्त तीव्र संघर्ष के उपरान्त निष्पन्न हुआ था। इतिहास का कोई ऐसा काल नही है जब कि एथेंस का जीवन या यूनानी जीवन मुख्यत रूढियो द्वारा ही सचालित हुआ हो। स्पार्टा राजनैतिक स्थिरता का नमूना था। लेकिन एथेंसवासी को अपनी प्रगति पर गर्व करना ही पडता था क्योंकि उसकी संस्थाएँ बहुत पुरानी नही थी। लोकतन्त्र की अन्तिम विजय पैरीक्लीज के राजनैतिक जीवन से अधिक पुरानी नहीं थी। स्वयं सविधान ही छठी शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे शुरू हुआ था। एथेंस मे लोकतन्त्र की शुरूआत उस समय से मानी जा सकती है जब कि अदालतो पर सोलोन (Solon)[1] के द्वारा जनता का नियन्त्रण स्थापित हो गया था। यह घटना भी अधिक-से-अधिक एक शताब्दी पुरानी थी। सोलोन (Solon) के बाद से एथेंस की लोकतन्त्रात्मक राजनीति के सामान्य प्रश्न एक से बने आ रहे थे। मुख्य कारण आर्थिक थे। वास्तविक विवाद कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र के बीच था। कुलीन तन्त्र के समर्थक पुराने और सुप्रसिद्ध वश थे। इनकी जमीदारी थी। लोकतन्त्र के समर्थक अधिकाश म वाणिज्य-व्यवसायी थे। ये लोग एथेंस की सामुद्रिक शक्ति बढाना चाहते थे। सोलोन ने यह गर्वोक्ति की थी कि उसके विधान का उद्देश्य अमीरो और गरीबो के साथ समान रूप से न्याय करना है। अमीरो और गरीबो के इस भेद को प्लेटो ने भी समझा था और वह इसे यूनानी शासन की सब से बडी दुर्बलता मानता था। एथेंस का इतिहास, एथेंस का ही क्यो सारे यूनानी नगर-राज्यो का इतिहास दो सौ सालों से द्रुत वैधानिक परिवर्तनो और दलगत झगडो का इतिहास था।

एथेंस के राजनीतिक जीवन मे ऐसे अवसर यदा कदा ही मिलते हैं जिनसे यह ज्ञात हो सके कि इन संघर्षों के साथ कितने गम्भीर प्रश्न जुडे हुए थे। जब एथेंस में लोकतन्त्र की विजय हुई उस समय एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना का निर्माण किया गया। यह रचना अकेली नही थी। इस रचना से यह ज्ञात हो जाता है कि राजनैतिक परिवर्तनो के मूल मे आर्थिक कारणो का भी कितना हाथ रहता था। यह रचना एथेंस का सविधान है। इसका प्रणेता कोई प्रसिद्ध अभिजात रहा होगा। पहले इस रचना के बारे मे गलती से समझा जाता था कि इसका लेखक जेनोफोन (Xenophon) है।[2] इस रचना का लेखक एथेंस के सविधान को पूर्ण रूप से

1. एथेंस का एक अत्यन्त प्रसिद्ध शासक और स्मृतिकार। उसने एथेंस में अनेक क्रांतिकारी वैधानिक और लोकतन्त्रात्मक सुधार किये। ६४०-५५८ ई० पू०। (अनु०)

2. इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद एच० जी० डेकीन्स (H. G Dakyns) ने किया है। देखिए *Xenophon's Works, Vol. II*, एफ० ब्रुक्स (F. Brooks) ने *An Athenian Critic of Athenian Democracy* (लन्दन, १९१०) में भी इसका अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसका सम्भाव्य रचना-काल ई० पू० ४२५ है।

लोकतन्त्रात्मक मानता है। लेकिन, उसके विचार से वह एक नितान्त विकृत शासन की स्थापना करता है। लेखक यह भी समझ लेता है कि लोकतन्त्रात्मक शक्ति की जड़ें समुद्र पार के वाणिज्य में निहित हैं। इसलिए, लेखक नौ सेना के महत्त्व को भी स्वीकार करता है। उस समय एथेंस में नौ सेना में लोकतन्त्र का प्राधान्य था। तत्कालीन सशस्त्र पैदल सेना अभिजात वर्ग से सम्बन्धित थी। लेखक के विचार से लोकतन्त्र अमीरों के शोषण का और गरीबों की जेब भरने का साधन है। लेखक के मत से लोक न्यायालय छः हजार न्यायाधीशों को वेतन देने की एक चतुर पद्धति है। इन अदालतों की वजह से एथेंस के मित्र एथेंस में अपने न्याय व्यवहार को पूरा करते समय अपना धन खर्च करते हैं। प्लेटो की भाँति उसकी भी यह शिकायत है कि लोकतन्त्र में कोई व्यक्ति अपने दास तक को टेढ़ी नजर से नहीं देख सकता। स्पष्ट है कि प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' की आठवीं पुस्तक में लोकतन्त्रात्मक राज्य का जो व्यंग्यपूर्ण चित्र खींचा है वह कोई नई चीज नहीं है।

इस बात का और भी साक्ष्य मिलता है कि एथेंस की जनता सामाजिक परिवर्तन के उग्रतम कार्यक्रमों की चर्चा से बिल्कुल अपरिचित न थी। अरिस्टोफेन्स (Aristophanes) ने अपनी पुस्तक एक्लेसियाजूसे (Ecclesiazusae)[1] में स्त्रियों के अधिकारों और विवाह के अन्त का प्रसंग लेकर एक प्रहसन की रचना की है। यह नाटक ई० पू० ३९० के आस पास अभिनीत हुआ था। अरिस्टोफेन्स अरिस्टोफेन्स का साम्यवाद प्लेटो के साम्यवाद से काफी साम्य रखता है। अरिस्टोफेन्स की रचना में स्त्रियाँ पुरुषों को राजनीति से बाहर कर देती हैं। वे विवाह का तिरस्कार करती हैं। बच्चों को यह नहीं बताया जाता कि उनके असली माता-पिता कौन हैं। उन्हें अपने से सब बड़े लोगों की सन्तान समझा जाता है। श्रम केवल दास करते हैं। जुआ, चोरी और मुकद्दमेबाजी खत्म हो जाती है। इस सब का रिपब्लिक से सम्बन्ध अस्पष्ट है क्योंकि यह नहीं मालूम कि अरिस्टोफेन्स की रचना पहले प्रकाशित हुई या प्लेटो की।[2] लेकिन यह वास्तविक रोचक बात नहीं है। अरिस्टोफेन्स (Aristophanes) किसी कल्पना प्रधान दर्शन का विवेचन नहीं कर रहा, बल्कि वह उन लोकतन्त्र के आदर्शवादी विचारों का चित्र खींच रहा है। प्रहसन की सफलता के लिए यह जरूरी है कि उसके ध्वनित अर्थ को दर्शक समझ लें। इसलिए, इस प्रहसन के प्रेक्षक यह जरूर समझते होंगे कि अरिस्टोफेन्स क्या कहना चाहता है। इससे यह साफ जाहिर हो जाता है कि चौथी शताब्दी तक में एथेंस की जनता की अपनी राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था की कटु आलोचना करने में कोई झिझक नहीं थी। प्लेटो किसी भी प्रकार से मौलिक नहीं था। वह सिर्फ स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर गम्भीरता से विचार कर रहा था। आज भी यह प्रश्न पहले की ही

1 एथेंस का एक सम्माननीय इतिहासकार, दार्शनिक और सेनापति। सुकरात का शिष्य और मित्र। (अनु०)

2 जेम्स एडम (James Adam) ने अपने रिपब्लिक (*Republic*) के संस्करण भाग १, पृ० ३४५ ff. में इस सम्बन्ध में अनेक समानताओं की चर्चा की है। हेरोडोटस (Herodotus) के पाठकों को स्त्रियों का साम्यवाद काफी परिचित लगेगा। देखिए Book IV 104, 180 See also Euripides, Fr 655 (Dindorf)

तरह महत्त्वपूर्ण बना हुआ है चाहे इसको हम कितनी ही भाव-प्रवणता में देखने की कोशिश क्यों न करें।

प्रकृति और समाज में व्यवस्था
(Order in Nature and Society)

स्पष्ट है कि विशुद्ध राजनैतिक दर्शन के निर्माण के पहले सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार और विवेचन हुआ था। ये बिखरे हुए राजनैतिक विचार सब लोगों को ज्ञात थे। प्लेटो ने उन्हें एक सुनिश्चित दर्शन का स्वरूप दिया। लेकिन, उस समय कुछ ऐसी सामान्य धारणाएं भी प्रचलित थीं जो विशुद्ध रूप से राजनैतिक तो नहीं थीं लेकिन उस समय के बौद्धिक दृष्टिकोण का एक भाग थीं। राजनैतिक विचारधारा इनके अन्तर्गत ही विकसित हुई थी। यही भी धारणाएं पहले से ही उपस्थित थीं और दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में उनका निरूपण बाद में हुआ। ये धारणाएँ बहुत जटिल हैं। लेकिन, फिर भी इनका महत्त्व असंदिग्ध है। इन धारणाओं से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार की व्याख्याएं बौद्धिक सतोष प्रदान कर सकती हैं। बाद के सिद्धान्त इन्हीं धारणाओं को स्पष्ट करने के लिए विकसित हुए।

जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है, यूनानियों की दृष्टि में सबसे बुनियादी राजनैतिक विचार सामूहिक जीवन का था। सोलोन (Solon) ने अपने विधान की प्रशंसा में कहा था कि वह अमीरी और गरीबी के बीच सतुलन स्थापित करता है और इसके अन्तर्गत प्रत्येक पक्ष के साथ न्याय होता है[1]। यूनानियों के सौन्दर्य और सदाचार सबंधी विचारों में समरसता (harmony) और समनुपात (proportion) को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। ये विचार ग्रीक दर्शन के प्रारम्भ में ही सामने आ गये थे। एनाक्जिमेंडर (Anaximander) ने विरोधी गुणों (उदाहरणार्थ गर्मी और सर्दी) के जो अन्तर्निहित तटस्थ पदार्थ के द्वारा एक दूसरे से अलग रहते हैं, आधार पर एक नवीन दर्शन की स्थापना की थी। यूनान में भौतिक संसार के सम्बन्ध में शुरू शुरू में जितने भी सिद्धान्त प्रतिपादित हुए थे, उन सबमें समरसता (harmony), समानुपात (proportion) अथवा न्याय (justice) को आधारभूत तत्त्व माना गया है। हेराक्लिटस (Heraclitus)[2] का कहना है: "सूर्य अपने निश्चित नियमों का उल्लंघन नहीं करेगा। यदि वह ऐसा करेगा, तो क्रोध की अधिष्ठात्री देवियां (Erineys)[3] जबर्दस्ती उसे ठीक मार्ग पर ले आयेंगी।"[4] पाइथोगोरस

1. अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) ने *Greek Political Theory* (१९१८) ग्रंथ में इस कविता को उद्धृत किया है, पृ० ४३।

2. यूनान का प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता जिसका मूल सिद्धान्त था कि सृष्टि में प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है। (अनु०)

3. यूनान की पुराणकथा में ये क्रोध की देवियां मानी जाती हैं और इनकी संख्या तीन बताई जाती है। (अनु०)

4. "The Sun will not overstep his measures, if he does the Erineys, the handmaid of Justice, will find him out." (*Heraclitus*)

(Pythagoras)[1] ने अपने दर्शन मे समरसता या समानुपात के सिद्धांत पर विशेष बल दिया है। वह संगीत, चिकित्सा, भौतिक शास्त्र और राजनीति, इन सबमे समरसता अथवा समानुपात को आधारभूत सिद्धान्त मानता था। पाइथागोरस (Pythagoras) के अनुसार "न्याय एक वर्ग संख्या है"। कोई चीज वर्ग उसी समय होती है जब कि उसके विभिन्न भागो मे समानता हो। न्याय के वर्ग संख्या होने का आशय यह है कि समरसता अथवा समानुपात न्याय की आवश्यक शर्तें हैं। दूसरे शब्दों मे इसे मध्यम मार्ग या 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' कहा जा सकता है। यूरिपिडीस (Euripides)[2] की कविता Phonesian Maidens मे भी इसी नैतिक विचार को साहित्यिक रूप मे स्पष्ट किया गया है। यहाँ जोकास्टा (Jocasta)[3] अपने पुत्र को शिक्षा देती है कि वह सदैव मध्यम मार्ग का अनुसरण करे। समानता मित्रो, नगरो और विदेशियो के बीच भ्रातृत्व की स्थापना करती है। समानता मानव प्रकृति का नियम है। समानता ने ही मनुष्यो के लिए विभिन्न मापदंडो की स्थापना की है। वजनो और संख्या आदि को भी उसने ही नियत किया है।[4]

इस प्रकार शुरू-शुरू मे समरसता अथवा समानुपात के विचार को भौतिक अथवा नैतिक सिद्धांत के रूप मे लागू किया गया। उसे समान रूप से भौतिक प्रकृति अथवा मानव स्वभाव का एक गुण माना गया। सबसे पहले यह विचार प्राकृतिक दर्शन (natural philosophy) मे विकसित हुआ। बाद मे इसे नैतिक और राजनैतिक दर्शन मे स्थान मिला। भौतिक शास्त्र मे समानुपात का बहुत कुछ निश्चित और पारिभाषिक अर्थ हो गया। इसका अभिप्राय था कि भौतिक संसार जिन विभिन्न पदार्थों से संयोग से बना है, वे एक ही पदार्थ के रूपभेद हैं। वह मूल पदार्थ सदैव एक सा रहता है। एक ओर तो सतत परिवर्तनशील पदार्थ हैं और दूसरी ओर एक अपरिवर्तनशील 'प्रकृति' है। इस प्रकृति के समस्त गुण और नियम शाश्वत हैं। बाद मे पाचवीं शताब्दी मे इस सिद्धान्त के आधार पर ही सुप्रसिद्ध अणु-सिद्धान्त (atomic theory) की रचना हुई। इसके अनुसार अपरिवर्तनशील अणु विभिन्न संयोगों के द्वारा संसार के नाना पदार्थों का निर्माण करते है।

भौतिक संसार मे यह रुचि जिसने सबसे पहले वैज्ञानिक सिद्धांत को जन्म दिया, पाचवी शताब्दी तक बनी रही। पाचवी शताब्दी के बीच मे स्थिति बदलने

1 यूनान का एक प्रसिद्ध दार्शनिक जो अपने नाम के एक विशिष्ट सम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है। (अनु०)

2. यूनान का एक प्रसिद्ध दु खान्त नाटककार। जहां सोफोक्लीज ने मनुष्य का आदर्श रूप में चित्रण किया है, यूरीपिडीज ने उसका यथार्थ रूप में चित्र खींचा है। (अनु०)

3. थीब्स के राजा लेयस की पत्नी जिसने अनजाने में अपने पुत्र ओडीपस से विवाह कर लिया। बाद में इस रहस्य का उद्घाटन होने पर उसने आत्महत्या कर ली। (अनु०)

4. Equality, which knitteth friends to friends,
Cities to cities, allies unto allies,
Man's law of nature is equality.
Measures for men equality ordained,
Meting of weights and number she assigned
(L I. 536-542 Way's trans).

लगी। अब व्याकरण, संगीत, भाषण और लेखन कला, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र तथा राजनीति के अध्ययन की ओर रुचि बढ़ने लगी। इस प्रकार के अध्ययन का मुख्य केन्द्र एथेंस बना। इस रुचि परिवर्तन के अनेक कारण थे। लोगों के पास धन बढ़ गया था। जीवन में शहरीपन आ गया था। लोकतन्त्रात्मक शासन में उच्च शिक्षा, विशेषकर सार्वजनिक भाषण जैसी कलाओं के अध्ययन की बड़ी जरूरत थी। इस परिवर्तन को लाने का मुख्य श्रेय सॉफिस्टों (Sophists) को है। सॉफिस्ट भ्रमणशील शिक्षक थे। ये पारिश्रमिक लेकर शिक्षण प्रदान करते थे। इनका जीवन इसी पारिश्रमिक के सहारे चलता था। इस परिवर्तन को कार्यरूप देने में सबसे अधिक हाथ सुकरात (Socrates) का था। प्लेटो के संवादों (Dialogues of Plato) में हम सुकरात के महिमाशाली व्यक्तित्व के भली प्रकार दर्शन होते हैं। इस परिवर्तन ने यूनान में एक जबर्दस्त बौद्धिक क्रांति ला दी। अब दर्शनशास्त्र का क्षेत्र भौतिक प्रकृति से हट कर मानवशास्त्र हो गया। मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति और धर्मशास्त्र के अध्ययन की ओर लोगों का ज्यादा ध्यान हो गया। जहाँ भौतिक संसार का अध्ययन चलता रहा था जैसा कि अरस्तू के साथ हुआ था, वहाँ भी व्याख्यात्मक सिद्धान्त मानव-सम्बन्धों से ही लिए गए थे। सुकरात की मृत्यु के बाद से सत्रहवीं शताब्दी तक अधिकतर विचारकों ने बाहरी प्रकृति को मानव व्यवहारों के साथ उसके सम्बन्ध के बावजूद अपने अध्ययन का मुख्य विषय नहीं बनाया।

सॉफिस्टों (Sophists) का अपना कोई दर्शन नहीं था। उन्होंने वह शिक्षा दी जिसके लिए अमीर विद्यार्थी उन्हें पैसा देने के लिए तैयार थे। फिर भी, इनमें से कुछ लोगों ने एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया। सकारात्मक पक्ष में यह नया दृष्टिकोण मानववाद (humanism) का था। अब ज्ञान का मुख्य ध्येय मनुष्य का अध्ययन माना जाने लगा। नकारात्मक पक्ष में इसने भौतिक संसार के निष्पक्ष ज्ञान के पुराने आदर्श के प्रति संदेह का भाव जाग्रत किया। प्रोटेगोरस (Protagoras) का कहना था, "मनुष्य ही सब वस्तुओं का माप है। जो उसके काम में आता है, वह लाभकारी है और जो उसके काम में नहीं आता, वह निरर्थक है"।[1] दूसरे शब्दों में ज्ञान इन्द्रियसापेक्ष वस्तु है। मनुष्य अपनी प्रतिभा और उद्यम के द्वारा उसका अर्जन कर सकता है। प्रोटेगोरस (Protagoras) के सम्बन्ध में प्लेटो का यह कथन उचित नहीं है कि मनुष्य जिस चीज पर विश्वास करता है, वही चीज ठीक है। प्लेटो के अनुसार प्रोटेगोरस[2] का यही मन्तव्य होना चाहिए था। एक व्यावसायिक शिक्षक के लिए यह अत्यंत घातक सिद्धांत होता। प्रोटेगोरस की वास्तविक शिक्षा यह थी कि, "मानवजाति का वास्तविक अध्ययन मनुष्य है।"[3]

यदि नए मानववाद का लक्ष्य पुराने भौतिक दर्शन की विचारशैली को समाप्त

1 "Man is the measure of all things, of what is that it is and of what is not that is not" (*Protagoras*)

2 ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में यूनान का एक प्रसिद्ध सॉफिस्ट दार्शनिक। (अनु०)

3 "The proper study of mankind is man"

करना था, तो वह अपने लक्ष्य में बिलकुल असफल हुआ। इस दर्शन की सफलता यह थी कि इसने एक नई रुचि और नई दिशा प्रदान की। पुराने दार्शनिक धीरे-धीरे यह मानने लगे थे कि संसार के पदार्थों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं लेकिन फिर भी उनके अन्तर्गत कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो कभी नहीं बदलते। पांचवीं शताब्दी के यूनानी विदेशियों के सम्पर्क में आ गए थे। उनके अपने राज्यों में भी तेजी से विधान सम्बन्धी परिवर्तन होते रहते थे। फलत, उन्हें यह अच्छी तरह ज्ञात हो गया था कि मानव रीतिरिवाजों में विविधता और परिवर्तनशीलता पाई जाती है। उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे इन परिवर्तनशील रीतिरिवाजों में भी किसी न किसी प्रकार के स्थायित्व की खोज करते ? सोफिस्ट दार्शनिकों के दर्शन का मूलमन्त्र पुन 'प्राकृतिक विधान (Law of Nature) के रूप में प्रकट हुआ। जहाँ मानव परिस्थितियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं, प्राकृतिक विधान सदैव अटल और शाश्वत रहता है। यदि इस शाश्वत नियम का उद्घाटन हो जाता तो मानव जीवन को विवेक के आधार पर प्रतिष्ठित किया जा सकता था। इस प्रकार, यूनान का राजनैतिक और नैतिक तत्त्वज्ञान प्राकृतिक दर्शन द्वारा निर्धारित पुरानी नींव पर ही चलता रहा। यह परिवर्तन के बीच स्थिरता और विविधता के बीच एकता की खोज में लगा रहा।

लेकिन, यह प्रश्न बराबर बना रहा कि, यह स्थायी तत्त्व मानव जीवन में क्या रूप धारण करे ? मानव प्रकृति में ऐसी कौन सी चीज है जो सबमें समान रूप से पाई जाती है और जो आदत तथा प्रथा के आच्छादन से आवृत होने पर भी नहीं बदलती। परम्पराओं आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त गुंजायश छोड़ने के बाद मानव सम्बन्धों के कौनसे शाश्वत सिद्धांत हैं ? यह मानकर चलने से कि मनुष्य की एक प्रकृति होती है और कुछ सम्बन्ध उचित तथा श्रेष्ठ होते हैं, हमारी समस्या का समाधान नहीं होता। यदि हम शाश्वत सिद्धांत की खोज कर लें, तब भी क्या परिणाम निकलेगा ? जब हम एक राष्ट्र की प्रथाओं तथा विधियों की दूसरे राष्ट्र की प्रथाओं और विधियों से तुलना करेंगे, तो क्या होगा ? वह परम्परागत पवित्रता से युक्त बुद्धिमत्ता तथा विवेकशीलता की स्थापना करेगा या द्रोहात्मक तथा विनाशक सिद्ध होगा ? क्या आदमी यह जान लेने पर भी कि किस प्रकार 'प्राकृतिक' हुआ जा सकता है, अपने परिवारों के प्रति विश्वसनीय तथा राज्यों के प्रति निष्ठावान् रहेंगे ? इस प्रकार, राजनैतिक दर्शन के क्षेत्र म 'प्राकृतिक' की उस सबसे मुश्किल और अस्पष्ट धारणा का उदय हुआ जो मानव व्यवहार की समस्त मनोवैज्ञानिक और नैतिक उलझनों को सुलझाने का प्रयास करती है। कई समाधान प्रस्तुत किए गए। इन समाधानों का आधार 'प्राकृतिक' सम्बन्धी मान्यता थी। सन्देहवादियों को छोड़कर, जो कहते थे कि एक चीज उतनी ही प्राकृतिक है जितनी कि दूसरी और प्रयोग तथा अभ्यास ही सबके शासक हैं, अन्य सब यह मानते थे कि कोई न कोई चीज प्राकृतिक अवश्य है। कोई न कोई नियम ऐसा अवश्य है जिसको समझ लेने पर यह ज्ञात हो जाता है कि मनुष्यों का आचरण विशेष प्रकार का क्यों होता है और क्यों वे यह समझते हैं कि कुछ कार्यपद्धतियाँ सम्माननीय तथा श्रेष्ठ होती हैं और कुछ हीन तथा निकृष्ट।

प्रकृति तथा रूढि

(Nature and Convention)

इस बात का काफी साक्ष्य मिल जाता है कि पाचवी शताब्दी के एथेंसवासी प्रकृति बनाम रूढि के बारे मे पर्याप्त चर्चा किया करते थे। जब कभी कोई विद्रोही समाज के प्रचलित कानूनो और रूढियो के खिलाफ सर उठाता है तो वह एक उच्चतर कानून के नाम पर अपील करता है। इस विषय का एक श्रेष्ठ उदाहरण स्वय ग्रीक साहित्य मे सोफोक्लीज की एंटीगोन (Antigone) है। इस रचना मे एक कलाकार ने पहली बार मानव कानून के प्रति कर्त्तव्य और ईश्वरीय कानून के प्रति कर्त्तव्य के बीच सघर्ष का चित्रण किया है। ऐंटीगोन ने अपने भाई का मरणोपरान्त सस्कार करके प्रचलित कानून को भग किया था। जब उससे इसकी कैफियत पूछी जाती है तो वह क्रेयान (Creon)[1] को जवाब देती है कि इन कानूनों का निर्माण किसी दिव्य सत्ता ने नहीं किया। यह मानव कानून न्याय पर आधारित नहीं है। कोई भी नश्वर मनुष्य स्वर्ग के अमिट और अलिखित कानूनो को अतिक्रान्त और रद्द नही कर सकता। इन कानूनो का निर्माण आज या कल नहीं हुआ। इन कानूनों की मृत्यु नही होती। कोई उनके उद्भव के विषय मे भी नही जानता।[2]

इस प्रकार प्रकृति और ईश्वरीय कानून को एक माना गया। रूढि तथा सच्चाई के बीच का यह विरोध दोषाचारो की आलोचना मे एक सूत्र सा बन गया। राजनैतिक दर्शन के बाद के इतिहास मे जब कभी कभी प्रचलित व्यवस्था का विरोध किया गया तो प्राकृतिक कानून की बार बार दुहाई दी गई। यह प्रवृत्ति युरीपीडस (Euripides) की रचनाओं मे भी दिखाई देती है। युरीपीडस जन्म के आधार पर सामाजिक भेदभावों के औचित्य को अस्वीकार करता है। उदाहरण के लिए उसने दास के सम्बन्ध मे कहा है कि दासों के लिए लज्जा का एकमात्र कारण उनका नाम ही है। अन्यथा दास किसी भी तरह से स्वतन्त्र व्यक्तियो से बुरे नहीं हैं। इसलिए दासों की भी आत्मा शुद्ध होती है।[3] युरीपीडस (Euripides) ने पुन एक स्थल पर

---

1 थीब्स का अत्याचारी शासक। (अनु०)

2 Yea, for these laws were not ordained of Zeus,
And she who sits enthroned with gods below,
Justice enacted not these human laws,
Nor did I deem that thou a mortal man,
Could'st by a breath annul and override,
The immutable unwritten laws of Heaven
They were not born to day nor yesterday,
They did not and none knoweth whence they sprang

[L I 450-457 F Storrs trans लासियास (Lysias) का एक उद्धरण (Against Andocides, 10) प्रकट करता है कि यह भाव पेरीक्लीज के एक भाषण से प्राप्त हुआ था]

3 There is but one thing bringeth shame to slaves
The name in all else ne'er a slave is worse
Than free men, so he bear an upright soul.
(Ion, II, 854 856 Way's trans)

कहा है कि ईमानदार आदमी प्रकृति का श्रेष्ठ व्यक्ति होता है।[1]

पाँचवीं शताब्दी के विचारशील एथेंसवासी को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि उसके समाज में कुछ दुर्बलताएँ थीं। इन दुर्बलताओं का विरोध करते समय वह प्राकृतिक अधिकार की दुहाई देने के लिए तैयार था।

दूसरी ओर यह भी जरूरी नहीं है कि प्रकृति आदर्श न्याय और अधिकार के नियम की रचना करती हो। हो सकता है कि न्याय भी रूढ़ि पर आश्रित हो। उसका आधार राज्य का कानून हो सकता है। इस प्रसंग में प्रकृति नैतिकता निरपेक्ष हो सकती है। बाद के सॉफिस्टों का कुछ ऐसा ही विचार था। वे कहा करते थे कि दासता और जन्म की कुलीनता प्राकृतिक नहीं है। अपनी इस प्रकार की घोषणाओं से ये लोग परम्परावादियों की भावनाओं को उत्तेजित करते थे। प्रसिद्ध वक्ता अलसीडेमस (Alcidamas) कहा करता था "ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतन्त्र बनाया है। प्रकृति ने किसी मनुष्य को दास नहीं बनाया।" सबसे अधिक आघात की बात यह थी कि सोफिस्ट ऐंटीफोन (Sophist Antiphone) इस बात को ही स्वीकार नहीं करता था कि ग्रीक और बर्बर में कोई प्राकृतिक अन्तर है। पाँचवीं शताब्दी का अन्त ऐसा समय था जब कि पूर्वजों की प्रिय से प्रिय धारणाओं को श्रद्धाहीन तरुण पीढ़ी चुनौती दे रही थी।

सॉफिस्ट ऐंटीफोन के राजनैतिक विचारों के सम्बन्ध में हमें कुछ ज्ञान है। उसकी पुस्तक ऑन ट्रूथ (On Truth) का थोड़ा सा अंश बच रहा है।[2] ऐंटीफोन का कहना था कि सारे विधि-विधान रूढ़ियों पर आश्रित हैं और इसलिए वे प्रकृति के विरुद्ध हैं। जीवनयापन की सबसे लाभदायक पद्धति यह है कि अन्य लोगों के सामने तो कानून का पालन किया जाए लेकिन जब दूसरा कोई व्यक्ति न हो तो प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए। कानून भंग करने की बुराई सिर्फ यह है कि कहीं कोई देख न ले। इससे बदनामी होती है। लेकिन यदि कोई प्रकृति के खिलाफ जाता है तो इसके अवश्यम्भावी बुरे परिणाम निकलते हैं। कानून के अनुसार जो न्याययुक्त है उसका अधिकतर भाग प्रकृति के विरुद्ध होता है। जो व्यक्ति अपनी मर्जी के अनुसार नहीं चल पाते वे नुकसान उठाते हैं। कानूनी न्याय उन लोगों के लिए किसी लाभ का नहीं है जो उसका पालन करते हैं। इससे न तो पीड़ा बचती है और न बाद में पीड़ा का शमन होता है। ऐंटीफोन के विचार से प्रकृति सहज सहकारिता या स्वार्थ है। स्पष्ट है कि ऐंटीफोन नैतिकता का विरोध करते हुए भी स्वार्थ को एक नैतिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठा कर रहा था। जो व्यक्ति प्रकृति के अनुसार आचरण करता है, वह यथासम्भव अपनी भलाई करने की कोशिश करेगा।

1 The honest man is nature's noble man (tr 345 Dindorf, trans by E Barker)

2 Oxyrhinchus Papyri No 1364, Vol XI, pp 92 ff Also in Ernest Barker, *Greek Political Theory, Plato and His Predecessors* (1925), pp 83 ff सोफिस्ट एंटीफोन वह एंटीफोन नहीं है जिसने ४११ में एथेन्स में अल्पतन्त्र क्रांति का नेतृत्व किया था यद्यपि वह समसामयिक था।

सुकरात की इस विशेषता के आधार पर उसने आनन्द के एक नीति शास्त्र (ethics of pleasure) का निर्माण किया है। कैलीक्लीज (Callicles) के मजबूत आदमी के बारे में जिसने सामाजिकता (sociability) की दुर्बलता को पैरों तले कुचल दिया था, ये दो विरोधी दृष्टिकोण हैं। शुरू-शुरू में इन दर्शनों का कोई विशेष महत्व न था क्योंकि उस समय वे प्लेटो और अरस्तू की गरिमा से ग्रस्त रहे थे। प्लेटो और अरस्तू दोनों ने ही दार्शनिक का एक आदर्श रखा था। दोनों ही अवस्थाओं में यह आदर्श सुकरात था। लेकिन यह निश्चित मालूम पड़ता है कि उसके व्यक्तित्व और विचारों का बहुत सा अंश उसके सबसे बड़े शिष्य प्लेटो की शिक्षाओं में घुलमिल गया था। लेकिन जिस मानववाद (humanism) को साफिस्टों ने प्रारम्भ किया था, वह सुकरात के सभी शिष्यों में व्याप्त हो गया था। प्रौढ़ अवस्था में सुकरात ने मुख्य रूप से नीतिशास्त्र का ही चिन्तन किया था। उसके सामने सबसे जटिल प्रश्न स्थानीय और परिवर्तनशील रूढ़ियों तथा वास्तविक और शाश्वत सत् (right) के बारे में था।

सोफिस्टों के विपरीत, सुकरात के मानववाद में पुराने भौतिक दर्शन (physical philosophy) की युक्तिसंगत परंपरा भी थी। उसके सबसे प्रमुख सिद्धांत "सद्गुण ही ज्ञान है," (virtue is knowledge) का यही अभिप्राय है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि सद्गुणों का अध्ययन-अध्यापन हो सकता है। अरस्तू के अनुसार सुकरात की दूसरी बड़ी देन यह है कि वह प्रत्येक वस्तु की ठीक ठीक परिभाषा करने के लिए उत्सुक रहता था। इन दोनों सिद्धांतों के आधार पर कार्य के किसी उचित सामान्य सिद्धान्त की खोज करना असंभव नहीं है और न शिक्षा के द्वारा इसे प्रदान करना अव्यावहारिक ही है। दूसरे शब्दों में,, यदि नैतिक सकल्पनाओं (ethical concepts) की परिभाषा की जा सकती है, तो विशिष्ट अवस्थाओं में उनका वैज्ञानिक उपयोग हो सकता है। यह विज्ञान एक श्रेष्ठ समाज की स्थापना कर सकता है और उसे कायम रख सकता है। बुद्धिसंगत राज्य विज्ञान का यही वह आदर्श है जिसकी प्लेटो आजीवन आराधना करता रहा।

राजनीति के सम्बन्ध में सुकरात के क्या निष्कर्ष थे, इस सम्बन्ध में ठीक ठीक नहीं मालूम। उसका मुख्य सिद्धान्त था "सद्गुण ही ज्ञान है।" इस सिद्धान्त के सामान्य निष्कर्ष स्पष्ट हैं। एथेंस के लोकतन्त्र में यह माना जाता था कि कोई व्यक्ति किसी भी पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है। सुकरात ऐसे लोकतन्त्र का कटु आलोचक रहा होगा। सुकरात ने अपनी अपोलोजी (Apology) में इसका संकेत दिया है। एक्सेनोफ़ोन ने मेमोराबिलिया (Memorabilia)[1] में इसका उल्लेख किया है। सुकरात के अभियोग और प्राणदण्ड के पीछे कुछ न कुछ राजनीति जरूर रही थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'रिपब्लिक' में जिन राजनैतिक सिद्धान्तों का विकास किया गया है, उन में कुछ अंश सुकरात का जरूर है। प्लेटो ने इन सिद्धान्तों को सुकरात के चरणों में बैठकर अधिगत किया था। 'रिपब्लिक' की बौद्धिक प्रवृत्ति एक प्रशिक्षित

1. Book I. Ch. II-9

शासन मे समस्याओं का समाधान ढूंढना सुकरात के इस सिद्धान्त का ही विस्तार मात्र है कि सद्गुण जिसमे राजनैतिक सद्गुण भी शामिल हैं ज्ञान है।

Selected Bibliography

Greek Political Theory Plato and his Predecessors by Ernest Barker, second edition, London, 1925 Chs iii—v

Greek Philosophy Part I From Thales to Plato by John Burnet London, 1920 Book II

"The Age of Illumination" by J B Bury in *The Cambridge Ancient History*, Vol V (1927) Ch 13

Before and After Socrates by F M Cornford, Cambridge, 1932

The People of Aristophanes by Victor Ehrenberg, Oxford, 1943.

"The Old Oligarch" by A W Gomme, in *Athenian Studies Presented to William Scott Ferguson* Cambridge, Mass, 1940

Greek Thinkers by Theodor Gomperz, Vol I Trans by Laurie Magnus, New York, 1901 Book III, Chs 4—7 Vol II Trans By G G Berry, New York 1905 Book IV, Chs. 1—5

Paideia The Ideals of Greek Culture By Werner Jaeger Trans by Gilbert Highet 3 Vols New York, 1939 44, Book II

Society and Nature By Hans Kelsen Chicago, 1943 Part II

Greek Thought and the Origin of the Scientific Spirit by Leon Robin Trans by M K Dobie, New York, 1928 Book III, Chs 1, 2

Socrates By A E Taylor London, 1933

अध्याय ३

(Chapter III)

प्लेटो : रिपब्लिक

(Plato The Republic)

पैलोपोनेशियन युद्ध में पराजय के साथ ही साथ एथेंस की साम्राज्यिक महत्त्वाकांक्षा समाप्त हो गई थी। यद्यपि एथेंस का कार्य बदल गया, लेकिन, यूनान और आगे चल कर सारी पुरानी दुनिया पर उसका प्रभाव कम नहीं हुआ। साम्राज्य विलुप्त होने के बाद वह भूमध्यसागरी विश्व का शिक्षा-केन्द्र बन गया। उसकी यह स्थिति राजनैतिक स्वाधीनता समाप्त होने के बाद भी एक प्रकार से ईसाई संवत् तक बनी रही। उसके दर्शन, विज्ञान तथा अलंकार शास्त्र के विद्यालय यूरोप में उच्च शिक्षा और गवेषणा के सबसे पहले बड़े केन्द्र थे। रोम तथा पुरानी दुनिया के सभी भागों के विद्यार्थी यहाँ पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। प्लेटो की अकादमी दर्शन शास्त्र का पहला विद्यालय था। उससे कुछ समय पहले ईसोक्रेटीस (Isocrates)[1] ने अपने एक विद्यालय की स्थापना की थी। वह अलंकार शास्त्र और भाषण कला की शिक्षा दिया करता था। अरस्तू ने लीसेयम (Lyceum) में प्राय पचास वर्ष पश्चात् अपना विद्यालय स्थापित किया था। एपीक्यूरियन (Epicurean) और स्टोइक (Stoic) विद्यालय अरस्तू के तीस वर्ष बाद चालू हुए।

जिन लोगों ने पैरीक्लीज के युग में जीवन और कला की स्वतःस्फूर्ति का अध्ययन किया है, वे एथेंस के इस बौद्धिक विशेषीकरण को प्रतिभा का ह्रास मानेंगे। यह सही है कि यदि एथेंस का जीवन पैरीक्लीज के अन्त्येष्टि-भाषण के समय जैसा सुखी और समृद्ध रहता तो, एथेंसवासी दर्शन की ओर आकृष्ट न होते। लेकिन, फिर भी, यह बात निर्विवाद है कि एथेंस के विद्यालयों ने यूरोप की सभ्यता में वही भाग लिया जो कि उसकी पाँचवीं शताब्दी की कला ने लिया था। इन विद्यालयों से ही यूरोप का दर्शन, विशेषकर राजनीति और सामाजिक अध्ययन के सम्बन्ध में, शुरू होता है। इस क्षेत्र में प्लेटो और अरस्तू की रचनाएँ यूरोपीय प्रतिभा की पहली ऊँची उड़ानें हैं। शुरू-शुरू में हमें विभिन्न शास्त्रों का आद्य रूप ही मिलता है। इन्हें विधिवत् विज्ञान नहीं कहा जा सकता। और न इस रूप में इनका वर्गीकरण ही हो सकता है। विभिन्न शास्त्रों और उनका अन्तस्सम्बन्ध निर्माण की प्रक्रिया में था। ३२३ ई० पू० में अरस्तू की रचनाएँ पूरी हुईं। उस समय ज्ञान की सामान्य रूप रेखा निश्चित हो गई। दर्शन, प्राकृतिक विज्ञान, मानव आचरण का विज्ञान और कला की आलोचनायें ज्ञान के मुख्य विषय हो गए। यूरोप की बाद की विचारधारा में भी इन्हें इस रूप में देखा जा सकता है। इन विद्यालयों ने जिस विशेषीकरण और परि-

1. एथेंस का प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री और वक्ता। (अनु०)

शुद्धता का शिलान्यास किया उसकी कोई भी विद्वान् उपेक्षा नहीं कर सकता। हाँ, यह अवश्य है कि इन विचारकों की देन बौद्धिक है और वह नागरिक क्रिया कलापों से दूर है।

राजनीति-विज्ञान की आवश्यकता
(The Need for Political Science)

प्लेटो का जन्म एथेंस के एक प्रसिद्ध वंश में ४२७ ई० पूर्व के लगभग हुआ था। प्लेटो का लोकतन्त्र के प्रति जो आलोचनात्मक दृष्टिकोण है, उसका बहुत से समीक्षकों ने यही कारण बताया है कि प्लेटो कुलीन वंश में उत्पन्न हुआ था। यह सही है कि प्लेटो का एक रिश्तेदार ४०४ ई० पूर्व के धनिक विद्रोह (oligarchic revolt) से सम्बन्ध रखता था। लेकिन इस तथ्य की एक अन्य प्रकार से भी व्याख्या की जा सकती है। अरस्तू न तो एथेंसवासी था और न ही जन्म से कुलीन था लेकिन उसका भी लोकतन्त्र के प्रति अविश्वास था। प्लेटो के बौद्धिक विकास में मुख्य बात उसका सुकरात के साथ सम्बन्ध था। प्लेटो ने सुकरात से यह सबक सीखा था कि सद्गुण ही ज्ञान है। यह सबक जीवन भर उसका नियन्त्रक विचार रहा। दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि वस्तुपरक ढंग से एक श्रेष्ठ जीवन होता है। यह श्रेष्ठ जीवन व्यक्तियों के लिए भी होता है और राज्यों के लिए भी। इस श्रेष्ठ जीवन का अध्ययन किया जा सकता है। इसकी उचित बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा व्याख्या की जा सकती है और इस जीवन की बुद्धिमत्ता द्वारा साधना की जा सकती है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्लेटो अभिजात था। जिस ढंग के बौद्धिक विकास की वह अपेक्षा रखता है, वह सर्वसाधारण के बस का नहीं। जिस समय पैलोपोनेशियन युद्ध समाप्त हुआ था प्लेटो प्रौढ़ अवस्था को पहुँच गया था। इस अवस्था में उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह पैरीक्लीज़ की भाँति लोकतन्त्रात्मक जीवन की सुखद विविधता को पसन्द करेगा। उसके प्रारम्भिक राजनीति सम्बन्धी विचार, जो रिपब्लिक में संग्रहीत हैं, उस समय के हैं जबकि एक एथेंसवासी स्पार्टा के अनुशासन से बहुत प्रभावित होता। इस अनुशासन का खोखलापन तो आगे चल कर स्पार्टा साम्राज्य के विनाश के बाद प्रकट हुआ।

सातवें पत्र में प्लेटो ने अपनी आत्मकथा का कुछ अंश दिया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि अपनी तरुणावस्था में प्लेटो राजनीतिक जीवन का इच्छुक था। उसे यह आशा भी थी कि ४०४ ई० पूर्व का कुलीनतन्त्रात्मक विद्रोह कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार लाएगा और इन सुधारों में उसका भी महत्त्वपूर्ण हाथ होगा। लेकिन धनिकतन्त्र के अनुभव ने शीघ्र ही प्रकट कर दिया कि उसकी तुलना में लोकतन्त्र तो स्वर्ण युग है। इसके बाद लोकतन्त्र की स्थापना हुई लेकिन सुकरात के प्राणदण्ड ने उसकी भी अयोग्यता को सिद्ध कर दिया।

1. प्लेटो का सिसली यात्रा का विवरण तीसरे, सातवें और आठवें पत्रों को यदि वास्तविक प्रामाणिकता नहीं तो ऐतिहासिक विश्वसनीयता अवश्य प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में यही प्रमाण है।

शुरू शुरू में मैं सार्वजनिक जीवन के लिए बड़ा उत्सुक था। लेकिन मैंने देखा कि सार्वजनिक जीवन तो बड़ा चंचल है। इससे मुझे बड़ा निराशा हुई और मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि सभी राज्य चाहे उनकी कैसी भी शासन-प्रणाली क्यों न हो, खराब हैं। उनमें सविधानों में कोई सुधार नहीं हो सकता। हाँ, सौभाग्य से कोई चमत्कार हो तो दूसरी बात है। फलतः मुझे सही दर्शन की प्रशंसा में यह कहने के लिए विवश होना पड़ा कि इसके आधार पर हम यह निर्णय कर सकते हैं कि कौन-सी बात समुदायों के लिए अच्छी है और कौन-सी व्यक्तियों के लिए। मानव समाज उस समय तक अच्छे दिन नहीं देख सकता जब तक कि या तो दर्शन शास्त्र के प्रेमियों के हाथ में राजनैतिक सत्ता नहीं आ जाती या तब तक राजनैतिक शक्ति को हथियाने वाला वर्ग भाग्यवशात् वास्तविक रूप से दार्शनिक नहीं हो जाता।[1]

इस उद्धरण से हमें यह मालूम पड़ जाता है कि प्लेटो ने विद्यालय की स्थापना क्यों की। तथापि इस पत्र में विद्यालय की स्थापना का उल्लेख नहीं है। प्लेटो ने विद्यालय की स्थापना अपनी लम्बी यात्राओं के बाद ३८८ ई० पू० में एथेंस वापस लौटने पर की होगी। अकादमी की स्थापना किसी एक उद्देश्य को लेकर नहीं की गई थी। यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि प्लेटो राजनीति के वैज्ञानिक अध्ययन और राजनीतिज्ञों के प्रशिक्षण के लिए एक संस्था बनाना चाहता था। अभी विशेषीकरण (specialization) इस हद तक नहीं पहुँचा था। अभी प्लेटो यह नहीं समझ सका था कि राजनीति में दार्शनिक की आवश्यकता है। अभी तो उसका यही विचार था कि अकादमी ऐसे व्यक्तियों को प्रशिक्षण प्रदान करेगी जो सत् असत् का विवेक कर सकें तथा सत् की प्राप्ति के लिए उचित और अनुचित साधनों का भेद समझ सकें। यह समस्या प्रकृति और रूढ़ि के उस भेद का ही एक विकास थी जो पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विचारशील यूनानियों के सामने रहा था। इसलिए, प्लेटो के सामने यह एक मुख्य समस्या थी कि वास्तविक ज्ञान और आभासी ज्ञान के बीच किस तरह से भेद स्थापित किया जाए। यह एक उन्नत अध्ययन था। इसके लिए तर्कशास्त्र और गणित जैसा कोई भी विकसित शास्त्र असम्बद्ध न था। यह मानना

1 "The result was that I, who had at first been full of eagerness for a public career, as I gazed upon the whirlpool of public life and saw the incessant movement of shifting at last felt dizzy and finally saw clearly in regard to all states now existing that without exception their system of government is bad Their constitutions are almost beyond redemption except through some miraculous plan accompanied by good luck Hence I was forced to say in praise of the correct philosophy that it affords a vantage point from which we can discern in all cases what is just for communities and for individuals and that accordingly the human race will not see better days until either the stock of those who rightly and genuinely follow philosophy acquire political authority or else the class who have political control be led by some dispensation of providence to become real philosophers"

(Letter VII, 325 d 326 b, L A Post's trans प्लेटो ३७३ ई० पू० में लिख रहा था। अन्तिम वाक्य रिपब्लिक के उस प्रसिद्ध सन्दर्भ (473 d) को ध्वनित करता है जिसमें प्लेटो ने दार्शनिकों के शासक बनने की बात कह है।

भी सर्वथा स्वाभाविक है कि जब प्लेटो यह मानता था कि सच्चे ज्ञान से राज्यों की समस्याओं का सुधार होगा तो उसे यह भी उम्मीद रही होगी कि अकादमी सच्चे ज्ञान और दर्शन का प्रसार करेगी । वह केवल अलंकारशास्त्र जैसी आडम्बरपूर्ण कलाओं का अध्ययन करके ही न रह जाएगी । बाद में तो प्लेटो का यहाँ तक विचार हो गया था कि राजनेतृत्व सर्वश्रेष्ठ या राजोचित विज्ञान है ।

३६१ ई० पू० में प्लेटो ने तरुण शासक डायोनिसियस (Dionysius) की शिक्षा और पथ-प्रदर्शन में अपने मित्र डायोन (Dion) की सहायता करने के लिए सिरायक्यूज (Syracuse) की यात्रा की । प्लेटो को डायोनिसियस (Dionysius) के राज्यारोहण में क्रान्तिकारी राजनैतिक सुधार करने का अत्यन्त उपयुक्त अवसर जान पड़ा । असीम शक्ति सम्पन्न एक तरुण शासक जो एक विद्वान् और एक अनुभवी राजनेता के अनुभव से लाभान्वित होने के लिए प्रस्तुत था, प्लेटो द्वारा वांछित सुधारों को कर सकता था । सातवें पत्र में यह कथा बड़े विस्तार से बताई गई है । प्लेटो को शीघ्र ही अपनी भूल मालूम हो गई । डायोनिसियस उसके परामर्श को स्वीकार करने या उचित रूप से अध्ययन करने अथवा राजकाज चलाने के लिए बिलकुल तैयार न था । यह योजना बुरी तरह असफल हुई । यह नहीं मालूम पड़ता कि प्लेटो का आदर्श निरा काल्पनिक था । प्लेटो ने डायोन (Dion) के अनुयायियों को जो पत्र लिखे थे, उनमें दी गई सलाह बड़ी श्रेष्ठ और नम्र है । डायोन की योजनाओं की विफलता का कारण यह प्रतीत होता है कि वह सिरायक्यूज (Syracuse) के लोगों [illegible] साथ सौम्य नीति पर नहीं चल सका । प्लेटो के सातवें पत्र के कुछ अंशों से ध्वनित होता है कि वह सम्पूर्ण ग्रीक संसार के लिए यह जरूरी समझता था कि सिसली में एक मजबूत ग्रीक ताकत होनी चाहिए । तभी कार्थेजिनियनों (Carthaginians) का मुकाबला किया जा सकता है ।[1] यह निश्चित रूप से एक राजोचित योजना थी । उसकी यह धारणा भी थी कि राजतन्त्र के बिना अन्य कोई इस प्रकार की ताकत नहीं हो सकती । सिकन्दर की पूर्वी देशों की विजय ने उसकी इस धारणा को भी काफी हद तक सही सिद्ध कर दिया था । जहाँ तक सिसली में प्रयोग से प्लेटो का व्यक्तिगत सम्बन्ध है, उसका विश्वास था कि कोई भी विद्वान् जो एक पीढ़ी से यह प्रचार कर रहा हो कि राजनीति को दर्शन शास्त्र की आवश्यकता है, डायोन (Dion) द्वारा माँगी गई सहायता देने से हाथ नहीं खींच सकता था ।

मुझे डर है कि कहीं अन्त में मैं केवल शब्द मात्र ही न रह जाऊँ, एक ऐसा व्यक्ति जिसने कभी किसी ठोस कार्य में हाथ नहीं डाला ।[2]

प्लेटो ने अपने कई संवादों में भी राजनैतिक दर्शन से सम्बद्ध विषयों पर विचार किया है। लेकिन, इस विषय का मुख्य विवेचन उसकी तीन कृतियों—रिपब्लिक

1 332 e—333 a

2 "I fear to see myself at last altogether nothing but words, so to speak, a man who would never willingly lay hand to any concrete task (Plato, Letter VII, 328 C)

(Republic), स्टेट्समैन (Statesman) और लॉज (Laws) में हुआ है। उसके राजनैतिक सिद्धांतो को इन्ही तीन पुस्तकों के आधार पर देखना चाहिए। प्लेटो ने रिपब्लिक की रचना अपना विद्यालय स्थापित करने के एक दशक के भीतर ही की थी। इस समय तक उसके विचार परिपक्व हो गए थे, तथापि उसकी आयु अधिक न थी। प्लेटो का विचार रिपब्लिक को एक समेकित ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत करने का था। रिपब्लिक के सर्वश्रेष्ठ आलोचकों का भी यही विचार है। तथापि, रिपब्लिक की रचना कई वर्षों मे हुई थी। संलीगत आधार पर कहा जा सकता है कि प्रथम पुस्तक मे न्याय सम्बन्धी विवेचन आरम्भिक काल की रचना है। प्लेटो ने लॉज (Laws) ग्रंथ की रचना बुढ़ापे मे की थी। जनश्रुति तो यहाँ तक कहती है कि जब ३४७ ई० पू० मे प्लेटो की मृत्यु हुई, उस समय भी वह इस ग्रंथ का प्रणयन कर रहा था। इस प्रकार, रिपब्लिक और लॉज के रचना-काल मे तीस वर्ष या इससे भी अधिक समय का अन्तर है। रिपब्लिक मे हम प्लेटो के अदम्य उत्साह के दर्शन होते हैं। इस समय उसने अपने विद्यालय की स्थापना की थी और उसकी आयु भी अपेक्षाकृत कम थी। लॉज मे हमें प्लेटो की निराशा ध्वनित होती है। सिराक्यूज में उसकी असफलता ने सम्भवतः उसकी निराशा को और बढ़ा दिया था। स्टेट्समैन की रचना उपर्युक्त दोनों ग्रंथों के बीच में हुई थी। सम्भवतः, वह रिपब्लिक की अपेक्षा लॉज के निकट लिखा गया था।

सद्गुण ही ज्ञान है

(Virtue is Knowledge)

रिपब्लिक एक ऐसी पुस्तक है, जिसका वर्गीकरण नहीं हो सकता। वह आधुनिक सामाजिक अनुशीलन अथवा आधुनिक विज्ञान की किसी श्रेणी में नहीं आती। इस पुस्तक में प्लेटो ने दर्शन के प्रत्येक पहलू पर विचार किया गया है या उसका विवरण किया गया है। उसकी विषयवस्तु इतनी व्यापक है कि वह सम्पूर्ण मानवजीवन पर विचार करती है। रिपब्लिक का मुख्य विषय अच्छे मनुष्य और अच्छे जीवन की समस्या पर विचार करता है। प्लेटो के विचार से अच्छा मनुष्य और अच्छा जीवन अच्छे राज्य में ही पाया जा सकता है। रिपब्लिक में यह भी बताया गया है कि इन चीजों को किस प्रकार जाना जा सकता है और किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। यह समस्या कुछ ऐसी व्यापक है कि व्यक्ति या समाज के जीवन का कोई भी अंग अछूता नहीं बचता। इस प्रकार रिपब्लिक किसी प्रकार की प्रबन्ध पुस्तक (Treatise) नहीं है। वह राजनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान किसी एक विषय से सम्बन्ध नहीं रखती। उसमें इन सबका तो समावेश है ही, कला शिक्षा और दर्शन का भी समावेश है। विषय वस्तु का यह विस्तार बौद्धिक रूप से अशिक्षित पाठक को कुछ परेशान करता है। इस विषय विस्तार के कई कारण हैं। रिपब्लिक की रचना संवाद के रूप में हुई है। फलतः, इसके अन्दर बहुत सी बातें आ गई हैं और इसका रूप बहुत कुछ स्वतन्त्र रहा है। एक क्रमबद्ध ग्रंथ में ऐसा नहीं होता। पुनः, जब प्लेटो ने लिखा था, उस समय बताए गए बहुत से विज्ञान उस

विशिष्ट रूप में विकसित नहीं हो पाये थे जो उन्हें बाद को प्राप्त हुआ। लेकिन साहित्यिक या वैज्ञानिक पद्धति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण वह बात है जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। नगर-राज्य में जीवन आज की तरह विभिन्न खण्डों अथवा वर्गों में बँटा हुआ नहीं था। मनुष्य के सभी क्रियाकलाप नागरिकता [redacted] सम्बन्धित रहते थे। मनुष्य का धर्म राज्य का धर्म होता था। उसकी कला अधिकतर नागरिक कला होती थी। इसलिए इन विविध प्रश्नों के बीच पृथक्करण सम्भव नहीं था। श्रेष्ठ मनुष्य श्रेष्ठ नागरिक होता है। श्रेष्ठ मनुष्य केवल एक श्रेष्ठ राज्य में ही रह सकता है। मनुष्य के लिए क्या अच्छा है, इसकी चर्चा उस समय तक नहीं की जा सकती जब तक हम यह भी न समझ लें कि राज्य के लिए क्या अच्छा है। यही कारण है कि प्लेटो के लिए मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक और राजनैतिक सभी तरह के प्रश्न एक दूसरे से मिले हुए थे। यद्यपि रिपब्लिक के अन्दर अनेक गहन समस्याओं पर विचार किया गया है और इसकी विषयवस्तु अत्यन्त व्यापक है, फिर भी रिपब्लिक का राजनैतिक दर्शन एकांगिन है और उसकी तर्क-पद्धति सरल है। रिपब्लिक के प्रायः सभी विचार थोड़े से शब्दों में व्यक्त किए जा सकते हैं। इन सभी विचारों के मूल में एक तत्त्व निहित है। यद्यपि रिपब्लिक के विवेचन का धरातल बहुत काल्पनिक है, फिर भी वह वास्तविक संस्थाओं के निरीक्षण पर आधारित है। यह दूसरी बात है कि रिपब्लिक में इस ऋण का उल्लेख नहीं किया गया। सातवीं और नवीं पुस्तकों में शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण इस कथन का अपवाद है। रिपब्लिक में वास्तविक राज्यों के विवेचन का समावेश आदर्श राज्य से उनका भेद स्पष्ट करने के लिए किया गया था। रिपब्लिक के केन्द्रीय तर्क पर विचार करते समय इसकी उपेक्षा की जा सकती है। यदि इस बात को छोड़ दिया जाए तो रिपब्लिक के अन्दर राज्य के दर्शन का विकास बड़े व्यवस्थित और सरल ढंग से हुआ है। सच्चाई यह है कि इस सिद्धान्त पर एक ही विचार की इतनी गहरी छाप है और यह इतना सरल है कि यह प्लेटो के विषय, नगर-राज्य के जीवन के साथ पूरी तरह से न्याय नहीं कर पाता। यही कारण है कि प्लेटो ने पहले सिद्धान्त की अनुपयुक्तता को स्वीकार किए बिना ही एक दूसरे सिद्धान्त का निर्माण किया। उसके सबसे बड़े शिष्य अरस्तू ने जहाँ रिपब्लिक के कुछ सामान्यतम निष्कर्षों को स्वीकार किया, वह रिपब्लिक के आदर्श राज्य की अपेक्षा स्टेट्समैन और लॉज़ के राजनैतिक दर्शन के अधिक निकट था। रिपब्लिक के अन्दर राजनैतिक दर्शन को जिस सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है, उसके कारण यह ग्रंथ विषय के विकास में एक घटना मात्र बन गया। हाँ, कुछ सामान्य सिद्धान्तों की बात हम छोड़ सकते हैं।

रिपब्लिक का मुख्य विचार यह है कि सद्गुण ही ज्ञान है। प्लेटो ने यह विचार अपने गुरु सुकरात से ग्रहण किया था। प्लेटो का अपना राजनैतिक अनुभव भी दुःखद ही रहा था। इससे उसका यह विचार और दृढ़ हो गया। फलतः उसने दर्शन प्रधान राजनीति की भावना का विकास करने के लिए अकादमी की स्थापना की। सद्गुण ही ज्ञान है—इसका अभिप्राय यह है कि संसार में कुछ वस्तुपरक सत्य है जिसका ज्ञान हो सकता है। यह ज्ञान आन्तरिक अनुभूति, कल्पना अथवा

भाग्य से नहीं होता, प्रत्युत् बुद्धिसगत प्रथवा तर्कसंगत अनुसंधान से हो सकता है। यह सत्य वास्तविक होता है चाहे इसके बारे में कोई व्यक्ति कुछ भी क्यों न सोचे। इसकी अनुभूति होनी चाहिए, इसलिए नहीं कि लोग उसे चाहते हैं बल्कि इसलिए कि यह सत्य है। दूसरे शब्दों में इच्छा गौण है। आदमी क्या चाहते हैं यह इस बात पर निर्भर है कि वे सत्य का कितना अंश देख पाते हैं। लेकिन कोई चीज केवल इसलिए ही सत्य नहीं है कि लोग उसे चाहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वह आदमी जो जानता है—दार्शनिक, विद्वान् या वैज्ञानिक—उसे शासन में निर्णायक शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। उसका ज्ञान ही उसे इस शक्ति का अधिकारी बनाता है। 'रिपब्लिक' का यही मूल विचार है जो उसके प्रत्येक पक्ष पर हावी है। राज्य का जो पक्ष प्रबुद्ध निरंकुशता के सिद्धान्त (enlightened despotism) के अन्तर्गत नहीं आ सकता, प्लेटो उसे त्यागने के लिए तैयार है।

सूक्ष्म विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह सिद्धान्त काफी व्यापक है। समाज में मनुष्य-मनुष्य का सहयोग पारस्परिक आवश्यकताओं पर और इसके परिणाम-स्वरूप सेवाओं तथा पदार्थों के विनिमय पर आधारित है। फलतः दार्शनिक के हाथ में जो इतनी शक्ति आ जाती है, वह इस बात का एक उदाहरण मात्र है। यह मनुष्यों के समुदायों में हर जगह ही पाया जाता है। कोई भी सहकारी कार्य केवल तभी सफल हो सकता है जबकि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने काम को ही लगन के साथ करे। राज्य के प्रसग में इसका क्या अर्थ होता है, यह समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि कौन कौन से काम जरूरी हैं। जब यह खोज की जाती है तो समाज के तीन वर्गों का पता चलता है। इनमें दार्शनिक शासक सबसे प्रधान है। लेकिन कार्यों का यह बँटवारा और प्रत्येक कार्य के सर्वश्रेष्ठ रीति से सम्पादन-कार्य की विशेषज्ञता, जो समाज की जड़ है—दो तत्त्वों पर आधारित है। वे तत्त्व हैं, स्वाभाविक प्रवृत्ति और प्रशिक्षण। स्वाभाविक प्रवृत्ति तो जन्मजात होती है। लेकिन प्रशिक्षण अनुभव और शिक्षा पर आधारित है। व्यवहार में राज्य इन दो तत्त्वों के नियन्त्रण और पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित है। इसी बात को दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि राज्य का उचित सचालन सर्वश्रेष्ठ मानव क्षमता की प्राप्ति और सर्वश्रेष्ठ शिक्षा द्वारा उसके विकास पर निर्भर है। सम्पूर्ण विश्लेषण हमारी प्रारम्भिक कल्पना को पुष्ट कर देता है। राज्यों का उस समय तक कल्याण नहीं हो सकता जब तक कि सत्ता, उन लोगों के हाथों में नहीं आ जाती जो जानते हैं—जो यह जानते हैं कि श्रेष्ठ राज्य के लिए किन कार्यों की जरूरत है और किस तरह की मानुवंशिकता और शिक्षा से नागरिक इन कार्यों को कर सकेंगे।

प्लेटो के सिद्धान्त को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला सिद्धान्त यह है कि शासन एक कला है और वह ठीक ज्ञान के ऊपर निर्भर है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि समाज मनुष्यों के पारस्परिक सहयोग से चलता है। मनुष्यों की क्षमताएँ एक-दूसरे की पूरक होती हैं। तर्क की दृष्टि से दूसरा सिद्धान्त पहले सिद्धान्त का प्रमेय है। प्लेटो ने पहला सिद्धान्त सुकरात से ग्रहण किया था। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि दूसरा सिद्धान्त पहले सिद्धान्त का ही साधारणीकरण या विस्तार

है। सुकरात का यह सिद्धान्त कि सद्गुण ही ज्ञान है, जैसा ऊपर से देखने पर मालूम पड़ता था, उससे कहीं अधिक व्यापक उपयोग का प्रमाणित हुआ।

लोकमत की अक्षमता

(The Incompetence of Opinion)

प्रकृति और रूढ़ि के बीच पहले से ही भेद चला आ रहा था। सुकरात और सॉफिस्टों के बीच भी इस सम्बन्ध में विवाद चल रहा था। प्लेटो का यह सिद्धान्त कि राज्य की वास्तविक जानकारी हो सकती है, इन दोनों तत्त्वों से ही प्रभावित हुआ था। जब तक कोई चीज वास्तव में अच्छी न हो और जब तक बुद्धिमान आदमी उसके सम्बन्ध में सहमत न हों, तब तक राजनतृत्व की कला के लिए जिसकी प्लेटो स्थापना करना चाहता था, कोई मानक नहीं हो सकता। प्लेटो के प्रारम्भिक सम्वादों में भी यह प्रश्न विभिन्न रूपों में आया है। प्लेटो ने कहीं कहीं पर राजनेता का चिकित्सक अथवा कुशल कारीगर से सादृश्य (analogy) प्रस्तुत किया है। जार्जियाज (Gorgias) में उसने भाषण-कला (Oratoy) की पाकशास्त्र (cookery) के द्वारा क्षुधापूर्ति से तुलना की है। प्रोटेगोरस (Protagoras) में उसने यह बताया है कि सॉफिस्टों की विचार-पद्धति में व्यवस्था का कितना अभाव था और उनकी शिक्षाएँ कितनी आडम्बरपूर्ण थी। ये सारे प्रसंग प्लेटो के मूल प्रश्न—राजनतृत्व की कला—से ही सम्बन्ध रखते हैं। उसकी रचनाओं में विवेक और प्रेरणा, व्यवस्थित ज्ञान अथवा प्रतिभान (intuition) के सापेक्ष महत्त्व की चर्चा के रूप में भी यह प्रश्न बार बार उठा है। रिपब्लिक में कला सम्बन्धी लम्बा विवाद भी इस श्रेणी में आता है। प्लेटो ने कलाकारों की आलोचना की है कि वे कुछ प्रभाव अवश्य पैदा कर देते हैं लेकिन यह नहीं जानते कि यह प्रभाव किस तरह और क्यों पैदा होता है। यह मारोप कुछ इस प्रकार का है कि बड़े से-बड़े राजनेताओं तक ने एक 'दैवी पागलपन (divine madness)" से शासन किया है। स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति दैवी पागलपन की शिक्षा देने की गम्भीरतापूर्वक आशा नहीं कर सकता।

प्लेटो के विचार से नगर-राज्य की कठिनाइयों का कारण केवल यह नहीं है कि शिक्षा दोषपूर्ण है या राजनेताओं अथवा अध्यापकों में नैतिक दुर्बलताएँ हैं। इन कठिनाइयों का कारण यह है कि सारा राजनैतिक ढाँचा और स्वयं मानव प्रकृति तक विकृत है। प्लेटो ने एक स्थल पर कहा है कि स्वयं जनता ही महान् सॉफिस्ट है। प्लेटो के नीति शास्त्र में यह ध्वनि बार-बार गूँजती है कि मानव प्रकृति अपने आप से लड़ाई कर रही है। मानव प्रकृति में एक अधोमुखी मनुष्य है जिससे ऊर्ध्व-मुखी मनुष्य को अपनी रक्षा करनी चाहिए। यही कारण है कि ईसाई धर्म के संस्थापकों ने प्लेटो को 'प्राय ईसाई' मान लिया है। प्लेटो का उस 'सुखद बहुमुखी प्रतिभा' में कोई विश्वास नहीं है जिसकी पेरीक्लीज ने अन्त्येष्टि भाषण (Funeral oration) में समय इतनी प्रशंसा की थी। एक पीढ़ी के सुखद आत्मविश्वास ने अपने आप ही एक अधिक कष्टपूर्ण युग में सन्देह और शंका के लिए स्थान रिक्त कर दिया है। प्लेटो की रचनाओं में यह धारा अब भी मालूम पड़ती है कि इस

सुसम्पूर्ण अवस्था को फिर से प्राप्त किया जा सकता है लेकिन उसको प्राप्त करने का उपाय युक्तिसंगत आत्म-परीक्षण और कठोर आत्म-अनुशासन है। इसलिए शुरू-शुरू में रिपब्लिक नगर-राज्य के वास्तविक रूप का आलोचनात्मक अध्ययन थी। प्लेटो को नगर-राज्य में जो भी दुर्बलताएँ दिखाई पड़ी, उसने रिपब्लिक में उनका विवेचन किया है। उसने अपने सिद्धान्त को एक आदर्श नगर के रूप में कुछ खास कारणों से चित्रित किया है। इस आदर्श में प्रकृति के उन शाश्वत सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया गया है जिनकी तत्कालीन राज्य अवहेलना कर रहे थे।

प्लेटो ने राजनीतिज्ञों के अज्ञान और अक्षमता की कठोर आलोचना की है। उसके विचार से लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का यही सबसे बड़ा अभिशाप है। शिल्पियों को अपने-अपने व्यवसाय की जानकारी होती है, लेकिन राजनीतिज्ञों को कुछ भी नहीं आता। पेलोपोनेशियन युद्ध के विनाशकारी परिणाम के बाद एक ऐसा समय आ गया था जब कि एथेंसवासी स्पार्टा की कठोरता और अनुशासन को अधिक पसन्द करते थे। एक्सनोफोन (Xenophon) इस दिशा में प्लेटो से भी आगे बढ़ गया था। प्लेटो स्पार्टा की एकांगी सैनिक शिक्षा की पूरे मन से कभी प्रशंसा नहीं करता। हाँ, वह उसके द्वारा प्रसूत कर्त्तव्यपरायणता का अवश्य प्रशंसक था। जब प्लेटो ने अपने जीवन के अन्त में लॉज़ की रचना की थी, उसने स्पार्टा की रिपब्लिक की अपेक्षा अधिक आलोचना की है। विशेषज्ञता का विचार प्लेटो के समय में यूनान में प्रमुख रूप धारण करने लगा था। प्लेटो की अकादमी स्थापित होने के कई वर्ष पूर्व ही एक सिपाही इफिक्रैटिस (Iphicrates) ने संसार को यह दिखाकर आश्चर्यचकित कर दिया था कि हलके हथियारों से सुसज्जित लेकिन प्रशिक्षित सेना स्पार्टा की भारी-भरकम युद्धवालों की सेना को मुँह की दे सकती है। जिस समय ईसोक्रेटीस (Isocrates) का स्कूल स्थापित हुआ था उसी समय से व्यावसायिक भाषण कला भी प्रारम्भ हो गई थी। इस प्रकार प्लेटो ने केवल उस विचार को स्पष्ट किया, जो उस समय विकसित हो रहा था। प्लेटो ने यह समझ लिया था कि सारा प्रश्न केवल सिपाहियों के प्रशिक्षण अथवा केवल प्रशिक्षण से बढ़ कर है। प्रशिक्षण के पीछे इस ज्ञान की आवश्यकता है कि क्या पढ़ाया जाए और मनुष्यों को क्या करने की शिक्षा दी जाए। यह नहीं माना जा सकता कि किसी आदमी को पहले ही से यह ज्ञान है कि क्या शिक्षा दी जाए। ज्यादा जरूरी अधिक ज्ञान है। प्लेटो की मुख्य विशेषता यह है कि उसने प्रशिक्षण का अनुसन्धान के साथ या कौशल के व्यावसायिक मानकों का ज्ञान के वैज्ञानिक मानकों के साथ समन्वय स्थापित किया। यही प्लेटो की रिपब्लिक में वर्णित शिक्षा-व्यवस्था की मौलिकता है। हम यह मान सकते हैं कि प्लेटो ने अपनी अकादमी में इस आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास किया होगा।

लोकतन्त्रात्मक राज्यों की प्रमुख दुर्बलता अक्षमता है। लेकिन प्लेटो ने उस समय की सभी शासन-प्रणालियों में एक दोष और देखा था। यह दोष दलबन्दी और स्वार्थ का है। लोकतन्त्र में प्रत्येक राजनैतिक दल अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगा रहता है और वह अपने स्वार्थ को राज्य के स्वार्थ से ऊपर समझता है। पैरीक्लीज़ ने राजनैतिक जीवन के जिस सामञ्जस्य—सार्वजनिक और व्यक्तिगत स्वार्थों

के जिस समन्वय—की सराहना की थी, प्लेटो के विचार से वह बहुत कुछ आदर्श ही था। उस समय यूनान में लोगों का जनता के प्रति कम निष्ठा भाव था। लोग किसी-न-किसी प्रकार के वर्ग शासन के प्रति अधिक निष्ठावान थे। अभिजात धनिक-तन्त्रात्मक संविधान के प्रति और जनसाधारण लोकतन्त्रात्मक संविधान के प्रति निष्ठावान था। अभिजात और जनसाधारण दूसरे राज्य में अपने वर्ग से अधिक सहानुभूति रखता था। आज के राजनैतिक नीतिशास्त्र में जिन बातों को राजद्रोह समझा जाएगा वे यूनान में आम बातें थीं। इसका सबसे विख्यात उदाहरण एल्सिबियाडेस (Alcibiades) है। उसने एथेंस में अपना और अपने दल का राजनैतिक प्रभाव स्थापित करने के लिए स्पार्टा और फारस के साथ साठ गांठ की थी। स्पार्टा का शासन धनिकतन्त्रात्मक था। स्पार्टा के प्रभाव में जितने भी नगर-राज्य थे, वहाँ के धनिकतन्त्रात्मक दल स्पार्टा से सहायता की आशा रखते थे। इसी प्रकार एथेंस के प्रभाव में जितने नगर-राज्य थे, वहाँ के जनतन्त्रीय दल एथेंस की सहायता के मुखापेक्षी थे।

नगर-राज्य की शासन प्रणाली की अस्थिरता का एक प्रधान कारण दलबन्दी और दलगत स्वार्थ की सशक्त भावना थी। प्लेटो ने इसका मूल सम्पत्तिवानों और सम्पत्तिहीनों के आर्थिक हितों का अन्तर बताया है। धनी व्यक्ति का मुख्य उद्देश्य ऋणों का संकलन और सम्पत्ति की रक्षा है चाहे इससे गरीबों को कितनी ही मुसीबत उठानी पड़े। लोकतन्त्रवादी व्यक्ति गरीबों और अकर्मण्यों का सार्वजनिक व्यय पर भी समर्थन करता है। वह अमीरों से लिए गए धन को गरीबों के ऊपर खर्च करता है। इस प्रकार छोटे-से-छोटे नगर में भी दो नगर होते हैं, एक अमीरों का नगर और दूसरा गरीबों का और ये दोनों हमेशा एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। प्लेटो के विचार से यूनान की राजनीति में दलबन्दी इतनी उग्र थी कि सम्पत्ति की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किए बिना उसका उपचार सम्भव नहीं था। इस त्रुटि को जड़-मूल से ठीक करने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति को ही समाप्त कर देना उचित है। लेकिन प्लेटो कम-से-कम यह तो चाहता ही है कि अत्यधिक दरिद्रता अथवा अत्यधिक अमीरी को खत्म कर दिया जाए। शासकों की शिक्षा का महत्त्व है ही। लेकिन नागरिकों की शिक्षा का भी कम महत्त्व नहीं है जिससे कि वह नागरिक कल्याण को अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व दें। नगर-राज्य को ठीक करने की किसी भी योजना में अक्षमता और दलबन्दी इन दो मूल राजनैतिक बुराइयों के परिहार का अवश्य प्रबन्ध होना चाहिए।

राज्य एक आदर्श के रूप में
(The State As A Type)

प्लेटो की विचारधारा का सैद्धान्तिक और वैज्ञानिक आधार जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्वपूर्ण उसका आलोचनात्मक आधार भी है। मनुष्यों और राज्य दोनों के लिए एक 'सत्' (good) होता है। इस 'सत्' के स्वरूप पर विचार करना और इसके साक्षात्कार के उपायों पर विचार करना, ज्ञान का कार्य है। यह

सत्' क्या है और इसे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में लोगों के भिन्न भिन्न विचार हैं और इन विचारों का कोई अन्त नहीं है। यदि 'सत्' सम्बन्धी ज्ञान को किसी प्रकार प्राप्त किया जा सके तो वह बिलकुल भिन्न चीज होगी। पहली बात तो यह है कि उसका कुछ-न-कुछ बुद्धिसगत आधार होगा और वह मनुष्यों की विचार-शक्ति से कुछ परे की चीज होगी। दूसरी बात यह है कि सत् सम्बन्धी ज्ञान एक ही और अपरिवर्तनशील वस्तु होगा। ऐसा नहीं होगा कि एथेंस में उसका एक रूप हो और स्पार्टा में दूसरा। वह हमेशा और हर जगह एक रूप रहेगा। संक्षेप में उसका सम्बन्ध परिवर्तनशील प्रथाओं और रूढ़ियों से नहीं बल्कि प्रकृति से होगा। संसार के अन्य पदार्थों की भांति मनुष्य में भी कुछ-न-कुछ 'स्थायी प्रकृति' होती है। उसकी यह स्थायी प्रकृति आभास (appearance) से भिन्न होती है। इस प्रकृति को हस्तगत करना ही ज्ञान (knowledge) तथा मत (opinion) का भेद है। जब प्लेटो कहता है कि दार्शनिक 'सत्' को जानता है तो यह सर्वज्ञता की शेखी नहीं, यह केवल इस बात की स्थापना है कि संसार में एक वस्तुपरक मानक है और ज्ञान अनुमान से बढ़ कर है। व्यावसायिक अथवा वैज्ञानिक ज्ञान का रूपक प्लेटो के दिमाग से कभी नहीं हटता। जिस प्रकार चिकित्सक यह जानता है कि स्वास्थ्य के लिए क्या चीज अच्छी और क्या चीज बुरी है उसी प्रकार राजनेता को भी यह जानकारी होनी चाहिए कि राज्य के लिए कौन-सी चीज अच्छी है और कौन-सी चीज बुरी है। हम केवल ज्ञान के आधार पर ही श्रेष्ठ चिकित्सक और नीम हकीम का भेद कर सकते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के आधार पर ही सच्चे राजनेता और झूठे राजनेता के बीच भेद किया जा सकता है।

इस प्रकार प्लेटो का दिमागी रुझान वैज्ञानिक था। इसका मतलब यह था कि उसका सिद्धान्त केवल वर्तमान राज्य का ही वर्णन न करे बल्कि एक आदर्श राज्य का भी खाका खींचे। यह बात कुछ विरोधाभास-सी लग सकती है। लेकिन, यह सही है कि प्लेटो ने एक काल्पनिक राज्य का चित्र इसलिए नहीं खींचा है कि वह डनिंग (Dunning) की शब्दावली में एक 'रोमांस' है।[1] काल्पनिक राज्य का चित्रण करने में प्लेटो का मुख्य उद्देश्य 'सत्' के विचार को वैज्ञानिक आधार देना था। प्लेटो के विचार से राजनेता के लिए यह जरूरी है कि वह यह जाने कि 'सत्' किसे कहते हैं और एक श्रेष्ठ राज्य के निर्माण के लिए क्या चीजें जरूरी हैं। उसे यह भी जानकारी होनी चाहिए कि राज्य क्या है, अपने परिवर्तनशील रूप में नहीं बल्कि अपने शाश्वत और मूल रूप में। दार्शनिक का शासन का अधिकार तभी प्रमाणित हो सकता था यदि राज्य की प्रकृति इसे स्पष्ट कर देती। प्लेटो का राज्य एक प्रकृत राज्य—सभी राज्यों के लिए एक आदर्श राज्य—होना चाहिए। वर्तमान राज्यों के विवरण मात्र से उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। हमारे उपयोगितावादी तर्क भी दार्शनिक के अधिकार को प्रमाणित नहीं कर सकेंगे। एक प्रकार अथवा

1 *History of Political Theories, Ancient and Mediaeval* (1905), p 24

आदर्श के रूप में राज्य की सामान्य प्रकृति पुस्तक का विषय है। यह गौण प्रश्न है कि वास्तविक राज्य आदर्श के अनुसार हो सकते हैं या नहीं। यह प्रक्रिया ही उस पद्धति का कारण है जिसमें प्लेटो ने व्यावहारिकता के उन प्रश्नों पर जिनसे आज का पाठक परेशान हो सकता है, विचार किया है। प्लेटो वास्तविक परिस्थितियों से कितना दूर था इस सम्बन्ध में हम बहुत कुछ कह सकते हैं। लेकिन प्लेटो ने जिस रूप में समस्या को समझा था उसको ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न कि क्या आदर्श राज्य का निर्माण किया जा सकता है, असंगत था। वह केवल यही प्रदर्शित कर रहा था कि सिद्धान्त में एक राज्य को क्या होना चाहिए। यदि तथ्य सिद्धान्त के अनुकूल नहीं हैं, तो यह तथ्यों की ही कमजोरी है। इसी बात को दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि प्लेटो यह मानकर चल रहा था कि 'सत्' एक वस्तुपरक चीज है। लोग उसे चाहते हैं या चाहने के लिए राजी किए जा सकते हैं यह बिलकुल दूसरा प्रश्न है। यदि सद्गुण ज्ञान है तो यह माना जा सकता है कि लोग 'सत्' को प्राप्त करना चाहेंगे। लोग 'सत्' को प्राप्त करते हैं या नहीं इससे 'सत्' अच्छा या बुरा नहीं हो जाता। वह अपने पूर्व रूप में ही रहता है।

यदि हम यह समझ लें कि प्लेटो रेखागणित की शैली से बहुत अधिक प्रभावित था, तो हमें प्लेटो की विचार-पद्धति को समझने में सुगमता होगी। प्लेटो के दर्शन का ग्रीक गणित से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसका कारण यह था कि प्लेटो पर पाईथागोरस (Pythagoras) का बड़ा प्रभाव पड़ा था। दूसरे खुद प्लेटो के विद्यालय में उस समय के दो प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी थे। अनुश्रुति तो यहां तक है कि प्लेटो अपने विद्यालय में उन विद्यार्थियों को दाखिल नहीं करता था जिन्होंने रेखागणित का अध्ययन न किया हो। प्लेटो अपने विद्यार्थियों को यह समझाया करता था कि नक्षत्रों की गति को रेखागणित की छोटी-छोटी आकृतियों के द्वारा किस प्रकार समझा जा सकता है। क्निडोस के यूडोक्सस (Ludoxus of Cnidos) ने इस समस्या का समाधान कर दिया था।[1] इस पद्धति ने नक्षत्र मण्डल के सम्बन्ध में पहले वैज्ञानिक सिद्धान्त को जन्म दिया था। एक प्राकृतिक घटना की गणितीय व्याख्या भी इसके द्वारा ही पहले पहल सम्भव हो सकी। संक्षेप में प्लेटो की भावी पीढ़ियों को एक बड़ी देन यह भी है कि उसने यूनानी रेखागणित और ज्योतिष-शास्त्र में वैज्ञानिक विचारधारा का समावेश किया था। यही आदर्श सत्रहवीं शताब्दी के ज्योतिष शास्त्र और गणितीय भौतिक शास्त्र में पुनः प्रकट हुआ। जिस पीढ़ी ने अकादमी की स्थापना और रिपब्लिक की रचना देखी थी उसने इस विचार-धारा का उदय भी देखा, इसलिए प्लेटो का यह सोचना आश्चर्यजनक नहीं है कि श्रेष्ठ जीवन का ठीक-ठीक ज्ञान भी कुछ इसी प्रकार हो सकता है। प्लेटो यह समझता था कि वास्तविक विज्ञान की यथार्थता आदर्शों को समझने पर निर्भर है। रेखागणित का उस समय तक ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता जब तक कि हम काल्पनिक रेखाचित्रों का व्यवहार न करने लगें। यह अवश्य है कि आदर्शों के प्रति-

1. Sir Thomas Heath, *Aristarchus of Samos* (1913) Ch. XV, XVI.

निधान मे अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं। लेकिन, हमें इन कठिनाइयों की उपेक्षा कर देनी चाहिए। हम कागज पर जो रेखाचित्र खींचते हैं, वे आकाश के नक्षत्रों के तत्स्थानी होते हैं। हम कागज पर निकाले गए निष्कर्षों को सही मान कर चलते हैं। हम यह मान लेते हैं कि कागज पर खींची गई रेखाओं से हमें नक्षत्रों के बारे में जो जानकारी मिल रही है, वास्तव में सौरमडल में भी वही हो रहा है।[1] इसी प्रकार रिपब्लिक का उद्देश्य केवल राज्यों का विवरण करना ही नहीं है, बल्कि उसका उद्देश्य यह पता लगाना भी है कि राज्यों के लिए क्या चीज आवश्यक या आदर्श है। दूसरे शब्दों में, रिपब्लिक का लक्ष्य उन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का अन्वेषण करना है जिनके ऊपर श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील मानव समाज आधारित है। यह विचारसरणि बहुत कुछ वैसी है जिसके अनुसार हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) ने एक निगमनात्मक निरपेक्ष नीतिशास्त्र (Absolute Ethics) की योजना प्रस्तुत की थी। स्पेंसर का यह निरपेक्ष नीतिशास्त्र पूर्ण रूप से विकसित समाज में पूर्ण रूप से रमे हुए मनुष्य के ऊपर लागू होता है। स्पेंसर ने अपने इस निरपेक्ष नीतिशास्त्र को विवरणात्मक सामाजिक अध्ययन के सदर्भ के लिए एक आदर्श मानक माना है।[2] स्पेंसर द्वारा कल्पित इस योजना की उपयोगिता या सम्भावना पर सदेह किया जा सकता है लेकिन यह सोचना एक भयकर भूल है कि प्लेटो कल्पना के प्रवाह में बुरी तरह बहक गया था।

पारस्परिक आवश्यकताएं और श्रम का विभाजन
(Reciprocal Needs and Division of Labour)

प्लेटो का विचार था कि राजनेता को एक ऐसा वैज्ञानिक होना चाहिए जो 'सत्' के विचार से परिचित हो। इस विचार ने प्लेटो को एक ऐसा दृष्टिकोण प्रदान किया जिसके आधार पर वह नगर-राज्य की आलोचना कर आदर्श राज्य की स्थापना कर सकता था। इस आधार पर उसने आदर्श राज्य का विश्लेषण किया और यहाँ भी उसे लगा कि वह विशेषीकरण के नियम पर चल सकता है। राजनेता तथा अन्य प्रकार के कुशल कर्मचारियों, शिल्पियों या व्यावसायिक व्यक्तियों के बीच की तुलनाएँ वास्तव में तुलनाओं से कुछ अधिक हैं। यह सही है क्योंकि समाज सबसे पहले मनुष्यों की आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होते हैं। मनुष्यों की आवश्यकताएँ उसी समय पूरी हो सकती हैं जबकि वे एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करें। मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ हैं और कोई भी मनुष्य आत्मनिर्भर नहीं है। यही कारण है कि मनुष्य एक दूसरे की सहायता करते हैं। सबसे सरल उदाहरण भोजन तथा भौतिक जीवन के अन्य साधनों का उत्पादन और विनिमय है लेकिन यह तर्क समाज की प्राथमिक आवश्यकताओं से आगे भी जाता है। प्लेटो ने इसके आधार पर

---

1. रिपब्लिक में वास्तविक ज्योतिष शासन और केवल तारों को देखने के बीच भेद किया गया है। (529 b—530 c)। उसने गणित की उच्च शिक्षा में विज्ञान तथा गणना के बीच भी भेद माना है। (522 c—527 c)

2. Date of Ethics, Ch. XV.

मनुष्य के समस्त सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण किया है। जहाँ कहीं समाज होता है, वहाँ आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और इस प्रयोजन के लिए सेवाओं का विनिमय भी होता है।

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य के निर्माण में इस विश्लेषण का बड़े सहज और सरल ढंग से उपयोग किया है। लेकिन यह उसके सामाजिक दर्शन के सबसे महत्वपूर्ण तत्वों में से एक तत्व है। उसने समाज के एक ऐसे तत्व को प्रकाश में ला दिया जो किसी भी समाज दर्शन के लिए सबसे अधिक महत्व का होता है। उसने हमेशा के लिए एक ऐसे दृष्टिकोण का निरूपण किया जिसे नगर-राज्य के सिद्धान्त ने कभी नहीं त्यागा। संक्षेप में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि समाज सेवाओं की एक व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक सदस्य कुछ देता भी है और कुछ लेता भी है। समाज इस पारस्परिक विनिमय पर ही आधारित है। समाज की यह कोशिश रहती है कि उसके सदस्यों की आवश्यकताएँ भली प्रकार से पूरी हों और उनकी सेवाओं का पारस्परिक विनिमय भी अधिक से अधिक संतोषजनक ढंग से चले। इस व्यवस्था में मनुष्य कुछ आवश्यक कार्यों को करते हैं और उनका सामाजिक महत्व उनके द्वारा किए गए कामों पर निर्भर है। व्यक्ति का एक पद होता है जिस पर उसे कार्य करना पड़ता है। राज्य उसे उसकी स्वतन्त्र इच्छा के प्रयोग की नहीं, प्रत्युत् उसकी शिल्प में अभ्यास की आज़ादी देता है।

इस प्रकार का सिद्धान्त उस सिद्धान्त से भिन्न है जिसमें सामाजिक सम्बन्धों का आधार संविदा या अनुबन्ध माना जाता है और इसलिए जो राज्य को चुनाव सम्बन्धी स्वतन्त्रता (liberty of choice) से सम्बद्ध मानता है। यह दूसरे प्रकार का सिद्धान्त सोफिस्ट एन्टीफोन (Antiphon) के विचारों और रिपब्लिक की दूसरी पुस्तक के शुरू में ग्लॉकन (Glaucon) के न्याय सम्बन्धी वचनों में पाया जाता है।[1] प्लेटो ने इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया, इसका कारण यह है कि समझौता केवल इच्छा के ऊपर निर्भर होता है और वह यह कभी प्रकट नहीं कर सकता कि न्याय वास्तव में एक सद्गुण है। सामाजिक व्यवस्थाएँ रूढ़ि पर नहीं प्रत्युत् प्रकृति पर उसी समय आधारित दिखाई जा सकती हैं यदि यह दिखाया जा सके कि आदमी जो कुछ कर सकता है उसका एकमात्र कारण यही नहीं है कि वह कुछ करना चाहता है बल्कि उससे भी कुछ अधिक है। यह तर्क कितना युक्तिसंगत था, यह इससे प्रकट हो जाता है कि अरस्तू ने आदर्श राज्य के सम्बन्ध में प्लेटो के अधिकांश विचारों को नहीं माना लेकिन इस विचार को अवश्य स्वीकार किया है। *पॉलिटिक्स (Politics) के शुरू के पन्नों में समाज का जो विश्लेषण किया गया है,* वह प्लेटो के इस तर्क का ही एक नया संस्करण है कि समाज पारस्परिक आवश्यकताओं पर निर्भर रहता है।

लेकिन, सेवाओं के विनिमय में इतने ही महत्व का एक और सिद्धान्त निहित है—श्रम का विभाजन और कार्यों का विशेषीकरण। यदि विनिमय के द्वारा आवश्यकताओं को पूरा करना है, तो यह जरूरी [redacted] कि व्यक्ति जिस पदार्थ को देता है, वह

1. 358 e ff

उसके पास आवश्यकता से अधिक होना चाहिए। इसी प्रकार जिस पदार्थ को वह प्राप्त करता है वह उसके पास आवश्यकता से कम होना चाहिए। इसलिए विशेषीकरण (specialization) की विशेष आवश्यकता है। किसान को जितने अन्न की आवश्यकता होती है, वह उससे अधिक अन्न पैदा करता है। मोची जितने जूते पहन सकता है, वह उससे अधिक जूते बनाता है। इसलिए, यह दोनों के लिए हितकारी है कि वे एक दूसरे के लिए काम करें। यदि लोग काम को आपस में बांट कर करें और एक ही आदमी सारे कामों को करने की कोशिश न करे, तो इससे सभी लोगों को बेहतर खाना और बेहतर कपड़ा मिलेगा। प्लेटो के विचार से यह मानव मनोविज्ञान के दो मूल तथ्यों पर निर्भर है। पहली बात तो यह है कि विभिन्न लोगों की रुचियाँ अलग-अलग होती हैं। आदमी एक विशेष काम को दूसरे कामों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह कर सकता है। दूसरे, आदमी किसी काम में निपुणता तभी प्राप्त कर सकता है जब वह किसी ऐसे एक काम को ही लगातार करता रहे जिसमें उसकी स्वाभाविक रुचि हो।

> "हमें यह समझ लेना चाहिए कि जब एक आदमी उस एक काम को करता है जो उसके लिए स्वाभाविक होता है और वह उस काम को ठीक समय पर करता है तथा दूसरे कामों को छोड़ देता है, तब चीजों का उत्पादन अधिक प्रचुरता से, अधिक आसानी से और अधिक गुणवत्ता में होता है।"[1]

समाज तथा मानव प्रकृति के इस संक्षिप्त नैतिक मनोवैज्ञानिक अन्तर्भेदी विश्लेषण पर प्लेटो के राज्य का और आगे निर्माण निर्भर है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि दार्शनिक शासक कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं है। सत्ता के सम्बन्ध में उसका दावा उसी सिद्धान्त के द्वारा जो सम्पूर्ण समाज में व्याप्त है, उचित प्रमाणित होता है। आप विशेषीकरण को बिलकुल हटा दीजिए। उसके साथ ही सम्पूर्ण सामाजिक विनिमय समाप्त हो जायगा। जहाँ आपने ऐसे व्यक्तियों की कल्पना की जिनकी स्वाभाविक रुचि में कोई अन्तर नहीं है, वहीं विशेषीकरण का आधार समाप्त हो जाता है। आप उस प्रशिक्षण को हटा दीजिए जिसके द्वारा प्राकृतिक रुचि का विकास और परिष्कार होता है तथा वह कुशलता का रूप धारण करती है, तो विशेषीकरण निरर्थक हो जाता है। मानव प्रकृति की यही वे शक्तियाँ हैं जिनके ऊपर समाज को और उसके साथ ही राज्य को निर्भर रहना है। प्रश्न यह नहीं है कि क्या इन शक्तियों का प्रयोग होगा, प्रत्युत् प्रश्न यह है कि क्या इन शक्तियों का ठीक से प्रयोग होगा? क्या मनुष्यों का विभाजन उनकी वास्तविक रुचियों के अनुसार होगा? क्या इन रुचियों का बुद्धिमत्तापूर्वक और उचित ढंग से प्रशिक्षण होगा जिससे कि वे पूर्ण रूप से विकसित हो सकें? क्या मनुष्य की वे आवश्यकताएँ जिनको वे

---

1. We must infer that all things are produced more plentifully and easily and of a better quality when one man does one thing which is natural to him and does it at the right time, and leaves other things." (Republic, 370c)

महत्वाकांक्षा को तुष्ट करते हैं, उनकी सबमें ऊँची और वास्तविक आवश्यकताएँ होंगी या उनकी नीची और विलासपूर्ण प्रकृति की आवश्यकताएँ होंगी। प्लेटो के विचार में इन प्रश्नों को केवल 'सत्' के ज्ञान के प्रकाश में ही सुलझाया जा सकता है? 'सत्' को जानना यह जानना है कि इन प्रश्नों का किस प्रकार उत्तर दिया जाए। दार्शनिक का यही कार्य है। उसका ज्ञान ही उसका शासन करने का अधिकार और कर्त्तव्य है।

वर्ग और आत्माएँ
(Classes and Souls)

विचार करने पर प्रकट होगा कि यह तर्क एक ऐसी धारणा को प्रस्तुत करता है जिसको प्लेटो ने साफ-साफ नहीं कहा है। प्लेटो ने व्यक्तिगत क्षमताओं को कुछ ऐसा माना है कि यदि उनका सुनियोजित और नियन्त्रित शिक्षा के द्वारा विकास किया जाए, तो वे एक समरसतापूर्ण सामाजिक समुदाय की स्थापना करेंगी। वर्तमान राज्यों की कठिनाई यह है कि उनमें शिक्षा गलत ढंग से दी जाती है। प्लेटो का विचार है कि प्रजनन की व्यवस्था (breeding) में सुधार करने की आवश्यकता है। यदि प्रजनन की व्यवस्था में सुधार कर लिया जाए, तो इससे आदर्श राज्य के निर्माण में सहायता मिलेगी। दूसरे शब्दों में प्लेटो यह मान लेता है कि यदि यौन-सम्बन्धों को नियन्त्रित किया जाए और राज्य की प्रेरणा पर उत्तम स्त्री-पुरुषों के संयोग से सन्तान की उत्पत्ति की जाए, तो यह कोई असामाजिक या समाज-विरोधी कार्य नहीं है और न इससे यही खतरा है कि समाज में अव्यवस्था फैलेगी। इसका कारण यह है कि नियन्त्रित और निर्दिष्ट यौन-सम्बन्धों में व्यक्ति की शक्तियों का पूरा विकास होगा। यह धारणा ठीक नहीं है और प्लेटो के समय में कई विचारकों ने इस पर आपत्ति की है। कुछ लोगों ने तो इससे उल्टी बात को ही सच माना है। उनका कहना है कि समाजीकृत प्रशिक्षण में व्यक्ति की क्षमताएँ नष्ट हो जाती हैं। लेकिन, प्लेटो के मनोजगत् में यह बात नहीं आती। यद्यपि, उपर्युक्त धारणा का स्पष्ट रूप में उल्लेख नहीं किया गया है, लेकिन रिपब्लिक की तर्क-पद्धति में एक स्थान पर उसका संकेत अवश्य है। इसकी जरा व्याख्या करने की आवश्यकता है। व्याख्या के बिना यह पहेली-सी लगती है। यह स्थल वह है जहाँ राज्य को व्यक्ति का 'बृहद् रूप' माना गया है।[1] इससे पहले प्लेटो न्याय को व्यक्ति के गुण के रूप में देख रहा था। अब वह न्याय को राज्य के गुण के रूप में देखने लगता है। यह परिवर्तन, आधुनिक पाठक को कृत्रिम प्रतीत होता है। लेकिन प्लेटो के लिए यह स्वाभाविक है क्योंकि प्लेटो यह मान लेता है कि मानव प्रकृति समाज के लिए उपयुक्त है और समाज मानव प्रकृति के लिए उपयुक्त है। प्लेटो इस उपयुक्तता को समानान्तर तत्त्व समझ लेता है। मनुष्य और राज्य की रचना मूलतः एक सी है। इसलिए, जो चीज व्यक्ति के लिए अच्छी है वह राज्य के लिए भी अच्छी है।

यह मान लेना चाहिए कि नगर-राज्य के नैतिक आदर्श में और प्लेटो के तत्सम्बन्धी विवरण में जो सबसे अधिक आकर्षक है उसके लिए बहुत कुछ यहाँ

1 368d.

धारणा उत्तरदायी है। यही कारण है कि प्लेटो के नीतिशास्त्र में भावना और कर्तव्य के बीच अथवा मनुष्यों के हितों और समाज के हितों के बीच कोई तात्विक संघर्ष नहीं है। जब इस प्रकार के संघर्ष उत्पन्न होते हैं—और रिपब्लिक की रचना इसलिए की गई थी क्योंकि इस प्रकार के संघर्ष उत्पन्न होते हैं—वहाँ समस्या विकास और सामंजस्य की होती है, दमन और बल की नहीं। असामाजिक व्यक्ति के लिए यह जरूरी है कि वह अपनी प्रकृति को समझे और इस प्रकृति-ज्ञान के अनुसार ही अपनी शक्तियों का विकास करे। व्यक्ति का आंतरिक संघर्ष इस प्रश्न को लेकर नहीं चलता कि वह क्या करना चाहता है और उसे क्या करना चाहिए क्योंकि अन्तिम विश्लेषण में उसकी प्राकृतिक शक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति दोनों ही बातों में है—वह वास्तव में क्या चाहता है और उसे क्या प्राप्त करने का अधिकार है। इसके विपरीत समरसताहीन समाज के लिए यह जरूरी है कि वह नागरिकों के विकास के लिए समस्त आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण करे। अच्छे राज्य की समस्या और अच्छे मनुष्य की समस्या एक ही प्रश्न के दो पक्ष हैं। यदि हम एक का उत्तर पा लेते हैं तो हमें दूसरे का भी उत्तर मिल जाता है। नैतिकता को व्यक्तिगत भी होना चाहिए और सार्वजनिक भी। यदि ऐसा नहीं है तो समाधान का उपाय यह है कि राज्य तथा व्यक्ति दोनों में सुधार किया जाए जिससे कि वे एक दूसरे के अनुकूल हो सकें। सामान्य रूप में इससे बेहतर नैतिक आदर्श की शायद ही कभी घोषणा की गई हो।

प्लेटो ने राज्य और व्यक्ति का विश्लेषण एक ही ढंग से किया है। इस विश्लेषण से जो सिद्धान्त निकलता है वह इतना आसान है कि हमारी समस्या को पूरी तरह नहीं सुलझाता। राज्य के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि तीन काम जरूरी होते हैं। महत्त्वपूर्ण भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए, राज्य की रक्षा होनी चाहिए और उसका शासन होना चाहिए।' विशेषज्ञता के सिद्धान्त का यह तकाजा है कि आवश्यक सेवाओं में भेद होना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज में तीन वर्ग होते हैं। पहला वर्ग श्रमजीवियों का होता है जो उत्पादन करते हैं और दूसरा वर्ग संरक्षकों का होता है। ये संरक्षक दो भागों में बाँट दिए जाते हैं—सिपाही और शासक, या अगर केवल एक ही व्यक्ति हो तो दार्शनिक शासक। लेकिन चूँकि कार्यों का बँटवारा रुचि-भेद पर आधारित है, तीनों वर्ग इस तथ्य पर आधारित हैं कि आदमियों की तीन श्रेणियाँ होती हैं। कुछ आदमी इस तरह के होते हैं जो सहसा काम करने के लिए होते हैं, शासन करने के लिए नहीं। कुछ आदमी ऐसे होते हैं कि वे दूसरों के नियंत्रण और निर्देशन में शासन कर सकते हैं। तीसरी श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो राजनेतृत्व सम्बन्धी बड़े से बड़े दायित्व को उठा सकते हैं और साध्य तथा साधन सम्बन्धी महत्तम प्रश्नों को निपटा सकते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य के अन्दर तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। पहली शक्ति तो क्षुधा सम्बन्धी या पोषण सम्बन्धी है। प्लेटो के विचार से यह शक्ति मनुष्य के शरीर के अधोभाग में निवास करती है। मनुष्य की दूसरी शक्ति उत्साह है। यह मनुष्य के दिल में निवास करती है। मनुष्य की तीसरी शक्ति सत्य ज्ञान अथवा विचार है। यह मनुष्य के मस्तिष्क में निवास करती है। मनुष्य की तीनों शक्तियों की कुछ

खास विशेषताएँ होती हैं। प्लेटो अपनी इस योजना को अशत कार्यान्वित करता है। प्लेटो का मत है कि मनुष्य की चिन्तनशील प्रवृत्ति की विशेषता ज्ञान है। मनुष्य की दूसरी शक्ति की विशेषता साहस है। मनुष्य की तीसरी अथवा पोषण सम्बन्धी शक्ति की विशेषता आत्मसंयम है। न्याय इन तीनो शक्तियों का अन्तःसम्बन्ध है चाहे तो ये शक्तियाँ राज्य में हो और चाहे व्यक्ति मे।

तीन शक्तियों के इस सिद्धान्त के ऊपर ज्यादा जोर देना गलत होगा। प्लेटो ने इस सिद्धान्त का कभी गम्भीरता से प्रतिपादन नही किया है। मनोवैज्ञानिक चर्चा म वह उसका बराबर उपयोग भी नही करता। रिपब्लिक मे समाज के इन तीनो वर्गों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा भी नही खीची गई है हालांकि प्लेटो के सिद्धान्त विवेचन से यह उम्मीद की जा सकती है कि तीनो वर्गों के बीच चौडी खाई है। ये वर्ग जातियाँ नही हैं क्योकि उनके अन्दर सदस्यता आनुवंशिक नही है। इसके विपरीत प्लेटो का आदर्श यह मालूम पड़ता है कि समाज मे जन्म लेने वाले प्रत्येक बच्चे को उसकी प्राकृतिक शक्तियो के अनुकूल उच्चतम प्रशिक्षण दिया जाय और वह बच्चा अपनी योग्यता के अनुसार समाज म उच्चतम पद ग्रहण कर सके। रिपब्लिक म प्लेटो स्वभावजन्य वर्ग पक्षपात की भावना से मुक्त है। वह अरस्तू की अपेक्षा या लाज़ (Laws) मे चित्रित द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य की अपेक्षा अधिक मुक्त है। इन सब बातो के होते हुए भी यह बात साफ है कि मानसिक शक्तियो और सामाजिक वर्गों की समानता के कारण प्लेटो रिपब्लिक म उठाई गई जटिल राजनैतिक समस्याओ के साथ पूरी तरह न्याय नही कर सका है। इस सिद्धान्त न प्लेटो को यह मानने के लिये विवश कर दिया कि राज्य म बुद्धि केवल शासको के पास ही रहती है। तथापि, प्लेटो ने यह कई बार कहा है कि शिल्पी भी अपने काम म बड़े निपुण होते हैं। प्लेटो के इन निर्देशो से यह प्रतीत होता है कि वह शासको की सर्वज्ञता मे अन्धविश्वास नही रखता था। लेकिन, जब प्लेटो यह कहता है कि शिल्पियो को राजनैतिक क्षेत्र म केवल आज्ञापालन करना है तो इसका मतलब प्रकारान्तर से यही हुआ कि प्लेटो के विचार से उन लोगो मे कोई राजनैतिक क्षमता है ही नहीं। शिल्पियो को जिस स्थिति मे रखा जाता है उसमे शिक्षा के द्वारा भी कोई सुधार सम्भव नही हैं। उन्हे ऐसी शिक्षा की जरूरत नही है जिससे व नागरिक कार्यकलापो मे या समाज के स्वशासन सम्बन्धी कार्यो मे भाग ले सकें। राज्य क जीवन के इस भाग म वे केवल दर्शकमात्र ही है।

एडवर्ड ज़ेलर (Edward Zeller) का कहना है कि प्लेटो की इस विचारधारा का कारण शायद यह है कि वह बौद्धिक श्रम को अधिक महत्त्व देता था तथा शिल्पियो व शिल्पो से उसे विरक्ति थी।[1] लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि प्लेटो ने शारीरिक श्रम के प्रति अरस्तू की अपेक्षा अधिक उत्साह प्रकट किया है। इसकी व्याख्या सम्भवत यह हो सकती है कि श्रेष्ठ शासन ज्ञान के ऊपर निर्भर है और

---

1 *Plato and the Older Academy*, Trans by S F Alleyne and Alfred Goodwin (1888), p 473

ज्ञान हिकमत की तरह केवल कुछ विशेषज्ञों के ही बस का है। प्लेटो के अनुसार अधिकांश व्यक्तियों का अपने शासकों से ऐसा ही सम्बन्ध रहता है जैसा कि रोगियों का अपने चिकित्सक से। इस स्थल पर अरस्तू ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। उसने पूछा है कि क्या कुछ ऐसी स्थितियाँ नहीं होती जबकि अनुभव विशेषज्ञ के ज्ञान से अधिक हितकारी होता है।[1] यदि कोई आदमी किसी मकान में रहता है तो उसके लिए यह जरूरी नहीं है कि मकान का निर्माता उससे बताये कि वह मकान ठीक है या नहीं। जिस समय प्लेटो ने रिपब्लिक की रचना की थी उसने अनुभव को बहुत कम महत्त्व दिया। परिणाम यह हुआ कि नगर-राज्य के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनैतिक पक्ष को वह नहीं समझ सका। प्लेटो का 'सुखद बहुमुखी प्रतिभा' में अविश्वास इतना अधिक था कि वह दूसरी अति पर पहुँच गया। उसने शिल्पियों को सार्वजनिक सेवा का कोई अवसर नहीं दिया। उसके विचार से शिल्पियों के लिए सिर्फ यह जरूरी था कि वे अपने कारबार को चलाते रहें। प्राचीन नगर सभाओं तथा परिषद् का पारस्परिक आदान-प्रदान भाव बिलकुल समाप्त हो गया था। एथेंस के लोकतन्त्रवादियों ने मानव व्यक्तित्व के जिस पक्ष को अत्यधिक महत्त्व दिया था प्लेटो उसे जनसाधारण के बीच से हटा देने के लिए कृतसंकल्प है। जहाँ तक जीवन के उच्चतर कार्यकलापों का सम्बन्ध है, जनसाधारण बुद्धिमान् व्यक्तियों की दासता में रहते हैं।

न्याय
(Justice)

रिपब्लिक में राज्य के सिद्धान्त की पराकाष्ठा न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त में है। न्याय वह सूत्र है जो समाज को बाँधे रखता है। वह व्यक्तियों की एक समन्वयपूर्ण व्यवस्था है। इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाभाविक योग्यता और प्रशिक्षण के अनुसार ही अपना कार्य करता है। न्याय सार्वजनिक सद्गुण भी है और व्यक्तिगत सद्गुण भी। इसका कारण यह है कि न्याय की व्यवस्था में राज्य का तथा उसके सदस्यों का समान रूप से हित साधन होता है। मनुष्य के लिए सबसे अच्छी बात यह है कि उसके पास काम हो और वह उस काम को कर सकता हो। अन्य व्यक्तियों तथा सम्पूर्ण समाज के लिए भी सबसे अच्छी बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना काम ठीक ढंग से कर रहा हो।

सामाजिक न्याय समाज विशेष का एक सिद्धान्त है। यह समाज विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से मिलकर बनता है। ये व्यक्ति एक दूसरे की आवश्यकता को पूरा करने के लिए आपस में मिल जाते हैं। वे एक समाज में अपने अलग-अलग कार्यों पर ध्यान देकर एक ऐसे सम्पूर्ण समाज की रचना करते हैं जो पूर्ण होता है क्योंकि वह सम्पूर्ण मानव मस्तिष्क का परिणाम और छाया होता है।[2]

---

1. *Politics*, 3,11, 1282a, 17ff

2 Social justice thus may be defined as the principle of a society, consisting of different types of men who have combined under the impulse of their need for one another, and by their combination in one society, and their concentration on their separate

प्लेटो की न्याय सम्बन्धी परिभाषा यह है कि "प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य उपलब्ध हो।" यही प्लेटो के न्याय सम्बन्धी विचारों का विस्तार है। व्यक्ति के लिए प्राप्य क्या है, इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के साथ उसकी योग्यता और शिक्षा दीक्षा के अनुसार ही व्यवहार होना चाहिए। व्यक्ति से क्या प्राप्य है, इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति की योग्यता के अनुसार उसको जो काम सौंपे जाएँ उन्हें वह पूरी ईमानदारी के साथ करे।

आधुनिक पाठक के लिए न्याय की यह परिभाषा अपने विधि निषेधों दोनों की दृष्टि से बड़ी आश्चर्यजनक है। यह किसी भी प्रकार से न्यायविद् की परिभाषा नहीं है।

आधुनिक पाठक की दृष्टि मे इसके अन्दर वह भाव नहीं आता जो लातानी शब्द ius से और अंग्रेजी शब्द right से ध्वनित होता है। इन दोनों शब्दों का अर्थ ऐच्छिक कार्य की वह शक्तियाँ होता है जिनके प्रयोग मे मनुष्य की कानून द्वारा रक्षा होती है और राज्य की सत्ता उसकी सहायता करती है। प्लेटो की न्याय सम्बन्धी कल्पना में इस धारणा का अभाव अवश्य है। लेकिन, उसके विचार से न्याय का अर्थ यह भी नहीं है कि सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था को कायम रखा जाए। प्लेटो के विचार से बाहरी व्यवस्था उस समरसता का, जिससे राज्य बनता है, एक बहुत छोटा अंश है। राज्य नागरिकों के लिए स्वतन्त्रता और जीवन रक्षा की ही व्यवस्था नहीं करता। वह उन्हें सामाजिक अन्त सम्बन्धों के वे समस्त अवसर प्रदान करता है जो सभ्य जीवन की आवश्यकताओं और सुविधाओं का निर्माण करते हैं। इस प्रकार के राज्य मे अधिकार भी होते हैं और कर्त्तव्य भी। लेकिन, ये किसी विशेष अर्थ म व्यक्तियों को प्राप्त नहीं होते। वे तो व्यक्तियों द्वारा सम्पादित कार्यों अथवा सेवाओं म निहित होते हैं। इस विवेचन का आधार यह है कि राज्य पारस्परिक आवश्यकताओं द्वारा निर्मित होता है। फलत, यह विश्लेषण सेवाओं पर जोर देता है शक्तियों पर नहीं। शासक भी अपवाद नहीं है। वह अपनी प्रजा के आदेशानुसार ही विशेष कार्य करता है। रोमन अपने मजिस्ट्रेटों मे सत्ता या प्रभुत्व शक्ति निहित मानते थे। प्लेटो या अन्य किसी यूनानी विचारक के राजदर्शन म ऐसा विचार नहीं पाया जाता है।

प्लेटो के राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त की सामान्य रूपरेखा यहाँ पूरी हो जाती है। प्लेटो के सिद्धान्त का मूल बिन्दु यह है कि व्यवस्थित अध्ययन के द्वारा 'सत्' का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। प्लेटो का सम्पूर्ण सिद्धान्त इसी सूत्र पर टिका हुआ है। प्लेटो यह प्रदर्शित कर देता है कि यह सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज मे अन्तर्निहित है। श्रम का विभाजन और कार्यों का विशेषीकरण सामाजिक सहकारिता की दशाएँ हैं। दार्शनिक शासक की समस्या यह है कि वह इन सब बातों को सब से अधिक लाभदायक ढंग से व्यवस्थित करे। चूँकि मनुष्य की प्रकृति स्वभाव से ही सामाजिक है

functions, have made a whole which is perfect because it is the product and the image of the whole of the human mind" (E Barker, *Greek Political Theory, Plato and His Predecessors* (1925) pp 176f

इसलिए राज्य के अधिकतम लाभ का अभिप्राय नागरिकों का अधिकतम लाभ है। इसलिए, लक्ष्य यह है कि मनुष्यों का समायोजन कुछ इस प्रकार किया जाए जिससे कि राज्य उनसे यथावश्यकता पूरा कार्य ले सके। प्लेटो के तर्क का शेष भाग इसकी सिद्धि मात्र है। अब मुख्य प्रश्न यही रहता है कि राजनेता इस वांछित समायोजन को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। मोटे तौर पर इस समस्या को सुलझाने के दो उपाय हैं। या तो श्रेष्ठ नागरिकता के मार्ग की विशेष बाधाओं को हटा दिया जाए या श्रेष्ठ नागरिकता की सकारात्मक परिस्थितियों का निर्माण किया जाए। पहले उपाय से साम्यवाद के सिद्धान्त का और दूसरे उपाय से शिक्षा के सिद्धान्त का जन्म होता है।

सम्पत्ति और परिवार
(Property and the Family)

प्लेटो का साम्यवाद दो मुख्य रूपों में है जिनका समाहार परिवार के अन्त में होता है। पहला रूप तो यह है कि शासकों के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति, मकान, जमीन या धन का निषेध कर दिया जाता है। शासक बैरकों में रहते हैं और वे खाना भी पंचायती ढंग से खाते हैं। दूसरा रूप यह है कि एक पति-पत्नी व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाता है तथा उसके स्थान पर सर्वोत्तम सन्तान की उत्पत्ति के उद्देश्य से शासकों की इंगित पर नियन्त्रित यौन सम्बन्ध होते हैं। बच्चों को पैदा करने और पदार्थों का उत्पादन करने तथा उन्हें अपने स्वामित्व में रखने के इन दो सामाजिक कार्यों की समानता उस समाज में तो स्पष्ट थी जिसकी अर्थ-व्यवस्था केवल घर की चहारदीवारी तक ही सीमित थी। लेकिन आज वह स्थिति नहीं है। जहाँ पहले कार्य में कुछ क्रान्तिकारी सुधार किया गया वहाँ दूसरे कार्य में भी सुधार करना जरूरी हो गया। लेकिन, रिपब्लिक का साम्यवाद केवल संरक्षक वर्ग अर्थात् सिपाहियों और शासकों के ऊपर ही लागू होता है। शिल्पी लोगों के पास सम्पत्ति भी बनी रहती है और स्त्रियाँ भी। इस स्थिति में निम्न वर्गों के लोगों का उच्चतर श्रेणी की ओर कैसे विकास होगा यह स्पष्ट नहीं किया गया है। सच्चाई यह है कि प्लेटो अपने सिद्धान्त का पूरा विवरण नहीं देता। इससे भी ज्यादा आश्चर्यजनक बात यह है कि जब प्लेटो व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त का निरूपण करता है, वह दासों के बारे में कुछ नहीं कहता। मालूम पड़ता है कि प्लेटो का राज्य दासता के बिना रह सकता है क्योंकि प्लेटो ने ऐसे किसी कार्य का उल्लेख नहीं किया है जो दासों के द्वारा किया जाए। इस दृष्टि से रिपब्लिक की राज्य व्यवस्था लॉज की राज्य-व्यवस्था से बहुत भिन्न है। इसी आधार पर कोन्स्टैनटिन रिटर (Constantin Ritter) ने कहा है कि रिपब्लिक में "सिद्धान्ततः दास प्रथा का अन्त कर दिया गया है।"[1] लेकिन यह बात कुछ समझ में नहीं आती कि प्लेटो दासता जैसी सार्वभौम प्रथा की चर्चा किए बिना ही उसका अन्त कर देता। सच्चाई यह है कि प्लेटो दासता को महत्वहीन समझता था।

1. Platon, Sein Leben, Seine Schriften seine Lehre (1923), Vol. II. p. 576

प्लेटो का विचार था कि राज्य के नागरिकों के बीच आर्थिक भेद-भाव राज्य के लिए सब से खतरनाक स्थिति होती है। लेकिन, यह विचार अकेले प्लेटो का ही नहीं था। सामान्यतः, यूनानी लोग यह स्वीकार करते थे कि राजनैतिक कार्यों और सम्बन्धों पर आर्थिक उद्देश्य बहुत अधिक प्रभाव डालते हैं। रिपब्लिक की रचना से कार्फी पहले यूरिपिडीस (Euripides) ने नागरिकों को तीन वर्गों में बाँट दिया था—बेकार अमीर जिनको हमेशा अधिक से अधिक पाने की तृष्णा लगी रहती है, गरीब जिनके पास कुछ नहीं होता और जो हमेशा ईर्ष्या में मग्न रहते हैं तथा मजबूत मध्यवर्ग जो 'राज्यों की रक्षा' करते हैं।[1] यूनानियों के विचार से धनिक तन्त्री राज्य (oligarchical state) वह राज्य था जो आनुवंशिक धनी तथा कुलीन लोगों के द्वारा तथा उनके ही हित में चलता है। लोकतन्त्रात्मक राज्य उन अनेकों के द्वारा और उन अनेकों के लिए संचालित होता है जो न कुलीनवंशी होते हैं और न धनिक होते हैं। प्लेटो ने धनिकतन्त्र का जो विवरण दिया है उसमें यह स्पष्ट है कि आर्थिक अन्तर राजनैतिक अन्तर का कारण बन जाता है।[2] इसलिए राजनीति में आर्थिक कारणों का महत्त्व कोई नई बात नहीं थी। प्लेटो का यह विचार कि धन की बहुत अधिक विविधता श्रेष्ठ शासन के साथ संगत नहीं है, यूनान की कई पीढ़ियों के अनुभव पर ही आधारित था। सोलन (Solon) के समय में एथेंस में नागरिक अशान्ति के कारण कुछ इसी प्रकार के रहे थे।

प्लेटो की यह मान्यता थी कि शासन के ऊपर धन का बहुत खराब असर पड़ता है। इस बुराई को दूर करने का प्लेटो को यही उपाय सूझा कि जहाँ तक सिपाहियों और शासकों का सम्बन्ध है धन का ही अन्त कर दिया जाए। शासकों के लोभ को दूर करने का एक मात्र उपाय यही है कि उनके पास कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहने दी जाए वे किसी चीज को अपना न कह सकें। शासक अपने नागरिक कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान् रहते हैं। इस क्षेत्र में उनका कोई व्यक्तिगत प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। स्पार्टा में नागरिकों को धन के उपयोग का या व्यापार करने का अधिकार नहीं था। स्पार्टा के इस उदाहरण का प्लेटो के ऊपर भी असर पड़ा था। तथापि, इस सम्बन्ध में प्लेटो की युक्तियों पर सावधानी से विचार होना चाहिए। प्लेटो धन की विषमताओं को इसलिए दूर नहीं करना चाहता था कि वे व्यक्तियों के लिए अन्यायकर होती हैं। प्लेटो का उद्देश्य राज्य में अधिकतम एकता की स्थापना करना था। व्यक्तिगत सम्पत्ति इस एकता के मार्ग में बाधा थी। यह महत्त्व प्लेटो की विचारधारा की विशेषता है। अरस्तू ने साम्यवाद की आलोचना इस आधार पर नहीं की कि वह अन्यायपूर्ण है, प्रत्युत् इस आधार पर की कि साम्यवाद से वांछित एकता स्थापित नहीं हो सकेगी। इसलिए प्लेटो के साम्यवाद का मुख्य रूप से राजनैतिक उद्देश्य है। प्लेटो के साम्यवाद का प्रेरक तत्त्व आजकल के समाजवादी कल्पना-राज्यों (Utopias) के प्रेरक तत्त्व से बिलकुल उल्टा है। प्लेटो आर्थिक

1 *The Suppliants* II. 238-245

2 *Republic*, 551 d

समता प्राप्त करने के लिए शासन का उपयोग नहीं करता। वह शासन के एक विक्षोभकारी तत्व को हटाने के लिए आर्थिक समानता स्थापित करता है।

सम्पत्ति की भाँति ही प्लेटो विवाह का भी उन्मूलन कर देता है। यहाँ भी उसका यही उद्देश्य है। प्लेटो का विचार है कि पारिवारिक स्नेह भी बन्धन का कारण होता है। यदि शासक परिवार के प्रति अनुरक्त होंगे, तो वे राजकाज की ओर पूरा ध्यान नहीं दे सकेंगे। सन्तान सम्बन्धी चिन्ता व्यक्ति को स्वार्थी बना देती है। यह सम्पत्ति सम्बन्धी आकांक्षा से भी अधिक घातक है। घरों पर बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का भी पूरा प्रबन्ध नहीं हो सकता। घरों की शिक्षा बच्चों को इस योग्य नहीं कर सकती कि वे राज्य की पूरी निष्ठा के साथ सेवा कर सकें। लेकिन विवाह के सम्बन्ध में प्लेटो का एक और उद्देश्य था। मनुष्य जब चाहे तब बड़ी लापरवाही से सम्भोग किया करते हैं। इस तरह की लापरवाही घरेलू जानवरों तक में नहीं पाई जाती। जाति की उन्नति तभी हो सकती है जब कि स्त्री-पुरुषों की सम्भोग क्रिया नियन्त्रित हो और केवल कुछ चुने हुए स्त्री-पुरुषों को ही सम्भोग करने और सन्तान उत्पन्न करने की अनुमति दी जाए। पुन, प्लेटो ने विवाह के अन्त की व्यवस्था कर एथेंस में स्त्रियों की स्थिति की गर्हित आलोचना की है। एथेंस में स्त्रियों के कार्य-कलाप केवल घर को चलाने और बच्चों का पालन-पोषण करने तक ही सीमित थे। प्लेटो के विचार में यह अनुचित था। इससे राज्य अपने आधे भावी संरक्षकों की सेवाओं से वंचित हो जाता था। प्लेटो स्त्रियों और पुरुषों में कोई आधारभूत भेद भी स्वीकार नहीं करता था। उसके विचार से स्त्रियों में इतनी योग्यता है कि वे राजनैतिक तथा सैनिक कार्यों तक में भाग ले सकती हैं। संरक्षक वर्ग की महिलाएँ आदमियों का सारा काम कर सकती हैं। इसके लिए यह जरूरी है कि उन्हें आदमियों की-सी शिक्षा मिले और वे सारे घरेलू कामों से छुट्टी पा जाएँ।

प्लेटो घरेलू जानवरों के प्रजनन से स्त्री और पुरुषों के यौन सम्बन्धों तक की बात जिस शान्त और भावुकता-शून्य ढंग से करता है, उसे पढ़ कर आज के पाठक को थोड़ा आश्चर्य होता है। प्लेटो स्त्री और पुरुषों के सम्बन्ध को महत्वहीन नहीं मानता। वह इसे बहुत अधिक महत्व देता है। वास्तव में वह यौन जीवन पर इतना अधिक नियन्त्रण और आत्म-नियन्त्रण चाहता है जितना कि किसी बड़ी जनसंख्या में अभी तक सम्भव नहीं हो सका। वह अपनी विचार-पद्धति को बहुत दूर तक खींच कर ले जाता है। इससे भावनाओं के क्षेत्र में क्या कठिनाइयाँ आती हैं, प्लेटो इसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। प्लेटो को राज्य की एकता प्राप्त करनी है। सम्पत्ति और परिवार मार्ग में बाधाएँ हैं। इसलिए उनको मार्ग से हटना होगा। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ प्लेटो सिद्धान्तवादी क्रान्तिवाद (doctrinaire radicalism) की भाषा बोल रहा था। वह सिद्धान्त जहाँ तक ले जाए वहाँ जाने के लिए तैयार है। जहाँ तक व्यावहारिक बुद्धि का सम्बन्ध है अरस्तू के उत्तर ने कुछ कहने के लिए शेष नहीं रखा। उसने कहा है कि राज्य को एक ऐसे बिन्दु तक एकीकृत करना सम्भव है जहाँ कि वह राज्य ही न रहे। परिवार एक चीज है तथा

राज्य दूसरी चीज है। अच्छा यह है कि वे एक दूसरे की नकल करने की कोशिश न करें।

शिक्षा
(Education)

प्लेटो ने राजनेता के मार्ग से बाधाओं को हटाने के लिए साम्यवाद को चाहे कितना भी महत्त्व क्यों न दिया हो लेकिन उसका मुख्य जोर साम्यवाद पर नहीं, बल्कि शिक्षा पर है। शिक्षा ही वह भावात्मक साधन (positive means) है जिस के द्वारा शासक समरसतापूर्ण राज्य की स्थापना करने के लिए मानव प्रकृति को सही दिशा में मोड सकता है। प्लेटो ने रिपब्लिक में शिक्षा के विवेचन को काफी जगह दी है। उसने विभिन्न विषयों के प्रभाव का बड़ी सावधानी से वर्णन किया है। प्लेटो यह मानकर भी चलता है कि राज्य पहला और सबसे ऊंचा शिक्षण संस्थान है। आजकल के पाठक को यह सब देखकर आश्चर्य होता है। प्लेटो ने खुद भी इसे, "एक बड़ी चीज" कहा है। यदि नागरिकों को समुचित शिक्षा मिले तो वे अपनी कठिनाइयों को समझ लेंगे और जब कभी संकट आएंगे उनसे लोहा ले सकेंगे। प्लेटो के आदर्श राज्य में शिक्षा का इतना महत्त्व है कि कुछ लोगों ने इसे रिपब्लिक का मुख्य विषय माना है। रूसो (Rousseau) का कहना था कि यह पुस्तक राजनैतिक रचना नहीं है बल्कि शिक्षा सम्बन्धी सर्वश्रेष्ठ कृति है। वास्तव में जिस दृष्टिकोण को सामने रखकर रिपब्लिक की रचना की गई थी उसको ध्यान में रखते हुए यह कोई संयोग नहीं है बल्कि, यह तर्कसंगत परिणाम है। यदि सद्गुण ज्ञान है तो उसे पढ़ाया जा सकता है और उसको पढ़ाने की शिक्षा व्यवस्था श्रेष्ठ राज्य का अपरिहार्य तत्त्व है। प्लेटो के दृष्टिकोण में यदि अच्छी शिक्षा हो तो कोई भी सुधार सम्भव है। यदि शिक्षा की उपेक्षा की जाती है तो राज्य चाहे और कुछ भी करे उसका कोई महत्त्व नहीं है।

प्लेटो ने शिक्षा को जो महत्त्व दिया है, उसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि राज्य शिक्षा को व्यक्तिगत मांग और पूर्ति के व्यापारिक सिद्धान्त पर नहीं छोड़ सकता। उसके लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह उन आवश्यक साधनों की व्यवस्था करे जिनसे नागरिकों को अपेक्षित शिक्षा प्राप्त हो सके। राज्य के लिए यह भी देखना जरूरी है कि यह शिक्षा राज्य के कल्याण और समरसता के अनुकूल हो। इसलिए, प्लेटो की योजना राज्य-नियन्त्रित अनिवार्य शिक्षा-प्रणाली की है। प्लेटो की शिक्षा-प्रणाली दो भागों में आती है। पहला भाग प्राथमिक शिक्षा का है। यह शिक्षा २० वर्ष तक के तरुण व्यक्तियों को मिलती है और इसकी पराकाष्ठा सैनिक सेवा के आरम्भ में है।[1] दूसरा भाग उच्च शिक्षा का है। यह शिक्षा उन चुने हुए स्त्री-पुरुषों को मिलती है जो दो शासक वर्गों के सदस्य होंगे। इस

---

1 जिस समय प्लेटो ने लिखा था, एथेंस में अठारह और बीस वर्ष के तरुणों के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य नहीं थी। लेकिन वह कुछ समय बाद ही अपना ली गई थी। देखिए Wilamowitz, *Aristoteles und Athen* (1893) Vol. I pp. 191ff

शिक्षा का काल बीस से लेकर पंतीस वर्ष तक का है। प्लेटो ने शिक्षा को इन दोनो शाखाओ पर अलग-अलग विचार किया है। हमारे लिए भी इन पर अलग-अलग विचार करना जरूरी है। प्लेटो ने रिपब्लिक मे राज्य-नियन्त्रित अनिवार्य शिक्षा की योजना प्रस्तुत की है। उसकी यह योजना एथेंस की शिक्षा-प्रणाली से बहुत आगे बढ कर थी। एथेंस मे शिक्षा व्यक्तिगत मामला था। वहाँ नागरिक अपने बच्चों के लिए जैसी शिक्षा चाहता, खरीदता था या जैसी शिक्षा बाजार मे मिल जाती, वही देता था। रिपब्लिक की शिक्षा-व्यवस्था प्रकारान्तर मे एथेंस की शिक्षा-प्रणाली की आलोचना है। प्लेटो ने प्रोटेगोरस (Protagoras) मे कहा है कि एथेंसवासी अपने बच्चो की शिक्षा की ओर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। एथेंस मे स्त्रियो को भी शिक्षा नही मिलती थी। इसकी भी यही आलोचना की जा सकती है। प्लेटो का विश्वास था कि लडको और लडकियो की स्वाभाविक प्रतिभा मे कोई अन्तर नही होता। इसलिए दोनो को एक-सी शिक्षा मिलनी चाहिए। स्त्रियों को भी पुरुषो के समान ही पद मिलने चाहिएँ। यह स्त्रियों के अधिकारो का तर्क नही है बल्कि सम्पूर्ण स्वाभाविक प्रतिभा को राज्य के लिए उपलब्ध करने की एक योजना मात्र है। राज्य मे शिक्षा के इतने महत्त्व को ध्यान में रखते हुए यह आश्चर्यजनक मालूम पडता है कि प्लेटो शिल्पियो की शिक्षा के सम्बन्ध में कही विचार नही करता। वह यह भी नही बताता कि क्या उन्हें प्राथमिक शिक्षा देनी ही है। इससे पुन यह ज्ञात होता है कि प्लेटो के निष्कर्ष कितने असम्बद्ध और साधारण हैं। प्लेटो यह चाहता है कि शिल्पियो के होनहार बच्चो की भी उचित शिक्षा का प्रबन्ध हो। लेकिन, यह उस समय तक सम्भव नही है जब तक कि प्रतियोगी शिक्षा प्रणाली (Competiture Educational System) के द्वारा चुनाव न हो जाये। प्लेटो ने इस बारे में विस्तार मे नही लिखा, इस विषय मे ज़ेलर (Zeller) का कहना है कि प्लेटो अभिजात वर्ग का व्यक्ति होने के कारण शिल्पियों से घृणा करता था। फिर भी यह निश्चित है कि प्लेटो का सामान्य शिक्षा मे कम विश्वास था। वह अधिक प्रतिभा-सम्पन्न तरुणो के लिए चुनी हुई शिक्षा मे यकीन रखता था।

रिपब्लिक मे प्रारम्भिक शिक्षा की जो योजना प्रस्तुत की गई है वह तत्कालीन प्रणाली का सुधार है। वह किसी नई व्यवस्था की योजना नहीं है। इस सुधार मे एथेंस के नागरिक के लडके को मिलने वाली शिक्षा का स्पार्टा के तरुणों को मिलने वाली राजनैतिक शिक्षा के साथ समन्वय कर दिया गया था और दोनो की ही विषय वस्तु को काफी बदल दिया गया था। प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था मे पाठ्यक्रम दो भागों में बँटा हुआ था, शरीर को पुष्ट करने के लिए व्यायाम और दिमाग को पुष्ट करने के लिए सगीत। सगीत से प्लेटो का अभिप्राय श्रेष्ठ काव्य का अनुशीलन और निर्वचन तथा गाना और वीणा बजाना था। प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त पर स्पार्टा के प्रभाव को बढा-चढा कर दिखाना आसान है। इस शिक्षा का प्रधान उद्देश्य नागरिक प्रशिक्षण देना था। यह स्पार्टा की शिक्षा प्रणाली की विशेषता थी। प्लेटो की शिक्षा-प्रणाली की विषय-वस्तु पर एथेंस का प्रभाव था। उसका लक्ष्य नैतिक और बौद्धिक परिष्कार था। यह बात व्यायाम के सम्बन्ध मे भी लागू होती है। व्यायाम शारीरिक शक्ति को केवल गौरण

ही बढाता है। जहाँ संगीत सीधे मस्तिष्क का परिष्कार करता है, व्यायाम शरीर को पुष्ट बना कर मस्तिष्क को पुष्ट बनाता है। व्यायाम आत्म-नियन्त्रण और साहस जैसे सैनिक गुणों की शिक्षा देता है। यह शारीरिक कर्मठता के साथ ही साथ नम्रता का भी पाठ पढाता है। इसलिए प्लेटो के विचार से एक शिक्षित व्यक्ति कैसा हो, इस सम्बन्ध मे उसकी धारणा स्पार्टा से नही बल्कि एथेंस से प्रभावित है। एक ऐसे दार्शनिक के लिए जिसका यह विचार रहा हो कि राज्यों की मुक्ति का उपाय केवल प्रशिक्षित बुद्धि मे निहित है, अन्य कोई निष्कर्ष अविचार्य होता।

प्लेटो ने प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत काव्य तथा साहित्य के उच्च रूपों को सम्मिलित किया था। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि प्लेटो इन कृतियों का सौंदर्यपरक समालोचन चाहता था। वह इन्हे नैतिक और धार्मिक शिक्षा का साधन मानता था, कुछ कुछ इसी तरह जैसे कि ईसाई बाइबिल को समझते हैं। इस कारण वह न केवल भूतकाल के कवियों की रचनाओं के आपत्तिजनक अंशों को हटा देना चाहता था, बल्कि यह भी चाहता था कि भविष्य के कवियों पर राज्य के शासक प्रतिबन्ध लगा दे जिससे कि युवकों के हाथों मे खराब नैतिक असर डालने वाली कोई चीज न पड़ने पाए। प्लेटो की दृष्टि मे उत्कृष्ट कलाकारों का कोई विशेष महत्त्व नही था। उसका विचार था कि कलाकार अकसर चरित्रहीन होते हैं। या यह कहना ज्यादा सही होगा कि जिस समय प्लेटो ने कला के नैतिक प्रयोजन के बारे मे लिखा, उस समय वह कुछ ऐसे धार्मिक विचारों से प्रभावित था जो चौथी शताब्दी के यूनानी के चरित्र के असंगत दीखते हैं। प्लेटो मे यह प्रवृत्ति अन्यत्र भी दिखाई पड़ती है। दार्शनिक रूप से यह शरीर और मस्तिष्क के तीव्र भेद से सम्बद्ध है। फायडो (Phaedo) मे यह सबसे ज्यादा साफ दिखाई देता है। प्लेटो से यह प्रवृत्ति ईसाई धर्म मे आई। प्लेटो अपने शासकों से यह आशा करता है कि वे गरीबी की जिन्दगी बसर करें। उसने अपने आदर्श राज्य के निर्माण के शुरू मे बहुत ही आदिम और सादा राज्य की कल्पना की है। इससे भी उसकी यही प्रवृत्ति प्रकट होती है। उसका यह सुझाव भी कि दार्शनिक को मानवी कार्यों मे भाग लेने के लिए चिन्तन का जीवन छोड़ने के लिए विवश किया जा सकता है, यही प्रकट करता है। स्पष्ट है कि दार्शनिकों का शासन आसानी से सन्तों का शासन बन सकता है। सम्भवत सन्यासियों का समाज प्लेटो के आदर्श राज्य का निकटतम समरूप रहा है।

रिपब्लिक का सबसे मौलिक और सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था के सम्बन्ध मे है। प्लेटो चाहता था कि इस शिक्षा के द्वारा चुने हुए विद्यार्थियों को बीस और पैंतीस वर्ष की अवस्था के बीच मे संरक्षक वर्ग के उच्चतम पदों के लिए तैयार किया जाए। इस प्रकार की उच्चतर शिक्षा का अकादमी की स्थापना से क्या सम्बन्ध था तथा वह राजनेतृत्व की कला तथा विज्ञान की सम्पूर्ण योजना के लिए कितना महत्त्व रखती थी, इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा सकता है। इस उच्च शिक्षा का विचार प्लेटो का अपना था और वह अपनी अकादमी के द्वारा उसे पूरा करना चाहता था। यदि अकादमी न होती तो यूनान की शिक्षा प्रणाली मे ऐसी कोई चीज नही थी जिससे कि प्लेटो अपने विचार को कार्यान्वित

कर सकता। सरक्षकों की उच्च शिक्षा व्यावसायिक थी। प्लेटो ने पाठ्यक्रम में केवल उन्हीं वैज्ञानिक विषयों को चुना जो उसे भाते थे। वे विषय थे—गणित, ज्योतिष और तर्कशास्त्र। प्लेटो का यह अटल विश्वास था कि ये यथार्थ विद्याएँ दर्शन के अध्ययन के लिए उचित भूमिका हैं। प्लेटो के मत में दार्शनिक के अध्ययन का विशेष विषय 'सत्' का विचार था। उसे आशा थी कि दार्शनिक अपने इस अध्ययन में उसी प्रकार यथार्थ और शुद्ध निष्कर्ष निकाल सकेंगे जैसा कि गणित, ज्योतिष अथवा तर्कशास्त्र में सम्भव होता है। यही कारण है कि आदर्श राज्य की रूपरेखा में सबसे अन्त में शिक्षा की यह योजना प्रस्तुत की गई है। इस शिक्षा के अन्तर्गत इन विषयों का पठन-पाठन होगा। नई-नई खोजें की जाएँगी और शासकों को नई जानकारी प्राप्त होगी। प्लेटो की शिक्षा सम्बन्धी महत्ता को समझने के लिए यह मानना जरूरी नहीं है कि प्लेटो गणित की भाँति ही एक यथार्थ राज्य-विज्ञान की आशा कर रहा था। उसमें यही आशा करना पर्याप्त है कि वह अपने और अपने विद्यार्थियों के प्रयत्नों में गणित को इतना अधिक महत्त्व दे रहा था और उसे मानव बुद्धि का सबसे सच्चा स्मारक बना रहा था।

कानून का निषेध

(The Omission of Law)

राजनीति सम्बन्धी केवल कुछ ही पुस्तकें रिपब्लिक की भाँति सम्बद्ध और सुसगत हैं। किसी भी पुस्तक के विचार इतने मौलिक, इतने प्रेरणाप्रद और इतने साहसी नहीं हैं। रिपब्लिक की इस विशेषता ने भी उसे एक सार्वभौम ग्रंथ बना दिया है। बाद की पीढ़ियों ने इस पुस्तक से अनेक प्रकार की प्रेरणा प्राप्त की है। रिपब्लिक किसी की अनुकृति नहीं है। उसकी अपील सबके लिए है। रिपब्लिक सबसे बड़ी यूटोपिया थी। बाद के सभी यूटोपियन दार्शनिकों ने इसका अनुसरण किया है। लेकिन प्लेटो पुस्तक के इस पहलू में कम रुचि रखता था। उसने अपनी योजना के विवरणों पर ध्यान नहीं दिया है। रिपब्लिक का वास्तविक महत्त्व स्वतन्त्र बुद्धि का महत्त्व है। यह स्वतन्त्र बुद्धि न तो रूढ़ियों में मर्यादित होती है और न मनुष्य की मूढ़ता से। वह रूढ़ियों और मूढ़ता की शक्तियों को भी बुद्धि-संगत जीवन के मार्ग पर डाल देती है। रिपब्लिक विद्वान् की शाश्वत आवाज है। यह बुद्धिजीवी के विश्वास की योजना है। यह बुद्धिजीवी ज्ञान और प्रबुद्धि में ही उन शक्तियों के दर्शन करता है जिन पर सामाजिक उन्नति निर्भर है। कौन यह कह सकता है कि एक राजनैतिक शक्ति के रूप में ज्ञान की कुछ सीमाएँ हैं? किस समाज ने अब तक प्रशिक्षित वैज्ञानिक बुद्धि से अपनी समस्याओं का हल करने का प्रयास किया है?

फिर भी इस निष्कर्ष से नहीं बचा जा सकता कि प्लेटो ने रिपब्लिक में अधिकांश बुद्धिजीवियों की भाँति ही समस्या को इतना सुगम मान लिया है कि वह अपना महत्त्व खो बैठती है। प्लेटो का समाधान है, प्रबुद्ध निरंकुशता। प्लेटो यह भी मान लेता है कि बुद्धिमानों का शासन केवल थोड़े व्यक्तियों का ही शासन हो सकता है। इसे राजनीति में अन्तिम शब्द नहीं कहा जा सकता। यह धारणा कि शासन

वैज्ञानिक ज्ञान का विषय है और अधिकांश लोग इसे उच्च प्रशिक्षित व्यक्तियों के हाथों में छोड़ सकते हैं, इस महान् विश्वास को भूल जाता है कि कुछ निर्णय ऐसे होते हैं जो आदमी को खुद ही करने पड़ते हैं। यह ऐसे मामलों में अव्यवस्था उत्पन्न करने का तर्क नहीं है जहाँ अव्यवस्था का अभिप्राय मान्य साध्यों के लिए अव्यवस्थित साधनों को चुनना हो। लेकिन, प्लेटो का तर्क यह मान लेता है कि साध्यों का चुनाव साधनों के चुनाव के बिलकुल समान है। यह सही नहीं मालूम पड़ता। प्लेटो ने शासन की चिकित्सा से इस प्रति तक तुलना की है कि राजनीति राजनीति नहीं रह जाती। यह ठीक है कि एक वयस्क उत्तरदायी मनुष्य एक दार्शनिक नहीं है लेकिन वह एक बीमार भी नहीं है जिसे हर समय विशेषज्ञ की देखभाल की जरूरत हो। अन्य चीजों के साथ उसे इस बात की भी जरूरत होनी है कि वह अपनी देखभाल खुद कर सके तथा जिम्मेदार मनुष्यों की भाँति जिम्मेदारी से कार्य कर सके। वह सिद्धान्त जो राजनैतिक सम्बन्धों को केवल उन लोगों का ही सम्बन्ध मानता है जो जानते हैं और जो नहीं जानते हैं वास्तविकता से दूर है।

रिपब्लिक का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि उसमें कानून और लोकमत के प्रभाव को बिलकुल छोड़ दिया है। यह त्रुटि बिलकुल ठीक है क्योंकि यदि प्लेटो के प्रमेय को मान लिया जाता है तो उसका तर्क लाजवाब है। यदि शासक केवल अपने उच्च ज्ञान के कारण योग्य हैं तो उनके कार्यों के सम्बन्ध में लोकमत का निर्णय बिलकुल अप्रासंगिक है या उससे सलाह मशवरा करना केवल एक ऐसी राजनैतिक चाल है जिसमें कि जनता के असन्तोष को नियन्त्रण में रखा जाता है। इसी प्रकार, दार्शनिक शासक के हाथों को कानून के नियमों में बाँध देना उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जिस प्रकार किसी योग्य चिकित्सक को इस बात के लिए विवश किया जाए कि वह अपने नुस्खे चिकित्सा सम्बन्धी पाठ्य पुस्तकों में से नकल करके दे। लेकिन यह तर्क हमारी समस्या का समाधान नहीं करता। यह तर्क इस बात को मान लेता है कि लोकमत कुछ नहीं है। शासक को लोकमत के सम्बन्ध में पहले से ही अधिक ज्ञान रहता है। इसी प्रकार इस तर्क की एक अन्य त्रुटि यह है कि वह कानून को भी कोई महत्व नहीं देता। इस सम्बन्ध में अरस्तू का यह कहना सही है कि व्यावहारिक ज्ञान विशेषज्ञ के ज्ञान से भिन्न होता है। लोकमत इस बात को प्रकट करता है कि शासन के विविध क्रियाकलापों का जनता के ऊपर क्या प्रभाव पड़ रहा है और जनता उनके बारे में क्या सोच रही है। इसी प्रकार कानून भी केवल औसत नियम नहीं होता। वह यथार्थ मामलों के सम्बन्ध में बुद्धि के प्रयोग का परिणाम होता है। वह एक से मामलों के साथ आदर्श समतायुक्त व्यवहार करता है। प्लेटो ने लोकमत और कानून की उपेक्षा करके दोनों के साथ अन्याय किया है।

कुछ भी हो, **रिपब्लिक** का आदर्श राज्य नगर-राज्य के राजनैतिक विश्वास का निषेध करता है। नगर-राज्य के नागरिक स्वतन्त्र थे। वहाँ आशा की जाती थी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तियों की सीमाओं के अन्तर्गत, शासन के अधिकारों और कर्त्तव्यों में भाग ले सकता है। यह आदर्श इस विश्वास पर आधारित है कि कानून की अधीनता तथा किसी अन्य व्यक्ति की अधीनता के बीच चाहे वह अन्य व्यक्ति

द्धिमान् तथा प्रबुद्ध शासक ही क्यों न हो, एक अमिट नैतिक अन्तर होता है। अन्तर यह है कि पहला तो स्वतंत्रता और गौरव की भावना के अनुकूल है तथा दूसरा नहीं। कानून की अधीनता में स्वतंत्रता का भाव नगर-राज्य में एक ऐसा तत्त्व था जिसको यूनानी सबसे अधिक नैतिक महत्त्व देता था और यही उसके विचार में यूनानी तथा बर्बर के बीच सबसे बड़ा अन्तर था। यह मान लेना चाहिए कि यह बदलाव यूनानियों के हाथों से अधिकांश यूरोपीय शासन-प्रणालियों के नैतिक आदर्शों में सन्निहित हो गया है। यह आदर्श इस सिद्धान्त में प्रकट हुआ है, "सरकारें अपनी न्याययुक्त शक्तियाँ शासितों की सहमति से प्राप्त करती हैं।" सहमति शब्द का अर्थ अस्पष्ट है, फिर भी यह कल्पना करना कठिन है कि यह आदर्श लुप्त हो जायेगा। इस कारण प्लेटो के आदर्श राज्य से कानून के निषेध का केवल यही अभिप्राय हो सकता है कि प्लेटो अपने उस समाज के, जिसका वह सुधार करना चाहता था, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नैतिक पक्ष को नहीं समझ सका।

इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि प्लेटो कानून को राज्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में उस समय तक शामिल नहीं कर सकता था जब तक कि वह उस सम्पूर्ण दार्शनिक पद्धति का पुनर्निर्माण न कर लेता जिसका कि राज्य एक भाग है। यदि वैज्ञानिक ज्ञान लोकमत से श्रेयस्कर है, जैसा कि प्लेटो मानता है, तो फिर कानून को ऐसा सम्मान कैसे दिया जा सकता है कि वह राज्य में प्रभु शक्ति (sovereign power) बन जाए। कानून रूढ़ि से सम्बन्ध रखता है। वह प्रयोग और अभ्यास से उत्पन्न होता है। वह पीढ़ी दर पीढ़ी के अनुभव का परिणाम होता है। वह विवेक जो प्रकृतिभेदी युक्तिसंगत अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न होता है, कानून के दावे के सम्मुख अपने दावों को उस समय तक नहीं त्याग सकता जब तक कि कानून स्वयं ही एक ऐसे विवेक के ऊपर आधारित न हो जो वैज्ञानिक विवेक से भिन्न हो। यदि प्लेटो राज्य को एक शिक्षा संस्था बनाने की गलती करता है, यदि इससे शिक्षा के ऊपर इतना भार पड़ता है कि वह उसे सहन नहीं कर सकती, तो दार्शनिक सिद्धान्तों की ही—विशेषकर प्रकृति और रूढ़ि तथा विवेक और अनुभव के विरोध के सिद्धान्त की पुनः परीक्षा करनी आवश्यक है। इस संदेह ने ही कि रिपब्लिक का सिद्धान्त समस्याओं की जड़ तक नहीं पहुँच सका, प्लेटो को अपने जीवन के उत्तर काल में इस बात की प्रेरणा दी कि वह राज्य में कानून को उचित स्थान दे। फलतः, उसने अपने लॉज (Laws) नामक ग्रंथ में एक अन्य राज्य का निरूपण किया जिसमें ज्ञान नहीं, प्रत्युत कानून ही शासी शक्ति हो।

प्लेटो : "स्टेट्समैन" और "लॉज़"

(Plato The "Statesman" And The "Laws")

प्लेटो का उत्तरकालीन राजनैतिक दर्शन 'स्टेट्समैन' और 'लॉज़' नामक ग्रंथों मे निहित है। इन ग्रंथो की रचना 'रिपब्लिक' के काफी वर्षों बाद हुई थी। इन दोनों कृतियों में काफी साम्य दिखाई देता है। इनका सिद्धान्त रिपब्लिक में दिए गए सिद्धान्त से काफी भिन्न है। ये दोनो रचनाएँ नगर-राज्य की समस्याओं के सम्बन्ध मे प्लेटो के चिंतन के अंतिम परिणाम प्रकट करती हैं। प्लेटो ने लॉज़ की रचना बुढ़ापे मे की थी। सभी आलोचको का कहना है कि इसमे प्लेटो की ह्रासोन्मुखी शक्तियों का दर्शन होता है। तथापि, इस विचार मे काफी अतिशयोक्ति है। जहाँ तक साहित्यिक विशेषता का सम्बन्ध है, रिपब्लिक और लॉज़ में कोई तुलना ही नहीं है। रिपब्लिक को सम्पूर्ण दार्शनिक साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ कृति माना जाता है। दूसरी ओर लॉज़ एक नीरस रचना है। इसमे असम्बद्धता काफी है। यह भी संवाद के रूप मे लिखी गई है। संवाद रूप में लिखी गई रचना में इस प्रकार की त्रुटियाँ हो ही जाती हैं। फिर भी, लॉज़ में शब्दाडम्बर तथा पुनरावृत्ति का बहुत दोष है। यह अनुश्रुति कि प्लेटो इसका अन्तिम पुनरीक्षण नहीं कर सका था ठीक हो सकती है। लॉज़ मे भी कुछ श्रेष्ठ अवतरण हैं, ऐसे अवतरण जो योग्य आलोचको के विचार से उसकी किसी भी कृति से टक्कर ले सकते हैं। फिर भी लॉज़ मे एक अव्यवस्थित साहित्यिक कृति की समता अथवा रुचि का अभाव दीखता है।

शैलीगत त्रुटियो के कारण रिपब्लिक की तुलना मे लॉज़ का कम अध्ययन किया गया है। लोगों ने यह भी मान लिया जान पड़ता है कि जहाँ लॉज़ मे साहित्यिक गुण का अभाव है, उसका बौद्धिक पक्ष भी दुर्बल है। यह निश्चिततः भूल है। लॉज़ म रिपब्लिक की भाँति कल्पना के मुक्त विहार का अभाव है, लेकिन इस ग्रंथ मे प्लेटो ने राजनैतिक वास्तविकताओं का जिस ढंग से सामना किया है, वैसा उसने रिपब्लिक में कभी नहीं किया था। लॉज़ मे क्रम न होने का एक आंशिक कारण यह है। लॉज़ की रचना किसी एक विचार-प्रवाह को लेकर नहीं हुई है। उसकी रचना विषय-वस्तु की जटिलताओं के आधार पर हुई है। रिपब्लिक सनातन पुस्तक है। उसके सिद्धान्तो की व्यापकता कालातीत है। लेकिन, प्राचीन संसार मे प्लेटो के उत्तराधिकारियों ने राजनैतिक दर्शन के विकास मे उसकी विचारधारा के उत्तरवर्ती रूप से अधिक सहायता ग्रहण की। अरस्तू के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से सत्य है। पॉलिटिक्स के लिए प्रस्थान का बिन्दु रिपब्लिक नहीं, प्रत्युत् स्टेट्समैन और लॉज़ है। राज्यों का संविधान, उनका राजनैतिक संगठन, 'मिश्रित राज्य' का सिद्धान्त जैसे विशिष्ट राजनैतिक प्रश्नो के सैद्धान्तिक पक्षों पर लॉज़ का बहुत प्रभाव पड़ा है।

कानून की पुनर्प्रतिष्ठा

(The Readmission of Law)

रिपब्लिक में प्लेटो ने विचार-सूत्र ने एक ऐसे दर्शन का निर्माण किया था जिसमें प्रत्येक चीज दार्शनिक शासक के अधीन रहती है। दार्शनिक-शासक का सत्ता सम्बन्धी दावा इस तथ्य पर आधारित है कि वही इस बात को समझता है कि मनुष्यों और राज्यों के लिए क्या हितकारी है। इस विचार-शृंखला का परिणाम यह हुआ कि प्लेटो ने कानून को आदर्श राज्य से बहिष्कृत कर दिया। उसने राज्य को एक शिक्षण-संस्थान के रूप में प्रतिष्ठित किया, जिसमें अधिकांश नागरिक स्थायी रूप से दार्शनिक-शासक की अधीनता में रहते हैं। यह यूनानियों के कुछ बुनियादी विश्वासों के विरुद्ध था। यूनानियों की दृष्टि में कानून के अन्तर्गत स्वतन्त्रता का नैतिक महत्त्व था। वे स्वशासन के कार्य में नागरिकों के योगदान को भी अत्यन्त आवश्यक समझते थे। इस कारण, प्लेटो के राजदर्शन का पहला रूप एक ही सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान् रहने के कारण एकपक्षीय था। वह नगर-राज्य के आदर्शों को भी पूरी तरह प्रकट नहीं कर सका। प्लेटो के दिमाग में भी यह सन्देह बराबर बना रहा था। इस सन्देह ने ही उसकी बाद की विचारधारा को निर्दिष्ट किया। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, लॉज की रचना का उद्देश्य कानून को वह स्थान देना था जो उसे यूनानियों की दृष्टि में प्राप्त था और जिससे उसे हटाने की प्लेटो ने कोशिश की थी। रिपब्लिक के सिद्धान्त और लॉज के सिद्धान्त में फर्क यह है कि रिपब्लिक का आदर्श राज्य तो एक ऐसा शासन है जो कुछ विशेष रूप से चुने हुए और विशेष रूप से प्रशिक्षित व्यक्तियों के द्वारा संचालित होता है। इन व्यक्तियों पर किन्हीं सामान्य विनियमों का कोई अंकुश नहीं होता। लॉज का राज्य वह शासन है जिसमें कानून की स्थिति सब से ऊँची है। शासक और शासित दोनों ही उसके अधीन रहते हैं। इस अन्तर के कारण यह आवश्यक हो गया कि प्लेटो अपने समस्त शासन-सिद्धान्तों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करे। यथार्थ में, प्लेटो ऐसा करने में सफल न हो सका।

प्लेटो ने अपने राजनैतिक दर्शन में क्यों परिवर्तन किए, विद्वानों ने इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्लेटो ने सिराक्यूज (Syracuse) की राजनीति में भाग लिया था। उसमें वह असफल रहा था। इससे उसे निराशा हुई और राजनैतिक जीवन की यथार्थताओं का कटु अनुभव हुआ। लेकिन, यह नहीं माना जा सकता कि प्लेटो सिराक्यूज इस आशा से गया हो कि वहाँ दार्शनिक-शासक द्वारा शासित एक आदर्श राज्य की स्थापना करेगा और चूँकि वह ऐसा नहीं कर सका, अतः उसने अपने विचारों में परिवर्तन कर दिया। प्लेटो ने सातवें पत्र में बिलकुल उल्टी बात कही है। डायोन (Dion) के अनुयायियों को सलाह देते हुए उसने कहा है

मेरा सिद्धान्त है कि सिसली को या अन्य किसी भी नगर को मानव शासकों का अधीनता में नहीं, अपितु कानूनों की अधीनता में रहना चाहिए। अधीनता सब के लिए बुरी है, शासकों के

लिए, शासितों के लिए, उनके बच्चों के बच्चों के लिए और उनकी सभी भावी सन्तति के लिए।[1]

प्लेटो ने यह ३५३ में लिखा था। फिर भी वह कहता है कि नए कानूनों को बनाने के लिए जिस सिरावयो आयोग की उसने सिफारिश की है, वह योजना उस योजना से मिलती जुलती है जिसे उसने और डायोन (Dion) ने मिलकर कार्यान्वित करने का प्रयास किया था।[2] इसलिए, स्पष्ट है कि सिराक्यूज में प्लेटो का प्रारम्भ से ही यह उद्देश्य रहा था कि वह कानून-मर्यादित राज्य की स्थापना कर सके। यूनानियों का यह आम रिवाज था कि वे उपनिवेश के लिए कानूनों की रचना करने के लिए विधायी आयोग की स्थापना करते थे। प्लेटो ने लॉज की रचना के लिए इस साहित्यिक विधा का प्रयोग किया है। यदि स्टेट्समैन की रचना उस समय हुई थी जब प्लेटो डायोन (Dion) के साथ सहयोग कर रहा था (३६७-३६१), तो शासन में कानूनों के सापेक्ष गुण-दोषों की चर्चा उसके मन में रिपब्लिक के निष्कर्षों की व्यावहारिकता के बारे में सन्देह पैदा कर देती है। इसलिए, यह निष्कर्ष उचित होगा कि प्लेटो ने अपने विश्वासों में आकस्मिक परिवर्तन कभी नहीं किया। उसे यह काफी समय से ज्ञात था कि आदर्श राज्य से कानूनों का बहिष्कार उचित नहीं है।

यह भी एक तथ्य है कि प्लेटो ने यह निश्चय कभी नहीं किया कि रिपब्लिक में वर्णित सिद्धान्त निश्चित रूप से गलत था और उसे त्यागने की जरूरत थी। उसने यह बार-बार कहा है कि लॉज में उसका उद्देश्य द्वितीय श्रेष्ठ राज्य का वर्णन करना है। उसने इस आरोप को निराधार सिद्ध करने के लिए कानून के महत्व के बारे में भी दृढ़तापूर्वक अपने विचार प्रकट किए हैं। "कानूनों के बिना आदमी की स्थिति बर्बर पशुओं की तरह हो जाती है।" लेकिन, यदि योग्य शासक हो तो कानूनों की जरूरत नहीं पड़ेगी क्योंकि 'कोई भी कानून या अध्यादेश ज्ञान से बढ़कर नहीं है।'[3] इसलिए प्लेटो का अन्त तक यह विश्वास रहा था कि वास्तविक आदर्श राज्य में विशुद्ध विवेक का शासन चलना चाहिए। दार्शनिक शासक इस विशुद्ध विवेक का प्रतीक होता है। उसके ऊपर कानून अथवा रूढ़ि का कोई बन्धन नहीं होता। प्लेटो को इस बात का भरोसा नहीं था कि इस आदर्श को कार्यान्वित किया जा सकता है लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसका यह विश्वास हो गया कि इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। कानून द्वारा शासित राज्य मानव प्रकृति की दुर्बलता के प्रति एक रियायत थी। वह उसे अपने आदर्श राज्य के समान स्वीकार करने को तैयार नहीं था। यदि दार्शनिक शासक का निर्माण करने के लिए आवश्यक ज्ञान उपलब्ध नहीं होता, तो कानून पर आधारित शासन में विश्वास करना ठीक है। कानून का शासन मनुष्यों के शासन से बेहतर ही होता है। इन दो सिद्धान्तों का सम्बन्ध सदा सन्तोषजनक है। आदर्श तर्क की दृष्टि से अकाट्य है लेकिन यह व्यवहार

---

1 334 c-d, L. A Posts' trans

2. 337 d.

3. 874e, 875c

मे उपलब्ध नही किया जा सकता । द्वितीय, सर्वश्रेष्ठ राज्य को प्राप्त करना असम्भव नहीं है । लेकिन, वह विश्वासजनक नहीं है ।

सर्वश्रेष्ठ और द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के सम्बन्ध मे यह कठिनाई प्लेटो के दर्शन की एक मूल समस्या मे उत्पन्न हुई थी । प्लेटो को अपने जीवन के उत्तरकाल मे इस समस्या का अनेक बार सामना करना पडा । लेकिन वह इसे कभी सुलझा नही सका । यह समस्या सिर्फ इस सम्बन्ध मे भी नहीं थी कि प्लेटो का शासन में कानून की स्थिति के बारे मे क्या विचार था—अच्छा विचार था या बुरा विचार था । यदि रिपब्लिक की तर्क-पद्धति (इसमे सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त भी शामिल है) सही थी तो फिर राज्य मे कानून के लिए कोई स्थान नही था । यदि राज्य में कानून को स्थान देना जरूरी था, तो सम्पूर्ण दार्शनिक पद्धति को बदलना और कुछ ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करना जिनसे कुछ नई उलझनें पैदा होतीं, जरूरी था । इससे एक तरह का सकट पैदा हो गया था । प्लेटो ने इसको खुद देख लिया था और उसका वर्णन किया था । यह उसकी बौद्धिक महत्ता का वास्तविक परिचायक है । अरस्तू के समय से ऐसा कोई भी आलोचक नहीं हुआ है जिसने प्लेटो के सम्बन्ध में कोई ऐसी आपत्ति प्रस्तुत की हो जो उसे प्लेटो की रचनाओं के अनुशीलन के उपरान्त स्वय ही ज्ञात न हो गई हो ।

आदर्श राज्य से कानून को बहिष्कृत करने के दो कारण थे । प्लेटो के विचार से राजनेतृत्व एक कला है । वह एक यथार्थ विज्ञान पर आधारित है । यह यथार्थ विज्ञान गणित की भाँति है । जिस प्रकार गणित मे केवल टाइपों का उल्लेख रहता है उसी प्रकार इस विज्ञान मे भी टाइपो पर ही विचार किया जाता है । तथ्यात्मक ज्ञान कुछ उदाहरण ही दे सकता है और इससे अधिक कोई सहायता नहीं देता । इस सिद्धान्त के पीछे यह धारणा कार्य कर रही है कि बुद्धि और अनुभूति एक-दूसरे से अलग रह सकती हैं । आदर्श का ज्ञान उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि विचारक इन्द्रिय-सापेक्ष ज्ञान से घिरा रहता है । यह कुछ इसी प्रकार है जैसे कि वास्तविक ज्योतिष का ज्ञान उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि आकाश के नक्षत्रो की आकृतियों को वास्तविक नक्षत्र ही न समझा जाए ।

नीतिशास्त्र के क्षेत्र मे सत् के ज्ञान का अभिप्राय राग और काम जैसे शरीर-धर्मों से छुटकारा पाना है । शरीर और आत्मा का यह भेद कभी-कभी निम्न प्रकृति और उच्च प्रकृति के उस विरोध के रूप मे प्रकट होता है । प्लेटो की विचारधारा में यह एक क्षोभजनक तत्त्व है । प्लेटो निम्न प्रकृति और उच्च प्रकृति के विरोध को स्वीकार अवश्य कर लेता है, तथापि वह उसके समस्त निष्कर्षों को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नही है । राजनीति के क्षेत्र मे विध्यात्मक कानून (Positive Law) का अभिप्राय वह कानून है जिसका वास्तव मे अस्तित्व है और जिसका मनुष्य वास्तविक समाज मे उपयोग करते हैं । यह कानून इन्द्रियों तथा आसक्तियो का समरूप है । यह बात यूनानियो को आजकल की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह मालूम थी । यूनान का विधान मुख्यत प्रयोग और अभ्यास पर ही आधारित था । यह उन स्थानों के विधान से भिन्न था जहाँ व्यावसायिक न्यायपालिका होती है तथा न्यूनाधिक रूप से वैज्ञानिक

न्यायशास्त्र (scientific jurisprudence) के तत्त्व पाए जाते हैं। चाहे कुछ भी हो, कानून का विवेक अनुभव का विवेक है, उसका पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकास होता है। उसके नियम नई-नई परिस्थितियों का समाधान करते चलते हैं, वह अपने निश्चित और स्पष्ट सिद्धान्तों का कभी निरूपण नहीं कर पाता। संक्षेप में, वह प्लेटो की कला सम्बन्धी धारणा से बिलकुल भिन्न है। प्लेटो की कलासम्बन्धी धारणा है—पहले से ज्ञात उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि से निर्दिष्ट कारणों का जानबूझ कर प्रयोग। यह समस्या प्रकृति और रूढि के उस विरोध में अन्तर्निहित थी जिससे प्लेटो ने अपना दर्शन प्रारम्भ किया था। यदि कानून का रूढि से सम्बन्ध है (ग्रीक में दोनों के लिए एक ही शब्द चलते हैं), और उसे शासन के एक तत्त्व के रूप में बहिष्कृत नहीं किया जा सकता, तो संस्थाओं को ऐसे युक्तिसंगत आधार पर जहां वे अधिकतम प्राकृतिक हित कर सकें, किस प्रकार प्रतिष्ठित किया जा सकता है ?

यह समस्या आज भी पुरानी नहीं पड़ी है। कोई योजनाबद्ध और सुव्यवस्थित समाज रोमन कानून और अंग्रेजी सामान्य कानून द्वारा प्रदर्शित विपुल मनोवैज्ञानिक शक्तियों के साथ कैसे शान्ति रख सकता है ? जीवन का साधारण व्यवहार, उसके रोजाना की आशाएँ और मूल्य प्रयोग और अभ्यास पर आधारित होते हैं। प्रयोग और अभ्यास का चक्र धीरे-धीरे घूमता रहता है। वह *बुद्धिविरोधी नहीं होता*, लेकिन बुद्धि-निरपेक्ष अवश्य होता है। जनता के बीच रूढ़ियों अथवा प्रथाओं की बुद्धि विरोधी शक्तियाँ बराबर सर उठाती रहती हैं। वे वर्तमान व्यवस्था के उचित संशोधन में बाधा उपस्थित करती हैं। क्या जीवन के रूढ़िगत आधार को मनुष्य के उन अभ्यास-गत मूल्यों और आदर्शों को जिनसे वे अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को तथा अन्य व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्धों को नियमित करते हैं, बुद्धि का विरोधी माना जाए तथा यह समझा जाए कि वह जीवनयापन और शासन की कला के मार्ग में एक बाधा है ? वास्तव में यही धारणा रिपब्लिक के आदर्श राज्य के पीछे है। इस धारणा ने ही प्लेटो को उस राज्य के जिसकी वह रक्षा करना चाहता था, सबसे प्रिय राजनैतिक आदर्श का विद्रोही बना दिया। यदि अभ्यास और प्रयोग बड़े शत्रु नहीं हैं, यदि रूढि प्रकृति-विरोधी नहीं है तो फिर इन दोनों को एक दूसरे का पूरक कैसे समझा जाए ? क्या कोई मनुष्य दो स्वामियों की सेवा कर सकता है ? या क्या मनुष्य को केवल एक का ही अनुसरण करना चाहिए और दूसरे को छोड़ देना चाहिए ? प्लेटो ने सुकरात से यह सीखा था और उसने जिन्दगी भर इसे नहीं छोड़ा कि विवेक का अनुसरण करना चाहिए। लेकिन, प्लेटो का इस बारे में कम विश्वास हो गया कि उसे रूढ़ि का तिरस्कार करना चाहिए। प्लेटो के उत्तरकालीन राजनैतिक दर्शन की यही समस्या है कि राज्य में कानून को क्या स्थान दिया जाए।

कानून का स्वर्ण-सूत्र

(The Golden Cord of the Law)

स्टेट्समैन में भी इस समस्या का विवेचन हुआ है। यह पुस्तक कोई राजनैतिक कृति नहीं है। इसमें अधिकतर परिभाषाओं पर विचार किया गया है। इस पुस्तक

का मुख्य विषय राजनेता है। लेकिन यह चुनाव केवल संयोग पर आश्रित नहीं था। इस पुस्तक का निष्कर्ष भी यह है कि राजनेता एक प्रकार का कलाकार होता है जिसकी मुख्य योग्यता ज्ञान ही है। प्लेटो ने राजनेता की तुलना गडरिये से की है। गडरिये की भांति राजनेता भी मानव समुदाय का नियंत्रण और व्यवस्थापन करता है। अथवा राजनेता कुटुम्ब के मुखिया की तरह होता है जो परिवार को इस तरह चलाता है जिससे कि उसमें सब सदस्यों का भला हो। अरस्तू ने अपनी 'पॉलिटिक्स' का प्रारम्भ इसी तर्क से किया है। अरस्तू ने बताया है कि परिवार और राज्य दो भिन्न तरह के समुदाय हैं। परिवार को सिविल शासन का ठीक समरूप नहीं माना जा सकता। यह प्रश्न जैसा मालूम पड़ता है उससे कहीं विस्तृत है। आगे चल कर यह निरंकुश शासन और उदार शासन के समर्थकों के बीच विवाद का कारण बन गया। प्रश्न यह है कि क्या प्रजाजनों को शासकों के ऊपर ऐसे ही निर्भर माना जाए जैसे कि बच्चे अपने माता पिता के ऊपर निर्भर होते हैं ? या उन्हें उत्तरदायी और स्वाधीन माना जाए ? मुख्य बात वह भाव नहीं है जिसमें प्लेटो ने इस प्रश्न का उत्तर दिया बल्कि यह तथ्य है कि उसने इस पर विचार किया। रिपब्लिक में यह मान लिया गया था कि राजनेता एक कलाकार है और उसे शासन करने का अधिकार है क्योंकि वह 'सत्' को जानता है। स्टेट्समैन में इस प्रश्न के समर्थन में प्रमाण जुटाए गए हैं और रिपब्लिक की धारणा की विस्तृत व्याख्या की गई है।

स्टेट्समैन में बताया गया है कि यदि शासक वास्तव में कलाकार है और अपने कार्य को अच्छी तरह करता है तो उसे पूरी निरंकुशता प्राप्त होनी चाहिए

> शासन-प्रणालियों में वही शासन-प्रणाली सबसे ठीक है और वही वास्तविक शासन-प्रणाली है जिसमें शासकों के पास आभास नहीं, प्रत्युत वास्तविक ज्ञान होता है। वे कानून द्वारा शासन करते हैं या नहीं, उनके प्रजाजन राजी हैं या नहीं, इसका कोई महत्त्व नहीं है . . .।[1]

यह वास्तव में बहुत कठोर वचन है कि शासन कानून के बिना चले। लेकिन कानून को औसत मामलों पर ही अधिकतर विचार करना पड़ता है और यह अनुचित है कि वास्तव में कोई योग्य शासक कानून से बन्ध जाए। यह उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार कि किसी चिकित्सक को इस बात के लिए विवश किया जाए कि वह किताब देख देख कर अपने नुसखे लिखे चाहे उस चिकित्सक में इतनी योग्यता हो कि वह खुद किताब लिख सके। यह तर्क कुछ ऐसा है कि इसके आधार पर प्रबुद्ध निरंकुशता का प्लेटो के समय से आज तक समर्थन किया जाता रहा है। यदि आदमियों को विवश किया जाता है कि वे लिखित कानूनों और भूतकालीन परम्पराओं के खिलाफ पहले से ज्यादा न्यायपूर्ण और श्रेयस्कर कार्यों को न करें तो यह कहना गलत है कि उनके साथ अन्याय होता है।[2] इस बात को ज्यादा लोग नहीं जानते कि राज्य के लिए क्या अच्छा है। इस प्रकार स्टेट्समैन में रिपब्लिक की धारणा को स्पष्ट कर दिया गया है—और उसके निष्कर्ष को पूरी तरह मान लिया गया है। आदर्श राज्य में शासक को प्रजा की सहमति पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है। यदि

1 Statesman, 293. H N Fowler's trans
2 296 c—d

प्रजा को कानून की रूढ़ियो और परम्पराओं के अनुसार स्वतन्त्रता दे दी जाए तो इससे शासक की कलात्मकता मे कमी आयेगी।

फिर भी प्लेटो अपने विचार के सब परिणामो को स्वीकार करने के लिए तैयार नही है। वह इस बात को जानता है कि इस प्रश्न का एक पहलू और है। यह इस बात से स्पष्ट है कि वह राजा और अत्याचारी शासक के बीच भी भेद करता है। अत्याचारी शासक अनिच्छुक प्रजाजनो के ऊपर जबर्दस्ती से शासन करता है लेकिन वास्तविक राजा या राजनेता अपने शासन को ऐच्छिक बनाने की कला जानता है।[1] इन दोनो स्थितियो को एक करने का कोई उपाय नही है। लेकिन यह साफ है कि प्लेटो उनमे से किसी को भी छोडने के लिए तैयार नही है। मनुष्य अपनी परम्पराओं की तुलना मे अच्छे बनें इसके लिए उन्हे विवश करने मे कोई बुराई नही है। फिर भी, प्लेटो यूनानियो के उस शासन के प्रति तिरस्कार को जो केवल बल पर आधारित हो विजित नहीं कर पाता। यह उद्धरण रिपब्लिक की आठवीं और नवी पुस्तको के उन उद्धरणो से साम्य रखता है जहां प्लेटो ने अत्याचारी शासन और अत्याचारी शासक की तीव्र निन्दा की है। इसका मुख्य आधार यह है कि अत्याचारी शासक सामान्य मानव सम्बन्धो के प्रति आदर का भाव नही रखता।

प्लेटो ने स्टेट्समैन मे राज्यो का भी वर्गीकरण किया है। उसका यह वर्गीकरण भी रिपब्लिक के वर्गीकरण से कुछ भिन्न है। दो ध्यान देने योग्य बातें ये हैं। पहली बात तो यह है कि आदर्श राज्य सम्भव राज्यो के वर्ग से पृथक् रखा गया है। दूसरी बात यह है कि लोकतन्त्र को रिपब्लिक मे जो स्थान दिया गया है उससे महत्त्वपूर्ण स्थान उसे स्टेट्समैन मे दिया गया है। रिपब्लिक मे राज्यो के वर्गीकरण का विशेष प्रयत्न नही किया गया है। उसमें आदर्श राज्य को सब से ऊँचा स्थान दिया गया है और वास्तविक राज्यो को एक के बाद एक करके शासन का विकृत रूप माना गया है। उदाहरण के लिए सैनिक राज्य (timocracy) आदर्श राज्य का विकृत रूप है। अल्पतन्त्र या धनिकतन्त्र (oligarchy) सैनिक शासन का विकृत रूप है। लोकतन्त्र अल्पतन्त्र का विकृत रूप है और अत्याचारी शासन (tyranny) जो सूची मे सबसे नीचे है, लोकतन्त्र का विकृत रूप है। स्टेट्समैन मे राज्यो का अधिक विस्तृत वर्गीकरण किया गया है। आदर्श राज्य या दार्शनिक शासक के द्वारा शासित विशुद्ध राजतन्त्र दैवीय होता है। वह इतना पूर्ण होता है कि मनुष्य उसके लायक नही होते। वह वास्तविक राज्यो से इस अर्थ मे भिन्न होता है कि इसमे ज्ञान का शासन चलता है और कानून की कोई जरूरत नहीं होती। यह रिपब्लिक का राज्य है। इसे अब स्वर्ग मे स्थित आदर्श मान लिया गया है। मनुष्य इसकी नकल कर सकते हैं, लेकिन इसे प्राप्त नही कर सकते। दो वर्गीकरणो को एक दूसरे से काट कर वास्तविक राज्यो का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। राज्यों के परम्परागत त्रिमुखी विभाजन को अब छः भागों मे बांट दिया गया है। राज्यो के प्रत्येक प्रकार के दो भाग कर दिये गए हैं—एक कानूनरहित और

---

1. 276 e.

दूसरा कानूननिष्ठ राज्य। इस प्रकार प्लेटो ने छ प्रकार के राज्य माने हैं। इनमे से तीन राज्य तो कानूननिष्ठ हैं और तीन कानूनहीन। राज्यों के इन वर्गीकरणों को आगे चल कर अरस्तू ने अपनी पॉलिटिक्स में अपनाया। एक व्यक्ति के शासन से राजतन्त्र (monarchy) और अत्याचारी शासन (tyranny) होता है। कुछ व्यक्तियों के शासन से कुलीनतन्त्र और अल्पतन्त्र शासन (oligarchy) होता है। प्लेटो ने पहली बार लोकतन्त्र के दो रूप स्वीकार किये हैं—सौम्यरूप और प्रतिवादी रूप। इससे भी ज्यादा आश्चर्यजनक बात यह है कि प्लेटो ने लोकतन्त्र को कानून-विहीन राज्यों में सबसे अच्छा और कानूननिष्ठ राज्यों में सबसे खराब माना है। लोकतन्त्र के ये दोनों रूप भी अल्पतन्त्र से बेहतर हैं। बाद में प्लेटो ने लॉज़ में जिस द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य की रचना की है, उसमे वह राजतन्त्र और लोकतन्त्र का समन्वय करना चाहता है। प्रकारान्तर से प्लेटो यह मान लेता है कि वास्तविक राज्य में जनता की स्वीकृति और सहयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसलिए, यह स्पष्ट है कि प्लेटो का नया सिद्धान्त द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य का है। इसमे स्वर्ग तथा पृथ्वी के राज्य का अन्तर निहित है। मनुष्य का वर्तमान ज्ञान इतना अधिक नहीं है कि दार्शनिक शासक के आदर्श को कार्यान्वित किया जा सके। इसलिए, समस्या का सर्वश्रेष्ठ मानवोचित समाधान यही है कि हम उस बुद्धि पर आश्रित रहे जिसे कानून में प्रकट किया जा सकता है। साथ ही हमे अभ्यास और प्रयोग के प्रति मनुष्य की स्वाभाविक श्रद्धा का भी भरोसा करना चाहिए। प्लेटो ने इस समझौते को बड़ी कटुता से स्वीकार किया है। यह कटुता उसके इस कथन से स्पष्ट है कि अब सुकरात का प्राणदण्ड उचित सिद्ध होना चाहिए।[1] उत्तराधिकार में प्राप्त कानून के सहित राज्य को स्वर्ग के नगर की एक अनुकृति मानना चाहिए। इसमे कोई सन्देह नहीं कि कानून मनमानी से अच्छा है और कानूननिष्ठ शासक की पवित्रता किसी अत्याचारी शासक या धनिकतन्त्र या भीड़ की स्वेच्छाचारी इच्छा से अच्छी है। इस बात मे भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि सामान्य रूप से कानून सभ्य बनाने वाली शक्ति है। मनुष्य की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि यदि कानून न हो तो वह निकृष्टतम जंगली पशु हो जायेगा। यह कथन अरस्तू के लिए स्वाभाविक है। यह प्लेटो के लिए तो विश्वास की ही एक चीज है। प्लेटो का दर्शन जिसमे ज्ञान और मत के बीच भारी अन्तर माना गया है इसका कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं देता।

लॉज़ के एक उत्कृष्ट उद्धरण मे प्लेटो ने यह स्पष्ट कहा है कि उसके लिए यह विश्वास की वस्तु है —

मान लीजिए कि हममें से प्रत्येक जीवित प्राणी देवताओं का प्रतिभासम्पन्न कठपुतला है। हमारा यह रूप उनके विनोद के लिए है या किसी अन्य गम्भीर उद्देश्य के लिए है, इस बारे में हमे कुछ नहीं मालूम। लेकिन, इतना हम जानते हैं कि हमारे आन्तरिक विकार हमें उसी प्रकार चलायमान रखते हैं जैसे कि स्नायु अथवा रस्सियां। हमारे आन्तरिक विकार एक दूसरे के विरोधी होने के कारण हमें एक दूसरे से प्रतिकूल दिशा में खींचते हैं। यहां अच्छाई और बुराई के बीच

1 *Statesman*, 299 b c

की विभाजक रेखा है। इन चालक शक्तियों में एक शक्ति का मनुष्य को सदैव अनुसरण करना चाहिए और उसे मान्यता देनी चाहिए। इस चालक शक्ति के उपयोग द्वारा वह अन्य शक्तियों या खिंचावों का प्रतिकार कर सकता है। यह सबसे मुख्य, स्वर्णिम और ध्यान देने योग्य डोर है। यह राज्य का सार्वजनिक कानून है। जहाँ अन्य रस्सियाँ कठोर, फौलादी तथा हर सम्भव आकार और आभास की होती हैं, यह रस्सी लचीली और समान होती है क्योंकि यह सोने की बनी हुई होती है। कानून की इस उत्कृष्ट प्रमुख डोर के साथ हमें सदैव सहयोग करना चाहिए। यह स्वर्ण-डोर उत्कृष्ट तो है, परन्तु यह सशक्त न होकर नरम है। इसलिए, उसे सदैव सहायकों की आवश्यकता है जिससे कि हमारे अन्दर का स्वर्ण अंश दूसरे अंशों को पराजित कर सके।[1]

अतः, यह स्पष्ट है कि प्लेटो का बाद का सिद्धान्त कानून के स्वर्ण सूत्र के ऊपर टिका हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि उसके संगठन का नैतिक सिद्धान्त रिपब्लिक के सिद्धान्त से भिन्न है। अब राज्य में कानून को वही स्थान प्राप्त है जिसे प्लेटो ने आदर्श राज्य में बुद्धि को दिया था और जिसे वह अब भी प्रकृति में सर्वोच्च शक्ति मानता था। आदर्श राज्य की मुख्य विशेषताएँ ये थीं—न्याय, श्रम का विभाजन, और कार्यों का विशेषीकरण जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उचित स्थान पर रहे तथा वह इस अर्थ में अपना प्राप्य प्राप्त कर सके कि उसकी क्षमताओं का अधिक से अधिक विकास हो और वह उनका भरपूर उपयोग कर सके। लॉज के राज्य में बुद्धि कानून का मूर्त रूप धारण करती है। उसमें आदर्श राज्य की भाँति व्यक्ति और राज्य का पूरी तरह सामञ्जस्य तो नहीं हो पाता, लेकिन फिर भी कानून द्वारा बनाये गए नियम प्रायः सन्तोषजनक ही होते हैं। फलतः, इस प्रकार के राज्य में सबसे बड़ा गुण आत्मसंयम का है। इसका अभिप्राय यह है कि नागरिक कानून का पालन करते हैं अथवा राज्य की संस्थाओं के प्रति उनके मन में आदर का भाव रहता है और वे कानून की शक्तियों की अधीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं।

लॉज की प्रारम्भिक पुस्तकों में प्लेटो ने स्पार्टा जैसे उन राज्यों की तीव्र आलोचना की है जिन्होंने चौथे गुण साहस को अपने प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य बना लिया है और इस प्रकार नागरिक गुण को सैनिक सफलता का मातहत माना है। प्लेटो ने रिपब्लिक में सैनिक तन्त्र (timocracy) का जो विवरण दिया है, लॉज में स्पार्टा का मूल्यांकन उससे कम किया है। प्लेटो ने लॉज में युद्ध की निरर्थकता पर भी प्रकाश डाला है। प्लेटो के विचार से राज्य का चरम उद्देश्य तो घरेलू और वैदेशिक सम्बन्धों में समरसता को प्राप्त करना है। यह समरसता आदर्श राज्य में कार्यों के विशेषीकरण से प्राप्त हो सकती है। इस पूर्ण समरसता से दूसरे दर्जे पर कानून का पालन आता है। इसलिए लॉज का राज्य आत्म संयम की भावना पर टिका हुआ है। वह कानून के आज्ञापालन द्वारा समरसता को प्राप्त करने का प्रयास करता है।

मिश्रित राज्य
(The Mixed State)

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि इस वांछित उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राजनैतिक संगठन के एक ऐसे सिद्धान्त की जरूरत है जो प्लेटो के उत्तरकालीन शासन

1 *Laws*, 644 d, 645 a, R G Bury's trans

में वही फर्ज अदा कर सके जो रिपब्लिक में श्रम के विभाजन और नागरिकों के तीन वर्गों के विभाजन ने किया था। प्लेटो ने एक ऐसे सिद्धान्त की खोज भी लिया।[1] यह सिद्धान्त राजनैतिक दर्शन के परवर्ती इतिहास में भी चल निकला। जिन राजनैतिक विचारकों ने राजनैतिक संगठन की समस्याओं पर चिन्तन किया, उनमें से अधिकांश ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। यह सिद्धान्त मिश्रित राज्य का सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त का उद्देश्य शक्तियों के सन्तुलन के द्वारा समरसता को प्राप्त करना है। दूसरे शब्दों में यह सिद्धान्त विरोधी प्रवृत्ति के प्रतिकूल सिद्धान्तों का युद्ध इस तरह से संयोग करता है जिससे कि वे एक-दूसरे को निराकृत कर दें। इस प्रकार, स्थायित्व विरोधी राजनैतिक तनावों का परिणाम होता है। यह सिद्धान्त शक्तियों के पृथक्करण के सुप्रसिद्ध सिद्धान्त का पूर्ववर्ती था। माण्टेस्क्यू (Montesque) ने इस सिद्धान्त को शताब्दियों बाद पुनः खोजा और इसे ब्रिटिश संविधान की श्रेष्ठता का मूल कारण माना। लॉज में प्लेटो का मिश्रित राज्य राजतन्त्रात्मक शासन की बुद्धि और लोकतन्त्रात्मक शासन की स्वतन्त्रता का समन्वय है। यह नहीं कहा जा सकता कि प्लेटो जिस संयोग को अपने दिमाग़ में रखे हुए था उसे वह पूरी तरह कार्यान्वित कर सका या वह मिश्रित संविधान के आदर्श के प्रति सदैव निष्ठावान् रहा। प्लेटो की निष्ठा पूरी तरह से खण्डित थी और अन्त में वह अपनी उसी पुरानी विचार-पद्धति पर आ गया जिसका उसने रिपब्लिक में विकास किया था।

फिर भी, प्लेटो ने मिश्रित राज्य के सिद्धान्त पर जिस ढंग से विचार किया है और उसका जिस ढंग से समर्थन किया है, वह बाद के अध्ययन में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। लॉज़ में वास्तविक राज्यों पर विचार किया गया है। फलतः, प्लेटो का निष्कर्ष है कि रिपब्लिक में उसने कल्पना के आधार पर जिस राज्य की सृष्टि की थी, वह पद्धति उपयुक्त नहीं है। अब समस्या यह है कि राज्यों का वास्तविक उत्थान और पतन क्यों होता है, उनकी महत्ता और अधोगति के क्या कारण हैं। लॉज़ की तीसरी पुस्तक में प्लेटो ने दार्शनिक इतिहास पर विचार किया है। प्लेटो का कहना है कि इस इतिहास के अन्तर्गत यह विवेचन होना चाहिए कि मानव सभ्यता का कैसे विकास हुआ है, उसके क्या-क्या मुख्य युग रहे हैं और प्रगति और अवनति के क्या कारण रहे हैं। इस विश्लेषण के द्वारा राजनैतिक स्थिरता के नियमों का पता लगाया जा सकता है। बुद्धिमान राजनेता मानव समाज के परिवर्तनों को उचित दिशा में नियन्त्रित और निर्दिष्ट करने के लिए इन नियमों से लाभ उठा सकता है। एक स्थल पर प्लेटो ने कहा है कि मानव जीवन ईश्वर, संयोग और कला द्वारा नियन्त्रित होता है और कला को अवसर के साथ सहयोग करना चाहिए।[2] यह सही है कि प्लेटो के पौराणिक इतिहास में वास्तविक खोज के किन्हीं सिद्धा

---

1. सम्भवतः प्लेटो ने मिश्रित राज्य की खोज नहीं की। अरस्तू ने (पॉलिटिक्स, 1265-33) में मिश्रित राज्य के अन्य सिद्धान्तों की चर्चा की है। ये सिद्धान्त पहले के लेखकों के होंगे। लेकिन, इस सिद्धान्त का सबसे पहले विवेचन करने वाला ग्रन्थ अब लॉज़ ही मिलता है।

2. *Laws*, 709-c

का निर्देश नहीं किया गया है। फिर भी लॉज में उसका यह सुझाव कि राजनैतिक अध्ययन को सभ्यता के इतिहास के साथ सम्बन्धित होना चाहिए, आगे चलकर बड़ा उपयोगी प्रमाणित हुआ। यह रिपब्लिक की विश्लेषणात्मक और निगमनात्मक पद्धति (deductive method) से अधिक फलदायी सिद्ध हुआ। इसने सामाजिक अनुशीलन की प्रामाणिक परम्परा का श्रीगणेश किया और खोज की उस विशेष प्रणाली को जन्म दिया जिसका आगे चलकर अरस्तू ने विकास किया।

जाति के दार्शनिक इतिहास के सम्बन्ध में प्लेटो की योजना विशेष स्पष्ट नहीं है। इसका एक से अधिक उद्देश्य और एक से अधिक सिद्धान्त है। प्रथमतः यूनान की संस्थाओं का जिस दिशा में विकास हुआ था प्लेटो ने सिद्धान्त पर उसकी छाप है। शुरू-शुरू में मनुष्य एकाकी परिवारों में पशुपालकों का जीवन व्यतीत करते थे, उन्हें न धातुओं का प्रयोग आता था न वे सामाजिक भेदभाव से परिचित थे और न उनमें सभ्य जीवन के मात्र दुर्गुण थे। प्लेटो के विचार से यह एक प्रकार का प्राकृतिक युग था। इसमें आदमी शान्ति से रहते थे। इस युग में युद्ध के कारण जो महत्वाकांक्षी समाज की विशेषता होते हैं अभी पैदा नहीं हुए थे। प्लेटो की रचनाओं में हम उस 'प्राकृतिक अवस्था' (State of Nature) के संकेत मिल जाते हैं जिस पर बाद के अनेक दार्शनिकों ने विचार किया। ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ती है कृषि का विकास होता है और नयी दस्तकारियाँ पनपती है परिवारों को गाँवों में एकत्रित किया जाता है। अन्त में राजनगर उठ खड़े होते हैं जो गाँवों या नगरों में समवेत करते हैं। अरस्तू ने पॉलिटिक्स के प्रारम्भिक अध्यायों में इसी विचार-सूत्र को पकड़ा है और नगर को सभ्य जीवन की सम्भावनाओं का वाहक बताया है।

मिश्रित संविधान के उदय के सम्बन्ध में प्लेटो के दो उद्देश्य और हैं। एक उद्देश्य तो आनुषंगिक है और दूसरा प्रधान। प्लेटो ने आनुषंगिक रूप से स्पार्टा की आलोचना की है। उसने स्पार्टा के पतन का एकमात्र कारण वहाँ के सैनिक संगठन को ठहराया है। उसका कथन है कि "राज्यों का विनाश अज्ञान के कारण होता है।" लेकिन, प्लेटो का मुख्य उद्देश्य यह बताना है कि राजतन्त्र की ओर उसके साथ अत्याचारी शासन की स्वेच्छाचारी शक्ति फारस की भाँति किस प्रकार पतन का कारण बनती है और अनियन्त्रित लोकतन्त्र स्वतन्त्रता की अतिशयता के कारण एथेंस की भाँति किस प्रकार अपने हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है। यदि ये दोनों ही मध्यममार्गी (moderate) रहते, शक्ति का बुद्धि के साथ और स्वतन्त्रता का व्यवस्था के साथ सामञ्जस्य बनाए रखते, तो दोनों की तरक्की होती। दोनों ही दशाओं में अतिवाद विनाशक सिद्ध हुआ। इस उदाहरण के आधार पर हमें एक ऐसे सिद्धान्त के दर्शन होते हैं जिसकी बुनियाद पर श्रेष्ठ राज्य के दर्शन हो सकते हैं। यदि शासन राजतन्त्रात्मक न हो, तो उसमें राजतन्त्र का सिद्धान्त—कानून के अधीन विवेकपूर्ण और सशक्त शासन का सिद्धान्त—अवश्य होना चाहिए। इसी प्रकार, यदि शासन लोकतन्त्रात्मक न हो, तो उसमें लोकतन्त्र का सिद्धान्त—कानून के अधीन जनता की स्वतन्त्रता और शक्ति का सिद्धान्त—अवश्य रहना चाहिए।

इस तर्क की सामान्य व्याख्या की जा सकती है। भूतकाल में मनुष्य के

सत्ता सम्बन्धी दावों के अनेक आधार रहे थे माता-पिता का बच्चों के ऊपर, वृद्धों का तरुणों के ऊपर, स्वतन्त्र व्यक्तियों का दासों के ऊपर, उच्चवर्गियों का निम्नवर्गियों के ऊपर, मजबूतों का दुर्बलों के ऊपर तथा लाट द्वारा निर्वाचित शासकों का अन्य नागरिकों के ऊपर अधिकार रहा था।[1] इन में से कुछ की दूसरों के साथ संगति नहीं बैठ पाती। इसलिए, विवाद रहता है। प्लेटो के विचार से सत्ता के सम्बन्ध में 'स्वाभाविक' दावा तो बुद्धिमानों का कम बुद्धिमानों के ऊपर है, लेकिन यह बात आदर्श राज्य की है। द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में मुख्य समस्या इन दावों को तुलना और उन्हें आपस में इस प्रकार मिलाना है जिससे कि सबसे अधिक कानूननिष्ठ नियम प्राप्त किया जाए। व्यवहार में इसका अभिप्राय यह है कि, आयु, कुलीनता अथवा सम्पत्ति के साथ पक्षपात प्रकट करके शुद्ध-बुद्ध विवेक के निकट ही पहुँचा जाये। आयु, कुलीनता या सम्पत्ति औसत से कुछ अधिक योग्यता को प्रकट करते हैं। साथ ही, लोकतन्त्र के विचार से समूह के लिए भी थोड़ी गुंजाइश रखी जा सकती है। प्लेटो ने राजतन्त्र के मिश्रण का इसी तरह से वर्णन किया है। उसका यह वर्णन बहुत ठीक नहीं रहा है।

इन विशेषताओं से मंडित राज्य की स्थापना करने के लिए यह जरूरी है कि उन भौतिक, आर्थिक और सामाजिक तत्वों की ओर भी ध्यान दिया जाए जिनके ऊपर राजनैतिक संविधान निर्भर रहता है। इसका कारण यह है कि प्लेटो का मिश्रित राज्य केवल राजनैतिक शक्तियों का ही समन्वय नहीं है। इसलिए, प्लेटो ने नगर की भौगोलिक दशा का वर्णन किया है। वह नगर के लिए सबसे अधिक अनुकूल जलवायु और भूमि का भी वर्णन करता है। यहाँ भी वह ऐसे तत्व का समावेश करता है जो बाद के राजनैतिक विचारकों के लिए उनके राजनैतिक दर्शन का एक परम्परागत भाग हो गया। स्वयं अरस्तू के ऊपर इसकी छाप है। उसने सर्वश्रेष्ठ राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत करने से पहले इसका विवेचन किया है।[2] प्लेटो के विचार से नगर के लिए समुद्र-तट अच्छा नहीं है। इसका कारण यह है कि विदेशी वाणिज्य भ्रष्टाचार को प्रश्रय देता है। विदेशी वाणिज्य का अभिप्राय नौसेना हो जाता है और नौसेना का अभिप्राय लोकतन्त्रात्मक जनसमाज के हाथों में सत्ता का होना होता है। यह दृष्टिकोण एथेंस के इतिहास पर आधारित है। प्लेटो ने पहले स्पार्टा द्वारा सैनिक शक्ति के दुरुपयोग की निन्दा की थी। यहाँ उसने एथेंस द्वारा नौसैनिक शक्ति के दुरुपयोग की बुराई की है। प्लेटो का आदर्श एक कृषि-प्रधान समाज है। इस समाज को एक ऐसी भूमि पर निवास करना चाहिए जो उसे भरण-पोषण की सारी सामग्री दे सके लेकिन जो ऊबड़-खाबड़ हो। इस तरह की भूमि लोगों को परिश्रमी और संयमी बनाती है। अठारहवीं शताब्दी के बहुत से विचारकों ने स्विट्जरलैंड की इसी आधार पर प्रशंसा की है। स्विट्जरलैंड में भी वाणिज्यवाद और उद्योगवाद के प्रति यही अविश्वास ध्वनित होता है। प्लेटो

1. 690 a-d दावों की कुछ इसी प्रकार की सूची पॉलिटिक्स में अरस्तू ने प्रस्तुत की है। 3, 12—13, 1283, 14 ff

2. *Politics*, Bk. VII (पुस्तकों का परम्परागत क्रम)

को यह भी यकीन है कि जाति, धर्म, कानून और भाषा की समानता वांछनीय है बशर्ते कि यह रूढ़ि को आवश्यकता से अधिक महत्त्व न देती हो।

सामाजिक और राजनैतिक संस्थाएँ

(Social and Political Institutions)

सामाजिक संस्थाओं में राजनीति की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था सम्पत्ति का उपयोग और स्वामित्व है। रिपब्लिक में भी प्लेटो का यही विचार रहा था यद्यपि वहाँ उसने शिक्षा को प्रथम स्थान दिया था। जब प्लेटो वास्तविक राज्यों पर विचार करता है, वहाँ यह और भी सही है। लॉज में भी प्लेटो का यह विचार है और वह इसे रत्तीमात्र भी छिपाता नहीं है कि साम्यवाद आदर्श व्यवस्था है। लेकिन यह इतनी अच्छी है और मानव प्रकृति अभी इतनी अपूर्ण है कि इस व्यवस्था को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। फलत मानवी दुर्बलता को ध्यान में रखते हुए प्लेटो अपने द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य में व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत परिवार दोनों की इजाजत दे देता है। प्लेटो अब भी यह चाहता है कि स्त्रियों को समान शिक्षा मिले और वे सैनिक तथा अन्य नागरिक कर्त्तव्यों में पुरुषों के समान ही भागीदार हों लेकिन वह उनके पदधारण के सम्बन्ध में मौन रहता है। प्लेटो एक स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को उचित मानता है लेकिन, वह इस सम्बन्ध के ऊपर सरकार की पूरी निगरानी जरूरी समझता है। प्लेटो ने व्यक्तिगत संपत्ति की अनुमति अवश्य दी है, लेकिन वह संपत्ति के प्रयोग और उसकी मात्रा को निश्चित कर देता है।[1] इस सम्बन्ध में उसने स्पार्टा की व्यवस्था का अनुसरण किया है। प्लेटो ने नगर राज्य की जनसंख्या ५०४० निश्चित की है। प्लेटो जमीन को बराबर के कई टुकड़ों में बाँट देता है। इन टुकड़ों को न विभाजित किया जा सकता है और न हस्तांतरित। जमीन की पैदावार सार्वजनिक भोजनागार में पंचायती ढंग से काम में लाई जाती है। इस प्रकार भूमिगत संपत्ति का समानीकरण हो जाता है। जमीन की काश्त दास या अर्द्धदास करते हैं। वे पैदावार का एक हिस्सा लगान के रूप में देते हैं।

इसके विपरीत प्लेटो संपत्ति की असमानता को स्वीकार कर लेता है। लेकिन, वह उसकी सीमा निश्चित कर देता है। प्लेटो का मत है कि एक नागरिक के पास लाट की जमीन से चार गुने मूल्य की संपत्ति ही अधिक से अधिक रह सकती है।[1] इसका उद्देश्य अमीरों गरीबों की अत्यधिक विषमताओं को दूर करना है। यूनान के अनुभव में यह प्रकट हो गया था कि अमीरों-गरीबों का अत्यधिक भेदभाव ही नागरिक कलह का मूल कारण होता है। प्लेटो ने जितनी कठोरता से संपत्ति की सीमा निश्चित की है उतनी ही कठोरता से उसने संपत्ति के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिए हैं। नागरिक किसी तरह का उद्योग धंधा, व्यापार-वाणिज्य या दस्तकारी नहीं कर सकते। ये सारे कार्य 'निवासी विदेशियों' (resident aliens)

---

1 744e

के हाथों में होते हैं। ये लोग फ्रीमेन होते हैं, नागरिक नहीं होते। राज्य के पास केवल प्रतीक मुद्रा (token currency) होती है। वह शायद स्पार्टा की लोह मुद्रा के समान होती है। ऋणों के लिए ब्याज नहीं लिया जा सकता। सोना और चाँदी भी अपने पास नहीं रखा जा सकता। प्लेटो नागरिक के संपत्ति सम्बन्धी स्वामित्व पर हर प्रकार की पाबंदी लगा देता है।

प्लेटो ने रिपब्लिक में श्रम विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था और उसे सम्पूर्ण समाज का मूल सिद्धान्त ठहराया था। लॉज में वर्णित समाज-व्यवस्था के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि उसने अभी उस सिद्धान्त को त्यागा नहीं है। श्रम का नया विभाजन पहले से विस्तृत है। इस श्रम विभाजन में राज्य की सारी जनसंख्या आ जाती है। तथापि, यह श्रम विभाजन वर्जनशील भी है। दास केवल खेती करते हैं। फ्रीमेन जो नागरिक नहीं होते, उद्योग व्यापार करते हैं। राजनैतिक कार्यों को केवल नागरिक ही करते हैं। स्पष्ट है कि रिपब्लिक की योजना की भाँति यह योजना भी मूल समस्या का समाधान नहीं करती बल्कि उसे छोड़ देती है। समस्या यह है जिसका पेरीक्लीज ने अपने अन्त्येष्टि भाषण में उल्लेख किया था—अधिक से अधिक लोग अपने व्यक्तिगत कार्यों को करते हुए भी सार्वजनिक कार्यों में किस प्रकार भाग ले सकते हैं। प्लेटो इसी समस्या का हल खोज रहा है। लेकिन, वह एक ऐसे राज्य का निर्माण करता है जिसमें नागरिकता केवल कुछ विशेषाधिकार युक्त व्यक्तियों को ही प्राप्त होती है। इन नागरिकों को रोजी कमाने की आवश्यकता नहीं होती। इनके लिए रोजी कमाने का काम दास और विदेशी करते हैं। रिपब्लिक में वर्ग विभाजन की रेखाएँ लाज की अपेक्षा पतली हैं। रिपब्लिक में नागरिकों के बीच ही वर्ग-विभाजन था यद्यपि प्लेटो ने इस समस्या पर पूरी सावधानी से विचार नहीं किया था। लाज में नागरिक आर्थिक कार्यकलापों में कोई भाग नहीं लेते। यहाँ राज्य स्पष्ट रूप से आर्थिक विशेषाधिकार पर आधारित है। तथापि, प्लेटो ने संपत्ति को नहीं, प्रत्युत सुरक्षा को अधिक महत्त्व दिया है।

प्लेटो ने इस सामाजिक व्यवस्था के आधार पर जिस राजनैतिक संविधान का निर्माण किया है, उसके विवरण में जाने की जरूरत नहीं है। उसने इन मुख्य संस्थाओं की व्यवस्था की है—नगरसभा, परिषद्, और मजिस्ट्रेट। ये संस्थाएँ यूनान के प्रत्येक नगर में थीं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्लेटो ने मिश्रित संविधान के विचार को किस प्रकार कार्यान्वित किया। मजिस्ट्रेटों को निर्वाचन के द्वारा चुना जाता है। यूनानियों के विचार से यह एक कुलीनतंत्रात्मक पद्धति थी। नागरिकों की सामान्य सभा के कर्त्तव्य यहीं समाप्त हैं। प्लेटो मजिस्ट्रेटों की मुख्य संस्था को गरडार नहीं, बल्कि 'विधियों के संरक्षक' (guardians of the law) के नाम से पुकारता है। इसमें सैंतीस मजिस्ट्रेट होते हैं। इन मजिस्ट्रेटों का निर्वाचन तीन सोपानों में होता है। सबसे पहले तीन सौ उम्मीदवार चुने जाते हैं। दूसरी बार इन तीन सौ उम्मीदवारों में से सौ चुने जाते हैं और तीसरी बार इन सौ में से सैंतीस चुने जाते हैं। लेकिन निर्वाचन व्यवस्था की सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता तीन सौ साठ व्यक्तियों की परिषद् का निर्वाचन है। इस योजना का स्पष्ट उद्देश्य धनिक व्यक्तियों के मत को

अधिक महत्त्व देना है। नागरिकों को उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर चार भागों में बाँट दिया जाता है। प्लेटो ने यह पद्धति सोलन (Solon) द्वारा जारी किए गए एथेंस के संविधान से ग्रहण की थी। यह पद्धति एथेंस में लोकतन्त्र का सूत्रपात होने से पहले की थी। चूँकि व्यक्तिगत सम्पत्ति जमीन की लॉट के मूल्य से चार गुने से अधिक नहीं हो सकती, इसलिए सम्पत्ति के चार वर्ग हैं। सबसे नीचा वर्ग वह है जिसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति जमीन के मूल्य से अधिक नहीं होती। दूसरा वर्ग वह है जिसकी सम्पत्ति इससे अधिक होती है लेकिन जमीन के दुगने मूल्य से अधिक नहीं होती। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। सम्भवतः निम्नतम वर्ग संख्या में सबसे अधिक होगा और उच्चतम वर्ग की संख्या सबसे कम होगी। फिर भी प्लेटो प्रत्येक वर्ग को परिषद् के चौथाई सदस्य चुनने का अधिकार देता है।[1] यह कुछ इसी प्रकार है जैसे कि पूर्वकालीन प्रशा के संविधान में व्यवस्था की गई थी। वहाँ के नागरिकों को तीन भागों में बाँट दिया गया था। इनमें से प्रत्येक वर्ग तिहाई कर देता था। यही लोग वहाँ के विधानमण्डल के सदस्यों को चुनते थे। प्लेटो ने व्यवस्था की है कि यदि धनिक वर्ग मत नहीं देगा तो उसे दण्ड दिया जायगा। यह शर्त निम्नतम सम्पत्ति वर्ग के ऊपर लागू नहीं होती। इससे भी धनिक वर्ग के मत का महत्त्व बढ़ जाता है। सम्पत्ति वर्गों की व्यवस्था का संविधान पर भी असर पड़ता है। इसका कारण यह है कि कुछ पद केवल उच्चतम वर्ग या वर्गों के व्यक्तियों द्वारा ही भरे जा सकते हैं। परिषद् में लोकतन्त्र के सम्बन्ध में केवल एक ही रियायत की गई है। जितने स्थानों की पूर्ति करनी है, उससे दुगने व्यक्तियों को निर्वाचित किया जाता है। अन्तिम चुनाव लाट के द्वारा किया जाता है। यह बात कम समझ में आती है कि प्लेटो ने इस संविधान को जिसका व्यावहारिक भाग सम्पत्ति वर्गों की व्यवस्था पर आधारित है, राजतन्त्र और लोकतन्त्र का समन्वय माना हो। लोकतन्त्र के साथ की गई रियायत बहुत कम है और वह जनता के असन्तोष के कारण अनिच्छापूर्वक की गई है। अरस्तू का कहना था कि लॉज़ में वर्णित संविधान में राजतन्त्र का कोई तत्त्व नहीं था। उसके शब्दों में, यह सिर्फ धनिकतन्त्र और लोकतन्त्र है जिसमें धनिकतन्त्र की ओर ज्यादा झुकाव है।[2] प्लेटो का विचार कानून का पालन करने वाले तत्त्वों को अधिक महत्त्व देना है। वह योग्यता के अनुपात में ही ऊँचे वर्ग के लोगों को राज्य में अधिक महत्त्व देना चाहता है। लेकिन परिणाम यह होता है कि जिन लोगों के पास सबसे अधिक सम्पत्ति है उन्हीं को सबसे अधिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है। प्लेटो ने एक स्थल पर कहा है कि कृपण व्यक्ति जो अच्छा नहीं है, उस भले आदमी से ज्यादा अमीर होगा जो श्रेष्ठ कार्यों के लिए पैसा खर्च करना चाहता है।[3] इसलिए यह स्पष्ट नहीं होता कि प्लेटो अरस्तू से सहमत होता। अरस्तू ने भी अपने

1. 744c, 756b—e, cf. सिसरो द्वारा वर्णित रोम में सर्वियन संविधान, *Republic*, Bk II 22, 39-40.

2. *Politics*, 2, 6, 1266a, 6.

3. 743a, b.

मध्यवर्गीय राज्य के लिए सम्पत्ति की योग्यता निश्चित की है। अरस्तू का विचार है कि अमीर आदमी औसत रूप से गरीबों से बेहतर होते हैं। यह एक तथ्य है और इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि प्लेटो ने स्टेट्समैन में कानूनविहीन लोकतन्त्र को धनिकतन्त्र से ऊँचा महत्त्व दिया है। प्लेटो की शासन-सम्बन्धी योजना को उसके विचारों के साथ सगत समझना असम्भव बात है। जब प्लेटो संविधान का निर्माण करने लगा तो उसे ज्ञात हुआ कि सम्पत्ति के भेद स्पष्ट और प्रयोग सापेक्ष हैं लेकिन गुण के भेद ऐसे नहीं हैं।

शिक्षा और धार्मिक संस्थाएँ

(Educational and Religious Institutions)

प्लेटो की शिक्षा-सम्बन्धी बाद की योजना के बारे में कुछ कहना अनावश्यक है। लॉज़ में प्लेटो ने शिक्षा की ओर भी काफी ध्यान दिया है। पाठ्यक्रम की सामान्य रूपरेखा रिपब्लिक की ही भाँति है। पाठ्यक्रम में संगीत और व्यायाम को महत्त्व दिया गया है। प्लेटो का कवियों के ऊपर अब भी विश्वास नहीं है और वह साहित्य तथा कला के ऊपर कठोर प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष में है। स्त्रियों को पुरुषों के समान ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। समस्त नागरिकों के लिए शिक्षा अनिवार्य है। लॉज़ में प्लेटो ने ज्यादा ध्यान शिक्षा के संगठन की ओर दिया है। चूँकि अब सम्पूर्ण राज्य शिक्षा संस्था नहीं है, इसलिए शिक्षा का संगठन निश्चित करने की ओर विशेष ध्यान देना स्वाभाविक है। प्लेटो ने राज्य नियन्त्रित विद्यालयों की व्यवस्था की है। इनमें शिक्षकों को राज्य की ओर से वेतन दिया जाता है। राज्य ही प्राथमिक और माध्यमिक श्रेणियों के लिए पाठ्यक्रम तय कर देता है। जो मजिस्ट्रेट विद्यालयों का कार्यभार सभालता है, प्लेटो उसे सारे मजिस्ट्रेटों में ऊँचा दर्जा देता है। लॉज़ में शिक्षा का सिद्धान्त शिक्षा संगठन का सिद्धान्त है। इस दृष्टि से वह रिपब्लिक से भिन्न है।

प्लेटो ने धर्म का और राज्य के साथ उसके सम्बन्ध का जो विवरण प्रस्तुत किया है, उससे भी यह मालूम पड़ता है कि वह उसे सस्थागत रूप देना चाहता है। प्लेटो का धर्म के प्रति इतनी अधिक रुचि प्रकट करना शायद बुढ़ापे की निशानी है। रिपब्लिक में प्लेटो ने धर्म की अत्यन्त संक्षेप में चर्चा की थी। लॉज़ की दसवीं पुस्तक में प्लेटो ने धार्मिक विधि का विस्तार के साथ वर्णन किया है। यद्यपि इस अंश में विश्वास की झलक मिलती है और इसलिए इसमें असर है लेकिन फिर भी प्लेटो की प्रतिभा द्वारा प्रणीत यह सबसे शोकजनक वस्तु है। प्लेटो ने लॉज़ में बताया है कि शिक्षा की भाँति धर्म पर भी राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। उसने कहा है कि नागरिकों को किसी प्रकार के व्यक्तिगत धार्मिक उत्सव नहीं करने चाहिएँ। धार्मिक उत्सवों को सार्वजनिक देवालयों में अधिकृत पुरोहितों के द्वारा ही किया जाना चाहिए। प्लेटो की इस विचारधारा के दो कारण हैं। वह धर्म के कुछ अव्यवस्थित रूपों को पसद नहीं करता था। उसने एक स्थल पर यह लिखा भी है कि उन्मादग्रस्त लोग, विशेषकर स्त्रियाँ बेकार के धार्मिक

पचड़ों में बहुत पड़ती हैं। दूसरे, प्लेटो का यह भी विचार था कि यदि नागरिकों का अपना व्यक्तिगत धर्म होगा तो वह उन्हें राज्य की निष्ठा से विरक्त कर देगा। प्लेटो का धर्म-नियन्त्रण केवल उत्सवों तक ही सीमित नहीं है उसका यह भी विश्वास है कि धार्मिक विचारों का नैतिक व्यवहार से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कुछ अविश्वास निश्चिततः अनैतिक प्रवृत्ति के होते हैं। इसलिए प्लेटो यह जरूरी मानता है कि धर्म का रूप निश्चित कर दिया जाए और राज्य को यह शक्ति दी जाए कि वह धर्म में श्रद्धा न रखने वाले लोगों को दण्ड दे सके। प्लेटो का धार्मिक विचारधारा सुगम है। वह नास्तिकता का निषेध करता है। प्लेटो ने नास्तिकता के तीन भेद माने हैं—देवताओं के अस्तित्व में अविश्वास, यह धारणा कि देवता मानव आचरण से सम्बन्ध नहीं रखते और यह धारणा कि यदि कोई पाप किया जाए तो उसका आसानी से प्रायश्चित्त हो सकता है। प्लेटो ने नास्तिकता के लिए कारावास और कुछ अवस्थाओं में प्राणदण्ड तक की व्यवस्था की है। यह व्यवस्था यूनानियों की प्रथा से बिलकुल मेल नहीं खाती। इस व्यवस्था के कारण लॉज धार्मिक उत्पीडन का प्रतिपादन करने वाली पहली पुस्तक हो जाती है।

लॉज के अन्त में प्लेटो ने जो बात कही है वह उसके मूल दर्शन के साथ मेल नहीं खाती। इस बात का उसके द्वारा वर्णित राज्य के साथ भी कोई मेल नहीं बैठता। पुस्तक के अन्त में प्लेटो ने एक संस्था का उल्लेख किया है। इस संस्था का उसने पहले कभी उल्लेख नहीं किया। यह संस्था अन्य संस्थाओं से कोई मेल नहीं खाती और राज्य की उस व्यवस्था से भी कोई सम्बन्ध नहीं रखती जिसमें कानून सर्वोच्च हो। प्लेटो ने इसे नोक्टरनल कौंसिल (Nocturnal Council) कहा है। इस कौंसिल में सैंतीस संरक्षकों में से दस वरिष्ठ संरक्षक होते हैं। शिक्षा संचालक तथा अपने विशेष गुणों के कारण चुने गए पुरोहित आदि इसके विशेष सदस्य होते हैं। यह परिषद् कानून से बाहर होती है। फिर भी उसे राज्य की वैधानिक संस्थाओं का नियमन और नियन्त्रण करने की शक्ति मिली रहती है। प्लेटो का विचार है कि परिषद् के सदस्य ज्ञानवान् होते हैं और वे राज्य का कल्याण कर सकते हैं। प्लेटो का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि पहले इस परिषद् की स्थापना होनी चाहिए और राज्य उसके हाथ में सौंप देना चाहिए। स्पष्ट है कि नोक्टरनल कौंसिल रिपब्लिक के दार्शनिक शासक के स्थान पर है। लॉज में उसका सन्निवेश द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य पर एक प्रहार है लेकिन यह परिषद् पूरी तरह दार्शनिक शासक नहीं है। चूँकि उसका वर्णन नास्तिकता के अपराध और अधिकृत पुरोहितों के बाद किया गया है, इसलिए इसमें पुरोहितवाद की कुछ गन्ध है। प्लेटो ने उसके सदस्यों को धार्मिक दृष्टि से ज्ञानवान् माना है, यह तथ्य उसके पुरोहितवाद को स्पष्ट कर देता है।

"रिपब्लिक" और "लॉज"

(The 'Republic' and the 'Laws')

यदि प्लेटो के राजनैतिक दर्शन पर समग्र दृष्टि से विचार किया जाए तो यह मानना पड़ता है कि रिपब्लिक में वर्णित राज्य का प्रारम्भिक रूप भी गलत रहा

था। रिपब्लिक ने नगर-राज्य के सिद्धान्त को कई चीजें दी। रिपब्लिक ने बताया है कि समाज के मूल सिद्धान्त क्या होते हैं। मानवीय जीवन पारस्परिक सहायता और सहयोग, आदान और प्रदान के भाव पर आधारित है। मनुष्य किस प्रकार अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास कर सकता है और किस प्रकार सामाजिक जीवन को सुखकर बनाया जा सकता है। रिपब्लिक मे इस सिद्धान्त का विकास सुकरात के इस सूत्र के आधार पर ही किया गया था कि सद्गुण सत् का ज्ञान है। प्लेटो ने ज्ञान को गणित की शुद्ध निगमनात्मक पद्धति के आधार पर गृहीत माना था। इसी कारण प्लेटो का यह विचार था कि शासक और शासितों का सम्बन्ध प्राय वही होता है जो कि ज्ञानियो और अज्ञानियो का होता है। परिणामत, प्लेटो ने राज्य से कानून का बहिष्कार ही कर दिया। प्लेटो के राज्य सिद्धान्त मे अनुभव और प्रथा के द्वारा ज्ञान के धीरे-धीरे अर्जन की कोई बात नही थी। फिर भी कानून के निषेध ने स्वतन्त्र नागरिकता के उन नैतिक आदर्शों को गलत कर दिया जो नगर-राज्य का सार था।

प्लेटो ने अपने बाद के दर्शन म यह कोशिश की कि कानून को उसका उचित स्थान दिया जाए लेकिन उसकी यह कोशिश पूरी नही थी। उसने जिस ढंग से द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य का वर्णन किया है उससे यह साफ जाहिर हो जाता है। वास्तविक कठिनाई यह थी कि पुनरीक्षण ऐसा चाहिए था जिससे उसके मनोविज्ञान का पूरी तरह पुनर्निर्माण होता और उसमे आदत को उचित महत्त्व मिलता। साथ ही प्लेटो के ज्ञान-सिद्धान्त मे अनुभव और प्रथा को उचित स्थान मिलना चाहिए था। लॉज के राज्य के अनुशीलन से आवश्यक संशोधन का सुझाव मिल गया था। इस पुस्तक म प्लेटो ने वास्तविक संस्थाओ और कानूनो का सावधानी से विश्लेषण किया है और इस प्रकार के अध्ययन का इतिहास से सम्बन्ध निर्दिष्ट किया है। लॉज मे भी उसने सन्तुलन का—दावो और हितो के पारस्परिक सामंजस्य—का सिद्धान्त निरूपित किया है। प्लेटो के विचार से यह सन्तुलन ही संवैधानिक शासन का आधार है। रिपब्लिक का राज्य तो बहुत कुछ भावप्रधान ही था। लॉज के राज्य ने नगर-राज्य की समस्या का अधिक गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया, बताया कि सम्पत्ति के हितो का संस्था द्वारा प्रकट किए गए लोकतन्त्र के हितो के साथ किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जाए। अरस्तू ने अपना विवेचन लॉज के इन प्रारम्भिक सूत्रो से ही शुरू किया है। अरस्तू ने रिपब्लिक मे उल्लिखित सामान्य सिद्धान्तो को नही त्यागा। ये सिद्धान्त उसके समाज-विषयक सिद्धान्त के अब भी मूलाधार हैं। अरस्तू ने लॉज के प्राय सभी संकेतो को अपना लिया है। उसने उनका अपने परिश्रम और ऐतिहासिक तथा व्यावहारिक साक्ष्य के द्वारा काफी विस्तार किया है। अरस्तू ने अपनी दर्शन-पद्धति मे अपनी प्रक्रिया की व्याख्या और उसका औचित्य सिद्ध करने वाले तर्कसम्मत सिद्धान्तो को भी देने का प्रयास किया है।

Selected Bibliography

"Greek Political Thought and Theory in the Fourth Century" By Ernest Barker, in *The Cambridge Ancient History*, Vol VI (1927), Ch 16

Greek Political Theory Plato and his Predecessors By Ernest Barker Second edition London, 1925 Chs XI—XVII

"Fact and Legend in the Biography of Plato" By George Boas in *The Philosophical Review* Vol LVII (1948) p 439

"The Athenian Philosophical Schools" By F M Cornford, in *The Cambridge Ancient History*, Vol VI (1927) Ch II

The Laws of Plato Ed E B England 2 Vols Manchester, 1921

Plato and his Contemporaries By G C Field London 1930

Greek Thinkers By Theodor Gomperz Vol II Trans by G G Berry, New York, 1905, Bk V, Chs XIII XVII, XX

Plato's Thought By G M A Grube London, 1935 Ch 8

The Authorship of the Platonic Epistles By R Hackforth. Manchester, 1913

Paideia: The Ideals of Greek Culture By Werner Jaeger. Trans by Gilbert Highet 3 Vols New York, 1939—44 Book IV.

Essays in Ancient and Modern Philosophy By H W. B Joseph Oxford, 1935 Chs 1—6

Knowledge and the Good in Plato's Republic By H. W. B Joseph London, 1948

Discovering Plato By Alexandre Koyre Trans by Leonora C. Rosenfield, New York, 1945

Studies in the Platonic Epistles By Glenn R Morrow Illinois Studies in Language and Literature Urbana 1935

"Plato and the Law of Nature" By Glenn R Morrow in *Essays in Political Theory* Ed Milton R Konvitz and Arthur E Murphy Ithaca, 1948.

Lectures on the Republic of Plato By Richard L Nettleship Ed Lord Charnwood London, 1914

The Open Society and its Enemies By K R Popper, 2 Vols London, 1945 Vol I

The Essence of Plato's Philosophy By Constantin Ritter. Trans by Adam Alles London, 1933

What Plato Said By Paul Shorey Chicago, 1933

Plato, the Man and his Work By A. E Taylor Third Edition New York 1929

अध्याय ५

अरस्तू : राजनैतिक आदर्श

(Aristotle : Political Ideals)

जिस समय डायो (Dion) ने तरुण डायोनीसियस (Dionysius) को शिक्षा देने और सिराक्यूज के शासन में सुधार करने के लिए प्लेटो को सिराक्यूज आने का आमन्त्रण दिया था उसी समय प्लेटो के प्रमुख शिष्य अरस्तू ने उसकी अकादमी में प्रवेश किया था। अरस्तू एथेंस का रहने वाला नहीं था। वह थ्रेस में स्टेगिरा नामक स्थान का निवासी था। उसका जन्म ३८४ ई० पू० में हुआ था। उसका पिता चिकित्सक था। अरस्तू की प्राणिशास्त्र के अध्ययन में इतनी रुचि होने का कारण सम्भवत: यही है कि अरस्तू का पिता मकदूनिया का राजवैद्य था। अरस्तू प्लेटो के विद्यालय की ओर इसलिए आकृष्ट हुआ था कि वह उच्च अध्ययन के लिए यूनान में सबसे अच्छी जगह थी। एक बार आने के बाद वह प्लेटो के जीवन-काल में प्राय बीस वर्ष तक वहाँ रहा। अरस्तू ने प्लेटो की शिक्षाओं को अनायास ही आत्मसात् कर लिया। अरस्तू की दार्शनिक रचनाओं के पन्ने-पन्ने पर इसकी छाप है। ३४७ ई० पू० में प्लेटो की मृत्यु हो गई। प्लेटो की मृत्यु के बाद अरस्तू ने एथेंस छोड़ दिया और आगे के बारह वर्षों में उसने विभिन्न कार्य किये। इस काल में ही उसने स्वतन्त्र रीति से ग्रन्थों की रचना की। वह ३४२ ई० पू० में मकदूनिया के राजकुमार सिकन्दर का शिक्षक नियुक्त हुआ। लेकिन, उसकी रचनाओं पर मकदूनिया के साथ उसके सम्बन्ध का कोई असर नहीं पड़ा है। अरस्तू यह नहीं समझ सका कि सिकन्दर की पूर्व विजय का क्या महत्व है। इससे यूनानी और पूर्वी सभ्यताओं का समन्वय होगा। अरस्तू ने अपने शिष्य को राजनीति के बारे में जो कुछ भी पढ़ाया होगा वह इस नीति के बिलकुल विरुद्ध रहा होगा। ३३५ ई० पू० में अरस्तू ने एथेंस में अपना विद्यालय स्थापित किया। यह चार बड़े दार्शनिक विद्यालयों में से दूसरे नम्बर पर था। आगे के बारह वर्षों में अरस्तू के अधिकांश ग्रन्थों की रचना हुई। इन ग्रन्थों की रचना तो अरस्तू ने सम्भवत पहले ही शुरू कर दी थी परन्तु वे इस काल में पूरे हुए। अरस्तू अपने महान् शिष्य की मृत्यु के एक वर्ष बाद तक जीवित रहा। उसकी मृत्यु युबोइया में ३२२ ई० पू० में हुई। सिकन्दर की मृत्यु के बाद एथेंस में मकदूनिया विरोधी उपद्रवों से बचने के लिए अरस्तू युबोइया चला गया था।

राजनीति का नया विज्ञान

(The New Science of Politics)

अरस्तू की रचनाएँ प्लेटो के संवादों से एक भिन्न समस्या उपस्थित करती हैं। यदि हम अरस्तू की शुरू की रचनाओं को छोड़ दें तो उसके अवशिष्ट ग्रन्थ अधिकतर ऐसे हैं कि उन्हें प्रकाशन के लिए तैयार नहीं किया गया था। इन ग्रन्थों

का प्रयोग अध्यापन में होता था। हाँ, उनके महत्त्वपूर्ण अंश विद्यालय की स्थापना से पहले लिख दिए गए थे। इन ग्रन्थों का प्रकाशन अरस्तू की मृत्यु के ४०० वर्ष पश्चात् हुआ था। तब तक ये ग्रंथ विद्यालय की सम्पत्ति रहे थे और बाद के शिक्षकों ने उनका उपयोग किया था। सम्भवत, जब अरस्तू विद्यालय का प्रधान रहा था उस समय उसने अनुसंधान की कई विकसित योजनाओं का संचालन किया था। उसने यूनान के १५८ नगरों के संवैधानिक इतिहास की पड़ताल की थी। उसका एथेंस का संविधान विषयक ग्रन्थ जिसका पता १८९१ में चला, इसका एक उदाहरण है। ये अनुसन्धान अधिकतर दार्शनिक नहीं प्रत्युत् ऐतिहासिक थे। ये व्यावहारिक खोज पर आधारित थे। इन अनुसंधानों के आधार पर अरस्तू अपनी रचनाओं में परिवर्तन करता रहता था।

अरस्तू का सबसे विख्यात ग्रन्थ पॉलिटिक्स है। अरस्तू ने इस ग्रन्थ की रचना सामान्य जनता के लिए नहीं की थी। कुछ लोगों को सन्देह है कि इसका वर्तमान रूप स्वयं अरस्तू ने नहीं दिया था बल्कि उसके कई सम्पादकों ने अनेक पाण्डुलिपियों के आधार पर दिया था।[1] ये कठिनाइयाँ स्पष्ट हैं और कोई भी सावधान पाठक उन्हें पकड़ सकता है। लेकिन इन कठिनाइयों का समाधान जरा मुश्किल है। बाद के सम्पादकों ने पुस्तक के अध्यायों का क्रम बदला है। लेकिन अध्यायों को किसी भी क्रम से रखा जाये, पॉलिटिक्स एकीकृत अथवा सुग्रथित रचना नहीं मालूम पड़ती।[2]

पुस्तक ७ में अरस्तू ने आदर्श राज्य की रचना प्रस्तुत की है। यह पुस्तक ३ के अन्त से प्रारम्भ होती हुई मालूम पड़ती है। पुस्तकें ४,५ और ६ आदर्श राज्यों का नहीं, प्रत्युत वास्तविक राज्यों का वर्णन करती हैं। ये स्वयं ही एक वर्ग का निर्माण करती हैं। इसलिए सातवीं और आठवीं पुस्तकों को तीसरी पुस्तक के अन्त में और चौथी, पाँचवीं तथा छठी पुस्तकों को अन्त में रखा जाता है। तीसरी पुस्तक के अन्त में राजतन्त्र का और चौथी पुस्तक में लोकतन्त्र तथा धनिकतन्त्र का वर्णन किया गया है। जहाँ तक पुस्तक के पढ़ने का सम्बन्ध है, कोई भी क्रम रखा जाये, काफी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। रोस (Ross) का यह कहना भी सही है कि पाठक पुस्तक के परम्परागत रूप को भी ग्रहण कर सकता है।

इस समस्या का सबसे सर्वश्रेष्ठ समाधान वर्नर जैगर (Werner Jaeger)[3]

---

1 उदाहरण के लिए अर्नेस्ट बार्कर (Political Thought of Plato and Aristotle, 1906, p 250) का विचार है कि पॉलिटिक्स में भाषणों के तीन सेटों का जोड़ है। डब्ल्यू डी० रॉस० (Aristotle 1924, p 236) का कहना है कि पॉलिटिक्स में पाँच विभिन्न ग्रन्थों का समेकन है।

2 संख्या के द्वारा पुस्तकों के निर्देश का अभिप्राय पाण्डुलिपि का क्रम है। इस सम्बन्ध में कई प्रयोग किये गए हैं। पहली से तीसरी पुस्तक के बाद की पुस्तकों की संख्या अस्पष्ट है। इमिस्च के ट्यूबनर टेक्स्ट (Immisch's Teubner Text) में पृ० VII पर मुख्य संस्करणों की तालिका दी गई है।

3 Aristoteles (1923) Eng trans by Richard Robinson (1934). Ch X.

ने प्रस्तुत किया है। जैगर का समाधान अरस्तू के राजनैतिक दर्शन के विकास की काफी युक्तिसंगत व्याख्या कर देता है। जैगर के अनुसार पॉलिटिक्स अरस्तू की ही कृति है, किसी सम्पादक की नहीं। लेकिन, इस ग्रंथ की रचना दो कालों में हुई थी। इसलिए इसके दो भाग हो जाते हैं। पहला भाग आदर्श राज्य से और तत्सम्बन्धी पूर्वकालीन सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखता है। इसमें दूसरी पुस्तक भी शामिल है। इसमें पूर्ववर्ती सिद्धान्तों का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है और प्लेटो की आलोचना की गई है। तीसरी पुस्तक में राज्य और नागरिकता के स्वरूप का अध्ययन किया गया है। यह आदर्श राज्य के सिद्धान्त की भूमिका है। सातवीं और आठवीं पुस्तकों में आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। जैगर के विचार से इन चार पुस्तकों की रचना अरस्तू ने प्लेटो की मृत्यु के उपरान्त एथेंस से विदा लेने के कुछ समय बाद ही की थी। दूसरे भाग में अध्याय ४, ५, ६, आते हैं। इनमें अरस्तू ने वास्तविक राज्यों का, विशेषकर लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र का अध्ययन किया है। उसने यह भी बताया है कि इन राज्यों के पतन के क्या कारण हैं तथा उन्हें किस प्रकार स्थायित्व दिया जा सकता है। जैगर का विचार है कि इन पुस्तकों की रचना अरस्तू ने अपने विद्यालय की स्थापना के बाद की थी।[1] उसने विचार से अरस्तू इस बीच में ही १५८ संविधानों की पड़ताल कर रहा था। अरस्तू ने चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकें मूल प्रारूप के बीच में रख दी थीं। इसके परिणामस्वरूप आदर्श राज्य सम्बन्धी रचना बहुत बड़ी हो गई और वह राजनीति शास्त्र का एक सामान्य ग्रंथ बन गई। अतः जैगर का विचार है कि पहली पुस्तक सबसे आखिर में लिखी गई थी। यह बृहद् ग्रंथ की सामान्य भूमिका है। इस प्रकार जैगर के विचार में पॉलिटिक्स का उद्देश्य एक विज्ञान का ग्रंथ होना था। लेकिन इसको दुबारा नहीं लिखा गया, फलतः इसके भिन्न भाग एक दूसरे से असम्बद्ध से मालूम पड़ते हैं। इसकी पूरी रचना में प्रायः १५ वर्ष लगे थे।

यदि यह उपकल्पना (hypothesis) सही मानी जाए, तो यह परिणाम निकलता है कि अरस्तू की विचारधारा में पॉलिटिक्स दो चरणों को प्रकट करती है। ये दोनों चरण एक दूसरे से काफी फासले पर हैं। इनसे यह भी ज्ञात होता है कि अरस्तू ने प्लेटो के प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास किया है या इसी बात को बेहतर तरीके से यों कहा जा सकता है कि अरस्तू ने अपनी स्वतन्त्र विचारधारा के निर्माण का प्रयास किया है। पहली बात यह है कि अरस्तू स्टेट्समैन और लॉज के अनुकरण पर एक आदर्श राज्य की रचना करना चाहता है। वह आदर्श राज्य की रचना को ही राजनैतिक दर्शन का मुख्य ध्येय समझता है। राजनीति शास्त्र के विषय में प्लेटो की जो नैतिक रुचि थी, वह उसकी भी है श्रेष्ठ व्यक्ति और श्रेष्ठ नागरिक उसके लिए भी एक ही हैं या कम से कम एक होने चाहिएँ, राज्य का उद्देश्य उच्चतम नैतिक मनुष्य का निर्माण करना है। यह नहीं माना जा सकता

1. ३३६ में मकदूनिया के फिलिप की हत्या का प्रसंग देखिए, ५, १०, १३११ b२. उसने संविधानों के संकलन का काल ३२९ और ३२६ के बीच माना है।

कि अरस्तू ने इस दृष्टिकोण को जानबूझ कर छोड़ दिया। इसका कारण यह है कि अरस्तू ने आदर्श राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध को पॉलिटिक्स का एक महत्वपूर्ण अंश बने रहने दिया था। लेकिन, लीसियम (Lyceum) की स्थापना के कुछ समय बाद ही उसने एक व्यापक आधार पर राजनीति के विज्ञान अथवा कला की कल्पना की। उसका विचार था कि नये विज्ञान का क्षेत्र सामान्य होना चाहिए, उसमें आदर्श और वास्तविक दोनों प्रकार की शासन-प्रणालियों का विवेचन होना चाहिए। उसमें शासन की कला और राज्यों का संगठन करने की शिक्षा का विधान होना चाहिए। राजनीति का यह नया विज्ञान केवल अनुभव-सापेक्ष और विवरणात्मक ही नहीं था, कुछ दृष्टियों से उसका नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं था क्योंकि राजनेता के लिए यह आवश्यक है कि वह खराब राज्य का शासन करने में भी निपुण हो। नये राजनीति विज्ञान में सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों प्रकार के राजनीतिक हित की जानकारी सम्मिलित थी। इसमें उस राजनैतिक व्यवस्था की भी जानकारी सन्निहित थी जिसका घटिया अथवा खराब उद्देश्य के लिए प्रयोग होता। राजनीतिक दर्शन की परिभाषा में यह विस्तार अरस्तू की एक मुख्य देन है।

इसलिए, अरस्तू के राजनैतिक दर्शन का विवरण सुगमता से दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले भाग का स्रोत दूसरी, तीसरी, सातवीं और आठवीं पुस्तकें हैं। यहाँ हमें इन प्रश्नों पर विचार करना है—जिस समय अरस्तू ने अपनी स्वतन्त्र विचारधारा के निर्माण का प्रयास किया, उस समय उसकी विचारधारा और प्लेटो की विचारधारा में क्या सम्बन्ध था, विशेषतः अरस्तू में ऐसी कौन सी बातें पाई जाती हैं जो उसे प्लेटो से पृथक् कर देती हैं। दूसरे भाग का स्रोत चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकें हैं। यहाँ विचारणीय प्रश्न है—शासन-प्रणालियाँ, राजनैतिक संगठन और परिवर्तन के पीछे काम करने वाली सामाजिक शक्तियाँ तथा वे साधन जिनसे राजनेता कार्य करता है। पहली पुस्तक के आरम्भिक अध्यायों में उसने उस महान् राजनैतिक समस्या के बारे में जिस पर वह तथा प्लेटो दोनों विचार करते रहे थे, अंतिम शब्द कह दिया है। समस्या प्रकृति और रूढ़ि के बीच अंतर की है। अरस्तू ने अपने परिपक्व राजनैतिक चिंतन की अवस्था में प्रकृति की एक विशिष्ट संकल्पना को प्रकट किया है।

शासन-प्रणालियाँ
(The Kinds of Rule)

अरस्तू ने विभिन्न विषयों की अपनी पुस्तकों में सबसे पहले इस बात पर विचार किया है कि अन्य लेखकों ने उस विषय पर क्या लिखा है। उसने अपनी आदर्श राज्य सम्बन्धी पुस्तक में भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है। यहाँ उसकी सबसे अधिक रुचि की बात प्लेटो की आलोचना है। यहाँ हम उन मतभेदों का ज्ञान प्राप्त करने की आशा रख सकते हैं जो उसके और उसके गुरु के बीच थे तथा जिनकी उसे जानकारी थी। परिणाम कुछ निराशाजनक है। जहाँ तक रिपब्लिक का सम्बन्ध है, अरस्तू ने व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिवार के उन्मूलन

पर आपत्ति प्रस्तुत की है। इन आपत्तियों की हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं और उनका दुबारा उल्लेख करना अनावश्यक है। लेकिन, अरस्तू द्वारा की गई लॉज की आलोचना समझ मे नहीं आती। इसमे अधिकतर ब्योरे की बातें हैं और कहीं कहीं वे बहुत गलत हैं। यह इसलिए आश्चर्यजनक है क्योंकि अरस्तू के आदर्श राज्य की रचना बहुत कुछ लॉज के ऊपर आधारित है और उनमे कई बातों में साम्य यहाँ तक है कि शाब्दिक साम्य तक मिलता है।[1] स्पष्ट है कि जब अरस्तू ने इस ग्रंथ की रचना की थी, उसने लॉज का विश्लेषण करना और उसके सिद्धान्तों से अपनी असहमति प्रकट करना मुनासिब नहीं समझा। अरस्तू की आलोचना के स्वर मे यह मालूम पड जाता है कि ठीक वस्तु क्या होती। मालूम पड़ता है कि अरस्तू का प्लेटो की राजनैतिक रचनाओं तथा उसके सामान्य दर्शन के बारे में यह विचार था कि वे उत्कृष्ट और विचारपूर्ण अवश्य हैं परन्तु अत्यधिक क्रांतिकारी और कल्पनात्मक हैं। अरस्तू का कहना है कि वे आम नहीं हैं, प्रत्युत् सदैव मौलिक' हैं। लेकिन, उसके दिमाग मे यह शंका मालूम पड़ती है—क्या वे विश्वसनीय हैं। अरस्तू ने अपनी असहमति का आधार एक नीरस व्यंग्यपूर्ण अवतरण मे प्रकट किया है। इस अवतरण से यह ज्ञात हो जाता है कि प्लेटो और अरस्तू की मनोवृत्ति में क्या अंतर था

"हमें याद रखना चाहिए कि हमें युगों के अनुभव की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। यदि ये चीजें अच्छी होतीं तो समय के प्रवाह में अवश्य ज्ञात हो जातीं। पता तो हर चीज का लग गया है। हां, यह दूसरी बात है कि बहुत-सी चीजों को मिलाकर नहीं रखा गया। दूसरी अवस्थायें हैं मनुष्य के पास जो जानकारी होती है, वे उसका उपयोग नहीं करते।"[2]

संक्षेप मे, अरस्तू मौलिक नहीं है, लेकिन वह ज्यादा गम्भीर है। उसका विचार है कि सामान्य अनुभव की बातों से बहुत दूर हटना उचित नहीं है चाहे वे तर्कसम्मत दृष्टि से ठीक हो।

प्लेटो और अरस्तू के आदर्श राज्य सम्बन्धी विचारों मे एक अन्तर ऐसा है जिसकी छाप पॉलिटिक्स के प्रत्येक भाग मे है। अरस्तू जिसे आदर्श राज्य कहता है वह प्लेटो का द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य है। हम इस बात की अभी चर्चा कर चुके हैं कि अरस्तू ने साम्यवाद को अस्वीकार कर दिया था। इससे ज्ञात होता है कि अरस्तू ने रिपब्लिक के आदर्श राज्य को आदर्श के रूप मे भी कभी मान्यता नहीं दी। अरस्तू का आदर्श सदैव संवैधानिक शासन था, निरंकुश शासन नहीं चाहे वह निरंकुश शासन दार्शनिक शासक की प्रबुद्ध निरंकुशता (enlightened despotism) ही क्यों न हो। इसलिए, अरस्तू ने शुरू से ही लॉज के इस दृष्टिकोण को ग्रहण कर लिया था कि श्रेष्ठ राज्य मे कानून ही अन्तिम प्रभु होना चाहिए, कोई व्यक्ति नहीं चाहे वह व्यक्ति कोई हो। उसने इसे मानवी दुर्बलता के प्रति कोई रियायत नहीं माना बल्कि श्रेष्ठ शासन का एक अभिन्न भाग और इसलिए आदर्श राज्य की एक विशेषता

1 अर्नेस्ट बार्कर ने *Greek Political Theory Plato and His Predecessors* (1925) में इन साम्यताओं की एक लम्बी सूची दी है। p p 380 ff

2 *Politics*, 2 5, 1264a, 1 ff (Jowett's trans)

माना। सवैधानिक शासक का अपने प्रजाजनो के साथ सम्बन्ध अन्य किसी भी प्रकार की अधीनता से भिन्न होता है। इसमे यह आवश्यक है कि दोनो पक्ष स्वतन्त्र बने रहें। दोनो पक्षो के बीच कुछ अन्तर अवश्य रहते हैं लेकिन उनके बीच कुछ समानता भी रहनी आवश्यक है।

अरस्तू विभिन्न प्रकार के शासनो के अन्तर को इतना महत्त्व देता है कि वह इसकी बार-बार चर्चा करता है। प्रतीत होता है कि उसकी इस विषय मे शुरू से ही प्रगाढ रुचि रही थी।[1] सवैधानिक शासक की अपने प्रजाजनो के ऊपर सत्ता उस सत्ता से भिन्न है जो स्वामी की अपने दासो के ऊपर होती है। इसका कारण यह है कि दास की प्रकृति कुछ भिन्न होती है। वह निम्न कोटि का प्राणी होता है। वह जन्म से हीन होता है और उसमे अपना शासन आप करने की क्षमता नही होती। अरस्तू यह स्वीकार करता है कि कभी कभी यह बात सही भी नही होती। लेकिन, दासता को इसी आधार पर उचित ठहराया जाता है। इसलिए दास स्वामी के हाथों मे जीवित कठपुतली होता है। उसका दया स उपयोग होता है लेकिन, फिर भी उसके स्वामी की भलाई के लिए उपयोग होता है। राजनैतिक सत्ता घर की उस सत्ता से भी भिन्न होती है जिसका मनुष्य अपनी स्त्री और बच्चो के ऊपर प्रयोग करता है यद्यपि घर की सत्ता आश्रितो और पिता दोनो के लिए ही हितकारी होती है। अरस्तू के विचार से प्लेटो राजनैतिक सत्ता और पारिवारिक सत्ता के अन्तर को नही समझ सका था। यह उसकी एक गम्भीर भूल थी। इस भूल के कारण ही प्लेटो ने स्टेट्समैन मे कहा है कि राज्य परिवार का ही एक वृहत्तर रूप होता है। बच्चा वयस्क नही है। यद्यपि बच्चे पर शासन उसकी भलाई के विचार से ही किया जाता है, फिर भी वह समानता की स्थिति म नही है। पत्नि की स्थिति स्पष्ट नहीं है। अरस्तू का विचार है कि स्त्रियो का स्वभाव पुरुषो से भिन्न होता है। यह आवश्यक नहीं है कि स्त्रियाँ पुरुषो से हीन हो। लेकिन, स्त्रियाँ पुरुषो के समान नही होती। राजनैतिक सम्बन्ध केवल समानता के आधार पर ही स्थापित हो सकता है। इसलिए, यदि आदर्श राज्य लोकतन्त्र नही है तो उसमे लोकतन्त्र का अंश अवश्य है। "यह समान व्यक्तियो का एक समाज है जिसका उद्देश्य सर्वश्रेष्ठ सम्भव जीवन है।"[2] यदि इस समाज के सदस्यो मे अन्तर इतना अधिक है कि उनमे समान 'सद्गुण' नहीं होता, तो फिर वह सवैधानिक अथवा वास्तविक दृष्टि से राजनैतिक समाज नहीं रहता।

कानून का शासन

(Rule of Law)

राज्य म सवैधानिक शासन का इस प्रश्न से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वह सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा शासित हो या सर्वश्रेष्ठ कानूनो के द्वारा शासित हो क्योंकि

1. Cf *Politics* 3, 6 1728 b, 31 म उसने अपने शुरू के प्रसिद्ध सम्वादों की चर्चा की है। इससे कुछ पक्तियाँ पूर्व ही 1278 b, 18 में उसने पहली पुस्तक म उल्लिखित गृहपति की सत्ता के विवेचन का निर्देश दिया है यद्यपि विषय एक ही है।

2 7, 8, 1328a, 36

वह शासन जो अपने प्रजाजनों की भलाई के लिए हो, कानून के अनुसार भी होता है। इसलिए, अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता को श्रेष्ठ शासन का एक चिह्न माना है, केवल एक अभाग्यपूर्ण आवश्यकता ही नहीं। प्लेटो ने स्टेट्समैन में बुद्धिमान् शासक के शासन और कानून के शासन को वैकल्पिक माना है।[1] अरस्तू के विचार में प्लेटो की यह भूल है। बुद्धिमान् से बुद्धिमान् शासक भी कानून के बिना अपना काम नहीं चला सकता। इसका कारण यह है कि कानून निर्वैयक्तिक होता है। किसी आदमी में, चाहे वह कितना ही भला क्यों न हो, यह निर्वैयक्तिकता नहीं आ सकती। प्लेटो चिकित्सा शास्त्र और राजनीति में अक्सर तुलना किया करता था। अरस्तू इस तुलना को गलत मानता है। अरस्तू के विचार में यदि राजनैतिक सम्बन्धों में स्वतन्त्रता की भावना रहनी है, तो राजनैतिक सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का होना चाहिए कि प्रजाजन अपने निर्णय और दायित्व को न छोड़ दें। यह उसी समय सम्भव है जब कि शासक और शासित दोनों की कानूनी स्थिति हो। कानून की उद्वेग-रहित सत्ता मजिस्ट्रेट का स्थान नहीं लेती। लेकिन, वह मजिस्ट्रेट की सत्ता को नैतिक महत्व अवश्य प्रदान करती है। मजिस्ट्रेट की सत्ता को यह नैतिक महत्व इसके बिना प्राप्त नहीं हो सकता। सवैधानिक शासन प्रजाजनों के गौरव को कायम रखता है। व्यक्तिगत या निरंकुश शासन उसका गौरव कायम नहीं रखता। अरस्तू ने एकाधिक स्थलों पर कहा है कि संवैधानिक शासक इच्छुक प्रजाजनों के ऊपर शासन करता है। वह सहमति के द्वारा शासन करता है और अधिनायक से बिलकुल भिन्न होता है। अरस्तू जिस यथार्थ नैतिक विशेषता की बात करता है, वह उतनी ही छलनामयी है जितनी कि आजकल के सिद्धान्तों में शासितों की सहमति। लेकिन, इसकी वास्तविकता के ऊपर सन्देह नहीं किया जा सकता।

अरस्तू के विचार से सवैधानिक शासन में तीन मुख्य तत्त्व हैं—पहले यह शासन जनता की या सर्वसाधारण की भलाई के लिए होता है। यह कोई दल, शासन अथवा अत्याचारी शासन नहीं होता जो केवल एक वर्ग अथवा व्यक्ति के हित में हो। दूसरे, यह एक विधिसम्मत शासन होता है। इसका अभिप्राय यह है कि यह शासन सामान्य विनियमों के अनुसार चलता है, मनमानी आज्ञप्तियों के अनुसार नहीं। साथ ही शासन पुराने रीति-रिवाजों और संविधान की रूढ़ियों का भी तिरस्कार नहीं करता। तीसरे, सवैधानिक शासन इच्छुक प्रजाजनों का शासन है। वह केवल शक्ति द्वारा समर्थित निरंकुश शासन नहीं है। अरस्तू ने सवैधानिक शासन की इन तीनों विशेषताओं का स्पष्ट रीति से उल्लेख किया है। लेकिन, उसने इस की व्यवस्थित रूप में कहीं परीक्षा नहीं की है कि क्या यह सूची पूरी है और इन तीनों में क्या पारस्परिक सम्बन्ध है। अरस्तू को यह ज्ञात था कि हो सकता है कि शासन में इन तीनों में से एक विशेषता न हो। उदाहरण के लिए अत्याचारी शासन निरंकुशता से अपने प्रजाजनों की भलाई का कार्य कर सकता है अथवा विधिसम्मत शासन अनुचित रूप से एक वर्ग के साथ पक्षपात कर सकता है।

1. 3 16, 1287a, 32

संवैधानिक शासन के ऊपर इतना जोर देने का कारण यह है कि अरस्तू ने लॉज का यह सुझाव स्वीकार कर लिया है कि कानून को एक अस्थायी व्यवस्था नहीं प्रत्युत् नैतिक और सभ्य जीवन की एक अपरिहार्य व्यवस्था मानना चाहिए। पॉलिटिक्स का एक प्रारम्भिक अवतरण प्लेटो के एक प्रसिद्ध वाक्य को ध्यान में रखते हुए लिखा गया था, "मनुष्य परिष्कृत होने पर सर्वश्रेष्ठ प्राणी होता है, लेकिन कानून और न्याय से पृथक् होने पर वह निकृष्टतम प्राणी होता है।"[1] लेकिन, कानून सम्बन्धी यह दृष्टिकोण उस समय तक असम्भव है जब तक यह न मान लिया जाये कि अनुभव के साथ-साथ विवेक का भी विकास होता है और यह सामाजिक ज्ञान कानून तथा रूढ़ियों में निहित होता है। इस बात का दार्शनिक महत्त्व बहुत अधिक है। यदि बुद्धि तथा ज्ञान विद्वानों के ही साध्य हैं, तो साधारण व्यक्ति का अनुभव व्यर्थ ही होता है, उसकी राय अविश्वसनीय होती है। इस दृष्टि से प्लेटो का तर्क लाजवाब है। इस बात को एक अन्य प्रकार से भी कहा जा सकता है। यदि प्लेटो के दर्शन में यह भूल है कि वह युगों के अनुभव की उपेक्षा करता है, तो यह अनुभव ज्ञान का वास्तविक विकास होना चाहिए। यह विकास रूढ़ि के रूप में व्यक्त होता है, विज्ञान के रूप में नहीं। यह विकास व्यवहार-बुद्धि के द्वारा होता है, विद्वत्ता के द्वारा नहीं। राजनीति में लोकमत को एक अपरिहार्य तत्त्व ही नहीं मानना चाहिए, बल्कि किसी सीमा तक उसे एक युक्तिसंगत मानक भी मानना चाहिए।

अरस्तू का कहना है कि यह तर्क किया जा सकता है कि कानून का निर्माण करने में लोगों का सामूहिक ज्ञान सब से बुद्धिमान् कानून-निर्माता के ज्ञान से बढ़ कर होता है। जनसभाओं की राजनैतिक योग्यता पर विचार करते समय वह इस तर्क का और विकास करता है। समूह में मनुष्य एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं। एक मनुष्य प्रश्न के एक भाग को समझता है, दूसरा मनुष्य प्रश्न के दूसरे भाग को समझता है। इस प्रकार वे सारे विषय को समझ जाते हैं। उसने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दिया है (जो पूरी तरह स्पष्ट नहीं है)। उसका कहना है कि कलाओं में जनता की रुचि अन्ततोगत्वा विश्वसनीय होती है जब कि विशेषज्ञ कभी-कभी भयंकर भूलें कर बैठते हैं। अरस्तू लिखित कानून से प्रथागत कानून को ज्यादा अच्छा समझता है। वह यहाँ तक मानने को तैयार है कि यदि केवल लिखित कानून का ही प्रश्न हो, तो कानून को समाप्त करने की प्लेटो की योजना को स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन, अरस्तू स्पष्ट रूप से इस बात को असम्भव मानता है कि सब से बुद्धिमान् शासक का ज्ञान प्रथागत कानून से बेहतर होता है। सुकरात और प्लेटो ने प्रकृति और रूढ़ि के बीच भारी अन्तर माना था। इसकी वजह से वे बुद्धिवाद अथवा तर्कवाद के भी कट्टर हिमायती बन गये थे। अरस्तू ने इस अन्तर को दूर कर दिया। एक श्रेष्ठ राज्य में राजनेता के विवेक को उस विवेक से अलग नहीं किया जा सकता जो उसके द्वारा शासित समाज के कानून और प्रथा में निहित होता है।

1. 1,2, 1253a, 31 ff. cf. *Laws*, 874c.

अरस्तू का राजनैतिक आदर्श प्लेटो के राजनैतिक आदर्श के समान ही है। प्लेटो की भाँति अरस्तू भी राज्य का एक नैतिक उद्देश्य स्वीकार करता है। अरस्तू ने अपनी यह राय कभी नहीं बदली, उस समय भी नहीं बदली जब उसने अपने राजनैतिक दर्शन की परिभाषा का विस्तार कर उसमें उन राजनेताओं के लिए जो आदर्श से दूर व्यावहारिक राज्यों का शासन करते हैं, एक दीपिका (manual) का समावेश किया। राज्य का वास्तविक उद्देश्य अपने नागरिकों का नैतिक कल्याण करना है। राज्य उन व्यक्तियों का एक समूह है जो सर्वश्रेष्ठ सम्भव जीवन को प्राप्त करने के लिए आपस में मिल कर रहते हैं। यही राज्य का 'विचार' या अर्थ है। परिभाषा के सम्बन्ध में अरस्तू का अन्तिम प्रयत्न इस विश्वास पर आकर ठहर जाता है कि अकेला राज्य ही आत्म निर्भर होता है। दूसरे शब्दों में अकेले राज्य में ही वे सारी परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकती हैं जो नागरिक का उच्चतम नैतिक विकास कर सकती हैं। प्लेटो की भाँति अरस्तू ने भी अपना आदर्श केवल नगर-राज्य तक ही सीमित रखा था। नगर-राज्य एक छोटा और घनिष्ठ समुदाय होता है। उसका जीवन नागरिकों का सामाजिक जीवन होता है। उसके अन्तर्गत परिवार, धर्म तथा मैत्रीपूर्ण व्यक्तिगत सम्बन्धों—सब का समावेश हो जाता है। अरस्तू की वास्तविक राज्यों की परीक्षा में भी ऐसी कोई चीज नहीं मालूम पड़ती जिससे यह ज्ञात हो कि फिलिप अथवा सिकन्दर के साथ उसके सम्बन्ध ने उसे मकदूनिया द्वारा यूनानी संसार अथवा पूर्व की विजय के राजनैतिक महत्त्व को समझने की शक्ति दी हो। अरस्तू की दृष्टि में नगर-राज्य की राजनैतिक असफलता ने उसके आदर्श रूप को भ्रष्ट नहीं किया।

इसलिए, राजनैतिक आदर्शों के सम्बन्ध में अरस्तू का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से उस आधार पर टिका हुआ है, जो उसने प्लेटो के सम्पर्क से प्राप्त कर लिया था। अरस्तू ने प्लेटो द्वारा स्टेट्समैन और लॉज में वर्णित सिद्धान्त के मुख्य तत्वों को ग्रहण कर उसमें ऐसे परिवर्तन किये हैं जिससे कि सिद्धान्त अधिक स्पष्ट और सरल प्रतीत होने लगे। यह बात प्लेटो के बाद के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कि कानून को राज्य का अनिवार्य घटक होना चाहिए विशेष रूप से सही है। चूँकि यह सही है, इसलिए, हम मानव प्रकृति की उन दशाओं पर भी ध्यान देना चाहिए जो इसे सही बनाती हैं। यह मान लेना चाहिए कि कानून में वास्तविक विवेक होता है और इस प्रकार का विवेक सामाजिक प्रथाओं में भी सन्निभूत हो जाता है। जो नैतिक आवश्यकताएँ कानून को आवश्यक बनाती हैं, राज्य के नैतिक आदर्शों के रूप में उनकी भी मान्यता होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि सच्चे राजनैतिक शासन में प्रजाजनों को कानून की अधीनता माननी चाहिए, उन में स्वतन्त्रता की भावना होनी चाहिए और शासन उनकी सहमति पर टिका होना चाहिए। ये द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के नहीं, प्रत्युत स्वयं आदर्श राज्य के तत्त्व हैं।

अरस्तू के आदर्श राज्य के बारे में ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है। अरस्तू ने आदर्श राज्य की रचना की घोषणा अवश्य की लेकिन उसने अपनी इस घोषणा को कभी कार्यान्वित नहीं किया। पाठक को यही लगता है कि अरस्तू की

आदर्श राज्य की रचना मे कोई दिलचस्पी नही थी। अरस्तू आदर्श राज्य के सम्बन्ध में नही, प्रत्युत् राज्य के आदर्शों के सम्बन्ध मे पुस्तक लिख देता है। अरस्तू ने पॉलिटिक्स की सातवीं और आठवीं पुस्तको मे आदर्श राज्य की रूप-रेखा प्रारम्भ की थी लेकिन वह उसे समाप्त नहीं कर सका। यह बात महत्त्वपूर्ण है, खास कर उस समय जब कि यह बात सही हो कि इन पुस्तको की रचना पहले हो गई हो। श्रेष्ठ जीवन के लिए भौतिक और मानसिक दोनो परिस्थितियो की आवश्यकता होती है। अरस्तू ने इन्ही परिस्थितियो पर अपना ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित किया है। इन परिस्थितियों की सूची लॉज से प्राप्त की गई है। इसमे जनसख्या, उसके परिमाण और चरित्र, राज्यक्षेत्र के आकार, प्रकृति और स्थिति आदि का विवेचन किया गया है। अरस्तू इस स्थान मे प्लेटो से सहमत नहीं है। उदाहरण के लिए वह ऐसे स्थान को ज्यादा पसद करता है जो समुद्रतट के पास हो। लेकिन, ये भेद विवरण से सम्बन्ध रखते है। तथापि, सम्बद्ध परिस्थितियो की सूचना वही है जिसका प्लेटो ने प्रस्ताव किया था। प्लेटो और अरस्तू दोनो ही श्रेष्ठ जीवन के लिए कुछ भौतिक परिस्थितियों को तो आवश्यक समझते ही थे, उनके विचार से अनिवार्य शिक्षा प्रणाली भी नागरिको को ढालने के लिए सबसे आवश्यक साधन है। जहाँ तक सामान्य शिक्षा सिद्धान्त का सम्बन्ध है, अरस्तू प्लेटो से कुछ मतभेद रखता है। वह अच्छी आदतों के निर्माण को ज्यादा महत्त्व देता है। उसने आदत को प्रकृति और विवेक के बीच रखा है। ये तीन चीजें ही आदमी को सद्गुणी बनाती हैं। कानून आश्रित राज्य में प्रथा को जो महत्त्व दिया गया है, उसको ध्यान मे रखते हुए यह परिवर्तन आवश्यक था। अरस्तू का सारा विवेचन उदार शिक्षा को लेकर है। उसकी निगाह मे उपयोगिता की प्लेटो की अपेक्षा कम कीमत है। प्लेटो ने रिपब्लिक मे उच्च शिक्षा की एक योजना प्रस्तुत की थी। अरस्तू ने उच्च शिक्षा की ऐसी कोई योजना प्रस्तुत नहीं की है। संभवत, इसका कारण यह रहा हो कि पॉलिटिक्स अधूरी रचना है। आदर्श राज्य के शासन पर भी लॉज की छाया है। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व होगा लेकिन उसका प्रयोग सामूहिक होगा। जमीन पर दास काश्त करते थे। शिल्पकारों को नागरिकता के क्षेत्र से बाहर रखा गया था। इसका कारण यह था कि जिन लोगों का समय शारीरिक श्रम मे ही खप जाता है, उनके लिए 'सद्गुण' असभव है।

आदर्श तथा वास्तविक का सघर्ष

(Conflict of the Ideal and the Actual)

अब तक हमने अरस्तू के राजनैतिक आदर्शों पर ही विचार किया है। हमने यह नहीं देखा है कि यदि इन आदर्शों का नगरो की वास्तविक सस्थाओ और प्रथाओं से सम्बन्ध स्थापित किया जायेगा, तो क्या कठिनाइयाँ और विषमताएँ उपस्थित होंगी। आदर्श प्लेटो के आदर्श की भाँति निगमनात्मक है और यह पूर्ववर्ती सिद्धात के दोषो के निगमनात्मक विश्लेषण के आधार पर तय्यार किया गया था। लेकिन, यह स्पष्ट है कि शासन मे आदर्शों तथा व्यवहार की विषमताओं के सम्बन्ध में प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू अधिक जागरूक है। प्लेटो ने यह कभी नही माना था कि यदि

आदर्श को सच्चा बनना है, तो उसे व्यवहार में अवश्य निहित होना चाहिए। उसने रुढि को भी विवेक के समान वैसा महत्त्व नही दिया जैसा कि अरस्तू ने दिया था। यदि तथ्य आदर्श सत्य के अनुकूल नहीं हैं, तो प्लेटो गणितज्ञ अथवा रहस्यवादी की भाँति यही कहता कि यह तथ्यो की ही बुराई है। अरस्तू व्यवहार-बुद्धि और गुणों के ज्ञान को पूरा महत्त्व देता है। अत, उसके विचार इतने क्रांतिकारी नहीं हैं। अरस्तू की विचारधारा का मूल तत्त्व यह है कि यदि आदर्श को प्रभावशाली शक्ति बनना है, तो उसे वास्तविक परिस्थितियो के अनुकूल होना चाहिए, उनके प्रतिकूल नहीं। रुढि में अन्तर्निहित विवेक एक ऐसा पथ प्रदर्शक सिद्धान्त होना चाहिए जो वास्तविक परिस्थितियो के लचीलेपन से लाभ उठावे और उन परिस्थितियों में धीरे-धीरे सुधार करे। सामाजिक और जीवशास्त्रीय समस्याओ पर विचार करने के उपरान्त प्रकृति के सम्बन्ध में अरस्तू का अन्तिम रूप से यही दृष्टिकोण बना था।

जिस समय अरस्तू ने आदर्श राज्य के सम्बन्ध में अपने प्रबन्ध की रचना की थी, उस समय भी वह इस समस्या का पूरी तरह समाधान नहीं कर सका था। पॉलिटिक्स की तीसरी पुस्तक की जटिलताओ से यह बात स्पष्ट है। इस पुस्तक में उसने सम्पूर्ण ग्रंथ की महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विवेचन किया है। पुस्तक के उपसहार से ज्ञात होता है कि वह आदर्श राज्य की भूमिका थी। सातवी और आठवीं पुस्तकों से ज्ञात होता है कि अरस्तू को यह योजना कार्यान्वित करना इतना असन्तोषजनक लगा कि उसने उसे कभी समाप्त नही किया। फलत, जब उसने पहले मसौदे का विस्तार किया, उसने आदर्श राज्य की रूपरेखा को विस्तृत नही बनाया प्रत्युत् चौथी से छठी पुस्तकें तक जोड दी। इन पुस्तकों में यथार्थवाद की भावना अधिक स्पष्ट है, लेकिन वे तीसरी पुस्तक के विचार-प्रवाह को ही आगे ले जाती हैं। हम सुगमता से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ज्यों-ज्यों अरस्तू की आयु बढ़ती गई, आदर्श राज्य की रचना में उसकी रुचि कम होती गई। तीसरी पुस्तक के अध्ययन से यह निष्कर्ष स्वयं निकल आता है। अरस्तू के विचार से इस पुस्तक की जटिलताओ का आंशिक कारण यह है कि आदर्श राज्य के विवेचन के लिए वर्तमान राज्यों का विस्तृत अध्ययन आवश्यक है। अपने मूल उद्देश्य की अपेक्षा व्यावहारिक अध्ययन में उसकी अधिक रुचि है। अरस्तू ने तीसरी पुस्तक के बाद चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकें जोड़ीं, इसके कारण काफी जोरदार थे लेकिन शायद ये वही कारण नहीं थे जिनकी वजह से उसने पहले तीसरी पुस्तक लिखी। योजना अपने मूल क्षेत्र से आगे बढ गई लेकिन वह उन रुचियों के कारण, आगे बढी जो प्रारम्भ से ही विद्यमान थीं।

अरस्तू की सामान्य कठिनाई को हम आसानी से समझ सकते हैं। उसने प्लेटो से जिस राजनैतिक आदर्श को प्राप्त किया था, उसके अनुसार नगर और नागरिक विशुद्ध रूप से सहसम्बद्ध शब्द थे। इससे तीन प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जिन्हें उसने तीसरी पुस्तक के आरम्भ में रखा है—राज्य क्या है? नागरिक कौन है? क्या श्रेष्ठ मनुष्य का सद्गुण वही है जो श्रेष्ठ नागरिक का होता है? राज्य सर्वश्रेष्ठ नैतिक जीवन के लिए मनुष्यों का संघ है। मनुष्यों का समुदाय सामूहिक रूप से किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहता है, यह इस बात पर निर्भर है कि वे किस प्रकार के मनुष्य हैं

और वे किस प्रकार के लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं। बदले में, राज्य का लक्ष्य यह निर्धारित करेगा कि उसके सदस्य कौन हो सकते हैं और उनका अलग-अलग जीवन किस प्रकार का होगा। इसी दृष्टिकोण से अरस्तू ने कहा है कि संविधान नागरिकों की एक व्यवस्था है अथवा एक प्रकार का जीवन है और शासन प्रणाली जीवन के उस प्रकार की अभिव्यक्ति है जिसका राज्य अभिवर्द्धन करना चाहता है। राज्य का नैतिक स्वरूप प्रबल ही नहीं है, वह उसके राजनैतिक और वैधिक स्वरूप को पूरी तरह आच्छादित कर लेता है। इस प्रकार अरस्तू का निष्कर्ष है कि राज्य उसी समय तक कायम रहता है जब तक उसकी शासन प्रणाली स्थिर रहती है। शासन-प्रणाली में परिवर्तन होने से संविधान में अथवा नागरिकों के जीवन-प्रकार में परिवर्तन हो जाता है। *कानून, संविधान, राज्य, शासन-प्रणाली इन सबका घनिष्ठ सम्बन्ध है।* नैतिक दृष्टि से ये सब उस उद्देश्य से सम्बन्ध रखते हैं जिसके कारण सब का निर्माण होता है।

जहाँ तक उद्देश्य आदर्श राज्य के निर्माण का है यह कोई अलभ्य आपत्ति नहीं है। इस प्रकार के राज्य में सर्वोच्च प्रकार का जीवन होगा। प्लेटो की कम-से-कम यह मान्यता थी कि 'सत्' के विचार को जानने से यह पता चल जाएगा कि वह क्या है। लेकिन, पहले तो सत्' के विचार को जान लेना फिर वास्तविक जीवनों और वास्तविक राज्यों की आलोचना तथा मूल्यांकन करने के लिए उसका एक मानक के रूप में प्रयोग करना अरस्तू को रुचिकर नहीं लगा। लेकिन, यदि कोई शुरू से ही वास्तविक राज्यों का निरीक्षण और वर्णन करे, तो कुछ भेदभाव रखने होंगे। अरस्तू के अनुसार, श्रेष्ठ मनुष्य और श्रेष्ठ नागरिक केवल आदर्श राज्य में ही समान हो सकते हैं। जब तक राज्य के उद्देश्य यथासम्भव सर्वश्रेष्ठ नहीं होंगे, उनको प्राप्त करने के लिए एक ऐसे जीवन की आवश्यकता होगी, जो यथासम्भव सर्वश्रेष्ठ से हलका होगा। वास्तविक राज्यों में विभिन्न प्रकार के नागरिक होते हैं और उनमें विभिन्न प्रकार के सद्गुण होते हैं। इसी प्रकार अरस्तू ने नागरिक उस व्यक्ति को बताया है जो सभा में भाग ले सकता है और जूरी के रूप में कार्य कर सकता है। यह परिभाषा एथेंस की प्रथा के ऊपर आधारित थी। यहाँ अरस्तू ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह परिभाषा केवल लोकतन्त्रात्मक राज्य में ही लागू होगी। इसी प्रकार, एक अन्य स्थल पर जब अरस्तू यह कहता है कि शासन-प्रणाली के साथ ही राज्य की सत्ता भी बदल जाती है, वहाँ वह यह चेतावनी भी देता चलता है कि इसके कारण नए राज्य को पूर्ववर्ती राज्य के ऋणों तथा दायित्वों को चुकाने से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। व्यवहार में कुछ भेदभाव करने आवश्यक हैं। संविधान नागरिकों के लिए एक जीवन शैली ही नहीं है, वह सार्वजनिक कार्यों को करने के लिए पदाधिकारियों का संगठन भी है। इसलिए, उसके राजनैतिक पक्षों को उसके नैतिक प्रयोजन के साथ एक दम से नहीं जोड़ा जा सकता। इन जटिलताओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ऐसे आदर्श राज्य की रचना करना जो सब के लिए मानक का काम दे सके कितना कठिन है।

जब अरस्तू शासन प्रणालियों के वर्गीकरण के प्रश्न पर विचार करता है, उस समय भी इसी प्रकार की कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। यहाँ वह शासन-

प्रणालियों के वही सब भेद स्वीकार कर लेता है जिनका प्लेटो ने स्टेट्समैन में उल्लेख किया था। अरस्तू संवैधानिक शासन और निरंकुश शासन में इस आधार पर भेद करता है कि संवैधानिक शासन तो सब की भलाई के लिए होता है लेकिन निरंकुश शासन केवल शासक वर्ग की भलाई के लिए होता है। इसके बाद वह तीन शुद्ध राज्यों और तीन विकृत राज्यों की गणना करता है। तीन शुद्ध (या संवैधानिक) राज्य हैं—राजतन्त्र (monarchy), कुलीनतन्त्र (aristocracy) और सौम्य प्रजातन्त्र (moderate democracy) या सुजनतन्त्र (polity)। तीन विकृत (या निरंकुश) राज्य हैं—अत्याचारी शासन (tyranny), धनिकतन्त्र (oligarchy) और अतिवादी लोकतन्त्र (extreme democracy) या भीड़ का शासन (mob-rule)। प्लेटो और अरस्तू के इस विवेचन में एक ही अन्तर है और वह महत्वहीन है। प्लेटो शुद्ध राज्यों को कानूननिष्ठ मानता है। अरस्तू शुद्ध राज्यों को सर्वसाधारण के हित के लिए शासित मानता है। संवैधानिक शासन के अपने विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए अरस्तू ने यह अवश्य सोचा होगा कि दोनों वर्णनों का एक ही अर्थ निकलता है। राज्यों के ये भेद बताने के बाद ही अरस्तू इस वर्गीकरण की कुछ कठिनाइयों को पेश करता है। वर्गीकरण का एक आधार यह रखा गया है कि शासन-सत्ता कितने व्यक्तियों के हाथों में है। यह आधार स्पष्ट नहीं है। हर कोई यही कहता है कि धनिकतन्त्र धनिकों का शासन होता है और लोकतन्त्र ग़रीबों का। यह सही है कि धनी ज्यादा हैं और ग़रीब कम हैं। लेकिन, इस सख्यागत आधार से राज्य के प्रकार विशेष का स्पष्टीकरण नहीं होता। समस्या का सार तत्व यह है कि सत्ता हथियाने के लिए दो विशिष्ट दावे हैं—एक दावा सम्पत्ति के अधिकारों पर आधारित है और दूसरा बहुसंख्यक लोगों की भलाई पर।

सत्ता प्राप्त करने के लिए विरोधी दावे
(Conflicting Claims to Power)

राज्यों के औपचारिक वर्गीकरण का यह रूप अरस्तू को आगे ले जाता है। वह एक प्रश्न खड़ा कर देता है—राज्य में सत्ता प्राप्त करने के वैधानिक दावे क्या हैं? यदि वे एक से अधिक हैं, तो उनमें किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है जिससे कि उन सब की रक्षा हो सके? इस प्रकार के प्रश्न प्लेटो के सामने भी आए थे।[1] ये प्रश्न आदर्श राज्य से सम्बन्ध नहीं रखते। प्लेटो की भी कुछ यही धारणा थी। ये प्रश्न वास्तविक राज्यों के सापेक्ष गुणों और एक ही राज्य में विभिन्न वर्गों के सापेक्ष दावों से सम्बन्ध रखते हैं। प्लेटो का मत था कि विवेक और सद्गुण का सत्ता प्राप्त करने के लिए विशेष दावा है। अरस्तू ने भी इसे अस्वीकार नहीं किया था। लेकिन, यह प्रश्न निरा बौद्धिक है। विवाद एक सामान्य नैतिक सिद्धान्त के बारे में नहीं है प्रत्युत् इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के बारे में है। अरस्तू का कहना है कि इस बात को सभी स्वीकार करेंगे कि राज्य को अधिकतम मात्रा में न्याय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए और न्याय का अभिप्राय

1. *Laws*, 690 a ff.

किसी-न-किसी प्रकार की समानता होता है। लेकिन, क्या समानता का अभिप्राय यह है, जैसा कि लोकतन्त्रवादी समझता है, कि प्रत्येक व्यक्ति को एक समझा जाए और एक से अधिक किसी को न समझा जाए ? या इसका अभिप्राय यह है, जैसा कि धनिकतन्त्रवादी समझता है कि जिसके पास सम्पत्ति और शिक्षा हो तथा जिसकी सामाजिक स्थिति अच्छी हो, उसे एक से अधिक माना जाए ? मान लिया कि शासन बुद्धिमान् और सद्गुणी व्यक्तियों द्वारा सचालित होना चाहिए लेकिन इस बुद्धि और इस सद्गुण को या कम-से-कम उसकी निकटता को कहाँ प्राप्त किया जाए ?

जब प्रश्न को इस रूप में रखा जाता है, अरस्तू यह तुरन्त समझ लेता है कि एक सापेक्ष प्रश्न के लिए एक सापेक्ष उत्तर की आवश्यकता है। यह आसानी से यह सिद्ध कर देता है कि धन का सत्ता के लिए निरपेक्ष दावा नहीं है क्योंकि राज्य न कोई वाणिज्य संस्था है और न कोई ठेका है। लाइकोफ्रोन सॉफिस्ट (Lycophron the Sophist) का यही मत था। यह भी प्रमाणित करना आसान है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक समझना भी केवल सुविधाजनक कल्पना है। दूसरी ओर, क्या यह कहा जा सकता है कि सम्पत्ति का कोई अधिकार नहीं है ? अरस्तू का विश्वास था कि इस दिशा में प्लेटो का प्रयत्न विनाशक सिद्ध हुआ था। उसका कहना है कि लुटेरा लोकतन्त्र शोषक धनिकतन्त्र से ज्यादा ईमानदार नहीं होता। सम्पत्ति का नैतिक महत्त्व होता है, इसलिए किसी भी यथार्थवादी व्यक्ति को उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। श्रेष्ठ वंश, श्रेष्ठ शिक्षा, श्रेष्ठ साहचर्य, अवकाश और कुछ सीमा तक धन भी राजनैतिक प्रभाव के लिए उपेक्षणीय दावे नहीं हैं। लोकतन्त्रवादी भी अपने दावे के सम्बन्ध में सापेक्ष रीति से कुछ कह सकता है। राजनैतिक परिणामों का मूल्यांकन करते समय प्रभावित व्यक्तियों की संख्या का भी नैतिक महत्त्व है। अरस्तू का यह भी विश्वास है कि अक्सर सम्मिलित लोकमत गलत नहीं होता है जब कि बुद्धिमान् कहे जाने वाले व्यक्ति गलत होते हैं। इस विवेचन का निष्कर्ष यह निकलता है कि सत्ता प्राप्त करने के सम्बन्ध में जितने दावे उपस्थित किए जा सकते हैं उन सब में ही कुछ गुण हैं, कुछ दोष हैं। यह समझ में नहीं आता कि इस विवेचन से आदर्श राज्य की रचना में क्या सहायता मिलती है। लेकिन, यह भी स्पष्ट है कि अरस्तू ने राजनैतिक नीतिशास्त्र की एक शाश्वत समस्या का असाधारण व्यवहार-बुद्धि से विवेचन किया है। वस्तुत, लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के विरोधी दावों की परीक्षा के उपरान्त अरस्तू आदर्श राज्य की रचना से विरत हो गया और उसने अपना ध्यान अपेक्षाकृत इस सुगम समस्या की ओर लगाया कि अधिकांश राज्य किस शासन-प्रणाली को प्राप्त कर सकते हैं।

यह निष्कर्ष कि किसी भी वर्ग का सत्ता प्राप्त करने के लिए निरपेक्ष दावा नहीं है, इस सिद्धान्त की भी पुष्टि कर देता है कि कानून को सर्वोच्च होना चाहिए क्योंकि उसकी सत्ता निर्वैयक्तिक होने के कारण मनुष्यों की अपेक्षा कम आवेग-प्रधान होती है। लेकिन, अरस्तू यह समझता है कि उसकी इस सुदृढ़ मान्यता को भी पूरी दृढ़ता से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। कानून का संविधान से निकट सम्बन्ध होता है। इसलिए, यदि राज्य बुरा होगा, तो कानून भी बुरा होगा। इसलिए,

कानून अच्छाई की केवल सापेक्ष गारण्टी है। वह बल अथवा वैयक्तिक शक्ति से बेहतर गारण्टी है। लेकिन, कभी-कभी वह भी खराब हो सकती है। एक श्रेष्ठ राज्य को कानून के अनुसार शासित होना चाहिए। लेकिन, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कानून के अनुसार शासित होने वाला राज्य श्रेष्ठ होगा ही।

स्पष्टतः, अरस्तू राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र को ही आदर्श राज्य समझता था। उसने कुलीनतन्त्र के बारे मे बहुत कम लिखा है। तथापि, अरस्तू ने राजतन्त्र के बारे में अपेक्षाकृत कुछ विस्तार से विचार किया है। अरस्तू का कथित आदर्श राज्य के सम्बन्ध में यही संक्षिप्त विवेचन है। उसने पुस्तक ४ मे लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के बारे में पुनः चर्चा की है। यदि यह मान लिया जाए कि कोई बुद्धिमान् और सद्गुणी राजा मिल सकता है, तो फिर राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन-प्रणाली होना चाहिए। प्लेटो का दार्शनिक-राजा इस आदर्श के सब से निकट आता है। लेकिन, वह मनुष्यों के बीच देवता होगा। अन्य व्यक्तियों को इस बात की अनुमति देना कि वे शरीरधारी देवता के लिए कानून बनाएँ, उपहासास्पद होगा। उसे पाँच या दस सालों के लिए बहिष्कृत करना भी उचित नहीं होगा। एकमात्र विकल्प यह है कि उसे शासन करने की अनुमति दी जाए। फिर भी अरस्तू को यह विश्वास नहीं है कि इस व्यक्ति को शासन करने का अकाट्य अधिकार है। अरस्तू ने एक ही राज्य के नागरिकों के बीच समानता के भाव को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उसे इस बात पर सन्देह है कि क्या पूर्ण सद्गुण भी एक अपवाद होगा। समानता की समस्या श्रेष्ठ और विकृत प्रत्येक प्रकार की शासन-प्रणाली से सम्बन्ध रखती है। फिर भी, अरस्तू यह स्वीकार करने के लिए तैयार है कि जिस समाज मे एक परिवार सद्गुण तथा राजनैतिक योग्यता की दृष्टि से अन्य परिवारों से आगे बढ़ा हुआ हो, वहाँ राजतन्त्र उपयुक्त होगा। सचाई यह है कि अरस्तू के लिए आदर्श राजतन्त्र केवल विचार की वस्तु है। यदि प्लेटो ने इसकी चर्चा न की होती, तो शायद अरस्तू इसका उल्लेख तक न करता। उसने कहा है कि कानून के अनुसार राजतन्त्र कोई संविधान नहीं है। यदि हम इस बात को सही मान लेते हैं तो यह तथ्य कि श्रेष्ठ शासन को कानून की महत्ता स्वीकार करनी चाहिए, राजतन्त्र को एक श्रेष्ठ शासन-प्रणाली के रूप में विचार के क्षेत्र से बाहर कर देना है। राजनीति के क्षेत्र मे आदर्श राजतन्त्र नहीं पाया जा सकता, वह घर के क्षेत्र मे ही पाया जा सकता है। अरस्तू ने राजतन्त्र पर केवल इस कारण विचार किया है कि उसने प्लेटो द्वारा प्रतिपादित शासन के भेदों को स्वीकार कर लिया था।

जब अरस्तू वर्तमान राजतन्त्रो की परीक्षा करता है, तो वह आदर्श राज्य के विचार को बिलकुल त्याग देता है। वह राजतन्त्र के दो कानूनी रूप जानता है—स्पार्टा का राजतन्त्र और अधिनायकतन्त्र। लेकिन इनमें से कोई संविधान नहीं है। वह राजतन्त्रात्मक संविधान के दो प्रकारों से परिचित है—प्राच्य राजतन्त्र (oriental monarchy) और वीर गाथा युग का राजतन्त्र (monarchy of the heroic age)। वीरगाथा युग का राजतन्त्र कल्पनामूलक है और वह अरस्तू के अनुभव से बाहर है। प्राच्य राजतन्त्र अत्याचारी शासन का ही एक प्रकार है लेकिन, वह बर्बर

फैशन के अनुसार ही विधिगत है। इसका कारण यह है कि एशियावासी स्वभाव से ही दास होते हैं और उन्हें निरंकुश शासन पर कोई आपत्ति नहीं होती। इसलिए, अरस्तू वास्तव में जिस राजतन्त्र से परिचित है, वह फारस का राजतन्त्र है। इस विवेचन का महत्त्व यह नहीं है कि उसने राजतन्त्र के बारे में क्या कहा है प्रत्युत् यह है कि उसने राजतन्त्र में विविध प्रकारों में भेद किया है। अरस्तू ने वास्तविक शासन-प्रणाली के व्यवहार का अध्ययन किया था। इस अध्ययन की तुलना में राज्यों के छः वर्गों में विभाजन का कोई अर्थ नहीं रहा था। अरस्तू ने इसी स्थल पर चौथी पुस्तक में यूनान की शासन-प्रणालियों, धनिकतन्त्र और लोकतन्त्र का विवेचन प्रारम्भ किया।

अरस्तू के राजनैतिक विचारों की पराकाष्ठा आदर्श राज्य की रचना में क्यों नहीं हुई, अब इसके कारण स्पष्ट हो गए हैं। आदर्श राज्य राजनैतिक दर्शन की एक ऐसी धारणा का प्रतीक था जिसे उसने उत्तराधिकार में प्लेटो से प्राप्त किया था। लेकिन, यह उसकी प्रतिभा के अनुकूल नहीं था। ज्यों ज्यों उसकी विचारधारा और अनुसन्धान स्वतन्त्र होते गए, वह वास्तविक संविधानों के विवरण और *विश्लेषण की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता गया। अरस्तू और उसके शिष्यों ने* १५८ संवैधानिक इतिहासों का संकलन किया था। इस संकलन ने अरस्तू की विचार धारा में परिवर्तन किया और उसे राजनैतिक दर्शन की एक बृहत्तर धारणा दी। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अब अरस्तू केवल वर्णन की ओर ही ध्यान देने लगा। नयी धारणा का मूल तत्त्व व्यावहारिक अनुसन्धान और राजनैतिक आदर्शों के कल्पनात्मक चिन्तन के बीच समन्वय स्थापित करना था। नैतिक आदर्श—कानून की प्रमुखता, नागरिकों की स्वतन्त्रता और समानता, संवैधानिक शासन, सभ्य जीवन में मनुष्य को पूर्ण बनाना, यही वे साध्य हैं, जिनको प्राप्त करने के लिए राज्य को सदैव प्रयास करना चाहिए। अरस्तू की खोज थी कि इन आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करना अत्यन्त कठिन है और इसके लिए वास्तविक शासन की परिस्थितियों में अनन्त सामञ्जस्य स्थापित करना पड़ता है। यह न हो कि आदर्श प्लेटो के ढंग पर स्वर्ग में ही स्थित रहें। उन्हें व्यावहारिक साधनों के द्वारा तथा उनके अन्तर्गत कार्यान्वित होने वाली शक्तियाँ होना चाहिएँ।

अरस्तू : राजनैतिक वास्तविकताएं
(Aristotle : Political Actualities)

पॉलिटिक्स की चौथी पुस्तक के प्रारम्भिक अवतरण यह प्रकट करते हैं कि राजनैतिक दर्शन के सम्बन्ध में अरस्तू की मान्यता में कितना महत्त्वपूर्ण विकास हो गया है। उसने कहा है कि प्रत्येक विज्ञान अथवा कला को सम्पूर्ण विषय का विवेचन करना चाहिए। व्यायाम-शिक्षक को इस योग्य तो होना ही चाहिए कि वह एक कुशल पहलवान को तैयार कर सके लेकिन उसे उन लोगों के शारीरिक व्यायाम का भी प्रबन्ध करना चाहिए जो पहलवान नहीं बन सकते, अवस्था जिन लोगों को विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता हो, उनके लिए भी उपयुक्त व्यायाम का चुनाव करना चाहिए। यह बात राजनीति-वैज्ञानिक के बारे में भी सही है। उसे यह ज्ञान होना चाहिए कि यदि कोई बाधाएँ न हों, तो कौन-सा शासन सर्वश्रेष्ठ होगा, दूसरे शब्दों में आदर्श राज्य की रचना किस प्रकार हो सकती है। लेकिन उसे यह भी ज्ञात होना चाहिए कि परिस्थितियों को देखते हुए कौन-सा शासन सर्वश्रेष्ठ हो सकता है तथा किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कौन-सा शासन सर्वश्रेष्ठ होगा चाहे वह शासन न तो आदर्श दृष्टि से ही सर्वश्रेष्ठ हो और न परिस्थितियों को देखते हुए ही सर्वश्रेष्ठ हो। अतः इस ज्ञान के आधार पर उसमें यह निर्णय करने की भी सामर्थ्य होनी चाहिए कि अधिकांश राज्यों के लिए कौन-सी शासन प्रणाली सबसे अधिक अनुकूल तथा सर्वसाधारण के लिए व्यावहारिक है। इस ज्ञान के आधार पर राजनीतिज्ञ वर्तमान सरकारों की त्रुटियों को दूर करने के उपाय सुझा सकता है। दूसरे शब्दों में, राजनीति की वास्तविक कला सरकारों के वर्तमान रूप पर विचार करती है और उपलब्ध साधनों द्वारा उनमें अधिक से अधिक सुधार करती है। वह नैतिक विचारों से अपना सम्बन्ध तक तोड़ सकती है और अत्याचारी शासक को यह बता सकती है कि वह अपने अत्याचारी शासन में किस प्रकार सफल हो। अरस्तू ने आगे चल कर यह किया भी है।

अरस्तू का यह विचार कदापि नहीं था कि राजनीति को नीतिशास्त्र से बिलकुल पृथक् कर दिया जाये। फिर भी, राजनीतिज्ञ की कला का यह नया दृष्टिकोण यह आवश्यक कर देता है कि हम उस पर एक पृथक् दृष्टि से—व्यक्तिगत नैतिकता से एक भिन्न दृष्टि से—विचार करें। अरस्तू ने पॉलिटिक्स की तीसरी पुस्तक के आरम्भ में श्रेष्ठ व्यक्ति के सद्गुण और नागरिक के सद्गुण के बारे में विचार किया था और उनकी भिन्नता को एक समस्या माना था। नाइकोमाकियन एथिक्स (Nicomachean Ethics) में उसने यह मान लिया है कि वे समान नहीं हैं। यहाँ वह विधान को अनुसंधान की एक ऐसी शाखा के रूप में रखता है जो उत्कृष्टतम नैतिक आदर्श के अनुशीलन से भिन्न हो। वह कहता है कि इस विषय को अब तक

अत्यधिक उपेक्षा हुई है। लेकिन, मानव प्रकृति के दर्शन को पूर्ण रूप देना आवश्यक है। यहाँ उसने अपने संविधानों के संकलन की भी चर्चा की है। इन संविधानों के आधार पर उसने उन कारणों का अध्ययन किया था जो राज्यों की रक्षा करते हैं अथवा उनका विनाश करते हैं तथा जो अच्छे अथवा बुरे शासन की स्थापना करते हैं। पॉलिटिक्स की चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकें इन्हीं विषयों पर विचार करती हैं।

जब इन बातों का अध्ययन हो जाएगा, तब हम अधिक व्यापक दृष्टि से देख सकेंगे कि कौन-सा संविधान सर्वश्रेष्ठ है, प्रत्येक संविधान की किस प्रकार व्यवस्था होनी चाहिए तथा यदि उसे सर्वश्रेष्ठ रहना है तो वह किन कानूनों और प्रथाओं का प्रयोग करे।[1]

संसार के ज्ञान विज्ञान को अरस्तू की एक अतुलनीय देन यह है कि उसने नीतिशास्त्र और राजनीति को, उनके अन्तःसम्बन्ध को कायम रखते हुए भी अलग अलग कर दिया। इससे उसके समग्र दर्शन की आश्चर्यजनक संगठन-क्षमता का ज्ञान होता है। अरस्तू में इस प्रकार की विश्लेषण प्रतिभा प्लेटो से कई गुना अधिक थी। अपनी इस विलक्षण प्रतिभा के बल पर ही उसने ज्ञान विज्ञान की मुख्य शाखाओं का निरूपण कर दिया था जो आज तक चला आ रहा है।

राजनैतिक और नैतिक संविधान

(The Political and Ethical Constitutions)

चौथी पुस्तक में यूनानी शासन के वास्तविक रूपों का विश्लेषण तीसरी पुस्तक में वर्णित संविधानों के छः भागों में विभाजन से सम्बन्ध रखता है। संभवतः, इसका इस पुस्तक के उत्तर भाग में दिए गए राजतन्त्र के वर्णन से अधिक गहरा सम्बन्ध है। अरस्तू अब राजतन्त्र (monarchy) और कुलीनतन्त्र (aristocracy) को आदर्श राज्यों के वर्ग का मानता है यद्यपि वह तीसरी पुस्तक में उनके विवेचन का समस्थानिक नहीं है। अब वह धनिकतन्त्र (oligarchy) और लोकतन्त्र (democracy) की सूक्ष्म परीक्षा करता है। वह कहता है कि सामान्यतः यह माना जाता है कि इनमें से प्रत्येक का एक ही रूप मिलता है परन्तु यह बात गलत है। अरस्तू के इस वक्तव्य से उसके इस कथन की याद हो आती है कि राजतन्त्र भी अनेक प्रकार का होता है।[2] व्यावहारिक राजनेता को वास्तविक शासन का संचालन करने के लिए यह ज्ञान होना चाहिए कि धनिकतन्त्र और लोकतन्त्र किस प्रकार का होता है और प्रत्येक प्रकार के संविधान के लिए किस प्रकार के कानून उपयुक्त होते हैं। इससे वह यह जान सकेगा कि अधिकांश राज्यों के लिए कौन सी शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ होगी है, किसी विशेष परिस्थिति में रहने वाले राज्य के लिए कौन सी शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ होती है किसी दी हुई शासन प्रणाली को व्यावहारिक बनाने के लिए किन किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है और विभिन्न राज्यों की स्थिरता अथवा अस्थिरता के क्या कारण होते हैं।

धनिकतन्त्र और लोकतन्त्र के संदर्भ में राज्यों के वर्गीकरण के प्रश्न का फिर

---

1 Nic Eth., 10, 9, 1181 b 20 (Ross' Trans)

2 3 14 1285a 1

से उठाने का आशय यह हो जाता है कि संविधान के सामान्य स्वरूप की फिर से परीक्षा की जाए। समग्रत तीसरी पुस्तक का दृष्टिकोण यह रहा था कि संविधान 'नागरिकों की एक व्यवस्था' है अथवा जीवन की एक शैली है जो राज्य के बाह्य संगठन को निर्धारित करती है। जब तक अरस्तू के दिमाग में राज्य का नैतिक पक्ष सबसे ऊपर रहा, यह सामान्य दृष्टिकोण था। किसी भी राज्य में निर्धारक तत्त्व वे नैतिक मूल्य होते हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए नागरिकों का संघ बनता है। नागरिकों के आपस में मिल-जुल कर साथ-साथ रहने का समान आधार उनका नैतिक प्रयोजन होता है। यही सब बातें 'राज्य के जीवन' का निर्माण करती हैं। अरस्तू ने संविधान की परिभाषा करते हुए यह भी कहा था कि वह शासन-पदों की व्यवस्था होता है। यह परिभाषा आधुनिक अर्थ में राज्य के राजनैतिक दृष्टिकोण के अधिक निकट है। चौथी पुस्तक में बाद की परिभाषा फिर से दुहराई गई है तथा संविधान को कानून से भिन्न बताया गया है। कानून उन नियमों का संग्रह है जिनका शासक अपने पदों के कर्तव्यों का निर्वहण करते समय अनुसरण करते हैं। अरस्तू ने राज्यों का एक तीसरा विश्लेषण और किया है। वह राज्य को सामाजिक वर्गों अथवा संयुक्त समुदायों में जो राज्य से छोटे होते हैं, बाँटता है। परिवार, अमीर, गरीब, या किसान, शिल्पी और व्यापारी जैसे व्यावसायिक समुदाय इसके उदाहरण हैं। अरस्तू ने राज्य की आर्थिक संरचना (economic structure) को संविधान का नाम नहीं दिया है लेकिन उसका प्रभाव यह निर्धारित करने में सबसे प्रमुख रहता है कि कौन से प्रकार का राजनैतिक संविधान (पदों की व्यवस्था) उपयुक्त अथवा व्यावहारिक है। अरस्तू ने आर्थिक वर्गों की पशु के अंगों से तुलना की है और कहा है कि जितने प्रकार से सामाजिक जीवन के संचालन के लिए आवश्यक वर्गों का सम्मिश्रण किया जा सकता है, उतने ही प्रकार के राज्य हो सकते हैं।

इसलिए, अरस्तू ने वास्तविक राज्यों के विवेचन में प्रारम्भ से ही अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का समावेश कर दिया है। उसने इनको स्पष्ट नहीं किया है लेकिन वे यह प्रकट कर देते हैं कि वास्तविक राजनैतिक शक्तियों के मूल्यांकन में अरस्तू ने कितनी उन्नति की है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि अरस्तू ने राजनीति को नीतिशास्त्र से पृथक् कर दिया था। यह इस बात से प्रकट होता है कि अरस्तू ने वास्तविक राज्य के सम्बन्ध में आदर्श राज्य से पृथक् विचार किया था। साथ ही उसने संविधान की इस परिभाषा पर भी जोर दिया है कि वह पदों की व्यवस्था है। अब अरस्तू कानून को संगठित शासन के राजनैतिक ढाँचे से भी पृथक् मानता है। इसमें भी अधिक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक ढाँचे का, सामाजिक और आर्थिक ढाँचे से, जो उसके मूल में रहता है, भेद है। आजकल राज्य और समाज को एक दूसरे से अलग माना जाता है। यूनान का कोई भी विचारक इस भेद को ठीक-ठीक नहीं समझ सका। यह भेद उस समय तक ठीक से समझ में नहीं आ सकता था जब तक कि राज्य को एक कानूनी संरचना के रूप में मान्यता न मिल गई। लेकिन, अरस्तू करीब-करीब इसके नजदीक ही पहुँच गया था। जिस समय अरस्तू ने यह

कहा कि राजनैतिक संविधान तो एक वस्तु है तथा उसका व्यवहार में प्रयोग दूसरी वस्तु, उस समय वह इस भेद को अत्यन्त यथार्थवादी रीति से व्यक्त कर रहा था। कोई शासन जो स्वरूप में लोकतन्त्रात्मक हो धनिकतन्त्रात्मक रीति से व्यवहार कर सकता है और धनिकतन्त्र लोकतन्त्रात्मक रीति से व्यवहार कर सकता है।[1] वह लोकतन्त्र जिसकी अधिकांश जनता कृषिजीवी हो, शहर के व्यापारी वर्ग के आने से काफी बदल जाएगा। यह दूसरी बात है कि उसका राजनैतिक संगठन, पद तथा नागरिकों के राजनैतिक अधिकार आदि न बदलें।

अरस्तू ने राज्य का दो रीतियों से निरूपण किया है। एक तो उसने राज्य को राजनैतिक साधन माना है। दूसरे, उसने राज्य को आर्थिक हितों की समानता के आधार पर वर्ग के रूप में देखा है। यदि अरस्तू इन दोनों को अलग-अलग रखता और दोनों की एक दूसरे के ऊपर क्रिया-प्रतिक्रिया का निरूपण न करता, तो अरस्तू के विश्लेषण को समझने में आसानी होती। जब अरस्तू लोकतन्त्र (democracy) और धनिकतन्त्र (oligarchy) के भेद का वर्णन करता है तो यह समझ में नहीं आता कि वह वर्गीकरण के किस सिद्धान्त पर चल रहा है। वह हरेक की दो दो सूचियाँ देता है और यह नहीं बताता कि इनमें क्या अन्तर है।[2] यह अवश्य प्रतीत होता है कि एक में तो वह राजनैतिक संविधान के बारे में सोच रहा है तथा दूसरी में आर्थिक संविधान के बारे में। अरस्तू अपने वर्गीकरण में एक और उलझन डाल देता है। वह कानूनरहित और कानूननिष्ठ सरकारों के बीच भी भेद मानता है। यह भेद धनिकतन्त्र (oligarchy) के ऊपर तो बिलकुल ही लागू नहीं होना चाहिए। इस भेद का आधार यही हो सकता है कि पदों या वर्गों की क्या व्यवस्था है। यद्यपि अरस्तू का यह विवेचन योजनाबद्ध नहीं है, लेकिन उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू को ग्रीक नगर राज्यों के आन्तरिक वातावरण का पूरा ज्ञान था। अरस्तू के पश्चात् किसी भी शासन प्रणाली के बारे में ऐसे आन्तरिक ज्ञान का परिचय बहुत कम राजवेत्ताओं ने दिया है। अरस्तू की विचार-धारा का सारांश यह है : मतदान की अर्हता (qualification) और पद की पात्रता जैसे कुछ राजनैतिक विनियम (political regulations) हुआ करते हैं। इन विनियमों में से कुछ लोकतन्त्र की विशेषताएँ होते हैं और कुछ धनिकतन्त्र की। इनके साथ ही कुछ आर्थिक विशेषताएँ भी होती हैं जैसे कि धन किस प्रकार बँटा हुआ है या राज्य में किस आर्थिक वर्ग का प्राधान्य है। आर्थिक विशेषताएँ भी यह प्रकट करती हैं कि राज्य लोकतन्त्र है या धनिकतन्त्र है तथा उसमें कौन सा राजनैतिक संविधान अधिक सफल हो सकता है। राजनैतिक और आर्थिक दोनों व्यवस्थाओं में मात्रा का अन्तर होता है—कोई अधिक धनिकवादी होता है तथा कोई कम धनिकवादी। लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के तत्वों के मेल से भी अनेक प्रकार के राज्यों की रचना

---

1 4,5, 1292b, 11ff

2 लोकतन्त्र के बारे 4, 4-4, 1291b, 30ff 4, 6 1292b, 22ff धनिकतन्त्र के बारे में, 4, 5 1292a, 39ff, 4, 6 1293a, 12ff

हो सकती है। उदाहरण के लिए सभा (assembly) का संगठन लोकतन्त्रात्मक हो सकता है और न्यायपालिका धन-सम्बन्धी योग्यताओं के आधार पर चुनी जा सकती है। कोई शासन किस प्रकार कार्य करता है, यह कुछ तो राजनैतिक तत्त्वों पर और कुछ इन दोनों तत्त्वों के मिश्रण पर निर्भर रहता है। अन्तत:, कुछ आर्थिक तत्त्व कानूनविहीन राज्य की स्थापना करते हैं और कुछ कानूननिष्ठ राज्य की। यही बात राजनैतिक तत्त्वों के बारे में भी सही है। इस प्रकार का निष्कर्ष किसी औपचारिक वर्गीकरण के रूप में नहीं रखा जा सकता। तथापि, इसमें यह विशेषता है कि यह सामाजिक और राजनैतिक जीवन की अनन्त जटिलता को स्वीकार करता है।

लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के सिद्धान्त

(The Democratic and Oligarchic Principles)

यहाँ धनिकतन्त्र और लोकतन्त्र के उपविभाजनों की विस्तार से चर्चा न कर के अरस्तू के वर्गीकरण का सामान्य रूप प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा। लोकतन्त्र के राजनैतिक संविधानों के अन्तर का आधार यह है कि उनमें क्या-क्या शामिल रहता है। यह मुख्यत इस बात पर निर्भर है कि वे सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता का प्रयोग करते हैं या नहीं। हो सकता है कि सभा में मत देने के लिए अथवा पद धारण करने के लिए कोई योग्यता न रखी जाए अथवा योग्यता नीची या ऊँची हो अथवा कुछ पदों के लिए तो योग्यता रखी जाए और कुछ के लिए नहीं। अर्हता आरोपित करने की बात तो दूर रही, लोकतन्त्र (एथन्स की भाँति) अपने नागरिकों को जूरी सेवा के लिए या नगर सभा में उपस्थित होने के लिए शुल्क दे सकता है। इस से गरीबों को नागरिक कार्यों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। लोकतन्त्रात्मक संविधानों में देश के आर्थिक संगठन के अनुसार भी अन्तर होता है। हो सकता है कि किसानों का लोकतन्त्र कोई अर्हता न रखे लेकिन इसमें सार्वजनिक कार्यों का नियमन सम्भ्रान्त वर्ग के हाथों में हो सकता है। इसका कारण यह है कि अधिकांश लोगों के पास समय कम होता है तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने की उनकी रुचि भी कम होती है। अरस्तू इसे सर्वश्रेष्ठ प्रकार का लोकतन्त्र मानता है। इसमें लोगों के पास शक्ति होती है। वे शासक वर्ग को इस सम्भावना से नियन्त्रण में भी रखते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर इस शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। जब तक वे ठीक से कार्य करते हैं, जनता उन्हें स्वतन्त्र कार्य करने की शक्ति दे देती है। इस के विपरीत, जब अधिकांश जनता शहरी हो तथा उसके पास न केवल शक्ति हो, प्रत्युत वह नगर-सभा की बैठकों में सार्वजनिक कार्यों में हाथ बँटाती हो, उस समय एक भिन्न प्रकार का लोकतन्त्र होता है। इससे भीड़ के नेताओं को छूट मिल जाती है। इस प्रकार का लोकतन्त्र कानून-रहित और अन्तत व्यस्त हो जाता है। व्यवहार में यह लोकतन्त्र अत्याचारी शासन से बहुत भिन्न नहीं होता। लोकतन्त्र की समस्या यह है कि जनता की शक्ति का श्रेष्ठ प्रशासन के साथ समन्वय स्थापित किया जाये। बड़ी सभा श्रेष्ठ प्रशासन नहीं कर सकती।

धनिकतन्त्र (oligarchy) के भी इसी प्रकार के अनेक भेद होते हैं। धनिक-

तन्त्र में नागरिकता तथा पद के लिए कोई न कोई योग्यता अथवा पात्रता के लिए कोई न कोई शर्त अवश्य रख दी जाती है। लेकिन, योग्यता ऊँची या नीची हो सकती है। धनिकतन्त्र का आधार जनता के बीच विस्तृत हो सकता है अथवा उस के अन्दर शक्ति एक छोटे से गुट के हाथों में केन्द्रित हो सकती है। यह गुट स्वयं को स्थायी शासी निकाय के रूप में बदल सकता है। इस गुट के लोग ही पद को ग्रहण करते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही परिवार सारी शक्ति को आनुवंशिक रूप से अपने हाथों में रख लेता है। इस प्रकार, धनिकतन्त्र में समस्या लोकतन्त्र से बिलकुल उल्टी होती है। यहाँ समस्या यह होती है कि एक छोटे से वर्ग के हाथों में सत्ता बनी रहे लेकिन यह वर्ग जनता के ऊपर ज्यादा अत्याचार न कर सके क्योंकि अत्याचार से असन्तोष पैदा होता है। अरस्तू के मत से अमीर अत्याचार की ओर जनसाधारण की अपेक्षा अधिक गुणना से झुक सकते हैं। यही कारण है कि धनिकतन्त्र पर लोकतन्त्र की अपेक्षा नियन्त्रण रखना ज्यादा मुश्किल है। इसके साथ ही, यदि धनिकतन्त्र जनता के बीच अधिक विस्तृत हो, तथा धन का जन-समाज में अधिक समतायुक्त वितरण हो, तो ऐसा धनिकतन्त्र कानूननिष्ठ शासन हो सकता है।

अरस्तू ने लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के इन भेदों की उस समय और व्याख्या की है जब उसने राजनैतिक संविधान या शासन के राजनैतिक अंगों का अधिक क्रम-बद्ध निरूपण किया है। उसने शासन की तीन शाखाएँ मानी हैं। शासन की पहली शाखा विचारात्मक है। वह युद्ध और शान्ति की घोषणा करने, संधि करने, शासकों के हिसाब-किताब की जाँच करने और विधान निर्माण करने में राज्य की सर्वोच्च कानूनी शक्ति का प्रयोग करती है। दूसरे, प्रत्येक शासन में विभिन्न मजिस्ट्रेट या प्रशासनिक पदाधिकारी भी होते हैं। तीसरे दर्जे पर न्यायपालिका आती है। शासन की प्रत्येक शाखा का संगठन लोकतन्त्रात्मक ढंग से या धनिकतन्त्रात्मक ढंग से अथवा कम या अधिक लोकतन्त्रात्मक या धनिकतन्त्रात्मक ढंग से हो सकता है। शासन का विचारात्मक अंग न्यूनाधिक रूप से अन्तर्ग्रहणशील (inclusive) हो सकता है और उसका कार्यक्षेत्र कम या अधिक व्यापक हो सकता है। मजिस्ट्रेटों के निर्वाचकों की संख्या कम या बड़ी हो सकती है या अधिक लोकतन्त्रात्मक सरकारों में वे लॉट के द्वारा निर्वाचित हो सकते हैं; वे दीर्घ या अल्प पदावधि के लिए निर्वाचित हो सकते हैं, वे विचारात्मक शाखा के प्रति कम या अधिक उत्तरदायी हो सकते हैं। इसी प्रकार, अदालतें लोकप्रिय हो सकती हैं, वे बड़े पैनल में से लॉट द्वारा चुनी जा सकती हैं। वे एथेंस की भाँति विचारात्मक शाखा के साथ मिल-जुल कर शक्तियों का प्रयोग कर सकती हैं। अथवा उनकी शक्तियाँ और उनके सदस्यों की संख्या सीमित हो सकती है तथा उनका चुनाव भी अधिक सीमित ढंग से हो सकता है। शासन की किसी भी शाखा का अधिक लोकतन्त्रात्मक या अधिक धनिकतन्त्रात्मक रीति से संगठन हो सकता है।

सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य

(The Best Practicable State)

लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के राजनैतिक तत्त्वों के विश्लेषण के उपरान्त अरस्तू इस प्रश्न पर विचार करता है कि ऐसी कौन-सी शासन प्रणाली है जो अधिकांश राज्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ है। वह किसी खास मामले की विशेष परिस्थितियों को छोड देता है। वह राज्यों में सामान्य सद्गुण अथवा राजनैतिक कौशल की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार का राज्य किसी भी प्रकार आदर्श नहीं है। वह सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक औसत राज्य है। यह राज्य लोकतन्त्र तथा धनिकतन्त्र की उन ज्यादतियों को छोड देता है जो अनुभव में भयानक सिद्ध हुई हैं। इस शासन प्रणाली को अरस्तू नियमतन्त्र (polity) अथवा सवैधानिक शासन (constitutional government) कहता है। अरस्तू ने तीसरी पुस्तक में इसका नाम सौम्य लोकतन्त्र (moderate democracy) रखा है। अरस्तू उन अवस्थाओं में जहाँ संविधान लोक शासन से इतना अलग हो कि उसे सौम्य लोकतन्त्र न कहा जा सके, अभिजात तन्त्र अथवा कुलीन तन्त्र कहने के प्रतिकूल नहीं है। (अरस्तू ने पहले इस शब्द का प्रयोग व्युत्पत्ति की दृष्टि से आदर्श राज्य के लिए किया था)।

कुछ भी हो। अरस्तू के सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य की प्रमुख विशेषता यह है कि यह एक मिश्रित संविधान है जिसमें धनिकतन्त्र तथा लोकतन्त्र के तत्त्वों का सर्वश्रेष्ठ रीति से समन्वय है। इसकी सामाजिक बुनियाद एक विशाल मध्यम वर्ग है। यह मध्यम वर्ग ऐसे लोगों से मिल कर बनता है जो न तो बहुत अमीर हैं और न बहुत गरीब हैं। यूरीपिडीज (Euripides) ने काफी साल पहले कहा था कि यही वर्ग 'राज्यों की रक्षा करते हैं।' ये न तो इतने गरीब होते हैं कि पतित हो जायें और न इतने अमीर होते हैं कि स्वार्थी बनें। जहाँ इस प्रकार के नागरिक होते हैं, वे राज्य को जनतन्त्रात्मक आधार प्रदान करते हैं। वे इतने उदासीन होते हैं कि शासकों को उत्तरदायी बना सकते हैं और इतना चुनाव अवश्य कर लेते हैं जिससे कि जनसाधारण के शासन की बुराइयों से बचा सके। इस सामाजिक बुनियाद पर एक ऐसे राजनैतिक संगठन का निर्माण किया जा सकता है जिसमें लोकतन्त्र तथा धनिकतन्त्र दोनों की संस्थाएँ हों। इस संगठन में साधारण सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता रखी जा सकती है। यह भी हो सकता है कि सम्पत्ति सम्बन्धी कोई योग्यता न रखी जाए और मजिस्ट्रेटों के चुनाव में लॉट का उपयोग न किया जावे। अरस्तू स्पार्टा को मिश्रित संविधान समझता था। सम्भवत, अरस्तू के ध्यान में वह शासन-प्रणाली भी रही थी जिसे ४११ में एथेंस में स्थापित करने का प्रयास किया गया था। वह वास्तव में एक कागजी संविधान ही था। इसका उद्देश्य पाँच हजार व्यक्तियों के एक नागरिक निकाय (citizen body) का निर्माण करना था। ये नागरिक अपने को भारी कवच से सज्जित कर सकते थे। अरस्तू ने अपने ग्रंथ 'एथेंस का संविधान' (Constitution of Athens) में कहा है कि एथेंस में जितनी भी शासन-प्रणालियाँ रही थीं, उनमें यह सर्वश्रेष्ठ थी। प्लेटो की भाँति अरस्तू भी कतिपय व्यावहारिक

कारणों से सम्पत्ति को सद्गुण का स्थानापन्न मान लेता है। प्लेटो और अरस्तू में से कोई भी विचारक यह सिद्धान्त नहीं मानता कि सम्पत्ति अच्छाई की निशानी है लेकिन दोनों ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राजनैतिक प्रयोजनों की दृष्टि से वह सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक समाधान है।

मध्यम वर्ग राज्य का सिद्धान्त सन्तुलन है। यह सन्तुलन उन दो तत्वों के बीच है जिनका प्रत्येक राजनैतिक पद्धति में थोड़ा बहुत महत्त्व होता है। ये तत्त्व शक्ति सम्बन्धी उन दावों के आधार पर उत्पन्न होते हैं जिनका अरस्तू ने तीसरी पुस्तक में विवेचन किया है। लेकिन, अब अरस्तू उन्हें सामाजिक शक्तियाँ अधिक मानता है। अरस्तू इन्हें परिमाण और गुण कहता है। पहले के अन्तर्गत सम्पत्ति, जन्म, स्थिति और शिक्षा आदि के राजनैतिक प्रभाव आते हैं। दूसरा संख्याओं का वजन है। यदि पहला तत्त्व प्रधान होता है तो शासन धनिकतन्त्र बन जाता है। यदि दूसरा तत्त्व प्रधान होता है, तो शासन लोकतन्त्र बन जाता है। स्थिरता उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि संविधान दोनों तत्त्वों को महत्त्व दे और दोनों के बीच सन्तुलन स्थापित करे। यह सन्तुलन मध्यम वर्ग में ही पाया जाता है। इसलिए, मध्यमवर्गीय राज्य सब से अधिक सुरक्षित और सबसे अधिक कानूननिष्ठ व्यावहारिक राज्य होता है। कुछ अवस्थाओं में अरस्तू सुरक्षा संख्या में निहित मानता है। इसका कारण यह है कि वह गम्भीर लोकमत के सामूहिक विवेक में विश्वास रखता है। उसके विचार से बड़ा निकाय आसानी से भ्रष्ट नहीं होता। लेकिन प्रशासन का कार्य ऊँची स्थिति के और अनुभवी व्यक्ति ज्यादा अच्छी तरह चला सकते हैं। जो राज्य इन दो तत्त्वों का समन्वय कर सकता है, वह शासन में स्थिरता और व्यवस्था की समस्याओं को हल कर सकता है। यूनान के इतिहास में यह प्रकट हो जाता है कि वहाँ के नगर राज्यों की आन्तरिक कठिनाइयों का यही कारण था। लेकिन, अरस्तू ने इसी प्रकार की एक अन्य कठिनाई के बारे में कुछ नहीं कहा है। यह कठिनाई उसके जीवन काल में ही उसके सामने आ जानी चाहिए थी। यह कठिनाई विदेशी मामलों की थी। नगर-राज्य बहुत छोटा था और उसके लिए मकदूनिया तथा ईरान जैसी शक्तियों के साथ व्यवहार करना बड़ा कठिन था।

अरस्तू ने पाँचवीं पुस्तक में क्रान्ति के कारणों तथा उसे रोकने के राजनैतिक कारणों पर विचार किया है। इस सम्बन्ध में हम विवरण की बातों को छोड़ सकते हैं। प्रत्येक पन्ने पर इस बात की छाप है कि अरस्तू की राजनैतिक दृष्टि कितनी पैनी थी और यूनानी शासन के बारे में उसकी कितनी गहरी जानकारी थी। इस सम्बन्ध में अरस्तू के सिद्धान्त की झलक मध्यमवर्गीय राज्य के विवेचन में मिल जाती है। धनिकतन्त्र और लोकतन्त्र दोनों ही अस्थिर शासन हैं और उनमें सन्तुलन नहीं पाया जाता। धनिकतन्त्र की प्रति धनिकतन्त्र का और लोकतन्त्र की अति लोकतन्त्र का नाश कर देती है। राजनेता के सामने व्यावहारिक समस्या राज्य का सुचारु संचालन है। उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि कोई भी शासन अति न करने लगे। कोई धनिकतन्त्र जितना ही अधिक धनिक-आत्मक होता है, उतना ही अधिक उसका शासन-सूत्र एक अत्याचारी गुट के हाथों में पहुँच जाता है। कोई लोकतन्त्र जितना

ही अधिक लोकतन्त्रात्मक बनता है, उतना ही अधिक उसका शासन-सूत्र भीड़ के हाथों में आ जाता है। ये दोनों ही अत्याचारी शासन (tyranny) का रूप धारण कर लेते हैं जो बहुत खराब बात है और जिसके कारण उनके सफल होने की सम्भावना बहुत कम है। अरस्तू अत्याचारी शासक को पूरी आजादी देता है। यह कुछ मेकियावेली (Machiavelli) की याद दिला देता है। परम्परागत हथकंडे यह हैं कि ताकतवर आदमियों को पदावनत और अपमानित किया जाए तथा प्रजाजनों को साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति से वश में रखा जाए। शासन करने का बेहतर तरीका यह है कि अत्याचारी की भाँति कम-से-कम शासन किया जावे, सार्वजनिक कल्याण में रुचि दिखाने का बहाना किया जाए और अत्याचारी शासन की बुराइयों का जनता में प्रदर्शन न किया जावे। अन्ततोगत्वा कोई भी शासन-प्रणाली उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसे राज्य के प्रमुख राजनैतिक और आर्थिक तत्त्वों का समर्थन प्राप्त न हो जाये। इस सम्बन्ध में मात्रा और गुण दोनों का ही ध्यान रखना चाहिए। यही कारण है कि मध्यमवर्ग का सहयोग प्राप्त करने की नीति सामान्यतः अच्छी रहती है। अति कैसी भी क्यों न हो, वह राज्यों का नाश कर देती है। मतलब ये, यदि कोई शासन पूरी तरह मध्यमवर्गीय न हो, तो उसे कम-से-कम मध्यमवर्गीय शासन की भाँति अवश्य होना चाहिए। हाँ, यदि कुछ विशेष परिस्थितियाँ हों, तो दूसरी बात है। इसके सम्बन्ध में प्रसंगानुसार निर्णय किया जा सकता है।

राजनेता की नई कला

(The New Art of the Statesman)

अरस्तू ने राजनीति-विज्ञान के बारे में एक नए दृष्टिकोण से विचार किया। उसने राजनीति विज्ञान को व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित किया। उसने राज्य के नैतिक उद्देश्य मात्र का ही अध्ययन नहीं किया, बल्कि वास्तविक सुविधाओं के राजनैतिक और सामाजिक तत्त्वों का, उनके मतभेदों का तथा संयोगों के परिणामों का भी अध्ययन किया। लेकिन, इसके कारण उसने उन मूल विचारों को नहीं त्यागा जो उसे प्लेटो से प्राप्त हुए थे। तथापि, उसने इन विचारों में कुछ संशोधन किया तथा उनमें पुनस्स्थापनत्व स्थापित किया। अरस्तू का उद्देश्य भी वही है जो प्लेटो का था। अरस्तू के विचार से भी राजनेतृत्व की कला इसी बात में निहित है कि श्रेष्ठ साधनों के द्वारा श्रेष्ठ साध्यों को प्राप्त किया जाए। सभ्य जीवन में एक तत्त्व के रूप में राज्य को अब भी अपने अर्थ की अनुभूति करनी है। इस अर्थ की खोज करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। राज्य को उचित राजनैतिक दिशा की ओर उन्मुख करने का कार्य जिससे कि वह अपने वास्तविक अर्थ को सार्थक कर सके, बुद्धि के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यह विज्ञान और कला का विषय है। यह कुटिल राजनीतिज्ञ की चतुरता, लोकसभा की अव्यवस्था, जननायक या सॉफिस्ट की चमत्कारपूर्ण वाग्मिता से जितना प्लेटो के लिए भिन्न है, उतना ही अरस्तू के लिए भी भिन्न है। अरस्तू ने आदर्श का परित्याग नहीं किया, उसने इस आदर्श पर आधारित एक

नवीन विज्ञान तथा एक नवीन कला का विस्तार किया। प्लेटो का विचार था कि यदि 'सत्' के तत्व को समझ लिया जाए, तो राजनीति का स्वतन्त्र बुद्धि और कल्पना के आधार पर विवेचन किया जा सकता है। तथापि प्लेटो की 'लॉज़' नामक रचना के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि अन्त में उसे अपने इस विचार में संशोधन कर राजनैतिक समस्याओं पर कुछ यथार्थ दृष्टि से भी विचार करना पड़ा था। जिस समय प्लेटो की राजनैतिक विचारधारा में यह संशोधन हो रहा था, उस समय अरस्तू के साथ उसके सहयोग को काफी वर्ष हो चुके थे। लेकिन, अरस्तू की स्वाभाविक प्रवृत्ति कुछ ऐसी थी कि उसके चिन्तन की दिशा प्लेटो के चिन्तन की दिशा से बिलकुल भिन्न ही हो गई थी।

स्वतन्त्र बौद्धिक निर्माण की वह पद्धति जो दर्शन के लिए उपयुक्त थी और जो गणित को समस्त ज्ञान का आदर्श समझती थी, अरस्तू के लिए शुरू से ही बन्द थी। यह इस बात से प्रमाणित हो जाता है कि अरस्तू आदर्श राज्य सम्बन्धी अपनी रचना पूरी नहीं कर सका था। लेकिन, प्लेटो के दर्शन के आदर्शों को एक विभिन्न पद्धति के लिए अपनाना काफी मुश्किल और धीमा कार्य था। अरस्तू को यही कार्य करना था। अरस्तू ने अपनी दार्शनिक पद्धति का जिस ढंग से निर्माण किया, उसमें इस रूपान्तरण की पूरी कहानी छिपी हुई है। इस दार्शनिक पद्धति में राजनीति का विज्ञान और कला केवल एक अध्याय, एक महत्वपूर्ण अध्याय था। राज्य के आदर्शों में सवैधानिक शासन का समावेश, कानून, सहमति, लोकमत की श्रेष्ठ राजनैतिक जीवन के अभिन्न तत्वों के रूप में मान्यता, एक महत्वपूर्ण पहला कदम था। लेकिन, अरस्तू को इससे आगे बढ़ना पड़ा था। अरस्तू को नगर-राज्य के राजनैतिक तत्वों का विश्लेषण करना पड़ा था। उसको यह भी अध्ययन करना पड़ा था कि अन्तर्भूत सामाजिक और आर्थिक शक्तियों का इन राजनैतिक तत्वों के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के अनुशीलन के लिए कल्पनात्मक पद्धति बिलकुल अनुपयुक्त थी। अरस्तू ने संविधानों का संग्रह इन समस्याओं के सम्बन्ध में आवश्यक सामग्री प्राप्त करने के लिए किया था। 'पॉलिटिक्स' की चौथी, पाँचवीं और छठी पुस्तकों का व्यावहारिक और यथार्थ सिद्धान्त इन समस्याओं का समाधान था। लेकिन, इस अधिक व्यावहारिक पद्धति ने कला की मूल संकल्पना को बदल दिया। अब राजनैतिक प्रक्रिया से बाहर का कोई उद्देश्य जिसके आदर्श पर राज्य की रचना की जाती, पर्याप्त नहीं था। अरस्तू की कला का राजनेता मानव कार्य-व्यापारों के बीच आसीन है। वह उन कार्य-व्यापारों को अपनी इच्छा के अनुसार संशोधित नहीं कर सकता। लेकिन, घटना-चक्र के प्रभाव से जो कुछ लाभ सम्भव हो, वह उसे ग्रहण कर सकता है। कुछ ऐसी अनिवार्य परिस्थितियाँ अवश्य हो सकती हैं जो अच्छी से अच्छी योजना को ध्वस्त कर दें, लेकिन फिर भी उपलब्ध साधनों द्वारा वांछित उद्देश्य को प्राप्त करने की एक कला होती है।

इसलिए, अरस्तू के लिए राजनीति विज्ञान यदि पूरी तरह विवरणात्मक नहीं, तो व्यावहारिक अवश्य हो गया। फलत, राजनीति की कला का एक उद्देश्य यह भी हो जाता है कि राजनैतिक जीवन का सुधार किया जाए, चाहे वह कितने

ही छोटे स्तर पर क्यों न हो। ऐसी अवस्था में उनके लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह प्रारम्भिक सिद्धान्तों पर फिर से ध्यान दे और उन समस्याओं पर फिर से विचार करे जिनसे उसने और प्लेटो ने दोनों ने प्रारम्भ किया था। उसने 'पॉलिटिक्स' ग्रंथ को पूरा करने के बाद उसकी प्रस्तावना में जो वर्तमान पुस्तक का पहला अध्याय है, यही किया है। इस पुस्तक के अधिकांश भाग में गृह शासन (household government) के सिद्धान्त की ही व्याख्या की है। इसके अन्तर्गत अर्थशास्त्र भी शामिल है। इसमें गृह शासन और राजनैतिक शासन के अन्तर को भी समझाने का प्रयास किया गया है। अरस्तू ने इस विषय पर पूरी तरह कार्य नहीं किया। जब अरस्तू ने गृहशासन की पुनर्परीक्षा की तो उसके सामने वे सारे सवाल फिर आ गये जिन पर वह दूसरी पुस्तक में विचार कर चुका था। ये सवाल साम्यवाद की आलोचना के ही एक अंग हैं। उसने इन प्रश्नों को दुबारा नहीं लिखा। दोनों विचारों में स्पष्ट अन्तर बताने के लिए यह आवश्यक था। पुस्तक के पहले भाग में उसने पुनः प्रकृति (nature) और रूढ़ि का प्रश्न उठाया। प्लेटो के दर्शन की भाँति उसके दर्शन के लिए भी यह आवश्यक था कि वह राज्य के अन्तर्भूत नैतिक महत्त्व को प्रकट करे और यह बताये कि राज्य केवल निरंकुश शक्ति के द्वारा ही मानव समाज के ऊपर आरोपित नहीं किया जाता।

इस समस्या को सुलझाने के लिए अरस्तू ने राज्य की एक क्रमबद्ध परिभाषा प्रस्तुत की। यह भी अपना राज्य सम्बन्धी विवेचन वहीं से प्रारम्भ करता है, जहाँ से प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' में किया था। उसकी प्रक्रिया यह है कि वह प्रजाति (genus) और अवच्छेदक (differentia) के द्वारा किसी परिभाषा पर पहुँचता है। उसने अपनी तर्कशास्त्र विषयक कृतियों में इसी सिद्धान्त का आश्रय ग्रहण किया है। उसका कथन है कि राज्य एक समाज है। समाज असम व्यक्तियों का संघ होता है। ये लोग अपने मत-भेदों के कारण पदार्थों और सेवाओं की अदल-बदल के द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। यह काफी हद तक प्लेटो के इस विश्वास से साम्य रखता है कि राज्य श्रम विभाजन (division of labour) के ऊपर आधारित है। लेकिन, अरस्तू का मत प्लेटो से भिन्न है। अरस्तू समाज के अनेक भेद मानता है। राज्य समाज के इन विविध भेदों में से एक है। अरस्तू का इस विश्लेषण में उद्देश्य यह है कि वह गृहशासन—पत्नी, बच्चों तथा दासों के शासन—, में राजनैतिक शासन की भिन्नता को स्थापित करना चाहता है। प्लेटो ने प्रजाति (genus) और जाति (species) को एक मान कर भ्रम उत्पन्न कर दिया था। इसलिए, समस्या यह निर्धारित करने की है कि राज्य किस प्रकार का समाज है। पहली पुस्तक का विवेचन प्लेटो का इतना अधिक विरोध करता है कि अरस्तू अपने निजी विचार को पूरी तरह प्रस्तुत नहीं कर सका है। एक अन्य स्थान पर उसने कहा है कि पदार्थों के क्रय-विक्रय के द्वारा अथवा अनुबन्ध सम्बन्धों द्वारा समाज की स्थापना हो सकती है, राज्य की नहीं।[1] इसका कारण यह है कि इस अवस्था

---

1 *Metaph.* 7 7, 1032a 12 ff, Cf *Laws* 709 b-c.

मे किसी समान शासक की आवश्यकता नही है। अरस्तू ने पहली पुस्तक म समाजो मे ऊपर जोर दिया है और वह अनिवाद की सीमा तक पहुँच गया है। यहा वह शासक और शासित के बीच अतर बताता है। लेकिन, इस प्रसग म अरस्तू का शासक सवैधानिक अथवा राजनैतिक शासक नही है। दास और स्वामी क सम्बन्ध के निरूपण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दास पूरी तरह अपने स्वामी की भलाई के लिए जीवित रहता है। राज्य की स्थिति बीच की है। एक ओर तो वह सविदा से भिन्न है तथा दूसरी ओर स्वामित्व से।

दुर्भाग्यवश अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' म दासता के अतिरिक्त अन्य घरेलू सम्बन्धो के भेदो के सम्बन्ध मे उसकी व्यवस्था से विचार नही किया है जिसकी आशा की जा सकती थी। उदाहरण के लिए अरस्तू ने यह नही बताया है कि गृहपति का अपनी पत्नी के साथ कैसा सम्बन्ध होता है। उसके विचार से गृहपति का अपनी पत्नी से सम्बन्ध स्वामी और सेवक के सम्बन्ध से तथा राजनैतिक शासक व उसकी प्रजा के सम्बन्ध से भिन्न होता है।

तथापि, अरस्तू परिवार से राज्य का अन्तर बताने के लिए एक सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करता है। वृद्धि या ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध म अरस्तू का यह कथन है, "जो व्यक्ति वस्तुओ पर उनकी वृद्धि या जन्म के आधार पर विचार करता है, वह उन्हे ठीक-ठीक समझ सकता है।"[1] इसके बाद अरस्तू ने यूनानी नगर के परम्परागत इतिहास की दुहाई दी है। प्लेटो ने 'लॉज' म द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य के निर्माण के प्रसग मे इस पद्धति का प्रयोग किया था। इतिहास से ज्ञात होता है कि परिवार समाज का आरम्भिक रूप है। उसका जन्म भोजन, आच्छादन और वश-परम्परा को कायम रखने की आवश्यकता के कारण होता है। जब तक मनुष्य इन आवश्यकताओ को पूरा करने स आगे नही बढ जाते, वे पितृप्रधान शासन के अन्तर्गत अलग-अलग परिवारों मे रहते हैं। ग्राम इससे उच्चतर अवस्था है। ग्राम म कई परिवार होते है। ग्राम से भी ऊँची अवस्था राज्य है। राज्य मे कई ग्राम होते हैं।

लेकिन, यह वृद्धि केवल आकार म ही नही होती। एक स्तर पर एक ऐसा समाज उत्पन्न होता है, जो आरम्भिक समुदायो स भिन्न होता है। अरस्तू इस समाज को 'आत्म निर्भर' समाज कहता है। आत्मनिर्भर समाज की कुछ विशेषता तो उसका प्रदेश, कुछ उसका आर्थिक आधार और कुछ उसकी राजनैतिक स्वतत्रता होती है। लेकिन, यह उसकी बुनियादी विशेषता नही होती। अरस्तू के विचार से राज्य के सम्बन्ध मे सब से जरूरी बात यह है कि वह वास्तविक रूप से सभ्य जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियो का निर्माण करता है। अरस्तू ने यह ठीक ही कहा है कि राज्य जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ के कारण उत्पन्न होता है और वह श्रेष्ठ जीवन के हितार्थ बना रहता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य न तो बहुत बडा हो और न बहुत छोटा हो। अरस्तू, यूनान के नगर-

---

1 1, 2, 1252b 24 f

राज्य के अतिरिक्त अन्य ऐसी किसी सामाजिक इकाई के बारे में विचार नहीं करता जो मानव जीवन की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। इसमें परिवार भी एक आवश्यक अंग है। प्लेटो परिवार को समाप्त करना चाहता था, यह उसकी भूल थी। परिवार एक अधिक विकसित और इसलिए अधिक पूर्ण समाज है। यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि राज्य जिन आवश्यकताओं को पूरा करता है, वे अधिक मानवोचित आवश्यकताएँ हैं। परिवार मनुष्य की उन्हीं आवश्यकताओं को पूरा करता है, जो पशु की आवश्यकताएँ होती हैं। फिर भी परिवार की क्षमता उन इकाइयों से विस्तृत होती है जिनमें पशु संगठित होते हैं। इसके लिए बोलने की और सत्-असत् के विवेक की जरूरत होती है। ये बातें केवल मनुष्यों में ही पायी जाती हैं। राज्य इन विवेकपूर्ण शक्तियों के उच्चतर विकास का भी अवसर प्रदान करता है। मनुष्य विशेष रूप से राजनैतिक प्राणी है। वही ऐसा प्राणी है जो नगरों में रहता है तथा विधियों का पालन करता है। वह विज्ञान, कला तथा धर्म का और सभ्यता के विविध अंगों का निर्माण करता है। इन चीजों से ज्ञात होता है कि मनुष्य का विकास कितनी पूर्णता को पहुँचा हुआ है। ये चीजें केवल सभ्य समाज में ही उपलब्ध हो सकती हैं। जो व्यक्ति इसके बिना रह सकता है, वह या तो जानवर होता है या देवता। दूसरे शब्दों में वह मानव जाति के सामान्य धरातल से या तो नीचे होता है या ऊँचे। यूनानियों की क्षमता में दृढ़ विश्वास होने के कारण अरस्तू का विचार था कि सभ्यता की कलाओं को केवल नगर-राज्य में ही प्राप्त किया जा सकता है।

प्रकृति का विकासात्मक रूप

(Nature as Development)

राज्य का वास्तविक अर्थ और महत्त्व यही है कि वह एडमण्ड बर्क (Edmund Burke) की शब्दावली में सभी विज्ञानों और सभी कलाओं में सहभागिता है। जो लोग विधि तथा आचारों को रूढ़ि का परिणाम बताते हैं, उनके विरुद्ध अरस्तू का यही तर्क है। अरस्तू ने इस युक्ति को जिस रूप में उपस्थित किया है, वह 'प्रकृति' शब्द की बड़ी सावधानी से पुनर्व्याख्या करता है। इस रूप में इसे विज्ञान की प्रत्येक शाखा के लिए प्रयोग किया जा सकता है और दर्शन का सामान्य सिद्धान्त बनाया जा सकता है। अनुसन्धान के मार्गदर्शन के लिए यह एक व्यावहारिक नियम है कि सबसे सरल और सबसे आदिम वस्तु कालक्रम की दृष्टि से सबसे पहले आती है। अधिक संगठ तथा अधिक पूर्ण चीज बाद में उसी समय आती है जब वृद्धि हो चुकती है। पहली अवस्था की अपेक्षा बाद की अवस्था से हम उस वस्तु की वास्तविक प्रकृति के बारे में ज्यादा अच्छी जानकारी मिल जाती है। अपने जीवशास्त्रीय अध्ययन में अरस्तू ने इस नियम को अत्यधिक उपयोगी पाया था। उदाहरण के लिए कोई बीज अपनी वास्तविक 'प्रकृति' को उसी समय प्रकट करता है जबकि वह पूरी तरह लग जाता है और उसका पौधा बढ़ने लगता है। भूमि, गर्मी और आर्द्रता जैसी भौतिक परिस्थितियाँ आवश्यक हैं और वे शाहबलूत या सरसों जैसे दो भिन्न

बीजों के लिए समान हो सकती हैं, लेकिन फिर भी उनके पौधे बिलकुल अलग-अलग होंगे। अरस्तू का निष्कर्ष है कि इस अन्तर का प्रमुख कारण बीज है। प्रत्येक पौधे की अपनी एक प्रकृति होती है। जब पौधा धीरे-धीरे बढ़ता है उसकी प्रकृति का जो पहले बीज के रूप में छिपी होती थी, उद्घाटन होता है। समाज के विकास के सम्बन्ध में भी यही व्याख्या लागू होती है। समाज का प्रारम्भिक रूप परिवार है। इस रूप में यह श्रम के विभाजन द्वारा अपनी आन्तरिक प्रकृति का परिचय देता है। अपने उच्चतर रूपों में यह मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ-साथ उन उच्चतर क्षमताओं के विकास का भी अवसर देता है जो अकेले परिवार के रहने पर सुप्त पड़ी रहती। अरस्तू का कहना है कि परिवार समय की दृष्टि से पहले है लेकिन, राज्य प्रकृति की दृष्टि से पहले है। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य अधिक विकसित है और वह उस बात को बहुत अच्छी तरह व्यक्त कर देता है जो समाज के अन्दर ही छिपी रहती है। इसीलिए, राज्य के अन्दर का जीवन यह प्रकट कर देता है कि मानव प्रकृति अन्दर से क्या है। यदि जीवन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक विनिमय के प्रकारों से आगे न बढ़ता तो सभ्यता की इतनी उन्नति आशातीत थी।

समाज के संदर्भ में अरस्तू का प्रकृति शब्द का प्रयोग दुहरा महत्त्व रखता है। यह सही है कि मनुष्य मूलतः सामाजिक होते हैं क्योंकि उन्हें एक दूसरे की आवश्यकता होती है। प्राथमिक समाज काम और क्षुधा जैसी समस्त जीवन में व्याप्त प्रवृत्तियों के ऊपर निर्भर रहता है। ये प्रवृत्तियाँ अपरिहार्य हैं लेकिन ये केवल मनुष्य जीवन तक ही सीमित नहीं हैं। इसका कारण यह है कि ये प्रवृत्तियाँ मनुष्यों में तथा निम्न पशुओं में समान रूप से पायी जाती हैं। कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जो केवल मनुष्य से ही सम्बन्ध रखती हैं। मानव प्रकृति इन शक्तियों के विकास में ही विशेष रूप में प्रकट होती है। चूँकि ये शक्तियाँ केवल राज्य में ही पनप सकती हैं, इसलिए राज्य 'प्राकृतिक' है। वह इस अर्थ में प्राकृतिक है कि सहजवृत्ति का विरोधी है। जिस प्रकार शाहबलूत के लिए बढ़ कर ओक हो जाना स्वाभाविक है, उसी प्रकार राज्य में मानव प्रकृति की सर्वोच्च शक्तियों का विकास भी प्राकृतिक है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विकास अवश्य ही हो। यदि अनुकूल भौतिक परिस्थितियाँ नहीं होंगी, तो विकास रुक जायेगा। अरस्तू का विचार है कि केवल नगर राज्य में ही उच्चतर विकास हो सकता है। वह यह भी मानता है कि सारी मनुष्य जाति में अकेले यूनानी ही ऐसे हैं जिनमें इस प्रकार के विकास की क्षमता है। जहाँ कहीं यह विकास होता है, उससे मनुष्य को यह मालूम पड़ जाता है कि मानव प्रकृति में क्या क्षमता है। यह प्रायः उसी प्रकार होता है जैसे कि अच्छी खाद और अच्छी सिंचाई पाया हुआ पेड़ यह बता देता है कि अच्छा बीज क्या चीज है। राज्य प्राकृतिक है क्योंकि उसमें पूर्ण रूप से सभ्य जीवन की समस्त संभावनाएं निहित हैं। लेकिन, चूंकि इसके विकास के लिए भौतिक तथा अन्य परिस्थितियों की आवश्यकता होती है अतः यह राजनेता को रचना के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करता है। इसका निर्माण करना समझदारी और इच्छा

से नहीं होता, लेकिन ये चीजें उनकी अन्तर्निहित सभावनाओं को प्रकट करने में मददगार होती हैं।

अरस्तू के लिए प्रकृति का इस प्रकार का सिद्धान्त, जो जीवशास्त्रीय तथा सामाजिक अध्ययन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, उसके द्वारा निरूपित राजनीति के विज्ञान और कला की मुक्तिसंगत बुनियादें बन जाता है। मूलत, प्रकृति सभी वस्तुओं को अपनी क्षमता के अनुसार विकास के अवसर प्रदान करती है। उन्हें विकास के लिए भौतिक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। ये परिस्थितियां विकास के वास्तविक उद्देश्यों को जन्म नहीं देतीं। वे अपनी अनुकूलता या प्रतिकूलता के अनुसार विकास में सहायता देती हैं या उसमें अवरोध उपस्थित करती हैं। वे घटनाएँ और परिवर्तन जो होते रहते हैं, विनियोजन की प्रक्रियाएं हैं। इनके द्वारा विकास की शक्तियां उपलब्ध भौतिक परिस्थितियों से लाभ उठाती हैं। अरस्तू ने इन तत्त्वों को रूप, पदार्थ और संचरण का नाम दिया है। ये तत्त्व ही प्रकृति के मुख्य घटक हैं। वे कलाओं के लिए क्षेत्र प्रदान करते हैं। कलाकार की योजनाओं का पता लगाना आसान नहीं होता। लेकिन, वे एक ऐसे रूप को सामने रख देती हैं जिसको आधार मान कर उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया जा सकता है। राजनीति में राजनेता जो करना चाहे, नहीं कर सकता। लेकिन, वह ऐसे रास्तों को अवश्य चुन सकता है जिनके द्वारा सामाजिक संस्थाओं तथा मानवीय जीवन को बेहतर तथा अधिक वांछनीय दिशा में विकसित किया जा सकता है। ऐसा करने के लिए उसे यह समझना आवश्यक होता है कि क्या संभव है और क्या वास्तविक है। उसे यह जानना चाहिए कि उसके सामने जो स्थिति है, उसमें विकास की क्या सम्भावनाएँ हैं और कौन-सी भौतिक परिस्थितियां इन आदर्शों को सर्वश्रेष्ठ रूप से व्यावहारिक रूप दे सकती हैं। उसके अनुसंधान के दो उद्देश्य होते हैं। वह अनुभवाश्रित होने के साथ ही विवरणात्मक भी होना चाहिए। वास्तविक की जानकारी के बिना वह यह नहीं बता सकता कि उसके पास क्या-क्या साधन हैं। राजनेता को अनुसंधान करते समय तथ्यों की आदर्शमूलक परिधियों का भी ध्यान रखना चाहिए। ऐसा न होने पर राजनेता यह नहीं जान सकेगा कि वह अपनी उपलब्ध सामग्री का किस रीति से उपयोग करे जिससे कि वह सर्वश्रेष्ठ परिणाम प्राप्त कर सके।

राजनीति के विज्ञान तथा कला के सम्बन्ध में अरस्तू की एक विशिष्ट प्रकार की संकल्पना थी। संकल्पना के कारण उसे पर्याप्त अनुसन्धान का अवसर मिला। इस अनुसन्धान में अरस्तू ने अपनी परिपक्व बौद्धिक प्रतिभा का पूरी तरह उपयोग किया। मौलिकता तथा कल्पनात्मक सर्जन की दृष्टि से उसका प्लेटो से कोई मुकाबला ही नहीं था। उसने अपने दर्शन के समस्त अन्तर्भूत सिद्धान्त प्लेटो से ही ग्रहण किए थे। परन्तु की बौद्धिक संगठन की प्रतिभा अपूर्व थी। वह विस्तृत तथा वैविध्यपूर्ण सामग्री के बीच एक तानाबाना अथवा एक प्रवृत्ति खोज निकालने में बेजोड़ था। इस क्षेत्र में वह प्लेटो से तो बढ़ कर था ही, बाद का कोई विचारक भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। जिस समय अरस्तू ने सामाजिक अध्ययन अथवा जीव विज्ञान के क्षेत्र में इस क्षमता का प्रयोग किया, वह अपने बौद्धिक विकास

से चरमोत्कर्ष पर था। इस समय वह प्लेटो के प्रभाव से काफी हद तक मुक्त हो चुका था तथा उसने अपनी मौलिक प्रतिभा के अनुसार अपने लिए एक स्वतन्त्र पथ का निर्धारण कर लिया था। अपने विकास की इस दिशा के कारण ही इसने प्लेटो के समान आदर्श राज्य का निर्माण नहीं किया। उसने अपनी शक्ति मुख्य रूप से संवैधानिक इतिहास के अध्ययन की ओर तथा निरीक्षण और इतिहास के ऊपर आधारित राज्यों के गठन और कार्यकरण से सम्बन्धित सामान्य निष्कर्षों की ओर लगाई। अरस्तू इस पद्धति का संस्थापक था। राजनीति के अध्ययन की अब तक जो भी पद्धतियाँ निकली हैं, उनमें यह पद्धति सर्वश्रेष्ठ है।

Selected Bibliography

The Political Thought of Plato and Aristotle By Ernest Barker London 1906 Chs V—XI.

The Politics of Aristotle Trans by Ernest Barker, Oxford 1946 Introduction

"Aristotle's Conception of the State' By A C. Bradley, in *Hellenica* edited by Abbott Second edition, London, 1898

Greek Thinkers By Theodor Gomperz Vol IV, Trans by G G. Berry, New York, 1912

Aristotle Fundamentals of the History of his Development By Werner Jaeger Trans by Richard Robinson, Oxford, 1934 Ch 10

"The Philosophy of Aristotle and the Hellenic Macedonian Policy" By Hans Kelsen In *Ethics* Vol XLVIII, (1937-38), p 1

The Politics of Aristotle By W L Newman, 4 Vols Oxford, 1887—1902 Vol Introduction, Vol II, Prefatory Essays

Aristotle By W D Ross Third edition, revised London, 1937 Ch VIII

Aristotle's Constitution of Athens Ed

The Politics of Aristotle Ed Franz Susemihl and R D Hicks, London, 1894 Introduction

Aristoteles und Athen By Ulrich Von Wilamowitz Moellendorff 2 Vols Berlin 1893

"Aristotle On Law" By Francis D Wormuth, in *Essays in Political Theory* Ed Milton R Konvitz and Arthur E Murphy Ithaca 1948

अध्याय ७

नगर-राज्य की सन्ध्या

(Twilight of the City State)

प्लेटो और अरस्तू के राजनैतिक दर्शन ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक क्षेत्र में तत्काल ही कोई प्रभाव नहीं डाला। अरस्तू की मृत्यु के बाद दो शताब्दियों तक उसका परिणाम नगण्य रहा। यदि इनको इस दृष्टि से परीक्षा की जाए, तो उन्हें महान् असफलता ही कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि प्लेटो और अरस्तू ने अपने समय की राजनैतिक संस्थाओं अर्थात् नगर-राज्यों के सिद्धान्तों तथा आदर्शों का पूरी तरह से विवेचन कर दिया था। इस सम्बन्ध में बाद के विचारक उनकी छाया तक को स्पर्श न कर सके। सचाई यह है कि इस क्षेत्र में आगे कोई उन्नति ही नहीं हुई। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं का महत्त्व केवल नगर राज्य के संदर्भ में ही है। प्लेटो की आधारभूत धारणा यह थी कि मानवीय सम्बन्धों का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया जा सकता है और उन्हें उचित दिशा में मोड़ा जा सकता है। कोई भी सामाजिक विज्ञान क्यों न हो, यह उसकी अनिवार्य शर्त है। अरस्तू के राजनैतिक दर्शन के सामान्य नैतिक सिद्धान्त यूरोप के राजनैतिक दर्शन में कभी लुप्त नहीं हुए हैं। अरस्तू का मूलभूत सिद्धान्त यह विश्वास है कि राज्य नैतिक रूप में समान स्वतन्त्र नागरिकों के बीच सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। राज्य विधि के अनुसार कार्य करता है। वह बल पर नहीं, प्रत्युत् विचार तथा सहमति पर आधारित है। इन महान् गुणों के कारण ही बाद के विचारक, अब तक, बारम्बार प्लेटो और अरस्तू की शरण लेते रहे हैं। यद्यपि प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं का काफी हिस्सा ऐसा है, जो स्थायी महत्त्व का है, तथापि यह सत्य है कि प्लेटो और अरस्तू का उद्देश्य अपने सिद्धान्तों को केवल नगर-राज्य के ऊपर ही लागू करना था। उन्होंने यह कभी विचार ही नहीं किया कि ये राजनैतिक आदर्श या अन्य कोई राजनैतिक आदर्श सभ्य समाज के अन्य किसी संगठन में भी कार्यान्वित हो सकते हैं। उस समय की स्थिति को देखते हुए उनकी धारणा सही भी लगती है। तत्कालीन समाज में राजनैतिक दर्शन का जन्म केवल यूनान के नगर-राज्यों में ही सम्भव था और कहीं नहीं।

प्लेटो और अरस्तू इस बात को समझते थे कि यूनान का कोई नगर उन आदर्शों को प्राप्त नहीं कर सकता था जो उनके विचार से यूनान के नगर-राज्य में अन्तर्निहित थे। यदि उनके मन में आलोचना और त्रुटि-निवारण की भावना उत्पन्न न होती, तो वे अपने समाज के विश्लेषण का तथा उसकी सफलताओं और विफलताओं के दिग्दर्शन का कभी प्रयास न करते। वे नगर-राज्य की आलोचना करते थे और कभी-कभी कठोर आलोचना करते थे। फिर भी उनका यह विश्वास था कि नगर-राज्य में श्रेष्ठ जीवन की परिस्थितियाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। वे नगर-राज्य

की अनेकों प्रथाओं को प्रसन्नतापूर्वक बदलते हैं, फिर भी उन्हें पूरा यकीन था कि नगर-राज्य मूलत अच्छा था और सभ्यता के उच्चतर रूपों की नैतिक रूप से ठोस बुनियाद था। इसलिए, उनकी आलोचना मूलत मैत्रीपूर्ण थी। वे यूनानियों के उस वर्ग के प्रवक्ता थे जिन्हें नगर-राज्य का जीवन पूर्ण तो नहीं लेकिन सन्तोषजनक अवश्य लगता था। यह एक अशुभ लक्षण है कि प्लेटो और अरस्तू का यह विचार तो कदापि नहीं था कि वे एक वर्ग के प्रवक्ता बन लेकिन उन्होंने नागरिकता को एक विशेषाधिकार-सा और इसलिए उन लोगों के लिए एक परमाधिकार (prerogative) सा बना दिया जिनके पास सम्पत्ति थी और राजनैतिक पद की सुख सुविधा का उपभोग करने के लिए अवकाश था। प्लेटो और अरस्तू नगर-राज्य के अन्तर्भूत नैतिक अर्थ के भीतर जितना गहरा प्रवेश करते हैं उतनी ही उनकी यह धारणा दृढ़ होती जाती है कि यह अर्थ केवल थोड़े से व्यक्तियों के लिए ही है समस्त कारीगरों, किसानों और मजूरों के लिए नहीं है, जैसा कि पेरीक्लीज के युग में होता था। जिन लोगों की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी, वे नगर राज्य को एक ऐसा समाज समझते थे जिसमें सुधार करने की आवश्यकता नहीं थी, प्रत्युत् जिसे अतिक्रान्त करने की आवश्यकता थी। इस दृष्टि से, जो लोग श्रेष्ठ जीवन की खोज में हैं वे नगर-राज्य की उपेक्षा कर सकते थे। विरोध की या उदासीनता की यह आलोचना अस्फुट स्वरों में प्लेटो और अरस्तू के युग में भी विद्यमान थी। लेकिन, ऐतिहासिक परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं कि आसन्न भविष्य इस आलोचना के साथ था प्लेटो और अरस्तू जैसे महान् व्यक्तियों के प्रबल सिद्धान्तों के साथ नहीं। यही कारण है कि अरस्तू की मृत्यु के बाद उसके और उसके गुरु के राजनैतिक दर्शन को कुछ काल के लिए ग्रहण लग गया था। जब नगर-राज्य इतिहास की वस्तु बन गया और यह प्रतिपादित करना सम्भव न रहा कि राजनैतिक आदर्श केवल नगर राज्य में ही प्राप्त किए जा सकते हैं, तब व्यक्ति रिपब्लिक, लॉज और पालिटिक्स में अमृत विचारों का पान करने के लिए स्वभावत उत्सुक हो उठे।

विरोध या उदासीनता के इन विविध दर्शनों ने जो सामान्य रूप ग्रहण किया तथा चौथी और तीसरी शताब्दियों में उन्होंने जो अधिक महत्त्व प्राप्त किया, उसे ठीक ठीक तभी समझा जा सकता है जब कि हम प्लेटो और अरस्तू की राजनैतिक रचनाओं के मूल में निहित नैतिक धारणा को अपने ध्यान में रखें। यह धारणा है कि श्रेष्ठ जीवन का अर्थ राज्य के जीवन में भाग लेना है। अपनी इसी धारणा के कारण प्लेटो ने इस प्रस्थापना से शुरू किया था कि राज्य मूलत श्रम विभाजन की एक व्यवस्था है जिसमें विभिन्न योग्यताओं के व्यक्ति पारस्परिक आदान प्रदान के द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लेते हैं। अरस्तू ने अपने समाज सम्बन्धी विश्लेषण में प्लेटो की इस धारणा को और अधिक पूर्ण रूप से प्रतिपादित किया। अपनी इसी धारणा के कारण प्लेटो और अरस्तू राजनैतिक जीवन में भाग लेना अधिकारों और कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे। उनके विचार से नागरिकता सामूहिक जीवन में योगदान मात्र था। इस दृष्टि से नागरिकता मानवीय गुणों का चरमोत्कर्ष है। यदि यह न भी हो, तो नगर तथा मानवीय प्रकृति के चरम

विश्वास करने पर ऐसा हो जाएगा। यह धारणा नगर-राज्य की राजनीति और नीति के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करती है। इस कारण, विरोध का मूल इस धारणा की अस्वीकृति है। यदि आप यह कहते हैं कि एक आदमी को अच्छी जिन्दगी बिताने के लिए नगर-राज्य के बाहर रहना चाहिए या उसके अन्दर रहते हुए भी उसे उसके जीवन से तटस्थ रहना चाहिए, तो आप मूल्यों का एक ऐसा पैमाना उपस्थित कर देते हैं जो प्लेटो और अरस्तू के पैमाने से न केवल भिन्न है, प्रत्युत उसका बिलकुल विरोधी है। यदि आप यह कहते हैं कि बुद्धिमान् आदमी को राजनीति से कम-से-कम सम्बन्ध रखना चाहिए, उसे सार्वजनिक पद के सम्मान या दायित्व कभी ग्रहण नहीं करने चाहिएँ और इन्हें चिन्ता का निरर्थक कारण समझना चाहिए, तो आप यह कह देते हैं कि प्लेटो और अरस्तू ने बुद्धिमत्ता तथा अच्छाई की एक बिलकुल गलत धारणा उपस्थित की है। इस प्रकार की भलाई एक व्यक्तिगत चीज है। इसे व्यक्ति खुद ही प्राप्त करता है और खुद ही खोता है। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसके लिए सामूहिक जीवन की जरूरत हो। प्लेटो और अरस्तू जिस आत्म-निर्भरता को राज्य का गुण समझते थे, वह आत्मनिर्भरता व्यक्ति का गुण बन जाती है। अच्छाई एक ऐसी चीज बन जाती है जो केवल नगर-राज्य की चहारदीवारी में ही सीमित नहीं रहती। वह वैयक्तिकता की और सन्यास की चीज बन जाती है। नगर-राज्य की अवस्था में इसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त का विकास हुआ।

सन्यास की नैतिकता के बारे में प्लेटो और अरस्तू का दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है। वे उसके अस्तित्व से परिचित हैं, परन्तु वे उस पर गम्भीरता से विचार नहीं करते। रिपब्लिक में उदासीन जीवन की भावना के प्रति एक प्रकार का उपालम्भ है।[1] वहाँ जीवन को केवल न्यूनतम आवश्यकताओं तक ही सीमित रखा गया है। अरस्तू के इस कथन में कि जो व्यक्ति राज्य के बिना रह सकता है वह या तो पशु है, या देवता, एक व्यंग्य छिपा हुआ है। वह नीतिवादी जो अपने सामने व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता का आदर्श रखता है अपने में ईश्वरत्व की कल्पना कर सकता है, लेकिन सम्भव है कि वह निरे पशु का जीवन व्यतीत करता हो। अपने आदर्श राज्य की रचना की भूमिका में अरस्तू राजनेता तथा दार्शनिक के जीवन के सापेक्ष गुणों पर विचार करने का प्रस्ताव करता है, लेकिन वह वास्तव में विचार नहीं करता। यहाँ वह केवल यह कहता है कि "प्रसन्नता सक्रियता है। जो व्यक्ति कोई कार्य नहीं कर सकता, वह अपनी जिन्दगी बसर नहीं कर सकता।"[2] वह वास्तव में सैनिक विचारकों के बारे में सोच रहा है। जैगर (Jaeger) का यह कहना गलत नहीं हो सकता है कि प्लेटो के वृद्ध छात्रों ने विचारात्मक जीवन के आदर्श को प्लेटो के इस कथन के सदर्भ में व्याख्या की हो कि दार्शनिक कन्दरा में वापिस लौटने के लिए बाध्य हो सकता है। एक पीढ़ी के पश्चात् एकेडेमी इसी दिशा में आगे बढ़ी थी। अरस्तू के लिए तर्क विशेष महत्त्व का न था। उसके राजनैतिक दर्शन का पूरा ताना-

1. 372 d
2. 7. 3, 1325b, 16 ff.

माना यह मानकर चलता है कि नागरिक की सक्रियता प्रमुख भलाई है। अरस्तू अन्य किसी दृष्टिकोण पर गम्भीरता से विचार नहीं करता।

नगर-राज्य की असफलता
(The Failure of the City State)

प्लेटो और अरस्तू यह तो मान कर चले ही थे कि केवल नगर-राज्य ही नैतिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होता है। उनके सुधारपरक राजनैतिक दर्शन में व्यावहारिक महत्व का एक अन्य तत्व पाया जाता है जो तत्कालीन परिस्थितियों में सही नहीं था। प्लेटो और अरस्तू ने जिस आदर्श राज्य की रचना की है, उसमें उन्होंने यह मान लिया था कि उसके शासक स्वतन्त्र अभिकर्ता हैं। वे बुद्धिमत्तापूर्ण नीतियों के अनुसरण द्वारा राज्य के आन्तरिक दोषों को दूर कर सकते हैं। प्लेटो और अरस्तू ने इस चीज को पूरी तरह स्वीकार कर लिया था। इसके कारण उनका राजनैतिक दृष्टिकोण कुछ संकुचित-सा हो गया था। फलतः, उनमें से किसी को यह ज्ञान नहीं था कि नगर-राज्य की आन्तरिक अव्यवस्था में भी वैदेशिक मामलों का काफी हाथ रहता है। यह सही है कि इस दोष के लिए अरस्तू ने प्लेटो की आलोचना की थी,[1] लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ बेहतर किया। यदि प्लेटो या अरस्तू की भाँति मकदूनिया से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता, तो वह सिकन्दर (Alexander) के जीवन के युगान्तकारी महत्व को अवश्य समझ लेता। यदि अरस्तू इस कल्पना पर विचार करता कि जिस प्रकार नगर-राज्य ने परिवार और ग्राम को अपने अन्दर आत्मसात् कर लिया है, उसी प्रकार यह जरूरी है कि नगर-राज्य भी किसी अधिकाधिक आत्मनिर्भर राजनैतिक इकाई में आत्मसात् हो जाना चाहिए, तो वह नहीं किन निष्कर्षों पर पहुँचता। इस सम्बन्ध में हम केवल मन के घोड़े ही दौड़ा सकते हैं। लेकिन, अरस्तू की राजनैतिक कल्पना यहाँ तक न पहुँच सकी। वस्तुतः, नगर-राज्य का भाग्य इस बात पर निर्भर नहीं था कि यह अपने आन्तरिक कार्यों का प्रबन्ध कहाँ बुद्धिमत्ता से करता था, प्रत्युत् इस बात पर निर्भर था कि शेष यूनान के साथ उसके कैसे सम्बन्ध थे और यूनान के पूर्व में एशिया के साथ तथा पश्चिम में कार्थेज और इटली के साथ कैसे सम्बन्ध थे। यह विचार कि नगर-राज्य विदेश सम्बन्धों की मर्यादाओं की ओर कोई ध्यान दिए बिना ही अपनी जीवन-पद्धति निर्धारित कर सकता था, गलत है। अनेक बुद्धिमान् यूनानियों की भाँति प्लेटो और अरस्तू भी यूनानी नगर-राज्यों के पारस्परिक विग्रह की निन्दा करते थे, लेकिन बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि अन्त तक नगर-राज्य स्वतन्त्र रहे इन दोषों का निवारण न हो सका।

प्रो० डब्ल्यू० एस० फर्ग्युसन (Prof W S Ferguson) ने यह ठीक ही कहा है कि "यूनान के नगर-राज्य के सामने अपने इतिहास के प्रारम्भ से ही एक ऐसा राजनैतिक संकट रहा था, जिसका वह पूरी तरह कभी समाधान नहीं कर सका।"[2]

---

1. *Politics*, 2,6, 1265a, 20
2. *Hellenistic Athens*, (1911) pp 1– ff

वह अपने आर्थिक सगठन अथवा राजनीति मे एकाकीपन की नीति को अपनाए बिना आत्मनिर्भरता प्राप्त नही कर सकता था। वह अपनी उसी सभ्यता और संस्कृति में जिस पर अरस्तू को इतना नाज था, जडता लाए बिना अपने को एकाकी नहीं रख सकता था। यदि उसने अपने को एकाकी नही रखा, राजनैतिक आवश्यकताओं के कारण उसे अन्य नगरो के साथ सश्रय (alliances) करने पडे। ये सश्रय अपने सदस्यों की स्वतन्त्रता को रुद्ध किए बिना सफल नही हो सकते थे। यह सकट आजकल के राजनीतिवेत्ता की समझ म आ सकता है। आजकल के राष्ट्रीय राज्यो की अर्थ-व्यवस्था भी उसी प्रकार से सीमित है जिस प्रकार से कि यूनान के नगर-राज्यो की थी। आजकल का राष्ट्र न तो अपने को अलग रख सकता है और न वह अधिक सक्षम राजनैतिक इकाई बनने के लिए अपनी स्वतन्त्रता को रुद्ध कर सकता है। आधुनिक राजदर्शन की एक प्रमुख प्रवृत्ति यह है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विनियमनों के अधीन काय करते हुए भी अपनी पूर्ण प्रभुसत्ता को कायम रख सकें। इस प्रश्न पर आजकल काफी वाद-विवाद चल रहा है। यूनान म जब कथित स्वतन्त्र नगरों ने मिल-जुल कर सश्रया का निर्माण किया, तब वहाँ भी इस प्रकार के वाद विवाद चले थे। चौथी शताब्दी के मध्याह्न तक यूनानी ससार मे इस प्रकार के सघ काफी चल निकले थे, लेकिन वे न सफल हो सके और न स्थायी। फिलिप ने ३३८ मे कारिन्थ (Corinth) म पानहेलेनिक लीग (Panhellenic League) की स्थापना की थी। यदि इस समय भी नगर-राज्य मिलजुल कर कार्य करते, तो वे मकदूनिया के ऊपर असर डालते और उसकी नीति को नियन्त्रित करते। लेकिन, नगर-राज्यो का दृष्टिकोण बडा सकीर्ण था और वे इस अवसर से कोई लाभ नही उठा सके। हम इस बात की केवल कल्पना ही कर सकते हैं कि यदि यूनानी नगर-राज्यो को अकेला ही छोड दिया जाता, तो क्या वे वास्तविक सघात्मक शासन की स्थापना भी कर पाते। लेकिन, स्थिति ही कुछ ऐसी थी कि नगर-राज्यो को अकेला नही छोडा गया।

यूनान की पृथगात्मकता और यूनान के राजनैतिक जीवन के लिए उसके खतरे प्लेटो के समय भी एक पुरानी कहानी बन गए थे। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ से ही वक्ता उन्हे यह बता रहे थे कि वे पूर्व और पश्चिम के बर्बरों का सामना करने के लिए एकता के सूत्र में ग्रथित हो जायें। लिओटिनी के गॉर्जियास (Gorgias of Leontini) ने ओलम्पियन खेलो के समय इस विषय पर एक भाषण दिया था। कुछ समय बाद ३८८ मे लीसियास (Lysias) ने भी इस विषय का विवेचन किया था। आइसोक्रेटीस (Isocrates) ने एकता की अपील की थी। उसने अपने जीवनकाल में ही मकदूनिया के फिलिप को देख लिया था। उसका विचार था कि फिलिप भाग्य-पुरुष है और वह सभवत यूनानी जगत् मे एकता स्थापित कर सकता है। एटलसाइडस की सन्धि (Treaty of Antalcidas, 387-386 B C) ने युद्ध तथा शान्ति के मामलो मे यूनानी जगत् के ऊपर फारस की प्रभुता कायम कर दी थी। फारस की यह प्रभुता उस समय तक कायम रही जब तक कि फिलिप ने कारिन्थ में लीग का निर्माण न कर लिया और सत्ता उसके हाथो मे न आ गई। दो शताब्दियों के पश्चात् यूनान का नियन्त्रण रोम की विस्तारशील शक्ति के हाथो मे आ गया।

इस प्रकार, विदेशी मामलों में नगर-राज्य प्रायः चौथी शताब्दी के प्रारम्भ से ही पूरी तरह असफल हो गया था। यदि अधिसंघ (Confederation) नगरों के आपसी सम्बन्धों को स्थिरता प्रदान करने में सफल हो जाता, तब भी उसे उन बड़ी राजनैतिक शक्तियों का सामना करना पड़ता जिन्होंने यूनान को पूर्व, उत्तर और पश्चिम की ओर से घेर रक्खा था। नगर-राज्य इस स्थिति का सामना करने में पूरी तरह असमर्थ थे।

नगर-राज्य पारस्परिक सम्बन्धों को केवल प्रशासन के क्षेत्र में ही स्थिरता प्रदान करने में सफल नहीं हुए। नगर-राज्यों में विदेशी और घरेलू मामले कभी अलग अलग नहीं हुए। नगर-राज्यों की आन्तरिक नीतियों में वर्ग सम्बन्धी स्वार्थ कभी तो अल्पप्रजातन्त्रात्मक होते थे और कभी प्रजातन्त्रात्मक। यह स्थिति प्रत्येक नगर-राज्य में थी। विभिन्न नगरों के वर्ग विशेष सम्बन्धी स्वार्थ आपस में एक रखते थे। स्थानीय शासन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पहलू को किसी न किसी रूप में उन राजनैतिक और आर्थिक शृंखलाओं के साथ सुलह रखनी ही पड़ती थी जो नगरों को एक दूसरे से बाँधती थी। यह जितना नगरों के आपसी सम्बन्धों के बारे में सही है, उतना ही मकदूनिया के हस्तक्षेप के बारे में भी सही है। सम्पत्तिशाली वर्ग की मकदूनिया के साथ सहानुभूति थी। यही कारण है कि फिलिप के उत्थप से वे प्रसन्न थे। लोकतन्त्रवादी वर्गों में स्थानीय देशभक्ति अधिक मात्रा में पायी जाती थी। यूनानी नगर-राज्यों की विदेश नीति और गृह नीति एक दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित रहती थी, यह बात उन सन्धियों से स्पष्ट हो जाती है जो सिकन्दर तथा कारिन्थ की लीग (League of Corinth) के बीच हुई थी। विदेशी मामलों के अतिरिक्त मकदूनिया और लीग को यह अधिकार भी दे दिया गया कि वे लीग के नगरों में ऋण के उन्मूलन, भूमि के पुनर्विभाजन, सम्पत्ति की जब्ती या दासों की मुक्ति के आन्दोलन को दबा दें। बाद की लीगों में भी इसी प्रकार के उपबन्ध थे।[1] धन और दरिद्रता का पुराना प्रश्न जिसे प्लेटो और अरस्तू अल्पतन्त्र (Oligarchy) और लोकतन्त्र (Democracy) के बीच मुख्य भेद मानते थे, समय के साथ साथ किसी प्रकार कम नहीं हुआ था। आगे चल कर यह अन्तर और तीव्र हो गया। विदेशी हस्तक्षेप ने इस अन्तर को कुछ कम कर दिया था, लेकिन यह अन्तर फिर भी बना रहा था।

सचाई यह है कि यूनानी जगत् की सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को नगर-राज्य नहीं सुलझा सकते थे। इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि इन समस्याओं का समाधान उन राज्यमण्डलों अथवा राजतन्त्रों ने किया था जो सिकन्दर की विजयों के पश्चात् स्थापित हुए थे। यह बात और भी साफ हो गई कि नगर-राज्य की राजनीति ने समस्याओं का ठीक-ठीक निरूपण तक नहीं किया था। मकदूनिया के उत्कर्ष ने दो तथ्यों को स्पष्ट कर दिया। ये तथ्य पहले भी थे लेकिन प्लेटो तथा अरस्तू ने इनकी उपेक्षा की थी। पहला तथ्य तो यह था कि नगर राज्य बहुत छोटा था और अत्यन्त विग्रहपूर्ण था। उसमें चाहे कितना सुधार किया जाता, वह उन

1. W. W. Tarn, Hellenistic Civilization (1927), p 104

समय के संसार मे टिक नही सकता था। दूसरा तथ्य यह था कि यूनानियो ने स्वयं को राजनैतिक दृष्टि से बर्बरो से श्रेष्ठ मान रखा था। लेकिन, यूनान के नगरो के एशिया के पीछे के प्रदेशो के साथ जो आर्थिक और सास्कृतिक सम्बन्ध रहे थे, उनको ध्यान मे रखते हुए यूनानियो को यह मान्यता सही नही थी। जब सिकन्दर ने अपने यूनानी और प्राच्य प्रजाजनो को मिलाने की नीति अपनायी—यह नीति अरस्तू ने उसे राजनीति के बारे मे जो शिक्षा दी थी, उसके बिलकुल विरुद्ध थी तब वह एक ऐसे तथ्य को स्वीकार कर रहा था, जिसे उसका शिक्षक नही समझ सका था और वह एक ऐसा कदम उठा रहा था जिसने उसके शिक्षक की राजनैतिक धारणाओ को निश्चित रूप से पुरानी चीज बना दिया।

वापसी या विरोध

(Withdrawal or Protest)

प्लेटो और अरस्तू की नगर-राज्य के सम्बन्ध मे बडी सकारात्मक धारणाएँ थी। यदि इनके विपरीत कुछ नकारात्मक धारणाओ का प्रचार हुआ, तो यह कोई सयोग की बात नही है। नगर-राज्य काफी समय तक बने रहे। अधिकाश नगर-राज्य पुरानी शासी सस्थाओ के द्वारा ही अपने स्थानीय मामलो का प्रबन्ध करते रहे। हैलेनिक युग मे वे कितने प्रकार के थे और उनका नियन्त्रण कैसा था, इस सम्बन्ध मे हम कोई सामान्य वक्तव्य नही दे सकते। न हम यही कह सकते हैं कि उनका शासन-प्रबन्ध बहुत अच्छा था। नगर-राज्यो के सम्बन्ध मे नकारात्मक दृष्टिकोण केवल इस जानकारी के आधार पर भी उत्पन्न हो सकता है कि नगर का शासन इतना महत्वपूर्ण नही था जितनी मनुष्यो ने कल्पना की थी। नगर का जीवन अधिकाश मे स्वयं अपनी शक्ति मे नही था और अधिकाश प्रतिभाशाली राजनेता इस क्षेत्र में कुछ करने की आशा नही रख सकते थे। इसका परिणाम एक प्रकार की पराजयवादी भावना, निराशा की मनोवृत्ति और सक्रिय राजनीति से उदासीनता की प्रवृत्ति है। इस अवस्था मे सामान्य रुचि एक ऐसे व्यक्तिगत जीवन का निर्माण करने की होती है जिसमे सार्वजनिक रुचियो अथवा कार्यों का कोई विशेष महत्त्व नही होता। लोग सार्वजनिक जीवन से उदासीन रहते हैं और उसे दुर्भाग्य तक समझते हैं। इपीक्यूरियन या स्केप्टिक विचारकों (Epicureans or Sceptics) ने इस दृष्टिकोण को सबसे अच्छी तरह व्यक्त कर दिया है। जब दुर्भाग्यशील और सम्पत्तिविहीन वर्ग मुखर बनने लगे, तब भी नगर-राज्य का और उसके मूल्यो का तिरस्कार प्रारम्भ हो गया। यहाँ सक्रिय राजनैतिक जीवन से निवृत्ति की भावना विरोध की भावना के साथ शुरू हुई। इसमे तत्कालीन समाज-व्यवस्था के धूमिल पक्ष पर विशेष जोर दिया जाता था। हो सकता है कि इस प्रकार का विरोध स्वयं अपने आदर्श को ठीक-ठीक व्यक्त न कर सके। वह कभी-कभी अशिष्टता और पागलपन की हद तक पहुँच सकता है। सिनिक सम्प्रदाय की विचारधारा मे इस प्रवृत्ति के खुल कर दर्शन होते हैं।

इन समस्त सम्प्रदायो मे एक खास बात यह है कि उन्होंने प्लेटो और अरस्तू द्वारा निर्धारित पथ का अनुसरण नहीं किया। उनका महत्त्व इस बात मे है कि

उन्होंने एक नई दिशा दी जिसको भविष्य ने महत्त्व दिया। यही कारण है कि मौलिकता की दृष्टि से वे नगर-राज्य के महान् सिद्धान्तवादियों से काफी पीछे रह जाते हैं। इनके किसी भी विचारक में न तो प्लेटो की सी पारदर्शी प्रतिभा थी और न अरस्तू का सा शासन और इतिहास विषयक अनुपम ज्ञान था। उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने एक बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण उपस्थित किया, उन्होंने आधारभूत सिद्धान्तों के बारे में प्रश्न उठाए और उन्होंने एक ऐसी परिस्थिति में इन सिद्धान्तों का पुनराख्यान करने का प्रयास किया जो प्लेटो और अरस्तू की स्थिति से बिलकुल भिन्न थी। यदि सहानुभूति की दृष्टि से विचार किया जाए तो नगर-राज्य की असफलता एक भयंकर नैतिक विनाश था कम-से-कम प्रभावित वर्गों के लिए। इस युग में जीवन के मूल्य नितान्त रूप से वैयक्तिक और निजी हो गए थे। इसमें राजनैतिक जीवन की गतिविधि अत्यन्त शिथिल पड़ गई थी। इस युग में पहली बार व्यक्तिगत प्रसन्नता के आदर्शों का निर्माण हुआ। नगर-राज्य के आदर्शों में प्रशिक्षित यूनानी के लिए ये आदर्श जीवन से पलायन मात्र थे। इस काल में धार्मिक और सामाजिक प्रयोजनों के लिए अनेक व्यक्तिगत संस्थाओं की स्थापना हुई। प्राचीन काल में इन संस्थाओं की कोई जरूरत महसूस नहीं की गई थी।[1] जब नगर का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हो गया, तब नागरिकों के बहुत से सामाजिक स्वार्थ अतृप्त रहने लगे। इन अतृप्त सामाजिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही विविध धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं की स्थापना हुई। प्लेटो और अरस्तू की नागरिकता के मूल्य अब भी पूर्ण रूप से तृप्तिदायक लगते थे या वे कम से-कम ऐसे हो सकते थे। उनके कुछ समसामयिकों को तथा उनके उत्तराधिकारियों को यह बात गलत लगती थी। दृष्टिकोण के इस अन्तर के कारण ही उनके राजनैतिक दर्शन के स्थान पर एक नये राजनैतिक दर्शन का उदय हुआ।

वे सभी सम्प्रदाय जो व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता की शिक्षा देते थे, स्वयं को सुकरात की शिक्षाओं पर आधारित बताते थे। इन दावों में सत्य का कितना अंश रहा होगा, इस सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। सुकरात की समसामयिक पीढ़ी के समाप्त होने के बाद, उसके कथित अनुयायियों को उसके बारे में इतनी ही जानकारी थी, जितनी कि आज हमें उसके बारे में है। सुकरात एक देवकथा (myth) बन गया। वह ऐसा आदर्श बुद्धिमान् और दार्शनिक बन गया जिसकी शिक्षाओं के अनुकरण का सभी सम्प्रदाय दम भरने लगे। एक दृष्टि से दार्शनिक समस्या प्रायः उसी रूप में फिर सामने आई जिस रूप में वह प्लेटो के समय से पहले थी। समस्या वही पुरानी थी कि प्रकृति का क्या अर्थ है और लोकाचारों के प्रथागत और रूढ़िगत नियमों से उसका क्या सम्बन्ध है। यह प्लेटो की पीढ़ी के लिए तो सही था ही, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ने अपना चिन्तन वहीं से प्रारम्भ किया था, जहाँ से सुकरात ने उसे छोड़ा था। लेकिन, यह बाद के समय में उन लोगों के लिए भी सही था जिन्होंने प्लेटो और अरस्तू के विस्तृत समाधानों को स्वीकार नहीं किया। ज्यों-ज्यों

1. Tarn, *op cit*, p 81.

यह अधिक सन्देहास्पद बनता गया कि नगर-राज्य सभ्य जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ प्रदान नहीं कर सकता, त्यों-त्यों इस पूर्व प्रश्न की पुनर्परीक्षा आवश्यक होती गई। मानव प्रकृति में ऐसे कौन से आवश्यक और स्थायी तत्त्व हैं जिनके आधार पर श्रेष्ठ जीवन के सिद्धान्त का निर्माण किया जा सकता है? जिन सिद्धान्तों को प्लेटो ने विचार करने के उपरान्त अस्वीकार कर दिया था, अब वे एक नया अर्थ ग्रहण कर लेते हैं।

इस सम्बन्ध में राजनैतिक दर्शन की दो धाराओं पर विचार करना था। एक धारा का विकास एपीक्यूरियन सम्प्रदाय ने किया था। एपीक्यूरियन और स्केप्टिक धाराओं में कोई विशेष अन्तर नहीं था। इन दोनों दर्शनों में नकारात्मक तत्त्व समान रूप से पाए जाते हैं। दूसरा राजनैतिक दर्शन सिनिक सम्प्रदाय का था। हम इन दोनों दर्शन-धाराओं पर क्रम से विचार करेंगे।

एपीक्यूरियन विचारक

(The Epicureans)

एपीक्यूरियनवाद (Epicureanism)[1] का उद्देश्य भी सामान्य रूप से वही था जो अरस्तू परवर्ती काल के सम्पूर्ण नैतिक दर्शन का था। यह दर्शन भी अपने अध्येताओं के मन में व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता का भाव उत्पन्न करना चाहता था। इस दर्शन के अनुसार श्रेष्ठ जीवन आनन्द के उपभोग में निहित है, लेकिन इस दर्शन ने आनन्द का जरा नकारात्मक अर्थ किया। वास्तविक प्रसन्नता, कष्ट, पीड़ा और चिन्ता के निवारण में है। एपीक्यूरस अपनी शिष्य-मण्डली में अत्यन्त सौहार्द और मैत्री का वातावरण बनाए रखता था। उसके सुखवाद के सिद्धान्त में भी इसी आमोद-प्रमोद के लक्षण मिलते हैं। इस दर्शन में सार्वजनिक जीवन की चिन्ताओं से निवृत्ति का भाव है। एपीक्यूरस के अनुसार, बुद्धिमान् व्यक्ति राजनीति के पचड़े में उस समय तक नहीं पड़ता जब तक कि परिस्थितियाँ उसे ऐसा करने के लिए बाध्य न कर दें। इस सम्प्रदाय का दार्शनिक आधार विशुद्ध भौतिकवाद (materialism) है। यह भौतिकवाद पूर्ववर्ती दर्शनों से ग्रहण किया गया था। इसकी लोकप्रियता का आधार इसके द्वारा व्यक्ति को दिए गए सुख सम्बन्धी आश्वासन थे। एपीक्यूरस समझता था कि व्यक्ति धर्म, दैवी प्रतिशोध, देवताओं और प्रेतात्माओं को अजब-अजब तरकीबों का शिकार रहता है। ये चीजें उसके लिए खतरनाक तथा चिन्ताजनक होती हैं। एपीक्यूरस की शिक्षा है कि व्यक्ति को इन चिन्ताओं से दूर रहना चाहिए। देवताओं को मनुष्यों की कोई परवाह नहीं है। वे न उनकी भलाई करते हैं और न बुराई। एपीक्यूरस की शिक्षा का यह सब से महत्त्वपूर्ण अंश था। यह सम्प्रदाय भविष्यज्ञान अथवा ज्योतिष जैसे अन्धविश्वासों का घोर विरोधी था। वह उन्हें वास्तव में बुराइयाँ मानता था। इस दिशा में वह स्टोइकवाद (stoicism) के बिलकुल विपरीत था।

---

1. इस सम्प्रदाय की स्थापना एपीक्यूरस ने एथेंस में ३०६ में की थी। यह सम्प्रदाय शताब्दियों तक एथेंस के चार बड़े सम्प्रदायों में से एक रहा था। इसका अरिस्टिप्पस के माध्यम से सुकरात से सम्बन्ध था।

स्टोइक विचारक जनता के अन्धविश्वासों को जो बिलकुल निराधार होते थे, सही मानता था।

जहाँ तक संसार का सम्बन्ध है प्रकृति का अभिप्राय भौतिक पदार्थ अथवा अणु हैं जिनसे अन्य सारी चीज़ें बनती हैं। जहाँ तक मनुष्यों का सम्बन्ध है प्रकृति का अर्थ स्वार्थ, प्रत्येक व्यक्ति की अधिकतम सुख प्राप्ति की इच्छा है। मानव जाति के अन्य समस्त नियम रूढ़ियों से सम्बन्ध रखते हैं और इसलिए वे बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए व्यर्थ हैं। रूढ़ियों का बुद्धिमान् व्यक्तियों के लिए उसी समय तक महत्त्व है जब तक कि वे उसे सुख प्रदान करती हों। सब से बड़ा नैतिक गुण केवल सुख है। इससे बड़ा अन्य कोई नैतिक गुण अथवा अन्य किसी प्रकार का गुण नहीं है।

कभी कोई निरपेक्ष न्याय नहीं रहा। विभिन्न देशों में पारस्परिक व्यवहार में केवल एक रूढ़ि ही स्थापित हो गई है जिसके अनुसार मनुष्यों को एक-दूसरे को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए।[1]

अन्तर्भूत मूल्यों के खिलाफ तर्क यह है कि नैतिक नियम और प्रथाएँ जो भिन्न कालों और स्थानों में प्रचलित रही हैं अनेक प्रकार की होती हैं। इस तर्क का कुछ सॉफिस्टों ने उपयोग किया था। प्लेटो रिपब्लिक में न्याय के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस तर्क पर विचार किया था और इसका खण्डन किया था। बाद में स्केप्टिक कार्नियाडीज (Sceptic Carneades) ने स्टोइकों के खिलाफ इस तर्क का विस्तार से व्याख्यान किया था।[2] इस तर्क की मुख्य बात यह है कि हित एक ऐसी भावना है जिसका व्यक्तिगत रीति से उपभोग किया जा सकता है और सामाजिक व्यवस्थाओं का औचित्य यही है कि वे अधिकतम व्यक्तिगत हित को प्राप्त करने में सहायता देती हैं।

तब, राज्यों की स्थापना सिर्फ इसलिए होती है कि वे दूसरे व्यक्तियों के अतिक्रमणों के खिलाफ सुरक्षा प्रदान करें। सभी मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होते हैं और वे केवल अपनी भलाई करने की कोशिश करते हैं। लेकिन, इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के स्वार्थ पर दूसरे व्यक्ति के स्वार्थपूर्ण कृत्य के कारण चोट पड़ती है। फलतः, व्यक्ति एक-दूसरे के साथ मूक समझौता कर लेते हैं कि वे न तो किसी को कष्ट देंगे और न कष्ट सहेंगे। सर्वश्रेष्ठ जीवन तो यह है कि अन्याय किया जाए लेकिन अन्याय सहन न करना पड़े। निकृष्टतम जीवन यह है जिसमें अन्याय सहन तो किया जाए, लेकिन अन्याय करने की ताकत न हो। लेकिन पहली बात असम्भव है और दूसरी असह्य है। इसलिए लोग यह कामचलाऊ समझौता कर लेते हैं कि वे एक-दूसरे के अधिकारों की परस्पर रक्षा करेंगे। इस प्रकार ही एक प्रसंविदा के रूप में राज्य और विधि का जन्म होता है जो मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार को सुगम कर देता है। यदि इस प्रकार की कोई प्रसंविदा न हो, तो न्याय नाम की कोई

1. Golden Maxims, 33, See R. D. Hicks, *Stoic and Epicurean* (1910), pp. 177 ff.

2. सिसरो (Cicero) ने कार्नियाडीज के तर्क की समीक्षा की है। देखिए *Republic*, Book III, 5-20।

चीज भी न रहे। विधि और शासन पारस्परिक सुरक्षा के लिए हैं। वे कारगर इसीलिए हैं क्योंकि विधि के दण्ड अन्याय को अलाभदायक बना देते हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति न्यायपूर्ण कार्य इसलिए करते हैं क्योंकि अन्याय के कारण आदमी पकड़ा जा सकता है और उसे दण्ड मिल सकता है जो किसी भी प्रकार उचित नहीं है। नैतिकता इष्टानुकूलता की समानार्थक है।

इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि आदमी जिस चीज को उचित और न्यायपूर्ण समझता है, वह देश, काल और पात्र के अनुसार अलग-अलग होती है।

"परम्परागत विधि के अन्तर्गत मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार के आधार पर उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओं के लिए जो वस्तु इष्टकर मालूम होता है, वह स्वभावत न्यायपूर्ण है। यदि कोई कानून मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार के अनुकूल नहीं पड़ता, तो वह न्यायपूर्ण नहीं होता। यदि कानून द्वारा स्थापित अनुकूलता परिवर्तनशील हो और वह केवल कुछ समय के लिए ही न्याय के विचार के अनुरूप हो तब भी वह न्याय दृष्टि से उस समय तक जब तक कि हम खाली शब्दों के पीछे नहीं जाते प्रत्युत व्यापक दृष्टि से तथ्यों पर विचार करते हैं, अवश्य ही न्यायपूर्ण है।"[1]

इसमें कोई सदेह नही कि न्याय सबके लिए एक जैसा है। इसका कारण यह है कि मानवप्रकृति सब जगह एक जैसी है। तथापि, व्यवहार में समयानुकूलता का सिद्धान्त मनुष्य की जीवन-यापन प्रणाली के अनुसार बदलता रहता है। इसलिए, जो चीज कुछ लोगो के लिए गलत है, हो सकता है कि वह दूसरे लोगो के लिए सही हो। हो सकता है कि कोई कानून शुरू-शुरू मे लोगो को आराम पहुँचाता हो, इसलिए न्यायपूर्ण रहा हो। लेकिन, बाद मे स्थिति बदलने पर वही कानून अन्यायपूर्ण हो सकता है। कुछ भी हो, कानून और राजनैतिक सस्थाओ की एक मात्र कसौटी उनकी समयानुकूलता है। ये चीजें जहाँ तक सुरक्षा प्रदान करती है, और आदमियो के आपसी व्यवहार को सुविधाजनक तथा सुरक्षित बना देती हैं, वहीं तक न्यायपूर्ण हैं। इसलिए, एपीक्यूरियन विचारक जो शासन-प्रणालियो के बारे मे विशेष चिंतित नही थे, स्वभावत राजतन्त्र को सबसे शक्तिशाली और सबसे सुरक्षित शासन-प्रणाली समझते थे। अधिकांश एपीक्यूरियन विचारक सम्पत्तिशाली वर्गों के व्यक्ति थे। इस वर्ग के व्यक्तियो के लिए सुरक्षा का राजनैतिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व होता है।

एपीक्यूरियन विचारको ने मानव सस्थाओं के जन्म और विकास के सम्बन्ध मे भौतिकवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। ल्यूक्रेटियस (Lucretius) की कविता *De rerum natura* मे इस सम्बन्ध मे प्रौढ चिंतन मिलता है। तथापि इस विचारधारा के जन्म का श्रेय एपीक्यूरस को ही है। सामाजिक जीवन के सभी रूप, उसकी सामाजिक और राजनैतिक सस्थाएँ, कला और विज्ञान, सक्षेप मे समस्त मानव सस्कृति केवल मनुष्य की बुद्धि के परिणामस्वरूप ही विकसित हुए हैं। इसमे बाहर की किसी सत्ता का हस्तक्षेप नही है। प्राणी विशुद्ध रूप से भौतिक कारणो

1. Golden Maxims, 37.

के परिणाम होते हैं। एपीक्यूरस ने एम्पेडोक्लीज (Empedocles) से एक सिद्धान्त ग्रहण किया था जो आजकल के प्राकृतिक सवरण (natural selection) के सिद्धान्त से समानता रखता है। मनुष्य का सहज रूप से समाज की ओर झुकाव नहीं है। मनुष्य की एक मात्र स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वह जैसे भी हो व्यक्तिगत सुख प्राप्त करना चाहता है। शुरू में मनुष्य निर्द्वन्द एकाकी जीवन व्यतीत करता था। वह गुफाओं में बसेरा करता था और अपनी रक्षा के लिए जंगली जानवरों से लड़ता था। सभ्यता की दिशा में पहला कदम सयोगवश आग का अनुसधान था। धीरे धीरे उसने झोंपड़ियों में रहना और खालों से तन को ढकना सीख लिया। मनुष्य के बोलने चिल्लाने से भाषा का जन्म हुआ। क्रन्दन के द्वारा मनुष्य ने पहले पहल अपने भावों को व्यक्त किया। धीरे-धीरे मनुष्य का अनुभव बढ़ता गया और उसने स्वय को प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार बनाया। इस प्रक्रिया में ही मनुष्य ने सगठित समाज की विभिन्न सस्थाओं, विधियों और उपयोगी कलाओं का सृजन किया। मनुष्य को भौतिक वातावरण द्वारा निर्धारित मर्यादाओं के भीतर ही कार्य करना पड़ता है। मनुष्य इन मर्यादाओं के भीतर काय करते हुए अपनी प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग द्वारा सभ्यता की सृष्टि करता है। सपनों के द्वारा देवताओं में विश्वास उत्पन्न होता है। जहाँ मनुष्य को यह अनुभूति होती है कि देवता मानव कार्यों में कोई भाग नहीं लेते, वहीं ज्ञान का आरम्भ हो जाता है।

शुद्ध अहवाद (egoism) और प्रसविदा (contract) पर आधारित इस राजनैतिक दर्शन और सामाजिक विकास के सिद्धान्त की सारी सभावनाओं का वर्तमान काल तक पूरी तरह उपयोग नहीं किया जा सकता। हॉब्स के राजनैतिक दर्शन में हमें इस सिद्धान्त का पुनरुदय दीखता है। हॉब्स का दर्शन भी भौतिकवाद (materialism) पर आधारित है। वह भी मनुष्य के समस्त प्रयत्नों में स्वार्थ की भावना देखता है और उसने भी राज्य के निर्माण का मुख्य हेतु सुरक्षा की आवश्यकता बतलाया है। उसका यह दर्शन एपीक्यूरियन दर्शन से आश्चर्यजनक साम्य रखता है। प्राचीन काल में एपीक्यूरियन दर्शन का अधिक प्रचार इसलिए नहीं हो सका, क्योंकि वह धर्म और अधविश्वास का विरोधी था जब कि उस समय इनकी तूती बोल रही थी। सब मिलाकर, एपीक्यूरियन दर्शन पलायन का दर्शन था। एपीक्यूरियन दर्शन के ऊपर इन्द्रिय सुखवाद (sensualism) का आरोप तो नहीं लगाया जा सकता तथापि उसने एक ऐसे निष्प्राण सौंदर्यवाद (Aestheticism) को प्रोत्साहन दिया जो न तो मानव कार्यों को प्रभावित कर सकता था और न उन पर प्रभाव डालना चाहता था। इस दर्शन ने व्यक्ति को शान्ति तथा सतोष का सदेश दिया लेकिन राजनैतिक विचारों के विकास में उसका योग नहीं के बराबर था।

सिनिक विचारक

(The Synics)

सिनिक विचारकों का दर्शन भी पलायनवादी था लेकिन उनका पलायनवाद एक भिन्न प्रकार का था। वे अन्य किसी सम्प्रदाय की अपेक्षा नगर-राज्य के और

उसके सामाजिक वर्गीकरण के अधिक विरोधी थे। उनके पलायनवाद का रूप भी अनोखा था। मनुष्य जिन वस्तुओं को जीवन का सुख समझते हैं, उन्होंने उनका तिरस्कार किया। उन्होंने समस्त सामाजिक भेद-भावों के निवारण पर जोर दिया। वे कभी-कभी सुविधाओं तथा सामाजिक रूढ़ियों की शिष्टताओं तक को त्याग देते थे। अधिकांश सिनिक विचारक विदेशी और निर्वासित व्यक्ति थे। इन लोगों को राज्य की नागरिकता नहीं मिली थी। इस सम्प्रदाय को संस्थापक एंटिस्थेनीज (Antisthenes) को मां थ्रेसियन (Thracian) थी। उसका सबसे विचित्र सदस्य सिनोप का डायोजेनीज (Diogenes of Sinope) निर्वासित व्यक्ति था। इसके सबसे योग्य प्रतिनिधि क्रटीज (Crates) ने दौलत को लात मार कर दार्शनिक दरिद्रता का जीवन अपनाया था। वह भ्रमणशील परिव्राजक तथा भिक्षुक का जीवन व्यतीत करने लगा था। उसकी पत्नी हिपार्किया (Hipparchia) सम्भ्रान्त परिवार की महिला थी। वह पहले उसकी शिष्या रही थी, बाद में उसकी सहधर्मिणी बन गई। सिनिक विचारकों का कोई संगठन नहीं था। ये विचारक अधिकतर घूम-घूम कर लोगों को शिक्षा देते थे। उन्होंने दरिद्रता का जीवन सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया था। इनकी तुलना बुद्ध भक्तों से मध्ययुगीन सन्तों से की जा सकती है। उनकी शिक्षाएँ अधिकतर गरीबों के लिए थीं। उन्होंने रूढ़ियों का तिरस्कार करने की शिक्षा दी। उनका व्यवहार बड़ा रूखा था और वे कभी-कभी शिष्टता की सीमाओं का भी उल्लंघन कर जाते थे। प्राचीन संसार में सिनिक विचारकों को सर्वहारा दार्शनिकों का सबसे पहला उदाहरण समझा जा सकता है।

सिनिक विचारकों की शिक्षा का दार्शनिक आधार यह था कि बुद्धिमान व्यक्ति को पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर होना चाहिए। उनका इससे यह अभिप्राय था कि जो कुछ व्यक्ति की अपनी शक्ति, अपने विचार और अपने चरित्र के अन्दर है, सुखी जीवन के लिए वही आवश्यक है। नैतिक चरित्र के अतिरिक्त अन्य सारी चीजें व्यर्थ हैं। सम्पत्ति और विवाह, परिवार और नागरिकता, विद्वत्ता और प्रतिष्ठा, संक्षेप में सभ्य जीवन की सभी श्रेष्ठ बातें और रूढ़ियाँ तिरस्करणीय हैं। इस प्रकार, सिनिक विचारकों ने यूनानी जीवन के समस्त प्रथागत भेद-भावों की तीव्र आलोचना की। सिनिकों की दृष्टि में अमीर और गरीब, यूनानी और बर्बर, नागरिक और विदेशी, स्वतन्त्र और दास, उच्चवर्गीय और निम्नवर्गीय ये सभी लोग समान हैं क्योंकि सभी उदासीनता के समान धरातल पर लाकर खड़े कर दिए जाते हैं। तथापि, सिनिकों की समानता शून्यवाद (nihilism) की समानता थी। यह सम्प्रदाय मानव-प्रेम (philanthropy) अथवा सुधारवाद (amelioration) के सामाजिक दर्शन का आधार कभी नहीं बना। लेकिन, यह सदैव संन्यास और प्युरिटनवाद की ओर मुड़ा रहा। उनकी निगाह में गरीबी और दासता का कोई महत्त्व नहीं था। उनके विचार में स्वतन्त्र व्यक्ति की स्थिति किसी भी हालत में दास से बेहतर नहीं थी। उनमें से किसी के अन्दर स्वयं कोई महत्त्व नहीं था। सिनिक यह भी मानने के लिए तैयार नहीं था कि दासता बुरी चीज है और स्वतन्त्रता अच्छी चीज है। प्राचीन संसार में जो सामाजिक भेदभाव प्रचलित थे सिनिकों को उनसे सख्त नफरत थी

इस नफरत के परिणामस्वरूप उन्होंने असमानता की ओर से अपनी पीठ मोड़ ली और दर्शन शास्त्र के द्वारा आध्यात्मिकता के एक ऐसे जगत् म प्रवेश किया जिसम छोटी बातों के लिए कोई स्थान नहीं था। सिनिकों का दर्शन भी एपीक्यूरियन विचारकों की भाँति त्याग का ही दर्शन था। लेकिन यह त्याग परिव्राजक और शून्यवादी का त्याग था, सौंदर्यप्रेमी का नहीं।

परिणाम यह हुआ कि सिनिकों का दर्शन कल्पनाप्रधान था। कहा जाता है कि एंटिस्थेनीज (Antisthenes) और डायोजेनीज (Diogenes) दोनों ने राजनीति के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखी थीं और उन्होंने एक ऐसे आदर्श साम्यवाद अथवा सम्भवत अराजकता का चित्र खींचा है, जिसमें सम्पत्ति, विवाह और शासन लुप्त हो गए हों। सिनिकों के विचार से मुख्य समस्या वह नहीं है जो अधिकांश व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्ध रखती है। अधिकांश व्यक्ति चाहे वे किसी भी सामाजिक वर्ग के क्यों न हों मूर्ख होते हैं। श्रेष्ठ जीवन केवल ज्ञानी पुरुष के लिए ही है। इसी प्रकार, सच्चा समाज भी केवल ज्ञानी व्यक्तियों के लिए ही है। दर्शन अपने अनुयायियों को राज्य के कानूनों और बन्धनों से मुक्त कर देता है। ज्ञानी पुरुष हर जगह एक सी स्थिति में रहता है। उसे न घर की जरूरत है न देश की न नगर की न कानून की। उसके लिए तो उसका सद्गुण ही कानून होता है। सारी संस्थाएँ बनावटी और दार्शनिक के लिए उपेक्षणीय होती हैं। जिन व्यक्तियों ने नैतिक आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली है उनके लिए ये सारी चीजें अनावश्यक हैं। सच्चा राज्य वह है जिसकी नागरिकता की सबसे बड़ी शर्त ज्ञान हो। इस राज्य के लिए न स्थान की आवश्यकता है और न कानून की। बुद्धिमान् व्यक्ति सर्वत्र ही एक समाज का विश्व नगर का निर्माण करते हैं। डायोजेनीज (Diogenes) के अनुसार, बुद्धिमान् व्यक्ति 'विश्वात्मा', विश्व-नागरिक होता है। विश्वनागरिकता का यह सिद्धान्त आगे चल कर अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। स्टोइक विचारकों ने इस सिद्धान्त का विस्तार किया और इसे सकारात्मक अर्थ दिया। सिनिकों ने इसके नकारात्मक पक्ष पर जोर दिया। उन्होंने एक प्रकार की आदिम अवस्था (primitivism) का प्रतिपादन किया। उन्होंने नागरिक और सामाजिक बन्धनों और समस्त प्रतिबन्धों के उन्मूलन की सिफारिश की। वे केवल उन्हीं प्रतिबन्धों को मानने के लिए तैयार थे जो बुद्धिमान् व्यक्ति की स्वतन्त्र भावना के आधार पर उत्पन्न होते हैं। सिनिकों की सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ जिहाद एक प्रकार से प्रकृति की ओर वह भी बहुत अधिक नकारात्मक ढंग से, लौटने का सिद्धान्त था।

सिनिक सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्व यह है कि इसने स्टोइकवाद (stoicism) को जन्म दिया। सिनिक सम्प्रदाय की विचारधारा का एक और दृष्टि से भी महत्त्व है। सिनिक विचारकों को हुए दो हजार वर्षों से भी अधिक का समय हो चुका है। तथापि, उनके राजनैतिक दर्शन के बहुत से तत्त्व अब भी जीवित हैं। सिनिक विचारधारा के उदय और विस्तार से ज्ञात होता है कि सुकरात के समय म भी ऐसे बहुत से व्यक्ति थे जो नगर-राज्य की संस्था में आस्थावान थे और उन्हें किसी भी प्रकार आदर्श नहीं मानते थे। लेकिन प्लेटो और अरस्तू इन व्यक्तियों के

विरोध मे थे। इसलिए, स्वभावत. इनका महत्त्व स्थापित न हो सका। लेकिन, इन लोगो ने चौथी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही नगर-राज्य का पतन देख लिया था। यही बात अन्य लोगो को शताब्दी के अन्त मे दिखाई दी।

Selected Bibliography

The Greek Atomists and Epicurus—A Study. By Cyril Bailey Oxford, 1928 Ch 10

Titi Lucreti Cari De rerum natura. Ed with Prolegomena, Critical Apparatus and Commentary by Cyril Bailey. 3 Vols Oxford, 1947 Prolegomena, Section IV.

Greek Thinkers By Theodor Gomperz, Vol II. Trans. by G. G Berry New York, 1905 Bk , ch VII.

Stoic and Epicurean By R. D. Hicks London, 1910, Ch V.

Diogenes of Sinope A Study of Greek Cynicism By Farrand Sayre Baltimore, 1938

Lucretius Poet and Philosopher By Edward E. Sikes, Cambridge, 1936

The Stoics, Epicureans, and Sceptics By E Zeller, Trans by O J Reichel, London, 1880, Ch. XX

दूसरा भाग

विश्व समाज का सिद्धान्त

(THE THEORY OF THE UNIVERSAL COMMUNITY)

अध्याय ८

प्रकृति का कानून

(The Law of Nature)

अरस्तू की ३२२ ई० पू० में मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के साथ ही राजनैतिक दर्शन के इतिहास का एक युग समाप्त हो गया। अरस्तू के शिष्य सिकन्दर की मृत्यु उससे एक वर्ष पूर्व हुई थी। सिकन्दर की मृत्यु के साथ राजनीति के और यूरोपीय सभ्यता के इतिहास में एक नया युग आरम्भ हुआ। राजनैतिक दर्शन के इतिहास में नगर राज्य की असफलता एक युग रेखा है। इसके बाद से राजनैतिक दर्शन की अविच्छिन्नता आज तक बनी हुई है। प्रो० ए० जे० कार्लाइल (Prof A J Carlyle) ने यह ठीक ही लिखा है कि यदि राजनैतिक दर्शन की अविच्छिन्नता कहीं टूटती है, तो वह अरस्तू की मृत्यु के समय।[1] ईसाई धर्म के उदय ने उसके प्रवाह में केवल सतही परिवर्तन किए। बाद के राजनैतिक दर्शन में चाहे कितने परिवर्तन हुए हों, उसका क्रम बराबर अटूट बना रहा है। स्टोइक सम्प्रदाय में प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त के जन्म से लेकर मानव अधिकारों के क्रान्तिकारी सिद्धान्त के समय तक राजनैतिक दर्शन की निर्बाध धारा प्रवाहित होती रही है। प्लेटो और अरस्तू ने नगर राज्य के आदर्शों का गौरवपूर्ण बखान किया था। लेकिन उनकी एक पीढ़ी के बाद ही नगर राज्य का पतन हो गया और उनके आदर्श बिलकुल अव्यावहारिक हो गए। यह विरोधाभास बड़ा नाटकीय-सा है।

राजनैतिक प्राणी, पोलिस या स्वशासी नगर राज्य के एक अंश के रूप में मनुष्य का अस्तित्व अरस्तू के साथ समाप्त हो गया। सिकन्दर के साथ मनुष्य का एक व्यक्ति के रूप में विचार प्रारंभ होता है। इस व्यक्ति को अपने जीवन के विनियमन पर विचार करने की आवश्यकता थी। इसके साथ ही उसे अन्य व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्धों का विनियमन करने की आवश्यकता थी। वह और ये सारे व्यक्ति ही मिलकर संसार का निर्माण करते हैं। पहली आवश्यकता को पूरा करने के लिए आचरण के दर्शन का विकास हुआ। दूसरी आवश्यकता पूरी करने के लिए मानव भ्रातृत्व के नए सिद्धान्त विकसित हुए। इन विचारों का जन्म इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण वेला पर हुआ जब कि ओपिस में एक राजकीय भोज के अवसर पर सिकन्दर

1 *History of Mediaeval Political Theory* Vol I (1903) p 2

मे दिलों की एकता (homonia) तथा मकदूनिया व फारस के एक संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के लिए ईश्वर से प्रार्थना की।"[1]

व्यक्ति और मानवता

(The Individual and Humanity)

संक्षेप में, मनुष्यों को अकेले रहना सीखना था जैसा कि उन्होंने पहले कभी नहीं किया था। इसके साथ ही उन्हें एक नए सामाजिक संगठन में जो नगर-राज्य से कहीं अधिक व्यापक और नगर-राज्य से कहीं अधिक निर्वैयक्तिक था, मिलजुल कर रहना सीखना था। पहला कार्य कितना मुश्किल था, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि प्राचीन संसार में धर्म के अनेक नए रूपों का विकास हुआ। ये धर्म व्यक्ति को अमरत्व की आशा दिलाते थे और देवता के साथ मनुष्य का कुछ रहस्यात्मक सम्बन्ध जोड़ते थे। यह देवता मनुष्य को इस जीवन में और मरणोत्तर जीवन में मुक्ति का आश्वासन देता था। इस काल में धर्म के कुछ भ्रष्ट रूप भी प्रचलित हुए। धर्म के ये रूप जादू-टोने में विश्वास रखते थे और प्रेतात्माओं की सहायता लेते थे।[1] अरस्तू के बाद सभी दर्शन नैतिक उपदेश और समाधान की एजेंसियाँ बन गए। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वे धर्म का रूप धारण करते गए। कभी-कभी शिक्षित व्यक्ति के लिए केवल दर्शन ही एकमात्र धर्म था। दर्शन के रूप में ही व्यक्ति के थोड़े से विश्वास होते थे। इस समय की सबसे प्रमुख सामाजिक प्रवृत्ति व्यक्ति के जीवन में धर्म का निरन्तर बढ़ता हुआ भाग है। इस काल में धार्मिक संस्थाओं की भी निरन्तर वृद्धि हुई। इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा ईसाई धर्म का उदय और ईसाई चर्च की स्थापना थी। धर्म की इस वृद्धि ने मनुष्य को भावात्मक सहायता दी। धर्म के बिना मनुष्य को यह मालूम पड़ता था कि वह दुनिया में अकेला है और वह अपनी अकेली शक्ति से दुनिया का सामना नहीं कर सकता। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आत्म-चेतना, व्यक्तिगत गोपनीयता और आन्तरिकता की एक ऐसी भावना का विकास हुआ जो प्राचीन काल के यूनानियों को बिलकुल प्राप्त नहीं थी। मनुष्य धीरे धीरे अपनी आत्मा का निर्माण कर रहे थे।

मानव बन्धुत्व की नयी व्यवस्था में मिलकर साथ-साथ रहना कितना कठिन था, यह इस बात से जाना जा सकता है कि युग के राजनैतिक और नैतिक दर्शन ने सामाजिक सम्बन्धों को नगर राज्य से इतर सदर्भों में समझाने का अनथक प्रयत्न किया। व्यक्तिगत गोपनीयता और एकाकीपन का एक उल्टा पक्ष भी था। यह पक्ष था—मनुष्य की एक मानव प्राणी के रूप में, जाति के एक सदस्य के रूप में चेतना। यह मनुष्य मानव प्रकृति से युक्त था और यह प्रकृति न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र एक-सी थी। मनुष्य उस घनिष्ठ बंधन के टूट जाने से जिसने नागरिकों को एक सूत्र में पिरोये रखा था, एकाकी पड़ गया था। प्राचीन संसार में राष्ट्रीयता की ऐसी कोई भावना नहीं थी जैसी कि आजकल के फ्रांसीसियों या जर्मनों में पायी

1. W. W. Tarn, *Hellenistic Civilization* (1927), p. 69.
1 See Tarn, *op. cit*, ch X.

जाती है। आजकल का फ्रांसीसी या जर्मन कम-से कम अपनी निगाह में अपने को एक विशिष्ट व्यक्ति समझता है चाहे वह विदेश में ही क्यों न रहता हो। यदि यूनानी जगत् में किसी व्यक्ति को यूनानी भाषा आती थी, तो वह कम-से-कम नगरों में मार्सेलीज (Marseilles) से लेकर फारस तक बडे आराम से रह सकता था। शुरू में नागरिकता जन्म के उपर आधारित रहती थी। बाद में यहाँ तक हो गया कि एक व्यक्ति एक ही समय में कई नगरों का नागरिक हो सकता था। कभी कभी तो एक नगर दूसरे नगर के समस्त नागरिकों को अपने यहाँ की नागरिकता दे देता था। उस समय ऐसा कोई तत्त्व नहीं था जिससे कि मनुष्यो के अन्दर विशेष प्रकार की चेतना का निर्माण किया जाता, एक व्यक्ति-समूह को दूसरे व्यक्ति-समूह से अलग रखा जाता। जब तक कि मनुष्य विशिष्ट व्यक्ति नहीं था, वह दूसरे व्यक्तियों के समान ही था। ज्यो-ज्यो पुराने बधन कमजोर पड़ते गये, यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती गई। इसी आधार पर यूनानी तथा बर्बर का अंतर भी कम होता गया।

इस प्रकार, इस समय राजनैतिक दर्शन के सामने मुख्य रूप से दो विचार थे और उसे इन दोनों विचारो को एक मूल्य-पद्धति के रूप मे ग्रथित करना था। वे दो विचार थे—मनुष्यता के एक विशिष्ट अंश के रूप में व्यक्ति का विचार, ऐसे व्यक्ति का विचार जिसका अपना निजी और व्यक्तिगत जीवन हो, और सार्वभौमता (universality) का विचार, एक ऐसी विश्वव्यापी मानवता का विचार जिसमें सब व्यक्तियों की समान मानव प्रकृति हो। पहले विचार को नैतिक अर्थ इस धारणा के आधार पर दिया जा सकता था कि प्रत्येक व्यक्ति में एक ऐसी योग्यता होती है जिसका अन्य व्यक्तियो को सम्मान करना चाहिए। इस धारणा का नगर-राज्य की नैतिकता में नगण्य भाग रहा था। नगर राज्य में व्यक्ति एक नागरिक के रूप में दिखाई देता था। वहाँ उसका महत्त्व उसकी स्थिति (status) अथवा उसके कार्य के ऊपर निर्भर था। इस महान् ससार में यह कहना कठिन है कि मनुष्य का कोई कार्य होता है। यदि मनुष्य का कोई कार्य होता है, तो वह केवल धार्मिक मे ही माना जा सकता है। लेकिन, मनुष्य अपनी महत्त्वहीनता को ही अपना सद्गुण बना सकता है। वह अपना एक अभिन्न आतरिक जीवन रख सकता है और यह कहा जा सकता है कि उसके अन्य समस्त गुण इसी एक आतरिक स्रोत से निकलते हैं। दूसरे शब्दों में मनुष्य अपने एक अन्तर्भूत अधिकार की माँग कर सकता है। यह अधिकार है अपने व्यक्तित्व के प्रति सम्मान का अधिकार। लेकिन, इसके लिए यह आवश्यक है कि सार्वभौमिकता के विचार को भी नैतिक अर्थ दिया जाए। प्रकार की समानता के साथ ही दिमाग की समानता भी आवश्यक है। दिलों की एकता (homonia or concordia) मनुष्यों को एक सामान्य मानव परिवार का अभिन्न अंग बना देती है। संत पाल (St Paul) का कहना है, 'यद्यपि मनुष्य की प्रतिभा अलग अलग होती है, लेकिन उसकी आत्मा एक है, यद्यपि कार्य अलग-अलग हैं, लेकिन सबके अंदर एक ईश्वर ही कार्य कर रहा है। जिस प्रकार शरीर

एक है, लेकिन उसके भिन्न-भिन्न अंग हैं। अंग अलग-अलग होने पर भी शरीर एक ही रहता है। यही बात ईसा के सम्बन्ध में भी लागू होती है।"[1]

यद्यपि स्वायत्तशासी व्यक्तियों के विश्वव्यापी समाज तथा नगर-राज्य की नैतिक घनिष्ठता में बीच महान् व्यवधान है, लेकिन फिर भी दोनों एक दूसरे से बिलकुल असंगत चीजें नहीं हैं। यह कहना ज्यादा सही है कि हैलेनिस्टिक युग के दर्शन ने उन आदर्शों को सार्वभौमिक क्षेत्र में लागू करने का प्रयास किया जो पहले केवल नगर-राज्य की सीमाओं में ही बँधे हुए थे। अरस्तू के विचार से नागरिकता की दो आवश्यक शर्तें थीं। नागरिकता समान व्यक्तियों के बीच एक सम्बन्ध था। ये समान व्यक्ति निरंकुश सत्ता के प्रति नहीं, प्रत्युत् वैध शासन के प्रति निष्ठा रखते थे। तथापि, अरस्तू का विचार था कि समानता केवल थोड़े से चुने हुए नागरिकों के बीच ही रह सकती है। नये सिद्धान्त ने दास, विदेशी और बर्बरों सभी की समानता का प्रतिपादन किया। फलतः, इस नए सिद्धान्त के लिए यह आवश्यक हो गया था कि यह या तो सब व्यक्तियों को ईश्वर की निगाह में समान माने या सब व्यक्तियों को कानून की निगाह में समान माने तथा बुद्धि, चरित्र तथा सम्पत्ति की असमानताओं की उपेक्षा कर दे। यद्यपि यह सिद्धान्त कुछ अधिक भावपरक था, लेकिन फिर भी इसका तर्क था कि स्वतन्त्र नागरिकता के लिए समान व्यवहार के लिए ऐसे तन्त्र की आवश्यकता होगी जिसके अन्तर्गत राज्य को सब व्यक्तियों के प्रति समान दृष्टि रखनी चाहिए। अरस्तू की भाँति इस विचार का यह भी आधार था कि सत्ता के प्रति दावा न्याय का दावा होता है, बल का नहीं। सद्भावना का व्यक्ति इस दावे को मान सकता है और इस मान्यता से उसके अपने नैतिक महत्व को कोई चोट नहीं पहुँचती। इसका भी अभिप्राय यह था कि नागरिकता के भाव का विकिरण हो। एक सीमित नगर के कानून के स्थान पर अब उसे सम्पूर्ण सभ्य संसार के कानून के बारे में विचार करना पड़ा। यह कानून बड़ा व्यापक कानून था। प्रत्येक नगर का नागरिक कानून इस कानून का एक अशमात्र है।

नगर-राज्य के विनाश के समय राजनैतिक दर्शन के सामने सबसे बड़ी समस्या विचारों के पुन सामंजस्य और आदर्शों के पुनर्संशोधन की थी। दर्शन की बौद्धिक शक्ति का इससे बढ़ कर और कोई प्रमाण नहीं हो सकता कि यह कार्य सम्पन्न हो गया। जो बात सभ्यता के लिए विनाशकारी मालूम पड़ती थी, वही बात एक नया प्रस्थान बिन्दु बन गई। दो सिद्धान्त—मनुष्य के अधिकारों का सिद्धान्त तथा न्याय और मानवता का सार्वभौम सिद्धान्त—यूरोपीय जनता की नैतिक चेतना में समाविष्ट हो गये। यद्यपि ऊपर से देखने पर इन सिद्धान्तों का बारम्बार अनादर हुआ है, लेकिन ये सिद्धान्त यूरोप के लोक-मानस में इतने गहरे पैठ गये थे कि इन्हें जड़ से नहीं उखाड़ा जा सका। आधुनिक राष्ट्रवाद की महान् शक्ति भी इन सिद्धान्तों को जड़ से न हिला सकी। स्वतन्त्र नागरिकता का सिद्धान्त एक ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए रूपांतरित कर दिया गया जिसमें सार्वजनिक पद को ग्रहण करना

1. Corinthians, XII, 4—12

और राजनैतिक कार्यों को करना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता था। तथापि, यह आदर्श पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। यह एक ऐसी वैधानिक स्थिति और अधिकार-समूह के रूप में बना रहा जिसमें नागरिक राज्य के संरक्षण की माँग कर सकता था। अतः, यह सिद्धान्त भी बना रहा कि अभ्यास और प्रयोग, प्रथागत अधिकार और विशेषाधिकार (prescriptive right and privilege) तथा नियन्त्रणकारी शक्ति को एक उच्चतर निर्णायक के सामने अपना यह औचित्य सिद्ध करना चाहिए कि उनकी भी आलोचना और पड़ताल की जा सकती है।

समवाय और राजतन्त्र
(Concord and Monarchy)

पुनराख्यान (reinterpretation) और पुनरुद्बोधन के इस कार्य के लिए काफी लम्बे समय की जरूरत थी और इस कार्य को अनेक लोगों ने पूरा किया। इस विचारधारा के प्रारम्भ के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन आगे चलकर यह विचारधारा स्टोइक सम्प्रदाय की विचारधारा के साथ समीकृत हो गई। यह एथेंस के महान् विद्यालयों में से चौथा और अन्तिम सम्प्रदाय था। इसकी स्थापना ईसा से ३०० वर्ष पूर्व से कुछ समय पहले सिटियम के जेनो (Zeno of Citium) ने की थी। लेकिन, इसका एथेंस से या यूनान से अन्य किसी सम्प्रदाय की अपेक्षा कम गहरा सम्बन्ध था। इसका संस्थापक 'फोनेशियन' था। इसका अभिप्राय यह है कि उसके जनकों में से एक सेमिटिक रहा होगा। उसके बाद इस विद्यालय के अधिष्ठाता यूनानी जगत् के दूर-दूर के भागों के लोग हुए। ये लोग अधिकतर एशिया माइनर के लोग होते थे। यहाँ यूनानी और प्राच्य लोग काफी घुलमिल गये थे। ईसा पूर्व पहली शताब्दी में एथेंस स्टोइसिज़्म (Stoicism) का केन्द्र नहीं रहा। उसी समय इसका प्रधान एक एथेंसवासी बना। इसका दूसरा संस्थापक क्रिसिप्पस (Chrysippus) सिलीशिया (Cilicia) का रहने वाला था। पानेशियस (Panaetius) जो स्टोइसिज़्म (Stoicism) को रोम तक ले गया था, रहोड्स (Rhodes) का रहने वाला था। इस प्रकार, स्टोइसिज़्म प्रारम्भ से ही एक हेलेनिस्टिक सम्प्रदाय था, यूनानी नहीं। प्राचीन काल के लोगों का यह भी विचार था कि इस सम्प्रदाय की शिक्षाओं का हेलेनिस्टिक राजनीति से गहरा सम्बन्ध था। उदाहरण के लिए प्लूटार्क (Plutarch) का यह कथन देखिए कि सिकन्दर ने कुछ ऐसे ही राज्य की स्थापना की थी जिसका जीनो (Zeno) ने प्रस्ताव किया था।[1] विशेष महत्त्व की बात यह है कि दूसरी शताब्दी के रोमनों को स्टोइसिज़्म बहुत प्रिय लगा था। इस प्रकार, स्टोइसिज़्म वह साधन बन गया जिसके द्वारा यूनानी दर्शन ने रोमन न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक चरण में प्रभाव डाला।

शुरू-शुरू में स्टोइसिज़्म सिनिसिज़्म की एक शाखा था। एक अनुश्रुति के अनुसार जो सम्भवतः झूठ है, जीनो (Zeno) ने अपनी पुस्तक उस समय लिखी थी, जब वह क्रेटीस (Crates) का शिष्य था। इस पुस्तक के कुछ अंशों से ज्ञात होता

1. *de Alex.Virt.*, II

है कि वह डायोजेनीस के द्वारा लिखित पुस्तक के ढंग की यूटोपिया (Utopia) रही होगी। उसका कहना था कि आदर्श राज्य में मनुष्य एक झुंड की तरह रहेंगे। उनके पास न परिवार होगा और न सम्पत्ति होगी। उनमें पद और जाति के आधार पर भेदभाव नहीं होंगे। उन्हें न धन की आवश्यकता होगी और न अदालतों की। जेनो का सिनिक विचारकों से थोड़ा मत-भेद था। वह सिनिक विचारकों की रुक्षता और असामाजिकता से सहमत नहीं था। लेकिन, अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों में वह सिनिक विचारकों से प्रभावित रहा था। इसका नए सम्प्रदाय पर बुरा प्रभाव पड़ा। स्टोइसिज्म में सैद्धान्तिक कल्पनावाद (Doctrinaire Utopianism) का कुछ पुट सम्मिलित हो गया था। स्टोइसिज्म इससे कभी छुटकारा नहीं पा सका। हाँ, जब मिडिल स्टोआ (Middle Stoa) ने स्टोइसिज्म की शिक्षाओं को रोम के प्रयोग के लिए अपनाया तब कल्पनावाद के तत्त्व को काफी हद तक त्याग दिया गया। जब तक उनके राजनैतिक दर्शन में दार्शनिकों के एक काल्पनिक समाज का समर्थन आदर्श था, वह समवाय (Concord) के नये विचार को स्वीकार नहीं कर सकता था। यूनानी और बर्बर के भेद को त्याग देना अच्छा था, लेकिन उसके स्थान पर बुद्धिमान व्यक्ति तथा मूर्ख के अन्तर को अपना लेना बुरा था। इस से हालत में सुधार नहीं होता था।

समवाय के विचार का राजतन्त्र (Kingship) के हेलेनिस्टिक सिद्धान्त से घनिष्ठ सम्बन्ध था। जेनो के मकदूनिया नरेश एंटीगोनस द्वितीय (Antigonus II) से अच्छे सम्बन्ध थे। एंटीगोनस जेनो का शिष्य था। स्टोइक सम्प्रदाय का एक व्यक्ति एंटीगोनस के पुत्र को शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया गया था। इससे आभास मिलता है कि स्टोइसिज्म प्रबुद्ध निरंकुशता (enlightened despotism) की ओर झुका हुआ था। लेकिन, यह स्टोइसिज्म की सामान्य विशेषता नहीं थी। श्री टार्न (Mr. Tarn) का कहना है कि यूनानियों और बर्बरों के बीच समवाय स्थापित करने की योजना सिकन्दर की अपनी थी और दार्शनिकों ने इस योजना को बाद में ही ग्रहण किया। यह चाहे कुछ भी रहा हो, राजतन्त्र के सिद्धान्तों के स्रोत स्टोइक सम्प्रदाय से इतर रहे होंगे।[1] उस समय की स्थिति ही कुछ ऐसी थी कि राजनैतिक दार्शनिकों का ध्यान राजतन्त्र की ओर गया। प्राचीन काल में राजतन्त्र की ओर विचारकों का ऐसा ध्यान नहीं गया था। अरस्तू ने राजतन्त्र को केवल एक सैद्धिक प्रश्न समझा था। लेकिन, सिकन्दर का साम्राज्य बड़ा विशाल था और कई भागों में बँटा हुआ था। पुरानी दुनिया का अधिकांश भाग राजाओं के अधीन हो गया था। मिस्र में टोलेमीज (Ptolemies), फारस में सेल्यूसिड्स (Seleucids) और

1 W. W. Tarn, Alexander the Great and the Unity of Mankind (1933), Proceedings of the British Academy, Vol XIX See E R Goodenough's "Political Philosophy of Hellenistic Kingship" in Yale Classical Studies Vol I (1928) pp 55 ff which discusses a group of Pythagorean fragments, of uncertain date preserved in Stobaeus See also M H Fisch "Alexander and the Stoics" Am J Philology, Vol LVIII (1937), pp 5–9, 129

मकदूनिया (Macedonia) में एंटीगोनिड्स (Antigonids) का शासन था। परिसंघ (Confederations) तक राजाओं के प्रभाव अथवा नियन्त्रण के अधीन थे। मकदूनिया के अतिरिक्त अन्य नये राजतन्त्र निरंकुश थे। राजतन्त्र के अलावा अन्य कोई शासन-प्रणाली ऐसी नहीं थी जो यूनानियों और पौर्वात्यों को मिला सकती। राजा राज्य का प्रधान ही नहीं था, वह वस्तुतः राज्य ही था। राजा के अतिरिक्त अन्य कोई संगठनकारी शक्ति नहीं थी जो राज्य की एकता को सूत्र में बाँधकर रखती। चूँकि ये राज्य विभिन्न तत्त्वों से मिल कर बने थे, अतः उनमें स्थानीय रीति रिवाज और स्थानीय कानून काफी मात्रा में रह गए थे। उनके ऊपर सिर्फ ऐसे नियन्त्रण आरोपित किये गए थे, जो राज्य की दृष्टि से आवश्यक थे। इस प्रकार राजा की विधि अथवा सामान्य विधि और स्थानीय विधि का अन्तर पैदा हुआ। राजा एक विशेष अर्थ में एकता और श्रेष्ठ शासन का प्रतीक बन गया।

हैलेनिस्टिक निरंकुशता ने यूनान के इस आदर्श का कभी नहीं त्यागा कि शासन सैनिक निरंकुशता (military despotism) से बढ़ कर होना चाहिए। एशिया और मिस्र में राजतन्त्र का आधार धर्म था, राजा के देवत्व में पाया गया। वहाँ राजा की मृत्यु के बाद और कभी-कभी तो उसके जीवन काल में ही उसकी उपासना होती थी। सिकन्दर के समय से राजाओं की भी यूनानी शहरों के देवताओं में गणना होने लगी। पूर्व में राजा को हर जगह दैवी अंश से युक्त माना जाने लगा। बाद में रोमन सम्राटों ने भी इस प्रथा को अपनाया। राजा के देवत्व का विचार यूरोप की विचारधारा में प्रवेश कर गया और वह किसी-न-किसी रूप में वर्तमान काल तक बना रहा। इस सिद्धान्त से यह आवश्यक नहीं था कि प्रजाजनों में किसी प्रकार का दयनीय भाव आए। जहाँ तक शिक्षित यूनानियों का सम्बन्ध था, इस प्रथा में ऐसी बात नहीं थी जो विशुद्ध रूप से धार्मिक हो। एक आदमी देवता की श्रेणी में पहुँच जाये इसमें कोई बहुत अचम्भे की भी बात नहीं थी। यूनान में अनेक नगरों में ऐसे वीर अथवा कानून-निर्माता थे जिन्हें यह सम्मान प्राप्त था। नगरों में उसके प्रयोजन और उसके परिणाम राजनैतिक थे। इसकी वजह से सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों को एक ऐसी सत्ता प्राप्त हो गई जो नगरों के साथ उनके सश्रय (alliance) को दृढ़ रखने के लिए आवश्यक थी।[1] राजतन्त्रों में भी राजा की शासकीय उपासना (official cult) का एक संवैधानिक महत्त्व था। यह कुछ-कुछ ऐसा ही था जैसा कि सोलहवीं शताब्दी के राजतन्त्र में राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त को प्राप्त था। राज्य की एकता और समरूपता (homogeneity) का प्रतिपादन करने के लिए यह सर्वश्रेष्ठ उपलब्ध साधन था। यह प्रकारान्तर से इस बात को कहने का ही एक उपाय था कि राजा की सत्ता अधिकार के किसी न किसी दावे के ऊपर ही आधारित रहती है। इसके अतिरिक्त, इसकी वजह से राजा का कानून राजा के जीवन के बाद भी जारी रहता था। यदि कानून सिर्फ राजा की इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र होता, तो वह इस स्थिति का कदापि उपभोग

1. W. W. Tarn, *Hellenistic Civilization* (1927), pp. 45ff

न कर पाता। रक्षक (Saviour) और हितकारी (Benefactor) जैसी धार्मिक उपाधियाँ यह प्रकट करती थी कि एक श्रेष्ठ राजा क्या कर सकता था। शान्ति और श्रेष्ठ शासन के लिए प्रजाजनों की कृतज्ञता अक्सर सच्ची होती थी।

फलतः, हेलेनिस्टिक युग में दैवी राजा के एक विशिष्ट सिद्धान्त का विकास हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा का कार्य प्रजा का रंजन करना था। एक सच्चा राजा ईश्वर था क्योंकि वह अपने राज्य में ऐसे ही समरसता स्थापित करता है जिस प्रकार कि ईश्वर संसार में समरसता स्थापित करता है। वह कानून और न्याय का जिसके द्वारा सम्पूर्ण संसार का शासन चलता है, अवतार होता था। इसी कारण राजा के अन्दर एक ऐसा देवत्व रहता था, जिससे जनसाधारण वंचित था। यदि कोई अयोग्य व्यक्ति ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त किये बिना ही राजसिंहासन पर अधिकार स्थापित कर लेता तो उसका विनाश अवश्यम्भावी था। फलतः, उस की सत्ता के पीछे नैतिक और धार्मिक शक्ति रहती थी। उसके प्रजाजन उनकी इस सत्ता का अनुभव करते थे और इसकी वजह से उनकी नैतिक स्वतन्त्रता और गरिमा में कोई कमी नहीं आने पाती थी। उस समय यह विचार बराबर बना रहा कि राजतन्त्र और निरंकुशता दोनों अलग अलग चीजें हैं।

काश! यदि मानव प्रकृति से आज्ञापालन की आवश्यकता निकल जाती। नश्वर प्राणी होने के नाते हम आज्ञापालन से बच नहीं सकते, यह हमारी भौतिकता का निकृष्टतम प्रमाण है। हमारा आज्ञापालन का प्रत्येक कार्य निम्न आवश्यकता के ही कारण होता है।'[1]

विश्वनगरी

(The City of the World)

दैवी से युक्त राजतन्त्र का आदर्शीकरण स्टोइसिज्म के शास्त्रीय रूप में नहीं दिखाई देता। इसका कारण यह है कि स्टोइसिज्म का क्रमबद्ध निरूपण एथेन्स में उस समय हुआ था जब कि यह नगर मकदूनिया के नियन्त्रण से कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुका था। तीसरी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में क्रिसिप्पस (Chrysippus) के हाथों में स्टोइक विद्यालय एथेन्स का सबसे सम्मानित विद्यालय बन गया। इस काल में स्टोइसिज्म ने अपना वह क्रमबद्ध रूप धारण किया जो उसने अपने सम्पूर्ण जीवन-काल में बनाए रखा। यद्यपि क्रिसिप्पस की शैली बड़ी बोझिल थी और उसमें वाचालता का पुट था, लेकिन उसने स्टोइक दर्शन को एक ऐसा रूप देने में सफलता प्राप्त की जिससे कि वह "प्राचीन काल में राजनैतिक, नैतिक और धार्मिक विश्वासों के व्यक्ति के लिए वौद्धिक आश्रय बना रहा।'[2] उसने विश्व राज्य तथा सार्वभौम विधि के विचार को एक भावनात्मक नैतिक अर्थ (positive moral meaning) दिया। सिनिक विचारकों ने इसे नगर-राज्य के प्रतिषेध के रूप में ही छोड़ दिया था।

---

1 Translated by Goodenough, *loc cit* p 89

2 W. S Ferguson, *Hellenistic Athens* (1911) p. 261.

स्टोइसिज्म का नैतिक प्रयोजन अन्य अरस्तू परवर्ती दर्शनों की भाँति आत्म-निर्भरता और व्यक्तिगत हित साधन को उत्पन्न करना था। वस्तुतः, इस सम्प्रदाय को इस बात का निरन्तर अनिश्चय ही रहा कि उसका आदर्श सांसारिक स्वार्थों से ऊपर रहने वाला संत था या कर्मठ व्यक्ति। स्टोइक और एपीक्यूरियन विचारकों की एक शिक्षा यह भी थी कि ज्ञान का कुछ अंश इस बात में भी निहित है कि व्यक्ति स्वयं को संसार से खींच ले। लेकिन, यह इस सम्प्रदाय की प्रधान प्रवृत्ति नहीं थी। इसके दो कारण थे। पहला कारण यह था कि इस सम्प्रदाय ने आत्म-निर्भरता को संकल्प शक्ति के कठोर अभ्यास द्वारा निभाने का प्रयास किया। इसके मुख्य गुण थे—दृढ़ता, सहनशीलता, कर्तव्यनिष्ठा और सांसारिक सुखों के प्रति उदासीनता। दूसरे, कर्तव्यनिष्ठा की भावना को धार्मिक शिक्षा द्वारा भी प्रोत्साहित किया जाता था। यह धार्मिक शिक्षा काल्विनवाद (Calvinism) की भाँति होती थी। स्टोइक का यह दृढ़ विश्वास था कि संसार में ईश्वर की इच्छा (Divine Providence) सबसे बलवती है। जीवन में प्रत्येक व्यक्ति का कुछ-न-कुछ कर्तव्य होता है जो उसे ईश्वर की ओर से इसी प्रकार दिया जाता है जैसे कि सेनापति सिपाही को कोई कार्य सौंपता है। स्टोइक विचारक जीवन की रंगमंच से भी तुलना किया करते थे। वे कहते थे कि मनुष्य इस जीवन रंगमंच पर अभिनेता मात्र है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि उसे जो भूमिका दी गई है वह उसका अच्छी तरह से निर्वाह करे। यह भूमिका चाहे महत्त्वपूर्ण हो चाहे महत्त्वहीन, चाहे सुखपूर्ण हो चाहे दुःखपूर्ण। स्टोइक विचारकों की मूल शिक्षा प्रकृति की एकता और पूर्णता अथवा एक सर्वश्रेष्ठ नैतिक व्यवस्था में धार्मिक विश्वास की थी। उनकी दृष्टि में प्रकृति के अनुसार जीवन का अभिप्राय यह था कि जीवन को ईश्वर की इच्छा के ऊपर छोड़ दिया जाए, मानवी शक्ति से परे की एक ऐसी शक्ति के ऊपर भरोसा किया जाए जो न्यायपूर्ण है तथा मन का संगठन ऐसा रखा जाए जो संसार की श्रेष्ठता और औचित्य में विश्वास रखने से उत्पन्न होता है।

इसलिए, मानव प्रकृति और स्वाभाविक प्रकृति के बीच कुछ मूल नैतिक उपयुक्तता है। इस सम्बन्ध में स्टोइक कहा करते थे कि मनुष्य बुद्धियुक्त है और ईश्वर बुद्धियुक्त है। उसी दैवी अग्नि से जो संसार को प्रकाशमान रखती है मनुष्य की आत्माओं में भी स्फुलिंग होता है। इसकी वजह से संसार के प्राणियों में मनुष्य की विशेष स्थिति हो जाती है। पशुओं के पास अपनी आवश्यकतानुसार सहज वृत्ति प्रेरणा और शक्तियाँ होती हैं। लेकिन, मनुष्य के पास बुद्धि होती है। वे बोल सकते हैं। उनमें उचित और अनुचित में विवेक का भाव होता है। इसलिए संसार के समस्त प्राणियों में केवल मनुष्य ही सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। उनके लिए सामाजिक जीवन आवश्यक भी है। मनुष्य ईश्वर के पुत्र हैं और इसलिए वे एक दूसरे के भाई हैं। स्टोइकों की दृष्टि में ईश्वर में विश्वास रखने का अर्थ सामाजिक प्रयोजनों में और इस बात में कि मनुष्य का इन सामाजिक प्रयोजनों के प्रति कुछ कर्तव्य है, विश्वास रखना है। इस विश्वास ने ही स्टोइसिज्म को एक नैतिक और सामाजिक शक्ति बना दिया। इसमें कोई काल्पनिक तत्त्व नहीं

या यद्यपि यह सही है कि शुरू के स्टोइकों ने अपने दार्शनिकों को आसमान पर चढ़ा दिया था।

इसलिए, स्टोइकों के विचार से एक विश्वराज्य है। ईश्वर और आदमी दोनों ही इनके नागरिक हैं। इसका एक संविधान है जो उचित विवेक है। यह आदमियों को इस बात की शिक्षा देता है कि क्या किया जाए और क्या नहीं। उचित विवेक प्रकृति का कानून है। वह हर जगह उचित और न्यायपूर्ण का मानक है। उसके सिद्धान्त अपरिवर्तनशील हैं। वह सब मनुष्यों, शासकों और शासितों के ऊपर समान रूप से लागू होता है। वह ईश्वर का कानून है। क्रिसिप्पस (Chrysippus) ने अपनी *On Law* नामक पुस्तक के शुरू में कहा है, "कानून देवताओं और मनुष्यों दोनों के सभी कार्यों का नियामक है। क्या सम्माननीय है और क्या अधम है, इस सम्बन्ध में कानून ही हमारा शासक और पथप्रदर्शक होना चाहिए। जो प्राणी प्रकृति से सामाजिक हैं, उनके लिए कानून का आदेश है कि वे क्या करें और क्या न करें।"

किसी स्थान-विशेष के परम्परागत सामाजिक भेदभावों का विश्व राज्य की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। शुरू के स्टोइक सिनिक विचारकों की तरह यह कहते रहे कि बुद्धिमान् व्यक्तियों के नगर में किसी प्रकार की संस्थाओं की आवश्यकता नहीं होगी। उन्होंने यूनानी और बर्बर, कुलीन और जन-साधारण, दास और स्वतन्त्र, अमीर और गरीब सबको समान बताया। मनुष्यों के बीच एक मात्र अंतर यह होता है कि कुछ मनुष्य बुद्धिमान् होते हैं और कुछ मूर्ख। कुछ मनुष्यों को ईश्वर रास्ता दिखा सकता है और कुछ को वह खींचकर ले आता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्टोइकों ने समानता के इस सिद्धान्त को नैतिक सुधार के लिए प्रयुक्त किया था। उनके लिए सामाजिक सुधार एक गौण वस्तु रही थी। क्रिसिप्पस (Chrysippus) का कहना है कि 'प्रकृति' से कोई व्यक्ति दास नहीं है, दास के साथ जीवन भर के लिए क्रीत मजदूर की भाँति व्यवहार होना चाहिए। क्रिसिप्पस का यह कथन अरस्तू के इस कथन से बहुत भिन्न है कि दास एक जीवित उपकरण होता है। विश्व-नगरी में नागरिकता सबको मिल सकती है। यहाँ नागरिकता विवेक के ऊपर आधारित है। विवेक सभी मनुष्यों में समान रूप से पाया जाता है। व्यवहार में, अधिकांश कठोर नीतिवादियों की भाँति स्टोइकों के ऊपर भी मूर्खों की संख्या का प्रभाव पड़ा था। रास्ता सीधा है लेकिन द्वार सँकरा है। इसे कम ही आदमी पा सकते हैं। लेकिन, फिर भी यहाँ हर आदमी अपनी योग्यता के आधार पर खड़ा है। बाहरी तत्त्वों से उसे कोई सहायता नहीं मिल सकती।

जहाँ स्टोइसिज्म ने व्यक्तियों के बीच सामाजिक भेदभावों को कम किया, उसने राज्यों के बीच एकता का भी विकास किया। प्रत्येक व्यक्ति के लिए दो कानून हैं, एक तो इस नगर का कानून है और दूसरा विश्व-नगर का कानून है। एक कानून लोकाचार का है और दूसरा विवेक का। इनमें से दूसरा कानून अधिक महत्त्वपूर्ण है। दूसरा कानून नगरों के कायदे-कानूनों के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है। लोकाचार विभिन्न प्रकार के हैं, लेकिन विवेक एक है। लोकाचार की विविधता के पीछे प्रयोजन

की कुछ-न कुछ एकता रहनी चाहिए। स्टोइसिज्म ने एक ऐसे विश्वव्यापी कानून की कल्पना की थी जिसकी अनन्त स्थानीय शाखाएँ हो। विभिन्न स्थान परिस्थितियो के अनुसार अलग अलग हो सकते हैं। इस विविधता के कारण यह आवश्यक नही है कि विवेकहीनता भी उत्पन्न हो। सम्पूर्ण पद्धति की विवेकशीलता के कारण विविधता विरोध को जन्म नहीं देती। सारत, यह चीज समरसता (harmony) अथवा दिलो की उस एकता से बहुत भिन्न नही है जिसके लिए सिकंदर ने प्रार्थना की थी। हैलेनिस्टिक ससार म हर जगह अनेक नगर और स्थानीय संस्थाएँ थी जो न्यूनाधिक रूप से स्वायत्तशासी थी। राज्य इन्हे सामान्य अथवा राजकीय विधि द्वारा एकता के सूत्र म ग्रथित रखते थे। नगरो के विवादो को तय करने के लिए विवाचन (arbitration) एक मान्य और सुप्रचलित पद्धति हो गई थी। आन्तरिक शासन म व्यक्तिगत विवादो का निर्णय अन्य नगरो से बुलाए गए न्यायिक आयोगो (judicial commissions) द्वारा होता था। इसने प्राचीन लोक न्यायाधीशो (popular juries) की प्रथा को समाप्त कर दिया था।[1]

इन दोनो ही प्रक्रियाओ म लोकाचारो की तुलना होती थी और न्यायभावना का आश्रय लिया जाता था। इसकी वजह से सामान्य विधि (Common Law) की भी वृद्धि हुई। इन परिस्थितियो मे प्राकृतिक विधि का सबसे अधिक प्रभाव रहा। बाद के इतिहास मे उच्चतर कानून के सम्बन्ध म स्टोइको के विचार का रोमन कानून के ऊपर अधिक प्रभाव रहा। लेकिन, इसके प्रभाव का स्वरूप प्रारम्भ से ही एक सा रहा था। इसने विवेकशीलता और न्यायभावना का एक आदर्श सामने रखा। एक ऐसे समय मे जब कि भावात्मक विधि (positive law) बहुत अधिक लोकाचार पर आधारित थी, इसने कानून की आलोचना करने का एक साधन प्रदान किया। हमारे कथन का सिर्फ यही अभिप्राय नही है कि भावात्मक विधि न्यायपूर्ण होनी चाहिए। यूनानियो म यह भी सदैव विचार रहा कि कानून एक नैतिक सहिता तथा न्याय का एक सामान्य नियम भी प्रदान करता है। स्टोइको ने इसमे दो कानूनो के सिद्धान्त को जोडा—एक तो नगर का लोकाचार का कानून था और दूसरा प्रकृति का अधिक पूर्ण कानून था। यदि हम आलोचना मे अन्दर न्याय भावना से काम लें, तो यह स्पष्ट है कि न्याय को कानून के वर्तमान रूप के साथ समीकृत नही किया जा सकता। स्टोइको का विश्व-नगर आगे चल कर ईसाई विचारधारा म ईश्वर का नगर बन गया।

स्टोइसिज्म का संशोधन

(The Revision of Stoicism)

स्टोइक दर्शन के सामान्य सिद्धान्त सदैव वही रहे जो क्रिसिप्पस (Chrysippus) ने तीसरी शताब्दी के अन्त मे छोडे थे। लेकिन, आगे चल कर इन सिद्धान्तो मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन इन सिद्धान्तो को जनता के लिए बोधगम्य बनाने तथा रोमनो को स्वीकार कराने के लिए आवश्यक हो गए थे। प्रारम्भिक

1. Tarn, *op cit*, p 77.

स्टोइसिज्म की मुख्य कठिनाई सिनिसिज्म से उन तत्वों के आधार पर उत्पन्न हुई थी जो उसके अन्दर अन्तर्निहित थे। स्टोइक दर्शन में सिनिक दर्शन की यह प्रवृत्ति बनी रही थी कि बुद्धिमान् व्यक्ति साधारण नागरिकों से भिन्न होता है। वह जीवन की सामान्य चिंताओं से मुक्त रहता है। स्टोइक दर्शन में सिनिक दर्शन की यह प्रवृत्ति भी बनी रही थी कि प्रकृति के कानून को विविध लोकाचारों और रूढ़ियों के साथ समीकृत न किया जाए। पुनस्सामंजस्य का कारण सन्देहवादी कार्नियाडीज (Carneades) की मर्मभेदी नकारात्मक आलोचना थी। दूसरी शताब्दी तक स्टोइसिज्म विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में एक ऐसी स्थिति में पहुँच गया था कि उसकी आलोचना के लिए एक पूरे नैष्ठिक जीवन की आवश्यकता हो गई थी। कहा जाता है कि एक बार कार्नियाडीज ने मजाक में कहा था, "यदि क्रिसिप्पस न होता, तो मैं कहाँ होता ?" कार्नियाडीज (Carneades) ने स्टोइसिज्म के प्रत्येक पक्ष की, उसके धर्म-शास्त्र, मनोविज्ञान और प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की। जहाँ तक राजनैतिक दर्शन का सम्बन्ध है इस आलोचना का सारांश यह था। स्टोइक दर्शन का बुद्धिमान् आदमी एक कल्पना-मात्र है। प्रकृति में उसकी सत्ता नहीं है। वह समस्त भावनाओं और सवेगों को नष्ट कर देता है। इसलिए वह मानवेतर है। जहाँ तक सिद्धान्त का सम्बन्ध था, यह आलोचना बिल्कुल ठीक थी। लेकिन, स्टोइक खुद अपने सिद्धान्त से ज्यादा अच्छे थे। दूसरे, कार्नियाडीज (Carneades) ने बताया कि नैतिक विश्वासों और व्यवहारों की विषमताओं को देखते हुए न्याय के सार्वभौम विधान में विश्वास करने में कठिनाई होती है। कार्नियाडीज (Carneades) ने स्वयं यह कहा था कि मनुष्यों का व्यवहार स्वार्थ तथा दुनियादारी से नियमित होता है। इस चीज को न्याय का नाम देना छोटे मुँह बड़ी बात है।

इस आलोचना के उत्तर के रूप में स्टोइक दर्शन का पुनर्निर्माण नहीं किया गया, बल्कि उसमें प्लेटो और अरस्तू के कुछ विचारों का समावेश कर उसका कुछ संशोधन किया गया। दूसरी शताब्दी के अन्त तक एक विश्वव्यापी संस्कृति को एक विश्वव्यापी दर्शन की आवश्यकता थी। उसने विश्वव्यापी दर्शन के निर्माण का प्रयास भी किया। इस विश्वव्यापी दर्शन की रचना कई स्रोतों से तत्वों को ग्रहण करके ही हो सकती थी। इस समय तक यह सम्भव हो गया था कि चौथी शताब्दी के दार्शनिकों के पास जाया जाए। अब नगर-राज्य का प्रश्न भी लोग प्रायः भूल चुके थे। यह उन बहुत से अवसरों में से पहला अवसर था जब दर्शन को शास्त्रीय परम्परा की ओर वापिस लौटा गया और इस आधार पर जीवन तथा सामाजिक सम्बन्धों का अधिक मानवोचित दृष्टिकोण अपनाया गया। जहाँ तक स्टोइसिज्म (Stoicism) का सम्बन्ध था, यह कार्य रोड्स के पानेटियस (Panaetius of Rhodes) ने किया था। यह व्यक्ति दूसरी शताब्दी समाप्त होने के कुछ समय पूर्व स्टोइक विद्यालय का अधिष्ठाता था। इस परिवर्तन के फलस्वरूप स्टोइक दर्शन की तर्क सम्बन्धी कठोरता कुछ अवश्य कम हो गई, परन्तु उसका शिक्षित व्यक्तियों के ऊपर प्रभाव बहुत बढ़ गया। शिक्षित व्यक्ति विविध सम्प्रदायों की बारीकी बातों में नहीं पड़ते थे। किसी सम्प्रदाय का कितना सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव पड़ता है, इसकी दृष्टि से यह चीज

प्राथमिक महत्त्व की है कि पानेटियस (Panaetius) ने स्टोइसिज्म का इस ढंग से पुनरुत्थान किया कि अभिजात वर्ग के रोमन लोग उसे समझ सके। इन लोगों को दर्शन के बारे में कोई जानकारी नहीं थी लेकिन ये यूनान के ज्ञान विज्ञान को आत्मसात् करना चाहते थे क्योंकि रोम में स्वयं ऐसे ज्ञान विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं थी। यूनान के विविध दर्शनों में केवल स्टोइसिज्म ही ऐसा था जो आत्म-संयम, कर्तव्यनिष्ठा और सार्वजनिक उत्साह के सद्गुणों पर जोर देता था। रोमन लोग इन गुणों के विशेष कायल थे। स्टोइक दर्शन का विश्वराज्य का सिद्धान्त भी रोमन लोगों के लिए विशेष रुचिकर था। इस सिद्धान्त ने रोमन विजय के निर्मम कार्य-व्यापार में आदर्शवाद का थोड़ा-सा पुट दे दिया था। स्टोइक दर्शन का रोमन रूपान्तर प्रस्तुत करने का श्रेय पानेटियस (Panaetius) और पोलीबियस (Polybius) नामक दो यूनानी मित्रों को है। इन लोगों के कई अभिजात रोमनों से सम्बन्ध थे। इनकी अपनी एक मण्डली बनी हुई थी जिसमें उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया।

पानेटियस (Panaetius) ने स्टोइसिज्म को मानववाद के एक दर्शन के रूप में बदल दिया। उसने कार्नियाडीज (Carneades) द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों का समाधान किया और इस प्रक्रिया में स्टोइक दर्शन की कठोरता को कुछ कम कर दिया। उसने उच्च तथा जनोपयोगी महत्त्वाकांक्षाओं और संवेगों के नैतिक औचित्य को स्वीकार किया और इस बात को अस्वीकार किया कि उच्च व्यक्ति भावनाओं से बिलकुल रहित हो सकता है। पानेटियस ने आत्मनिर्भरता के स्थान पर सार्वजनिक सेवा, मानवता, सहानुभूति और दया के आदर्श को सामने रखा। इससे भी ज्यादा महत्त्व की बात यह है कि उसने बुद्धिमान् व्यक्तियों के आदर्श समाज तथा दैनिक सामाजिक सम्बन्धों के विरोध को त्याग दिया। विवेक केवल बुद्धिमान् व्यक्तियों के लिए ही नहीं है, वह सब व्यक्तियों के लिए कानून है। यदि पद, जन्म-जात प्रतिभा और सम्पत्ति के कुछ अपरिहार्य भेद-भावों को छोड़ दिया जाये, तो सभी व्यक्ति समान हैं। सभी व्यक्तियों को कुछ ऐसे न्यूनतम अधिकार अवश्य मिलने चाहिएँ जिनके बिना मानव गरिमा सम्भव नहीं है। न्याय की यह मांग है कि कानून को ऐसे अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए और मनुष्य को यह अवसर देना चाहिए कि वह इन अधिकारों की रक्षा कर सके। इसलिए, न्याय राज्यों के लिए एक कानून है। यह वह सूत्र है जो उन्हें आपस में बाँधे रखता है। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि कोई राज्य अन्यायी हो ही नहीं सकता। लेकिन, इस कथन का यह अभिप्राय अवश्य है कि यदि कोई राज्य अन्यायपूर्ण हो जाता है, तो वह समरसता (harmony) में उस आदर्श को छोड़ देता है जो उसे राज्य बनाता है। राज्य का यह सिद्धान्त, जिसका निर्माता सम्भवतः पानेटियस (Panaetius) था, सिसरो (Cicero) में भी पाया जाता है। पानेटियस के मानववाद (humanitarianism) ने सभी रोमन स्टोइकों के ऊपर गहरा प्रभाव डाला।

"मानव जाति की एकता, राज्य में मनुष्य की और इसलिए न्याय की समानता, स्त्रियों और पुरुषों का समान मूल्य, पत्नियों और बच्चों के अधिकारों के

प्रति सम्मान, परिवार में उदारता, प्रेम और पवित्रता, साथियों के प्रति सहिष्णुता और दयाभाव, सभी स्थितियों में अपराधियों को प्राणदण्ड देते समय भी मनुष्यता—ये वे विचार हैं जो परवर्ती स्टोइकों की रचनाओं में भरे पड़े हैं।"[1]

पोलीबियस (Polybius) ने रोम का पहला इतिहास और रोम की राजनैतिक संस्थाओं का पहला अध्ययन प्रस्तुत किया। उसका इतिहास रोम की प्रधीनता में विश्व राज्य को एक तथ्य मान लेता है। वह स्पेन से एशिया माइनर तक की घटनाओं का वर्णन करता है और बतलाता है कि "रोमनों ने किन साधनों से और किस संविधान के द्वारा ५३ वर्षों से भी कम समय में सारे संसार को अपने चरणों में नत करा दिया।" पोलीबियस (Polybius) ने अपनी छठी पुस्तक में रोमन संविधान के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त का निरूपण किया है। इस सिद्धान्त पर पानेटियस (Panaetius) के विचारों का स्पष्ट प्रभाव है। यह सिद्धान्त सिपियोनिक मण्डली (Scipionic Circle) को भी प्रिय लगा था। पोलीबियस का विचार है कि इतिहास में अभ्युदय और पतन का अपरिहार्य नियम है।

पोलीबियस ने इसकी व्याख्या अमिश्रित शासन-प्रणालियों की इस प्रवृत्ति के आधार पर की है कि वे अपने विशिष्ट ढंग से विकृत हो जाती हैं। उसका कहना है कि राजतन्त्र अत्याचारी शासन हो जाता है, कुलीनतन्त्र अल्पजनतन्त्र बन जाता है आदि, आदि। प्लेटो ने अपने स्टेट्समेन में और अरस्तू ने अपनी पालिटिक्स में छः प्रकार के संविधानों का उल्लेख किया था। पोलीबियस ने भी संविधानों का यही वर्गीकरण स्वीकार कर लिया है। तथापि, उसका शासन परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्त प्लेटो अथवा अरस्तू की अपेक्षा अधिक निश्चित है। पोलिबियस के विचार से रोम की शक्ति का मूल कारण यह है कि उसने अनजाने ही एक ऐसे मिश्रित संविधान को अपनाया है जिसमें विविध तत्त्व ठीक से सन्तुलित हैं। रोमन संविधान में कौन्सल राजतन्त्र, सीनेट, कुलीनतन्त्र और जन सभाएँ लोकतन्त्र के तत्व हैं। लेकिन रोम के शासन का रहस्य यह है कि इसमें ये तीनों शक्तियाँ एक दूसरे के ऊपर अंकुश रखती हैं और वे शासन को अवनति से बचाती हैं। यदि कोई एक अंग अधिक शक्तिशाली हो जाये तो शासन की अवनति अवश्यम्भावी है। पोलीबियस ने मिश्रित शासन के पुराने सिद्धान्त को, जो अब बहुत प्रचलित हो गया था, दो दृष्टियों से संशोधित किया। प्रथमतः, उसने अमिश्रित शासनों की अवनति की प्रवृत्ति को एक ऐतिहासिक नियम बनाया लेकिन पोलीबियस का शासन-चक्र सम्बन्धी सिद्धान्त अनुमान के अनुभव पर आधारित हैं। वह रोमन संविधान के विकास के ऊपर लागू नहीं होगा। दूसरे, उसका मिश्रित शासन अरस्तू के मिश्रित शासन की भाँति सामाजिक वर्गों का सन्तुलन नहीं है प्रत्युत् राजनैतिक शक्तियों का सन्तुलन है। यहाँ उसने सम्भवतः रोम के एक विशिष्ट कानूनी सिद्धान्त को अपनाया जिसके अनुसार एक मजिस्ट्रेट अपनी समान

---

[1] Jacques Denis, Histoire des theories et des idees morales dans l'antiquite (1856), Vol II, pp 191t quoted by Janet Histoire de la science politique (1913), Vol I, p 249.

स्थिति के अथवा अपनी से कम स्थिति के मजिस्ट्रेट के किसी कार्य पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था।

इस प्रकार पोलीबियस ने मिश्रित शासन को प्रतिबन्धों और सन्तुलनों की एक पद्धति प्रदान की। इस पद्धति को माटेस्क्यू ने और अमरीकी सविधान के निर्माताओं ने अपनाया था।

जहाँ तक ऐतिहासिक यथार्थता का सम्बन्ध है, पोलीबियस का रोमन सविधान का विश्लेषण माटेस्क्यू के अंग्रेजी सविधान के विश्लेषण से अधिक महत्त्व नहीं था। पोलीबियस की योजना मे जनता के ट्रिब्यूनो का कोई महत्त्व नहीं है। य ट्रिब्यून बाद के सवैधानिक विकास मे सबसे महत्त्वपूर्ण मजिस्ट्रेसी बन गये थे। माटेस्क्यू की भाँति ही वह भी विचाराधीन सविधान के केवल सक्रमणकालीन रूप को ही समझ सका। वास्तव मे स्टोइक विचारो के रोम मे स्थानान्तरण के क्षेत्र मे मिश्रित शासन का सिद्धान्त केवल स्थायी महत्त्व रखता था। इसमे कोई सन्देह नहीं कि रोमन गणराज्य के बाद के दिनो मे रोमन कुलीनो को इस बात पर नाज़ था कि उनके पूर्वजो के सविधान ने अपनी सहजात वृत्ति से यूनान के राजनैतिक विज्ञान की सबसे बड़ी खोज का अनुकरण किया था। इसमे भी कोई सन्देह नहीं है कि स्टोइको के विश्व-राज्य ने एक प्रकार के भावात्मक साम्राज्यवाद की स्थापना की थी। इस भावना के अन्तर्गत विजेता यह समझ बैठे थे कि वे अपने कन्धो पर दवेन जातियो का भार उठा रहे हैं और राजनैतिक दृष्टि से अयोग्य ससार को शान्ति तथा सुव्यवस्था के वरदान दे रहे है।

ई० पू० दूसरी शताब्दी के अन्त मे एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति थी। ई० पू० १३३ मे टाइबेरियस ग्रेचस (Tiberius Grachus) ने आर्थिक वर्गों के विरोधी हितो से अपील कर सुधार करने का प्रयास किया था। इसके फलस्वरूप कुलीनतन्त्रात्मक गणराज्य के विरुद्ध सन्तुलित शासन-व्यवस्था के पक्ष मे प्रतिक्रिया हो गई थी।

मिश्रित राज्य का सिद्धान्त सिसरो की विचारधारा मे बहुत अधिक महत्त्व रखता था लेकिन यह गणराज्य की भग्न आशा थी। साम्राज्य के अधीन विकास की सीधी रेखा विश्वव्यापी रोमन नागरिकता की दिशा मे थी। ई० बाद २१२ मे कराकाला के आदेश (Edict of Caracalla) और वर्गभेदों के उन्मूलन द्वारा इसे प्राप्त किया गया था। इस आन्दोलन का अंतिम समतावाद रोमन स्टोइसिज्म की आत्मा के अधिक अनुकूल था। पानेटियस और पोलिबियस के प्रभाव के अधीन स्टोइसिज्म ने जो स्थायी रूप ग्रहण किया था, वह वस्तुत रोम की आत्मा के पूरी तरह अनुकूल नहीं था।

सिक्पोनिक मण्डली

(The Scipome Circle)

सिक्पोनिक मण्डली पर स्टोइसिज्म के प्रभाव का स्थायी महत्त्व यह है कि उसने कुछ ऐसे व्यक्तियो को प्रभावित किया जिन्होंने रोमन न्यायशास्त्र का पहले-पहल अध्ययन शुरू किया था। पानेटियस (Panaetius) ने स्टोइसिज्म का जो

पुनरुत्थान किया था, वह शासक वर्ग के इन रोमनों को रोम के पुराने आदर्शों की रक्षा के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन प्रतीत होता था। स्टोइसिज्म ने रोम के पुराने आदर्शों को परिष्कृत किया, उनमें कलात्मक और साहित्यिकता का संचार किया, उन्हें सहानुभूति, सद्भावना और उदारता की भावना दी। रोमनों ने इसका नाम ह्यू मेनिटास (humanitas) रखा। वे उसे सत्ता के नाते समस्त समाज के लिए, जिसकी न अपनी कोई अभिरुचि थी और न विचार, एक उपचार समझते थे। वे इसके द्वारा अपनी विजय को आदर्श रूप भी देना चाहते थे। स्किपोनिक मण्डली के द्वारा या उन व्यक्तियों के द्वारा जिनका इस मण्डली के सदस्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, यह आदर्श रोमन विधि के अध्ययन के एक महत्त्वपूर्ण काल में प्रभावी हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि रोमन न्यायशास्त्र के अध्ययन का श्रीगणेश करने वाले ये व्यक्ति स्टोइसिज्म (Stoicism) से बहुत अधिक प्रभावित थे।[1]

स्टोइसिज्म के रोम मे प्रवेश करने से पहले ही विधि के इतिहास ने रास्ता तय्यार कर दिया था। रोम की विधि भी प्राचीन काल की अनेक विधियों की भाँति शुरू में एक नगर की ही विधि रही थी। नगर में भी वह एक छोटे से नागरिक समुदाय की ही विधि थी। इस विधि के अन्तर्गत कुछ धार्मिक, कुछ औपचारिक और कुछ पैतृक समारोहों का समावेश रहता था। यह विधि केवल उन्हीं लोगों के ऊपर लागू होती थी जो जन्म से रोमन होते थे। जब रोम की राजनैतिक शक्ति और सम्पत्ति बढने लगी, तो बहुत से विदेशी भी रोम में आकर रहने लगे। इन विदेशियों को आपस में भी कुछ व्यवहार रखने पड़ते थे और रोमनों के साथ भी। इन व्यवहारों को किसी न किसी प्रकार कानूनी आधार देना भी आवश्यक हो गया। ई० पू० तीसरी शताब्दी के बीच में रोमनों ने इस प्रकार के मामलों को निपटाने के लिए एक विशेष प्रकार के न्यायाधीश (the *praetor peregrinus*) की नियुक्ति की। चूँकि, इस प्रकार के मामलों में कोई औपचारिक विधि लागू नहीं होती थी, इसलिए प्रक्रिया सम्बन्धी अनेक औपचारिकताओं की अनुमति देनी पड़ी। औपचारिक विधि को कहीं तो न्याय भावना, कहीं उचित व्यवहार और कहीं व्यवहार बुद्धि के आधार पर निर्मित करना पड़ा। इस विधि का मुख्य आधार व्यापारिक व्यवहार की सचाई और ईमानदारी थी। इस प्रकार से एक कारगर विधि संहिता में औपचारिकता नहीं थी। यह सार्वजनिक उपयोगिता और सम्मानजनक व्यवहारों के सम्बन्ध में प्रचलित नियमों के अनुसार थी। वकीलों ने इसका नाम *ius gentium* अथवा राष्ट्रों की समान विधि रखा था। इसके निर्माण की प्रक्रिया भी प्रायः वही रही थी जो कि अंग्रेजी व्यापारिक विधि (English Mercantile Law) के निर्माण की रही थी। जिस प्रकार कि इंगलैंड की व्यापारिक विधि को इंगलैंड की प्रमुख विधि संहिता में शामिल कर लिया गया था, इसी प्रकार ius gentium ने रोम की विधि के विकास पर असर डाला था। चूँकि, वह प्राचीन काल के कठोर कानून की अपेक्षा अधिक न्याय-

1. See *Cicero on the Commonwealth*, ed by Sabine and Smith (1929), Introduction, p 36

पूर्ण, अधिक युक्तिसगत और अधिक उपयुक्त था, अत उसने रोम के कानून को चमकाने मे अन्य तत्त्वो के साथ सहयोग किया।[1]

जस जेंटियम एक वैधानिक सकल्पना थी। इसका कोई विशेष दार्शनिक अर्थ नही था। इसके विपरीत जस नेचुरेल एक दार्शनिक शब्द था। जब यूनान के स्टोइक साहित्य का लैटिन मे अनुवाद हुआ, उस समय इस शब्द की रचना हुई थी। वास्तव मे, ये दोनो शब्द एक दूसरे के पूरक थे। इन दोनो सकल्पनाओं ने एक दूसरे के ऊपर लाभदायक प्रभाव डाला। उन्हे जनता ने सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया था। इनका क्रियान्वयन भी कुछ इस प्रकार हुआ कि स्थानीय लोकाचार की तुलना मे इनसे न्याय की अधिक आशा थी। इन्होंने भी विवेक के नियम को व्यावहारिक जीवन के सपर्क मे ला खडा किया। इस प्रकार स्टोइकों की आदर्श विधि और राज्यो की भावनात्मक विधि (positive law) मे सहयोग स्थापित हो गया। इससे न्यायशास्त्र के ऊपर अत्यधिक लाभदायक प्रभाव पडा। प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त ने लोकाचारो की प्रबुद्ध आलोचना की। इसने विधि के धार्मिक और औपचारिक स्वरूप को नष्ट कर दिया। इसने विधि के समक्ष समानता के विचार की अभिवृद्धि की। इसने मन्तव्य (intent) के तत्त्व पर जोर दिया। इसने युक्तिहीन कठोरता को कम किया। सक्षेप मे इसने रोमन वकीलों के सामने आदर्श रखा कि वे अपने व्यवसाय को उच्च नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित करें।

स्टोइक राजनैतिक दर्शन की पूरी उपलब्धि को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम दो सौ वर्षों के उस लम्बे रास्ते पर विचार कर लें जिस पर अरस्तू की मृत्यु के बाद राजनैतिक समाज चलता आया था। ३२२ के एथेंस की तुलना मे दो शताब्दियो बाद का भूमध्यसागरीय ससार आधुनिकप्राय था। यह एक ऐसा ज्ञात समाज था जिसमे उस समय का सारा ज्ञात ससार समाविष्ट था। इसकी यातायात व्यवस्था बडी समृद्ध थी और इसमे स्थानीय भेदो का कोई विशेष महत्त्व नही था। स्टोइसिज्म ने यह समझ लिया था कि नगर-राज्य का पूरा विनाश हो चुका है। नगर-राज्यो का आत्म-केंद्रित प्रदेशवाद तथा नागरिको और विदेशियो के बीच का कठोर भेदभाव अनुचित है। वह इस बात को भी अव्यावहारिक मानता था कि नागरिकता केवल उन्ही थोडे से व्यक्तियो तक सीमित रहे जो शासन के कार्यकलापो मे भाग लेते है। स्टोइसिज्म ने राजनैतिक आदर्शों का इस प्रकार पुनराख्यान किया जिससे कि वे महान् रोमन राज्य मे अनुकूल हो सकें। इसने एक विश्वव्यापी भ्रातृत्व के सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत की। इसमे सभी लोग न्याय के सूत्र द्वारा आपस मे बधे हुए थे। न्याय का क्षेत्र इतना व्यापक था कि इसमे सभी लोग समाविष्ट हो सकते थे। स्टोइसिज्म ने यह सिद्धान्त सामने रखा था कि जाति, पद और सम्पत्ति के भेदो के बावजूद मनुष्य समान हैं। उसका

---

1. See "The Development of Law Under the Republic" by F de Zulueta, *Cambridge Ancient History*, Vol. IX (1932), pp. 866ff.

आग्रह था कि नगर-राज्य की तरह महान् राज्य भी एक नैतिक संघ है। वह भी नैतिक आधार पर अपने प्रजाजनो ने निष्ठा की मांग कर सकता है। उसके लिए यह आवश्यक नही है कि वह अपने पाशविक बल के द्वारा नागरिको से अपने आदेशो का पालन कराए। यद्यपि इन आदर्शों की व्यवहार मे अनेक बार अवहेलना हुई, तथापि यूरोपीय जनता के राजनैतिक आदर्शों से वह सदैव के लिए कभी निरस्कृत नहीं हुए।

Selected Bibliography

"Roman Religion and the Advent of Philosophy." By Cyril Bailey in the *Cambridge Ancient History*, Vol VIII (1930) Ch 14

Chrysippe By Emile Brehier, Paris, 1910.

The Law of Nature" By James Bryce in *Studies in History and Jurisprudence*, Oxford 1901.

Alexander and the Greeks By Victor Ehrenberg. Trans. by Ruth F Von Velsen Oxford, 1938.

"Legalized Absolutism en route from Greece to Rome" By W S Ferguson in the *American Historical Review*, Vol. XVIII (1912-13), pp 29ff

Hellenistic Athens. By W S Ferguson, London, 1911.

"The Leading Ideas of the New Period." By W. S. Ferguson, in the *Cambridge Ancient History*, Vol. VII (1928) Ch. I.

"Polybius." By T. R. Glober, in the *Cambridge Ancient History*, Vol. VIII (1930), Ch. I.

"The Political Philosophy of the Hellenistic Kingship." By E.R. Goodenough, in *Yale Classical Studies*, Vol. I, New Haven, 1928.

The Politics of Philo Judaeus By E. R. Goodenough, New Haven, 1938.

Stoic and Epicurean. By R.D. Hicks, London, 1910, Chs. III, IV, VIII.

The Greek Sceptics By Mary Mill's Patrick, New York, 1929.

"The History of the Law of Nature" By Sir Frederick Pollock in *Essays in the Law*, London, 1922

Die Philosophie der Mittleren Stoa, By A. Schmekel, Berlin, 1892

Hellenistic Civilization By W. W. Tarn London. 1927.

"The Development of Law Under The Republic". By F. de Zulueta, in *The Cambridge Ancient History*. Vol. IX (1932,), Ch. 21

सिसरो और रोमन विधिवेत्ता

(Cicero and the Roman Lawyers)

ईसापूर्व पहली शताब्दी के आदि तक वे राजनैतिक प्रक्रियाएँ जो सिकन्दर की पूर्व-विजय के साथ प्रारम्भ हुई थी, काफी हद तक पूरी हो चुकी थी। सम्पूर्ण भूमध्यसागरीय विश्व में व्यापक उथल-पुथल शुरू हो गई थी और उसने प्राय एक समाज का सा रूप धारण कर लिया था। नगर-राज्य का कोई महत्व नही रहा था। उस समय आजकल की तरह राजनैतिक दृष्टि से प्रबुद्ध राष्ट्र नहीं थे। यह दिखाई देने लगा था कि मकदूनिया, मिश्र और एशियाई राज्यों का उत्तराधिकारी रोम होगा और समस्त ज्ञात सभ्य ससार एक राजनैतिक शासन के अधीन सयुक्त होगा। आगामी शताब्दी मे ही यह बात सच भी सिद्ध हुई। पहली शताब्दी के शुरू होने तक स्टोइक दर्शन ने विश्व राज्य, प्राकृतिक न्याय, और सार्वभौम नागरिकता के विचारो का प्रसार कर दिया था, यद्यपि इन शब्दों का अर्थ वैधानिक की अपेक्षा नैतिक अधिक था। अब इन दार्शनिक विचारों के और विकास तथा स्पष्टीकरण के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। एपीक्यूरियनों और स्केप्टिकों का नकारात्मक नीतिशास्त्र—'प्रकृति' का व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ समीकरण—अब भी चल रहा था, तथापि तत्काल भविष्य स्टोइकों द्वारा विकसित विचारों के साथ था। स्टोइक विचारों का अब इतना प्रचार हो गया था कि वे किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय में घुल-मिल सकते थे और शिक्षित व्यक्तियों की साझी सम्पत्ति हो सकते थे।

इन विचारो मे कई ऐसे विश्वास थे जिनका नैतिक या धार्मिक अर्थ तो था लेकिन जिनमे दार्शनिक यथातथ्यता की कमी थी। इस समय की एक प्रधान प्रवृत्ति यह थी कि विभिन्न सम्प्रदाय एक दूसरे के विचारो को उदार भाव से ग्रहण करते थे। इसके परिणामस्वरूप स्टोइसिज्म का भी शुद्ध स्वरूप, जो क्रिसिप्पस (Chrysippus) की रचनाओं मे मिलता है, विकृत हो गया। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि इसके बुनियादी विचार विश्व-संस्कृति में घुल-मिल गये। इन विचारों में एक विचार यह भी था कि ससार पर ईश्वर का दिव्य शासन है, ईश्वर बडा विवेकशील और अच्छा है। ईश्वर का मनुष्यों के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा पिता का पुत्रो के साथ होता है। एक विश्वास यह भी था कि सब मनुष्य आपस मे भाई हैं और वे एक समान मानव परिवार के सदस्य हैं यद्यपि उनमें भाषा तथा स्थानीय आचार की विविधता होती है। इसलिए, आचरण में नैतिकता, न्याय और विवेकशीलता के कुछ नियम होते हैं जो सभी मनुष्यों के ऊपर बधनकारी होते हैं। इन नियमों के मान्य होने का कारण यह नहीं है कि वे भावात्मक विधि (positive law) में निहित हैं और न यह कारण है कि उनका उल्लंघन होने पर दंड मिलता है। उनके मान्य होने का कारण यह है कि वे न्यायपूर्ण होते हैं और

आदर के पात्र होते हैं। मूलतः, मनुष्य की प्रकृति 'सामाजिक' होती है। इस विचार में इतनी यथातथ्यता नहीं थी जितनी कि अरस्तू के इस सिद्धान्त में थी कि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो नगर-राज्य की सभ्यता में अपना उच्चतम विकास कर सकता है। इस विचार में सिर्फ यह कहा गया था कि मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह ईश्वर और मनुष्य द्वारा निर्मित कानूनों का पालन करे। इन कानूनों का पालन करके मनुष्य अपनी प्रकृति को पूरा करता है। यदि वह इनके विपरीत कार्य करता है, तो वह अपने को उपहासास्पद बनाता है।

ईसा से एक शताब्दी पहले और ईसा से दो शताब्दी बाद इन विचारों के विकास की दो धाराएँ रही थी। एक धारा रोमन न्यायशास्त्र पर स्टोइसिज्म के प्रभाव के संदर्भ में आगे बढ़ती रही। इसने प्राकृतिक विधि को रोमन विधि के दार्शनिक तन्त्र में समाविष्ट कर लिया। दूसरी विचारधारा इस सिद्धान्त के साथ गुम्फित रही कि विधि और शासन दैवी विधान में सन्निहित हैं और वे मानव जीवन का पथप्रदर्शन करने के लिए हैं। इन दोनों ही अवस्थाओं में राजनैतिक दर्शन का विकास आनुषंगिक रीति से हुआ। इस युग के जिन रचनाकारों पर विचार किया जा सकता है, उनमें अकेले सिसरो का ही महत्त्व है। सिसरो ने रोमन गणराज्य की कुछ विशिष्ट राजनैतिक समस्याओं पर विचार किया है। लेकिन, उसका यह कार्य सबसे कम महत्त्वपूर्ण था। इस काल का राजनैतिक सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों का आनुषंगिक था। एक ओर तो विधि और न्यायशास्त्र का निर्माण किया गया और दूसरी ओर धर्मशास्त्र तथा धार्मिक संगठन का। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप जिस राजनैतिक दर्शन का निर्माण हुआ, वह यूनान के राजनैतिक दर्शन से बहुत भिन्न था। तथापि, इस राजनैतिक दर्शन का बाद की शताब्दियों के राजनैतिक दर्शन पर गहरा असर पड़ा। यूनान की विचारधारा में विधिवाद (Legalism) का कोई स्थान नहीं था। विधिवाद का अभिप्राय है कि राज्य विधि की सृष्टि है और उस पर समाजशास्त्रीय तथ्य या नैतिक हित की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत् वैधिक क्षमता और अधिकारों की दृष्टि से विचार होना चाहिए। विधिवाद का विचार रोमन काल से अब तक राजनैतिक दर्शन का एक अभिन्न भाग रहा है। यूनानियों के लिए यह कोई समस्या नहीं थी कि राज्य का धार्मिक संस्थाओं से और राजनैतिक दर्शन का धर्मशास्त्र से क्या सम्बन्ध हो। लेकिन रोमन काल में यह एक प्रमुख समस्या रही। यह समस्या मध्ययुग की प्रत्येक समस्या के ऊपर छायी रही और आधुनिक काल तक चली आई है। इसलिए, ईसाई सम्वत् के शुरू होने के समय और उसके कुछ शताब्दियों बाद तक राजनैतिक दर्शन में जो परिवर्तन हुए, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे यद्यपि इनके कारण राजनैतिक दर्शन पर किन्हीं व्यवस्थित ग्रंथों का निर्माण नहीं हुआ।

इस अध्याय में और इसके बाद के अध्याय में इन दो प्रवृत्तियों—कानूनी और धर्मशास्त्रीय प्रवृत्तियों—पर विचार किया जायेगा। दोनों प्रवृत्तियाँ एक ही समय में प्रचलित थी। हम पहले सिसरो पर और बाद में सिनेका पर विचार करेंगे। इस तरह हम काल-क्रम का कुछ उल्लंघन कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण देना जरूरी है। विधिवेत्ताओं के साथ सिसरो पर विचार करने का कारण यह नहीं है कि

यह कोई महान् न्यायशास्त्री रहा हो। ऐसी बात नहीं है। न यहा है कि उसकी रचनाओं को सिर्फ वकीलो ने ही पढा हो। सिसरो पर विधिवेत्ताओं के साथ विचार करने का कारण यही है कि उसकी विचारधारा धर्मनिरपेक्ष थी और यह विधिवेत्ताओं की विचारधारा से काफी साम्य रखती है। इसके विपरीत सिनेका के दर्शन पर धर्म की स्पष्ट छाप है। सिनेका को ईसाई धर्म संस्थापको के साथ रखने का कारण यह प्रगट करना है कि जब ईसाई धर्म शुरू हुआ था उसका कोई नया राजनैतिक दर्शन नही था। ईसाई धर्म स्वय ही और बाद मे साम्राज्य के कानूनी धर्म के रूप मे उसकी स्थापना उन सामाजिक और बौद्धिक परिवर्तनों का फल थी जो काफी लम्बे समय से काम कर रहे थे और जिन्होंने उन विचारको को समान रूप से प्रभावित किया था जिन्होंने नए धर्म को कभी स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार ईसाई धर्म के संस्थापकों के राजनैतिक विचार प्राय वही थे जो सिसरो और सिनेका के थे। ऐतिहासिक दृष्टि से इस बात को मानने का कोई कारण नही है कि ईसाई सवत् ने राजनैतिक दर्शन के क्षेत्र मे एक नये युग का समारम्भ किया।

सिसरो
(Cicero)

सिसरो का राजनैतिक दर्शन अपनी मौलिकता के कारण महत्वपूर्ण नही है। उसकी पुस्तकें सग्रह मात्र हैं। इस बात को उसने स्वय भी स्वीकार किया है। तथापि सिसरो की रचनाओं मे एक गुण है और यह गुण काफी महत्व रखता है। सिसरो की कृतियो को सभी पढते थे। जहाँ कोई विचार सिसरो की लेखनी द्वारा लिपिबद्ध हो जाता था, वह भविष्य के लिए सुरक्षित समझा जाता था। सिसरो का राजनैतिक दर्शन उस स्टोइसिज्म का एक रूप है जिसे पानेटियस ने रोमन जनता के लिए प्रस्तुत किया था और स्किपीनिक मण्डली को समर्पित किया था। ईसा की पहली शताब्दी के शुरू मे इस दर्शन का क्या रूप था, यह हम सिसरो की रचनाओं से ही ज्ञात कर सकते हैं। सिसरो ने अपने दो राजनैतिक ग्रन्थों रिपब्लिक और लॉज की रचना शताब्दी के मध्यकाल मे की थी। गणराज्य के अन्तिम दिनो मे, विशेषकर अनुदार और अभिजातीय क्षेत्रों मे रोम का क्या राजनैतिक दर्शन था, इसका सर्वश्रेष्ठ दर्पण सिसरो का राजनैतिक साहित्य है।

सिसरो को और उसके राजनैतिक दर्शन को समझने के लिए हमे दो बातें अलग अलग समझ लेनी चाहिएँ—पहली यह कि सिसरो की रचना का तात्कालिक उद्देश्य क्या था और दूसरी यह कि उसका दीर्घकालीन प्रभाव क्या रहा। सिसरो का प्रभाव बहुत अधिक रहा है लेकिन समय की दृष्टि से देखते हुए उसका सारा कृतित्व यदि असगति नही तो पूर्ण असफलता अवश्य थी। सिसरो की रचना का नैतिक उद्देश्य यह बताना था कि सार्वजनिक सेवा के सम्बन्ध मे रोम के परम्परागत गुण बहुत अच्छे हैं और राजनेता का जीवन बहुत अच्छा होता है। वह इन बातों को यूनानी राजदर्शन का पुट देकर रोमन जनता के समक्ष उपस्थित करना चाहता था। सिसरो का राजनैतिक उद्देश्य समय के प्रवाह को पीछे पलटना था। वह गणराज्य के सविधान

को उस रूप में स्थापित करना चाहता था जिस रूप में वह टाइबेरियस ग्रैक्स के क्रान्तिकारी ट्रिब्यूनेट के पहले रहा था। इसी कारण उसने अपने रिपब्लिक ग्रंथ में कनिष्ठ स्किपिओ और लेलियस को संवादों का पात्र चुना है। जिस समय सिसरो ने लिखा था, उस समय इस चीज में वास्तविकता बहुत कम थी और उसकी मृत्यु के एक पीढ़ी बाद बिलकुल वास्तविकता नहीं रही थी।

सिसरो के राजनैतिक दर्शन के इस अंग में दो विचार प्रमुख थे। सिसरो इन विचारों को बहुत महत्त्व देता था। लेकिन उसके युग में इन विचारों का केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रह गया था। यह विचार थे—मिश्रित संविधान की श्रेष्ठता में विश्वास और संविधानों के ऐतिहासिक चक्र का सिद्धान्त। सिसरो ने इन दोनों विचारों को पोलीबियस से और सम्भवतः पानेटियस से ग्रहण किया था। हाँ, उसने इन विचारों को रोमन इतिहास के सम्बन्ध में अपने ज्ञान के संदर्भ में संशोधित करने की अवश्य कोशिश की। वास्तव में सिसरो की योजना बहुत अच्छी थी लेकिन इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उसके पास दार्शनिक क्षमता नहीं थी। सिसरो का उद्देश्य एक पूर्ण राज्य (मिश्रित संविधान) के सिद्धान्त का निरूपण करना था। वह इसके सिद्धान्तों को रोमन संविधान (चक्र सिद्धान्त के अनुसार) के विकास के संदर्भ में स्थापित करना चाहता था। सिसरो का विचार था कि रोम का संविधान सबसे अधिक स्थायी और पूर्ण संविधान था। इस संविधान का निर्माण विभिन्न व्यक्तियों ने विभिन्न परिस्थितियों में, ज्यों-ज्यों राजनैतिक समस्याएँ उठती गई थीं, उनके समाधान के लिए किया था। राज्य के विकास का वर्णन कर और उसके विविध अंगों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध बताने से राज्य के एक सिद्धान्त का निर्माण सम्भव है, जिसमें कल्पना का पुट कम से कम रहे। लेकिन दुर्भाग्यवश सिसरो में रोमन अनुभव के अनुसार एक ऐसा नया सिद्धान्त निकालने की क्षमता नहीं थी जो उसके यूनानी स्रोतों की अवहेलना करता हो। संविधानों के चक्र के सम्बन्ध में पोलीबियस ने भी एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। उसका कहना था कि अच्छा और बुरा संविधान बारी-बारी से चलता रहता है। राजतन्त्र के बाद अत्याचारी शासन आता है। अत्याचारी शासन के बाद कुलीनतन्त्र, कुलीनतन्त्र के बाद अल्पजनतन्त्र, अल्पजनतन्त्र के बाद सौम्य प्रजातन्त्र और फिर सौम्य प्रजातन्त्र के बाद भीड़ का शासन आता है। तर्क की दृष्टि से यह चक्र ठीक था यद्यपि यह विचार मुख्यतः नगर-राज्यों के अनुभव के ऊपर आधारित था। सिसरो को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि यह विचार रोम के इतिहास के सम्बन्ध में उसके विचारों से मेल नहीं खाता। फल यह हुआ कि वह संविधानों के चक्र के सिद्धान्त की प्रशंसा तो करता रहा तथापि उसने उसकी तार्किक सुन्दरता को भी नष्ट कर दिया। इसी तरह सिसरो मिश्रित संविधान के गुणों की प्रशंसा करता था। उसका खयाल था कि रोम का संविधान भी मिश्रित संविधान है। तथापि, उसने यह स्पष्ट नहीं किया कि रोम की कौनसी संस्थाएँ मिश्रित संविधान के किस तत्त्व को प्रगट करती हैं। इस सम्बन्ध में उसका विवरण टैसिटस की इस न्यायोक्ति को सच्चा सिद्ध कर देता है कि मिश्रित संविधान की प्रशंसा करना उसको कार्यान्वित करने की अपेक्षा आसान है। रोम की संस्थाओं के इतिहास

के संदर्भ में राज्य के एक सिद्धान्त को प्रस्तुत करना बहुत श्रेष्ठ कार्य था। लेकिन, इसे एक ऐसा व्यक्ति नहीं कर सकता था जिसने अपना सिद्धान्त यूनानी स्रोतों से बना बनाया ले लिया और उसे रोम के इतिहास के विवरण पर लागू किया।

राजनैतिक दर्शन के इतिहास में सिसरो का वास्तविक महत्व यह है, कि उसने स्टोइकों के प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त की ऐसी व्याख्या की जो उसके समय से १६वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप में सब को ज्ञात रही। यह व्याख्या सिसरो के पास से रोम के विधिवेत्ताओं के पास गई और वहाँ से चर्च के संस्थापकों के पास। इस व्याख्या के महत्वपूर्ण अंशों को सम्पूर्ण मध्ययुग में अनेक बार दुहराया गया। यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि रिपब्लिक की मूल पुस्तक बारहवीं शताब्दी के बाद खो गई थी और उसका पता केवल १६वीं शताब्दी में ही चला, उसके महत्वपूर्ण अंश आगस्टाइन और लैक्टान्टियस की पुस्तकों में समाविष्ट हो गए थे। इस तरह से सबको ही उनकी जानकारी हो गई थी। यद्यपि सिसरो के ये विचार मौलिक नहीं थे लेकिन सिसरो ने उन्हें उत्कृष्ट साहित्यिक शैली में प्रस्तुत किया था। सिसरो की रचनाएँ लैटिन साहित्य की अक्षय निधि हैं। पश्चिमी यूरोप में सिसरो के विचारों के प्रसार का एक प्रमुख कारण उनकी साहित्यिकता भी है। जो कोई भी व्यक्ति बाद की शताब्दियों के राजनैतिक दर्शन का अध्ययन करना चाहता है, उसे सिसरो के श्रेष्ठ अवतरणों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

सिसरो की विचारधारा में पहली बात प्रकृति की एक सार्वभौम विधि के सम्बन्ध में है। इस विधि के दो स्रोत हैं। ईश्वर का संसार पर दयापूर्ण शासन और मनुष्य की बौद्धिक तथा सामाजिक प्रकृति। अपनी इस प्रकृति के कारण मनुष्य ईश्वर के निकट है। विश्व राज्य का यही संविधान है। यह अपरिवर्तनशील है। यह सब मनुष्यों और सब राष्ट्रों के ऊपर लागू होता है। इसका उल्लंघन करने वाला कोई भी विधान विधि की संज्ञा पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। किसी भी शासक अथवा राष्ट्र में यह शक्ति नहीं है कि वह गलत चीज को सही कर सके।

"वस्तुतः केवल एक ही कानून है और वह सही विवेक है। वह प्रकृति के अनुसार है, वह सब मनुष्यों के ऊपर लागू होता है और अपरिवर्तनशील तथा शाश्वत है। यह कानून मनुष्यों को आदेश देता है कि वे अपने कर्तव्यों का पालन करें। यह कानून मनुष्य को गलत काम करने से रोकता है। इसके आदेश और प्रतिषेध अच्छे आदमियों के ऊपर असर डालते हैं। लेकिन उनका बुरे आदमियों के ऊपर कोई असर नहीं पड़ता। इस कानून को मानवी विधान द्वारा अवैध करना नैतिक दृष्टि से कभी सही नहीं है। इसके संचालन को सीमित करना भी उचित नहीं है। इसको पूरी तरह रद्द कर देना सम्भव है। सीनेट या जनता हमें यह छूट नहीं दे सकती कि हम इसके पालन के दायित्व से बच जायें। इसकी व्याख्या करने के लिए किसी सैक्सटसऐलियस की जरूरत नहीं है। यह ऐसा नहीं करता कि एक नियम तो रोम में बनाए और दूसरा एथेन्स में। यह ऐसा भी नहीं करता कि आज एक नियम बनाए और कल दूसरा। सिर्फ एक कानून होता है। वह शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। वह सब कालों में सब मनुष्यों के ऊपर बंधनकारी है। मनुष्यों का केवल एक समान स्वामी और शासक है। वह ईश्वर है। वही इस कानून का निर्माता, व्याख्याता और प्रवर्तक है। जो व्यक्ति इस कानून का पालन

नहीं करता वह अपने अदृष्ट स्वरूप से वंचित हो जाता है। जो व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप से वंचित होगा उसे कठोरतम दण्ड मिलेगा। यह दूसरी बात है कि वह व्यक्ति ऐसे कुछ परिणामों से बच जाये जिन्हें लोग साधारणतया दण्ड कहते हैं।"[1]

जैसा कि सिसरो ने निश्चित शब्दावली में आग्रह किया है, इस शाश्वत कानून के अनुसार सभी मनुष्य समान हैं। वे विद्या बुद्धि में समान नहीं हैं। राज्य के लिए भी यह उचित नहीं है कि वह उनकी सम्पत्ति बराबर कर दे। लेकिन जहाँ तक विवेक का सम्बन्ध है, मनुष्यों की मनोवैज्ञानिक रचना का सम्बन्ध है, उनकी उत्तम और अधम सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध है, सभी मनुष्य समान हैं। सिसरो का कहना है जो चीज मनुष्य की समानता में बाधा डालती है, वह भूल है, खराब आदत है और झूठी राय है। सभी मनुष्य और मनुष्यों की सभी जातियाँ एक सी अनुभव की क्षमता रखती हैं और उचित तथा अनुचित के बीच भेद करने की भी उनमें समान क्षमता है।

"दार्शनिकों की समस्त चर्चाओं का सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि हम न्याय के लिए उत्पन्न हुए हैं। न्याय का आधार मनुष्य के विचार नहीं प्रत्युत प्रकृति है। यदि आप एक बार मनुष्य के सम्पर्क और साथी मनुष्यों के साथ उसकी एकता को समझ लें तो यह तथ्य बिलकुल स्पष्ट हो जायेगा। मनुष्यों की आपस में जैसी समानता है वैसी समानता और किसी चीज में नहीं मिलती। यदि बुरी आदतें और गलत विश्वास दुर्बल मस्तिष्कों को मनचाहे दिशा में न मोड़ देते तो मानवबन्धुत्व और समानता का सिद्धान्त बिलकुल स्पष्ट होता।"[2]

प्रो० ए० जे० कार्लायल ने कहा है कि राजनैतिक दर्शन में कोई भी परिवर्तन इतना आश्चर्यजनक नहीं है जितना आश्चर्यजनक परिवर्तन अरस्तू के इस तरह के अवतरण में दिखाई देता है।[3] अरस्तू ने जिस तर्क-पद्धति का उपयोग किया था यह तर्क-पद्धति उससे बिलकुल उलटी है। अरस्तू का विचार था कि स्वतन्त्र नागरिकता केवल समान व्यक्तियों के बीच ही रह सकती है। लेकिन चूँकि मनुष्य समान नहीं हैं इसलिए नागरिकता केवल थोड़े से और सावधानी से चुने हुए व्यक्तियों तक ही सीमित रहनी चाहिए। इसके विपरीत सिसरो का विचार है कि चूँकि सभी मनुष्य कानून के अधीन हैं, इसलिए वे साथ ही नागरिक हैं और उन्हें एक अर्थ में समान होना चाहिए। सिसरो के लिए समानता एक तथ्य नहीं प्रत्युत् एक नैतिक आवश्यकता है। नैतिक शब्दावली में यह कुछ ऐसा ही भाव प्रकट करती है जैसा कि किसी ईसाई का यह कथन कि ईश्वर व्यक्तियों का आदरकर्ता नहीं है। इसका राजनैतिक लोकतन्त्र का कोई निहितार्थ नहीं है यद्यपि इस तरह की नैतिक धारणा के अभाव में लोकतन्त्र की रक्षा करना कठिन हो जाएगा। सिसरो के कथन का सिर्फ यही तात्पर्य है कि प्रत्येक मनुष्य गरिमा और आदर का पात्र है। मनुष्य

1 *Republic*, III 22 Trans by Sabine and Smith
2 Laws, I, 10 28 29 (Trans. by C. W. Keys)
3 A History of Mediaeval Political Theory in the West, Vol 1 (1903), p 8

मानवी बन्धुत्व के दायरे से बाहर नहीं है, उसके भीतर है। यदि वह एक दास भी होता तो अरस्तू के कथनानुसार एक सजीव उपकरण नहीं होता बल्कि क्रिसिप्पस के कथनानुसार जीवन के लिए किराये पर लिया गया एक मजदूर होता है। इसी बात को अठारह शताब्दियों पश्चात् काट ने अपने इस सूत्र में व्यक्त किया था कि मनुष्य को एक साधन नहीं प्रत्युत् साध्य समझना चाहिए। आश्चर्य की बात है कि क्रिसिप्पस और सिसरो अरस्तू की अपेक्षा काट के अधिक नजदीक हैं। सिसरो के अपने इस नैतिक सिद्धान्त से यह राजनैतिक निष्कर्ष निकलता है कि कोई राज्य उस समय तक स्थायी रूप से नहीं रह सकता जब तक कि वह उन पारस्परिक दायित्वों और पारस्परिक अधिकारों को मान्यता न दे जो नागरिकों को एक सूत्र में बाँधे रखते हैं। वस्तुत, पारस्परिक अधिकारों और दायित्वों की यह स्वीकृति ही राज्य का मूल आधार है। राज्य एक नैतिक समाज है। वह उन व्यक्तियों का एक समुदाय है जिनके पास सामूहिक रूप से राज्य है और उसका कानून है। इसी कारण सिसरो ने राज्य को जनता का मामला कहा है। यह अंग्रेजी के पुराने शब्द कॉमनवैल्थ (Commonwealth) से साम्य रखता है। एपीक्यूरियन विचारकों और स्केप्टिकों के विरोध में सिसरो का यह भी तर्क है। सिसरो की विचारधारा का मूल तत्व है कि न्याय एक अन्तर्भूत सद्गुण है। जब तक राज्य नैतिक प्रयोजनों वाला समाज न हो और जब तक वह नैतिक बंधनों से न बंधा हो तब तक वह कुछ नहीं है। उस अवस्था में जैसा कि बाद में ऑगस्टाइन ने कहा, वह एक बड़े पैमाने पर खुली डकैती है। नैतिक कानून अनैतिकता को असम्भव नहीं करता। राज्य भी अत्याचारी हो सकता है और अपने प्रजाजनों पर बल के द्वारा शासन कर सकता है लेकिन जिस सीमा तक राज्य यह करता है, उस सीमा तक वह अपने वास्तविक स्वरूप से वंचित हो जाता है।

"तब फिर राज्य जनता का मामला है। जनता मनुष्यों का प्रत्येक समूह नहीं होती, जिसका किस ढंग से चाहे संगठन कर लिया जाए। जनता का निर्माण उस समय होता है जब मनुष्य पर्याप्त संख्या में एक दूसरे के नजदीक आवें। इन मनुष्यों में कानून और अधिकारों के बारे में कुछ समझौता होना चाहिए और उनमें यह इच्छा भी होनी चाहिए कि वे एक दूसरे के लाभ के लिए कार्य कर सकें।"[1]

इस प्रकार राज्य एक सामूहिक संस्था है। इस सदस्यता का द्वार सभी सदस्यों के लिए खुला हुआ है। इसका उद्देश्य अपने सदस्यों को पारस्परिक सहायता और न्यायपूर्ण शासन के लाभ प्रदान करना है। इस विचार के तीन परिणाम निकलते हैं। पहला, चूंकि राज्य और उसका कानून जनता की समान सम्पत्ति है इसलिए उसकी सत्ता का आधार जनता की सामूहिक शक्ति है। जनता अपना शासन अपने आप कर सकती है। उसमें अपनी रक्षा करने की शक्ति है। दूसरे, राजनैतिक शक्ति जनता की सामूहिक शक्ति उसी समय होती है जब कि उसका न्यायपूर्ण और

1. *Republic*, 1, 25

वैधानिक ढंग से प्रयोग हो। जो शासक राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करता है, वह अपने पद के कारण करता है। उसका आदेश कानून है और वह कानून की सृष्टि है।

"जिस प्रकार, कानून शासक पर शासन करते हैं, शासक जनता पर शासन करता है। यह कहना सही है कि शासक बोलता हुआ कानून है और कानून मूक शासक है।"[1]

तीसरे, स्वयं राज्य और उसका कानून ईश्वरीय कानून नैतिक कानून अथवा प्राकृतिक कानून के अधीन है। यह कानून उच्चतर कानून है और मनुष्य की इच्छा व मनुष्य की संस्थाओं के परे है। राज्य में बल का प्रयोग बहुत कम होना चाहिए और अनिवार्य होने पर उसका प्रयोग उसी समय होना चाहिए जब न्याय और औचित्य के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए यह अपरिहार्य हो।

शासन के ये सामान्य सिद्धान्त—सत्ता का आधार जनहित होना चाहिए, उसका प्रयोग कानून के अनुसार होना चाहिए और उसका औचित्य केवल नैतिक आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है—सिसरो के रचना काल के कुछ समय बाद ही सर्वत्र स्वीकार कर लिये गये। ये कई शताब्दियों तक राजनैतिक दर्शन के सामान्य सिद्धान्त रहे। सम्पूर्ण मध्ययुग में इन सिद्धान्तों के बारे में कोई मतभेद नहीं था। ये राजनैतिक विचारकों की समान सम्पत्ति बन गये थे। यह अवश्य संभव है कि इन सिद्धान्तों के प्रयोग के बारे में लोगों में, उन लोगों में भी जिनकी इन सिद्धान्तों में दृढ़ आस्था थी, कुछ मतभेद रहा हो। उदाहरण के लिए इस बात से सभी सहमत हैं कि अत्याचारी तिरस्कार के योग्य होता है। उसका अत्याचार जनता के ऊपर भारी अत्याचार है। लेकिन, सिसरो यह स्पष्ट नहीं कर पाता कि लोग अत्याचारी शासन की स्थिति में क्या करें, या लोगों की ओर से कौन व्यक्ति कार्य करे या यह अत्याचार कितना निकृष्ट होना चाहिए जब कि इसके खिलाफ कोई कार्यवाही की जाये। सिसरो यह अवश्य मानता था कि राजनैतिक शक्ति जनता से प्राप्त होनी चाहिए। लेकिन, उसके इस कथन का अभिप्राय वे राजनैतिक धारणाएँ नहीं थीं जो आजकल प्रचलित की गई हैं। सिसरो ने हमें यह नहीं बताया है कि जनता का कौन प्रतिनिधि है, वह जनता का प्रतिनिधि कैसे बन जाता है, या वह जनता ही कौन है जिसका वह प्रतिनिधान करता है। ये सारे प्रश्न व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। राजनैतिक सत्ता का स्रोत जनता है—आधुनिक प्रतिनिधि शासन-प्रणालियों को समझने के लिए इस प्राचीन सिद्धान्त का प्रयोग, एक पुराने विचार को नई स्थिति में ग्रहण करना भर था।

रोम के विधिवेत्ता

(The Roman Lawyers)

रोम के न्यायशास्त्र के विकास का स्वर्णयुग ईसा के बाद की दूसरी और तीसरी शताब्दियों के बीच में था। इस युग के महान् विधिवेत्ताओं की रचनाओं का संग्रह

1. Laws, III, 1, 2.

और सकलन *Digest* (या *Pandects*) के रूप में किया गया। सम्राट् जस्टीनियन (Emperor Justinian) ने इस संग्रह को ५३३ में प्रकाशित किया। इस वैधानिक साहित्य के अनुशीलन से जिस राजनैतिक दर्शन का साक्षात्कार होता है वह सिसरो के सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति और पुनराख्यान मात्र है।

राजनैतिक सिद्धान्त इस सम्पूर्ण रचना का बहुत ही महत्वहीन अंश है। राजनैतिक दर्शन से सम्बद्ध अवतरणों की संख्या न तो बहुत अधिक है और न वे बहुत विस्तृत हैं। विधिवेत्ता न्यायशास्त्री थे, दार्शनिक नहीं। इसलिए, यह कहना कठिन है कि जब कहीं कोई दार्शनिक विचार आता है, तो उसे कितनी गम्भीरता से ग्रहण किया जाये। पाठक के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि क्या लेखक उसे अलंकरण मात्र समझता था या इसने लेखक के वैधिक निर्णय पर वास्तव में प्रभाव डाला। विधिवेत्ताओं का यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि वे किसी राजनैतिक दर्शन का निर्माण करें या विधि में दर्शन का समावेश करें। रोम के विधिवेत्ताओं का दर्शन किसी पारिभाषिक अर्थ में दर्शन नहीं था। यह केवल कुछ सामान्य नैतिक और सामाजिक सिद्धान्तों का समूह मात्र था। ये सामाजिक और नैतिक सिद्धान्त सभी बुद्धिमान् व्यक्तियों को ज्ञात थे। वे इन सिद्धान्तों को अपने न्यायिक प्रयोजनों के लिए उपयोगी समझते थे। उन्होंने स्टोइकों और सिसरो की परम्परा के दार्शनिक विचारों को सामान्य रूप से चुना था। इससे रोमन विधिवेत्ताओं की विचारधारा कुछ और भी आश्चर्यजनक लगती है। यदि रोमन विधिवेत्ता चाहते, तो वे ऐपीक्यूरियन और स्केप्टिक विचारकों की रचनाओं में निहित अहंकारपूर्ण व्यक्तिवाद से भी लाभ उठा सकते थे, लेकिन उन्होंने इनका कोई उपयोग नहीं समझा। रोमन विधिवेत्ताओं की राजनैतिक दर्शन में रुचि बड़ी असम्बद्ध और अव्यवस्थित थी, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनके कृतित्व का कोई मूल्य ही नहीं है। सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप में रोमन विधि को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इसलिए, जो भी विचार इस विधि का मान्य अंग हो, उसे भी सम्मान का पात्र समझा जाता था। पुनश्च, यदि कोई सामान्य सिद्धान्त विधि में निहित होता था, तो उसे सारे शिक्षित व्यक्ति और विधिवेत्ता जान जाते थे। धीरे-धीरे एक दूसरे के कहने सुनने से यह ऐसे व्यक्तियों की जानकारी में भी आ जाता था जो बिलकुल विद्वान् नहीं होते थे। अन्त में, रोमन विधि यूरोप की सभ्यता के इतिहास में एक बहुत बड़ी बौद्धिक शक्ति बन गई। इस विधि ने ऐसे सिद्धान्त और ऐसी शैलियाँ प्रदान कीं जिनके दायरे में मनुष्य सभी विषयों के बारे में सोचते थे। राजनीति भी इनमें एक विषय था। वैधानिक आधार पर विचार-विनिमय करना, मनुष्य के अधिकारों और शासकों की शक्तियों के सम्बन्ध में तर्क वितर्क करना, राजनैतिक दर्शन निर्माण की एक सर्वस्वीकृत पद्धति बन गई।

डाइजेस्ट (Digest) में सकलित विधिवेत्ताओं और जस्टीनियन के इन्स्टीट्यूट्स (Justinian's Institutes) की रचना करने वाले विधिवेत्ताओं ने विधि के तीन मुख्य प्रकारों को स्वीकार किया—दीवानी विधि (*ius civile*), अन्तर्राष्ट्रीय विधि (*ius gentium*) और प्राकृतिक विधि (*ius naturale*)। दीवानी विधि किसी राज्य विशेष के अधिनियम (enactments) या परम्परागत विधि (customary law)

हैं। अब इस विधि को भावात्मक राष्ट्रीय विधि (positive municipal law) कहा जाता है। शेष दोनों विधियों का क्षेत्र स्पष्ट नहीं है। न तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि (ius gentium) और प्राकृतिक विधि (ius naturale) का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट है और न यही पता चलता है कि इन दोनों का दीवानी विधि (ius civile) से क्या सम्बन्ध है। सिसरो ने इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया था, लेकिन उसने इन शब्दों के भेद को स्पष्ट नहीं किया। जैसा कि हम पहले अध्याय में कह चुके हैं, अन्तर्राष्ट्रीय विधि (ius gentium) विधिवेत्ताओं का शब्द था। इसके विपरीत प्राकृतिक विधि (ius naturale) शब्द यूनान की दार्शनिक शब्दावली का लैटिन रूपान्तर था। प्रारम्भिक विधिवेत्ता और सिसरो दोनों ही उनका समान अर्थ समझते थे। इन शब्दों के दो अर्थ समझे जाते थे। इनका एक अर्थ तो वे सिद्धान्त थे जो सामान्य रूप से मान्य थे और इसलिए विभिन्न राष्ट्रों में समान रूप से प्रचलित थे। इन से उन सिद्धान्तों का भी आशय ग्रहण किया जाता था जो बुद्धिसंगत तथा रहे हों चाहे वे किसी भी विधि पद्धति में आये हों। इस भेद की उपेक्षा करना आसान था क्योंकि समान सहमति वैधता की कसौटी थी। यह धारणा काफी ठीक मालूम पड़ती थी कि जिस निष्कर्ष पर बहुत से राष्ट्र स्वतन्त्रतापूर्वक पहुँचे हैं, वह किसी एक राष्ट्र विशेष के निष्कर्ष से अवश्य ही बेहतर होगा।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, विधिवेत्ताओं को यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि (ius gentium) और प्राकृतिक विधि (ius naturale) में भेद स्थापित किया जाए। दूसरी शताब्दी के रचनाकार गेयस (Gaius) ने इन शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया था। लेकिन, तीसरी शताब्दी में अल्पियन (Ulpian) और बाद के लेखकों ने तथा छठी शताब्दी में इन्स्टीट्यूट्स (Institutes) की रचना करने वाले विधिवेत्ताओं ने इन दोनों के बीच भेद करना आरम्भ कर दिया था।[1] इस भेद ने वैधानिक परिभाषा में यथातथ्यता का समावेश किया, लेकिन इसमें विधि की सूक्ष्म नैतिक आलोचना भी निहित थी। जिस चीज का सामान्य रूप में व्यवहार किया जाता है, हो सकता है कि वह अन्यायपूर्ण और अनुचित हो। अन्तर्राष्ट्रीय विधि (ius gentium) और प्राकृतिक विधि (ius naturale) के भेद का प्रधान आधार दासता है। प्रकृत्या, सब मनुष्य स्वतन्त्र और समान उत्पन्न होते हैं। लेकिन, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार दासता की अनुमति दी जाती है।[2] यह बताना जरा कठिन है कि विधिवेत्ताओं की दृष्टि में प्राकृतिक स्वतन्त्रता का क्या अभिप्राय था। वे प्राकृतिक स्वतन्त्रता का बड़े आग्रह से प्रतिपादन करते थे। उन्होंने दासों तथा अन्य दलित वर्गों को अनेक वैधानिक परित्राण देने का प्रयत्न किया। इन प्रयासों में उन्हें सफलता भी मिली। इससे ज्ञात होता है कि वे कुछ ऐसी प्रथाओं में जिनकी वैधानिकता उस समय की समस्त ज्ञात संहिताओं के अनुसार असंदिग्ध थी, नैतिक सन्देह रखते थे। प्रो० कार्लायल के अनुसार विचार कुछ ऐसा था कि

1 A J Carlyle, *A History of Mediaeval Political Theory in the West*, Vol I (1903), pp 38ff.

2 *Digest*, 1, 1, 4, 1, 5, 4, 4, 12, 6, 64, *Institutes*, 1, 2, 2.

अधिक शुद्ध या अधिक बेहतर समाज में दासता नहीं थी या नहीं होगी। ईसाई धर्म ने मनुष्य के पतन की कहानी को सामान्य विश्वास की वस्तु बना दिया था। इस स्थिति में इस प्रकार के उद्धरणों का यही अभिप्राय समझा जाता था।

रोम के विधिवेत्ता अन्तर्राष्ट्रीय विधि (ius gentium) और प्राकृतिक विधि (ius naturale) में कोई अन्तर करते हो या न करते हो, परन्तु इसमें किसी को सन्देह नहीं था कि राज्य विशेष की विधियों से ऊपर भी एक विधि है। सिसरो की भाँति ही उनका विचार था कि औचित्य और न्याय के मुख्य सिद्धान्तों की दृष्टि से विधि युक्तिसंगत, सार्वदेशिक, अपरिवर्तनशील और दिव्य होती है। इंगलैंड की सामान्य विधि (common law) की भाँति रोम की विधि भी केवल अंशतः ही राज्य के द्वारा निर्मित हुई थी। इसलिए रोम के विधिवेत्ताओं ने यह कभी नहीं कहा कि विधि केवल एक सक्षम विधान सभा की इच्छा को ही व्यक्त करती है। यह विचार तो केवल अभी हाल में ही उत्पन्न हुआ है। रोम के विधिवेत्ताओं का विचार था कि प्रकृति कुछ ऐसे आदर्श निश्चित कर देती है जिनका समस्त भावात्मक विधि को पालन करना चाहिए। सिसरो की भाँति वे यह मानते थे कि कोई 'अवैध' कानून कानून नहीं होता। सम्पूर्ण मध्ययुग में और आधुनिक काल तक इस उच्चतर कानून की वैधता पर सब लोगों का विश्वास था। सर फ्रेडरिक पोलक (Sir Frederick Pollock) के शब्दों में "रोमन गणराज्य से आज तक प्राकृतिक विधि का मुख्य विचार यह रहा है कि मनुष्य प्रकृत्या एक बुद्धियुक्त और सामाजिक प्राणी है। मनुष्य की यह प्रकृति ही प्रत्येक प्रकार की भावात्मक विधि को परखने की कसौटी होनी चाहिए।'[1]

इसलिए, सिद्धान्त की दृष्टि से भावात्मक विधि (positive law) पूर्ण न्याय और औचित्य के निकट की वस्तु है। न्याय (justice) और औचित्य (right) उसके उद्देश्यों को प्रकट करते हैं और उस के मानकों का निर्माण करते हैं। अल्पियन (Ulpian) के अनुसार सेलसस (Celsus) की शब्दावली में यह *ars boni et aequi* है।

"न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसका अधिकार देने की स्थिर और निरन्तर प्रवृत्ति है। विधि के आदेश निम्नलिखित हैं: सम्मानपूर्वक रहना, किसी को नुकसान न पहुँचाना, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपनी चीज देना। न्यायशास्त्र मानवी और दैवी वस्तुओं का, उचित और अनुचित का ज्ञान है।"[2]

इसलिए, विधिवेत्ता 'न्याय का अधिष्ठाता,' 'किसी छाया का अनुवर्ती नहीं, प्रत्युत् उस सच्चे दर्शन का अभ्यासी" है। हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम अल्पियन (Ulpian) के अतिरंजित कथन को अक्षरशः सही मानें। लेकिन, यह सही है कि रोम के विधिवेत्ताओं ने उत्कृष्ट विधियों का निर्माण किया। इतनी उत्कृष्ट विधियाँ इससे पहले कभी नहीं बनी थीं। इन विधियों द्वारा प्रसूत परिवर्तनों के कुछ

1 'The History of the Law of Nature," in *Essays in the Law* (1922), p. 31

2 *Digest*, 1, 1, 10

धार्मिक और राजनैतिक कारण भी थे। तथापि, यह नहीं कहा जा सकता कि उनका व्यवसाय के आदर्शों से कोई सम्बन्ध नहीं था।

प्राकृतिक विधि का अभिप्राय विधियों का कुछ सुनिश्चित सिद्धान्तों के अनुसार आख्यान करना था। ये सिद्धान्त थे: विधि के समक्ष समता, वचनबन्धों (engagements) का पालन, न्याययुक्त व्यवहार या न्याय भावना, शब्दों या सूत्रों की अपेक्षा मन्तव्य का अधिक महत्त्व, आश्रितों की रक्षा, और रक्त सम्बन्ध पर आधारित दावों की मान्यता। न्याय-प्रक्रिया को धीरे-धीरे औपचारिकता से मुक्त कर दिया गया, संविदाएँ (contracts) प्रतिज्ञाओं पर नहीं, प्रत्युत करारों (agreements) पर आधारित होने लगीं, सम्पत्ति और बच्चों पर पिता का निरपेक्ष नियन्त्रण नहीं रहा, विवाहित स्त्रियों को सम्पत्ति और बच्चों पर अपने पतियों के बराबर अधिकार प्राप्त हो गए, दासों की रक्षा के लिए अनेक परित्राण बनाए गए। कुछ नियम तो उन्हें निर्दयता से बचाने के लिए बनाए गए और कुछ उनके शारीरिक श्रम को कम-से-कम करने के लिए। 'न्यायपूर्ण विधि' के एक आधुनिक व्याख्याता रुडोल्फ स्टैमलर (Rudolf Stammler) का मत है कि न्यायविषयक यह आस्था रोम के न्यायशास्त्र का गौरव मुकुट है।

"मेरे विचार से रोम के प्राचीन न्यायशास्त्रियों का यह सार्वदेशिक महत्त्व है, यह उनका स्थायी मूल्य है। उनमें यह साहस था कि वे अस्थायी महत्त्व के साधारण प्रश्नों से अपनी आँखों को ऊपर उठाकर स्थायी महत्त्व के प्रश्नों पर विचार कर सकें। जब कहीं किसी सीमित मामले पर विचार करना होता था, वे अपने सामने सम्पूर्ण विधि के पथप्रदर्शक सिद्धान्त को रखते थे। वह सिद्धान्त था—जीवन में न्याय की अनुभूति।"[1]

यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि रोमन विधि में ये सुधार ईसाई सम्वत् के बाद किए गए थे, तथापि वे ईसाई धर्म के कारण नहीं किए गए थे। इन सुधारों के ऊपर स्टोइसिज्म (stoicism) ने उदार प्रभाव डाला था। इस बात का कोई साक्ष्य नहीं मिलता कि ईसाई समाजों ने दूसरी और तीसरी शताब्दियों के महान् न्यायशास्त्रियों के ऊपर कोई असर डाला हो। बाद में कोन्स्टेन्टाइन (Constantine) और उसके बाद ईसाई प्रभाव अवश्य देखा जा सकता है, लेकिन वह उपर्युक्त दिशाओं में नहीं था। इसका उद्देश्य किसी-न-किसी प्रकार चर्च अथवा अधिकारियों के लिए एक वैधानिक स्थिति प्राप्त करना अथवा चर्च की नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए कुछ सहायता प्राप्त करना था। चर्च ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिए निम्नलिखित कानूनी परिवर्तन कराए—वसीयत के द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार, बिशपों की अदालतों के क्षेत्राधिकार की स्थापना, दान-धन के कार्यों का निरीक्षण करने की शक्ति, ब्रह्मचर्य-विरोधी कानूनों का निरसन, नास्तिकता और धर्मत्याग के विरुद्ध कानूनों का निर्माण।

अतएव, रोम की विधि ने सिसरो (Cicero) द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को मूर्त रूप दिया कि शासक की सत्ता जनता से प्राप्त होती है। इस सिद्धान्त को

---

1. *The Theory of Justice*, Eng. trans. (1925), p. 127.

अल्पियन (Ulpian) ने निम्नलिखित एक वाक्य में उपस्थित किया है। डाइजेस्ट (Digest) या इंस्टीट्यूट्स (Institutes) में से किसी का भी कोई विधिवेत्ता इससे असहमत नहीं है :

"सम्राट् की इच्छा विधि की शक्ति रखती है, क्योंकि राजविधि के कारण द्वारा जनता अपनी सम्पूर्ण शक्ति और सत्ता उसे सौंप देती है।"[1]

हमें इस सिद्धान्त को विशुद्ध वैधानिक अर्थ में समझना चाहिए। यह कुछ ऐसी शब्दावली में व्यक्त किया गया है जिसका निश्चित रूप में कुछ पारिभाषिक महत्त्व है। यह शब्दावली न तो राजा की निरपेक्षता को ही, जो कभी-कभी पहले खण्ड पर आधारित की जाती है, उचित ठहराती है और न यह प्रतिनिधिक शासन को ही, जो जनता की प्रभुसत्ता द्वारा बाद में व्यक्त होने लगा, प्रकट करती है। रोम के साम्राज्य-काल में जब कि अल्पियन (Ulpian) ने इसे लिखा, बाद का अर्थ बिलकुल मूर्खतापूर्ण होता। अल्पियन के वक्तव्य के मूल अभिप्राय को सिसरो ने व्यक्त किया है। सिसरो के अनुसार विधि जनता की अपनी सामूहिक क्षमता (Corporate Capacity) में समान सम्पत्ति है। यह विचार इस सिद्धान्त में भी प्रकट होता है कि प्रथागत विधि जनता की सहमति पर आधारित होती है। प्रथा की सत्ता सामान्य रीति-रिवाजों में होती है। यह विचार विधि के स्रोतों के वर्गीकरण में भी प्रकट होता है। विधि जनसभा के अधिनियमन द्वारा, प्लेबियन प्लेबेस्की (plebescita) जैसे जनता के किसी अधिकृत अंग द्वारा, सीनेट की आज्ञप्ति (Senatus Consulta) द्वारा, सम्राट् की आज्ञप्ति (Constitutions) द्वारा, या अध्यादेश निकालने वाले किसी अधिकारी के आदेश द्वारा बनती है। लेकिन, सभी अवस्थाओं में विधि का स्रोत प्राधिकृत होना चाहिए। अन्तिम विश्लेषण में विधि के सभी रूप राजनैतिक दृष्टि से संगठित जनता की कानूनी गतिविधि में निहित हैं। इस दृष्टि से शासन का प्रत्येक स्थापित अंग किसी-न-किसी मात्रा में और किसी न किसी क्षमता में जनता का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन, यहाँ प्रतिनिधित्व का अभिप्राय न तो मतदान के कार्य से है और न मतदान के अधिकार से। 'जनता' एक विशिष्ट सत्ता है। वह उन व्यक्तियों से बिलकुल भिन्न है जो किसी समय उसका निर्माण करते हैं।

प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार विधि एक 'निर्वैयक्तिक बुद्धि (impersonal reason)' है। इस सिद्धान्त का कुछ तत्त्व अब भी बचा हुआ है। परिणामतः, विधिगत शासन और सफल अत्याचारी शासन के बीच स्थूल नैतिक अन्तर है। हो सकता है कि कभी-कभी कानून खराब हो और अत्याचारी शासन कुशल हो। लेकिन, कानून की अधीनता नैतिक स्वतन्त्रता और मानव गरिमा के प्रतिकूल नहीं है। इसके विपरीत दयालु से दयालु स्वामी की अधीनता नैतिक दृष्टि से पतनकारी होती है। रोम की विधि ने सिसरो के इस महत्त्वपूर्ण सूत्र की आत्मा को अक्षत रखा था, "हम विधि के सेवक इसलिए हैं जिससे कि हम स्वतन्त्र रह सकें।"[2] यह विश्वास

1. *Digest*, 1, 4, 1.
2. *Pro Cluentio*, 53, 146.

यूरोप के नीतिशास्त्र में जड़ तक पहुँच गया था। यह उस विधिशास्त्र में प्रकट रहा जिसका चरमोत्कर्ष सम्राटों की व्यक्तिगत निरंकुशता के मध्याह्नकाल में हुआ। उस समय सम्राटों की सत्ता केवल बल पर आधारित होती थी। यह इस विश्वास की शक्ति का सबसे बड़ा प्रमाण है। फिर भी यह एक तथ्य है कि विधि में निहित यह आदर्श यूरोप की राजनैतिक सभ्यता में एक स्थायी तत्त्व था। यह आदर्श नगर राज्य के प्राचीन स्वतन्त्र जीवन से छनते छनते आया था। जब रोम में प्राच्य जगत् की सी कठोरतम निरंकुशता कायम हो गई थी यह आदर्श उस समय भी कायम रहा और उसके बाद भी।

Selected Bibliography

Roman Stoicism By E V Arnold, Cambridge, 1911, Ch 12

A Text Book of Roman Law from Augustus to Justinian By W W Buckland Cambridge 1921 Ch I

Classical Roman Law By W W Buckland in the *Cambridge Ancient History* Vol XI (1936) Ch 21

A History of Mediaeval Political Theory in the West By R W Carlyle and A J Carlyle 6 Vols London 1903 36 Vol I (1903) parts I and II

On the Commonwealth Marcus Tullius Cicero Trans by George H Sabine and Stanley B Smith Columbus 1929 Introduction

The Higher Law Background of American Constitutional Law By Edward S Corwin *Harvard Law Review* Vol XLII (1928 29) pp 149 365

Rome the Law-giver By J Declareuil Trans by E A Parker London 1927 Prolegomena

Historical Introduction to the Study of Roman Law By H F Jolowicz Cambridge 1932 Ch XXII

Original Elements in Cicero's Ideal Constitution By C W Keyes

American Journal of Philology Vol XLII (1921) p 309

The Idea of Majesty in Roman Political Thought By Lloyd S Lear in *Essays in History and Political Theory in Honor of Charles Howard McIlwain*, Cambridge Mass, 1936

The Growth of Political Thought in the West By Charles H McIlwain New York 1932 Ch IV

Cicero a Biography By Torsten Petersson Berkeley 1920

Gaii Institutiones or Institutes of Roman Law by Gaius Trans by Edward Poste Fourth edition revised and enlarged by E A Whittuck with an Historical Introduction by A H J Greenidge Oxford 1904

Roman Law in the Modern World 3 Vols by Charles P Sherman Boston 1917 Vol I History

History of Roman Legal Science By Fritz Schultz Oxford 1946

अध्याय १०

सेनेका तथा चर्च के संस्थापक

(Seneca and the Fathers of the Church)

रोम के न्यायशास्त्रियों ने मनुष्य की समानता तथा मानव जाति की एकता के विचार को विकसित किया था। यह विचार नगर राज्य में प्रचलित मूल्यों से बिलकुल भिन्न था। तथापि एक अन्य दृष्टि से नगर राज्य के विचारों तथा न्याय शास्त्रियों के विचारों को एक अविच्छिन्न परम्परा में माना जा सकता है। प्लेटो की भाँति सिसरो का भी यह विचार था कि आदर्श व्यक्ति राज्य की स्थापना करने अथवा राज्य का शासन करने में देवोपम गुणों का परिचय देता है। राजनैतिक सेवा का जीवन मानव जीवन की चरम सफलता है। रोम की विधि में एक केन्द्रित शक्ति व्यवस्था का दिग्दर्शन होता है। इससे साम्राज्य की प्रशासनिक एकता का पता चलता है और इस पुराने विचार की पुष्टि होती है कि राज्य मानव संस्थाओं में सब से ऊँचा है। इस परम्परा में विभक्त निष्ठा का कोई विचार नहीं था। यहाँ सेक्रोप्स के प्रिय नगर (dear city of Cecrops) और ईश्वर के प्रिय नगर (dear city of God) के बीच किसी प्रकार की असम्भव खाई नहीं थी। फिर भी अपने युग के सब से प्रबुद्ध रोमन सम्राट् ने पृथ्वी के नगर और स्वर्ग के नगर के बीच जो विभाजक रेखा खींची थी वह उस दरार की प्रतीक थी जो मनुष्यों के नैतिक अनुभव में आती जा रही थी। मारकस आरेलियस (Marcus Aurelius) ने ईश्वर द्वारा विहित अपने कर्तव्य के प्रति अपूर्व निष्ठा का परिचय दिया है और अधिक सन्तोषजनक जीवन के प्रति अपनी उत्कंठा प्रकट की है। इससे ज्ञात होता है कि एक पैगन आत्मा (pagan soul) भी सिसरो के दिनों से कितनी आगे बढ़ गई थी। सिसरो ने स्किपिओ के स्वप्न (Dream of the Scipio) में कल्पना की थी कि स्वर्ग का पुरस्कार मुख्यतः प्रतिष्ठित राजनेतृत्व के लिए ही सुरक्षित रहता है। मारकस की सांसारिक चिन्ता का परिपक्व फल यह था। वह सांसारिक जीवन में वही उच्च आध्यात्मिक जीवन का प्रवक्ता था। लेकिन यह फल एक ऐसी भूमि में उत्पन्न हुआ था जो उसके लिए बहुत समय से तैयार कर ली गई थी।

सेनेका

(Seneca)

सिसरो ने रोमन गणराज्य के अन्तिम दिनों में अपने विचार प्रस्तुत किए थे। सेनेका ने सिसरो के प्राय एक शताब्दी बाद रोमन साम्राज्य के प्रारम्भिक दिनों में रचनाएँ की थीं। इन दोनों मनीषियों के विचारों की तुलना करने पर ज्ञात हो जाता है कि अब राजनतृत्व की इस भूमिका के सम्बन्ध में कि वह सामाजिक समस्याओं को कहाँ तक सफलतापूर्वक सुलझा सकता है लोगों के विचार बिलकुल

बदल गए थे। यह विरोध इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दोनों व्यक्तियों के दार्शनिक विचारों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। दोनों का ही परिष्कृत उदारवाद में विश्वास था। इस विश्वास के अनुसार प्रकृति भलाई और विवेकशीलता से परिपूर्ण है। दोनों ही व्यक्ति गणराज्य के महान् युग को एक ऐसा समय समझते थे जब रोम ने अपनी राजनैतिक परिपक्वता प्राप्त कर ली थी और इसके बाद उसका पतन होना आरम्भ हो गया था। उनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। सिसरो को यह भ्रम है कि वह महान् दिवस फिर आ सकता है। नीरो के मन्त्री को ऐसा कोई भ्रम नहीं है। उसके मत से रोम का पतन हो गया है, सब जगह भ्रष्टाचार है और निरंकुशता अपरिहार्य है। सामाजिक और राजनैतिक मामलों में सेनेका (Seneca) बहुत अधिक निराशा का परिचय देता है। निराशा की यह भावना ईसा की दूसरी शताब्दी में सम्पूर्ण लैटिन साहित्य में व्याप्त है।[1] प्रश्न यह नहीं है कि क्या निरंकुश शासन की स्थापना होगी। प्रश्न केवल यह है कि कौन निरंकुश शासक होगा। जनता के ऊपर निर्भर रहने की अपेक्षा निरंकुश शासक के ऊपर निर्भर रहना ज्यादा अच्छा है क्योंकि जनता का झुण्ड इतना दुष्ट और निर्मम होता है कि वह अत्याचारी शासक से अधिक क्रूर हो सकता है। इसलिए, राजनैतिक जीवन से अच्छे आदमी को कुछ नहीं मिलता। उल्टे उसे अपनी अच्छाई से हाथ धोना पड़ता है। राजनैतिक पद धारण करने से अच्छा आदमी अपने साथियों की कोई भलाई नहीं कर सकता। इसी प्रकार, सेनेका ने विभिन्न शासन प्रणालियों के अन्तरों को भी महत्त्वहीन माना है। ये शासन प्रणालियाँ प्रायः एक-सी अच्छी-बुरी हैं। कोई भी शासन-प्रणाली विशेष कार्य नहीं कर सकती। फिर भी, सेनेका (Seneca) का यह दृष्टिकोण कदापि नहीं है कि बुद्धिमान् व्यक्ति समाज से विरत हो जाए। सिसरो की भाँति उसने भी इस बात का आग्रह किया है कि श्रेष्ठ व्यक्ति को किसी-न किसी क्षमता में अपनी सेवाएँ अवश्य प्रदान करनी चाहिएँ। सिसरो की भाँति सेनेका ने भी एपीक्यूरियन विचारकों के इस दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया है कि व्यक्ति को सार्वजनिक हितों की उपेक्षा कर अपने व्यक्तिगत सन्तोष का प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन, सिसरो के विपरीत और अपने से पहले के समस्त सामाजिक और राजनैतिक विचारकों के विपरीत, सेनेका ने एक ऐसी सामाजिक सेवा की कल्पना की है जिसके अनुसार न तो राज्य में कोई पद धारण करना ही आवश्यक है और न कोई राजनैतिक कार्य करना ही आवश्यक है। स्टोइकों का प्राचीन सिद्धान्त था कि प्रत्येक व्यक्ति दो राज्यों का सदस्य होता है। इनमें से एक सिविल राज्य है जिसकी वह प्रजा होता है। दूसरा एक बृहत्तर राज्य है। यह बृहत्तर राज्य समस्त बुद्धिमान् व्यक्तियों से मिलकर बनता है। व्यक्ति इस राज्य का सदस्य अपनी मानवता के कारण होता है। सेनेका ने स्टोइकों के इस प्राचीन सिद्धान्त को एक नया रूप दिया। सेनेका के अनुसार बृहत्तर राज्य एक राज्य नहीं, प्रत्युत् एक समाज है। इस समाज

1. See Samuel Dill, Roman Society from Nero to Marcus Aurelius, (1904), Bk. III, Ch. I.

के बन्धन नैतिक अथवा धार्मिक हैं, कानूनी अथवा राजनैतिक नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धिमान् और श्रेष्ठ व्यक्ति अपने हाथ में राजनैतिक शक्ति रखने पर भी मानवता की सेवा करता है। वह यह अपने साथियों के साथ नैतिक सम्बन्ध होने के कारण या केवल अपने दार्शनिक चिन्तन के द्वारा ही करता है। अपने सद्विचारों के कारण मानव जाति का शिक्षक होने वाला व्यक्ति राजनैतिक शासक की अपेक्षा अधिक भद्र और अधिक प्रभावशाली होता है। ईसाई विचारकों का कहना है कि मनुष्य की उपासना ही ईश्वर की सच्ची सेवा है। सेनेका का भी इसी सिद्धान्त में विश्वास था।

इस दृष्टि से सेनेका के विचार को जितना महत्त्व दिया जाए कम है। एक शताब्दी बाद मारकस आरेलियस (Marcus Aurelius) के स्टोइसिज्म की भाँति सेनेका का स्टोइसिज्म भी एक धार्मिक विश्वास था। उसने इस संसार में शक्ति और सन्तोष प्रदान करने के साथ-साथ आध्यात्मिक चिन्तन का भी द्वार उन्मुक्त किया। ईसाई धर्म मूर्तिपूजक समाज में विकसित हुआ था। उसमें सांसारिक और आध्यात्मिक स्वार्थों को अलग अलग माना जाता था। उसका विचार था कि "शरीर आत्मा के लिए जंजीर और अन्धकार है" अथवा "आत्मा को शरीर के भार से निरन्तर संघर्ष करते रहना चाहिए।"[1] आध्यात्मिक सन्तोष की बढ़ती हुई आवश्यकता ने धर्म को मनुष्य के जीवन में उच्चतर स्थान दिया और उसे लौकिक स्वार्थों से अलग रखा। उन्होंने उसे ऊँची वास्तविकताओं से सम्बन्ध स्थापित करने का एक मात्र साधन माना। अब प्राचीन काल के लौकिक जीवन की एकता टूट रही थी। धर्म निरन्तर स्वतन्त्र स्थान प्राप्त करता जा रहा था। उसका महत्त्व राजनैतिक जीवन से अधिक था। उस समय की स्थिति में यह स्वाभाविक भी था। धर्म के स्वार्थ उसकी अपनी एक संस्था में व्यक्त होने लगे थे। वह पृथ्वी पर ऐसे अधिकारों और कर्तव्यों को प्रकट करता था जिनका मनुष्य को स्वर्गिक नगर का सदस्य होने के नाते पालन करना पड़ता था। यह संस्था मनुष्य की निष्ठा पर अधिकार रखती थी। इस सम्बन्ध में वह राज्य को हस्तक्षेप करने की बिलकुल अनुमति नहीं देती थी। दो राज्यों के सम्बन्ध में सेनेका की यह व्याख्या ईसाइयों के सिद्धान्तों में मिलती-जुलती है। सेनेका और ईसाई विचारकों में और भी कई बातों में साम्य है। इन समानताओं के कारण प्राचीन काल में यह कल्पना की जाने लगी थी कि सेनेका तथा सन्त पाल (St Paul) के बीच पत्र-व्यवहार हुआ था। लेकिन, यह बात गलत है।

सेनेका की विचारधारा के दो पहलू और ऐसे हैं जिनका उसके दर्शन के धार्मिक तत्त्व से सम्बन्ध था। एक ओर तो वह यह मानता था कि मनुष्य की प्रकृति में पाप भरा हुआ है। दूसरी ओर उसके नीतिशास्त्र में मानववाद की प्रवृत्ति थी। बाद के स्टोइसिज्म में यह प्रवृत्ति और स्पष्ट हो गई। यद्यपि सेनेका स्टोइसिज्म के इस पुराने सूत्र को बार-बार दुहराता है कि बुद्धिमान् व्यक्ति आत्म निर्भर होता है, लेकिन उसकी रचनाओं में प्रारम्भिक स्टोइसिज्म का अभिमान और कठोरता काफी कम हो गई है। मनुष्य की दुष्टता का भाव सेनेका को बार बार परेशान करता है।

1. *Consol. ad. Marc*, 24, 5

यह दुष्टता समाप्त नहीं होती। इससे कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता। वास्तविक सद्वृत्ति मुक्ति को प्राप्त करने में नहीं, प्रत्युत् मुक्ति के लिए अनन्त संघर्ष करने में है। सेनेका ने पाप और दुःख की चेतना की सार्वदेशिक अनुभूति के कारण ही मानवी सहानुभूति और उदारता को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। ये गुण स्टोइसिज्म के कठोर रूपान्तर में नहीं मिलते। ईश्वर के पितृत्व और मानव के भ्रातृत्व का एक अर्थ यह भी हो गया कि मनुष्य सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति दया और सहायता की भावना रखें। ईसाई धर्म में इन चीजों पर विशेष ज़ोर दिया जाता है। ज्यों-ज्यों नागरिक और राजनैतिक गुणों का स्थान नगण्य होता गया, दया, करुणा, दानशीलता, उदारता, सहिष्णुता और प्रेम का महत्त्व बढ़ता गया। इसके साथ ही आश्रितों तथा छोटों के प्रति निर्दयता, क्रोध और कठोरता के भाव की नैतिक दृष्टि से निन्दा की जाने लगी। रोम के प्राचीन कानून (classical law) पर इस मानववाद का असर पड़ा। सम्पत्ति, स्त्रियों, बच्चों और दासों की जीवन रक्षा, अपराधियों के साथ अधिक सद्-व्यवहार, असहायों की रक्षा आदि के अन्तर्गत इस मानववाद की झलक देखी जाती है। यह आश्चर्य की ही बात है कि नैतिक भ्रष्टाचार की बढ़ती हुई भावना के साथ ही सशक्त मानववादी भावनाओं का उदय हुआ। ये दोनों ही बातें पूर्वकाल की नैतिक धारणाओं से अलग थीं। ये दोनों ही जीवन के अधिक चिन्तनपरक दृष्टिकोण के पहलू थे। इस दृष्टिकोण ने जीवन सम्बन्धी उस पुराने विश्वास को रद्द कर दिया था कि सर्वश्रेष्ठ गुण राज्य की सेवा है।

सेनेका ने यह स्वीकार नहीं किया कि राज्य नैतिक परिष्कार का सर्वोच्च साधन है। इसके साथ ही उसने सभ्यता के आडम्बरपूर्ण युग के पहले के एक स्वर्ण युग की भी कल्पना की है। अपने उन्नीसवें पत्र में सेनेका ने प्राकृतिक अवस्था का अत्यन्त उत्साह से अलंकारपूर्ण वर्णन किया है। यह वर्णन रूसो (१८वीं शताब्दी) के वर्णन से मिलता जुलता है। सेनेका का विचार है कि स्वर्ण युग में मनुष्य बहुत सुखी और अबोध थे। वे सभ्यता की विलास वस्तुओं के बिना ही सादा जीवन पसन्द करते थे। वे न तो बुद्धिमान् ही थे और न नैतिक दृष्टि से पूर्ण ही थे। उनके सदाचरण का कारण अज्ञान की अबोधता थी, गुण का अभ्यास नहीं। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी और इसलिए वह लोभी नहीं था। लोभ ने मनुष्य की आदिम निष्कपटता को नष्ट कर दिया। जब तक मनुष्य स्वतन्त्र थे, उन्हें शासन की या कानून की आवश्यकता नहीं थी। वे अपनी मर्जी से सब से बुद्धिमान् और सब से अच्छे आदमी की आज्ञा का पालन करते थे। ये व्यक्ति अपने साथियों पर शासन करने में अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति का कोई प्रयास नहीं करते थे। लेकिन जैसे ही मनुष्यों में सम्पत्ति-लोभ का भाव आया, वे स्वार्थी और शासक अत्याचारी हो गए। कला की उन्नति ने विलास तथा भ्रष्टाचार को जन्म दिया। इस अवस्था में मानव प्रकृति के भ्रष्टाचार और बुराइयों को दबाने के लिए कानून और बल प्रयोग भी आवश्यक हो गया। संक्षेप में, शासन दुष्टता का आवश्यक इलाज है।

प्लेटो ने अपनी लॉज (Laws) पुस्तक में प्राकृतिक अवस्था का गौरवगान किया है। सेनेका (Seneca) ने इस विषय का विस्तार से वर्णन किया है। प्राकृतिक

अवस्था के इस गौरवगान ने काल्पनिक राजदर्शन (utopian political theory) के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निबाही है। इस दर्शन के दो रूप रहे हैं। एक तो इसने सेनेका और प्लेटो की भाँति अतीत का गौरवगान किया है। दूसरे, इसने काल्पनिक समाजवादियों की भाँति भविष्य में स्वर्ग-राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा है। लेकिन, दोनों ही अवस्थाओं में उसने मानव जाति के दुर्गुणों और भ्रष्टाचारों का उद्घाटन किया है तथा युग की राजनैतिक और आर्थिक विषमताओं की निन्दा की है। सेनेका या स्वर्ण युग का वर्णन नीरो के शासन-काल में रोमन समाज के पतन के सम्बन्ध में उसके विचारों की अभिव्यक्ति मात्र है। सेनेका का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। लेकिन, विधिवेत्ता इस विचार से सहमत नहीं थे। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति को प्राकृतिक विधि के अनुसार मानते थे। विधिवेत्ता व्यक्तिगत सम्पत्ति की तुलना दासता से किया करते थे। जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है, वे दासता को कभी तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि (*ius gentium*) की वस्तु समझते थे और कभी प्राकृतिक विधि (*ius naturale*) की। जहाँ सेनेका विधि को पाप का उपचार मानता था, अल्पियन ने उसे सच्चा दर्शन' माना है। इस प्रकार, सेनेका और अल्पियन के विचारों में काफी मतभेद है। मनुष्य के पतन की कहानी से यह विचार भी ध्वनित होता था कि शुरू-शुरू में मनुष्य पवित्र रहा था। ईसाई लेखकों ने मनुष्य की आदिम अवस्था की स्थिति को साम्यवाद माना है। इस स्थिति में बल की आवश्यकता नहीं थी। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि गरीबी अमीरी से अच्छी है और सन्यास का जीवन लौकिक जीवन से अच्छा है, तो इस प्रकार का दृष्टिकोण बिलकुल वास्तविक होगा।

तथापि, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह सिद्धान्त चाहे तो इसका निरूपण सेनेका ने किया हो या ईसाई लेखकों ने किया हो, किसी भी प्रकार सम्पत्ति अथवा विधि और शासन की निदात्मक आलोचना नहीं करता। इस सिद्धान्त का अभिप्राय केवल यह है कि यह केवल द्वितीय सर्वश्रेष्ठ नैतिक आदर्श (ethical second best) को ही प्रकट करता है। पूर्ण समाज में या मानव की प्रकृति परिष्कृत होने पर इनकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। लेकिन, मानव जाति की जैसी दुष्ट प्रकृति है, उसको ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत सम्पत्ति उपयोगी संस्था हो सकती है और बल द्वारा समर्थित विधि भी अपरिहार्य है। यद्यपि शासन के निर्माण का कारण मनुष्य की दुष्टता है लेकिन वह मानव जाति की पतित अवस्था में उस पर शासन करने का दैवी साधन है। इसलिए, सभी अच्छे आदमियों को उसके आदेशों का पालन करना चाहिए। ईसाइयों का यह एक सामान्य विश्वास बन गया था।

सेनेका ने शासन को मनुष्य की बुराइयों का एक अस्थायी इलाज माना है। इससे ज्ञात होता है कि राजनैतिक संस्थाओं के सम्बन्ध में यूनानियों के जो विचार थे अथवा सिसरो के जो विचार थे, समाज उनसे कितनी दूर हट गया था। राज्य के सम्बन्ध में सेनेका के दृष्टिकोण में और अरस्तू के दृष्टिकोण में कितना अन्तर है। वहाँ तो सेनेका का यह विचार है कि शासन मानव की बुराइयों का अस्थायी उपचार है और कहाँ अरस्तू का यह विश्वास है कि नगर-राज्य सभ्य जीवन की एक

आवश्यक शर्त है और वह मानव क्षमताओं के सर्वोच्च विकास का एकमात्र साधन है। सेनेका ने राज्य के कार्य के सम्बन्ध मे जो परिवर्तन किया है, उसकी तुलना मानव समानता के सम्बन्ध मे सिसरो के परिवर्तन से की जा सकती है। यदि इन दोनों विचारों को एक साथ ले लिया जाए, तो वे राजनीति के सम्बन्ध मे प्राचीन मूल्यों को एकदम बदल देते हैं। नगर-राज्य मे नागरिकता को उच्चतम मूल्य माना जाता था। यहाँ नागरिकता किसी विशेष वर्ग का अधिकार नहीं है, प्रत्युत उसका द्वार सब के लिए खुला हुआ है। नगर-राज्य मे राज्य को मनुष्य के विकास की एक मूर्त संस्था माना जाता था। लेकिन, यहाँ राज्य को एक बलप्रवर्ती शक्ति माना गया है जो सांसारिक जीवन को सह्य बनाने के लिए प्रभावहीन ढंग से संघर्ष करती है। यद्यपि मूल्यों के मान में क्रांतिकारी परिवर्तन यहाँ केवल ध्वनित है, लेकिन इसके निहितार्थों पर बाद मे गम्भीरता से विचार किया गया और धीरे-धीरे वे ईसाई धर्म के संस्थापकों के राजदर्शन मे समाविष्ट हो गये।

ईसाई धर्म में आज्ञापालन का तत्त्व
(Christian Obedience)

पश्चिमी यूरोप के इतिहास मे, राजनीति और राजनैतिक दर्शन दोनों की दृष्टियों से, ईसाई धर्म का अभ्युदय सब से महत्त्वपूर्ण घटना थी। ईसाई धर्म ने यह दावा किया कि वह मानव जाति की आध्यात्मिक चिन्ताओं को राज्य से स्वतन्त्र होकर वहन करेगा। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि प्रारम्भिक ईसाइयों की राजनैतिक धारणाएँ कुछ खास प्रकार की थीं और वे अन्य व्यक्तियों से किसी प्रकार भिन्न थी। ईसाइयों का निर्माण करने वाले स्वयं धार्मिक थे। ईसाई धर्म मुक्ति का सिद्धान्त था, वह कोई दर्शन अथवा राजनैतिक सिद्धान्त नहीं था। दर्शन अथवा राजनैतिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में ईसाइयों के विचार पैगनों के विचारों से बहुत भिन्न नहीं थे। स्टोइकों की भाँति ईसाई विचारक भी प्राकृतिक विधि (Law of Nature), संसार के ईश्वरीय शासन, न्याय के सम्बन्ध मे विधि और शासन के दायित्व, तथा ईश्वर की दृष्टि मे सभी मनुष्यों की समानता में विश्वास रखते थे। इस प्रकार के विचार ईसाई धर्म के उदय के पूर्व ही व्यापक रूप से प्रचलित थे। न्यू टेस्टामेंट (New Testament) मे ऐसे अनेक अवतरण आते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि ये विचार ईसाई धर्म मे एकदम से समाविष्ट कर लिये गये थे। एक्ट्स (The Acts) के रचयिता ने एथेंस के व्यक्तियों के प्रति संत पाल (St Paul) का यह प्रवचन उद्धृत किया है। यह प्रवचन पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई व्यक्ति स्टोइकों के भाषण को सुन रहा हो। "हम उसमे ही रहते हैं, उसमें ही आचरण करते हैं और उसमे ही हमारा अस्तित्व है।"[1] मृतों के पुनर्जीवन के सम्बन्ध में नई धार्मिक शिक्षा ही एथेंसवासियों के लिए बोधगम्य नहीं है। इसी प्रकार, संत पाल ने गेलेशियन्स (Galatians) को लिखा है कि चर्च जाति अथवा सामाजिक स्थिति के अन्तरों को स्वीकार नहीं करता :

1. Acts, XVII, 28

"न कोई यहूदी है और न यूनानी, न कोई दास है और न स्वतन्त्र, न कोई स्त्री है और न पुरुष। ईसा की दृष्टि में सब बराबर हैं।"[1]

संत पाल ने यहूदियों के कानून के विरुद्ध मानव प्रकृति में अन्तर्निहित कानून पर जोर देते हुए कहा है :

"जेंटाइलों के पास कोई कानून नहीं है लेकिन जब वे प्रकृत्या कानून जैसे कार्य करते हैं, तो वे कार्य कानून न होने पर भी कानून बन जाते हैं।"[2]

साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विधि, मानव समानता और राज्य में न्याय की आवश्यकता के सम्बन्ध में चर्च के संस्थापक सिसरो (Cicero) और सेनेका से सहमत थे।[3] यह सही है कि पैगन लेखक उस अन्तःप्रेरित विधि से अपरिचित थे, जो ईसाइयों के विचार से यहूदी या ईसाई धर्मग्रंथों में निहित है। लेकिन, अन्तःप्रेरणा का विश्वास इस विश्वास से असंगत नहीं था कि प्राकृतिक विधि ईश्वरीय विधि है। –

ईसाई धर्म के संस्थापकों ने ईसाइयों के लिए यह आवश्यक ठहरा दिया था कि वे विहित सत्ता का आदेश शिरोधार्य करें। जब फारसियों ने ईसा को रोम की शक्ति के खिलाफ खड़ा करने का प्रयास किया था, ईसा ने ये स्मरणीय वचन कहे थे :

"जो चीजें सीजर की हैं, वे सीजर को दे दीजिए और जो चीजें ईश्वर की हैं, वे ईश्वर को दे दीजिए।"[4]

संत पाल ने रोमनों को लिखे गए अपने पत्र में न्यू टैस्टामेंट की सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक घोषणा की थी :

"प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियों के अधीन होना चाहिए। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं है। जो भी शक्तियां हैं, वे ईश्वर से ही निकलती हैं। जो कोई शक्ति का प्रतिरोध करता है वह ईश्वर के आदेश का प्रतिरोध करता है। जो प्रतिरोध करते हैं, उन्हें दण्ड मिलेगा। शासक अच्छे काम के लिए आतंक नहीं हैं। वे सिर्फ बुरे कामों के लिए ही आतंक हैं। क्या आप शक्ति से नहीं डरेंगे? आप अच्छा कार्य कीजिए। इसके लिए आपकी प्रशंसा होगी। अच्छे काम के लिए वह ईश्वर का मन्त्री है। लेकिन, यदि आप बुरा काम करते हैं, तो आप डरिए। उसके पास तलवार व्यर्थ के लिए नहीं है। वह ईश्वर का मन्त्री है। जो लोग बुरा काम करते हैं, उन्हें वह दण्ड देता है। इसलिए आपको उसके अधीन रहना चाहिए, केवल रोष के कारण नहीं, प्रत्युत् अन्तरात्मा के कारण। इस कारण आप उसे भेंट भी दीजिए। वे ईश्वर के मन्त्री हैं। वे हमेशा यही कार्य करते रहते हैं। उनका जो कुछ भी प्राप्य हो, उन्हें दीजिए। जिन्हें भेंट चाहिए उन्हें भेंट दीजिए। जिन्हें शुल्क चाहिए उन्हें शुल्क दीजिए। जिन्हें डर चाहिए उन्हें डर दीजिए। जिन्हें इज्जत चाहिए उन्हें इज्जत दीजिए।"[5]

---

1. Galatians, III, 28.
2. Romans II, 14.
3. Carlyle, op. cit., Vol. I (1903), Part III.
4. Matthew, XXII, 21, cf, Mark, XII, 17, Luke, XX, 25
5. *Romans*, XIII, 1-7; cf. 1 Peter, II, 13-17.

कुछ इतिहासकारों का कथन है और उनका यह कथन सही हो सकता है कि यह अवतरण तथा इसी प्रकार के कुछ और अवतरण आरम्भिक ईसाई समाजों की अराजकतावादी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए लिखे गये थे।[1] यदि ऐसा है तो वे अपने उद्देश्य में सफल हुए। सत पाल के वचन ईसाई धर्म के मान्य सिद्धान्त बन गये। राज्य की आज्ञा का पालन करना ईसाइयों का एक ऐसा गुण बन गया जिसे चर्च के किसी भी उत्तरदायी नेता ने अस्वीकार नहीं किया। सम्भव है कि सेनेका की भाँति सत पाल का भी यह विचार रहा हो कि शासक की शक्ति मनुष्य के पाप का आवश्यक परिणाम है। शासक का कार्य बुराई को दबाना और भलाई को बढ़ाना है। तथापि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसका यह अभिप्राय नहीं हो जाता कि शासक के प्रति सम्मान का भाव किसी भी प्रकार से कम बन्धनकारी दायित्व है।

सत पाल और न्यू टेस्टामेंट के अन्य लेखकों ने इस बात पर जोर दिया है कि आदेशपालन ईश्वर द्वारा आरोपित कर्त्तव्य है। इस तथ्य के कारण ईसा की शिक्षा रोम के सवैधानिक सिद्धान्त से कुछ भिन्न हो जाती है। रोम के विधिवेत्ताओं का कहना था कि शासक की सत्ता जनता से प्राप्त होती है। जहाँ एक बार यहूदी धर्मग्रंथों को मान्यता प्राप्त हो जाती है, ओल्ड टेस्टामेंट में यहूदी राज्य की उत्पत्ति के विवरण से यह दृष्टिकोण और भी पुष्ट हो जाता है।[2] यहूदियों का राजा ईश्वर का अभिषिक्त माना जाता है। परम्परा के अनुसार राजतन्त्र की स्थापना जनता के विद्रोह के परिणामस्वरूप ईश्वर ने की थी। बाद के धार्मिक लेखकों ने भी इस तथ्य की ओर सकेत किया है। इस राजा को एक देवदूत ने अभिषिक्त कर प्रतिष्ठित किया था। एक दृष्टि से ईसाइयों की राजत्व सम्बन्धी मान्यता में सदा से ही दैवी अधिकार का सिद्धान्त निहित है क्योंकि शासक ईश्वर का मन्त्री है। लेकिन, आधुनिक सवैधानिक वाद विवादों ने इन दोनों दृष्टिकोणों के भेद को इतना अधिक बढ़ा दिया है कि पहले अथवा कई शताब्दियों बाद तक इस बारे में किसी का ध्यान ही नहीं गया था। यद्यपि सत्ता का मूल आधार जनता थी, इस बात का कोई कारण नहीं था कि उसका सम्मान करना एक धार्मिक कर्त्तव्य क्यों न हो। इस बात को उल्टे ढग से यों भी कहा जा सकता है कि यद्यपि शासक ईश्वर की ओर से आदिष्ट होता था लेकिन फिर भी वह अपने पद के किसी विशेष प्रकार के लिए जनता की स्वाभाविक सस्थाओं के प्रति ऋणी हो सकता था। वस्तुत, इन दोनों सस्थाओं का मूल भूत उद्देश्य एक सा समझा जा सकता है। सत पाल तथा समस्त ईसाइयों के लिए पद धारण करने वाला व्यक्ति नहीं, प्रत्युत् पद ही सम्मान का पात्र था। शासक के व्यक्तिगत गुण-दोषों का विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। निकृष्ट शासक जनता के पाप का दण्ड होता है और उसका भी आदेश पालन होना चाहिए। विधिवेत्ताओं के लिए जनता की पसद प्रयुक्त की जाने वाली शक्ति के सवैधानिक अथवा

1. See Carlyle *op cit*, Vol I, pp. 93 ff
2. Sec. 1 Samuel, VIII—X.

संविधिक स्वरूप को प्रकट करती थी। दोनों ही दृष्टिकोणों ने—विधि के दृष्टिकोण ने और धर्मशास्त्र के दृष्टिकोण ने संस्था में निहित सत्ता तथा व्यक्ति की स्वेच्छाचारी सत्ता के अंतर को स्वीकार कर लिया था। इसी कारण बिना किसी असंगति के ये दोनों दृष्टिकोण एक साथ निभ सकते थे।

विभक्त राजभक्ति
(Divided Loyalty)

इसलिए, विधिसम्मत सत्ता के प्रति आदर एक ऐसा कर्तव्य था, जिसकी कोई भी ईसाई अवहेलना नहीं कर सकता था। लेकिन, फिर भी यह एक अत्यन्त महत्त्व का तथ्य है कि ईसाई दो प्रकार के कर्तव्यों से बंधा हुआ था। यह बात पुरानी पैगन विचारधारा में बिलकुल नहीं पायी जाती थी। ईसाई मतावलम्बी को केवल सीजर की चीजें ही सीजर को नहीं देनी चाहिएँ प्रत्युत् ईश्वर की चीजें ईश्वर को भी देनी चाहिएँ। यदि इन दोनों में विरोध हो, तो इसमें संदेह नहीं कि उसे मनुष्य का नहीं, प्रत्युत् ईश्वर का आदेश पालन करना चाहिए। इस प्रकार के संघर्ष की संभावना किसी भी दृष्टिकोण में हो सकती थी। सेनेका ने नागरिक कर्तव्यों को दूसरे दर्जे पर रखा है। लेकिन, इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि सेनेका इस सम्भावना से अवगत था। ईसाई पीड़ित अल्पसंख्यक वर्ग का सदस्य था। इसलिए वह इस सम्भावना से अवश्य अवगत रहा होगा। इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मारकस ओरेलियस (Marcus Aurelius) जैसा प्रबुद्ध सम्राट् जिसके शासन काल में उत्पीड़न अपने चरम उत्कर्ष पर था, अपने इस विश्वास में सही था—हालाँकि यह बात कुछ अस्पष्ट है कि ईसाई धर्म राज्य के प्रति असीम तथा अविभक्त निष्ठा के रोमन सद्गुण से असंगत था। इसके विपरीत, ईसाई यह समझता था कि उसका धर्म ईश्वर ने उसके पथप्रदर्शन के लिए प्रकट किया है। यह धर्म उसे मुक्ति प्रदान करने वाला है। वह उसे एक ऐसे भवितव्य की ओर ले जा सकता है, जो सांसारिक शक्ति से परे है। इस दशा में ईसाई के लिए यह विश्वास करना स्वाभाविक था कि धर्म ने उसके ऊपर कुछ ऐसे कर्तव्य आरोपित कर रखे हैं जिनसे कोई भी सम्राट् उसे विरत नहीं कर सकता। नागरिक दायित्वों के सम्बन्ध में धर्म भावना को ध्यान में रख कर ही विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त कि प्रत्येक मनुष्य दो राज्यों का नागरिक है, पुराना ही था। लेकिन इस सिद्धान्त का प्रयोग नया था। ईसाई के लिए बृहत्तर राज्य, केवल मानव परिवार नहीं था, प्रत्युत् आध्यात्मिक राज्य, ईश्वर का राज्य था। इस राज्य में मनुष्य शाश्वत जीवन का उत्तराधिकारी था। इस राज्य के अन्तर्गत वह एक ऐसे भवितव्य को प्राप्त कर सकता था जिसे देने में कोई भी सांसारिक राज्य असमर्थ था।

यह सही है कि इस प्रकार की समस्या अकेले ईसाई धर्म ने ही प्रस्तुत नहीं की थी। रोमन संसार के अन्य धर्मों में भी ईसाइयत की ये विशेषताएँ पायी जाती थीं। यूनान और रोम के पुराने देशज सम्प्रदाय, यद्यपि उनका विकास राजनैतिक

प्रयोजनों से हुआ था, दूसरी शताब्दी के अन्त तक, पूर्वी देशों में उत्पन्न होने वाले विविध धर्मों के आगे पराभूत हो चुके थे। ईसाई धर्म इन धर्मों में से केवल एक धर्म था। पापग्रस्त और संसार से बलात पीड़ी को मुक्ति और शाश्वत जीवन प्रदान करने तथा आध्यात्मिक सन्तोष देने की कला में निपुण पुरोहितों के एक वर्ग को खड़ा करने की दृष्टि से ये सभी धर्म एक से थे।

"दमन तथा शक्तिहीनता के बोझिल वातावरण में मनुष्यों की इतारा आत्माएँ अदम्य उत्साह से स्वर्ग के आशापूर्ण आश्रय के लिए लालायित रहती थीं।"[1]

उस युग की यही वह सामाजिक अवस्था थी जिसके ऊपर ईसाइयत तथा अन्य प्राच्य धर्मों का प्रसार निर्भर था। धार्मिक तथा संसारेतर स्वार्थ की तथा धार्मिक संस्थाओं की स्वतन्त्रता की वृद्धि के साथ ही उस पुरानी परम्परा के साथ जिसने धर्म को राज्य का पिछलग्गू बना रखा था, सम्बन्ध-विच्छेद अपरिहार्य हो गया था। ईसाइयत—राज्य के अतिरिक्त चर्च—ने पुराने साम्राज्यिक विचार का अन्तिम चरण तथा एक नये क्रान्तिकारी विकास का प्रस्थान-बिन्दु प्रकट किया।

विश्व साम्राज्य धर्म के समर्थन के बिना सदैव ही असम्भव था। प्राचीन काल में लोगों, कबीलों और नगरों के झुंड में राष्ट्रीयता जैसा कोई आधुनिक भाव नहीं था। उस समय लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला एकमात्र सशक्त तत्त्व धर्म ही था। सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों ने प्रारम्भ से ही इस दिशा में पूर्व की प्रथा का अनुसरण किया था। रोम को भी इसी रास्ते पर चलने के लिए विवश किया गया। पूर्वी प्रान्तों में प्रारम्भिक सम्राटों की जीवन-काल में भी पूजा होती थी और मृत्यु के बाद भी। लेकिन, गणराज्य से साम्राज्य तक आने वाले सर्वधानिक प्रतिबन्धों ने इटली में इस प्रक्रिया को रोक लिया। लेकिन, संविधानवाद धीरे-धीरे झूठा पड़ता गया। डायोक्लेटियन (Diocletian) की अधीनता में साम्राज्य के पुनर्गठन के साथ और इस सम्राट् द्वारा मिथ्रेज्म (Mithraism) को राजधर्म बना लेने के परिणामस्वरूप रोम में भी एक प्रकार की खिलाफत की स्थापना हो गई। लेकिन, यह व्यवस्था भी केवल कुछ ही समय के लिए उपयोगी प्रमाणित हुई। धर्म की शक्ति की वृद्धि ने पहले तो सम्राट् की पूजा का पथ प्रशस्त किया लेकिन, बाद में सम्राट् की पूजा को असम्भव कर दिया। इस समय धर्म का स्वरूप बदल गया था। अब धर्म राज्य का अनुचर मात्र नहीं रहा था। धार्मिक संगठन स्वायत्तशासी था। वह राज्य के साथ समानता के धरातल पर खड़ा था और एक प्रकार से राज्य से अधिक महत्त्वपूर्ण हितों का प्रतिनिधित्व करता था। अपनी धर्म-भावना के कारण ईसाई यह नहीं मान सकता था कि आध्यात्मिक मामलों में सम्राट् का निर्णय अन्तिम निर्णय है। जहाँ धार्मिक और आध्यात्मिक सत्ता के स्रोत के रूप में रोम के दावे को एकबारगी हटा दिया जाए, वह साम्राज्य के नागरिक अथवा सैनिक के रूप में निष्ठा

1. Franz Cumont, *After Life in Roman Paganism* (1922), p. 40 इसी लेखक का *The Oriental Religions in Roman Paganism*, Eng. trans. (1911), Ch. II भी देखिए।

पूर्वक सहयोग कर सकता था। चर्च इस बात के लिए तैयार था कि वह लौकिक सत्ता का समर्थन करे, राजभक्ति और आदेशपालन के गुणों की शिक्षा दे तथा अपने सदस्यों को नागरिकता के कर्त्तव्यों में प्रशिक्षित करे।

ईसाई धर्म की स्थिति की विचित्रता का कारण यह था कि उसने मनुष्य की प्रकृति के दो रूप माने थे तथा मनुष्य के जीवन के ऊपर दो प्रकार का नियन्त्रण स्वीकार किया था। ईसाई धर्म की दृष्टि से आध्यात्मिक और लौकिक हितों में आधारभूत अन्तर था। इसीलिए, ईसाइयों के लिए आध्यात्मिक और राजनैतिक संस्थाओं का सम्बन्ध एक नई समस्या थी। इस विषय पर उसके विचार राजनैतिक दायित्व के सम्बन्ध में पुराने साम्राज्यिक विचार की दृष्टि से राजद्रोहात्मक ही ठहराए जाते। इसी प्रकार, साम्राज्यिक विचार ईसाई धर्म के दृष्टिकोण से मूलतः पैगन और अधार्मिक था। पैगन की दृष्टि में धर्म और नैतिकता के उच्चतम कर्त्तव्य राज्य में प्रतीकात्मक रूप में सम्राट् के व्यक्तित्व में निहित थे। सम्राट् सर्वोच्च नागरिक सत्ता होने के साथ साथ दिव्य भी था। ईसाई की दृष्टि में धर्म के कर्त्तव्य सबसे ऊँचे कर्त्तव्य थे और इनके लिए वह सीधे ईश्वर के निकट ऋणी था। ईसाई इस बात को स्वीकार नहीं करता था कि ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध के क्षेत्र में कोई लौकिक सत्ता हस्तक्षेप करे। इसीलिए, ईसाई इस बात के लिए प्रस्तुत नहीं था कि वह सम्राट् के व्यक्तित्व को धार्मिक सम्मान भी प्रदान करे। वह संस्था, जो इस उच्चतर सम्बन्ध पर जोर देती थी और जो आत्मा और परमात्मा के बीच सम्पर्क स्थापित करने का साधन प्रदान करती थी उन संस्थाओं से भिन्न और स्वतन्त्र थी, जिनका उद्देश्य केवल भौतिक और लौकिक जीवन यात्रा का निर्वाह करना था। इसीलिए, ईसाई धर्म ने एक ऐसी समस्या को उत्पन्न किया जिससे प्राचीन संसार परिचित नहीं था। यह समस्या चर्च और राज्य की थी। इस समस्या में निष्ठाओं का एक ऐसा विभाजन निहित था, जो नागरिकता सम्बन्धी प्राचीन विचार में नहीं पाया जाता था। यदि नैतिक और धार्मिक संस्थाओं को राज्य तथा कानूनी व्यवस्था से स्वतन्त्र और उच्चतर न माना जाता, तो इस बात की कल्पना करना मुश्किल है कि स्वतन्त्रता ने यूरोप के राजनैतिक दर्शन में इतना महत्त्वपूर्ण भाग लिया होता।

स्थिति यह थी कि कानूनी स्थापना के पूर्व ही चर्च सिद्धान्त तथा धार्मिक संगठन की दृष्टि से बहुत शक्तिशाली हो गया था। इस तथ्य ने उसे साम्राज्य का महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया था। जब तक वह एक ऐच्छिक और अवैध संगठन था, राज्य के साथ उसके सम्बन्ध के किसी सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं थी। जब उसकी स्थापना हो गई, आध्यात्मिक मामलों में उसकी स्वतन्त्रता अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगी। किसी भी धार्मिक राजनीतिज्ञ ने यह कभी नहीं कहा कि चर्च और राज्य सदैव ही एक-दूसरे से अलग रहकर काम चला सकते हैं। यद्यपि शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं, फिर भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी प्रकार चर्च और राज्य भी एक-दूसरे से अलग अलग होने पर आपस में सम्बन्धित हैं। राज्य और चर्च एक-दूसरे से स्वतन्त्र थे, फिर भी, वे एक-दूसरे के सहायक थे। ये दोनों ही संस्थाएँ इस संसार में और इस संसार के पश्चात् मानव जीवन का शासन करने के लिए ईश्वर

की ओर से नियुक्त की गई थीं। ईसाई की दृष्टि में राज्य की आज्ञा का पालन करना निश्चित रूप से एक गुण था जो ईश्वर ने अन्य किसी नैतिक दायित्व की भाँति ही मनुष्य के ऊपर आरोपित किया है। फिर भी यह एक निरपेक्ष दायित्व नहीं है। कोंस्टेन्टाइन (Constantine) ने वैधिक रूप से चर्च की स्थापना इसलिए की थी क्योंकि उसका अनुशासन राज्य की सहायता कर सकता था। इसी प्रकार, ईसाई शासक का कर्त्तव्य था कि वह चर्च को पुष्ट करे और उसकी रक्षा करे। उसके कर्त्तव्य में यह भी शामिल था कि वह चर्च के सिद्धान्त की पवित्रता की रक्षा करे। यह कर्त्तव्य शासक के लौकिक स्वरूप के प्रतिकूल नहीं था। इसका अभिप्राय यह भी नहीं था कि शासक को सिद्धान्त का निर्णायक बना दिया गया हो। ईसाई धर्म के अनुसार दो प्रकार के कर्त्तव्य थे, आध्यात्मिक और लौकिक। इन दोनों में यदा कदा विरोध हो सकता था लेकिन, अन्तिम रूप से ये दोनों एक-दूसरे से असंगत नहीं थे। इसके अनुसार दो संस्थागत संगठन भी आवश्यक थे। ये दोनों संगठन एक-दूसरे से अलग-अलग थे, फिर भी उन्हें एक-दूसरे की आवश्यकता थी। सामान्य अवस्थाओं में ये संगठन एक-दूसरे की सहायता भी करते थे।

इस सिद्धान्त में संघर्ष और अस्पष्टता की सम्भावनाएँ स्पष्ट हैं। हम ऐसे किसी ईसाई समाज की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें इस प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न न हों। ये कठिनाइयाँ स्वयं नैतिक जीवन की जटिलता को ही व्यक्त करती हैं। इसलिए, यह प्रदर्शित करना बहुत आसान है कि चर्च और राज्य वास्तव में स्वतन्त्र नहीं थे। जिस समय चर्च की स्थापना हुई थी, उस समय वह सम्राट् की सहायता के ऊपर निर्भर था। बाद में उसकी शक्ति बढ़ गई और वह लौकिक सत्ता के लिए खतरा बन गया। सन्त आगस्टाइन जैसे विचारक में धार्मिक सहिष्णुता के सम्बन्ध में जो असंगतियाँ मिलती हैं, उनसे इस समस्या की कठिनाइयों का अनुमान किया जा सकता है। सिद्धान्त रूप से ईसाई धर्म केवल बल के ऊपर आधारित नहीं रह सकता था। ईसाई राजनीतिज्ञ हृदय से यह स्वीकार करता था कि नास्तिकता घोर पाप है। लेकिन, वह ईसाई धर्म का प्रचार उन लोगों के अविरोध में नहीं कर सकता था जो अपने प्रजाजनों के सांसारिक और शाश्वत कल्याण के लिए उत्तरदायी थे। अपने जीवन के प्रारम्भ में ऑगस्टाइन (Augustine) ने मैनेशियनों के खिलाफ बल प्रयोग का विरोध किया था। लेकिन बाद में डोनेटिस्टों (Donatists) के साथ अपने वाद विवाद में उसने कहा था कि नास्तिक को स्वयं उसकी आत्मा की भलाई के लिए ही ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए विवश किया जाना चाहिए। इसी प्रकार, यह एक सादा ऐतिहासिक तथ्य था कि कौंसिल ऑफ निकाया (Council of Nicaea) में एरियनों (Arians) को पराजित करने में कॉंस्टेन्टाइन (Constantine) का प्रभाव निर्णायक रहा था। लेकिन, कोई भी ईसाई अपने धर्म की हत्या किए बिना यह स्वीकार नहीं कर सकता था कि त्रिदेव (Trinity) का परम्परागत सिद्धान्त सम्राट् के आदेश के द्वारा निर्णीत हो गया था। समस्या का केन्द्रबिन्दु यह था कि चर्च और राज्य के क्षेत्राधिकारों को निश्चित कर दिया जाए। यद्यपि, मध्य युग के अन्त तक क्षेत्राधिकार सम्बन्धी प्रश्न उठते रहे थे, तथापि सामान्य परिस्थितियों के लिए

क्षेत्राधिकार की सीमाएँ काफी हद तक स्पष्ट कर दी गई थी। शुरू में मुख्य आवश्यकता आध्यात्मिक मामलो मे चर्च की स्वतन्त्रता पर जोर देना था।

अम्ब्रोजे, आगस्टाइन और ग्रेगोरी
(Ambrose, Augustine, And Gregory)

इन प्रश्नो के सम्बन्ध मे चर्च के अधिकारियो का क्या दृष्टिकोण था और विविध सकल्पनाओ मे सूक्ष्म भेद का कितना अभाव था, इस बात को हम चर्च की स्थापना के बाद की दो शताब्दियो के तीन महान् विचारको के सन्दर्भ से समझ सकते हैं। ये तीन विचारक थे चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे मिलान का सन्त अम्ब्रोजे, पाँचवी शताब्दी के शुरू मे सन्त आगस्टाइन और छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे सन्त ग्रेगोरी। इनमे से किसी भी व्यक्ति ने चर्च तथा राज्य के साथ उसके सम्बन्ध के बारे मे किसी व्यवस्थित दर्शन का निर्माण नही किया। वे ईसाई विचारधारा के निर्माणकारी युग के व्यक्ति थे और उन्होने तत्काल महत्व के प्रश्नो पर ही विचार किया है। लेकिन, उन सबने ऐसे विचारो को व्यक्त किया है जो ईसाई विश्वासो के आवश्यक अग थे और जो चर्च तथा धर्म के सम्बन्धो के विषय मे ईसाई विचारधारा के एक अभिन्न अग बन गए। सन्त अम्ब्रोजे ने आध्यात्मिक मामलो मे चर्च की स्वतन्त्रता पर आग्रहपूर्वक बल दिया है। यह मानने का कोई कारण नही है कि इस दिशा मे वह अपने युग के ईसाइयो से भिन्न विचार रखता था। लेकिन, सिद्धान्त के सम्बन्ध मे उसकी स्पष्टोक्ति ने और विरोध के बावजूद उसकी उत्साहपूर्ण निष्ठा ने उसे एक ऐसी अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान कर दी है कि बाद मे वाद-विवादो मे जब कभी यह प्रश्न उठा, ईसाई लेखको ने उसका सहारा लिया। उदाहरण के लिए सन्त अम्ब्रोजे ने स्पष्ट रूप से कहा है कि आध्यात्मिक मामलो मे चर्च का सभी ईसाइयो के ऊपर, सम्राट् के ऊपर भी अधिकार है। अन्य किसी ईसाई की भाँति सम्राट् भी चर्च का ही पुत्र है। वह "चर्च के अन्दर है, चर्च से ऊपर नही है।"[1] उसने सम्राट् वेलेन्टिनियन (Emperor Valentinian) को अपने एक पत्र मे लिखा था, "बिशप ईसाई सम्राटो के निर्णायक हैं, सम्राट् बिशपो के नहीं।" उसने यह कभी नही कहा कि नागरिक सत्ता का आदेश नही मानना चाहिए। लेकिन, उसने यह अवश्य कहा कि धर्माचार्यों का यह न केवल अधिकार है प्रत्युत् कर्तव्य भी है कि वे आचारों के सम्बन्ध मे लौकिक शासको का नियमन करते रहें। उसने इस व्यवस्था की न केवल शिक्षा दी, प्रत्युत् इसका पालन भी किया। एक प्रसिद्ध अवसर पर उसने सम्राट् थियोडोसियस (Emperor Theodosius) की उपस्थिति मे यूकारिस्ट (Eucharist) का समारोह करने से इन्कार कर दिया था। इसका कारण यह था कि सम्राट् थियोडोसियस ने थेसालोनिका (Thessalonica) मे हत्याकांड करवाया था। एक अन्य अवसर पर उसने इस समारोह को उस समय तक स्थगित रखा जब तक सम्राट् ने एक ऐसे आदेश को

---

1. ये उद्धरण कार्लाइल मे दिए गए हैं, *op cit*, Vol I, pp 180 ff तथा पाद टिप्पणियाँ

वापस नहीं ले लिया जिसे अम्ब्रोजे एक बिशप के विशेषाधिकारों के लिए हानिकर समझता था। एक और अवसर पर उसने सम्राट् वैलेनटिनियन के आदेश पर एरियनों के प्रयोग के लिए चर्च देना नामंजूर किया। उसने कहा, "महलों पर सम्राटों का अधिकार है, चर्चों पर बिशपों का।" उसने लौकिक सम्पत्ति पर जिसमें चर्च की भूमि भी शामिल है, सम्राट् का अधिकार स्वीकार किया। लेकिन, उसने कहा कि चर्च की इमारतें आध्यात्मिक उपयोग के लिए हैं और सम्राट् को उन्हें छूने तक का अधिकार नहीं है। तथापि, उसने यह भी नहीं माना कि सम्राट् के आदेशों का बलपूर्वक विरोध किया जाए। वह तर्क करने और आग्रह करने के लिए तैयार है लेकिन वह जनता को विद्रोह करने के लिए प्रेरित नहीं करता। इसलिए, अम्ब्रोजे के अनुसार लौकिक शासक आध्यात्मिक मामलों में चर्च के आदेश के अधीन है और कम-से-कम धार्मिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में सम्राट् का अधिकार सीमित है। लेकिन, चर्च के अधिकार की रक्षा आध्यात्मिक साधनों द्वारा होनी चाहिए, प्रतिरोध द्वारा नहीं। अम्ब्रोजे ने सम्पत्ति के दोनों प्रकारों के बीच स्पष्ट सीमा विभाजन नहीं किया है।

समीक्ष्य युग का सबसे महत्त्वपूर्ण ईसाई विचारक अम्ब्रोजे का महान् शिष्य सन्त ऑगस्टाइन था। उसका दर्शन केवल थोड़ा सा ही व्यवस्थित था। लेकिन, उसने प्राचीन काल के समस्त ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात् कर लिया था। यह ज्ञान-विज्ञान उसके द्वारा ही मध्ययुग में पहुँचा। उसकी रचनाएँ विचारों की खान थीं जिन्हें बाद के कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट विचारकों ने खोदा है। यहाँ उन सारी बातों को दुहराने की आवश्यकता नहीं है जिनके बारे में वह सामान्य रूप से ईसाई विचारधारा से सहमत था और जिनका इस अध्याय में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण विचार एक ईसाई राज्य का सिद्धान्त है। उसने इतिहास के एक विशिष्ट दर्शन का भी प्रतिपादन किया है। इस दर्शन के अनुसार यह राज्य मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का चरमोत्कर्ष है। ऑगस्टाइन की प्रामाणिकता के कारण यह सिद्धान्त ईसाई विचारधारा का एक अविच्छेद्य अंग बन गया। यह सिद्धान्त मध्ययुग में तो चला ही चला, आधुनिक काल तक चलता आया है। इस विषय पर रोमन कैथोलिक ही नहीं, प्रत्युत् प्रोटेस्टेंट भी सदा ऑगस्टाइन के विचारों से प्रभावित रहे हैं।

ऑगस्टाइन ने अपनी महान् पुस्तक *'City of God'* एक विशेष उद्देश्य को लेकर लिखी थी। पेगनों ने ईसाई धर्म के ऊपर यह आरोप लगाया था कि वह रोम की शक्ति के पतन के लिए और ४१० ई० में एलारिक (Alaric) द्वारा रोम के विनाश के लिए उत्तरदायी है। ऑगस्टाइन का मुख्य उद्देश्य इस आरोप का खण्डन करना था। प्रसंगवशात् उसने इस पुस्तक में अपने सभी दार्शनिक विचारों का विवेचन किया। उसने मानव इतिहास के महत्त्व और लक्ष्य के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त का निरूपण किया और इसी सिद्धान्त के अनुसार रोम के इतिहास को उसके उचित संदर्भ में रखने की चेष्टा की। इसके लिए यह आवश्यक था कि इस प्राचीन विचार को फिर से प्रस्तुत किया जाए कि मनुष्य दो नगरों का नागरिक है— अपने जन्म के नगर का और ईश्वर के नगर का। सेनेका और मार्कस ने इस मैं

था जो धार्मिक अर्थ बताया था, वह ऑगस्टाइन की रचनाओं में बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य की प्रकृति के दो रूप हैं—आत्मा और शरीर। इसलिए, मनुष्य इस संसार का नागरिक है और ईश्वरीय नगर का भी। मानव जीवन का आधारभूत तथ्य मानव हितों का विभाजन है। मनुष्य के लौकिक हित उसके शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, मनुष्य के पारलौकिक हित उसकी आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह भेद नीतिशास्त्र और राजनीति सम्बन्धी सम्पूर्ण ईसाई विचारधारा के मूल में निहित था।

संत ऑगस्टाइन ने इस भेद को मानव इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने की कुंजी मान लिया है। मानव इतिहास सदैव ही दो समाजों के पारस्परिक संघर्ष द्वारा नियन्त्रित होता है। एक ओर संसार का नगर है। यह मनुष्य की अधोमुखी प्रवृत्ति काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि के ऊपर आधारित है। दूसरी ओर ईश्वर का नगर है। वह स्वर्गीय शांति और आध्यात्मिक मुक्ति की आशा के ऊपर आधारित है। पहला शैतान का राज्य है। इसका इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है जब से शैतान ने देवदूतों की अवज्ञा प्रारम्भ कर दी। इसके मूलतत्त्व असीरिया और रोम के पैगन साम्राज्यों में विशेष रूप से पाये जाते हैं। दूसरा साम्राज्य ईसा का है। वह पहले हिब्रू राष्ट्र में और फिर बाद में चर्च में तथा ईसाई धर्म को अंगीकृत करने वाले साम्राज्य में निहित रहा है। इतिहास इन दो समाजों के संघर्ष की नाटकीय कथा है। अंत में विजय ईश्वरीय नगर की ही होगी। शांति केवल ईश्वरीय नगर में ही सम्भव है। केवल आध्यात्मिक राज्य ही स्थायी है। रोम के पतन के सम्बन्ध में ऑगस्टाइन की यह व्याख्या है सभी सांसारिक राज्यों का नाश होना जरूरी है। सांसारिक शक्ति नश्वर और क्षणभंगुर है। यह मानव प्रकृति के उन पक्षों पर आधारित है जिनके कारण निश्चित रूप से लड़ाई तथा साम्राज्य विस्तार की लिप्सा उत्पन्न होती है।

तथापि, इस सिद्धान्त की व्याख्या करते समय और विशेष रूप से इसे ऐतिहासिक तथ्यों के ऊपर लागू करते समय एक सावधानी की आवश्यकता है। ऑगस्टाइन का यह मन्तव्य नहीं था कि सांसारिक नगर को अथवा ईश्वरीय नगर को वर्तमान मानव संस्थाओं के साथ सटीक ढंग से समीकृत किया जा सकता है। चर्च एक दृश्यमान मानव संगठन था। लेकिन वह ईश्वर का राज्य नहीं था। लौकिक शासन तो बुराई की शक्तियों के साथ और भी कम समीकृत किया जा सकता था। धार्मिक राजनीतिज्ञ जो नास्तिकता के दमन के लिए साम्राज्य की शक्ति का सहारा लेता था, शासन को शैतान के राज्य का प्रतिनिधि नहीं बता सकता था। समस्त ईसाइयों की भाँति ऑगस्टाइन का भी यह विश्वास था कि 'समस्त शक्तियाँ ईश्वर की दी हुई हैं।' उसका यह भी विश्वास था कि शासन में बल का प्रयोग पाप के कारण आवश्यक हो जाता है और यह पाप का ईश्वर की ओर से निर्धारित उपचार है। इसी कारण ऑगस्टाइन ने दोनों नगरों को देखने में अलग-अलग नहीं माना। सांसारिक नगर शैतान का और सभी दुष्ट मनुष्यों का राज्य है। स्वर्गीय नगर इस लोक में और परलोक में मुक्त आत्माओं का संगम है। सांसारिक जीवन में ये दोनों

समाज एक दूसरे से मिले हुए हैं। वे केवल अंतिम निर्णय के अवसर पर ही अलग होंगे।

लेकिन, इसके साथ ही ऑगस्टाइन का यह विचार अवश्य था कि पैगन साम्राज्य बुराई के राज्य से कुछ मिलते अवश्य हैं यद्यपि वे उसके साथ पूरी तरह समीकृत नहीं हैं। वह चर्च को ईश्वरीय नगर का प्रतिनिधि भी समझता था यद्यपि ईश्वरीय नगर धार्मिक संगठन के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता। ऑगस्टाइन की विचार-धारा का एक सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि उसने चर्च को एक संगठित संस्था के रूप में मान्यता दी। ऑगस्टाइन का कहना था कि मनुष्य की मुक्ति और ईश्वरीय जीवन का साक्षात्कार तभी सम्भव है जब हम चर्च को समस्त विश्वासी व्यक्तियों का एक सामाजिक संघ स्वीकार करें। मानव इतिहास में ईश्वर की करुणा चर्च के माध्यम से ही कार्य करती है।[1] इसी कारण ईसाई चर्च के उदय को वह एक युगान्तकारी घटना समझता था। ईसाई चर्च का उदय सत् और असत् की शक्तियों के संघर्ष में एक नये युग का सूचक है। अब मनुष्य की मुक्ति चर्च के हितों के साथ जुड़ी हुई है। ये हित अन्य सभी हितों से ऊपर हैं।

इसलिए, ऑगस्टाइन के लिए चर्च का इतिहास अक्षरशः "संसार में ईश्वर का प्रयाण" (The March of God in the World) था। इस कथन को हीगेल (Hegel) ने कुछ भगड़े ढंग से राज्य के ऊपर लागू किया था। मानव जाति एक परिवार है लेकिन उसका अन्तिम भवितव्य इस पृथ्वी पर नहीं, प्रत्युत स्वर्ग में प्राप्त होता है। मानव जीवन में हमेशा ही एक संघर्ष—ईश्वर की अच्छाई और विद्रोही आत्माओं की बुराई के बीच संघर्ष—चलता रहता है। समस्त मानवीय इतिहास दैवी मुक्ति की योजना का महान् उद्घाटन है। इस योजना में चर्च का उदय एक निर्णायक क्षण है। अब जाति की एकता का अभिप्राय चर्च के नेतृत्व में ईसाई धर्म की एकता है। इससे यह अनुमान निकालना आसान होगा कि तर्क की दृष्टि से राज्य को चर्च की 'लौकिक भुजा' (secular arm) बन जाना चाहिए। लेकिन, यह अनुमान आवश्यक नहीं है और परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि ऑगस्टाइन संभवतः इस अनुमान को निकाल भी नहीं सकता था। लौकिक और धार्मिक शासकों के सम्बन्ध के बारे में उसका सिद्धान्त अपने युग के अन्य लेखकों की ही भाँति अस्पष्ट था। इसलिए, इस विषय पर बाद में जो वाद-विवाद हुए, उनमें दोनों पक्ष समान रूप से उसका प्रमाण दे सकते थे। लेकिन कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें उसने सदियों तक के लिए सुलझा दिया—राज्य को ईसाई राज्य होना चाहिए, उसे एक ऐसे समाज की सेवा करनी चाहिए जो समान ईसाई धर्म के कारण एक हो, उसे एक ऐसे जीवन की व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें आध्यात्मिक हित अन्य समस्त हितों से ऊपर हो। इस राज्य को धर्म

1. यह स्वीकार करना चाहिए कि ऑगस्टाइन के विचार का एक अन्य पक्ष भी है। उसका चरित्र दो पक्षों में बटा हुआ था—धार्मिक राजनीतिज्ञ और ईसाई रहस्यवादी। दूसरे पक्ष में वह ईश्वरीय करुणा को व्यक्तिगत आत्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध मानता था। प्रोटेस्टैंट प्रवृत्ति के लेखक उसकी इसी रूप में व्याख्या करेंगे। लेकिन, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से और मध्य युग पर उसके प्रभाव की दृष्टि से पुस्तक में दिया गया स्थान ठीक है।

की पवित्रता की रक्षा करते हुए मानव मुक्ति का प्रयास करना चाहिए। जेम्स ब्राइस (James Bryce) का यह कहना सही है कि पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) का सिद्धान्त ऑगस्टाइन के ईश्वरीय नगर के ऊपर निर्मित हुआ था। लेकिन, यह सिद्धान्त साम्राज्य के पतन के साथ ही लुप्त नहीं हो गया। सत्रहवीं शताब्दी के विचारक के लिए यह समझना बड़ा कठिन था कि राज्य धार्मिक विश्वास के समस्त प्रश्नों से अलग खड़ा हो सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी तक में ग्लैडस्टन (Gladstone) यह तर्क कर सकता था कि राज्य की एक अन्तरात्मा होती है जिसकी वजह से यह धार्मिक सत्य और असत्य की पहचान कर सकता है। एक सच्चे राज्य को अनिवार्यतः ईसाई धर्मावलम्बी होना चाहिए, ऑगस्टाइन ने इस तथ्य का अत्यन्त सशक्त ढंग से प्रतिपादन किया है। उससे सिसरो तथा ईसा से पहले के अन्य लेखकों के इन विचारों को स्वीकार नहीं किया कि सच्चे राज्य का लक्ष्य न्याय को प्राप्त करना है। ऑगस्टाइन का आधार यह था कि सम्भवतः कोई भी पैगन साम्राज्य यह नहीं कर सकता। जब तक राज्य का संविधान ईश्वर की उपासना नहीं करता, जो उसे करनी चाहिए, तब तक यह कहना विरोधोक्ति मात्र है कि राज्य प्रत्येक व्यक्ति को उसका देय दे सकता है।[1] ऑगस्टाइन ने अपने इतिहास विषयक दर्शन के कारण यह स्वीकार किया कि ईसा से पहले के साम्राज्य कुछ अर्थों में राज्य अवश्य रहे थे लेकिन उसका स्पष्ट मत है कि वे पूरी तरह से राज्य नहीं थे। पूर्ण राज्यों की स्थापना तो ईसाई धर्म के उदय के पश्चात् ही हुई है। न्यायपूर्ण राज्य वही है जिसमें सच्चे धर्म में विश्वास करना सिखाया जाता है और इस विश्वास को विधि तथा सत्ता के द्वारा कायम रखा जाता है (बाद की बात ऑगस्टाइन ने साफ-साफ नहीं कही है)। ईसाई धर्म के अवतरण के पश्चात् कोई भी राज्य उस समय तक न्यायपूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि वह ईसाई धर्म का मतावलम्बी न हो। जिस शासन का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वह न्यायविहीन होता है। राज्य का ईसाई स्वरूप इस सार्वभौम सिद्धान्त में निहित है कि राज्य का उद्देश्य न्याय तथा सत् को प्राप्त करना है। किसी-न-किसी प्रकार से राज्य का चर्च होना आवश्यक है। कारण यह है कि सामाजिक संगठन का अन्तिम रूप धार्मिक है। हाँ, इस विषय पर वाद-विवाद हो सकता है कि यह रूप क्या रूप धारण करेगा।

सन्त एम्ब्रोज़े (St Ambrose) और सन्त ऑगस्टाइन ने राजनैतिक विचारों का अब तक जो विवरण दिया गया है, उसमें मुख्य आग्रह इसी बात पर है कि आध्यात्मिक मामलों में चर्च को स्वतन्त्र होना चाहिए और शासन दो व्यवस्थाओं में विभक्त रहता है—राजनैतिक तथा धार्मिक। इस स्थिति का अभिप्राय यह था कि केवल चर्च ही स्वतन्त्र न रहे, प्रत्युत् लौकिक शासन भी उस समय तक स्वतन्त्र रहे जब तक कि वह अपने उचित अधिकार-क्षेत्र में कार्य करता है। सन्त पाल ने रोमन्स

1 ऑगस्टाइन ने सिसरो की राज्य-विषयक परिभाषा पर जो आपत्ति की है, उसके अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। सी० एच० मैकाइवेन ने अपने *The Growth of Political Thought in the West*, 1932, pp 154 ff नामक ग्रन्थ में ए० जे० कार्लाइल और जे० एन० फिगिस की व्याख्या पर ठीक ही आपत्ति की है।

के तेरहवें अध्याय मे नागरिक आदेशपालन के, सत्तारूढ पक्ष के प्रति अधीनता के कर्तव्य का अत्यन्त आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया था। चर्च की बढती हुई शक्ति से इस धारणा पर कोई आघात नही पहुँचा। इस युग के धर्माचार्य नागरिक शासन के परमाधिकारो (prerogatives) मे कोई हस्तक्षेप नही करना चाहते थे। लौकिक शासको की पवित्रता के सम्बन्ध मे सबसे जोरदार दावा उस महान् और शक्तिशाली पोप की रचनाओ मे उपलब्ध होता है जिसे मध्ययुगीन पोपशाही का जनक कहा गया है। सन्त ग्रिगोरी (St Gregory) ने लोम्बार्ड्स के खिलाफ इटली की रक्षा करने मे अपूर्व सफलता प्राप्त की। पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका मे न्याय और सुशासन के समर्थक के रूप मे उसका प्रभाव भी बहुत बढा हुआ था। उसके प्रभाव के फलस्वरूप रोमन चर्च की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ गई। लौकिक शासकों की दुर्बलता ने उसे इस बात के लिए भी विवश कर दिया कि वह राजनैतिक शासकों के कर्तव्यों को धारण करे। लेकिन धर्माचार्यों मे एकमात्र ग्रिगोरी ही ऐसा विचारक है जो राजनैतिक शक्ति के आदेशो का सविनय भाव से पालन करने पर जोर देता है।

ग्रिगोरी का विचार यह मालूम पडता है कि एक दुष्ट शासक की आज्ञा का भी मूक होकर सविनय भाव से पालन करना चाहिए। इस बात को तो अन्य ईसाई लेखक भी स्वीकार कर लेते कि दुष्ट शासक की आज्ञा का पालन होना चाहिए लेकिन यह आज्ञापालन चुपचाप निष्क्रिय भाव से हो, इसको कोई स्वीकार नही करता। ग्रिगोरी ने अपने *Pastoral Rule* नामक ग्रंथ मे इस बात पर विचार किया है कि बिशप अपने अनुयाइयो को किस प्रकार की शिक्षा दें। इस पुस्तक मे उसने यह भी जोर देकर कहा है कि प्रजाजनो को न केवल अपने शासको की आज्ञाओ का पालन ही करना चाहिए प्रत्युत् उन्हे अपने शासको के जीवन की न तो आलोचना ही करनी चाहिए और न उनके सम्बन्ध मे कोई निर्णय ही देना चाहिए।

"यदि शासको के कार्य दोषपूर्ण हो, तब भी उन्हे मुँह की तलवार से काटना नही चाहिए। यदि कभी भूल चूक से जबान उनकी आलोचना भी करने लगे तो हृदय को पश्चाताप की भावना से नत हो जाना चाहिए जिससे कि जबान भी अपनी गलती मान ले। यदि जबान अपने से ऊपर की शक्ति की आलोचना करती है, तो उसे उस ईश्वर के निर्णय से डरना चाहिए जिसने उस शक्ति को स्थापित किया है।"[1]

एक ऐसे युग मे जब कि सम्राटो द्वारा चर्च के नियन्त्रण की अपेक्षा अराजकता अधिक बडा खतरा हो गया था, शासन की पवित्रता का यह सिद्धान्त अस्वाभाविक नही था। यह सही है कि ग्रिगोरी के पास दोनो, लौकिक और धार्मिक एक प्रकार से राजनैतिक शक्ति थी, लेकिन फिर भी सम्राटों को लिखे गए उसके पत्रो मे तथा सन्त अम्ब्रोज की भर्त्सनाओ और विरोधो मे स्पष्ट अन्तर है।[2] ग्रिगोरी उन कार्यों का विरोध करता है जिन्हें वह अधार्मिक समझता है लेकिन वह आज्ञा का पालन करने से मुँह नही मोडता। उसका विचार यह मालूम पडता है कि सम्राट् को अवैध कार्य

1 Quoted by Carlyle, *op cit*, Vol I, p 152, n 2
2 See Letters quoted by Carlyle, *op cit*, Vol I, pp 153 *ff*

करने का भी अधिकार है बशर्ते कि वह निन्दा सहने के लिए तय्यार हो। शासक की शक्ति ईश्वर की शक्ति है। सम्राट् से बड़ा केवल ईश्वर है और कोई नहीं। शासक के कार्य अन्तिम रूप से ईश्वर तथा उसकी अन्तरात्मा के बीच में हैं।

दो तलवारें
(The Two Swords)

चर्च के संस्थापकों के युग में ईसाई विचारकों ने जिस विचारधारा का विकास किया था, उसके अनुसार एक दुहरे संगठन की आवश्यकता थी। यह दुहरा संगठन दो प्रकार के मूल्यों की रक्षा के लिए आवश्यक था। आध्यात्मिक हित और शाश्वत मुक्ति चर्च के विषय हैं और वे धर्माचार्यों की निशा के अन्तर्गत आते हैं। सांसारिक अथवा लौकिक हित तथा शान्ति, व्यवस्था और न्याय की रक्षा नागरिक शासन के विषय हैं। शासक इन उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास करते हैं। धर्माचार्यों और नागरिक अधिकारियों के बीच पारस्परिक सहायता का भाव रहना चाहिए। पारस्परिक सहायता के भाव का यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि यदि अराजकता उत्पन्न हो, तो चर्च हस्तक्षेप न करे या यदि चर्च में भ्रष्टाचार आ जाए, तो राजसत्ता हस्तक्षेप न करे। तथापि, सामान्य धारणा यह थी कि दोनों क्षेत्राधिकारों को अलग-अलग रहना चाहिए तथा उन्हें एक दूसरे की मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए।

इस सिद्धान्त को अकसर दो तलवारों अथवा दो सत्ताओं का सिद्धान्त कहा जाता है। पाँचवीं शताब्दी के अन्त में पोप गिलेसियस प्रथम (Pope Gelasius I) ने इस सिद्धान्त का प्रामाणिक विवेचन उपस्थित किया था। आरम्भिक मध्य युगों की यह स्वीकृत परम्परा रही। लेकिन, आगे चल कर जब धर्माचार्यों और शासकों के सम्बन्धों में वाद-विवाद उत्पन्न हुआ, तब यह सिद्धान्त टूटने-सा लगा। वाद-विवाद के युग में भी उदार विचारों के व्यक्ति दुहरे नियन्त्रण के इस सिद्धान्त को अपना आदर्श मानते रहे थे। वे व्यक्ति दोनों विरोधी पक्षों के अतिवादी दावों को स्वीकार नहीं करते थे। चूंकि गेलेशियस कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् को लिख रहा था और उसका उद्देश्य पूर्व में बढ़ती हुई नास्तिकता के विरुद्ध पश्चिम के कट्टर सिद्धान्त की रक्षा करना था, अतः उसने स्वभावतः सन्त अम्ब्रोज (St Ambrose) द्वारा निर्दिष्ट पद्धति का अनुसरण किया। सैद्धांतिक मामलों में सम्राट् को अपनी मर्जी धर्माचार्यों के अधीन रखनी चाहिए और उसे सिखाने का नहीं, प्रत्युत् सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि चर्च को अपने शासकों तथा पदाधिकारियों के माध्यम से समस्त धर्माचार्यों के ऊपर नियन्त्रण रखना चाहिए। यह इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से स्वतन्त्र तथा स्वशासी संस्था नहीं हो सकता।

"सर्वशक्तिमान् ईश्वर की यह इच्छा है कि ईसाई धर्म के शिक्षक और पादरी नागरिक विधि अथवा लौकिक अधिकारियों द्वारा नहीं, प्रत्युत् बिशपों और पादरियों द्वारा शासित होंगे।"[1]

---

1. Quoted by Carlyle, II IV, Vol. I, p 187, n. 2

इस सिद्धान्त के अनुसार ही गेलेशियस (Gelasius) का आग्रह है कि जहाँ आध्यात्मिक मामलों का सम्बन्ध हो, धर्माचार्यों पर उनके अपराधों के लिए धार्मिक अदालतों में मुकदमा चलना चाहिए, लौकिक अदालतों में नहीं।

इस व्यावहारिक निष्कर्ष के पीछे जो दार्शनिक सिद्धान्त था, वह सन्त ऑगस्टाइन की शिक्षा के अनुसार था। सन्त ऑगस्टाइन के मत में आध्यात्मिक शासन और लौकिक शासन का भेद ईसाई धर्म का एक आवश्यक अंग था। फलस्वरूप ईसाई धर्म का अनुसरण करने वाले प्रत्येक शासन के लिए यह एक नियम था। आध्यात्मिक और लौकिक सत्ता का एक ही हाथों में सम्मिश्रण ईसाई धर्म के विरुद्ध है। ईसा के अवतार के पूर्व तो यह सम्भवतः विधिसम्मत हो सकता था, लेकिन अब यह स्पष्ट रूप से शैतान का कार्य है। मनुष्य की दुर्बलता और प्राकृतिक अभिमान तथा अहंकार को कुचलने के लिए ईसा ने दोनों शक्तियों को अलग-अलग कर दिया था। ईसा मसीह ने स्वयं राजकीय और आध्यात्मिक शक्ति का एक साथ प्रयोग नहीं किया। ईसाई धर्म के अनुसार एक व्यक्ति का एक ही समय में राजा और पादरी होना गैर-कानूनी है। हाँ, यह अवश्य है कि दोनों शक्तियों को एक दूसरे की जरूरत है।

"ईसाई सम्राटों को शाश्वत जीवन के लिए बिशपों की जरूरत है और बिशप सांसारिक मामलों में व्यवस्था स्थापित करने के लिए साम्राज्य के विनियमों का उपयोग करते हैं।"[1]

लेकिन, पादरी का उत्तरदायित्व लौकिक शासक की अपेक्षा अधिक भारी है। इसका कारण यह है कि पादरी निर्णय-दिवस (Day of Judgement) पर सभी ईसाइयों, जिनमें शासक भी सम्मिलित हैं, की आत्मा के लिए उत्तरदायी हैं। शासक को पादरी की और पादरी को शासक की शक्ति का कदापि प्रयोग नहीं करना चाहिए।

इसलिए, सार्वदेशिक ईसाई समाज का सिद्धान्त, जो चर्च के माध्यम से मध्ययुग में आया, प्राचीन काल के विश्वव्यापी समाज के विचार से बिलकुल भिन्न था। वह आजकल के चर्च और राज्य के विचारों से भी बिलकुल भिन्न था। वह आजकल के विचारों से इसलिए भिन्न था क्योंकि धर्माचार्यों की दृष्टि में चर्च ऐसे व्यक्तियों का विशिष्ट समुदाय नहीं था जो अपनी मर्जी से ईसाई धर्म को स्वीकार कर आपस में मिले हों। उनके विचार से चर्च साम्राज्य की तरह ही सार्वदेशिक था क्योंकि दोनों में ही सभी मनुष्य शामिल थे। मानव जाति दो शासनों के अन्तर्गत एक समाज था। इनमें से प्रत्येक शासन का अपना कानून, विधान और प्रशासन के अपने अंग और अपना विशिष्ट अधिकारक्षेत्र था। यह सिद्धान्त ईसा से पहले के सिद्धान्त से बिलकुल भिन्न था। इसका कारण यह था कि इसने मनुष्यों की निष्ठा और आज्ञाकारिता को दो आदर्शों तथा दो शासनों के बीच विभक्त कर दिया था। ईसाई धर्म ने सार्वभौम समाज की धार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। उसने बताया कि मानव समाज का चरम उद्देश्य मुक्ति को प्राप्त करना है। सांसारिक राज्य में शासकों को उपासना की पवित्रता कायम रखनी चाहिए। ऐसा होने पर स्वर्ग का द्वार उन्मुक्त

1. Gelasius, *Tractatus*, *op. cit*, Quoted by Carlyle, *op. cit*, Vol. I., pp. 190 f., n. 1.

रहेगा। अपनी इस व्यवस्था से ईसाइयत ने संसार में न्याय का पक्ष [redacted] किया। उसने सांसारिक अधिकार के विचार के ऊपर ईसाई कर्त्तव्य का भाव आरोपित किया। राज्य की नागरिकता के साथ ही साथ, बल्कि उसके ऊपर, स्वर्गीय समाज की सदस्यता का भाव प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार, उसने ईसाई को दुहरे कानून और दुहरे शासन के अधीन कर दिया। ईसाई समाज के इस द्वैध पक्ष ने एक अनुपम समस्या को उत्पन्न किया। यूरोप के राजनैतिक दर्शन की प्रमुख विशेषताओं को निर्धारित करने में इस समस्या का सबसे अधिक हाथ था। मध्ययुग में मुख्य प्रश्न दोनों सत्ताओं के आपसी सम्बन्ध का था। लेकिन इसका प्रभाव सुदूरव्यापी हुआ। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के विश्वास और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार ने ही आधुनिक काल के व्यक्ति अधिकार और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विचारों को जन्म दिया है।

Selected Bibliography

L' Augustinisme Politique By [redacted] X Arquilliere Paris 1934

'The Conception of Empire' By Ernest Barker. In *The Legacy of Rome* Ed Cyril Bailey, Oxford, 1923 (Reprinted in *Church, State and Study*, London 1930)

The Political Ideas of St Augustine's De Civitate Dei By Norman H Baynes Historical Association Pamphlet, No 104 London, 1936

Gregoire le grand By Louis Brehier, Paris 1938

A History of Mediaeval Political Theory in the West By R W Carlyle and A J Carlyle 6 Vols London, 1903 36, Vol 1 (1903), Part III

Christianity and Classical Culture By Charles N Cochrane Oxford, 1940

Roman Society from Nero to Marcus Aurelius By S Dill London 1904

Roman Society in the Last Century of the Western Empire By S Dill London 1898

The Life and Times of St Ambrose By F Homes Dudden 2 Vols Oxford, 1935

The Political Aspects of St Augustine's City of God By John Neville Figgis London, 1921

Introduction [redacted] *letude de Saint Augustine* By Etienne Gilson Paris, 1931, Ch IV

"*Gregory the Great*" By W H Hutton In *The Cambridge Medieval History* Vol 11 (1913) Ch. VIII (13)

Paganism to Christianity in the Roman Empire By Walter W Hyde Philadelphia, 1946

'The Triumph of Christianity' By T M Lindsay In *The Cambridge Medieval History*, Vol I (1910), Ch. IV

The Growth of Political Thought in the West. By Charles H McIlWain, New York, 1932 Ch V

The Mind of Latin Christendom By Edward N Pickman. London, 1937 Ch [illegible]

The Church in the Roman Empire, By Sir William M Ramsay Second edition, revised, London, 1893, ch XV

Die Staats-und Sozial'ehre des hl Augustinus, By Otto Schilling Freiburg L B, 1910

Thoughts and Ideas of the Period' (The Christian Roman Empire) *By F H Stewart* In *The Cambridge Medieval History* Vol I (1911), Ch XX.

अध्याय ११

लोक और उसकी विधि

(The Folk and its Law)

चर्च के संस्थापकों का युग छठी या सातवीं शताब्दी तक आ जाता है। फिर भी, यह प्राचीन युग ही है। ईसा की पहली छः शताब्दियों में विपुल सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन हुए थे। तथापि सेनेका (Seneca) और संत ग्रिगोरी (St Gregory) दोनों ही रोमन थे। इन दोनों विचारकों के लिए साम्राज्य ही एकमात्र राजनैतिक सत्ता थी। राज्य और विधि के सम्बन्ध में दोनों के विचार काफी हद तक एक थे। यद्यपि अब चर्च एक स्वायत्तशासी सामाजिक संस्था हो गया था और ग्रिगोरी के समय साम्राज्य के पतनोपरान्त उसके रिक्त स्थान को चर्च ने ग्रहण कर लिया था, फिर भी पुराने संसार की अविच्छिन्नता बनी हुई थी। छठी और नवीं शताब्दियों के बीच में पश्चिमी यूरोप का भाग्य हमेशा के लिए जर्मन आक्रमणकारियों के हाथों में चला गया। इन आक्रमणकारियों ने साम्राज्य के संगठन को नष्ट कर दिया। भले ही शार्लमेन (Charlemagne) ने सम्राट् की और आगस्टस की उपाधि धारण की हो और लेखकों तथा धर्माचार्यों ने उसके राज्य को रोम का नया अवतार कहा हो लेकिन न तो शार्लमेन ही रोमन था और न उसके अधीनस्थ शासक ही। रोमन साम्राज्य अब पूर्व में फैल गया था। स्वयं रोम में पश्चिमी प्रान्तों में उसकी सत्ता का बिलकुल नाश हो गया था। मूर्तिपूजा के प्रश्न पर रोमन चर्च में फूट पड़ गई थी। इस स्थिति में रोमन चर्च पश्चिमी यूरोप का चर्च रह गया था। चूंकि लोम्बार्ड का शासन नास्तिक था, अतः रोम के बिशप ने फ्रैंकिश राज्य के साथ संधि कर ली थी। इस संधि के फलस्वरूप पोप मध्य इटली का लौकिक शासक बन बैठा था। बर्बरों की विजय ने महत्त्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन कर दिये थे। इनके कारण विशाल पैमाने पर शासन असम्भव हो गया था। अब पश्चिमी यूरोप राजनैतिक और बौद्धिक दोनों दृष्टियों से केवल अपने ही केन्द्र के इर्द गिर्द घूम रहा था। अब वह संसार का अन्तर्देश (hinterland) नहीं रहा था। इस समय संसार की गतिविधियों का मुख्य केन्द्र भूमध्यसागर का बेसिन था।

छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक यूरोप की दशा ऐसी नहीं थी जिसमें अधिक दार्शनिक या सैद्धान्तिक चर्चा होती। जर्मन बर्बर प्राचीन ज्ञान विज्ञान को ठीक से समझने भी नहीं पाये थे, उसका विस्तार तो वे क्या करते। शार्लमेन के युग में थोड़ी सी व्यवस्था भी रही थी। उसके समय में ज्ञान का थोड़ा सा पुनरुत्थान भी हुआ था। लेकिन, यह केवल एक घटनामात्र थी। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में उत्तर में नार्समेन तथा पूर्व में हूणों के बर्बर आक्रमणों ने यूरोप में पुन

अराजकता का खतरा उत्पन्न कर दिया। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आध्यात्मिक और लौकिक शक्तियों का महान् वाद-विवाद पुनः आरम्भ हुआ। इस समय तक राजनैतिक विचार बिलकुल निष्क्रिय से रहे थे। यह समय सामाजिक और राजनैतिक इतिहास में एक युगान्तर है। यह प्राचीन युग को समाप्त करता है और मध्ययुग को आरम्भ। तथापि, इस संक्रमण-काल में जाने-अनजाने प्राचीन काल के ईसाई विचार ही चलते रहे। धर्मशास्त्रों, चर्च के संस्थापकों और चर्च की परम्परा के प्रति लोगों में श्रद्धाभाव बना रहा। सिसरो जैसे प्राचीन पैगन लेखकों के प्रति भी लोगों का सम्मान कायम था। प्राकृतिक विधि की वैधता और शासकों तथा प्रजाजनों के ऊपर उसका बन्धनकारी प्रभाव, न्यायपूर्वक तथा विधि के अनुसार शासन करने का राजाओं का दायित्व, चर्च तथा राज्य दोनों में सन्निहित सत्ता की पवित्रता, साम्राज्य (imperium) और चर्च (sacredotium) की समानान्तर शक्तियों के बीच ईसाई जगत् की एकता—ये कुछ ऐसे प्रश्न थे जिनके ऊपर सभी लोग सहमत थे।

मध्ययुग के शुरू में विधि तथा शासन के सम्बन्ध में नये विचारों का उद्भव हुआ। धीरे-धीरे ये विचार युग के सामान्य विचारों में घुल-मिल गये और उन्होंने पश्चिमी यूरोप के राजनैतिक दर्शन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। इनमें से कुछ विचार जर्मनी के लोगों के थे। तथापि, हमें यह नहीं मानना चाहिए कि जर्मनी के लोगों के विचारों में कोई खास बात थी। विधि के सम्बन्ध में जर्मनों के विचार ऐसे अन्य लोगों के विचारों के समान ही थे जिनका संगठन कबाइली होता है और जो यायावर का जीवन व्यतीत करते हैं। ये विचार रोम की विधि के कुछ अंगों के साथ सम्पर्क होने के फलस्वरूप और कुछ ऐसी राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों के दबाव में विकसित हुए जो पश्चिमी यूरोप के सभी भागों में एक-सी थीं। इस अध्याय का उद्देश्य इन नए विचारों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना है। ये विचार भी धीरे-धीरे आरम्भिक मध्ययुग के विचारों में समाविष्ट हो गये और कालान्तर में सर्वस्वीकृत हो गये।

सर्वव्यापक विधि
(The Omnipresent law)

विधि सम्बन्धी नये विचारों में सबसे महत्त्वपूर्ण विचार यह था कि विधि लोक से अथवा जनता से अथवा कबीले से सम्बन्ध रखती थी। एक प्रकार से विधि सम्पूर्ण समुदाय की समान सम्पत्ति थी। समुदाय को एकता के सूत्र में बाँधने वाला तत्त्व विधि ही था। प्रत्येक सदस्य जनता की 'शान्ति' के अन्तर्गत रहता था। विधि का उद्देश्य ऐसे विनियमों की रचना करना था जिनसे शान्ति कायम रहे और वह भंग न हो सके। आदिम समाज में लोगों को अपराध का दंड यह मिलता था कि उन्हें विधिबाह्य घोषित कर दिया जाता था। इसके फलस्वरूप अपराधी जनता की 'शान्ति' से बाहर कर दिया जाता था। यदि किसी विशेष व्यक्ति अथवा परिवार के साथ अन्याय होता, तो अपराधी पीड़ित पक्ष की 'शान्ति' से बाहर कर दिया

जाता था। विधि का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था करना था जिसमें संघर्ष को रोका जा सके और शान्ति की स्थापना की जा सके। इस प्रारम्भिक युग में जर्मनी की विधि लिखी नहीं गई। वह मुख्य रूप से रीति रिवाजों पर आधारित थी। ये रीति रिवाज अनुश्रुतियों पर निर्भर थे। कबीले का जीवन शान्तिपूर्ण ढंग से इसी ज्ञान के सहारे चलता था। 'विधि प्रत्येक अवस्था में कबीले की अथवा लोक की विधि थी। यह विधि ही लोक अथवा कबीले को बाँधता थी और वह प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर इसलिए लागू होती थी क्योंकि व्यक्ति कबीले का सदस्य था।'[1] इन लोगों की स्थिति को देखते हुए यह स्वाभाविक भी था। लोग प्रादेशिक जमीन से बँधे नहीं थे। उनका जीवन अभी तक यायावर का जीवन था। कृषि का उनके जीवन में अभी अपेक्षाकृत कम महत्त्व था।

जो बर्बर लोग रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत आये, वे अपने साथ अपनी विधि भी लाये। यह विधि प्रत्येक सदस्य की व्यक्तिगत सम्पत्ति बनी रही चाहे वह व्यक्ति ऐसे लोगों के बीच में बस गया हो जो रोमन विधि द्वारा शासित होते थे। जिस समय छठवीं और आठवीं शताब्दियों के बीच में जर्मनी की विधियों को जर्मनी की भाषाओं में नहीं प्रत्युत् लैटिन में लिपिबद्ध किया गया, उस समय की यह स्थिति थी। ओस्ट्रोगोथ, लोम्बार्ड, बर्गुंडियन, विसिगोथ तथा फ्रैंकों की विविध शाखाओं के लिए इस प्रकार की 'बर्बर संहिताओं' (barbarian codes) का निर्माण हुआ। इन संहिताओं में न केवल जर्मन रीति-रिवाजों को ही जर्मन निवासियों के लिए लेखबद्ध किया गया, प्रत्युत् रोमन निवासियों के लिए रोमन विधि का भी निर्माण हुआ। रोमनों के बीच में रोमन विधि का कुछ अंश अब भी प्रचलित होता था। जर्मन उद्भव के लोगों में जर्मन विधि का उपर्युक्त प्रकार अब भी प्रचलित था। चूँकि विभिन्न स्थानों की विधि अलग अलग होती थी, इसलिए इन विधियों में कभी-कभी संघर्ष हो जाता था। अलग-अलग विधियों वाले पक्षों के मामलों पर विचार करने के लिए विस्तृत नियमों का निर्माण किया गया। आजकल भी ऐसे प्रश्न उठते रहते हैं जिनसे कई राज्यों की विधियों का सम्बन्ध होता है। फलतः, आधुनिक विधि में ऐसे मामलों को निबटाने के लिए भी नियम रहते हैं।[2] जब लोक या कबीला अपने इस रूप से वंचित हो गया और उसकी अन्य समुदायों से पृथक् अपनी विशिष्ट सत्ता न रही, तब भी यह विचार चलता रहा कि विधि लोक या कबीले की सदस्यता का परिणाम है।

ज्यों-ज्यों जर्मन और रोमन लोगों का सम्मिश्रण बढ़ता गया, इस सिद्धान्त के स्थान पर कि विधि एक वैयक्तिक विशेषता है, यह सिद्धान्त सामने आता गया कि विधि स्थान या प्रदेश से सम्बन्ध रखती है। बाद का सिद्धान्त मुव्यवस्थित और

---

1. Munroe Smith, *The Development of European Law*, 1928, p 87.

2. बर्बर संहिताओं के संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण के लिए देखिए Munroe Smith, *op. cit.* Book II.

एकीकृत शासन के लिए अत्यन्त हितकारी है। इस विचार की तीव्र उन्नति का कारण शायद यह है कि राजा प्रशासन को अपने हाथों में केन्द्रित करने में सफल हुए। सातवीं शताब्दी के शुरू में स्पेन के विसिगोथिक राज्य (Visigothic Kingdom) में रोमन तथा गोथिक प्रजाजनों के लिए समान विधि संहिता थी। फ्रैंकिश साम्राज्य में विधियों की विविधता बहुत अधिक थी। वहाँ यह प्रक्रिया बहुत धीमी और अनियमित रही। राजा की विधि सदैव प्रादेशिक (यद्यपि सम्पूर्ण प्रदेश के लिए सदैव एक सी नहीं) होती थी। वह पुरानी (वैयक्तिक) लोक विधि से बेहतर थी और उससे ज्यादा अच्छे ढंग से शासित होती थी। नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फ्रैंकिश साम्राज्य के कुछ भागों में अपराधी का दंड प्रादेशिक विधियों के अनुसार, जहाँ ये विधियाँ लिपिबद्ध हो गई थीं, दिया जाने लगा था। विवाह जैसे विधि के कुछ अंश ऐसे थे जिनमें चर्च की दिलचस्पी थी। चर्च विधियों की विविधता के खिलाफ था। यह परिवर्तन किस प्रकार हुआ, इसका ठीक-ठीक वर्णन करना असम्भव है। लेकिन धीरे-धीरे विधि का रूप बदल गया। सुनिश्चित समाज में विधि कबाइली नहीं रहती, वह प्रादेशिक हो जाती है। इस समाज में स्थानीय रीति-रिवाज प्रधान रहते हैं। लेकिन उस समय स्थानीय रीति-रिवाज न तो राजा की विधि के साथ ही समीकृत थे और न सम्पूर्ण राज्य की सामान्य विधि के साथ ही। विधि की, विशेषकर निजी विधि (private law) की विविधता न्यूनाधिक रूप से सब जगह कायम रही। उसका रूप मुख्यतः राजा की इस सफलता के ऊपर आधारित था कि वह अपनी अदालतों के क्षेत्राधिकार को यहाँ तक बढ़ा सकता था। उदाहरण के लिए फ्रांस में निजी विधि अधिकतर स्थानीय रही यद्यपि वहाँ प्रशासनिक विधि काफी पहले एकीकृत हो गई थी। इसके विपरीत इंगलैंड में, मुख्यतः रोमन राजाओं की महत्तर शक्ति के कारण विधि ने मूलतः सामान्य विधि का रूप धारण कर लिया था।

इस सम्पूर्ण परिवर्तन में जिसने विधि को कबाइली प्रथा से व्यक्तिगत गुण (personal attribute) तथा व्यक्तिगत गुण से स्थानीय आचार (local custom) का रूप दिया, किसी-न-किसी रूप में यह सिद्धान्त बना रहा कि विधि मूलतः जनता की या लोक की होती है। तथापि, इस विचार का यह अभिप्राय नहीं था कि विधि जनता की सृष्टि होती है, वह उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर होती है और वह उसकी इच्छा के अनुसार बनाई या बदली जा सकती है। विचारों का क्रम इससे उल्टा था। लोक (*folk*) एक सामुदायिक संस्था थी और यह समझा जाता था कि उसका निर्माण विधि ने किया है। यह प्रायः ऐसी स्थिति थी जैसा कि किसी प्राणवान् सत्ता को उसके संगठन के सिद्धान्त के साथ समीकृत किया जाए। तथापि, यह धारणा नहीं थी कि विधि का निर्माण किसी व्यक्ति ने अथवा जनता ने किया है। उसके सम्बन्ध में कल्पना की जाती थी कि वह प्रकृति की किसी भी वस्तु की भाँति स्थायी और अपरिवर्तनशील है। न्यायमूर्ति होम्स (Justice Holmes) ने एक स्थल पर उसे "आकाश में······उपस्थिति" (brooding omnipresence) कहा है। मध्ययुग में विधि के सम्बन्ध में जो धारणा थी, उसके अनुसार आकाश में वह अकेली

नहीं थी। वह उस वातावरण की भाँति थी, जो आकाश से पृथ्वी तक फैला हुआ है और जो मानव सम्बन्धों के प्रत्येक पक्ष में समाविष्ट है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह सही है कि मध्ययुग में प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह व्यावसायिक विधिवेत्ता हो या जनसाधारण हो, प्राकृतिक विधि की वास्तविकता में विश्वास रखता था। तथापि, इस विश्वास ने उस असाधारण आदर-सम्मान को समाप्त नहीं कर दिया था जो लोगों में विधि के प्रति था। विधि को शाश्वत रूप से सच्चा और कुछ अंशों में पवित्र माना जाता था। उसे ईश्वरीय विधान की भाँति सर्वत्र उपस्थित माना जाता था और समझा जाता था कि वह मनुष्य के जीवन की छोटी से छोटी बात से भी सम्बन्ध रखता है। वह आचार जो जनता की जीवनचर्या में निहित था, किसी भी प्रकार प्राकृतिक विधि से दूर नहीं था। वह विधि के उस महान् वृक्ष की एक पतली टहनी थी जो पृथ्वी से आकाश तक विस्तृत था और जिसकी छाया में सम्पूर्ण मानव-जीवन व्यतीत होता था। जब विधि-व्यवसाय का दुबारा जोर हुआ, उस समय यह बात सिविलियनों और कैनोनिस्टों दोनों के बारे में सही थी। विधि को सत् (right) और न्यायभावना (equity) के साथ समीकृत किया गया तथा मानवी और दैवी विधि को एक ही वस्तु माना गया।[1] लेकिन, यह सिद्धान्त उस वस्तु का शुष्क विवरण मात्र था जिसे प्रत्येक व्यक्ति स्वतः प्रमाणित मानता था।

विधि की खोज और घोषणा

(Finding and Declaring Law)

एक ऐसे युग में जब कि नित्य ही विधि का निर्माण होता है और ऐसी प्रक्रियाओं द्वारा होता है जिन्हें किसी भी प्रकार ईश्वरीय विधान नहीं कहा जा सकता, विधि की इस धारणा को समझना कठिन होगा कि यह जीवन के सभी सम्बन्धों में व्याप्त है और एक ऐसा स्थायी संगठन है जिसके अन्तर्गत मनुष्य के सारे कार्यकलाप चलते हैं। तथापि, एक ऐसे समाज में जिसमें अधिनियमन के रूप में विधि निर्माण बिलकुल नहीं होता था, यह अस्वाभाविक नहीं था। जिस समाज का सामाजिक और आर्थिक संगठन सरल होता है, वह धीरे-धीरे बदलता है। वह अपने सदस्यों को तो और भी धीरे-धीरे बदलता हुआ मालूम पड़ता है। अनादि आचार के अन्तर्गत निर्णय योग्य सारे प्रश्न आ जाते हैं। यह बात एक लम्बे अरसे तक सही रही होगी। जब यह बात सही नहीं रहती, उस समय स्वाभाविक व्याख्या यह नहीं है कि नई विधियों के निर्माण की आवश्यकता है, प्रत्युत् यह है कि पुरानी विधि के वास्तविक अर्थ का पता लगाना आवश्यक है। जब कोई स्थिति लम्बे समय तक कायम रहती है, तब यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वह विधि सगत है और सही है। जैसा कि प्रोफेसर मनरो स्मिथ (Munroe Smith) ने बताया है, इन्क्वेस्ट (Inquest) की सम्पूर्ण प्रक्रिया का जो फ्रैंकिश और जर्मन विधि में प्रयुक्त होती थी और जिसने

1. कार्लायल में इस आशय के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। *op. cit.* Vol. II (1909), Part I, Ch. II-VI, Part II, Ch. II—VI.

आगे चलकर अंग्रेजी जूरी को जन्म दिया, यही अन्तर्भूत सिद्धान्त था।[1] इस दृष्टि से यह कहना सही है कि विधि निर्मित नहीं होती, प्रत्युत उसकी खोज होती है। यह कहना अनुचित होगा कि मनुष्यों का एक विशिष्ट वर्ग ऐसा है जिसका कार्य ही विधियों का निर्माण करना है। जब जाँच-पड़ताल से या अन्य किसी प्रकार से यह पता चल जाता है कि किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विधि क्या है, तब राजा या अन्य कोई उपयुक्त सत्ता इस खोज को 'सविधि (statute) अथवा एसाइज (assize)' का रूप दे सकती है, जिससे कि इसे सब जान जायें और इसका सर्वत्र पालन होने लगे। लेकिन, किसी कल्पनाशील व्यक्ति को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सविधि ने किसी ऐसी वस्तु का निर्माण किया जो पहले वैध नहीं थी। मध्ययुग में लोकाचार का विधि सम्बन्धी विचारों पर कितना गहरा प्रभाव था, यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि रोमन विधि के अध्ययन के पुनरुत्थान के पश्चात् भी कुछ विधिवेत्ताओं का विचार था कि लोकाचार लिखित विधि की "स्थापना करता है, उसको रद्द करता है और उसकी व्याख्या करता है।" तथापि, कुछ ऐसे भी लोग थे, जिनका मत इसके विपरीत था।[2] फ्रेंकिश राजाओं की आज्ञप्तियाँ या व्यवस्थायें आधुनिक अर्थों में विधियाँ नहीं थीं। वे राजा के प्रतिनिधियों को इस बात का आदेश दे सकती थीं कि सम्पूर्ण राज्य में या उसके किसी भाग में कुछ विशेष मामलों में उन्हें किस प्रकार का आचरण करना चाहिए, लेकिन उन्होंने तत्कालीन ज्ञान के अनुसार विधि का निर्माण नहीं किया। वे सिर्फ यह बता देती थीं कि राजा की परिषद् तथा प्रचलित प्रथा के अनुसार विधि को किस रूप में पाया गया था।

विधि की यह घोषणा स्वभावतः सम्पूर्ण जनता के नाम पर अथवा कम से कम ऐसे किसी व्यक्ति के नाम पर की जाती थी जो सम्पूर्ण जनता की ओर से बोलने का हकदार समझा जाता था। चूँकि विधि जनता की होती थी और वह अनादि काल से विद्यमान थी, अतः जब कभी उसके महत्त्वपूर्ण उपबन्धों की घोषणा की जाती, उस समय लोक से परामर्श कर लिया जाता था। उदाहरण के लिए जब छठी शताब्दी के शुरू में ही मेरोविन्जियन राजाओं ने अपनी व्यवस्थाएँ निकालीं, उन्होंने यह भी कहा कि ये आज्ञप्तियाँ हमारे प्रमुख व्यक्तियों, या बिशपों और कुलीनों से परामर्श करने के उपरान्त निकाली गई हैं या निर्णय हमारी सम्पूर्ण जनता द्वारा किया गया है।[3] नवीं शताब्दी में भी इस प्रकार की घोषणाएँ लगातार पाई जाती हैं। इन घोषणाओं को देखकर अनुमान होता है कि विधि निश्चित रूप से सारी जनता के नाम से निकाली जाती थी। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि विधि की वैधता में जनता की सहमति एक आवश्यक तत्त्व रही होगी। 'सहमति' का अभिप्राय इच्छा

---

1. *Op cit.* p. 143.

2. ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में इस प्रश्न पर सिविलियनों के जो विचार थे, उनका कार्लाइल ने *op. cit.* Vol. II, Part I, Ch. VI; में तथा बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों में कैनोनिस्टों के विचारों का Part II, Ch. VIII में विश्लेषण किया है।

3. M. G. H., Leg. Sect. II, Vol. I, pp. 8ff. में इस प्रकार की आज्ञप्तियों के अनेक उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं।

का कार्य श्रम था। इसका अभिप्राय यह स्वीकृति थी कि विधि वास्तव में कथित रूप में ही है। उदाहरण के लिए शार्लमेन (Charlemagne) निम्नलिखित अधिनियम-सूत्र (enacting formula) का प्रयोग करता था 'सम्राट् चार्ल्स ने बिशपों, एबटों, काउंटों, ड्यूकों तथा ईसाई धर्म के समस्त श्रद्धालु प्रजाजनों के साथ, उनकी सहमति और सलाह से निम्नलिखित व्यवस्था दी है जिससे कि प्रत्येक स्वामिभक्त प्रजाजन, जिसने स्वयं इन आज्ञप्तियों की अपने हाथों से पुष्टि की है न्याय कर सके और जिससे कि उसके समस्त स्वामिभक्त प्रजाजन विधि की रक्षा करने की इच्छा कर सकें।"[1] ८६४ के एक लेख में इस सिद्धान्त को सामान्य शब्दावली में व्यक्त किया गया है "चूंकि विधि जनता की सहमति और राजा की घोषणा द्वारा बनाई गई है '।" इगलैण्ड के इतिहास से बारहवीं शताब्दी का एक उदाहरण यह है: "बुड्सटोक में, इगलैण्ड के आर्क बिशपों, बिशपों और बैरनों, अर्लों और कुलीनों की सम्मति और स्वीकृति द्वारा वन तथा अपनी मृगया के सम्बन्ध में मैटिल्डा के पुत्र, इगलैण्ड के राजा लार्ड हेनरी की यह राजाज्ञा है।"[2]

मध्य युग के आदिकाल अथवा उत्तरकाल से ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि विधि जनता की होती है वह जनता के ऊपर शासन करती है और उसका प्रमाण जनता के द्वारा उसका पालन है। सन्देह की अवस्था में विधि एक ऐसी संस्था द्वारा घोषित की जाती है जो उसके अर्थ को निर्धारित करने के लिए उचित ढंग से सगठित की गई हो। यहाँ दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा। एक कहानी का उल्लेख जॉन ऑफ इबेलिन (John of Ibelin) ने किया है। उसका समय तेरहवीं शताब्दी है। वह दो शताब्दी पूर्व जेरूसलम की सविधियों के निर्माण की कहानी का वर्णन करता है। उसका कहना है कि ड्यूक गॉडफ्रे (Duke Godfrey) ने बुद्धिमान् व्यक्तियों से कहा कि इस समय जेरूसलम में विभिन्न देशों के व्यक्ति हैं। आप इन व्यक्तियों के देशों के आचारों का सकलन करें। जब ये आचार सकलित हो गए उसने रैड्रियार्क, शासकों और बैरनों की सम्मति तथा सहमति से अच्छी-अच्छी प्रथाओं को चुना और आदेश दिया कि इन प्रथाओं और विधियों का जेरूसलम के राज्य में पालन हो।[3] यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से निरर्थक है लेकिन इससे यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि लेखक के विचार से विधि-संहिता के निर्माण की क्या प्रक्रिया थी। जब विद्वानों से सलाह कर प्रचलित प्रथा का पता लगा लिया जाता है और जब विधि विशेषज्ञ यह समझते हैं कि प्रचलित प्रथाओं को बन्धनकारी होना चाहिए, तब उन्हें लिपिबद्ध कर दिया जाता है और

---

1 M, G H, Leg Sect II, Vol I, No, 77 शार्लमेन ने इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए हैं। Vol I, Ch XIX

2 Henry II's Assize of Woodstock, 1184 Stubbs, Select Charters, ninth ed (1913), p 188, translations in Adams and Stephens, *Select Documents of English Constitutional History*, (1901), No 18.

3 Carlyle, *op. cit*, Vol III (1916), p 43, n. 2

राजा उनको प्रस्थापित कर देता है जिससे कि उसके सम्बन्ध में कोई सन्देह न रहे। जॉन के मन में यह विचार बिलकुल नहीं था कि गोडफे ने या अन्य किसी व्यक्ति ने विधि का निर्माण किया है। विधि की जाँच करने के लिए उन लोगों से सलाह करना आवश्यक हो है, जो विधि का पालन करते हैं।

दूसरा उदाहरण इंग्लैण्ड का है। यह रोचक है क्योंकि यह उस समय का है, जब कि मध्ययुगीन संविधान आकार ग्रहण करने वाला था। लेवेस की लड़ाई (Battle of Lewes, 1264) के बाद जिसकी वजह से मॉडेल पार्लियामेन्ट (Model Parliament) आहूत की गई थी, साइमन डी मोंटफोर्ड (Simon de Montford) के एक अनुयायी ने विजय का उत्सव एक विचित्र कविता में मनाया। इस कविता में उसने विद्रोहियों के विधि सम्बन्धी विचार का निरूपण किया है।

"राज्य को परामर्श देना चाहिए और उसे ज्ञात होना चाहिए कि जनसाधारण का क्या विचार है। जनसाधारण अपनी विधियों को सबसे अच्छी तरह समझता है। देश के सभी लोग इतने अबोध नहीं हैं कि वे अजनबियों की अपेक्षा अपने राज्य के आचारों को जो उन्हें अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त हुए हैं ज्यादा अच्छी तरह न जानते हों।"[1]

देश के आचार को बंधनकारी माना जाता था। संसद् का कार्य यह निश्चित करना कि यह आचार वास्तव में क्या था और इसे कार्यान्वित करना था।

यह विश्वास कि विधि जनता की होती है और वह जनता के अनुमोदन तथा सहमति से प्रयुक्त तथा संशोधित होती है, सर्वमान्य था। लेकिन, जहाँ तक शासन की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, यह विश्वास बहुत अस्पष्ट था। इसमें प्रतिनिधित्व की कोई व्यवस्था नहीं थी। यह सदियों पुराना था। संसदों जैसी प्रतिनिधिक संस्थाओं की स्थापना तो बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों में हुई। इस विचार में कोई असंगति नहीं है कि एक बस्ती, बोरो या सम्पूर्ण जनता ही निर्णय कर सके, अपनी शिकायतों को उपस्थित कर सके, अपनी उपेक्षा के लिए जवाबदेही करे या ऐसी नीतियों के लिए अपना अनुमोदन दे जिनके लिए उसे पैसा या सिपाही देने पड़ते हैं। यह आधुनिक अभिसमय है कि यह सारा कार्य निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा किया जाता है लेकिन हर कोई जानता है कि अभिसमय अक्सर सच्चा नहीं होता। समाज अपने 'मन' को थोड़े से व्यक्तियों द्वारा व्यक्त करता है। कारण चाहे कुछ भी हो, ये थोड़े से व्यक्ति ही लोकमत (public opinion) जैसी अस्पष्ट वस्तु का निर्माण करते हैं। जब तक समाज का संगठन इस प्रकार का है कि ये थोड़े से व्यक्ति साफ पहचाने जा सकते हैं और जब तक प्रश्न थोड़े होते हैं और उनमें जल्दी-जल्दी परिवर्तन नहीं होता, प्रतिनिधित्व ज्यादा व्यवस्था न होने पर भी कारगर हो सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रतिनिधित्व की व्यवस्था बाद में आई। इसके पहले यह विचार आया कि जनता एक सामूहिक सत्ता है। वह अपने सामूहिक मस्तिष्क को अपने शासकों तथा स्वाभाविक नेताओं द्वारा व्यक्त करती है। ये नेता कौन थे, ये नेता कैसे बने, वे 'लोग' कौन थे जिनका ये प्रतिनिधित्व करते थे, ये प्रश्न प्राथमिक महत्त्व के उसी

1. Translated in S R Gardiner, *Students' History of England*, Vol I (1899), p 202.

समय बने जब कि प्रतिनिधित्व को कार्यान्वित करने की व्यवस्था का निर्माण शुरू हुआ। ब्लैकस्टोन के इस सिद्धान्त में कि अंग्रेजी कानून प्रख्यापित नहीं होते क्योंकि प्रत्येक अंग्रेज संसद् में उपस्थित माना जाता है प्राचीन विचार को एक वैधिक कल्पना (legal fiction) के रूप में अब भी देखा जा सकता है।[1]

राजा विधि के अधीन

(The King under the Law)

यह विश्वास कि विधि लोक की होती है और लोक की स्वीकृति का उसके अर्थ निर्धारण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, इस बात को प्रकट करता है कि राजा विधि का निर्माण करने या उसकी घोषणा करने में केवल एक तत्त्व है। इस कारण यह आम विश्वास था कि अपने प्रजाजनों की भाँति राजा भी विधि का पालन करने के लिए बाध्य है। यह तो स्पष्ट ही था कि अन्य मनुष्यों की भाँति राजा भी ईश्वर और प्रकृति की विधियों के अधीन था। परन्तु उपर्युक्त वक्तव्य का यह वास्तविक अभिप्राय नहीं था और न यह कोई महत्त्वपूर्ण बात ही थी। यह पहले ही कहा जा चुका है कि विधियाँ दैवी और मानवीय अनेक प्रकार की थीं। विधि के इन विविध भेदों का यह अभिप्राय नहीं था कि उनमें बहुत अधिक अन्तर था। विधि का क्षेत्र सर्वव्यापक था। यह मानव जीवन के सभी पहलुओं का नियन्त्रण करती थी। राजा और प्रजा के सम्बन्ध भी विधि के क्षेत्र के अन्तर्गत आते थे। राजा का कर्तव्य था कि वह विधि का यथार्थ ढंग से पालन करे। यदि विधि का स्वरूप स्पष्ट न हो तो उसे अनादि काल से चली आती हुई प्रथा के आधार पर विधि का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करना चाहिए और उसका पालन करना चाहिए। राजा ऐसे अधिकारों को विधिसंगत ढंग से रद्द नहीं कर सकता था जो लोकाचार के आधार पर प्रजाजनों को मिले हुए थे अथवा जिनको उसके पूर्वजों ने देश की विधि घोषित किया था। नवीं शताब्दी के एक लेखक आर्कबिशप हिंकमार ऑफ रहीम्स (Archbishop Hincmar of Rheims) ने कहा है

> "राजाओं और मन्त्रियों की अपनी विधियाँ हैं जिनके द्वारा उन्हें उन लोगों का शासन करना चाहिए जो प्रान्तों में रहते हैं। उनके पास ईसाई नरेशों तथा उनके पूर्वजों की राजाज्ञाएँ हैं जिन्हें उन्होंने विधिसंगत ढंग से अपने राजभक्त प्रजाजनों की सामान्य स्वीकृति से प्रख्यापित किया है।"[2]

इन राजाज्ञाओं में राजाओं ने अपने प्रजाजनों को अनेक प्रकार के वचन दे रखे हैं कि आपको वह विधि दी जायेगी जो 'हमारे पूर्वजों के समय में आपके पूर्वजों के पास थी'[3] और 'विधि तथा न्याय के प्रतिकूल आप में से किसी का दमन नहीं किया जायेगा।' बाद के सूत्र का अभिप्राय अमूर्त न्याय नहीं था, प्रत्युत सुनिश्चित

1 *Commentaries*, I, 185

2 Quoted by Carlyle, *op cit*, Vol I, p 234, n 1

3 ८६० में कॉब्लेंज में के किया राजा लेविस की एक घोषणा में (M G H, Leg Sect II, No 242, 5)

क्या था, तो लोक की विधि के अन्तर्गत राजा और प्रजा का सम्बन्ध तथा इस सम्बन्ध के आधार पर उत्पन्न होने वाले राजनैतिक सिद्धान्त और स्पष्ट हो सकते हैं। मध्युगीन विचारों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि जनता की सहमति और विधि के प्रति राजा की अधीनता के सम्बन्ध मे उस समय क्या धारणाएँ थीं। यह भी साफ प्रकट हो जाता है कि सत्ता का क्या आधार है, इस सम्बन्ध मे भी विधि सम्बन्धी विचार बडे अस्पष्ट थे। आजकल के राजनैतिक विचारकों के अनुसार शासक निर्वाचित हो सकता है अथवा वह अपने पद को उत्तराधिकार मे प्राप्त कर सकता है। लेकिन, वह दोनो कार्य एक साथ नहीं कर सकता। मध्ययुग के अनेक राजाओ के बारे मे आश्चर्यजनक बात यह है कि वे न केवल उत्तराधिकारी और निर्वाचित होते थे, प्रत्युत् ईश्वर की कृपा से शासन भी करते थे। ये तीनों उपाधियाँ वैकल्पिक नही होती थी प्रत्युत् एक ही स्थिति के तीन तथ्यो को प्रकट करती थी।

हम एक वास्तविक मामले को लेकर इस अस्पष्ट स्थिति का विवेचन करेंगे। जब ८१७ मे लुई दि पायस (Louis the Pious) ने अपने पुत्रो के उत्तराधिकार की व्यवस्था करने का सकल्प किया, उसने अपना निर्णय प्रकट किया और उसके आधार ये बताये।[1] उसने पहले तो यह बताया कि किस प्रकार हमारी जनता की पवित्र सभा लोकाचार के अनुसार समवेत हुई थी और किस प्रकार अचानक ही दैवी प्रेरणा से उसके राजभक्त प्रजाजनो ने उसे सलाह दी कि राज्य के उत्तराधिकार का प्रश्न सुलझ जाना चाहिए। तीन दिनों के उपवास और प्रार्थना के पश्चात् यह कार्य सम्पन्न हुआ।

"हमारा विश्वास है कि सर्वशक्तिशाली ईश्वर की इच्छा से हम और हमारे सारे प्रजाजन हमारे ज्येष्ठ पुत्र लोथायर के निर्वाचन के लिए सहमत हो गये। इसलिए, हमें और हमारे प्रजाजनों को यह उचित प्रतीत हुआ कि जब ईश्वर की ही ऐसी प्रेरणा है, तो वह सबकी सहमति से मुकुटाभिषिक्त हो और हमारा युवराज तथा हमारे साम्राज्य का उत्तराधिकारी बने।"

इसके बाद कनिष्ठ पुत्रो के लिए कुछ व्यवस्था की गई। इसके बाद इन सारे निर्णयो को हमारे हाथो द्वारा लिपिबद्ध तथा पुष्ट कर दिया गया जिससे कि ईश्वर की कृपा से, चूँकि ये निर्णय सबकी समान इच्छा से किए गए हैं, अतः वे सबकी समान निष्ठा के द्वारा अनुल्लघनीय बने रहें।

शासक के चुनाव मे तीन आधार रखे गये थे। पहली बात तो यह है कि लोथायर सम्राट् का सबसे बडा पुत्र था, हालांकि इस बात पर ज्यादा जोर नहीं दिया गया था। दूसरे वह निर्वाचित हुआ था और उसका निर्वाचन 'सबकी इच्छा से' सारी जनता का कार्य कहा गया था। तीसरे, विश्वास किया जाता था कि यह चुनाव ईश्वर की प्रेरणा से हुआ है। लुई (Louis) के मत से लोथायर का राजमुकुट सम्बन्धी अधिकार इन तीनो तथ्यों के मेल पर निर्भर था। निस्सदेह विचार यह था कि, ईश्वर की इच्छा के अधीन रहते हुए सामान्यतः राजा का पुत्र ही उसका

1. M. G. H., Leg. Sect. II, Vol. I, No. 136.

उत्तराधिकारी बनेगा। लेकिन, वास्तविक चुनाव के लिए यह आवश्यक था कि प्रत्याशी को सम्पूर्ण जनता के नाम से स्वीकृत किया जाये।

ये तीनों तत्त्व बिलकुल वही थे जो राजाज्ञा निकालने के लिए आवश्यक माने जाते थे। विधि की वैधता अन्तिम रूप से दैवी थी। लेकिन वह जनता द्वारा जारी की जाती थी, और उसके पीछे देश के प्रमुख व्यक्तियों के माध्यम से व्यक्त जनता की सहमति रहती थी। यह सही है कि जिस प्रकार विधि के निरूपण की व्यवस्था अस्पष्ट थी, उसी प्रकार निर्वाचन की व्यवस्था भी अस्पष्ट थी। इस बात को शायद कोई नहीं कह सकता था कि निर्वाचकों की अर्हताएँ क्या हैं। लेकिन, प्रत्येक व्यक्ति के मन में तीन तत्त्वों के सम्मिलन से ऐसा भास होता है मानो निर्वाचित होने के बाद भी राजा विधि के अधीन रहता था। उत्तराधिकार राजा का अनन्य अधिकार नहीं था। जो व्यक्ति राजा के निर्वाचन में भाग लेते थे, उनके मताधिकार का आधार उनका पद था। वे शुद्ध संवैधानिक अर्थ में निर्वाचक नहीं थे। ८७९ में आर्कबिशप हिंकमार (Archbishop Hincmar) ने लेविस तृतीय (Lewis III) को लिखे गये अपने एक पत्र में यह बात बिलकुल स्पष्ट कर दी थी :

"आपने मुझे अपने का अधिकारी नहीं चुना है, लेकिन मैंने और मेरे साथियों ने, ईश्वर तथा आपके पूर्वजों के अन्य राजभक्त प्रजाजनों के साथ आपको राज्य पर शासन करने के लिए इस शर्त पर चुना है कि आप विधि का पालन करेंगे।"[1]

इस प्रकार, मध्ययुग के शुरू में राजशक्ति के लिए तीन प्रकार के दावे आपस में मिले हुए थे। राजा सिंहासन को उत्तराधिकार में प्राप्त करता था, वह जनता द्वारा निर्वाचित होता था और वह ईश्वर की अनुकम्पा से शासन करता था। ज्यों-ज्यों संवैधानिक प्रथाएँ अधिक नियमित और अधिक स्पष्ट होती गईं, निर्वाचन और उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकार का भेद अधिक स्पष्ट होता गया। मध्ययुग के सबसे प्रमुख राजतन्त्र दो थे—साम्राज्य और पोपशाही। इन दोनों संस्थाओं को एक से अधिक बार पारिवारिक उत्तराधिकार का विषय बनाने का प्रयास किया गया, तथापि ये दोनों संस्थाएँ निश्चित रूप से निर्वाचनात्मक हो गईं। संविधान-निर्माण में पोपशाही ने पथ-प्रदर्शन किया। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्माधिकारियों द्वारा पोप के निर्वाचन की एक क्रमबद्ध प्रक्रिया की स्थापना हुई। इसके पहले पोप का निर्वाचन बहुत कुछ अनौपचारिक रीति से होता था और इस निर्वाचन में रोम के कुलीनवर्ग अथवा साम्राज्य की राजनीति का गहरा हाथ रहता था। १३५६ में चार्ल्स चतुर्थ (Charles IV) ने सम्राट् के निर्वाचन की प्रक्रिया को व्यवस्थित कर दिया। इस प्रकार, उसने साम्राज्य को एक ऐसा संवैधानिक प्रलेख दिया जिसने निश्चित कर दिया कि निर्वाचक कौन कौन लोग होंगे और उनकी संख्या क्या होगी। इस प्रलेख ने यह भी तय कर दिया कि सारे निर्णय बहुमत से होंगे। फ्रांस और इंग्लैण्ड के राज्यों में ज्येष्ठाधिकार का सिद्धान्त चलता रहा। यह सिद्धान्त सामन्ती उत्तराधिकार की प्रथा के अनुसार था। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि

1. Quoted by Carlyle, op. cit., Vol. I, p. 244, n. 2.

सामन्तवाद के अधीन आनुवंशिक राजतन्त्र अधिक सशक्त हो सकता था। लेकिन, इन राज्यों में भी लम्बे समय तक यह धारणा प्रचलित रही कि राजा किसी न किसी रूप में जनता के चुनाव से बना है। उदाहरण के लिए ११९९ में किंग जॉन राजसिंहासन पर बैठा। उसे ज्येष्ठाधिकार के सिद्धान्त से राजगद्दी नहीं मिली थी। इतिहासकार मैथ्यू आफ पेरिस (Matthew of Paris) ने एक वक्तृता में जो कैंटरबरी के आर्कबिशप हूबर्ट (Archbishop Hubert of Canterbury) द्वारा दी गई बताई गई थी, किंग जॉन (King John) के उत्तराधिकार को, निर्वाचन का परिणाम बताया था।[1] उत्तराधिकार के वैध अधिकार के निश्चित होने के बाद भी निर्वाचन का विचार लोगों के दिमाग से पूरी तरह लुप्त नहीं हुआ। उदाहरण के लिए जब फ्रांस में राजा के उत्तराधिकार का प्रश्न निश्चित करना आवश्यक हो गया, उस समय लोग यह तर्क कर सकते थे कि राजतन्त्र सिद्धान्तत निर्वाचनात्मक है।

राजा सिंहासन पर चाहे तो निर्वाचन द्वारा बैठता और चाहे आनुवंशिकता के आधार पर, वह शासन ईश्वर की कृपा से ही करता था। इसमें किसी को भी सन्देह नहीं था कि लौकिक शासन की उत्पत्ति दैवी है, राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, जो लोग अवैध रीति से उसका विरोध करते हैं, वे "शैतान के प्रजाजन और ईश्वर के शत्रु" हैं। इसके साथ ही इन शब्दावलियों का उस समय ऐसा कोई विशिष्ट अर्थ नहीं था जैसा कि 'दैवी अधिकार' शब्दों का सोलहवीं शताब्दी में हो गया। इन शब्दों का उस समय यह अर्थ कदापि नहीं था कि प्रजाजनों को राजा के आदेशों को सविनय भाव से मानना ही चाहिए चाहे वे आदेश न्यायपूर्ण हों और चाहे अन्यायपूर्ण। उस समय आनुवंशिक उत्तराधिकार का सिद्धान्त पूरी तरह मान्य नहीं था। फलत यह सिद्धान्त कि राजा की सत्ता दैवी होती है, राजवंशीय वैधता (dynastic legitimacy) के सिद्धान्त का ऐसा रूप ग्रहण नहीं कर सकता था जैसा कि सोलहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के बीच में 'दैवी अधिकार' शब्द से ध्वनित होता था। चूंकि उस समय ऐसा सशक्त और समन्वित राजतन्त्र, जिसका प्रधान राजा हो, नहीं था, अत सविनय आज्ञापालन का कर्त्तव्य भी वह नैतिक महत्त्व नहीं प्राप्त कर सकता था, जो उसने बाद के राजनैतिक दर्शन में प्राप्त किया। राजा स्वयं देश की विधि से आबद्ध माना जाता था। यदि वह देश की मूल विधि का अतिक्रमण करता, तो उसका विरोध करना एक नैतिक और कानूनी अधिकार था। इसे सविहित सत्ता के प्रति ईसाई कर्त्तव्य की अवहेलना नहीं समझा जाता था। इस अवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न करने वालों के खिलाफ सन ग्रिगोरी के सविनय आज्ञापालन सम्बन्धी वचन अवश्य उद्धृत किये जाते।

---

1 Stubbs, *Select Charters*, ninth edition (1913) p 265 translated in Adams and Stephens, *Select Documents of English Constitutional History*—(1901), No 22 जैसा कि कहा गया है, सम्भवत हूबर्ट ने वैसा भाषण नहीं दिया। लेकिन, इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इस कथन से लोक भाव का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। मैथ्यू ने घटना के पचास वर्ष बाद लिखा था। उसका विवरण यह बता देता है कि निर्वाचन का विचार कितना अस्पष्ट था।

स्वामी और सेवक

(Lord and Vassal)

इस विचार में कि विधि जनता की होती है और वह समाज में ऊपर से लेकर नीचे तक मनुष्य के समस्त सम्बन्धों का नियमन करती है, कुछ सर्वधानिक सिद्धान्तों के बीज छिपे हुए थे। वे सिद्धान्त थे . राज्य का निगमात्मक स्वरूप (Corporate nature of the realm), प्रतिनिधित्व और राजमुकुट की वैधिक सत्ता। लेकिन, मध्ययुग के शुरू में इन विचारों में स्पष्टता नहीं थी और उन्हें समुचित सवैधानिक व्यवस्था में सस्थाओं का रूप भी नहीं दिया गया था। मध्ययुग में सवैधानिक व्यवस्था का विकास सामाजिक और आर्थिक प्रबन्धों तथा सामन्तवाद की अस्पष्ट विचारधारा के आधार पर हुआ था। विनोग्रेडाफ (Vinogradoff) का यह कहना सही है कि मध्ययुग में सामन्ती सस्थाओं की उसी प्रकार प्रधानता रही जिस प्रकार कि प्राचीन काल में नगर राज्य की। दुर्भाग्यवश, सामन्तवाद की परिभाषा करना असम्भव है। इसके दो कारण हैं—(१) इसके अन्दर अनेक प्रकार की सस्थाएँ पाई जाती हैं, और (२) इसका विकास विभिन्न स्थानों तथा कालों में अलग-अलग ढग से हुआ है। दूसरे कारण के फलस्वरूप तारीखें बिलकुल अविश्वसनीय हैं। कुछ स्थानों में दासता जैसी सामन्ती व्यवस्था पाँचवी शताब्दी तक में थी। लेकिन, सामन्तवाद का पूरा विकास कैरोलिंग साम्राज्य के विघटन के पश्चात् हुआ। उसने ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में सामाजिक और राजनैतिक सस्थाओं पर अपना पूरा असर डाला। इस अवस्था का तथ्यों के अनुसार कोई सामान्य विवरण नहीं दिया जा सकता। लेकिन, इस विविधता के पीछे ऐसी व्यवस्था और कुछ ऐसे विचार अवश्य थे जो पश्चिमी यूरोप के अधिकाश भागों में दिखाई देते थे। इन व्यवस्थाओं और विचारों के आधार पर कुछ सैद्धान्तिक निष्कर्ष निकलते हैं। इसलिए, उनकी परीक्षा करनी आवश्यक है यद्यपि विविध देशों में उनका इतिहास अत्यन्त जटिल-सा रहा है।

सामन्ती व्यवस्था का मूल तत्व यह था कि अव्यवस्था जो कभी-कभी अराजकता की हद तक पहुँच जाती थी, के युग में बडी राजनैतिक और आर्थिक इकाइयाँ असम्भव थी। इसलिए, उस समय शासन छोटे छोटे होते थे। उस समय की परिस्थिति में यह ठीक भी था। आर्थिक जीवन का प्रधान लक्षण कृषि था। गाँव अपनी जरूरतों को खेती-बाडी से पूरा कर लेते थे और इस प्रकार वे आत्म-निर्भर इकाइयाँ थे। यह युग उस समय समाप्त हुआ जब कि बारहवीं शताब्दी में व्यापारिक नगरों का उदय हुआ। तथापि, सामन्तवाद के सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक प्रभाव इस तारीख के बाद ही प्रकट हुए। चूँकि धन का एक मात्र महत्वपूर्ण प्रकार भूमि ही था, इसलिए प्रत्येक वर्ग राजा से लेकर सिपाही तक भूमि की उपज के ऊपर ही निर्भर रहता था। जमीन पर इस छोटे से समुदाय का नियन्त्रण था। इस समुदाय के अपने रीति-रिवाजों पर आधारित विनियम होते थे। गाँव को छोटे-

मोटे पुलिस कार्य भी करने पड़ते थे।[1] समाज और शासन का संगठन मूलतः स्थानीय था। इस बुनियाद के ऊपर ही सामन्ती व्यवस्था का भवन खड़ा हुआ था। उस समय निरन्तर अव्यवस्था रहती थी और संचार के साधन बहुत सीमित थे। इस अवस्था में कोई केन्द्रीय शासन जीवन और सम्पत्ति की रक्षा जैसे प्राथमिक कर्तव्यों को भी पूरा नहीं कर सकता था। इस अवस्था में छोटे से भूमि स्वामी अथवा छोटी शक्ति के आदमी के लिए एक ही रास्ता खुला हुआ था, वह किसी ऐसे व्यक्ति के ऊपर आश्रित हो जाता जो उसकी सहायता कर सकता। इस सम्बन्ध के दो पक्ष होते थे, यह व्यक्तिगत सम्बन्ध भी था और सम्पत्तिगत भी। बड़ा आदमी छोटे आदमी की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर लेता था। इसके बदले में छोटा आदमी उसकी सेवा करने के लिए तैयार रहता था, वह उसे अपनी जमीन का स्वामित्व सौंप देता था और इस शर्त पर काश्तकार बन जाता था कि सेवाओं अथवा पदार्थों के रूप में लगान चुकायेगा। इस प्रकार, बड़े आदमी की सम्पत्ति और शक्ति बढ़ जाती थी। छोटे आदमी की पीठ पर एक शक्तिशाली संरक्षक रहता था जिसका हित और कर्तव्य उसकी रक्षा करना था। जब यह प्रक्रिया ऊपर से नीचे को कार्य करती थी, तब भी यही परिणाम होता था। राजा या सामन्त (Abbot) अपनी जमीन का उपयोग उसी समय कर सकता था जबकि वह उसे किसी काश्तकार को सौंप दे और काश्तकार बदले में उसकी सेवा करे या उसे लगान दे।

"सम्पूर्ण व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि देश की सम्पूर्ण भूमि देश की सेवा में लग जाती थी या जो लोग सेवा करते थे, उन्हें अपनी सेवाओं के बदले में जमीन की उपज, पारिश्रमिक या वेतन प्राप्त होता था।"[2]

इस प्रकार, वैधिक दृष्टि से सामन्तवाद भूमि-काश्त की एक ऐसी पद्धति था जिसमें स्वामित्व का स्थान पट्टा (leasehold) जैसी कोई चीज ले लेती थी। इस बात को आजकल के एक न्यायशास्त्री ने इस प्रकार रखा है

"व्यावहारिक स्वामित्व का अर्थ जीवनव्यापी हित होता है। यह अधिकतर स्थितियों में अविच्छेद्य होता है। जब यह वापिस होता है या बच रहता है, तब दुबारा अधिष्ठित होने पर पुनः जीवनव्यापी हित बन जाता है।"[3]

अधिष्ठित स्वार्थों की यह व्यवस्था सम्पूर्ण समाज में ऊपर से नीचे तक चलती थी। इसके अन्तर्गत शासन के समस्त प्रधान कार्य आ जाते थे। यदि भूमि व्यवस्था पर तर्कसंगत दृष्टि से विचार किया जाए, तो राजा ही भूमि का एकमात्र स्वामी प्रतीत होगा। उसके बैरन जमीन के काश्तकार होंगे। उन्हें जमीन कुछ विशिष्ट सेवाओं के बदले मिलेगी। बैरनों के नीचे और काश्तकार होंगे। इस क्रम में सबसे नीचे भूमिदास होंगे। इन भूमिदासों (serfs) की मेहनत पर सारी व्यवस्था

1 इंग्लैंड की भूमि-व्यवस्था के विवरण के लिए देखिए : W. J. Ashley, *The Economic Organisation of England* (1914) Lecture I

2 Munroe Smith, *op cit*, p 165

3 Munroe Smith, *op cit*, p 172

टिकी होती है। बैरन को बदले में राजा की सैनिक सेवा ही सामान्य रूप से करनी पड़ती थी। इसलिए, राज्य की सेना सामन्ती सेना होती थी। प्रत्येक काश्तकार को विशिष्ट तरीके से सशस्त्र कुछ आदमी देने पड़ते थे। बैरन अपने आदमियों पर नियन्त्रण रखता था। राज्य की आय कुछ तो राजा के अपने क्षेत्र से आती थी, बाकी आय उसे अपने काश्तकारों से लगान के रूप में नियत अवसरों पर प्राप्त होती थी। उस समय सामान्य कराधान का कम रिवाज था। बैरन को अपने क्षेत्र में न्याय का भी प्रशासन करना पड़ता था। राजा के अधिकारी इसमें हस्तक्षेप नहीं करते थे। सामन्ती विधि का सिद्धान्त इस उक्ति में प्रकट होता है "आदमी का आदमी स्वामी का आदमी नहीं है।" राजा इस प्रकार की रियायतें कम से कम देना चाहते थे। इंगलैंड के शक्तिशाली नॉर्मन राजाओं ने अपने सामन्तों की स्वामि भक्ति की शपथ में यह शर्त भी लगा रखी थी 'मैं अपने स्वामी राजा के प्रति ऋणी हूँ।"

फलत, सामन्तवाद ने राजनैतिक शक्ति के तीन महान् उपकरणों पर सबसे अधिक प्रभाव डाला—सेना, राजस्व और अदालतें। इन तीनों अवस्थाओं में राजा का अपने अधिकांश प्रजाजनों से परोक्ष सम्बन्ध ही रहता था। सामन्तवाद में स्वामी और सामन्त का सम्बन्ध उस सम्बन्ध से मूलत भिन्न था जो आधुनिक राज्य में प्रभु तथा उसके प्रजाजन के बीच माना जाता है। स्वामी और सामन्त का सम्बन्ध बहुत कुछ व्यक्तिगत आधार पर था। सामन्त अपने अधिपति के प्रति निष्ठा और श्रद्धा का भाव रखता था। इस व्यवस्था में राजनैतिक अधीनता का भाव रहता था। लेकिन, इस व्यवस्था में कभी कभी छोटी श्रेणी के आदमी राजा के प्रति निष्ठावान् न रह कर अपने आसन्न अधिकारियों के प्रति निष्ठावान् रहा करते थे। दूसरी ओर सम्पत्ति सम्बन्ध बहुत कुछ संविदा जैसा था। इसमें प्रत्येक पक्ष अपने निजी हित को कायम रखता था और दूसरे पक्ष के साथ इसलिए सहयोग करता था क्योंकि इसमें दोनों पक्षों का लाभ था। तथापि, भूमि पर राजा का स्वामित्व अन्ततोगत्वा उसकी शक्ति बढ़ा देता था। चूंकि सामन्तवादी व्यवस्था के संचालन में अनेक विरोधी प्रवृत्तियाँ कार्य करती थीं, अत उसके निष्कर्ष निकालने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है।

पहली बात तो यह है कि अधिपति और सामन्त के बीच कर्तव्य उभयपक्षी था। यह बिलकुल बराबर का नहीं था क्योंकि सामन्त को अपने अधिपति के प्रति निष्ठावान् रहना पड़ता था और उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ता था। अधिपति के लिए यह आवश्यक नहीं था। सामन्त को अन्य कई कार्य भी करने पड़ते थे। उसे सैनिक सेवा करनी पड़ती थी, अधिपति की अदालत में हाजरी बजानी पड़ती थी तथा वास्त उत्तराधिकार जैसे महत्त्वपूर्ण अवसरों पर अनेक प्रकार के भुगतान करने पड़ते थे। ये विशिष्ट कर्तव्य सीमित थे। उदाहरण के लिए सामन्त को कितनी और किस प्रकार की सैनिक सेवा करनी है, यह तय था। सामन्त का कर्तव्य इससे अधिक नहीं था। दूसरी ओर अधिपति को अपने सामन्तों की सहायता और रक्षा करनी पड़ती थी। उसे उन आचारों अथवा चार्टर का भी पालन करना पड़ता था जो सामन्तों के अधिकारों और सुविधाओं की व्याख्या करते थे। सिद्धान्त

मे, सामन्त अपनी काश्त को छोडकर अपनी पराधीनता से छुटकारा पा सकता था। लेकिन, व्यवहार मे ऐसा कम ही होता था। यदि अधिपति सामन्त को उसके अधिकारों से वंचित करता, तो सामन्त जमीन अपने पास रख सकता था और अपने दायित्वो से हाथ खींच सकता था। इसलिए, राजा का अपने प्रजाजनों को यह वचन देना कि वह उन्हें उस विधि को प्रदान करेगा जिसका उनके पूर्वज उसके पूर्वजों के समय मे उपभोग करते थे, तत्कालीन व्यवस्था की, जो निश्चित रूप से विद्यमान थी और जिसे विद्यमान होने का अधिकार प्राप्त था, एक स्वीकृति मात्र थी। इस सामन्ती व्यवस्था मे पारस्परिकता, ऐच्छिक कार्य सम्पादन और गर्भित संविदा का एक ऐसा भाव था जो आधुनिक राजनैतिक सम्बन्धो से पूरी तरह लुप्त हो गया है। यह स्थिति कुछ ऐसी थी कि जब तक नागरिक की स्वतन्त्रताएँ मान्य न हों, वह एक निश्चित सीमा से आगे धर देना अस्वीकार कर दे, निश्चित समय से परे सैनिक सेवा न करे या दोनो चीजो से इनकार कर दे। इस दृष्टि से राजा की स्थिति सिद्धान्त मे तो दुर्बल थी ही, वह व्यवहार मे दुगनी कमजोर थी। सामन्ती राजतन्त्र आधुनिक राज्य की तुलना मे बहुत अधिक विकेन्द्रित प्रतीत होता है। दूसरी ओर सामन्ती भूमि व्यवस्था के अन्तर्गत कभी-कभी राजा या विशेष रूप से कोई परिवार बेदखली (escheat) जैसे विधियुक्त उपायो द्वारा अपनी शक्ति मे वृद्धि कर सकता था। फ्रास मे कैपेटियन वंश (Capetion dynasty) की शक्ति स्वयं सामन्ती के क्रियान्वयन के कारण ही शीघ्र ही बढ गई थी।

दूसरे, अधिपति और सामन्त का सम्बन्ध राजा और प्रजा के सम्बन्ध से इसलिए भी भिन्न था कि इसने निजी अधिकारों और सार्वजनिक कर्त्तव्यों के भेद को स्पष्ट नहीं किया। सामन्तवाद के अन्तर्गत सम्पत्ति का मुख्य रूप भूमि थी, लेकिन ऐसा अनिवार्यतः न था। किसी भी मूल्यवान् पदार्थ को सम्पत्ति समझा जा सकता था—मिल चलाने का अधिकार, चुंगी एकत्रित करने का अधिकार, शासन के किसी पद को धारण करने का अधिकार। सार्वजनिक प्रशासन की सम्पूर्ण व्यवस्था भूमि-व्यवस्था के प्रचलित स्वरूप के अनुसार थी। सार्वजनिक पद भी भूमि की भाँति ही एक पुश्तैनी वस्तु बन गया था। इस प्रकार, पद पर एक व्यक्ति का और उसके उत्तराधिकारियों का हमेशा के लिए उत्तराधिकार हो जाता था। जब सामन्त का किसी सम्पत्ति पर अधिकार होता था, तो इसके बदले मे उसे विशिष्ट प्रकार की सार्वजनिक सेवा करनी पडती थी। तथापि, सार्वजनिक सेवा सम्पत्तिगत अधिकार की आनुषंगिक थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सार्वजनिक अधिकारी अपने पद पर राजा के अभिकर्त्ता के नाते नहीं प्रत्युत् अपने परम्परागत अधिकार के नाते स्थित रहता था। उसकी यह सत्ता प्रत्यायित नहीं प्रत्युत् निजी होती थी। स्पष्टतः, राजा की शक्ति इस प्रवृत्ति को सीमित करने की उसकी योग्यता पर निर्भर थी। लेकिन, इस प्रवृत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामन्ती संस्थाएँ कितनी अनौपचारिक थी। राजा के इर्द गिर्द के व्यक्ति अपने सामन्ती कर्तव्य के रूप में उसके दरबार म हाजरी बजाते हैं। जब तक उनका स्टेटस स्पष्ट है, इस प्रकार के प्रश्न ही नहीं उठते कि वे किसका प्रतिनिधित्व करते हैं और किससे परामर्श किया जाना

चाहिए। वे संविदागत दायित्व को पूरा करने वाले व्यक्ति अधिक हैं, सार्वजनिक सेवक कम।

सामन्ती दरबार

(The Feudal Court)

अधिपति और उसके सामन्त का दरबार एक विशिष्ट सामन्ती संस्था थी।[1] यह वास्तव में अधिपति और उसके आदमियों की एक परिषद् थी जो उनकी सामन्ती व्यवस्था के बारे में उठने वाले विवादों को तय करती थी। जब कभी अधिपति या सामन्त यह समझता कि उसके अधिकार का अतिक्रमण हुआ है तो दोनों के पास एक ही उपचार रहता था। दोनों दरबार के अन्य सदस्यों से अपील कर सकते थे कि वे उचित निर्णय करें। उस समय की प्रथा में यह बात नहीं थी कि राजा अथवा अधिपति अपनी शक्ति अथवा अपनी मर्जी के अनुसार ही निर्णय कर लें। चार्टरों अथवा पत्रों के प्रमाण अधिकारों की कठोरता से रक्षा की जाती थी। इंगलैंड के हेनरी द्वितीय (Henry II of England) ने अपने दरबार में एक मुकदमे का जो निर्णय किया था (११५४ ई०), उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। ऐबट ऑफ मार्टिन (Abbot of St. Martin) और गिल्बर्ट डि बेलियोल (Gilbert de Balliol) कुछ जमीनों पर समान रूप से दावा करते थे। यह मुकदमा इसी के बारे में था। ऐबट ने अपने दावे को प्रमाणित करने के लिए एक चार्टर पेश किया। गिल्बर्ट का दावा कमजोर था। उसने कहा कि चार्टर पर सील नहीं है। राजा हेनरी ने कहा कि, "यदि ईश्वर की दृष्टि से तुम इस चार्टर को झूठा प्रमाणित कर दो, तो यह मेरे लिए इंगलैंड में एक हजार पौण्ड के बराबर होगा।" लेकिन, गिल्बर्ट के पास कोई प्रमाण नहीं था। इस पर राजा ने मुकदमे का निर्णय कर दिया

> "यदि संन्यासी इसी प्रकार के चार्टर और प्रमाण के द्वारा यह सिद्ध कर दें कि उनका वर्तमान स्थान पर इस प्रकार का अधिकार है, तो फिर मेरे लिए यह सारा स्थान उन्हें देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहेगा।"[2]

इस प्रकार, सिद्धान्त में सामन्ती दरबार प्रत्येक सामन्त को यह गारण्टी देता था कि विशिष्ट करारों अथवा चार्टरों और देश की विधि के अनुसार पीयर उसके मामले की सुनवाई करेंगे। दरबार का निर्णय उसके सदस्यों की संयुक्त शक्ति के द्वारा कार्यान्वित किया जाता था। कुछ अतिवादी मामलों में यह नियम राजा के खिलाफ भी चला जाता था। मैग्नाकार्टा की ६१वीं धारा में राजा जॉन ने २५

---

1. सामन्ती दरबार के उदाहरण के लिए जेरुसलम के लैटिन राज्य के हाउते कोर्ट का विवरण देखिये। L. La Monte, Feudal Monarchy in the Latin Kingdom of Jerusalem, 1100—1291 (1932), Ch. IV. लैटिन राज्य सामन्ती विकास का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसका विवरण इसकी स्थापना के दो शताब्दियों बाद लिखा गया था। इस विवरण से पता होता है कि उस समय के विधिवेत्ता तथा अन्य प्रकार के विचारक क्या थे, शासन को कैसा होना चाहिए और अन्य देशों में स्थापित संस्थाएं अपने मूल देश से आगे बढ़कर होती हैं।

2. Adams and Stephens, *op. cit.*, No. 12.

बैरनों की एक समिति को चार्टर लागू करने का अधिकार दिया गया है। यह समिति राजा के ऊपर आरोपित विवशता को वैध रूप देने की एक चेष्टा थी।

"यह पच्चीस बैरन, सम्पूर्ण देश की स्वीकृति से, उस समय तक अपनी शक्ति भर हमारा दमन और बलपूर्वक अपमोचन करेंगे, जब तक कि उनके निर्णय के अनुसार काम नहीं हो जाते।"

इसी प्रकार, एसाइजेज ऑफ जेरूसलम (Assizes of Jerusalem) ने यह निश्चित कर दिया था कि दरबार द्वारा निर्धारित अपनी न्यायपूर्ण स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए सामन्त अपने अधिपति को बाध्य कर सकते हैं। आदर्श सामन्ती सगठन मे राजा 'समकक्षो मे प्रथम' (primus inter pares) था। खुद दरबार या दरबार और राजा दोनो मिलकर सयुक्त शासन करते थे। इस शासन में आधुनिक राज्य के विधायी, कार्यकारी और न्यायिक सभी प्रकार के कार्य सम्मिलित थे। इसके साथ ही दरबार के सदस्यो के संविदागत सम्बन्ध ने जिसमें राजा भी शामिल था, किसी एक स्थान पर सत्ता का केन्द्रण नहीं होने दिया। इस व्यवस्था मे विधि-सगत विद्रोह की सम्भावना कितनी स्पष्ट है, इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

सामन्तवाद और राज्य

(Feudalism and Commonwealth)

ऊपर जिस स्थिति का वर्णन किया गया है, वह अकसर रहती थी, लेकिन वह सिद्धान्त या व्यवहार मे मध्ययुगीन राजतन्त्र के वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं करती थी। इस स्थिति मे विधिसगत विद्रोह का निरन्तर खतरा बना रहता था। राजा और उसके सामन्तो का संविदागत सम्बन्ध मध्ययुगीन राजतन्त्र के सिद्धान्त की पूरी व्याख्या नहीं करता। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ने मिलकर बिलकुल भिन्न प्रकार के विचार पैदा कर दिए थे। सामन्त अपने स्वामी के प्रति श्रद्धा और आदेश पालन का जो भाव रखता था, वे सामन्ती श्रद्धा के ऐसे तत्व थे जो राजा को अपने राज्य मे अद्वितीय स्थिति प्रदान करते थे। इस बात में किसी को सन्देह नहीं था कि राजा ईश्वर का कृपापात्र है और केवल कुछ असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर राजा का विरोध करना गैर-कानूनी है। रोमन्स के तेरहवें अध्याय में सन्त पाल के वचन और आज्ञा पालन के सम्बन्ध में सन्त ग्रिगोरी के उपदेश सिद्धान्ततः कभी अस्वीकृत नहीं किए जा सकते थे। सामन्तवाद की यह प्रवृत्ति अवश्य थी कि वह सार्वजनिक सत्ता को दबा दे और उसके स्थान पर व्यक्तिगत सम्बन्धों का एक जाल-सा बिछा दे। लेकिन, रेस पब्लिका (*res publica*) की उस पुरानी परम्परा को पूरी तरह कदापि समाप्त नहीं किया गया जो सिसरो, रोमन विधि और चर्च के संस्थापकों के माध्यम से मध्ययुग में आई थी। यह सिद्धान्त कि जनता राज्य का निर्माण करती है, वह अपनी विधि के अनुसार सगठित होती है और अपने शासकों के माध्यम से एक सार्वजनिक सत्ता का निर्माण करती है, सामन्तवादी तत्वों के साथ घुल मिल गया था। नवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच में यह प्राचीन परम्परा मुख्य रूप से धार्मिक लेखकों द्वारा कायम रखी गई। नवीं शताब्दी में इस परम्परा के अस्तित्व का साक्ष्य हिंकमार ऑफ रहीम्स

(Hincmar of Rheims) देता है। यह परम्परा बारहवीं शताब्दी में भी कायम रही इसका प्रमाण यह है कि इसने जॉन ऑफ सेलिसबरी (John of Salisbury) के *Policraticus* जैसे ग्रंथ का निर्माण किया। यह ग्रंथ राजनीति के ऊपर मध्य युग का पहला प्रतिष्ठित ग्रंथ है। यद्यपि जॉन ऑफ सेलिसबरी की पुस्तक ऐसे समय में लिखी गई थी जब कि सामन्तवाद अपने चरमोत्कर्ष पर था लेकिन इस पुस्तक की मुख्य रूपरेखा प्राचीन पद्धति की ही थी।[1] राज्य के इस सिद्धान्त से अन्ततोगत्वा राजा को बहुत लाभ हुआ क्योंकि वह सार्वजनिक हित का नाम मात्र का प्रतिनिधि तथा कुछ अर्थों में सार्वजनिक सत्ता का अधिष्ठान बना रहा। इस तथ्य के कारण ही सामन्ती राजा राष्ट्रीय राजतन्त्र के विकास का बीज बन गया।[2]

संक्षेप में मध्य युग में राजतन्त्र के बारे में दो विचार थे। एक विचार के अनुसार राजा का अपने सामन्तों के साथ संविदागत सम्बन्ध था और वह स्वयं इसमें एक पक्ष था। दूसरे विचार के अनुसार राजा राज्य का प्रधान था। यह दोनों विचार घुल मिल गए थे। सामन्ती विचारकों के राजशक्ति के सम्बन्ध में जो विचार थे उनसे इन दोनों विचारों के सम्मिश्रण की पुष्टि होती है। यह सर्वत्र माना जाता था कि राजा का निर्माण विधि के द्वारा हुआ है और वह विधि के अधीन है। इसके साथ ही यह भी सामान्य रूप से माना जाता था कि उसके खिलाफ कोई आदेश जारी नहीं होगा और अपनी अदालतों की सामान्य प्रक्रिया द्वारा उसे विवश नहीं किया जाएगा। ब्रैक्टन (Bracton) की De legibus et Consuetudinibus Aongliae पुस्तक के अवतरण इन दो विचारों के अवतरण को प्रकट करते हैं।

'राजा के राज्य में उसके बराबर कोई नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे वह नियम भंग हो जाएगा कि बराबर अपने बराबरी के ऊपर अधिकार नहीं रख सकता। उससे बड़ा या उससे अधिक शक्तिशाली भी कोई नहीं होना चाहिए क्योंकि तब वह अपने प्रजाजनों के ही नीचे हो जाएगा। यह असम्भव है कि छोटे लोग उनके बराबर हों जिनके पास ज्यादा शक्तियां हैं। राजा को और किसी व्यक्ति के अधीन नहीं होना चाहिए। उसे ईश्वर के और विधि के अधीन होना चाहिए क्योंकि विधि राजा का निर्माण करती है। इसलिए, राजा को चाहिए कि वह विधि को वह चीज दे दे जो विधि ने राजा को दी। वह चीज है—राज्य और शक्ति, ऐसा कोई राजा नहीं है, जहाँ विधि नहीं, इच्छा शासन करती हो।'[3]

ईश्वर के प्रतिनिधि के नाते राजा को न्याय करना चाहिए और स्वयं अपने मामलों में भी विधि की व्यवस्था को स्वीकार करना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं

---

1 इस पुस्तक के एक अंश का अंग्रेजी अनुवाद जान डिकिन्सन ने किया है। इसकी भूमिका में देखिए—*The Statesman's Book of John of Salisbury* (1927) pp. XVIII ff

2 लूशायर (Luchaire) ने *Institutions monarchiques de la France sous les premiers Capetiens* second edition (1891) Bk 1, ch 1 में कैपेशियन राजतन्त्र में धार्मिक परम्परा के महत्त्व और सामन्ती सत्ता के साथ उसके भेद पर प्रकाश डाला है।

3 F 5 b कार्लायल (Carlyle) ने अन्य सामन्ती विधिवेत्ताओं से भी इसी प्रकार के उद्धरण दिए हैं। *op cit*, Vol III Part I ch IV

करता, तो वह शैतान का प्रतिनिधि हो जाता है। लेकिन, उसके प्रजाजनों के पास इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है कि वे उसे ईश्वर के निर्णय पर छोड़ दें। फिर भी, ब्रैक्टन का विचार यह था कि सम्भवतः *Universitas regni et baronagium* राजा के दरबार की बुराई को दूर कर सकती है और उसे करनी चाहिए।[1] उसने एक अवतरण में जो अब समसामयिक क्षेपक माना जाता है, अनियन्त्रित राजा को नियन्त्रित करने का औचित्य सिद्ध किया है:

"लेकिन, राजा से भी ऊँचा ईश्वर है। विधि भी राजा से ऊँची है क्योंकि विधि ने राजा का निर्माण किया था। इसी प्रकार राजा का दरबार है। राजा के काउंट और बैरन हैं। वे काउंट इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वे राजा के साथी हैं। जिसके साथी होते हैं, उसका एक स्वामी भी होता है। इस प्रकार, यदि राजा निरंकुश हो अर्थात् विधि विहीन हो, तो उन्हें उसके ऊपर अंकुश रख देना चाहिए।"[2]

इन अवतरणों में राजा और दरबार दोनों ही दिखाई देते हैं। एक क्षमता में राजा राज्य का प्रमुख भू-स्वामी है। दरबार में उसके काश्तकार हैं। एक संस्था के रूप में दरबार का उद्देश्य उन कठिनाइयों को दूर करना है जो इस सविदागत सम्बन्ध में उनके बीच उठती हैं। दूसरी क्षमता में राजा अथवा लोक में निहित सार्वजनिक सत्ता का प्रमुख वाहक है। इस सत्ता पर कुछ अंशों में उसके दरबार का भी अधिकार है यद्यपि यह बात पूरी तरह स्पष्ट नहीं है। पहली क्षमता में राजा के विरुद्ध उसके दरबार के अन्य सदस्यों की ही भाँति कार्यवाही की जा सकती है। दूसरी क्षमता में उसके खिलाफ कोई आदेश नहीं निकाला जा सकता और विधि के प्रति उसका उत्तरदायित्व अन्ततोगत्वा उसकी अपनी अन्तरात्मा पर निर्भर है। एक दृष्टिकोण सामन्तवाद की इस विशिष्ट प्रवृत्ति को प्रकट करता है कि सार्वजनिक सत्ता को निजी सम्बन्धों में मिला दिया जाए। दूसरा दृष्टिकोण राज्य की उस अनवरत परम्परा को प्रकट करता है जिसमें राजा मुख्य शासक होता है। सम्भवतः, इन दो विचारों के समन्वय और सम्मिश्रण ने ही सामन्ती दरबार को एक ऐसा स्रोत बना दिया जिससे उत्तर मध्ययुग के संवैधानिक सिद्धान्त और संस्थाएँ विकसित हुए। विभिन्नीकरण की प्रक्रिया द्वारा अनेक प्रकार की सार्वजनिक संस्थाओं का निर्माण हुआ और वे विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक कार्यों को करने लगीं। इन संस्थाओं में मुख्य थीं—राजा की परिषदें, न्यायालय जो विभिन्न प्रकार के मामलों पर विचार करते थे और अन्त में संसद्। प्रोफेसर मैकाइवेन (Professor McIlWain) ने काफी स्पष्टता से यह सिद्ध कर दिया है कि सत्रहवीं शताब्दी के गृहयुद्ध तक

---

1. F. 171b. Carlyle, *op. cit.*, Vol. III., p. 71. n. 2.

2. F. 34. Carlyle, *op. cit*, Vol. III, p. 72; n. 1. On this passage see G. E. Woodbine's edition of *De legibus*, Vol. I (1915), pp. 332 f; F. W. Maitland, Bracton's Notebook, Vol. I (1887), pp. 29ff.; Ludwick Ehrlich, "Proceedings against the Crown (1216-1377)," *Oxford Studies in Social and Legal History*, Vol. VI (1921), pp. 48 ff.; 202 ff. On Bracton's extraordinary treatment of the dictum *quod principi placuit* in F. 107, see McIlWain, *op. cit.*, pp. 195 ff.

अंग्रेज संसद् को विधानमण्डल नहीं, प्रत्युत् दरबार ही समझते थे। इस विकास के द्वारा सार्वजनिक सत्ता का सिद्धान्त अधिक स्पष्ट रूप में प्रकट हुआ, लेकिन यह सत्ता अकेले राजा के व्यक्तित्व में कभी केन्द्रित नहीं रही। जब राजा निरंकुश हो गया, तभी ऐसा हुआ। लेकिन, यह मध्ययुगीन राज्यों की नहीं, आधुनिक राज्यों की बात है। मध्ययुग का राजा अपनी परिषद् के द्वारा या अपने दरबार के द्वारा कार्य करता था। इन संस्थाओं ने परामर्श के अपने अधिकार को किसी न किसी रूप में कायम रखा। प्रतिनिधित्व, कराधान, विधानमण्डलों द्वारा विधिनिर्माण, व्यय का पर्यवेक्षण और शिकायतों को दूर करने के लिए आवेदन आदि संवैधानिक विचार इसी शुरुआत से निकले। कम से कम इंगलैण्ड में विधिनिर्माण का अधिकार अन्तिम रूप से राजा द्वारा नहीं, प्रत्युत ससंसद् राजा (King-in-Parliament) द्वारा निर्णीत हो सका।

Selected Bibliography

Civilization during the Middle Ages. By G. B. Adams. Revised edition New York, 1922. Ch. IX.

The King's Council in England during the Middle Ages. By J. F. Baldwin, Oxford, 1913, Ch. I.

A History of Mediaeval Political Theory in the West. By R. W. Carlyle and A. J. Carlyle. 6 Vols. New York and London, 1903-36. Vol. I, Part IV, The Political Theory of the Ninth Century, Vol. III, Part I, The Influence of Feudalism On Political Theory.

"Proceedings against the Crown (1216-1377)", By Ludwik Ehrlich. In *Oxford Studies in Social and Legal History*, Vol. VI, Oxford, 1921.

Law and Politics in the Middle Ages. By Edward Jenks. New York, 1898.

The Growth of Political Thought in the West. By C. H. McIlWain, New York, 1932. Ch. V.

Constitutional History of England. F. W. Maitland Cambridge, 1911. Period I.

"Roman Law", By H. J. Roby. In *Cambridge Medieval History*, Vol. II (1913), Ch. III.

The Development of European Law. By Munroe Smith. New York, 1928.

"Foundations of Society (Origins of Feudalism)". By Paul Vinogradoff. Second edition. London, 1911.

"Customary Law". By Paul Vinogradoff. In *The Legacy of the Middle Ages.*, Ed. by G. C. Crump and E. F. Jacob. Oxford, 1926.

अध्याय १२

अभिषेक सम्बन्धी वाद-विवाद

(The Investiture Controversy)

ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक और राजनैतिक विचारों के क्षेत्र में पुनः अपूर्व बौद्धिक जाग्रति के दर्शन होते हैं। प्राचीन काल के जो विचार ईसाई धर्मपिताओं (Christian Fathers) की परम्परा में प्रसुप्त रहे थे, उन्हें दुबारा नया आलोक प्राप्त हुआ। इसके परिणामस्वरूप आगामी शताब्दियों में एक अत्यन्त समृद्ध और उर्वर संस्कृति का निर्माण हुआ। अराजकता से पुनः व्यवस्था का जन्म हुआ। अब विशेषकर, नॉर्मन राज्यों ने ऐसी प्रशासनिक क्षमता और राजनैतिक स्थिरता का परिचय दिया जो यूरोप ने रोमन काल से नहीं देखी थी। सामन्तवाद ने एक निश्चित पद्धति का रूप धारण किया और उससे ऐसे संवैधानिक सिद्धान्त निकले जो मध्ययुग से आधुनिक यूरोप तक चले आये। पहले इटली में और बाद में उत्तर में ऐसी उद्योग और वाणिज्य व्यवस्था का निर्माण किया गया जिसके आधार पर मौलिक तथा मानवोचित कला व साहित्य का निर्माण हुआ। प्राचीन ज्ञान विज्ञान की महत्त्वपूर्ण खोजों ने दर्शन और विद्या को नई प्रेरणा दी। दक्षिण फ्रांस और इटली में रैवेना (Ravenna) तथा बोलोग्ना (Bologna) नामक नगरों में न्यायशास्त्र (Jurisprudence) का अध्ययन हुआ। इस अध्ययन के फलस्वरूप रोमन विधि का पुनरुत्थान हुआ और वह समसामयिक वैधिक तथा राजनैतिक समस्याओं पर लागू की जाने लगी। इस बौद्धिक जागरण ने ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा पर प्रभाव डाला। स्वभावतः राजनैतिक दर्शन भी इससे प्रभावित हुआ।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों का राजनैतिक साहित्य पोपों और सम्राटों के इस वाद-विवाद से भरा पड़ा है कि लौकिक तथा धार्मिक सत्ताओं की क्या सीमाएँ हों। तथापि, इस साहित्य का विस्तार आश्चर्यजनक है। बिशपों के अभिषेक के प्रश्न को लेकर जिन असंख्य राजनैतिक पुस्तक-पुस्तिकाओं का निर्माण हुआ, उनकी तुलना में अरस्तू की मृत्यु से ग्यारहवीं शताब्दी तक रचित राजनैतिक साहित्य परिमाण की दृष्टि से केवल कुछ ही पन्नों में आ जायेगा। क्रमबद्ध विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान के विषय के रूप में दर्शन शास्त्र की अन्य शाखाओं की अपेक्षा राजनैतिक सिद्धान्त का विकास धीरे-धीरे हुआ। तेरहवीं शताब्दी तक में धर्म-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र का इतना जोर था कि उन्होंने राजनैतिक दर्शन को दबा-सा रखा था। चौदहवीं शताब्दी से राजनैतिक दर्शन के ग्रन्थ अधिक लिखे जाने लगे और उस समय से अब तक यह परम्परा चल रही है, लेकिन राजनैतिक ग्रन्थों की रचना इससे कुछ शताब्दियों पूर्व ही शुरू हो गई थी। इन प्रारम्भिक ग्रन्थों में से बहुत से अब भी बचे हुए हैं। उनसे ज्ञात होता है कि इस विषय में लोगों की रुचि बराबर बनी रही थी। राजनीति की कुछ मूल समस्याएँ और प्रश्न

ग्यारहवीं शताब्दी में ही उत्पन्न हो गये थे। बाद की शताब्दियों में उनका निरन्तर विकास होता रहा।

मध्ययुगीन चर्च राज्य

(The Medieval Church State)

लौकिक और आध्यात्मिक सत्ताओं के सम्बन्ध में ग्यारहवीं शताब्दी में जो वाद विवाद आरम्भ हुआ उसका मूल गैलेसियन का दो तलवारों का सिद्धांत (Theory of the two swords) था। इस सिद्धांत का हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं। इस सिद्धांत में ईसाई धर्मपिताओं की शिक्षा सार रूप में आ गई थी। लौकिक और आध्यात्मिक का भेद शरीर और आत्मा का भेद ईसाई धर्म का एक आधारभूत लक्षण है। ग्यारहवीं शताब्दी के सर्वमान्य विचार के अनुसार—और इस विचार को कई शताब्दियों बाद तक अस्वीकार नहीं किया गया—ईश्वर ने मानव समाज के शासन के लिए आध्यात्मिक और लौकिक दो सत्ताओं को नियुक्त किया है। आध्यात्मिक सत्ता का प्रयोग पादरी और लौकिक सत्ता का प्रयोग शासक करते हैं। ये दोनों इस सत्ता का प्रयोग दैवी तथा प्राकृतिक विधि के अनुसार करते हैं। ईसाई व्यवस्था के अनुसार कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक और लौकिक सत्ता का एक साथ प्रयोग नहीं कर सकता। पादरी या शासक किसी से भी यह अपेक्षा नहीं की जाती थी कि वे अपनी शक्ति का प्रयोग मनचाहे ढंग से करें। दोनों ही विधि के अधीन थे और प्रकृति तथा मनुष्य के दैवी विधान में एक आवश्यक कार्य करते थे। इसलिए सिद्धान्ततः दोनों सत्ताओं में कोई संघर्ष नहीं होना चाहिए। लेकिन हो सकता है कि दोनों सत्ताओं में मानवी प्रतिनिधि अभिमान अथवा शक्तिलिप्सा के कारण विधि द्वारा नियत अपनी सीमाओं को लाँघ जायें। दैवी विधान के अनुसार तो दोनों सत्ताओं को एक दूसरे की सहायता करनी चाहिए।

सच कहा जाए तो इन विचारों के घेरे में न तो आजकल के अर्थ में चर्च था और न राज्य ही। मनुष्यों का कोई ऐसा समुदाय नहीं था जो अकेले राज्य का या अकेले चर्च का संचालन करता हो। सभी मनुष्य दोनों में शामिल थे। सन्त ऑगस्टाइन ने अपने ग्रन्थ *City of God* में यह शिक्षा दी थी कि संसार में केवल एक ही समाज है और वह है ईसाई समाज। ग्यारहवीं शताब्दी के लिए यह बात सच भी थी। ईश्वर के अधीन इस समाज के दो प्रधान थे—पोप और सम्राट। सत्ता के दो सिद्धांत थे—पादरियों का आध्यात्मिक शासन और राजाओं का लौकिक शासन। अधिकारियों के भी दो पदसोपान (hierarchies) थे। लेकिन दोनों संस्थाओं या समाजों में कोई विभाजन नहीं था। इन दोनों पद सोपानों के बीच का विवाद वयक्तिक था क्योंकि एक ही राज्य के दो पदाधिकारियों के बीच ही विवाद उत्पन्न हो सकता है। प्रश्न यह था कि सत्ता की क्या उचित सीमाएँ हों। दोनों अपनी अपनी सीमाओं में रहते हुए क्या-क्या कर सकते हैं। जिस समय चर्च और राज्य के बीच विवाद आरम्भ हुआ था उसका यही रूप था। लेकिन ज्यों-ज्यों समय

बीतता गया, मूल प्रश्न पीछे रह गया और उसके वैधिक पहलू अधिकाधिक उभरते आए। लेकिन, शुरू-शुरू में विवाद दो अधिकारी वर्गों में था। प्रत्येक वर्ग को कुछ मूलसत्ता प्राप्त थी और वह उस सत्ता की सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करने का दावा करता था।

दोनों सत्ताओं के पृथक्करण का सिद्धान्त पूरी तरह कभी कार्यान्वित नहीं हुआ था। अपने कर्त्तव्यों के पालन में ये सत्ताएँ एक-दूसरे के निरन्तर सम्पर्क में रहती थीं और एक-दूसरे की सहायता करती थीं। जब वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ, तब दोनों पक्ष ऐसे अनेक ऐतिहासिक कार्यों की ओर संकेत कर सकते थे जिनसे ध्वनित होता था कि दोनों पद-सोपान एक-दूसरे का नियन्त्रण करते रहे हैं। रोम के पतन काल में ग्रिगोरी महान् ने अतुल लौकिक शक्ति का प्रयोग किया था। धार्मिक परिषदें और व्यक्तिगत धर्माचार्य अनाचारों के लिए राजाओं की भर्त्सना करने में अम्ब्रोज़े (Ambrose) के दृष्टान्त का अनुसरण करते थे। जिन प्रमुख व्यक्तियों की सहमति से विधियों का निर्माण होता था, उनमें बिशपों की भी गणना होती थी। शासकों को चुनने और अपदस्थ करने में बिशपों का भी बड़ा हाथ रहता था। पिपिन (Pippin) ने फ्रैंकिश राज्य में मेरोविन्जियन राजवंश को हटाने के लिए पोप की अनुमति चाही थी और उसे यह अनुमति प्राप्त हो गई थी। ८०० में चार्ल्स महान् का प्रसिद्ध राज्याभिषेक समारोह हुआ था। यह चर्च में विहित सत्ता द्वारा फ्रैंकिश राजाओं के लिए साम्राज्य का स्थानान्तरण माना जा सकता था। यह कुछ-कुछ सैमुअल (Samuel) द्वारा यहूदी राजपद की स्थापना के सादृश्य पर ही था। राज्याभिषेक की शपथ का सब लोग धार्मिक महत्त्व मानते थे। अन्य शपथों की भाँति वह भी नैतिक मामलों में चर्च की अनुशासनात्मक शक्ति के अन्तर्गत आती थी।

सब मिलाकर, ग्यारहवीं शताब्दी तक जब कि धार्मिक और साम्राज्यिक क्षेत्राधिकारों के प्रश्न को लेकर वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ, पोप के ऊपर सम्राट् का नियन्त्रण अधिक था, सम्राट् के ऊपर पोप का नियन्त्रण कम था। यह बात रोमन काल में विशेष रूप से सही थी। शार्लमैन (Charlemagne) अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों में जाँच-पड़ताल के लिए अपने अधिकारियों को भेजा करता था। वह इन अधिकारियों को हिदायतें भी देता था। इन हिदायतों के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह चर्च के आदमियों तथा जनसाधारण के आदमियों में कोई अन्तर नहीं मानता था तथा वह चर्च के शासन का भी पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता था। लिओ तृतीय (Leo III) ने अपनी जाँच-पड़ताल की शक्ति स्वयं पोप के कथित अपराधों तक विस्तृत कर दी थी। दसवीं शताब्दी में पोपशाही बहुत बदनाम हो गई थी। इस समय सम्राटों—ओटो प्रथम (Otto I) से हेनरी तृतीय (Henry III) तक ने चर्च में अनेक सुधार किए। उन्होंने धार्मिक नियमों के अनुसार ग्रिगोरी छठे (Gregory VI) और बदनाम बेनेडिक्ट नवें (Benedict IX) को अपदस्थ तक कर दिया। पोप का निर्वाचन रोम नगर की हल्की षड्यंत्रियन राजनीति की कन्दुक क्रीडा बन गया था और इसके कारण अनेकों अवांछनीय

कुरीतियाँ उत्पन्न हो गई थी। इन कुरीतियों को दूर करने में सम्राटों का काफी हाथ था। सम्राट् पोपों के निर्वाचन में अपने प्रभाव का उपयोग करते थे, इसके कई नीति सम्बन्धी कारण भी थे। धर्माचार्यों की दृष्टि से रोम के स्थानीय षड्यन्त्रों को देखते हुए यह प्रभाव श्रेयस्कर था, लेकिन इससे आध्यात्मिक मामलों में चर्च की स्वतन्त्रता के लिए भी खतरा पैदा हो गया था।

चर्च की स्वतन्त्रता

(The Independence of the Church)

ग्यारहवीं शताब्दी के वाद विवाद की एक विशिष्ट पृष्ठ भूमि थी। अब चर्च में आत्म-चेतना और स्वतन्त्रता का भाव आने लगा था। धर्माचार्य अब चर्च को एक स्वतन्त्र आध्यात्मिक शक्ति बनाना चाहते थे। चर्च का यह अधिकार भी था कि वह स्वतन्त्र आध्यात्मिक शक्ति का रूप धारण करे। ऑगस्टाइन की परम्परा यूरोप को एक ऐसे ईसाई-समाज के रूप में प्रस्तुत करती थी जिसका संसार के इतिहास में अद्वितीय स्थान था, क्योंकि इसने पहली बार लौकिक शक्ति को दैवी सत्य की सेवा में लगा दिया था। इस सिद्धान्त के अनुसार शासन का न्याय सम्बन्धी प्राचीन आदर्श अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गया। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को तो उचित अधिकार प्राप्त होना ही चाहिए, ईश्वर को भी उसकी उपासना मिलनी चाहिए। कुस्तुन्तुनिया में धार्मिक नीति राजदरबार के आश्रित हो गई थी। गेलेसियस (Gelasius) ने इसका विरोध करते हुए कहा था कि पादरी का उत्तरदायित्व शाश्वत मुक्ति होने के कारण राजा के उत्तरदायित्व से बड़ा है। यदि आध्यात्मिक उद्देश्यों का वही महत्त्व था, जो ईसाई धर्म मानता था और यदि चर्च वास्तव में वे संस्थाएँ थीं जो इन उद्देश्यों को प्राप्त कर सकती थीं, तो इस प्रकार का निष्कर्ष बिलकुल सही था। ग्यारहवीं शताब्दी की बढ़ती हुई जागृति ने और ऑगस्टाइन की परम्परा के प्रभाव ने इस शिक्षा को काफी कारगर बना दिया। ग्यारहवीं शताब्दी से पहले ऐसी परिस्थितियों का अभाव था जिनमें चर्च अपने प्रभाव को पूरी तरह व्यक्त कर पाता। ईसाई सभ्यता के उत्कर्ष ने ईसाई समाज के आदर्शों को व्यावहारिक रूप दिया। ईसाई समाज के अन्तर्गत ईसाई राज्य के पीछे प्रेरक शक्ति चर्च को होना चाहिए।

नवीं शताब्दी में ही जब चार्ल्स के शासन-काल में विद्वत्ता का थोड़ा-सा पुनरुत्थान हुआ था, धर्माचार्य ईसाई समाज में चर्च के दावों की बात करने लगे थे। उदाहरण के लिए आर्कबिशप हिंकमार ऑफ र्‍हीम्स (Archbishop Hincmar of Rheims) ने लिखा था:

"यदि वे सांसारिक विधियों अथवा मानवी रूढ़ियों के द्वारा अपने मन की बात करना चाहते हैं, तो करने दीजिये लेकिन, उन्हें समझ लेना चाहिए कि यदि वे ईसाई हैं तो निर्णय के दिन उनका निर्णय रोमन या सालिक या गुडोवडियन विधि के अनुसार नहीं, प्रत्युत दैवी मनीषा विधि के अनुसार होगा। ईसाई राज्य में राज्य की विधियाँ ईसाई अर्थात् ईसाई धर्म के उपयुक्त होनी चाहिए।"[1]

1. Quoted by Carlyle, *op. cit*, Vol. I, p 277, n. 3

नवीं शताब्दी का पुनरुत्थान अल्पकालीन था, लेकिन इसी बीच में चर्च में कुछ ऐसे परिवर्तन हो रहे थे जिन्होंने ग्यारहवीं शताब्दी के स्थायी पुनरुत्थान के समय ईसाई राज्य के दावों को ज्यादा प्रभावशाली बना दिया। इन परिवर्तनों ने चर्च के अन्तर्गत पोप की सत्ता और धार्मिक संगठन का केन्द्रीकरण कर दिया और धर्माचार्यों को ईसाई आदर्श की साधना के लिए अधिक उग्रता से प्रेरित किया। पहले परिवर्तन का सम्बन्ध नवीं शताब्दी में स्यूडो-इसिडोरियन डेक्रीटल्स (Pseudo-Isidorian Decretals) नामक छल-प्रपंचों से था। दूसरे परिवर्तन का सम्बन्ध दसवीं शताब्दी में क्लनी के सुधारों (Cluniac reforms) से था।

झूठी धर्म आज्ञप्तियों (False Decretals)[1] को उपस्थित करने का उद्देश्य बिशपों की स्थिति को मजबूत करना, विशेषकर लौकिक शासकों द्वारा उनकी पद-च्युति और सम्पत्ति की जब्ती को रोकना, अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आने वाले पादरियों के ऊपर अपने नियन्त्रण का दृढ़ करना, और उनको अपनी परिषदों (synods) के अतिरिक्त अन्य किसी निरीक्षण से स्वतन्त्र करना था। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए वे आर्कबिशपों की सत्ता को कम करना—क्योंकि आर्कबिशप लौकिक शासकों के अभिकर्त्ता हो सकते थे और पोपों की शक्ति को बढ़ाना चाहते थे। इन आज्ञप्तियों ने बिशपों को यह अधिकार दे दिया कि वे अपने मामले की रोम में अपील कर सकते थे और जब तक उनके मामले का निर्णय न हो जाता, वे अपनी पदच्युति और सम्पत्ति की हानि से बच सकते थे। पोप का दरबार किसी भी धार्मिक मामले का निर्णय बड़ी ही शक्तिशाली भाषा में करता था। इसलिए, नवीं शताब्दी की ये झूठी धर्माज्ञप्तियाँ इस प्रवृत्ति को प्रकट करती हैं कि चर्च को कोशिश क्षेत्र में पोप की गद्दी में केन्द्रित किया जाये, बिशप को चर्च के शासन की एक इकाई बनाया जाए, उसे सीधे पोप के प्रति उत्तरदायी बनाया जाये और आर्कबिशप की स्थिति को पोप और बिशप के बीच एक मध्यस्थ की-सी रहने दिया जाये। स्थूल रूप से रोमन चर्च में यही शासन प्रणाली प्रचलित हो गई थी। पोप की सत्ता का सामान्य रूप से बढ़ाने का कोई तत्काल उद्देश्य नहीं था। इस दिशा में कोई तात्कालिक प्रभाव भी नहीं हुआ। लेकिन जब ग्यारहवीं शताब्दी में इन झूठी धर्म आज्ञप्तियों को सब लोग सच्चा मानने लगे थे, उस समय इन आज्ञप्तियों के आधार पर ऐसे अनेकों तर्क उपस्थित किये गए कि चर्च को लौकिक नियन्त्रण से स्वतन्त्रता प्राप्त हो तथा धार्मिक शासन में पोप ही सर्वेसर्वा रहे। पोप और सम्राट् के बीच विवाद का एक कारण यह भी था कि अब पोप चर्च का वास्तविक प्रधान हो गया था और वह सुशासन के लिए सम्राट् के ऊपर निर्भर नहीं था।

---

1 ये १०० से अधिक जाली पत्र थे और कहा जाता था कि ये पहली दो शताब्दियों के पोपों द्वारा लिखे गए थे। कुछ पुराने प्रामाणिक साहित्य में बहुत-सा झूठा परिषद्-रिपोर्ट भी मिला दी गई थी। उन्हें भी इसमें शामिल किया जाता था। ये चार्ल्स ८५० के आस-पास फ्रैंकिश प्रदेश में सामने आई। देखिए P. Fournier, "Etudes sur les fausses decretales, *Revue d' histoire ecclesiastique de louvain*, Vol VII (1906) pp 33, 301, 543, 761, Vol VIII (1907), p. 19

दूसरी घटना जिसने चर्च की स्वतन्त्रता की इच्छा को बहुत अधिक बढ़ा दिया ऐबट ऑफ क्लनी (Abbot of Cluny) की अधीनता में मठों का समेकन और उनके सुधारों का प्रवाह था।[1] क्लनी की स्थापना सन् ९१० में हुई थी। इसके संगठन में एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमें अपने मामलों का प्रबन्ध करने तथा अपने प्रधानों को चुनने की पूरी आजादी थी। इसके विकास में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि जब नये मठ बनते थे या पुराने मठ उसके साथ मिला दिए जाते थे, तब इन शाखाओं का नियन्त्रण भी जनक संस्था के ऐबट के हाथों में ही रहता था। इस प्रकार, क्लूनियक मठ सन्यासियों की अलग-अलग संस्थाएँ नहीं थीं। वे वास्तव में एक प्रधान के अधीन एक केन्द्रीकृत संगठन थीं। इसलिए, वे चर्च के अन्दर सुधार के विचार को फैलाने में पूरी तरह सक्षम थीं। पुनः, सुधार के उद्देश्य प्रायः वही थे जिन्होंने क्लनी मठों का विकास किया था। सिमोनी (Simony) या धार्मिक पदों की बिक्री एक बहुत बड़ी कुरीति थी जिसे तत्काल दूर करने की आवश्यकता थी। इस कुरीति का सम्बन्ध धर्माचार्यों को लौकिक शासन के कार्य में नियुक्त करने से था। इस कुरीति का रूप केवल यही नहीं था कि पद बेचे जाते थे प्रत्युत् यह भी था कि जो धर्माचार्य राजनैतिक सेवा करते थे, उनको पुरस्कार दिया जाता था। इसलिए, जब आध्यात्मिक कार्यों की उच्चता का अनुभव हुआ, तो यह माँग स्वाभाविक थी कि पोपशाही को अवनति के गर्त से निकाल कर उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाए और धार्मिक मामलों में पोप का स्वायत्तशासी नियन्त्रण रहे। जब पादरी लौकिक शासन के कार्य में फँसने लगे, जागरूक धर्माचार्यों को चर्च का दासपना दिखाई दिया। १०५९ की लैटरन की परिषद् में यह घोषित की गई कि कार्डिनलस के निर्वाचकमण्डल में पोप का क्रमबद्ध रीति से निर्वाचन हो। सुधार आन्दोलन की यही दिशा थी। सुधार का अभिप्राय यह था कि चर्च स्वायत्तशासी समाज हो जाए, उसकी नीति और प्रशासन धर्माचार्यों के हाथों में रहे। इस सुधार की प्रगति का यह अभिप्राय था कि पोप और सम्राट् में अवश्य संघर्ष हो।

चर्च के अन्दर भ्रष्टाचार फैल गया था और वह निरन्तर बढ़ रहा था। चर्च की स्वतन्त्र होने की इच्छा के मूल में यही भावना कार्य कर रही थी। नवीं शताब्दी से काफी पहले ही चर्च के आदमी बड़े-बड़े जमींदार हो गए थे। चार्ल्स मार्टेल (Charles Martel) ने चर्च की जमीन के काफी बड़े हिस्से को सामन्ती व्यवस्था के रूप में बदल दिया था। यह कार्य उसने सारासेन्स (Saracens) की लड़ाइयों की अर्थव्यवस्था के लिए किया था। ज्यों ज्यों सामन्तवाद का विकास होता गया, चर्च के आदमियों ने भी इस व्यवस्था को अपनाया। उस समय शासन इस व्यवस्था के अनुसार ही चलता था। धर्माचार्य को भी जमींदार होने के नाते कुछ सामन्ती सेवाएँ करनी पड़ती थीं। उनके भी अपने कुछ सामन्त होते थे जो उनकी सेवा करते थे। यद्यपि धर्माचार्य अपने लौकिक कर्तव्यों का पालन अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से करते थे,

---

1 ई० सेकुर (E. Sackur) ने इसका मानक विवरण दिया है *Die Cluniacenser in ihrer kirchlichen und allgemeingeschichtlichen Wirksamkeit*, 2 Vols (Halle, 1892 94)

फिर भी उनके स्वार्थ मुख्य रूप से सामन्तो कुलीनवर्ग के साथ समीकृत थे। उच्च धर्माचार्य अपने धन तथा प्रतिष्ठा के कारण लौकिक राजनीति के प्रत्येक प्रश्न में गहरी दिलचस्पी रखते थे। वे ऐसे मैगनेट हो गए थे जिनकी शक्ति और प्रभाव की कोई भी राजा उपेक्षा नही कर सकता था। सामन्तवाद के अतिरिक्त वे लोग उच्च शिक्षा प्राप्त भी थे। इसके कारण राजा अपने राज्य के उच्च पदाधिकारियों को उनमे से ही चुनता था। जैसा कि हम पहले अध्याय मे बता चुके हैं, रोम के पतन के पश्चात् चर्च सार्वजनिक सत्ता और नागरिक व्यवस्था के प्राचीन आदर्शों का मुख्य अधिष्ठान रहा था। राजा की ऐसी नीति को कार्यान्वित करने में जिसके अन्तर्गत राजा के नियन्त्रण को स्थापित करने की आवश्यकता होती, धर्माचार्य योग्यतम व्यक्ति थे। इसलिए, ग्यारहवी शताब्दी में, कुछ तो स्वयं सामन्ती व्यवस्था के कारण और कुछ सामन्ती व्यवस्था से परे की बातो के कारण, धर्माचार्यों की लौकिक राजनीति मे गहरी दिलचस्पी थी। उच्च धर्माचार्यों के व्यक्तित्व में चर्च का सगठन और राज्य का सगठन दोनों ही समाहित थे। यह बात इतनी सच थी कि दोनो पद-सोपानों की इस आधार पर पृथकता कि धर्माचार्य अपने राजनैतिक कर्त्तव्यों को त्याग दें, बिलकुल असम्भव-सी थी।

इस महान् वाद-विवाद की कहानी मध्ययुग के प्रत्येक इतिहास में वर्णित है। यहाँ उनके केवल कुछ सिद्धान्तों की चर्चा करना ही पर्याप्त होगा। १०७३ में ग्रिगोरी सप्तम पोप की गद्दी पर बैठा। उसके गद्दी पर बैठने के साथ ही यह महान् वाद विवाद शुरू हुआ। शुरू-शुरू मे यह वाद-विवाद बिशपो के पद-ग्रहण से अर्थात् उच्च धर्माचार्यों के चुनाव मे लौकिक शासको के भाग से सम्बन्ध रखता था। ग्रिगोरी ने १०७५ मे बिशपो के चुनाव मे लौकिक शासको का हस्तक्षेप बिलकुल बन्द कर दिया। अगले वर्ष सम्राट् हेनरी चतुर्थ (Emperor Henry IV) ने ग्रिगोरी को पदच्युत करने का प्रयास किया। बदले मे पोप ने सम्राट् को धर्म-बहिष्कृत घोषित कर दिया और उसके सामन्तो को सामन्ती शपथ नही दिलाई। १०८० मे हेनरी ने ग्रिगोरी के स्थान पर उसके एक विरोधी को पोप की गद्दी पर बिठाने की चेष्टा की। ग्रिगोरी ने हेनरी के राजमुकुट के लिए रूडोल्फ ऑफ स्वाबिया (Rudolf of Swabia) के दावो का समर्थन किया। इन दोनों मुख्य अभिनेताओं की मृत्यु के बाद एक प्रमुख घटना यह हुई कि हेनरी पचम (Henry V) और पास्चल द्वितीय (Paschal II) में इस आधार पर एक समझौता हो गया कि धर्माचार्य अपने समस्त राजनैतिक कार्यों को त्याग दें। लेकिन, व्यवहार मे यह असम्भव प्रमाणित हुआ। ११२२ में वॉर्म्स के समझौते (Concordat of Worms) के साथ वाद-विवाद का पहला चरण समाप्त हो गया। इस समझौते के अनुसार सम्राट् ने मुद्रा और दण्ड (ring and staff) जो आध्यात्मिक सत्ता के प्रतीक थे, के साथ पदग्रहण कराने का तकनीकी अधिकार त्याग दिया। लेकिन, उसने राजाधिकार देने और बिशपों के चुनाव में आवाज रखने के अधिकार को कायम रखा। लेकिन, इस तारीख के बाद भी यह वाद-विवाद समय-समय पर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक प्रायः उसी ढग से चलता रहा। यहाँ हम दोनों विरोधी पक्षों के विचारों का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

ग्रिगोरी सप्तम और पोपवादी
(Gregory VII and the Papalists)

ग्रिगोरी के दृष्टिकोण को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि उसका चर्च में अपने पद के बारे में क्या विचार था यद्यपि उस समय इस प्रश्न पर कोई विवाद नहीं था। साथ ही, यदि ग्रिगोरी की पोप के पद के बारे में विशिष्ट धारणा न होती, तो साम्राज्य के साथ उसका विवाद भी उग्र रूप धारण न करता। ग्रिगोरी के दृष्टिकोण से पोप सम्पूर्ण चर्च का प्रभुसत्ताधारी प्रधान था। वह बिशपों को नियुक्त और पदच्युत कर सकता था। उसका धार्मिक प्रतिनिधि (legate) बिशपों तथा चर्च के अन्य अधिकारियों से उच्चतर स्थिति का उपभोग करता था। वही जनरल कौंसिल की बैठक बुला सकता था और आज्ञप्तियों को लागू कर सकता था। पोप की आज्ञप्तियों को कोई रद्द नहीं कर सकता था। यदि कोई मामला एक बार पोप की अदालत में आ जाता था, तो उस पर अन्य कोई सत्ता निर्णय नहीं दे सकती थी। संक्षेप में, ग्रिगोरी का चर्च के शासन सम्बन्धी सिद्धान्त राजतन्त्रात्मक था। यह सामन्ती राजतन्त्र नहीं था, प्रत्युत साम्राज्यिक रोम की परम्परा का राजतन्त्र था। ईश्वर तथा दैवी विधान (divine law) के अधीन पोप सर्वशक्तिशाली था। पोप-शाही का यह पैट्रीन सिद्धान्त (Patrine theory) आगे चलकर स्वीकार अवश्य ही गया था, लेकिन उस समय को देखते हुए यह एक नई चीज थी और ग्यारहवीं शताब्दी में इसकी सर्वत्र मान्यता नहीं थी। इस सिद्धान्त के कारण कभी-कभी ग्रिगोरी और उसके बिशपों में गलतफहमी पैदा हो जाती थी। जिस समय सामन्तवाद के अन्तर्गत विकेन्द्रीकरण की शक्तियाँ प्रबल हो रही थीं पोप ने सार्वभौमिक सत्ता के सिद्धान्त को जीवित रखा था। अपने राजनैतिक पुनर्निर्माण में भी उसने इस सिद्धान्त का सबसे पहले प्रयोग किया।

पदाभिषेक सम्बन्धी वाद विवाद में दोनों पक्षों में अलग-अलग क्या था, उसको ठीक-ठीक बताना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका कारण यह है कि दोनों ही पक्ष दो तलवारों के पुराने सिद्धान्त को जिसके अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में दोनों स्वतन्त्र थे, स्वीकार करते थे। लेकिन, दोनों ही पक्ष ऐसे तर्कों को उपस्थित करते थे जिनकी वजह से यह सिद्धान्त व्यर्थ हो जाता था। यह बात साम्राज्यवादियों के बारे में सच थी। साम्राज्यवादी एक ऐसी स्थिति चाहते थे जो यदि सिद्धान्त में नहीं, तो कम-से-कम तथ्य में साम्राज्य को पोप के मामलों में शक्तिशाली आवाज दे दे। उनका पक्ष सिद्धान्त की दृष्टि से दुर्बल था, यद्यपि पूर्वदृष्टान्तों की दृष्टि से यह मजबूत था। पोपवादी, उनकी स्थिति यथार्थ की हो गयी थी। उन्होंने नैतिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अपने तर्कों का आधार गेलासियन सिद्धान्त (Gelasian theory) को बनाया। इसके विपरीत ईसाई मूल्यों की तुलना को देखते हुए चर्च के दावे बढ़कर थे। लेकिन यह सिद्धान्त उसी समय तक सिद्ध हो सकता था जब कि चर्च नेतृत्व और निर्देशन की शक्ति ग्रहण करता। लेकिन, उसने अभी तक यह नहीं किया था। सम्भवतः कोई भी पक्ष दूसरे पक्ष की सत्ता को नहीं हथियाना चाहता था। दोनों पक्षों के दावों का मूल्यांकन करना

मुश्किल है। इसका कारण यह है कि ग्यारहवीं शताब्दी में कानूनी संकल्पनाओं का जिनका दोनों पक्षों ने प्रयोग किया था, ठीक-ठीक अर्थ निश्चित नहीं हो सका था। रोमन तथा धार्मिक विधान के विकास के उपरान्त ही इन संकल्पनाओं का अर्थ निश्चित हो सका था।

सदाचार सम्बन्धी प्रश्नों के बारे में चर्च का अधिकार मान्य था। ग्रिगोरी ने हेनरी चतुर्थ का जिस आधार पर विरोध किया, वह वास्तव में चर्च के इस अधिकार का ही स्वाभाविक लेकिन अतिवादी विकास था। धर्म-पद-विक्रय के अपराध के बारे में ग्रिगोरी केवल अपराधी धर्माचार्य के विरुद्ध ही कार्यवाही नहीं करता था, प्रत्युत् वह लौकिक शासक के विरुद्ध भी कार्यवाही करता था जो समान रूप से दोषी था। जब ग्रिगोरी ने बिशपों को पदाभिषिक्त करना अस्वीकार कर दिया और उसने देखा कि सम्राट् उसकी आज्ञा नहीं मान रहा है, तो उसने अपनी आज्ञप्ति को धर्म-बहिष्कार के दंड के साथ लागू करने का प्रयास किया। यह सूद कोई नई चीज नहीं थी लेकिन ग्रिगोरी ने इसके साथ यह भी बात जोड़ दी कि धर्म-बहिष्कृत राजा ईसाई समाज से बाहर होने के कारण अपने प्रजाजनों की सेवाएँ और निष्ठा कायम नहीं रख सकता। उसने यह तो नहीं कहा कि चर्च अपनी इच्छानुसार शपथों को भंग कर सकता है लेकिन उसने यह अवश्य कहा कि चर्च अन्तरात्मा की अदालत है और वह निष्ठा शपथ को वैधानिक रूप से व्यर्थ घोषित कर सकता है। ग्रिगोरी ने अपनी इस कार्यवाही का आधार चर्च का यह अधिकार बताया था कि वह ईसाई समाज में प्रत्येक सदस्य के ऊपर नैतिक अनुशासन का प्रयोग कर सकता है। सन्त एम्ब्रोज (St Ambroso) की भाँति उसका भी यह तर्क था कि लौकिक शासक स्वयं ईसाई होता है और इसलिए नैतिक तथा आध्यात्मिक मामलों में वह चर्च के नियन्त्रण में रहता है। इसका अर्थ यह हो जाता है कि धर्म-बहिष्कृत करने के अधिकार के साथ-साथ अपदस्थ करने का अधिकार भी शामिल था। हाँ, इसके लिए कुछ कारण अवश्य होने चाहिएँ। चर्च नागरिकों से कह सकता था कि वे सम्राट् के प्रति निष्ठा न रखें। इसका ध्वनितार्थ यह निकलता था कि लौकिक शासन की समन्वयकारी सत्ता समाप्त हो गई थी, इस अर्थ में नहीं कि चर्च लौकिक शासन के कार्यों को करता, प्रत्युत् इस अर्थ में कि चर्च ऐसा अन्तिम न्यायालय हो गया था जिसके निर्णय पर शासक की वैधता निर्भर रहती थी।

हम यह नहीं कह सकते कि ग्रिगोरी अपनी नीति के ध्वनितार्थों के बारे में और उसके पक्ष में दी गयी युक्तियों के बारे में स्वयं कहाँ तक स्पष्ट था। मालूम यह पड़ता है कि ग्रिगोरी सिर्फ यह चाहता था कि चर्च को नैतिक अनुशासन स्थापित करने का अधिकार होना चाहिए। वह चर्च की कानूनी उच्चता स्थापित करने में कोई दिलचस्पी नहीं रखता था। उसका कहना था और उसकी ईमानदारी में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि उसका उद्देश्य गेलासियन सिद्धान्त में कल्पित दुहरी व्यवस्था के अन्तर्गत चर्च की स्वतन्त्रता की रक्षा करना था। इसलिए यह मानने का कोई कारण नहीं है कि वह सैद्धान्तिक रूप से लौकिक मामलों में

लौकिक शासकों के ऊपर नियन्त्रण स्थापित करना चाहता था।[1] यह मानना बिलकुल अनुचित होगा कि उसका तर्क वैधानिक दृष्टि से उतना ही यथार्थ था जितना कि यह दो शताब्दियों बाद जबकि न्यायशास्त्र का पर्याप्त विकास हो गया था, इन्नोसेंट चतुर्थ (Innocent IV) जैसे धर्मेश के हाथों में होता। इसके विपरीत, इसमें भी कोई संदेह नहीं रह जाता कि ग्रिगोरी के दावों का स्वनिर्माण था।

यह भी नहीं है कि ग्रिगोरी वाद-विवाद में कभी-कभी बड़ी असंयमी भाषा का प्रयोग करता था। इसके कारण कभी-कभी उसका पक्ष बड़ा उग्र हो जाता था। १०८१ में उसने हरमन ऑफ मेट्ज (Hermann of Metz) को जो पत्र लिखा था उससे यह बात प्रमाणित हो जाती है।[2] यहाँ वह राजनैतिक शासन को 'विशाल पैमाने पर दिन दहाड़े की डाकेजनी' (highway robbery on large scale) बताता है। ग्रिगोरी के इस अवतरण की तुलना जॉन ऑफ सेलिसबरी (John of Salisbury) के उस अवतरण से की जाती है जिसमें उसने लौकिक शासन को अधिक से दारुण बताया है। ग्रिगोरी का कहना था

"इस बात को कौन नहीं जानता कि राजा और शासक उन लोगों में से बने जो ईश्वर से अपरिचित थे और जिन्होंने लोभ, तथा असह्य अभिमान के कारण गर्व, हिंसा, बेईमानी, हत्या तथा प्रत्येक प्रकार के पाप द्वारा, इस दुनिया के शासक शैतान का उकसाने पर, स्वयं को अपने जैसे मनुष्यों का स्वामी बना दिया।"

जिस समय यह अवतरण लिखा गया था, इसकी तीव्र आलोचना हुई थी। इस अवतरण को चर्च की महत्वमन्यता के उदाहरण के रूप में अनेक बार उद्धृत किया गया है। उस समय का यह सामान्य विश्वास था कि शासन की उत्पत्ति पाप से हुई है। ग्रिगोरी का यह अवतरण इसी विश्वास को तनिक अतिरंजित रूप में प्रकट करता है। तथापि, ग्रिगोरी के अन्य अवतरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह राजपद पर इस प्रकार आक्षेप नहीं करना चाहता था। वह राजा के ऊपर ऐसा ही अनुशासन रखना चाहता था जैसा कि पोप के रूप में अन्य किसी ईसाई के ऊपर। लेकिन, ग्रिगोरी यह भी समझता था कि अनुशासन के अन्तर्गत चर्च का यह अधिकार भी सम्मिलित था कि वह यूरोप के सदाचार का निर्णायक हो सकता था तथा कोई दुराग्रही शासक उसके आध्यात्मिक तथा नैतिक नियन्त्रण को नहीं रोक सकता था। १०८० में रोम की एक कौंसिल में उसने जो शब्द कहे थे, उनसे यह प्रकट हो जाता है कि उसके विचार से धर्माचार्यों को यूरोप के मामलों में किस प्रकार की भूमिका निभानी चाहिए थी.

"पवित्र धर्माचार्यों! आपको इस प्रकार का आचरण करना चाहिए जिससे संसार को यह ज्ञात हो जाये कि यदि आपको यह शक्ति प्राप्त है कि आप किसी व्यक्ति को स्वर्ग में बन्धन में डाल सकते हैं, तो आपको पृथ्वी पर भी यह शक्ति प्राप्त है कि आप मनुष्यों की उनकी योग्यता-

1. Carlyle, op cit, Vol IV (1922), pp 389 ff

2. Quoted by Carlyle op cit, Vol., III (1915), p 94 Cf. also Vol. IV, Part III, Ch. I. ग्रिगोरी की रचनाएँ Bibliotheca rerum Germanicarum, ed. P. Jaffe, Vol. II, Monumenta Gregoriana see p. 457.

नुसार साम्राज्य, राज्य, प्रिन्सिपैलिटिया ड्यूकडम, काउंटियों, तथा अन्य सम्पत्तियाँ प्रदान कर सकते हैं। संसार के समस्त राजाओं और शासकों को यह बात ज्ञात होना चाहिए कि आप कितने महान् हैं और आपकी शक्ति कितनी विशाल है। इन छोटे आदमियों को आपके चर्च के आदेशों को भंग करने से डरना चाहिए।"[1]

ग्रिगोरी के तर्क के अनुसार आध्यात्मिक शक्ति लौकिक शक्ति से बड़ी थी। यदि पीटर को स्वर्ग में आबद्ध तथा स्वतन्त्र करने की शक्ति प्राप्त थी, तो क्या उसे पृथ्वी पर भी आबद्ध और स्वतन्त्र करने की शक्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए? तत्कालीन वाद-विवाद में इस तर्क का कोई महत्त्व नहीं था क्योंकि सामान्य रूप से इसे कोई अस्वीकार नहीं करता था। लेकिन, आध्यात्मिक मामलों के महत्त्व से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि लौकिक शासक अपनी शक्ति चर्च से प्राप्त करते हैं। गेलासियस (Gelasius) या ग्रिगोरी (Gregory) ने ऐसा कोई निष्कर्ष नहीं निकाला। लेकिन, तर्क को इस दिशा में मोड़कर दो तलवारों के परम्परागत सिद्धान्त को निश्चित रूप से पीछे छोड़ा जा सकता था। धार्मिक लेखकों ने बारहवीं शताब्दी में यही किया। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में इस तर्क का और विकास किया गया। चर्च तथा राजसत्ता के वाद-विवाद का यह प्रभाव था। इसने अन्तर्ग्रस्त प्रश्नों को स्पष्ट किया और संवैधानिक तथा न्यायिक प्रश्नों में अधिक निश्चितता का समावेश किया। सामन्तवाद की अधिक व्यवस्थित संकल्पना ने भी इसी उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायता दी। पोपशाही ने दक्षिण इटली तथा यूरोप के अन्य भागों में सामन्ती प्राधिपत्य (feudal suzerainty) की स्थापना की थी। इसके कारण भी उपर्युक्त उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायता मिली।[2] बाद में, जब यूरोप में अरस्तू का अध्ययन बढ़ा, तो आध्यात्मिक शक्ति का अधिक महत्त्व इस बात का स्वयं एक तर्क हो गया था कि निम्नतर को उसके ऊपर आधारित होना चाहिए। अरस्तू प्रकृति का यह सामान्य सिद्धान्त मानता था कि निम्नतर का अस्तित्व उच्चतर के लिए होता है और निम्नतर पर उच्चतर का शासन होना चाहिए।

आग्सबर्ग के होनोरियस (Honorius of Augsburg) ने अपने ग्रंथ *Summa gloria* में, जिसकी रचना ११२३ के आसपास हुई थी, इस बात को दृढ़तापूर्वक सब से पहले कहा था कि लौकिक शक्ति आध्यात्मिक शक्ति से निकलती है।[3] उसने अपना प्रमाण यहूदियों के इतिहास की एक व्याख्या द्वारा निकाला था। उसका कहना था कि साउल (Saul) के राज्याभिषेक तक कोई राजसत्ता नहीं थी। साउल को सैमुअल (Samuel) ने जो स्वयं एक पुरोहित था, अभिषिक्त किया था। यहूदी हजरत मूसा (Moses) के समय से ही पुरोहितों द्वारा शासित होते चले आ रहे थे। इसी आधार पर उसने कहा कि ईसा ने चर्च में पुरोहित शक्ति की

1. Quoted by Carlyle, *op cit*, Vol IV. pp 201, n. 1, Jaffe, *op cit.*, p 404.

2. See Carlyle, *op cit*, Vol. IV, Part III, Ch. IV.

3. M G. H., *Libelli de lite*, Vol. III, pp. 3 ff See Carlyle, *op cit*, Vol IV, pp. 286 ff

स्थापना की। कॉन्स्टेनटाइन (Constantine) के धर्म-परिवर्तन के समय तक ईसाइयों का कोई राजा नहीं था। इसलिये, चर्च ने शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए ईसाई राजसत्ता की स्थापना की। इस व्याख्या के साथ ही कॉन्स्टेनटाइन के दान (Donation of Constantine) की भी सही या गलत व्याख्या थी। इस व्याख्या के अनुसार कान्स्टेनटाइन ने सम्पूर्ण राजनैतिक शक्ति पोप को सौंप दी थी।[1] होनोरियस (Honorius) का कहना था कि कॉन्स्टेनटाइन के समय से सभी सम्राटों ने अपनी साम्राज्य सत्ता पोप की कृपा से प्राप्त की थी। इसी आधार पर उसकी युक्ति थी कि सम्राटों को शासकों की सहमति से पोप द्वारा चुना जाना चाहिए।

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से होनोरियस (Honorius) उग्र था, तथापि वह व्यवहार में अनुदार था। उसका निष्कर्ष था कि लौकिक मामलों में राजाओं का सम्मान होना चाहिए और पुरोहितों को भी उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। वे विचारक तक, जो दो तलवारों के सिद्धान्त को निराधार सिद्ध कर रहे थे, उसे पूरी तरह समाप्त करने के लिए तैयार नहीं थे। होनोरियस (Honorius) ने न्यायिक विश्लेषण की कुछ अनिश्चितता भी प्रकट की। कॉन्स्टेनटाइन के दान (Donation of Constantine) पर आधारित उसका तर्क बड़ा खतरनाक था। यदि पोप की सत्ता प्रत्यायुक्त (delegated) थी तो सम्राट् उस शक्ति को पुन धारण कर सकता था, जो उसने दी थी। सम्भवत, होनोरियस (Honorius) का विचार यह था कि कॉन्स्टेनटाइन सिर्फ ईसाई समाज के अन्तर्गत चर्च के एक अन्त-र्भूत अधिकार को ही मान्यता दे रहा था। प्राय तीस वर्ष बाद जॉन ऑफ सलिसबरी (John of Salisbury) ने अपने ग्रन्थ *Policraticus* में इससे कुछ ज्यादा कठोर नीति अपनाई थी। जॉन का कहना था कि आध्यात्मिक शक्ति निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली होती है। दोनों तलवारों पर चर्च का अधिकार है और चर्च ही शासक को बल-प्रयोग (coercion) की शक्ति देता है।

"पवित्र विधियों को कार्यान्वित करने वाला प्रत्येक पद धार्मिक होता है। जो पद अपराधों का दण्ड देता है वह नीचा होता है। अधिक ऐसा व्यक्तित्व ही इस पद के उपयुक्त है।"[2]

जॉन (John) पदच्युति की शक्ति का भी समर्थन करता था। इस सम्बन्ध में वह डायजेस्ट (Digest) का यह उद्धरण देता था, "जो वैधानिक रूप से दे सकता है, वह वैधानिक रूप से ले भी सकता है।" लौकिक शासक का *ius utendi* होता है, शुद्ध स्वामित्व नहीं। जॉन का यह विचार कदापि नहीं था कि वह अपने इस सिद्धान्त

1. दानपत्र आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पोपालय में गढ़ा गया था। इसका उद्देश्य उस समय इटली में पोप के दावों को पुष्ट करना था। होनोरियस (Honorius) ने इसे सम्पूर्ण साम्राज्य-शक्ति के ऊपर लागू करने का प्रयत्न किया। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि उसने इसके अर्थ को गलत समझा या यह हो सकता है कि उसने इसके अर्थ का जान-बूझकर विस्तार करने का प्रयास किया। इसु विस्तृत अर्थ को पहले नहीं समझा गया था। देखिए *Cambridge Medieval History*, Vol III, p 586 Carlyle, *op cit*, Vol. IV, p. 289

2. *Policraticus*, 4, 3, Dickinson's trans, p 9.

द्वारा राजनैतिक शक्ति के उचित महत्त्व को अथवा राजनैतिक पद की पवित्रता को कम करता।

हेनरी चतुर्थ तथा साम्राज्यवादी
(Henry IV and the Imperialists)

पदाभिषेक सम्बन्धी वाद-विवाद में साम्राज्यवादी पक्षों का दृष्टिकोण पोपवादियों के दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक प्रतिरक्षात्मक था। मुख्यतः वे यथास्थिति (*status quo*) को कायम रखने के पक्ष में थे। इस स्थिति में बिशपों तथा पोप के निर्वाचन पर सम्राट् का बहुत प्रभाव पड़ता था। वे चर्च की स्वतन्त्रता के दावे का विरोध करते थे और सत्ता के दो स्वतन्त्र क्षेत्रों के मान्य सिद्धान्त का समर्थन करते थे। साम्राज्यवादियों के तर्क का मुख्य आधार यह था कि सारी शक्ति—सम्राट् की भी और पोप की भी—ईश्वर की है। मार्च, १०७६ में हेनरी (Henry) ने ग्रिगोरी (Gregory) को जो पत्र लिखा था, उसमें उसने यह बात स्पष्ट कर दी थी।[1] चूंकि उसने अपनी शक्ति चर्च से नहीं, प्रत्युत् सीधे ईश्वर से प्राप्त की थी, इसलिए वह उसके प्रयोग के लिये भी सीधे ईश्वर के प्रति उत्तरदायी था। उसकी जाँच केवल ईश्वर ही कर सकता था। वह नास्तिकता के अतिरिक्त अन्य किसी अपराध के लिए अपदस्थ नहीं किया जा सकता था।

"आपने मेरे ऊपर भी आक्षेप किया है। यद्यपि मैं ईसाइयों में अयोग्य हूँ, लेकिन फिर भी राजपद पर अभिषिक्त हूँ। धर्मपिताओं की परम्परा के अनुसार मेरी जाँच केवल ईश्वर ही कर सकते हैं। मैं उन्हीं समय अपदस्थ किया जा सकता हूँ जबकि मैं धर्म से अलग हट्ूँ। ईश्वर इससे मुझे बचाएँ। मैं अन्य किसी अपराध के लिए अपदस्थ नहीं किया जा सकता।"[2]

धर्मपिताओं की वह परम्परा जिस पर हेनरी निर्भर था, मुख्यतः निष्क्रिय आज्ञापालन के सम्बन्ध में ग्रिगोरी महान् (Gregory the Great) के शक्तिशाली वचन थे। राजकीय सत्ता की सुदृढता का विचार कभी समाप्त नहीं हुआ था। हिंकमार आफ र्हीम्स (Hincmar of Rheims) ने नवीं शताब्दी में कुछ ऐसे विचारों की समीक्षा की थी जो उसके मत से कुछ विद्वानों द्वारा स्वीकृत थे। इन विचारों के अनुसार "राजा कानूनों के अधीन है और ईश्वर के अतिरिक्त उनका कोई अन्य निर्णय नहीं कर सकता।"[3] तथापि, हिंकमार ने इस विचार को "शैतान की भावना से परिपूर्ण" बताया था। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद से यह सिद्धान्त साम्राज्यवादी दृष्टिकोण का एक महत्त्वपूर्ण भाग रहा था। यह सिद्धान्त इस गेलासियन सिद्धान्त के साथ बिलकुल खप जाता था कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। जो चीज ईश्वर ने दी है, उसे ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं ले सकता। यह तर्क निश्चित रूप से शक्तिशाली था, क्योंकि यह पोप के पक्ष के विरुद्ध जाता था। हेनरी (Henry) के विचार से ग्रिगोरी (Gregory) का मुख्य अपराध यह था कि उसने

1. M. G. H., *Constitutions*, Vol. I, No. 62.
2. Quoted by Carlyle, *op. cit*, Vol IV, p. 186, n 1.
3. *Ibid*, Vol I, p 278, n. 2. : See also Vol. III, part II, Ch. IV.

दोनों शक्तियाँ धारण करने का प्रयास किया था और इस प्रकार मानव समाज की ईश्वर की ओर से नियत व्यवस्था का विरोध किया था। आध्यात्मिक और लौकिक का मेल उस मूल उद्देश्य के ही प्रतिकूल था जो ग्रिगोरी की कार्यवाही का मुख्य आधार था। चर्च को स्वतन्त्र करने के बहाने वह उस लौकिक कार्यों में और भी अधिक फँसा देता। इस प्रकार का तर्क ग्रिगोरी के नरम अनुयाइयों को रुचिकर लग सकता था। हेनरी के दृष्टिकोण से ऐसे समस्त मामलों में जिनमें चर्च की अनुचित महत्वाकांक्षा दिखाई देती, उचित धार्मिक उत्तर प्राप्त हो जाता था। हेनरी के तर्क का आधार यह था कि लौकिक सत्ता भी पवित्र है। अपने विशिष्ट क्षेत्र में राजनैतिक शक्ति राजा जेम्स (King James) की शब्दावली में 'स्वतन्त्र राजतन्त्र (free monarchy)' बनी रह सकती थी। इस तथ्य ने राजाओं के दैवी अधिकार को समस्त राजनैतिक परिस्थितियों में धार्मिक हस्तक्षेप का विरोध करने के लिए एक मानव तर्क का रूप दे दिया था।

यद्यपि सम्राट् का बारम्बार धार्मिक समर्थन किया गया था, लेकिन इनमें तर्कयुक्त विन्यास का बहुत कम अवसर था। यह बात न्यायिक तर्कों के बारे में सही नहीं थी। आगे चलकर विधिवेत्ता लौकिक शक्ति के सब से योग्य और प्रभावशाली समर्थक सिद्ध हुए। शुरू में इस प्रकार की तर्क-प्रणाली ज्यादा विकसित नहीं हुई थी। लेकिन बाद के वाद-विवादों में, उदाहरण के लिए बोनीफेस अष्टम (Bonifice VIII) और फिलिप दि फेयर ऑफ फ्रांस (Philip the Fair of France) के वाद विवादों में इस तर्क-प्रणाली का काफी विकास हुआ। फिर भी श्रीगणेश अच्छे ढंग से हुआ। इनमें सब से पहली रचना पीटर क्रासस (Peter Crassus) की Defensio Henrici IV regis (१०८४) थी।[1] पीटर क्रासस रावेना (Ravenna) में रोमन-विधि का अध्यापक था। पीटर ने हेनरी (Henry) और ग्रिगोरी (Gregory) के विवाद को वैधानिक आधार पर परखने का प्रयास किया। पीटर क्रैसस (Peter Crassus) के तर्क का सार यह था कि आनुवंशिक उत्तराधिकार का अधिकार अखण्ड है। उसका कहना था कि पोप या हेनरी के विद्रोही प्रजाजनों को उसकी राजसम्पत्ति में जो उसने अपने पिता और अपने पितामह से उत्तराधिकारी के रूप में अर्जित की थी, हस्तक्षेप करने का उसी प्रकार अधिकार नहीं था, जिस प्रकार वे लोग किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति को नहीं छीन सकते थे। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में पीटर रोमन विधि, दैवी विधि और प्राकृतिक विधि (ius gentium) को आधारस्वरूप मानता था। इस तर्क का रोमन विधि के अन्तर्गत निरूपित साम्राज्य सत्ता के सवैधानिक सिद्धान्तों से जिसका प्राचीन काल में या मध्यकाल के विधिवेत्ताओं ने वर्णन किया था, कोई सम्बन्ध नहीं था। यह सिद्धान्त निर्वाचित राजतन्त्र के बिलकुल अनुपयुक्त था। पीटर के सिद्धान्त ने दैवी अधिकार तथा अखण्ड आनुवंशिक अधिकार के अन्तःसम्बन्ध का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त

---

1 M. G. H., Libelli de lite, Vol I, pp. 432 ff See Carlyle, *op cit*, Vol IV, pp 222 ff

में कोई खास विशेषता नहीं थी। इस सिद्धान्त से केवल यह प्रवृत्ति ज्ञात होती थी कि विचारक वैधानिक सकल्पनाओं के प्रयोग द्वारा लौकिक शक्ति का समर्थन करने लगे थे। पोप विरोधी तर्क का एक अन्य महत्त्वपूर्ण रूप यार्क ट्रैक्टों (York Tracts)[1] में पाया जाता है। इन ट्रैक्टों का प्रणयन ११०० के लगभग ऐंसेल्म (Anselm) और इगलैंड के हेनरी प्रथम (Henry I) के बीच पदाभिषेक सम्बन्धी वाद-विवाद में हुआ था। पदाभिषेक के प्रश्न पर लेखक के तर्क का मूल्यांकन करना कठिन है। उसने बिना किसी दलील के यह कहा है कि राजा की सत्ता बिशप से ऊँची होती है राजा को बिशपों के ऊपर शासन करना चाहिए और राजा को अधिकार है कि वह चर्च की कौंसिल आहूत करे और उनकी अध्यक्षता करे। फिर भी, उसने राजा को यह अधिकार नहीं दिया कि वह बिशपों को आध्यात्मिक सत्ता से पदाभिषिक्त कर सकता है। इससे भी अधिक रोचक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस लेखक ने चर्च के सम्बन्ध में ग्रिगोरी की सर्वोच्च सत्ता के दावे पर आक्षेप किया है। बाद के वाद-विवादों में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह था कि लोग आध्यात्मिक सत्ता के स्वरूप की तथा उसमें पोप के भाग की कठोरतापूर्वक आलोचना करने लगे। पहले के एक ट्रैक्ट में जो रोएं (Rouen) के अपदस्थ आर्कबिशप के समर्थन में लिखा गया था, लेखक ने पोप के इस दावे को अस्वीकार किया कि वह अन्य बिशपों पर नियन्त्रण रख सकता है। उसका कहना था कि आध्यात्मिक मामलों में सभी बिशप समान हैं, वे अपनी सत्ता सीधे ईश्वर से प्राप्त करते हैं और उनके कार्यों की अच्छाई-बुराई का निर्णय सिर्फ ईश्वर ही कर सकता है। रोम का बिशप जिस वास्तविक शक्ति का प्रयोग करता था, उसे उसने अनधिग्रहण (usurpation) कहा। उसने इसे एक ऐतिहासिक सयोगमात्र बताया जो इस तथ्य पर निर्भर था कि रोम साम्राज्य की राजधानी रहा था।[2] एक अन्य ट्रैक्ट में उसने कहा कि रोम का नहीं, प्रत्युत् चर्च का ही आज्ञापालन करना चाहिए,[3] "केवल चुने हुए लोगों तथा ईश्वर पुत्रों को ही ईश्वर का चर्च कहा जा सकता है।" यार्क ट्रैक्टों में उन तर्कों के भी कुछ अकुर मिलते हैं जिसका विकास दो शताब्दियों बाद मार्सीलियो ऑफ पाडुआ (Marsilio of Padua) ने अपने ग्रंथ *Defensor Pacis* में किया। मारसिलिओ ऑफ पाडुआ ने आध्यात्मिक सत्ता को एक शक्ति के रूप में नहीं, प्रत्युत शिक्षा देने और प्रचार करने के एक अधिकार के रूप में वर्णित किया। आध्यात्मिक सत्ता को जितना अधिक परलोक सम्बन्धी महत्त्व दिया जाए, उतना ही अधिक उनके लिए यह आवश्यक है कि वह लौकिक सत्ता को विधि और राजनीति के क्षेत्र में अनियन्त्रित छोड़ दे। इस तर्क-पद्धति में यार्क ट्रैक्टों का तर्क सब से पहला कुछ-कुछ अनिश्चित-सा चरण था।

---

1. *Ibid*, Vol III, pp 642 ff, especially Tract IV. See Carlyle, *op*, *cit*, Vol. IV, pp. 273 ff

2. Tract III.

3 Tract VI

इस वाद-विवाद ने ग्यारहवीं शताब्दी में लौकिक सत्ता की बुनियाद की परीक्षा को भी प्रोत्साहन दिया। ग्रिगोरी ने सम्राट् को अपदस्थ करने की जो कोशिश की थी, उसमें यह समस्या अन्तर्निहित थी। सम्राट् के समर्थकों का कहना था कि सम्राट् का अधिकार निरपेक्ष है। इसके जवाब में पोप के समर्थकों का कहना था कि सम्राट् की सत्ता कुछ शर्तों पर टिकी होती है और इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके प्रजाजन उसकी आज्ञाओं का हर दशा में पालन करें। राजनैतिक दायित्व कुछ शर्तों पर टिका होता है अथवा संविदागत होता है, यह बात सामन्तवाद के व्यवहार में तो निहित थी ही, यह सिद्धान्त प्राचीन काल की उस परम्परा में भी निहित था, जिसे चर्च के संस्थापकों ने छोड़ा था। प्राचीन काल का यह सूत्र कि विधि और शासन को न्याय का सहायक होना चाहिए, राजनैतिक दायित्व के संविदागत स्वरूप की वृद्धि में विशेष रूप से सहायक था। इसलिए, एक सच्चे राजा और अत्याचारी में आधारभूत अन्तर है। इसका अभिप्राय यह है कि कुछ परिस्थितियों में अत्याचारी शासक का विरोध किया जा सकता है। ग्यारहवीं शताब्दी में मानेगोल्ड ऑफ लाउटेनबाख (Manegold of Lautenbach) ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।[1] बारहवीं शताब्दी में जॉन ऑफ सेलिसबरी (John of Salisbury) ने अपनी पुस्तक *Polecraticus* के आठवें अध्याय में इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त का निरूपण किया कि अत्याचारी शासक का वध किया जा सकता है। इनमें से किसी ने भी यह नहीं कहा कि राजनैतिक सत्ता का महत्त्व कम होता है। उन्होंने तो राजनैतिक सत्ता के महत्त्व पर जोर ही दिया है। सच्चा राजतन्त्र जितना पवित्र होता है, अत्याचारी शासन उसी अनुपात में भयंकर होता है। लेकिन, राजपद का मूलतत्त्व शक्ति में नहीं, प्रत्युत पद में है। इसलिए, किसी व्यक्ति का पद के सम्बन्ध में अधिकार चिरस्थायी नहीं हो सकता। मानेगोल्ड (Manegold) का कहना है कि यदि कोई राजा अपने पद के कर्त्तव्यों का उचित रीति से निर्वहन नहीं करता, तो उस राजा को पदच्युत किया जा सकता है। इस प्रकार, उसने राजा तथा उसकी प्रजा के बीच संविदा (*pactum*) के अपेक्षाकृत एक निश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

"कोई भी व्यक्ति स्वयं राजा या सम्राट् नहीं बन सकता। प्रजा किसी व्यक्ति को इसलिए शासक बनाती है कि वह न्यायपूर्ण रीति से शासन कर सके। वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ उसकी योग्यता के अनुरूप व्यवहार करे। वह अच्छे आदमियों की सहायता करे और बुरे आदमियों को दण्ड दे। यदि वह उस समझौते का उल्लंघन करता है जिसके अनुसार वह चुना गया था, यदि वह उन कार्यों में ही अव्यवस्था लाता है जिनमें व्यवस्था लाने के लिए उसे चुना गया था, तो बुद्धि का यह तकाजा है कि वह प्रजा के आज्ञापालन के अधिकार से वंचित हो जाए, विशेषकर उस समय जबकि उसने स्वयं ही उस विश्वास को एक सूत्र में आबद्ध किया था।"[2]

---

1. Ad Gebehardum (इसकी रचना १०८० और १०८५ के बीच में हुई थी), M. G. H., Libelli de lite, Vol I, pp 300 ff, see Carlyle *op cit*, Vol III, pp. 160 ff.

2 Quoted by Carlyle, *op cit*, Vol III, p 164, n I.

इसलिए, प्रजा शासक के प्रति उसी समय तक निष्ठावान् रहती है जब तक कि शासक विधि-सम्मत कार्य करता है। यदि शासक अत्याचार करता है, तो प्रजा भी उसके प्रति निष्ठावान् नहीं रहती। जहाँ तक राजा को पदच्युत करने की पोप की शक्ति का सम्बन्ध है, मानेगोल्ड (Manegold) का कहना था कि अन्तराल की अदालत को एक सम्पन्न कार्य के ऊपर निर्णय देने का अधिकार है। ग्रिगोरी के कार्य का इस आधार पर समर्थन किया गया, क्योंकि उसने एक ऐसे कार्य को सार्वजनिक रूप से रद्द कर दिया था जो मूलतः अवैध था। यह सिद्धान्त कि राजा का अपनी प्रजा से संविदागत सम्बन्ध होता है, इस सिद्धान्त के कि राजा के पद की उत्पत्ति दैवी होती है, प्रतिकूल नहीं पड़ता था।

मानेगोल्ड का संविदा का सिद्धान्त राजा को पदच्युत करने के पोप के अधिकार का पूरी तरह समर्थन नहीं करता था। वास्तव में प्रजा के ऊपर राजसत्ता की निर्भरता का यह भी अर्थ निकाला जा सकता था कि वह चर्च से स्वतन्त्र है। यह दृष्टिकोण रोमन विधि के संवैधानिक सिद्धान्त से और दो तलवारों के भेद के सम्बन्ध में राजतन्त्रवादियों के आग्रह से मेल खाता था। इस सिद्धान्त के विकास के फलस्वरूप ऐतिहासिक दृष्टान्तों की गहरी छान-बीन हुई। उदाहरण के लिए पोप की पदच्युति की शक्ति के समर्थन में इस बात की परख की गई कि मेरोविंगियन राजवंश (Merovingian dynasty) को किस प्रकार पदच्युत किया गया और पिप्पिन (Pippin) को किस प्रकार मुकुट दिया गया।[1] इस घटना से निष्कर्ष यह निकाला गया कि 'शासकों की समान स्वीकृति' से ही पुराने राजा को पदच्युत किया गया था और नए राजा को चुना गया था। इस कार्य में पोप की केवल मंजूरी ली गई थी। यह दृष्टिकोण ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक था और इसने ग्रिगोरी के तर्क की दुर्बलता सिद्ध कर दी थी। यह रोचक भी था। इसने सम्राट् की स्वतन्त्रता के पक्ष में एक ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किया। इसने सिद्ध किया कि किसी शासक को पदच्युत करने अथवा किसी को अभिषिक्त करने के लिए लौकिक शासकों का निर्णय ही पर्याप्त संवैधानिक आधार है।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों के वाद विवाद ने यह सिद्ध कर दिया कि लौकिक और आध्यात्मिक शक्तियों के सम्बन्ध बहुत अस्थिर और अस्पष्ट थे। दोनों पक्ष इस परम्परा के विभिन्न पहलुओं पर जोर देते थे। दोनों पक्षों में कुछ-न-कुछ तत्त्व था। पोपवादी आध्यात्मिक शक्ति की नैतिक उच्चता पर जोर देते थे। राजाओं के समर्थक दोनों शक्तियों को एक-दूसरे से स्वतन्त्र बताते थे। यह वाद विवाद तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों के वाद विवादों में भी चलता रहा था। ये तर्क इन वाद विवादों के एक अभिन्न भाग थे। ज्यों-ज्यों प्रत्येक पक्ष ने अपने तर्क का विकास किया यह भी स्पष्ट होता गया कि आगे वाद-विवाद किस

1 १०८० और १०८५ के बीच में किसी अज्ञात लेखक के द्वारा लिखा गया ट्रैक्ट *De Unitate ecclesiae conservanda* देखिए। यह ट्रैक्ट ग्रिगोरी द्वारा हरमन आफ मेट्ज़ (Herman of Metz) को लिखे गए दूसरे पत्र के जवाब में था। M [illegible] H. *Libelli de lite* Vol II, pp 173 ff See Carlyle, *op cit*, Vol. IV. pp. 242 ff.

रूप में चलेगा। चर्च को नैतिक दृष्टि से तो उच्च माना ही जाता था। उसकी वैधानिक उच्चता को सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक था कि उसके पक्ष में कुछ अधिक निश्चित न्यायिक और संवैधानिक दलीलें पेश की जायें। इसका अभिप्राय यह था कि चर्च का कार्य केवल शिक्षा तथा प्रेरणा देने तक ही सीमित रखा जाय। उसमें बल-प्रयोग का अंश बिलकुल न रहे। लौकिक शक्ति के पक्ष में भी दो प्रकार के तर्कों का संकेत मिलने लगा था। एक तर्क तो यह था कि लौकिक शासक सीधे ईश्वर के प्रति उत्तरदायी हैं। उनके तथा ईश्वर के बीच में कोई सांसारिक मध्यस्थ नहीं है। दूसरा तर्क यह था कि लौकिक समाज ईश्वर के नियन्त्रण में रहता हुआ अपनी शासन-व्यवस्था स्वयं कर सकता है।

Selected Bibliography

Saint Gregoire VII By H X Arquilliere Paris, 1934

"Gregory VII and the First Contest between Empire and Papacy" By Z N Brooke In *The Cambridge Medieval History* Vol V (1926), Ch II

A History of Medieval Political Theory in the West By R W Carlyle and A J Carlyle 6 Vols New York and London 1903 36 Vol IV, The Theories of the Relation of the Papacy and the Empire from the Tenth Century to the Twelfth, 1922

"Republica Christiana" By John Neville Figgis in *Transactions of the Royal Historical Society*, Third Series, Vol V (1911) p 63 (Reprinted in *Churches in the Modern State*, London, 1913 Appendix I)

The Medieval Empire, By H A L Fisher 2 Vols London, 1898 Ch X

Political Theories of the Middle Age By Otto Gierke Trans by F W Maitland Cambridge 1900 (From *Das deutsche Genossenschaftsrecht*, Vol III)

"Roman and Canon Law in the Middle Ages" By Harold Dexter Hazeltine In *The Cambridge Medieval History* Vol V (1926), Ch XXI

"Political Thought By E F Jacob In *The Legacy of the Middle Ages* Ed G C Crump and E F Jacob Oxford, 1920

"The Investiture Contest and the German Constitution" By Paul Joachimsen In *Mediaeval Germany 911 1250 Essays by German Historians* Trans by Geoffrey Barraclough 2 Vols Oxford, 1938 Vol II, Ch 4

Die Publizistik im Zeitalter Gregors VII By Carl Mirbt Leipzig, 1894

Church State and Christian Society at the Time of the Investiture Contest, By Gerd Tellenbach Trans By R F. Bennett, Oxford, 1940

'The Monistic Orders". By Alexander Hamilton Thompson. In *The Cambridge Medieval History*, Vol. V (1926), Ch XX

Feudal Germany By James Westfall Thompson Chicago, 1928 Ch VII

Roman Law in Medieval Europe By Paul Vinogradoff London, 1909

Pope Gregory VII and the Hildebrandine Ideal By J P Whitney In *Church Quarterly Review* Vol LXX (1910), p. 414.

'Gregory VII" By J P Whitney, In Eng Hist Rev Vol. XXXIV (1919) p 129

'The Reform of the Church" By J P Whitney, in *The Cambridge Medieval History*, Vol V (1926) Ch I

अध्याय ११

सार्वभौम समाज

(Universitas Hominum)

पिछले अध्याय मे हमने जिन विवादास्पद ट्रैक्टो का उल्लेख किया है विद्वत्ता की दृष्टि से उनका कोई ज्यादा असर नही पडा। बारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे असाधारण बौद्धिक नवजागरण आरम्भ हुआ। इस बौद्धिक नवजागरण के फलस्वरूप यूरोप के इतिहास मे तेरहवी शताब्दी अत्यधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस बौद्धिक क्रियाशीलता के केन्द्र दो नए स्थापित विश्वविद्यालय पेरिस और आक्सफोर्ड थे। ईसाई धर्म के दो मेंडिकेंट सम्प्रदायो डोमिनिकन (Dominican) और फ्रांसिसकन (Franciscan) ने भी बौद्धिक नवजागरण मे सराहनीय योग दिया। ये विश्वविद्यालय शीघ्र ही असाधारण सक्रिय बौद्धिक जीवन के केन्द्र हो गए। इन विश्वविद्यालयों ने छात्रो को बडी सख्या मे अपनी ओर आकृष्ट किया। इन विश्वविद्यालयो के अध्यापक अपने युग के सबसे प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इन लोगो ने विज्ञानो, विशेषकर दर्शन और धर्मशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया। इन विश्वविद्यालयो के साथ ही महान् विधि विद्यालयों (Law Schools) की भी चर्चा की जानी चाहिए। इन विद्यालयों ने बारहवी और तेरहवीं शताब्दियो मे रोमन विधि का पुनरुद्धार किया। मेंडिकेंट सम्प्रदायो ने विश्वविद्यालयो के विकास में आरम्भ से ही योग दिया। इन सम्प्रदायों ने अपने सदस्यों के प्रशिक्षण के लिए विधिवत् पाठ्यक्रमो की व्यवस्था की। तेरहवीं शताब्दी के अधिकांश मौलिक विद्वान् इन्ही सम्प्रदायो के सदस्य थे। अल्बर्ट महान् (Albert the Great) और थामस एक्विनास (Thomas Aquinas) डोमिनिकन सम्प्रदाय के और डन्स स्कोटस (Duns Scotus) तथा रोगर बेकन (Roger Bacon) फ्रांसिसकन सम्प्रदाय के सदस्य थे।

विश्वविद्यालय तथा सम्प्रदाय नये ज्ञान विज्ञान के प्रसार के साधन थे। इस काल मे प्राचीन काल की अनेक वैज्ञानिक कृतियो का भी अन्वेषण हुआ। अरस्तू की बहुत-सी रचनाएँ तथा उन पर अरबी और यहूदी विद्वानों की टीकाएँ उपलब्ध हुईं। मध्ययुग के आरम्भ मे अरस्तू की केवल तर्कशास्त्र सम्बन्धी रचनाओ का ही लोगो को पता था। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ मे अरस्तू की वैज्ञानिक कृतियो का भी पता चलने लगा। शुरू मे तो वे अरबी रूपान्तरो के लैटिन अनुवादों के रूप में सर्वों मे प्राप्त हुईं। बाद में मूल यूनानी से अनूदित सम्पूर्ण कृतियाँ हाथ आने लगी। इटली के अतिरिक्त इन पुस्तकों का एक अन्य मूर स्रोत स्पेन था। वहाँ टोलेडो के बिशप (Bishop of Toledo) ने अन्य कई विद्वानों के सहयोग से अरस्तू की रचनाओं का अनुवाद प्रारम्भ किया। चूँकि स्पेन का मूर लोगों से सम्पर्क था, इसलिए उन्हें अरबी पाठ आसानी से मिल जाते थे। मोरबीक के विलियम (William of Moorbeke) ने १२६० मे अरस्तू की पॉलिटिक्स का मूल यूनानी से अनुवाद

किया। राजनैतिक चिन्तन के इतिहास मे यह अनुवाद अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रमाणित हुआ। थॉमस (Thomas) ने अरस्तू के दर्शन का समग्र चित्र प्रस्तुत करने के लिए जो सामान्य प्रयत्न किया था, वह अनुवाद भी उसका एक भाग था। अरस्तू के इस पुनरुत्थान का पश्चिमी यूरोप के बौद्धिक विकास पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इस सम्बन्ध मे जितना कहा जाए, थोड़ा है। इसके कारण तत्कालीन विद्वानो को ऐसा दुर्लभ ज्ञानकोष प्राप्त हो गया जिसकी मध्ययुग के शुरू मे कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यह ज्ञानकोष भौतिक शास्त्र (Physics), प्राणिशास्त्र (Zoology), मनोविज्ञान (Psyschology), नीतिशास्त्र (ethics), और राजनीति जैसे विशिष्ट शास्त्रों में विभाजित और क्रमबद्ध था। इन शास्त्रो में समन्वय स्थापित किया गया और इनके आधार पर प्रकृति के सम्बन्ध मे एक क्रमबद्ध कल्पना का विकास किया गया। इस कल्पना के पहले सिद्धान्तो को अध्यात्मशास्त्र के रूप मे प्रस्तुत किया गया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अरस्तू ने मध्ययुग को यूनान के बौद्धिक जीवन का एक नवीन दृष्टिकोण और यह विश्वास प्रदान किया कि विवेक ही वह कुंजी है जो प्राकृतिक जगत् के ज्ञान के बन्द द्वारो को खोल सकती है। यह प्रेरणा तेरहवीं शताब्दी से अब तक चली आ रही है और पूरी तरह से अभी समाप्त नहीं हुई है। शुरू मे अरस्तू के सिद्धान्तो को हृदयगम करने के लिए अत्यधिक बौद्धिक प्रयत्न की आवश्यकता पड़ी। अरस्तू के सिद्धान्तो का ईसाई विश्वासों के अनुरूप भाष्य करना और फिर उसके आधार पर प्राकृतिक और धार्मिक ज्ञान का एक समन्वित चित्र प्रस्तुत करना काफी मुश्किल कार्य था।

अरस्तू की खोज का आगे चलकर तो प्रभाव पड़ा ही, उसका तात्कालिक महत्व भी कम नही था। पॉलिटिक्स (Politics) के अनुशीलन ने विषय की उपस्थापन शैली मे सुधार किया। अनुशीलन के परिणामस्वरूप विवेच्य विषयों की मानक सूची, पारिभाषिक शब्दो और सकल्पनाओ तथा सामग्री के विन्यास के सम्बन्ध में लोगों की धारणाएँ बहुत स्पष्ट हो गई। सोलहवीं शताब्दी तक राजनीति के सम्बन्ध मे ऐसा कोई ग्रन्थ लिखना सम्भव नही था जिस पर पॉलिटिक्स का ऋण न रहा हो। लेकिन, अरस्तू के तर्कों को स्वीकार करने से उस समय के मूल राजनैतिक विश्वासों म या उस समय की यथार्थ समस्याओ के स्वरूप मे कोई अन्तर नहीं हुआ। नगर राज्य को आधार मान कर अरस्तू ने जिन सिद्धान्तों का निर्माण किया था, वे मध्ययुगीन समाज के ऊपर यथावत् लागू नहीं हो सकते थे। इन सिद्धान्तो मे काफी संशोधन की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त, थॉमस (Thomas) की यह इच्छा नही थी कि वह राजनैतिक और सामाजिक परम्परा की उस महान् राशि से अलग हट जाए जो चर्च के सस्थापको के पास से तेरहवीं शताब्दी तक चलती आई थी। थॉमस की दृष्टि मे अरस्तू के सिद्धान्तो का महत्त्व यह नही था कि उनके आधार पर नये सिद्धान्तों का निर्माण किया जाए। वह अरस्तू के सिद्धान्तों के सहारे सुनिश्चित विश्वासो की पुष्टि करना चाहता था। तेरहवीं शताब्दी मे नए विद्वानों का मुख्य ध्यान धर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र की ओर था, राजनैतिक दर्शन की ओर नहीं। चौदहवीं शताब्दी मे राजनैतिक ग्रन्थों का निर्माण अधिक सख्या में हुआ।

जॉन ऑफ सेलिसबरी
(John of Salisbury)

अरस्तू के पुनरुद्धार से राजनैतिक दर्शन की मुख्य धाराओं में तुरन्त ही कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ११५९ में जॉन ऑफ सेलिसबरी ने पोलिक्रैटिकस (Policraticus) नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[1] इस ग्रन्थ के अध्ययन से उपर्युक्त मत की पुष्टि हो जाती है। इस ग्रन्थ का महत्त्व यह है कि इसने मध्ययुग में राजनैतिक दर्शन पर विस्तृत और व्यवस्थित रूप से सबसे पहली बार विचार किया है। अरस्तू के पुनरुद्धार से पहले इस ढंग की यह अकेली पुस्तक थी। इसमें उस प्राचीन परम्परा का संकलन किया गया है जो सिसरो (Cicero), सेनेका (Seneca), चर्च के संस्थापकों और रोमन विधिवेत्ताओं के पास से होती हुई बारहवीं शताब्दी तक आई थी। इस ग्रन्थ में बड़ी ईमानदारी से उन विश्वासों को प्रकट करने का प्रयत्न किया गया था जिन्हें बारहवीं शताब्दी में सब लोग मानते थे और जहाँ तक उस समय ज्ञात था, हमेशा से मानते आए थे। जिस समय जॉन ऑफ सेलिसबरी ने ग्रन्थ प्रणयन किया था, समाज में सामन्तवाद का बोल बाला था। लेकिन, इस ग्रन्थ पर समाज के सामन्तवादी संगठन की बहुत कम छाप है।

जॉन का आदर्श कॉमनवेल्थ रेस पब्लिका (*res publica*) का था। सिसरो की भाँति उसने भी एक ऐसे समय की कल्पना की थी "जो विधि तथा अधिकारों के बारे में समान सहमति" से बँधा हो। सामन्तवाद के केन्द्रापसारी प्रभाव के बावजूद जॉन के राजनैतिक दर्शन में मुख्य विचार एक ऐसी जनता का था जो एक सार्वजनिक सत्ता द्वारा शासित होती है। यह सार्वजनिक सत्ता सामान्य हित के लिए कार्य करती है और विधिसम्मत होने के कारण नैतिक दृष्टि से न्यायसंगत होती है।

जॉन के विचार से विधि सब जगह मौजूद रहने वाला वह सूत्र है जो समस्त मानव सम्बन्धों के बीच में समाया रहता है। इन मानव सम्बन्धों में शासक और शासित के सम्बन्ध भी शामिल हैं। इसलिए, विधि का पालन राजा और प्रजा दोनों को ही समान रूप से करना पड़ता है। जॉन ने सच्चे राजा और अत्याचारी राजा के भेद को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। मध्ययुग में राजनैतिक साहित्य में उसने पहली बार यह प्रतिपादित किया कि अत्याचारी शासक का वध करना उचित है। 'जो व्यक्ति तलवार को हाथ में लेता है, उसका तलवार से मरना उचित है।"

> "अत्याचारी शासक और शासक में एकमात्र अथवा मुख्य अन्तर यह है कि शासक विधियों का पालन करता है और जनता के ऊपर उनके अनुसार ही शासन करता है और स्वयं को उनका सेवक मात्र मानता है। इस विधि के कारण ही राज्य के शासन प्रबन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।"[2]

---

1. इस ग्रन्थ का मानक संस्करण सी० सी० जे० वेब (आक्सफोर्ड १९०९) का है। इसके कुछ अंशों का अनुवाद डिकिंसन (Dickinson) ने The Statesman's Book of John of Salisbury के नाम से किया है (न्यूयार्क १९२७)। डिकिंसन की प्रस्तावना उत्कृष्ट है।

2. Bk. IV, Ch. I, Dickinson's trans., p. 3.

"विधि के कुछ पहलू ऐसे हैं जिनकी सदैव आवश्यकता बनी रहती है। वे सभी राष्ट्रों में समान रूप से लागू होते हैं। यदि उन्हें तोड़ा जाता है, तो दण्ड मिलना आवश्यक है। राजाओं के प्रशंसक चिल्ला कर यह कह सकते हैं कि शासक कानून के नियन्त्रण में नहीं है। उसकी इच्छा ही कानून है। उसके ऊपर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं हैं। लेकिन, फिर भी मैं यही कहूँगा कि राजा विधि द्वारा बंधे होते हैं।"[1]

जॉन ने अत्याचारी शासक का वध करना उचित ठहराया है। इसके अतिरिक्त उसके विधि सम्बन्धी सिद्धान्त में तथा उसकी सार्वभौम मान्यता में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे थॉमस सहमत न हो। जॉन ने इस विचार को अधिकतर सिसरो की शब्दावली में व्यक्त किया था। थॉमस ने इसकी व्याख्या अरस्तू की पारिभाषिक शब्दावली में की। दोनों ही व्यक्ति विधि की सार्वभौमिकता के कायल थे।

सेंट थॉमस : प्रकृति और समाज

(St. Thomas : Nature and Society)

अरस्तू की रचनाएँ ईसाई यूरोप को यहूदी तथा अरबी स्रोतों से प्राप्त हुईं। उसे ये रचनाएँ शुरू-शुरू में नास्तिक प्रतीत हुईं। इनके सम्बन्ध में चर्च की पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि इन पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाए। १२१० में और उसके बाद पैरिस विश्वविद्यालय में उनका प्रयोग निषिद्ध कर दिया गया था। तथापि, यह निषेध बहुत कारगर नहीं हुआ। चर्च ने यह बुद्धिमत्ता का कार्य किया कि उसने निषेध की अपेक्षा पुनर्निर्माण पर ज्यादा जोर दिया। मध्ययुगीन ईसाई धर्म की बौद्धिक उर्वरता का इससे बढ़कर और कोई साक्ष्य नहीं हो सकता कि उसने न केवल अरस्तू के दर्शन का स्वागत ही किया, प्रत्युत् उसे रोमन कैथोलिक दर्शन का आधारस्तम्भ बना दिया। कहाँ तो अरस्तू के दर्शन को ईसाई धर्म का विरोधी माना गया था और कहाँ एक शताब्दी से कम समय में ही उसका ईसाई धर्म की दृष्टि से पुनराख्यान किया गया। यह कार्य मेंडिकेंट सम्प्रदायों (Mendicant Orders) के शिक्षकों ने विशेषकर दो डोमिनिकनों (Dominicans) एल्बर्ट महान् और उनके महत्तर शिष्य थॉमस एक्विनास (Thomas Aquinas) ने किया। यह सही है कि इस विजय की पूर्णता और स्थायित्व को अतिरंजित रूप में समझा गया था।

थॉमस के ईसाईकृत अरस्तू के अलावा तेरहवीं शताब्दी के बाद से एवारोइस्ट परम्परा (Averroist tradition) का ईसाई विरोधी अरस्तू भी था। परम्परागत धर्मशास्त्र की सीमाओं के भीतर भी डंस स्कोटस (Duns Scotus) और विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) जैसे फ्रांसिसकन विचारकों को विश्वास तथा विवेक के उस घनिष्ठ सश्लेषण में सदैव सन्देह रहा जिसके लिए थॉमस ने प्रयत्न किया था। चौदहवीं शताब्दी में ये विचार सम्बन्धी मतभेद सामान्य दर्शन के साथ-साथ राजनैतिक दर्शन में भी दृष्टिगत हुए।

थॉमस के दर्शन का मूलमन्त्र यह था कि उसने एक सार्वभौमिक संश्लेषण (universal synthesis), एक सर्वांगीण व्यवस्था (an all-embracing system)

1. Bk IV, Ch. VII. *ibid*, pp. 33. t.

के निर्माण का प्रयास किया। इस व्यवस्था का आधार समरसता (harmony) और समंजसता (consistence) था। ईश्वर और प्रकृति अत्यन्त व्यापक हैं। उनके विशाल प्रांगण में हर प्रकार की विविधता सम्भव है। मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान एक अखण्ड इकाई है। विशिष्ट विज्ञानों का क्षेत्र व्यापक होते हुए भी सर्वमुलभ नहीं होता। प्रत्येक विज्ञान का एक अपना विशेष विषय होता है। इन सब से ऊपर दर्शन होता है। दर्शन एक बुद्धिसंगत शास्त्र है। वह समस्त विज्ञानों के सार्वभौमिक सिद्धान्तों की रचना का प्रयास करता है। बुद्धि से भी ऊपर ईसाई धर्मशास्त्र है। ईसाई धर्मशास्त्र सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की पराकाष्ठा है। यह दैवी अनुभूति पर निर्भर है, यद्यपि अनुभूति बुद्धि से ऊपर है। वह बुद्धि के प्रतिकूल नहीं है। धर्मशास्त्र उस व्यवस्था को पूर्ण कर देता है जिसके विज्ञान और दर्शन केवल भाग हैं। वह इस व्यवस्था की अविच्छिन्नता को कदापि समाप्त नहीं करता। धर्म बुद्धि की परिपूर्णता है। धर्म और बुद्धि मिलकर ही ज्ञान के मन्दिर का निर्माण करते हैं। उनका एक दूसरे से संघर्ष नहीं होता।

थॉमस ने प्रकृति की जो तस्वीर खींची थी, वह उसकी ज्ञान सम्बन्धी योजना से पूरी तरह मेल खाती थी। ब्रह्माण्ड एक प्रकार की शृंखला है जिसमें सब से ऊपर ईश्वर है और नीचे अन्य प्राणी। ये सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार पूर्णता को प्राप्त करना चाहते हैं। वे अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करते हैं। वे अपनी पूर्णता के अनुसार ही प्रकृति की शृंखला में अपना उचित स्थान प्राप्त करना चाहते हैं। अधिक पूर्ण प्राणी अपने से निम्न प्राणी के ऊपर शासन करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि ईश्वर संसार के ऊपर शासन करता है और आत्मा शरीर पर। प्रत्येक प्राणी का, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, अपना एक महत्व होता है। उसका अपना एक स्थान, अपने कर्तव्य, अपने अधिकार होते हैं। इनके द्वारा ही वह सम्पूर्ण में योग देता है। इस सम्पूर्ण योजना का एक प्रयोजन है। इस व्यवस्था में मनुष्य समस्त जीवित प्राणियों के बीच एक विशेष स्थान रखता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की केवल शारीरिक प्रकृति ही नहीं होती, उसकी एक बौद्धिक और आध्यात्मिक आत्मा भी होती है जिसके कारण वह ईश्वर के समीप होता है। समस्त प्राणियों में अकेला वही ऐसा है जिसके शरीर और आत्मा दोनों हैं। इसी आधारभूत तथ्य पर वे समस्त संस्थाएँ तथा विधियाँ टिकी हुई हैं जो उसके जीवन को संचालित करती हैं।

थॉमस का सामाजिक और राजनैतिक जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त उसकी प्रकृति सम्बन्धी विशाल योजना का ही एक अंग है। उसके सामाजिक और राजनैतिक विचार दर्शन तथा धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं।[1] समस्त प्रकृति को

1. *Summa theologica* Ia, 2ae, qq 90 108 (इसका अंग्रेजी अनुवाद फादर्स आफ दि डोमिनिकन आर्डिनेंस ने किया था, लन्दन 1911-12)। उसने अपनी मृत्यु के समय दो अधूरी कृतियाँ और छोड़ी थीं। इनमें से एक *De regimine principum* है। (अंग्रेजी अनुवाद गेराल्ड बी० फेलन द्वारा, टोरोंटो, 1935)। इस पुस्तक के पहले दो खण्ड थॉमस ने लिखे थे। शेष सम्भवतः टोलेमी ऑफ लुक्का (Ptolemy of Lucca) ने। दूसरी अधूरी

भांति समाज भी ऐसे उद्देश्यों और साधनों की व्यवस्था है जिसमें निम्न प्राणी उच्च प्राणी की सेवा करता है और उच्च प्राणी निम्न प्राणी को पथ-प्रदर्शन तथा निर्देशन प्रदान करता है। अरस्तू का अनुसरण करते हुए टॉमस ने समाज को श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए सेवाओं के पारस्परिक विनिमय की व्यवस्था बताया है। इसमें विभिन्न पेशे अपना सहयोग प्रदान करते हैं। किसान और कारीगर भौतिक सामग्री देते हैं। पुरोहित प्रार्थना और धार्मिक कृत्य करता है। संक्षेप में, प्रत्येक वर्ग अपना-अपना कार्य करता है। समाज के हित के लिए यह आवश्यक है कि इस व्यवस्था में एक शासक अंश भी हो। जिस प्रकार आत्मा शरीर पर शासन करती है या उच्च प्रकृति निम्न प्रकृति पर शासन करती है, उसी प्रकार शासक वर्ग को समाज के अन्य वर्गों पर शासन करना चाहिए। टॉमस ने राज्यों की स्थापना और शासन, नगरों के आयोजन, प्रासादों के निर्माण, बाजारों की स्थापना और शिक्षा की अभिवृद्धि की ईश्वरीय लीला से तुलना की है। ईश्वर अपनी इस लीला के द्वारा ही संसार का निर्माण करता है और उस पर शासन करता है।

इसलिए, राजपद एक ऐसा पद अथवा न्यास है जो सम्पूर्ण समाज के लिए है। अपने निम्नतम प्रजाजन की भांति शासक भी सामाजिक हित में कुछ योग देता है। यही उसकी सार्थकता है। वह अपनी शक्ति ईश्वर से इसलिए प्राप्त करता है कि मानव जीवन में व्यवस्था लाए। वह अपनी इस शक्ति का प्रयोग समाज की भलाई के लिए करता है। वह आवश्यकता से अधिक न तो अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता है और न कर के द्वारा सम्पत्ति ही छीन सकता है। इसलिए, शासन का नैतिक उद्देश्य अत्यन्त महान् है। स्थूल रूप से शासक का कार्य राज्य के प्रत्येक वर्ग को ऐसी दिशा में निर्दिष्ट कर देना है जिससे कि मनुष्य सुखी तथा सद्गुणयुक्त जीवन व्यतीत कर सकें। समाज में मनुष्य का वास्तविक उद्देश्य भी यही है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य तो भौतिक समाज से परे स्वर्गीय जीवन में प्रवेश करने का है। लेकिन, यह मानवी शक्ति से बाहर की बात है। इस काम को तो शासकों की अपेक्षा पुरोहित ज्यादा अच्छी तरह कर सकते हैं। लेकिन, टॉमस ने सुव्यवस्थित राजनैतिक जीवन को इस चरम उद्देश्य की प्राप्ति में भी सहायक माना है। भौतिक शासक का कार्य यह है कि वह शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखे, सार्वजनिक प्रशासन, न्याय, प्रतिरक्षा सम्बन्धी सारे आवश्यक कार्य करे, जहाँ कहीं बुराइयाँ पैदा हों, उनका निवारण करे और श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं का नाश करे। अपने इन समस्त कार्यों के द्वारा भौतिक शासक मानवी सुख-शान्ति की स्थापना करता है।

राजनैतिक शासन का नैतिक प्रयोजन यह है कि सत्ता सीमित होनी चाहिए और उसका प्रयोग विधि के अनुसार होना चाहिए। अत्याचारी शासन (tyranny)

इ ते अरस्तू की पॉलिटिक्स पुस्तक की टीका है। इस पुस्तक के शब्द यहाँ टॉमस द्वारा न लिखे थे, ऐव शायद पीटर ऑफ आवर्न ने (Peter of Auvergne) ने। देखिए M. Grabmann, *Die echten schriften des H. Thomas Von Aquin* in C. Baeumker's *Beitrage zur Gesch d, Phil d Mittelaters. Vol. XXII.*

को थॉमस भी जॉन ऑफ सैलिसबरी (John of Salisbury) की भाँति ही नापसन्द करता था। तथापि, उसने अत्याचारी शासक के वध का खुलकर समर्थन नहीं किया है। यदि सम्पूर्ण जनता चाहे, तो प्रतिरोध कर सकती है। प्रतिरोध के इस अधिकार पर केवल एक नैतिक प्रतिबन्ध लगा हुआ है। प्रतिरोधियों की कार्यवाही से सामान्य हित को उस बुराई की अपेक्षा जिसके निवारण का वे प्रयास कर रहे हैं, कम हानि पहुँचनी चाहिए। थॉमस राजद्रोह (sedition) को भयकर पाप समझता था। लेकिन, उसने अत्याचारी शासन के प्रतिरोध को राजद्रोह नहीं माना है। अत्याचारी शासन के सम्बन्ध में थॉमस ने पुरानी मध्ययुगीन परम्परा का अरस्तू की विचारधारा के साथ समन्वय स्थापित कर दिया और इसमें उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। इसका कारण यह है कि ये दोनों ही सिद्धान्त यूनान से निकले थे। यूनान मे अन्यायपूर्ण शक्ति को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। दोनो सिद्धान्तो के अनुसार शक्ति उसी समय तक न्यायपूर्ण थी जब तक कि वह सामान्य हित का प्रतिपादन करती हो। थॉमस ने अरस्तू से ऐसी कोई महत्वपूर्ण वस्तु प्राप्त नहीं की जिसे उसने इस विषय में तत्कालीन ज्ञान मे जोड़ा हो। वह मुख्य रूप से शासक के ऊपर नैतिक मर्यादाएँ लागू करना चाहता था। इस विषय के कानूनी या सवैधानिक पक्षों मे उसकी कोई रुचि नहीं थी। थॉमस शासन प्रणालियों के विषय में अरस्तू से अधिक कुछ नहीं कह सका है। थामस ने राजतन्त्र (monarchy) को सर्वश्रेष्ठ शासन-प्रणाली माना है। इस विषय मे उसने पॉलिटिक्स की तर्कशैली का ही अनुसरण किया है। थॉमस ने यह बात तो साफ-साफ कही है कि राजा की शक्ति सीमित होनी चाहिए लेकिन इस सम्बन्ध मे उसने अपने आशय को बिलकुल स्पष्ट नहीं किया है। सम्भवत, थॉमस का आशय यह था कि राजा को अपनी शक्ति का प्रयोग राज्य के अन्य प्रधान अधिकारियो, जो उसके परामर्शदाता तथा निर्वाचक थे, के साथ करना चाहिए।

थॉमस ने यह बात भी साफ कही है कि सच्चा शासन, जो अत्याचारी शासन से भिन्न होता है, 'वैध' होता है। लेकिन, इस सदर्भ में वैध सत्ता का क्या अभिप्राय है, इसकी उसने कहीं सटीक व्याख्या नहीं की है। यद्यपि वह रोमन विधि से परिचित था, तथापि अपने इस अध्ययन मे उसे यह नहीं मालूम था कि प्रभुसत्ताधारी शासक की शक्ति स्वय विधि से ऊपर बताई गई है। वह पोप तथा सम्राट् के वाद विवाद सम्बन्धी साहित्य से भी परिचित रहा होगा। लेकिन, उसे यह प्रेरणा नहीं मिली कि वह उन सिद्धान्तो की परीक्षा करता जिनके ऊपर राजनैतिक सत्ता टिकी होती है। अत्याचारी शासन के सम्बन्ध मे विचार करते हुए उसने अत्याचारी के विरुद्ध उपलब्ध दो साधनो का उल्लेख किया है। कुछ शासनों मे शक्ति जनता से प्राप्त होती है। इस अवस्था म जनता उन शर्तों को लागू कर सकती है जिनके अनुसार सत्ता प्रदान की गई हो। दूसरा उपचार वहाँ उपलब्ध होता है जहाँ कि किसी शासन का राजनैतिक प्रधान हो। इस अवस्था में शिकायत के निवारण के लिए उच्चतर शासक से अपील की जा सकती है।[1] लेकिन, उसने इन दोनों शासन-प्रणालियों को दो

1. De reg. princ., I, 6.

विशिष्ट प्रकार की शासन प्रणालियाँ माना है। इससे यह प्रतीत होता है कि राजनैतिक सत्ता के स्रोत के सम्बन्ध में उसका कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं था।

विधि का स्वरूप

(The Nature of Law)

थॉमस ने राजनैतिक दर्शन के इतने महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार नहीं किया, इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वह मध्ययुगीन परम्परा के अनुसार विधि की अत्यधिक पवित्रता का कायल था। वह विधि की सत्ता को स्वयंसिद्ध मानता था, मनुष्य पर आधारित नहीं। उसने मानवी विधि को दैवी विधि के साथ संयुक्त करने का निरन्तर प्रयास किया। इस कार्य में एक तो वह समन्वय स्थापित करने की अपनी प्रवृत्ति के कारण तल्लीन हुआ। इसका दूसरा कारण यह भी था कि वह विधि के क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक मानता था। विधि का क्षेत्र मानवी सम्बन्धों को नियमित करने तक ही सीमित नहीं था, प्रत्युत् उससे कुछ विस्तृत था। उसके मत से मानवी विधि उस दैवी शासन-व्यवस्था का एक अभिन्न भाग थी जिसके अनुसार स्वर्ग में तथा पृथ्वी में प्रत्येक वस्तु का शासन होता है। थॉमस का विचार था कि यह व्यवस्था सीधे ईश्वर के विवेक से उत्पन्न हुई है। यह व्यवस्था सभी प्राणियों सजीव और निर्जीव, पशु और मानव के सम्बन्धों का नियमन करती है। संकुचित मानवी अर्थ में विधि एक सार्वभौमिक तथ्य की अवमात्र थी। हाँ, इसका महत्त्व अवश्य था। उसे यह बात महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ती है और उसने इसीलिए विधि सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त का अपने राजनैतिक दर्शन के अन्य किसी भाग की अपेक्षा अधिक सावधानी से विस्तार किया है। इसलिए, उसका विधि का वर्गीकरण उसके दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। लेकिन, उसकी इस चेष्टा में विधिसम्मत सत्ता की कानूनी अथवा संस्थागत परिभाषा को एक गौण प्रश्न बना दिया। गैर-कानूनी शासक केवल मानवी अधिकारों और संस्थाओं का ही उल्लंघन नहीं करता। वह उस सम्पूर्ण दैवी विधान के प्रति भी विद्रोही है जिसके द्वारा ईश्वर संसार पर शासन करता है।

थॉमस ने विधि के चार वर्ग माने हैं। उनमें केवल एक वर्ग ही मानवी है। उसका विधि सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। आज के पाठक को वह अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण लग सकता है। इसका कारण यह नहीं था कि वह प्रकृति को ईश्वर की इच्छा द्वारा शासित मानता था। इसका कारण यह था कि वह मानवी समाज को तथा उसकी संस्थाओं को विश्व व्यवस्था का एक विशिष्ट स्तर मानता था। उसका विचार था कि इस स्तर पर वही सिद्धान्त प्रचलित हैं जो कि अन्य स्तरों पर। प्रकृति में या समाज में, निरंकुश इच्छा का बहुत कम महत्त्व है। दोनों बुद्धि अथवा आदर्शों द्वारा अधिक शासित होते हैं, शक्ति द्वारा कम। थॉमस का दैवी अथवा मानवी इच्छा सम्बन्धी ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं था जिसने प्रकृति अथवा समाज के लिए आदेश द्वारा विधि का निर्माण किया हो। थॉमस के अनुसार विधि के चार भेद विवेक के ही चार रूप हैं। ये विश्व-व्यवस्था में चार स्तरों पर अपने को प्रकट

करते हैं। थॉमस ने उनके ये नाम रखे हैं शाश्वत विधि (Eternal law), प्राकृतिक विधि (Natural law), दैवी विधि (Divine law) और मानवी विधि (Human law)।

शाश्वत विधि (Eternal law) व्यवहारतः ईश्वर की बुद्धि के साथ समीकृत है। यह दैवी बुद्धि की शाश्वत योजना है जिसके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि व्यवस्थित होती है। यह विधि स्वयं अपने में मनुष्य की भौतिक प्रकृति से ऊपर है और मनुष्य की समझ से बाहर है लेकिन इसी कारण यह मनुष्य के विवेक के प्रतिकूल नहीं है। जहाँ तक मनुष्य की शान्त प्रकृति अनुमति देती है, ईश्वर की बुद्धिमत्ता और अच्छाई में मनुष्य का भी भाग रहता है। ईश्वर की ये विभूतियाँ मनुष्य के अन्दर भी प्रकट होती हैं। तथापि, मनुष्य की प्रकृति दैवी पूर्णता का केवल विकृत चित्र ही प्रस्तुत कर पाती है। दूसरी विधि प्राकृतिक विधि (Natural law) है। यह सृष्टि के प्राणियों में दैवी बुद्धि का प्रतिबिम्ब है। इस विधि की प्रेरणा से सभी प्राणी अच्छाई को प्राप्त करना और बुराई को दूर करना चाहते हैं। वे अपनी प्राकृतिक क्षमता के अनुसार पूर्णतम जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। जैसा कि अरस्तू ने कहा था, मानव जाति के प्रसंग में इसका अभिप्राय एक ऐसे जीवन की अभिलाषा है जिसमें मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार आचरण कर सके। थॉमस ने मनुष्य की इस प्रकृति के अनेक उदाहरण दिए हैं। मनुष्य समाज में रहना चाहता है। वह अपनी जीवन रक्षा करना चाहता है। वह बच्चों को पैदा करता है और उनको शिक्षा देता है। वह सत्य की खोज और अपनी बुद्धि का विकास करता है। प्राकृतिक विधि में ये सारी बातें शामिल हैं जो मनुष्य की प्रकृति को व्यापकतम आधार देती हैं।

थॉमस का दैवी विधि सम्बन्धी विवेचन अत्यन्त रोचक था। यहाँ वह प्राकृतिक विवेक (Naturnal reason) की सीमा पर पहुँच गया था। इस सम्बन्ध में उसका एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। दैवी विधि से उसका अभिप्राय साक्षात्कार (revelation) है। इसका एक उदाहरण वह विशेष विधि कहता है जो परमात्मा ने यहूदियों को वरद-जन मानकर दी। ईसाई नीति और विधि के वे विविध नियम भी जो धर्मशास्त्रों अथवा चर्च के माध्यम से संसार को दिए गए हैं दैवी विधि के अन्तर्गत आते हैं। दैवी विधि प्राकृतिक विवेक की खोज नहीं, प्रत्युत् ईश्वर की कृपा का प्रसाद है। थॉमस ने ईसाई अनुभूति के महत्त्व को कम नहीं किया है। लेकिन, उसने इसके और विवेक के बीच बहुत अधिक व्यवधान नहीं माना है। अनुभूति विवेक को तराश देती है, उसे नष्ट नहीं करती। थॉमस की दार्शनिक पद्धति विवेक तथा विश्वास पर टिकी हुई है, लेकिन थॉमस को इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं था कि यह एक पद्धति है। राजनैतिक स्तर के सम्बन्ध में थॉमस के विचार और भी अधिक रोचक तथा महत्त्वपूर्ण थे। प्राकृतिक विधि केवल विवेक से उत्पन्न होती है। वह सभी मनुष्यों—ईसाई और पैगन में समान रूप से पाई जाती है। इसलिए, आचार और शासन सामान्य रूप से ईसाई धर्म के ऊपर अवलम्बित नहीं हैं। इसके कारण नागरिक आदेश-पालन का दायित्व कमज़ोर नहीं होता, प्रत्युत् और बढ़ जाता है। पैगन शासक के ईसाई प्रजाजनों को उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। थॉमस

नास्तिकता को एक भयकर अपराध मानता था। नास्तिकता सचाई पर, जिस पर मुक्ति निर्भर है, परदा डाल देती है। चर्च प्रजाजनों को इस बात की अनुमति दे सकता है कि वे नास्तिक शासक की अवज्ञा करें। लेकिन, चर्च को भी कोई शासक केवल इसीलिए अपदस्थ नही करना चाहिए कि वह नास्तिक है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में थॉमस का दृष्टिकोण बड़ा सन्तुलित और युक्तिसगत है। इसका कारण सम्भवतः उसके ऊपर अरस्तू के प्राकृतिक समाज का प्रभाव है। यह एगिडियस कोलोन्ना (Egidius Colonna) जैसे आगामी शताब्दी के उग्र पोपवादियों के, जिनके ऊपर अरस्तू का प्रभाव कम पड़ा था, दृष्टिकोण से बिलकुल उलटा था।

शाश्वत, प्राकृतिक और दैवी विधियाँ व्यवहार की ऐसी निश्चित मानक हैं, जो मनुष्यों के ऊपर लागू जरूर होती हैं, लेकिन वे मनुष्यों तक ही सीमित नहीं हैं और न वे केवल मनुष्य की प्रकृति के ऊपर ही आधारित हैं। जो विधि विशेष रूप से मनुष्यों के लिए है, उसे थॉमस ने मानवी विधि (Human Law) का नाम दिया है। थॉमस मानवी विधि के दो भेद मानता है—राष्ट्रों की विधि (ius gentium) और नागरिकों की विधि (ius civile)। उसके विचार से यह विधि एक विशिष्ट विधि है क्योंकि यह एक ही प्रकार के प्राणियों के जीवन का नियमन करती है। इसलिए यह विधि केवल मनुष्यों के ऊपर ही लागू होती है। दूसरे अर्थ में, मानवी विधि किन्हीं नव सिद्धान्तों का सूत्रपात नहीं करती। वह व्यवस्था के उन व्यापक नियमों को जो सारे ससार में प्रचलित हैं, मानव समाज के ऊपर लागू करती है। विधि एक ऐसे मानक को निर्धारित करती है जिसके अनुसार कोई प्राणी या तो किसी कार्य के लिए प्रेरित होता है या किसी कार्य से रुकता है। मनुष्य अपनी बुद्धि के कारण अन्य प्राणियों से भिन्न होता है। इसलिए, मानवी विधि का मानव तत्त्व बुद्धि है। बुद्धिशीलता का अभिप्राय सामाजिकता है। इसलिए, मानवी विधि किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग की भलाई के लिए नहीं, प्रत्युत सर्वसाधारण की भलाई के लिए होती है। इसी कारण विधि के मूल में किसी एक व्यक्ति की इच्छा नहीं, प्रत्युत सर्वसाधारण की सत्ता होती है। यह सम्पूर्ण जनता की भलाई के लिए सम्पूर्ण जनता की सृष्टि होती है। यह कभी तो विधि-निर्माण के रूप में प्रकट होती है और कभी लोकाचार के रूप में। कभी-कभी उसके पीछे एक ऐसे सार्वजनिक अधिकारी की स्वीकृति होती है जिसके कधो पर समाज की देखभाल का कार्य डाल दिया गया हो। अतः, थॉमस प्रख्यापन (promulgation) को विधि की एक अनिवार्य विशेषता समझता था। उसकी विधि की पूरी परिभाषा यह है, 'विधि सामान्य हित के लिए विवेक का एक अध्यादेश है। यह उस व्यक्ति के द्वारा निकाला जाता है जिसके कधों पर समाज की देखभाल होती है। विधि प्रख्यापित भी होती है"।[1] थॉमस ने प्राचीन विश्वास को 'विधि' का रूप दिया। उसने विधि की परिभाषा बहुत कुछ अरस्तू की शब्दावली में की। हाँ, इस परिभाषा से उसने नगर राज्य का सदर्भ निकाल दिया। इस परिभाषा पर ईसाई परम्परा का प्रभाव

1 Summa theol, Ia. 2ae, q 90, 4.

अवश्य पड़ा रहा। अरस्तू की शब्दावली ने इस परिभाषा को अधिक व्यवस्थित रूप प्रदान किया।

यद्यपि उपर्युक्त परिभाषा में मानवी विधि का विशेष प्रसंग है, लेकिन थॉमस का वास्तविक तर्क यह मालूम पड़ता है कि मानवी विधि प्राकृतिक विधि से निकलती है। थॉमस के विचार से मनुष्य की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि मानवी सम्बन्धों का विनियमन किया जा सकता है और आवश्यकता पड़ने पर बल का प्रयोग भी हो सकता है। जो बात मूल रूप से उचित तथा सही होती है, शक्ति उस चीज को बल प्रदान करती है। सब मिलाकर मानवी विधि को प्राकृतिक विधि की एक उपसिद्धि (Corollary) कहा जा सकता है। प्राकृतिक विधि को मानवी विधि का रूप धारण करने के लिए अधिक निश्चित और प्रभावशाली बनना पड़ता है जिससे कि यह मानव जीवन की सामयिक और विशेष परिस्थितियों में उपयोगी हो सके। उदाहरण के लिए कत्ल करना प्रकृति के खिलाफ है क्योंकि यह शान्ति तथा व्यवस्था के प्रतिकूल पड़ता है। लेकिन, प्राकृतिक विधि में कत्ल की कोई ऐसी सटीक परिभाषा नहीं दी गई है जो उसे अन्य मानव वधों से पृथक करती हो। प्राकृतिक विधि में इसके लिए किसी विशिष्ट दंड की भी व्यवस्था नहीं है। दूसरे शब्दों में, यह कार्य गलत है क्योंकि यह समाज में आचरण के एक विशिष्ट नियम का उल्लंघन करता है। चूंकि, यह कार्य गलत है, इसलिए इसे रोक देना चाहिए या दंडित करना चाहिए। लेकिन, इसे रोकने या दंडित करने का प्रश्न मुख्यतः नीति का प्रश्न है और यह समय, स्थान तथा परिस्थिति के अनुसार बदल सकता है। सिद्धान्त सदैव तथा सर्वत्र एक सा ही है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ सदैव एक-सी रहती हैं। मनुष्य की इस अन्तर्भूत प्रकृति का विकास भिन्न कालों और भिन्न राष्ट्रों में अलग अलग रीति से हो सकता है। इसलिए, यद्यपि शासन के स्वरूपों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है तथापि इन सबके पीछे एक सत्य, एक विधि और एक न्याय है। जीवन का साध्य एक है, लेकिन उसके साधन अनेक हैं।

विधि तथा शासन सम्बन्धी यह नैतिक सिद्धान्त अत्यन्त सटीक और व्यापक है। जॉन लॉक (John Locke) का रचना काल थॉमस के चार शताब्दी बाद का है। लॉक को भी अत्याचारी शासक को अपदस्थ करने के जनता के मूल अधिकार के समर्थन में इससे बढ़ कर विश्वसनीय कोई तर्क नहीं मिला। प्राकृतिक विधि और मानवी विधि के अन्तर्भूत नैतिक सम्बन्ध लॉक के लिए भी वही हैं जो थॉमस के लिए थे। दोनों व्यक्तियों के लिए शासक विवेक और न्याय से अपने प्रजाजनों की भांति ही बंधा हुआ है। शासक की सकारात्मक विधि (positive law) सम्बन्धी शक्ति का आधार यह है कि वह उसे प्राकृतिक विधि के अनुरूप रखना चाहता है। यह विनियमन इच्छा का कार्य नहीं है, प्रत्युत वह समय और परिस्थिति के साथ समायोजन है। शासक कुछ विशेष व्यवस्थाएँ अथवा समादान उसी समय देता है जबकि मानवी विधि की शाब्दिक व्याख्या अनुचित होती है। शासक के हाथों में केवल वही शक्ति होती है जो उसे सर्वसाधारण की भलाई करने के उपलक्ष्य

प्राप्त हो जाती है। इसलिए, थॉमस के अनुसार, शासक को केवल इतनी ही व्यक्तिगत सम्पत्ति रखनी चाहिए जितनी सार्वजनिक हित की दृष्टि से जरूरी हो, यद्यपि सम्पत्ति मानवी विधि की संस्था है, प्राकृतिक विधि की नहीं। सबसे बढ़ कर बात यह है कि एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के ऊपर शासन का अभिप्राय यह नहीं होना चाहिए कि शासित व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूर्णतया दमन हो जाये। कोई भी व्यक्ति हर परिस्थिति में मात्राबद्ध नहीं रह सकता। दास तक की आत्मा स्वतन्त्र होती है। (इस सिद्धान्त को अरस्तू मुश्किल से ही समझ पाता)। इसलिए, अत्याचारी शासन का विरोध एक अधिकार ही नहीं, प्रत्युत् एक कर्तव्य भी है।

थॉमस का ईसाई अरस्तूवाद (Christian Aristotelianism) इस बात का स्पष्टीकरण कर देता है कि उसने आध्यात्मिक और लौकिक सत्ताओं के वाद-विवाद में इतना सतुलित दृष्टिकोण क्यों अपनाया। उसका दृष्टिकोण उग्र पोपवादी का दृष्टिकोण कहा जा सकता है। थॉमस यह मानता था कि कुछ परिस्थितियों में चर्च शासक को अपदस्थ कर सकता है और प्रजाजनों से कह सकता है कि वे अपने प्रजाजनों के प्रति निष्ठा न रखें।[1] वह चर्च को साम्राज्य से ऊँची शक्ति मानता था।[2] लेकिन, फिर भी वह स्वयं को गेलेशियन परम्परा के भीतर समझता था। उसके विचार से चर्च मनुष्य की एकता का पूर्णतम प्रतीक था। लेकिन, इसका यह अभिप्राय नहीं था कि वह लौकिक शक्ति के महत्त्व को कम समझता था या लौकिक और आध्यात्मिक सत्ताओं के भेद को नगण्य मानता था। उस समय चर्च की आध्यात्मिक उच्चता को तो सभी स्वीकार करते थे। लेकिन कुछ धार्मिक विधिवेत्ता इसे वैधानिक उच्चता का रूप देना चाहते थे थॉमस ने अपने अरस्तूवाद (Aristotelianism) के कारण उन धार्मिक तर्कों का विकास नहीं किया जिनका उग्र पोपवादी, जो अरस्तू से कम प्रभावित थे, प्रयोग करते थे। थॉमस एवेरोइस्ट (Averroist) या प्रकृतिगत अरस्तूवाद (naturalistic Aristotelianism) की ओर से भी उदासीन था। प्रकृतिगत अरस्तूवाद विवेक और साक्षात्कार के बीच कठोर भेद मानता था। थॉमस ने इस सिद्धान्त को पराजित किया था।[3] इस पृथक्करण की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या मारसिलिओ ऑफ़ पाडुआ (Marsilio of Padua) ने की है। इसने राज्य के शुद्ध लौकिक सिद्धान्त

1 *Summa theol*, 2a, 2ae, q 12 2

2 *De reg princ*, 1, 14

3 मार्टिन ग्राबमैन ने थामस के ईसाई अरस्तूवाद का सोलहवीं शताब्दी के 'परोक्ष' पोपीय सत्ता के सिद्धान्त के साथ, एवेरोइस्ट अरस्तूवाद (Averroist Aristotelianism) का चर्च और राज्य को पृथक करने वाले सिद्धान्त के साथ, और अरस्तू-विरोधी या आगस्टाइन परम्परा का 'प्रत्यक्ष' शक्ति सिद्धान्त के साथ अन्तस्सम्बन्ध स्थापित किया है। देखिए, Studien uber den Einflus der aristotelischen philosophie auf die mittelalterlichen Theorien uber das verhaltnis Von Kirche und Staat," *Sitzungsberichte der Bayerischen Akademie der Wissenschaften*, Philosophisch-historische Abtl, 1934, Heft [illegible]

के विकास में निर्णायक योग दिया। थॉमस ने ईसाई परम्परा में वर्णित ईसाई समाज के सिद्धान्त को शाश्वत माना है। वाद-विवाद होते रहते हैं, लेकिन वे कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं करते। थॉमस के दर्शन ने उसके औचित्य का पता लगाने की कोशिश की। उसने ईश्वर, प्रकृति और मनुष्य की एक ऐसी युक्तिसंगत व्यवस्था प्रतिपादित करने का प्रयास किया जिसके अन्तर्गत समाज तथा असैनिक सत्ता (civil authority) अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकें। इस अर्थ में थॉमस का दर्शन मध्ययुगीन सभ्यता के नैतिक तथा धार्मिक विश्वासों को सबसे परिपक्व ढंग से व्यक्त करता है।

दांते आदर्श साम्राज्य

(Dante The Idealized Empire)

थॉमस का दर्शन धर्म के दृष्टिकोण से ईसाई यूरोप के आदर्श का प्रामाणिक विवरण माना जा सकता है। इसकी कवि दाते द्वारा निरूपित सार्वभौमिक साम्राज्य के सिद्धान्त के साथ तुलना की जा सकती है।[1] दाते की पुस्तक में पोप के नियन्त्रण से सम्राट् की स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया है। इसलिए, पोप और सम्राट् के वादविवाद में वह थॉमस तथा जॉन ऑफ सेलिसबरी के प्रतिपक्ष में था। लेकिन, उनमें विवाद सम्बन्धी मतभेदों के बावजूद सामान्य सिद्धान्तों के विषय में काफी सहमति है। ये तीनों ही व्यक्ति यूरोप को एक एकीकृत ईसाई समाज समझते थे। यह समाज ईश्वर की ओर से नियुक्त दो सत्ताओं—आध्यात्मिक सत्ता और लौकिक सत्ता—द्वारा शासित होता था। ये दोनों सत्ताएँ मध्ययुग की दो महान् संस्थाओं—चर्च और साम्राज्य में निहित थीं। ये तीनों ही विचारक राजनैतिक तथा सामाजिक प्रश्नों पर प्रारम्भिक मध्ययुग की धार्मिक तथा नैतिक परम्परा के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। यद्यपि थॉमस और दाते ने अपने विचारों को अरस्तू की शब्दावली में व्यक्त किया है, फिर भी वे इस परम्परा के नियन्त्रण में हैं। दाते ने थॉमस के आधी शताब्दी बाद लिखा था। तथापि, वह परम्परा से अधिक बँधा हुआ था। उसने जिस साम्राज्य का समर्थन किया है, वह केवल कल्पना-लोक की ही वस्तु था।

दाते के राजनैतिक दर्शन पर दो बातों का बहुत असर पड़ा है—(१) राजनैतिक दलबन्दी के फलस्वरूप उसे फ्लोरेंस छोड़ कर भागना पड़ा था, और (२) उसके जीवन-काल में इटली में पोपवादी तथा राजवादी दलों के बीच बेहद विग्रह रहा था। इस अवस्था में उसे शान्ति का एकमात्र रास्ता यही दिखाई देता था कि सम्राट् की सर्वग्राही सत्ता के अधीन साम्राज्य की एकता स्थापित हो। दाते अपने मत अथवा संस्कारों के कारण साम्राज्य के पक्ष का समर्थक नहीं था। उसका साम्राज्यवाद सार्वभौमिक शान्ति का ही आदर्श रूप था। पोपशाही के प्रति उसका विरोध कुछ ऐसा

---

1. *De Monarchia* की रचना सम्राट् हेनरी के इटली अभियान के समय १३१०-१३ में हुई था। अंग्रेजी में इसके अनेक अनुवाद हुए हैं। सबसे अच्छे अनुवाद पी० एच० विकस्टीड (Temple classics में) और ए० हेनरी (बोस्टन, १९०४) के हैं।

था जिसने इटली के देशभक्तों को बारम्बार प्रेरणा दी थी। पोप की नीति ही कुछ ऐसी थी कि उससे सदैव कुछ न कुछ संघर्ष बना रहता था। फ्रांस किसी न किसी पक्ष के आमन्त्रण पर 'मध्यस्थता' करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहता था। यद्यपि दांते की रचनाओं ने इटालियन भाषा के निर्माण में प्रभूत योग दिया था, फिर भी दांते राजनीति में राष्ट्रवादी नहीं था। दांते ने ऐसे समय में जब कि पोप तथा फिलिप दि फेयर के वादविवाद में फ्रांस से राष्ट्रवाद अपना सर उठा रहा था उस पुरानी साम्राज्य-नीति का समर्थन किया जो भूतकाल में विनाशक सिद्ध हो चुकी थी।

दांते के ग्रंथ का उद्देश्य वही था जो साम्राज्य के अन्य समर्थकों का हेनरी चतुर्थ तथा ग्रिगोरी सप्तम के वाद-विवाद के समय से रहा था। साम्राज्य के अन्यान्य समर्थकों की भाँति दांते भी यह प्रमाणित करना चाहता था कि सम्राट् की शक्ति सीधे ईश्वर से प्राप्त होती है और इसलिए वह ईश्वर से स्वतन्त्र होता है। दांते ने पोप की आध्यात्मिक शक्ति को पूरी तरह से स्वीकार किया लेकिन अन्य साम्राज्य-वादियों की भाँति उसने भी इस गेलाशियन सिद्धान्त को पूरी मान्यता दी कि दोनों शक्तियाँ केवल ईश्वर में संयुक्त हैं और इसलिए सम्राट् से ऊपर कोई अन्य मनुष्य नहीं है। अपने पक्ष के समर्थन में दांते ने जो प्रमाण उपस्थित किया था, वह रोमन विधि के नवीन अध्ययन से प्राप्त हुआ था। वह प्रमाण यह था कि चूंकि मध्ययुगीन साम्राज्य रोमन साम्राज्य की परम्परा में है, इसलिए उसे भी वह सार्वभौम सत्ता प्राप्त होनी चाहिए जो रोमन साम्राज्य को प्राप्त थी। तथापि, दांते की तर्कशैली वैधानिक नहीं, प्रत्युत् धार्मिक थी। थॉमस की भाँति उसने भी अपने सार्वभौमिक समाज के सिद्धान्त को अरस्तू से प्राप्त सिद्धान्तों के साँचे में रखा।

अपने ग्रंथ के पहले अध्याय में दांते ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि "क्या ऐहिक राजतन्त्र संसार की भलाई के लिए आवश्यक है?" उसने 'ऐहिक राजतन्त्र' की परिभाषा 'समस्त ऐहिक प्राणियों का शासन' कह कर की है। मनुष्यों का प्रत्येक संघ किसी न किसी साध्य को प्राप्त करने के लिए होता है। जिस तर्क के द्वारा अरस्तू ने नगर राज्य को परिवार तथा गाँव से ऊँचा सिद्ध किया है, प्रायः उसी तर्क का आश्रय लेकर दांते ने सार्वभौम साम्राज्य को अन्य समस्त समाजों में ऊँचा सिद्ध किया है। मनुष्य का विशिष्ट गुण उसकी बुद्धि है। इसलिए, मनुष्यजाति का वास्तविक उद्देश्य बुद्धियुक्त जीवन प्राप्त करना है। यह उसी समय सम्भव है जब कि सार्वभौम शान्ति हो। सार्वभौम शान्ति मनुष्य की प्रसन्नता के लिए तो आवश्यक है ही, वह मनुष्य के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने का भी आवश्यक साधन है। प्रत्येक सहकारी उद्यम के लिए निर्देशन की आवश्यकता है। इसलिए, प्रत्येक समाज को एक शासक की आवश्यकता है। इस प्रकार, दांते ने सिद्ध किया कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक शासक के अधीन एक समाज है। इस शासक के शासन की उसने प्रकृति के ऊपर ईश्वर के शासन से तुलना की है। ईश्वर का शासन अपनी एकता के कारण पूर्ण होता है। इसलिए, यदि मानवी शासन को भी पूर्ण होना है, तो उसे सभी मनुष्यों को अपनी सत्ता में रखना चाहिए। जिसमें सबसे अधिक यथार्थता होती है, उसमें सबसे अधिक एकता होती है और जिसमें सबसे अधिक एकता होती है, वही सर्वश्रेष्ठ होता

है। पुनः मनुष्यों में उस समय तक शान्ति नहीं हो सकती जब तक कि उनमें लोभ तथा पक्षपात से परे कोई ऐसा उच्चतम न्यायाधीश नहीं होता जो शासकों के पारस्परिक विवादों को सुलझा सके। इसी प्रकार, संसार में उस समय तक स्वतन्त्रता नहीं हो सकती जब तक कि अत्याचार और दमन से परे कोई सत्ता न हो। इस तर्क में साम्राज्य का परम्परागत आदर्शीकरण और नव्य अरस्तूवाद का समन्वय है।

दांते ने अपनी पुस्तक के दूसरे अध्याय में इस प्रश्न पर विचार किया है कि "क्या रोम की जनता के लिए साम्राज्य का गौरव धारण करना उचित था ?" दांते का कहना था कि इतिहास में ईश्वर की इच्छा प्रकट होती है। रोम के इतिहास से प्रकट होता है कि उसके अभ्युत्थान में ईश्वर का पथ-प्रदर्शन रहा था। भाग्य के बल पर ही रोम के राज्य की रक्षा हो सकी। उसके नागरिकों का चरित्र भी बड़ा उदात्त था। रोमनों ने किसी लोभ के कारण साम्राज्य का निर्माण नहीं किया। वे तो सबकी भलाई के लिए—विजेताओं और विजितों दोनों की भलाई के लिए—साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे।

"लोभ सार्वजनिक हित के प्रतिकूल होता है। पवित्र रोमनों ने लोभ को त्याग दिया था। उन्होंने सार्वभौमिक शान्ति और स्वतन्त्रता का वरण किया। उन्होंने मानवजाति की सार्वजनिक सुरक्षा के लिए अपने लाभ की उपेक्षा की।"[1]

ईश्वर की इच्छा लड़ाइयों और संघर्षों में भी प्रकट होती है। दांते के विचार से रोम का साम्राज्य विश्व साम्राज्य की स्थापना की दिशा में पाँचवाँ प्रयत्न था। अकेला वही अपने प्रयत्न में सफल हुआ। उसने अपने अन्य समस्त दावेदारों को पीछे छोड़ कर और अपने प्रतिद्वंद्वियों को पराजित कर यह सिद्ध कर दिया कि ईश्वर की दृष्टि में वही संसार पर शासन करने का अधिकारी है। दांते ने स्वयं ईसाई धर्म के कुछ सिद्धान्तों द्वारा अपने मत को पुष्ट किया। जब तक कि ईसा को किसी विधि-सम्मत सत्ता ने दण्ड न दिया होता, मनुष्यों के पापों के लिए उसे दण्डित न होना पड़ता और न वह मानव जाति की मुक्ति का ही पथ प्रशस्त कर पाता। इसलिए पाइलेट (Pilate) और ऑगस्टस (Augustus) की सत्ता विधिसंगत और अधिकार-पूर्ण रही होगी। इन तर्कों में भी प्राचीन और नवीन का अपूर्व समन्वय है। यहाँ ईसाई धर्मशास्त्र की युक्तियों द्वारा पैगन विश्वासों की प्राचीनता को सिद्ध किया गया है।

पुस्तक का अन्तिम अध्याय अधिक विवादास्पद था। इसमें पोपवादियों के इस तर्क का खण्डन किया गया था कि साम्राज्य को शक्ति पोप के माध्यम से प्राप्त की गई है और यह प्रतिपादित किया गया था कि साम्राज्य की शक्ति सीधे ईश्वर से प्राप्त की गई थी। यहाँ दांते ने धार्मिक विधिवेत्ताओं का विरोध किया और पोप की आज्ञप्तियों को धर्म की बुनियाद मानने से इनकार कर दिया। उसका कहना था कि धर्मशास्त्रों का स्थान चर्च से ऊपर है। इसके बाद प्रधान कौंसिलों के कार्य आते हैं। पोप की आज्ञप्तियाँ केवल परम्पराओं का महत्त्व रखती हैं जिन्हें चर्च बदल सकता है। इसके बाद दांते ने धर्मशास्त्रों के उन मुख्य अवतरणों की परीक्षा की

1. *De Monarchia*, Bk. II, Ch. V.

जिनके अनुसार चर्च की शक्ति लौकिक शासकों की शक्ति से ऊपर बताई जाती थी। उसने लौकिक इतिहास के दो पूर्वोदाहरणों कोंस्टन्टाइन के दान (Donation of Constantine) और शार्लमैन (Charlemagne) के साम्राज्यारोहण की भी परीक्षा की। उसका विचार था कि कोंस्टेनटाइन का दानपत्र तो अवैध था क्योंकि सम्राट् को साम्राज्य का हस्तांतरण करने की कोई वैधानिक शक्ति नहीं थी। इस प्रलेख की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर आपत्ति होने के काफी समय पहले से ही विधिवेत्ताओं का यह आम विचार था। इस तर्क ने दूसरे कथित पूर्वोदाहरण का भी समाधान कर दिया। यदि पोप के पास वैधानिक रूप से साम्राज्यिक शक्ति नहीं हो सकती थी, तो वह उसे शार्लमैन को दे भी नहीं सकता था। अन्त में, दांते ने यह सामान्य तर्क प्रस्तुत किया कि लौकिक शक्ति को धारण करना चर्च की प्रकृति के विरुद्ध है। चर्च का राज्य इस संसार का नहीं है।

यद्यपि पोप और सम्राट् के वाद विवाद में थॉमस और दांते एक दूसरे के बिलकुल विरोधी थे, लेकिन फिर भी उनके आधारभूत विश्वास एक से थे। थॉमस और दांते ने अरस्तू को स्वीकार किया था। जॉन ऑफ सेलिसबरी अरस्तू के पुनरुत्थान से पहले हुआ था। लेकिन, इसकी वजह से इन तीनों विचारकों में कोई खास अन्तर नहीं पड़ता। इन तीनों ही विचारकों के अनुसार मानवजाति एक समाज है जिसको एक प्रधान की आवश्यकता है। ये सभी विचारक यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य की प्रकृति में आध्यात्मिक तथा भौतिक तत्त्वों का समन्वय है तथा प्रत्येक तत्त्व के लिए एक उपयुक्त सत्ता की आवश्यकता है। इसलिए, संसार का शासन आध्यात्मिक और लौकिक शक्तियों के बीच विभाजित है। प्रत्येक शक्ति का अपना अपना विशिष्ट अधिकार-क्षेत्र है। एक विश्वव्यापी समाज को कॉमनवेल्थ भी कहा जा सकता है और चर्च भी। इसमें केवल थोड़ा ही फर्क है। चर्च हो या राज्य, शक्ति की सार्थकता इसी में है कि उससे संसार का नैतिक और धार्मिक कल्याण हो। सत्ता ईश्वर से भी प्राप्त होती है और जनता से भी। राजा विधि व्यवस्था का प्रधान होने के साथ-साथ विधि के आधित भी है। उसकी शक्ति अपने प्रजाजनों से अधिक है लेकिन वह सम्पूर्ण समाज से कम है। उसकी सत्ता विवेक की आवाज है लेकिन उसकी बलप्रवर्त्ती शक्ति उन नियमों को लागू करने के लिए आवश्यक होती है जो विवेक द्वारा आरोपित किये जाते हैं। समाज के सम्बन्ध में सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त यह है कि वह एक सावयव सत्ता है जिसके विभिन्न वर्ग कार्यकारी अंग हैं और विधि संगठनकारी सिद्धान्त है। उचित नियन्त्रणकारी शक्ति स्वयं समाज की भलाई है। इसमें उसके सदस्यों की शाश्वत मुक्ति भी सम्मिलित है। सार्वभौमिक आचारों की इस विशाल व्यवस्था में सभी मनुष्य, यहाँ तक कि सभी प्राणी सम्मिलित हैं। इस दैवी नाटक में ईश्वर से लेकर अधम से अधम प्राणी तक अपनी भूमिका अदा करता है और शाश्वत जीवन लाभ करता है।

चर्च के संस्थापकों से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक की ईसाई जगत् की लम्बी परम्परा पर नव्य अरस्तूवाद का पहला प्रभाव इस सर्वोच्च संश्लेषण के रूप में पड़ा। थॉमस और दांते ने अरस्तू के प्रभाव के फलस्वरूप इस परम्परा को और भी

व्यवस्थित रूप दिया। इस परम्परा में अनेक कठिनाइयाँ थीं जिन्हें वह दूर नहीं कर सकी थी प्रत्युत् उसने छिपा भर लिया था। थॉमस अपनी दर्शन-पद्धति को पूरा भी नहीं कर सका था कि उसमें दरारें दिखाई पड़ने लगीं। अरस्तू के आत्म-निर्भर समाज के सिद्धान्त को साम्राज्य के ऊपर घटित करना बड़ा कठिन था। दाँते में यह कठिनाई स्पष्ट थी। यदि थॉमस के सामने भी साम्राज्य मुख्य विषय होता, तो उसे भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ता। चर्च के पास धार्मिक सत्ता थी। वह अपनी उत्पत्ति भी अति प्राकृतिक बताता था। इसके विपरीत अरस्तू का दर्शन प्राकृतिक था। इस स्थिति में चर्च को अरस्तू के दर्शन में उचित स्थान देना काफी मुश्किल काम था। अरस्तू के राजनैतिक दर्शन का मूलमन्त्र यह विश्वास है कि समाज मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियों के कारण विकसित होता है। मनुष्य समाज के बिना रह नहीं सकता। मनुष्य को अपनी प्रकृति की पूर्णता के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, समाज उसे वे सारी वस्तुएँ देता है। शरीर से पृथक् आत्मा का कल्याण, सांसारिक जीवन से परे आत्मा का भवितव्य, दूसरे लोक के सम्बन्ध में अधिकार रखने वाली संस्था, बुद्धि से इतर स्रोतों द्वारा प्रकट सत्य, ये सारी बातें अरस्तू के दर्शन से मेल नहीं खाती थीं और अरस्तू के समाज सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुरूप नहीं थीं। अरस्तू के राजनैतिक दर्शन का सार यह है कि राज्य समाज के प्राकृतिक विकास का परिणाम है। राज्य की सार्थकता इस बात में है कि वह बिना किसी धार्मिक बन्धन के कुछ नैतिक मूल्यों की रक्षा करता है। अरस्तू के इस प्रभाव के कारण ही थॉमस ने लौकिक मामलों में चर्च के हस्तक्षेप के अधिकार पर बड़े संयम से विचार किया है। आगामी शताब्दी में विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) तथा मारसिलियो ऑफ पादुआ (Marsilio of Padua) हुए। इन पर भी अरस्तू का प्रभाव थॉमस से कम नहीं था। लेकिन वे थॉमस की ईसाई परम्परा तथा उसके दर्शन की समन्वयमूलक प्रवृत्ति से बहुत दूर थे। अभी चर्च पर या ईश्वरानुभूति पर कठोर आपत्ति करने का कोई विचार नहीं था। पतन का पहला चिह्न यह था कि बुद्धि और श्रद्धा, आध्यात्मिक और लौकिक में तीव्र विभेद उत्पन्न हो गया। इसके बाद दोनों का क्षेत्र सीमित होता चला गया। अन्ततोगत्वा आध्यात्मिक शक्ति केवल अतीन्द्रिय जगत् तथा आन्तरिक जीवन से ही सम्बन्ध रखने लगी।

Selected Bibliography

"The Unity of Mediaeval Civilization" By Ernest Barker. In *Church, State and Study*, London, 1930, Ch. 2.

A History of Mediaeval Political Theory in the West By R. W. Carlyle and A. J. Carlyle. 6 Vols London and New York 1903 36. Vol. V, (1928), Part I, Chs IV and V, Vol. VI (1936), Part I, Ch. VII.

The Statesman's Book of John of Salisbury : Being the Fourth, Fifth and Sixth Books and Selections from the Seventh and Eighth Books of the *Policraticus*, Trans. by John Dickinson, New York, 1927, Introduction.

A History of Political Theories, Ancient and Mediaeval By W. A Dunning, New York, 1902 Ch VIII.

Reformateurs et Publicistes del' Europe Moyen age Renaissance By Adolphe Franck Paris, 1864

Dante et la philosophie By Etienne Gilson, Paris, 1939, Ch 3

Thomas Aquinas His Personality and Thought By Martin Grabmann Trans by Virgil Michel New York, 1928, Chs 11, 12

The Social and Political Ideas of Some Great Mediaeval Thinkers Ed by F J C Hearn Shaw London, 1923, Chs. 3, 4, 5

Social Theories of the Middle Ages, 1200, 1500 By Bede Jarret London, 1926

Die Staatslehre des Dante Alighieri By H. Kelsen Vienna 1905.

"*Organic Tendencies in Mediaeval Political Thought*" By Ewart, Lewis In *American Political Science Review*, Vol XXXII (1938) p 849.

"Natural Law and Expediency in Mediaeval Political Theory" By Ewart Lewis In *Ethics*, Vol L (1939-40), p 144

The Growth of Political Thought in the West, From the Greeks to the End of the Middle Ages By C H McIlwain, New York, 1932 Ch VI

Illustrations of the History of Mediaeval Thought and Learning By R L Poole, second edition, revised. London, 1902 Ch VIII

"Political Thought to C 1333" By W. H V Reade, In the *Cambridge Mediaeval History*, Vol VI (1929), Ch XVIII

"The Political Theory of Dante" By W. H V. Reade In *Dante De Monarchia* Oxford, 1916 Introduction.

La doctrine politique de Saint Thomas D. Aquin By B Roland Gosselin, Paris, 1928

The Social Teaching of the Christian Churches By Ernest Troeltsch Trans by Olive Wyon 2 Vols London, 1931, Ch II.

John of Salisbury By C J Webb, London, 1932

"Dante and United Italy" By Karl Witte In *Essays on Dante* Trans by C M Lawrence and P H Wicksteed, London, 1898

L'idée d L'etat dans Saint Thomas d'Aquin By J Zeiller, Paris, 1910

अध्याय १४

फिलिप दि फेयर और बोनिफेस अष्टम

(Philip The Fair And Boniface VIII)

सेंट थोमस (St. Thomas) और दांते (Dante) एक यूरोपीय समाज की परम्परा के इतने कट्टर भक्त थे कि वे यह नहीं समझ सके कि इस परम्परा की बुनियादें कितनी कमजोर थीं। वे उन आसन्न परिवर्तनों का भी आभास नहीं पा सके जो उनके द्वारा शाश्वत समझी जाने वाली व्यवस्था को नष्ट कर सकते थे। दांते यह नहीं समझ सका कि चौदहवीं शताब्दी का साम्राज्य यूरोप की राजनीति पर वास्तविक नियन्त्रण नहीं रख सकता था। अब राष्ट्रीयता की भावना ने विभिन्न जनों के बीच चौड़ी खाई पैदा कर दी थी। साम्राज्य इस खाई को नहीं पाट सकता था। तेरहवीं शताब्दी में विधि-शास्त्र का व्यापक अध्ययन हुआ था। इस अध्ययन ने नागरिक विधि और धार्मिक विधि दोनों पर भारी असर डाला था। गेलासियन सिद्धान्त ने लौकिक शक्ति और आध्यात्मिक शक्ति के बीच सामंजस्य की कल्पना की थी। लेकिन, अब स्थिति बदलती जा रही थी। दांते और थामस इस परिवर्तन को नहीं समझ सके। यहाँ अरस्तू के पथ प्रदर्शन से काम नहीं चल सकता था। राजनैतिक चर्चाओं का अब वैधानिक आधार दृढ़ होता जा रहा था। इसका दार्शनिकों और धर्मशास्त्रियों पर शास्त्रों की अपेक्षा धीरे-धीरे प्रभाव पड़ा। धार्मिक विधिवेत्ताओं ने पोपशाही के एक नये सिद्धान्त का निर्माण किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार चर्च का आध्यात्मिक अनुशासन का अधिकार वैधानिक निरीक्षण के दावे के रूप में बदल गया था। चौदहवीं शताब्दी में सोलहवीं शताब्दी की भाँति ही धार्मिक विधि की वैधता को अस्वीकार करके इस दावे का जवाब नहीं हो सकता था। इस समय यदि पोप के क्षेत्राधिकार को उचित सीमाओं में रखना था तो यह जरूरी था कि आध्यात्मिक और लौकिक सत्ताओं का स्पष्ट विश्लेषण किया जाता तथा आध्यात्मिक सत्ता की सीमाएं निर्धारित कर दी जातीं। अन्ततः, थामस और दांते यह भी पूर्ण रूप से नहीं समझ सके कि अरस्तू के पालिटिक्स ग्रन्थ में लौकिकता के बीज छिपे हुए थे। अरस्तू के अनुसार नागरिक समाज स्वयं ही पूर्ण और आत्मनिर्भर है। उसे अपनी पवित्रता के लिये अति प्राकृतिक तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में विघटन की ये सभी प्रवृत्तियाँ दिखाई देने लगी थीं।

यह प्रक्रिया तीन महान् चरणों में सम्पन्न हुई। इस अध्याय में तथा आगे के दो अध्यायों में हम इसी विषय पर विचार करेंगे। पहला चरण १२९६ से १३०३ तक का पोप और फ्रांस के राज्य का वाद विवाद था। इस वाद विवाद ने पोप के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को जो धार्मिक विधि में पहले ही से निश्चित था, पूर्ण कर दिया। इसके साथ ही फ्रांस के राज्य की राष्ट्रीय एकता ने इसे निश्चित रूप से पराजित कर दिया। अब इसके विरोध ने निश्चित रूप धारण करना शुरू किया। आध्यात्मिक

शक्ति की सीमाएँ निर्धारित की गई और विभिन्न राज्य स्वतन्त्र राजनैतिक समाजों के रूप में उदित होने का दावा करने लगे। दूसरा चरण २१ वर्ष बाद उठा। इसमें जॉन २२वें (John XXII) और लेविस दि बवेरियन (Lewis the Bavarian) में वाद-विवाद हुआ। इस वाद-विवाद में पोप की प्रभुसत्ता के विरोध ने मूर्त रूप धारण किया। विलियम आफ ओकम (William of Occam) ने राजनीति में दुराग्रही आध्यात्मिक फ्रांसिस्कनो (Franciscans) के पक्ष का प्रतिपादन किया था। उसने ईसाई परम्परा में पोप की प्रभुसत्ता के खिलाफ जितने भी तर्क उपलब्ध हो सकते थे, उन सबको हस्तामलकवत् कर लिया था। मारसिलियो ऑफ पाडुआ (Marsilio of Padua) ने नागरिक समाज की आत्मनिर्भरता को लौकिकता (Secularism) और इरास्तियनिज्म (Erastianism) का रूप दे दिया था। इस वाद विवाद में आध्यात्मिक शक्ति के क्षेत्राधिकार को सीमित किया गया और उसके कार्यों को परलोक तक ही मर्यादित रखने की चेष्टा की गई। तथापि, एक संस्था के रूप में चर्च अब भी शक्तिशाली बना रहा। तीसरा वाद विवाद स्वयं चर्च में ही आरम्भ हुआ। इस बार आध्यात्मिक और लौकिक सत्ता का संघर्ष नहीं था बल्कि स्वयं चर्च में ही पोप की निरंकुशता के खिलाफ आवाज उठी। पोप के प्रजाजनों ने पोप के ऊपर संवैधानिक और प्रतिनिधि शासन की मर्यादाएँ आरोपित करने का प्रयास किया। कन्सिलियर पार्टी का चर्च में यह प्रयास विफल हुआ। लेकिन आगे चल कर लौकिक शासकों और उनके प्रजाजनों के बीच यह वाद विवाद इसी ढंग पर चला।

प्रचारवादी

(The Publicists)

बोनिफेस अष्टम और फिलिप दि फेयर के बीच जो वाद-विवाद हुआ उसका स्तर पूर्ववर्ती वाद-विवादों से ऊँचा था। इस वाद-विवाद में विविध प्रश्नों को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक ढंग से रखा गया। सभी पुराने तर्क पेश किये गये और उनकी नये ढंग से व्याख्या करने की कोशिश की गई। धर्म-शास्त्रों के पुराने उद्धरणों का फिर से विश्लेषण किया गया। पुराने ऐतिहासिक दृष्टान्तों की फिर से परीक्षा की गई। कान्स्टेन्टाइन के दानपत्र और साम्राज्य के हस्तान्तरण जैसे पुराने सीमा चिह्नों का फिर से आख्यान किया गया। ऊपर से देखने पर मालूम पड़ सकता है कि कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ था लेकिन वास्तविकता यह है कि राजनैतिक दर्शन का एक नया अध्याय शुरू हो गया था। पहली बात तो यह है कि अब पोप के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त ने एक व्यवस्थित रूप धारण कर लिया था। इस समय लौकिक सत्ता के सभी रूपों के ऊपर पोप की प्रभुत्व शक्ति का तर्क ठीक-ठीक पेश किया गया। दो शक्तियों के पुराने गैलासियन सिद्धान्त को त्यागा तो नहीं गया लेकिन उसकी व्याख्या कुछ इस तरह से की गई कि उसका पुराना अर्थ बिलकुल बदल गया। यह ध्यान देने योग्य है कि जिस समय पोप के साम्राज्य के सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप में पेश किया जा रहा था, उस समय उसकी वह व्यावहारिक नीति बिलकुल असफल हो गई थी। बोनिफेस ने एक शताब्दी पूर्व के इन्नोसेंट तृतीय (Innocent III) की नीतियों

को फिर से जीवित करने की चेष्टा की थी लेकिन वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सका था। उलटे इसका परिणाम यह हुआ था कि पोप प्रायः तीन चौथाई शताब्दी तक फ्रांस के राजा के हाथों में कठपुतली बना रहा। इस असफलता ने यूरोप की राजनीति में राष्ट्रीय भावना के एक नये तत्त्व को प्रकट किया। तथापि, इसका सैद्धान्तिक महत्त्व भी था। इसने राजनैतिक शक्ति के रूप में राजपद के एक ऐसे सिद्धान्त को उत्पन्न किया जो साम्राज्य की परम्परा पर आधारित नहीं था। अब धर्म (Sacerdotium) और साम्राज्य (Imperium) इन दो विश्वव्यापी शक्तियों में विवाद नहीं था। प्रत्युत् अब विवाद के दो पक्ष थे—फ्रांस का स्वतन्त्र राजा और पोपशाही।

इस वाद विवाद ने विशाल साहित्य को जन्म दिया।[1] इस साहित्य का अधिकांश विवादास्पद तथा सामयिक था। फिलिप के समर्थन में जो साहित्य रचा गया था, उसका दृष्टिकोण पोप और सम्राट् के पूर्ववर्ती विवादों से भिन्न था। यह कहना तो शायद गलत होगा कि लेखक धार्मिक तत्त्वों में रुचि नहीं रखते थे। लेकिन यह बात जरूर है कि उनमें से बहुत से लेखक लौकिक हित के ही समर्थक हैं। शायद यह कहना अतिशयोक्ति न हो कि इस साहित्य का दृष्टिकोण मध्यवर्गीय है। राजा के अधिकांश समर्थक वकील थे। उन्होंने इस व्यवसाय का प्रशिक्षण प्राप्त किया था। वे राजदरबार की नौकरी में थे। उन्होंने आनुवंशिक राजतन्त्र के समर्थन में रोमन विधि के समस्त साधन जुटा दिये। यह स्वाभाविक है कि उनकी रचनाओं में राजनैतिक यथार्थवाद का प्रभाव है और वे प्रशासन की समस्याओं के सम्बन्ध में भी चिन्तित हैं। शासन का वाणिज्य शिक्षा, लौकिक शिक्षा, न्यायिक प्रक्रिया और उपनिवेशों आदि से क्या सम्बन्ध हो इन सभी प्रश्नों पर विचार किया गया है। अब यूरोप के बौद्धिक जीवन में शिक्षित और व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित वर्ग का आविर्भाव हो गया। मध्य युग में इससे पहले ऐसे किसी राजनैतिक साहित्य का निर्माण नहीं हुआ जो सत्ता के प्रतिबाधों से इतना आलोचक हो या उनसे इतना स्वतन्त्र हो।

राजा के पक्ष में लिखे गये साहित्य की यह विशेषता हम यहाँ एक उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। इस प्रयोजन के लिये हम पियरे डुबोइस (Pierre Dubois) के रोचक व्यक्तित्व को ले सकते हैं। यद्यपि वह राजनैतिक सिद्धान्तवादी तो नहीं था लेकिन वह मध्य युग का सबसे बड़ा पैम्फलेट लिखने वाला था।[2] यह व्यवसाय से

1 *Libelli de lite* जैसा कोई संग्रह तो नहीं है। लेकिन आर० शोल्ज (R. Scholz) ने *Die Publizistik zur Zeit Philipps des Schonen und Bonifaz VIII* (Stuttgart, 1903) में सम्पूर्ण साहित्य का विश्लेषण किया है। यह इस विषय पर प्रामाणिक कृति है। कार्लायल ने इस साहित्य के अधिकांश का सारांश प्रस्तुत किया है। देखिए *op. cit.* Vol. V (London, 1928), Part II Ch. viii—x)

2. उसने कई पैम्फलेट लिखे हैं। उसका सबसे विख्यात पैम्फलेट De recuperate one terro sancto है। इसकी रचना १३०६ में हुई थी। इसका पाँचवें अध्याय तक सम्पादन लांग्लोइस (Langlois) ने किया और पेरिस से १८९१ में छपवाया। इसका पहला भाग जो इंग्लैंड के राजा के प्रति सम्बोधित था, छपा। लेकिन वास्तव में वह फिलिप दि फेयर के लिए अभिप्रेत था। इसके दूसरे भाग में सम्पूर्ण यूरोप और निकट पूर्व में फ्रांस के प्रभाव को बढ़ाने की योजना थी। देखिए, Scholz *op cit* pp 375 *ff*.

वकील था। उसने राजा और चर्च के वाद विवाद को फिर से जीवित करने के बाद अपनी एक विशेष योजना प्रस्तुत की। यह मानना जरा मुश्किल है कि वह अपनी इस योजना में गम्भीर था। उसकी योजना यह थी कि फ्रांस को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वही स्थान प्राप्त करना चाहिये जो मध्ययुगीन विचारधारा ने साम्राज्य को दिया था और जो अब साम्राज्य की दुर्बलता के कारण रिक्त पड़ा हुआ था। पियरे डूबोइस का कहना था कि युद्ध को समाप्त करने के लिये फ्रांस की अध्यक्षता में यूरोपीय राज्यों का एक संघ (alliance) बन जाना चाहिये। इस संघ की एक प्रतिनिधि परिषद् और एक स्थायी अदालत होनी चाहिये। स्थायी अदालत मित्र राज्यों के पारस्परिक विवादों को हल कर सकती है। पियरे डूबोइस इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये चर्च के अन्दर भी आमूल सुधार चाहता था। वह चाहता था कि धर्माचार्यों में ब्रह्मचर्य का पालन समाप्त कर दिया जाय, धार्मिक क्षेत्राधिकार राजा की अदालतों को प्राप्त हो जाय और पोप का प्रदेश भी राजा को मिल जाये, तथा इसके बदले में पोप को वार्षिक पेंशन दे दी जाये। डूबोइस ने शिक्षा के पुनर्गठन का भी सुझाव दिया। उसका सुझाव था कि शिक्षा को धर्म-निरपेक्ष बना दिया जाना चाहिये। उसने स्त्रियों की शिक्षा की भी हिमायत की। वह पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषयों को रखना चाहता था:—यूनानी, हिब्रू, अरबी और आधुनिक भाषाएँ, विधि, चिकित्सा और विज्ञान, दर्शन और धर्मशास्त्र। अब यूरोप के बौद्धिक जीवन में विश्वविद्यालयों का महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया था। डूबोइस की शिक्षा योजना से बढ़ कर इसका और कोई प्रमाण नहीं हो सकता। अन्त में डूबोइस ने फ्रांस के आन्तरिक सुधार के लिये भी एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना में उसने सेना और अदालतों के सुधार पर विशेष बल दिया। वह न्याय को सस्ता, समान तथा द्रुत करना चाहता था। उसने सिक्कों के मानकीकरण और उद्योग व्यापार के प्रोत्साहन की ओर भी ध्यान दिया। यह योजना बड़ी भव्य थी और सब मिलाकर आदर्शवादी थी। लेकिन इसके कुछ अंश विशेषकर न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी अंश व्यावहारिक थे।

दोनों पक्षों की सापेक्ष स्थिति

(The Relative Position of the two Parties)

फिलिप तथा बोनिफेस के विवाद के स्वरूप ने दोनों पक्षों के सिद्धान्त के विकास पर व्यापक प्रभाव डाला। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का आधार यह था कि फिलिप ने फ्रांस के पादरी वर्ग पर कर लगा कर धन एकत्रित करने का प्रयास किया। बोनिफेस ने इस प्रकार के कराधान को अवैध बताया और घोषणा कर दी कि पादरी पोप की अनुमति के बिना कर न दें। लेकिन, कुछ साल बाद उसे पीछे हटना पड़ा क्योंकि उसने देखा कि इस प्रश्न पर, जिसे आजकल की शब्दावली में राष्ट्रीय प्रश्न कहा जाएगा, फ्रांस के पादरी वर्ग ने अपने राजा का साथ दिया। जहाँ तक व्यावहारिक राजनीति का प्रश्न है, यह विवाद महत्त्वपूर्ण था क्योंकि पोप भूतकाल में जिन परम्परागत चालों पर निर्भर रहता था, वे इस समय सफल नहीं हुई। बोनिफेस राजा के सामंतों में दलबन्दी पैदा कर राजा को विवश करने में असफल रहा।

स्पष्ट था कि अब राजनीतिक एकता की एक शक्ति सक्रिय थी। दूसरी ओर धार्मिक सम्पत्ति पर कर लगाना राजतन्त्र के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बन गया था। यदि बोनिफेस की नीति सफल हो जाती अर्थात् पोप की आज्ञा के बिना पादरी कर देना अस्वीकार कर देते, तो यूरोप में कोई भी राजतन्त्र पोप की सहमति के बिना नहीं टिक सकता था। यदि चर्च के अधिकारियों की सारी भूमि सामंती करों से मुक्त हो जाती, तो सामंती राजतन्त्र भी जीवित नहीं रह सकता था। पुन:, राजा उस एकमात्र नीति का पालन करने से वंचित हो जाता जिसके पालन से सामंती राजा मजबूत हो सकते थे। यह नीति थी कि व्यापारी वर्गों को राजदरबारों में लाया जाए और प्रशासन आत्मनिर्भर अधिकारियों के हाथों में सौंपा जाए। फिलिप के शासन की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसने फ्रांस के महान् न्यायालय पेरिस की पार्लमेंट (Parloment of Paris) का पुनर्गठन किया।

इस वाद-विवाद का सम्बन्ध धार्मिक सम्पत्ति के अधिकारों से था। पोप के समर्थकों ने पहले की अपेक्षा कहीं उग्र दृष्टिकोण ग्रहण किया। पदारोहण सम्बन्धी वादविवाद (investiture struggle) में यह तय हो गया था कि आध्यात्मिक मामलों में चर्च स्वतन्त्र है। लेकिन, इस स्वतन्त्रता का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता था कि चर्च के अधिकारियों की सम्पत्ति नागरिक उत्तरदायित्वों से मुक्त रहेगी। प्रश्न यह उठा कि क्या सम्पत्ति के पक्ष में पोप का दावा पादरियों की दरिद्रता की उस घोषणा के खिलाफ नहीं था जो ईसाई धर्म हमेशा करता रहा था। जो हो, इस प्रश्न ने यह बहुत आवश्यक कर दिया कि आध्यात्मिक और लौकिक के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जाए और दोनों शक्तियों के स्वरूप की गहरी छान-बीन की जाये। सम्पत्ति एक लौकिक वस्तु थी। लेकिन, चर्च भी सम्पत्ति के बिना अपना काम नहीं चला सकता था। यदि इसका यह अर्थ था कि आध्यात्मिक शक्ति ऐसी प्रत्येक वस्तु तक विस्तृत है जो आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक हो, तो लौकिक मामलों में भी चर्च अन्तिम न्यायालय हो जाता है। इसके विपरीत यदि आध्यात्मिक शक्ति केवल उन्हीं कार्यों तक सीमित थी जिनके लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी, तो फिर आध्यात्मिक शक्ति को वास्तविक शक्ति नहीं समझा जा सकता था चाहे उसे भावनात्मक रूप में कितना ही गौरव और महत्व दिया जाता। इस प्रकार, यह सिद्धान्त दो दिशाओं में आगे बढ़ सकता था। पोप की ओर से कुछ इस प्रकार का दावा प्रस्तुत किया गया कि पोप को निरीक्षण (supervision) और निदेशन (direction) की अन्तिम शक्ति प्राप्त है। चर्च और उसकी अदालतें लौकिक शासन का अतिक्रमण किए बिना ही ऐसे किसी भी प्रश्न पर, जिस पर विवाद किया जाता, अन्तिम न्यायालय बन गईं। राजा की ओर से यह कहा गया कि चर्च की शक्ति जहाँ तक हो सके, सीमित रहनी चाहिए, उसे केवल अन्तरात्मा के प्रश्नों पर ही विचार करना चाहिए और बलप्रवर्ती शक्ति के लिए उसे लौकिक शासन पर निर्भर रहना चाहिए।

फ्रांस के वाद विवाद में दोनों पक्षों की नीति विषयक स्थिति उल्टी हो गई। इस बार लौकिक शक्ति नहीं, प्रत्युत् धार्मिक शक्ति बचाव पर थी। इस कारण

केवल राजा की सत्ता नहीं, प्रत्युत् पोप की शक्ति भी कसौटी पर थी। चर्च में पोप की शक्ति, उसके विरुद्ध नास्तिकता का अभियोग लगाने की सम्भावना, धार्मिक सम्पत्ति पर उसका नियन्त्रण, सैद्धान्तिक प्रश्नों में उसकी प्रामाणिकता, संक्षेप में चर्च शासन के और उसमें पोप के योग के सम्पूर्ण प्रश्न की गहरी जाँच पड़ताल की गई। चर्च की प्रगति में इस प्रश्न का उठना सबसे महत्त्वपूर्ण था। चौदहवी शताब्दी में फ्रांस के प्रति पोपशाही की अधीनता और महान् मतभेद के कांड (Scandal of the Great Schism) ने जो इसका सीधा परिणाम था, चर्च के शासन को यूरोप के राजनैतिक विवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय बना दिया। इस वाद-विवाद में आध्यात्मिक सत्ता के स्वरूप का ही विश्लेषण नहीं हुआ, प्रत्युत् पोपशाही को चर्च की उच्चतम शक्ति मानना अस्वीकार किया गया। पोपशाही के प्रति विरोध के परिणाम प्रोटेस्टंट रिफॉर्मेशन (Protestant Reformation) में पूरी तरह प्रकट हुए। जब इस प्रश्न पर राज्यों में विवाद प्रारम्भ हुआ, तब यह सवाल भी उठा कि चर्च में निरंकुश शक्ति रहे या प्रतिनिधिक।

दोनों पक्षों की ओर से अनेक पुस्तकें प्रकाशित की गई। उन सबका उल्लेख मात्र करना तो व्यर्थ होगा और वर्णन करना असम्भव। सबसे अच्छा यह होगा कि हम पोपवादियों तथा राजतन्त्रवादियों के दृष्टिकोणों का सामान्य रूप से विवेचन कर दें और प्रत्येक अवस्था में उन नये तत्त्वों की चर्चा कर दें जो सामने आए। दोनों पक्षों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम प्रत्येक पक्ष की ओर से एक प्रतिनिधि लेखक छाँट लें और उसकी विचारधारा का विस्तार से विवेचन करें। हम पोप की ओर से एगिडियस कोलोना (Egidius Colonna) की *Power of the Church* पुस्तक लेंगे। इस पुस्तक में पोप के साम्राज्यवाद का सबसे शक्तिशाली ढंग से समर्थन किया गया था। राजा की ओर से हम डोमिनिकन जॉन ऑफ पेरिस (Dominican John of Paris) की पुस्तक पर विचार करेंगे। आगे चल कर अपने विषय पर यही पुस्तक सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई। अब इस अध्याय में हम पहले पोप की शक्ति के सिद्धान्त का विशेष रूप से एगिडियस द्वारा प्रतिपादित पक्ष का विवेचन करेंगे। इसके बाद हम पोपविरोधी पक्ष की परीक्षा करेंगे। इस संदर्भ में हम जॉन ऑफ पेरिस के तर्क पर विस्तार से विचार करेंगे।

पोप के दावे

(The Papal Claims)

बोनिफेस ने फ्रांस के राज्य के खिलाफ जो दृष्टिकोण अपनाया और जिस नीति का अनुसरण किया, वह तेरहवीं शताब्दी के महान् पोपों के पदचिह्नों पर ही थी। इन महान् पोपों में इन्नोसेंट तृतीय (Innocent III) और इन्नोसेंट चतुर्थ (Innocent IV) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बोनिफेस ने धर्माचार्यों द्वारा प्रतिपादित पोप की शक्ति के सिद्धान्त से भी बहुत कुछ ग्रहण किया था। इन धर्माचार्यों में इन्नोसेंट चतुर्थ (Innocent IV) भी शामिल था।[1] इसमें तदा

---

1. कार्लाइल ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है। देखिए *op. cit.*, Vol

ग्रिगोरी सप्तम (Gregory VII) के सिद्धान्त से मुख्य अन्तर महत्तर शक्ति के दावे के सम्बन्ध में नहीं था। ग्रिगोरी की पोप के पद के बारे में अत्यन्त गौरवपूर्ण धारणा थी। इससे अधिक गौरवपूर्ण धारणा का निर्माण नहीं हो सकता। मुख्य अन्तर वैधानिक है। अब पोप की सत्ता के सिद्धान्त को इस आधार पर ठीक-ठीक समझने का प्रयास किया गया कि चर्च में पोप तथा उसके मातहत धर्माधिकारियों के बीच क्या सम्बन्ध है और आध्यात्मिक तथा लौकिक शक्तियों के बीच क्या सम्बन्ध है। स्थूल रूप से अन्तर यह है कि एक ओर तो सत्ता का सामान्य और अस्पष्ट-सा दावा है। दूसरी ओर नैतिक अनुशासन तथा न्यायिक अधिकारों और शक्तियों के व्यवस्थित सिद्धान्त का अधिकार है। थॉमस की रचनाओं से ज्ञात होता है कि तेरहवीं शताब्दी के राजनैतिक दर्शन के विद्यार्थी इस उन्नति का महत्व नहीं समझ सके। बोनिफेस तथा फ्रांस के वाद-विवाद से यह प्रकट होता है कि शताब्दी के अन्त में विधिवेत्ताओं तथा प्रचारकों ने इसका महत्त्व समझ लिया था। रोमन तथा धार्मिक विधि के पुनरुत्थान ने विधिवाद (legalism) के तत्वों को फिर से जीवित कर दिया। यह सदैव से ही रोम की परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण भाग रहा था। अब यह राजनैतिक दर्शन का एक स्थायी भाग बन गया।

धार्मिक विधिवेत्ताओं ने पोप की शक्तियों की जो विशाल सूची तैयार की थी और इन्नोसेंट तृतीय जैसे महान् पोपों ने जिन शक्तियों का वास्तव में प्रयोग किया था, उन्होंने आध्यात्मिक और लौकिक शक्तियों के प्राचीन अन्तर को अस्वीकार नहीं किया था। लेकिन, उन्होंने यह अवश्य स्वीकार किया था कि लौकिक और आध्यात्मिक शक्तियों की स्वतन्त्रता और पृथक्ता का स्पष्टीकरण किया जा रहा था। स्पष्टीकरण की यह प्रक्रिया फ्रांस के साथ वाद विवाद में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई। इन्नोसेंट तृतीय (Innocent III) ने अपनी प्रसिद्ध धर्माज्ञप्ति बुल वैनराबिलैम (Bull Venerabilem) (१२०२) में यह दावा किया था कि वह साम्राज्यिक निर्वाचनों के सम्बन्ध में निर्वाचित उम्मीदवार की उपयुक्तता के बारे में निर्णय दे सकता है। साथ ही वह विवादास्पद या अनियमित निर्वाचनों का पुनरीक्षण कर सकता है। दूसरे शासकों के साथ व्यवहार करते समय उसने कुछ विशेष मामलों में या कुछ विशेष व्यक्तियों के ऊपर पोप के क्षेत्राधिकार को स्थापित करने का प्रयास किया था। उदाहरण के लिए उसने शासकों के बीच होने वाली सन्धियों और करारों को पुष्ट करने तथा उनके सम्बन्ध में निर्णय करने की शक्ति का दावा प्रस्तुत किया। इस दावे का आधार यह सिद्धान्त था कि चर्च का शपथों के ऊपर विशेष क्षेत्राधिकार है। पोप के इस दावे का अर्थ यह था कि युद्ध तथा शान्ति के ऊपर उसका सामान्य संरक्षण स्थापित हो जाता और विवादग्रस्त पक्ष अपने-अपने झगड़े निर्णय के लिए उसके सामने पेश करने को बाध्य हो जाते। उसने विधवाओं तथा अनाथों के सम्बन्ध में विशेष संरक्षण का तथा नास्तिकता के दमन के लिए

V (1028), इन्नोसेंट तृतीय के लिए देखिए भाग २ अध्याय ३, २; इन्नोसेंट चतुर्थ के लिए देखिए, *Ibid.* Ch. V, see also Vol. II, Part II.

विशेष शक्तियों का भी दावा किया था। इस दावे में यह भी शामिल था कि वह नास्तिक की सम्पत्ति को जब्त कर सकता है और उसे अपदस्थ कर सकता है और यदि कोई शासक इस सम्बन्ध में चर्च के आदेश को लागू न करे तो उसे भी दण्ड दे सकता है। उसने न्याय व्यवस्था के पर्यवेक्षण का सामान्य अधिकार प्राप्त करने की भी कोशिश की थी। इस अधिकार का अर्थ यह था कि यदि लौकिक न्यायालय किसी वाद में न्याय न कर सकें तो ऐसे वाद को वह अपनी अदालतों में ले ले। ऐसे मामलों में अन्तिम क्षेत्राधिकार किसका था, इसका निर्णय पोप अथवा धार्मिक न्यायालयों के ही हाथ में था। इन्नोसेंट तृतीय (Innocent III) का यह इरादा जरूर था कि लौकिक सत्ताएँ अपनी शक्ति अपने हाथ में रखें और अधिकांश मामलों में वे अपनी शक्ति का प्रयोग करें। उसने यह कभी नहीं कहा कि उसकी शक्ति लौकिक शासकों की शक्ति से बढ़कर है अथवा लौकिक शासकों ने अपनी शक्ति उससे प्राप्त की है। तथापि, उसका यह विचार अवश्य था कि पोप को पुनरीक्षण की सामान्य शक्ति प्राप्त है और यह शक्ति आवश्यकता पड़ने पर किसी भी प्रश्न तक विस्तृत हो सकती है। आवश्यकता का अन्तिम निर्णय धार्मिक सत्ता के ही हाथ में था।

उपर्युक्त सिद्धान्त का सार यह है कि इसमें पोप के लिए अनुपम शक्ति का दावा किया गया। यह अनुपम शक्ति स्वयं चर्च में भी थी और चर्च तथा लौकिक शासकों के सम्बन्ध में भी। यह शक्ति अन्य किसी भी सत्ता से ऊँची और भिन्न थी। संक्षेप में पोप को एक प्रकार की प्रभुसत्ता प्राप्त थी। इन्नोसेंट चतुर्थ (Innocent IV) ने इस सिद्धान्त का यथार्थ विवरण दिया है। उसका कहना है कि पोप किसी भी लापरवाह राजा को इसीलिए ताड़ना नहीं देता कि राजा उसका सामन्त है। पोप राजा के मामले में हस्तक्षेप इसलिए कर सकता है कि उसे प्रभुत्व शक्ति (plenitudo potestatis) प्राप्त है। इस असाधारण शक्ति का कारण यह है कि पोप ईसा मसीह का प्रतिनिधि है। यह शक्ति ईसाई धर्म की एक प्रमुख विशेषता है।

"ईसा मसीह ने पीटर को और पीटर के उत्तराधिकारियों को उसी समय अपना प्रतिनिधि बना दिया जब उन्होंने स्वर्गीय राज्य की कुंजियाँ उन्हें दीं और कहा 'मेरा भेड़ों का पालन पोषण करो।' यद्यपि संसार में अनेक पद तथा सरकारें हैं लेकिन जब आवश्यकता हो तभी पोप से हमेशा ही अपील की जा सकती है। यह आवश्यकता विधि के कारण पैदा हो सकती है। हो सकता है कि न्यायाधीश यह तय न कर सके कि उसे ठीक-ठीक क्या निर्णय देना चाहिये। यह आवश्यकता इस कारण भी पैदा हो सकती है कि कोई ऊँचा न्यायाधीश न हो तथा छोटे न्यायाधीश अपने निर्णयों को कार्यान्वित न कर सकें या न्याय करने के लिए तैयार न हों।"[1]

पोप की यह अद्वितीय शक्ति एक प्रकार का विशेषाधिकार है। यह पोप को अन्य समस्त धार्मिक और लौकिक शक्तियों के ऊपर पुनरीक्षण और पर्यवेक्षण की शक्ति प्रदान करता है। इस अर्थ में लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शक्ति चर्च के पास है और वह पोप में निहित है। सारांश में यह सिद्धान्त चर्च को

---

1. Quoted by Carlyle, *op. cit*, Vol. V, p. 323, n. 1.

सार्वभौमिक प्रभुसत्ता सौंप देता है। इसके अनुसार पोप सम्पूर्ण विधि-व्यवस्था का प्रधान हो जाता है। वह सार्वभौमिक अधिशासक तो नहीं बनता, लेकिन अंतिम न्यायालय तथा वैधानिक शक्ति का मूल स्रोत अवश्य बन जाता है।

पोप समर्थक लेखकों ने पोप की जिन असाधारण शक्तियों का उल्लेख किया है, इन्नोसेंट तृतीय ने उनका वास्तव में प्रयोग किया था। इन्नोसेंट चतुर्थ तथा अन्य धर्माचार्यों ने पोप की शक्तियों के सैद्धान्तिक आधार को पुष्ट किया था। बोनिफेस ने १३०२ की एक धर्माज्ञप्ति उनाम सैंक्टाम (Unam Sanctam) में पोप की स्थिति का स्वयं वर्णन किया। पोप के साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में इससे अधिक सजीव वर्णन अब तक के किसी भी शासकीय प्रलेख में नहीं किया गया।[1] इस धर्माज्ञप्ति में दो सिद्धान्तों का निरूपण किया गया था। पहला सिद्धान्त तो यह था कि पोप धर्म में उच्चतम है और मुक्ति के लिए उसकी अधीनता जरूरी है। दूसरा सिद्धान्त यह था कि दोनों तलवारें चर्च की हैं। कार्य का भेद अब भी स्वीकार किया गया। धर्माचार्यों को लौकिक तलवार का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस तलवार का प्रयोग नरेशों को पादरियों के आदेश पर तथा उनकी अनुमति से करना चाहिए। आध्यात्मिक शक्ति लौकिक शक्ति से ऊँची है। प्रकृति का यह सामान्य नियम है कि निम्न शक्ति को उच्च शक्ति के अधीन रहना चाहिए। इसलिए सांसारिक सत्ता की स्थापना आध्यात्मिक सत्ता द्वारा की जाती है। आध्यात्मिक सत्ता ही सांसारिक सत्ता की जाँच करती है। आध्यात्मिक सत्ता की जाँच केवल ईश्वर ही कर सकता है। चर्च की सत्ता का आधार यह है कि पोप पीटर का उत्तराधिकारी और ईसा का प्रतिनिधि है। इस धर्माज्ञप्ति में प्रायः वही बातें दोहराई गई थीं जिनको इन्नोसेंट चतुर्थ पहले ही विस्तार से वर्णित कर चुका था।

एगिडियस कोलोना
(Egidius Colonna)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पोप के साम्राज्यवाद का सबसे प्रबल तर्क एगिडियस कोलोना (Egidius Colonna) द्वारा १३०२ में लिखी गई *De ecclesiastica potestate* नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया था।[2] इस पुस्तक

---

1 बोनिफेस की रचनाएँ *Les registres de Boniface VIII*, Bibliotheque des Ecoles Francaises d' Athenes et de Rome, 2e series में प्रकाशित हैं। *Clericis Laicos* तथा *Unam sanctam* का अंग्रेजी अनुवाद ई० एफ० हैण्डरसन (E. F. Henderson) के *Select Historical Documents of the Middle Ages* (1892) नामक ग्रन्थ में दिया गया है। p. p. 432 ff

2 इस पुस्तक का प्रथम संस्करण जी० बोफिटो (G. Boffito) तथा जी० यू० ओक्सिला (G. U. Oxila) द्वारा फ्लोरेंस में १९०८ में प्रकाशित किया गया था। आर० शोल्ज (R. Scholz) ने *Aegidius Romanus De ecclesiastica potestate* (Weimar, 1929) नाम से इसका एक बेहतर संस्करण प्रकाशित किया है। एगिडियस ने *De regimine principum* नामक शासन सम्बन्धी एक लोकप्रिय पाठ्य पुस्तक भी १२८५ में फिलिप दि फेयर (Philip the Fair) के लिए, जिसका वह अध्यापक था, लिखी थी। यह पुस्तक मध्ययुग आधुनिक काल में कई बार छपी थी। एस० पी० मोलेनेअर (S. P. Molenaer) ने

ने पोप के पक्ष को एक कानूनी तर्क के रूप में नहीं, प्रत्युत् दार्शनिक दृष्टिकोण से पेश करने की कोशिश की। इस दार्शनिक दृष्टिकोण में नव्य अरस्तूवाद का पुराने भाग इन परम्परा के साथ समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया था। प्रो० कार्लायल के शब्दों में एगिडियस ने अपनी एक पूर्ववर्ती रचना में विधिवेत्ताओं के प्रति एक विचित्र और उपहासजनक घृणा व्यक्त की थी।[1] फिर भी उसकी पुस्तक विधिवाद के ऊपर ही आधारित है। विधिवाद अब पोप की नीति का एक आवश्यक अंग बन गया था। इस पुस्तक में पुनरावृत्ति की भरमार है। पुस्तक का औपचारिक संगठन भी दोषपूर्ण है। लेकिन, पुस्तक के सिद्धान्त बिलकुल स्पष्ट हैं। पुस्तक को मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है। सबसे पहले पुस्तक में पोप की प्रभुसत्ता के बारे में विचार किया गया है। इसके बाद इन सिद्धान्त के आधार पर सम्पत्ति और शासन के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाले गए हैं। सबसे अन्त में विविध आपत्तियों के सम्बन्ध में विशेषकर पोप के द्वारा निकाली गई धर्माज्ञप्तियों के सम्बन्ध में विविध दावाओं का समाधान किया गया है।

पुस्तक के पहले भाग में तथा धर्माज्ञप्ति उन्नाम सैन्टाम में काफी साम्य है। कई स्थलों पर तो शब्द-साम्य तक पाया जाता है। चूँकि इस पुस्तक की रचना पहले हुई थी, इसलिए बोनिफेस तथा इसके लेखक के बीच काफी घनिष्ठता रही होगी। ऐगीडियस का कहना है कि पोप में निहित आध्यात्मिक शक्ति अनुपम और सर्वोच्च है। यह सत्ता पद में निहित है। इसलिए, यह पदधारी के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर नहीं है। आध्यात्मिक सत्ता लौकिक सत्ता की स्थापना कर सकती है और उसकी परीक्षा भी। एगीडियस ने कॉन्स्टंटाइन के दानपत्र, साम्राज्य के हस्तान्तरण, धर्मशास्त्रों और ऐतिहासिक दृष्टान्तों का भी सहारा लिया है। लेकिन, यह उसके तर्क के मुख्य भाग नहीं हैं। एगीडियस का मुख्य तर्क यह है कि आध्यात्मिक शक्ति लौकिक शक्ति से उच्चतर होती है और प्रकृति का यह सार्वभौम नियम है कि उच्चतर शक्ति निम्नतर शक्ति पर शासन करती है। प्रकृति में व्यवस्था किसी अधीनता के द्वारा कायम रह सकती है। यह नहीं माना जा सकता कि ईसाई समाज में प्रकृति की अपेक्षा कम व्यवस्था है।

"सृष्टि में भौतिक तत्त्व आध्यात्मिक तत्त्व द्वारा शासित होता है। देवता भौतिक प्राणियों में सबसे ऊँचे हैं। वे सभी प्राणियों पर नियन्त्रण रखते हैं। लेकिन, उन पर भी आध्यात्मिक तत्त्व ही शासन करते हैं। इसी प्रकार इसाइयों में भी समस्त लौकिक शासकों और सामारिक शक्तियों को आध्यात्मिक तथा धार्मिक सत्ता के अधीन रहना चाहिए। उनके ऊपर पोप का विशेष रूप से नियन्त्रण रहना चाहिए। इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक शक्तियों में तथा चर्च में पोप की स्थिति सबसे ऊँची है।"[2]

एगीडियस का यह तर्क सैन्ट आगस्टाइन तथा रूप और पदार्थ सम्बन्धी अरस्तू के सिद्धान्त का समन्वय प्रतीत होता है। पुस्तक के दूसरे भाग में लेखक ने

Li Livres du gouvernement des rois नामक एक पुराने फ्रेंच संस्करण का अनुवाद किया था। (न्यूयार्क, 1899)

1 *op cit*, Vol. V, p 71.

2 1, 5, ed. by Scholz, 17.

अपने दर्शन को कुछ विशिष्ट प्रश्नों के ऊपर लागू किया है। यहाँ वह अपने आवश्यक निष्कर्ष भी निकालता है। पुस्तक के इस भाग में तर्क का आधार डोमिनियम का सिद्धान्त (Conception of dominium) है। डोमिनियम के अन्तर्गत सम्पत्ति का स्वामित्व और प्रयोग तथा राजनैतिक सत्ता भी शामिल है। डोमिनियम एक साधन है। किसी साधन का मूल्य और महत्त्व उसके साध्य के ऊपर निर्भर है। पदार्थों तथा राजनैतिक शक्ति का स्वामित्व उसी समय अच्छा है जबकि उनसे मनुष्य का कल्याण हो। मनुष्य का सबसे ऊँचा कल्याण आध्यात्मिक कल्याण है। जब तक मनुष्य अपनी शक्ति और सम्पत्ति को आध्यात्मिक प्रयोजनों में नहीं लगने देता, ये चीजें उसके लिये हितकारी नहीं होतीं। इनसे उसको मुक्ति नहीं मिलती बल्कि आत्मा का पतन ही होता है। मुक्ति का एकमात्र साधन चर्च है। इसलिए, यह जरूरी है कि समस्त डोमिनियम चर्च के अधीन रहे। यह मानना गलत है कि डोमिनियम का उत्तराधिकार केवल स्वार्थ सिद्धि के लिये ही उचित ठहराया जाये। इसका वास्तविक औचित्य तो उस आध्यात्मिक पुनरुत्थान में निहित है जो चर्च के माध्यम से होता है। सम्पत्ति का उस समय तक स्वामित्व वैध नहीं कहा जा सकता और न उस समय तक नागरिक सत्ता का प्रयोग ही वैध समझा जा सकता है जब तक कि वह ईश्वर के अधीन न हो। कोई व्यक्ति ईश्वर के अधीन उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि वह चर्च के अधीन न हो।

"इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि आपको यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि आपका उत्तराधिकार, आपक सम्पत्ति और आपका अन्य समस्त स्वामित्व इसलिये नहीं है कि आप अपने पिता के पुत्र हैं। ये चीजें आपको उनके द्वारा मिली हैं और इसलिये मिली हैं कि आप उनके पुत्र हैं। वास्तव में आपको ये चीजें चर्च के द्वारा मिली हैं और इसलिये मिली हैं कि आप चर्च के पुत्र हैं।"

बपतिस्मा और पाप के प्रायश्चित्त द्वारा ही मनुष्य शक्ति और सम्पत्ति का हकदार हो सकता है। नास्तिक व्यक्ति को इनमें से कोई चीज पाने का अधिकार नहीं है। धर्म बहिष्कार विधियों, संविदाओं, सम्पत्ति अधिकारों और विवाह, संक्षेप में उस सारी विधि व्यवस्था को जिसके ऊपर समाज आधारित होता है, रद्द कर देता है। अरस्तू की शब्दावली के बावजूद यह निष्कर्ष आगस्टाइन के इस तर्क का कि एक न्यायपूर्ण राज्य को अनिवार्यतः ईसाई राज्य होना चाहिये, अत्यधिक सामान्यीकरण था। प्रयोग में वह थामस के इस मत से कहीं कम उदार था कि नास्तिकता राजनैतिक क्षेत्र के प्रयोग में कुछ बाधा नहीं है। वास्तव में एगीडियस द्वारा अरस्तू के सिद्धान्तों का प्रयोग ऊपरी ही था। उस समय के बौद्धिक वातावरण में यह एक सामान्य-सी बात थी। एगीडियस ने लौकिक शासन के नैतिक आधार के प्रति ऐसी कोई रुचि प्रगट नहीं की है जैसी थामस ने प्रगट की थी। मूलतः उसकी पुस्तक उस धार्मिक परम्परा से प्रभावित थी, जो विधि सम्बन्धी अध्ययन में और अरस्तू के पुनरुद्धार से पहले की थी।

एगीडियस की पुस्तक का शेष भाग पोप की सार्वभौम सत्ता तथा दोनों शक्तियों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों के विरोध का विवेचन करता है। पोप की प्रार्थ (?) मार्गस्थियों में दोनों शक्तियों की स्वतन्त्रता का संकेत प्राप्त होता था। एगीडियस

का कहना है कि आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति अलग-अलग हैं और सामान्यतः प्रयोग की दृष्टि से उन्हें अलग-अलग रखना भी चाहिये। उसकी योजना में लौकिक शक्ति के अधिकार छीने नहीं जाते, वे सिर्फ पुष्ट कर दिये जाते हैं। चर्च की ऐसी कोई इच्छा नहीं है कि आध्यात्मिक और लौकिक शक्तियाँ मिल जायें। चर्च लौकिक शक्ति को अतिक्रान्त नहीं करता। वह केवल उपयुक्त कारण होने पर और आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा करने के लिये ही हस्तक्षेप करता है। परन्तु एगीडियस ने ऐसे मामलों की एक विशद सूची दी है जिनमें उसने पोप के हस्तक्षेप को उचित ठहराया है। चर्च ऐसे किसी भी मामले में हस्तक्षेप कर सकता है जहाँ लौकिक सम्पत्ति या शक्ति का प्रयोग शरीर के पाप के लिए हो। एगीडियस का कहना है कि यह शक्ति इतनी विशाल है कि इसमें सभी तरह के लौकिक मामले आ जाते हैं। पुनः, चर्च का यह भी दायित्व है कि वह शासकों के बीच शान्ति कायम रखे तथा सन्धियों का पालन कराये। जहाँ शासक उपेक्षा दिखाये या नागरिक विधि स्पष्ट अथवा अपर्याप्त हो चर्च वहाँ भी हस्तक्षेप कर सकता है। यह सम्पूर्ण सूची सामान्यतः प्रयुक्त होने वाली शक्तियों का नहीं प्रत्युत् विशेष शक्तियों का निरूपण करती है। पोप अपनी इच्छा के अनुसार भी किसी मामले का क्षेत्राधिकार निश्चित कर सकता है। यह सही है कि पोप को मनमाने ढंग से काम नहीं करना चाहिये, उसे बेलगाम नहीं होना चाहिये। लेकिन वह खुद ही अपने ऊपर कानून की लगाम लगा सकता है।

एगीडियस ने अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में पोप की प्रभुसत्ता का विवेचन किया है। उसका कहना है कि पोप की प्रभुसत्ता एक स्वतन्त्र और स्वतः प्रेरित शक्ति है। पोप इस शक्ति के द्वारा कोई भी कार्य कर सकता है। एगीडियस के अनुसार इस प्रकार की दो ही शक्तियाँ हैं, एक ईश्वर है दूसरी पोप। आध्यात्मिक मामलों में पोप ईश्वर के अधीन रहता हुआ निरंकुश है। सारतः, वह चर्च है। वह न तो अपदस्थ किया जा सकता है, न उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। धार्मिक विधि के ऊपर तथा पोप के अन्य अधिकारियों के ऊपर उसका पूर्ण अधिकार होता है। पोप बिशपों का निर्माण कर सकता है। इसके लिये उसे निर्वाचनों की भी जरूरत नहीं है। तथापि, पोप को विधि के रूप कायम रखने चाहिएँ। यह तर्क प्रायः वैसा ही है जैसा कि १६वीं शताब्दी में दैवी अधिकार के द्वारा राजतन्त्र के समर्थन के लिये प्रयुक्त किया गया था। राजा का दैवी अधिकार पोप के दैवी अधिकार का भी एक रूप है। लेकिन एगीडियस का विचार है कि प्रभुसत्ता पोप की ही एक विशेषता है। जिस समय उसने यह लिखा था, यह तर्क लौकिक शासक के ऊपर लागू नहीं हो सकता था क्योंकि लौकिक शासक सेंट पीटर का उत्तराधिकारी नहीं था। जब चर्च के हस्तक्षेप से राजाओं की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न उठा तब राजाओं की शक्ति का तर्क भी कुछ इसी ढंग से प्रतिपादित किया गया। जोन नेविले फिगिस (John Neville Figgis) ने यह ठीक ही कहा है कि राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त लौकिक सस्थाओं को धर्म से पृथक् रखने के लिये धर्मशास्त्र का एक असत्य लेकिन बुद्धिमत्तापूर्ण सहयोग था। जब राजाओं और उनके प्रजाजनों में संघर्ष आरम्भ हुआ तब राजाओं ने इस सिद्धान्त का अपने पक्ष में प्रयोग किया।

रोमन विधि और राजकीय शक्ति

एगीडियस द्वारा प्रतिपादित दर्शन में पोप का साम्राज्यवाद अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था। यहाँ 'साम्राज्यवाद' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया गया है। यद्यपि सिद्धान्त का आधार यह था कि चर्च को आध्यात्मिक मामलों में सर्वोच्च शक्ति प्राप्त है, तथापि इस सिद्धान्त में पोप को वही शक्ति दी गई थी जो कि रोमन विधि में सम्राट् को प्राप्त थी। हाब्स ने पोप के सम्बन्ध में कहा था कि वह मृत रोमन साम्राज्य का भूत है जो उसकी कब्र पर मुकुट धारण किए हुए बैठा है। डोमिनियम पोप की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर ही टिक सकता है। पोप की प्रभुसत्ता ही व्यक्तिगत और सार्वजनिक अधिकारों का निर्णय कर सकती है। दो स्वतन्त्र शक्तियों का गैलाशियन सिद्धान्त अब केवल परम्परा के रूप में रह गया है जिसके प्रति औपचारिक आदर प्रकट किया जा सकता है लेकिन व्यवहार में जिसका कोई अर्थ नहीं है। अब आध्यात्मिक शक्ति को वैधानिक शक्ति के रूप में प्रकट करता था। इस अवस्था में यही सम्भव था। इसका विकल्प इस बात को अस्वीकार करना था कि आध्यात्मिक शक्ति को वैधानिक आधार की आवश्यकता होती या उसके पास वैधानिक आधार होता। जहाँ तक हो सके, आध्यात्मिक शक्ति को नैतिक और धार्मिक शिक्षण तक ही सीमित रखना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि सिविल शासन केवल एक लौकिक संस्था रह जाएगा। इस प्रक्रिया का बीज भी १४वीं शताब्दी के पक्ष में फ्रेंच वाद-विवाद में ढूंढा जा सकता है।

रोम की विधि सम्राट् में केन्द्रित वैधानिक सत्ता के सिद्धान्त सहित फ्रांस के राजा के पक्ष में भी उसी प्रकार महत्वपूर्ण तर्क थी, जिस प्रकार कि पोप के पक्ष में। १२वीं शताब्दी में एक नए सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ। यह सिद्धान्त था—विधि शासक के अधिनियमन के ऊपर आधारित है। यह सिद्धान्त रोमन विधि के अध्ययन से सिद्ध हुआ था। विधिवेत्ताओं का सिद्धान्त यह था कि सम्राट् की इच्छा ही कानून है। सम्राट् इस शक्ति को जनता से प्राप्त करता है। जनता उसे कानून बनाने की शक्ति दे देती है। १२वीं शताब्दी में विधिवेत्ताओं में इस प्रश्न के ऊपर मतभेद था कि जहाँ जनता एक बार अपनी यह शक्ति सम्राट् को सौंप देती है, तो क्या वह शक्ति उसके हाथ से हमेशा के लिए बिल्कुल निकल जाती है? कुछ लोगों का विचार था कि जनता के पास फिर कोई शक्ति नहीं रहती थी और कुछ लोग यह समझते थे कि जनता के पास अवशिष्ट शक्ति बची रहती थी। कुछ भी हो, कुछ न्यायविद् यह मानने लगे थे कि विधि के लिए अधिनियमन की जरूरत होती है और विधि एक प्रमुख शासक की इच्छा को व्यक्त करती है। अब तक विधि को जनता का लोकाचार समझा जाता था। इस सिद्धान्त ने एक नई स्थिति उत्पन्न कर दी। इस सिद्धान्त ने दो प्रकार की शासन-प्रणालियों में भी भेद स्थापित किया। एक शासन प्रणाली तो वह होती है जिसमें विधि जनता की ओर से आती है, दूसरी शासन-प्रणाली वह होती है जिसमें विधि राजा की ओर से आती है। इनमें से पहली को सवैधानिक शासन और दूसरी को निरंकुश शासन कहते हैं।

रोम की विधि सम्राट् को जो शक्ति देती थी, वह तेरहवीं शताब्दी के साम्राज्य की दृष्टि से एक असंगति थी। विधि की शब्दावली राजाओं तथा अन्य स्वतन्त्र शक्तियों के ऊपर बिलकुल लागू नहीं होती थी। विधि को सम्राट् के प्रसंग से अलग करने के लिए व्याख्या की एक लम्बी प्रक्रिया जरूरी थी। इसके बाद ही शासक जो वास्तविक रूप से स्वतन्त्र होता था, विधि के अनुसार भी स्वतन्त्र शासक प्रतीत हो सकता था। यह इसलिए भी जरूरी था कि एक स्वतन्त्र राजनैतिक शक्ति जिसके पास प्रभुसत्ता हो, बन सके और इसलिए भी कि एक प्रमुख रूप से लौकिक और कानूनी शक्ति का आविर्भाव हो सके। बाद के विचार को मूर्त रूप धारण करने में ज्यादा समय की जरूरत थी। यह विचार मध्य-युग में नहीं प्रत्युत आधुनिक युग में पूरा हुआ। १४वीं शताब्दी के शुरू में फ्रांस के राजा और पोप के बीच जो वाद-विवाद हुआ था, फ्रांस के राजतन्त्र की राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को निर्धारित करने में उसका प्रमुख हाथ रहा था। फ्रांस के पादरीवर्ग ने भी पोप तथा साम्राज्य के नियन्त्रण से फ्रांस की स्वतन्त्रता के पक्ष का समर्थन किया और राजा का साथ दिया। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप १४वीं शताब्दी के बीच में यह कानूनी सूत्र उत्पन्न हुआ कि राजा को अपने राज्य में वही शक्ति प्राप्त है जो सम्राट् को साम्राज्य में। फिलिप ने अपने पुत्रों से यह शपथ ग्रहण कराई थी कि वे ईश्वर के अधीन अन्य किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करेंगे।

यदि हम राजा के पक्ष का समर्थन करने वाले सम्पूर्ण साहित्य पर एक साथ विचार करें तो इस तर्क पर कानूनी अध्ययन का प्रभाव स्पष्ट है। जो भेद पहले बहुत अस्पष्ट रहे थे, वे अब धीरे-धीरे स्पष्ट होने जा रहे थे। यह बात आध्यात्मिक और लौकिक सत्ताओं के मूल अन्तर के बारे में विशेष रूप से सही है। विधिवेत्ताओं का विचार था कि यह समस्या मुख्य रूप से दो क्षेत्राधिकारों की सीमाओं को निश्चित करने की है। कुछ मामले तो ऐसे हैं जो धार्मिक अदालतों को सौंप दिए गए हैं, कुछ मामले लौकिक अदालतों के हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी मामले हैं जिनमें दोनों अदालतों का हित है। इस कानूनी प्रश्न के स्पष्टीकरण ने ऐसे कानूनी प्रश्नों को भी जिनमें राजा की बल-प्रयोग की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता था और ऐसे नैतिक प्रश्नों को, जिनका निर्णय चर्च कर सकता था, स्पष्ट किया। कुल मिलाकर राजा के पक्ष का समर्थन करने वाले विधिवेत्ताओं का दृष्टिकोण यह था कि आध्यात्मिक सत्ता मुख्य रूप से नैतिक और धार्मिक शिक्षा तक ही सीमित है। उसे बल-प्रयोग का अधिकार नहीं होना चाहिए। बल-प्रयोग का अधिकार केवल लौकिक सत्ता को ही होना चाहिए। दूसरे शब्दों में प्रवृत्ति कुछ उस दिशा में है, जो एक पीढ़ी के बाद मारसिलियो के इस निष्कर्ष में प्रकट हुई कि आध्यात्मिक सत्ता को केवल शिक्षा देने का अधिकार है। आध्यात्मिक सत्ता के इस सीमित सिद्धान्त ने चर्च के अन्दर पोप की निरंकुशता के दावे पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। इसका कारण यह था कि आध्यात्मिक कर्त्तव्यों के पालन में सभी पादरियों, कम से कम सभी बिशपों को समान समझा जा सकता था। पदसोपान की शक्ति सिर्फ सुविधाजनक प्रशासनिक व्यवस्था समझी जा सकती थी। इस वाद-विवाद में सम्पत्ति का महत्त्व भी

कुछ इसी तरह का माना गया। चर्च के आध्यात्मिक व्यवस्था की दृष्टि से सम्पत्ति का नियन्त्रण केवल एक साधन था। आध्यात्मिक और लौकिक सत्ताओं का भेद ज्यों ज्यों बढ़ता गया, यह स्पष्ट होता गया कि सम्पत्ति का नियन्त्रण चाहे वह धार्मिक प्रयोजनों के लिए ही हो, राजा के क्षेत्राधिकार में रहना चाहिए। सम्पत्ति के इस विभाजन ने इस बात को भी सिद्ध कर दिया कि सम्पत्ति दो प्रकार की होती है। एक तो वह जिस पर राज्य का नियन्त्रण रहता है और कर लगाया जा सकता है और दूसरी वह जिस पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है।

जॉन आफ पेरिस
(John of Paris)

राजा के पक्ष में जो पुस्तकें लिखी गई थीं उनमें सबसे महत्वपूर्ण जॉन आफ पेरिस की *De potestate regia et papali* (१३०२ ई) पुस्तक थी। इस पुस्तक का महत्व इस कारण और भी बढ़ जाता है कि इसका लेखक एक डामिनिकन था। लेकिन यह मौलिक भी था। जॉन ने किसी क्रमबद्ध राजनैतिक दर्शन का निरूपण नहीं किया है। उसकी पुस्तक में विवरण की बातें बहुत दी गई हैं। पुस्तक सामान्य शब्दावली में लिखी गई है लेकिन पुस्तक लिखते समय लेखक के मन में पिछले संघर्ष की घटनाएँ अवश्य ही रही थीं। उसकी विचारधारा पर अरस्तू का भी असर पड़ा था। इस कारण उसकी विचारधारा एगीडियस की विचारधारा से बिल्कुल अलग थी। जॉन ने साम्राज्य को विशेष महत्व नहीं दिया। अपनी पुस्तक के शुरू के अध्याय में उसने कहा है कि चर्च को सार्वभौमिकता की आवश्यकता होती है लेकिन राजनैतिक सत्ता को नहीं। नागरिक समाज प्राकृतिक प्रवृत्ति के कारण पैदा होता है और मनुष्य की रुचियाँ तथा स्वार्थ अलग अलग होते हैं। स्वाभाविक राजनैतिक विभाजन प्रान्त या राज्य है। यह जरूरी नहीं है कि इसका प्रधान एक ही हो। जॉन आफ पेरिस कभी कभी सम्राट् को सार्वभौम सत्ता प्रदान करता है। लेकिन इसके साथ ही वह प्रान्त की स्वतन्त्रता का भी समर्थक है। उसने अरस्तू से आत्मनिर्भर समाज का विचार ग्रहण किया है। लेकिन उसका आत्मनिर्भर समाज राज्य है। वह इस तरह से सभी स्वायत्तशासी इकाइयों की सत्ता को स्वीकार करने के लिए तैयार है। जॉन अपने अरस्तूवाद के कारण एगीडियस के इस विचार का खण्डन करता है कि लौकिक शक्ति को वैध होने के लिए चर्च के आशीर्वाद की आवश्यकता होती है। उसका कहना है कि लौकिक शक्ति समय की दृष्टि से पुरोहितवाद से पुरानी है और वह पुरोहितवाद से नहीं निकली है। पुनः, लौकिक शक्ति को भौतिक-मात्र समझना भी गलत है। वह संत थॉमस की भांति ही अरस्तू के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है कि नागरिक शासन श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक है। इस प्रकार, नागरिक शासन कुछ नैतिक भलाई भी करता है। ईसाई धर्म ने शासन को मान्यता प्रदान की है। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि आध्यात्मिक शक्ति लौकिक शक्ति से ऊँची है। इससे आध्यात्मिक शक्ति का महत्व कम नहीं होता। आध्यात्मिक शक्ति का अपना महत्व है, लेकिन लौकिक शक्ति भी स्वाभा-

विक है। जॉन ने इन्हीं आधारों पर लौकिक शासकों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है।

जैसा कि जॉन ने अपनी प्रस्तावना में लिखा है, उसका पुस्तक लिखने का उद्देश्य धार्मिक सम्पत्ति की समस्या को सुलझाना था। वह दो अतियों के बीच में से एक मध्यम मार्ग निकालना चाहता था। कुछ लोग तो ऐसे हैं जिनके विचार से पादरियों के पास कोई सम्पत्ति नहीं रहनी चाहिए। जॉन ने इन लोगों को वाल्डेन्सियन (Waldensians) कहा है। कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं कि पादरियों की आध्यात्मिक शक्ति उन्हें परोक्ष रूप से सम्पूर्ण सम्पत्ति पर और लौकिक शक्ति पर नियन्त्रण प्रदान करती है। हिरोड (Herod) वाद के वर्ग का व्यक्ति है। उसका कहना था कि ईसा का राज्य इस संसार का है तथा जॉन का यह तर्क मुख्य रूप से एगीडियस जैसे पोपवादियों के खिलाफ है। जॉन ने अपनी पुस्तक में दूसरे वर्ग का खण्डन किया है। जॉन का मध्यम मार्ग यह है कि पादरियों को सम्पत्ति तो रखनी चाहिए जिससे वे अपना आध्यात्मिक कार्य कर सकें लेकिन सम्पत्ति पर वैधानिक नियन्त्रण लौकिक सत्ता के पास रहना चाहिए। यह कहना गलत है कि चूँकि सम्पत्ति की आध्यात्मिक कार्यों के लिए जरूरत है, इसलिए आध्यात्मिक सत्ता का सम्पत्ति पर नियन्त्रण रहना चाहिए। अपने इस दृष्टिकोण के समर्थन में जॉन ने और भी कई बातें कही हैं। उनका कहना है कि सम्पत्ति का स्वामित्व पोप में निहित नहीं है। सम्पत्ति के ऊपर किसी एक व्यक्ति का नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण समाज का अधिकार है। पोप सम्पत्ति का केवल पालक है। चर्च की सम्पत्ति के दुरुपयोग के लिए पोप को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। जॉन ने लौकिक शासकों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार में भी कुछ शर्तें लगाई हैं। जनसाधारण की सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अपना अधिकार होता है। लेकिन शासन सार्वजनिक हित की दृष्टि से इस सम्पत्ति का नियमन कर सकता है। राजा को व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का आदर करना चाहिए। उसे केवल सार्वजनिक आवश्यकता होने पर ही सम्पत्ति का नियमन करना चाहिए।

जॉन ने स्पष्टीकरण की अपनी इसी भावना से आध्यात्मिक और लौकिक सत्ताओं के भेद का विवेचन किया है। साम्राज्य का समर्थन करने में उसने पुराने तर्क का ही आश्रय लिया है। उसने दोनों सत्ताओं को अलग-अलग माना है और कहा है कि प्रत्येक सत्ता सीधे ईश्वर से निकलती है। लेकिन, जॉन ने अपने तर्क को बड़ी व्यवस्था से प्रस्तुत किया है। उसने सबसे पहले लौकिक सत्ता को आध्यात्मिक सत्ता के अधीन मानने के तत्कालीन कारण प्रस्तुत किए हैं। इसके बाद उसने एक-एक कारण को उठाकर उसका समाधान किया है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि उसने पुरोहितों की आध्यात्मिक सत्ता का विश्लेषण किया है और फिर जिज्ञासा की है कि इसकी वजह से पुरोहितों को लौकिक पदार्थों अथवा लौकिक शक्ति पर क्या नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है। जॉन के विचार से धर्मार्पण (consecration), संस्कार, प्रचार करने और शिक्षा देने का अधिकार पूर्ण रूप से आध्यात्मिक है। इसके लिए किन्हीं लौकिक साधनों की आवश्यकता नहीं होती। प्रश्न का मुख्य

कारण धर्माचार्यों का यह अधिकार है कि वे बुराई करने वालों का निर्णय कर सकते हैं और उनको ठीक कर सकते हैं। लेकिन, धर्माचार्यों की शक्ति इस क्षेत्र में केवल धर्म-बहिष्कार (ex-communication) तक ही सीमित है। भौतिक दृष्टि से इस अधिकार का कुछ अर्थ नहीं है। बलप्रयोग की शक्ति लौकिक सत्ता के पास है। यदि किसी शासक को धर्म-बहिष्कृत कर दिया जाता है, तो सम्भव है कि उसके प्रजाजन उसका आदेश पालन न करें। लेकिन, यह एक आनुषंगिक बात है और इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि आध्यात्मिक सत्ता को शासकों के ऊपर बल प्रयोग करने का अधिकार है। जॉन का कहना है कि शासक भी चर्च में दोष निकाल कर पोप के साथ इसी प्रकार का व्यवहार कर सकता है। विधि से पोप का राजा को अपदस्थ करने का अधिकार वैसा ही है जैसा कि राजा का पोप को अपदस्थ करने का अधिकार। दोनों विरोध कर सकते हैं। विरोध का वजन हो सकता है। दोनों को कानूनी ढंग से अपदस्थ किया जा सकता है। लेकिन उन्हें अपदस्थ वही सविहित सत्ता कर सकती है जो उनका निर्वाचन करती है। आध्यात्मिक सत्ता को दो शक्तियाँ और प्राप्त हैं—धर्माचार्यों पर नियन्त्रण रखने की शक्ति और आध्यात्मिक कामों के लिए सम्पत्ति के स्वामित्व की शक्ति। चर्च की आध्यात्मिक सत्ता के विश्लेषण और उसे सीमित करने का यह कार्य एक धर्माचार्य ने किया था। यह काफी आश्चर्यजनक है।

जॉन ने आध्यात्मिक और लौकिक सत्ता के सम्बन्धों पर यह सामान्य विचार तो किया ही है। उसने फ्रांस के राजा और पोप के सम्बन्धों पर विशिष्ट रूप से भी विचार किया है। उसने अपने वाद के इस पक्ष की मुख्यतः ऐतिहासिक आधार पर पुष्टि की। उसने कॉन्स्टेनटाइन के दानपत्र (Donation of Constantine) का भी विवेचन किया है। इस प्रसंग में फ्रांस तथा साम्राज्य के सम्बन्ध का भी प्रश्न आ गया है। जॉन का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि पोपशाही और साम्राज्य में चाहे कुछ भी सम्बन्ध रहे हों, फ्रांस के राजा को पोप के अधीन मानने का कोई कारण नहीं था। जॉन ने दानपत्र को पूर्णतया महत्त्वहीन सिद्ध करने का निश्चय कर लिया था। इसलिए, उसका निर्णय कुछ उलझा हुआ है। सबसे पहले उसने ऐतिहासिक आधार पर यह दिखाने का प्रयास किया है कि यह दानपत्र इटली के केवल कुछ भागों के ऊपर ही लागू होता था। इसके बाद उसने दानपत्र के वैधानिक आधार को चुनौती दी है। उसका कहना है कि सम्राट् को यह अधिकार नहीं था कि वह अपने राज्य का कुछ भाग दूसरे को दे दे। यदि यह तर्क न माने जाएँ, तब भी दानपत्र फ्रांस के ऊपर लागू नहीं होता क्योंकि फ्रांस कभी भी साम्राज्य का भाग नहीं रहा था। यदि फ्रांसवासी साम्राज्य के अधीन भी रहे हों, तो उन्होंने चिरभोगाधिकार (prescription) के द्वारा अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी। साम्राज्य के सम्बन्ध में जॉन के विचारों और दाँते के विचारों में बड़ा अन्तर है। जॉन का कहना है कि साम्राज्य में सदैव ही अराजकता और भ्रष्टाचार रहा था। साम्राज्य ने बलपूर्वक जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण कर अपने अधिकार बढ़ा लिये थे।

बाद के लोग क्यों न उससे अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास करते। घड़-वासियों के लिए साम्राज्य का कोई आकर्षण नहीं रहा था।[1]

जॉन की पुस्तक के अन्तिम अध्यायों में पोप की शक्तियों पर एक अन्य दृष्टिकोण से विचार किया गया है। उसने स्पष्ट रूप से तो नहीं लेकिन ध्वनितार्थ से चर्च में पोप की प्रभुसत्ता को बिलकुल अस्वीकार कर दिया है। चर्च की प्रधानता का कारण मुख्यतः प्रशासनिक है। आध्यात्मिक सत्ता की दृष्टि से तो सभी बिशप बराबर हैं। पोप का पद अनुपम है और ईश्वरीय है लेकिन पोप का चुनाव मानवीय सहयोग से होता है। यह एजीडियस के तर्क का सबसे कमजोर स्थल था। जिस समय पोप का निर्वाचन हो रहा हो उस विराम काल में पोप की शक्ति कहीं न कहीं तो रहती है। यदि पोप को शक्ति दी जा सकती है तो उससे शक्ति ली भी जा सकती है। इसलिए जॉन का कहना है कि पोप त्यागपत्र दे सकता है। यदि उसका आचरण भ्रष्ट हो तो उसे अपदस्थ भी किया जा सकता है। जॉन ने जिस ढंग से धार्मिक सम्पत्ति पर विचार किया है, उसी पद्धति का अनुसरण करते हुए आध्यात्मिक सत्ता को एक निगम के रूप में सम्पूर्ण चर्च में निहित बताया है। उसको इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि जनरल कौंसिल पोप को अपदस्थ कर सकती है। उसने अपनी यह राय भी व्यक्त की है कि कॉलिज ऑफ कारडिनल्स भी पोप को पदच्युत करने का अधिकार रखता है। वह कालिज और पोप का सम्बन्ध कुछ ऐसा ही मानता है जैसा कि सामन्ती ससदों का राजा के साथ था।

"चर्च के लिए सबसे अच्छा शासन यह होगा कि एक पोप के अधीन प्रत्येक प्रान्त से प्रतिनिधि चुने जायें जिनमें कि चर्च के शासन में सबका भाग हो जाए।"[2]

इस प्रकार, उसने पोप के विरोध का भी उसी आधार पर समर्थन किया है जिस आधार पर मध्ययुग के लेखक राजा के विरोध का समर्थन करते थे। यह सही है कि पोप के खिलाफ कोई कानूनी कार्यवाही नहीं हो सकती, लेकिन यदि वह विद्रोह करवाता है और रुकता नहीं है, तो

"मेरा खयाल है कि इस स्थिति में चर्च को पोप के खिलाफ कार्यवाही करनी चाहिए। राजा पोप की तलवार की हिंसा अपनी तलवार से दूर कर सकता है। यह कार्य करते समय वह पोप के खिलाफ कार्यवाही नहीं कर रहा होगा बल्कि अपने शत्रु के खिलाफ और समाज के शत्रु के खिलाफ कार्यवाही कर रहा होगा।"[3]

इस अवतरण से ज्ञात होता है कि पोप की प्रभुसत्ता का विचार पोप के अधिकारियों को भी कितना प्रतिकूल लगता था। इन अधिकारियों की इच्छा थी कि चर्च में प्रतिनिधि शासन की स्थापना हो, लेकिन पोप के दुराग्रह के कारण वे अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सके।

---

1. सी० एन० एस० वुल्फ (C N. S Woolf) ने होहेन्स्टाउफेन (Hohenstaufen) के पतन के बाद साम्राज्य के पुनर्निर्माण की विविध योजनाओं पर विचार किया था। *op. cit.*, pp. 209 ff.

2. C. 20, Schard (1566), p 202 b.

3 C. 23, *ibid*, p. 215a.

जॉन ने लौकिक राज्य के संगठन के बारे में बहुत कम लिखा है। सामान्य रूप से वह मध्ययुग के संवैधानिक राजतन्त्र (constitutional monarchy) के पक्ष में है। उदाहरण के लिए वह यह स्वीकार नहीं करता कि पोप ने मेरोविंजियन्स को अपदस्थ कर दिया था और उनके स्थान पर पिप्पिन (Pippin) को रख दिया था। पिप्पन "बैरनों के निर्वाचन" द्वारा चुना गया था। लौकिक मामलों में बैरन ही राजा के ऊपर नियन्त्रण और अनुशासन रखते हैं। यहाँ, जॉन पुनः अरस्तू की सहायता लेता है। वह संवैधानिक राजतन्त्र तथा पॉलिटी (Polity) को जो कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र का मिश्रण है एक समझता है। यह सही है कि जिस समय जॉन ने लिखा था, *मध्ययुगीन संविधानवाद (medieval constitutionalism)* सर्वत्र मूर्त रूप धारण कर रहा था। फ्रांस में स्टेट्स जनरल (States General) की पहली बैठक १३०२ में हुई। इंग्लैंड, इटली, जर्मनी और स्पेन आदि देशों में भी देश के प्रतिनिधियों की कुछ इसी प्रकार की बैठकें हुई। इसलिए, जॉन के राजनैतिक विचार उसके युग के अनुरूप थे। इसके विपरीत एगीडियस (Egidius) ने या कुछ अन्य सिविलियनों ने निरंकुशता का प्रतिपादन किया था। उनके विचार युगधर्म के प्रतिकूल थे।

यद्यपि जॉन ने किसी व्यवस्थित राजनैतिक दर्शन का निर्माण नहीं किया फिर भी, उसका कार्य उसी युग के लिए और भविष्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण था। वह मैंचमैन था और पादरी था। उसने ऐतिहासिक और वैधानिक आधारों पर फ्रेंच राजतन्त्र की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया था। उसने चर्च या सामान्य व्यक्तियों के सम्पत्ति के स्वामित्व और राजा द्वारा उसके राजनैतिक नियन्त्रण अथवा चर्च के लिए पोप द्वारा उसके प्रशासन में भेद स्थापित किया। उसने आध्यात्मिक सत्ता और लौकिक सत्ता की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया। उसने आध्यात्मिक शक्ति के स्वरूप और प्रयोजनों का विश्लेषण किया। इस विश्लेषण के अनुसार आध्यात्मिक सत्ता वैधानिक सत्ता नहीं है। उसे बलप्रयोग की आवश्यकता नहीं है। यदि उसे बलप्रयोग की आवश्यकता पड़ जाए तो यह बलप्रयोग लौकिक पक्ष की ओर से आना चाहिए। जॉन ने आध्यात्मिक शक्ति के नैतिक और धार्मिक स्वरूप पर विशेष बल दिया है। वह यह स्वीकार नहीं करता कि विधि को धर्म के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना चाहिए अथवा पोप के पास सम्राट् की भाँति प्रभुसत्ता होनी चाहिए। अन्त में, उसने पोप की निरंकुशता का विरोध कर राजतन्त्र में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का समावेश किया है। भविष्य की राजनैतिक धाराओं में इन युक्तियों का काफी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। जॉन ने कट्टरता की सीमाओं के भीतर रहते हुए अरस्तू के प्रभाव को लौकिक और बुद्धिगत आधार देने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से उसकी स्थिति एडीगियस से बिल्कुल भिन्न थी।

राजनैतिक दर्शन के विकास में बोनिफेस (Boniface) और फिलिप (Philip) का वाद विवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसने यह सिद्ध कर दिया कि पोप को सर्वोच्च प्रभुशक्ति प्राप्त है। चर्च में इस शक्ति का प्रयोग प्रत्यक्ष रीति से पोप करता है। परोक्ष रीति से इस शक्ति का प्रयोग लौकिक शासक करते हैं।

यह दावा दैवी अधिकार के सिद्धान्त पर आधारित था। यह दावा विधिवाद (legalism) का धार्मिक परिणाम था। इसने दैवी अधिकार के सिद्धान्त की प्रखर आलोचना प्रारम्भ की। फ्रांस के बाद विवाद में भी इस आलोचना की दो मुख्य धाराएँ थीं। पोप की प्रभुसत्ता पर यह सीमा आरोपित की गई कि उसका प्रयोग करना एक प्रकार का धार्मिक दम्भ है और यदि उसका प्रयोग किया ही जाये तो नैतिक और धार्मिक सीमाओं के भीतर रह कर ही किया जाना चाहिए। राजाओं की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में कहा गया कि उसके कारण राजा अत्याचारी हो जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि राजा जनता के प्रतिनिधित्व और सम्मति से शासन करें। विलियम आफ ओकम (William of Occam) ने आध्यात्मिक शक्ति पर धार्मिक और नैतिक प्रतिबन्ध लगाने के तर्क को आगे बढ़ाया। यह तर्क मार्सिलियो आफ पाडुआ (Marsilio of Padua) में पराकाष्ठा को पहुँच गया। प्रतिनिधित्व प्रत्येक श्रेष्ठ शासन का एक अनिवार्य अंग है इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम विस्तृत प्रतिपादन चर्च के शासन के कसिलियर सिद्धान्त में किया गया।

Selected Bibliography

Boniface VIII By J S R Boase London, 1933

A History of Medieval Theory in the West By R W Carlyle and A J Carlyle 6 Vols London and New York, 1903-36. Vol V (1928) Part II, Chs VIII-X.

The Decline of the Medieval Church By Alexander C Flick 2 Vols London, 1930 Chs 1, 2

Argument from Roman Law in Political Thought 1200-1600 By Myron P Gilmore Cambridge, Mass, 1941

Social and Political Ideas of Some Great Medieval Thinkers Ed F J C Hearnshaw London, 1923, Ch 6

'Innocent III" E F Jacob In *The Cambridge Medieval History*, Vol VI (1929) Ch I

"France The Last Capetians". By Hilda Johnstone In *The Cambridge Medieval History*, Vol VII (1932), Ch XI

"Saint Louis Philippe le Bel Les derniers Capetians directs (1226 1328)' By C V Langlois In *Histoire de France* Ed E Lavisse Paris, 1900 Vol III, Part II

'Pope Boniface VIII' By F M Powicke In *The Christian Life in the Middle Ages* Oxford 1935 Ch 3

Die Publizistik zur Zeit Philipps des Schönen und Bonifaz VIII By Richard Scholz Stuttgart, 1903

Bartolus of Sassoferrato His Position in the History of Medieval Political Thought By Cecil N Sidney Woolf Cambridge 1913

अध्याय १५

मार्सिलिओ ऑफ पादुआ और विलियम ऑफ ओकम

(Marsilio of Padua and William of Occam)

जॉन ऑफ पेरिस की राजनैतिक विचारधारा में पोप की प्रभुता का विरोध स्पष्ट रूप से दिखाई देता था। फ्रांस के सम्बन्ध में बोनिफेस के महत्त्वपूर्ण दावे बुरी तरह असफल हुए। उलटे पोप को सत्तर वर्ष तक एविग्नान में फ्रांस के राजा के प्रभाव में रहना पड़ा। लौकिक शासक रोम के चर्च की अधीनता में रहने की बहुत कम इच्छा रखते थे। वे एविग्नान के चर्च की अधीनता में तो रहने के लिए और भी कम तैयार थे। 'बेबीलोनिश कारावास' उन लोगों के लिए जो फ्रांस के राष्ट्रिक नहीं थे, बहुत बड़ा अपराध था। दांते ने अपने *Divine Comedy* ग्रंथ में भाग में उन पोपों के प्रति आदर प्रकट किया है जो "गडरियों के वेश में लुटेरे भेड़िये" थे। पेट्रार्क (Petrarch) ने अपने भाषणों से उनके चरित्र को और भी कलंकित कर दिया है। पेट्रार्क ने लौकिक मामलों में पादरियों के हस्तक्षेप को बुरा बतलाया ही बतलाया है। उसका सिद्धान्त बहुत से निष्ठावान् कैथोलिकों को अरुचिकर था क्योंकि यह चर्च के अन्तर्गत आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के बारे में उनके विश्वासों के प्रतिकूल पड़ता था। चौदहवीं शताब्दी में धार्मिक सम्पत्ति के प्रश्न को लेकर पोप का फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय (Franciscan Order) के एक महत्त्वपूर्ण अंश से विवाद हो गया था।[1] इन सब कारणों से राजनैतिक सिद्धान्त का यह मुख्य विषय हो गया कि आध्यात्मिक शक्ति का स्वरूप क्या है और पोप की निरंकुशता का उससे सम्बन्ध क्या है?

पोप तथा लौकिक शासन के बीच आगामी वाद-विवाद का तत्काल कारण यह था कि जॉन बाइसवें (John XXII) ने एविग्नान से सम्राट् के विवादास्पद निर्वाचन में हस्तक्षेप किया। यह विवाद १३२३ में शुरू हुआ था और जॉन बाइसवें तथा क्लीमेंट छठे के धर्मादेशों के माध्यम से चलता रहा। इसका निर्णय १३४७ में लेविस दि बवेरियन (Lewis the Bavarian) की मृत्यु तक नहीं हुआ था। इसमें

---

1. इस सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी सन्त फ्रांसिस की शिक्षाओं के अनुसार यह समझते थे कि आध्यात्मिक कर्त्तव्यों के पालन के लिए यह बहुत आवश्यक है कि आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति अपने पास न रखी जाए। जॉन बाइसवें ने इस दृष्टिकोण को नास्तिक बताया, सम्प्रदाय के प्रधान को पदच्युत और धर्मबहिष्कृत कर दिया और उसके सिद्धान्त को दबा दिया। इस वाद-विवाद में तीन मुख्य व्यक्ति थे—माइकेल ऑफ सेसेना (Michael of Cesena), बोनाग्रेशिया ऑफ बरगामो (Bonagratia of Bergamo) और विलियम ऑफ ओकम (William of Occam)। ये तीनों ही लुई सम्राट् के समर्थक बन गए।

भी विशाल सामयिक साहित्य को जन्म दिया।[1] इसी काल में राजनीति दर्शन के दो प्रकाड विद्वान् मार्सिलियो ग्रॉफ पाडुग्रा (Marsilio of Padua) तथा विलियम ग्रॉफ ग्रोकम (William of Occam) हुए। इस विवाद का एक परिणाम यह हुग्रा कि पोप ने ग्रन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वय को निर्णायक शक्ति बनाने का जो प्रयास किया था, वह विफल हो गया। १३३८ में साम्राज्यिक निर्वाचकों ने पहली बार एक निगम के रूप में कार्य किया। उन्होंने रेंस की घोषणा (Declaration of Rense) में यह कहा कि निर्वाचन पर पोप की स्वीकृति की ग्रावश्यकता नहीं है। इस प्रकार सवैधानिक विधि में सम्राटों को पोप के नियन्त्रण से वह स्वतन्त्रता निश्चित हो गई जिसे सम्राट् हेनरी चौथे के समय से चाह रहे थे। १३५६ में गोल्डेन बुल (Golden Bull) ने साम्राज्यिक निर्वाचनों की प्रक्रिया निर्धारित की। इसमें साम्राज्यिक निर्वाचनों के सम्बन्ध में पोप की स्वीकृति के बारे में कुछ नहीं कहा गया था। इन्नोसेंट चतुर्थ को यह बात माननी पड़ी। उसके सामने इनके ग्रलावा ग्रौर कोई चारा भी नहीं था। इस प्रकार, बुल वेनेराबिलेम धर्माज्ञप्ति (Bull Venerabilem) में इन्नोसेंट तृतीय ने जिन शक्तियों का दावा किया था, वे हाथ से जाती रही। यह कार्य उन्हीं राजनैतिक शक्तियों के कारण सम्भव हो सका था, जिन्होंने बोनिफेस (Boniface) को फ्रांस के राजा के साथ लड़ाई में पराजित किया था। जर्मन राष्ट्रीयता के नवोदित भाव के कारण सम्राट् के ग्रप्रभावित सामन्तों ने भी पोप को कोई सहायता नहीं मिली। जर्मनी में पोप के ग्रनुयायी यह पसन्द नहीं करते थे कि पोप फ्रांस के राजा के ऊपर ग्राश्रित रहे। चर्च में सुधार का प्रश्न केवल साम्राज्यिक पक्ष तक ही सीमित नहीं था।

इस विवाद में राष्ट्रीयता का पक्ष इससे पहले के फ्रांसीसी विवाद से कम उभर पाया था। जर्मनी में सवैधानिक विधि के सम्बन्ध में इसी समय से लिखना पढ़ना शुरू हुग्रा। तथापि, इस प्रश्न में ऐसे किसी राज्य की वैधानिक स्थिति का, जो साम्राज्य के ग्रधीन न हो, सवाल नहीं उठा। सम्राट् के पक्ष में सबसे महत्वपूर्ण दो लेखक थे। इनमें से एक का जन्म इटली में ग्रौर दूसरे का इगलैंड में हुग्रा था। इनकी शिक्षा क्रमश: पाडुग्रा ग्रौर ग्राक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में हुई थी। इनमें से किसी को जर्मनी की या साम्राज्य की परम्परा की कोई चिन्ता नहीं थी। इनके लिए उस समय का सबसे प्रधान प्रश्न जो साम्राज्यिक निर्वाचकों की स्वतन्त्रता द्वारा निर्मित हुग्रा था केवल ग्रानुषंगिक था। राजनैतिक सत्ता के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उनका तर्क जर्मनी के ऊपर लागू नहीं होता था। यह सिद्धान्त मुख्य रूप से चर्च के शासन ग्रौर पोप की शक्ति के सम्बन्ध में पेट्रार्क के सिद्धान्त के ऊपर लागू होता था। जॉन ग्राफ पेरिस के ग्रंथ में इस प्रश्न पर पहले ही विचार

1. प्रथ' ६० ग्रथों की सूची ग्रार० शोल्ज (R. Scholz) ने दी है, *Unbekannte Kirchenpolitischen Streitschriften aus der Zeit Ludwigs des Bayern)* (1237—54), *Bibliothek des Kgl. preussischen historischen Instituts in Rom*, Vol. X (1914), pp 567 ff.

दिया जा चुका था। आधी शताब्दी बाद पोप के शासन और धार्मिक सुधार का प्रश्न राजनैतिक दर्शन का सबसे प्रमुख प्रश्न बन गया।

जॉन बाईसवें और लेविस दि बवेरियन के विवाद ने राजनैतिक चर्चा के केन्द्र को बदल दिया। इस विवाद के दौरान में आध्यात्मिक सत्ता से लौकिक सत्ता की स्वतन्त्रता निश्चित हो गई। हाँ, राष्ट्रीय राजनीति के अन्य प्रश्नों के संदर्भ में यह प्रश्न कभी-कभी उठ सकता था। लेकिन, मुख्य रूप से इस प्रश्न का निर्णय हो चुका था। साथ ही प्रतिनिधिक अथवा संवैधानिक राजतन्त्र के खिलाफ निरंकुश राजतन्त्र का भी प्रश्न निश्चित रूप से उठा। अब समस्या यह थी कि शासक का शासित समुदाय के साथ क्या सम्बन्ध रहे? इस समय इस प्रश्न का मुख्य रूप यही था कि पोप तथा प्रभुसत्ताधारी शासक के प्रजाजनों से सम्बन्धों का किस प्रकार नियमन हो। यह भी सही है कि चर्च को संवैधानिक आधार देने का व्यावहारिक आन्दोलन असफल हो गया। लेकिन, जहाँ तक राजनैतिक सत्ता के सिद्धान्त का सम्बन्ध है, यह बात उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी जितनी यह कि चर्चा का केन्द्र बदल चुका था। सोलहवीं शताब्दी में चर्च की कठोर आलोचना की जाने लगी। इस आलोचना का कारण यही था कि संवैधानिक साधनों से चर्च का सुधार सम्भव नहीं हुआ था।

चूँकि वाद विवाद के परिणाम कुछ इस तरह के थे, इसलिए पोप के पक्ष की रचनाओं की उपेक्षा की जा सकती है। इन रचनाओं में मुख्यतः पोप के इस अधिकार का ही विवेचन रहता था कि वह साम्राज्यिक निर्वाचनों को पुष्ट कर सकता है या रद्द कर सकता है। चर्च में पोप की निरंकुश शक्ति के बारे में अब कुछ कहने को शेष नहीं बचा था। इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा सकता था, वह एगीडियस कोलोन्ना जैसे लेखक पहले ही बहुत कुछ कह चुके थे। इसलिए, इस अध्याय में हम उन दो लेखकों के बारे में विचार करेंगे जिन्होंने विरोधी पक्ष का समर्थन किया। ये दो लेखक मार्सिलियो ऑफ पादुआ तथा विलियम ऑफ ओकम हैं। मार्सिलियो का सिद्धान्त मध्य युग की राजनैतिक विचारधारा का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि अरस्तू के सिद्धान्त की पूर्णतया प्रकृति सापेक्ष व्याख्या कैसे-कैसे परिणामों की ओर ले जाती है। इस सिद्धान्त में उच्चकोटि की तार्किक शक्ति है। इसमें ऐसे भी बहुत से तर्क हैं जिन्होंने अपना पूर्ण महत्त्व काफी बाद में जाकर प्राप्त किया। लेकिन, १३२४ की स्थिति को देखते हुए यह सिद्धान्त अत्यधिक क्रान्तिक था। विलियम ऑफ ओकम के सिद्धान्त अपेक्षाकृत कम व्यवस्थित थे। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उसके लिए राजनैतिक प्रश्न गौण थे। लेकिन कुल मिलाकर वे सामयिक परिस्थितियों से मार्सिलियो की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। यही कारण है कि चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में राजनैतिक दर्शन के प्रवाह को निर्दिष्ट करने में उनका अधिक हाथ रहा।

मार्सिलियो : एवरोइस्ट अरस्तूवाद

मार्सिलियो की पुस्तक डिफेन्सर पेसिस (Defensor Pacis) लेविस बेवेरियन को सम्बोधित की गई थी।[1] इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद मार्सिलियो बवेरिया गया, यहाँ उसने अपने जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत किया। लेकिन बवेरिया अथवा साम्राज्य का इस पुस्तक के सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस पुस्तक को लेविस और पोप के विवादपूर्ण होने के पहले भी लिखा जा सकता था। यदि यह विवाद न हुआ होता, तब भी पुस्तक इसी रूप में होती। प्रेविटे ओर्टन (Previte Orton) ने कहा है कि मार्सिलियो का लौकिक शासन का सिद्धान्त सीधे इटली नगर राज्यों के सिद्धान्त और व्यवहार पर आधारित था। मार्सिलियो देशभक्त इटालियन था। मार्सिलियो ने पोप का विरोध किया है। इस सम्बन्ध में उसकी स्थिति बहुत कुछ दान्ते की तरह है। इस कार्य के लिए उसे जर्मनी जैसे किसी विदेश से प्रेरणा ग्रहण करने की जरूरत नहीं थी। पोप ने इटली में फूट डाल रखी थी। उसके दो शताब्दियों बाद मैकियावेली ने भी पोपशाही का इसी आधार पर विरोध किया था। मार्सिलियो ने साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ नहीं लिखा। उसके लिखने का उद्देश्य पोप के साम्राज्यवाद की सम्पूर्ण व्यवस्था को जो इन्नोसेन्ट तृतीय और धार्मिक विधि के सिद्धान्त के रूप में विकसित हुई थी, नष्ट करना था। उसका उद्देश्य आध्यात्मिक सत्ता की इस शक्ति पर नियन्त्रण लागू करना था कि वह लौकिक सरकारों पर परोक्ष या प्रत्यक्ष रीति से कहाँ तक नियन्त्रण लागू कर सकती है। इस क्षेत्र में मार्सिलियो मध्य युग के अन्य किसी भी लेखक से आगे बढ़ा हुआ था। उसने चर्च को राज्य की अधीनता में रख दिया है। मार्सिलियो को पहला इरास्टियन (Erastian) कहना अनुचित न होगा।

मार्सिलियो ने अपने सिद्धान्त का दार्शनिक आधार अरस्तू से प्राप्त किया था। अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में उसने लिखा है कि उसके ग्रंथ को पॉलिटिक्स के उस भाग का पूरक माना जा सकता है जिसमें अरस्तू ने शान्ति और नागरिक

---

1. यह पुस्तक १३२४ में पूरी हुई थी। आधुनिक काल में इसके दो संस्करण हुए हैं: *The Defensor Pacis of Marsilius of Padua*, edited by C. W. Previte Orton (Cambridge, 1928), और *Marsilius Von Padua Defensor Pacis*, Herausgegeben Von Richard Scholz (Fontesiuris Germanici antiqui), (Hanover, 1933). १३४२ के आसपास मार्सिलियो ने *Defensor Minor* के नाम से एक छोटी पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का सम्पादन सी० के० ब्रैम्प्टन (C. K. Brampton) ने किया था और यह बर्मिंघम से १९२२ में छपा था। पोप ने Defensor Pacis की जो निन्दा की थी, उसमें जॉन ऑफ जंडन (John of Jundan) को जो पेरिस में अध्यापक था और जिसने एवरोइस्ट दृष्टिकोण से अरस्तू के ऊपर कई टीकाएँ लिखी थीं, मार्सिलियो का सहलेखक बताया था। यह पता लगाने की कि इस पुस्तक का कितना अंश जॉन का लिखा हुआ है, अनेक कोशिशें हुई हैं। इस पुस्तक के दोनों आधुनिक सम्पादक यह मानते हुए भी कि दोनों व्यक्तियों ने सहयोग किया था, शैली तथा पुस्तकीय संगठन की दृष्टि से इसे एक ही लेखक की कृति मानते हैं।

उपद्रव के कारणों का विवेचन किया है। उसका कथन है कि अरस्तू को एक कारण नहीं मालूम था। यह कारण है पोप का शासकों के ऊपर सर्वोच्च शक्ति का दावा। अर्वाचीन पोपों ने इस दावे को विशेष रूप से प्रकट किया है। इस दावे के कारण सम्पूर्ण यूरोप में और विशेष रूप से इटली में अक्सर फूट पड़ गई है। मार्सिलियो इस बुराई को दूर करने का प्रयास करता है। उसने अरस्तू से जिस सिद्धान्त का सबसे अधिक निष्ठा के साथ अनुसरण किया, वह उस आत्म-निर्भर समाज का सिद्धान्त था जो अपनी भौतिक और नैतिक आवश्यकताओं को खुद पूरा कर सकता है। लेकिन, इस सिद्धान्त के आधार पर उसने जो निष्कर्ष निकाला, वह मध्ययुग के अन्य किसी भी अरस्तूवादी विचारक से भिन्न था। सम्भवतः, इस व्याख्या पर लैटिन एवेरोइज्म (Averroism) का असर पड़ा हो। तथापि इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि किसी भी पूर्ववर्ती एवेरोइस्ट ने डिफेन्सर पेसिस के निष्कर्षों को प्रकट किया हो।[1]

लैटिन एवेरोइज्म की मुख्य विशेषताएं दो थीं—पूर्ण प्रकृतिवाद और बुद्धिवाद। यह ईसाई साक्षात्कार के निरपेक्ष सत्य को स्वीकार करता था। लेकिन वह इसे दर्शन से बिलकुल अलग कर देता था। उसका सेंट टामस के विपरीत यह विचार था कि दर्शन के तर्कसम्मत निष्कर्ष धार्मिक विश्वासों के बिलकुल प्रतिकूल हो सकते हैं। इसलिए इसमें दोहरे सत्य का प्रतिपादन किया गया है। डिफेन्सर पेसिस में विवेक और साक्षात्कार का पृथक्करण काफी सफल है। साक्षात्कार की परिभाषा यह है कि इसमें हम बिना किसी तर्क के विश्वास करते हैं।[2] नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में भी एवेरोइस्ट एक ऐसी लौकिकता में विश्वास रखते थे, जो धार्मिक परम्परा के विरुद्ध है। डिफेन्सर पेसिस की भांति उनका

---

1. चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चौथाई में जॉन ऑफ़ जेंडन (John of Jandum) पेरिस में एवेरोइस्ट परम्परा का मुख्य प्रतिनिधि था। इसलिए अक्सर यह कहा जाता है कि इस प्रकार के प्रकरणों, विशेषकर कल्याण सम्बन्धी अंशों पर उसका प्रभाव है। लेकिन, जैसा कि शोल्ज (Scholz) का कहना है, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि मार्सिलियो का स्वतः ही एवेरोइस्ट न रहा हो जितना कि जॉन। पेरिस के अतिरिक्त पादुआ भी एवेरोइस्ट शिक्षा का प्रधान केन्द्र था और मार्सिलियो ने निश्चयपूर्वक वहाँ अध्ययन किया था। देखिये शोल्ज का संस्करण, p. III. लैटिन एवेरोइज्म के ऊपर पी मैंडोनेट (P. Mandonnet) का Siger de Brabant 2 Vols, second edition (Louvain, 1911) है। फ्रांस के फिलिप [illegible] पियरे डुबोइस (Pierre Dubois) ने इसे सुना था। (De recuperatione terre sancte, sect. 132, लेकिन इस ग्रन्थ पर कोई एवेरोइस्ट छाप नहीं है। मार्टिन ग्राबमैन ने एवेरोइज्म और चर्च के लिए लौकिक राज्य की स्वाधीनता के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है "Studien uber den Einfluss der Aristotelischen philosophie auf die mittelalterlichen Theorien uber das verhaltnis von kirche und Staat" *Sitzungsberichte der Bayerischen Akademie der Wissenschaften, Philosophisch historische* Abt., 1934, Heft 2.

2. I, IX, 2.

भी यह विचार था कि संसार के सारे दार्शनिक मिलकर भी प्रदर्शन के द्वारा अमरता को सिद्ध नहीं कर सकते।[1] उनका यह भी मत था कि धर्मशास्त्र तर्क-सम्मत ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं करता। प्रसन्नता ईश्वर की सहायता के बिना ही इस संसार में उपलब्ध होती है और मुक्ति के लिए अरस्तू के नीतिशास्त्र के अनुसार जीवन व्यतीत करना पर्याप्त है।[2] इसलिए विवेक के दृष्टिकोण से मानव समाज पूर्णरूप से आत्मनिर्भर है। मार्सिलियो कहना भी सिर्फ यही चाहता है कि अपने सत्य के अतिरिक्त धर्म के कुछ सामाजिक परिणाम भी हैं। इसलिए, यह जरूरी है कि समाज का धर्म पर नियन्त्रण रहे। मार्सिलियो के प्रकृतिवादी अरस्तूवाद के दृष्टिकोण से आध्यात्मिक हित और परलोक सम्बन्धी हित एक ही हैं। वे तर्क की दृष्टि से असंगत हैं। इसके विपरीत ऐसे नैतिक और धार्मिक कार्य जिनका वर्तमान जीवन पर असर पड़ता है, मानव समाज के नियन्त्रण में रहने चाहिएँ।

राज्य

(The State)

डिफेन्सर पेसिस के दो मुख्य भाग हैं। पहले भाग में तो अरस्तू के सिद्धान्तों का विवेचन है। यह विवेचन न तो पूर्ण है और न उसके राजनैतिक दर्शन के सभी पक्षों के साथ न्याय करता है। इसका उद्देश्य पुस्तक के दूसरे भाग के लिए कुछ आधार प्रदान करना है। इन आधारों को लेकर ही मार्सिलियो चर्च, पुरोहितों के कार्यों, उनके नागरिक सत्ता से सम्बन्ध और इन मामलों को न समझने के कारण पैदा होने वाली बुराइयों आदि के बारे में अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। इस पुस्तक का एक तीसरा भाग भी है। यह भाग बहुत छोटा है और इसमें पहले दो भागों में निरूपित सिद्धान्तों के आधार पर ४२ निष्कर्ष दिये गए हैं।

अरस्तू का अनुसरण करते हुए मार्सिलियो ने राज्य को एक ऐसी सजीव सत्ता बताया है जिसके विभिन्न भाग उसके जीवन के लिए आवश्यक कार्य करते हैं। उसका स्वास्थ्य या शान्ति तभी तक रहती है जब तक कि उसके विभिन्न भाग अपने कार्यों को सुचारु रूप से करते रहते हैं। जब कभी कोई भाग अपना कार्य ठीक से नहीं करता अथवा दूसरे भाग के कार्य में हस्तक्षेप करता है तभी संघर्ष पैदा हो जाता है। मार्सिलियो ने यह भी माना है कि नगर परिवार से ही बनता है। नगर एक पूर्ण समाज है। वह श्रेष्ठ जीवन की समस्त आवश्यकताएँ पूरी करता है। लेकिन, श्रेष्ठ जीवन के दो अर्थ हैं। इसका एक अर्थ है इस जीवन में श्रेष्ठ और दूसरा अर्थ है आगामी जीवन में श्रेष्ठ। पहले अर्थ के अनुसार विवेक द्वारा दर्शन

1. I, IV, 3

2. See Martin Grabmann, "Der Lateinische Averroismus des 13 Jahrhunderts und seine Stellung zur christlichen weltanschauung" *Sitzungsberichte der Bayerischen Akademie der Wissenschaften*, Philosophisch-historische Abtl. 1931, Heft 2.

का समुचित अध्ययन होना चाहिए। दूसरे धर्म के अनुसार ज्ञान साक्षात्कार पर निर्भर है और वह केवल विश्वास के द्वारा ही प्राप्त होता है। विवेक यह बताता है कि शान्ति और व्यवस्था के लिए नागरिक शासन की आवश्यकता है। लेकिन, समाज मे धर्म की भी आवश्यकता है। उसका इस जीवन मे भी उपयोग है और दूसरे जीवन मे भी। आगे चलकर मार्सिलियो ने समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न वर्गों अथवा अंगों का विश्लेषण किया है। समाज मे किसान और कारीगर हैं जो शासन के लिए आवश्यक, भौतिक पदार्थों और राजस्व का प्रबन्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त समाज मे सिपाही, पदाधिकारी और पुरोहित है जो वास्तव मे राज्य का निर्माण करते हैं। अन्तिम वर्ग पादरियों का है। यह कुछ कठिनाई उत्पन्न करता है, समाज में इनका क्या वास्तविक स्थान हो, इस सम्बन्ध मे काफी मतभेद है। इसका कारण यह है कि धर्म के दो उपयोग हैं। धर्म का परलोक सम्बन्धी कार्य बुद्धि के द्वारा समझ में नही आता। तथापि, ईसाई और गैर-ईसाई सभी लोगो ने यह स्वीकार किया है कि समाज मे एक वर्ग ऐसा जरूर होना चाहिए जिसका काम पूजा-पाठ करना हो। ईसाई पादरियों और अन्य पादरियों मे यह अन्तर है कि ईसाई धर्म सच्चा है लेकिन अन्य धर्म सच्चे नहीं हैं। लेकिन दर्शन के दृष्टिकोण से इस बात का कोई महत्त्व नहीं है। मार्सिलियो ने ईसाई पादरियों के कार्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किया है —

"पादरियों का काम दैवी कर्जों का ज्ञान प्राप्त करना और उनकी शिक्षा देना है जो धर्मशास्त्रों के अनुसार विश्वास के लिए, काम के लिए अथवा निवारण के लिए है। इसका उद्देश्य शाश्वत मुक्ति प्राप्त करना और दुःख से बचना है।"[1]

यह सही है कि मार्सिलियो ने अरस्तू का अनुकरण किया है, लेकिन उसके निष्कर्ष मध्य युग के अन्य किसी अरस्तूवादी विचारक से भिन्न हैं। जहाँ तक अरस्तू का सम्बन्ध है, उसने यूनानी दर्शन के प्रकृतिवाद से पूरा लाभ उठाया है। लेकिन, उसने पालिटिक्स मे धर्म के प्रति प्राकृतिक तत्त्व का समावेश कर उसकी अनुपूर्ति की है। मार्सिलियो ने ईसाई धर्म को अतिप्राकृतिक और बौद्धिक चर्चा से परे बताया है। सैन्ट थामस ने विवेक और श्रद्धा मे समन्वय स्थापित करने की कोशिश की है। इस दृष्टि से मार्सिलियो और सैन्ट थॉमस मे काफी फर्क है। मार्सिलियो ने आध्यात्मिक शक्ति के अधिकारों और कर्तव्यों को जॉन ऑफ पैरिस की अपेक्षा कहीं अधिक मर्यादित किया है। मार्सिलियो के निष्कर्ष के व्यावहारिक महत्त्व के बारे में जितना कहा जाए, थोड़ा है। शाश्वत मुक्ति के लिए श्रद्धा और विश्वास आवश्यक हो सकते हैं लेकिन लौकिक दृष्टिकोण से उनका कोई महत्त्व नहीं है। चूंकि विश्वास तर्कहीन है, इसलिए तर्कयुक्त साध्यों और साधनों पर विचार करते समय उसका कोई स्थान नहीं है। यह बात कुछ इसी तरह की है जैसा कि यह कहना कि लौकिक प्रश्नों पर उनके गुण-दोषों के अनुसार ही विचार करना पड़ता है। इन प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार करते समय श्रद्धा या विश्वास की चर्चा अप्रासंगिक है।

---

1 I, vi, 8

राजनैतिक दृष्टि से मार्सिलियो के निष्कर्ष का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि लौकिक सम्बन्धों में पादरी वर्ग समाज में अन्य वर्गों के साथ एक वर्ग है। मार्सिलियो तार्किक दृष्टिकोण से ईसाई पादरियों को अन्य पादरियों की भाँति ही समझता है क्योंकि ईसाई पादरियों की शिक्षा भी तर्क से परे होती है और केवल भावी जीवन से ही सम्बन्ध रखती है। इसलिए, राज्य को लौकिक मामलों में पादरियों पर उसी प्रकार नियन्त्रण रखना चाहिए जिस प्रकार वह कृषि अथवा वाणिज्य पर नियन्त्रण रखता है। आधुनिक शब्दावली में धर्म एक सामाजिक तत्त्व है। वह भौतिक उप-करणों का उपयोग करता है और इसके कुछ सामाजिक परिणाम निकलते हैं। इन दृष्टियों से उस पर समाज का वैसे ही नियन्त्रण होना चाहिए जैसा कि अन्य मानव हितों पर होता है। जहाँ तक उसकी सच्चाई का सम्बन्ध है, इस बारे में विवेकयुक्त मनुष्यों में कोई मतभेद नहीं हो सकता। विवेक और विश्वास का यह पृथक्करण धार्मिक सन्देहवाद का पूर्वगामी है। वह लौकिकता का प्रतिपादक है, जो धर्म-विरोधी भी है और ईसाई विरोधी भी। मार्सिलियो ने उन पूर्ण आध्यात्मिक हितों की सीधी आलोचना नहीं की है जिनकी चर्च अभिवृद्धि करता है और जिन्हें ईसाई मानव जाति के परम हित समझते हैं। ये चीजें इतनी पवित्र हैं कि इन्हें बुद्धि की तराजू पर नहीं तौला जा सकता। लेकिन व्यवहार में अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त तुच्छ में कोई अन्तर नहीं है। चर्च, जहाँ तक वह लौकिक मामलों से सम्बन्ध रखता है, हर तरह लौकिक राज्य का एक भाग है।

विधि और विधायक

(Law and the Legislator)

मार्सिलियो (Marsilio) ने आगे चलकर अपनी विधि की परिभाषा में आध्यात्मिक तथा लौकिक का आमूल भेद विस्तार से बताया है। डिफेंसर पेसिस (*Defensor Pasis*) में उसने विधि के चार भेद बताए हैं। तथापि, महत्त्वपूर्ण बात दैवी विधि (divine law) और मानवी विधि की है। उसने कुछ समय बाद *Defensor Minor* ग्रंथ लिखा। इस पुस्तक में मार्सिलियो ने अपने तर्क को अधिक बारीकी से व्यक्त किया। उसके विचार से विधि के दो ही मुख्य भेद हैं—दैवी विधि और मानवी विधि।

"दैवी विधि सीधे ईश्वर का आदेश है। इसमें मनुष्य के सोच-विचार के लिए ज्यादा गुंजायश नहीं है। दैवी विधि में मनुष्य को बताया जाता है कि वह क्या कार्य करे और क्या कार्य न करे। इस विधि में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ साध्य प्राप्त करने अथवा आगामी-संसार के लिए वाञ्छनीय परिस्थितियों के निर्माण का उपाय भी बताया जाता है।"[1]

"मानवी विधि नागरिकों के सम्पूर्ण समुदाय का अथवा उसके प्रबल भाग का आदेश है। जो लोग विधि को बनाने की शक्ति रखते हैं, वे सोच-विचार के पश्चात् इस विधि को जारी करते हैं। मानवी विधि में मनुष्य को बताया जाता है कि वह इस संसार में क्या कार्य करे और क्या कार्य न करे। इस विधि में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ साध्य प्राप्त करने अथवा इस संसार के लिए वाञ्छनीय

1 *Defensor minor*, 1, 2

परिस्थितियों के निर्माण का भी उपाय बताया जाता है। मानवी विधि एक ऐसा आदेश है जिसका उल्लंघन करने पर उल्लंघनकर्त्ता को इस संसार में दण्ड मिलता है।"[1]

इन परिभाषाओं में दोनों विधियों के भेद का आधार उनके उल्लंघन पर दिए जाने वाले दण्ड का भेद है। दैवी विधि का आधार यह है कि उसका दण्ड या पुरस्कार आगामी जीवन में ईश्वर प्रदान करता है। इसका अभिप्राय यह है कि उसके उल्लंघन पर इस लोक में नहीं, प्रत्युत् परलोक में दंड मिलता है। इसलिए, मानवी विधि ईश्वरीय विधि से उल्टी है। ऐसा कोई नियम जिसमें सांसारिक दंड मिलता हो, स्वतः ही मानवी विधि है। उसका निर्माण मनुष्य ही करते हैं। यह बात बाद के तर्क के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पादरियों की आध्यात्मिक शिक्षा में कोई सत्ता या शक्ति नहीं है। इसका कारण यह है कि पादरियों की शिक्षा को बलपूर्वक लागू नहीं किया जा सकता। इस शिक्षा को बलपूर्वक तभी लागू किया जा सकता है जब कि कोई मानवी विधायक पादरियों को शक्ति सौंप दे। मार्सिलियो की विधि सम्बन्धी परिभाषाएँ असाधारण भी हैं क्योंकि वे आदेश तथा अनुशास्ति को, विधायक की इच्छा को और अपनी इच्छा को लागू करने की उसकी शक्ति को महत्त्व देती हैं। वह यह स्वीकार करता है कि विधि शब्द का अर्थ बुद्धि अथवा अन्तर्भूत न्याय का एक नियम है। लेकिन, कम से-कम व्यावहारिक अर्थ में वह यह स्वीकार करता है कि विधि सविहित सत्ता से निकलती है और उसका उल्लंघन होने पर दंड मिलता है। मार्सिलियो का विधि सम्बन्धी विवेचन टॉमस के विधि सम्बन्धी विवेचन से बिलकुल उल्टा है। टॉमस ने दैवी विधि और मानवी विधि को एक ही माना था। उसने इस बात पर भी जोर दिया था कि मानवी विधि प्राकृतिक विधि से निकलती है।

इस प्रकार, विधि के लिए विधायक की आवश्यकता है। इसके बाद मार्सिलियो का दूसरा प्रश्न है कि मानवी विधायक कौन है। इस प्रश्न का उत्तर हमें उसके राजनैतिक दर्शन के मुख्य तत्त्व पर ला देता है

"विधायक अथवा विधि का प्रथम और उचित बुद्धिमत्तापूर्ण कारण जनता अथवा नागरिकों का सम्पूर्ण समुदाय अथवा उसका प्रमुख भाग है। वह अपने आदेश और निर्णय से अथवा सामान्य सभा की इच्छा से निश्चित शब्दावली में यह व्यवस्था देता है कि मनुष्य अमुक कार्य करें और अमुक कार्य न करें। यदि मनुष्य विहित कार्यों का उल्लंघन करते हैं, तो उन्हें दंड मिलता है।"[2]

मानवी विधि जनता के सामूहिक कार्य से उत्पन्न होती है। जन-समुदाय अपने सदस्यों के आचरण का नियन्त्रण करने के लिए कुछ नियमों की व्यवस्था कर देता है। इसी बात को उल्टे रूप में यों कहा जा सकता है कि राज्य उन मनुष्यों का समुदाय है जो एक निश्चित विधि संहिता का पालन करते हैं।[3] परिणाम एक ही निकलता है चाहे हम राज्य के द्वारा विधि की परिभाषा करें और चाहे विधि

---

1. *Defensor Minor*, i, 4.
2. *Defensor Pacis*, 1, XII, 3.
3. *Defensor Minor*, XII, 1.

के द्वारा राज्य की। दोनों ही परिस्थितियों में एक ऐसी सामूहिक सत्ता की आवश्यकता है जो अपने सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित कर सके। विधि सम्बन्धी सत्ता का स्रोत सदैव ही जनता अथवा उसका प्रबुद्ध अंश होता है। हाँ, यह सम्भव है कि यह अंश कभी-कभी आयोग के द्वारा अथवा साम्राज्य की स्थिति में सम्राट् द्वारा कार्यशील हो सकता है। इस अवस्था में सत्ता सौंप दी जाती है। यह सिद्धान्त नगर राज्य में सामान्य था। एथेंस में जूरी को 'एदिनियन्स' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। रोमन सम्राट् की विधायी शक्ति के व्याख्यान में भी इसी सिद्धान्त का प्रयोग होता था। मध्य युग का एक रिवाज यह भी था कि सम्पूर्ण देश को संसद् में निहित माना जाता था। मार्सिलियो का विचार था कि जनता के विधान में रीति-रिवाज भी शामिल रहते हैं। वह रीति रिवाजों को भी विधि का एक अंग मानता था। एक दूसरा शब्द जो भ्रामक हो सकता है प्रबुद्ध भाग (*Pars valentior*) है। इसके द्वारा ही विधायक निश्चय करता है। कुछ आलोचकों ने इसे संख्यागत बहुमत समझा है। लेकिन, वास्तव में यह संख्यागत बहुमत नहीं है। मार्सिलियो (Marsilio) ने अपनी परिभाषा को इन शब्दों में रखा है "मैं कहता हूँ कि समाज में संख्या तथा गुणवत्ता दोनों की दृष्टि से प्रबुद्ध भाग की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।'[1] उसका अभिप्राय जनता के उस भाग से था जिसका सबसे अधिक महत्त्व हो। वह यह नहीं चाहता था कि प्रत्येक व्यक्ति को एक ही माना जाए। समाज के मूर्धन्य व्यक्ति जनसाधारण की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखते हैं। तथापि, संख्याओं का थोड़ा-सा महत्त्व तो होता ही है। इस विचार पर निश्चित अरस्तू तथा मध्ययुग की छाप है।

मार्सिलियो का विचार है कि शासन के कार्यांग और न्यायांग नागरिक समुदाय द्वारा बनाए जाते हैं या निर्वाचित होते हैं। प्रत्येक राज्य में निर्वाचन की अलग-अलग पद्धति है। लेकिन, कार्यकारी की सत्ता हर जगह सम्पूर्ण समाज के विधायी कार्य द्वारा प्राप्त होती है। इसलिए, यह आवश्यक है कि इस सत्ता का प्रयोग विधि के अनुसार हो और इसके अधिकार और कर्तव्य जनता द्वारा निर्धारित हों। कार्यांग को यह देखना चाहिए कि राज्य का प्रत्येक अंग सम्पूर्ण समाज के हित के लिए अपना-अपना कार्य उचित ढंग से करे। यदि कार्यांग अपना यह कार्य ठीक से न कर सके, तो जिस सत्ता ने अर्थात् जनता ने उसे निर्वाचित किया था, वह उसे अपदस्थ भी कर सकती है। मार्सिलियो आनुवंशिक सम्राट् की अपेक्षा निर्वाचित सम्राट् को ज्यादा पसन्द करता है। यहाँ भी उसका ध्यान नगर-राज्य की ओर था, साम्राज्य की ओर नहीं। मार्सिलियो ने साम्राज्य के बारे में बहुत कम विचार किया है। लेकिन, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कार्यांग चाहे कितना संगठित हो, उसे एकीकृत और सर्वोच्च होना चाहिए जिससे कि उसकी शक्ति किसी भी गुट की अपेक्षा अधिक हो और वह विधि के प्रशासन में एक इकाई के रूप में कार्य कर सके। एक संगठित सत्ता होने के नाते राज्य में यह एकता अत्यन्त

1. शुरू के मुद्रित संस्करणों में *et qualitate* शब्द नहीं थे। इन शब्दों के अर्थ के लिए देखिए MacIlwain, *op. cit, pp*, 300 ff.

ग्रावश्यक है। इसके ग्रभाव मे राज्य मे सघर्ष ग्रौर ग्रव्यवस्था ग्रवश्यम्भावी है। मध्ययुगीन शासन मे इस एकता का ग्रभाव था। मार्सिलिग्रो के सिद्धान्त का यह ग्रश एकता के इसी ग्रभाव की ग्रोर तथा लौकिक ग्रौर धार्मिक ग्रदालतो के दुहरे क्षेत्राधिकार के कारण उठने वाली कठिनाइयों की ग्रोर सकेत करता है। मार्सिलिग्रो ने ग्रपनी पुस्तक के दूसरे भाग मे ग्राध्यात्मिक सत्ता का विवेचन किया है। इस विवेचन के लिए राज्य की एकता का विचार ग्रावश्यक है।

मार्सिलिग्रो के प्राकृतिक ग्रथवा ग्रात्मनिर्भर राजनैतिक समाज की यही रूपरेखा है। यह विभिन्न वर्गों से निर्मित एक सावयव सत्ता है। इसमें ऐसी भौतिक ग्रौर नैतिक सभी चीजें शामिल हैं जो नागरिको के लौकिक जीवन ग्रौर कल्याण के लिए ग्रावश्यक हैं। उसकी विधि निर्माण की शक्ति एक ऐसे निगम की शक्ति है जो सम्पूर्ण के हित के लिए ग्रपने ग्रगो पर नियन्त्रण रख सकता है। उसकी कार्यकारी शक्ति निगम की ग्रभिकर्त्ता है। राज्य की एकता के लिए जो भी ग्रावश्यक होता है कार्यकारी शक्ति उसे करती है। इस एकता के कारण क्षेत्राधिकार ग्रथवा शक्ति वितरण मे कोई मतभेद नही हो पाते। लौकिक दृष्टि से समाज पूर्णत ग्रात्मनिर्भर ग्रौर पूर्णत सर्वशक्तिशाली है। वह प्रत्येक दृष्टि से ग्रपने जीवन ग्रौर ग्रपनी सम्पत्ता का सरक्षक है। यदि नागरिको का कोई ग्राध्यात्मिक कल्याण होता है, तो यह दूसरे ससार मे ग्रौर दूसरे जीवन म ही सम्भव है। राज्य का इस ग्राध्यात्मिक कल्याण पर कोई नियन्त्रण नही है। मानव समाज तथा उसके शासन के सम्बन्ध मे इस प्रकार विचार कर चुकने के उपरान्त मार्सिलिग्रो ग्रपनी पुस्तक के वास्तविक उद्देश्य पर ग्राता है। वह ग्रब उस ग्राध्यात्मिक जीवन पर विचार करता है जिसे चर्च ने गलत समझा था। इस ग्राधार पर वह ग्रात्मनिर्भर समाज के कार्यों मे ग्राध्यात्मिक सत्ता के हस्तक्षेप को ग्रनुचित ठहराता है ग्रौर इस प्रकार गृहयुद्ध के उस सबसे बड़े कारण का उद्घाटन करता है, जिसका ग्ररस्तू तक को ज्ञान न था।

चर्च ग्रौर धर्माचार्य

(Church and the Clergy)

चूँकि निगम समाज (Corporate Community) के प्रत्येक पदाधिकारी को जनता के ग्रादेश (mandate) के द्वारा ही शक्ति प्राप्त होती है, ग्रत यह स्पष्ट है कि धर्माचार्यों को बलप्रयोग की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। यदि वे इस शक्ति का प्रयोग करते हैं तो वे विधिक शक्ति के प्रतिनिधियो के रूप मे कार्य करते हैं। जिस समय मार्सिलिग्रो ने लिखा था उस समय ग्रनेक सम्बन्ध धार्मिक विधि द्वारा विनियमित होते थे। धर्माचार्य धार्मिक कार्य करने के लिए एक विशिष्ट वर्ग है। ग्रन्य किसी वर्ग की भाँति वे भी विनियमों के ग्रधीन हैं। मानवी विधि का उल्लघन करने पर जनसाधारण की भाँति उन्हे भी नागरिक ग्रदालतो को सौंपा जा सकता है। मानवी विधि के ग्रन्तर्गत ग्राध्यात्मिक ग्रपराध जैसी कोई चीज नहीं है। इन ग्रपराधों का निर्णय ईश्वर भावी जीवन मे करता है। इनके लिए दड भी मृत्यु के पश्चात् ही मिल सकता है। यदि ग्राध्यात्मिक ग्रपराधो के लिए इस ससार मे दड मिलता

है, और कभी-कभी मिलता भी है, तो यह दंड मानवी विधि के अन्तर्गत ही दिया जाता है। इस अवस्था में ये अपराध स्वतः ही मानवी विधि के विरुद्ध अपराध हो जाते हैं। यदि नास्तिकता के लिए इस संसार में दंड दिया जाता है, तो वह एक नागरिक अपराध है। उसका आध्यात्मिक दंड सिर्फ भर्त्सना (damnation) है। लेकिन, यह न धर्माचार्य कर सकते हैं और न मानव न्यायाधीश। मार्सिलियो का कहना है कि धर्म बहिष्कार भी सिविल शक्ति के हाथ में ही रहता है। संक्षेप में, उसका सिद्धान्त धार्मिक विधि को अलग से कोई विशिष्ट क्षेत्राधिकार नहीं देता। जहाँ तक वह दैवी विधि है, उसके दंड परलोक में ही मिलते हैं। यदि उसे इस संसार में ही दंड मिलते हैं, तो वह मानवी विधि का ही एक भाग है और इसलिए लौकिक समाज के ही अन्तर्गत है। मार्सिलियो ने धर्माचार्य के कर्तव्य की तुलना चिकित्सक की सलाह से की है। धार्मिक संस्कारों को करने के अतिरिक्त धर्माचार्य केवल सलाह और उपदेश ही दे सकते हैं। वे दुष्टों को डांट-डपट सकते हैं और बता सकते हैं कि पाप के भावी परिणाम क्या होंगे। लेकिन, वे किसी मनुष्य को तपस्या करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। मार्सिलियो ने आध्यात्मिक और धार्मिक शक्ति को वैधानिक शक्ति से अलग करने पर जितना जोर दिया है, उतना मध्ययुग के अन्य किसी लेखक ने नहीं दिया है।

मार्सिलियो ने चर्च की लौकिक शक्ति को नष्ट करने पर भी काफी जोर दिया है। चर्च के पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती। धार्मिक सम्पत्ति अनुदान अथवा राजसहायता के रूप में होती है, जो राज्य चर्च को सार्वजनिक उपासना के व्यय के लिए देता है। पियरे डुबोइस (Pierre Dubois) ने भी इस प्रकार की योजना प्रस्तुत की थी। वह इसे पोप तथा फ्रांस के राजा के बीच करार के द्वारा पूरा करना चाहता था। मार्सिलियो ने यह निष्कर्ष अपने आत्मनिर्भर समाज के सिद्धान्त द्वारा ही निकाल लिया था। मार्सिलियो के विचार से धर्माचार्यों को न तो दसांश (tithes) ही मिलना चाहिए और न उन्हें कराधान (taxation) से ही छूट मिलनी चाहिए। धार्मिक सम्पत्ति की भाँति धार्मिक पद पर भी लौकिक अधिकारियों का ही नियन्त्रण है। उसका यह भी मत है कि धर्माचार्यों को धार्मिक कृत्य करने के लिए उस समय तक बाध्य किया जा सकता है जब तक कि उन्हें आजीविका प्राप्त होती रहती है। लौकिक शासन पोप से लेकर नीचे तक के प्रत्येक धार्मिक पदाधिकारी को अपदस्थ कर सकता है। लेविस (Lewis) ने १३२७-३० के बीच में अपने रोमन अभियान के समय चर्च की निन्दा की थी और रोम की एक भीड़ के मत की सहायता से एक पोप विरोधी के निर्वाचन का प्रयास किया था। उस समय यह कहा गया था कि लेविस ने यह कार्य मार्सिलियो की सलाह से किया है और यह डिफेंसर पैसिस (Defensor Pacis) की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा है। यह विचार कि मार्सिलियो का राजनैतिक दर्शन धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने का प्रयास करता है, बिल्कुल गलत है। धर्मसुधार काल के राष्ट्रीय निरंकुश शासक किसी विधि-निषेध को नहीं मानते थे। वे मार्सिलियो के सिद्धान्त की सीमा तक जाने को तैयार नहीं थे। मार्सिलियो के सिद्धान्त का प्रभाव तो

यह था कि धर्म को पूरी तरह से लौकिक शक्ति के नियन्त्रण में रख दिया जाए।

तथापि, यह कहना सही नहीं है कि मार्सिलियो धर्म को राज्य की एक शाखा मात्र समझता था। इसका अभिप्राय यह होता कि जितने राज्य हैं, उतने ही धर्म हों। १३२४ में मार्सिलियो जैसे सन्देहवादी तक को राष्ट्रीय धर्म का विचार बड़ा आश्चर्यजनक लगता; प्रत्येक स्वतन्त्र नगर के लिए तो अलग-अलग धर्म की बात ही दूसरी थी। उसका सिद्धान्त धार्मिक संगठन की विशेषकर पोप की सर्वोच्च सत्ता (plenitudo potestatis) की कठोर आलोचना करता है। लेकिन, यह इस बात को मानता है कि आध्यात्मिक प्रयोजनों के लिए और आध्यात्मिक प्रश्नों का निर्णय करने के लिए धर्म को लौकिक समाज से पृथक् संगठन की आवश्यकता है। लेकिन यह समस्या कुछ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक कठिनाइयाँ खड़ी कर देती है। इसका कारण यह था कि सार्वदेशिक धर्म छोटे-छोटे आत्मनिर्भर समाजों, विशेषकर नगर-राज्यों के साथ मेल नहीं खाता। मार्सिलियो (Marsilio) ने अपने राजनीति-दर्शन में नगर-राज्यों की ही कल्पना की है। यह समझ में नहीं आता कि स्वतन्त्र पद-सोपान के बिना धर्म को किस प्रकार संगठित किया जा सकता है। यदि धर्म के आध्यात्मिक निर्णय अपने परिपालन के लिए विशिष्ट लौकिक सत्ताओं पर निर्भर रहें, तो भी धर्म का संगठन मुश्किल है। अपने से बाद के अनेक प्रोटेस्टेंटों की भाँति मार्सिलियो की भी यह स्थिति थी कि उसे समस्त धार्मिक प्रश्न व्यक्तिगत निर्णय पर छोड़ देने चाहिए थे और धर्म को एक विशुद्ध ऐच्छिक संगठन समझना चाहिए था। लेकिन, यदि मार्सिलियो चौदहवीं शताब्दी में एक ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाल सका, जिसे प्रोटेस्टेंट सोलहवीं शताब्दी में नहीं निकाल सके थे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उसके युग में धर्म के असन्तुष्ट तत्व अधिक-से-अधिक यही सोच सकते थे कि धर्म की जनरल कौंसिल ही धर्म की बुराइयों को दूर करे।

मार्सिलियो के विचार से धार्मिक पद-सोपान की उत्पत्ति भी मानवी है। उसकी सत्ता का आधार भी मानवी विधि है। जहाँ तक उसके सांसारिक पदों और अधिकारों का सम्बन्ध है, वह पूरी तरह राज्य के नियन्त्रण में रहता है। इसलिए, पद-सोपान (hierarchy) अथवा पुरोहित वर्ग भी धर्म नहीं है। धर्म का निर्माण समस्त ईसाई धर्मावलम्बियों से, चाहे वे जनसाधारण हों या पादरी, होता है। इस प्रकार, मार्सिलियो ने किसी-न-किसी रूप में एक ही समाज के दो संगठनों की ईसाई परम्परा को जारी रखा, हालाँकि उसने धर्म से उसकी बलप्रयोग की शक्ति को छीन लिया। मार्सिलियो का कहना है कि जनसाधारण तक धर्म के आदमी (viriecclesiastici) हैं। मार्सिलियो का यह विचार मार्टिन लूथर (Martin Luther) के 'ईसाई मनुष्य का धर्मतत्त्व (the priesthod of the christian man)' की याद दिला देता है। चूँकि धर्माचार्यों में पद सम्बन्धी समस्त भेद मानवी संस्थाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसलिए, आध्यात्मिक स्वरूप की दृष्टि से सभी धर्माचार्य बराबर होते हैं। बिशप या पोप में ऐसा कोई आध्यात्मिक गुण नहीं है, जो कि साधारण पादरियों में नहीं होता। उनका धर्माचार्य का स्वरूप जिसके कारण वे धार्मिक संस्कार करते हैं, एक रहस्यवादी तत्व है। वह सीधे ईश्वर से प्राप्त होता

से आता है। उसकी सम्पत्ति सांसारिक नहीं है। इसके साथ किसी प्रकार की लौकिक शक्ति अथवा पद भी नहीं जुड़ा है। इस प्रकार, मार्सिलियो ने एक ऐसे तर्क को सामान्य रूप में उपस्थित किया जिसका जॉन ऑफ पेरिस (John of Paris) ने भी प्रयोग किया था। जॉन ऑफ पेरिस ने इस तर्क के प्रयोग द्वारा पोप को आध्यात्मिक दृष्टि से अन्य पादरियों के बराबर ही माना था। उसने चर्च के इतिहास से पोप की प्रभुसत्ता को समाप्त कर दिया था। उसने यह नहीं माना कि पीटर के उत्तराधिकारी के रूप में पोप को कोई शक्ति प्राप्त है अथवा पीटर अन्य देवदूतों से बढ़कर है। उसने ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर इस विचार का खण्डन किया है कि पीटर कभी रोम में रहा था अथवा वह बिशप था। रोम के चर्च की प्रधानता का कारण उसने यह ठहराया है कि वह साम्राज्य की राजधानी में स्थित था।

मार्सिलियो ने धार्मिक संगठन और पोप की आध्यात्मिक शक्तियों को तो अस्वीकार किया ही है। उसने धर्म के आध्यात्मिक पक्ष को भी कम महत्त्व दिया है। वह आन्तरिक अनुभूति को ही वास्तविक धर्म स्वीकार करता है। यह कहना कठिन है कि यह मार्सिलियो का विश्वास है अथवा यह एक ऐसे बुद्धिवादी की प्रकृति को प्रकट करता है जो धर्म के क्षेत्र को अधिक-से-अधिक संकीर्ण रखना चाहता है। पाप स्वीकृति, तपस्या, विलास, पापमोचन और धर्म-बहिष्कार जैसे विषयों में उसने इस बात पर बार-बार जोर दिया है कि पाप के लिए प्रायश्चित और ईश्वर के द्वारा क्षमा—ये दो ही बातें आवश्यक हैं। इनके बिना बाहरी धार्मिक संस्कार व्यर्थ है। यदि किसी पापी को ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, तो धार्मिक संस्कार के बिना भी व्यक्ति पाप से छूट जाता है। मार्सिलियो ने धार्मिक विधि के प्रति भी वही विरोध प्रकट किया है जो उसके समसामयिकों दांते (Dante) और विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) ने और उसके बाद लूथर (Luther) ने प्रकट किया था। वह बाइबिल को अथवा न्यू टेस्टामेंट (New Testament) को प्राप्त साक्षात्कार का और इसलिए दैवी विधि का एक मात्र स्रोत समझता था। उसके विचार से पोप की विधियाँ दैवी विधि का अंश नहीं हैं। यदि उन्हें समाज का अनुमोदन प्राप्त हो जाता है, तो वे मानवी विधि का ही एक अंश हो सकती हैं, इसलिए, बाइबिल में दिए गए विचार ही मुक्ति के लिए आवश्यक हैं। बाद की प्रोटेस्टेंट विचारधारा पर इन विचारों का काफी प्रभाव पड़ा था। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि मध्ययुग की पूर्ववर्ती दो शताब्दियों ने रिफार्मेशन (Reformation) के लिए किस प्रकार भूमि तैयार कर दी थी।

जनरल कौंसिल

(The General Council)

मार्सिलियो ने ईसाई धर्म के एक ऐसे तत्त्व को अवश्य स्वीकार किया है जिसके सम्बन्ध में चर्च अधिकारपूर्वक बोल सकता है। इस तत्त्व के लिए एक मानवी संस्था की आवश्यकता है। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों के अन्य कई विचारक भी चर्च की त्रुटियों से परिचित थे। उन्होंने जनरल कौंसिल का

आश्रय लिया था। उनके चरण-चिह्नों पर चलते हुए मार्सिलियो ने भी जनरल कौंसिल को मान्यता दी है। उसके विचार से जनरल कौंसिल चर्च के दैविध विवादों को हल करने वाली संस्था है। उसका मत है कि चर्च तथा अन्य धर्माधिकारी केवल मनुष्य ही हैं। उन्हें धार्मिक विवादों के निर्णय का अन्तिम अधिकार नहीं होना चाहिए। वह यह अधिकार सामूहिक रूप में सम्पूर्ण चर्च को अथवा अपेक्षाकृत संकीर्ण रूप से जनरल कौंसिल को देने के लिए प्रस्तुत है। मार्सिलियो के राजदर्शन में यही एक ऐसा स्थल है जहाँ वह बुद्धि तथा धर्म में कुछ समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। मार्सिलियो का मत था कि जनरल कौंसिल में प्रेरणा और विवेक का समन्वय हो जायेगा। इस समन्वय के फलस्वरूप बाइबिल में निहित दैवी विधि की ठीक-ठीक व्याख्या हो सकेगी और जहाँ कहीं कुछ विवाद उठेंगे, उनका समाधान हो सकेगा। इस प्रश्न पर विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) मार्सिलियो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट था। विलियम का मत था कि कौंसिल भी एक मानवी संस्था है। इसलिए, धर्म के मामले में वह भी वैसे ही गलती कर सकती है जैसे कि पोप। इसलिए, मार्सिलियो का चर्च सम्बन्धी सिद्धान्त उसके सम्पूर्ण दर्शन में एक पैबंद मालूम पड़ता है। वह अपने राजनैतिक दर्शन की एक प्रवृत्ति चर्च के ऊपर भी लागू करता है। उसका विचार है कि जिस प्रकार एक राज्य के सम्पूर्ण नागरिक एक निगम का रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण ईसाई धर्मावलम्बी भी एक निगम का निर्माण करते हैं। जनरल कौंसिल राजनैतिक कार्यपालिका की भाँति उसकी प्रतिनिधि है। कठिनाई यह है कि इस हस्तान्तरण के कारण नागरिक दो निगमों के सदस्य हो जाते हैं। एक ओर तो वे अपने राज्यों के और दूसरी ओर सार्वभौम चर्च के सदस्य होते हैं। लेकिन, मार्सिलियो के समाज सम्बन्धी सिद्धान्त में इस दुहरी नागरिकता का कोई संकेत नहीं है। वह इस तथ्य के प्रति एक दिग्दर्शन मात्र है कि मार्सिलियो का सिद्धान्त उसके समय के समाज की अपेक्षा जिसमें उसने इसे लागू किया था, अधिक लौकिक था। संगठन की दृष्टि से उसने चर्च और राज्य के बीच यह भेदक रेखा खींची है कि कौंसिल एक प्रतिनिधित्व संस्था है। उसका प्रस्ताव है कि ईसाई जगत् के समस्त मुख्य प्रांत अपने शासकों के निर्देश के अनुसार अपने प्रतिनिधियों को चुनेंगे। ये प्रतिनिधि ईसाई जनसंख्या के अनुपात में होंगे। इन प्रतिनिधियों में धर्माचार्य और जनसाधारण दोनों ही होंगे। इन लोगों का जीवन सदाचार युक्त होगा और ये दैवी विधि के निष्णात पण्डित होंगे। ये अपने शासकों के आदेशानुसार किसी सुविधाजनक स्थान में समवेत होंगे। ये बाइबिल की शिक्षाओं को ध्यान में रखते हुए धार्मिक विश्वासों अथवा धार्मिक प्रथाओं सम्बन्धी ऐसे विवादास्पद प्रश्नों पर विचार करेंगे, जिनसे ईसाइयों के बीच कलह उत्पन्न होने की सम्भावना हो। उनके निर्णय सभी लोगों के ऊपर, विशेषकर पादरियों के ऊपर बंधनकारी होंगे। लेकिन, मार्सिलियो की जनरल कौंसिल लौकिक सरकारों के ऊपर निर्भर है। इसका कारण यह है कि वह उनके सहयोग से आहूत होती है और उसके निर्णय राज्य के बलप्रयोग द्वारा ही कार्यान्वित हो सकते हैं। जनरल कौंसिल की सत्ता ऐसी ही अस्पष्ट है जैसी कि उन ईसाई धर्मा-

धसम्बियों के नियम को, जिसका वह एक भाग है। सचाई यह है कि यूरोपीय समाज के सम्बन्ध में मार्सिलिमो के सिद्धान्त ने चर्च जैसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के लिए कोई वास्तविक आधार प्रदान नहीं किया। व्यवहार में मार्सिलिमो का जनरल कौंसिल का सिद्धान्त केवल कागजी संविधान ही प्रमाणित हुआ। यह राष्ट्रीय ईर्ष्याओं और स्थानवाद (particularism) के कारण सफल न हो सका। इसने चर्च की आध्यात्मिक सत्ता का तो कारगर ढंग से खंडन किया, लेकिन यह मध्ययुग के ईसाई समाज में एकता स्थापित करने के साधन के रूप में असफल हुआ।

बहुत कम विचारक ऐसे हुए हैं, मध्ययुग में तो ऐसा कोई विचारक नहीं हुआ, जिन्होंने चर्च की स्वतन्त्रता को इतना कम महत्व दिया हो। ईसाई धर्म ने चर्च की स्वतन्त्रता को एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना था। मार्सिलिमो के पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी तक फिर ऐसा कोई प्रयत्न नहीं हुआ, जिसमें धर्म को विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत मामला ठहराया गया हो। सत्रहवीं शताब्दी में हॉब्स ने अवश्य ऐसा प्रयास किया था। उसने चर्च को पूर्ण रूप से लौकिक शासन के नियन्त्रण में रखने का सुझाव दिया। वास्तव में, उसका राजनैतिक दर्शन नगर-राज्य के सिद्धान्त का पुनरुत्थान था। यह दर्शन उसकी सभ्यता की प्रत्येक शाखा का विनियमन कर सकता था। इस दृष्टि से मार्सिलिमो का दर्शन प्रकृतिवादी अरस्तूवाद (naturalistic Aristotelianism) का शुद्धतम रूप था। मध्ययुग में उसका इससे अच्छा कोई रूप उत्पन्न नहीं हुआ। मार्सिलिमो के दर्शन ने इटली के पुनर्जागरण के पैगनिज्म (paganism) का भी पुनरुत्थान किया। यह विचारधारा दो शताब्दियों बाद मैकियावेली (Machiavelli) में पूर्णरूप से विकसित हुई। यह सही है कि यह पूरा सिद्धान्त एक समझौते के रूप में है। मार्सिलिमो के नागरिक दो निगमों—राज्य और चर्च के नागरिक मालूम पड़ते हैं। चर्च के हाथ से उसकी सारी सत्ता निकल गई है। तथापि, यह विश्वास अब भी बना हुआ है कि समान विश्वास और सार्वभौम धार्मिक अनुशासन कायम रखा जा सकता है। इसलिए, मार्सिलिमो का राज्य एक ऐसी पृथक् लौकिक संस्था नहीं है जो धार्मिक विश्वास से अलग रहे। इसी प्रकार, उसका राज्य भी ऐसा विशुद्ध ऐच्छिक संगठन नहीं है जिसे बलप्रयोग की शक्ति की बिलकुल आवश्यकता न हो। उसका आत्मनिर्भर मानव समाज अति प्राकृतिक चर्च का एक एजेंट है। अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह बड़ी कठिन स्थिति थी। पोप की निरंकुशता को एक झूठा आध्यात्मिक दावा कहा जा सकता है, लेकिन तभी जब कि लौकिक सरकारें अपने प्रजाजनों को उससे अधिक धार्मिक स्वतन्त्रता दें, जितनी की मार्सिलिमो ने कल्पना की हो।

विलियम : चर्च की स्वतन्त्रता

(William : The Freedom of the Church)

चौदहवीं शताब्दी में पोप की प्रभुसत्ता के विरुद्ध जो प्रबल संघर्ष चल रहा था, उसकी झलक डिफेंसर पेसिस (Defensor Pacis) की अपेक्षा मार्सिलिमो ने

महान् समसामयिक विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) में ज्यादा अच्छी तरह मिलती है। विलियम का सिद्धान्त मार्सिलियो की अपेक्षा कम पूर्ण और संगत है। उसको समझना भी जरा मुश्किल है। इसका कारण यह है कि वह विलियम की अनेक विवादास्पद रचनाओं में बिखरा पड़ा है।[1] विलियम का मुख्य उद्देश्य किसी राजनैतिक दर्शन का निर्माण करना नहीं था। वह मुख्य रूप से एक तार्किक (Dialectician) और धर्मशास्त्री था। चूँकि उसने राज्य के किसी क्रमबद्ध दर्शन का निर्माण नहीं किया, अतः उसके विचार मार्सिलियो की अपेक्षा कम सिद्धान्तवादी हैं। उस समय वे अनेक ईसाई पोप के साम्राज्यवाद के खिलाफ थे। पोप के साम्राज्यवाद ने धर्म तथा यूरोप का बहुत नुकसान किया था। सम्भवतः इस प्रवृत्ति को विलियम मार्सिलियो की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह व्यक्त करता था। विलियम फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता था। ये लोग अध्यात्मवादी (Spirituals) कहलाते थे। ये लोग पादरियों की दरिद्रता को ठीक समझते थे। जॉन बाइसवें (John XXII) ने इन लोगों को धर्म-बहिष्कृत कर दिया था। इस प्रकार, वह एक ऐसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधि था, जो बाद की राजनैतिक रचनाओं में काफी मुखर हुई थी। ये लोग अपने को एक ऐसा अल्पसंख्यक वर्ग मानते थे, जिसको अपने धार्मिक विश्वासों के कारण अनेक कष्ट सहन करने पड़े थे और जो स्वतन्त्रता के नाम पर प्रबुद्ध लोकमत से यह अपील करता था कि वह विहित सत्ता (Constituted authority) का विरोध करे। इसलिए, उसके सामने मुख्य समस्याएँ यह थीं कि प्रजाजनों को अपने शासकों के खिलाफ क्या अधिकार प्राप्त हैं, धर्म के मामलों में पोप की प्रभुसत्ता किस सीमा तक मर्यादित रहे, तथा अल्पसंख्यक वर्ग बलप्रयोग का कहाँ तक विरोध कर सकता है। विलियम के अनुसार पोप की प्रभुसत्ता ईसाई धर्म के दृष्टिकोण

---

1. विलियम की रचनाओं का न तो कोई संग्रह है और न उनकी सभी विवादास्पद रचनाओं का कोई आधुनिक संस्करण ही है। मेल्किओर गोल्डास्ट (Melchior Goldast) ने अपनी *Monarchia Sancti Imperii Romani*, 3 vols की दूसरी जिल्द में विलियम की अधिकांश राजनैतिक रचनाओं को मुद्रित किया था। विलियम के कुछ ग्रंथ इस प्रकार हैं *Opus nonaginta dierum* (शोल्ज ने इसकी तिथि १३३३-३४ बताई है), *Super Potestate summi pontifics octo questionum decisiones* (शोल्ज ने इसकी तारीख १३४० बताई है) *Dialogus* १३४३. इसके अन्दर पहले की लिखी हुई कई पुस्तिकाएँ हैं और यह अपूर्ण है। आर० शोल्ज ने अब तक की अप्रकाशित कई पुस्तिकाओं का प्रकाशन और उनका विश्लेषण किया है। इन रचनाओं में से प्रमुख ये हैं *Unbekannte kirchenpolitische Streitschriften aus der zeit Ludwigs des Bayern, 1327-1354, Bibliothek des kgl preuss hist Instituts in Rom* Bde IX, X (1911-14) *De imperatorum et pontificum potestate* में विलियम ने स्वयं अपने विचारों का निरूपण किया है। इसका रचनाकाल सम्भवतः १३४७ है (Scholz *op cit.* Part I. pp. 176 ff, analysis, Part II, ff 453 ff, text)। इस ग्रंथ में ऐसा लम्बा-चौड़ा तर्क-वितर्क नहीं है जिससे विलियम के अपने विचारों को समझने में गड़बड़ी हो।

से तो विधर्मता (heresy) और नीति के दृष्टिकोण से एक भयंकर नवप्रवर्तन (innovation) है। इसने यूरोप में कलह पैदा किया है, ईसाई धर्म की स्वतन्त्रता नष्ट कर दी है और लौकिक शासकों के अधिकारों का हनन किया है। प्रतिम बात सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है। विलियम का उद्देश्य सिर्फ पोप के अहंकार के खिलाफ ईसाई धर्मावलम्बियों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करना था। विवाद सार्वभौम तथा पैगम्बरी चर्च (Universal and apostolic church) तथा "एविग्नान के चर्च (Church of Avignon)" के बीच है।

इस दृष्टि से विलियम के सामान्य दार्शनिक विचार भी कुछ महत्त्व रखते हैं। थॉमस ने बुद्धि और विश्वास, विज्ञान, दर्शन और धर्मशास्त्र आदि को मिला कर एक सुव्यवस्थित दार्शनिक पद्धति का निर्माण किया था। इसमें दरारें पड़ने का मुख्य कारण यह नहीं था कि बुद्धि को स्वतन्त्र करने का प्रयास किया गया था, प्रत्युत् यह था कि धर्म को स्वतन्त्र करने का प्रयास किया गया था। स्वयं थॉमस के जीवन काल में उसकी संश्लिष्ट योजना को अनेक समसामयिकों का समर्थन नहीं मिला। फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय (Franciscan order) के महान् दार्शनिक डन्स स्कॉटस (Duns Scotus) ने उसका समर्थन नहीं किया। विलियम स्कॉटस की परम्परा में ही था। थॉमस की तुलना में दोनों ही व्यक्तियों ने बुद्धि तथा धर्म के भेद को तीव्र कर दिया। उनका कहना था कि धर्मशास्त्र का मुख्य सम्बन्ध आध्यात्मिक चीजों से है। इन चीजों का ज्ञान केवल धर्मभीरु व्यक्तियों को आत्मानुभूति के द्वारा ही हो सकता है। इन चीजों का मुख्य उपयोग नैतिक है। इन विचारकों ने दर्शन को केवल सैद्धान्तिक सत्यों (theoretical truths) तक ही सीमित रखा। ये चीजें स्वाभाविक बुद्धि विवेक के अन्तर्गत आती हैं। यह प्रवृत्ति कुछ ऐसी ही थी जो लैटिन एवरोइज्म (Averroism) में अपनी परा-काष्ठा को पहुँची। इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इसने मार्सिलियो के अरस्तूवाद को प्रभावित किया था। लेकिन, विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) के अनुयायी पुरानी लकीर के फकीर रहे। उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि ईश्वर और अमरता जैसी बातों को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। लेकिन, उन्होंने एवेरोइज्म के दुहरे सत्य (twofold truth) के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। इसका समग्र प्रभाव यह पड़ा कि थॉमस का विचार-प्रासाद नष्ट हो गया। अब विवेक धर्म से बाजी मार ले गया। धर्म के हाथ में केवल अज्ञात का स्वप्निल क्षेत्र ही रह गया। बुद्धि और धर्म के इस पृथक्करण से मिलता-जुलता लेकिन कुछ अधिक तीव्र पृथक्करण बुद्धि और इच्छा का पृथक्करण है। बुद्धि और इच्छा का पृथक्करण मनोविज्ञान और धर्मशास्त्र दोनों के क्षेत्रों में है। विलियम का विचार था कि मनुष्य में और ईश्वर में इच्छा कार्य की एक ऐसी स्वतः प्रवर्ती शक्ति है, जो किसी बुद्धि के द्वारा निर्धारित नहीं होती। इसी आधार पर विलियम ने कहा है कि अच्छाई और बुराई का नैतिक भेद ईश्वर की इच्छा पर आधारित है। इसके निहितार्थ कानूनी सिद्धान्त के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। यह विधि को विधायी आदेश के साथ जोड़ देता है। लेकिन, प्रश्न यह है कि विलियम ने अपने

आध्यात्मिक विचारों को अपने विधि सम्बन्धी सिद्धान्त में कहाँ तक प्रविष्ट किया।[1]

यद्यपि विलियम का सम्पूर्ण दर्शन प्रगतिशील है, लेकिन उसका राजनैतिक दर्शन मूलत अनुदार है। उसने पोप के खिलाफ ईसाइयों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। इस क्षेत्र मे उसके विचार अपने समय के विचारों के अनुकूल थे। उसने पोप की निरकुशता को एक नई चीज और धर्म-विरोधी चीज बताया। पोप की स्वेच्छाचारिता के खिलाफ उसने कुछ ऐसे तर्कों को पेश किया जिनको उसके दावे के अनुसार उस समय सभी लोग मानते थे। विलियम का तर्क आध्यात्मिक और लौकिक सत्ताओं के प्राचीन भेद तथा उनकी स्वतन्त्रता के ऊपर आधारित था। वह यह भी स्वीकार करता था कि प्रत्येक सत्ता स्वतन्त्रता का उपभोग करने के साथ-साथ एक-दूसरे की गलतियों को भी सुधार सकती है। उसका विचार था कि यदि दोनों सत्ताएँ दैवी तथा प्राकृतिक विधि द्वारा निर्धारित अपनी अपनी सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करें, तो वे एक-दूसरे को सहारा दे सकती हैं और हिल मिल कर रह सकती हैं। युग की परिस्थितियों ने उसे यह लिखने को विवश कर दिया था कि पोप की स्वेच्छाचारी शक्ति के ऊपर कुछ प्रतिनिधिक नियन्त्रण रहना चाहिए। तथापि, यदि कोई सच्चा पोप हो, तो उसके हाथ मे विशाल स्वविवेकी शक्तियाँ भी रह सकती हैं। दूसरे शब्दों मे, दोनो क्षेत्राधिकारो का कानूनी भेद उसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं लगा। उसके लिए महत्त्वपूर्ण प्रश्न न्यायिक नहीं, प्रत्युत धार्मिक थे।

उसका साम्राज्य सम्बन्धी विवेचन भी कुछ इसी प्रकार का था। उसने यह नहीं माना कि सम्राट की शक्ति पोप से प्राप्त होती है, राज्याभिषेक के सस्कार से उसकी विधिसगत सत्ता में वृद्धि होती है और निर्वाचन के सम्बन्ध में पोप की स्वीकृति आवश्यक होती है। दूसरे शब्दो मे, उसके मत से सम्राट् की शक्ति निर्वाचन से प्राप्त होती थी। निर्वाचक मडल (College of Electors) जनता के स्थान पर था और उसका प्रतिनिधि था। इस दृष्टि से उसका विचार था कि आध्यात्मिक शक्ति अथवा कोई भी राजकीय शक्ति प्रजाजनों की निगमनात्मक सस्था की स्वीकृति से उत्पन्न होती है। यह स्वीकृति प्रजाजनों के नायकों के माध्यम से प्रकट होती है। सम्राट् और पोप के विवाद को ध्यान में रखते हुए विलियम ने सम्राट् को धर्म में सुधार करने की दृष्टि से हस्तक्षेप की व्यापक शक्तियाँ दी हैं। लेकिन, विलियम का मत था कि सम्राट् को इन शक्तियों का प्रयोग केवल असाधारण स्थिति में ही करना चाहिए। तत्कालीन स्थिति कुछ असाधारण थी भी। कुल मिला कर वह दो शक्तियों के परम्परागत भेद का समर्थक था। इन शक्तियों की परिभाषा भी उसने अपने पुराने रूप में ही छोड़ दी थी। इसी प्रकार, उसने सम्राट् और फ्रांस तथा इग्लैंड के राष्ट्रीय राज्यों के सम्बन्ध के बारे मे कोई निश्चित बात नहीं कही। उसने सम्राट् को अन्य राजाओं

---

1. See O Gierke, *Political Theories of the Middle Ages*, trans. by F. W. Maitland, pp 172, n. 256. M. A. Shepard, "William of Occam and the Higher Law," *American Political Science Review*, Vol. XXVI (1932), p. 1009, takes issue with Gierke.

से कुछ ऊंचा स्थान दिया है। लेकिन, अंग्रेज होने के नाते उसका जर्मनी के प्रति उदार दृष्टिकोण नहीं था। उसकी रचनाओं में राष्ट्रीयता की ऐसी भावना नहीं थी जो फिलिप दि फेयर के समर्थन मे फ्रांसवासियों द्वारा लिखित रचनाओं में पायी जाती थी या मार्सिलियो के नगर-राज्य सम्बन्धी साहित्य मे पायी जाती थी। इस दृष्टि से भी मार्सिलियो (Marsilio) प्राचीनतर मध्ययुगीन परम्परा का अनुवर्ती था।

विलियम के राजनैतिक विचारों का आधार मध्ययुग की वह मूलबद्ध और सार्वभौम भावना थी, जो स्वेच्छाचारी शक्ति का या विधि से बाहर के बलप्रयोग का विरोध करती थी। इस दृष्टि से उसके सिद्धान्त सेंट टॉमस के सिद्धान्तों से मिलते-जुलते थे। सेंट टॉमस की भाँति ही विलियम की दृष्टि में भी विधि के अन्तर्गत ईश्वर की व्यक्त इच्छा और प्राकृतिक विवेक के सिद्धान्त, प्राकृतिक न्याय (Natural equity) के आदेश और सभ्य राष्ट्रों की समान प्रथाएँ तथा कुछ विशिष्ट राष्ट्रों की विशेष प्रथाएँ और सकारात्मक विधि आदि शामिल थे। ये सब चीजें मिलकर एक एकीकृत व्यवस्था का निर्माण करती थीं। इस व्यवस्था में देश-काल की कुछ विशेष परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन हो सकते थे। लेकिन, इसके अन्तर्भूत सिद्धान्तों मे कोई काट-छांट सम्भव नहीं थी। किसी राष्ट्र विशेष की विधि इसी प्रकार महान् व्यवस्था के अन्तर्गत आती है। वह प्राकृतिक विधि के प्रतिकूल किसी नियम की स्थापना नहीं कर सकता। तथापि, विवेक और न्याय (equity) की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए वह नयी परिस्थितियों के लिए कुछ आवश्यक व्यवस्था कर सकता है। इसलिए, विधि प्रत्येक परिस्थिति के लिए कुछ-न-कुछ आवश्यक व्यवस्था कर देती है। सत्ता का प्रयोग सर्वसाधारण की भलाई के दृष्टिकोण से होना चाहिए। यह प्रयोग प्राकृतिक न्याय (natural justice) और सदाचारों के अनुकूल होना चाहिए। यह आवश्यकता पूरी न होने पर शक्ति स्वेच्छाचारी हो जाता है और शासन सेंट ऑगस्टाइन (St Augustine) की शब्दावली में 'दिन दहाड़े की व्यापक डाकेजनी (highway robbery on a large scale)" हो जाता है। विलियम ने पोप के कार्यों का इसी आधार पर विरोध किया है। यह प्रवृत्ति मध्ययुग के सम्पूर्ण राजनैतिक दर्शन मे पाई जाती है। पोप ने अपनी शक्ति से बढ़कर कार्य किया है। उसने धर्मशास्त्रों के विरोध में रूढ़ियों की स्थापना की है। उसने लौकिक शासकों और ईसाइयों के शाश्वत अधिकारों पर आक्षेप किया है।[1] पोप जो स्वय को ईश्वर का दासानुदास बताता है, अत्याचारी मात्र बनकर रह जाता है।

---

1. एम० ए० शेपर्ड (M. A. Shepard) ने विलियम के उत्तरवर्ती विधि सम्बन्धी सिद्धान्त का वर्णन किया है। देखिए, American Political Science Review, Vol. XXVI (1932), pp. 1005 ff. and Vol. XXVII (1933), pp 24 ff. मैं यह नहीं मानता कि विलियम ने विधि की पवित्रता के सम्बन्ध में अर्वाचीन विश्वास में कोई वृद्धि की।

कसीलियर सिद्धान्त
(The Conciliar Theory)

विलियम विधि को सर्वशक्तिशाली मानता था। चौदहवीं शताब्दी में विधि की सर्वशक्तिमत्ता का विचार सार्वभौम भी था। विलियम का महत्व यह है कि उसने चर्च में किए जाने वाले अत्याचारों का विरोध किया, ईसाइयों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया और चर्च में एक ऐसे शासन की स्थापना का समर्थन किया जो ईसाइयों के धर्म और विश्वास के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर कम मनमाने ढंग से निर्णय कर सके। यहाँ भी, उसने मुख्य रूप से सैद्धान्तिक प्रश्नों पर ही विचार किया है, शासन-प्रणालियों पर कम। वह सविहित सत्ता की मनमानी से युक्तिसंगत विद्वत्ता और ईसाई जगत् के प्रबुद्ध विवेक की रक्षा करना चाहता था। विलियम के सामने सब से बड़ी परेशानी पोप की थी। पोप के सम्बन्ध में माना जाता था कि वह कभी गलती नहीं करता। लेकिन, विलियम पोप को विधर्मी मानता था। विलियम के विचार से पोप के निर्णय हमेशा सही नहीं होते थे। चौदहवीं शताब्दी के उन अधिकांश व्यक्तियों की भाँति जो चर्च के धर्म से असन्तुष्ट थे, उसकी दृष्टि में भी चर्च की बुराइयों को दूर करने का एक मात्र व्यावहारिक उपाय जनरल कौंसिल के माध्यम से चर्च के अधिकारियों की शक्ति पर नियन्त्रण रखना अथवा उन्हें संवैधानिक रूप देना था। १३७८ में महान् मतभेद (Great Schism) शुरू हो गया। यह धार्मिक राजनीति में एक मुख्य प्रश्न बन गया है। जॉन ऑफ पेरिस और मार्सिलियो की भाँति विलियम के सिद्धान्तों ने भी इस वाद विवाद में काफी योग दिया था। लेकिन, विलियम यह नहीं मानता था कि कोई व्यावहारिक समाधान किसी तर्क-संगत कठिनाई को दूर कर सकता है। विलियम का विचार था कि जिस प्रकार पोप गलती कर सकता है, उसी प्रकार परिषद् भी गलती कर सकती है। लेकिन, परिषद् पोप की अपेक्षा कम गलती करती है, क्योंकि परिषद् ईसाई जगत् की बुद्धिमत्ता को प्रकट करती है। वास्तव में, विलियम एक बड़े प्रश्न को प्रस्तुत कर रहा था। मनुष्यों को यह विश्वास कैसे हो सकता है कि उन्होंने निरपेक्ष सत्य को प्राप्त कर लिया है।

तथापि, इस प्रश्न के सम्बन्ध में उसे कोई सन्देह नहीं थे। सभी विद्वान् दार्शनिकों की भाँति उसका भी विवेक में दृढ़ विश्वास था। उसकी यह भी दृढ़ मान्यता थी कि ईसाई धर्म अपनी अन्तर्भूत सत्ता के द्वारा अपनी वैधता को स्थापित कर सकता है। जब सिद्धान्त सम्बन्धी कोई गूढ़ प्रश्न उत्पन्न होता है, तो उसका निर्णय चर्च के पदाधिकारी और दैवी अनुभूति को प्राप्त करने वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं। यह अनुभूति धर्मशास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त हो सकती है। पोप की आज्ञप्तियाँ और परिषद् के निर्णय नगण्य महत्व रखते हैं। समस्त आरम्भिक प्रोटेस्टेंटों की भाँति उसका भी यह दृढ़ विश्वास था कि गहन विद्वत्ता और नैष्ठिक गवेषणा से ऐसा धार्मिक सत्य सामने आ सकता है जिसे सद्भाव के सभी व्यक्ति शिरोधार्य करें। जाँच-पड़ताल एक अधिकार ही नहीं है, प्रत्युत् एक कर्तव्य है। निर्णय करने का

अधिकार किसी सविहित सत्ता को नहीं, प्रत्युत् सब से बुद्धिमान् व्यक्ति को है। विलियम के सामने पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता का कोई प्रश्न नहीं था। उसका विचार था कि उचित गवेषणा करने पर जिस चीज का विश्वास किया जाता है, वह ठीक ही निकलेगी। लेकिन, गवेषणा की और ध्वनितार्थ से निर्णय करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अत, उसके लिए युग की महान् समस्या पोप की निरंकुशता को दबाना था। यदि धर्माचार्य और जनसाधारण मिलकर पोप की शक्ति की सीमाएँ निश्चित कर देते, तो पोप और ईसाई जगत् के बीच शान्ति स्थापित हो सकती थी। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उसे सबसे अधिक व्यावहारिक उपाय यही प्रतीत होता था कि विद्वान् और धर्मप्राण ईसाइयों का प्रतिनिधित्व करने वाली एक जनरल कौंसिल के द्वारा चर्च के शासन को सवैधानिक रूप दे दिया जाए।

विलियम का मत था कि प्रस्तावित परिषद् को अधिक-से अधिक प्रतिनिधिक होना चाहिए। उसने यह साफ-साफ कहा कि परिषद् में जनसाधारण और धर्माचार्य दोनों होने चाहिएँ। विलियम को इस बात पर भी कोई आपत्ति नहीं थी कि परिषद् में स्त्रियाँ शामिल हो। प्रतिनिधित्व का आधार पेरिश (parishes), या मठ या धार्मिक सम्प्रदाय होने चाहिएँ। चर्च के सदस्य इन्हीं समुदायों में विभक्त हैं। विलियम का यह विचार कदापि नहीं था कि ईसाइयों का व्यक्तिगत रूप से या प्रादेशिक रूप से प्रतिनिधित्व हो। उसका विचार था कि निगम सस्था सम्पूर्ण के रूप में भी कार्य कर सकती है और अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से भी। इसलिए, उसने परोक्ष प्रतिनिधित्व की एक स्थूल योजना प्रस्तुत की थी। इस योजना के अनुसार जिले के धार्मिक निगमों को प्रान्तीय परिषदों के लिए और प्रान्तीय परिषदों को जनरल कौंसिल के लिए प्रतिनिधि चुनने चाहिएँ। आजकल की निर्वाचन व्यवस्था की तुलना में तो यह योजना असगठित-सी है। यह योजना उसी समय तक चल सकती थी जब तक कि अवयवी निगम स्पष्ट रूप से चिह्नित और एकीकृत थे। विलियम ने चर्च और राज्य दोनों के सामयिक अनुभव से लाभ उठाया था। मध्ययुग की ससदें बोरो और काउण्टियों जैसे राज्य के कम्यूनों का प्रतिनिधित्व प्रादेशिक जिलों के रूप में नहीं, प्रत्युत् निगम सस्थाओं के रूप में करती थीं। लेकिन, विलियम की जनरल कौंसिल सम्बन्धी योजना दो महान् मेंडिकेंट सम्प्रदायों (Mendicant Orders) के शासन पर आधारित थी। डोमिनिकन सम्प्रदाय की परिषद् में प्रान्तों के प्रतिनिधि होते थे। तेरहवीं शताब्दी के बीच तक विभिन्न सभाओं के लिए प्रतिनिधि चुनने की निर्वाचन प्रणाली काफी विकसित हो गई थी। फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय ने जिसका विलियम स्वयं सदस्य था, कुछ ऐसी ही योजना अपनाई थी। तेरहवीं शताब्दी में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय प्रतिनिधित्व की ऐसी ही योजना का प्रयोग करते थे।[1] इसलिए कसीलियर योजना का उद्देश्य चर्च में

---

1 अर्नेस्ट बार्कर, The Dominican Order and the Convocation (1913), Part I प्रतिनिधिक सस्थाओं के विकास के लिए देखिए C. H. McIlwain "Medieval Estates," in the Cambridge Medieval History, Vol VII (1932), Ch XXIII

एक ऐसी पद्धति के प्रयोग को चालू करना था जो उस समय काफी प्रचलित थी और जो उस समय के इस विचार के अनुसार थी कि निगम संस्थाएं इकाइयों के रूप में कार्य कर सकती थीं। यद्यपि धार्मिक सुधारकों के लिए इस योजना को अपनाना सर्वथा स्वाभाविक था, तथापि इसे सम्पूर्ण चर्च के ऊपर लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) का राजनैतिक दर्शन चौदहवीं शताब्दी के मध्य के राजदर्शन की स्थिति के बिल्कुल अनुकूल था, अपनी सफलताओं की दृष्टि से भी और विफलताओं की दृष्टि से भी। यह साम्राज्य तथा चर्च के सम्बन्धों की दृष्टि से पुरानी सीमाओं के भीतर ही था। यद्यपि अब लौकिक राज्यों के ऊपर पोपशाही का नियन्त्रण भूतकाल की वस्तु बन गया था, लेकिन उसने इस प्रश्न को राजनैतिक चर्चा के केन्द्र में ला दिया कि शासक और उसके प्रजाजनों के बीच कैसा सम्बन्ध हो तथा प्रजाजन अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर ईसाई धर्म की रक्षार्थ शासकों का विरोध कर सकते हैं। स्थिति को देखते हुए यह स्वाभाविक ही था कि यह प्रश्न पहले-पहल चर्च में उठा। मध्ययुग में पोप ने ही सबसे पहले एक ऐसी सत्ता का दावा किया था जो निरपेक्ष, निर्भ्रान्त और प्रभुसत्तापूर्ण हो। इस रूप में यह दावा मध्ययुग के विश्वास और व्यवहार के प्रतिकूल था। प्राचीन परम्परा और वर्तमान विश्वास इसके बिल्कुल विरोध में था। इस प्रश्न को लेकर जो महान् मतभेद प्रारम्भ हुआ, उसने चर्च के अन्दर प्रभुसत्ता और संवैधानिक तथा प्रतिनिधिक शासन के दावों के बीच विवाद उत्पन्न कर दिया।

Selected Bibliography

The Dominican Order and Convocation Oxford, 1913

"Marsilio of Padua, Part I, Life" By C Kenneth Brampton In *English Historical Review*, Vol XXXVII (1922), p 501

The *De imperatorum et pontificum potestate of William of Ockham* Ed C Kenneth Brampton Oxford 1927 introduction

A History of Mediaeval Political Theory in the West By R W. Carlyle and A J Carlyle 6 Vols London and New York 1903-36 Vol VI, Part I

Marsilio di Padova Ed A Checchini and N Bobbio Padua, 1942

The Defensor Pacis of Marsilio of Padua By Ephraim Emerton, Cambridge, Mass. 1920

Reason and Revelation in the Middle Ages By Etienne Gilson, New York, 1938

The Social and Political Ideas of Some Great Mediaeval Thinkers Ed F J C Hearnshaw, London 1923 Ch VII.

La naissance de l'esprit laique au declin du moyen age. By George de Lagarde, 6 Vols Vienna and Paris, 1934-46 Vols. II, IV-VI

The Medieval Contributions to Political Thought Thomas Aquinas Marsilius of Padua Richard Hooker, By Alexander Passerin d' Entreves, Oxford, 1939 Chs 3, 4

Illustrations of the History of Medieval Thought and Learning, By R L Poole, Second edition, revised, London, 1920 Ch IX

"Marsilio of Padua Part II, Doctrines" By C W Previté-orton In *English Historical Review*, Vol XXXVIII (1923) p 1

Die literarischen Widersacher der Papste Zur Zeit Ludwig des Baiers, By S Riezber, Leipzig, 1874

Unbekannte Kirchenpolitische Streitschriften aus der Zeit Ludwigs des Bayern, 1327—1354 By Richard Scholz, 2 Vols Rome, 1911 14

"William of Occam and the Higher Law" By Max A. Shepard In American Political Science Review, Vol XXVI (1932), p 1005 Vol XXVII (1933) p 24

Die Staats theorie des Marsilius Von Padua, By L. Stieglitz Leipzig 1914

"Marsilio of Padua and William of Ockham" By James Sullivan In *American Historical Review*, Vol II (1896 97) pp 409, 593

"Germany Lewis the Bavarian" By W T Waugh In *The Cambridge Medieval History*, Vol VII (1932), Ch IV

चर्च शासन का कंसीलियर सिद्धान्त

(The Conciliar Theory of the Church Government)

विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) की रचनाओं की उत्तरवर्ती शताब्दी में चर्च में पोप की निरपेक्ष सत्ता के प्रश्न को लेकर सम्पूर्ण यूरोप में व्यापक वाद विवाद उत्पन्न हो गया था। इस बहस म जनता भी बड़ी रुचि से भाग लेने लगी। चर्च में पोप की निरपेक्ष सत्ता का प्रश्न केवल ऐसा बौद्धिक प्रश्न ही नहीं रहा था, जो उसके धार्मिक प्रजाजनों के भावपरक अधिकारों मात्र से सम्बन्ध रखता हो। इसके कारण शासन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में कसावट आ गई थी। पोप धार्मिक जीवन पर नियन्त्रण रख सकता था और वह धार्मिक मुकदमों को अपनी अदालतों में खींच सकता था। पोप की आय में बड़ी वृद्धि हो गई थी। पोप अनेक प्रकार के कर लगा सकता था, जिसके कारण उसके प्रजाजनों म व्यापक असन्तोष फैलता था। पोप के दरबार का विलास-वैभव और पोप के शासन की अवसरवादिता की तीव्र आलोचना होने लगी। यह आलोचना धर्म-सुधार काल तक चलती रही। महान् सघभेद (The Great Schism) ने जो १३७८ से १४१७ तक जारी रहा, स्थिति को और भी बिगाड़ दिया। यूरोप में जनता के विचारों पर इसका सर्वत्र बुरा प्रभाव पड़ा। दो और कभी-कभी तीन एक-दूसरे के विरोधी पोप होते थे। वे अक्सर विविध राजवशों और राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं के पिछलग्गू मात्र होते थे। वे एक-दूसरे के खिलाफ हर प्रकार के धार्मिक और राजनैतिक दाँवपेंच खेलते रहते थे। इसके कारण पोप के पद के प्रति परम्परागत भक्तिभाव काफी हद तक नष्ट हो गया था। चर्च के सम्पूर्ण सगठन में भ्रष्टाचार तथा अनेक बुराइयाँ आ गई थीं। यह बुराइयाँ अधिकतर सघभेद (schism) के कारण आई थी। इन बुराइयों के कारण पादरी बदनाम हो गए थे। चॉसर (Chaucer) के पार्डनर (Pardoner) और समनर (Summoner) पात्र बदनाम पादरियों के उदाहरण हैं।

चर्च का सुधार

(The Reform of the Church)

यहाँ राज्य में नहीं, प्रत्युत् चर्च में शासन की एक ऐसी समस्या थी जिस पर यूरोप के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सब तरह की विद्वत्ता के और सब तरह के सामाजिक वर्गों के व्यक्तियों को विचार करना था। चर्च में आमूल सुधार का प्रश्न उस समय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया था। इस प्रश्न का विवेचन जनता की राजनैतिक शिक्षा का पहला बड़ा आन्दोलन था। इंग्लैंड में विक्लिफ (Wycliffe) (१३२०-१३८४) और बोहेमिया म जॉन हस (John Hus) (१३७३-१४१५) के बहुत से अनुयायी हो गए थे। इनमें से सभी अनुयायी उनके

विकृत पांडित्यपूर्ण दर्शन को नही समझते थे। तथापि, लेविस दि बवेरियन के दिनों से लेकर विक्लिफ और फिर हस तक विचारों के प्रवाह मे निरन्तर गति आती जा रही थी। १३७७ की पोप की धर्माज्ञप्ति (The Papal Bull of 1377) में विक्लिफ के निष्कर्षों की निन्दा की गई थी और उसके ऊपर बदनाम मार्सिलियो का प्रभाव बताया गया था। विक्लिफ स्वय अपने ऊपर विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) तथा आध्यात्मिक फ्रांसिस्कनो का ऋण मानता था। इन दोनो सुधारकों के सामने मुख्य प्रश्न अपने-अपने देशों की कुछ समस्याओं को हल करने का था। लेकिन, उनके सामने चर्च की सम्पत्ति के स्वामित्व तथा पोप के कराधान जैसी कुछ समान समस्याएँ भी थी। ये दोनो ही सुधारक धार्मिक आडम्बरों, आध्यात्मिक सत्ता पर धर्माचार्यों के एकाधिकार और पोप की निरपेक्ष शक्ति के विरुद्ध थे। विक्लिफ तथा हस का चर्च शासन के सम्बन्ध मे कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं था। ये दोनों ही विचारक चर्च को सम्पूर्ण ईसाई समुदाय, जनसाधारण और पादरी वर्ग के साथ समीकृत करते थे। दैवी विधि और आध्यात्मिक शक्ति धर्माचार्यों को नहीं, प्रत्युत चर्च को प्राप्त होती है। धर्म का वास्तविक तत्त्व सस्कारों और समारोहों मे नहीं, प्रत्युत् धर्मानुयाइयो के आध्यात्मिक विश्वासो और सत्कार्यों मे निहित है। "कोई व्यक्ति राजमुकुट अथवा वस्त्र मे नही, प्रत्युत् ईसा द्वारा दी गई शक्ति से पादरी बनता है।" एक पूर्ण समाज होने के नाते चर्च मे अपने पुनरुत्थान की भी शक्ति होनी चाहिए। इसलिए, जनसाधारण के लिए यह उचित है कि वह धर्माचार्यों के अशिष्ट आचरण मे सुधार करे। आध्यात्मिक मामलों में चर्च की स्वतन्त्रता और आत्मनिर्भरता पादरीवाद के विरोध का आधार बन गई। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक विरोधाभास के द्वारा वह लौकिक शक्ति को बढ़ाने का आधार बन गई। इस प्रवृत्ति का परिणाम स्पष्ट था। सुधारक को यह ज्ञात हो गया कि यदि वह पोप तथा धर्माचार्यों के आचरण मे सुधार करना चाहता है, तो उसे राजा की सहायता लेनी होगी। इसी कारण मार्टिन लूथर (Martin Luther) को जर्मन शासकों की सहायता लेनी पड़ी और लूथरवादियों तथा एग्लिकनों के लिए राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त मान्य हो गया। चौदहवीं शताब्दी मे विक्लिफ को भी यही रास्ता अपनाना पड़ा। तथापि, एक शताब्दी तक लोगों का यही विश्वास बना रहा था कि जनरल कौंसिल चर्च के अन्तर्गत सुधार कर सकती है। विक्लिफ का कहना था कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसका विरोध करना दुष्टतापूर्ण है।[1] बिशप भी अपनी शक्ति राजा से ही प्राप्त करते हैं। जहाँ तक इस ससार का सम्बन्ध है, राजा की शक्ति पोप की शक्ति से अधिक गौरवपूर्ण है। इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक पुरुषो के लिए न तो सासारिक शक्ति की आवश्यकता है और न सम्पत्ति की। अत, राजा का यह अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी कि वह चर्च शासन की बुराइयो को दूर करे। यह भाषा मार्क्स ट्रैक्टों की याद दिला देती है। इससे उस

1. *De officio regis* (1378—79), ed. by A. W. Pollard and Charles Sayle, London, 1887,

तर्क का भी आभास मिलता है जिसने आगे चलकर शासक को राष्ट्रीय चर्च का प्रधान बना दिया। चर्च में सुधार करने से लौकिक शासक को ही राजनैतिक लाभ पहुँचा। चर्च को धर्माचार्यों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र करने का पहला परिणाम यह हुआ कि वह राजा के नियन्त्रण में आ गया।

विक्लिफ और हस के सुधार आन्दोलनों का असर यह हुआ कि पोप की शक्ति और उससे मिलते-जुलते अन्य प्रश्नों पर जनता का ध्यान केन्द्रित हो गया और वह इन पर बहस करने लगी। यहाँ सम्भवतः यह संकेत करना अप्रासंगिक न होगा कि सम्मान्य राजनैतिक दर्शन की सतह में समानता का सर्वहारा वर्गीय सिद्धान्त भी छिपा हुआ था। इस समय तो यह सिद्धान्त धार्मिक प्रश्न के साथ ही संलग्न था, लेकिन बाद में इसने सामाजिक और आर्थिक भेदभाव पर आक्षेप किया। चौदहवीं शताब्दी के कृषक विद्रोहों में, १३५१ में फ्रांस में और १३८१ में इंग्लैण्ड में इस प्रकार के विचार प्रकट हुए। ये विद्रोह आर्थिक कठिनाइयों और अनुचित करारोपण तथा श्रमिक विधान के परिणामस्वरूप हुए थे। इन विद्रोहों में वर्ग-संघर्ष का भी हलका सा स्वर था।

When Adam delved and Eve span,
Who was then the gentleman?

इससे पहले भी *Romance of Rose* के प्रणेता ने कहा था

Naked and impotent are all,
High-born or peasant, great and small
That human nature is throughout
The whole world equal none can doubt.[1]

लेकिन, जनसाधारण में ये विचार काफी हद तक धर्म से प्रभावित रहते थे। ये विचार ऐसे सरल हृदय लोक-समुदाय के थे जिनका भ्रातृत्व और समानता के ईसाई आदर्शों में अक्षरशः विश्वास था। अपेक्षाकृत विधर्मी सम्प्रदाय इंगलैण्ड में लोलार्ड (Lollard) और बोहेमिया में हस के अतिवादी अनुयायी समाज के निम्न वर्गों में अधिक हुए। बोहेमियन सम्प्रदायों में यह विचार विशेष रूप से प्राप्त होता है कि बाइबिल में एक प्रकार के साम्यवाद का संदेश है। इस साम्यवादी व्यवस्था में ईसाई जन स्वतन्त्रता और समानता से रहते हैं। उसमें पद और विशेषाधिकार सम्बन्धी ऐसे कोई भेदभाव नहीं होते जो कि मानवी विधि और संस्थाओं द्वारा आरोपित किये जाते हैं। विक्लिफ और हस के विचार इतने अतिवादी हो सकते थे, इस विश्वास के कारण चर्च में सुधार चाहने वाले अनेक व्यक्तियों ने उनकी निन्दा की। सामाजिक समानता के इन अस्पष्ट विचारों का चौदहवीं शताब्दी में कोई व्यावहारिक महत्व नहीं था। लेकिन, इनसे यह प्रकट होता है कि चर्च के सुधार का आन्दोलन किस प्रकार धीरे धीरे जन आन्दोलन होता जा रहा था। अब ऐसे लोग भी चर्च के सुधार में रुचि लेने लगे थे, जिनको धार्मिक दर्शन की कोई विशेष जानकारी नहीं थी।

---

1. L. I. 10-11-14, trans. by F. S Ellis

आत्म-निर्भर समाज

(The Self-Sufficing Community)

कौंस्टेन्स (Constance, १४१४-१८) और बेसेल (१४३१-४६) की परिषदों में जो दल चर्च शासन में सुधार चाहता था, उसकी जन आन्दोलन से, विक्लिफ और हस के आन्दोलन तक से कोई सहानुभूति नहीं थी। उसके नेताओं ने कौंस्टेन्स में हस की सबसे बढ़ कर निन्दा की। कौंसीलियर सिद्धान्त का निर्माण पेरिस विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कुछ विद्वानों ने किया था।[1] ये विद्वान् जॉन ऑफ पेरिस (John of Paris) तथा विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) जैसे पूर्ववर्तियों की विद्वत्तापूर्ण रचनाओं से पूरी तरह परिचित थे। चर्च का सुधार आन्दोलन एक जन आन्दोलन नहीं था, यह इस बात से सिद्ध हो जाता है कि जहाँ एक बार सम्भेद का काँड (Scandal of Schism) समाप्त हुआ, यह आन्दोलन भी मन्द पड़ गया। ईसाई जगत् यह समान रूप से मानता था कि चर्च में एकता की स्थापना आवश्यक है। लेकिन, वह चर्च की सर्वोच्चता को हटा कर चर्च शासन के सम्पूर्ण सिद्धान्त को बदलने के लिए उतना ही इच्छुक नहीं था। वह ऐसा करने में असमर्थ था। ईसाई जगत् अब एक ऐसी इकाई नहीं था जो यूरोपीय आधार पर प्रतिनिधिक शासन की किसी व्यवस्था को जन्म दे सकता। कौंस्टेन्स और बेसेल की परिषदें संवैधानिक शासन की किसी व्यावहारिक योजना को जन्म न दे सकीं। व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से इन परिषदों के बाद यह आन्दोलन केवल सैद्धान्तिक महत्व का ही रह गया। कौंसीलियर सिद्धान्त के समर्थक प्रस्ताव पास कर सकते थे, लेकिन वे शासन का निर्माण नहीं कर सकते थे। जहाँ एक बार सम्भेद (Schism) का निवारण हो गया जनरल कौंसिल के द्वारा चर्च के सुधार का प्रश्न भी व्यावहारिक राजनीति का प्रश्न नहीं रहा यद्यपि इसकी चर्चा सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों तक बराबर चलती रही। राजनैतिक दर्शन में कौंसीलियर आन्दोलन का महत्व यह था कि निरंकुशतावाद (Absolutism) के विरुद्ध संविधानवाद का यह

---

1. कौंसीलियर सिद्धान्त के समर्थकों में अनेक लेखक थे। उनमें से मुख्य थे हेनरी ऑफ लेंगेन्स्टीन (Henry of Langenstein), कोनार्ड ऑफ गेल्नहाउसेन (Conard of Gelnhausen), फ्रांसिस्को जबारेला (Francisco Zabarella), पीटर डी एली (Peter d' Ailly), जॉन गर्सन (John Gerson) और निकोलस ऑफ कूसा (Nicholas of Cusa)। गियर्के की Political Theories of the Middle Ages (अंग्रेज़ी अनुवादक एफ० डब्ल्यू० मेटलैंड) में इस विषय पर इनकी रचनाओं की सूची दी गई है। इसके अच्छा संस्करण गर्सन की रचनाओं के संस्करण में है जो ५ भागों में प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण एंटवर्प में १७०६ में छपा था। इसमें हेनरी ऑफ लेंगेन्स्टीन और पीटर डी एली की रचनाएं समाविष्ट हैं। एन० राई के *De Jurisdictione, autoritate,* [redacted] *praeeminentia imperiali ac potestate ecclesiastica* में फ्रांसिस्को जबारेला की पुस्तिका तथा निकोलस का *De Concordantia Catholica* छपी है। हीडेलबर्ग एकेडमी के तत्वावधान में निकोलस ऑफ कूसा की रचनाओं का एक नया संस्करण छपने वाला है। इस संस्करण में यह कृति जिल्द १३ और १४ में होगी।

पहला बड़ा वाद-विवाद था और उसने ऐसे विचारों का निर्माण और प्रसार किया जिनका बाद के समयों में उपयोग किया गया।

कंसीलियर सिद्धान्त के समर्थकों ने जिस सिद्धान्त का समर्थन किया था, उसका प्रतिपादन जॉन ऑफ पेरिस (John of Paris) से लेकर विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) तक सभी पोप विरोधी करते रहे थे। चर्च एक पूर्ण और आत्मनिर्भर समाज है। इस नाते उसके पास ऐसी समस्त शक्तियाँ होनी चाहिएँ जो उसकी अविच्छिन्नता, सुशासन और कुरीतियों के निवारण के लिए आवश्यक हैं। इसलिए चर्च की आध्यात्मिक सत्ता स्वयं चर्च में ही एक निगम संस्था के रूप में ईसाइयों के सम्पूर्ण समाज में निहित है। धर्माचार्य और पोप केवल ऐसे प्रतिनिधि ही हैं जिनके माध्यम से समाज कार्य करता है।

"जब यह कहा जाता है, कि पोप के पास प्रभु शक्ति है तो इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि स्वयं पोप के पास ही प्रभु शक्ति है। यह शक्ति सम्पूर्ण समाज में रहती है। पोप सम्पूर्ण समाज का एक अंग है। वह इन शब्दों का सम्पूर्ण प्रभु समाज के प्रतिनिधि के रूप में प्रयोग करता है।"[1]

इस अवधारणा में कई विचार मिले-जुले थे। जाबरेला (Zabarella) में सब से स्पष्ट विचार यह है कि निगम अपने प्राधिकृत अभिकर्ताओं के माध्यम से कार्य करता है। वह अपने अभिकर्ताओं को अधिकार भी देता है। सम्पूर्ण निकाय अपने अंगों के माध्यम से ही बोलता और कार्य करता है। यहाँ निहित रूप से अरस्तू के आत्मनिर्भर समाज के इस सिद्धान्त का भी समावेश है कि यह, समाज जीवन की सभी आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है और उसके नाम से जो कुछ किया जाता है, उसका एक मात्र औचित्य यह है कि वह जीवन को वहाँ तक खुशहाल बना सकता है। लेकिन, इन सब से महत्त्वपूर्ण यह मूलबद्ध विचार है कि कोई राष्ट्र अथवा समाज खुद अपने कानून बना सकता है अथवा अपने शासकों को नियुक्त कर सकता है। इस सहमति अथवा स्वीकृति के कारण ही विधि-सम्मत शासन अत्याचारी शासन से भिन्न होता है। परिषद् का अथवा अन्य किसी प्रतिनिधि निकाय का अधिकार इस तथ्य पर आधारित है कि वह समाज के स्थान पर है और उसका प्रतिनिधित्व करता है। किसी नियम को बन्धनकारी शक्ति तभी प्राप्त होती है जब कि उसके पीछे सम्पूर्ण समाज की स्वीकृति हो। शुरू में न्यायिक जाँच या ज्यूरी का यही निर्देशक सिद्धान्त था। सदस्य प्रतिनिधि यह घोषणा कर देते थे कि विधिसम्मत प्रथा क्या है। यह पद्धति विधि सम्बन्धी आधुनिक विचारों से भिन्न थी। यह भविष्य की ओर नहीं, प्रत्युत भूतकाल की ओर देखती थी। इसमें समाज की इच्छा नहीं, प्रत्युत प्रथा ही बन्धनकारी थी।

समरसता और सहमति

(Hormony and Consent)

निकोलस ऑफ कुसा (Nicholas of Cusa) ने अपनी *De Concordantia Catholica* पुस्तक में जनरल कौंसिल का जोरदार समर्थन किया था। यह पुस्तक

1. Zabarella, *De Schismate*, in S. Chand, *op. cit.* (1056), 703 a.

कौंसिल ऑफ बेसेल (Council of Basel) को १४३३ में दी गई थी। इस रचना का मूलमन्त्र सत्ता नहीं, प्रत्युत् सहमति है। इस कृति में यह प्रश्न द्विविधा में छोड़ दिया गया है कि अन्तिम रूप से शक्ति पोप में निहित है अथवा परिषद् में। परिषद् की उच्चता इस बात में निहित है कि यह सम्पूर्ण चर्च के करार अथवा सहमति को किसी व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह प्रकट करती है। निकोलस ने कैननिस्ट (Canonists) के प्राधिकार पर यह तर्क उपस्थित किया है कि समाज के द्वारा अनुमोदन अथवा स्वीकृति विधि का आवश्यक अंग है। यह स्वीकृति प्रथा अथवा रीति द्वारा प्रकट होती है। परिषद् सम्पूर्ण निकाय की प्रतिनिधि है। इसलिए, इस प्रश्न पर वह किसी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अधिकार के साथ बात कर सकती है। पोप की धर्माज्ञप्तियाँ अनेक बार इसी कारण असफल हुई हैं कि उन्हें स्वीकार नहीं किया गया है। जिस विधि का प्रयोग नहीं होता, उसकी शक्ति जाती रहती है। किसी विधि को किसी स्थान विशेष पर लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि वह उस प्रान्त द्वारा भी स्वीकार की जाए। यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण विधि देश, काल और स्थान के अनुसार हो।[1] इस सामान्य अर्थ में सम्पूर्ण शासन सहमति के ऊपर आधारित है :

"प्रकृति की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान हैं। यदि किसी सत्ता से प्रजाजन बुराई करने से रोके जाते हैं और उन्हें भय दिखलाया जाता है कि यदि वे अच्छाई नहीं करेंगे, तो उनकी स्वतन्त्रता सीमित की जाएगी, तो वह सत्ता जनसत्ता और प्रजाजनों की स्वीकृति से प्राप्त होती है। यह सत्ता चाहे तो लिखित विधि के रूप में और चाहे तो सजीव विधि के रूप में हो सकती है। यदि यह सजीव विधि के रूप में हो, तो इसका अधिष्ठान शासक होता है। यदि प्रकृति की दृष्टि में सब व्यक्ति समान रूप से शक्तिशाली और समान रूप से स्वतन्त्र हैं, शासक में भी बराबर शक्ति है, तो एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्तियों के ऊपर सत्ता दूसरे व्यक्तियों की स्वीकृति होने पर ही स्थापित हो सकती है। यह उसी प्रकार है जैसे कि विधि भी सहमति के आधार पर ही स्थापित होती है।"[2]

इसलिए, राजा मानव समाज के सामान्य समझौते के द्वारा शासित होते हैं। राजाओं का अस्तित्व इसी समझौते पर निर्भर है। यह विचार कुछ ऐसा ही है जिसे हमने पहले के एक अध्याय में ब्रेक्टन (Bracton) के एक उद्धरण के आधार पर प्रकट किया था कि राजा को विधि का पालन करना चाहिए क्योंकि विधि राजा का निर्माण करती है। निकोलस का यह उद्धरण सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दियों तक के क्रान्तिकारी तर्कों से काफी साम्य रखता है। लेकिन, इस पर हमें सावधानी से विचार करना चाहिए, नहीं तो यह समानता भ्रामक सिद्ध हो सकती है। निकोलस द्वारा व्यक्त प्राकृतिक विधि और प्रजाजनों के अधिकारों का सिद्धान्त बाद के क्रांतिकारी सिद्धान्तों का पूर्ववर्ती था, यह बात बिलकुल स्पष्ट है। ये विचार लम्बे समय से यूरोपीय समाज की परम्परा में रहे थे। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि कंसीलियर सिद्धान्त के समर्थकों ने इन विचारों का प्रयोग सविहित सत्ता के विरुद्ध

1. II., X—XI.
2. II, XIV.

किया। इस दृष्टि से वे पूर्ववर्ती पोप विरोधियों के साथ थे। उन्होंने प्रथा के आधार पर स्वेच्छाचारी शक्ति के खिलाफ प्राचीन स्वतन्त्रता का समर्थन किया। यह तत्त्व बाद के क्रान्तिकारी तर्कों में भी उपस्थित था। सत्रहवीं शताब्दी के उग्र विचारकों ने मानव अधिकारों को अंग्रेजों के परम्परागत अधिकारों के साथ समीकृत किया था। लेकिन, सदर्भ की दृष्टि से निकोलस के तर्क में और क्रांतिकारियों के तर्क में आधारभूत अन्तर है। बाद के तर्क में सहमति का अर्थ यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को एक इकाई माना जाए। पन्द्रहवीं शताब्दी में इस प्रकार का अर्थ सम्भव नहीं था। उस समय व्यक्तिगत अन्तरात्मा और आतरिक विश्वास के तर्क को वह शक्ति प्राप्त नहीं थी जो उसे चर्च की एकता भग होने के बाद प्राप्त हुई। परम्परागत धार्मिक और सामाजिक सस्थाओं के भग होने से ऐसा 'स्वामित्वहीन' व्यक्ति भी उत्पन्न नहीं हुआ जो केवल आन्तरिक प्रेरणा शक्ति से ही कार्य कर सके। निकोलस ने समाज की स्वाभाविक स्वतन्त्रता पर जोर दिया है। उसके मत से समाज अपने स्वत प्रेरित अनुमोदन के द्वारा अपने सदस्यों के ऊपर बन्धनकारी प्रथाएँ लागू करता है। इस प्रकार अर्द्ध-चेतन अवस्था में विधि का निर्माण हो जाता है और उसे समाज के प्रमुख व्यक्तियों के माध्यम से स्वीकृति प्राप्त हो जाती है।

कसीलियर सिद्धान्त का सार यह था कि चर्च का सम्पूर्ण निकाय, ईसाई धर्मावलम्बियों का सम्पूर्ण समुदाय अपनी विधि का स्वय स्रोत है। पोप तथा अन्य धर्माचार्य उसके अग या सदस्य हैं। चर्च का अस्तित्व दैवी तथा प्राकृतिक विधि के कारण है। उसके शासक प्राकृतिक विधि के तो अधीन हैं ही वे चर्च के अपने सगठन अथवा जीवन की विधि के भी अधीन हैं। यह सही है कि उन्हें इस विधि की सीमाओं के भीतर रहना चाहिए। उनके ऊपर धर्म-सगठन के अन्य अगों का भी नियन्त्रण रहना चाहिए। चर्च को अपनी धर्माज्ञप्तियाँ सलाह और अनुमोदन के लिए एक प्रतिनिधिक सस्था के सामने पेश करनी चाहिएँ जिससे कि उन्हें चर्च स्वीकार कर सके। यदि वह ऐसा नहीं करता और अपने पद के अधिकार से अधिक शक्तियाँ ग्रहण करता है, तो उसे न्याय्यत अपदस्थ किया जा सकता है। पदच्युति के आधार अस्पष्ट थे। सबसे प्रबल आधार और ऐसा आधार जिसे कसीलियर सिद्धान्त के समर्थक दुराग्रही पोप के ऊपर लागू करने का प्रयास करते, विधर्मिता का था। कुछ लेखकों का कहना था कि पोप को अन्य आधारों पर भी पदच्युत किया जा सकता है। इस बात को सब मानते थे कि जनरल कौंसिल पोप को पदच्युत कर सकती है। लेकिन जॉन ऑफ पेरिस (John of Paris) की तरह कुछ लोग यह भी मानते थे कि कॉलेज ऑफ कार्डिनल्स (College of Cardinals) भी ऐसा कर सकता है। कसीलियर सिद्धान्त के समर्थकों के लिए आदर्श शासन प्रणाली मध्ययुग का सवैधानिक राजतन्त्र (constitutional monarchy) जिसके अन्तर्गत अनेक जागीरें हुआ करती थीं अथवा धार्मिक सम्प्रदायों का सगठन था। इन समस्त धार्मिक सगठनों के प्रतिनिधि एक परिषद् के लिए निर्वाचित होते थे। यह परिषद् सम्पूर्ण चर्च का प्रतिनिधित्व करती थी। यदि कसीलियर सिद्धान्त को व्यावहारिक शासन का रूप धारण करना था, तो उसे या तो एक स्थायी जनरल कौंसिल का

रूप धारण करना पड़ता या कॉलिज ऑफ कार्डिनल्स (College of Cardinals) को मध्ययुगीन संसद् के रूप में बदलना पड़ता। लेकिन, इनमें से कोई भी योजना व्यावहारिक नहीं थी।

इस प्रकार के वाद विवाद में मुख्य प्रश्न यह था कि अन्तिम निर्णय पोप के हाथ में है अथवा कौंसिल के हाथ में। लेकिन, प्रश्न को इस रूप में उपस्थित करना ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है। इसका कारण यह है कि यह प्रश्न केवल वाद-विवाद के दौरान ही विकसित हुआ था। कसीलियर वाद विवाद के दौरान में प्रश्न उस भाँति स्पष्ट रूप से विकसित नहीं हुआ जिस प्रकार वह बाद में इंग्लैंड में राजा और संसद् के वाद-विवाद में विकसित हुआ था। इन वाद-विवादों में प्रत्येक व्यक्ति ने इस धारणा के साथ भाग लिया था कि वह एक अस्थायी स्थिति का सामना कर रहा है। इस स्थिति को शासन के स्वरूप में आधारभूत परिवर्तन किए बिना ही दूर किया जा सकता है। कसीलियर आन्दोलन को संघ भेद के काड (scandal of the schism) के कारण शक्ति प्राप्त हुई थी। इस बुराई के दूर होने के साथ-ही-साथ आन्दोलन की शक्ति भी कम हो गई। आन्दोलन की विफलता ने पोप की प्रभुसत्ता को और पुष्ट किया। यह प्रश्न सीधे पोप की प्रभुसत्ता और कौंसिल की प्रभुसत्ता के बीच ही नहीं उठा। इसका कारण यह है कि तत्कालीन मत के अनुसार अन्तिम शक्ति इनमें से किसी एक में अथवा धार्मिक संगठन के किसी एक अंग में निहित नहीं थी। मध्ययुगीन राजतन्त्र की भाँति कसीलियर सिद्धान्त का भी अनिवार्य सिद्धान्त यह था कि चर्च अथवा समाज अथवा राष्ट्र स्वायत्तशासी है और उसकी शक्ति सम्पूर्ण समाज में निहित है। लेकिन, सम्पूर्ण निकाय का कोई राजनैतिक अस्तित्व नहीं था। वह अपने एक अथवा एक से अधिक अंगों के द्वारा ही मुखर हो सकता था। लेकिन, कसीलियर सिद्धान्त इस विचार के प्रतिकूल था कि किसी एक अंग के पास अन्तिम निर्णय की शक्ति हो। चूंकि अन्तिम शक्ति सम्पूर्ण चर्च में निहित है इसलिए उसके प्रत्येक अंग पोप, कौंसिल अथवा कालिज के पास अन्तिम शक्ति नहीं है। वे सम्पूर्ण चर्च की सृष्टि हैं और इस रूप में उसके समांगी (Co-ordinate) हैं। यदि वे समांगी नहीं हैं, तब भी उनमें से किसी के पास कार्य करने की प्रदत्त शक्ति नहीं है। एक अंग की शक्ति दूसरे को स्पष्ट रूप से प्रदत्त नहीं है। सबके पास दूसरों की तुलना में अन्तर्निहित शक्ति है, यद्यपि सब अपनी शक्ति सम्पूर्ण समाज से प्राप्त करते हैं। शासन किसी प्रभुसत्ताधारी की ओर से शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं है। वह एक सहकारी उद्यम, एक समरसता अथवा निकोलस की शब्दावली में समवाय है।

सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि चर्च के शासी अंगों में समरसता नहीं रही थी। फलतः, कसीलियर सिद्धान्त के समर्थकों को ऐसी मुश्किल का सामना करना पड़ा जिसको तत्कालीन विधि के संदर्भ में नहीं समझाया जा सकता था। संकट-काल में कौंसिल सम्पूर्ण चर्च की समस्याओं पर पोप से ज्यादा अच्छी तरह विचार कर सकती थी। लेकिन, विधित कौंसिल का अस्तित्व मुश्किल था और वह पोप के सहयोग के बिना कार्य नहीं कर सकती थी। यदि दो या तीन पोप होते, तो

इस समस्या का समाधान सम्भव ही नहीं था। कौंसिल के समर्थन में अक्सर इस तर्क का प्रयोग किया जाता था कि आवश्यकता समस्त विधि का अतिक्रमण कर देती है और संकट काल में सम्राट् परिषद् को बुला सकता है तथा धार्मिक पोप का निर्वाचन करा सकता है। लेकिन यह तर्क वास्तविक समस्या से मुँह मोड़ना था। इससे मूल समस्या का हल नहीं होता। कौंसीलियर सिद्धान्त का एकमात्र व्यावहारिक परिणाम यह हो सकता था कि कौंसिल पोप को अपना आधीन बना कर उसकी सत्ता का स्रोत बन जाती। लेकिन, यह समाधान भी विधिबाह्य ही होता। यह परिणाम इस विचार से भिन्न होता कि शासन स्वशासी समाज के विभिन्न वर्गों के बीच सहयोग पर आधारित होता है। ब्रिटिश संसद् का चार्ल्स प्रथम के साथ जो संघर्ष हुआ था वह स्थिति उसका पूर्वरूप थी। यहाँ भी राजमुकुट और संसद् की अन्तर्निहित शक्ति को शुरू से ही मान्यता दी गई थी। संसद् की सत्ता सम्राट् के आदेश पर निर्भर थी। वह सम्राट् के अनुमोदन से ही विधि का निर्माण कर सकती थी। लेकिन, संसद् को भी सलाह देने का अन्तर्भूत अधिकार था। निकोलस ऑफ कुसा (Nicholas of Cusa) की शब्दावली में कह सकते हैं कि राजा और संसद् दोनों मिल कर देश के सामरस्य (Concordantia of the realm) का निर्माण करते। अन्त में संसद् ने राजमुकुट के ऊपर अपनी शक्ति आरोपित कर दी। यह समरसता के आरम्भिक विचार के बिलकुल प्रतिकूल था।

कौंसिल की शक्ति

कौंसीलियर सिद्धान्त के प्रतिपादकों का विचार था कि वे कौंसिल को चर्च शासन के एक ऐसे अभिन्न अंग के रूप में स्थापित करें जो पोप की स्वेच्छाचारी शक्ति के आधार पर उत्पन्न होने वाली बुराइयों को दूर कर सके। उनका व्यावहारिक उद्देश्य संघभेद जैसे दुष्परिणामों को जो पोप की अनियन्त्रित शक्ति के कारण उत्पन्न हो गये थे, रोकना तथा दूर करना था। कुछ उग्रवादियों का यहाँ तक कहना था कि पोप की सत्ता को कौंसिल की सत्ता से निकला हुआ माना जाए। लेकिन, नियमतः वे यह समझते थे कि चर्च की शक्ति का पोप और कौंसिल दोनों ही मिलकर प्रयोग करते हैं। उनका यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि साधारण प्रयोजनों के लिए पोप के पद में निहित राजतन्त्रात्मक शक्ति को नष्ट कर दिया जाए। संक्षेप में उनका दृष्टिकोण सामन्ती विधिवेत्ताओं की भाँति ही था। पोप के विरुद्ध कोई लेख (Writ) जारी नहीं किया जा सकता था। लेकिन, असाधारण परिस्थितियों में पोप से यह कहा जा सकता था कि वह कौंसिल के सम्मुख उपस्थित हो। यदि पोप ऐसा न करता, तो उसकी निन्दा भी की जा सकती थी। कौंसिल पोप की शक्ति के दुरुपयोग को ठीक कर सकती थी। यह कुछ इसी प्रकार था जैसे कि ब्रैक्टन (Bracton) के शब्दों में देश के प्रतिनिधि राजा से जवाबदेही कर सकते थे। कौंसिल सम्पूर्ण चर्च की प्रतिनिधि संस्था थी। इस कारण चर्च के अंगों में उसका सबसे ऊँचा स्थान था। लेकिन, कौंसिल के कार्य मुख्यतः नियामक थे। यह विचार नहीं था कि कौंसिल उनका अतिक्रमण करे

अथवा उनको अपना एजेंट बना ले। विचार कुलीनतन्त्र द्वारा नियन्त्रित ऐसे राजतन्त्र का था जिसमें सत्ता सम्पूर्ण चर्च में निहित रहती है और उसका प्रयोग उसके प्रतिनिधिक अंग समान रूप से करते हैं। प्रत्येक अंग का यह अधिकार और कर्तव्य था कि वह दूसरे अंगों को अपने स्थान पर रखे। लेकिन, सभी अंग सम्पूर्ण सत्ता की संघटनात्मक विधि (organic law) के अधीन थे।

कौंस्टेंस और बेस्ले की कौंसिलों (Councils of the Constance and Basle) द्वारा किए गए उपायों से यह सिद्धान्त पुष्ट हो जाता है। कौंस्टेंस की कौंसिल ने अपनी एक सुप्रसिद्ध आज्ञप्ति में इस सिद्धान्त को निम्न रूप में प्रकट किया था :

"यह परिषद् कैथोलिक चर्च की महासभा है। इसे अपनी शक्ति ईसा से प्राप्त हुई है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे उसका पद और मर्यादा कुछ भी हो, पोप तक, धर्म, प्रभेद के निवारण और चर्च के सुधारों के सम्बन्ध में उसके आदेशों को मानने के लिए बाध्य है।"[1]

१४३२ में बेस्ले में इस आज्ञप्ति को फिर से निकाला गया। यह कार्य उग्र कार्यवाही थी। इस समय केवल एक ही पोप ऐसा था जो धर्मविहित माना जाता था। बेस्ले की परिषद् ने इस सिद्धान्त को धार्मिक सिद्धान्त बना दिया जिसका उल्लंघन विधर्मिता था। लांग पार्लियामेंट (Long Parliament) की भाँति दोनों कौंसिलों ने यह भी आज्ञप्ति पास की कि उन्हें उनकी सहमति के बिना भंग नहीं किया जा सकता। बेस्ले की कौंसिल ने यूजेनियस चतुर्थ (Eugenius IV) को अपने सामने उपस्थित होने का आदेश दिया और जब वह ऐसा न कर सका, तो उसे अवज्ञाकारी ठहराया तथा अन्त में उसे अपदस्थ कर दिया। लेकिन, इसका व्यावहारिक फल कुछ न निकला। दोनों कौंसिलों ने यह प्रयास किया कि भविष्य में इस प्रकार की और कौंसिलें हुआ करें। बेस्ले की कौंसिल ने सम्पूर्ण चर्च में प्रान्तीय परिषदों के पुनरुत्थान को और पोप के निर्वाचन को विनियमित करने का प्रयास किया जिससे परिषद् की आज्ञप्तियों का पालन हो सके। इस बात की भी कोशिश की गई कि कॉलिज ऑफ कार्डिनल्स को अधिक प्रतिनिधिक तथा पोप से स्वतन्त्र रखा जाए जिससे कि वह चर्च के शासन, पोप तथा जनरल कौंसिल के बीच तीसरा अथवा कुलीनतन्त्रात्मक तत्त्व बन सके अथवा वह पोप की राजतन्त्रात्मक शक्ति के ऊपर स्थायी नियन्त्रण रखने वाली कौंसिल का कार्य कर सके। यह व्यवस्था लिखित संविधान को ध्यान में रख कर बनाई गई थी।

निकोलस ऑफ कूसा सहमति द्वारा शासन के सिद्धान्त का प्रबल समर्थक था। इस सम्बन्ध में हमने उसके एक वक्तव्य का उल्लेख भी किया है। यहाँ हम उसके सिद्धान्त पर समग्र रूप से विचार करेंगे। इससे ज्ञात हो जाएगा कि कंसीलियर सिद्धान्त पोप की सार्वभौम शक्ति के स्थान पर कौंसिल की सार्वभौम शक्ति को स्थापित नहीं करना चाहता। यह सही है कि निकोलस ने धर्म भेद के निवारण के बाद लिखा था। बेस्ले की कौंसिल के बाद उसने कंसीलियर पार्टी को

1. Mansi, *Conciliorum*, Vol. XXVII, Col 585.

छोड़ दिया था और वह सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक राजनेता हो गया था। अब उसने निरकुंश पोप के सेवक के रूप में सुधार करने का प्रयास किया था। वह राजनैतिक सिद्धान्तवादी की अपेक्षा एक राजनयज्ञ ही अधिक था। १४३३ में उसको यह लाभ अवश्य था कि उसके सामने पूरा कौंसीलियर सिद्धान्त था। यदि यह माना जाये कि *De Concordantia Catholica* में सहयुक्त वैधिक सत्ता (Co-ordinated legal authority) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें अनेक तात्विक कठिनाइयाँ हैं। लेखक का कहना है कि पोप को विचार-विनिमय के लिए जनरल कौंसिल का अधिवेशन अवश्य करना चाहिए। लेकिन, जहाँ एक बार जनरल कौंसिल की स्थापना हो जाती है, जनरल कौंसिल उचित कारण होने पर पोप को ही अपदस्थ कर सकती है। वह पोप की शक्ति को प्रशासनिक मानने के साथ ही साथ ईसा और सेंट पीटर से भी निकली हुई मानता है। पोप चर्च की एकता का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन कौंसिल उसका ज्यादा अच्छी तरह प्रतिनिधित्व करती है। कौंसिल के निर्माण के लिए पोप की स्वीकृति आवश्यक है लेकिन कौंसिल पोप से ऊँची है। पोप चर्च का एक सदस्य है और उसकी विधि के अधीन है। उसका निर्वाचन चर्च के प्रति उसकी उपयोगिता को प्रकट करता है। यदि वह अपने इस कर्तव्य में असफल हो जाता है, तो धर्मावलम्बियों के लिए यह आवश्यक नहीं रहता कि वे उसकी आज्ञा का पालन करें। पोप के खिलाफ कोई वैधानिक कार्यवाही करना मुश्किल है। इन परस्पर-विरोधी विचारों को दिखाने का यह उद्देश्य नहीं है कि निकोलस भ्रमित था। इसका उद्देश्य सिर्फ यही है कि उसने समरसता सिद्धान्त को एक उच्च सत्ता द्वारा प्रदत्त शक्तियों का सिद्धान्त नहीं समझना चाहिए। उसका मुख्य आशय यह है कि चर्च एक इकाई है और वही सर्वोच्च तथा निर्भ्रान्त है। लेकिन न तो पोप ही और न कौंसिल ही इस निर्भ्रान्तता के एक मात्र प्रवक्ता हैं। निकोलस का दोनों पर ही अविश्वास था। उसकी सुधार में अवश्य आस्था थी। उसका विचार था कि यदि चर्च के अधिकारियों का चर्च के विभिन्न अंगों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाए, तो चर्च में अवश्य सुधार हो सकता है। लेकिन, यह तो सहयोग की समस्या थी, वैधानिक अधीनता की नहीं।

कौंसीलियर सिद्धान्त का महत्व

(The Importance of the Conciliar Theory)

कौंसीलियर सिद्धान्त ने न तो चर्च का सुधार किया और न उसकी शासन-प्रणाली बदली। कौंसिल स्वयं राष्ट्रीय ईर्ष्या द्वेष का अखाड़ा थी। वह निहित स्वार्थों पर पूरी तरह से हमला नहीं कर सकती थी। सुधार हर कोई चाहता था लेकिन हरेक की इच्छा यह थी कि सुधार अन्यत्र आरम्भ हो। परिणाम यह हुआ कि सुधार को उस समय तक स्थगित किया जाता रहा जब तक कि हेनरी अष्टम (Henry VIII) जैसे शासकों ने चर्च के सुधार का स्वयं बीड़ा नहीं उठाया। कौंसीलियर सिद्धान्त के समर्थक चर्च के लिए प्रतिनिधि शासन की कल्पना करके एक प्रकार का

दिवास्वप्न देख रहे थे। वे यह नहीं समझ सके कि सामन्ती संवैधानिक राज्य में भी राजनैतिक एकता की आवश्यकता होती है। फ्रांस और इंग्लैंड जैसे देशों में इस एकता के कारण विभिन्न जागीरें अपने प्रतिनिधि भेज सकती थीं। पन्द्रहवीं शताब्दी में चर्च में इस प्रकार की एकता नहीं थी। चर्च में विश्वास की और कुछ हद तक नैतिक तथा धार्मिक आदर्शों की एकता अवश्य थी लेकिन उसमें ऐसी राजनैतिक एकता का भाव नहीं था जो स्थानीय और राजनैतिक हितों की विविधता का सामना कर सकता और कौंसिल को शासन का एक कार्यशील अंग बना सकता। चर्च में कंसीलियर सिद्धान्त के साथ प्रायः वही बात हुई थी राजा की बढ़ती हुई शक्ति के सामने मध्ययुगीन सनदों के साथ हुई थी। सोलहवीं शताब्दी में सब स्थानों पर ही मध्ययुगीन संवैधानिक संस्थाएँ राजा की निरंकुशता के प्रवाह में बह गईं। चर्च में राष्ट्रीय एकता का भाव नहीं था, राज्यों में था। राष्ट्रीय एकता के भाव के कारण ही राज्यों में प्रतिनिधिक संस्थाएँ अततोगत्वा विकसित हो सकीं। मध्ययुगीन संविधानवाद के साथ अविच्छिन्नता केवल इंग्लैंड में ही कायम रही।

जिस समय चर्च में प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई, कौंसिल ऑफ बेसले (Council of Basle) समाप्त नहीं हुई थी। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रोमन चर्च में पोप की प्रभु सत्ता स्थापित हो गई और यह रिफार्मेशन के समय तक और कुछ देशों में आज तक बनी हुई है। इन्नोसेंट तृतीय के दिनों में धार्मिक विधि (Canon law) में पोप की शक्ति के जिस सिद्धान्त का विकास किया गया था, अब उसका फिर से उद्धार किया गया। यद्यपि, बाद में इधर-उधर के विवादों में कंसीलियर सिद्धान्त की कुछ झलक दिखाई दे जाती थी, लेकिन धार्मिक संगठन में सुधार करने और धार्मिक विधि में संशोधन करने के आन्दोलन के रूप में यह असफल हुआ। इस प्रतिक्रिया का नेता जॉन ऑफ टारक्वीमाडा (John of Torquemada) था। जॉन नेवील फिगिस (John Neville Figgis) ने उसे "राजाओं के दैवी अधिकार का प्रथम आधुनिक प्रवक्ता"[1] कहा है। तथापि, जॉन लौकिक शासकों की शक्ति को विधि के द्वारा नियन्त्रित मानता था। पोपशाही के आधुनिक कैथोलिक सिद्धान्त में पोप निश्चित रूप से प्रभु सत्ताधारी है। उसकी शक्ति केवल दैवी और प्राकृतिक विधि द्वारा ही सीमित है। कौंसिल उसके बिना नहीं रह सकती। कौंसिल की प्रज्ञप्तियों के लिए पोप की स्वीकृति आवश्यक होती है। पोप उन प्रज्ञप्तियों में भी संशोधन कर सकता है जिन्हें कौंसिल ने पास कर दिया हो।[2] इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में पोप पहला निरंकुश सम्राट् हुआ। पोप की निरंकुशता का सिद्धान्त राजाओं की निरंकुशता के सिद्धान्त का आदर्श बन गया। पोप के दैवी अधिकार का मुख्य आधार यह था कि समाज को ऐसी सर्वोच्च सत्ता नहीं दी जा सकती जिसके द्वारा वह शासित होता है।

1. *From Gerson to Grotius* (1407), p. 234. n. 15.

2. L. Pastor, *History of the Popes* (ed. by F. I. Antrobus), Vol. I (1906), pp. 179 ff.

यद्यपि कौंसीलियर सिद्धान्त के कुछ व्यावहारिक परिणाम न निकले, लेकिन इसका कुछ न कुछ महत्त्व तो था ही। सबसे पहले तो चर्च में निरंकुश तथा संवैधानिक शासन के प्रश्न पर विवाद हुआ। इसके बाद एक ऐसे राजनैतिक दर्शन का विकास हुआ जिसके आधार पर निरंकुशता का विरोध किया गया। प्रभु के दैवी अधिकार और समाज की प्रभुसत्ता दोनों ही लौकिक शासन को प्राप्त हुई। यह हस्तान्तरण आसान था और यह पन्द्रहवीं शताब्दी में आज की अपेक्षा कहीं आसान था। चर्च और लौकिक शासन का भेद दो समाजों का भेद नहीं था, यह एक ही समाज के दो संगठनों का भेद था। इसलिए चर्च अथवा राज्य की सत्ता के स्वरूप के बारे में जो भी प्रश्न होता, उस समाज के आधारभूत स्वरूप के बारे में अवश्य ही विचार करना पड़ता। कौंसीलियर सिद्धान्त का मुख्य आधार यह था कि कोई भी पूर्ण समाज अपना शासन आप कर सकता है और किसी भी विधि-सम्मत सत्ता के लिए उसकी स्वीकृति आवश्यक है। जब चर्च अथवा राज्य को दो समाज समझा जाता तो यह तर्क उनके ऊपर समान रूप से लागू हो सकता था। ईश्वर के अधीन लौकिक और आध्यात्मिक दोनों शक्तियाँ जनता अथवा समाज में निहित हैं। यह सिद्धान्त इस मान्य विश्वास के प्रतिकूल नहीं था कि सम्पूर्ण शक्ति ईश्वर की है। जब दैवी अधिकार का सिद्धान्त राजकीय सर्वोच्चता का सिद्धान्त हो गया, तब यह सिद्धान्त कि शक्ति अन्तिम रूप से जनता में निहित है राजकीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को काटने का आधार बन गया। चर्च में कौंसीलियर वादविवाद पहला अवसर था जब दो सिद्धान्तों के बीच इस रूप में तर्क-वितर्क चला। जब राजा और उसकी प्रजा के बीच वादविवाद हुआ, तब भी यह प्रश्न इसी रूप में चलता रहा।

पन्द्रहवीं शताब्दी में कौंसीलियर सिद्धान्त, प्रतिनिधिक अथवा संवैधानिक शासन के सिद्धान्त की भाँति भूत और वर्तमान के बीच सन्तुलित था। इस सिद्धान्त के अनेक स्रोत थे। यह सिद्धान्त प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त का ऋणी था। यह यह भी मानता था कि समाज एक दूसरे के ऊपर निर्भर है और वह आवश्यक सेवाओं तथा हितों की व्यवस्था है। इसलिए, इस सिद्धान्त ने शासन को एक विनिमय केन्द्र, विभिन्न शक्तियों के बीच एक प्रकार का सन्तुलन माना। शासन की एकता समाज की एकता का ही एक रूप थी। यदि प्रभु (sovereign) शब्द का प्रयोग होता, तो यह सम्पूर्ण समाज के लिए अधिक उपयुक्त था। कौंसीलियर सिद्धान्त के समर्थकों ने पोप के इस तर्क को भयावह बताया कि सत्ता किसी प्रधान में निवास करे। उन्होंने इसके स्थान पर स्वतन्त्र तथा पारस्परिक सहमति द्वारा शक्तियों के पारस्परिक सहयोग का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। यह संवैधानिक आदर्श मध्ययुगीन सिद्धान्त और व्यवहार के लिए एक सामान्य सी बात थी। राजनैतिक क्षेत्र में यह सिद्धान्त सफल नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि केन्द्रीकरण की शक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी। राजनैतिक संगठन के क्षेत्र में केन्द्रीकरण की इस बढ़ती हुई शक्ति के कारण सहमति द्वारा शासन का आदर्श बहुत पीछे पड़ गया। लेकिन आगे चल कर यह स्पष्ट हो गया कि केन्द्रीकृत शक्ति को शासितों की सह-

मति पर निर्भर रहना चाहिए। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में जो उदार तथा सवैधानिक आन्दोलन चले वे पन्द्रहवीं शताब्दी के कसीलियर सिद्धान्त के ही विकसित रूप थे। इस सिद्धान्त का सार यह था कि विधि-सम्मत सत्ता एव नैतिक शक्ति होती है, निरकुशता नहीं। समाज में नैतिक आलोचना की शक्ति होती है। वैधानिक रूप से गठित सत्ता की भी नैतिक आलोचना की जा सकती है।

Selected Bibliography

Nicholas of Cusa By Henry Bett, London, 1932

A History of Mediaeval Political Theory in the West By R. W Carlyle and A J Carlyle 6 Vols London and New York, 1903 36 Vol VI (1936), Part II, Chs I, III.

A History of the Papacy during the Period of the Reformation, By M Creighton 5 Vols Boston and London, 1882-94 Vols I and II

Studies of Political Thought from Gierson to Grotius, 1415-1625 By John Neville Figgis Second Edition Cambridge 1923 Ch 2

The Decline of the Medieval Church By Alexander C. Flick 2 Vols London, 1930 Chs 11—19

The Social and Political Ideas of some Great Thinkers of the Renaissance and Reformation Ed. F J C Hearnshaw London, 1925

The Life and Times of Master John Huss By F. H Von Lutzow London and New York, 1909

'Medieval Estates" By C H McILWain, in *The Cambridge Medieval History*, Vol VII (1932), Ch XXIII.

"Wyclif" By Bernard L Manning In *The Cambridge Medieval History*, Vol VII (1932), Ch XVI

'The Popes of Avignon and the Great Schism By Guillaume Mollat, In *The Cambridge Medieval History*, Vol. VII (1932), Ch X

The History of the Popes from the Close of the Middle Ages by Ludwig Pastor Ed F I Antrobus 16 Vols London, 1899-1928 Vol I, Bks 1 and 2

Wycliffe and Movements for Reform, by R L London, 1816

England in the Age of Wycliffe by G M Trevelyan New edition, London, 1909

The Social Teaching of the Christian Churches By Ernest Troeltsch Trans by Olive Wyon 2 Vols London, 1931. Ch 2, Sect 9

La crise religieuse du XV Siecle By Noel Valois 2 vols Paris, 1909 Le Cardinal

Nicolas de cues By E Vansteen berghe Paris 1920

भाग ३

राष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त

(The Theory of the National State)

अध्याय १७

मैकियावेली

(Machiavelli)

कसीलियर दल मध्ययुगीन संविधानवाद के सिद्धान्त और व्यवहार को चर्च में लाने में सफल न हो सका। इसके एक-दो पीढ़ियों बाद ही राज्य में प्रतिनिधिक संस्थाओं का ह्रास प्रारम्भ हो गया। पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच में पोप की निरंकुशता में तीव्र गति से वृद्धि प्रारम्भ हो गई। इसके एक शताब्दी पूर्व पोप के पद की बड़ी अवनति हुई थी। इस अवनति को देखते हुए उसकी निरंकुशता की वृद्धि आश्चर्यजनक थी। इसके साथ ही पश्चिमी यूरोप के प्रत्येक भाग में राजा की शक्ति में भी अतुल वृद्धि हुई थी। सभी राज्यों में राजा की शक्ति अन्य प्रतियोगी संस्थाओं के मूल्य पर बढ़ी। ये प्रतियोगी संस्थाएँ कुलीन वर्ग, संसदें, स्वतन्त्र नगर अथवा धर्माचार्य आदि थे। प्रायः सर्वत्र ही मध्ययुगीन प्रतिनिधिक प्रणाली का सूर्य अस्ताचल में डूब गया। इंग्लैण्ड ही एक मात्र ऐसा देश था जिसमें ट्यूडर शासकों की निरंकुशता केवल थोड़े समय तक कायम रही। वहाँ संसदीय इतिहास की अविच्छिन्नता बनी रही। शासन में और शासन-सम्बन्धी विचारों में भी विपुल परिवर्तन हुआ। राजनैतिक शक्ति जो मुख्य रूप से सामन्तों और निगमों में विभक्त रही थी, शीघ्र ही राजा के हाथों में केन्द्रित हो गई। इस समय राष्ट्रीय एकता की बढ़ती हुई भावना से सब से अधिक लाभ राजा को ही हुआ। सोलहवीं शताब्दी में एक ऐसे प्रभु का सिद्धान्त जो समस्त राजनैतिक शक्ति का स्रोत है, राजनैतिक दर्शन का सामान्य रूप बन गया। इसके पूर्व यह सिद्धान्त मुख्य रूप से कुछ रोमन विधि शास्त्र विशेषज्ञों के ही हाथों में रहा था। बाद में इस सिद्धान्त के आधार पर ही पोप के दैवी अधिकार का सिद्धान्त बना था।

राजनैतिक दर्शन और व्यवहार के ये अन्तर यूरोपीय समाज के सम्पूर्ण संगठन में भी प्रकट हुए। ये परिवर्तन सामान्यतः सर्वत्र एक से थे। हाँ, उनमें स्थान भेद के कारण कुछ परिवर्तन अवश्य हो गए थे। यूरोपीय समाज में आर्थिक परिवर्तन भी अनेक वर्षों से होते आ रहे थे। इन परिवर्तनों ने एक दम से सामूहिक परिणाम उपस्थित किया। इनके कारण मध्ययुग की संस्थाओं में आमूल परिवर्तन हुआ। सार्वभौम चर्च तथा सार्वभौम साम्राज्य के सिद्धान्तों के बावजूद ये संस्थाएँ इस तथ्य पर आधारित थीं कि मध्ययुगीन समाज का आर्थिक और राजनैतिक संगठन पूरी तरह स्थानीय था। यह परिवहन के साधनों की सीमाओं का एक अनिवार्य

परिणाम था। कोई विशाल राजनैतिक राज्य-क्षेत्र एक ऐसे संघवाद के बिना शासित नहीं हो सकता था जो स्थानीय एककों को विशाल स्वतन्त्रता छोड़ देता। वाणिज्य भी मुख्य रूप से स्थानीय ही था। जहाँ वह ऐसा नहीं था, कुछ विशिष्ट पदार्थ एकाधिकृत पत्तनों और बाजारों में निश्चित रास्तों से आते जाते थे। इस प्रकार का वाणिज्य उत्पादकों की गिल्डों द्वारा नियन्त्रित हो सकता था। ये गिल्डें म्युनिसिपल संस्थाएँ थीं। मध्य युग में वाणिज्य संगठन की इकाई नगर था। चौदहवीं शताब्दी में धन का प्रयोग या संचरण बहुत अधिक नहीं था।

संचार-साधनों के विकास के साथ-साथ वाणिज्य की स्थिति ऐसी नहीं रह सकती थी। अब निश्चित मार्गों तथा एकाधिकृत बाजारों का युग समाप्त हो गया। सब से अधिक लाभ ऐसे व्यापारी को पहुँचा जो प्रत्येक बाजार से लाभ उठाने को तय्यार था, जिसके पास व्यापार में लगाने के लिए पूँजी थी और ऐसे किसी भी पदार्थ का व्यापार करने के लिए तैयार था जिससे कि उसे अधिक लाभ होता। ऐसा व्यापारी जहाँ तक बाजारों पर नियन्त्रण पा लेता, वह उत्पादन के ऊपर अधिक-से-अधिक नियन्त्रण प्राप्त कर सकता था। वह गिल्डों तथा नगरों की शक्ति से बाहर था। जहाँ तक वाणिज्य पर नियन्त्रण होना था, पदार्थों की गुणवत्ता को मानक रूप देना था, अथवा कीमतों और रोजगार की शर्तों को नियमित करना था, यह सारा कार्य मध्ययुगीन म्युनिसिपैल्टी से बड़े आकार की सरकारें ही कर सकती थीं। इंग्लैण्ड की सभी सरकारों ने इस प्रकार का विनियमन किया था। जहाँ तक विस्तृत वाणिज्य की रक्षा होनी थी और उसको प्रोत्साहन देना था, यह कार्य स्थानीय शासन की शक्ति से बाहर था। सोलहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण राज-सरकारों ने राष्ट्रीय संसाधनों का उपयोग करने, घर में और बाहर वाणिज्य को प्रोत्साहन देने और राष्ट्रीय शक्ति के विकास की एक जानी-बूझी नीति अपना ली थी।

इन आर्थिक परिवर्त्तनों के व्यापक सामाजिक और राजनैतिक परिणाम निकले। रोम के साम्राज्य के बाद यह पहला अवसर था जब कि यूरोपीय समाज में धनी और उद्यमी दोनों प्रकार के व्यक्ति काफी संख्या में थे। यह वर्ग कुलीनों का और उनके द्वारा प्रसूत विभाजनों तथा अव्यवस्थाओं का घोर विरोधी था। उनके हित घर और बाहर दोनों स्थानों पर सशक्त सरकार के साथ थे। इसलिए, उनकी राजनैतिक सन्धि स्वभावतः राजा के साथ थी। इस समय वे यही चाहते थे कि राजा की शक्ति मध्य युग के समस्त नियन्त्रणों और प्रतिबन्धों का अतिक्रमण करती हुई निरन्तर बढ़ती रहे। वे कुलीन वर्ग के खिलाफ संसदों पर नियन्त्रण नहीं रख सकते थे। इसलिए वे राजतन्त्र के अधीन प्रतिनिधिक संस्थाओं की उन्नति के लिए उत्सुक थे। कुलीनों के साथ उनके झगड़े लगे रहते थे। ये लोग अदालतों और विधि अधिकारियों को निरन्तर डराते-धमकाते रहते थे। व्यापारियों को यह देखकर प्रसन्नता हुई कि ऐसे कुलीनों की शक्ति का निरन्तर ह्रास हो रहा है। पूँजीपतियों को हर दृष्टि से अपने लिए यह लाभकर मालूम पड़ता था कि सैनिक शक्ति और न्याय प्रशासन अधिकाधिक राजा के हाथों में आ जाए। सब मिलाकर सुव्यवस्थित

शासन की काफी उन्नति हुई। राजा की शक्ति स्वेच्छाचारी और अक्सर दमनमूलक हो गई, लेकिन राजतन्त्र सामन्ती कुलीनतन्त्र से हर हालत में बेहतर था।

आधुनिक निरकुशता
(Modern Absolutism)

सोलहवीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में निरकुश राजतन्त्र प्रचलित शासन-प्रणाली हो गया था। मध्ययुगीन संस्थाएँ सब जगह नष्ट हो रही थीं। निरकुश राजतन्त्र कठोर था और वह मुख्य रूप से शक्ति पर आधारित था। लोगों को मध्ययुगीन संस्थाओं के नाश पर उतना दुःख नहीं हुआ, जितना उन्हें अपने राष्ट्रीय राजतन्त्रों पर अभिमान होता था। निरकुश राजतन्त्र ने सामन्ती संविधानवाद और स्वतन्त्र नगर-राज्यों को जिनके ऊपर मध्ययुगीन सभ्यता टिकी हुई थी, उसी प्रकार नष्ट कर दिया जिस प्रकार बाद में राष्ट्रवाद ने राजवंशीय वैधता (dynastic legitimacy) के सिद्धान्त को नष्ट कर दिया था। मध्ययुगीन संस्थाओं में चर्च सब से प्रमुख था। उसका भी दम निकल गया। धार्मिक मठ कमजोर थे और उनके पास पैसा बहुत था। रक्त और लोहे के युग में ये चीजें बहुत घातक थीं। धार्मिक मठों की सम्पदा को धीरे-धीरे कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट दोनों राजसत्तियों ने समान रूप से हड़प लिया। इसका लाभ मध्य वर्ग को पहुँचा। मध्य वर्ग ही राजा की शक्ति का मुख्य केन्द्र था। धार्मिक शासकों के ऊपर राजा का नियन्त्रण निरन्तर कसता चला गया। अन्त में चर्च की वैधानिक सत्ता समाप्त हो गई। चर्च की सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गई। अब चर्च या तो एक ऐच्छिक संघ रह गया और या राज्य का भागीदार।

सामन्ती सवैधानिक राजतन्त्र की भाँति निरकुश राजतन्त्र का भी पश्चिमी यूरोप के प्रत्येक भाग में विकास हुआ। स्पेन में फर्डिनेंड और इसाबेला के विवाह के परिणामस्वरूप एरागन और कैस्टाइल राजवंशों का गठबन्धन हुआ। इसके परिणामस्वरूप स्पेन में एक ऐसे शक्तिशाली निरकुश राजतन्त्र का विकास हुआ जिसने इस देश को सोलहवीं शताब्दी में यूरोप का सब से शक्तिशाली देश बना दिया। इंग्लैंड में 'वार्स ऑफ दि रोजेज' (Wars of the Roses) की समाप्ति तथा हेनरी सप्तम के शासन (Henry VII—1485-1509) ने ट्यूडर निरकुशता का वह युग प्रारम्भ किया जो हेनरी अष्टम तथा एलिजाबेथ (Elizabeth) के शासन-काल तक चलता रहा। हेनरी सप्तम को राजवंश के आधार पर सिंहासन पाने का अधिकार नहीं था। उसे यह सिंहासन कुलीनवर्ग के सहयोग के कारण नहीं मिला था। लेकिन, सामान्यतः उसकी नीति भी युग के अनुसार ही थी। वह मध्य वर्ग की सहायता के बिना सफल नहीं हो सकता था। उसके लिए कुलीन वर्ग के अनियन्त्रित अनुयायियों का दमन करना जरूरी हो गया था। इसका कारण यह था कि ये लोग राजतन्त्र और मध्य वर्ग दोनों के लिए समान रूप से खतरनाक हो गए थे। उसने व्यवस्था की स्थापना की और इस प्रकार वाणिज्य को प्रोत्साहन दिया। उसने सामुद्रिक गतिविधियों को भी बढ़ाया। उसकी राजकीय शक्ति ने हाउस ऑफ

कामन्स को हतप्रभ कर दिया था। हाउस आफ कामन्स में कुलीनों का प्रभाव भी बहुत प्रसर था। वे निर्वाचनों में विजय प्राप्त कर सकते थे जो सम्राट् को अभीष्ट नहीं था। जर्मनी अपवाद था। यहाँ साम्राज्य की दुर्बलता ने निरंकुशता को बढ़ने दिया और राष्ट्रीय भाव की वृद्धि रोक दी। बवेरिया के लेविस को पोपों के साथ अपने वाद-विवाद में राष्ट्रीय भाव से बड़ा सहारा मिला था। लेकिन, जर्मनी में भी राष्ट्रीय भावना के आने में सिर्फ देरी ही हुई वह रुकी नहीं। जर्मनी में भी प्रभु-शक्ति का विकास प्रायः उसी तरह हुआ था जैसे कि इंगलैण्ड, स्पेन और फ्रांस में कुछ समय पूर्व हो चुका था।

सबसे अधिक केन्द्रीकृत राजकीय शक्ति का विकास फ्रांस में हुआ।[1] फिलिप दि फेयर के सम्बन्ध में विचार करते समय हमने इस बात की चर्चा की थी कि फ्रांस में राष्ट्रीय एकता का सूत्रपात कैसे हुई। शतवर्षीय युद्ध (Hundred Years' War) में यह एकता काफी हद तक हाथ से जाती रही। यद्यपि विदेशी तथा गृह-युद्ध का यह युग राजतन्त्र के लिए हानिकर था, लेकिन यह मध्ययुग की अन्य साम्प्रदायिक, सामन्ती और प्रतिनिधिक संस्थाओं के लिए तो प्राणघातक ही सिद्ध हुआ। ये संस्थाएँ राजतन्त्र के लिए खतरा बन गई थीं। पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में राजकीय शक्ति का तीव्र गति से उत्थान हुआ। इसके फलस्वरूप फ्रांस यूरोप का सबसे अधिक संयुक्त, संगठित और समन्वित राष्ट्र हो गया। १४३९ के प्रध्यादेश ने राष्ट्र की सम्पूर्ण सैनिक शक्ति राजा के हाथों में सौंप दी और उसे एक राष्ट्रीय कर वसूल करने का अधिकार दिया। राजा इस कर के द्वारा सेना का व्यय निकाल सकता था। इस रीति से उसकी सत्ता प्रभावी हो गई। इस उपाय की सफलता आश्चर्यजनक थी। इसने यह प्रकट कर दिया कि उदयशील राज्य राजा की निरंकुशता का समर्थन करने के लिए क्यों तैयार थे। कुछ ही वर्षों में एक सुशिक्षित और सुसज्जित नागरिक सेना तैयार हो गई और उसने अंग्रेजों को देश से बाहर निकाल दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी समाप्त होने के पूर्व ही बरगंडी, ब्रिटेनी और अंजू नामक बड़े बड़े सामन्ती प्रदेश फ्रांस की अधीनता में आ गए। इसी बीच कुलीन वर्गों का करों पर नियन्त्रण नहीं रहा। इसके साथ ही उनका राजा के ऊपर भी प्रभाव नहीं रहा। राजा ने फ्रांस के चर्च के ऊपर भी अपनी सत्ता स्थापित की। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों से क्रांति के समय तक राजा ही फ्रांस का एकमात्र प्रवक्ता रहा था।

इस प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तनों की लहर सम्पूर्ण यूरोप में व्याप्त थी। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राजनीति सिद्धान्त में भी परिवर्तन हुए। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में यह परिवर्तन मैकियावेली (Machiavelli) के दुरूह प्रायः परस्पर विरोधी व्यक्तित्व में प्रस्फुटित हुआ। उसके युग के अन्य किसी व्यक्ति ने राजनीतिक विकास की दिशा को इतनी स्पष्टता से नहीं समझा। जो पुरानी संस्थाएँ समाप्त की जा रही थीं या जो नई संस्थाएँ स्वीकार की जा रही

1. "See France" by Stanley Leathes, in *The Cambridge Modern History*, Vol. I (1903), Ch. XII, and G. B. Adams, *Civilization during the Middle Ages* (1914), Ch. XIII.

थीं उनकी शक्तियों और सीमाओं को उससे ज्यादा अच्छी तरह से अन्य कोई नहीं समझ सकता था। इन संस्थाओं के उदयास्त में पाशविक बल के महत्व को भी उससे बढ़ कर किसी ने नहीं समझा। यह बल नवजात राष्ट्रीय एकता के भाव पर आधारित था, इस बात को भी उस युग में उससे बढ़कर समझने वाला कोई नहीं था। पुरानी निष्ठाओं और औचित्य सम्बन्धी धारणाओं के पतन के साथ-ही-साथ कितना नैतिक और राजनैतिक भ्रष्टाचार आ गया था, इसका उससे बढ़कर किसी को ज्ञान नहीं था। लेकिन, अधिक स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिए उससे अधिक उत्कंठा भी किसी के मन में नहीं थी। वह यूरोप में प्राचीन रोम जैसा स्वस्थ सामाजिक जीवन चाहता था। इटली के सम्बन्ध में मैकियावेली जैसी जानकारी अन्य किसी को नहीं थी। मैकियावेली ने प्रोटेस्टेंट रिफर्मेशन (Protestant Reformation) के समय अपने विचार लिपिबद्ध किए थे। फिर भी, वह राजनैतिक क्षेत्र में धर्म के महत्व को नहीं समझ सका। आगे की दो शताब्दियों में धर्म ने राजनीति के ऊपर काफी प्रभाव डाला। मैकियावेली इटली में प्राचीन रोम के युग का पुनरुत्थान चाहता था। उसका प्रशिक्षण और मनोभाव ही कुछ ऐसा था कि वह उन सर्वधानिक और नैतिक आदर्शों को नहीं समझ सका जो मध्ययुगीन यूरोप ने भावी पीढ़ियों को उपहार के रूप में दिए। यद्यपि मैकियावेली का राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट और व्यापक था, फिर भी वह एक विशिष्ट अर्थ में सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश का इटालियन ही था। यदि वह किसी अन्य समय या स्थान में लिखता, तो उसका राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोण काफी भिन्न होता।

इटली और पोप

(Italy and the Pope)

इटली में नवीन व्यापारिक तथा औद्योगिक पद्धति की शक्तियों ने पुरानी संस्थाओं का नाश कर दिया था। उस समय की राजनैतिक स्थिति कुछ ऐसी थी कि उसने रचनात्मक शक्तियों को उभरने का कोई मौका नहीं दिया। उत्तर इटली के स्वतन्त्र नगर जिन पर होहेनस्टाउफेन की साम्राज्यिक योजनाएँ निर्भर थीं, नष्ट हो गए थे। वे इस समय राजनैतिक और आर्थिक असफलताओं थे। उस समय की स्थिति में एक सकेन्द्रित शक्ति, नागरिक सेना और बहुतर तथा सशक्त विदेश नीति की आवश्यकता थी। जिस समय मैकियावेली ने लिखा, इटली पाँच बड़े राज्यों में विभक्त था, दक्षिण में नेपिल्स का राज्य, उत्तर-पश्चिम में मिलान की डची, उत्तर-पूर्व में वेनिस का कुलीनतन्त्रात्मक गणराज्य और फ्लोरेंस का गणराज्य तथा मध्य में पोप का राज्य। १५१२ में फ्लोरेंस के गणराज्य का पतन हो गया। (मैकियावेली को इसके कारण ही अवकाश मिल सका और वह राजनैतिक रचनाएँ लिख सका)। इस घटना ने यह स्पष्ट कर दिया कि जो शासन प्रणाली अपने युग की परिस्थितियों का सामना नहीं कर सकती, उसकी क्या गति बनती है। मतभेद (Schism) के समय पोप के राज्य का पतन हो गया था। लेकिन, इस समय उसका फिर से निर्माण किया गया। यह घटना भी सकेन्द्रण की प्रवृत्ति को प्रकट करती थी। यद्यपि मैकियावेली के

समय के पोप दुराचारी और उच्छृंखल थे, लेकिन, उन्होंने अपने राज्य इटली को सबसे अधिक समेकित और मजबूत बनाने में सफलता प्राप्त की। यूरोपीय राजनीति के परिवर्तन में इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और कोई वस्तु नहीं है जिसने पोप को अन्य शासकों के बीच इटली का एक नायक बना दिया। पहले पोप सम्पूर्ण ईसाई जगत के विवादों में पंच बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता था। अब उसकी महत्त्वाकांक्षा अधिक यथार्थ लेकिन अधिक सामान्य थी। वह थी मध्य इटली की प्रभुसत्ता को कायम रखना।

यद्यपि इटली में समेकन प्रारम्भ हो गया था, लेकिन वह पूरा नहीं हो सका था। मैकियावेली के अनुसार इसके कारण इटली का राजनैतिक विकास रुका हुआ था। इटली में ऐसी कोई शक्ति दिखाई नहीं देती थी जो सम्पूर्ण प्रायद्वीप को एकता के सूत्र में बांध दे। इटली को अत्याचारी शासकों की अधीनता में हर प्रकार के अपमान और दमन का सामना करना पड़ता था। चूंकि इटली में फूट थी, इसलिए स्पेन, फ्रांस और जर्मनी की गृध्र दृष्टि उस पर लगी रहती थी। अपने समय के अधिकांश इटालियनों की भांति मैकियावेली भी इस स्थिति के लिए चर्च को विशेष रूप से उत्तरदायी समझता था। पोप में खुद तो इतनी ताकत नहीं थी कि वह इटली में एकता स्थापित कर देता। लेकिन उसमें इतनी ताकत अवश्य थी कि वह अन्य किसी शासक को इटली में एकता स्थापित करने से रोक सकता था। अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण वह इटली में विदेशी हस्तक्षेप को आमन्त्रित कर सकता था। यही कारण है कि मैकियावेली चर्च की इतनी आलोचना करता है।

"हम इटलीवासी रोम के चर्च और उसके पादरियों के कारण ही अधार्मिक और निकृष्ट हो गए हैं। लेकिन, हमारे ऊपर उसका एक ऋण और है जो हमारे नाश का कारण बन सकता है। चर्च ने हमारे देश में फूट डाल रखी है। कोई देश उस समय तक संयुक्त और सुखी नहीं हो सकता जब तक कि वह पूर्ण रूप से एक ही शासन का आदेश पालन न करे। यह शासन गणतन्त्र अथवा राजतन्त्र किसी भी प्रकार का हो सकता है जैसा कि फ्रांस और स्पेन में है। अब इटली की वैसी स्थिति नहीं है और वह एक गणराज्य अथवा एक शासक के द्वारा शासित नहीं है, इसका कारण चर्च है। चर्च में इतनी शक्ति नहीं है कि वह सम्पूर्ण इटली को अपने नियन्त्रण में रख ले। उसने अन्य किसी शक्ति को भी इटली में अपनी सत्ता स्थापित नहीं करने दी है। यही कारण है कि इटली कभी किसी एक शासक की अधीनता में संयुक्त नहीं हुआ है। वह सदैव ही अनेक शासकों की अधीनता में रहा है। परिणामतः, इटली में फूट पैदा हो गई है और वह बहुत कमजोर हो गया है। रशायन बर्बर या अन्य आक्रान्ता उसकी इस मजबूरी का पूरा लाभ उठाते हैं।"[1]

मैकियावेली की धारणा थी और उसकी इस धारणा का अनेक इतिहासकारों ने समर्थन किया है, कि उसके समय में इटली का समाज और राजनीति पतनोन्मुखी थी। इटली की विभिन्न संस्थाएँ गिरी हुई हालत में थीं। इटली का समाज प्रतिमा

1. *Discourses on the First Ten Books of Titus Livius* 1, 12 trans by C E Detmold, The Historical, Political and Diplomatic Writings of Nicolo Machiavelli, II Vols Boston and New York, 1891

और व्यक्तिवाद की दृष्टि से उन्नत था। वहाँ यूरोप के अन्य किसी देश की अपेक्षा सत्ता का नियन्त्रण भी कम था। इटली में बुद्धिवाद और जिज्ञासा की प्रवृत्ति भी काफी थी। लेकिन, इटली का समाज राजनैतिक भ्रष्टाचार और नैतिक ह्रास से पीड़ित था। पुरानी नागरिक संस्थाएँ समाप्त हो चुकी थीं। दाँते के दिनों में चर्च और साम्राज्य जैसे मध्ययुगीन विचार उत्साह जाग्रत कर सकते थे लेकिन अब लोग उन्हें भूल चुके थे। शासन के लिए निर्दयता और हत्याकांड बहुत मामूली चीजें हो गई थीं। ईमानदारी और सच्चाई का वहाँ रत्तीमात्र भी लेश नहीं था। सफलता प्राप्त करने के लिए चालाकी और शक्ति का खुले-आम सहारा लिया जाता था। भोग विलास की प्रवृत्ति भी उस समय काफी बढ़ी हुई थी। स्वार्थ की भावना समाज के एक-एक अंग में व्याप्त हो गई थी। यह समय बड़ी नैतिक और सामाजिक अधोगति का था। प्रतीत होता था कि यह समाज अरस्तू के इस कथन को कि, "विधि और न्याय से पृथक् मनुष्य समस्त प्राणियों में निकृष्टतम होता है," सार्थक सिद्ध कर रहा था। इस दृष्टि से मैकियावेली एक विशेष अर्थ में स्वामीहीन मनुष्य का राजनैतिक सिद्धान्तकारी है। वह एक ऐसे समाज के राजनैतिक सिद्धान्त का निर्माण करता है जिसमें मनुष्य एकाकी खड़ा है। उसकी न अपनी कोई प्रेरणाएँ हैं और न अपने कोई हित हैं। वह अपने अहंवाद द्वारा ही चालित होता है। इस दृष्टि से मैकियावेली समस्त आधुनिक समाज के एक युग का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन उसके चित्रण में कुछ अतिरंजना है जो सोलहवीं शताब्दी के इटली को देखते हुए उपयुक्त है।

मैकियावेली की रुचि
(Machiavelli's Interest)

मैकियावेली की सब से महत्वपूर्ण राजनैतिक रचनाएँ दो हैं—प्रिंस और डिस्कोर्सेज आन दी फर्स्ट टैन बुक्स आफ टाइटस लिवियस। मैकियावेली ने इन रचनाओं को १५१३ में शुरू किया था और अधिकतर उसी में समाप्त कर दिया था। इन दोनों पुस्तकों में शासन सम्बन्धी विवेचन अलग-अलग है। इसी का अनुसरण करने वाले कुछ लेखकों का विचार है कि यह विवेचन एक-दूसरे से असंगत है। वास्तव में यह बात नहीं मालूम पड़ती। यदि हम प्रिंस की रचनाओं से सम्बन्धित परिस्थितियों पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा। यह दुर्भाग्य है कि अधिकांश पाठक मैकियावेली को प्रिंस के आधार पर ही जानते हैं। मैकियावेली की पुस्तकें एक ही विषय के विभिन्न पहलुओं को प्रगट करती हैं। मैकियावेली का प्रतिपाद्य विषय है कि राज्यों का उत्थान और पतन कैसे होता है तथा राजनेता उन्हें किन साधनों के द्वारा स्थाई बना सकता है। प्रिंस में राजतन्त्रों अथवा निरंकुश शासन प्रणालियों पर विचार किया गया है। डिस्कोर्सेज में मुख्यतः रोमन गणराज्य के विकास का वर्णन है। यह राज्यों के उस द्विमुखी वर्गीकरण से मिलता है जिसका मैकियावेली ने प्रिंस के शुरू में उल्लेख किया है। मैकियावेली ने प्रिंस की रचना एक विशेष उद्देश्य से की थी। इस रचना के द्वारा वह मैडीची के अधीन नौकरी पाना चाहता था। लेकिन इस उद्देश्य ने प्रिंस में वर्णित विचारों पर प्रभाव नहीं

डाला था। विलारी का यह कहना सही है कि यदि किसी व्यक्ति को डिस्कोर्सेज का ज्ञान हो और वह लेखक के मुख्य प्रयोजन को भी जानता हो तो वह प्रिंस में वर्णित प्रत्येक बात की पहले से ही भविष्यवाणी कर सकता है। इन दोनों ही पुस्तकों में समान रूप से इन बातों पर बल दिया गया है जिनके लिए मैकियावेली विशेष रूप से विख्यात है। यह बातें हैं, राजनैतिक प्रयोजनों के लिए अनैतिक साधनों के प्रयोग की स्वीकृति और यह विश्वास कि शासन मुख्यतः शक्ति और चालबाजी पर आधारित होता है। लेकिन, प्रिंस में लोकशासन के प्रति मैकियावेली का उत्साह प्रगट नहीं होता। इसका कारण सम्भवतः यह था कि उसके समय इटली की परिस्थिति लोक शासन के अनुकूल नहीं थी।

मैकियावेली की राजनैतिक रचनाएँ राजनैतिक सिद्धान्त की कोटि में कम आती हैं, वे राजनयिक साहित्य की श्रेणी में अधिक हैं। मैकियावेली के युग के इटालियन लेखकों ने विपुल राजनयिक साहित्य का निर्माण किया था। उस समय के इटली के, विभिन्न राज्यों के सम्बन्धों में काफी कूटनीतिक दाँव-पेंच चलते रहते थे। ये शासक आपसी बातचीत द्वारा भी अपना काम निकालना चाहते थे और जहाँ जरूरत पड़ती थी, बल प्रयोग से भी नहीं हिचकते थे। मैकियावेली की रचनाओं में भी राजनयिक साहित्य के सारे गुण दोष हैं। किसी राजनैतिक परिस्थिति की अनुकूल और प्रतिकूल बातें, विरोधी के संसाधनों और मनोभाव के सम्बन्ध में स्पष्ट और निष्पक्ष निर्णय, किसी नीति की सीमाओं का वस्तुपरक मूल्यांकन, भविष्य की घटनाओं का अनुमान लगाने में व्यवहार-बुद्धि का कुशल प्रयोग तथा किसी कार्य के परिणाम की पूर्व-कल्पना—ये सारी बातें मैकियावेली की कृतियों में भरपूर पाई जाती हैं। अपने इन्हीं गुणों के कारण मैकियावेली अपने समय से आज तक राजनयज्ञों का प्रिय लेखक रहा है। लेकिन, राजनयिक साहित्य में एक त्रुटि होती है। वह दाँव-पेंचों को बहुत महत्व देता है और उस उद्देश्य को भूल जाता है जिसके लिए इन दाँव-पेंचों का आश्रय लिया जाता है। इसमें स्वभावतः यह मान लिया जाता है कि राजनीति स्वयं ही एक उद्देश्य है।

मैकियावेली का यही विशिष्ट गुण है। उसने शासन प्रबन्ध, राज्यों को सशक्त बनाने के उपायों, राज्यों की शक्ति-विस्तार की नीतियों तथा उनके पतन और विनाश के कारणों पर ही विचार किया है। मैकियावेली को केवल राजनैतिक और सैनिक साधनों से ही प्रेम है। उसने उन्हें धार्मिक, सामाजिक और नैतिक धारणाओं से अलग रखा है। इन धारणाओं पर वह तभी विचार करता है जब कि वे राजनीति पर असर डालती हैं। राजनीति का उद्देश्य राजनीतिक शक्ति की रक्षा और उसका विस्तार है। उसके अच्छे-बुरे की कसौटी सिर्फ यह है कि वह सफलता में कहाँ तक सहायक हो सकती है। कोई नीति निर्दय या निष्ठाहीन या विधिहीन है, मैकियावेली इस ओर से उदासीन रहता है। हाँ, वह यह जरूर जानता है कि ये चीजें राजनैतिक सफलता पर असर डाल सकती हैं। यदि शासक अनैतिकता का कुशलतापूर्वक सहारा ले तो इससे उसे अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सहायता मिल सकती है। मैकियावेली की बदनामी का यही कारण है। लेकिन अधिकांश

मैकियावेली अनैतिक न होकर, नैतिकता निरपेक्ष है। वह राजनीति को अन्य धारणाओं से अलग कर देता है और इस तरह से लिखता है मानो राजनीति स्वयं ही एक उद्देश्य हो।

नैतिक उदासीनता
(Moral Indifference)

मैकियावेली ने राजनैतिक हित को नैतिकता से जिस भाँति अलग रखा है उसका निकटतम सादृश्य अरस्तू द्वारा लिखित पॉलिटिक्स के कुछ अंशों में पाया जाता है। अरस्तू ने भी राज्यों की अच्छाई या बुराई की ओर ध्यान दिए बिना ही उनकी रक्षा के उपायों का विवेचन किया है। तथापि, यह निश्चित नहीं है कि मैकियावेली ने इन अवतरणों को अपना आदर्श माना था। यह सम्भव नहीं है कि उसे किसी के अनुसरण करने का ध्यान रहा हो। हाँ, यह हो सकता है कि उसकी धर्म-निरपेक्षता और प्रकृतिवादी अरस्तूवाद में जिसने दो शताब्दियों पूर्व डिफेन्सर पैसिज की रचना को प्रेरणा दी थी, कुछ सम्बन्ध रहा हो। मार्सिलियो की भाँति ही मैकियावेली भी पोपशाही को इटली की फूट का कारण मानता था। धर्म लौकिक मामलों में कितना उपयोगी होता है, इस सम्बन्ध में भी मार्सिलियो और मैकियावेली के विचार प्रायः एक से हैं। मैकियावेली की धर्मनिरपेक्षता मार्सिलियो की धर्मनिरपेक्षता से आगे बढ़ी हुई है। मैकियावेली धार्मिक पक्षों से बिलकुल मुक्त है। मार्सिलियो ने ईसाई आचारों को परलोक सम्बन्धी बताकर विवेक की स्वतन्त्रता का समर्थन किया था। मैकियावेली ने उनकी निन्दा इसलिए की है कि वे परलोक सम्बन्धी हैं। मैकियावेली ने ईसाई सद्गुणों के सम्बन्ध में कहा है कि वे चरित्र को कमजोर बनाते हैं। उसने प्राचीनकाल के धर्मों को ईसाई धर्म की अपेक्षा अधिक ओजपूर्ण माना है।

> "हमारा धर्म विनम्रता, निम्नता और सांसारिक लक्ष्यों के प्रति उदासीनता को उच्चतम गुण मानता है। इसके विपरीत दूसरा धर्म आत्मा के गौरव, शरीर की शक्ति तथा अन्य ऐसे गुणों में जो आदमी को बलवान् बनाते हैं, सर्वोच्च शिव की कल्पना करता है। मेरा ख्याल है कि इन सिद्धान्तों के कारण मनुष्य कायर हो गए हैं। दुष्ट आदमी उन्हें बड़े आराम से अपने काबू में कर लेते हैं। धर्म-भीरु मनुष्य हमेशा स्वर्ग की लालसा में लगे रहते हैं। वे चोट सह लेते हैं, बदला नहीं लेते।"

जैसा कि इस अवतरण से ज्ञात होता है, मैकियावेली आचारों और धर्म के राजनीति पर पड़ने वाले प्रभाव से परिचित था। मैकियावेली ने यह अवश्य स्वीकार किया है कि शासक साध्य को प्राप्त करने के लिए अनैतिक साधनों का प्रयोग कर सकते हैं लेकिन उसे इसमें कोई सन्देह नहीं था कि जनता का नैतिक भ्रष्टाचार श्रेष्ठ शासन का निर्माण असम्भव कर देता है। मैकियावेली ने प्राचीन काल के रोमनों और पतन समय के स्विस लोगों के नागरिक सद्गुणों की भूरि-भूरि सराहना की है। उसका विश्वास है कि ये सद्गुण पारिवारिक जीवन की पवित्रता, व्यक्तिगत जीवन में स्वतन्त्रता तथा प्राणवत्ता, व्यवहार में सरलता और मितव्ययिता तथा सार्वजनिक कर्तव्यों के पालन में निष्ठा और विश्वसनीयता के कारण विकसित हो रहे थे।

लेकिन, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि शासक को अपने प्रजाजनों के धर्म में दिलचस्पी रखना चाहिए अथवा उनके सद्गुणों का अभ्यास करना चाहिए। मैकियावेली राजनीति में अमूर्त शक्तियों के महत्व का भी कायल था लेकिन उसके लिए ये अमूर्त शक्तियाँ केवल शक्तियाँ ही थीं। युद्ध में सेना के लिए बन्दूकों के साथ-ही-साथ उत्साह भी आवश्यक होता है। बुद्धिमान् शासक यह ध्यान रखता है कि ये दोनों उच्च कोटि के होने चाहिएँ। मैकियावेली ने दो प्रकार के आचारों का विवाद किया है। शासक के लिए एक प्रकार के आचार हैं और व्यक्तिगत नागरिक के लिए दूसरे प्रकार के। पहले की कसौटी यह है कि वह उसकी शक्ति की रक्षा और वृद्धि में कहाँ तक सहायक होता है। दूसरे की कसौटी यह है कि वह सामाजिक वर्ग को कहाँ तक शक्ति प्रदान कर पाता है। चूँकि शासक इस वर्ग से बाहर है अथवा उसका इस वर्ग से विशेष सम्बन्ध है इसलिए वह इस वर्ग में आरोपित की जाने वाली नैतिकता से भी ऊपर है।

कुछ लोगों ने नैतिकता के प्रति मैकियावेली की उदासीनता को वैज्ञानिक तटस्थता का एक उदाहरण माना है।[1] लेकिन यह एक दूरारूढ़ कल्पना है। मैकियावेली तटस्थ नहीं था। उसकी केवल एक ही साध्य—राजनैतिक शक्ति—में दिलचस्पी थी। वह अन्य सारी बातों के प्रति उदासीन था। उसने ऐसे शासकों की जो अपने राज्यों को दुर्बल हो जाने देते हैं, कठोर निन्दा की है। यद्यपि मैकियावेली के निष्कर्ष ऐतिहासिक अध्ययन अथवा शासकों के व्यक्तिगत परिचय पर आधारित थे, लेकिन वह निश्चित रूप से वैज्ञानिक नहीं था। उसका अनुभव किन्हीं सिद्धान्तों पर नहीं, प्रत्युत् व्यवहार-बुद्धि पर आधारित था। इसी प्रकार, यह कहना भी गलत है कि मैकियावेली ने किसी ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया है क्योंकि उसके अधिकतर उदाहरण इतिहास से लिये गए हैं। उसने ऐतिहासिक उदाहरणों का प्रयोग अपने स्वतन्त्र निष्कर्षों की पुष्टि के लिए किया है। एक दृष्टि से वह बड़ा अनैतिहासिक था। उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि मानव प्रकृति सदैव ही और सर्वत्र ही एक सी है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण उसे जहाँ से उदाहरण प्राप्त हुए, उसने उन्हें वहीं से लिया है। उसकी पद्धति निरीक्षणात्मक थी, लेकिन उसका निरीक्षण व्यवहार-बुद्धि द्वारा निर्दिष्ट होता था। उसकी सफलता का सब से अधिक यथार्थ विवरण जैनेट ने दिया है। जैनेट के अनुसार मैकियावेली ने राजनीति को बहुत सरल रूप दे दिया है।

मैकियावेली के राजनैतिक सिद्धान्तों का किसी व्यवस्थित पद्धति से विकास नहीं हुआ। वे विशिष्ट परिस्थितियों के सम्बन्ध में उसके विचारों के आधार पर विकसित हुए। इन विचारों में एक क्रमबद्ध दृष्टिकोण छिपा हुआ था। इस दृष्टिकोण को एक राजनैतिक सिद्धान्त के रूप में विकसित किया जा सकता था और उसे बाद किया भी गया। मैकियावेली की न तो दर्शन में दिलचस्पी थी और न राजनैत

---

1 Sir Frederick Pollock, *History of the Science of Politics* (1911), p. 43

के उपयोग से परे के कुछ सामान्य सिद्धान्तों के निरूपण में। कभी कभी वह अपने सिद्धान्तों का वर्णन मात्र देता है। अक्सर वह उन्हें स्वतः सिद्ध मान लेता है। उसने उनकी सत्यता का कोई प्रमाण प्रायः नहीं दिया है। मैकियावेली के राजनीति-चिन्तन पर विचार करने के लिए यह उचित होगा कि हम उसके प्रकीर्ण विचारों को एक सूत्र में बाँध लें। बाद के विचारकों ने उसके इधर-उधर बिखरे हुए विचारों के आधार पर एक क्रमबद्ध दर्शन के निर्माण का प्रयास किया भी है।

सार्वभौम अहंवाद

(Universal Egoism)

मैकियावेली ने राजनीति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसके मूल में एक विशिष्ट धारणा कार्य कर रही है। यह धारणा यह है कि मानव प्रकृति मूलतः स्वार्थी है। राजनेता के प्रेरक उद्देश्य सदैव अहंवादी होने चाहिएँ। जनसाधारण सदैव सुरक्षा चाहता है और शासक शक्ति। शासन की स्थापना का उद्देश्य ही यह है कि व्यक्ति कमजोर होता है। वह दूसरे व्यक्तियों के अतिक्रमण से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। उसकी रक्षा के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। मनुष्य की प्रकृति बहुत अधिक आक्रमणशील और अर्जनशील है। मनुष्यों के पास जो कुछ होता है, वे उसे अपने पास रखना चाहते हैं और उससे अधिक का अर्जन करना चाहते हैं। मनुष्य की इच्छाओं पर कोई नियन्त्रण नहीं है। उन पर एक मात्र नियन्त्रण प्राकृतिक दुर्लभता का है। फलतः, मनुष्य सदैव ही संघर्ष और प्रतियोगिता की स्थिति में रहते हैं। यदि इस संघर्ष और प्रतियोगिता पर विधि का अंकुश न हो तो समाज में अराजकता फैल सकती है। शासक की शक्ति अराजकता की सम्भावना पर और इस धारणा पर कि शक्तिशाली शासन होने पर ही सुरक्षा कायम रह सकती है, आधारित है। मैकियावेली ने शासन के सम्बन्ध में इस धारणा को स्वतः-सिद्ध मान लिया है यद्यपि इसके आधार पर उसने व्यवहार के किसी सामान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का विकास नहीं किया है। लेकिन, उसने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि मनुष्य सामान्य रूप से खराब होते हैं और बुद्धिमान् शासक को अपनी नीतियाँ इसी धारणा को आधार बना कर निर्धारित करनी चाहिएँ। उसने इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया है कि अपना शासन को सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा की ओर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि मनुष्य की प्रकृति में यही सबसे सार्वभौम इच्छाएँ हैं। इसीलिए, उसने एक स्थल पर यहाँ तक कहा है कि मनुष्य अपनी पैतृक सम्पत्ति की जब्ती की अपेक्षा अपने पिता की हत्या को अधिक आसानी से क्षमा कर सकता है। अत्याचारी शासक मार सकता है, वह लूटपाट नहीं करेगा। मैकियावेली की विचारधारा के इस पहलू को जब व्यवस्थित मनोविज्ञान के द्वारा पूर्ण किया गया, तब वह हॉब्स का राजनैतिक दर्शन बन गया।

मैकियावेली की मानव प्रकृति की निकृष्टता अथवा अहम्मन्यता में इतनी दिलचस्पी नहीं है जितनी इस बात में कि इन बुराइयों के कारण इटली के समाज

की बहुत अधिक अधोगति हो गई थी। उसके विचार से इटली भ्रष्ट समाज का सजीव उदाहरण था। राजतन्त्र ने फ्रांस और इटली में इस प्रकार की बुराइयों को किसी अंश तक दूर कर दिया था। लेकिन, इटली में इन बुराइयों को दूर करने वाली कोई सत्ता नहीं थी।

"वास्तव में किसी भलाई के लिए उन देशों की ओर देखना व्यर्थ है जिनमें आज इतना भ्रष्टाचार फैला हुआ है। जिस तरह इटली में भ्रष्टाचार है, वहाँ भी है। फ्रांस और स्पेन में भी भ्रष्टाचार है। यदि इन देशों में इटली की तरह इतनी अव्यवस्थाएँ और कठिनाइयाँ नहीं हैं, तो इसका कारण यह नहीं है कि वहां के लोग अच्छे हैं, बल्कि यह है कि वहाँ एक राजा है जो उनको संयुक्त रखता है।"[1]

इसलिए, इटली में समस्या यह है कि एक भ्रष्ट समाज के अन्दर एक राज्य की स्थापना की जाये। मैकियावेली को विश्वास था कि इन परिस्थितियों में इटली में केवल निरंकुश राजतन्त्र ही सम्भव था। यही कारण है कि वह रोम गणराज्य का उत्साही प्रशंसक होने के साथ-साथ निरंकुशता का भी समर्थक था। भ्रष्टाचार से मैकियावेली का अभिप्राय लोगों में व्यक्तिगत गुणों, ईमानदारी और निष्ठा के अभाव से है। इन त्रुटियों के कारण लोक-शासन असम्भव हो जाता है। भ्रष्टाचार में सब तरह की उच्छृङ्खलता और हिंसा, धन और सम्पत्ति की विषमताएँ, शान्ति और न्याय का नाश, अव्यवस्थित महत्त्वाकांक्षा, फूट, अराजकता, बेईमानी और धर्म के प्रति घृणा शामिल हैं। मैकियावेली का विचार था कि स्विट्ज़रलैंड में और जर्मनी के कुछ भागों में गणतन्त्रात्मक शासन सम्भव था क्योंकि वहाँ अब भी शक्तिशाली नागरिक जीवन कायम था। लेकिन इटली में यह सम्भव नहीं था। जब आवश्यक गुणों का पतन हो जाता है, केवल निरंकुश शक्ति ही उनकी प्रतिष्ठा कर सकती है अथवा उनके बिना शासन को ठीक से चला सकती है।

नैतिक भ्रष्टाचार के अतिरिक्त मानव प्रकृति की स्वाभाविक आक्रमणशीलता संघर्ष और प्रतियोगिता को प्रत्येक समाज का सामान्य लक्षण बना देती है। प्रत्येक शासन को पग-पग पर जिस असफलता का सामना करना पड़ता है, उसका यही कारण है: "मनुष्य सदैव यह गलती करते हैं कि वे यह नहीं जानते कि अपनी आशाओं को कब सीमित किया जाये।" इससे उस स्वस्थ समाज की, जिसमें विरोधी हित सन्तुलन में रहते हैं, स्थिरता का भी स्पष्टीकरण होता है। रोम में पैट्रीशियन और प्लेबियन की प्रतियोगिता को मैकियावेली रोम की शक्ति का रहस्य मानता था। इसके कारण ही रोम के चरित्र में उस स्वतन्त्र चेतना और दृढ़ता का बीजवपन हुआ जिसने रोम को महान् बनाया। रोमन लोग स्वभाव से ही उत्साही थे। उनका यह उत्साह उद्दंडता का रूप ग्रहण कर सकता था। लेकिन बुद्धिमान् शासकों के निर्देश ने रोमनों को युद्धवीर तथा विजेता राष्ट्र बना दिया। इसी कारण मैकियावेली ने मिश्रित अथवा सन्तुलित संविधान के प्राचीन सिद्धान्त का फिर से आख्यान किया। उसने डिस्कोर्सेज के आरम्भ में पोलिबियस की हिस्ट्रीज पुस्तक

1. *Discourses*, I, 55.

के छठे अध्याय में वर्णित संविधान चक्र के सिद्धान्त को प्रस्तुत कर दिया है। मैकियावेली के मन में राजनीतिक सन्तुलन नहीं, प्रत्युत् सामाजिक अथवा आर्थिक सन्तुलन था। यह प्रतियोगी सामाजिक अथवा आर्थिक हितों का सन्तुलन था जो शक्तिशाली शासक के द्वारा नियन्त्रण में रहता था। इस दिशा में मैकियावेली ने दर्शन के व्यवस्थित आश्योन के लिए प्रभुशक्ति सम्बन्धी उस कल्पना की आवश्यकता थी जिसका आगे चल कर बोदाँ और हाब्स ने विकास किया।

सर्वशक्तिशाली विधिकर्त्ता

(The Omnipotent Legislator)

मैकियावेली का दूसरा सामान्य सिद्धान्त जिस पर उसने बार बार बल दिया है, यह है कि समाज में विधिकर्त्ता का सबसे अधिक महत्त्व होता है। उत्तम राज्य की स्थापना एक आदमी के द्वारा ही की जा सकती है। वह जिन विधियों और शासन का निर्माण करता है, उनसे ही जनता का राष्ट्रीय चरित्र निर्धारित होता है। आचार और नागरिक सद्गुण विधि पर आधारित होते हैं। जब कोई समाज भ्रष्ट हो जाता है तो उसका सुधार नहीं हो सकता। इस अवस्था में एक विधिकर्त्ता को उसका शासन सूत्र अपने हाथ में ले लेना चाहिये। यह विधिकर्त्ता ही समाज में उन स्वस्थ सिद्धान्तों का प्रवर्तन कर सकता है, जिनको उसके संस्थापक ने निर्धारित किया था।

"हमें सामान्य नियम के रूप में यह मान लेना चाहिए कि किसी गणराज्य अथवा राजतन्त्र का ठीक से संगठन अथवा उसका पुरानी संस्थाओं का सुधार केवल उसी समय सम्भव है जबकि वह एक व्यक्ति के द्वारा किया जाए। जरूरी तो यहाँ तक है कि जिस व्यक्ति ने इस संविधान की कल्पना की हो वही इसे कार्यान्वित करे।"[1]

मैकियावेली केवल अथवा मुख्य रूप से राजनैतिक संगठन के बारे में ही विचार नहीं कर रहा था। वह जनता के सम्पूर्ण सामाजिक और नैतिक गठन के बारे में सोच रहा था। जनता का सामाजिक और नैतिक गठन विधि पर और विधिकर्त्ता की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता पर आधारित होता है। यदि राजमर्मज्ञ राजनैतिक कला के नियमों को समझता है तो वह जो चाहे वह कर सकता है। वह पुराने राज्यों को नष्ट और नए राज्यों का निर्माण कर सकता है। वह शासन प्रणालियों को बदल सकता है, जनसंख्या में अदला बदली कर सकता है तथा अपने प्रजाजनों के चरित्र में नए गुणों का समावेश कर सकता है। यदि किसी शासक के पास सिपाहियों की कमी है तो इसके लिए वह खुद दोषी है। सिपाहियों की कमी को दूर करने के लिए यह जरूरी है कि वह जनता की कायरता को दूर करे। विधिकर्त्ता न केवल राज्य का ही निर्माता है वह सम्पूर्ण समाज का, समाज की नैतिक, धार्मिक और आर्थिक संस्थाओं का भी निर्माता है।

शासन और राज्य की सार्वभौमता के सम्बन्ध में मैकियावेली के इन अतिरंजित विचारों के अनेक कारण थे। कुछ अर्थों में यह विधिकर्त्ता की उस प्राचीन कल्पना

1. *Discourses*, I, 9.

का जो मैकियावेली को सिसरो और पोलिबियस जैसे लेखकों में प्राप्त हुई थी, पुनरारयान मात्र था। कुछ अंशों में यह सोलहवीं शताब्दी के इटली की जर्जर अवस्था से प्रभावित था। उस समय इटली में भयंकर भ्रष्टाचार था। इटली को एक ऐसे प्रतिभाशाली और सामर्थ्यवान शासक की आवश्यकता थी जो विशाल सैनिक शक्ति का निर्माण करके इटली के छोटे-छोटे नगरों और रजवाड़ों को अपने वश में करता तथा एक नई सार्वजनिक भावना और नागरिक निष्ठा का विकास करता। उसके समय की परिस्थितियों ने उसे यह समझने की प्रेरणा दी कि एक निरंकुश शासक ही राष्ट्र के भाग्य का विधाता हो सकता है। इन ऐतिहासिक परिस्थितियों के अतिरिक्त उसके अपने राजनैतिक दर्शन का तर्क भी उसे इसी दिशा की ओर उन्मुख करता था। यदि मनुष्य स्वभाव से ही अहंकारी है तो केवल राज्य और विधि की शक्ति ही समाज को एकता के सूत्र में बांधे रख सकती है और नागरिकों के नैतिक दायित्वों को कार्यान्वित करा सकती है। मैकियावेली के इन सुझावों को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी हॉब्स को ही है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आचरण के उस दोहरे मानदण्ड को जिसमें राजनेता के लिए एक प्रकार का आचरण तथा व्यक्तिगत नागरिक के लिए दूसरे प्रकार का आचरण बतलाया गया है, आसानी से समझा जा सकता है। यह दुहरे प्रकार के आचरण का सिद्धान्त ही मैकियावेलीवाद है। शासक राज्य का स्रष्टा होने के कारण न केवल विधि के बाहर ही है प्रत्युत यदि विधि आचारों का निर्माण करती है तो वह नैतिकता के भी बाहर है। शासक के कार्यों को परखने की केवल एक ही कसौटी है कि वह अपने राज्य की शक्ति को कहाँ तक बढ़ा सकता है और उसकी कहाँ तक रक्षा कर सकता है। मैकियावेली ने यह निष्कर्ष जिस निष्पक्षता के साथ स्वीकार किया और इसकी जिस उत्साह से शासकों को सलाह दी, वही प्रिंस की बदनामी का प्रधान कारण है। यद्यपि इस दिशा में डिस्कोर्सेज भी इससे बेहतर नहीं है। मैकियावेली ने निर्दयता, विश्वासघात, हत्या तथा अन्य अनुचित उपायों का खुल कर समर्थन किया है। शर्त केवल यह है कि उनका बुद्धिमानी से और चोरी छिपे प्रयोग किया जाए जिससे कि वे अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकें।

'यह ठीक ही है कि जब कार्य के कारण उस पर दोष आता है, परिणाम उसे क्षमा कर दे। जब परिणाम अच्छा होता है, जैसा कि रोमुलस के मामले में हुआ था (उसने अपने भाई की हत्या कर दी थी) तो मानव दोष से हमेशा बचा रहा। जो व्यक्ति विनाश के लिए हिंसा का प्रयोग करता है उसी की निन्दा की जानी चाहिए। जो आदमी हिंसा का प्रयोग हितकारी उद्देश्यों के लिए करता है उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए।'[1]

"मनुष्य जिस ढंग से रहते हैं वह उस ढंग से बहुत भिन्न है जिससे उन्हें रहना चाहिए। इसलिए जो व्यक्ति यथार्थ को छोड़कर आदर्श का अनुसरण करेगा उसकी खैर नहीं—इसलिए जो शासक अपनी रक्षा करना चाहता है उसे यह सीखना चाहिए कि वह हमेशा ही अच्छा न रहे, उसे आवश्यकता के अनुसार ही अच्छा या बुरा बन जाना चाहिए। उसे ऐसे अनौचित्यपूर्ण काम करने से भी नहीं डरना चाहिए जिनसे राज्य की रक्षा करने में सहायता मिलती है। सारी चीजों

---

1. *Discourses*, 1, 9.

पर विचार करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकला। है कि कुछ चीजें जो गुण मालूम पड़ती हैं विनाश की ओर ले जा सकती हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे जो बुरी मालूम पड़ती हैं रक्षा और कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकती हैं।"[1]

मैकियावेली का शासक चालाकी और आत्मनियन्त्रण का पूर्ण प्रतीक है। वह गुणों और अवगुणों दोनों का समान रूप से काम उठाता है। इस प्रकार से वह सोलहवीं शताब्दी के इटली के अत्याचारी शासक का आदर्शीकृत चित्र है। वह एक ऐसे व्यक्ति का वास्तविक, हालाँकि कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण चित्र है जिसे निरंकुश शासकों के युग ने राजनैतिक जीवन के रंगमंच पर खड़ा कर दिया था। इसके सब चरम उदाहरण इटली में हुए। स्पेन का फर्डीनेण्ड, फ्रांस का लुई ग्यारहवाँ और इंगलैंड का हेनरी आठवाँ, ये सब शासक एक ही प्रकार के थे। मैकियावेली साधन-सम्पन्न शासक को, चाहे वह चालबाज क्यों न हो सराहना करता था। वह राजनीति में दुर्बल उपायों का कायल नहीं था। उसके विचार से राजनीति में दुर्बल उपाय दुर्बलता के कारण किए जाते हैं, किसी नीतिमत्ता के कारण नहीं। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण मैकियावेली ने बड़ी-बड़ी गलतियाँ भी की हैं। उदाहरण के लिए उसने सीजर बोर्गिया को एक आदर्श शासक माना है और कहा है कि उसकी असफलता का कारण एक अपरिहार्य घटनाचक्र ही था।

मैकियावेली ने सर्वशक्तिमान विधिकर्ता सम्बन्धी अपनी धारणा के आधार पर भी राजनैतिक निरंकुशता के किसी सामान्य सिद्धान्त का निरूपण नहीं किया। यह कार्य बाद में हॉब्स ने किया था। मैकियावेली के निर्णय पर दो बातों का प्रभाव पड़ा था। वह साधन-सम्पन्न निरंकुश शासक की सराहना करता था लेकिन इसके साथ-ही उसके मन में स्वतन्त्र और स्वशासी जनता के प्रति भी सराहना का भाव था। ये दोनों बातें संगत नहीं थीं। उसने इन दोनों को आपस में मिला दिया। उसने अपनी एक धारणा के आधार पर राज्य के निर्माण का सिद्धान्त विकसित किया और दूसरी के आधार पर राज्य का निर्माण हो जाने के पश्चात् उसकी रक्षा का सिद्धान्त। आधुनिक शब्दावली में कहा जा सकता है कि उसका एक सिद्धान्त क्रान्ति के लिए था और दूसरा शासन के लिए। इसलिए, उसने निरंकुशता की केवल दो विशेष अवस्थाओं में ही सिफारिश की है। एक तो राज्य के निर्माण के लिए निरंकुशता की जरूरत होती है और दूसरे भ्रष्ट राज्य में सुधार करने के लिए। जब राज्य की एक बार स्थापना हो जाती है तब उसे स्थायी रूप उसी दशा में दिया जा सकता है जबकि लोग शासन में सहयोग दें और शासक जनता की सम्पत्ति तथा अधिकारों के प्रति उचित ध्यान देता हुआ विधि के अनुसार राज-काज चलाए। निरंकुश हिंसा एक शक्तिशाली राजनैतिक औषधि है। वह भ्रष्ट राज्यों में और विशेष आपत्तिकालों में समस्त राज्यों में जरूरी है। लेकिन फिर भी वह एक विष है और उसका अधिक-से-अधिक सावधानी से प्रयोग किया जाना चाहिए।

1. *Prince*, Ch. XV.

गणतन्त्रवाद और राष्ट्रवाद
(Republicanism and Nationalism)

मैकियावेली रोम गणराज्य की स्वतन्त्रता और स्वशासन का प्रशंसक था। लेकिन, उसके निरंकुश राजतन्त्र सम्बन्धी विवरण में इसकी कोई झलक नहीं मिलती। राज्य की रक्षा जो राज्य की स्थापना से भिन्न वस्तु है, उसकी विधि की उत्कृष्टता पर निर्भर है क्योंकि वह उसके नागरिकों के समस्त नागरिक गुणों का स्रोत है। राजतन्त्र में स्थिर शासन की पहली शर्त यह है कि वह विधि के द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए। राजकर्मचारी सत्ता का दुरुपयोग न कर सकें, इसके लिए मैकियावेली ने वैधानिक उपचारों की व्यवस्था की है। उसने बताया है कि यदि शासक विधियों का उल्लंघन करते हैं अथवा दुलमिल और परेशान करने वाली नीतियों का अनुसरण करते हैं, तो इसके राजनैतिक परिणाम भयंकर हो सकते हैं। बुद्धिमान् शासक अपने प्रजाजनों की सम्पत्ति और स्त्रियों को नहीं छेड़ेगा क्योंकि ये चीजें आदमी को बड़ी आसानी से प्रतिरोध के लिए तैयार कर देती हैं। उसने, जहाँ कहीं सम्भव हो, उदार शासन का समर्थन किया है। यदि शासक को कठोरता का आश्रय लेना पड़ जाए, तो भी उसे संयम से काम लेना चाहिए। उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि जहाँ शासन में बहुत से लोगों का हाथ होता है, वहाँ शासन अधिक स्थिर रहता है। मैकियावेली आनुवंशिक शासकों की अपेक्षा निर्वाचित शासकों को अधिक पसन्द करता है। उसने कहा है कि सार्वजनिक हित सम्बन्धी प्रस्तावों पर सुझाव उपस्थित करने की और उन पर विचार विनिमय करने की सब लोगों को स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। निर्णय करने के पूर्व प्रत्येक प्रश्न के दोनों पक्षों पर सावधानी से विचार होना आवश्यक है। उसका विश्वास था कि लोगों को स्वतन्त्र और सशस्त्र होना चाहिए। उन्हें युद्धवीर बनाने का एकमात्र उपाय यह है कि उन्हें विद्रोह करने के साधन दिए जायें। अन्त में, उसका विचार था कि भ्रष्टाचार रहित लोगों में सद्गुण और विवेक शासक की तुलना में अधिक मात्रा में पाया जाता है। हो सकता है कि जटिल नीतियों के सम्बन्ध में उनमें दूरदृष्टि न हो, लेकिन जिन चीजों को वे समझ सकते हैं, उदाहरण के लिए मजिस्ट्रेट के चरित्र का मूल्यांकन, उनमें उनका निर्णय शासक की अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होता है। मैकियावेली के राजनैतिक विचारों के बारे में कैसा भी मूल्यांकन किया जाए, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह उदार और विधिसम्मत शासन का समर्थक था। इसी कारण हैरिंगटन (Harrington) जैसे संविधानवादी ने उसकी सराहना की है।

मैकियावेली ने लोक शासन का जहाँ सम्भव हो तथा राजतन्त्र का जहाँ आवश्यक हो समर्थन किया है। लेकिन, उसकी कुलीनतन्त्र और कुलीनवर्ग के सम्बन्ध में खराब राय है। उसने अपने समय के अन्य किसी विचारक की अपेक्षा यह ज्यादा अच्छी तरह समझा था कि कुलीन वर्ग के हित राजतन्त्र के भी विरुद्ध हैं और मध्यवर्ग के भी। सुव्यवस्थित शासन के लिए उसका दमन अथवा विनाश आवश्यक है। ये भद्र पुरुष जो समाज की कोई उपयोगी सेवा किये बिना ही अपने धन की आमदनी पर जिन्दा रहते हैं " सर्वत्र नागरिक शासन के शत्रु हैं।"

"जहाँ किसी भी प्रकार की सुव्यवस्था कायम करने का एकमात्र उपाय राजतन्त्र शासन की स्थापना करना है। जहाँ जनता इतनी भ्रष्ट हो कि कानून उस पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न रख सके वहाँ एक ऐसी उच्च सत्ता की स्थापना करना आवश्यक हो जाता है जो अपने राजदण्ड से और अपनी पूर्ण और निरंकुश शक्तियों के प्रयोग से शक्तिशाली व्यक्तियों की अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा और भ्रष्टाचार का दमन कर सके।"[1]

मैकियावेली ने सीजर बोर्गिया (Cesaro Borgia) की जो सराहना की है, उसका एकमात्र कारण यह है कि सीजर ने अपने समस्त अपराधों के बावजूद रोमाग्ना (Romagna) को उन डाकू बैरनों की अपेक्षा बेहतर शासन दिया था, जिन्हें उसने विस्थापित किया था। मैकियावेली ने अपने शासक को उत्साहपूर्वक शैतान से लड़ने का कार्य सौंपा है। लेकिन, उसके शासक की दुष्टता एक महान् उद्देश्य से प्रभावित है। शासक के विरोधियों की दुष्टता में उद्देश्य की यह महत्ता नहीं है।

मैकियावेली को जहाँ कुलीनवर्ग से अरुचि है, वहाँ वह भाड़े के सिपाहियों से भी घृणा करता है। मैकियावेली के विचार से इटली की पराजयता का एक प्रधान कारण भाड़े के ये सिपाही थे। जो कोई इन्हें सबसे अधिक वेतन देने के लिए तैयार होता, ये सिपाही उसी के लिए लड़ने को तैयार हो जाते थे। ये किसी के प्रति स्वामिभक्त नहीं थे। ये अवसर अपने मालिक के शत्रुओं की अपेक्षा अपने मालिक के लिए ही अधिक भयंकर थे। इन वृत्तिजीवी सिपाहियों ने प्राचीन स्वतन्त्र नगरों के नागरिक सिपाहियों को पूरी तरह से विस्थापित कर दिया था। इन सिपाहियों ने इटली में तो अवश्य आतंक पैदा कर दिया था, लेकिन वे भारत के अधिक सगठित और अधिक राजभक्त सिपाहियों के मुकाबले में बेकार सिद्ध हुए। मैकिया-वेली इस बात को पूरी तरह मानता था कि फ्रांस को अपनी सेना का राष्ट्रीयकरण करने से बहुत लाभ हुआ है। फलतः, उसका बारम्बार यह आग्रह था कि प्रत्येक राज्य को अपनी नागरिक सेना के प्रशिक्षण और साज सज्जा की ओर सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। जो शासक भाड़े के सिपाहियों या दूसरे देशों की सहायक सेनाओं पर निर्भर रहता है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। वे उसके राजकोष को रिक्त कर देती हैं और जरूरत पड़ने पर धोखा देती हैं। इसलिए शासक के लिए युद्ध की कला का ज्ञान अत्यावश्यक है। शासक को अपने कार्यों में इसकी जरूरत होती है। शासक को सबसे पहले अपने नागरिकों की एक स्थायी सेना का निर्माण करना चाहिए। यह सेना समस्त हथियारों से सुसज्जित और अनुशासित होनी चाहिए। उसे राज्य के प्रति निष्ठावान् भी होना चाहिए। मैकियावेली का विचार था कि १७ और ४० वर्ष की आयु के बीच के समस्त समर्थ नागरिकों को सैनिक शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए। इस बल से शासक अपनी शक्ति को कायम रख सकता है और अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ा सकता है। इसके अभाव में उसे गृहयुद्ध का सामना करना पड़ता है और पड़ोस के महत्त्वाकांक्षी शासक उसे परेशान कर सकते हैं।

1. *Discourses*, 1. 55

मैकियावेली का नागरिक सेना में विश्वास था और वह कुलीन वर्ग से घृणा करता था। इसका कारण यह था कि मैकियावेली में राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी और वह इटली का एकीकरण चाहता था। मैकियावेली इटली की आन्तरिक उपद्रवों और बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा के लिए भी उत्सुक था। उसने यह साफ साफ कहा है कि मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य उसका देश के प्रति कर्त्तव्य है। अन्य सारी बातें पीछे रह जाती हैं।

"जहाँ देश की सुरक्षा ही खतरे में हो वहाँ न्याय अथवा अन्याय, उदारता अथवा क्रूरता, गौरव अथवा लज्जा का कोई विचार नहीं करना चाहिए। उस समय और सब बातों को छोड़ कर केवल एक प्रश्न की ओर ध्यान देना चाहिए कि देश के जीवन और स्वतन्त्रता की रक्षा किस उपाय से हो सकता है?"[1]

मैकियावेली ने निरंकुश और नृशंस शक्ति का जो आदर्शीकरण किया है, उसके मूल में यही भावना निहित है। उसका प्रिंस नामक ग्रंथ इसी विचार के साथ समाप्त हुआ है। मैकियावेली ने आशा व्यक्त की है कि इटली के अत्याचारी शासकों में से सम्भवतः मेडीसी के राजवंश में से ऐसा कोई शासक उत्पन्न हो सकता है जो संयुक्त इटली का स्वप्न देख सके और उस स्वप्न को कार्यान्वित कर सके।

"यदि यह आवश्यक था कि हजरत मूसा के गुणों को प्रकट करने के लिए इजरायल के लोग मिश्र में बंधन में रक्खे जायें, साइरस के साहस और महत्ता को प्रकाश में लाने के लिए मीड लोग ईरानियों का दमन करें, थेसूस की उत्कृष्टता का प्रदर्शन करने के लिए एथीनियन लोग छिन्न भिन्न कर दिए जायें, इसी प्रकार आजकल इटालियन मानस के गुणों को प्रकट करने के लिये यह आवश्यक था कि इटली की यह दशा हो जावे, वह यहूदियों के बन्धन से भी खराब बन्धन में हो, ईरानियों की अपेक्षा अधिक दास हो, एथीनियनों की अपेक्षा अधिक छिन्न भिन्न हो, उसका न कोई प्रधान हो, उसमें न कोई व्यवस्था हो, वह पराजित और वंचित, पीड़ित, शत्रुओं द्वारा आक्रान्त और प्रत्येक प्रकार की अधोगति का शिकार हो।"[2]

मैकियावेली की विचारधारा का प्रेरक उद्देश्य इटली में शान्ति और एकता की स्थापना करना था। लेकिन यह उसके लिए एक भाव ही था। उसके पास इस विचार को कार्यान्वित करने की कोई निश्चित योजना नहीं थी। मैकियावेली ने देखा था कि फ्रांस और स्पेन में राष्ट्रीय एकता की स्थापना निरंकुश शासकों ने की है। उसका विचार था कि इटली में भी इस एकता की स्थापना कोई निरंकुश शासक ही कर सकता है। लेकिन यह एक दूर की आशा थी। इसके कार्यान्वित हुए बिना देश में न तो खुशहाली हो सकती थी और न समृद्धि ही। तथापि, मैकियावेली ने राष्ट्रीय आधार पर शासन की कल्पना नहीं की। वह रोम के नगर-राज्य का हृदय से प्रशंसक था। इस नगर-राज्य ने अपना निरन्तर विकास

1. *Discourses*, III, 41.
2. *Prince*, Ch. XXVI.

किया और अपने मित्र देशों की सहायता प्राप्त की। लेकिन, यह नगर राज्य किसी राष्ट्रव्यापी नागरिकता का निर्माण नहीं कर सका। इस प्रकार जहाँ प्रिंस नामक ग्रंथ में मैकियावेली ने स्थान स्थान पर शासक को अनुचित सलाह दी है, इस ग्रंथ का अन्तिम अध्याय इसका एक अपवाद है।

अन्तर्दृष्टि और त्रुटियाँ
(Insight and Deficiencies)

मैकियावेली का चरित्र और उसके दर्शन का वास्तविक अर्थ आधुनिक इतिहास की एक गुत्थी है। उसे कपटी, सनकी, प्रबल देशभक्त, कट्टर राष्ट्रवादी, राजनैतिक जैसूइट, सच्चा लोकतन्त्रवादी और निरंकुश शासकों का चाटुकारवादी कहा गया है। ये सभी विचार एक दूसरे के विरोधी हैं लेकिन उनमें सत्य का कुछ अंश अवश्य है। इनमें से कोई भी एक विचार मैकियावेली की या उसकी विचारधारा की पूरी तस्वीर नहीं देता। मैकियावेली के विचार उसके अनुभव पर आधारित थे। उसका राजनैतिक निरीक्षण और राजनैतिक इतिहास का अध्ययन बड़ा व्यापक था। वह किसी एक विशिष्ट दर्शन का अनुयायी अथवा निर्माता नहीं था। इसी प्रकार उसका चरित्र भी बड़ा जटिल रहा होगा। उसकी रचनाओं से उसकी सकेन्द्रित रुचि का ज्ञान होता है। वह राजनीति, राज्य शिल्प और युद्ध-कला के अतिरिक्त न तो किसी चीज के बारे में सोचता है और न किसी के बारे में लिखता है। गहरे सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रश्नों के सम्बन्ध में उसे अलग से कोई रुचि नहीं है। इन प्रश्नों के सम्बन्ध में उसकी रुचि वहीं तक सीमित है जहाँ तक वह प्रश्न राजनीति पर असर डालते हैं। मैकियावेली इतना अधिक व्यावहारिक था कि वह दार्शनिक दृष्टि से अधिक गहरा न हो सका। लेकिन, शुद्ध राजनीति में वह अपने समस्त सम सामयिकों से आगे बढ़ा हुआ था। यूरोप की राजनीति जिस दिशा में आगे बढ़ रही थी उसका मैकियावेली से अधिक स्पष्ट और किसी को ज्ञान नहीं था।

> "एक ऐसे समय में जब कि यूरोप में प्राचीन राजनैतिक व्यवस्था समाप्त हो रही थी और राज्य तथा समाज दोनों से सम्बन्धित समस्याएँ तेजी से उठ रही थीं, उसने घटनाओं का तर्कसम्मत अर्थ बताने का, आवश्यक घटनाओं की भविष्यवाणी करने का और ऐसे नियमों को निर्धारित करने का प्रयास किया जो उस समय के राष्ट्रीय जीवन की नूतन परिस्थितियों में रूप ग्रहण कर रहे थे और जो आगे चल कर राजनैतिक कार्यवाही में प्रधान तत्त्व हो गए।"[1]

आधुनिक राजनैतिक प्रयोग में राज्य शब्द का जो अर्थ है उसके निर्माण में मैकियावेली ने अन्य किसी राजनैतिक विचारक की अपेक्षा अधिक योग दिया है। प्रभुसत्ता सम्पन्न राजनैतिक समाज के रूप में आधुनिक भाषाओं में इस शब्द के प्रचलन का श्रेय मैकियावेली की रचनाओं को है। आज राज्य एक संगठित शक्ति है। अपने राज्य क्षेत्र में वह सब से ऊँची सत्ता है। अन्य राज्यों के प्रति उसकी नीति

1. L. A. Burd in *The Cambridge Modern History* Vol. 1. (1903), p. 200

आक्रमणशील रहती है। मैकियावेली ने इन सारी विशेषताओं का दिग्दर्शन किया था। मैकियावेली की रचनाओं के फलस्वरूप ही राज्य आधुनिक समाज में सब से शक्तिशाली संस्था बन सका है। राज्य ही समाज की अन्य समस्त संस्थाओं पर नियन्त्रण रखता है और उनका नियमन करता है। राज्य के इस विकास को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मैकियावेली ने अपने युग के राजनैतिक विकास की दिशा को ठीक-ठीक समझा था।

यद्यपि मैकियावेली की प्रतिभा ने निरंकुश शासकों और राष्ट्रीय राज्यों के राज्य-शिल्प पर व्यापक प्रभाव डाला था, फिर भी उसकी राजनैतिक विचारधारा में कुछ आधारभूत त्रुटियाँ हैं। जो दर्शन राजनीति की सफलता अथवा असफलता के लिए राजनेताओं की प्रतिभा अथवा मूर्खता को उत्तरदायी ठहराता है, वह अवश्य ही सतही होगा। मैकियावेली का विचार था कि चतुर राजनीतिज्ञ समाज की नैतिक, धार्मिक और आर्थिक शक्तियों का राज्य के लाभ के लिए प्रयोग कर सकता है। यदि ये शक्तियाँ न हों, तो वह राज्य के लाभ के लिए उत्पन्न तक कर सकता है। यह न केवल उचित मूल्यों का ही प्रत्युत् कार्य-कारण सम्बन्धों का भी विपर्यय है। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोपीय चिन्तन की जो अवस्था थी, कुछ इटालियनों के विचारों को छोड़कर, मैकियावेली ने उसे गलत ढंग से प्रस्तुत किया है। मैकियावेली की दो पुस्तकें उस दिन के दस वर्ष के भीतर ही लिखी गई थीं जिस दिन मार्टिन लूथर ने उसके सिद्धान्त को विटेनबर्ग में चर्च के दरवाजे पर गाड़ दिया था। प्रोटेस्टेंट रिफर्मेशन के परिणामस्वरूप राजनीति और राजनैतिक चिन्तन का धर्म के साथ और धार्मिक मतभेदों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ जितना कि मध्य युग में और कभी नहीं रहा था। धर्म के प्रति मैकियावेली की उदासीनता आधुनिक चिन्तन की सामान्य विशेषता अवश्य है, लेकिन मैकियावेली की रचना के बाद दो शताब्दियों के बारे में यह बात सच नहीं है। इस दृष्टि से मैकियावेली का दर्शन बड़े संकुचित रूप से स्थानीय और बड़े संकुचित रूप से सामयिक था। यदि मैकियावेली इटली के अतिरिक्त अन्य किसी देश में लिखता या यदि वह इटली में ही धर्मसुधार आन्दोलन अथवा धर्मसुधार विरोधी आन्दोलन (Counter Reformation) की शुरुआत के बाद लिखता, तो यह कल्पना करना असम्भव है कि वह धर्म के प्रति ऐसा ही व्यवहार करता जैसा कि उसने किया था।

Selected Bibliography

A History of Political Thought in the Sixteenth Century. By J. W. Allen, London, 1928 Part IV, Ch. II.

Il Principe. Ed. L. A. Burd. Introduction by Lord Acton. Oxford, 1891. Reprinted in *History of Freedom and other Essays*, London, 1907.

Florence (II) : "Machiavelli. By L. A. Burd. In *The Cambridge Modern History*, Vol. 1 (1903), Ch. VI.

The Statecraft of Machiavelli. By H. Butterfield. London, 1940.

"Economic Change" By William Cunningham In *The Cambridge Modern History*, Vol I (1903), Ch XV

A History of Political Theories Ancient and Medieval By W. A Dunning New York, 1902 Ch XI

'Machiavelli's Political Philosophy" By C R Fay In *Youth and Power* London 1931.

Studies of Political Thought from Gerson to Grotius, 1414—1625 By John Neville Figgis Second edition, Cambridge, 1923, Ch III

Machiavelli's Prince and its Forerunners By Allan H Gilbert, Durham, North Carolina 1938

The Social and Political Ideas of Some Great Thinkers of the Renaissance and the Reformation Ed F J C Hearnshaw London, 1915 Ch IV

Histoire de la science politique By P Janet 2 Vols Fourth edition Paris, 1913 Vol I pp 491—602

'Machiavelli and the Present Time' By H J Laski In *The Danger of Obedience and other Essays* New York, 1930

Machiavelli The Romanes Lecture 1897 By John Morley London, 1897

Machiavelli and his Times By D Erskine Muir, London, 1936

Nicolo Machiavelli the Florentine By Giuseppe Prezzolini Trans by Ralph Roeder New York 1928

Machiavelli The Man, his Work, and his Times By Jeffrey Pulver, London, 1937

The Life and Times of Nicolo Machiavelli By P Villari, Trans by Linda Villari Revised edition, 2 Vols London, 1892

अध्याय १८

आरम्भिक प्रोटेस्टेंट सुधारक

(The Early Protestant Reformers)

प्रोटेस्टेंट सुधार आन्दोलन ने राजनैतिक दर्शन में धार्मिक विश्वास के मतभेदों और धार्मिक रूढ़ि के प्रश्नों को मध्ययुग की अपेक्षा अधिक गहराई से समाविष्ट किया। तथापि, इस सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए कोई सरल सूत्र नहीं है। सर्वत्र ही राजनैतिक सिद्धान्तों का धार्मिक तर्कों के आधार पर समर्थन किया जाता था और राजनैतिक गठबन्धन धार्मिक सत्य के नाम पर किए जाते थे। कहीं कोई ऐसा प्रोटेस्टेंट या कैथोलिक धार्मिक दल नहीं था जो अपने राजनैतिक विश्वासों को उस धर्म के साथ जिसकी वह दुहाई देता था, जोड़ता। इसके कारण स्पष्ट हैं। कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट समान रूप से और प्रोटेस्टेंटों की प्रत्येक शाखा एक ही प्रकार की ईसाई परम्परा और यूरोप के एक ही प्रकार के राजनैतिक अनुभव पर आधारित थी। समस्त चर्चों के विद्वानों के एक से विचार थे। उनकी विचारधारा बड़ी समृद्ध और वैविध्यपूर्ण थी। इस विचारधारा की परम्परा ग्यारहवीं शताब्दी से तो अविच्छिन्न रूप से चली ही आती थी, इसकी जड़ें प्राचीन काल तक पहुँची हुई थीं। इस राजनैतिक परम्परा का कोई भाग किसी विशिष्ट धार्मिक पद्धति पर पूरी तरह आधारित नहीं था। मध्ययुग में सदैव यह स्थिति रही थी। जिस प्रकार कैथोलिकों ने इसमें से अपने मतलब की बातें चुनी थीं, उसी प्रकार प्रोटेस्टेंट भी अपने उद्देश्य और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसमें से अपने मतलब की बातें चुन सकते थे। फलतः धर्म-सुधार आन्दोलन ने प्रोटेस्टेंट राजनैतिक दर्शन जैसी किसी वस्तु का निर्माण नहीं किया। यह स्थिति कुछ इसी प्रकार की थी जैसे कि मध्ययुग ने किसी कैथोलिक राजनैतिक दर्शन का निर्माण नहीं किया था। धर्म-सुधार आन्दोलन ने किसी ऐसे एंग्लिकन, प्रेसबिटेरियन अथवा लूथरवादी सिद्धान्त का भी निर्माण नहीं किया जिनका इन प्रोटेस्टेंट चर्चों के धार्मिक सिद्धान्तों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता। कोई भी समुदाय समय और शासन के साथ स्थायी सम्बन्ध होने पर न्यूनाधिक रूप में ऐसा समन्वित राजनैतिक सिद्धान्त अपना सकता था जो उसकी स्थिति और उसके सदस्यों के राजनैतिक विश्वासों के अनुकूल होता। (इस सम्बन्ध में कुछ व्यक्तिगत अपवाद अवश्य रहते थे)। राजनैतिक सिद्धान्तों की समानता धर्मशास्त्र पर नहीं, प्रत्युत् परिस्थितियों पर निर्भर थी। राजनैतिक मतभेदों का कारण धार्मिक मतभेद नहीं थे, प्रत्युत् वे विभिन्न परिस्थितियाँ थीं जिनमें चर्च अपने आपको पाते थे। उदाहरण के लिए एंग्लिकन, लूथरवादी और गालिकन कैथोलिक अपने धर्मशास्त्र की तुलना में राज्यों के दैवी अधिकार से अधिक सहमत हो सकते थे। वे काल्विनिस्टों और जेसुइटों को भी समान रूप से सार्वजनिक शत्रु समझते थे।

राजनैतिक सिद्धान्तों का वर्गीकरण धार्मिक सिद्धान्तों के वर्गीकरण से कभी मेल नहीं खा सकता, यद्यपि यह सही है कि धार्मिक सम्प्रदायों ने कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का निर्माण किया था।

रोमन चर्च के साथ सम्बन्ध विच्छेद करने से प्रोटेस्टेंटों की ऐसी किन्हीं कठिनाइयों का समाधान नहीं हुआ जो मध्ययुग में राजनीति में धार्मिक हस्तक्षेप और धर्म में लौकिक हस्तक्षेप के कारण उत्पन्न हो गई थीं। नवीन परिस्थिति ने उनके रूप को बदल दिया था और उन्हें और जटिल कर दिया था। इस समय धर्म और राजनीति का सम्बन्ध पहले से कहीं अधिक घनिष्ठ था। पुन, चर्च और राज्य का सम्बन्ध प्रत्येक देश में वहाँ की राजनीति और धार्मिक स्थिति के अनुसार अलग-अलग था। चर्च और धर्म की प्रचलित कल्पनाएँ परिस्थितियों की तुलना में बहुत धीरे से बदलीं। इसके परिणाम भी आशानुरूप नहीं हुए। इस प्रकार, चर्च की एकता स्थायी रूप से नष्ट हो गई थी। अब एक चर्च के स्थान पर अनेक चर्च उत्पन्न हो गए थे। इस चीज को उदार प्रोटेस्टेंटों ने एक शताब्दी पहले समझ लिया था। पहले चर्च को अनुभूत सत्य का एकमात्र संरक्षक माना जाता था। प्रोटेस्टेंट मत ने धार्मिक संगठन के स्थान पर धर्मशास्त्र को प्रमाण बनाया। लेकिन, इससे चर्च कुछ कम सत्तावादी नहीं हुआ। प्रत्येक व्यक्ति का यह विचार था कि यदि विरोधी की मन्दता और दुष्टता को समाप्त कर दिया जाए, तो धार्मिक सत्य के सम्बन्ध में समझौता हो सकता है। थोड़े से लेखकों के अतिरिक्त धार्मिक सहिष्णुता का भाव किसी के मन में नहीं था। चर्च के आदमी तो यह समझते थे कि शुद्ध सिद्धान्त की रक्षा सार्वजनिक सत्ता को करनी चाहिए। राजनेता यह समझते थे कि सार्वजनिक शान्ति की स्थापना के लिए धर्म की एकता एक अपरिहार्य शर्त है। जब रोमन चर्च का शासन समाप्त हुआ, "धर्म की रक्षा का दायित्व नागरिक अधिकारियों के ऊपर आ गया क्योंकि इस कार्य को और कोई कर भी नहीं सकता था। व्यवहार में, शुद्ध सिद्धान्त क्या है, यह निर्णय लौकिक शासकों के हाथ में आ गया। जब लौकिक शासकों ने ईमानदारी से यह काम करने की कोशिश की, तो उनके हाथ में यह निर्णय करने का भी असम्भव कार्य आ गया कि धार्मिक सत्य क्या है। जब राजनीतिज्ञों ने यह कार्य ईमानदारी से नहीं किया, तो उन्हें काफी परेशानी उठानी पड़ी।

निष्क्रिय आज्ञापालन और प्रतिरोध का अधिकार

(Passive Obedience and the Right to Resist)

धर्म-सुधार आन्दोलन ने राजतन्त्रों की शक्ति की वृद्धि और उसके समर्थन में सहायता दी। धर्म सुधार आन्दोलन के साथ जो छोटे मोटे और साम्प्रदायिक विवाद प्रारम्भ हो गए थे, उन्होंने भी इस प्रवृत्ति में सहायता दी थी। चर्च जनरल कौंसिल द्वारा अपना सुधार करने में सफल न हो सका था। उसकी इस असफलता ने यह सिद्ध कर दिया था कि चर्च में सुधार करने की योजना उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसे लौकिक शासकों का समर्थन और शक्ति प्राप्त

नही हो जाती। मार्टिन लूथर ने शुरू मे ही यह समझ लिया था कि जर्मनी में सुधार उसी समय सफल हो सकता है जब कि उसे वहाँ के शासकों का समर्थन प्राप्त हो जाए। इगलैंड मे धर्म-सुधार हेनरी आठवें को निरकुश शक्ति के कारण सम्भव हो सका। उसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि उसने राजकीय शक्ति में और वृद्धि की। इगलैंड म ज्यो-ज्यो वाद-विवाद बढते गए, राजा ही वह एकमात्र स्थल होता गया जिसके आधार पर राष्ट्रीय एकता का निर्माण हो सकता था। सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध म फ्रास मे यह बात विशेष रूप से नही थी। यह बात बिना किसी अतिशयोक्ति के कही जा सकती है कि हर जगह धार्मिक दल को सफलता वहीं प्राप्त हुई जहाँ उसका देश की आन्तरिक नीति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इगलैंड और उत्तर जर्मनी म प्रोटेस्टेंटवाद शासकों की ओर था। फ्रान्स और स्पेन में वह कुलीनों, प्रान्तो अथवा नगरो के विशिष्ट आन्दोलनो के साथ मिल गया। इन वाद-विवादों मे चाहे किसी की पराजय हुई हो, राजा जरूर जीता। निरकुश राजतन्त्र का किसी विशेष धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। धार्मिक वाद-विवादो से उसे सबसे पहले लाभ पहुँचा।

यह प्रभाव इस कारण और बढ गया था कि अधिक शक्तिशाली सुधारवादी दलो को दो मोर्चों पर लडना पड रहा था। एक तो उन्हे पोप से लडना था। इसमें उन्होंने उन समस्त सिद्धान्तो तथा तर्कों का सहारा लिया जो विलियम ऑफ ओकम के बाद म दो शताब्दियों से बराबर चले आ रहे थे। मुख्य प्रोटेस्टेंट सुधारकों को, यह कैथोलिको से भी ज्यादा जरूरी मालूम पडा कि वे धार्मिक और सामाजिक सुधार के अधिक गूढ और उग्र आन्दोलनो से अपने को अलग रखें। ये आन्दोलन वैसे तो चोरी छिपे शताब्दियो से चलते आ रहे थे, लेकिन जब स्थायी व्यवस्था में हलचल आरम्भ हुई, ये आन्दोलन फौरन सामने आ गए। अनाबपतिस्मा (Anabaptisma) और कृषक विद्रोहो का डर पैदा हो गया। सोलहवी शताब्दी का उदीयमान पूँजीपति वर्ग इन आन्दोलनो से वाद के श्रमिक आन्दोलनों की अपेक्षा अधिक घृणा करता था। इन आन्दोलनो का बडी नृशसता से दमन कर दिया गया। लूथर और काल्विन ने भी इस दमन का समर्थन किया। राजतन्त्र को उठते हुए मध्य वर्ग का समर्थन अकारण ही नहीं मिला। इसी कारण धार्मिक सुधारक भी पूरी तरह से शासकों के पक्ष म हो गए। इस प्रकार, धर्म सुधार आन्दोलन ने आर्थिक तत्त्वों के योग से राजतन्त्र को स्वदेश मे तो निरकुश शक्ति बनाया और उसे विदेश नीति के क्षेत्र में अनियन्त्रित सत्ता प्रदान की। यह यूरोपीय राज्य का एक प्रकृत रूप था।

इसके साथ ही, प्रोटेस्टेंटवाद ने आगे चलकर एक परिणाम और उत्पन्न किया जिसने विरोधी दिशा मे कार्य किया। उत्तर यूरोप के अधिकाश भागो मे उसने अपेक्षाकृत सशक्त धार्मिक अल्पसख्यको को उत्पन्न किया। इन वर्गों को आसानी से नही दबाया जा सकता था। ये वर्ग भी सत्तारूढ वर्ग की भाँति अपने लिए कुछ लाभ प्राप्त करना चाहते थे। इस प्रकार का प्रत्येक वर्ग बडी आसानी से अव्यवस्था उत्पन्न कर सकता था। प्रत्येक धार्मिक मतभेद एक राजनैतिक प्रश्न भी था। धार्मिक सहिष्णुता की नीति धीरे-धीरे ही अवतीर्ण हुई। अनुभव ने यह सिखाया

कि विभिन्न धर्मों के लोग भी समान राजनैतिक निष्ठा रख सकते हैं। इस बीच धर्म और राजनीति का सम्मिश्रण पूर्ण हो गया था। शासकों का समर्थन करना धार्मिक विश्वास की वस्तु बन गया था। किसी धार्मिक पक्ष के समर्थन का अर्थ यह था कि भिन्न धर्म के शासक की आलोचना की जाए। भिन्न मत रखने वाले और अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध सम्प्रदायों के लिए धार्मिक सुधार का अर्थ केवल यही नहीं था कि सत्तारूढ़ शासन से असहमत हुआ जाए, बल्कि यह भी था कि उसका प्रतिरोध किया जाए। वे इसे सच्चे धर्म के हित में आवश्यक समझते थे। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में सुधारकों ने उद्धर्मी पोप का विरोध करने का दावा प्रस्तुत किया था। सोलहवीं शताब्दी में उन्होंने उन उद्धर्मी राजाओं का विरोध करने का अधिकार चाहा जो अब पोप की अपेक्षा चर्च को ज्यादा बिगाड़ रहे थे। प्रश्न अब भी धार्मिक सुधार का था। लेकिन, यह धार्मिक प्रश्न के साथ-साथ राजनैतिक प्रश्न भी बन गया था।

इसलिए, राजनैतिक दर्शन का सब से प्रमुख प्रश्न यह हो गया कि क्या प्रजाजनों को अपने शासकों का विरोध करने का अधिकार है—यह विरोध अच्छे कारणों के आधार पर और ईसाई सिद्धान्तों को अविकल रखने के लिए होना—या उनका कर्तव्य और भूदार आज्ञा पालन करना ही है तथा उनका विरोध हर स्थिति में गलत है। बाद का दृष्टिकोण राजाओं के दैवी अधिकार का आधुनिक सिद्धान्त बन गया क्योंकि राजतन्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी शासन-प्रणाली में निष्क्रिय आज्ञापालन करना एक बौद्धिक प्रश्न था। दूसरी ओर प्रतिरोध के अधिकार का इस आधार पर समर्थन किया जा सकता था कि राजा अपनी शक्ति जनता से प्राप्त करते हैं और पर्याप्त कारण होने पर जनता उनसे सवाल-जवाब कर सकती है। इस प्रकार, सोलहवीं शताब्दी में ये दो सिद्धान्त प्रचलित हो गए। इन दोनों सिद्धान्तों को एक दूसरे का विरोधी समझा जाता था। परिणामों की दृष्टि से उनको एक दूसरे का विरोधी समझा जाना ठीक भी था। इस समय दोनों ही सिद्धान्त धार्मिक थे। आगे चलकर जनता के अधिकारों के सिद्धान्त को राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त की तुलना में धर्म-शास्त्र से अलग कर देना ज्यादा आसान हुआ।

स्पष्ट है कि इनमें से कोई भी सिद्धान्त नहीं था। तथापि, इन दोनों सिद्धान्तों का प्रयोग नया था। यह सिद्धान्त कि नागरिकों को अपने शासक की आज्ञा का पालन करना चाहिए ईसाई धर्म की दृष्टि में एक सद्गुण था और सन्त पॉल के समय से चला आ रहा था। किसी भी ईसाई को यह सन्देह कदापि नहीं हुआ था कि जो भी शक्तियाँ हैं, वे किसी-न किसी अर्थ में ईश्वर की हैं। लेकिन, इसका अर्थ यह अस्वीकार करना भी नहीं था कि किसी-न किसी अर्थ में जनता भी शक्ति की स्रोत होती है। ग्रिगोरी महान् की परम्परा का अनुसरण करते हुए कभी-कभी कोई मध्ययुगीन लेखक निष्क्रिय आज्ञा पालन के सिद्धान्त का समर्थन कर देता था। लेकिन, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में यह कोई सामान्य विश्वास नहीं था। दूसरी ओर, यह सामान्य सिद्धान्त कि राजनीतिक सत्ता जनता से प्राप्त होती है, किस। विशेष अर्थ में प्रतिरोध का समर्थन नहीं था। इन दो सिद्धान्तों में जिनमें से एक

राजतन्त्र का समर्थक था और दूसरा उसका विरोधी, सोलहवीं शताब्दी में विशेष रूप धारण किया।

मार्टिन लूथर

(Martin Luther)

पहले सुधारकों के बारे में रोचक बात यह है कि मूल नैतिक प्रश्न के बारे में लूथर और काल्विन प्राय दोनों का एक मत था। दोनों का विश्वास था कि शासकों का विरोध करना सभी परिस्थितियों में अनुचित है। लूथर और काल्विन के चर्चों के उत्तरकालीन इतिहास को देखते हुए यह दृष्टिकोण कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। स्काटलैंड और फ्रांस दोनों स्थानों पर काल्विन के अनुयायियों ने इस विचारधारा का प्रचार और प्रसार किया था कि धार्मिक सुधार के साधन के नाते राजनैतिक प्रतिरोध उचित होता है। स्काटलैण्ड में जॉन नॉक्स (John Knox) ने इस विचारधारा का, जो काल्विन की विचारधारा से काफी हटकर थी, प्रचार किया। काल्विन दरबार की कैथोलिक पार्टी के विरोध में लोकप्रिय सुधार आन्दोलन का नेता था। फ्रांस में भी काल्विन के अनुयायियों को कुछ ऐसी ही परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। दूसरी ओर उत्तर जर्मनी की स्थिति कुछ ऐसी थी कि निष्क्रिय आज्ञापालन करना लूथर के चर्च का एक स्थायी तत्त्व हो गया।

इस स्थिति का जो परिणाम निकला, उसमें इतिहास का एक व्यंग छिपा हुआ है। लूथर का स्वभाव कुछ ऐसा था कि उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना से काल्विन की अपेक्षा अधिक सहानुभूति होनी चाहिए थी। धार्मिक मामलों में वह बल-प्रयोग पसन्द नहीं करता था। उसके धार्मिक अनुभव को ध्यान में रखते हुए यह विचार अधिक संगत भी था।

> "विधर्मिता को बल के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। उसके लिए एक अन्य साधन की आवश्यकता है और वह साधन तलवार के तथा संघर्ष के साधन से भिन्न है। यहाँ ईश्वर के वचन को लड़ना चाहिए। यदि उससे कोई फल नहीं निकलता, तो लौकिक शक्ति इस मामले को कभी नहीं सुलझा सकती। हाँ, वह दुनिया को खून से भर सकती है।"[1]

लूथर के विचार से धर्म का वास्तविक तत्त्व आभ्यन्तरिक अनुभव में है। यह अनुभव रहस्यात्मक होता है और इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसके बाहरी रूप और पादरी वर्ग के विधि-निषेध इस उद्देश्य को प्राप्त करनेमें या तो सहायक होते हैं या बाधक। विश्वास द्वारा औचित्य और "ईसाई व्यक्ति का पादरी तत्त्व" सम्बन्धी उसके सिद्धान्तों का यही अर्थ था। यदि धर्म का यह अर्थ था, तो उसकी बल-प्रयोग द्वारा किसी भी दशा में अभिवृद्धि नहीं हो सकती थी।

---

1. "Heresy can never be kept off by force. For that another tool is needed, and it is another quarrel and coflict tnan that of sword. God's word must contend here. If that avail nothing temporal power willl never settle the matter, though it filled the world with blood." ("On Secular Authority" 1523, *Werke* Weimar ed., Vol. XI, p. 268.).

चर्च तथा राज्य के सम्बन्ध में लूथर के विचारों की परम्परा चौदहवीं शताब्दी से चली आ रही थी। उसने रोमन चर्च के ऊपर जो आरोप लगाये थे रोम के दरबार की विलास प्रियता और अनाचारी जीवन, जर्मनी के मठों आदि से प्राप्त होने वाली आय का रोम के कोष में चला जाना, जर्मनी के चर्चों में उच्च पदों पर विदेशी धर्माचार्यों की नियुक्तियाँ, पोप के न्यायाधीशों का भ्रष्टाचार और पापमोचन सम्बन्धी प्रमाणपत्रों की बिक्री, वे सब पुरानी शिकायतें से सम्बन्ध रखते थे। लूथर के तर्क का आधार यह सिद्धान्त था—इस सिद्धान्त को कौंसिलियर वाद विवाद में प्रस्तुत किया था—कि "चर्च पृथ्वी के समस्त ईसाई मतावलम्बियों की सभा है"। पादरियों के विशेषाधिकारों तथा विमुक्तियों की आलोचना करते समय उसने पुराने पोप विरोधी तर्कों का ही प्रयोग किया था। पद सम्बन्धी अन्तर केवल प्रशासनिक सुविधा के कारण हैं, समुदाय के प्रति सभी वर्गों के मनुष्यों के कर्त्तव्य हैं चाहे वे जनसाधारण हों या पादरी हों। इसलिए, कोई कारण नहीं है कि लौकिक मामलों में जनसाधारण की भाँति पादरी वर्ग भी उत्तरदायी न हो।

"यह सचमुच समझ में नहीं आता कि आध्यात्मिक विधि के अनुसार पादरी वर्ग की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और जीवन इतना ऊँचा समझा जाये मानो जनसाधारण आध्यात्मिक ईसाई ही न हों या वे चर्च के सदस्य न हों"।[1]

यद्यपि स्वभाव से लूथर धार्मिक बल प्रयोग के विरुद्ध था और वह जानता था कि धार्मिक विधि तथा पुरोहितवाद के विरोध में सच्चे ईसाई व्यक्ति को पादरी के पद पर किस प्रकार अभिषिक्त किया जाये, लेकिन वह इस बात को बिलकुल नहीं समझ सका कि धर्म धार्मिक अनुशासन और सत्ता के बिना किस प्रकार काम चला सकता है। सकोचपूर्वक लेकिन विश्वासपूर्वक वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विधर्मिता का दमन होना चाहिए और विधर्मितायुक्त शिक्षा का दमन होना चाहिए। इस स्थिति में, अपनी प्रवृत्ति के बावजूद, उसने बलप्रयोग को आवश्यक समझा। चूँकि चर्च इन दुर्बलताओं को खुद ठीक नहीं कर सका था, इसलिए इन दुर्बलताओं को ठीक करने की जिम्मेदारी लौकिक शासकों के ऊपर आ गई।

"लेकिन सबसे अच्छा और एकमात्र अवशिष्ट उपाय यह रह गया है कि राजा, शासक कुलीन, नगर और समुदाय धर्म-सुधार आरम्भ कर दें। जब जब वे ऐसा करेंगे, तो बिशप और पादरी जो इस समय डरते हैं, विवेक का अनुसरण करने के लिए विवश हो जायेंगे।"[2]

लूथर का अब भी इस प्राचीन धारणा में विश्वास था कि यह संकट का सामना करने के लिए एक अस्थायी पद्धति है। उसने कहा है कि राजा और शासक "आवश्यकतावश बिशप" हैं। लेकिन उसके रोम से सम्बन्ध विच्छेद करने का व्यावहारिक परिणाम यह हुआ कि लौकिक शासन अपने आप ही सुधार का साधन

1. "To the Nobility of the German Nation, 1520 (trans by Wace and Bucheim), Werke, Vol VI, p 410

2 "On Good Works", (1520, trans by W A Lambert) Werke, Vol VI, p 258

बन गया और वही यह निर्णय करने लगा कि सुधार क्या किया जाये। वह शासन को विधर्मिता का निर्णायक नहीं बनाना चाहता था। लेकिन, जो शक्ति किसी चीज को लागू करती है, वह उसकी व्याख्या भी करती है। लूथर ने इन्हीं परिस्थितियों में राष्ट्रीय चर्च के निर्माण में सहायता दी। सामान्य परिस्थितियों में लूथर इसे धार्मिक दुष्टता समझता।

जब लूथर धर्म-सुधार की सफलता के लिए शासकों के ऊपर निर्भर हो गया, तो उसके लिए यह भी आवश्यक हो गया कि वह इस विचार को माने कि प्रजाजनों को अपने शासकों की आज्ञाओं का सविनय भाव से पालन करना चाहिए। यद्यपि लूथर स्वयं स्वतन्त्रचेता था और उसका धार्मिक स्वतन्त्रता में विश्वास था, इस दृष्टिकोण को अपनाने से उसके धार्मिक विश्वासों के ऊपर कोई असर नहीं पड़ा। उसकी राजनीति में बहुत कम दिलचस्पी थी। राजनीति में वह परिस्थितियों से बाध्य होकर ही रुचि लेता था। स्वभावतः, उसके मन में नागरिक सत्ता के प्रति महान् आदर का भाव था। वह हिंसा और राजद्रोह के द्वारा राजनैतिक दबाव डालने का विरोधी था। लूथर व्यक्तियों का नहीं, प्रत्युत् पद का आदर करता था। उसने एक बार शासकों के सम्बन्ध में कहा था कि वे "पृथ्वी पर सबसे बड़े मूर्ख और सबसे अधिक दुष्ट हैं।" लूथर का जनसाधारण में भी विश्वास नहीं था।

"इस संसार के शासक देवता हैं और सामान्य मनुष्य शैतान हैं। सामान्य मनुष्यों के माध्यम से ईश्वर कभी कभी ऐसे कार्य करता है जो वह सीधे शैतान के माध्यम से करता। उदाहरण के लिए वह मनुष्य के पापों के दंड के तौर पर विद्रोह करवाता है।"

"मैं जनता के न्यायपूर्ण कार्य की तुलना में शासक के अन्यायपूर्ण कार्य को सहन कर लूँगा।"[1]

जैसी कि आशा की जा सकती है, निष्क्रिय आज्ञापालन के कर्तव्य के सम्बन्ध में उसका आग्रह जितना जोरदार हो सकता था, उतना जोरदार था।

"शासन चाहे उचित कार्य करे या अनुचित, ईसाई व्यक्ति के लिए यह अनुचित नहीं है कि वह उसका विरोध करे।"

"अपने से ऊँचे लोगों की आज्ञा का पालन करना और उनकी सेवा करना, इससे अच्छा और कोई नहीं है। इसलिए, अवज्ञा, हत्या, अपवित्रता, चोरी और बेईमानी, इन सबसे बड़ा पाप है।"[2]

यह सही है कि अन्यान्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी लूथर की राजनैतिक विचारधारा बहुत संगत नहीं थी। उसके निष्क्रिय आज्ञापालन के सिद्धान्त में भी कुछ कठिनाइयाँ थीं। जिन शासकों के ऊपर वह निर्भर था, वे कम-से-कम विधि के अनुसार तो सम्राट् के प्रजाजन ही थे। इस स्थिति में उसे यह मानने के लिए विवश होना पड़ा कि यदि सम्राट् अपनी साम्राज्य-सत्ता से बढ़ जाए, तो उसका प्रतिरोध

1. Quoted by Preserved Smith. *The Age of the Reformation* (1920), pp. 594 f

2. ' On Good Works" (trans. by W. A Lambert), Werke, Vol. VI, p 250.

किया जा सकता है। उसका यह कथन उसके निष्क्रिय आज्ञापालन के सामान्य सिद्धान्त के प्रतिकूल था। लेकिन, शासकों के ऊपर सम्राट् की वास्तविक शक्ति केवल नाममात्र की थी। इसलिए, इस असंगति का व्यवहार में कोई विशेष महत्त्व न था। सब मिलाकर लूथर निश्चित रूप से इस सिद्धान्त का समर्थक था कि शासन सत्ता का विरोध करना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।

लूथर के सिद्धान्त का प्रभाव उसके उद्देश्य से बिलकुल भिन्न निकला। वह धर्म में काल्विन की अपेक्षा अधिक उदार था। उसने ऐसे लूथरवादी राजकीय चर्चों की स्थापना की जो राजनैतिक शक्तियों द्वारा नियन्त्रित थे और राज्य की शाखाएँ थे। सार्वभौम चर्च के विघटन, उसकी धार्मिक संस्थाओं और धार्मिक निगमों के दमन तथा धार्मिक विधि के अन्त ने लौकिक शक्ति के ऊपर से उन मध्यतम प्रतिबन्धों को हटा दिया जो मध्ययुग में वर्तमान रहे थे। लूथर ने धार्मिक अनुभूति की ऐकान्तिकता पर जोर दिया। उसने सांसारिक शक्ति को चुपचाप शिरोधार्य करने की प्रवृत्ति का विकास किया। सम्भवतः, धर्म ने आध्यात्मिकता में उन्नति की, लेकिन राज्य ने शक्ति में उन्नति की। रहस्यवाद की भावना से ओतप्रोत लूथर के चर्चों की विनम्रता उस धर्म के विरोध में थी जो काल्विन के चर्चों में विकसित हुआ। यहाँ सांसारिक गतिविधि और सांसारिक सफलता भी ईसाई कर्तव्यों में परिगणित की गयी।

काल्विनवाद और चर्च की शक्ति

(Calvinism and the Power of the Church)

हालैण्ड, स्काटलैण्ड और अमेरिका में काल्विन के चर्चों ने सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप में प्रतिरोध के सिद्धान्त का विकास किया। यह अन्तर स्वयं काल्विन के इरादे पर निर्भर नहीं था। निष्क्रिय आज्ञापालन में लूथर की भाँति उसका भी विश्वास था। वह जर्मन सुधारक की अपेक्षा अधिक कानूनी और सत्तावादी था। जहाँ तक काल्विन की धार्मिक विचारधारा के अन्तर का सम्बन्ध है, इसका लूथर से परोक्ष सम्बन्ध था और भिन्न परिस्थितियों में उसका इतिहास भिन्न होता। मुख्य बात यह है कि काल्विनवाद मुख्य रूप से, फ्रांस और स्काटलैण्ड में सरकारों के विरोध में था और इस बात की कोई उम्मीद नहीं थी कि वह उनका समर्थक बन जाए या उन्हें हथिया ले। काल्विन ने प्रतिरोध की दुष्टता के सम्बन्ध में भी कुछ जोरदार वक्तव्य दिए थे। ये वक्तव्य जिनेवा में स्वाभाविक थे और फ्रांस में भी उस समय तक उचित थे जब तक कि सफल सुधार की आशा थी। बाद में जब यह आशा पूरी नहीं हुई, उसके अनुयायियों ने इन वक्तव्यों को ओझल हो जाने दिया और उनके स्थान पर बिलकुल विरोधी वक्तव्यों को मान्यता दी। जॉन नॉक्स (John Knox) ने काल्विन की छोटी-मोटी शिक्षाओं से लाभ उठाने का प्रयास किया, लेकिन इससे स्थिति में कोई सार परिवर्तन नहीं हुआ।

अपने प्रारम्भिक रूप में काल्विनवाद ने न केवल प्रतिरोध का ही समर्थन किया, बल्कि यह उदारवाद, संविधानवाद तथा प्रतिनिधिक सिद्धान्तों, इन सब के

विरुद्ध था। जहाँ उसे स्वतन्त्र क्षेत्र प्राप्त था, वहाँ उसने एक विशिष्ट धर्मतन्त्र (Theocracy) का विकास किया। यह धर्मतन्त्र एक प्रकार का अल्पतन्त्र था जो पादरी वर्ग तथा कुलीन वर्ग के गठबन्धन से बनता था। जनसाधारण को इससे अलग रखा जाता था। सामान्य रूप से यह अनुदार, दमनमूलक और प्रतिक्रियावादी था। जेनेवा में काल्विन का शासन इसी प्रकार का था। मेसाचुसेट्स ने प्यूरिटन शासन का भी कुछ यही रूप था। यह सही है कि सिद्धान्त रूप में काल्विन राज्य और चर्च के समन्वय का विरोधी था। इसी आधार पर उसने ज्यूरिख में ज्विंग्ली के सुधार का विरोध किया था। इसीलिए, काल्विन के समर्थकों ने इंगलैण्ड में राजा को राष्ट्रीय चर्च का प्रधान बनाने का सदैव विरोध किया। इसका उद्देश्य यह नहीं था कि राज्य पादरियों के प्रभाव से मुक्त रहे, बल्कि इसका कारण बिलकुल उल्टा था। चर्च को अपने सिद्धान्तों और आचारों को निश्चित करने का पूरा अधिकार होना चाहिए। उसे दुराग्रही अनुयायियों के ऊपर अपना अनुशासन लागू करने में लौकिक शक्ति का पूरा समर्थन प्राप्त होना चाहिए। जेनेवा में धर्म-बहिष्कार का परिणाम यह होता था कि व्यक्ति कोई पद नहीं धारण कर पाता था। मेसाचुसेट्स में नागरिक अधिकार केवल चर्च के सदस्यों तक ही सीमित थे। इस दृष्टि से काल्विन का चर्च सम्बन्धी सिद्धान्त राष्ट्रीय कैथोलिकों की तुलना में मध्ययुगीन धर्मवाद के अधिक निकट था। यही कारण है कि राष्ट्रीय चर्चों के सदस्यों को काल्विनिस्ट और जेसुएट एक ही वस्तु के दो नाम प्रतीत होते थे। दोनों ही आध्यात्मिक सत्ता को उच्च और स्वतन्त्र मानते थे और दोनों का ही यह विचार था कि कट्टरता और नैतिक अनुशासन के बारे में उनके निर्णयों को लौकिक शक्ति कार्यान्वित करे। काल्विन शासन ने ईसाई परम्परा की दो तलवारों को चर्च में रखा और लौकिक सत्ता का निदेशन लौकिक शासकों को नहीं बल्कि पादरी वर्ग के हाथों में सौंपा। इसका परिणाम था : सन्तों का एक असह्य शासन : इसमें राज्य अपने भेदियों द्वारा व्यक्ति के अन्तरग से अन्तरग कामों का पता रखता था, सार्वजनिक व्यवस्था को कायम रखने, व्यक्तिगत आचारों पर नियन्त्रण रखने और शुद्ध सिद्धान्त तथा उपासना की रक्षा करने में बहुत कम अन्तर था।

काल्विन के धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों—निर्वाचन और उपसम्पदा (fore-ordination) का भी—उनके इन व्यावहारिक परिणामों से सम्बन्ध था। यह सिद्धान्त कि मनुष्यों का बचाव केवल अपनी योग्यता के आधार पर ही नहीं होता, बल्कि ईश्वरीय कृपा से फलस्वरूप होता है, मनुष्य के सारे प्रयत्नों को व्यर्थ करता प्रतीत होता है। लेकिन, वास्तव में इसका बिलकुल उल्टा असर हुआ। काल्विन के धर्म में रहस्यवाद और शान्तिवाद की वह कोई झलक नहीं थी जो लूथर के धार्मिक अनुभव में छिपी हुई थी। वास्तव में काल्विन का नीति शास्त्र कर्म का नीति-शास्त्र था। काल्विन के धर्म का मूलमन्त्र था—मनुष्य ईश्वर का चुना हुआ उपकरण है। मनुष्य की इच्छा को फौलादी और उसके हृदय को कठोर बनाने के लिए इससे अच्छा और कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता था। काल्विन के नियतिवाद के सिद्धान्त का सार्वभौम दुर्घटना की वर्तमान धारणा से कोई सम्बन्ध नहीं था। काल्विन का तो कुछ ऐसा

विश्वास था कि सारे संसार में धर्म-नैतिक अनुशासन छाया हुआ है। काल्विन ने संसार और मनुष्य के ऊपर ईश्वर की प्रभुसत्ता का भरपूर बखान किया है। उसने मनुष्य को प्रेम की उतनी शिक्षा नहीं दी जितनी आत्म नियन्त्रण, अनुशासन और जीवन-संग्राम में अपने साथियों के प्रति सम्मान की दी। ये ही प्युरिटन धर्म की सार्वभौम नैतिक शिक्षाएँ बन गईं। इस नीतिशास्त्र ने ही काल्विन के धर्म को प्रोटेस्टेंट धर्म का विशेष रूप से उग्र नाम बना दिया। निर्वाचन की दृष्टि उस नैतिक सुधारक की स्वेच्छाचारी वृत्ति के काफी अनुकूल पड़ती थी जिसने पतित मानवजाति के उद्धार का बीड़ा उठा रखा था।

अग्रव्यवस्था (fore-ordination) का सिद्धान्त सन्तों के हाथों में शासन की शक्ति देने का सिद्धान्त था। काल्विन में लूथर की रहस्यात्मक धार्मिक अनुभूति का अभाव था। इस प्रकार से काल्विन ने लौकिक संस्थाओं को अधिक महत्त्व दिया। लूथर की दृष्टि में इन संस्थाओं का केवल सांसारिक महत्त्व था। इसका अभिप्राय चर्च की स्वतन्त्रता नहीं था, बल्कि इससे बिलकुल उल्टा था। वे "मुक्ति के बाहरी साधन हैं।" इसलिए, शासन का पहला कर्तव्य यह है कि वह ईश्वर की शुद्ध उपासना कायम रखे और मूर्तिपूजा, नास्तिकता, तथा अधर्म जैसी बुराइयों का निवारण करे। काल्विन ने लौकिक शक्ति के कर्तव्यों पर रोचक प्रकाश डाला है। उसका कहना है—

"जब तक हम मनुष्यों के बीच में रहते हैं, लौकिक शासन का यह कर्तव्य है कि वह ईश्वर की बाहरी उपासना का समर्थन और विकास करे, शुद्ध धर्म और चर्च के सम्मान की रक्षा करे, हमारे जीवन को मानव समाज के अनुकूल बनाए, हमारे आचरण को न्यायसंगत करे, मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता स्थापित करे और सम्पूर्ण समाज में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखे।"

यह सही है कि काल्विन ने ईसाई धर्म के इस पुराने सिद्धान्त को दोहराया कि सच्चे धार्मिक विश्वास को बलपूर्वक आरोपित नहीं किया जा सकता लेकिन उसने व्यवहार में नैतिकता लागू करने की राज्य की शक्ति के ऊपर कोई अंकुश नहीं रखा।

काल्विन ने आचारों और सिद्धान्तों के ऊपर एक प्रकार का कठोर नियन्त्रण और अनुशासन स्थापित कर दिया। उसने पादरी वर्ग के ऊपर प्रबल प्रभाव डाला। काल्विन का सिद्धान्त अन्य प्रोटेस्टेंट सिद्धान्तों से एक बात में और आगे बढ़ा हुआ था—यह औपचारिकता का विरोधी था और साथ ही उसमें चर्च शासन में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को भी कुछ स्थान था। चर्च के मुख्य पदाधिकारी वरिष्ठ सदस्यों द्वारा चुने जाते थे। इस पद्धति के द्वारा नियन्त्रण लागू करने में आसानी होती थी। काल्विन का उद्देश्य न तो यही था कि चर्च में लोकतन्त्र की स्थापना की जाए और न यही था कि पादरी वर्ग के प्रभाव को कम किया जाए। काल्विनवाद के प्रारम्भिक रूपों में भी ऐसा नहीं किया गया था। सिद्धान्त में चर्च की शक्ति सम्पूर्ण ईसाई समाज के ऊपर थी। जेनेवा में इस शक्ति का प्रयोग एक शासक-मण्डल करता था जिसमें कुछ पादरी तथा टाउन कौंसिल द्वारा नाममात्र को चुने गए बारह वरिष्ठ प्रतिनिधि होते थे। वास्तव में पादरी वर्ग की शक्ति असीम थी, प्रतिनिधित्व

तो केवल नाममात्र का ही था। यह विचार था कि शासक मण्डल सम्पूर्ण चर्च की शक्ति का प्रयोग करता है। शुरू में वरिष्ठ सदस्य समस्त धर्मावलम्बियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। वे इस अर्थ में तो बाद में प्रतिनिधि बने जब प्रेसबिटेरियन चर्चों ने निर्वाचन की योजना ग्रहण की। बाद की धार्मिक संस्थाओं की बैठकों में जिस रूप में स्वशासन दिखाई देने लगा था, काल्विन के चर्च में वह भी नहीं था।

तथापि, स्काटलैंड में काल्विनवाद में प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त कुछ इस तरह आ गया था कि राजनैतिक दृष्टि से उसका महत्त्व था। स्काटलैंड के चर्च की सामान्य सभा अपनी शाखाओं और उपशाखाओं के सहित वहाँ की संसद् से अधिक प्रतिनिधिक थी। स्काटलैंड की संसद् का संगठन अभी सामन्ती ही था। स्काटलैंड में धर्म सुधार मुख्य रूप से एक लोकप्रिय और राष्ट्रीय आन्दोलन था। वह कैथोलिक राजदरबार और कुलीन वर्ग के, जिसका फ्रांस से घनिष्ठ सम्बन्ध था, विरुद्ध था। लेकिन इसका कारण यह नहीं था कि काल्विनवाद शुरू में जनता के अधिकारों अथवा प्रतिनिधित्व का समर्थक था। राजनैतिक दृष्टि से उसका ऐसा कोई उद्देश्य न था। चर्च के शासन में विशेषताएँ बाद में ही आ सकी थीं।

काल्विनवाद राजतन्त्र का भी विरोधी था। लेकिन, यह किसी सकारात्मक दृष्टिकोण का परिणाम न होकर नकारात्मक दृष्टिकोण का परिणाम था। यह बात सच थी, सोलहवीं शताब्दी के उत्तरकाल में लोग इसको सच मानते भी थे कि काल्विनवाद चर्च की ऐसी किसी शासन प्रणाली का निरूपण नहीं करता था जो राष्ट्रीय चर्च का रूप धारण कर लेगी और जिसका लौकिक प्रधान कोई राजा होगा। इसका कारण यह था और इसकी हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि काल्विन आध्यात्मिक शक्ति को लौकिक शक्ति से उच्चतर मानता था और इसलिए वह पादरी वर्ग को राजकीय चर्च के लौकिक प्रधान के नियन्त्रण से भी स्वतन्त्र रखना चाहता था। काल्विनवाद और कैथोलिक धर्म में इस दृष्टि से मुख्य अन्तर यह था कि काल्विनवाद ने तो चर्च को सामान्य रूप से स्वायत्तशासी बना दिया था और आध्यात्मिक शक्ति बिशपों के हाथ में नहीं रखी थी। राष्ट्रीय चर्चों में बिशपों को रोम से अलग कर दिया गया था। अब वे चर्च में राजकीय शासन चलाने के सबसे उपयुक्त साधन हो गए थे। इन परिस्थितियों में राष्ट्रीय चर्चों ने बिशपों की शासन-प्रणाली (episcopalianism) को अपनाया। राजा जेम्स के इस सूत्र का कि "बिशप नहीं, राजा नहीं", यही कारण था। यह सूत्र काल्विनवादी प्रेसबिटेरियन चर्चों के लम्बे और सूक्ष्म अनुभव पर आधारित था। इन्हीं कारणों से काल्विनवाद का चर्च शासन विरोधी दलों को मान्य रहा। वह जनता में प्रिय नहीं हुआ। यद्यपि वह राजतन्त्र का विरोधी नहीं था लेकिन राजतन्त्र से उदासीन जरूर था। दूसरी ओर राजतन्त्र को अधिक अनुकूल चर्च शासन प्राप्त हो सकते थे।

काल्विन और निष्क्रिय आज्ञापालन
(Calvin and Passive Obedience)

काल्विन के राजनैतिक विचारों का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि उसने कुल मिलाकर निष्क्रिय आज्ञापालन का दृढ़तापूर्वक आग्रह किया है। इस क्षेत्र में

वह लूथर से साथ सहमत है। चूंकि, लौकिक शक्ति मुक्ति का बाहरी साधन है, इसलिए शासक का पद अत्यन्त सम्माननीय है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है और उसका विरोध करना ईश्वर का विरोध करना है। व्यक्तिगत आदमी का शासन करने का कर्तव्य नहीं है। इसलिए, उसके लिए यह तर्क करना कि राज्य की सबसे अच्छी स्थिति क्या है, बेकार है। यदि किसी चीज में सुधार करना आवश्यक है, तो उस यह बात अपने बड़ों से कहनी चाहिए। उसे खुद सुधार में हाथ नहीं डालना चाहिए। उसे अपने बड़ों के आदेश के बिना कोई काम नहीं करना चाहिए। यदि कुछ लोगों को खराब शासक मिलता है तो यह उनके पाप के कारण है। लोगों को खराब शासक का भी उसी भाव से आज्ञापालन करना चाहिए जिस भाव से वे अच्छे शासक का आज्ञापालन करते हैं। इसका कारण यह है कि लोग व्यक्ति का आज्ञापालन नहीं करते, वे पद का आज्ञापालन करते हैं। वास्तविक गौरव पद का ही है। यह सही है कि सोलहवीं शताब्दी के राजाओं के दैवी अधिकार के समस्त समर्थकों की भांति काल्विन ने भी प्रजाजनों के प्रति राजाओं के कर्तव्यों का समाख्यान किया है। विधाता की प्रशस्त विधि जिस प्रकार प्रजाजनों के ऊपर लागू होती है, उसी प्रकार शासकों के ऊपर भी। निकृष्ट शासक ईश्वर का विद्रोही होता है। अपने परवर्ती लॉक (Locke) की भांति उसका भी यह विचार था कि व्यवहार विधि नैतिक रूप से अनुचित कार्यों के लिए दण्ड की व्यवस्था करती है। लेकिन, निकृष्ट शासक को दण्ड देना ईश्वर का काम है, प्रजाजनों का नहीं। काल्विन के लिए यह दृष्टिकोण ग्रहण करना स्वाभाविक ही था—कुछ तो जेनेवा में उसकी स्थिति देखते हुए और कुछ इस आशा के कारण कि शायद काल्विन का धर्म फ्रांस के राजाओं का धर्म माना जाए।

काल्विन के राजनैतिक प्रतिरोध के सिद्धान्त में एक तत्त्व ऐसा था जो स्वयं काल्विन की रचनाओं में तो कम महत्त्व रखता था लेकिन जिसका उसके अनुयायियों ने आगे चलकर विपुल विस्तार किया। उसने बताया कि कुछ संविधानों में कतिपय 'छोटे शासक' होते हैं जिनका कर्तव्य राज्य के प्रधान के अत्याचारों का विरोध करना और उनसे जनता की रक्षा करना होता है।[1] वह प्राचीन रोम के लोक ट्रिब्यूनो जैसे पदाधिकारियों के सम्बन्ध में विचार कर रहा था। जहाँ संविधान इस प्रकार के छोटे शासकों का उल्लेख कर देता है, प्रतिरोध का अधिकार सीधे ईश्वर से प्राप्त हो जाता है। वह जनता का प्रतिरोध करने का सामान्य अधिकार नहीं रहता। प्रभुसत्ता सभी शासकों के पास संयुक्त रूप में रहती है। यदि एक शासक इसका अतिक्रमण करता है तो दूसरा शासक इस अतिक्रमण को रोक देता है। छोटे शासकों के इस सिद्धान्त को काल्विन के कुछ अनुयायियों ने बहुत अधिक महत्त्व दिया। एक बार निष्क्रिय आज्ञापालन का सिद्धान्त छोड़ दिया गया। सबसे पहले यह स्काटलैंड में छोड़ा गया था और इसके बाद फ्रांस में—*वहीं प्रतिरोध करने का अधिकार* निजी व्यक्तियों के पास नहीं प्रत्युत् छोटे शासकों अथवा जनता के स्वाभाविक नेताओं के पास रह गया। यह सिद्धान्त जाता में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त

1 *Institutes*, IV. XX, 31

का ही सौम्य रूप था। काल्विन ने जनता के अधिकारों के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया था। शासक का यह दायित्व कि वह विधिसम्मत रीति से शासन करे, ईश्वर के प्रति है जनता के प्रति नहीं। उसकी शक्ति ईश्वर के कानून द्वारा मर्यादित है, जनता के अधिकारों द्वारा नहीं। यदि किसी शासन में ईश्वर के प्रतिरोध का अधिकार स्वीकृत है, तो यह अधिकार ईश्वर की ओर से आता है, जनता की ओर से नहीं।

यह बात अपेक्षाकृत कम महत्त्व की है कि काल्विन के अपने राजनैतिक विचार राजतन्त्रात्मक न होकर अभिजाततन्त्रात्मक थे। उसके दर्शन में केवल एक राजा के लिए ही स्थान था। वह राजा ईश्वर था। इसलिए, वह राजनैतिक शक्ति के लिए किसी एक व्यक्ति या परिवार के चुनाव को दैवी राजतन्त्र के खिलाफ मानता था। उसके इस विचार को प्राचीन अभिजाततन्त्रात्मक गणराज्य के मानवतावादी अध्ययन से बल मिला था। इन्स्टीट्यूट्स में उसकी रुचि को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उसने मिश्रित शासन के सम्बन्ध में पोलिबियस के प्राचीन तर्क को फिर से दुहराया था। उसने आनुवंशिक राजतन्त्र की सिसरो की भाँति ही कठोर आलोचना की है। उसकी लोकतन्त्र की निन्दा प्लेटो की तरह ही कड़वी है। उसने अनाबापटिस्टों की भी भर्त्सना की है और उन्हें "भूसे के चूहे" बताया है। काल्विन के अपने सामाजिक और राजनैतिक विचार अभिजाततन्त्र की ओर भुके हुए थे। यह काल्विनवाद का सामान्य आग्रह रहा। हाँ, उसके कुछ वामपक्षी सम्प्रदायों में इससे कुछ भिन्न विचार उपलब्ध होते हैं।

काल्विन का राजनैतिक सिद्धान्त कुछ अस्थिर सी चीज था। इसका कारण यह नहीं था कि काल्विन का सिद्धान्त असम्बद्ध रहा हो। इसका वास्तविक कारण यह था कि उस पर परिस्थितियों का बड़ी आसानी से प्रभाव पड़ सकता था। एक ओर तो उसने सविहित सत्ता के प्रति किए जाने वाले समस्त विरोध को दुष्टतापूर्ण बताया। लेकिन, दूसरी ओर उसका मूल सिद्धान्त यह था कि चर्च को शुद्ध सिद्धान्त की घोषणा करने का और लौकिक शक्ति की सहायता से सार्वभौमिक नियन्त्रण स्थापित करने का अधिकार है। यह एक माना हुआ निष्कर्ष था कि यदि किसी राज्य का शासक काल्विन द्वारा प्रतिपादित सत्य को स्वीकार नहीं करेगा और अनुशासन को लागू नहीं करेगा तो उसे अपने प्रजाजनों के आज्ञापालन का अधिकार नहीं रहेगा और प्रजाजनों के लिए उसका विरोध करना आवश्यक हो जाएगा। जहाँ शासन को बदलने का कम अवसर होता और प्रतिरोध के द्वारा ज्यादा लाभ की उम्मीद होती है, वहाँ इस परिणाम की आसानी से उम्मीद की जा सकती थी। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरकाल में स्काटलैंड और फ्रांस दोनों देशों में काल्विन के अनुयायियों को इसी स्थिति का सामना करना पड़ा।

जॉन नॉक्स
(John Knox)

इस स्थिति को सबसे पहले जॉन नॉक्स ने बदला। इसका कारण यह नहीं था कि जॉन नॉक्स कुछ विशेष मौलिक था। इसका प्रधान कारण स्काटलैंड में प्रोटेस्टेंट

धर्म की विशेष परिस्थितियाँ थीं। १५५८ में स्काटलैंड के कैथोलिक धर्माधिकारियों ने नॉक्स को देशनिकाला दे दिया और उसे मृत्यु का दंड दिया। इस समय भी नॉक्स के प्रोटेस्टेंट अनुयायियों की संख्या काफी थी। स्काटलैंड का राजा फ्रांस का मित्र था और कट्टर कैथोलिक था। इन परिस्थितियों में नॉक्स को प्रतिरोध के सिद्धान्त से ही कुछ लाभ हो सकता था। उसे अन्य किसी नीति से लाभ होने की कोई आशा नहीं थी। नॉक्स ने इन्हीं साधनों से दो साल के भीतर ही स्काटलैंड में धर्म-सुधार सम्पन्न किया। उसने स्काटलैंड के कुलीनों, धर्माचार्यों और जनसाधारण के नाम अपनी एक अपील निकाली। इस अपील में उसने बताया कि प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह सद्धर्म का पालन करे। जो लोग जनता को उसकी आत्मा का भोजन नहीं देते या उसे ईश्वर के वचनों से वंचित रखते हैं, उन्हें प्राणदंड मिलना चाहिए।

मूलतः, नॉक्स काल्विन के सिद्धान्तों से नहीं हटा। उसने ईसाई सिद्धान्त की काल्विन द्वारा की गई अकाट्य व्याख्या को स्वीकार किया और यह भी माना कि जो लोग चर्च के अनुशासन को इच्छापूर्वक स्वीकार नहीं करते, उनके खिलाफ चर्च को कठोर कार्यवाही करनी चाहिए। प्रत्येक ईसाई का यह कर्तव्य है कि वह अपने धर्म का और उसके अनुशासन का दृढ़तापूर्वक पालन करे। नॉक्स यहाँ तक तो काल्विन के सिद्धान्त को मानता है। इसके आगे वह उसमें कुछ संशोधन करता है। स्काटलैंड में कैथोलिक रानी का कैथोलिक रीजेंट है। यह रीजेंट सद्धर्म को स्वीकार करता है और मूर्तिपूजा अर्थात् कैथोलिक धर्म को मानता है। इस स्थिति में सच्चे धर्म के अनुयायी क्या करें? नॉक्स ने जोर देकर कहा कि जहाँ राजा ईश्वर के वचन सम्मान और गौरव के प्रतिकूल जाता है, वहाँ उसका दमन आवश्यक है। इन परिस्थितियों में उसने काल्विन के निष्क्रिय आज्ञापालन के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया।

"आजकल सब मनुष्यों का सामान्य गीत यह है कि हमें अपने राजाओं का आज्ञापालन करना चाहिए चाहे वह अच्छे हों या बुरे क्योंकि ईश्वर ने ऐसा ही आदेश दिया है। लेकिन जिन लोगों ने ईश्वर के नाम को इस तरह से कलंकित किया है, ईश्वर उन्हें दण्ड देगा। जब राजा अन्याय करते हैं तो यह कहना कि ईश्वर ने उनकी आज्ञापालन का आदेश दिया है, नास्तिकता है और यह नास्तिकता उसी प्रकार की है जैसे यह कहना कि ईश्वर ने संसार में अन्याय का सृजन किया और वह उसे बनाए हुए है। मूर्तिपूजा, नास्तिकता और ऐसे ही अन्य अपराधों का दण्ड केवल उन राजाओं और शासकों को ही नहीं मिलता जो इन्हें करते हैं। जो लोग राजाओं को ऐसा करने से नहीं रोकते वे भी अपराधी हैं और इसलिए दंड के पात्र हैं।"[1]

नॉक्स के कुछ कथनों में ऐसा आभास मिलता है मानो राजा अपनी शक्ति निर्वाचन के द्वारा प्राप्त करते हों और इसलिए वे जनता के प्रति उत्तरदायी हैं।[2]

---

1 *Appellation* · *Works* (ed Laing) Vol IV, pp 400 601 यह अपील जिनेवा में लिखी गई थी। क्रिस्टोफर गुडमैन ने अपने ग्रन्थ *How superior Powers ought to be obeyed* में जो इसी वर्ष प्रकाशित हुआ था, इसी प्रकार के विचार प्रकट किए हैं। सम्भवतः, दोनों व्यक्तियों ने सहयोग से कार्य किया था। देखिए J W. Allen, *Political Thought in the Sixteenth Century* (1928), p 110

2 *The Second Blast of the Trumpet* (1558)

लेकिन यह बात साफ नहीं है। मुख्य बातें दो हैं। एक—उसने काल्विन के इस सिद्धान्त को छोड़ दिया कि प्रतिरोध हमेशा गलत होता है। दो—उसने धार्मिक सुधार के लिए प्रतिरोध का समर्थन किया है। उसका दृष्टिकोण धार्मिक कर्त्तव्य के आधार पर टिका हुआ था लोक अधिकारों के आधार पर नहीं। इसके कारण काल्विन का एक सम्प्रदाय राजकीय व्यक्ति के खिलाफ हो गया और उसने विद्रोह को उचित ठहराया दूसरा कदम फ्रांस में उठा वहाँ धार्मिक विद्रोह ने काल्विन के दल को कैथोलिक राजतन्त्र के खिलाफ कर दिया। यहाँ इस सिद्धान्त का विकास हुआ कि राजा की शक्ति जनता से प्राप्त होती है और राजा जनता के प्रति उत्तरदायी है। लेकिन, अभी तक यह प्रश्न धर्म से ही जुड़ा हुआ था। फ्रांस के क्रांतिकारी या राजतन्त्र विरोधी विचारों का विकसित रूप *Vindiciae contre tyrannos* जैसी कृति में देखा जा सकता है।

Selected Bibliography

A History of Political Thought in the Sixteenth Century By J W Allen London 1928 Part I

Calvins Staatsanschauung und das konfessionelle Zeitalter By Hans Baron Berlin 1924

"*Calvin and the Reformed Church*" By A M Fairbairn. In *The Cambridge Modern History*, Vol II (1903), Ch XI

Das Naturrecht bei Luther und Calvin By Alfred Grobmann Harburg Wilhelmburg 1935

Der Staat in Calvins Gedankenwelt By Hans Mauscher Leipzig 1923

The Social and Political Ideas of Some Great Thinkers of the Renaissance and the Reformation Ed F J C Hearnshaw, London 1925 Chs VII and VIII

John Ponet (1516 ?—1556) By Winthrop S Hudson Chicago 1942

"Luther" By T M Lindsay In *The Cambridge Modern History* Vol II (1903) Ch IV

Calvin and the Reformation By James Mackinnon London, 1936

"The Anglican Settlement and the Scottish Reformation" By F W Maitland In *The Cambridge Modern History*, Vol. II (1903) ch XVI

The Political Consequences of the Reformation By Robert H Murray, London 1926

The Life and Letters of Martin Luther By Preserved Smith Second edition Boston 1914

The Age of the Reformation By Preserved Smith New York, 1920

The Social Teaching of the Christian Church By Ernest Troeltsch Trans by Olive Wyon 2 Vols London 1931 Ch III

The Political Theories of Martin Luther By H L Waring New York 1910

The Protestant Ethics and the Spirit of Capitalism By Max Weber Trans. By Talcott Parsons, London, 1930

राजतन्त्र-समर्थक और राजतन्त्र-विरोधी सिद्धान्त

(Royalist and Anti-Royalist Theories)

जिस समय १५६४ में काल्विन की मृत्यु हुई थी, धार्मिक युद्धों के लिए भूमि तैय्यार हो गई थी। लूथर के शब्दों में, इन युद्धों ने संसार को रक्त से भर दिया। जर्मनी में राज्यक्षेत्र के बँटवारे से वहाँ के विभिन्न शासकों के बीच संघर्ष शुरू हो गया। इस अवस्था में धार्मिक स्वतन्त्रता के मूल प्रश्न पर आग्रह करने का अवकाश न रहा। नीदरलैंड में उसने विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह का रूप धारण किया। स्पेन की तरह इगलैण्ड में भी राजकीय शक्ति की उच्चता ने सत्रहवीं शताब्दी में देश को गृह युद्ध से बचा लिया। लेकिन, फ्रांस और स्काटलैण्ड में दल-संघर्ष हुआ जिसने इन राष्ट्रों की स्थिरता के लिए खतरा पैदा कर दिया। फ्रांस में १५६२ और १५९८ के बीच आठ गृहयुद्ध हुए। इन गृहयुद्धों में सेंट बार्थोलोम्यू (St. Bartholomew) का हत्याकांड हुआ और दोनों तरफ से काफी खून-खराबी हुई। इससे न केवल सुव्यवस्थित शासन में ही बाधा पैदा हुई, बल्कि खुद सभ्यता के लिए ही संकट पैदा हो गया। इन परिस्थितियों में राजनीति का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस में लिखा गया। आगामी शताब्दी में इगलैण्ड में गृहयुद्धों में जिस चिन्तन का निरूपण किया गया था, वही उसके विरोध की मुख्य बातें सामने आईं। जनता के प्रतिरोध के अधिकार का सिद्धान्त और राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त आधुनिक राजनैतिक सिद्धान्तों के रूप में फ्रांस में ही आरम्भ हुए।

फ्रांस में धार्मिक युद्ध

(Religions Wars in France)

सामान्य रूप से इगलैण्ड और फ्रांस का राजनैतिक विकास एक सा ही था। हाँ, उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर थे। इन दोनों ही देशों में नवीन राजतन्त्र ने राष्ट्रीय एकता का निर्माण किया और आधुनिक केन्द्रीकृत शासन को जन्म दिया। इगलैण्ड में राजतन्त्र का काम आसान था। वहाँ जातीय और स्थानीय स्वतन्त्रता की भावना फ्रांस की तुलना में कमजोर थी। फ्रांस में राजा की शक्ति केवल गृहयुद्ध के बाद ही बढ़ सकी थी। इसके विपरीत, फ्रांस में इगलैण्ड की तरह संसदीय परम्परा भी नहीं थी। यद्यपि ट्यूडरों के शासन में कुछ समय के लिए संसद की शक्ति निष्प्राण हो गई थी लेकिन आखिर में वह अपने पैरों पर उठी हुई और उसने राष्ट्रीय सरकार का रूप धारण किया। इन दोनों देशों में राष्ट्रीय एकीकरण की स्थापना भिन्न भिन्न रीतियों से हुई थी। इसलिए, उनका राजनैतिक चिन्तन भी भिन्न भिन्न रूपों में विकसित हुआ। चूँकि इगलैण्ड में मोलटाँ

शताब्दी में राजा की शक्ति को कोई खास खतरा पैदा नहीं हुआ था, इसलिए वहाँ राजकीय निरंकुशता अथवा राजा की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता का सिद्धान्त विकसित नहीं हुआ। इसके विपरीत, फ्रांस में सोलहवीं शताब्दी के अंत तक यह सिद्धान्त प्रभावी हो गया। जिस समय इंगलैण्ड में सत्रहवीं शताब्दी में राजा की शक्ति का विरोध बढ़ा, उस समय विवाद राजा और राष्ट्रीय संसद् के बीच में था। फ्रांस में ऐसा होना सम्भव नहीं था। फ्रांस में राजा की निरंकुशता के सम्पन्न होने का कारण यह था कि उसका मध्ययुगीन स्थानवाद (particularism) से सम्बन्ध था जो केन्द्रीकृत राष्ट्रीय शासन से मेल नहीं खाता था।

फ्रांस में तथा अन्य स्थानों पर धार्मिक मतभेदों का आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों से गहरा सम्बन्ध हो गया था। फ्रांस में पहले केन्द्रीकृत राजतन्त्र था। मैकियावेली ने इसे सर्वश्रेष्ठ राजतन्त्र बताया था। लेकिन, सोलहवीं शताब्दी तक आते-आते इसमें अनेक बुराइयाँ पैदा हो गई थीं। कराधान और न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी अनेक दोषों तथा राजकर्मचारियों की अहम्मन्यता ने एक प्रकार की प्रतिक्रिया को प्रारम्भ कर दिया था। प्रांतों, कुलीनों, न्यूनाधिक रूप से स्वशासी नगरों और मध्ययुगीन संस्थाओं के विशेषाधिकारों ने केन्द्रीकृत राजशक्ति की अपेक्षाकृत आधुनिक संस्थाओं को कमजोर कर दिया था। इन में से कोई प्रश्न विशिष्ट रूप से प्रोटेस्टंट अथवा कैथोलिक नहीं था, लेकिन दोनों ही धार्मिक पक्षों ने उनका यथा अवसर अपनी स्वार्थपूर्ति में प्रयोग किया। ह्यू गेनाट (Huguenots) की यह बड़ी दुर्बलता थी कि वे सामान्य रूप से राजा के विरोध में स्थानीय विशेषाधिकारों के समर्थक थे। राजनैतिक विकास का एक स्थायी मोड़ इस तथ्य से प्रकट होता है कि राजा की व्यक्तिगत दुर्बलता के बावजूद, गृहयुद्धों के बाद राजमुकुट और भी शक्तिशाली रूप में अवतीर्ण हुआ। आगे चलकर उसने प्रतिक्रिया और क्रांति दोनों को पराजित कर दिया। सोलहवीं शताब्दी के अंत में राजकीय निरंकुशता के प्रचलित सिद्धान्त के अन्तर्गत कारगर केन्द्रीकरण सम्भव हो सका। धार्मिक क्षेत्र में इसका अभिप्राय राष्ट्रीय कैथोलिक धर्म की विजय था। यह जेसुइटों द्वारा प्रतिपादित पोपशाही के दावों के भी विरुद्ध था और काल्विनिस्टों द्वारा प्रतिपादित स्थानवाद की शक्तियों के भी।

फलतः, गृह-युद्ध प्रारम्भ होने के बाद फ्रांस में जिस राजनैतिक साहित्य का निर्माण हुआ, वह मुख्य रूप से दो प्रकार का था। एक ओर तो वे रचनाएँ थीं जो राजपद के गौरव का बखान करती थीं। सोलहवीं शताब्दी के अंत तक इन्होंने राजा के दैवी अधिकार का रूप धारण कर लिया था। इस सिद्धान्त ने राजसिंहासन के प्रति राजा के अलघ्य अधिकार का प्रतिपादन किया और इस बात पर जोर दिया कि राजा को यह अधिकार सीधे ईश्वर से प्राप्त होता है। राजसिंहासन के प्रति राजा का अधिकार वंश उत्तराधिकार के सिद्धान्त के अनुसार मर्यादित होता है। इस सिद्धान्त के दो मुख्य तत्त्व थे—प्रजाजनों को सैद्धांतिक मतभेदों के बावजूद अपने शासक की आज्ञा का आँख मूंद कर पालन करना चाहिए। दूसरे पोप जैसी किसी बाहरी शक्ति को यह अधिकार नहीं होना चाहिए

कि वह राजा को अपदस्थ कर दे। एक ओर तो ऐसे अनेक राजतन्त्र विरोधी सिद्धान्त थे जिनके अनुसार राजा की शक्ति जनता से प्राप्त हुई थी।[1] इन सिद्धान्तों के अनुसार जनता कुछ परिस्थितियों में राजा का विरोध कर सकती है। राजतन्त्र विरोधी इन सिद्धान्तों का सबसे पहले ह्यूगेनाट लेखकों ने विकास किया। इन सिद्धान्तों का प्रोटेस्टेंट धर्म से कोई खास सम्बन्ध नहीं था। यह सारा साहित्य बड़ा विवादास्पद था। इस विवाद में विभिन्न पक्ष परिस्थितियों के अनुसार अपने पैंतरे बदल देते थे।[2]

राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का सब से पहले प्रतिपादन राजा के विरोध को उचित ठहराने वाले तर्क के जवाब में किया गया था। यहाँ हम सब से पहले राजतन्त्र विरोधी सिद्धान्त का निरूपण कर दें। इस सम्बन्ध में सब से महत्वपूर्ण रचनाएं फ्रेंच प्रोटेस्टेंटों की हैं। ये रचनाएँ सेंट बार्थोलोम्यू के हत्याकाण्ड के बाद प्रकाशित हुई थीं। यह हत्याकाण्ड १५७२ में हुआ था। इस तरह की कुछ रचनाएँ फ्रांस से बाहर भी प्रोटेस्टेंट लेखकों ने की थीं। जेसुइट लेखकों की रचनाएँ फ्रांस की नहीं थीं। उनका मुख्य तर्क पोप की सत्ता का समर्थन करना था। लेकिन इन रचनाओं को हम एक वर्ग में रख सकते हैं। निष्कर्ष रूप में हम बतलाएंगे कि राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त, जहाँ तक फ्रांस का सम्बन्ध था, इस वाद-विवाद के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुआ था।

राजा की निरंकुशता के सम्बन्ध में प्रोटेस्टेंटों का आक्षेप
(The Protestant Attack on Absolutism)

ह्यूगेनाट लेखकों ने राजा की निरंकुश शक्ति का विरोध दो आधारों पर किया था। उनके यह आधार अन्य स्थानों पर भी अपनाए गए, खास तौर पर इंगलैंड में। उनका पहला तर्क संवैधानिक तर्क था जिसे वे इतिहास पर आधारित बतलाते थे। इस तर्क ने मध्य युग की प्रथा का हवाला दिया। मध्य युग में राजा की शक्ति केन्द्रित नहीं थी। यह तर्क कुछ हद तक सही भी था क्योंकि इस बात को बड़ी आसानी से सिद्ध किया जा सकता था कि निरंकुश राजतन्त्र की संस्था अपेक्षाकृत नई थी। लेकिन, दुर्भाग्यवश, मध्ययुगीन शासन संवैधानिक नहीं था। यह तर्क सोलहवीं

---

1. विलियम बर्कले ने अपने *De regno et regali potestate* (1600) ग्रन्थ में मोनार्कोमाक (monarchomach) नामक शब्द का आविष्कार किया था। इस शब्द के द्वारा एक ऐसे लेखक की व्यंजना होती थी जो प्रतिरोध के अधिकार का समर्थन करता था। इस शब्द द्वारा राजतन्त्र के सम्बन्ध में किसी विशेष आपत्ति की व्यंजना नहीं होती थी।

2. जब वेलोइस वंश की विफलता से यह स्पष्ट हो गया कि नवारे का प्रोटेस्टेंट हेनरी राजसिंहासन पर बैठेगा, तो कुछ राजतन्त्रविरोधी कैथोलिक लेखकों ने कुछ समय पूर्व प्रोटेस्टेंटों द्वारा प्रयुक्त तर्क का प्रयोग किया। इस सम्बन्ध में मुख्य रचनाएँ दो थीं। एक तो बाउचर की *De Justa Henrici III abdicatione* (1589) और दूसरी किसी अपेक्षाकृत अपरिचित लेखक की जो अपने को रोसेयस कहता है, *De Juste republicae christianae in reges impios hereticos potestate* (1590)

सदी मे लागू नही हो सकता था। इसलिए, ऐतिहासिक तर्क का कोई खास महत्व न रहा। इससे विरोधी की स्थिति जरूर खराब हो जाती थी क्योंकि उसे यह सिद्ध करना पडता था कि उसका राजसिंहासन के प्रति अधिकार विधिसम्मत है। लेकिन इससे किसी चीज का निर्णय नही हो पाता था। राजतन्त्र के विरोध का दूसरा आधार दार्शनिक था। राजनैतिक शक्ति के दार्शनिक आधारो का हवाला देकर यह सिद्ध किया जा सकता था कि निरकुश राजतन्त्र उन सार्वभौम सिद्धान्तों के विरुद्ध है जो समस्त न्यायसगत शासको के मूल मे रहते हैं। यह दोनो प्रकार के तर्क एक-दूसरे से पूर्णत असम्बद्ध भी नही थे। इन दोनों की उत्पत्ति मध्यकाल में ही हुई थी। प्राकृतिक विधि मे विश्वास सभी का था। यह परम्परा सोलहवीं शताब्दी तक राजनैतिक दर्शन की प्रत्येक धारा के माध्यम से आई थी। नये राजतन्त्र की विधिहीनता ने इसका महत्त्व और भी बढा दिया था। ऐतिहासिक तर्क ने निहित रूप से यह भी मान लिया था कि प्राचीन काल के रीति-रिवाज भी प्राकृतिक अधिकारों का बल रखते हैं।

ह्यूगेनॉट पक्ष की सवैधानिक सिद्धान्त मे विशेष आस्था नही थी। फ्रास के राजा की शक्तियो पर काफी समय से वाद विवाद होता रहा था। इन शक्तियों पर प्राकृतिक विधि अथवा प्रयागत विशेषाधिकारो ने अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे थे, यह बात कई बार कही जा चुकी थी। गृह-युद्ध से पहले आधुनिक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त जैसा कोई सिद्धान्त जिसमे राजा को विधि बनाने की सार्वभौम शक्ति हो, नहीं था। गृह-युद्ध ने सुव्यवस्थित और केन्द्रीकृत शासन के लिए खतरा पैदा कर दिया था। यह सिद्धान्त इसी खतरे के कारण पैदा हुआ था। विशेष रूप से यह बात कई बार कही गई थी कि राजा की शक्ति राज्य की न्यायिक व्यवस्था द्वारा मर्यादित थी। पार्लमेंट राजाज्ञाओ को दर्ज करना या उन्हें लागू करना अस्वीकार कर सकती थी। स्टेट्स जनरल सम्पूर्ण राज्य का प्रतिनिधित्व करती थी और उसका अधिकार था कि कराधान तथा विधान के मामलो मे उससे राय ली जाए। इनमे से पहला राजा की शक्ति के ऊपर अधिक गम्भीर नियन्त्रण था। प्राचीन अथवा स्थानीय विशेषाधिकारों के कारण भी राजा की शक्ति के ऊपर नियन्त्रण था।

सवैधानिक सिद्धान्त के ऊपर लिखने वाले ह्यूगेनाट लेखको मे सबसे प्रसिद्ध लेखक फ्रानिस हॉटमैन (Hotman) था। उसने १५७३ मे *Franco Gallia* नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। यह उन बहुत सी पुस्तिकाओ मे से एक था जो सेंट वार्थोलोम्यू के हत्याकाड के बाद प्रकाशित हुई थी। यह हत्याकाड इससे एक वर्ष पूर्व ही होकर चुका था। यह पुस्तक फ्रास का सवैधानिक इतिहास थी जिसमे यह दिखाया गया था कि फ्रास मे निरकुश राजतन्त्र कभी नही रहा था। हॉटमैन का तो यहाँ तक कहना था कि आनुवंशिक उत्तराधिकार की प्रथा थोडे समय पूर्व ही पैदा हुई है और यह केवल जनता की गर्भित सहमति के ऊपर ही आधारित है। उसका यह भी विचार था कि राजा निर्वाचित होता है और उसकी शक्तियाँ स्टेट्स जनरल द्वारा मर्यादित थी। स्टेट्स जनरल सम्पूर्ण राज्य का प्रतिनिधित्व करती है। हॉटमैन ने अपनी इस मान्यता के समर्थन मे अनेक पूर्वोदाहरण दिए थे। हॉट-

मैन का तर्क मध्ययुगीन संविधानवाद के सिद्धान्त पर आधारित था। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनैतिक संस्थाएँ उन प्राचीन प्रथाओं से उत्पन्न होती हैं जो खुद समुदाय के मूल में निहित रहती हैं। इस दृष्टि से जनता की सहमति जो इन प्रथाओं में प्रकट होती है, राजनैतिक शक्ति का वास्तविक आधार है। राजा भी अपनी शक्ति समुदाय का प्रतिनिधि होने के नाते ही प्राप्त करता है। तथापि, हॉटमैन का यह मुख्य तर्क कि फ्रांस में राजकीय शक्ति पर राजा के साथ ही स्टेट्स जनरल का भी नियन्त्रण रहता था, ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं था। तात्कालिक परिस्थितियों में इसका कोई व्यावहारिक महत्त्व भी नहीं था। इसका कारण यह था कि स्टेट्स जनरल राष्ट्रीय संसद का रूप धारण नहीं कर सकती थी। ह्यूगेनाट पक्ष का या अन्य किसी पक्ष का स्टेट्स जनरल की गौरव वृद्धि से कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता था।

दार्शनिक ढंग का सिद्धान्त जो राजा की शक्ति पर सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर प्रतिबन्ध लगाता था अधिक रोचक भी था और महत्त्वपूर्ण भी। सेंट बार्थोलोम्यू के हत्याकांड के वर्षों में फ्रेंच प्रोटेस्टेंटों ने इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किए। इन समस्त ग्रन्थों में यह कहा गया था कि राजाओं का निर्माण मानव समाज करता है। राजा मानव समाज के कुछ विशेष प्रयोजनों को पूरा करते हैं। इसलिए उनकी शक्ति सीमित रहती है। इस चीज का फ्रांस के काल्विनवाद के ऊपर कितना प्रभाव था, यह इस बात से सिद्ध होता है कि इनमें से एक पुस्तिका की रचना, यद्यपि यह पुस्तिका अज्ञात नाम से ही प्रकाशित हुई थी, काल्विन के मित्र और जीवनी लेखक थियोडोर बेजा (Theodore Beza) ने की थी। उस समय थियोडोर बेजा काल्विन के उत्तराधिकारी के रूप में जेनेवा में शासन के प्रधान थे।[1] परिस्थितियों ने नॉक्स (Knox) की भाँति ही बेजा को भी इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह न केवल काल्विन की शिक्षा को ही, बल्कि निष्क्रिय आज्ञा-पालन के सम्बन्ध में अपने पहले के विश्वासों को भी बदल दे। उसने सतर्कतापूर्वक लेकिन काफी स्पष्टतापूर्वक छोटे दण्डनायकों (व्यक्तिगत नागरिकों के नहीं) के इस अधिकार को स्वीकार किया कि वे अत्याचारी शासक का विरोध कर सकते हैं विशेषकर सच्चे धर्म की रक्षा में। इन समस्त रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध रचना विंडिकिआए काँट्रा टिरेनोस (Vindiciae Contra Tyrannos) थी। यह १५७९ में प्रकाशित हुई थी।[2] पिछले कुछ वर्षों में जो तर्क दिए जा रहे थे, इस पुस्तक ने उन्हें

1. De jure magistratuum in subditos, *Du droit des magistrats sur les sujets* नाम से फ्रेंच में भी प्रकाशित, शायद १५७४ में। व एल्कन ने *Die Publizistik der Bartholomaeusnacht* (१९०५) में इसके लेखक के बारे में चर्चा की है। pp 46 ff

2. १५८१ में इसका फ्रेंच संस्करण और १६४८ में अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ था। इसके बाद भी इसके अनेक अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। हेरल्ड जे० लास्की ने इसे १९२४ में अपनी भूमिका सहित, A Defence of Liberty against Tyrants के नाम से प्रकाशित किया था। यह पुस्तक स्टीफेन जूनियस ब्रूटस के छद्म नाम से प्रकाशित की गई थी। इसके

व्यवस्थित रूप दिया। विंडिकिग्राए क्रान्ति सम्बन्धी साहित्य में एक सीमा चिह्न बन गई। जब राजा और जनता का विरोध तीव्र हुआ, तो इसे इंग्लैंड में तथा अन्यत्र बार-बार छापा गया। इस पुस्तक की सावधानी से परीक्षा करने की आवश्यकता है, यह जानने के लिए कि यह अपने समय के फ्रांस की स्थिति का कहाँ तक सही चित्रण करती है और यह भी जानने के लिए कि यह उत्तरकालीन लोक अधिकारों के सिद्धान्त के कहाँ तक निकट है।

विंडिकिग्राए कान्ट्रा टिरेनॉस
(Vindiciae Contra Tyrannos)

विंडिकिग्राए के चार खण्ड थे। प्रत्येक खण्ड में तत्कालीन राजनीति के एक आधारभूत प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया गया था। एक, यदि शासक ईश्वरीय नियम के विरुद्ध कोई आदेश देते हैं, तो क्या प्रजाजन उस आदेश का पालन करने के लिए बाध्य हैं? दो क्या ऐसे शासक का विरोध करना जायज है जो ईश्वरीय नियम को रद्द करना चाहता है या जो चर्च को निष्प्राण कर देता है? यदि हाँ, तो यह कार्य कौन करे, किन साधनों से करे और किस सीमा तक करे? तीन, जो शासक राज्य का दमन या विनाश कर रहा हो, उसका किस सीमा तक, किसके द्वारा, किन साधनों से और किस अधिकार से विरोध करना उचित है? चार, जब शासक अपने प्रजाजनों का दमन करता है या उनको कष्ट देता है उस समय क्या पड़ोसी शासक इन प्रजाजनों की सहायता कर सकते हैं या सहायता करने के लिए बाध्य हैं?

इन प्रश्नों को गिनाने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक की मुख्य दिलचस्पी किस बात में थी। उसकी मुख्य दिलचस्पी खाली शासन में नहीं थी बल्कि शासन और धर्म के सम्बन्ध के बारे में थी। उसने अपने ग्रन्थ के केवल तीसरे भाग में ही राज्य के सामान्य सिद्धान्त के बारे में विचार किया है। यहाँ भी राजनीति उभर कर सामने नहीं आई है। इस सम्पूर्ण पुस्तक में एक ऐसी स्थिति की कल्पना की गई थी जिसमें शासक एक धर्म का मानने वाला हो तथा उसके प्रजाजन दूसरे धर्म के हों। लेकिन, वह यह नहीं समझ सका कि शासक के धर्म के अन्तर का उसके सार्वजनिक कर्तव्यों पर कोई असर नहीं पड़ना चाहिए। यदि लेखक यह बात समझ

असली लेखक के बारे में सोलहवीं शताब्दी से ही वाद-विवाद रहा है। बेल्ज की *Dictionary* में प्रकाशित एक लेख के फलस्वरूप पहले इसका लेखक हबर्ट लैंगुएट को माना जाता था। इस पर १८८७ में मैक्स लासेन ने Proceedings of the Royal Academy of Bavaria में एक लेख छपाया था। इसके बाद से इसका लेखक प्रायः फिलिप डू प्लेसिस मार्ने (Philippe du Plessis Mornay) को माना जाता है। अर्नेस्ट बार्कर ने Cambridge Historical Journal *Vol III (1930), pp 160 ff* में प्रकाशित अपने लेख *The Authorship of the Vindiciae Contra tyrannos* में लैंगुएट (Languet) के दावे का पुनरुद्धार किया है। जे० डब्ल्यू० एलेन (J W Allen) ने अपने ग्रन्थ *History of Political Thought in the Sixteenth Century* (1928), p 319, n, में इन दोनों मन्तव्यों में सन्देह प्रकट किया है। इस प्रकार का समस्त फ्रेंच रचनाओं के लिए देखिए, Allen, *op cit*, pp 312 ff

लेता, तो यह समस्या अपने आप सुलझ सकती थी। वह यह मानकर चला था कि शासक को शुद्ध धर्म की रक्षा करनी चाहिए। इसके साथ ही उसका तर्क काल्विन के मत से ऊपर बहुत ही कम आधारित था। जेनेवा में जैसा धर्मतन्त्र था, फ्रांस में ह्यूगेनॉट उसे नहीं चाहते थे। विंडिकिआए का राजनीति दर्शन विलियम ऑफ ओकम या कसीलियरवादियों जैसे पोप विरोधी लेखकों की रचनाओं से साम्य रखता है। शासक समुदाय का सेवक है और समुदाय अपने जीवन के लिए जो आवश्यक समझे, कर सकता है।

विंडिकिआए के सिद्धान्त ने दो समझौतों की कल्पना की। एक समझौते में एक पक्ष तो ईश्वर है और दूसरा पक्ष संयुक्त रूप से राजा और जनता है। इस समझौते के द्वारा समाज चर्च बन जाता है। वह ईश्वर के प्रिय पात्रों का रूप धारण कर लेता है और इस बात के लिए बाध्य हो जाता है कि ईश्वर की समुचित रीति से उपासना करे। ईश्वर के साथ यह समझौता नॉक्स द्वारा प्रतिपादित काल्विन-वाद के संशोधित रूप से निकटतम साम्य रखता है। दूसरे समझौते के सम्बन्ध में एक पक्ष जनता है और दूसरा पक्ष राजा। यह राजनैतिक समझौता है जिसके द्वारा जनता राज्य का रूप धारण करती है। समझौते की शर्तों के अनुसार राजा प्रतिज्ञा करता है कि वह अच्छी तरह शासन करेगा और न्यायपूर्वक शासन करेगा। जनता भी राजाज्ञा का उसी समय तक पालन करेगी जब तक कि राजा अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है। लेखक ने इन दो समझौतों की आवश्यकता इसलिए महसूस की थी क्योंकि वह धार्मिक कर्तव्य को क्रान्ति का सबसे बड़ा कारण मानता था। उसका मुख्य उद्देश्य विधर्मी राजा पर दबाव डालना था। राजनैतिक दृष्टि से लेकिन राजनैतिक दृष्टि हम सभी ग्रहण कर सकते हैं जबकि धार्मिक प्रश्न को राजनैतिक से अलग कर दें—ईश्वर के साथ किया गया समझौता सिद्धान्त के ऊपर एक बोझ सा था। यदि हम इस समझौते को हटा दें तो केवल शासक और समुदाय के बीच का राजनैतिक समझौता रह जाता है। इस समझौते का मूलतत्त्व है कि शासन समुदाय के लिए होता है और इसलिए राजनैतिक समझौता केवल सीमित तथा शर्ती होता है। लेकिन, ईश्वर के साथ वाले समझौते को हटाने के लिए राजनैतिक बुद्धिवाद की जरूरत थी जो विंडिकिआए के लेखक के पास नहीं था।

विंडिकिआए का संविदा सिद्धान्तवाद के संविदा सिद्धान्त से एक बात में और भिन्न था। लेखक को इस सिद्धान्त में कि राजा की शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है और इस सिद्धान्त में कि यह शक्ति जनता के साथ किए जाने वाले समझौते से पैदा होती है, कोई विषमता नहीं दिखाई दी। दूसरे शब्दों में दैवी अधिकार के सिद्धान्त ने अभी निष्क्रिय आज्ञापालन के सिद्धान्त से मैत्री नहीं की थी जिसके फलस्वरूप कि कोई लेखक ईश्वर के प्रति राजा के उत्तरदायित्व को स्वीकार कर यह अर्थ नहीं निकाल सकता था कि राजा अपनी जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं था। इसीलिए, विंडिकिआए के लेखक को यह कहने में भी संकोच नहीं हुआ कि राजा की शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है। उसने राजपद के दैवी अधिकार को उन अधिकारों से पृथक् रखा जो राजा जनता से समझौता करके प्राप्त करता है। इसी प्रकार राजा

के विधिसम्मत आदेशों को पालन करने का कर्त्तव्य धार्मिक कर्त्तव्य होने के साथ ही साथ समझौते के आधार पर लागू होने वाला कर्त्तव्य भी है। अस्तु, विंडिकिया ने शासन को लौकिक सिद्धान्तो पर प्रतिष्ठित नहीं किया। दैवी अधिकार के सिद्धान्त की भाँति उसने भी पूरी तरह से धार्मिक सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया।

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत जिस तर्क का अनुसरण किया गया था, वह विधि-वाद और *धार्मिक अधिकार का विचित्र सम्मिश्रण था।* असैनिक विधि द्वारा स्वीकृत संविदा के रूपो को ऐसा माना जाता है मानो वे प्रकृति की व्यवस्था के अंग हों और इस प्रकार वे सार्वभौमिक रूप से ठीक हो। ईश्वर को जैसी उपासना पसन्द है उसकी व्यवस्था करने के लिए वह एक रीति अपनाता है जो ऋणदाता ऋण वसूल करने के लिए अपनाया करता है। पहली दो संविदाओं में राजा और जनता दोनों एक सूत्र मे बँधे हैं मानो जनता राजा के लिए जामिन बन गई हो। इसलिए, यदि राजा गलती करता है तो उपासना की पवित्रता के लिए जनता जिम्मेदार है। धार्मिक सत्ता के पक्ष मे लेखक ने प्रसंविदा के उस रूपक का प्रयोग किया है जिसके द्वारा यहूदी ईश्वर के प्रिय लोग बन गए थे।[1] ईसाई संवत् में सभी ईसाई लोग यहूदियों के स्थान पर खड़े हैं और इसलिए वे ईश्वर के प्रिय पात्र हैं। दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि वे सच्ची उपासना और सच्चे धर्म के लिए वचनबद्ध हैं। लेखक ने एक और तर्क का प्रयोग किया है। यह तर्क स्वामी और सेवक के सामन्ती सम्बन्ध से सादृश्य रखता है। इन दोनों ही संविदाओं मे राजा की शक्ति प्रत्यायित मालूम पड़ती है। पहले मे वह ईश्वर के द्वारा प्रत्यायित है और दूसरे में जनता द्वारा। राजा को यह शक्ति कुछ उद्देश्यो के लिए मिली है और वह इस शक्ति को उन उद्देश्यों को पूरा करने पर ही अपने पास रख सकता है। इसलिए, ईश्वर और जनता उच्च हैं। राजा उनकी सेवा के लिए बाध्य है। राजा के प्रति दायित्व सीमित है और सशर्त है।

"इस प्रकार सभी राजा राजाधिराज के दास हैं। वे तलवार के द्वारा अपने पद पर प्रतिष्ठित किए गए हैं। यह तलवार उनकी राजकीय सत्ता की प्रतीक है। उन्हें इस तलवार से अच्छे लोगों की रक्षा करनी चाहिए और बुरे लोगों को दण्ड देना चाहिए। सामान्य व्यवहार में भी हम देखते हैं कि प्रभुसत्ता सम्पन्न स्वामी अपने दासों को तलवार तथा अन्य हथियार इसलिए देता है ताकि वे आवश्यकता पड़ने पर उन हथियारों को लेकर उसके लिए युद्ध करें।"[2]

विंडिकिआए मे इस तरह के अवतरण अनेक हैं और वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ये अवतरण हाटमैन तथा उस जैसे अन्य लेखको के ऐतिहासिक तर्क से साम्य रखते हैं। वे यह प्रकट कर देते हैं कि राजा की सीमित प्रभुसत्ता का सिद्धान्त मध्ययुगीन चिन्ताधारा को देखते हुए स्वाभाविक था। एक तरह से वह पुराने राजनैतिक सिद्धान्तों की ओर उन्मुख प्रतिक्रिया के रूप मे था। दूसरी ओर वह आधुनिक निरंकुशता-वादियो के खिलाफ था।

---

1. Kings, XI, 17, XXIII, 3, 2 Chronicles, XXIII, 16
2. Ed. by Laski, pp. 70 f.

विंडिक्शिआए के तर्क की इन मुख्य धारणाओं के विवरण से यह समझना सुगम हो जाता है कि राजा की शक्ति का उचित रीति से किस प्रकार विरोध किया जा सकता है। प्रत्येक ईसाई को यह मानना चाहिए कि उसका कर्तव्य राजा की आज्ञा का पालन करना नहीं बल्कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है। चूँकि राजा की शक्ति इसी शर्त पर आधारित है कि वह सच्ची उपासना का समर्थन करेगा, इसलिए, यदि राजा ईश्वर की विधि का उल्लंघन करता है या चर्च को नुकसान पहुँचाता है तो उसका विरोध करना स्पष्ट रूप से विधिसम्मत है। वास्तव में यह विधिसम्मत से कुछ अधिक है। यह एक ठोस कर्तव्य है। धर्म और उपासना की पवित्रता को कायम करने के लिए राजा के साथ साथ जनता भी उत्तरदायी है। राजा की गलती से सारी जिम्मेदारी लोगों के ऊपर आ जाती है। यदि लोग राजा का विरोध नहीं करते तो वे खुद अपराधी बन जाते हैं और राजा के पाप के बदले में खुद दण्ड के भागी हो जाते हैं।

दूसरा समझौता राजा और जनता के बीच में है। यह समझौता लौकिक शासन के अन्तर्गत अत्याचार का विरोध करना उचित ठहराता है। यद्यपि राजाओं की प्रतिष्ठा ईश्वर करता है, तथापि ईश्वर इस मामले में जनता के माध्यम से कार्य करता है। यहाँ भी विंडिक्शिआए में व्यवहार विधि के समझौते के समस्त रूप स्वीकार कर लिए गए हैं। जनता कुछ शर्तें निर्धारित करती है जिनका पालन करने के लिए राजा बाध्य है। जनता राजा की आज्ञा पालन करने के लिए उसी समय तक बाध्य है जब तक कि राजा इन शर्तों को पूरा करता है अर्थात् वह न्यायपूर्ण और विधि-सम्मत शासन की स्थापना करता है। लेकिन, राजा को अपने कर्तव्यों का पालन हर हालत में करना है। यदि वह इन शर्तों का पालन नहीं करता, तो समझौता भंग हो जाता है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि शासक को शक्ति जनता देती है। शासक के पास यह शक्ति उसी समय तक बनी रहती है जब तक कि जनता उससे खुश हो। समस्त राजा वास्तव में निर्वाचित होते हैं। यह दूसरी बात है कि आजकल आनुवंशिक उत्तराधिकार की प्रथा चल पड़ी है। यदि इस तर्क को हम इसके संदर्भ से जरा अलग कर लें तो यह लॉक के और बाद के अमेरिकी और फ्रेंच क्रान्तियों के सिद्धान्तों के निकट का सादृश्य रखता है लेकिन विंडिक्शिआए में मुख्य संदर्भ धार्मिक विग्रह का था। विंडिक्शिआए के लेखक ने बाद के संविदावादी लेखकों की भाँति ही उपयोगितावादी तर्क पर जोर दिया है। उसका कहना है कि जनता ने राजपद को इसलिए स्वीकार किया क्योंकि राजपद से अनेक लाभ हैं। शासन प्रजाजनों के हित के लिए है। यदि शासन प्रजाजनों के हित के लिए न हो तो प्रजाजन राजाओं की आज्ञा का पालन करने का बोझ अपने ऊपर क्यों लें ?

''सर्वप्रथम इस बात को हर कोई मानता है कि लोग स्वभाव से ही स्वतन्त्रता से प्रेम करते हैं और दासता से घृणा। वे आज्ञापालन करना नहीं बल्कि आज्ञा देना ज्यादा पसन्द करते हैं। वे अपनी राजी से ही अपने प्राकृतिक अधिकार को छोड़कर दूसरे का आदेश मानने के लिए योंही तैयार नहीं हो गए। वे इस काम के लिए इसीलिए तैयार हुए हैं कि उन्हें इससे कुछ लाभ की आशा है। [illegible] यह भी नहीं मानना चाहिए कि राजाओं का चुनाव इसलिए हुआ है कि वे अपने

प्रजाजनों के परिश्रम से उपार्जित वस्तुओं का अपने लाभ के लिए प्रयोग करें। हर आदमी को अपनी चीज प्रिय होती है।"[1]

लेकिन, विंडिकियाए का मुख्य तर्क उपयोगितावादी नही था। राजा की शक्ति को सीमित करने का मुख्य आधार यह है कि वह प्रकृति की विधि और देश की विधि, दोनो के अधीन है। वह विधि के ऊपर निर्भर है, विधि उसके ऊपर निर्भर नहीं है। लेखक ने विधि के प्रति मध्य युग की समस्त श्रद्धा प्रकट की है। विधि की प्रशंसा में स्टोइकों के समय से जो कुछ कहा जाता रहा था, लेखक ने उस सब को दुहरा दिया है।

"विधि विवेक और ज्ञान है। वह सब प्रकार की विकृतियों से परे है। वह किसी व्यक्ति की बाधा, घृणा या व्यक्तियों की स्वीकृति से प्रभावित नहीं है। सच बात तो यह है कि विधि एक विवेकशील मस्तिष्क है। वह बुद्धि-विभ्रम का शत्रु है। वह समस्त प्रतिभावानों का आधार है। यह दैवी स्वरूप है। जो कोई विधि का आदेश मानता है वह ईश्वर का आदेश मानता है। ऐसे व्यक्ति के शीश पर सदैव ईश्वर का हाथ रहता है।"[2]

विधि राजा से नहीं जनता से आती है और इसलिए उसे जनता के प्रतिनिधियों की सहमति से ही बदला जा सकता है। राजा लोगों के जीवन और सम्पत्ति के साथ विधि के अनुसार ही व्यवहार कर सकता है। वह अपने प्रत्येक कार्य के लिए विधि के प्रति उत्तरदायी है।

संविदा सिद्धान्त का यह मूल तत्त्व है कि शासक अपने शासन की वैधानिकता और न्यायपरायणता के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। अत्याचारी राजा को राजपद का अधिकार नहीं रहता। इसलिए यह निर्णय करना जरूरी हो जाता है कि इस राजपद के अधिकार का कौन प्रयोग करे। यहाँ लेखक ऐसे शासक के बीच जिसने शासन-सत्ता को बलपूर्वक हड़प लिया हो और जिसे राजपद का वास्तविक अधिकार न हो तथा एक ऐसे विधिसम्मत राजा के बीच जो अत्याचारी हो गया हो, प्राचीन परम्परा के अनुसार ही भेद करता है। व्यक्तिगत नागरिक केवल पहले प्रकार के शासन का ही विरोध कर सकता है और उसे मार सकता है। दूसरी अवस्था में प्रतिरोध का अधिकार सम्पूर्ण जनता को एक सामूहिक संस्था के रूप में प्राप्त है। यह अलग-अलग व्यक्तिगत नागरिकों को प्राप्त नहीं है। जहाँ तक व्यक्तिगत नागरिकों का सम्बन्ध है उन्हें राजा की आज्ञा का हर हालत में पालन करना चाहिए। इस स्थापना में विंडिकियाए के लेखक ने काल्विन का अनुसरण किया है। यदि सम्पूर्ण जनता सामूहिक रूप से प्रतिरोध करती है तो उसे अपने स्वाभाविक नेताओं, छोटे दण्डनायकों, सामन्तों और स्थानीय तथा नागरिक पदाधिकारियों के माध्यम से कार्यवाही करनी चाहिए। केवल दण्डनायक को अथवा उस व्यक्ति को जिसकी स्थिति उसे समुदाय का स्वाभाविक संरक्षक बनाती हो, राजा का प्रतिरोध करना चाहिए।

प्रतिरोध के अधिकार का यह चरण विंडिकियाए के वास्तविक प्रयोजनों पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इसमें लोक-अधिकारों के सिद्धान्त का समर्थन नहीं

---

1. pp 139 f
2. pp 145 f.

किया। इसकी प्रवर्त्तक ह्यूगेनोट पार्टी लोक-अधिकारों के पक्ष में नहीं थी। वह तो वास्तव में राजकीय शक्ति के समतावादी प्रभाव के विरोध में नगरों और प्रान्तों के अधिकारों (या प्राचीन विशेषाधिकारों) की समर्थक थी। विंडिकिआए की भावना जनतन्त्रात्मक नहीं प्रत्युत् कुलीनतन्त्रात्मक थी। उसके अधिकार व्यक्तियों के नहीं बल्कि सामूहिक संस्थाओं के अधिकार थे। उसके प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त में व्यक्तियों के नहीं प्रत्युत् निगमों के प्रतिनिधित्व की कल्पना की गई थी। इस पुस्तक में उन परिस्थितियों का ठीक ठीक वर्णन नहीं किया गया था जिनमें विरोध किया जा सकता है। शायद यह सम्भव भी नहीं था। लेकिन इसमें यह दृष्टिकोण जरूर था कि राज्य उन विभिन्न अंगों अथवा वर्गों से मिलकर बनता है जो एक दूसरे के विरोध में सन्तुलित रहते हैं और जो किसी राजनैतिक प्रभु के द्वारा नहीं प्रत्युत् पारस्परिक करार के द्वारा शासित होते हैं। इस दृष्टि से विंडिकिआए संघात्मक शासन का सुगमता से पथ प्रशस्त कर सकती थी। राज्य के इस प्रकार के सिद्धान्त का कुछ वर्षों बाद एल्यूसियस ने नीदरलैंड्स में निरूपण भी किया। वहाँ की शासन-प्रणाली इस प्रकार के दृष्टिकोण के अधिक उपयुक्त थी।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विंडिकिआए का राजनैतिक सिद्धान्त एक अजीब तानावाना था। बाद के संविदा सिद्धान्त से इसका सम्बन्ध होने के कारण हमने इसी रूप पर ज्यादा जोर दिया है लेकिन हमारा ऐसा करना ऐतिहासिक यथातथ्यता के मूल्य पर है। इस सिद्धान्त ने इस पुरानी संकल्पना को फिर से दुहराया कि राजनैतिक शक्ति जनता की नैतिक भलाई के लिए है उसका जिम्मेदारी से प्रयोग होना चाहिए और यह प्राकृतिक अधिकार तथा न्याय के अधीन है। आधुनिक यूरोप को यह विचार मध्ययुगीन यूरोप से विरासत के रूप में प्राप्त हुए थे।

विंडिकिआए का सिद्धान्त संविदा सिद्धान्त का प्रतिरोध के अधिकार के पक्ष में जरूर से आया। लेकिन सब मिलाकर वह आधुनिक शासन सिद्धान्त से कम सम्बन्ध रखता था। उसका मुख्य सम्बन्ध निरंकुशतावाद से था जिसका उसने विरोध किया। विंडिकिआए ने सिद्धान्त में लौकिक शासन का प्रतिपादन नहीं था। उसकी उत्पत्ति धार्मिक संघर्ष से हुई थी। उसमें एक धार्मिक अल्पसंख्यक वर्ग का ही सिद्धान्त है। लेखक की ऐसे किसी राज्य की कल्पना नहीं थी जो अपने को धार्मिक पचड़ों से अलग रखता। उसके प्रतिरोध का अधिकार न तो लोक शासन का समर्थन था और न मनुष्य के अधिकारों का। उसमें व्यक्तिगत मानवीय अधिकार का कोई भाग न था। उसका झुकाव कुलीनतन्त्र की ओर और कुछ हद तक सामन्तवाद की ओर था। उसमें स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों का कोई तत्व न था। यह तत्व संविदा सिद्धान्त में बाद में प्रविष्ट हुए।

निरंकुशतावाद के सम्बन्ध में अन्य प्रोटेस्टेंट लेखकों की आपत्तियाँ

(Other Protestant attacks on Absolutism)

फ्रांस के अतिरिक्त अन्य देशों में भी जो न्यूनाधिक रूप से फ्रांस की विचार-धारा से प्रभावित हुए थे, प्रोटेस्टेंट लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित हुईं। इन रचनाओं

में भी विडिकिया कोर्ट्रा टिरेनॉस के सिद्धान्त से मिलते-जुलते सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया गया था। जिस साल विडिकियाए प्रकाशित हुई थी, उसी साल स्काटलैण्ड के कवि और विद्वान् जॉर्ज बुचानन (George Buchanan) ने डी जूरे रेग्नी एपुड स्कोटोस (De Jure regni apud Scotos) नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया। क्रान्तिपरक प्रलेख के रूप में यह ग्रन्थ फ्रांसीसी ग्रन्थ से टक्कर ले सकता था और साहित्यिक गौरव में उससे आगे बढ़ा हुआ था। बुचानन ने अपने जीवन का काफी भाग फ्रांस में व्यतीत किया था और उसे आसानी से फ्रांसीसी विचारक माना जा सकता है। तथापि, उसके ह्यूगेनॉटों के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं थे। उसकी व्यक्तिगत रुचियों ने उसे सम्प्रदायवादी नहीं, प्रत्युत् मानववादी बना दिया था। इसीलिए, उसकी पुस्तक पर विडिकियाए की भाँति धार्मिक प्रेरणाओं का कम ही प्रभाव था। उसने दो संविदाओं की कल्पना नहीं की थी और इस प्रकार अपने सिद्धान्त को लौकिक शासन के ऊपर ही विशेष रूप से लागू किया था। शक्ति समुदाय से प्राप्त होती है और इसलिए उसका प्रयोग समुदाय की विधि के अनुसार ही होना चाहिए। राजा की आज्ञा का उसी समय तक पालन किया जा सकता है जब तक कि वह अपने पद के कर्त्तव्यों का उचित रीति से निर्वाह करता चले। बुचानन ने इस स्टोइक विचार को स्पष्ट रूप से प्रकट किया कि शासन मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होता है और इसलिए वह प्राकृतिक होता है। इस दृष्टि से उसने राजनीति की धर्म के ऊपर निर्भरता भी कम करने की कोशिश की। उसने भी प्रतिरोध के अधिकार का समर्थन किया है और उसका तर्क बहुत कुछ विडिकियाए की भाँति ही है। हाँ, उसने अत्याचारी शासक के वध का समर्थन किया है और अधीन दण्डनायकों के स्वाभाविक नेतृत्व के स्थान पर बहुमत के नेतृत्व का प्रतिपादन किया है। इस सीमा तक वह ह्यूगेनॉट सिद्धान्त के सामन्ती पहलुओं से नियन्त्रित नहीं था। यह आश्चर्य की ही बात है कि बुचानन की पुस्तक उसके राजकुमार शिष्य इगलैण्ड के भावी जेम्स प्रथम की शिक्षा के लिए लिखी गई थी। जेम्स प्रथम ने अपने यौवनकाल में प्रेसबिटेरियनिज्म के सिद्धान्त और व्यवहार की पूरी जानकारी प्राप्त कर ली थी। इगलैण्ड के धर्म-सुधार की ओर उसके झुकाव का यही कारण था।

नीदरलैण्ड्स में भी अत्याचारी शासन के प्रतिरोध को सार्थक ठहराने के लिए इसी प्रकार के राजनीति-दर्शन का प्रयोग किया गया था। इस देश में एक क्रमबद्ध राजनीति-दर्शन का निर्माण हुआ। बाद में एल्यूसियस और ग्रोशियस ने एक ऐसे राजनीति दर्शन का निर्माण किया जो वाद विवाद की सीमा से परे था। १५८१ में स्टेट्स जनरल ने एक्ट ऑफ एडजुरेशन (Act of Adjuration)[1] पास किया। इस एक्ट के द्वारा उसने फिलिप के प्रति निष्ठा त्याग दी और कहा:

"सम्पूर्ण मानव जाति जानती है कि ईश्वर शासक को इसलिए नियुक्त करता है जिससे कि वह अपनी प्रजा की रक्षा कर सके, उसी भाँति जैसे कि ग्वाला भेड़ों की रक्षा करता है।

1. Analysed in Motley's *Rise of the Dutch Republic*, Pt 6, Ch. IV.

इसलिए, जब कोई शासक संरक्षक के कर्तव्य का पालन नहीं करता, वह अपने प्रजाजनों का दमन करता है, उनकी प्राचीन स्वतन्त्रताओं को नष्ट करता है, उनके साथ दासों जैसे व्यवहार करता है, उस समय उसे शासक नहीं, बल्कि अत्याचारी शासक समझना चाहिए। इस देश में देश के प्रतिनिधियों के लिए यह उचित है कि वे ऐसे शासक को पदच्युत कर दें और उसके स्थान पर किसी अन्य शासक को चुनें।"

यह अधिनियम कोई दार्शनिक रचना नहीं थी लेकिन उसके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इसमें उन दो तर्कों पर जोर दिया गया था जो बाद के समस्त राजतन्त्र विरोधी सिद्धान्तों में प्रकट हुए थे। ये तर्क थे—प्रकृति की विधि और प्राचीन स्वतन्त्रताओं की रक्षा।

इसने यह साफ जाहिर कर दिया कि ये विचार जनता के मन में जड़ जमाकर बैठ गया था कि राजनैतिक शक्ति समुदाय में निहित नैतिक शक्तियों पर आधारित होनी चाहिए और उसका प्रयोग समुदाय की सेवा में होना चाहिए। कुछ साल बाद (१६२०) में फ्लावर पैक्ट में भी यह सिद्ध कर दिया था कि मनुष्य नागरिक समाज को समान सहमति अथवा संविदा पर आधारित मानने के लिए कितने तैयार रहते थे।

जेसुएट और पोप की परोक्ष शक्ति

(The Jesuits and the Indirect Power of the Pope)

जिस समय इस ढंग का राजतन्त्र विरोधी राजनीति दर्शन विकसित हो रहा था—इस दर्शन में राजा की शक्ति का आधार जनता की सहमति बताया गया था और प्रतिरोध के आधार का समर्थन किया गया था—उसी समय कैथोलिक लेखकों ने, विशेषकर जेसुएटों ने भी एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। काल्विनवादियों की तरह इस सिद्धान्त के उद्देश्य भी कुछ मिले जुले से थे। कैथोलिकों के ऊपर भी उस संवैधानिक परम्परा का प्रभाव पड़ा था जिसके कारण प्रोटेस्टेंट निरंकुशतावाद के विरोध में प्रतिनिधिक शासन के समर्थक थे। इस दृष्टि से धर्म के मतरों अथवा जेसुएट सम्प्रदाय के विशेष प्रयोजनों का कोई महत्व नहीं था। इसके विपरीत जेसुएटों ने ऊपर वर्णित राजतन्त्र विरोधी विचारों का विशेष रूप से समर्थन किया। काल्विनिस्टों की भाँति वे भी अत्यधिक शक्तिशाली राजतन्त्र के विरोधी थे। लेकिन काल्विनिस्टों के प्रतिकूल उन्होंने अपने सिद्धान्त का प्रयोग नैतिक और धार्मिक प्रश्नों में पोप की उच्चता के पुराने सिद्धान्त को एक नया रूप देने में किया। यह उद्देश्य जेसुएटों का अपना ही था। वे कैथोलिक जो राष्ट्रीय और राजवंशी हितों के अधिक अनुकूल थे इसमें दिलचस्पी नहीं रखते थे।

जेसुएटों का राजतन्त्र विरोधी सिद्धान्त सोलहवीं शताब्दी के धार्मिक मतभेदों का उसी प्रकार सीधा परिणाम था जैसे कि काल्विनिस्ट सिद्धान्त। रोमन चर्च में सुधार का जो आन्दोलन चला था, जेसुएट सम्प्रदाय ने उसमें खुलकर भाग लिया था। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप रोमन धर्म की अन्य बुराइयाँ दूर हो गई थीं और प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रचार रुक गया था। इस आन्दोलन ने बहुत से धार्मिक सिद्धान्तों को अधिक अविकल रूप में सामने रखा, पोप की गद्दी पर एक नये प्रकार के शासक को बैठाया और धार्मिक क्षेत्र में कठोर शासन लागू किया। इस आन्दोलन

को अपूर्व सफलता मिली। इसने न केवल प्रोटेस्टेंट धर्म के विचार को रोका बल्कि यह आशा भी पैदा कर दी कि शायद चर्च अपने बहुत से खोये हुए प्रभाव-क्षेत्रों को पुनः प्राप्त कर सकता है। इस उग्र पुनरुत्थान में सबसे बड़ी शक्ति जेसुइट सम्प्रदाय की थी। इस सम्प्रदाय की स्थापना १५३४ में हुई थी। आज्ञापालन और आत्म-त्याग का भाव इस सम्प्रदाय के सदस्यों में कूट-कूट कर भरा था। सोलहवीं शताब्दी में इस सम्प्रदाय ने न केवल बड़े उत्साही और योग्य शासकों को ही उत्पन्न किया बल्कि रोमन चर्च के कुछ योग्यतम व्यक्तियों को भी उत्पन्न किया। यूरोप में जेसुएट विद्वानों का कोई जवाब न था। उनके विरोधी उनसे भय खाते थे। उनकी क्षमता को देखते हुए यह स्वाभाविक भी था। यद्यपि जेसुएटों का राजनीति दर्शन प्रचारवादी था लेकिन इसका बौद्धिक धरातल प्रोटेस्टेंट विचारकों की तुलना में ऊँचे धरातल पर था।

जेसुएटों का विशेष प्रयोजन पोप की उच्चता के एक मध्यमार्गीय सिद्धान्त का विकास करना था। वे यह कार्य सेंट थॉमस के सुझावों के अनुसार सोलहवीं शताब्दी की परिस्थितियों को सामने रख कर करना चाहते थे। सम्राट् को ईसाई जगत् का लौकिक प्रधान मानने की कल्पना चौदहवीं शताब्दी में ही काफी मन्द पड़ गई थी, अब तो वह प्रायः लुप्त ही थी। अब यूरोप कई राष्ट्रीय राज्यों का स्थल था। यह राष्ट्रीय राज्य लौकिक मामलों में स्वशासी थे। यद्यपि वे अब किसी एक चर्च के प्रति निष्ठावान् नहीं थे, लेकिन फिर भी किसी न किसी रूप में ईसाई तो थे ही। जेसुएट यह चाहते थे कि जो लोग रोमन कैथोलिक चर्च से निकल गये हैं, वे उसमें पुनः आ जायें। वे लौकिक मामलों में राष्ट्रीय राज्यों को स्वतन्त्रता देने के पक्ष में भी थे। उनकी यह इच्छा ज़रूर थी कि ईसाई राज्यों के ऊपर पोप का आध्यात्मिक नेतृत्व कायम रहे। जेसुएटों की बाद की नीति सफल सिद्ध नहीं हुई। इस नीति के कारण राष्ट्रवादी कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट दोनों ही उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते रहे।

जेसुएटों के पोपशाही सम्बन्धी सिद्धान्त को निश्चित रूप रॉबर्ट बेलार-माइन ने दिया।[1] यह व्यक्ति सोलहवीं शताब्दी का सबसे अधिक प्रभावशाली कैथोलिक था। उसने यह स्वीकार किया कि लौकिक मामलों में पोप को कोई शक्ति प्राप्त नहीं है लेकिन वह चर्च का आध्यात्मिक प्रधान ज़रूर है और इस नाते उसे शुद्ध आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिए लौकिक मामलों में परोक्ष शक्ति प्राप्त है। लौकिक शासकों को शक्ति न तो सीधे ईश्वर से ही मिलती है जैसा कि राजतन्त्रवादियों का दावा था और न वह सीधे पोप से ही मिलती है जैसा कि उग्र पोपवादियों का विचार था। वास्तव में यह शक्ति समुदाय से ही उत्पन्न होती है और उसके लौकिक उद्देश्यों के लिए होती है। राजा अपने स्वरूप और जन्म दोनों की दृष्टि से लौकिक है। मानवीय शासकों में अकेले पोप को ही सीधे

1. उसने अपने *Disputationes (1581)* के पहले भाग में *De Summo ponti-fice* में इसका विवेचन किया है। उसने अपने De Potestate Summi Pontificis (1610) में इसका स्पष्टीकरण किया है।

ईश्वर से शक्ति प्राप्त होती है। फलत, लौकिक शासन को अपने प्रजाजनों से निरपेक्ष आज्ञापालन नहीं मिलना चाहिए। आध्यात्मिक प्रयोजनों के लिए आध्यात्मिक सत्ता को यह शक्ति है कि वह लौकिक शक्ति को निदेशन दे सके और उसका नियन्त्रण कर सके। इन परिस्थितियों में पोप विधर्मी शासक को अपदस्थ कर सकता है और उसके नागरिकों से यह कहता है कि वे ऐसे शासक के प्रति निष्ठा न रखें। राजकीय शक्ति के लौकिक उद्भव पर जोर देने के अलावा बेलारमाइन का सिद्धान्त और किसी बात में सेंट थामस के सिद्धान्त से भिन्न नहीं था। पोप शाही के निर्देश के अतिरिक्त वह अन्य बातों में काल्विनिस्टों के सिद्धान्त से भी भिन्न नहीं था। ये दोनों ही धार्मिक प्रश्नों में चर्च की स्वतन्त्रता के कायल थे। उनमें से कोई राष्ट्रीय चर्च में राजा की सर्वोच्चता को मानने के लिए तैयार न था। वे किसी विधर्मी राजा को दैवी अधिकारों से युक्त भी नहीं मान सकते थे। यही कारण है कि जसुएट और काल्विनिस्ट दोनों को ही राजतन्त्रवादी साहित्य में एक जैसा स्थान मिला है। उनमें प्रथम का कहना था कि जेसुएट प्यूरिटन पापवादी हैं। उनका यह कहना काफी हद तक सही भी था।

यह इतिहास का एक व्यंग ही है कि जसुएट और काल्विनिस्ट दोनों ने चर्च और राज्य के उन ऐसे सिद्धान्त के विकास में सहायता दी जिससे वे वास्तव में घृणा करते थे। सोलहवीं शताब्दी में प्रत्येक विवादी ने बड़ी सुगमता से यह मान रखा था कि उसका धर्म ही सही है और वह प्रत्येक धर्म व्यक्ति के लिए उचित है। उन्होंने इस समस्या पर विचार ही नहीं किया कि किसी एक धर्म को सार्वभौम रूप से मान्य नहीं बनाया जा सकता। जब इस बात की सचाई स्पष्ट हो गई और यह साफ दिखाई देने लगा कि किसी धार्मिक समुदाय का दमन करने के भयंकर राजनीतिक परिणाम हो सकते हैं, तो सरकार के लिए धार्मिक वाद-विवाद से हटना आवश्यक हो गया। अब प्रत्येक चर्च इस बात के लिए आजाद हो गया कि वह अपने श्रद्धालुओं को अपने धर्म की शिक्षा दे। ईसाई परम्परा राजनैतिक पदाधिकारी को धार्मिक सत्य का निर्णायक बनाने के विरुद्ध थी, चाहे किसी राष्ट्रीय चर्च के सदस्य राष्ट्र के सारे लोग ही क्यों न होते। इस परिस्थिति में चर्च को स्वतन्त्र बनाने का दावा अकाट्य था। लेकिन, चर्च की यह स्वतन्त्रता उसी समय प्राप्त की जा सकती थी जब कि चर्च और राज्य को दो पृथक् समाज मान लिया जाता। लेकिन, इस बात को न तो जेसुएट ही चाहते थे और न काल्विनिस्ट ही। जेसुएट सिद्धान्त इस परिणत निष्कर्ष के काफी निकट था। जेसुएट *लोगों का सिद्धान्त था कि राज्य एक राष्ट्रीय समाज है, उसकी उत्पत्ति और उद्देश्य लौकिक है।* इसके विपरीत चर्च एक विश्वव्यापी समाज है और उसकी उत्पत्ति दैवी है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह निकलता था कि चर्च एक सामाजिक संस्था है तथा एक की सदस्यता दूसरे की सदस्यता से बिलकुल स्वतन्त्र है। इसका परिणाम जेसुएट और काल्विनिस्ट दोनों की विचारधारा के—दोनों मध्ययुगीन विचारधारा की पुनर्जाग्रति चाहते थे—प्रतिकूल निकला।

इसलिए, यदि धार्मिक मतभेदों के बावजूद फ्रांस अथवा स्काटलैंड के

धार्मिक सिद्धान्त जेसुएटो के धार्मिक सिद्धान्तों से साम्य रखते थे, तो इसका एक कारण था। दोनो के लिए यह कहना जरूरी हो गया था कि राजनैतिक शक्ति निरपेक्ष नही है और विधर्मी शासक के खिलाफ विद्रोह किया जा सकता है। दोनों को मध्ययुगीन विचारधारा की परम्परा समान रूप से मिली थी और दोनों का यह तर्क था कि समुदाय अपने पदाधिकारियो का खुद ही निर्माण करता है और वह अपने उद्देश्यो के लिए उनका विनियमन भी कर सकता है। इसलिए, दोनों का ही यह विचार था कि राजनैतिक शक्ति जनता मे निहित है, वह सविदा द्वारा जनता से प्राप्त होती है और यदि राजा तानाशाह हो जाए, तो उस शक्ति को वापिस लिया जा सकता है। यद्यपि जेसुएट लेखक, मौलिक तो नहीं थे, लेकिन उन्होंने अपने सिद्धान्तो और तर्कों का काल्विनिस्टो की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से निरूपण किया।

जेसुएट और प्रतिरोध का अधिकार

(The Jesuits and the Right to Resist)

प्रारम्भिक जेसुएट लेखक मुख्यत स्पेनिश थे। उनके सिद्धान्त पर जेसुएट उद्देश्य का नही, प्रत्युत राष्ट्रीयता का ज्यादा प्रभाव पड़ा था। जुआन डी मेरियाना (Juan de Mariana)[1] के सिद्धान्त के बारे में यह बात विशेष रूप से सही थी। उसका सिद्धान्त मुख्यत सवैधानिक विचारों से प्रभावित हुआ था। हॉटमैन (Hotman) की भाँति वह भी मध्ययुगीन सस्थाओं का प्रशसक था विशेष कर एस्टेट्स ऑफ आरगॅन (Estates of Aragon) की सस्थाओ का। वह एस्टेट्स को देश की विधि का सरक्षक मानता था। राजा भी देश की विधि के अधीन रहता है। राजा को अपनी शक्ति जनता के साथ किए गए सविदा के द्वारा प्राप्त होती है। एस्टेट्स जनता के प्रतिनिधि हैं। उनके पास विधि को बदलने की शक्ति भी रहती है। यदि राजा मूल विधि का उल्लघन करे, तो उसे अपदस्थ किया जा सकता है। मेरियाना ने इस सवैधानिक सिद्धान्त का निर्माण नागरिक समाज के जन्म के आधार पर किया था। नागरिक समाज का जन्म प्राकृतिक अवस्था से हुआ है। प्राकृतिक अवस्था शासन से पूर्व की अवस्था है। इसमे मनुष्य पशुओं जैसा जीवन व्यतीत करते थे। उस समय उनमें सभ्य जीवन के न तो सद्गुण ही थे और न अवगुण ही। रूसो की भाँति मेरियाना भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के जन्म को विधि और शासन की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कदम मानता था। मेरियाना के सिद्धान्त मे सब से महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि वह शासन का जन्म और विकास एक स्वाभाविक प्रक्रिया मानता था जो मानवी आवश्यकताओ के कारण होती है। इसी आधार पर उसका विश्वास था कि समुदाय की आवश्यकताओ ने जिन शासकों को उत्पन्न किया है, उनको नियन्त्रित अथवा अपदस्थ करने का अधिकार भी समुदाय को ही होना चाहिए। नागरिक समाज की उत्पत्ति और उसके कार्यों के बारे में मेरियाना का दृष्टिकोण विडिसिआए कंट्रा टिरोनॉस के लेखक की तुलना मे अधिक धर्म-निरपेक्ष था।

---

1. *De rege et regis institutione* (1599)

उसकी पुस्तक में राजनैतिक दमन करने वाले अत्याचारी शासक का वध उचित ठहराया गया है। इसी कारण उसकी पुस्तक प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध रही है। वास्तव में सैद्धान्तिक रूप से वह अपने युग के अन्य लेखकों से भिन्न नहीं था। व्यक्तिगत नागरिक [redacted] अत्याचारी शासक को मार डालने का अधिकार व्यापक रूप से मान्य था। बुचानन का कहना था कि यदि अत्याचारी शासक का राज्य पर अधिकार विधिसगत है, तब भी उसे मारा जा सकता है। मेरिआना की बदनामी का कारण सम्भवतः यह है कि उसने फ्रांस के हेनरी तृतीय की हत्या का खुले रूप से समर्थन किया था। इसके कारण उसकी किताब को पेरिस की पार्लमेंट ने जला दिया था। मेरिआना का पोप की आध्यात्मिक शक्ति में विशेष विश्वास नहीं था और इस दृष्टि से वह आदर्श जेसुइट नहीं था।

जेसुइट राजनैतिक सिद्धान्त का सब से महत्वपूर्ण प्रतिनिधि स्पैन का पांडित्यवादी दार्शनिक और न्यायवेत्ता फ्रांसिस्को सुआरेज (Francisco Suarez) था।[1] सुआरेज ने सेंट थॉमस (St Thomas) के ढंग पर एक सांगोपांग दर्शन का निर्माण किया था। उसका न्याय शास्त्र इस सांगोपांग दर्शन का एक भाग था और राजनीति न्याय शास्त्र का एक भाग। बेलारमाइन (Bellarmine) की भाँति सुआरेज का विचार था कि पोप ईसाई राष्ट्रों के परिवार का आध्यात्मिक प्रधान है और इसी आधार पर वह मानवता की नैतिक एकता का प्रवक्ता है। चर्च एक सार्वभौम और दैवी संस्था है। वह एक राष्ट्रीय और विशिष्ट संस्था है। इसी आधार पर उसने यह माना कि पोप को आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिए लौकिक शासकों पर नियन्त्रण रखने का परोक्ष अधिकार है। राज्य विशिष्ट रूप से एक मानवी संस्था है। वह मानवी आवश्यकताओं पर आधारित है। उसका जन्म परिवारों के प्रधानों के ऐच्छिक संघ में से हुआ। इस ऐच्छिक कार्य के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने ऊपर यह दायित्व लेता है कि वह समान हित के लिए जो भी आवश्यक कार्य हो, उसे करता है। इस प्रकार से निर्मित नागरिक समाज को समान हित के लिए अपने समस्त सदस्यों पर नियन्त्रण रखने का और आवश्यकतानुसार कार्यवाही करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अस्तु, उसने इस सिद्धान्त की स्थापना की कि समाज में यह स्वाभाविक शक्ति होती है कि वह अपना और अपने सदस्यों का शासन खुद ही कर सकता है। वह ईश्वर की इच्छा पर सिर्फ इसी प्रकार निर्भर करता है जैसे कि अन्य वस्तुएँ उसकी इच्छा पर निर्भर हैं, इससे अधिक नहीं। वह विशुद्ध रूप से एक प्राकृतिक कार्य-व्यापार है। वह भौतिक संसार से और मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखता है। यदि पोप की परोक्ष शक्ति को छोड़ दिया जाए, तो सुआरेज का समाज सम्बन्धी दृष्टिकोण किसी विशेष अर्थ में धर्म-सापेक्ष नहीं था। इस आधार पर उसने निष्कर्ष निकाला कि राजनैतिक शक्ति समुदाय की अन्तर्निहित सम्पत्ति है और राज-नैतिक दायित्व का ऐसा कोई प्रकार नहीं है जो निरपेक्ष हो। राजनैतिक व्यवस्था ऊपर की चीज है। राज्य का शासन राजा कर सकता है या और कोई कर सकता है।

---

1 *Tractatus de legibus ac deo legislatore* (1612)

शासन की शक्ति अधिक हो सकती है या कम हो सकती है। चाहे कुछ भी हो, राजनैतिक शक्ति समुदाय से प्राप्त होती है। वह समुदाय के हित के लिए कार्य करती है। यदि वह ऐसा नहीं कर पाती, तो उसे बदला जा सकता है। इस सिद्धान्त का उद्देश्य तो यह था कि राजा की लौकिक और मानवी शक्ति के विरोध में पोप की दैवी शक्ति के महत्त्व पर बल दिया जाए, लेकिन उसका प्रभाव यह हुआ कि उसने राजनीति को धर्म से अलग कर दिया।

सुआरेज़ (Suarez) का राजनैतिक सिद्धान्त उसके न्यायशास्त्र का एक भाग था। उसका उद्देश्य विधि के एक सांगोपांग, उसके विविध अंगों और उपांगों सहित, दर्शन का निरूपण करना था। इसी लक्ष्य को सामने रख कर उसने मध्य युग के विधि दर्शन के समस्त पहलुओं का क्रमबद्ध विवेचन किया। सुआरेज़ ने और स्पेन के न्यायशास्त्रीय सम्प्रदाय के अन्य सदस्यों ने मध्ययुगीन विधिशास्त्र को आत्मसात् किया, व्यवस्थित किया और इस रूप में उसे सत्रहवीं शताब्दी को प्रदान किया। इन न्यायविदों ने प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को बड़े व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। उनके इस कार्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि सत्रहवीं शताब्दी में राजनीति सिद्धान्त की समस्याओं पर विचार करने के लिए यही एकमात्र वैज्ञानिक विधि मानी जाने लगी। इस क्षेत्र में ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotius) का प्रभाव निर्णायक था, लेकिन ग्रोशियस के पीछे स्पेनवासियों का क्रमबद्ध न्यायशास्त्र था। वास्तव में सुआरेज़ की रचनाओं में प्राकृतिक विधि की ऐसी अनेक सकल्पनाएँ थीं जिन्हें ग्रोशियस ने स्वीकार किया। यदि प्रकृति में और मानवी प्रकृति में कुछ ऐसे गुणधर्म हैं जिनके कारण कुछ व्यवहार अच्छे और कुछ बुरे हो जाते हैं, तो फिर अच्छे और बुरे का भेद ईश्वर अथवा मनुष्य की स्वेच्छाचारी इच्छा के कारण नहीं होता, बल्कि वह एक युक्तिसगत भेद है। मानवी सम्बन्धों की प्रकृति और मानव व्यवहार से निकलने वाले निष्कर्ष वे कसौटी हैं जिन पर सकारात्मक विधि के नियमों और प्रथाओं को कसा जा सकता है। कोई भी मानवी विधिकर्त्ता, ग्रोशियस की शब्दावली में ईश्वर तक गलत को सही नहीं कर सकता। इसी बात को सुआरेज़ ने यों कहा था कि पोप भी प्राकृतिक विधि को नहीं बदल सकता। विधि के विशेष उपबंधों के पीछे सामान्य स्वीकृति के तर्कपरक उपबन्ध होते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि व्यक्तियों की भाँति राज्य भी प्रकृति की विधि के अधीन होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के अन्तर्गत तो विधि का शासन होना ही चाहिए, राज्यों के बीच भी वैधिक सम्बन्ध होने चाहिएँ। सुआरेज़ तक में एक ऐसी व्यवस्था का बीज देखा जा सकता है जिसमें प्राकृतिक विधि सवैधानिक और अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार बन जाती है।

राजाओं का दैवी अधिकार

(The Divine Right of Kings)

इस विवादास्पद सिद्धान्त ने कि राजनैतिक शक्ति जनता की होती है और उचित कारण होने पर जनता का विरोध किया जा सकता है, अपना एक जवाब तैय्यार किया। यह जवाब था—लौकिक सत्ता के देवत्व के परम्परागत

विश्वास में संशोधन। सोलहवीं शताब्दी में इस संशोधन ने राजाओं के दैवी अधिकार की स्थापना की। अपने विरोधी सिद्धान्त की भाँति यह सिद्धान्त भी धार्मिक सम्प्रदायों के शक्ति संघर्ष पर आधारित था। राजाओं के प्रतिरोध के अधिकार का समर्थन उन लोगों ने किया था जो विधर्मी शासन के विरुद्ध थे। इसी प्रकार राजा के दैवी अधिकारों का समर्थन उन लोगों ने किया जो राष्ट्रीय सरकार के हिमायती थे और उसके खिलाफ किसी विरोध को सहन नहीं कर सकते थे। शुरू में इस प्रश्न के अन्तर्गत संविधानवाद (Constitutionalism) के खिलाफ निरंकुशता (absolutism) पर कम ही जोर दिया गया था। यह लोकतन्त्र के विरुद्ध स्वेच्छाचारिता का बिलकुल ही प्रश्न नहीं था। दैवी अधिकार का अभिप्राय धार्मिक गृहयुद्ध के खतरे के विरोध में व्यवस्था और राजनैतिक स्थिरता की रक्षा करना था। मुख्य व्यावहारिक प्रश्न यह था कि क्या शासक की विधर्मिता नागरिक अवज्ञा का उचित आधार है।

राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त अपने आधुनिक रूप में सीमित राजकीय शक्ति के सिद्धान्तों के बाद उत्पन्न हुआ और वह इन सिद्धान्तों के लिए एक उत्तर के रूप में था। इस सिद्धान्त ने गृहयुद्धों की अव्यवस्था में मूर्त रूप धारण किया। इस सिद्धान्त का विकास भी फ्रांस में राजा की शक्ति के बढ़ने के साथ साथ हुआ। सोलहवीं शताब्दी के अंत में फ्रांस के राजा की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। सोलहवीं शताब्दी बीतते बीतते केन्द्रीकरण अपनी पराकाष्ठा को पहुँचने लगा। लुई चौदहवें का निरंकुश राजतन्त्र उसका चरमोत्कर्ष था। फ्रांस में राष्ट्रीय सरकार को कायम रखने का यही एक मात्र उपाय था। ज्यों-ज्यों लड़ाइयाँ आगे बढ़ती गईं, यह स्पष्ट होता गया कि न तो प्रोटेस्टेंट ही पूरी तरह जीत सकते हैं और न कैथोलिक ही। हाँ, यह संघर्ष फ्रांस के शासन और फ्रांस की सभ्यता को अवश्य नष्ट कर देगा। यदि राजा को राष्ट्र के प्रधान के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है तो वह कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों दोनों की निष्ठा का पात्र होगा। इस आन्दोलन के राजनैतिक सिद्धान्तों को तो जीं बोदाँ (Jean Bodin) ने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त में एक ऊँचे दार्शनिक धरातल पर प्रकट किया गया था। लेकिन, राजाओं के दैवी अधिकारों का सिद्धान्त इसी प्रकार के विचारों का एक लोकोपयोगी संस्करण था। वह ह्यूगेनाटों के प्रान्तीयतावाद और कैथोलिकों की पोप-निष्ठा, इन दोनों के खिलाफ एक प्रतिक्रिया के रूप में था। एक के कारण स्वदेश में विद्रोह था और दूसरे के कारण वैदेशिक क्षेत्र में दुर्बलता।

आगे चल कर लोक अधिकार के सिद्धान्त ने दैवी अधिकार के सिद्धान्त का विरोध किया। लोक अधिकार के सिद्धान्त की भाँति ही दैवी अधिकार का सिद्धान्त भी एक अत्यन्त प्राचीन और सामान्य रूप से स्वीकृत विचार का संशोधन ही था। वह विचार था—धर्म ही सत्ता का मूल और उसके पीछे वास्तविक बल है। जब से सेंट पॉल ने रोमनों के तेरहवें अध्याय की रचना की थी, उस समय से किसी भी ईसाई ने इसके बारे में सन्देह नहीं किया था। चूँकि सारी शक्ति ईश्वर की थी, अतः अन्य किसी शासक की अपेक्षा राजा में अधिक देवत्व

के भाव को आरोपित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यदि शक्ति दैवी है, तब भी कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में शक्ति के अनुचित प्रयोग का विरोध किया जा सकता है। इसीलिए, सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक इन दो सिद्धान्तों में कि शक्ति ईश्वर से आती है और शक्ति जनता से आती है, कोई असंगति नहीं मानी गई। ये सिद्धान्त दो कारणों से एक दूसरे के असंगत माने जाने लगे। एक—लोक अधिकार का अभिप्राय हो प्रतिरोध करने का अधिकार हो गया। दो—राजाओं के दैवी अधिकार का अभिप्राय यह हो गया कि प्रजाजनों को सविनय भाव से अपने शासकों के आदेशों का पालन करना चाहिए। 'राजा ईश्वर के प्रतिनिधि हैं'—प्राचीन काल के इस प्रकार के सूत्रों का जो अपने आप में निरर्थक थे, अब एक नया अर्थ हो गया। धर्म के नाम पर भी विद्रोह अनुचित है। लूथर और काल्विन दोनों ने ही अपने धर्मानुयायियों को यह शिक्षा दी कि वे राजा के आदेशों को शिरोधार्य करें। उन्होंने राजा को विशेष रूप से पावन माना।

राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त इस नये रूप में एक लोकप्रिय सिद्धान्त था। इसका कभी दार्शनिक ढंग से क्रमबद्ध विवेचन नहीं किया गया। वह उसके योग्य भी नहीं था। लेकिन, यदि किसी राजनैतिक सिद्धान्त का महत्व इस बात से आंका जाता है कि उसके समर्थक कितने हैं तो फिर इस सिद्धान्त की अन्य किसी भी राजनैतिक विचार से तुलना की जा सकती है। इसका कारण यह है कि सभी सामाजिक वर्गों और धर्मों के लोग इस सिद्धान्त को निष्ठापूर्वक मानते थे। इस सिद्धान्त के पक्ष में जो दलीलें दी जाती थीं, वे मुख्यतः रोमनों के तेरहवें अध्याय पर आधारित थीं। इस अध्याय के तर्कों को न जाने कितनी बार दुहराया जा चुका था। सोलहवीं शताब्दी में इन दलीलों को बल प्राप्त होने का कारण यह था कि साम्प्रदायिक दलबन्दी से फूट और अस्थिरता के खतरे थे। यह डर था कि कहीं पादरी लोग, काल्विनिस्ट या जेसुएट, लौकिक शासन पर अधिकार न कर लें। साथ ही, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और एकता की भावना ने भी राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त के विकास में योग दिया। जनता के लिए यह सिद्धान्त देशभक्ति का केन्द्र बन गया। इस सिद्धान्त के माध्यम से नागरिक कर्तव्य की भावना ने धार्मिक आधार ग्रहण किया। बौद्धिक दृष्टि से यह सिद्धान्त बड़ा दुर्बल था। इसके कुछ योग्य प्रतिपादकों ने विरोधी सिद्धान्त, कि राजनैतिक शक्ति जनता में निवास करती है, की सक्रिय आलोचना की। यह आलोचना कभी कभी निष्प्रभाव भी नहीं होती थी।[1]

दैवी अधिकार के सिद्धान्त में वास्तविक कठिनाई यह नहीं थी कि वह धार्मिक सिद्धान्त था—उसने जिस सिद्धान्त का विरोध किया था वह उससे अधिक धार्मिक सिद्धान्त नहीं था। इसमें वास्तविक कठिनाई यह थी कि राजा की शक्ति को विधि-सम्मत मान लिया गया था। यह बात कुछ समझ में नहीं आती थी और इसका समर्थन भी नहीं हो सकता था। राजा के ऊपर दैवी सत्ता का आरोप करना

1. विलियम बार्कले ने जो स्काट था लेकिन लम्बे समय से फ्रांस में रह रहा था, अपने *De regno et regali potestate* (1600) ग्रन्थ में दैवी अधिकार के सिद्धान्त का सबसे अधिक विस्तार से निरूपण किया था।

आश्चर्यजनक था और इस बात को विवेक के द्वारा नहीं, प्रत्युत् विश्वास के द्वारा ही स्वीकार किया जा सकता था। जेम्स प्रथम का कहना था कि राजा या यह एक रहस्य है जिसके बारे में दार्शनिक अथवा विधिवेत्ता जाँच-पड़ताल नहीं कर सकते। इसलिए, जब धर्मशास्त्रों के उद्धरण राजनैतिक वाद विवाद के मान्य रूप न रहे, तब यह सिद्धान्त भी जीवित न रह सका। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त राजनैतिक संविदा के सिद्धान्त से भिन्न था। यद्यपि राजनैतिक संविदा का सिद्धान्त भी शुरू में धार्मिक था, लेकिन उसे इस रूप में प्रकट किया जा सकता था कि कोई भी बुद्धिवादी उसे स्वीकार करता। इसीलिए, यह सिद्धान्त राजनैतिक दायित्व का दार्शनिक विश्लेषण कर सकता था।

जहाँ तक राजा की वैधता को प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में प्रकट किया जाता था, उस सीमा तक इसका अभिप्राय यह होता था कि राजा की शक्ति आनुवंशिक है। इसका आधार सम्भवतः यह रहा हो कि ईश्वर की पसन्द जन्म के रूप में प्रकट होती है। इसके आधार पर यह तर्क प्रस्तुत किया जाने लगा, जो अधिक विश्वासजनक नहीं था, कि राजनैतिक शक्ति और पिता की प्राकृतिक सत्ता के बीच सादृश्य होता है। जिस प्रकार बच्चों को अपने माता पिता के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए उसी प्रकार प्रजाजनों को अपने राजा के प्रति आदर भाव रखना चाहिए। इस सादृश्य का मजाक बनाया जा सकता था और जॉन लॉक (John Locke) ने उसका मजाक बनाया भी। यद्यपि यह सादृश्य काफी पुराना था, लेकिन इस पर किसी का भरोसा नहीं था। सादृश्य के अलावा, राजकीय वैधता का सिद्धान्त वंश-परम्परा के नियम पर आधारित था। यद्यपि जन्म और वंश के तथ्य 'प्राकृतिक' अवश्य हैं, लेकिन भूमि और सम्पत्ति के उत्तराधिकार के नियम विभिन्न देशों में अलग अलग हैं। फ्रांस में उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम के अनुसार महिलाओं को राजपद नहीं मिलता था, लेकिन पुरुषों को मिल जाता था। इसका अभिप्राय यह होता था कि राजा विभिन्न देशों की संवैधानिक प्रथाओं के अनुसार ही शासन करने के दैवी अधिकार की पद्धति उदल सकता था।

यह नैतिक सिद्धान्त कि यदि शासक विधर्मी हो, तब भी विद्रोह उचित नहीं है, आधुनिक दैवी अधिकार के सिद्धान्त का एक सामान्य भाग था। लेकिन, इसने दो प्रस्थापनाओं के बीच, जो सदैव स्वतन्त्र मानी गई थीं, किसी तर्क-सम्मत सम्बन्ध की स्थापना नहीं की। निष्क्रिय आज्ञापालन का समर्थन उन उपयोगितावादी आधारों पर किया जाता था जिनका दैवी अधिकार से कोई सम्बन्ध नहीं था। आज्ञापालन के महत्त्व को प्रकट करने के लिए यह कहना काफी था कि यदि प्रजाजन राजा के अधीन नहीं रहेंगे, तो समाज में अराजकता पैदा हो सकती है। विलियम बार्कले (William Barclay) जैसे कुछ लेखक यह मानने के लिए तैयार थे कि यदि राजा कोई बहुत अनुचित काम करता है, उदाहरण के लिए, वह राज्य को ही नष्ट करने का प्रयास करता है, तो उसे अपदस्थ किया जा सकता है। लेकिन यह स्थिति अपवादस्वरूप ही थी। सामान्य रूप से दैवी अधिकार का अभिप्राय यह था कि

प्रजाजनों को पूर्ण रूप से राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिए। हाँ, कुछ बहुत ही अनुचित परिस्थितियों की बात अलग है।

निष्क्रिय आज्ञापालन के कर्तव्य का यह अभिप्राय नहीं था कि राजा पूरी तरह से अनुत्तरदायी था और वह जो चाहता, उसे कर सकता था। सामान्यतः यह कहा जाता था कि चूंकि राजा की स्थिति अन्य व्यक्तियों से ऊँची है, अतः वह अधिक उत्तरदायी है। ईश्वर की विधि और प्रकृति की विधि उसके ऊपर लागू होती थी। राजा को देश की विधि का सम्मान करना चाहिए, यह भी सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता था लेकिन, राजा का यह दायित्व ईश्वर के प्रति था। राजा को मानवी निर्णय के अधीन नहीं रखा जा सकता था। विधि की प्रक्रिया का इस पर कोई असर नहीं पड़ता था। यदि राजा खराब है, तो इसका निपटारा ईश्वर ही कर सकता है, मनुष्य की कोई संस्था इसका निपटारा नहीं कर सकती। विधि का अधिष्ठान राजा का हृदय है। आगे चलकर जब राजा और संसद के बीच संवैधानिक लड़ाई हुई तब दैवी अधिकार और लोक या संसदीय अधिकार के बीच यह मुख्य राजनैतिक प्रश्न बन गया।

जेम्स प्रथम
(James I)

यद्यपि दैवी अधिकार का आधुनिक रूप फ्रांस में पैदा हुआ था, लेकिन इसी समय स्काटलैंड में भी उसके दर्शन हुए। वहाँ इन सिद्धान्तों की व्याख्या स्वयं राजा ने ही की थी। यह राजा आगे चलकर जेम्स प्रथम के नाम से विख्यात हुआ। उसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन *Trew Law of Free Monarchies* नामक ग्रंथ में किया था। यह ग्रन्थ १५९८ में प्रकाशित हुआ था।[1] जेम्स के परिवार का स्काटलैंड के काल्विनिस्टों से सम्बन्ध रहा था। जेम्स को अपनी जवानी में खुद भी उनसे भुगतना पड़ा था। जेम्स ने उन समस्त विवादपूर्ण रचनाओं का भी अध्ययन किया था, जो फ्रांस में धार्मिक युद्धों के जमाने में लिखी गई थीं। Trew Law of Free Monarchies ग्रन्थ पर इन सब अनुभवों की छाप है। 'स्वतन्त्र राजतन्त्र (Free Monarchies)' से जेम्स प्रथम का आशय वह राजकीय शासन है जो सब तरह से स्वतन्त्र हो, विदेशी शासकों से भी और अन्दर के सामन्तों से भी। स्टुअर्ट वंश का स्काटलैंड के कुलीनों से काफी लम्बे समय से संघर्ष चलता आ रहा था। कुछ समय पूर्व जेम्स ११ और उसकी माँ का प्रेसबिटेरियनों ने अपमान किया था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जेम्स स्वतन्त्र राजतन्त्र की सकल्पना को कितना महत्व देता था। जेम्स ने एक बार कहा था "स्काटलैंड की प्रेसबिटेरी राजतन्त्र से उसी भाँति सहमत होती है जैसे ईश्वर और शैतान आपस में सहमत होते हैं।" स्वतन्त्र राजतन्त्र का मुख्य तत्व यह है कि उसे अपने प्रजाजनों के ऊपर सर्वोच्च वैधिक शक्ति प्राप्त होनी चाहिए।

---

1 The Political Works of James I. Introduction by C. H. McIlWain (Cambridge, Mass, 1918)

इसीलिए, जेम्स ने लिखा था, "राजा पृथ्वी पर ईश्वर की सजीव प्रतिमाएँ हैं।"

"राजतन्त्र पृथ्वी पर सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है। राजा पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। वे ईश्वर के सिंहासन पर बैठते हैं और स्वयं ईश्वर भी उन्हें देवता कहता है।"[1]

राजा का प्रजा के साथ वही सम्बन्ध है जो पिता का पुत्रों के साथ अथवा सिर का शरीर के साथ होता है। राजा के बिना नागरिक समाज की कोई गति नहीं है। राजा के बिना समाज 'बुद्धिहीन भीड़' मात्र है। उसके अभाव में समाज किसी विधि का निर्माण नहीं कर सकता। विधियों का निर्माण राजा ही करता है। राजा को यह शक्ति ईश्वर की ओर से मिली होती है। इसलिए प्रजा के सामने केवल दो ही विकल्प हैं—या तो वह राजा की अविकल अधीनता स्वीकार करे और या पूर्ण अराजकता का सामना करे। जेम्स ने इस सिद्धान्त को स्काटलैंड के ऊपर लागू करते हुए कहा था कि राजा उस समय भी थे जब कि विभिन्न सामाजिक वर्गों का अस्तित्व नहीं था, संसदों के अधिवेशन नहीं होते थे और विधियों का निर्माण नहीं किया जाता था। सम्पत्ति भी राजा के अनुदान के आधार पर टिकी हुई थी।

"इस प्रकार, यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि राजा ही विधियों के रचयिता और निर्माता थे। विधियों ने राजा का निर्माण नहीं किया।"[2]

इस दावे का समर्थन संदिग्ध इतिहास के आधार पर किया गया। इसका अभिप्राय यह है कि मूलतः राजा की शक्ति विजय के अधिकार पर आधारित थी।

जहाँ राजा का अधिकार एक बार प्रतिष्ठित हो जाता है वह उत्तराधिकार के द्वारा उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त होता रहता है। विधिसम्मत उत्तराधिकारी को उत्तराधिकार न देना सदैव अनुचित होता है। चूँकि जेम्स का स्काटलैंड और इंगलैंड के सिंहासन पर अधिकार शुद्ध रूप से आनुवंशिक था, अतः जेम्स के लिए इस सिद्धान्त पर आग्रह करना स्वाभाविक था। यह सिद्धान्त सामन्ती विधि पर आधारित था और इसके अनुसार उत्तराधिकारी का अधिकार अविच्छेद्य तथा निर्भ्रान्त होता है। राजतन्त्र के अन्दर मुख्य वैधानिक बात सिर्फ यह है कि पूर्ववर्ती वैध राजा की वैध सन्तान को राज्याधिकार प्राप्त होना चाहिए। इंगलैंड के गृहयुद्ध में स्टुअर्ट परिवार ने इसी सिद्धान्त को अपनाया। उपयोगिता के कोई भी विचार वैध आनुवंशिक दावे को रद्द नहीं कर सकते। कोई सफल क्रान्ति भी इसे अवैध नहीं कर सकती। और अवैध दखल की कोई विधि भी वैध उत्तराधिकारी के खिलाफ नहीं जाती। संक्षेप में, राजा एक अति मानवी सत्ता है। उसके गुणों की न व्याख्या की जा सकती है और न उन पर बहस ही की जा सकती है। १६१६ में जेम्स ने स्टार चैम्बर में अपने न्यायाधीशों से कहा था :

---

1. Works, p 307.
2 *Ibid*, p 62

"राजा की शक्ति के रहस्य से सम्बन्धित बातों पर तर्क करना विधिसम्मत नहीं है। ऐसा करने का अभिप्राय उनकी दुर्बलता को प्रकट करना और उनके प्रति रखे जाने वाले रहस्यात्मक सम्मान भाव को नष्ट करना होगा। राजा ईश्वर के सिंहासन पर बैठता है।"[1]

जेम्स हमेशा ही यह मानता था कि वह उच्चतम मात्रा में उत्तरदायी था। लेकिन, वह अपने प्रजाजनों के प्रति नहीं, प्रत्युत् ईश्वर के प्रति उत्तरदायी था। जेम्स का कहना था कि समस्त साधारण मामलों में राजा को देश की विधि का उसी भाँति सम्मान करना चाहिए जिस भाँति वह अपने प्रजाजनों से अपने सम्मान की आशा रखता है। लेकिन, यह राजा की ऐच्छिक अधीनता है जिसे बलपूर्वक लागू नहीं किया जा सकता।

संकटापन्न विग्रह के विरुद्ध राष्ट्रीय स्थायित्व के समर्थक के रूप में दैवी अधिकार के सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप इस तथ्य से प्रकट हो जाता है कि यह ट्यूडर काल में इंगलैंड में बहुत कम प्रचलित रहा था। यद्यपि इंगलैंड में काल्विनिस्टों और एंग्लिकनों के बीच राष्ट्रीय चर्च में राजा की सर्वोच्चता के औचित्य के बारे में मतभेद अवश्य बने रहे लेकिन एलिजाबेथ की मृत्यु के पहले ऐसा कोई अवसर नहीं आया था जब कि राज्य की आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था को खतरा पहुँचा हो। सोलहवीं शताब्दी में इंगलैंड के काल्विनिस्टों ने फ्रांस और स्काटलैंड के काल्विनिस्टों की भाँति किसी राजतन्त्र विरोधी दर्शन को ग्रहण नहीं किया। दूसरी ओर, एंग्लिकनों का भी ऐसा कोई विशेष प्रयोजन नहीं था जिससे कि वे निष्क्रिय आज्ञापालन के सिद्धान्त द्वारा राजा के अनुल्लंघनीय अधिकार का समर्थन करते। फ्रांस की घरेलू लड़ाइयों ने लोगों को यह अच्छी तरह सिखा दिया था कि निष्क्रिय आज्ञापालन करना उपयोगिता की दृष्टि से उचित है। वास्तविक स्थिरता और ट्यूडर राजाओं की असंदिग्ध शक्ति ने दैवी अधिकार के सिद्धान्त को अनावश्यक कर दिया था। सत्रहवीं शताब्दी में स्थिति बदल गई। गृहयुद्ध ने यह आवश्यक कर दिया कि जनता के प्रतिरोध के अधिकार का समर्थन किया जाए और राजाओं के दैवी अधिकार को चुनौती दी जाए। स्टुअर्ट शासकों का समर्थन करने वाले पादरियों ने राजा के दैवी अधिकारों का पक्ष लिया। लेकिन, फ्रांस और इंगलैंड की स्थिति मूलतः भिन्न थी। इंगलैंड में राजा की भाँति ही सामान्य विधि के न्यायाधीश और संसद् भी राष्ट्रीय भावना के प्रतिनिधि थे। प्रश्न फूट और एकता का नहीं था। प्रश्न यह था कि कौन-सा सर्वैधानिक अभिकर्त्ता राष्ट्रीय एकता का वाहक है। इंगलैंड के राजा में विशेष देवत्व का कोई कारण नहीं दिखाई देता था। वास्तव में इंगलैंड के राजनैतिक सिद्धान्त में दैवी अधिकार के सिद्धान्त का कोई महत्त्व नहीं है।

Selected Bibliography

A History of Political Thought in the Sixteenth Century. By T. W. Allen. London, 1928 Part III.

"The Political Theory of the Huguenots," By E. Armstrong. In *English Historical Review*, Vol. IV (1889), p. 13

---

1. Works, p. 333.

The French Wars of Religion By E Armstrong 2nd ed London 1904

Die Staatslehre des Kardinals Bellarmin By F X Arnold Munich, 1934

"God and the Secular Power" By S Baldwin In *Essays in History and Political Theory in Honor of Charles Howard McIlwain* Cambridge, Mass, 1936

"A Huguenot Theory of Politics" By Ernest Barker In *Church, State and Study* London 1930

Political Liberty By A J Carlyle Oxford 1941

The Political Theory of the Huguenots of the Dispersion, with Special Reference to the Thought and Influence of Pierre Jurieu By Guy Howard Dodge New York 1947

Die Publizistik der Bartholomausnacht und Mornays Vindiciae contra tyrannos By Albert Elkan Heidelberg 1905

Studies of Political Thought from Gerson to Grotius By John Neville Figgis Second edition Cambridge, 1923 Chs V and VI

"Political Thought in the Sixteenth Century" By John Neville Figgis In *The Cambridge Modern History* Vol III (1904), Ch XXII

The Divine Right of Kings By John Neville Figgis Second edition Cambridge, 1914

Natural Law and the Theory of Society, 1500-1800 By Otto Gierke Trans by Ernest Barker 2 Vols Cambridge, 1934 (From Das deutsche Genossenschaftsrecht Vol IV) Ch I

The Social and Political Ideas of Some Great Thinkers of the Sixteenth and Seventeenth Centuries Ed F J C Hearnshaw London 1926 Chs I IV, and V

A Defence of Liberty against Tyrants (Trans of Vindiciae contra tyrannos) Introduction by H J Laski London 1924

The Political Works of James I Introduction by C H McIlwain Cambridge, Mass, 1918

The Wars of Religion in France 1559-1576 By J W Thompson Chicago, 1909

"The Reformation in France" By Arthur A Tilley In *The Cambridge Modern History*, Vol II (1903) Ch IX

Studies in the French Renaissance By Arthur A Tilley Cambridge, 1922 Ch XI

Die Monarchomachen By R Treumann, Leipzig, 1895

Les theories sur le pouvoir royal en France pendant les guerres de religion By Georges Weill Paris 1891.

Franz Suarez By Karl Werner 2 Vols Regensburg, 1889 Ch XII

अध्याय २०

जीन बोदाँ

(Jean Bodin)

सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में फ्रांस में राजनीति के ऊपर जो किताबें लिखी गई थीं, उनमें से अधिकांश विवादास्पद ट्रैक्ट थे। इन पुस्तकों में न तो तटस्थता का कोई भाव था और न किसी प्रकार की दार्शनिक मौलिकता ही थी। १५७६ में जीन बोदाँ द्वारा प्रकाशित *Six livres de la république* ही इस काल का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ था।[1] इस पुस्तक की रचना का तात्कालिक कारण गृहयुद्ध था और इसका प्रयोजन राजा की स्थिति को मजबूत करना था। बोदाँ धार्मिक दलबन्दी से अलग रहा। उसने अपने राजनैतिक विचारों को दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। यद्यपि उसके विचार विशृंखलित थे, फिर भी दार्शनिक आधार के कारण उसकी पुस्तक अपने में ही एक वर्ग बन गई। बोदाँ ने रिपब्लिक में आधुनिक राजनीति के लिए वही काम किया जो अरिस्टाटिल ने प्राचीन काल के लिए किया था। यद्यपि इस तुलना में कोई जान नहीं है, फिर भी बोदाँ की पुस्तक उसके समय में काफी प्रसिद्ध हुई और राजनैतिक चिन्तन के इतिहास में सभी विद्वानों ने उसको महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उसके महत्व का कारण यह नहीं था कि उसने अरिस्टाटिल की पद्धति को फिर से जीवित करने का प्रयास किया। उसके महत्व का वास्तविक कारण यह था कि उसने प्रभुसत्ता के विचार को धर्मशास्त्र के घेरे से बाहर निकाला। दैवी अधिकार के सिद्धान्त ने इस विचार को धर्मशास्त्र के घेरे में डाल दिया था। बोदाँ ने प्रभुसत्ता का विश्लेषण करने के साथ साथ उसे संवैधानिक सिद्धान्त में भी शामिल किया।

धार्मिक सहिष्णुता

रिपब्लिक को दलों के विरोध में राजनीति का समर्थन कहा जा सकता है। यह ग्रन्थ सेंट बार्थोलोम्यू के हत्याकाण्ड के चार वर्ष बाद प्रकाशित हुआ था। इस समय मध्यमार्गी विचारकों का एक वर्ग पैदा हो गया था। इन विचारकों को पोलीटीक कहते थे। पोलीटीक विचारकों का मत था कि केवल राजा ही देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रख सकता है। इसलिए उन्होंने राजा को धार्मिक सम्प्रदायों और राजनैतिक दलों से ऊपर रख कर राष्ट्रीय एकता का केन्द्र बनाने की कोशिश की। बोदाँ की रिपब्लिक इस वर्ग की प्रमुख बौद्धिक रचना है। पोलीटीक विचारक मुख्य रूप से इस बात पर जोर देते थे कि मजबूत सरकार की आवश्यकता

---

1 बोदाँ ने १५८६ में एक विस्तृत संस्करण प्रकाशित किया। रिचार्ड नोलेस (Richard Knolles) ने १६०६ में इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया।

है। अव्यवस्था के समय यह जरूरी भी हो जाता है। लेकिन सोलहवीं सदी में पोलीटीक विचारकों की स्थिति इससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी। वे उन पहले विचारकों में से थे जिन्होंने एक राज्य में अनेक धर्मों के सह अस्तित्व को स्वीकार किया। यद्यपि वे खुद अधिकतर कैथोलिक थे लेकिन वे सब से पहले राष्ट्रवादी थे। अपने राजनैतिक चिन्तन में वे अपने युग के सब से ठोस राजनैतिक तथ्य को स्वीकार करने के लिए तैयार थे। वह ठोस राजनैतिक तथ्य था ईसाई धर्म का विभाजन अपरिहार्य है और कोई भी एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को न तो आत्मसात् कर सकता है और न उसके ऊपर बल का प्रयोग कर सकता है। इसलिए उनकी नीति यह थी कि विनाश से जितना बचाया जा सकता है उसे बचा लिया जाए। जिन धार्मिक मतभेदों को समाप्त नहीं किया जा सकता उनकी अनुमति दी जाए और धर्म की एकता के समाप्त हो जाने के बावजूद फ्रांस की राष्ट्रिकता को एकता के सूत्र में बांध रखा जाए। कैथेराइन डी मैडिची (Catherine de Medici) के चांसलर ला होपिटल (L. Hopital) की गृहयुद्ध शुरू होने के समय यही नीति था। हेनरी चौथ के शासन काल में जो व्यवस्था बना था उसकी भी सामान्य रूप से यही नीति थी। यद्यपि यह नीति बड़ी बुद्धिमत्तापूर्ण थी लेकिन सोलहवीं शताब्दी के लोगों को यह अधार्मिक लगती थी। पोलीटीक के बारे में उनके बारे में कहते थे कि ये लोग अपनी आत्माओं की मुक्ति की अपेक्षा अपने राज्य अथवा अपने घरों की शान्ति ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझते हैं। वे सत्य राज्य के लिए ईश्वर सहित युद्ध की अपेक्षा ईश्वर-विहीन शान्ति को ज्यादा अच्छा समझते हैं। इस उपालम्भ में कुछ सच्चाई भी थी। पोलीटीक विचारक धार्मिक सहिष्णुता को नीति के रूप में स्वीकार करते थे नैतिक सिद्धान्त के रूप में नहीं। वे यह कभी अस्वीकार नहीं करते थे कि राज्य का धार्मिक सम्प्रदाय का अधिकार है। न उन्हें इस बात में सन्देह था। लेकिन उन्होंने यह समझ लिया था कि धार्मिक उत्पीड़न विनाशकारी है और वे इस उपयोगितावादी आधार पर इसका खण्डन करते थे। सामान्य रूप से बोदाँ इसी वर्ग का व्यक्ति था। उसने अपनी पुस्तक द्वारा धार्मिक सहिष्णुता की नीति का समर्थन किया। साथ ही उसने अपने विग्रहपूर्ण युग की विविध व्यावहारिक समस्याओं के बारे में विवेकसम्मत समाधान प्रस्तुत किए। लेकिन वह अवसरवादी नहीं था। उसकी पुस्तक का लक्ष्य व्यवस्था और एकता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना था। ये सिद्धान्त किसी भी सुव्यवस्थित राज्य के आधार होते हैं।

बोदाँ का राजनीतिक दर्शन पुराने और नए का आश्चर्यजनक सम्मिश्रण था। सोलहवीं शताब्दी के सम्पूर्ण राजनैतिक चिन्तन की यही दशा थी। बोदाँ आधुनिक बने बिना ही मध्ययुगीन नहीं रहा था। वह पेशे से वकील था। उसने एकमात्र रोमन विधि की पुस्तकों के अध्ययन के स्थान पर विधि के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन पर जोर दिया। उसका आग्रह था कि विधि और राजनीति का अध्ययन केवल इतिहास को ही ध्यान में रखकर नहीं बल्कि भौतिक परिस्थिति जलवायु भूगोल और जाति को भी ध्यान में रखकर करना चाहिए। इस आधुनिक लगने वाले सुझाव के अन्दर ही यह भी शामिल था कि पर्यावरण के अन्तर्गत नक्षत्रों का प्रभाव

भी शामिल है और ज्योतिष के अध्ययन द्वारा यह देखा जा सकता है कि नक्षत्रों ने राज्यों के इतिहास पर क्या-क्या प्रभाव डाला है। जहाँ बोदाँ धार्मिक सहिष्णुता और उदार तथा प्रबुद्ध प्रशासन का हिमायती था, वहाँ उसने भूतसिद्धि (sorcery) के ऊपर भी एक पुस्तिका लिखी थी। मजिस्ट्रेट चुड़ैलों की खोज और उनके मुकदमे में इस पुस्तिका का प्रयोग कर सकते थे। उसका ऐतिहासिक ज्ञान कहीं तो आलोचनात्मक था और कहीं अविश्वसनीय। जिन लोगों ने अपने आप को शैतान के हाथों बेच दिया था, उनके शैतानी कारनामों के बारे में वह हर तरह की लोक कथाएं स्वीकार करने के लिए तैयार था। वह राष्ट्र की भौतिक और आर्थिक उन्नति करने वाली नीतियों का समर्थक था। उसने एक ऐसी पुस्तक भी लिखी है जो अर्थशास्त्र पर पहली आधुनिक रचना कही जा सकती है। लेकिन, इसके साथ ही उसका यह भी खयाल था कि सम्पूर्ण संसार चुड़ैलों और राक्षसों से भरा हुआ है और मनुष्यों का जीवन हर मोड़ पर उनके कार्यों पर निर्भर है। बोदाँ समस्त धार्मिक सम्प्रदायों का इतना सन्तुलित आलोचक था कि कोई व्यक्ति यह नहीं जान पाता था कि वह प्रोटेस्टेंट है या कैथोलिक। कुछ लोगों का तो यहाँ तक सन्देह था कि वह यहूदी अथवा अनीश्वरवादी है। लेकिन, फिर भी बोदाँ अपने स्वभाव और विश्वास दोनों से धर्मप्राण व्यक्ति था।[1] अन्धविश्वास, बुद्धिवाद, रहस्यवाद, उपयोगितावाद और पुराणवाद (antiquarianism) का सम्मिश्रण था।

उसके राजनीति-दर्शन में भी इसी प्रकार की अव्यवस्था है। उसका अपना विश्वास यह था कि वह एक नई पद्धति का अनुसरण कर रहा है जिसका मूलतत्व दर्शन और इतिहास का समन्वय था। उसका कहना था, "जब दर्शन इतिहास द्वारा परिपुष्ट नहीं होता, वह अपने सिद्धान्तों के बीच निष्क्रियता के कारण मर जाता है।" उसने मैकियावेली की इस आधार पर आलोचना की कि मैकियावेली ने दर्शन का निषेध किया है। उसने मैकियावेली की रचनाओं की अनैतिक प्रवृत्ति का कारण भी यही ठहराया। दूसरी ओर बोदाँ को प्लेटो और सर थॉमस मोर की कल्पनावादी राजनीति भी पसंद नहीं थी। बोदाँ का आदर्श यह रहता था कि वह सामान्य सिद्धान्तों की परिधि में अनुभव-सापेक्ष विषय-वस्तु पर विचार करे। बोदाँ हर समस्या पर विवेक की दृष्टि से विचार करना चाहता था। उसने राजनीति सम्बन्धी यह संकल्पना अरस्तू से प्राप्त की थी। यह मानना पड़ता है कि बोदाँ का दृष्टिकोण अपने युग के अन्य किसी लेखक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक था। दुर्भाग्यवश, उसकी प्रतिभा इस कार्य के अनुकूल न थी। वह इस बात को नहीं समझ सका कि अपनी ऐतिहासिक

---

1. बोदाँ की विधि और इतिहास सम्बन्धी रचना *Methodus ad facilem historiarum Cognitionem* (१५६६) है। पर्यावरण पर इतिहास की निर्भरता के बारे में उसने इस पुस्तक में और *Republique* के पाँचवें खण्ड में विचार किया है। उनकी अर्थशास्त्र विषयक रचना *Reponse aux Paradoxes de M. de Malestroict*(१५६८) है। उसने *Re'publique* के छठे खण्ड के दूसरे और तीसरे अध्याय में भी अर्थशास्त्र की विवेचना की है। *Demonomanie* (१५८०) उसकी भूतसिद्धि सम्बन्धी रचना है। *Heptaplomeres* नामक रचना धर्म के बारे में है। यह रचना १८५७ में छपी थी।

सामग्री को किस प्रकार व्यवस्थित करे। रिपब्लिक और सामान्य रूप से उसकी सभी पुस्तकें असंगठित तथा अव्यवस्थित हैं। वे असम्बद्ध हैं और उनमें पुनरुक्ति की भरमार है। लेकिन, कुछ स्थलों पर उसका विषय विवेचन सुलझा हुआ है। वह ऐतिहासिक उदाहरणों और मानदंडों से अपने पाठकों को चक्कर में डाल देता है। उसने विधि तथा संस्थाओं का विवेचन पांडित्यपूर्ण ढंग से किया है। बोदाँ की मृत्यु के एक शताब्दी बाद ही उसकी रचनाएँ उपेक्षित हो गईं, इसका कारण यह था कि वे बड़ी बोझिल और नीरस थीं। बोदाँ में साहित्यिकता बिलकुल नहीं थी। उसकी मुख्य शक्ति यह थी कि वह परिभाषा बना सकता था, और दार्शनिक व्यवस्था का निर्माण कर सकता था। लेकिन कुल मिला कर इतिहास और संस्थाओं में सचालन की अन्तर्दृष्टि होते हुए भी वह एक दार्शनिक इतिहासकार होने की अपेक्षा पुराणवादी ही अधिक था।

राज्य और परिवार

(The State and the Family)

बोदाँ ने रिपब्लिक की यह व्यवस्था अरस्तू से ग्रहण की है। रिपब्लिक की रूपरेखा में अनेक विभाग हैं। बोदाँ ने सबसे पहले राज्य के उद्देश्य पर और फिर परिवार के ऊपर विचार किया। इसके साथ ही उसने विवाह, पिता पुत्र सम्बन्ध, व्यक्तिगत सम्पत्ति और दासता आदि पर भी विचार किया। ये सारी चीजें परिवार के ही विभिन्न पहलू हैं। लेकिन, पुस्तक के आरम्भिक भाग में व्यवस्थित राजनीति दर्शन के निर्माण के बारे में उसकी दुर्बलता प्रकट हो जाती है। राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में उसका कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं था। उसने राज्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि वह, "प्रभुशक्ति के सहित अनेक परिवारों का और उनकी समान सम्पत्ति का विधिसंगत शासन" है। विधिसंगत' का अर्थ न्यायपूर्ण होना अथवा प्राकृतिक विधि के अनुरूप होना है। यह शब्द राज्य को डाकुओं के गिरोह जैसे अवैध संगठन से पृथक् करता है। लेकिन वह लक्ष्य क्या है, जो प्रभुशक्ति अपने प्रजाजनों के लिए प्राप्त करे, इस बारे में बोदाँ ने कुछ स्पष्ट नहीं कहा है। उसने देखा कि यहाँ अरस्तू उचित मार्गदर्शन नहीं करता। नगर राज्य के जो लक्ष्य थे वे आधुनिक राज्य के लक्ष्य नहीं हो सकते। इसलिए, उसने कहा कि नागरिक की प्रसन्नता या हित कोई व्यावहारिक लक्ष्य नहीं है। लेकिन, वह इस बात के लिए भी तय्यार नहीं था कि राज्य का उद्देश्य केवल भौतिक और उपयोगितावादी उद्देश्यों तक ही सीमित रखे; राज्य का उद्देश्य केवल शान्ति की स्थापना और सम्पत्ति की सुरक्षा ही रखे। राज्य का एक शरीर और एक आत्मा होती है। आत्मा की स्थिति अधिक ऊँची है यद्यपि शरीर की तात्कालिक आवश्यकताएँ अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। वास्तव में, बोदाँ ने राज्य के इन उच्चतर उद्देश्यों का कभी कोई विवरण नहीं दिया। परिणामत, उसके दर्शन में एक बड़ी त्रुटि रह जाती है। वह इस बात की ठीक से व्याख्या नहीं कर पाता कि नागरिक प्रभु की आज्ञा का क्यों पालन करे।

बोदाँ का परिवार-सिद्धान्त उसकी कृति का एक विशिष्ट भाग है। लेकिन, इस सिद्धान्त को प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के साथ संयुक्त करना मुश्किल है। वह परिवार

को जिसमें पिता, माता, बच्चे, और नौकर होते हैं तथा जिसकी समान सम्पत्ति होती है, ऐसा सहज समुदाय मानता है जिससे अन्य सब समुदाय पैदा होते हैं। रोमनों का सिद्धान्त था कि राज्य का क्षेत्राधिकार घर के द्वार पर रुक जाता है। बोदाँ इस सिद्धान्त को फिर से जीवित करना चाहता था। उसका विचार परिवार के मुखिया को अपने आश्रितों के ऊपर चरम शक्तियाँ देना था। इन शक्तियों के अन्तर्गत परिवार की सम्पत्ति तथा परिवार के सदस्यों के जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण शामिल था। बोदाँ ने दासता के अधिकार और उसकी उपयोगिता का भी जोरदार खंडन किया। परिवार एक स्वाभाविक इकाई है जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार निहित है। राज्य तथा अन्य समुदाय परिवार से ही पैदा होते हैं। उसने राज्य को परिवारों का शासन कहा है। जब परिवार का मुखिया घर से बाहर निकलकर दूसरे परिवारों के मुखियाओं के साथ मिलकर कार्य करता है, तब वह नागरिक बन जाता है। सामूहिक प्रतिरक्षा और पारस्परिक लाभों के लिए परिवारों के अनेक संघ विभिन्न प्रकार के गाँव, नगर और निगम आदि बन जाते हैं। जब ये एक प्रभुसत्ता द्वारा संयुक्त होते हैं, तब राज्य का निर्माण होता है। बोदाँ का विचार था कि राज्य के निर्माण में कहीं न कहीं शक्ति का हाथ अवश्य रहता है यद्यपि प्रभुसत्ता अथवा विधिसंगत शासन का औचित्य केवल शक्ति के आधार पर ही सिद्ध नहीं किया जा सकता।

राज्य के निर्माण के सम्बन्ध में बोदाँ का तर्क तो समझ में नहीं आता, हाँ उसका उद्देश्य समझा जा सकता है। बोदाँ की प्रवृत्ति कुछ प्यूरिटनवादी थी। परिवार के मुखिया की शक्ति का अभिप्राय सामाजिक शुद्धि का एक साधन था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह था कि बोदाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करना चाहता था। बोदाँ ने साम्यवाद की, प्लेटो और मोर के सैद्धान्तिक साम्यवाद की तथा एनाबापतिस्तों के व्यावहारिक साम्यवाद की बार-बार कठोर आलोचना की है। बोदाँ का विचार था कि सम्पत्ति परिवार का गुण है। परिवार का क्षेत्र व्यक्तिगत है, राज्य का सार्वजनिक अथवा समान। इसलिए, उसने राज्य और परिवार को एक दूसरे से अलग रखने का प्रयास किया। उसका विचार था कि प्रभुसत्ता स्वामित्व से भिन्न वस्तु है। शासक सार्वजनिक क्षेत्र का स्वत्वाधिकारी नहीं है और वह उसके टुकड़े नहीं कर सकता। सम्पत्ति पर परिवार का अधिकार होता है, प्रभुसत्ता पर शासक और उसके मजिस्ट्रेटों का। सिद्धान्त का जिस रूप में विकास होता है, उसके अनुसार परिवार में अन्तर्निहित सम्पत्ति का अधिकार प्रभु की शक्ति के ऊपर भी निश्चित सीमा आरोपित कर देता है। दुर्भाग्यवश, यह सिद्धान्त बड़ा अस्पष्ट है और यह समझ में नहीं आता कि परिवार का अनुल्लंघनीय अधिकार किस चीज पर आधारित है। पिता की शक्ति के सम्बन्ध में बोदाँ का तर्क मुख्य रूप से सर्वाधिकारवादी था। उसने अपने तर्क के समर्थन में धर्मशास्त्रों और रोमन विधि से उदाहरण दिए थे। शेष बातों में उसने केवल अरस्तू का अनुसरण किया है और कहा है कि मनुष्य विवेकपूर्ण होते हैं जबकि स्त्रियाँ उद्वेगशील होती हैं और बच्चे अपरिपक्व। बोदाँ ने यह स्वीकार किया है कि सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक विधि में निहित है। बिना किसी अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि बोदाँ सम्पत्ति के अधिकार को

प्राकृतिक अधिकार बना देता है, कुछ-कुछ लॉक के ढंग पर। उसमें और लॉक में फर्क यही है कि उसने सम्पत्ति का अधिकार परिवार को दिया है जबकि लॉक ने यह अधिकार व्यक्ति को दिया है। लेकिन तर्क की दृष्टि से यह बात बड़ी उलझन भरी है कि बोदाँ एक ओर तो राज्य की निरंकुश शक्ति को स्वीकार करता है और दूसरी ओर परिवार में एक अविच्छेद्य अधिकार को मान्यता देता है।

यदि बोदाँ का उद्देश्य यह था कि वह प्रभु की राजनैतिक शक्ति और परिवारों के प्रधानों के व्यक्तिगत अधिकारों और शक्तियों के बीच भेद स्थापित करता, तो उसे सावधानी से यह देखना चाहिए था कि परिवारों में स्वतः प्रेरित समुदाय किस प्रकार धीरे-धीरे राज्य का रूप धारण करते हैं। परिवारों के इन स्वतः प्रेरित समुदायों में प्रभुसत्ता नहीं होती लेकिन राज्य में प्रभुसत्ता होती है। सचाई यह है कि बोदाँ के पास इस परिवर्तन का कोई स्पष्ट सिद्धान्त उसी प्रकार नहीं था जिस प्रकार कि उसके पास राज्य के उद्देश्यों के बारे में कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं था। बोदाँ का विचार था कि परिवार और गाँव या शहर जैसे परिवारों के समुदायों के मूल में तीन-चार कारण रहते हैं—कामवृत्ति, बच्चों की देखभाल, प्रतिरक्षा, सामाजिक व्यवहार। सामान्य रूप से उसका विचार था कि राज्य की उत्पत्ति विजय के फलस्वरूप हुई है लेकिन वह यह नहीं मानता था कि बल का समर्थन किया जा सकता है या बल राज्य की स्थापना के पश्चात् उसका मुख्य गुण धर्म हो जाता है। अधिक बल डाकुओं के गिरोह की रचना कर सकता है, वह राज्य का निर्माण नहीं कर सकता। "परिवार अथवा अन्य समुदायों से मनुष्य की बहुत-सी आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं। तब फिर राज्य की क्या आवश्यकता है? राज्य प्रभु की आज्ञा का क्यों पालन करे? परिवारों के समुदाय राज्य का रूप कैसे धारण करते हैं?" बोदाँ ने इन प्रश्नों पर कोई प्रकाश नहीं डाला। बोदाँ के राजनीति दर्शन में जो बात स्पष्ट है, वह यह है कि एक सुव्यवस्थित राज्य का उस समय तक निर्माण नहीं हो सकता जब तक कि प्रभु-शक्ति को मान्यता नहीं दी जाती और इस राज्य की इकाइयाँ परिवार होते हैं। बोदाँ के सिद्धान्त में यह एक बड़ी त्रुटि रह जाती है। उसने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की परिभाषा अवश्य दी है, लेकिन वह अस्तित्व की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं दे सका है। दैवी अधिकार के सिद्धान्त के अनुसार ईश्वरीय आदेश ही राजा की सत्ता का आधार था। बोदाँ ने इस आधार को तो नष्ट कर दिया, लेकिन उसने इसके स्थान पर कोई प्राकृतिक स्पष्टीकरण नहीं दिया।

प्रभुसत्ता
(Sovereignty)

यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि बोदाँ के राजनीति दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग उसका प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त है। उसके विचार से प्रभुसत्ता ही वह विभाजक रेखा है जो राज्य को अन्य परिवारों से पृथक् करती है। तदनुसार ही, उसने नागरिकता को प्रभु के प्रति अधीनता बताया है। राज्य की परिभाषा में दो ही बातें मुख्य हैं—प्रभु और प्रजा। इस दृष्टिकोण के कारण सामा-

जिक, नैतिक और धार्मिक सम्बन्ध राजनैतिक सिद्धान्त के क्षेत्र से बाहर हो जाते हैं। बोदाँ का कहना है कि नागरिक एक समान प्रभु की अधीनता में तो होते ही हैं। इसके अतिरिक्त भी उनके बीच अनेक प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। लेकिन, उन्हें नागरिक बनाने वाला तत्त्व प्रभु के प्रति उनकी अधीनता है। उनकी भाषा और धर्म एक-सा हो भी सकता है और नहीं भी। नागरिकों के विभिन्न समुदायों की अलग अलग विधियाँ और स्थानीय आचार हो सकते हैं। प्रभु इन सबको स्वीकार करता है। विदेशी नागरिकों को भी कुछ मान्य विशेषाधिकार और विमुक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। निगम संस्था कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के लिए अपने नियम बना सकती है और उन्हें लागू कर सकती है। इस प्रकार के समुदाय को, जहाँ विधि, भाषा, धर्म और रूढ़ि मिलते-जुलते हों, बोदाँ ने सिटे (cite') नाम दिया है। यह शब्द स्थूल रूप से राष्ट्र शब्द का भाव देता है। इसमें राजनैतिक सम्बन्ध का नहीं, प्रत्युत सामाजिक रूप का भाव प्रधान है। सिटे रिपब्लीक नहीं है। राज्य का निर्माण तो उसी समय होता है जब नागरिक किसी एक समान प्रभु के अधीन होते हैं। बोदाँ के अपने समय की राजनैतिक समस्याओं से इस सकल्पना का क्या सम्बन्ध था, यह बात बिलकुल स्पष्ट है। वह पोलीटीको के ढंग से इस बात का आग्रह करता है कि राजनैतिक सम्बन्ध आत्म निर्भर हो सकता है चाहे राजनैतिक समाज में धर्म के भेद हों और स्थानीय, परम्परागत और वर्गगत विमुक्तियाँ कायम रहें। राजनैतिक समाज का अनिवार्य लक्षण समान प्रभु का अस्तित्व है।

बोदाँ का अगला चरण प्रभुसत्ता की परिभाषा करना था। उसने लिखा है कि, "प्रभुसत्ता नागरिकों और प्रजाजनों के ऊपर विधि द्वारा अमर्यादित सर्वोच्च शक्ति है।" बोदाँ ने प्रभुसत्ता की सकल्पना का विश्लेषण भी किया है। वह शाश्वत है। वह उन शक्तियों से भिन्न है जो केवल कुछ समय के लिए ही होती हैं। यह किसी को प्रत्यायित नहीं की जाती, यदि की जाती है, तो इसके ऊपर कोई बन्धन नहीं रहता। प्रभुसत्ता को खण्डित नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति इसका बहुत दिनों तक उपभोग करता है, तो उसका इस पर अधिकार नहीं हो जाता। उसके ऊपर विधि की कोई मर्यादा नहीं है क्योंकि प्रभु स्वयं विधि का स्रोत होता है। प्रभु अपने को या अपने उत्तराधिकारियों को बाँध नहीं सकता। वह वैधानिक रीति से अपने प्रजाजनों के प्रति उत्तरदायी भी नहीं ठहराया जा सकता। तथापि, बोदाँ इस बात को मानता था कि प्रभु ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है और वह प्राकृतिक विधि के अधीन रहता है। प्रभु का आदेश ही देश की विधि होती है और इसलिए आदेश देने की शक्ति पर किसी प्रकार का अकुश लगाना विधि से बाहर की चीज है। प्रभुसत्ता का प्राथमिक लक्षण नागरिकों को सामूहिक रीति से और अलग अलग, किसी बड़े, बराबर अथवा छोटे की स्वीकृति के बिना विधियाँ देने की शक्ति है। प्रभु की अन्य सारी शक्तियाँ—युद्ध और शान्ति की घोषणा करना, मजिस्ट्रेटों को अधिकारयुक्त करना, अन्तिम न्यायालय के रूप में कार्य करना, न्यायदान देना, सिक्का ढालना और कर लगाना राज्य का वैधानिक प्रधान होने के कारण प्राप्त होती हैं। बोदाँ के अनुसार प्रभु का परम्परागत अथवा रूढ़िगत विधि पर भी अधि-

धार होता है। प्रभु परम्परागत विधि को बने रहने की अनुमति देकर उसे स्वीकार करता है। बोदाँ का कहना है कि अधिनियमन रूढि को बदल सकता है लेकिन रूढि अधिनियमन को नहीं बदल सकती।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि बोदाँ ने वास्तविक राज्य का लक्षण यह माना है कि उसका एकीकृत वैधानिक प्रधान होना चाहिए। बोदाँ ने इस लक्षण को शासन-प्रणालियों के प्राचीन सिद्धान्तों के ऊपर लागू किया है। बोदाँ का मत है कि ऐसे प्रत्येक राज्य में जिसे अराजकता का शिकार नहीं बनना है और जिसे 'सुव्यवस्थित राज्य' बने रहना है, सत्ता का कोई न कोई अविभाज्य स्रोत अवश्य रहना चाहिए। इसलिए, विभिन्न शासन-प्रणालियों के भेद का आधार यही हो सकता है कि उनमें प्रभुसत्ता का अधिष्ठान कहाँ है। राज्य के कोई प्रकार नहीं होते, हाँ शासन के प्रकार होते हैं। राजतन्त्र में प्रभुसत्ता राजा में रहती है। इसलिए, उसमें अमीर-उमरावों का काम केवल राजा को परामर्श देना है। इंगलैंड और फ्रांस में यही स्थिति थी। राजाओं के लिए यह हितकारी है कि वे अपने परामर्शदाताओं से सलाह लें लेकिन वे उनके परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं हैं। यदि राजा अपने कुलीनों के परामर्श को मानने के लिए बाध्य हो, तो फिर प्रभुसत्ता उनमें होगी और यह शासन कुलीनतन्त्रात्मक होगा। बोदाँ का कहना है कि उसके समय में साम्राज्य की यही दशा थी। यदि निर्णय और पुनर्विलोकन की अन्तिम शक्ति किसी लोक संस्था में होती है, तो वह लोकतन्त्रात्मक शासन होता है। संक्षेप में, मिश्रित राज्य जैसी कोई चीज नहीं है। या तो अविभाजित प्रभु शक्ति नहीं होती और उस अवस्था में सुव्यवस्थित राज्य भी नहीं होता या यह शक्ति एक स्थान में रहती है, वह स्थान चाहे राजा हो, कुलीन वर्ग हो या जनता हो। बोदाँ ने शासन-प्रणालियों पर जिस ढंग से विचार किया है, उसमें राज्य और शासन का स्पष्ट भेद निहित है। राज्य के पास यह प्रभु शक्ति होती है। शासन इस प्रभु शक्ति को लागू करता है। राजा अपनी शक्ति का व्यापक रूप में प्रत्यायोजन कर सकता है और इस प्रकार जनता में प्रिय हो सकता है। इसके विपरीत लोकतन्त्र निरंकुश ढंग से शासन कर सकता है।

बोदाँ ने राज्य के अधीन अंगों के विवेचन में भी प्रभु शक्ति के सिद्धान्त का प्रयोग किया है। राजतन्त्र में संसद के कार्य परामर्शीय होने चाहिएँ। इसी प्रकार, मजिस्ट्रेट जिन शक्तियों का प्रयोग करते हैं, वे भी उन्हें राजा द्वारा ही प्राप्त होती हैं। पुन, राज्य में जितनी निगम संस्थाएँ रहती हैं, धार्मिक संस्थाएँ, म्युनिस्पैलिटियाँ और व्यापारिक कम्पनियाँ, वे सब अपनी शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्रभु से प्राप्त करती हैं। बोदाँ के समय में इस प्रकार की संस्थाएँ काफी संख्या में थीं। इन संस्थाओं के पास अपने निर्देशन की काफी शक्तियाँ भी थीं। बोदाँ ने इन संस्थाओं और इनकी शक्तियों के अस्तित्व को स्वयं स्वीकृत मान लिया था। बोदाँ व्यावहारिक विकेन्द्रीकरण की नीति के पक्ष में भी था। उसका आग्रह सिर्फ इस बात पर था कि समस्त निगम संस्थाएँ राजा की अनुमति से रहती हैं और उनको समस्त शक्तियाँ सिर्फ राजा की स्वीकृति से ही प्राप्त होती हैं। रूढिगत विधि की भाँति ही निगमों की शक्तियाँ भी राज्य से प्राप्त होती हैं चाहे वे किसी चार्टर अथवा संविधि पर

आधारित न हो। रिपब्लिक में बोदाँ का मुख्य उद्देश्य यह था कि वह फ्रांस के राजा को सम्पूर्ण राजनैतिक संगठन का प्रधान दिखाना चाहता था। तथापि, उसकी यह इच्छा नहीं थी कि प्राचीन निगमों का विनाश हो जाए। आगे चलकर फ्रांस की राज्यक्रान्ति के दिनों में ये निगम नष्ट हो गए। बोदाँ का उद्देश्य यह था कि वह सामन्तीयुग के अवशेषों के विरोध में राजतन्त्र के अधिकारों की रक्षा कर सकता था। बोदाँ ने कुलीन वर्ग के साथ भी एक निगम जैसा ही व्यवहार किया। कुलीन वर्ग भी व्यापारिक कम्पनियों या धार्मिक संस्थाओं की भाँति ही राजा की अनुमति से रहता है।

प्रभुसत्ता की सीमाएँ

(Limitations on Sovereignty)

बोदाँ के प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त का उपर्युक्त विवरण उसके सिद्धान्त के केवल उन कुछ अंशों से ही सम्बन्ध रखता है जो स्पष्ट हैं और उलझनों से मुक्त हैं। लेकिन, उसका सम्पूर्ण सिद्धान्त स्पष्ट नहीं था और उसमें काफी भ्रम है। हमें उसे भी देख लेना चाहिए। सामान्य रूप से बोदाँ के लिए प्रभुसत्ता का अभिप्राय विधि की व्याख्या करने और उसे लागू करने का शाश्वत, असीम और अबाध अधिकार था। वह किसी भी सुव्यवस्थित राज्य के अस्तित्व के लिए इस प्रकार के अधिकार को आवश्यक मानता था। यह अधिकार ही विकसित राजनैतिक समाज और अधिक आदिम समाजों के बीच विभाजक रेखा खींचता है। लेकिन प्रभुशक्ति के जिस प्रयोग को वह उचित समझता था, वह ऐसा असीम नहीं था जैसा कि उसकी परिभाषा से ध्वनित होता है। परिणामस्वरूप उसकी प्रभुसत्ता के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लग जाते हैं जो उसके सिद्धान्त में अव्यवस्था उत्पन्न कर देते हैं। सर्वप्रथम, बोदाँ को इस बात में कोई सन्देह नहीं था कि प्रभु ईश्वर की विधि तथा प्रकृति की विधि से बँधा होता है। यद्यपि बोदाँ ने विधि को प्रभु की इच्छा का कार्य बताया है, लेकिन बोदाँ का यह विचार कदापि नहीं था कि प्रभु केवल आदेश के द्वारा ही अधिकार का निर्माण कर सकता है। समस्त समसामयिकों की भाँति उसके लिए भी प्राकृतिक विधि मानवी विधि से ऊपर है और वह न्याय के कुछ अपरिवर्तनशील मानकों को निर्धारित कर देती है। इस विधि का पालन ही वास्तविक राज्य और बलात् हिंसा के बीच भेद स्थापित करता है। यदि प्रभु प्राकृतिक विधि का उल्लंघन करे, तो उसे वैधानिक रीति से उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, लेकिन, प्राकृतिक विधि उसके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध तो लगा ही देती है। प्राकृतिक विधि के अनुसार यह आवश्यक है कि करारों की रक्षा की जाए और व्यक्तिगत सम्पत्ति का सम्मान किया जाए। प्रभु के करारों का अभिप्राय यह हो जाता है कि प्रभु ने अपने प्रजाजनों के प्रति और दूसरे प्रभुओं के प्रति कुछ राजनैतिक दायित्व हैं जिनसे वह बँधा होता है। बोदाँ का विचार था कि प्रभु इन दायित्वों से बँधा होता है। बोदाँ के लिए यह यदि असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य था कि वह इन दायित्वों को केवल नैतिक धरातल पर रखता और इन्हें वैधानिक तथा राजनैतिक मान्यता न देता। उदाहरण के लिए, यदि प्रभु विधि के प्रतिकूल किसी चीज को आज्ञा दे, तो

उस अवस्था में मजिस्ट्रेट का क्या कर्त्तव्य होगा। बोदाँ को इसमें कोई सन्देह नहीं था कि कुछ ऐसी अन्यायपूर्ण स्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन आवश्यक हो जाए। बोदाँ ने इस बात की पूरी कोशिश की कि ऐसे मामले कम-से-कम रखे जाएँ। फिर भी कुछ-न-कुछ ऐसे मामले जरूर थे और इनके कारण अव्यवस्था उत्पन्न होती थी। विधि प्रभु की इच्छा भी है और शाश्वत न्याय की अभिव्यक्ति भी। फिर भी दोनों के बीच विरोध हो सकता है।

बोदाँ के प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त में दूसरी परेशानी फ्रांस की संवैधानिक विधि के प्रति उसकी निष्ठा के कारण उत्पन्न होती थी। बोदाँ एक विधिवेत्ता और नीतिवादी था। इसलिए, उसकी स्वाभाविक रुचि संवैधानिक शासन के प्रति थी। वह देश की प्राचीन प्रथाओं और रीति-रिवाजों का भी आदर करता था। अपने समय की वैधानिक विचारधारा के अनुसार उसका भी यह विश्वास था कि कुछ ऐसी चीजें थीं जिन्हें फ्रांस का राजा विधित नहीं कर सकता था। वह न तो उत्तराधिकार के क्रम को ही बदल सकता था और न राज्य के कुछ भाग को ही नविहन कर सकता था। फिर भी, उसे विश्वास था कि फ्रांस का राजा पूरी तरह से प्रभु है और वास्तव में उत्कृष्ट प्रभु का उदाहरण है। बोदाँ मानता था कि विधियों की एक श्रेणी ऐसी है जो प्रभुसत्ता के प्रयोग से ही सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार की विधियों को स्वयं प्रभु भी नहीं बदल सकता। इन्हें वह साम्राज्यिक विधियाँ (leges imperii) कहता था। उसका मत था कि इन विधियों का अन्त करने से स्वयं प्रभुसत्ता का ही अन्त हो जाएगा। यहाँ भ्रम स्पष्ट है। प्रभु विधि का स्रोत है। इसके साथ ही वह ऐसी कुछ संवैधानिक विधियों के अधीन है जिन्हें वह नहीं बदल सकता।

वस्तुत, बोदाँ के सामने दो उद्देश्य थे जो तर्क के द्वारा नहीं बल्कि परिस्थितियों द्वारा आपस में मिल गए थे। वह राजा की शक्तियों को बढ़ाना और उन्हें दृढ़ करना चाहता था। उस समय की स्थिति में यह जरूरी भी था। लेकिन वह पक्का मर्यादावादी भी था और देश की प्राचीन संस्थाओं की रक्षा करना चाहता था। न तो तार्किक आधार पर ही और न ऐतिहासिक आधार पर ही राज्य को राजमुकुट के साथ समीकृत किया जा सकता था। साम्राज्यिक विधियों के मूल में विचार यह था कि राजा का अस्तित्व अथवा राजा की सत्ता राज्य के एक अंग के रूप में ही है, उसके बिना नहीं। प्रभुसत्ता की परिभाषा के मूल में विचार यह था कि राजा राज्य का मुख्य विधायी और प्रशासनिक अंग है। ये दोनों संकल्पनाएँ एक-दूसरे के प्रतिकूल नहीं हैं। लेकिन, जब ये प्रभुसत्ता की संकल्पना में निहित रूप में मिल जाती हैं, तो फिर भ्रम पैदा होता है। बोदाँ किसी क्रमबद्ध सिद्धान्त का निर्माण उसी समय कर सकता था जब कि वह यह निश्चय कर लेता कि इनमें से आधारभूत संकल्पना कौनसी है। यदि प्रभुसत्ता का अभिप्राय राजा की सर्वोच्चता है, तो राजनैतिक समाज का अस्तित्व इसी बात पर निर्भर है कि शासक तथा शासितों के कैसे सम्बन्ध हैं। इस अवस्था में राज्य की ऐसी कोई विधियाँ नहीं हो सकतीं, जिन्हें राजा न बदल सके। बाद में हॉब्स (Hobbes) ने बोदाँ से सूत्र ग्रहण कर इसी विचारधारा को विकसित किया। इसके विपरीत, यदि राज्य एक ऐसा राज-

नैतिक समाज है जिसकी अपनी विधियाँ और अपना संविधान है, तो फिर प्रभु को शासक के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता।

बोदाँ के इस भ्रम का कारण कुछ तो उसका तात्कालिक प्रयोजन था। उस समय तक राष्ट्रीय भाव सुदृढ़ नहीं हुआ था। राजा राष्ट्र का प्रतीक था। मूर्त्त राजा के स्थान पर किसी न्यायिक कल्पना को महत्त्व देना बिलकुल उचित न था। दूसरी ओर, मूर्त्त राजा न्यायिक कल्पनाओं की व्यवस्था में पूरी तरह नहीं खप सकता था। कुछ हद तक यह भ्रम राजनैतिक दर्शन की उस पद्धति में ही निहित था जिसका अनुसरण करने की बोदाँ कोशिश कर रहा था। यह पद्धति इतिहास और दर्शन, तथ्यात्मक विकास और तार्किक विश्लेषण—इनका समन्वय थी। इतिहास की दृष्टि से फ्रांस का राज्य अनेक परिवर्तनों के बावजूद एक राजनैतिक और सामाजिक इकाई रहा था। तथापि, अपने ऐतिहासिक विकास के दौरान में फ्रांस ने अनेक राजनैतिक उतार-चढ़ाव देखे थे और वैधिक संविधान के विभिन्न भागों में विविध प्रकार के औपचारिक सम्बन्ध रहे थे। कोई भी विश्लेषण इतिहास के समस्त पक्षों में लागू नहीं होता। इतिहास किसी औपचारिक विश्लेषण के सिद्धान्तों से परे है। बोदाँ ने यह काम करने की कोशिश की जो प्रायः असम्भव है। सामाजिक विधियों के सम्बन्ध में उसके भ्रम ने न्यायशास्त्र की विश्लेषणात्मक और ऐतिहासिक पद्धति के दीर्घकालीन वाद-विवाद को चालू कर दिया।

बोदाँ के प्रभुसत्ता सिद्धान्त में ऊपर बताए गए दो भ्रमों के अतिरिक्त तीसरा भ्रम और था। बोदाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति को अनुल्लंघनीय मानता था। यह अधिकार प्राकृतिक विधि द्वारा स्वीकृत है लेकिन यह बोदाँ के लिए प्रभु की शक्ति पर बहुत बड़ा नैतिक प्रतिबन्ध लगा देता है। सम्पत्ति इतनी पवित्र होती है कि प्रभु उसे उसके स्वामी की स्वीकृति के बिना नहीं छू सकता। इसीलिए, उसने कहा है कि करारोपण के लिए कुलीनों की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। लेकिन बोदाँ ने इस बात का कोई कारण नहीं दिया है कि करारोपण विषयक विधि को अन्य विधि से अलग क्यों रखा जाए। बोदाँ ने यह बात साफ कह दी है कि कुलीन विधि-निर्माण में केवल सलाह ही दे सकते हैं। कुलीनों के पास जो भी शक्ति होती है, वह उन्हें प्रभु द्वारा प्रत्यायित होती है।

इस अवस्था में बोदाँ के सिद्धान्त का भ्रम अन्तर्विरोध का रूप धारण कर लेता है। इसका कारण सिद्धान्त का त्रुटिपूर्ण गठन है। सम्पत्ति का अधिकार परिवार का अनिवार्य गुण है। परिवार वह स्वतन्त्र जीवी इकाई है जिससे राज्य का जन्म होता है। सुव्यवस्थित राज्य के लिए एक ऐसे प्रभु की आवश्यकता है जिसकी वैधानिक शक्ति असीम हो। इस प्रकार बोदाँ के राज्य में दो निरंकुश शासक हो जाते हैं: परिवार के अकाट्य अधिकार और प्रभु की असीम विधायी शक्ति। इन दो में उसके विचार से सम्पत्ति के अधिकार अधिक आधारभूत थे। इन अधिकारों के बारे में वह इतना अधिक विश्वस्त था कि उसे इनके बारे में तर्क देने की कोई जरूरत नहीं पड़ती थी। प्रभु की असीम शक्ति की उत्पत्ति धार्मिक युद्धों के खतरों

के आधार पर हुई थी।[1] यदि बोदाँ ने कभी दोनों स्थितियों की विषमता को उचित सिद्ध करने का प्रयास किया, तो ऐसा करने मे उसने साम्राज्यिक विधि की विचार-पद्धति का ही अनुसरण किया। सम्पत्ति के अधिकार परिवार के लिए आवश्यक हैं और परिवार राज्य के लिए आवश्यक है। लेकिन, कर लगाने की शक्ति नष्ट करने की शक्ति है। राज्य के पास अपने ही सदस्यों को नष्ट करने की शक्ति नहीं हो सकती। बोदाँ ने यह बारम्बार कहा है कि करारोपण के लिए स्वीकृति की आवश्यकता होती है और यह साम्राज्यिक विधि की भाँति ही प्रभुसत्ता के ऊपर एक आवश्यक नियन्त्रण हो जाता है। तर्क की दृष्टि से बोदाँ का सिद्धान्त उस समय कमजोर मालूम पड़ने लगता है जब उसका परिवार का सिद्धान्त राज्य के सिद्धान्त के साथ समीकृत होता है।

सुव्यवस्थित राज्य

(The Well-ordered State)

रिपब्लिक के शेष अंश में अनेक विषयों पर विचार किया गया है लेकिन इससे मूल सिद्धान्त में कोई नई बात नहीं जुड़ सकी है। उसने अरस्तू के ढंग पर क्रान्तियों के कारणों और उनकी रोकथाम पर विचार किया है। अपने सामान्य सिद्धान्त के अनुसार ही बोदाँ ने प्रभुसत्ता के विस्थापन को क्रान्ति बताया है। विधियाँ कितनी ही बदल जायें, क्रान्ति उस समय तब नहीं होती जब तक कि प्रभुसत्ता उसी स्थान पर रहती है। बोदाँ ने क्रान्ति के अनेक कारण बताये हैं। इन कारणों का अलग अलग महत्त्व है। पुस्तक के इस अंश में कोई क्रम नहीं है यद्यपि बोदाँ के बहुत से विचार बड़े अर्थपूर्ण हैं। बोदाँ का मत है कि क्रान्तियों का पहले से ही पता लगाया जा सकता है। इसके लिए उसने ज्योतिष के उपयोग की चर्चा की है। क्रान्तियों की रोकथाम के कारणों पर विचार करते समय उसने प्रशासन की प्रत्येक शाखा पर विचार किया है। इस विवेचन में उसने अपूर्व दूरदृष्टि और बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। स्थूल रूप से उसकी रचना का यह अंश पोलीटीकों की नीति का स्पष्टीकरण था। उसका कहना है कि राजा को किसी गुट के साथ मेल नहीं करना चाहिए। उसे हमेशा मेल मिलाप की नीति अपनानी चाहिए। उसे बहुत कम दमन करना चाहिए और केवल वहीं करना चाहिए जहाँ सफलता की पूरी आशा हो। उसने धार्मिक सहिष्णुता का दृढ़ता से समर्थन किया है। यह उसके तर्क का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है। उसने धार्मिक सहिष्णुता का एक सिद्धान्त के रूप में नहीं प्रत्युत् एक नीति के रूप में समर्थन किया है। उसने इस विषय पर अधिक दार्शनिक

---

1. आर० शैविर (R. Chauviré) ने अपने *Jean Bodin* नामक ग्रंथ में (pp. 271 ff) में लिखा है कि 'मैथोडस' में जिसकी रचना १५६६ में हुई थी और 'रिपब्लिक' में जिसकी रचना १५७६ में हुई थी, स्पष्ट अंतर है। पहली रचना में राजकीय शक्ति की सीमाओं का विवेचन है तथा दूसरी में इन सीमाओं को हटाने का। इनके अंतर का कारण वे परिस्थितियाँ हैं जो बीच के दस वर्षों में उत्पन्न हो गई थीं।

अध्याय २१

प्राकृतिक विधि का आधुनिक सिद्धान्त

(The Modernized Theory of Natural Law)

ईसाई मत के अपने सम्पूर्ण इतिहास में राजनैतिक दर्शन का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। सोलहवीं शताब्दी के बाद में धीरे-धीरे यह सम्बन्ध शिथिल पड़ने लगा। इसका कारण कुछ तो यह था कि सत्रहवीं शताब्दी में धार्मिक प्रश्नों का महत्व कम हो गया था और कुछ यह था कि राजनीति-दर्शन में अधिक प्रश्न धर्म-निरपेक्ष हो गए थे। इसका एक सहायक कारण यह भी था कि अब लोगों की यूनान और रोम के प्रति दिलचस्पी बहुत बढ़ गई थी तथा यूरोपीय विद्वानों ने इस बात का विस्तृत अध्ययन आरम्भ कर दिया था। यह प्रवृत्ति मैकियावली के समय से ही आरम्भ हो गई थी। स्टोइकवाद (Stoicism), प्लेटोवाद (Platoism) और अरस्तू की आधुनिक व्याख्या ने प्रकृतिवाद (Naturalism) और बुद्धिवाद की भावना को पैदा किया। चौदहवीं शताब्दी में अरस्तू का जो अध्ययन हुआ था, वह भावना उसमें भी उत्पन्न नहीं हो सकी थी। गणित तथा भौतिक विज्ञानों की उन्नति ने भी इस दिशा में परोक्ष योग दिया। अब यह समझा जाने लगा कि सामाजिक व्यापारों का सामान्य रूप से और राजनैतिक सम्बन्धों का विशेष रूप से अध्ययन हो सकता है। यह अध्ययन निरीक्षण तथा तर्कयुक्त विश्लेषण और निष्कर्ष के आधार पर हो सकता है। इस अध्ययन में दैवी अनुभूति अथवा अतिप्राकृतिक तत्वों का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

सामाजिक और राजनैतिक दर्शन को धर्मशास्त्र से अलग करने की यह प्रवृत्ति बाद के जेसुइट लेखकों में पहले से ही दिखाई दे रही थी। जेसुइट लेखकों का उद्देश्य लौकिक शासन के विरोध में पोप की परोक्ष शक्ति का प्रतिपादन करना था। उनका तर्क यह था कि शासन की उत्पत्ति लौकिक तथा मानवी है। इस तर्क का हेतु यह था कि सत्ताओं की श्रेणी में पोप को अद्वितीय स्थान दिया जा सके। इस प्रकार, यद्यपि सुआरेज (Suarez) का राजनैतिक दर्शन और न्यायशास्त्र पांडित्यवादी दर्शन (scholastic philosophy) का ही एक भाग था, लेकिन उसे बिना किसी हानि के सुगमतापूर्वक धर्मशास्त्र से पृथक् किया जा सकता था। सत्रहवीं शताब्दी के शुरू के काल्विनवादी लेखकों में भी लौकिकता के प्रति इसी प्रकार की रुचि जाग्रत हो गई थी। लेकिन, काल्विनवाद ने इस प्रक्रिया में मदद नहीं की, बल्कि बाधा ही उपस्थित की। काल्विनवादियों द्वारा प्रतिपादित पूर्व नियति के सिद्धान्त (doctrine of predestination) ने समस्त नैतिक और सामाजिक प्रश्नों को ईश्वर की मुक्त कृपा के साथ बांध दिया था। इसके अनुसार प्रत्येक प्राकृतिक व्यापार अथवा घटना दैवीय कृपा पर निर्भर थी। काल्विन धर्मशास्त्र का प्यूरिटन मध्यवर्गीय नैतिकता से चाहे कुछ भी सम्बन्ध रहा हो, उसका नैतिक व्यापार के तर्कसंगत स्पष्टीकरण के साथ कोई

सम्बन्ध नहीं था। यदि सम्बन्ध था भी, तो उल्टा ही था। दूसरी ओर, प्रोटेस्टेंट पद्धति से धार्मिक विधि (Canon Law) को तिलांजलि देने का अभिप्राय मध्ययुग से बिलकुल नाता तोड़ना हो जाता था। जेसुइट इसके लिए तैयार न थे। सुआरेज (Suarez) मध्ययुगीन न्याय-शास्त्र को आधुनिक रूप से प्रस्तुत कर सकता था, लेकिन जहाँ एक बार काल्विनिज्म के बन्धन ढीले पड़े, काल्विनिस्ट प्राकृतिक विधि की ईसा पूर्व कल्पना की ओर बड़ी आसानी से वापस लौट सकते थे। राजनीतिक सिद्धान्त की दृष्टि से इतिहास की युगान्तकारी घटना हालैण्ड में आर्मीनियस (Arminius) और रिमान्स्ट्रेंटों (Remonstrants) का विवाद था। इसकी वजह से ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotius) कठोर काल्विनवाद के पंजे से स्वतन्त्र हो गया और एरास्मस (Erasmus) की मानववादी परम्परा का अनुयायी हो गया।[1]

एल्यूसियस

(Althusius)

ग्रोशियस के पूर्व भी काल्विनिस्ट प्रवृत्तियाँ रखने वाले कुछ लेखकों के लिए प्राकृतिक विधि का धर्मशास्त्र से सम्बन्ध शिथिल पड़ने लगा था। यह बात जोहानीज एल्यूसियस (Johannes Althusius) के बारे में विशेष रूप से सही है। उसने फ्रेंच काल्विनिस्टों के राजतन्त्र-विरोधी सिद्धान्त को जारी रखा और उसकी विस्तृत व्याख्या की।[2] राजनीति सम्बन्धी उसकी पुस्तक विवादास्पद नहीं थी। जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है उसमें राज्य के सहित समस्त मानव समुदायों का क्रमबद्ध रीति से विवेचन किया गया था। ग्रोशियस की भाँति एल्यूसियस ने भी बोदाँ के न्यायशास्त्र और राजनीति के मिश्रण पर आपत्ति की थी। उसने न्याय शास्त्र और राजनीति को एक-दूसरे से अलग करने का प्रयास किया। इस पृथक्करण ने उसके राजनीति के सिद्धान्त पर बुरा असर डाला। उसका दृष्टिकोण प्राकृतिक विधि सम्बन्धी कल्पना पर आधारित था, लेकिन उसने इसके आधार पर अपने सिद्धान्तों का पूरा संशोधन नहीं किया। अन्य काल्विनिस्ट लेखकों की भाँति उसने प्राकृतिक विधि को डेकालॉग की दूसरी तालिका के साथ समीकृत किया।[3] लेकिन, इसके कारण वह अपने चिन्तन के साथ पूरा न्याय नहीं कर सका। वास्तव में उसका समाज सम्बन्धी सिद्धान्त इस निहित धार्मिक सत्ता पर पूरी तरह आधारित नहीं था। जैसा कि गियर्के (Gierke) ने कहा है, वास्तविकता यह है कि एल्यूसियस का चिन्तन स्पष्ट अवश्य था, लेकिन उसमें गहराई नहीं थी। इसलिए, उसने सिद्धान्तों का

1. Cf Ernst Cassirer, *Die Philosophie der Aufkarung* (1932), p. 320

2. उसका *Politica Methodice digesta* सब से पहले १६०३ में प्रकाशित हुई। अपने विस्तृत रूप में वह १६१० में प्रकाशित हुई। इसके आधुनिक संस्करण को, कुछ काट-छाँट कर सी० जे० फ्रेडरिक ने सम्पादित किया (कैम्ब्रिज, मैसेचेसट्स, १९३२)।

3. बोदाँ ने भी प्राकृतिक धर्म का आदिम कुटुम्ब के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। यहाँ भी प्राकृतिक विधि को हजरत मूसा के नियम के साथ जोड़ने की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

दार्शनिक विश्लेषण नहीं किया, बल्कि परिभाषा ही प्रस्तुत की।[1]

इन सीमाओं में रहते हुए उसने एक राजनैतिक सिद्धान्त का विकास किया जो रोचक भी था और महत्त्वपूर्ण भी। यह सिद्धान्त संविदा के एक विचार पर आधारित था और उस पर धार्मिक सत्ता का कोई प्रभाव न था। जहाँ तक संविदा को एक *प्राकृतिक सम्बन्ध कहा जा सकता है, उसका सिद्धान्त प्राकृतिक सिद्धान्त कहा* जा सकता है। एल्यूसियस का संविदा बहुत कुछ उस घनिष्ठ सामाजिक प्रवृत्ति की भाँति था जिसमें हमें स्टोइक सिद्धान्त में दर्शन हुए थे और जिसने ग्रोशियस के दर्शन में और भी *महत्त्वपूर्ण योग दिया था। विशेष महत्त्व की बात यह है कि उसने* इसके आधार पर मनुष्य के सामाजिक समुदायों की ऐसी सटीक व्याख्या कर दी कि अब धार्मिक आधार पर किसी भी व्याख्या की आवश्यकता न रही। परिणामस्वरूप एक ऐसे सिद्धान्त का जन्म हुआ जो धार्मिकवादियों के अरस्तूवादी सिद्धान्तों की अपेक्षा अरस्तू की अन्तरात्मा के अधिक निकट था। एल्यूसियस यह कहने से बहुत दूर नहीं था कि समुदायों में मनुष्यों का संगठन एक प्राकृतिक तथ्य है और समाज हॉब्स की शब्दावली में, "एक कृत्रिम संस्था" नहीं है जिसकी बाहरी कारणों के आधार पर व्याख्या की जाए। संविदा का विचार इस चिन्तन को स्पष्ट करने के लिए बहुत उपयुक्त नहीं था, लेकिन वह हॉब्स के बाद उत्पन्न होने वाले प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों के व्यक्तिवाद के बिलकुल अनुकूल था।

एल्यूसियस के सिद्धान्त में संविदा के दो रूप थे। उसका शासक और प्रजाजनों के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए राजनैतिक महत्त्व था। उसका समुदाय की अस्तित्व की व्याख्या करने के लिए सामान्य समाजशास्त्रीय महत्त्व था। पहला शासन सम्बन्धी संविदा का तत्त्वानी होता है और दूसरा व्यापक रूप से सामाजिक संविदा था। दूसरी संविदा में समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच एक प्रकार का करार हो जाता है। यह करार अरस्तू की शब्दावली में एक समुदाय को जन्म देता है। इस करार के द्वारा लोग मिलकर रहने लगते हैं और समान पदार्थों, सेवाओं और विधियों में भागीदार बनते हैं। समुदाय की दो प्रकार की विधियाँ होती हैं। एक विधि तो समुदाय के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को तय करती है। दूसरी विधि समुदाय के समान कार्यों के प्रशासन के लिए एक सत्ता का निर्माण करती है और उसकी सीमा तय करती है। एल्यूसियस ने समुदायों की विस्तृत कुनरा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। लेकिन, उसने मुख्य रूप से पाँच प्रकार के समुदाय माने हैं। इनमें से प्रत्येक समुदाय पहले के सरल समुदायों के जोड़ से बनता है और पूर्ववर्ती समुदाय की अपेक्षा अधिक जटिल होता है। ये पाँच मुख्य समुदाय निम्नलिखित हैं परिवार, ऐच्छिक निगम, स्थानीय समुदाय, प्रान्त और राज्य। उन्नत समुदायों में व्यक्ति नहीं, बल्कि अन्तर्भूत संघ ही संविदा करते हैं। प्रत्येक अवस्था में नया संघ केवल उन्हीं कार्यों को अपने हाथों में लेता है जो उसके लिए आवश्यक होते हैं। वह शेष कार्यों को अधिक आदिम संघों के ही हाथों में छोड़ देता है। इस रीति से प्रत्येक सामाजिक

---

1. Otto Von Gierke, *Johannes Althusius* (1913), p 16 f

संविदाएँ होती हैं जिनके फलस्वरूप विभिन्न सामाजिक समुदायों का निर्माण होता है। इनमें से कुछ राजनैतिक समुदाय होते हैं और कुछ नहीं। एल्थूसियस के राज्य सिद्धान्त का यही आधार है।

इस शृंखला में एक राज्य है। वह प्रान्तों अथवा स्थानीय समुदायों के सम्मिलन से बनता है। राज्य अन्य समुदायों से इस बात में भिन्न होता है कि राज्य के पास प्रभुसत्ता होती है जब कि अन्य समुदाय उससे वंचित होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि एल्थूसियस के ऊपर बोदाँ का असर था और वह बोदाँ के सिद्धान्त की भ्रांति को दूर करना चाहता था। एल्थूसियस के सिद्धान्त का सबसे महत्वपूर्ण अंश यह था कि उसने प्रभुसत्ता को एक निगमात्मक संस्था के रूप में सम्पूर्ण जनता में अधिष्ठित माना। लोग राज्य के बिना नहीं रह सकते क्योंकि वह एक विशिष्ट प्रकार का समुदाय है। प्रभुसत्ता का कभी विभाजन नहीं होता और वह एक शासक वर्ग अथवा परिवार के हाथ से निकल कर दूसरे शासक वर्ग अथवा परिवार के हाथों में नहीं जाती। राज्य की विधियाँ ही राज्य के अधिकारियों को प्रशासनिक शक्ति प्रदान करती हैं। यह अल्थूसियस का दूसरा संविदा है। इसके द्वारा निगमात्मक संस्था अपने प्रशासकों को शक्ति देती है जिससे कि वे नियत के प्रयोजनों को कारगर बना सकें। यदि इस शक्ति का धारणकर्ता इस शक्ति का ठीक से प्रयोग नहीं करता, तो यह शक्ति लौट कर पुनः जनता के पास आ जाती है। अब तक लोक प्रभुसत्ता के जो भी सिद्धान्त सामने आये थे, उनमें यह सिद्धान्त स्पष्टतम था। इसमें बोदाँ के सिद्धान्त की कठिनाइयाँ नहीं थीं। बोदाँ ने प्रभु और राजा दोनों को एक कर दिया था। उसने प्रभुसत्ता को असीम मानने के साथ साथ यह भी कहा था कि वह ऐतिहासिक संविधान के कुछ उपबन्धों को नहीं बदल सकती। एल्थूसियस का प्रभुसत्ता विषयक सिद्धान्त बाद में ग्रोशियस द्वारा दिये गये प्रभुसत्ता विषयक सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। इसका कारण यह है कि उसने सार्वजनिक सत्ता को जमीन के स्वामित्व में निहित पैतृक शक्ति के साथ भ्रमित नहीं किया है।

एल्थूसियस का भी मत है कि नागरिक अत्याचारी शासन का विरोध कर सकता है। इस विषय में उसकी विचारधारा बहुत कुछ प्रारम्भिक काल्विनवादी लेखकों के ही समान है। इस अधिकार का प्रयोग व्यक्ति नहीं कर सकते। इस अधिकार का प्रयोग एक विशेष प्रकार के शासक ही कर सकते हैं। ये शासक 'एफोर (ephors)' कहलाते हैं। ये समुदाय के अधिकारों के नियत संरक्षक होते हैं। एफोर काल्विन के और विंडिकिआए कोंट्रा टिरेनोस के गौण मजिस्ट्रेटों से साम्य रखते हैं। लेकिन एल्थूसियस का सिद्धान्त अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छा था क्योंकि उसके राज्य का सम्पूर्ण संगठन संघात्मक था। राज्य का निर्माण करने वाले संविदाकारी पक्ष व्यक्ति नहीं, बल्कि समुदाय हैं। ये समुदाय प्रभुसत्ता सम्पन्न तो नहीं हैं, लेकिन उनमें अपने साध्यों को कार्यान्वित करने की अन्तर्निहित शक्ति है। यह शक्ति समस्त निगमात्मक संस्थाओं के पास रहती है। पहले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि **विंडिकिआए कोंट्रा टिरेनोस** की व्यवस्था संघवाद से सादृश्य रखती थी। प्रान्त की

उन दिनों की परिस्थितियों मे यह स्वाभाविक भी था कि लोग सामन्ती विशेषाधिकारों और विमुक्तियों की ओर वापिस लौटें। नीदरलैंड्स की स्थिति भिन्न थी। वहां केन्द्रीय शासन प्रान्तों के परिसंघ (Confederation) पर आधारित था। ये प्रान्त धर्म, भाषा और राष्ट्रीय भाव की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न थे। एल्थूसियस के मत से राज्य एक ऐसा समुदाय है जिसमें अनेक नगर और प्रान्त समान विधि के आधार पर एक दूसरे से मिले होते हैं। प्रमुख मजिस्ट्रेट की शक्ति को नियन्त्रित करने के लिए यह सिद्धान्त उस सिद्धान्त से बेहतर था जिसके अनुसार व्यक्तियों का एक प्रभुसत्ताधारी शासक के नियन्त्रण में संघ बनना चाहिए। दुर्भाग्यवश, यह सिद्धान्त इंगलैण्ड और फ्रांस में लागू नहीं हो सकता था। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों का राजनैतिक चिन्तन मुख्य रूप से इन्हीं देशों में हुआ था। एल्थूसियस के विचारों के उपेक्षित होने का यह सम्भवतः एक प्रधान कारण था।

एल्थूसियस का राजनैतिक सिद्धान्त बड़ा स्पष्ट और सुसंगत था। उसने राजनैतिक और सामाजिक सम्बन्धों के समस्त प्रश्नों को सहमति अथवा संविदा के सिद्धान्त पर केन्द्रित कर दिया था। संविदा ने ही, चाहे तो वह स्पष्ट रहा हो और चाहे गर्भित, समाज को अथवा समाजों की सम्पूर्ण शृंखला को, जिनमें राज्य भी एक था, जन्म दिया था। उसने समुदाय में अन्तर्निहित सत्ता के तत्व के लिए युक्तिसंगत आधार प्रदान किया। यह सत्ता राज्य में समुदाय की प्रभुत्वपूर्ण प्रभुसत्ता के रूप में प्रकट होती है। उसने शासन के कार्यकारी अंग की शक्ति को सीमित करने के लिए वैधानिक आधार प्रदान किया। उसने यह भी बताया कि यदि कार्यकारी अत्याचार करे, तो उसका किन परिस्थितियों में विरोध कर सकता है। इस सिद्धान्त का एक बड़ा गुण इसकी स्पष्टता थी। एल्थूसियस ने सत्ता का कोई धार्मिक आधार नहीं माना। उसने समुदायों को आत्म निर्भर समझा, कम से कम उन उद्देश्यों के सदर्भ में जिनके लिए उनका जन्म हुआ था।

उसकी दृष्टि में प्रत्येक संघ का अधिकार संविदा के ऊपर निर्भर था। लेकिन, इस संविदा का दार्शनिक आधार क्या था इस बारे में उसने कुछ नहीं कहा। यह सही है कि वह संविदा की पवित्रता को प्राकृतिक विधि का सिद्धान्त मानता था। वह प्राकृतिक विधि को बाइबिल में वर्णित ईश्वर के दस आदेशों पर निर्भर समझता था। यह सही है कि उसने इस ईश्वरीय आदेशों का कभी हवाला नहीं दिया, लेकिन जहाँ कोई संकट का क्षण उपस्थित होता था, उसके सिद्धान्त का आधार धार्मिक सत्ता के अलावा और कुछ नहीं होता था। इसका कारण कुछ तो यह था कि उसका अपना चिन्तन सतही था और कुछ यह था कि वह अपने को काल्विनवाद से कभी स्वतन्त्र नहीं कर सका। उसकी प्रकृति विषयक संकल्पना *प्राक्नियतिवाद (pre-destination)* के अति-प्राकृतिक सिद्धान्त के साथ बँधी हुई थी। प्राकृतिक विधि को धार्मिक सत्ता से अन्तिम रूप से अलग करने का कार्य एल्थूसियस (Althusius) ने नहीं प्रत्युत् दार्शनिक ग्रोशियस (Grotius) ने किया था।[1]

1 *De Jure belli ac pacis* सन् १६२५ में प्रकाशित हुआ था। "The

ग्रोशियस : प्राकृतिक विधि
(Grotius - Natural Law)

तथापि, यह मान लेना चाहिए कि ग्रोशियस का प्रभुसत्ता और राज्य विषयक विवेचन एल्थूसियस की अपेक्षा कम स्पष्ट था। उसके लिए इस विषय का महत्त्व आनुषंगिक ही था। उसके लिए प्रभुसत्ता के दार्शनिक सिद्धान्तों की अपेक्षा इस बात का महत्त्व था कि शासक की संवैधानिक शक्तियों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसलिए ग्रोशियस ने अपना ध्यान मुख्य रूप से सकारात्मक विधि पर ही केन्द्रित किया। उसने अपने सिद्धान्तों के दार्शनिक आधार को पुष्ट करने की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया। ग्रोशियस ने सबसे पहले प्रभुसत्ता की परिभाषा की। उसके अनुसार प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो दूसरे किसी के नियन्त्रण में नहीं होती। आगे चल कर उसने बताया कि इस शक्ति के दो पात्र होते हैं—एक समान पात्र (Common Subject) है और दूसरा विशेष पात्र है। प्रभुसत्ता का समान पात्र स्वयं राज्य है। इसके विशेष पात्र प्रत्येक राज्य की संवैधानिक विधि के अनुसार एक या अधिक व्यक्ति हैं। इसलिए, प्रभु या तो स्वयं राजनैतिक समाज (एल्थूसियस का राज्य) है अथवा शासन है। शब्दों का यह प्रयोग बड़ा भ्रामक है। ग्रोशियस ने सिविलियनों (Civilians) के इस दृष्टिकोण का भी समर्थन किया कि राष्ट्र अपने को प्रभुशक्ति से पूरी तरह अलग कर सकता है और इस सामन्ती विचार का भी कि सार्वजनिक सत्ता भूमि की पैतृक शक्ति के समरूप है। इस शक्ति को विजय के द्वारा अर्जित किया जा सकता है, हस्तान्तरित किया जा सकता है और आविरकृत किया जा सकता है। परिणाम यह हुआ कि ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता को राज्य का एक विशेष गुण नहीं माना, उसने ऐसे विवरणों पर ही ध्यान दिया जो प्रभुसत्ता के किसी सामान्य सिद्धान्त से सम्बन्ध नहीं रखते बल्कि विशिष्ट शासकों की संवैधानिक शक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं।

न्यायशास्त्र के इतिहास में ग्रोशियस का महत्त्व राज्य अथवा संवैधानिक विधि के किसी सिद्धान्त के ऊपर आधारित नहीं है। उसका महत्त्व विधि की उस संकल्पना के ऊपर आधारित है जिसके अनुसार प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों को अपने आपसी सम्बन्धों का विनियमन करना चाहिए। सत्रहवीं शताब्दी में इस समस्या का भारी व्यावहारिक महत्त्व था। उस समय स्वतन्त्र राजनैतिक शक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध बड़ी अव्यवस्था की स्थिति में थे। मध्ययुग में चर्च ने इन सम्बन्धों के ऊपर कुछ नियन्त्रण लगा रखे थे। ये नियन्त्रण काफी ढीले थे। अब वे भी टूट चुके थे। इस समय निरंकुश राजतन्त्रों का उत्थान हो गया था। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में खुले आम मैकियावेली की नीति का अनुसरण किया जाता था। इस नीति के अनुसार स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अन्तिम निर्णायक बल ही था।

Classics of International Law" पुस्तकमाला के अन्तर्गत फ्रान्सिस डब्ल्यू० केल्से तथा अन्य लेखकों ने १६४६ के संस्करण का फोटोग्राफिक प्रति का प्रकाशन किया था। यह इस पुस्तकमाला की तीसरी पुस्तक थी और आक्सफर्ड से १६२५ में छपी थी।

धर्म सुधार (reformation) के पश्चात् यूरोप में अनेक धार्मिक युद्ध हुए थे। इन युद्धों को लड़ा तो धार्मिक भावना के नाम पर गया था लेकिन वास्तव में इनके कारण धार्मिक विद्वेष की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई थी। धर्म की आड़ में विभिन्न राज्य अपने अपने प्रदेश-विस्तार में लगे हुए थे। राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं के मूल में कुछ आर्थिक स्वार्थ भी थे जिनके कारण पश्चिमी यूरोप के शक्तिशाली राज्य विस्तार, उपनिवेशीकरण (colonization), वाणिज्यिक अभियान और नए नए खोजे गए प्रदेशों के शोषण में निरत थे। इसलिए, ग्रोशियस के पास यह मानने के पर्याप्त कारण थे कि मानव जाति के कल्याण की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक था कि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करने के लिए कुछ सार्वभौम तथा व्यवस्थित नियम होने चाहिएँ।

"इस प्रकार की कृति इसलिए और भी आवश्यक है क्योंकि पूर्वकाल की भाँति आजकल भी ऐसे व्यक्तियों की कोई कमी नहीं है जो विधि की इस शाखा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और समझते [redacted] कि यह केवल नाम की ही वस्तु है और इसका वास्तविक महत्त्व बिलकुल नहीं है।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय विधि (international law) के विशेष विषय को ग्रोशियस की जो देन है, वह राजनैतिक दर्शन के इतिहास से बाहर की चीज है। राजनैतिक दर्शन के इतिहास में ग्रोशियस का महत्त्व इस कारण है कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि सम्बन्धी अपनी सकल्पना को कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर प्रतिष्ठित किया। उसने इन दार्शनिक सिद्धान्तों का अपने महान् ग्रन्थ की प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से विवेचन किया है। सत्रहवीं शताब्दी में यह एक मानी हुई बात थी कि यह एक मूल विधि अथवा प्राकृतिक विधि की दुहाई देता। यह विधि प्रत्येक राष्ट्र की सिविल विधि के मूल में विद्यमान है। अपनी अन्तर्निहित न्यायभावना के कारण वह समस्त प्रजाजनों, लोगों और शासकों के ऊपर समान रूप से लागू होती है। ईसाई राजनैतिक चिन्तन की लम्बी परम्परा में इस विधि के औचित्य को किसी ने अस्वीकार नहीं किया था, किसी ने उस पर सन्देह तक नहीं किया था। ग्रोशियस के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह इसके औचित्य पर जोर देता। लेकिन अब ईसाइयों की एकता टूट चुकी थी और ईसाई धर्म की सत्ता का भी पतन हो गया था। इसलिए, ग्रोशियस के लिए उसके आधारों की पुनर्परीक्षा आवश्यक हो गई थी। अब चर्च की सत्ता, धर्मशास्त्र की सत्ता अथवा धर्म का आदेश एक ऐसी विधि की बुनियाद नहीं बन सकता था जो प्रोटेस्टैंट और कैथोलिक, ईसाई और गैर-ईसाई शासकों के ऊपर समान रूप से बन्धनकारी होता। मानववादी प्रशिक्षण की अपनी पृष्ठभूमि के कारण ग्रोशियस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह प्राकृतिक विधि की उस परम्परा की ओर मुड़ता जो ईसा से भी पहले की थी और जिसके बारे में उसे प्राचीन काल के विद्वानों की रचनाओं से अच्छी जानकारी मिली थी। अस्तु, उसने प्राकृतिक विधि के आधारों की परीक्षा स्टोइक दर्शन के एक सन्देहवादी आलो-

---

1. Prolegomena, Sect 3 (Kelsey's translation).

मक कार्नियाडीज (Carneades) के साथ वाद-विवाद के रूप में की।[1] ग्रोशियस से पूर्व सिसरो (Cicero) भी यही कर चुका था।

कार्नियाडीज ने प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त का जो तिरस्कार किया था, उसका आधार यह था कि मनुष्य का सम्पूर्ण आचरण स्वार्थ की भावना से प्रेरित होता है। इसलिए, विधि भी एक सामाजिक रूढ़ि मात्र है जिसका आधार न्याय-बुद्धि नहीं, प्रत्युत सांसारिक बुद्धि है। ग्रोशियस का मत था कि इस प्रकार का सिद्धान्त उपयोगितापरक मत गलत है और मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। परिणामतः समाज की रक्षा करना ही सबसे बड़ी उपयोगिता है और उसे व्यक्तिगत लाभों (इसमें मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्तियों की तुष्टि शामिल नहीं है) के सन्दर्भ में नहीं नापा जा सकता।

"यह सही है कि मनुष्य एक प्राणी है लेकिन वह अत्यन्त उच्चकोटि का प्राणी है। विभिन्न प्राणियों में एक दूसरे से जो अन्तर है, मनुष्य में उन प्राणियों से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अन्तर है। मनुष्य की विविध आधारभूत प्रवृत्तियों में एक प्रवृत्ति समाज सम्बन्धी अथवा सामाजिक जीवन सम्बन्धी है। वह जैसा-तैसा सामाजिक जीवन नहीं, प्रत्युत शान्तिपूर्ण सामाजिक जीवन पसन्द करता है। वह अपने ढंग के व्यक्तियों के साथ अपने सामाजिक जीवन का साहचर्य करना चाहता है। स्टोइकों ने मनुष्य की इस सामाजिक प्रवृत्ति को 'सामाजिकता' कहा है।"[2]

इसलिए, शान्तिपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को कायम रखना एक मूलभूत अच्छाई है। इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए आवश्यक शर्तें उतनी ही बन्धनकारी हैं जितनी कि व्यक्तिगत स्वार्थों को सिद्ध करने वाली शर्तें होती हैं।

"हमने जिस समाज-व्यवस्था का चित्र खींचा है और जो मानव बुद्धि के अनुसार है, उसका रक्षण ही उचित विधि का स्रोत है। इस विधि का अर्थ यह है कि जो चीज हमारी नहीं है, हम उससे दूर रहें, यदि हमारे पास किसी दूसरे का कोई धन है, तो हम उसे वह वापिस कर दें, इसके साथ ही हम उसे वह लाभ भी दे दें जो हमने उससे प्राप्त किया हो, हम अपने वचनों को निभाएं, हमारी गलती से जो हानि हुई हो, उसे हम पूरा करें और मनुष्य जिस प्रकार का विश्वासघात करें, उन्हें उसी के अनुसार दंड दिया जाए।"[3]

यदि व्यवस्थासम्पन्न समाज को बनाए रखना है, तो यह आवश्यक है कि मानव प्रकृति की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए कुछ न्यूनतम शर्तों अथवा मूल्यों को अवश्य कार्यान्वित किया जाए। इनमें से मुख्य शर्तें हैं—सम्पत्ति की सुरक्षा, सद्विश्वास, न्यायपूर्ण व्यवहार, मनुष्य के सदाचरण और दुराचरण के परिणामों के बारे में सामान्य-सहमति। ये शर्तें मनुष्य की ऐच्छिक पसन्द अथवा रूढ़ि की सृष्टि नहीं हैं। स्थिति इससे उल्टी है। पसन्द और रूढ़ि स्थिति की आवश्यकताओं का अनुसरण करती हैं।

---

1. सिसरो की 'रिपब्लिक' का वादविवाद लेक्टान्टियस के इंस्टीट्यूट्स की पांचवीं और छठी पुस्तकों में काफी हद तक सुरक्षित रहा था। ग्रोशियस ने यह तर्क वहीं से ग्रहण किया था। सम्बद्ध अवतरणों को, अब 'रिपब्लिक' के प्रत्येक संस्करण में प्रामाणिक रूप से दे दिया जाता है

2. Prolegomena, Sect. 6

3. *Ibid*, Sect. 8.

"हमारे पास और कोई चीज होती या न होती, इसकी ओर कुछ ध्यान दिए बिना ही, मनुष्य की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्माण हो जाता है। मनुष्य की यह प्रकृति ही प्राकृतिक विधि की जननी है।"[1]

यह प्राकृतिक विधि ही आगे चलकर राज्यों की सकारात्मक विधि को जन्म देती है। राज्यों की सकारात्मक विधि (positive law) का आधार यह है कि मनुष्य अपने सामाजिक दायित्वों को समझते रहें और रूढ़ियों की प्राणपण से रक्षा करें।

"जिन लोगों ने अपने को किसी समुदाय के साथ सम्मीकृत किया था अथवा जिन्होंने अपने को एक मनुष्य अथवा बहुत से मनुष्यों की अधीनता में कर दिया था, उन्होंने या तो स्पष्ट रूप से अथवा अपने समझौते के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए गर्भित रूप से यह वचन दिया था कि वे, बहुमत ने जो कुछ तय किया है उसका, अथवा जिस व्यक्ति को सत्ता दी गई है, उसके आदेश का पालन करेंगे।"[2]

ग्रोशियस का विचार था कि प्राकृतिक विधि के इस चौखटे के भीतर उपयोगिता के लिए काफी अवकाश था। यह उपयोगिता विभिन्न राष्ट्रों के लिए विभिन्न प्रकार की हो सकती है लेकिन जो राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में उनके लिए सामदायक भी हो सकती है। तथापि, न्याय के कुछ स्थूल सिद्धान्त प्राकृतिक हैं अर्थात् वे सार्वदेशिक हैं और अपरिवर्तनशील हैं। राष्ट्रीय विधि की विभिन्न पद्धतियाँ इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित होती हैं। ये समस्त पद्धतियाँ रूढ़ियों की पवित्रता पर निर्भर रहती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का भी यही आधार है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि शासकों के बीच रूढ़ियों की पवित्रता पर निर्भर रहती है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए ग्रोशियस ने प्राकृतिक विधि की निम्नलिखित परिभाषा दी है

"प्राकृतिक विधि सच्चे विवेक का आदेश है। वह यह बताता है कि कोई कार्य बुद्धिसंगत विवेक के अनुसार है या नहीं है, उसमें अन्दर नैतिक अधमता है या नैतिक उच्चता है। प्रकृति का स्वामी इसी आधार पर किसी कार्य को स्वीकार या अस्वीकार करता है।"[3]

उपर्युक्त अवतरण में ईश्वर का निर्देश महत्त्वपूर्ण है। ग्रोशियस ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि उपर्युक्त परिभाषा में ईश्वर के निर्देश का यह अर्थ नहीं है कि इसमें धर्म का पुट आ गया है। यदि ईश्वर न होता, तब भी प्राकृतिक विधि का यही असर होता। ईश्वर अपनी मनमानी से प्राकृतिक विधि को नहीं बदल सकता। इसका कारण यह है कि ईश्वर की शक्ति किसी ऐसी प्रस्थापना को सही सिद्ध नहीं करेगी, जो गलत हो। इस तरह की शक्ति शक्ति न रह कर दुर्बलता हो जाएगी।

"जिस प्रकार ईश्वर यह नहीं कह सकता कि दो और दो मिलकर चार न हों, उसी प्रकार ईश्वर यह नहीं कर सकता कि जो चीज गलत है, उसे वह गलत न कहे।"[4]

1. Prolegomena, Sect. 10.—
2. Ibid, Sect. 15.
3. BK I, Ch. 1, Sect 10 1.
4. Ibid. Sect 10, 5 cf Prolegomena Sect. 11. इस प्रकार के कुछ विचार ग्रोशियस से पहले के लेखकों में भी पाए जाते हैं; देखिए 'गयर्के, एल्थूसियस (१९१३), पृ. ७४, एन० ४६।

ग्रस्तु, जिस प्रकार ग्रकगणित मे कोई मनमानी नही होती, उसी प्रकार प्रा तिक विधि मे कोई मनमानी नही होती। सत्य विवेक के ग्रादेश वही हैं जिन्हें मनु की प्रकृति ग्रौर वस्तुग्रो की प्रकृति ठीक समझती है। इस स्थिति मे इच्छा एक त ग्रवश्य है लेकिन यहाँ ईश्वर की इच्छा या मनुष्य की इच्छा किसी दायित्व का निर्मा नही करती। ग्रोल्ड टेस्टामेंट की सत्ता का हवाला देते हुए ग्रोशियस ने, ईश्वर के ग्रादेशो मे भेद माना था जो उसने ग्रपने प्रियजनो के रूप मे यहूदियों को दिए थे। ग्रादेश दैवी इच्छा के ऊपर ग्राधारित थे। लेकिन, इसके साथ ग्रन्य महत्वपूर्ण का जो साक्ष्य है, उससे स्वाभाविक मानवी सम्बन्धो की बात स्पष्ट हो जाती है। विवेचन से यह पूरी तरह प्रमाणित हो जाता है कि ग्रोशियस दैवी प्रभुसत्ता के विचार से पूरी तरह ग्राजाद था जो काल्विनवाद मे ग्रन्तर्निहित था।

नैतिक सूत्र ग्रौर स्पष्टीकरण
(Moral Axioms and Demonstration)

प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त का युगान्तकारी महत्त्व उस विषय-वस्तु के कारण नहीं था जो ग्रोशियस ने उसे दी क्योंकि इस क्षेत्र मे उसने पुराने विधिवेत्ताओं के सिद्धान्तो का ही ग्रनुसरण किया था। ईमानदारी, तात्विक न्याय ग्रौर प्रतिज्ञा पवित्रता प्रारम्भ से ही ऐसे नियम माने गए थे जिनकी उत्पत्ति प्राकृतिक समझी थी। प्राकृतिक विधि का युगान्तकारी महत्त्व पद्धति से सम्बन्ध रखता था। वह नैतिक व्यवस्थाग्रो ग्रौर सकारात्मक विधि के मूल मे काम करने वाली कुछ प्रस्थापना तक पहुँचने के लिए एक युक्तिसंगत ग्रौर सत्रहवी शताब्दी के मत से एक वैज्ञानि दृष्टिकोण प्रदान करती थी। वह मुख्यत. विवेक पर जोर देती थी। प्राकृतिक विधि के प्राचीनकाल के रूपान्तरो ने भी विवेक पर जोर दिया था। लेकिन ग्रोशियस ने इस विवेक की ठीक-ठीक परिभाषा की। प्राचीनकाल मे विवेक की इस प्रकार की परिभाषा नहीं की गई थी। ग्रोशियस ने गणित का बार-बार हवाला दिया है। यह बात भी काफी महत्वपूर्ण है। विधि की कुछ प्रस्थापनाएँ, जैसे कि दो ग्रौर दो मिलकर चार होते हैं, सूत्रात्मक होती है। इनमे स्पष्टता, सरलता ग्रौर प्रामाणिकता होती है। जब वे एक बार ठीक से समझ मे ग्रा जाते हैं ग्रौर उन्हें ग्रात्मसात कर लिया जाता है, तब फिर कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति उनके ऊपर संदेह नही कर सकता। वे वास्तविकता के मूल स्वरूप को समझने के लिए ग्रन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। वे इस ग्रन्तर्दृष्टि के मूल तत्त्व बन जाते हैं। यह पद्धति ज्यामिति की प्रक्रिया से मिलती-जुलती है।

उपर्युक्त पद्धति की इस विशेषता ने ही ग्रोशियस को ग्रपनी ग्रोर विशेष रूप से ग्राकृष्ट किया था। ग्रोशियस ने विशेष रूप से यह कहा था कि गणितज्ञ की भाँति उसका विचार ग्रपने मन को प्रत्येक विशिष्ट तथ्य की ग्रोर से हटा लेने का था। सक्षेप मे, वह विधि के लिए वही कार्य करना चाहता था जो गणित मे सफलतापूर्वक किया जा रहा था ग्रथवा जो गैलीलियो भौतिक शास्त्र के लिए कर रहा था।

"मैंने विधि सम्बन्धी कुछ बातों को उन मूल सिद्धान्तों की कसौटी पर कसने का निश्चय कर लिया है जो सन्देहातीत हैं ग्रौर जिनके ऊपर कोई शका नहीं कर सकता, यदि शका करेगा तो

अपने साथ अन्याय करेंगे। यदि आप जरा सजगता से ध्यान दें, तो आप देखेंगे कि इन विधि के सिद्धान्त उसी तरह स्पष्ट हैं जैसे कि बाह्य इन्द्रियों से बोध में आने वाली वस्तुएं।"[1]

इस श्रेष्ठ पद्धति के विचार के प्रचलन के कारण सत्रहवीं शताब्दी विधि और राजनीति की 'प्रदर्शनात्मक' पद्धति का युग बन गई। इस पद्धति का उद्देश्य यह था कि सामाजिक और प्राकृतिक सभी प्रकार के विज्ञानों को आत्मसात् कर विधि और राजनीति का एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया जाए जो ज्यामिति की सी निश्चितता रखता हो। ग्रोशियस से बाद की पीढ़ी के जिन अग्रज दार्शनिकों ने इस पद्धति का पूरी निष्ठा के साथ प्रयोग किया उनमें थॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हालैण्ड में स्पिनोजा ने अपने नीति शास्त्र को ज्यामिति की शब्दावली में व्यक्त किया। उसने स्वयंसिद्धों (axioms) प्रमेयों (theorems) टीकाओं (scholia) और उपप्रमेयों (corollaries) का प्रयोग किया। उसके ग्रन्थ *Political Treatise* का रचना विधान तो शिथिल है लेकिन उसकी शिल्पविधि काफी सशक्त है।[2] सैमुअल पुफेन्डार्फ (Samuel Pufendorf) ने प्राकृतिक विधि और अन्तर्राष्ट्रीय विधि सम्बन्धी अपने महान् ग्रन्थ[3] के आरम्भ में ही ग्रोशियस के इस मत पर आपत्ति की है कि नीति शास्त्र और गणित समान रूप से निश्चित नहीं हैं। ग्रोशियस का स्पष्टीकरण विषयक आदर्श केवल विधि और राजनीति तक ही सीमित नहीं था। यह पद्धति सामाजिक अध्ययन की सभी शाखाओं के ऊपर लागू की गई। उसने प्राकृतिक धर्म और युक्तिसंगत नीति शास्त्र की उन व्यवस्थाओं को जन्म दिया जो सम्पूर्ण सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में प्रचलित रहीं। अन्त में, इसने प्राकृतिक अर्थशास्त्र की व्यवस्थाओं को जन्म दिया। यह व्यवस्था उन्नीसवीं शताब्दी तक आर्थिक विज्ञान के नाम से चलती रही। आधुनिक काल में सामाजिक अध्ययन के विकास में इन सकल्पनाओं का अमित महत्व रहा था। प्राकृतिक विधि की व्यवस्था के बारे में सर्वत्र ही यह समझा जाता था कि वह सामाजिक सिद्धान्त और व्यवहार के लिए वैज्ञानिक निर्देशक का कार्य दे सकता है।

इस पद्धति को इतना अधिक महत्व मिलने का कारण यह था कि इसे उस पद्धति के समानान्तर समझा गया जिस पर चलकर प्राकृतिक विज्ञानों ने गैलीलियो और न्यूटन के बीच के समय में आश्चर्यजनक उन्नति की थी। ये प्रक्रियाएँ उस पद्धति पर निर्भर थीं जिसका ज्यामिति में पहले ही अच्छी तरह से प्रयोग कर लिया गया था। ग्रोशियस की रचना के कुछ वर्ष पश्चात् डिसाक्रटीज (Descrates) ने अपने ग्रन्थ *Discourse de la methode* में इस पद्धति की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की। उसके सिद्धान्त का सार यह था कि प्रत्येक समस्या को उसके सरलतम तत्वों में बाँट

---

1 Prolegomena, Sect 39

2 स्पिनोजा के दोनों ग्रन्थ *Ethics* और *Political Treatise* उसकी मृत्यु के पश्चात् १६७० में प्रकाशित हुए थे। इनका अंग्रेजी अनुवाद आर० एच० एल्वीज ने दो जिल्दों में पूरा किया है और वह बोन फिलासफिकल लायब्रेरी से निकला है।

3 De Jure naturae et gentium (Lund 1672) *English translation* by Basil Kennet (London, 1710)

दो, सब से छोटे तत्त्वों को पहले लो और फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ो। इससे अपनी आगे की प्रगति स्पष्ट तथा ग्राह्य होगी। ऐसी किसी चीज को मत मानो जो बिल्कुल स्पष्ट और विशिष्ट न हो। यह स्पष्ट है कि डिसाक्रेटीज (Dessacrates) का दृढ़ विचार था कि वह केवल उस प्रक्रिया का सामान्य विवेचन कर रहा था जिसके द्वारा उसने विश्लेषणात्मक ज्यामिति की खोज की थी। इस पद्धति के सम्बन्ध में गैलीलियो जैसे महान् प्रयोगवादी वैज्ञानिक के विचार जो नवीन यान्त्रिक विज्ञान विषयक ग्रन्थ में इधर-उधर बिखरे हुए थे, इसी धारणा की पुष्टि करते थे। सत्रहवीं शताब्दी में आजकल की भाँति गणित और प्रयोग तथा निरीक्षण के भौतिक विज्ञानों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती थी। इसका कारण यह है कि उस समय यान्त्रिकी से सम्बन्धित प्रयोगात्मक सामग्री बहुत अधिक नहीं थी। लेकिन गणितीय सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। यह पद्धति विद्वानों को सामान्य रूप से पसन्द आई। विधि और राजनीति के विद्वानों ने इसे विशेष रूप से पसन्द किया, इसका कारण यह नहीं था कि वे भौतिक वैज्ञानिकों की भांति गणित का प्रयोग करना चाहते थे। इस पद्धति की लोकप्रियता का कारण सिर्फ यह था कि विश्लेषण, सरलता और स्पष्टता के युक्तिसंगत आदर्श सभी शास्त्रों के ऊपर समान रूप से लागू हो सकते थे। इसके साथ ही वे परम्परागत विश्वासों को परखने के भी उपयुक्त साधन थे। प्रारम्भिक बुद्धिवादियों ने विवेक को अपने अध्ययन-अन्वेषण का आधार बनाया। उनका विवेक रूढ़िवाद तथा परम्परा के अनुसरण के विरुद्ध था।

निगमनात्मक पद्धति के विकास ने प्राकृतिक विधि की एक अस्पष्टता को और प्रकाशित किया। अस्पष्टता यह थी कि उस समय सत्य शब्द के दो प्रयोग होते थे। इसका एक प्रयोग तो यह था कि किन्हीं निश्चित प्रमेयों के स्वाभाविक निष्कर्षों को सत्य कहा जाता था। इसका दूसरा प्रयोग यह था कि घटनाओं अथवा वस्तुओं के तथ्यपरक अस्तित्व को सत्य कहते थे। निगमनात्मक प्रक्रिया के इस औपचारिक रूप ने आगे चलकर युक्तिसंगत सत्य और तथ्यात्मक सामग्री के बीच विरोध पैदा कर दिया। लेकिन प्रारम्भिक बुद्धिवादी चाहे वह विज्ञान के हों या विधि के, तथ्यों के निरीक्षण और संकलन को विवेक की परिधि से बाहर नहीं रखते थे। उनका विश्वास था कि विवेक खुद ही कुछ स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों और आवश्यक निष्कर्षों के लिए आधार प्रदान करता है। लेकिन इस पद्धति के अन्तर्गत ही वह अनुभवमूलक सामग्री के महत्त्व को भी स्वीकार करते थे। इस सामग्री का निरीक्षण करने की आवश्यकता थी। तभी उसे समझा जा सकता था। अस्तु, ग्रोशियस को इस बात में सन्देह नहीं था कि विधि का बहुत सा भाग स्वतन्त्र इच्छा अथवा अधिनियमन पर आधारित है। विधि के इस भाग को विवेक का उल्लंघन किए बिना ही स्वतन्त्रता से बदला जा सकता है। लेकिन कुछ भाग आवश्यक है। इसे न इच्छा से बदला जा सकता है और न स्वतन्त्रता से। इस सिद्धान्त के अनुसार सकारात्मक विधि की विभिन्नता के लिए पर्याप्त क्षेत्र रहता है लेकिन कुछ योग ऐसे हैं जिनकी अनुमति नहीं दी जाती। प्राकृतिक और सकारात्मक विधि के सम्बन्ध में इस प्रकार की अस्पष्टता

सामान्य रूप से स्वीकृत थी। एक शताब्दी बाद मान्टेस्क्यू के अपने ग्रन्थ "स्पिरिट आफ दी लाज" (Spirit of the Laws) के आरम्भ में लिखा था :

"विधियाँ अपने सामान्य रूप में वे आवश्यक सम्बन्ध हैं जो वस्तुओं की प्रकृति के कारण उत्पन्न होते हैं।"

प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता यह है कि उसने विधि और राजनीति में आदर्श के पुट का समावेश किया। उसने न्याय, ईमानदारी और उचित व्यवहार जैसे कुछ पारदर्शी मूल्यों पर जोर दिया। उसने बताया कि सकारात्मक विधि की परीक्षा इन मूल्यों के संदर्भ में ही की जानी चाहिए। बाद में भी विधि को नैतिक रूप देने के अनेक प्रयत्न किए गए। उदाहरण के लिए रुडोल्फ स्टैमलर (Rudolf Stammler) ने न्यायपूर्ण विधि के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। एहेरिंग और बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्तों में भी प्राकृतिक विधि के कुछ तत्त्व थे। यह दूसरी बात है कि उपयोगितावाद ने प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को सैद्धान्तिक रूप से अस्वीकृत कर दिया था। स्थूल रूप से सत्रहवीं शताब्दी के अधिकांश दृष्टिकोण की भाँति विधि और राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोण भी प्लेटोनिक था। ग्रोशियस की प्रस्तावना पर प्लेटो की स्पष्ट छाप है। प्रकृति की विधि केवल एक विचार, एक टाइप अथवा माडल थी। यह ज्यामिति के पूर्ण चित्र की भाँति थी। वर्तमान वस्तुएँ उससे सादृश्य रखती हैं। लेकिन इस सादृश्य का यह अर्थ नहीं हो जाता कि वे उचित हैं। इसीलिए जस जेन्टियम की नई परिभाषा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूप में की गई। प्राचीन काल में जस जेन्टियम का अर्थ समान प्रथा था। समान प्रथा से सिर्फ यह आभास मिलता था कि यह चीज उचित है।[1] लेकिन यह कोई सन्तोषजनक स्थिति नहीं थी। उचित बात यह मालूम पड़ती थी कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अपना एक स्वतन्त्र मानक हो। शासकों को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि भावात्मक विधि उस मान के अनुसार हो। परम्परागत अथवा रूढ़िगत व्यवहार कभी कभी विवेक रहित होता था। अब इस बात की कोशिश की गई कि उसके विरोध में श्रेष्ठ व्यवहार के मानक को प्रतिष्ठित किया जाए।

फलतः विवेक तथा प्राकृतिक विधि के आग्रह में एक और अस्पष्टता थी। यह अस्पष्टता तथ्यपरक सत्य और तार्किक निष्कर्ष के विरोध के अतिरिक्त थी। यह स्पष्टता तार्किक और नैतिक आवश्यकता सम्बन्धी थी। प्राकृतिक विधि में यह मान लिया गया था कि उसकी स्वयंसिद्ध प्रस्थापनाएँ कम से कम कुछ अवस्थाओं में एक आदर्श का निर्माण करती हैं। वे सिर्फ इस मानक की ही सृष्टि नहीं करती कि क्या है प्रत्युत् यह भी बताती हैं कि क्या होना चाहिए। लेकिन ज्यामिति में स्वयंसिद्ध की आवश्यकता और यह आवश्यकता कि विधि को न्यायपूर्ण होना चाहिए दो भिन्न प्रकार की आवश्यकताएँ हैं। इसका कारण यह है कि बाद की आवश्यकता मानव उद्देश्यों और प्रयोजनों से सम्बन्ध रखती है। यद्यपि ग्रोशियस का यह कथन सही था कि न्याय का अर्थ मानव

---

1 तुलना कीजिए, ग्रोशियस ने विधि के दो भेद माने थे—प्राकृतिक विधि और ऐच्छिक विधि (अर्थात् सकारात्मक विधि), Bk 1, Ch 1, Sects 10—17

प्रकृति के अन्तर्गत सिद्धान्तों से अनुकूल रहने वाली विधि ही है। लेकिन इसमें दिक्कत यह थी कि मानव प्रकृति स्वयं बड़ी पेचीदा और परिवर्तनशील है। यह कहना कि कुछ मूल्य शाश्वत हैं, सतोषजनक नहीं था। प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त में इस प्रश्न की परीक्षा भी शामिल थी कि क्या मूल्यों का प्रकृति में कुछ महत्त्व है। सत्रहवीं शताब्दी में स्पिनोज़ा (Spinoza) ही ऐसा एकमात्र दार्शनिक था, जिसने इस समस्या से निपटने की गम्भीरता से कोशिश की। उसके नीतिशास्त्र में साध्यों को उतने अधिक महत्त्व नहीं दिया गया था जितना उन्हें गणित अथवा भौतिक शास्त्र में दिया गया है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अपने शब्दों का दोहरे अर्थ में प्रयोग नहीं किया था। अपने राजनीति सिद्धान्त में उसने न्याय को,प्राकृतिक शक्तियों पर आधारित करने की ओर यह प्रमाणित करने की कोशिश की कि मज़बूत शासन ही अन्ततोगत्वा श्रेष्ठ शासन होना चाहिए। यहाँ भी उसने जिस काम का बीड़ा उठाया था उसको वह पूरा नहीं कर सका। हाब्स का भी एक अध्यात्म शास्त्र था। इस अध्यात्म शास्त्र में पारदर्शी मूल्यों का कोई स्थान नहीं था। उसने अपने नीतिवाद को प्राकृतिक विधि की प्रचलित मकल्पनाओं के साथ में बैठाने की कोशिश की लेकिन इससे सिर्फ यही सिद्ध होता है, इससे अधिक कुछ नहीं कि शताब्दी के मध्य इस शब्दावली ने एक प्रकार के फतवे का रूप धारण कर लिया था। हॉब्स के समस्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों को बेंथम के शिष्यों ने ग्रहण कर लिया था। लेकिन वे सिद्धान्त रूप से प्राकृतिक विधि को अस्वीकार करते थे। डेविड ह्यूम (David Hume) ने अठारहवीं शताब्दी के बीच में प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विश्लेषण किया और उसमें निहित दुर्बलताओं का उद्घाटन किया।

संविदा और व्यक्तिगत सहमति

(Contract and Individual Consent)

राजनीति में प्राकृतिक विधि की व्यवस्था को एकता देने वाला तथ्य उसके सिद्धान्तों का अपना प्रमाण नहीं था बल्कि यह स्थिति थी कि इस समय उसके सिद्धान्तों की महत्ता के सम्बन्ध में सभी लोग सहमत थे। इस युग के सभी विचारक यह स्वीकार करते थे कि राजनीति में प्राकृतिक विधि को सभी पक्षों को अपने ऊपर बन्धनकारी मानना चाहिए। जब हम मानव प्रवृत्ति पर विचार करते हैं तो इस सम्बन्ध में कुछ भेद होने अवश्यंभावी हो जाते हैं। लेकिन फिर भी इसको बन्धनकारी मानने की बात एक आन्तरिक बात है जो मनुष्य के स्वार्थों और हितों से प्रेरित होती है। अन्तिम विश्लेषण में दायित्व को बल द्वारा आरोपित नहीं किया जा सकता, वह तो खुद ही आरोपित होता है। इस विश्वास के कारण सम्पूर्ण दायित्व मनुष्य के वचन पर आधारित मालूम पड़ता था। मनुष्य जिस चीज़ का वायदा करता है उसके लिए उस चीज़ को मानना भी स्वाभाविक है क्योंकि उसने अपने ही वचन द्वारा तो इस प्रकार का दायित्व अपने सिर पर लिया है। मनुष्य जिस समाज में रहता है उसके प्रति उसका कुछ दायित्व है। इस दायित्व का आधार मनुष्य का अपना ही यह वचन था कि वह समाज के दायित्वों को पूरा करेगा। इस तरह का संविदा ऐतिहासिक था

या केवल एक कामचलाऊ कल्पना—काँट ने इसे बाद में कामचलाऊ कल्पना ही माना है—इससे स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता था। प्रत्येक अवस्था में बंधनकारी दायित्व को अपने आप आरोपित मानना अच्छा था। यहाँ पुफेन्डोर्फ (Pufendorf) का एक वाक्य स्थिति को स्पष्ट कर देगा। इस तरह के वाक्य उस समय के अन्य अनेक लेखकों में भी पाए जाते हैं।

"समग्र रूप से यदि हम यह चाहते हैं कि एक जन-समूह को अथवा बहुत से मनुष्यों को एक यौगिक व्यक्ति का रूप दे दें—एक ऐसा यौगिक व्यक्ति जिसके नाम से कोई सामान्य कार्य किया जा सके और जिसको कुछ अधिकार प्राप्त हों—तो चूंकि यह यौगिक व्यक्ति विशिष्ट सदस्यों से भिन्न है और चूंकि इन अधिकारों को कोई विशिष्ट सदस्य शेष से पृथक रूप से नहीं ले सकता, अतः यह आवश्यक है कि वे सबसे पहले परस्पर संविदाओं के हस्तक्षेप द्वारा अपनी इच्छाओं और अपनी शक्तियों को संयुक्त कर लें। यह समझ में नहीं आता कि इन संविदाओं के बिना ये मनुष्य जो स्वभावतः एक दूसरे के समान हैं, कैसे संयुक्त हो सकते हैं।"[1]

परिणामतः, प्राकृतिक विधि पर आधारित राजनैतिक सिद्धान्त में दो आवश्यक तत्व थे—एक तत्व तो संविदा का था जिसके द्वारा समाज अथवा शासन का (अथवा दोनों का) निर्माण हुआ। दूसरा तत्व उस प्राकृतिक अवस्था का था जो इस संविदा के पूर्व विद्यमान थी। संविदा दो महत्वपूर्ण अवस्थाओं में लागू होता थी। एक संविदा तो निजी व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन के लिए हुआ और दूसरी प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था करने के लिए। पहले संविदा के फलस्वरूप राष्ट्रीय विधि का जन्म हुआ और दूसरे के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विधि का। ये दोनों ही विधियाँ प्राकृतिक विधि के सामान्य सिद्धान्तों के अधीन थी। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विधि दोनों ही संविदा के आधार पर उत्पन्न होती हैं और दोनों ही इसलिए बन्धनकारी हैं क्योंकि वे अपने आप आरोपित हैं। इस संविदा का रूप अथवा स्वरूप कैसा था, इस सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित थे। यह विचार कि शासन शासक और शासित के समझौते के ऊपर आधारित है, प्राकृतिक विधि के आधुनिक सिद्धान्तों से काफी पुराना था। यह सामन्ती नायक और उसके अधीन रहने वाले उपनायकों के पारस्परिक सम्बन्ध में निहित था। इस प्राचीन संकल्पना में जनता अथवा समाज एक नैसर्गिक संस्था मानी जाती थी। जब प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त का विकास हुआ, उस समय यह स्पष्ट हो गया कि जनता की संविदा करने की क्षमता के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। सब से सहज स्पष्टीकरण यह था कि दो संविदाओं की कल्पना की गई। एक संविदा के अनुसार तो समाज का जन्म हुआ। यह संविदा लोगों को एक दूसरे से बद्ध करता था। दूसरा संविदा इस प्रकार नियमित समाज और उसके शासकों के बीच हुआ। इस रीति से संविदा का विचार एक सार्वभौमिक सिद्धान्त बन गया। इसके अन्तर्गत समस्त दायित्वों और समस्त सामाजिक समुदायों का समावेश हो सकता था। यह सिद्धान्त एल्थुसियस (Althusius) की रचनाओं में इसी रूप

1 *Op Cit*, Bk VII, Ch II, Sect. 6 (Kennet's translation)

में मिलता है। पुफेन्डोर्फ में भी उसका यही रूप दृष्टिगत होता है।[1] अंग्रेज लेखकों ने इस सिद्धान्त का इतना विकास नहीं किया। हॉब्स ने शासन के संविदा को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए दबा दिया था। लॉक ने दोनों संविदाओं का प्रयोग जरूर किया था लेकिन उसने उनके स्पष्ट भेद का निरूपण नहीं किया था। इसका कारण सम्भवतः यह था कि इंगलैण्ड के न्यायशास्त्र में प्राकृतिक विधि ने इतना महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लिया था, जितना उसने महाद्वीप के न्यायशास्त्र में लिया था।

यदि संविदा के इस सिद्धान्त को व्यापक रूप में लिया जाए तो यह जरूरी नहीं है कि सिद्धान्त के द्वारा शासन की शक्तियों को सीमित किया जाए अथवा प्रतिरोध का समर्थन किया जाए हालांकि इस सिद्धान्त का प्रयोग इन दोनों ही प्रयोजनों के लिए काफी किया गया था। हॉब्स और स्पिनोजा ने इस सिद्धान्त को तोड़-मरोड़ कर अथवा विकृत करके निरंकुश शक्ति के समर्थन में प्रयुक्त किया था। एलयूसियस और लॉक ने इस सिद्धान्त के आधार पर यह प्रतिपादित किया कि एक नैतिक शक्ति आवश्यक रूप से सीमित होती है। लॉक ने इस सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा सफल क्रान्ति को उचित ठहराया। ग्रोशियस और पुफेन्डोर्फ ने शायद बीच का रास्ता अपनाया। उन्होंने प्रतिरोध का समर्थन किए बिना ही शासकों के ऊपर नैतिक प्रतिबन्धों का आरोप किया। इस सिद्धान्त का वास्तविक तत्त्व यह था कि विधि और शासन आचारों के सामान्य क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं, वे केवल बल की अभिव्यक्ति ही नहीं है। उनकी नैतिक आलोचना सम्भव है। इसलिए सब मिलाकर यह सिद्धान्त राजनैतिक उदारवाद की ओर झुका हुआ था।

क्या संविदा का दायित्व वास्तव में एक नैतिक सत्य है, अब इस प्रश्न का राजनैतिक सिद्धान्त में कोई महत्त्व नहीं रहा है। हमारे सामने प्रश्न यह है कि सत्रहवीं शताब्दी में इतने अधिक व्यक्तियों ने जो अपने युग के बुद्धि देवता थे, इस सिद्धान्त को स्वतः स्पष्ट कैसे मान लिया? सम्भवतः इससे पहले की किसी शताब्दी में अथवा इससे बाद की किसी शताब्दी में भूतकाल से नाता तोड़ने का और रूढ़ि तथा परम्परा के मृत्युवाही नियन्त्रण से छुटकारा पाने का इससे अधिक सचेष्ट प्रयत्न नहीं हुआ। सत्रहवीं शताब्दी के विचारक निराधार आदतों की मूर्खता, परम्परा पर आधारित नीतियों की हीनता और बुद्धि के बिना बल की नगण्यता के प्रति पूरी तरह से जागरूक थे। इस सम्बन्ध में उनकी तुलना यूनानी दर्शन के स्वर्ण युग से की जा सकती है। अब सब लोग इस बात को मानने लगे थे कि मानवी संस्थाओं का लक्ष्य मानव का कल्याण होना चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति का साधन प्रबुद्ध ज्ञान है। प्रबुद्ध ज्ञान का सब से बड़ा शत्रु उन प्राचीन परम्पराओं का अन्धानुकरण है जिनका एक मात्र औचित्य उनका अस्तित्व है। इस युग में गणितीय भौतिक शास्त्र की अपूर्व उन्नति हुई थी। इस उन्नति ने इस पीढ़ी के लोगों में अपूर्व आत्मविश्वास भर दिया था। इस आत्मविश्वास के कारण ही यह युग आधुनिक काल का सर्वश्रेष्ठ युग हो जाता है। अपनी इन सफलताओं से उत्साहित होकर सत्रहवीं शताब्दी के लोगों ने

1. *Op. Cit.*, Bk. VII, Ch. II, Sect. 7-8.

सम्पूर्ण मानवीय संस्थाओं का नए सिरे से निर्माण करने का प्रयत्न किया और अपने इस प्रयत्न में उन्होंने विवेक को अपना पथ-प्रदर्शक माना। इस शताब्दी की वैज्ञानिक दृष्टि इतनी आगे बढ़ी हुई थी कि उसके कुछ मनीषियों ने फ्रांसिस-बेकन के शब्दों में यह भी मान लिया कि ज्ञान शक्ति है। इसके अतिरिक्त सत्रहवीं शताब्दी का दर्शन पहली बार मध्यवर्ग का दर्शन था। इस समय उदारवाद, विश्वबन्धुत्ववाद, प्रबुद्धिवाद और व्यक्तिवाद आदि के पक्ष में मध्यवर्ग की आवाज भी उठ रही थी।

उपर्युक्त परिस्थितियों में आधुनिक दर्शन ने जिस ठोस पद्धति का विकास किया वह व्यक्तिगत मानव प्रकृति का सिद्धान्त है। इस युग के विचारकों को व्यक्तिगत मानव प्राणी—वह मानव प्राणी जिसके अपने हित हैं, अपना उद्यम है, जो सुख चाहता है, आगे बढ़ने का अभिलाषी है, जो अपनी समस्त क्षमताओं का प्रयोग विवेक के आधार पर करता है—समस्त स्थायी समाज की बुनियाद मालूम पड़ता था। इस मानव प्राणी को नींव बनाकर ही भविष्य के स्थायी समाज का निर्माण किया जा सकता था। अब पद सम्बन्धी परम्परागत अन्तर क्षीण पड़ते जा रहे थे। अब व्यक्ति का इस रूप में आदर नहीं था कि वह पुरोहित है या सिपाही है या किसी संघ अथवा वर्ग का सदस्य है। मनुष्य के आदर का एक मात्र आधार यह था कि वह मनुष्य है, वह स्वाधीहीन मनुष्य है। इस समय एक ऐसे मनोविज्ञान का भी निरूपण होने लगा था जो मनुष्य के मनुष्यत्व को ही सम्पूर्ण क्रियाकलापों का स्रोत मानता था। भौतिक संसार का निर्माण करने वाली वस्तुओं में अब जिस प्राकृतिक एकता का विचार विकसित हो रहा था वह प्राकृतिक एकता किसी-न-किसी रूप में मनुष्यों के ऊपर भी लागू हो सकती थी। यह ठीक था कि मनुष्य में कुछ स्थानीय स्वभाव सम्बन्धी और व्यक्तिगत विचित्रताएँ पाई जाती थीं, लेकिन ये विचित्रताएँ एक आदर्श से थोड़ा सा हटकर ही थीं। इनसे आदर्श पर कोई असर नहीं पड़ता था। समग्र दृष्टि से देखने पर वह स्थिर था। यदि मानव प्रकृति में ऐसा अपरिवर्तनशील तत्व था तो फिर इस तत्व के आधार पर उन कुछ न्यूनतम दशाओं की कल्पना की जा सकती थी जिनको लेकर सामाजिक समुदायों का निर्माण होता और जिनको लेकर श्रेष्ठ आचरण तथा श्रेष्ठ शासन के कुछ ऐसे मूल नियम निश्चित किए जाते जिनकी कोई शासक मनमाने ढंग से अवहेलना न कर सकता। प्राकृतिक विधि, प्राकृतिक धर्म और प्राकृतिक अर्थशास्त्र का दर्शन सत्रहवीं शताब्दी की बौद्धिक और सामाजिक धारणाओं में निहित था।

एक महत्वपूर्ण तथ्य की व्याख्या आवश्यक थी। व्यक्तिगत मनुष्य व्यक्तिगत नागरिक अथवा व्यक्तिगत प्रजाजन भी है। प्राकृतिक विधि का सिद्धान्त इस बात को व्यक्ति की प्रकृति पर आधारित मानता था। यह बात निश्चित जरूर थी लेकिन स्पष्ट नहीं थी। निश्चितता का मान्य क्रम महत्वपूर्ण था। अन्य परिस्थितियों में संगठित समाज के रूप में मनुष्य एक स्वयं सिद्ध तत्त्व था। व्यक्ति के नाते उसकी स्थिति एक व्युत्पन्न की थी। प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में मनुष्य के सम्बन्ध में यही धारणा उपलब्ध होती है। प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों के लिए और विशेषकर हॉब्स के बाद मनुष्य की समाज की सदस्यता की संकल्पना को स्पष्ट करने की जरूरत

था। समाज मनुष्य के लिए होता है, मनुष्य समाज के लिए नहीं। कांट ने यह ठीक ही कहा था कि मानवता को सदैव एक साध्य मानना चाहिए, साधन नहीं। व्यक्ति तर्क की दृष्टि से और नीति की दृष्टि से समाज से पहले है। सत्रहवीं शताब्दी के दर्शन को सम्बन्ध, अपेक्षाकृत सारहीन प्रतीत होते थे। व्यक्ति की यह मान्य पूर्व ा ही प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त का सब से स्पष्ट और सब से ग्राह्य लक्षण ब गया। यह मध्ययुगीन सिद्धान्त और आधुनिक सिद्धान्त के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा भी बना। हॉब्स और लॉक ने इस सिद्धान्त का विशेष रूप से विकास किया। उनके हाथों म यह सामाजिक सिद्धान्त का सार्वभौम लक्षण बन गया। उस ो यह स्थिति फ्रेंच क्रान्ति के समय तक और उसके बाद तक रही। जब डविड ह्यूम ने प्राकृतिक अधिकारों की पद्धति को नष्ट कर दिया था, उस समय भी बैंथम के सम्प्रदाय म इस सिद्धान्त के तत्त्व बने रहे थे

Selected Bibliography

"The Law of Nature" By James Bryce In *Studies in History and Jurisprudence* New York, 1901

"The 'Higher Law' Background of American Constitutional Law," By Edward S Corwain In *Harvard Law Review* Vol XLII (1928-29), pp. 149, 365

Studies of Political Thought from Gerson to Grotius By John Neville Figgis Second edition Cambridge 1923, Ch VII

National and International Stability Althusius Grotius, Von Vollenhoven By P S Gerbrandy, London 1944

The Development of Political Theory By Atto Gierke Trans Bernard Freyd New York, 1939 (*Johannes Althusius und die Entwicklung der naturrechtlichen Staattheorien*)

Natural Law and the Theory of Society 1500 1800 By Otto Gierke With a lecture on the Ideas of Natural Law and Humanity, by Ernest Troeltsch Trans by Ernest Barker, 2 vols Cambridge 1934 (From *Das deutsche Genossenschaftsrecht* Vol IV)

The Revival of Natural Law Concepts By Charles Grove Haines Cambridge, Mass, 1930 Chs 1-3

The Life and Works of Hugo Grotius By W S M Knight, London, 1925

'The History of the Law of Nature" By Sir Frederick Pollock In *Essays in the Law*, London, 1922

Natural Rights By D G Ritchie Third Edition London, 1916 Ch II

Justice and World Society By Lawrence Stapleton Chapel Hill North Carolina, 1944, Ch 2

Hugo Grotius, By Hamilton Vreeland New York, 1917

अध्याय २२

इंगलैंड : गृहयुद्ध के लिए तैयारी

(England : Preparation For Civil War)

इंगलैंड में १६४०-५० में गृहयुद्ध हुआ था। वहाँ इससे पूर्व ही प्रतिद्वन्द्वी राजनैतिक विचारों के बीच स्पष्ट विभाजन-रेखा खिंच गई थी। इस प्रकार की विभाजन-रेखा सोलहवीं शताब्दी के चतुर्थांश में फ्रांस में नहीं खिंच सकी थी। फ्रांस में प्रतिरोध का अधिकार निश्चित रूप से इस प्राचीन विचार के साथ जुड़ गया था कि राजनैतिक शक्ति जनता में निहित होती है। वहाँ निष्क्रिय आज्ञापालन का कर्तव्य निश्चित रूप से राजाओं के दैवी अधिकार के साथ सम्बद्ध था। इसके साथ ही बोदाँ (Bodin) की रिपब्लिक ने राजमुकुट की अधीनता में सवैधानिक एकता का एक अच्छा-खासा सिद्धान्त प्रस्तुत कर दिया था। इंगलैंड में सत्रहवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश तक नागरिक अव्यवस्था का कोई गम्भीर खतरा पैदा नहीं हुआ था। इसलिए, वहाँ ये विचार प्राय उसी अपरिष्कृत अवस्था में पड़े रहे जिस अवस्था में वे मध्ययुगीन परम्परा में थे। ट्यूडर राजा एक प्रकार से निरंकुश ही थे। लेकिन, उनकी शक्ति मध्यवर्ग के महत्वपूर्ण अंश की सहमति पर निर्भर थी। उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता से मध्यवर्ग को अपनी मुट्ठी में कर रखा था। इसलिए, इंगलैंड में कोई ऐसा दल नहीं था जो राजकीय निरंकुशता के साथ दैवी अधिकार के सिद्धान्त को समीकृत करने में रुचि रखता। वहाँ ऐसा कोई दल भी नहीं था जो प्रतिरोध के अधिकार का सैद्धान्तिक आधार खोजता। वहाँ ऐसा कोई विचारक भी अभी तक नहीं हुआ था जो इस बात की कल्पना करता कि राजा और संसद् अथवा राजा और उसके दरबारियों के बीच दरार पड़ने पर क्या परिणाम होते हैं। लोग अब भी यह मानते थे कि इन शक्तियों में राष्ट्र की मूल विधि के अन्तर्गत एकता और सौहार्द बना रह सकता है तथा इस बात पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं है कि अन्तिम वैधिक सत्ता शासन के किस अंग के पास रहनी चाहिए। उन परम्परागत अधिकारों और सीमाओं में जिन्होंने संविधान में विभिन्न अंगों की स्थिति निश्चित कर दी थी अभी तक ऐसा तनाव पैदा नहीं हुआ था कि वे टूटने को हो जाते।

'मोर की यूटोपिया"

(More's "Utopia")

ज्यों ज्यों सोलहवीं शताब्दी आगे बढ़ती गई, यूरोप के अन्यान्य भागों की तरह इंगलैंड में भी प्रोटेस्टेंट रिफर्मेशन से उत्पन्न होने वाली राजनैतिक समस्याओं ने अन्य समस्त समस्याओं को ढक दिया। आधुनिक वाणिज्य के विकास और पुरानी अर्थ-व्यवस्था के विनाश ने आर्थिक जीवन में काफी अव्यवस्था पैदा कर दी थी। लेकिन, यह अव्यवस्था विभिन्न चर्चों की महत्वाकांक्षाओं के जाल में छिप सी गई थी। राज-

नैतिक दर्शन की पुरानी परिपाटी पर थॉमस मोर के राजनैतिक व्यंग यूटोपिया[1] में देखी जा सकती है। यह पुस्तक रिफॉर्मेशन से पहले लिखी गई थी। यद्यपि यूटोपिया की रचना जाहिरी तौर पर प्लेटो की रिपब्लिक के ढंग पर हुई थी, लेकिन इसमें इसके लेखक ने अपने समय के प्रर्जनशील समाज के प्रति विरक्ति प्रकट की है। इस समाज में यह एक रीति सी बन गया था कि लोग "विदेशों में बहुत सस्ता खरीदते थे और फिर बहुत महंगा बेचते थे।" इस व्यंग की शैली कुछ ऐसी है कि यह आर्थिक अव्यवस्था के किसी भी युग के लिए उपयुक्त हो सकती है। अपराध आए दिन होते रहते हैं और उन्हें दंड विधि की कठोरता से दबाने की कोशिश की जाती है। लेकिन, दंड विधि की इस कठोरता का कोई परिणाम नहीं निकलता क्योंकि बहुत से लोगों के लिए केवल अपराध ही जीविका उपार्जित करने का एकमात्र साधन है। "आप लोग चोर बनाने और फिर उन्हें दंड देने के अतिरिक्त और करते ही क्या हैं?" जब लड़ाई बन्द हो जाती है, तो सिपाही के काम के लिए प्रशिक्षित लोगों को समुदाय के ऊपर फेंक दिया जाता है और इस बात की कोई सम्भावना नहीं होती कि वे उद्योग-धन्धों में लग जाएँगे। उद्योग विशेषकर इन लोगों तक को रोजी नहीं दे सकते जो पहले से ही उनमें लगे हुए हैं। सबसे अधिक लाभदायक पेशा ऊन का है। लेकिन, इसके लिए कृषियोग्य भूमि में चरागाह बनाने पड़ते हैं। परिणाम यह होता है कि जमीन उन किसानों के हाथ से निकल जाती है, जो उनके मालिक होते हैं। भेड़ें सारे खेतों, मकानों और नगरों को हड़प जाती हैं, नष्ट कर देती हैं और तहस-नहस कर देती हैं। इस अवस्था में जहाँ किसानों को तो दाने दाने के लाले पड़े होते हैं, अमीर अपने विलास-वैभव में चूर रहते हैं। सरकार इस सामाजिक रोग को दूर करने की कोशिश नहीं करती। उसका ध्यान तो कर वसूल करने में तथा युद्ध और विजय की विनाशक योजनाओं में लगा रहता है। मोर ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनय की धोखेबाजी पर सबसे करारा व्यंग किया है।

मोर ने व्यापारिक उद्यम के अर्थशास्त्र पर यह जो आक्षेप किया था, उसके मूल में भूतकाल के प्रति प्रेम की भावना थी। वह उस आदर्श सहकारी राज्य का समर्थक था यद्यपि यह आदर्श सहकारी राज्य एक वास्तविकता नहीं था जिसे नई अर्थ-व्यवस्था विस्थापित कर रही थी। मोर की सामाजिक न्याय-सम्बन्धी धारणा पर प्लेटो का असर था। प्लेटो ने समाज का तीन सहकारी वर्गों में विभाजन किया था। इस प्रकार की धारणा मध्ययुग के सामाजिक सिद्धान्त में भी अन्तर्निहित थी और मोर ने उसे वहाँ से भी ग्रहण किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार जो सेंट थॉमस (St Thomas) के पश्चात् बराबर प्रचलित रहा था, समाज में अनेक वर्ग

1. यह पुस्तक सबसे पहले १५१६ में प्रकाशित हुई थी। सहकारी राज्य के आदर्श का एक कम विख्यात उदाहरण थामस स्टार्की का डायलॉग है। यह कार्डिनल पोल और थॉमस लुप्सेट के बीच संवाद शैली में लिखी गई रचना है। इसकी रचना १५३६-३८ में हुई थी। इसे सबसे पहले अर्ली इंगलिश टैक्स्ट्स सोसायटी ने १८७१ में प्रकाशित किया था। कृपया जे० डब्ल्यू० एलेन के 'पोलिटिकल थॉट इन दि सिक्सटीन्थ सेंचुरी' (१९२८) में 'दि वेरी हेड इज़ कॉमनवील' नामक अध्याय देखिए। पृ० १३४।

होते हैं। प्रत्येक वर्ग की यह जिम्मेदारी होती है कि वह समान हित का कोई न कोई आवश्यक कार्य करे। वह अपनी इस जिम्मेदारी को उचित रीति से पूरा करता है और इसके बदले में उसे समाज से पुरस्कार प्राप्त होता है। एक वर्ग दूसरे वर्ग के अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करता। इस प्रकार की योजना में व्यक्तिगत उपक्रम का कोई स्थान नहीं है। सम्भवत:, इंगलैंड की मैनर (manor) नामक प्रादेशिक इकाई एक ऐसी आर्थिक इकाई अथवा नैतिक इकाई का निर्माण कर सकती थी जो इस तरह की कल्पना से बहुत दूर की वस्तु न होती। मोर के विचार से समाज का नैतिक उद्देश्य यह है कि वह श्रेष्ठ नागरिकों तथा बौद्धिक और नैतिक स्वतन्त्रता के व्यक्तियों को उत्पन्न करे आलस्य को दूर करे, अत्यधिक परिश्रम के बिना ही सबकी आवश्यकताओं को पूरा करे, विलास तथा अपव्यय को नष्ट करे, गरीबी और अमीरी दोनों को कम करे, लोभ तथा रिश्वतखोरी को समाप्त करे, संक्षेप में मनुष्य को स्वतन्त्रचेता बनाए। यदि कभी कोई नैतिक विचार दयापूर्ण हो सकता है, तो यह मोर का है। यह विचार धार्मिक युद्धों तथा आधुनिक वाणिज्य के विस्तार की वेला में उदित हुआ था। मोर के जीवन की भाँति ही उसने मानववाद के मुक्तिवाद तथा उदारतावाद को प्रकट किया। इसके साथ ही उसने उन नैतिक महत्वाकांक्षाओं की निष्फलता को भी सिद्ध कर दिया जो वास्तविक यथार्थ का मुकाबला नहीं कर सकतीं। धार्मिक युद्ध की बढ़ती हुई लहर के कारण तथा इसके आधार पर उत्पन्न होने वाली राजनैतिक संगठन की समस्याओं के कारण सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का मानवी पक्ष विशेष महत्व धारण न कर सका। इसलिए, अपने युग में राजनैतिक घटनाक्रम में यूटोपिया की आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज बन कर रह गई। यह आने वाले युग की अधिकारपूर्ण आवाज न होकर एक पुराने आदर्श की मरती हुई आवाज थी।

हुकर : राष्ट्रीय चर्च
(Hooker : The National Church)

मोर में तथा सोलहवीं शताब्दी में अन्य समस्त अंग्रेजी लेखकों में सहकारी राज्य की जो कल्पना पाई जाती थी, वह सत्रहवीं शताब्दी के अधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों के लिए आधार-भूमि बन गई। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक पुरानी कल्पना असंगत हो गई थी। अब सभी पक्ष कुछ कम युक्तिपूर्ण समझौता पर निर्भर रहने लगे थे जिन्हें परस्पर विरोधी और असंगत दावों की उपस्थिति में स्थान देना जरूरी हो गया था। इस समय मुख्य समस्याएँ दो थीं। एक समस्या तो चर्च और लौकिक शासन में सम्बन्ध की थी। प्रोटेस्टेंट चर्च रोम के चर्च से अलग हो गया था। लेकिन, इससे समस्या नहीं सुलझी। अब इंगलैंड के चर्च तथा प्रोटेस्टेंट चर्च की अन्य शाखाओं प्रेसबिटेरियन, इंडिपेंडेंट और सेक्टेरियन में आन्तरिक कलह होने शुरू हो गए थे। इन समस्त धार्मिक विवादों में कुछ राजनैतिक प्रश्न भी जुड़ हुए थे जिनका निवारण नहीं किया जा सकता था। इसलिए, हमारे लिए यह देखना आवश्यक है कि इंगलैंड के धार्मिक पक्षों में क्या राजनैतिक मतभेद थे। दूसरी महत्वपूर्ण बात

यह है कि उस समय शक्ति के केन्द्रीकरण का प्रश्न भी एक ज्वलंत प्रश्न था। केन्द्रीकरण की व्यवस्था में इस बात पर जोर दिया जाता था कि शासन के विविध अंगों के बीच सहकारितापूर्ण सम्बन्ध है। इसका विशेष रूप से राजा से और अदालतों के ऊपर उसके नियन्त्रण से, सबसे पहले सामान्य विधि की अदालतों के ऊपर और फिर संसद् के ऊपर नियन्त्रण से सम्बन्ध था। इस अध्याय में हम सबसे पहले मुख्य धार्मिक पक्षों की विशेषताओं का वर्णन करेंगे। इस प्रसंग में हम चर्च तथा राज्य के सम्बन्धों के प्रश्न पर विशेष रूप से विचार करेंगे। इसके बाद हम राजमुकुट तथा संविधान के अन्य तत्त्वों के बढ़ते हुए तनाव की चर्चा करेंगे। यह तनाव शक्तियों के सामंजस्य के पुराने विश्वास को धीरे-धीरे नष्ट करता जा रहा था।

कुछ ऐसे कारणों की वजह से जो उस समय की परिस्थितियों में अन्तर्निहित थे, इंगलैण्ड के चर्च की रोम से स्वतन्त्रता का अभिप्राय यही हो सकता था कि राजा उसका लौकिक प्रधान हो जाता। लेकिन, चर्च के लौकिक प्रधान का विचार नया और दुर्बोध था। धार्मिक शासन के पास यह निर्णय करने की शक्ति अवश्य होनी चाहिए कि उसके सदस्य किन सिद्धान्तों में विश्वास रखें। लेकिन, कोई भी ईसाई गम्भीरतापूर्वक यह मानने को तैयार नहीं था कि इंगलैण्ड का राजा यह कह सकता है कि क्या सच्चा सिद्धान्त है। एक विधिवेत्ता, जिसे धर्मशास्त्र का कम ज्ञान हो और जो उसकी ओर ध्यान और भी कम देता हो, इस व्यावहारिक निष्कर्ष से ही सन्तुष्ट हो सकता था कि राजा की अदालतों में नास्तिकता की भी अन्य अपराधों की भाँति ही परिभाषा की जा सकती थी। जिस व्यक्ति का यह हार्दिक विश्वास था कि चर्च का सिद्धान्त शाश्वत सत्य है उसे यह देखकर जरा परेशानी होती कि राजा द्वारा नियुक्त किये गये, इस सत्य की घोषणा करें। सचाई यह है कि लौकिक प्रधानत्व की बात उसी समय तक सम्भव थी जब तक कि उसे समझना जरूरी न हो। व्यवहार में इसका अभिप्राय एक सिद्धान्त नहीं, प्रत्युत एक समझौता था जो उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए सार्वजनिक व्यवस्था के लिए हितकारी भी था। फ्रांस के धार्मिक युद्धों ने एक ऐसा विकल्प उपस्थित किया जो बुद्धिमान् अंग्रेजों के मन को भा गया। उस समय की स्थिति में एक अनिवार्य तथ्य यह था कि प्रत्येक व्यक्ति अब भी एक सार्वभौम ईसाइयत की छाया में रहता था। उसका विश्वास था कि चर्चों के विभाजन अस्थायी हैं और वे कुछ समय बाद दूर हो जायेंगे तथा समान विश्वास की प्रकृत अवस्था स्थापित हो जायेगी। चर्च की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में काल्विन के प्रबल विचारों से परिचित कोई भी व्यक्ति चर्च के लौकिक प्रधानत्व को स्थायी चीज नहीं मान सकता था।

चर्च के राजकीय प्रधानत्व के वाद-विवाद ने एक स्थायी महत्त्व के ग्रंथ को जन्म दिया। यह ग्रंथ रिचर्ड हूकर (Richard Hooker) का *The Laws of Ecclesiastical Polity* था।[1] लक्ष्य की दृष्टि से यह ग्रंथ विवादास्पद था। इसका उद्देश्य

---

1 इस ग्रंथ के १-४ तक के अध्याय १५९४ में और अध्याय ५ १५९७ में छपे थे। अध्याय ६-८ हूकर की मृत्यु के बाद मूल ग्रंथ में कुछ टिप्पणियों के साथ जोड़े गये थे।

सत्यापित चर्च के सम्बन्ध में प्युरिटनों की आलोचना का प्रतिवाद करना था। लेकिन शैली तथा विद्वता की दृष्टि से यह ग्रंथ सामान्य विवादास्पद साहित्य से ध्रुव दूर था। यद्यपि बाहरी रूप से इस ग्रंथ में केवल चर्च शासन पर विचार किया गया था, लेकिन वास्तव में उसमें विधि तथा शासन का दार्शनिक विवेचन किया गया था। हुकर के मत से चर्च शासन नागरिक समाज का केवल एक पक्ष था। एक्लेसियास्टिकल पॉलिटी अपने युग के विचारों का प्रतिनिधित्व करती थी। उसका विशेष महत्व यह है कि उसे मध्ययुगीन परम्परा का अंतिम महान् वक्तव्य समझा जा सकता है। इंगलैण्ड में गृहयुद्ध द्वारा जनित तनावों ने इस परम्परा को नष्ट कर दिया। इस ग्रंथ की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमें विभिन्न प्रश्नों के बीच समाधान खोजने की कोशिश की गई थी। एक पीढ़ी बाद ये प्रश्न एक दूसरे के बिल्कुल विरोधी हो गये थे और उनके बीच सामंजस्य की कोई सम्भावना नहीं रही थी। आगे चलकर इस ग्रंथ का महत्व यह भी था कि यह मध्ययुगीन परम्परा को उसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन करके गृहयुद्ध के बाद के आधुनिक राजनैतिक दर्शन में ले आया। जॉन लॉक (John Locke) ने *"ज्यूडिशियस हुकर"* के ऋण को स्वीकार किया है। क्रान्ति के परिणामों को उसने जिस अनुदार रीति से व्यक्त किया है, उस पर हुकर के विचारों की स्पष्ट छाप है।

हुकर के तर्क का मुख्य उद्देश्य यह प्रकट करना था कि प्युरिटन सत्यापित चर्च की आज्ञा मानने से इनकार कर सम्पूर्ण राजनैतिक दायित्व की बुनियाद को अस्वीकार कर रहे हैं। अंग्रेज विवेक के आधार पर इंगलैण्ड की धार्मिक विधि का पालन करने के लिए बाध्य हैं। प्युरिटन विवेक अथवा धर्म के आधार पर उसकी अवज्ञा करने के लिए बाध्य नहीं है। इस थीसिस के समर्थन के लिए उसने सम्पूर्ण विधि तथा राजनैतिक दायित्व के दार्शनिक आधार की परीक्षा की। यहाँ उसने टॉमस (Thomas) के नेतृत्व का अनुसरण किया। विधि के अनेक भेद हैं . शाश्वत विधि, अथवा ईश्वर की अपनी प्रकृति की विधि, प्राकृतिक विधि अथवा वे आदेश जो ईश्वर ने विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के नियमन के लिए निर्धारित किए हैं और विवेक की विधि जिसका मनुष्य को विवेकयुक्त प्राणी होने के नाते पालन करना चाहिए। विवेक मनुष्य को श्रेय की पहचान कराता है। उसकी इच्छा उसे इस श्रेय का पालन करने की प्रेरणा देती है। इसलिए मनुष्यों के जीवन का नियम "विवेक का वह आदेश है जो वह मनुष्य के विविध कार्यों के श्रेय के बारे में देता है। विवेक के ये नियम मानव जाति की सामान्य स्वीकृति द्वारा ज्ञात होते हैं। "मनुष्यों ने युगयुगों में जो चीजें सीखी हैं उन्हें प्रकृति ने ही मनुष्यों को सिखाया है।"[1] विवेक के आधारभूत नियम जैसे ही समझ में आ जाते हैं, वैसे ही उन्हें सब लोग स्वीकार कर लेते हैं। इन नियमों के आधार पर ही अपेक्षाकृत कम महत्व के नियमों को निकाल लिया जाता है। यहां तक हुकर मध्ययुगीन राजनैतिक दर्शन की सामान्य बातों से आगे नहीं बढ़ा था। उसका उद्देश्य सामान्य रूप से स्वीकृत सिद्धान्तों के

1. Book 1, Sect 8

आधार पर ही तर्क करना था। उसने विधि के उस सिद्धान्त की व्याख्या की जिसे एक पीढ़ी बाद ग्रोशियस ने आरम्भ किया था। हूकर की व्याख्या में ग्रोशियस की सारी बातें आ गई हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि ग्रोशियस का तर्क जरा अधिक युक्ति-संगत है।

विवेक की विधि सभी मनुष्यों के ऊपर पूरी तरह से लागू होती है चाहे समाज और शासन का अस्तित्व न रहा हो। हूकर के अनुसार मनुष्य समाजों का निर्माण इसलिए करते हैं क्योंकि उनमें सहज सामाजिकता होती है और वे एकाकी स्थिति में अपनी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। शासन के बिना समाज असम्भव है और मानवी अथवा सकारात्मक विधि के बिना शासन असम्भव है। जब मनुष्य समाज में मिल-जुल कर रहते हैं, तो उनमें कुछ शिकायतें जरूर पैदा हो जाती हैं। इन शिकायतों को दूर करने का उपाय यही है कि मनुष्य आपस में समझौते द्वारा एक सार्वजनिक शासन की स्थापना करें और उसके अधीन हो जाएँ। हूकर ने संविदा के विचार का स्पष्टीकरण नहीं किया यद्यपि उसने जो कुछ कहा था, उसमें यह विचार अवश्य निहित था। मनुष्य जिन नियमों के द्वारा एक साथ रहने के लिए तय्यार हो जाते हैं, उन नियमों को या तो स्पष्ट रूप से तय किया जाता है या गर्भित रूप से। इस प्रकार से जो व्यवस्था जमती है, वही राज्य की विधि होती है। "यह व्यवस्था राजनैतिक समाज की आत्मा होती है। उसके विभिन्न अंग एक दूसरे से संयुक्त होते हैं और वे समान हित के आवश्यक कार्यों को करते हैं।"[1] इसलिए, राजनैतिक दायित्व का आधार वह समान सहमति है जिसके द्वारा व्यक्ति किसी एक के द्वारा व्यवस्थित होने के लिए तय्यार हो जाते हैं। हूकर का कहना है उसके ये शब्द निकोलस ऑफ कूसा (Nicholas of Cusa) की याद दिला देते हैं कि इस सहमति के बिना यह मानने का कोई कारण नहीं है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का स्वामी अथवा निर्णायक कैसे हो सकता है। लेकिन, उसका यह भी स्पष्ट विचार था कि सहमति प्रतिनिधियों के द्वारा भी दी जा सकती है। यदि राज्य का एक बार निर्माण हो जाता है तो उसकी विधियाँ सदस्यों के ऊपर हमेशा ही लागू होती हैं। इसका कारण यह है कि "निगम शाश्वत होते हैं।" यद्यपि वह यह मानता है कि वे विधियाँ विधियाँ नहीं हैं जिनका जनता की सहमति से निर्माण नहीं हुआ और सहमति के बिना शासन करना अत्याचारी शासन है लेकिन उसने विद्रोह के अधिकार को स्वीकार नहीं किया। जब कोई समाज किसी सत्ता की स्थापना कर लेता है, तब फिर उसके पास सहमति वापिस लेने का कोई उपाय नहीं रहता।

इस दर्शन के बारे में मुख्य बात यह है कि यह थॉमस के दर्शन से मिलता जुलता है। समाज का मानवी विधि ईश्वर की शाश्वत विधि से धीरे-धीरे व्युत्पन्न होती है। उसके पीछे अपनी उत्पत्ति की पूरी सत्ता होती है। सकारात्मक विधि ऐसी समस्त वस्तुओं की व्यवस्था करती है जिनकी सामान्य रूप से प्रकृति को आवश्यकता होती है। प्राकृतिक एकक के रूप में समुदाय के पास भी ऐसी ही शक्ति होती है कि वह अपने सदस्यों को बाँधे रख सकता है। जब हूकर इंगलैंड के चर्च के ऊपर प्युरिटनों

1. *Ibid.* Sect. 10.

के आक्षेप के सम्बन्ध में विचार करता है, तो थॉमस के साथ उसका सादृश्य समाप्त हो जाता है। संक्षिप्त रूप से उसका तर्क यह था कि इंगलैण्ड की धार्मिक विधि विवेक अथवा ईसाई धर्म के विरुद्ध नहीं है और इसलिए इंगलैंड की शेष विधि के समान ही वह भी सारे अंग्रेजों के ऊपर लागू होती है। प्रत्येक राजनैतिक समाज का यह कर्तव्य है कि वह धर्म की अभिवृद्धि करे और जिस समाज का सच्चा धर्म होता है वह समाज चर्च भी होता है और राज्य भी। अंग्रेजी चर्च और अंग्रेजी राष्ट्र की सदस्य-संख्या बिलकुल बराबर होती है क्योंकि प्रत्येक अंग्रेज ईसाई होता है और इंगलैण्ड में प्रत्येक ईसाई अंग्रेज है। इसलिए, धार्मिक विधि की भी वही सत्ता है जो कि अन्य किसी विधि की है। उसकी अवज्ञा करने से सामाजिक व्यवस्था में व्यतिक्रम पैदा होता है। हुकर के विचार से प्युरिटन मत का अपराध यह है कि वह चर्च तथा राज्य को दो विशिष्ट समाज मानता है। रोमन कैथोलिक चर्च के साथ भी यही बात है। हुकर का कहना है कि इस पद्धति से तो चर्च राज्य के ऊपर हावी हो जाता है। इसलिए, पोपशाही तथा प्रेसबिटेरियनिज्म—ये दोनों ही राज्य में और अन्ततोगत्वा चर्च में अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं।

यह तर्क मध्ययुगवाद तथा राष्ट्रवाद का असाधारण समन्वय है। पहले तो वह यह मान लेता है कि अंग्रेजी राज्य एक राष्ट्र अथवा समुदाय है, वह एक ऐसी आत्म निर्भर नैगमिक संस्था है जिसकी विधियाँ उसके सदस्यों को न केवल उनकी व्यक्तिगत क्षमता में ही प्रत्युत् उन्हें समाज के अंगों के रूप में भी बाँधती हैं। इसलिए, विधि यह निर्धारित करती है कि शासकों और धर्माचार्यों दोनों को क्या करना चाहिए। उनकी शक्ति उनकी वैयक्तिक इच्छा पर नहीं, प्रत्युत् उनके पदों पर निर्भर होती है। संवैधानिक पक्ष में हुकर का सिद्धान्त अब भी सहकारी राज्य का सिद्धान्त है। धर्म के पक्ष में मध्ययुगीन परम्परा के अनुसार वह यह मान लेता है कि एक पूर्ण समाज चर्च भी होता है और राज्य भी। उसमें एक धार्मिक संविधान भी होता है और लौकिक संविधान भी। हुकर इस बात को मान लेता है कि ईसाई धर्म सच्चा है—सम्भवत, वह अन्य लोगों की अपेक्षा अंग्रेजों के लिए ज्यादा सच्चा नहीं है—फिर भी वह यह मानकर चलता है कि और इस बात से थॉमस को आश्चर्य होता कि सार्वभौम सत्य के लिए अपनी किसी सार्वभौम संस्था की आवश्यकता नहीं है प्रत्युत् उसे एक राष्ट्रीय सरकार तथा राष्ट्रीय चर्च के मातहत रखा जा सकता है। अन्त में, और यह प्युरिटन दृष्टिकोण से हुकर के सिद्धान्त की दुर्बलता है, हुकर का सिद्धान्त यह मानता है कि ईसाई धर्म का असंदिग्ध सत्य चर्च के शासन को जो पादरियों के शासन और प्रेसबिटेरियनिज्म के बीच का चुनाव होता है—धर्म की ओर से उदासीन छोड़ देता है। स्पष्ट है कि कैथोलिक की भाँति ही कोई काल्विनवादी भी इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता था कि पोप की आध्यात्मिक सत्ता का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि हम यह मानें कि हुकर का दर्शन सोलहवीं शताब्दी के अन्त में इंगलैण्ड के राजनैतिक दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है, तो यह दर्शन अपने विधि निषेधों दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। उसने सहमति का सिद्धान्त जिस रूप में उपस्थित

किया, उससे प्रतिरोध के अधिकार का समर्थन नहीं होता। उसने निष्क्रिय आज्ञापालन के बारे में भी कुछ नहीं कहा। सोलहवीं शताब्दी के अन्य अंग्रेज लेखकों ने जिनमें प्युरिटन और गैर प्युरिटन दोनों शामिल थे—प्रतिरोध को नैतिक दृष्टि से अनुचित बताया है। उनके इस विश्वास का आधार उपयोगिता-परक था लेकिन इसमें राजकीय निरंकुशता का कोई सिद्धान्त निहित नहीं था।[1] यद्यपि हुकर ने एक एंग्लिकन के रूप में लिखा था लेकिन उसका सिद्धान्त राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त से कोसों दूर है। इंगलैण्ड में दैवी अधिकार का सिद्धान्त गृहयुद्ध के दिनों में और उसके बाद ही लोकप्रिय हुआ था। यह सिद्धान्त मुख्य रूप से धर्माचार्यों का सिद्धान्त था। इसका विश्वविद्यालयों में विशेष प्रचार था।[2] चार्ल्स प्रथम की शहादत के बाद 'राजा की शहादत' के नाम पर इस सिद्धान्त की बार-बार दुहाई दी जाने लगी थी। इसने किसी सवैधानिक प्रश्न पर असर नहीं डाला। इसका राजतन्त्रवादियों के यथार्थ चिन्तन में भी बहुत कम महत्त्व था। जेम्स प्रथम और चार्ल्स प्रथम के शासन-काल में संसद् में उसका कोई प्रवक्ता नहीं था। बाद में उसकी केवल मौखिक सराहना की गई। लेकिन, शायद उसने इंगलैण्ड के राजनैतिक दर्शन पर कोई असर नहीं डाला।

कैथोलिकों और प्रेसबिटेरियनों का विरोध

(Catholic and Presbyterian Opposition)

हुकर का यह विचार कि राष्ट्रीय चर्च का प्रधान राजा को होना चाहिए अंग्रेजों के दो वर्गों—प्रेसबिटेरियनों तथा कैथोलिकों को पसन्द नहीं था। इन दोनों वर्गों के अनुसार चर्च में राजा की प्रधानता को मान लेने का परिणाम चर्च की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में खलल डालना होगा। चर्च शासन के सम्बन्ध में नए सैद्धान्तिक विवादों तथा मतभेदों के मूल में पोप के अधिनायकत्व और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के पुराने प्रश्न छिपे हुए थे। एंग्लिकन पहले के विरोध में थे। प्रेसबिटेरियन और कैथोलिक दूसरे को ईसाई धर्म का अनिवार्य सिद्धान्त मानते थे। कैथोलिकों के मूल दृष्टिकोण का पता निम्नलिखित अवतरण से चलता है। यह अवतरण सर टॉमस मोर के मुकदमे में राजा तथा मोर के बीच हुए वाद-विवाद से उद्धृत है। वकील ने यह कहकर कि यदि संसद् निर्णय करे तो क्या पोप का निर्वाचन अंग्रेजों के लिए निर्णीत नहीं हो सकता, मोर पर यह आरोप लगाना चाहा कि वह संसद् के अधिनियम की बन्धनकारी शक्ति को अस्वीकार कर रहा है। इस पर मोर ने जवाब दिया :

---

1. See J. W. Allen, *op. cit* Part II, Ch. II.

2. इस सिद्धान्त के प्रबलतम वक्तव्य निम्नलिखित रचनाओं में मिलते हैं। (1) Constitutions and Canons Ecclesiastical - Concerning Royal Power, adopted by Convocation in 1640, *Synodalia*, ed by E Cardwell Vol I, p. 389, also in D Wilkins, *Concilia*, Vol IV, p 545 (2) Judgement and Decree of the University of Oxford, adopted in 1683, in *Scott's Tracts* 1812), Vol. VIII, p 420, also in Wilkins, *ibid*, p. 610.

"जहाँ तक आपके पहले मामले का सम्बन्ध है, संसद् लौकिक शासकों की स्थिति में हस्तक्षेप कर सकती है, लेकिन जहाँ तक आपके दूसरे मामले का सम्बन्ध है, [redacted] आपके सामने यह प्रश्न रखूंगा। मान लीजिए यह संसद् यह कानून बना दे कि ईश्वर ईश्वर नहीं है तो क्या मास्टर रिच, आप यह कहेंगे कि ईश्वर ईश्वर नहीं है।"[1]

मोर का विचार ऐसा था जिससे कोई भी जागरूक कैथोलिक सहमत होता। यदि राजा और संसद् धार्मिक विश्वास का नियमन करने लगें, तो फिर ईसाइयों के किसी धार्मिक संगठन की आवश्यकता नहीं रह जाती। कैथोलिक चर्च की एकता और स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिए यह जरूरी मालूम पड़ता था कि पोप की कुछ सत्ता कायम रखी जाए। वह जेसुइटों की इस बात को तो नहीं मानता था कि पोप के पास राजा को अपदस्थ करने की परोक्ष शक्ति रहनी चाहिए लेकिन उसका यह विश्वास अवश्य था कि चर्च में राजा की प्रधानता का ईसाई धर्म की एकता से कोई मेल नहीं है। हाँ, उस समय बात दूसरी हो जाती है जब कि हम ईसाई धर्म की एकता का कुछ रहस्यात्मक अर्थ लगा लेते हैं।

काल्विनिस्ट पोप से घृणा करते थे। लेकिन वे यह मानने के लिए भी तैयार नहीं थे कि कोई लौकिक शासक चर्च का प्रधान बने। कैथोलिकों की तरह वे भी यह समझते थे कि इससे चर्च की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में खलल पड़ेगा। काल्विनिज्म की प्रवृत्ति यह थी कि उसे जहाँ कहीं मौका मिलता था वह चर्च पर राजनैतिक नियन्त्रण स्थापित करना नहीं चाहता था, बल्कि राजनीति पर धर्माचार्यों का नियन्त्रण स्थापित करना चाहता था। काल्विनिस्टों की योजना का आवश्यक भाग यह था कि वे सम्पूर्ण समुदाय के ऊपर नैतिक और सैद्धान्तिक अनुशासन कायम रखना चाहते थे। इस योजना की सफलता के लिए यह जरूरी था कि उन्हें शासन का समर्थन मिलता रहे। लेकिन इसके साथ ही चर्च को यह निर्धारित करने की भी आजादी रहनी चाहिए कि सद्धर्म तथा दिव्य जीवन क्या है। चर्च और राज्य का पृथक्करण काल्विनिज्म का एक आवश्यक सिद्धान्त था लेकिन यह पृथक्करण आजकल जैसा नहीं था जो राज्य को पूरी तरह से लौकिक संस्था बनाकर छोड़ता है। काल्विनिज्म जिस पृथक्करण को चाहता था, उसके अनुसार चर्च को स्वायत्तशासी रहना चाहिए लेकिन उनके निर्णय अनिवार्य होने चाहिएँ। इसलिए, एंग्लिकनों की भाँति प्रेसबिटेरियन भी मध्ययुगीन ईसाई परम्परा के काफी भाग को मानते थे, लेकिन वे निरन्तर ही इस परम्परा के स्थूल अर्थ और सूक्ष्म रूप की निरन्तर अवहेलना करने के लिए बाध्य थे। एंग्लिकनों ने मध्ययुग से एक चर्च-राज्य का सिद्धान्त ग्रहण किया था। इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप उन्होंने राष्ट्रीय आधार पर चर्च की कल्पना की। प्रेसबिटेरियनों ने चर्च की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का विचार ग्रहण किया। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने एक ऐसे राज्य का आविष्कार किया जो चर्च बिलकुल नहीं था। सोलहवीं शताब्दी में चर्च और राज्य का पृथक्करण एक ऐसी नवीनता समझी जाती थी जिसके लिए प्यूरिटन और जेसुइट उत्तरदायी थे।

---

1. Quoted by Allen *op cit* pp 200 f

इगलैण्ड के प्रेसबिटेरियन फ्रास और स्काटलैण्ड के काल्विनिस्टों से एक बात मे भिन्न थे। वे चर्च मे राजा की प्रधानता नहीं चाहते थे लेकिन उन्होंने विद्रोह का कभी समर्थन नहीं किया। इस दृष्टि से वे विंडिक्यिाए कंट्रा टिरेनोस के लेखक या नॉक्स या बेजा की अपेक्षा काल्विन के अधिक निकट थे। इसका कारण यह था कि सोलहवीं शताब्दी मे इगलैण्ड मे प्रेसबिटेरियनो को ऐसा अवसर कभी नहीं मिला जब कि उन्होंने विद्रोह द्वारा चर्च शासन पर नियन्त्रण जमाने का प्रयास किया हो। वे सत्रहवीं शताब्दी मे भी आधे विद्रोही रहे। इसीलिए, यह प्रवाद चल पडा है कि प्रेसबिटेरियन तो चार्ल्स को फाँसी के तख्ते तक ले गए लेकिन इडिपेंडेंटो ने उसके सिर को काटा। उन्होंने एक गुट के रूप मे किन्हीं विशिष्ट राजनैतिक सिद्धान्तो का निर्माण नहीं किया। उनके विचार मुख्यत. अभिजाततन्त्रात्मक और अनुदार थे। वे राजतन्त्रवादी थे। उनकी धार्मिक सुधार मे ज्यादा आस्था थी, राजनैतिक परिवर्तनों में कम। गृह-युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों मे प्रेसबिटेरियन दल का महत्त्व बढ गया था। यह महत्त्व केवल कुछ समय तक ही कायम रहा। लेकिन, जब तक यह कायम रहा उसके लेखको ने प्रतिरोध का समर्थन किया था। उनके प्रतिरोध के आधार ऐसे थे जिनका ससदज्ञ भी समर्थन कर सकते थे। उनकी इच्छा थी कि इगलैंड के चर्च मे प्रेसबिटेरियननिज्म का प्रभाव हो। लेकिन उन्हें अपने इस उद्देश्य मे सफलता राजा के विरोध से नहीं बल्कि राजा की सहायता से ही मिल सकती थी। फलत., प्रेसबिटेरियनो ने किसी राजनैतिक दल का रूप धारण नहीं किया। वे १६६२ तक इगलैण्ड के चर्च मे ही एक दल के रूप म बने रहे। १६६२ मे एक्ट आफ यूनिफॉरमिटी (Act of Uniformity) ने उन्हे चर्च से बाहर निकाल दिया।

दि इडिपेंडेंट
(The Independents)

इगलैंड के समस्त प्यूरिटनों मे इडिपेंडेंट या कांग्रीगेशनलिस्ट (Congregationalist) राजनीति की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण थे। यद्यपि धर्म की दृष्टि से वे काल्विनिस्ट थे लेकिन धार्मिक सुधार के क्षेत्र मे उन्होंने ऐसा कदम उठाया था जिसकी वजह से वे प्रेसबिटेरियनों से एक भिन्न श्रेणी मे आ गए थे। उनका विश्वास था कि किसी का भी इन्तजार किए बिना चर्च मे सुधार सम्भव है।[1] उनका विश्वास था कि कुछ ईसाई लोग मिलकर एक सघ का निर्माण कर सकते हैं जो वास्तव मे चर्च होगा। यह चर्च अपने पादरियो को दीक्षित करेगा और नागरिक शासको अथवा धार्मिक शक्तियो के प्रमाणीकरण के बिना ही उपासना पद्धति मे सुधार करेगा। इसलिए, सिद्धान्तत चर्च समान चित्त वाले धर्मानुयायियो का एक ऐच्छिक सघ हो गया। अब उसे अपना सुधार करने के लिए नागरिक अधिकारियो के सहयोग की जरूरत न रही। दूसरे धर्म के लोगो को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए भी नागरिक अधिकारियो के सहयोग की कोई आवश्यकता नहीं थी। चर्च काफी हद तक सघों के साथ एकीकृत हो गया। ये सघ बडे शिथिल सगठन थे और इनकी बैठकें

1. *A Treatise of Reformation with Tarying for Anie* (1582).

समय समय पर केवल परामर्श के लिए ही होती थी। इस तरह इंडिपेंडेंट लोग राष्ट्रीय चर्च की स्थापना से विरत थे। वे अपने लिए भी धार्मिक सहिष्णुता चाहते थे और दूसरों के लिए भी। वे चर्च और राज्य को दो पृथक् समाज मानते थे। चर्च और राज्य केवल एक दूसरे से अलग ही नहीं थे बल्कि वे एक दूसरे से स्वतन्त्र भी थे। बल-प्रयोग की शक्ति राज्य के पास थी लेकिन वह इस शक्ति का प्रयोग केवल लौकिक शासन के क्षेत्र में ही कर सकता था। 'न तो यह शासकों का ही काम है और न चर्च का ही कि वे धर्म को विवश करें शक्ति के द्वारा चर्चों की स्थापना करें और विधियों तथा दण्डों के द्वारा उन्हें धार्मिक शासन के नियन्त्रण में रखें।'[1]

यह सही है कि तथाकथित इण्डिपेण्डेण्ट इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को तथा इसके लक्ष्यार्थों को भिन्न भिन्न मात्रा में स्वीकार करते थे। पहली बात तो यह है कि कोई भी यह नहीं चाहता था कि धार्मिक एकता भंग हो। धार्मिक सुधार की अन्य किसी योजना की भाँति ही इण्डिपेण्डेण्टों का भी यही खयाल था कि सत्यनिष्ठ जिज्ञासा के द्वारा कुछ ठोस ईसाई विश्वासों और व्यवहारों का पता लग जाएगा तथा इसके परिणामस्वरूप एकता की स्थापना हो सकेगी। दूसरे, इण्डिपेण्डेण्ट यह भी नहीं चाहते थे कि धार्मिक संघों के ऊपर पोप का प्रभाव बिलकुल ही समाप्त हो जाए। हाँ, वह इन संघों के ऊपर प्रेसबिटेरियनों की अपेक्षा कम नियन्त्रण चाहते थे। मैसाचूसेट्स में इण्डिपेण्डेण्टों ने पृथक्तावादी विशेषण स्वीकार नहीं किया। वहाँ उन्होंने सहिष्णुता का भी परिचय नहीं दिया। उनके धार्मिक संघों में ऐच्छिक सदस्यता का प्रश्न भी पूरी तरह मान्य नहीं था। वे सैद्धान्तिक अथवा शासन सम्बन्धी प्रश्नों के निर्णय में सभी सदस्यों को एक सी स्वतन्त्रता नहीं देते थे। दूसरी ओर, धर्म में स्वतन्त्र स्वीकृति के सिद्धान्त और शासन को दी जाने वाली सहमति में सामान्य सम्बन्ध था। धार्मिक संघवाद आधारभूत स्वतन्त्रताओं के पक्ष में न केवल राजा के प्रतिरोध का ही प्रत्युत संसद् के प्रतिरोध का भी प्रेसबिटेरियनिज्म की अपेक्षा अधिक कुशलता से मुकाबला कर सकता था।

अन्त में, यद्यपि इण्डिपेण्डेण्ट कुछ धार्मिक सहिष्णुता देने के लिए बाध्य थे, लेकिन इस धार्मिक सहिष्णुता की मात्रा भिन्न थी। कुछ इण्डिपेण्डेण्टों का यहाँ तक विश्वास था कि ऐसे धार्मिक विश्वास को सहन किया जाना चाहिए जो नागरिक व्यवस्था में बाधा उपस्थित न करे। अधिकांश धार्मिक अल्पसंख्यकों की भाँति वे अपने लिए तो धार्मिक सहिष्णुता पाने को लालायित रहते थे, लेकिन दूसरों को धार्मिक सहिष्णुता देने के प्रति उनमें इतना उत्साह नहीं था। तथापि यह इतना आडम्बरपूर्ण नहीं था जैसा कि मालूम पड़ता है। अधिकांश इण्डिपेण्डेण्टों की दृष्टि में मुख्य उद्देश्य धार्मिक सुधार था। उनके लिए धार्मिक स्वतन्त्रता तो एक आनुषंगिक तत्त्व था। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि सरकार को मूर्ति पूजा का दमन नहीं करना चाहिए। सबसे अधिक उन्नत दृष्टिकोण र्‌होड आइलैंड में रोजर विलियम्स

---

1 *Ibid*, ed. T G. Crippen, p 27.

(Roger Williams) का था। उसने वहाँ पहली बार सहिष्णुता के सामान्य सिद्धान्त के आधार पर एक शासन की स्थापना की। १६४४ में उसने अपनी पुस्तक *Bloundy Tenet of Persecution* में इस सिद्धान्त का समर्थन किया। एक समय इस पुस्तक को पाखण्डी साहित्य में सबसे अधिक पाखण्डी पुस्तक माना जाता था। उसी साल विलियम वालवीन (William Walwyn) ने जो अपने को किसी भी वामपक्षी सम्प्रदाय का सदस्य नहीं मानता था और लन्दन में व्यापार करता था, अपनी पुस्तक *Campassionate Samaritane* का प्रकाशन किया। इसमें पृथकतावादियों और अनाबापटिस्टों की सहिष्णुता का प्रतिपादन किया गया था। विलियम और वालवीन इण्डिपेण्डेण्ट नामक लेखकों में भी अपवाद स्वरूप थे।[1]

यद्यपि इण्डिपेण्डेण्टों की उत्पत्ति सोलहवीं शताब्दी में हो गई थी लेकिन १६४० तक इंगलैंड में उनकी कोई विशेष सख्या नहीं हुई थी। बाद में उन्होंने राजा का प्रतिरोध शुरू किया। उनका यह प्रतिरोध धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित था। इसके परिणामस्वरूप उनकी शक्ति बढ़नी शुरू हो गई। क्रामवेल की आदर्श सेना में इण्डिपेण्डेण्टों की सख्या काफी थी। दूसरे गृह युद्ध और राजा के प्राणदंड के बाद जो राजनैतिक प्रयोग किए गए, उनमें इण्डिपेण्डेण्टों का काफी हाथ रहा था। इस बीच मध्य वर्ग के कम समृद्धिशाली भाग को अनेक आर्थिक और राजनैतिक कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं। इनके कारण लैवलर्स नामक एक वास्तविक राजनैतिक दल का निर्माण हुआ। लैवलर्स वास्तव में इण्डिपेण्डेण्ट थे। यद्यपि अधिकांश इण्डिपेण्डेण्ट लैवलर्स नहीं थे, लैवलर्स का राजनैतिक दर्शन इण्डिपेण्डेण्टों के वामपक्ष के राजनैतिक दर्शन के रूप में ही था। तथापि, उस पर अलग विचार करने की आवश्यकता है

सम्प्रदायवादी और इरास्टियन विचारक
(Sectaries and Erastians)

बापटिस्ट और क्वेकर सम्प्रदाय प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय के वामपक्ष के अन्तर्गत आते हैं। उन्होंने चर्च के शासन को और लौकिक शासन के साथ उसके सम्बन्ध को बहुत क्षीण मान रखा था। चूंकि उनके लिए वास्तविक धर्म का अभिप्राय आन्तरिक ज्योति अथवा आध्यात्मिक अनुभूति था अत वे चर्च के शासन को कोई खास महत्त्व नहीं देते थे। उन्होंने राष्ट्रीय धार्मिक व्यवस्था का भी विचार त्याग दिया था। बापटिस्ट अथवा क्वेकर नाम से विख्यात सम्प्रदायों में समानता बहुत कम थी। जिन लेखकों ने उन्हें बदनाम किया था, उन्होंने यह पता लगाने की बहुत कम कोशिश की कि वास्तव में उनके धार्मिक विश्वास क्या हैं। कुछ भी हो, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि सम्प्रदायवादियों के अपने कुछ विशिष्ट राजनैतिक विचार थे। इसके साथ ही यह सन्देह करने का भी कोई कारण नहीं है कि उसके

---

1 विलियम की पुस्तिका नारेगानसेट क्लब के प्रकाशनों में फिर से छपी है, पहली पुस्तक माला, जिल्द ३ (१८६७)। इस पुस्तक को १८४८ में हैन्सर्ड नोलीज सोसायटी ने प्रकाशित किया। विलियम हालर के सम्पादकत्व में वालवीन की पुस्तिका *Tracts on Liberty in the Puritan Revolution*, 1638 1647 के अन्तर्गत भी छपी है। जिल्द ३, पृ० ५६।

सदस्य सरल स्वभाव के कानूननिष्ठ लोग थे। इन लोगों को घृणा से देखा जाता था, उसका कुछ कारण थॉमस एडवर्ड्स[1] जैसे नास्तिकता विरोधियों का धर्मार्गल प्रचार था। इसका कुछ कारण यह भी था कि इन लोगों को धर्मांध माना जाता था यद्यपि वे धर्मांध नहीं थे। हाँ, उनमें से कुछ अपवाद हो सकते हैं। इस प्रकार, कुछ ब्राउनिस्ट नामक व्यक्ति थे। उनका विचार था कि धार्मिक व्यक्तियों को विधि की कोई आवश्यकता नहीं है। मजिस्ट्रेट उन्हें विधि का पालन करने के लिए विवश नहीं कर सकते। यह विचार इस विश्वास के साथ संयुक्त था कि संसार का अन्त निकट है और नई व्यवस्था में सन्त ही संसार के स्वामी होंगे। यह धारणा राजनैतिक शान्तिवाद अथवा निषेधवाद की ओर ले जा सकती थी और बाद की स्थिति में यह सम्पत्ति तथा विधि दोनों पर आक्षेप कर सकती थी। इस समय अपनी राजनैतिक दर्शन में साम्यवाद का जो मुख्य स्थान था, वह तथाकथित डिगर्स विचारकों (Diggers) में पाया जाता था। हम उनके नेता गर्राड विंस्टेनले पर बाद में विचार करेंगे।

इंगलैंड में जो इतने धार्मिक सम्प्रदाय पैदा हो गए थे, इंगलैंड की जनता उन्हें और खास तौर से प्रसबिटेरियनिज्म के आडम्बरों को पसन्द नहीं करती थी। इस प्रवृत्ति को इरास्टियनिज्म (Erastianism) नाम दिया गया है (हालांकि यह बहुत ठीक नहीं है)। जॉन सेल्डेन (John Selden) को इसका प्रतिनिधि माना जा सकता है। सेल्डेन के राजनीति और धर्म-विषयक विचारों पर धर्म निरपेक्षता की और सांसारिक ज्ञान की छाप थी। सत्रहवीं शताब्दी में यह बात स्वाभाविक भी थी। यह प्रवृत्ति राजनीतिज्ञों और धर्माचार्यों दोनों के अभिमान को आहत करती थी। सेल्डेन संवैधानिक व्यवस्थाओं को केवल व्यवस्था और सुरक्षा के लिए की गई व्यवस्थाएँ मानता था। राजा की शक्ति वही है जो विधि उसे देती है और विधि वही है जो न्यायालय लागू कर सकते हैं। इसी प्रकार, चर्च की साज सज्जा और पादरियों के विशेषाधिकार भी वही हैं जो नागरिक सत्ता उन्हें प्रदान करती है। धार्मिक सम्प्रदायों का दैवी अधिकार का आडम्बर सरल स्वभाव के धर्मानुयायियों से पैसा वसूल करने का उपाय मात्र है। इस कला में प्रेसबिटेरियन विशेष रूप से निपुण हैं। "प्रेसबिटेरियनों को संसार के धर्माचार्यों में सबसे अधिक शक्ति प्राप्त है और वे जनसाधारण को सबसे अधिक मूर्ख बनाते हैं। पादरी का पद विधि के व्यवसाय की भाँति ही एक व्यवसाय है।" सेल्डेन के उपयोगितावाद लौकिकतावाद और बुद्धिवाद प्रकृत नहीं थे। वे उनके मित्र थॉमस हॉब्स में पुनः प्रकट हुए। हेलीफैक्स की विचारधारा में भी वे प्रमुख तत्त्व थे और उन्होंने क्रान्ति का पथ प्रशस्त करने में सहायता दी।

संवैधानिक सिद्धान्त : स्मिथ और बेकन

(Constitutional Theories Smith and Bacon)

धार्मिक प्रश्नों के तत्काल महत्त्व और चर्च के लौकिक प्रधान के रूप में राजा की शक्ति ने संविधान के मध्यकालीन सन्तुलन को नष्ट कर दिया था। कुछ और

1. उनके *Gangraena* (1646) नामक ग्रन्थ में सम्प्रदायों के अत्याचारों का अतिशयोक्ति से वर्णन किया गया है।

कारण भी ऐसे थे जिन्होंने राजा तथा उन मदालतों के बीच जिनके द्वारा राजा की शक्ति सीमित होती थी, तनाव पैदा कर दिया था। इन कारणों में सबसे मुख्य था मध्यवर्ग की शक्ति का विकास। जब यह तनाव अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया तब परिणाम था—गृह-युद्ध। पुराने समय की शक्तियों के सामंजस्य की कल्पना को अब त्याग दिया गया। उसके स्थान पर अब मूल स्रोत से शक्ति के प्रत्यायोजन के सिद्धान्त को अपनाया गया। गृहयुद्ध के पहले ऐसा कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं था कि सर्वोच्च शक्ति संविधान के किसी भाग में निवास करती है। अविस्मरणीय लोकाचारों के द्वारा जो शक्तियाँ राजा, संसद् तथा अन्य अदालतों को होती थीं, वे उनमें अन्तर्भूत मानी जाती थीं। अपनी समुचित स्वतन्त्रता की सीमाओं के भीतर रहते हुए हर कोई अपने उपक्रम के अनुसार कार्य करता था। यदि सर्वोच्च शक्ति कहीं थी, तो वह स्वयं देश के भीतर थी, उसके किसी एक अंग के भीतर नहीं। यद्यपि ट्यूडर राजा काफी शक्तियों का प्रयोग करते थे, लेकिन इंगलैण्ड में राजा की सर्वोच्च शक्ति का ऐसा कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं था जैसा कि फ्रांस में बोदाँ का था। गृहयुद्ध में राजतन्त्रवादी और संसद्‌वादी अपनी-अपनी सर्वोच्च शक्ति का दावा करने लगे। इस विवाद के दौरान वे अपने मूल अभिप्राय से काफी दूर हट गए। यद्यपि दोनों पक्ष अंग्रेजी इतिहास को अपने साथ बताते थे लेकिन दोनों ने ही—इसमें संसद्‌वादी राजतन्त्रवादियों से कम नहीं थे—सोलहवीं शताब्दी की परम्परा को तोड़ दिया। अन्तर केवल यह था कि संसद् ने अपने दावे को चरितार्थ कर दिखाया जबकि राजा असफल हो गया।

सम्भवतः, सोलहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड के संवैधानिक सिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठ निरूपण सर थामस स्मिथ के *De republica Anglorum* नामक ग्रंथ में किया गया है।[1] फ्रेडरिक मेटलैंड और सर फ्रेडरिक पोलक जैसे योग्य इतिहासकारों ने इस ग्रंथ को संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त का प्रतिपादक कहा है। लेकिन यह बात गलत है।[2] वास्तव में स्मिथ ने कहा है कि इंगलैण्ड के शासन में जो कुछ भी किया जाता है, उसके लिए राजा सत्ता है और संसद् देश की सबसे ऊँची तथा निरपेक्ष शक्ति है। उसका स्पष्ट रूप से विश्वास था कि कुछ चीजें ऐसी हैं जिन्हें राजा संसद् के बिना कर सकता था और कुछ चीजें ऐसी हैं जिन्हें संसद् में ही किया जा सकता था। दोनों ही दशाओं में देश का लोकाचार निर्धारित करता था। स्मिथ की पुस्तक के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसके अनुसार संविधान में मुख्य रूप से अदालतें ही हैं। उसने संसद् को देश की उच्चतम अदालत माना है। संसद् की निरपेक्ष शक्ति के सम्बन्ध में उसके वक्तव्य को इसी दृष्टि से समझना चाहिए।

---

1. यह ग्रंथ लिखा १५६५ में गया था, लेकिन प्रकाशित १५८३ में हुआ। सम्पादक एल० एल्स्टन (कैम्ब्रिज, १९०६)।

2. निम्नलिखित पुस्तकें देखिए : Maitland : *Constitutional History* (1911), pp. 255, Pollock, *Science of Politics*, pp. 57f cf. Alston's Introduction, also C. H. McIlwain, *High Court of Parliament* (1910), pp. 124 ff,

संसद् के निर्णय को कोई अन्य अदालत नहीं बदल सकती। स्मिथ को भली भाँति ज्ञात था कि संसद् अन्य अदालतों से इस बात में भिन्न थी कि वह व्यक्तिगत पक्षों के विवादों की ओर ध्यान नहीं देती थी। लेकिन, फिर भी संसद् मुख्य रूप से एक न्याय संस्था ही थी। स्मिथ ने संसद् को एक विधानमंडल के रूप में कभी नहीं माना। उसने विधि के निर्माण और विधि की व्याख्या में कोई विभाजन रेखा नहीं खींची। उसने इस बात की कल्पना नहीं की कि संसद् तथा राजमुकुट में संघर्ष हो सकता है। उच्चतम सत्ता राज्य में और उसकी विधि में निहित है। यह विधि ही राजा की तथा उसकी विविध अदालतों की उचित शक्तियाँ निर्धारित करती है। स्मिथ ने यह मान लिया था कि इन सब शक्तियों में सर्वत्र सहयोग रहता है। इसलिए, स्मिथ के विचार से यदि राजा सम्पूर्ण व्यवस्था का प्रधान हो और संसद् मुख्य अदालत हो तो इस स्थिति में कोई असंगति नहीं है।

जब जेम्स प्रथम ने निरपेक्ष शक्ति की माँग की और उसका सक्रिय विरोध होने लगा तो उसके काफी बाद तक संविधान तथा संसद् की यह संकल्पना जारी रही। जेम्स का पहला विवाद संसद् के साथ नहीं था बल्कि सामान्य विधि की अदालतों के साथ था। इसका सम्बन्ध विधि-निर्माण से नहीं बल्कि राजकीय परमाधिकार से था। इस विवाद में मुख्य अभिनेता जेम्स के अतिरिक्त फ्रांसिस बेकन और सर एडवर्ड कोक थे। इसमें प्रश्न यह नहीं था कि राजमुकुट अथवा शासन का अन्य कोई प्रधान अंग है बल्कि यह था कि राजा तथा उसकी अदालतों के बीच उचित संतुलन रहना चाहिए। परिस्थितियों ने बेकन को शक्तिशाली राज्य के परमाधिकार का प्रवक्ता बना दिया। बेकन का इसमें विश्वास भी था, तथापि वह राज्य की निरंकुशता में आस्था नहीं रखता था। कोक परमाधिकार को सीमित रखने वाले पक्ष का प्रमुख प्रतिनिधि हो गया। संसद् की सर्वोच्चता भी उसे प्रतिकूल ही लगती। यद्यपि ये दोनों व्यक्ति एक दूसरे के विरोधी थे फिर भी वे सामंजस्य अथवा संतुलन की संकल्पना के कायल थे। उनका विचार था कि देश की प्रथागत विधि इस संतुलन को बनाए रख सकती है। इस विधि के अनुसार राजा तथा शासन के अन्य प्रत्येक अंग को यथोचित स्थान मिल सकता है तथा किसी एक अंग की सर्वोच्चता स्थापित होने की जरूरत नहीं रहती।

बेकन राजा की शक्ति पर हमेशा जोर देता था। लेकिन, वह सदैव ट्यूडर राजतन्त्र के संदर्भ में ही सोचता था। ट्यूडर राजतन्त्र में राजा राष्ट्र तथा संसद् का विश्वस्त नेता था। जब जेम्स राजसिंहासन पर बैठा, बेकन ने उसे सशक्त नेतृत्व अपनाने की सलाह दी। बेकन को लगता था कि स्काटलैण्ड के साथ एकता, आयरलैंड के उपनिवेशीकरण और महाद्वीप पर आक्रामक नीति—ये सारी चीजें ऐसी हैं जो कि इंगलैंड को उत्तरपश्चिमी यूरोप में प्रमुख शक्ति बना देंगी और इसके साथ ही उसे प्रोटेस्टेंट हितों का नेतृत्व भी प्रदान करेंगी। बेकन का अपने सम्पूर्ण जीवन में यह विचार रहा कि यदि जेम्स उसकी सलाह के अनुसार चलता तो उसके प्रजाजनों में देशभक्ति की भावना आ जाती और उनके साथ उसे किसी प्रकार की कठिनाइयों का सामना न करना पड़ता। बेकन के लेखों से यह प्रकट होता है कि

उसका राजनैतिक आदर्श एक ऐसा सशक्त और योद्धा जनसमुदाय था जिसके ऊपर कर बहुत अधिक न लगे हुए हो, जिसमे धन का बहुत अधिक सकेन्द्रण न हो, जिसमे कुलीनो के हाथ मे बहुत अधिक शक्ति न हो तथा जिसका नेता एक ऐसा राजा हो जिसके पास राजकीय भूमि की काफी मात्रा हो, जिसका परमाधिकार व्यापक हो और जो राष्ट्रीय विस्तार की शक्तिशाली नीति पर चलता हो। बेकन के विचार से यह निरकुशता नही थी। जेम्स का अपने परमाधिकार के बूते पर खडे होने का निश्चय बेकन की श्रेष्ठ नीति के विचारो के प्रतिकूल था। ससद् के बिना उसकी शासन करने की चेष्टा भी बेकन की सलाह के प्रतिकूल थी। बेकन के विचार से राजा के अधिकार अथवा ससद् के अधिकार मे से एक विकल्प को चुनने का अवसर देना बहुत हानिकर था

जेम्स तथा सामान्य विधि की अदालतो के बीच जो विवाद शुरू हुआ था, उसमे अपनी आधिकारिक स्थिति के कारण बेकन ने पक्षपात का दृष्टिकोण ग्रहण किया। लेकिन, शक्तिशाली राजकीय परमाधिकार मे उसका विश्वास सच्चा था। राजा अपने को न्याय का स्रोत और न्यायाधीशो को अपना अभिकर्ता समझता था। इसलिए जब न्यायाधीशो के सामने कोई ऐसा प्रश्न आता जो उसके परमाधिकार से सम्बन्ध रखता तो वह उन्हे इस बात का उपदेश देता था कि वे अपने निर्णयो को रद्द कर दें या ऐसे मामलो को विशेष आयोगो के सुपुर्द कर दें। बेकन ने न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी अपने प्रसिद्ध निबन्ध मे जेम्स की भाँति ही यह कहा है कि अदालतो को राज्य अथवा राजकीय परमाधिकार के प्रश्नो से अलग रहना चाहिए। न्यायाधीश शेर जरूर हैं लेकिन वे राजसिंहासन की अधीनता में ही शेर हैं। इस निबन्ध मे कोक की परोक्ष रूप से बार-बार चर्चा की गई है। बेकन उसे निकृष्ट न्यायाधीश का नमूना मानता था।

सर एडवर्ड कोक

(Sir Edward Coke)

राजकीय परमाधिकार के विस्तार का उग्रतम विरोधी मुख्य न्यायाधिपति सर एडवर्ड कोक था। उसके विचार से देश की सामान्य विधि ही मूलभूत विधि थी। वह विवेक की अवतार थी यद्यपि यह विवेक ऐसा था जिसे केवल वकीलो की परिषद् ही समझ सकती थी। सामान्य विधि एक रहस्य थी और कोक अपने को उस रहस्य का प्रमुख पारखी मानता था। उसने राजा के साथ अपनी एक बैठक का निम्न शब्दों मे वर्णन किया था "इसके बाद राजा ने कहा कि उसके विचार से विधि विवेक पर आधारित थी, तथा उसके अन्य लोगो के और न्यायाधीशो के पास विवेक था। इसका मैंने यह उत्तर दिया कि यह बात सही थी। ईश्वर ने राजा को अनुपम विज्ञान से और प्रकृति ने उसे महान् प्रतिभा से सम्पन्न बनाया था। लेकिन राजा इगलैण्ड के राष्ट्र की विधियों का पूरा ज्ञानी नही था। जो चीजें प्रजाजनो के जीवन, उत्तराधिकार, पदार्थों तथा भाग्य से सम्बन्ध रखती हैं, उनका निर्णय प्राकृतिक विवेक के आधार पर नही

किया जा सकता। उनका निर्णय प्राकृतिक विवेक तथा विधि के अनुसार ही किया जा सकता है। यह एक लम्बे अध्ययन और अनुभव का विषय है। इसके बाद ही मनुष्य इसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। राजा ने इस बात को बुरा माना और कहा कि इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि उसे भी विधि के अधीन रहना चाहिए। अगर कोई यह बात कहता है, तो यह देशद्रोह है। इस पर मैंने ब्रेक्टन की यह उक्ति दुहरा दी, *Quod rex non debet esse sub homine, sed sub Deo et lege*"[1]

कोक के विचार से सामान्य विधि राजा की शक्तियों को, अदालतों के क्षेत्राधिकार को और प्रत्येक अंग्रेज के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों को निर्धारित करती थी। सामान्य विधि में वे सारी चीजें आ जाती थीं जो अब संविधान के अन्तर्गत आती हैं। उसमें शासन की मूल रचना भी आ जाती है और नागरिकों के मूल अधिकार भी। कोक इन मूलाधारों को अपरिवर्तनशील मानता था।

विधि की इस कल्पना के आधार पर ही कोक ने राजकीय परमाधिकार को सीमित करने के सम्बन्ध में अपना यह सुप्रसिद्ध निर्णय दिया कि "राजा अपने अभिरोध अथवा उद्घोषणा के द्वारा ऐसे किसी अपराध की सृष्टि नहीं कर सकता जो पहले अपराध नहीं था।"[2] यह अभिरोध के लेखों का भी आधार था। इसके द्वारा सामान्य विधि की अदालतें अन्य अदालतों के ऊपर नियन्त्रण रखती थीं। जेम्स बहुत से मामलों को अदालतों से उठा लेता था और उनका फैसला या तो खुद करता था या विशेष आयोगों द्वारा कराता था। कोक ने अपने इस वक्तव्य के आधार पर जेम्स की इस प्रकार की चेष्टाओं का भी विरोध किया। कोक का यह भी विश्वास था कि संसद् सामान्य विधि के रूप में व्यक्त न्याय के अन्तर्भूत सिद्धान्तों को नहीं बदल सकती व इन सीमाओं के सम्बन्ध में उसकी कोई निश्चित धारणा नहीं थी लेकिन फिर भी उसने इनके अस्तित्व पर जोर दिया। उदाहरण के लिए उसने बोनहम के मुकद्दमे में कहा था "हमारी किताबों से ऐसा मालूम पड़ता है कि बहुत से मामलों में सामान्य विधि संसद् के कानूनों पर नियन्त्रण रखेगी और कभी-कभी उन्हें बिलकुल अवैधानिक घोषित कर देगी। कारण यह है कि जब कभी संसद् का कोई कानून सामान्य अधिकार अथवा विवेक के विरुद्ध होता है या उसका सुधार सम्भव नहीं होता तो सामान्य विधि उसे नियन्त्रित करेगी तथा उसे अवैधानिक घोषित कर देगी।"[3]

यद्यपि यह विचार काफी उग्र था लेकिन यह केवल कोक तक ही सीमित नहीं था। इससे यह ज्ञात होता है कि सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के अंग्रेज विधिवेत्ता संसदीय प्रभुसत्ता के विचार से कितने कम प्रभावित थे और न्यायिक पुनरीक्षण या अमरीकी सिद्धान्त इंग्लैंड की वैधिक परम्परा में कितना गहरा घुसा हुआ था।

---

1. *Coke's Reports*, Pt. XII, 65
2. *Ibid*, *Pt XII*, *75*
3. *Ibid*, Pt VIII, 118a

कोक मुख्य रूप से सामान्य विधि का वेत्ता था। लेकिन, अगर हम इस बात को छोड़ दें तो इसके मूल विश्वास सर थामस स्मिथ और हूकर की भाँति थे। स्मिथ की भांति उसका विचार था कि इंगलैण्ड का शासन मुख्य रूप से अदालतों में निहित है और इन अदालतों म संसद् सबसे प्रमुख है। कोक अथवा स्मिथ के लिए संसद् मुख्य रूप से विधायी संस्था नहीं थी। उनके विचार म शासन का मुख्य उद्देश्य विधि निर्माण नहीं था। इन तीनों ही विचारकों की धारणा थी कि विधि का निर्माण नहीं होता। हाँ, ये तीनों मानते थे कि समय समय पर विधि के कुछ विशिष्ट उपबन्धों को बदला जा सकता है। कोक के विचार से विधि की देश के अन्तर्गत सहज रूप से वृद्धि होती है। हूकर जैसे दार्शनिक के लिए विधि ब्रह्माड का एक स्वाभाविक अंश है। व्यवहार म इन दोनों दृष्टिकोणों म कोई विशेष अन्तर नहीं था। विधि प्रत्येक सरकारी तथा गैरसरकारी व्यक्ति के लिए उसके अधिकार तथा कर्त्तव्य, उसकी स्वतन्त्रताएँ तथा दायित्व तय कर देती है। वह न्याय के उन मानकों को भी निश्चित कर देती है जिनके अनुसार व्यक्ति को चाहे वह राजा हो चाहे प्रजा, आचरण करना चाहिए। राजा के अधिकार वही नहीं हैं जो कि उसकी प्रजा के होते हैं। लेकिन दोनो के अधिकार विधि के अन्तर्गत होते हैं। फलतः, यद्यपि विधि असख्य शक्तियों का समर्थन करती थी लेकिन वह किसी प्रभु शक्ति से परिचित नहीं थी। राजा, संसद् तथा सामान्य विधि की अन्य अनेक अदालतों को जो शक्ति मिली हुई थी, वह सब विधि ने ही निर्धारित की थी। उनमें ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जिसकी अन्य शक्तियाँ प्रतिनिधि होतीं। फलत, जेम्स के प्रति कोक का विरोध इस तथ्य पर आधारित था कि वह पूर्ण अनुदारवादी, यहाँ तक कि प्रतिक्रियावादी था। यदि परिस्थितियाँ उसे संसद् का विरोधी बनातीं तो वह इस भूमिका का भी इतनी ही सुसगति के साथ निर्वाह करता। इसका कारण यह था कि वह विधि की तथा शासन और विधि के सम्बन्ध की एक ऐसी कल्पना को प्रकट करता था जो राजा के निरंकुशतावादी दर्शन अथवा संसदज्ञों के निरंकुशतावादी दर्शन से काफी प्राचीन थी।

सामंजस्य के परिचित विचार को त्यागने का और सर्वोच्चता के नूतन विचार को ग्रहण करने का कार्य धीरे-धीरे और परिस्थितियों के दबाव के कारण ही हुआ। चार्ल्स प्रथम ने संसद् के अनुमोदन के बिना कर लगाये और कानून की प्रक्रिया के बिना ही लोगों को कैद में डाला। संसद्वादियों ने उसके इन प्रयत्नों का विरोध किया। लेकिन इसके स्थान पर उन्होंने संसदीय प्रभुसत्ता के किसी सिद्धान्त को खड़ा नहीं किया। १६४१ के शुरू के महीनों में संसद् अधिक से अधिक यही चाहती थी कि राजा अपने परमाधिकार को सीमित कर ले, वह असाधारण अदालतों को समाप्त कर दे और करों के आरोपण मे संसद् की सलाह ले। लेकिन राजा इस बात के लिए तैयार नहीं हुआ। बात यहाँ तक बढ़ी कि संसद् ने यह माँग की कि उसे उसकी सहमति के बिना भंग नहीं किया जा सकता। १६४१ के अन्त तक संसद् ने मन्त्रियों को नियुक्त और अपदस्थ करने की तथा राज्य के सैनिक, असैनिक और धार्मिक मामलों पर नियन्त्रण रखने की शक्ति का दावा किया। यह

वाले कुछ प्रतिगामी थे। स्मिथ और कोक तक ने इसकी कल्पना न की थी। फ्रांस की भाँति इंगलैण्ड में भी गृहयुद्ध ने एक केन्द्रीकृत शासन को जन्म दिया। लेकिन इंगलैण्ड में राष्ट्र की वैधिक प्रधानता एक प्रतिनिधिक संस्था में आ गई।

Selected Bibliography

A History of Political Thought in the Sixteenth Century. By J. W. Allen London, 1928 Part II

English Political Thought, 1603 1660. By J. W Allen. Vol. 1, 1603-1644. London, 1938.

The Early Tudor Theory of Kingship By Franklin L. Baumer. New Haven, 1940

More's Utopia and his Social Teaching By William E. Campbell. London, 1930

Thomas More By R W Chambers New York, 1935

The High Court of Parliament and its Supremacy. By C H. McIlwain. New Haven, 1910

The Political Works of James I Ed. C H. McIlwain, Cambridge, Mass, 1918. Introduction and Appendices.

The Medieval Contribution to Political Thought : Thomas Aquinas, Marsilio of Padua, Richard Hooker by Alexander Passerin d' Entreves Oxford, 1939. Ch III.

Archbishop Laud, 1573-1645 By H. R. Trevor Roper, London, 1940.

The Social Teaching of the Christian Churches. By Ernst Troeltsch. trans. by Olive Wyon. 2 Vols. London, 1931.

The Reconstruction of the English Church. By Roland G. Usher. 2 Vols. New York, 1910.

अध्याय २३

थॉमस हॉब्स

(Thomas Hobbes)

घटनाओं का चक्र कुछ ऐसा चला कि ससद् के नेता ऐसी प्रभुशक्ति का दावा और प्रयोग करने लगे जो उनके पहले के विचारों और अंग्रेजी संविधान की परम्पराओं के प्रतिकूल थी। ससद् के कार्यों अथवा ससदजो की विचारधारा में न तो किसी तार्किक सगति का ही भाग था और न यूरोपीय राजनीति के विकास के दार्शनिक परिज्ञान का ही। इसके बावजूद कुछ ऐसी बौद्धिक और व्यावहारिक शक्तियाँ कार्य कर रही थी जिनका प्रभाव स्थान विशेष से और तात्कालिक अवसर से बढ कर था। इस समय सबसे प्रमुख विचार एक प्रभुशक्ति द्वारा नियन्त्रित केन्द्रीकृत शासन का था। यह विचार केवल इगलैण्ड की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो तक ही सीमित नहीं था। प्रभुशक्ति की अभिव्यक्ति के मुख्य माध्यम विधि के निर्माण और उनके क्रियान्वीकरण के बारे में भी यही बात लागू होती थी। सर थॉमस स्मिथ, हुकर और कोक ने जिन राजनैतिक सिद्धान्तो का निरूपण किया था, वे लिपिबद्ध होने के साथ ही साथ असामयिक हो गये थे। इगलैण्ड तथा फ्रास के गृहयुद्ध ने राजनैतिक दर्शन के लिए यह अनिवार्य कर दिया कि वह यथार्थ तथ्यो का सामना करे।

इसके साथ ही, उस समय दर्शन तथा विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप का बौद्धिक दृष्टिकोण तेजी से बदल रहा था। इन परिवर्तनो के कारण राजनैतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में भी व्यापक परिवर्तन आवश्यक हो गये थे। इगलैण्ड में गृहयुद्ध शुरू होने के एक शताब्दी पूर्व मैकियावेली ने निर्मम स्पष्टता के साथ इस तथ्य का उद्घाटन किया था कि यूरोप की राजनीति प्रधान रूप से राष्ट्रीय अथवा व्यक्तिगत बल तथा स्वार्थ पर आधारित है, लेकिन, मैकियावेली ने इस तथ्य की कोई विशेष व्याख्या नहीं दी थी। मैकियावेली के पचास वर्ष बाद बोदाँ ने फ्रास के धार्मिक युद्ध के समय लिखते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि राज्य की प्रमुख विशेषता विधि निर्माण की प्रभुशक्ति है। लेकिन, बोदाँ ने इस सिद्धान्त को ऐतिहासिक संविधान विषयक प्राचीन सिद्धान्तो से अलग नही किया और न उसने इस सिद्धान्त के निष्कर्षों की ही ठीक ठीक व्याख्या प्रस्तुत की। गृहयुद्धो के आरम्भ होने की घडी में ग्रोशियस ने प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त की विज्ञान की सकल्पना के साथ सगति जोडी थी—इस विज्ञान का मुख्य लक्षण गणित की बढती हुई पूजा थी। लेकिन, अब भी यह प्रश्न बना हुआ था कि क्या ग्रोशियस ने नये विज्ञान का अर्थ ठीक-ठीक समझा था। यूरोपीय चिन्तन की ये सभी प्रवृत्तियाँ थॉमस हॉब्स के राजनैतिक

दर्शन में समवेत हुई। हॉब्स ने अपने राजनैतिक दर्शन का विकास १६४० और १६५१ के बीच में लिखी गयी रचनाओं में किया था।[1]

हॉब्स की राजनैतिक रचनाएँ गृहयुद्ध के समय लिखी गई थीं और उनका उद्देश्य राजा के पक्ष में प्रभाव उत्पन्न करना था। इन रचनाओं का लक्ष्य निरंकुश शासन का समर्थन करना था और हॉब्स के विचार से इसका अभिप्राय निरंकुश राजतन्त्र था। हॉब्स के व्यक्तिगत स्वार्थों ने उसे राजतन्त्रवादी पक्ष की ओर कर रखा था, उसका ईमानदारी से यह विश्वास था कि राजतन्त्र सबसे स्थिर और सुव्यवस्थित शासन प्रणाली है। हॉब्स की रचनाओं का तात्कालिक प्रभाव विशेष महत्वपूर्ण न था लेकिन उनका दीर्घकालीन महत्व असंदिग्ध है। उसके सिद्धान्त स्टुअर्ट शासकों के भी विरुद्ध थे जिनका वह समर्थन करना चाहता था और संसदजों के भी विरुद्ध थे जिनका वह प्रतिवाद करना चाहता था। संसदज्ञ और राजतन्त्रवादी एक दूसरे के जितने विरुद्ध थे, उससे कहीं अधिक हॉब्स के सिद्धान्तों से उन दोनों का विरोध था। राजा के मित्रों का यह विचार था कि हॉब्स की मित्रता उतनी ही भयानक है जितनी कि क्रॉमवेल की शत्रुता। लेवियाथन के सिद्धान्त स्टुअर्ट शासकों के वैधता सम्बन्धी विश्वास के भी प्रतिकूल थे और लोक प्रतिनिधित्व के प्रचलित सिद्धान्तों के भी। क्लेरेंडन का तो यहाँ तक विचार था कि यह पुस्तक क्रॉमवेल की चापलूसी के लिए लिखी गयी थी। यह बात सही नहीं थी यद्यपि हॉब्स ने इस बात का पूरा प्रयास किया था कि उसके विचार किसी भी यथार्थ शासन के अनुकूल थे। उसके राजनैतिक दर्शन का क्षेत्र इतना व्यापक था कि वह प्रचार के काम नहीं आ सकता था लेकिन उसके उग्र तर्क ने नैतिक और राजनैतिक चिन्तन के सम्पूर्ण परवर्ती इतिहास पर प्रभाव डाला है। उसका सकारात्मक प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी तक पूरी तरह विकसित नहीं हो सका था। उन्नीसवीं शताब्दी में उसके विचार उपयोगितावादियों के दार्शनिक उग्रवाद में और जॉन आस्टिन के प्रभुसत्ता सिद्धान्त में शामिल कर लिए गए। इस प्रकार, हॉब्स के विचारों ने मध्ययुगीन उदारतावाद के उद्देश्यों को पूरा किया। यह एक ऐसा उद्देश्य था जिससे स्वयं हॉब्स को बहुत कम सहानुभूति होती।

वैज्ञानिक भौतिकवाद
(Scientific Materialism)

हॉब्स के राजनैतिक दर्शन में राजतन्त्रात्मक निरंकुशता का समर्थन कोई विशेष महत्व की बात नहीं है। यह नहीं है कि हॉब्स के चिन्तन को गृहयुद्ध ने

---

१ १६५० में हॉब्स की स्वीकृति के बिना उसके दो लेख प्रकाशित किये गये थे। इनको उसने १६४० में ही लिखा था। इन लेखों के शीर्षक थे *Human Nature* और *De Corpore Politico*। सम्पूर्ण रचना को हॉब्स की पाण्डुलिपि के आधार पर १८८९ टोनीज ने *Element of Law Natural and Politic* नाम से १८८८ में प्रकाशित किया। इसका दूसरा संस्करण १९२८ में निकला। *De Cive* १६४२ में पेरिस में प्रकाशित हुआ। दूसरा संस्करण १६४७। अंग्रेजी १६५१। लेवियाथन १६५१।

प्रेरणा दी थी लेकिन हॉब्स के चिन्तन के महत्त्व का कारण गृहयुद्ध नहीं है। वास्तव मे हॉब्स पहला आधुनिक दार्शनिक था जिसने राजनैतिक सिद्धान्त का आधुनिक विचारधारा के साथ पूरा सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। उसने अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक आधारो पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उसने अपने राजनैतिक दर्शन का निर्माण करते समय प्रकृति के समस्त तथ्यो पर, जिनमे मानव व्यवहार के व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों पक्ष शामिल थे, विचार किया। इस प्रकार की परियोजना ने उसके चिन्तन को सामयिक अथवा विवादास्पद साहित्य की श्रेणी से परे रखा। हॉब्स की परख उसके निष्कर्षों की परिशुद्धता के विचार से भी नहीं की जानी चाहिए। वैज्ञानिक पद्धति के बारे मे उसके विचार अपने समय के विचार थे और वे काफी समय से पुराने पड चुके हैं। फिर भी यह एक तथ्य है कि उसके पास राजनीति-विज्ञान जैसी एक वस्तु थी। यह वस्तु उसकी प्राकृतिक ससार सम्बन्धी सकल्पना का एक अभिन्न भाग थी और उसने उस पर असाधारण स्पष्टता के साथ विचार किया है। इस कारण उसने अपने उन विचारको को भी लाभ पहुँचाया जिन्होंने उसका प्रतिवाद करने की कोशिश की थी। उसका दर्शन बेकन के इस कथन को सार्थक सिद्ध करता है कि "सत्य भ्रम की अपेक्षा भूल से ज्यादा आसानी से निकलता है।" इस स्पष्टता के कारण और अपनी शैली के बाकेपन के कारण हॉब्स अग्रजी भाषी जनता का सबसे बडा राजनैतिक दार्शनिक है।

वास्तव मे, हॉब्स वैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर एक समग्र दर्शन का निर्माण करना चाहता था। राजनैतिक दर्शन उसके इस समग्र दर्शन का एक अग मात्र था। हॉब्स के इस समग्र दर्शन को भौतिकवाद (materialism) कहा गया है। हॉब्स ने गणित तथा भौतिक विज्ञान का अध्ययन बहुत बाद मे आरम्भ किया था। इनका पूरा ज्ञान वह कभी प्राप्त नहीं कर सका। लेकिन, उसने कम-से-कम उस साध्य को समझ लिया था जिसकी ओर नया प्राकृतिक विज्ञान बढ रहा था। गैलीलियो के अनुसार इसने, "पुराने विषय मे से एक नये विज्ञान को जन्म दिया।" यह नया विज्ञान गति का था। इस विज्ञान के अनुसार भौतिक ससार पूर्ण रूप से एक यान्त्रिक व्यवस्था है। ससार मे जो कुछ होता है, उसकी एक-दूसरे से सापेक्ष पिंडो के विस्थापन द्वारा ज्यामितीय परिशुद्धता के साथ व्याख्या की जा सकती है। इस सिद्धान्त के आधार पर विज्ञान ने आशातीत उन्नति की। न्यूटन ने अपने ग्रहो के गति सम्बन्धी सिद्धान्त का आगे चलकर इसी सिद्धान्त के आधार पर निरूपण किया। हॉब्स ने इसी सिद्धान्त को हृदयगम किया और इसे अपने दर्शन का केन्द्र-बिन्दु बनाया। हॉब्स का विचार था कि मूल मे प्रत्येक घटना एक गति के रूप मे होती है। प्राकृतिक प्रक्रियाएँ विभिन्न सश्लेषो के मेल से घटित होती हैं। इन सश्लेषो के मूल मे भी कुछ गतियाँ ही रहती हैं। यदि हम प्राकृतिक प्रक्रियाओं को समझना चाहते हैं, तो हमे इन मूल गतियों को समझना चाहिए। हॉब्स के विचार से प्राकृतिक व्यापार को समझने का एक और उपाय हो सकता है तथा यह उपाय अधिक सन्तोषजनक है। प्रत्येक घटना के मूल मे पिण्डो की सरलतम गति रहती है। बाद मे यह गति अधिकाधिक जटिल होती जाती है। प्रकृति का प्रत्येक व्यापार

किसी-न किसी रूप में इसी गति का द्योतक है। इस प्रकार, उसने दर्शन के तीन भाग माने हैं। पहला भाग पिण्ड से सम्बन्ध रखता है और उसमें ज्यामिति तथा यान्त्रिकी (अथवा भौतिकी) का समावेश होता है। दूसरा भाग मानव प्राणियों के शरीर शास्त्र अथवा मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। तीसरा भाग राज से मुश्किल होना है। वह समाज अथवा राज्य के नाम से प्रख्यात कृत्रिम पिण्ड से सम्बन्ध रखता है। इस योजना में शुरू में बताए गए गति सम्बन्धी नियमों अथवा सिद्धान्तों के अलावा कोई नया तत्त्व नहीं था। आगे चलकर यान्त्रिक कार्य-कारण विषयक कुछ अधिक जटिल प्रकरण ही थे। हॉब्स के दर्शन में सारी वस्तुओं का मूल आधार ज्यामिति और यान्त्रिकी है।

इस प्रकार, हॉब्स के दर्शन का उद्देश्य यह था कि मनोविज्ञान तथा राजनीति को विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाए। प्रत्येक ज्ञान एक दण्ड की भाँति है तथा यान्त्रिकी उसे एक प्रतिरूप प्रदान करती है। हॉब्स का विचार था कि उसकी अध्ययन-पद्धति को प्रमाणित किया जा सकता है। उसने मनोविज्ञान तथा राजनीति में भी इसी पद्धति का प्रयोग किया है। हॉब्स का साध्य किसी अनुभव पर आधारित नहीं था और न उसके निष्कर्ष किसी व्यवस्थित निरीक्षण के परिणाम थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह इन निष्कर्षों को सही मानता था और वह इनकी तथ्यों के निर्देश द्वारा व्याख्या करता था। लेकिन, इस प्रकार के निर्देश उदाहरण होते थे, सामान्यानुमान (induction) नहीं। सत्रहवीं शताब्दी में सम्पूर्ण विज्ञान के ऊपर ज्यामिति का जादू चढ़ा हुआ था। हॉब्स भी इसका अपवाद नहीं था। उसके विचार से श्रेष्ठ पद्धति वह थी *जिससे वह अपने चिन्तन को दूसरे विषयों तक* में ले जा सकता था। ज्यामिति के क्षेत्र में यह बात विशेष रूप से सच थी। इस दृष्टि से हॉब्स के विचार ग्रोशियस अथवा डिस्कार्टीज के विचारों से बहुत कम भिन्न थे। ज्यामिति का रहस्य यह है कि वह सब से पहले सरलतम वस्तुओं को लेती है और जब वह आगे चलकर जटिल समस्याओं को अपने हाथ में लेती है, तो वह केवल उन्हीं चीजों का प्रयोग करती है जिनको वह पहले प्रमाणित कर चुकी होती है। इस प्रकार, ज्यामिति का आधार बड़ा सुदृढ़ होता है। उसमें *किसी भी वस्तु को स्वयं स्वीकृत नहीं माना जाता। उसमें आगे की मंजिल तभी* खड़ी की जाती है जब कि पहले की मंजिल को सही प्रमाणित कर दिया जाता है। इस प्रकार ज्यामिति में गलती की कोई सम्भावना नहीं रहती। हॉब्स ने भी अपने दर्शन का इसी प्रकार निर्माण किया था। उसका दर्शन पिरामिड के रूप का है। प्रकृति में गति तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। मानवी व्यवहार, जिसमें संवेदना भावना *तथा चिन्तन सम्मिलित हैं, गति के ही प्रकार हैं।* शासन कला मनुष्य के सामाजिक व्यवहार पर निर्भर है। सामाजिक व्यवहार मानव व्यवहार का वह पक्ष है जिसमें मनुष्य एक दूसरे से व्यवहार करते हैं। इसलिए, राजनीति विज्ञान मनोविज्ञान पर आधारित है और उसकी प्रक्रिया विधि निगमनात्मक है। हॉब्स का उद्देश्य यह प्रकट करना नहीं था कि शासन वास्तव में क्या होता है। उसका उद्देश्य यह प्रकट करना

था कि शासन को कैसा होना चाहिए जिससे कि वह उन प्राणियों के ऊपर सरलता-पूर्वक नियन्त्रण रख सके जिनकी यंत्रप्रेरणा मानवी यन्त्र की सी है।

हॉब्स इस आदर्श व्यवस्था का स्वयं निर्वाह नहीं कर सका क्योंकि यह व्यवस्था असम्भव थी। इस अवस्था में तार्किक अथवा गणितीय ज्ञान को अनुभवात्मक अथवा तथ्यात्मक ज्ञान के साथ अभिन्न कर दिया गया था। लिबनिज (Leibniz) से पहले दर्शन में यह भ्रम सर्वव्यापक था। परिणामस्वरूप ज्यामिति से भौतिक शास्त्र की ओर सीधी रेखा में बढ़ने का सवाल ही नहीं उठ सकता था। मनोविज्ञान को भौतिक शास्त्र के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है या नहीं, यह एक भिन्न प्रश्न है, लेकिन हॉब्स ने गति के नियमों में संवेदन, भावनाओं और मानवी आचरण को अवश्य निकाला। हॉब्स मनोविज्ञान के आधार पर एक नई दिशा में उन्मुख हुआ। हॉब्स ने सामान्य रूप से मानवी व्यवहार के लिए एक सिद्धान्त अथवा सूत्र निकाला और फिर उसने यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि विभिन्न परिस्थितियों में यह सिद्धान्त किस प्रकार क्रियाशील होता है। इस पद्धति के द्वारा ही वह मनोविज्ञान से राजनीति में पहुँचा। जहाँ उसने एक बार मनोविज्ञान से आरम्भ किया, वह अपनी योजना के प्रति सच्चा रहा। उसने बताया कि मानव प्रकृति एक मूल नियम से शासित होती है। हॉब्स ने यह प्रदर्शित किया कि राजनीति में यह नियम किस प्रकार कार्य करता है। यह पद्धति मूलतः निगमनात्मक थी।

भौतिकवाद तथा प्राकृतिक विधि
(Materialism and Natural Law)

यद्यपि यह प्रक्रिया विधि वैसी ही थी जिसके द्वारा ग्रोशियस ने न्याय शास्त्र को आधुनिक रूप दिया था, लेकिन हॉब्स के परिणाम ग्रोशियस के परिणामों से भिन्न थे। ग्रोशियस ने प्राकृतिक विधि को धर्म शास्त्र के बन्धन से अलग कर दिया था। उसका विचार था कि न्याय-शास्त्र में ईश्वर के बिना भी काम चल सकता है। लेकिन, ग्रोशियस ने प्रकृति को यान्त्रिक रूप देने की कभी कल्पना नहीं की थी। ग्रोशियस के हाथों में तथा सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में प्राकृतिक विधि एक यान्त्रिक सिद्धान्त नहीं प्रत्युत् एक साध्यपरक सिद्धान्त के रूप में बनी रही। हॉब्स के पद चिह्नों पर चलकर स्पिनोजा ने यह प्रयत्न किया कि वह नीति शास्त्र तथा धर्म को गणितीय प्राकृतिक विज्ञान के अनुकूल बना दे। लेकिन, वह सफल न हो सका और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ होने तक उसका प्रभाव नगण्य रहा। प्राकृतिक विधि का दोहरा अर्थ था। भौतिक शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र में वह यन्त्र शास्त्र का एक नियम माना जाता था जैसे कि न्यूटन का गति सम्बन्धी नियम। इसके विपरीत नीति शास्त्र और न्याय शास्त्र में वह न्याय का एक नियम माना जाता था। यह नियम एक पारदर्शी मूल्य के रूप में होता था जिसके आधार पर किसी सकारात्मक विधि अथवा वास्तविक नैतिक व्यवहार के महत्त्व की परीक्षा की जा सकती थी। लेकिन, हॉब्स के दर्शन ने न्याय के किसी भावपरक नियम को कोई मान्यता नहीं दी। उसके विचार से प्रकृति और मानव प्रकृति कार्य कारण व्यापार मात्र थे।

हॉब्स की प्रक्रिया और प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त में कुछ ऊपरी समानता थी। दोनों ही अपने बुनियादी सिद्धान्तों को मानव प्रकृति पर आधारित मानते थे और वे इसके आधार पर कुछ ऐसे नियमों का निर्माण करते थे जो उनके विचार से विधि तथा शासन के मूल में रहने चाहिएँ। लेकिन, दोनों व्यवस्थाओं में मानव प्रकृति पर निर्भरता का अर्थ अलग-अलग था। प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों में यह निर्भरता परस्तुपरक थी। इसके अनुसार प्राकृतिक विधि मानवोचित और सभ्य जीवन की बुनियादी दशाओं का नियन्त्रण करती है। यह साध्य पूरी तरह प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसके नजदीक ही पहुँचा जा सकता है। यह सकारात्मक विधि और मानवीय आचरण पर नैतिक तथा नियन्त्रणकारी प्रभाव डालती थी। हॉब्स के विचार से जो चीज मानव जीवन का नियन्त्रण करती है वह कोई साध्य नहीं है, बल्कि कारण है। मानव प्राणी एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक यन्त्र व्यवस्था है। इन प्राणियों के मिल-जुलकर रहने से जो समाज बनते हैं वे उनकी एक-दूसरे के ऊपर क्रिया प्रतिक्रिया के परिणाम होते हैं। उनके बीच स्थायी एकता की परिस्थितियाँ न्याय अथवा न्यायोचित व्यवहार या नैतिक आदर्श नहीं होते, बल्कि केवल ऐसे कारण होते हैं जो सहकारी आचरण का भाव जगाते हैं। हॉब्स के विचार से प्राकृतिक विधि का यही भाव था। यह नहीं कहा जा सकता कि हॉब्स अपने इस मत पर सदैव दृढ़ रहा। शायद ऐसा करना सम्भव नहीं है। लेकिन उसके दर्शन में इस बात की पहली बार कोशिश की गई कि राजनैतिक दर्शन को यन्त्रवत् वैज्ञानिक ज्ञान का एक भाग माना जाए।

हॉब्स के लिए यह ज्यादा आसान होता कि वह अपने से बाद के दो विचारकों ह्यूम तथा बेंथम की भाँति प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को बिलकुल त्याग देता। वह मानव प्रकृति से ही अपना दर्शन आरम्भ कर सकता था। मानव प्रकृति को वह जैसा देखता वैसा मान सकता था। लेकिन यह रास्ता सत्रहवीं शताब्दी की वैज्ञानिक पद्धति की सकल्पना के विरुद्ध होता। निगमनात्मक पद्धति के कुछ सिद्धान्त होते हैं। इन सिद्धान्तों को स्वतः स्पष्ट होना चाहिए। हॉब्स ने प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों को कायम ही नहीं रखा बल्कि उन्हें अपने राजनैतिक दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। हॉब्स ने इन सिद्धान्तों की अपने मनोविज्ञान के अनुसार व्याख्या की हालाँकि वह यही भाव प्रदर्शित करता रहा मानो प्राकृतिक विधि से उसका वही अभिप्राय है जैसा कि अन्य लेखकों का। वस्तुस्थिति इससे बिलकुल भिन्न थी। हॉब्स के विचार से प्राकृतिक विधि का अभिप्राय वे नियम थे जिनके अनुसार कोई भी बुद्धिमान् प्राणी यदि उसे अपने आस-पास की परिस्थितियों का पूरा ज्ञान हो तथा वह क्षणिक भावनाओं या उद्वेगों से प्रभावित न हो तो, कार्य करेगा। हॉब्स का विचार है कि अधिकतर मनुष्य इस तरह से काम नहीं करते। फलतः, प्राकृतिक विधि कुछ ऐसी काल्पनिक परिस्थितियों का निरूपण कर देती है जिनके आधार पर मनुष्य स्थायी शासन के निर्माण का प्रयास करते हैं। ये परिस्थितियाँ किन्हीं मूल्यों का निरूपण नहीं करतीं बल्कि इस बात की कोशिश करती है कि कानूनी तथा नैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न चीजों को मूल्य का रूप दिया जा सकता है।

आत्मरक्षा की प्रकृति
(The Instinct of Self-Preservation)

इसलिए, हॉब्स के सामने सबसे पहली समस्या मानव व्यवहार के नियम की व्याख्या करने की और उन दशाओं का निरूपण करने की थी जिनके आधार पर स्थायी समाज का निर्माण सम्भव है। उसके भौतिकवादी सिद्धान्तों के अनुसार वास्तविकता पिण्डों की गति में है। यह गति इन्द्रियों के माध्यम से केन्द्रीय स्नायु संस्थान में पहुँच जाती है और वहाँ वह संवेदना के रूप में प्रगट होती है। इस तरह की पारेषित गति सदैव ही महत् गति को (हॉब्स का विचार था कि इस महत् गति का उपकरण बुद्धि नहीं बल्कि हृदय होता है) या तो प्रोत्साहन देती है या उसके लिए बाधक होती है। इस महत् गति के प्रोत्साहित या निरुत्साहित होने के अनुसार ही मनुष्य के अन्दर दो आदिम प्रवृत्तियाँ अभिलाषा अथवा विमुखता उत्पन्न होती हैं। इनमें से पहली प्रवृत्ति तो महत् गति के अनुकूल होती है और दूसरी उसके प्रतिकूल। प्रगति अथवा निवर्तन की आदिम प्रतिक्रियाओं के बाद हॉब्स अधिक जटिल अथवा दूर के संवेगों अथवा उद्देश्यों की विवेचना करता है। ये संवेग अथवा उद्देश्य इस बात पर निर्भर रहते हैं कि प्रेरणाकारी पदार्थ का अपनी प्रतिक्रिया से क्या सम्बन्ध है। सामान्यतः भावनाएँ हमेशा युग्मों के रूप में होती हैं। उदाहरण के लिए जो पदार्थ आकर्षक होता है वह प्रिय लगता है और जो पदार्थ विकर्षक होता है उससे घृणा होती है। एक पदार्थ को प्राप्त करने पर आदमी को खुशी होती है और दूसरे को पाने पर गम। एक की आशा उल्लास देती है तथा दूसरे की निराशा। इसी प्रकार अन्य संयोगों से भय या साहस, रोष या उदारता आदि भावों का जन्म होता है। हॉब्स का विचार था कि वह इस सरल मनोवैज्ञानिक पद्धति से मनुष्य द्वारा अनुभूत समस्त भावों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रक्रिया में मानसिक सुख और कष्ट ज्यादा नहीं थे लेकिन सिद्धान्ततः वे एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। मनुष्य की इच्छा इनके साथ कोई विशेष व्यवहार नहीं करती। प्रत्येक भाव उद्दीपन के प्रति एक प्रकार की प्रतिक्रिया अथवा बाहरी पदार्थों या घटनाओं के प्रति सक्रिय प्रतिचार है। इच्छा तो अन्तिम क्षुधा मात्र है। हॉब्स के मनोविज्ञान में अभिनव तत्त्व मानवीय स्वार्थ का नहीं था। इस दृष्टि से वह मैकियावेली से भिन्न नहीं था। हॉब्स के दर्शन में अभिनव तत्त्व मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जिसके द्वारा उसने अहंकार को मनुष्य के आचरण का एक वैज्ञानिक आधार सिद्ध करने का प्रयास किया।

अभिप्रेरणा के इस सिद्धान्त के विवरण पर जोर देने की जरूरत नहीं है। लेकिन, इसके स्पष्टीकरण के कुछ सिद्धान्तों की ओर ध्यान देना जरूरी है। सर्वप्रथम व्युत्पादन की पद्धति अनुभव पर आधारित न होकर निगमनात्मक थी। हॉब्स उन भावनाओं और उद्देश्यों की सूची नहीं बनाता था जिन्हें उसने मानव प्रकृति के निरीक्षण के आधार पर देखा। वह केवल यह प्रकट कर रहा था कि यदि मनुष्य के सभी प्रयोजनों का मूल आदिम आकर्षण की भावना है तो विभिन्न जटिल परिस्थितियों में मनुष्य को रखने से उसके ऊपर क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं।

दूसरे, उसका सिद्धान्त अभिप्रेरणा के उस सुख-दुःख सम्बन्धी सिद्धान्त से भी भिन्न था जिसे अठारहवीं शताब्दी के मनोवैज्ञानिकों ने बाद में विकसित किया था। यह सही है कि अभिलाषा के आधार पर उत्पन्न होने वाले सभी भाव सामान्यतः सुखद होते हैं और विकर्षण के आधार पर उत्पन्न होने वाले भाव सुखद नहीं होते। लेकिन हॉब्स का सिद्धान्त यह नहीं था कि लोग सुख को चाहते ही चाहते हैं और दुःख से बचने की कोशिश करते ही करते हैं। हॉब्स का मुख्य जोर सुख अथवा दुःख पर नहीं बल्कि उद्दीपन और प्रतिचार पर है। प्राणी सदैव किसी न किसी ढंग से प्रतिचार करता है और इसके लिए सक्रिय व्यवहार के किसी विशेष स्पष्टीकरण की जरूरत नहीं है। तीसरे, इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि हॉब्स का मूल सिद्धान्त बाद के उपयोगितावादियों से बहुत दूर था। बाद के उपयोगितावादियों का तो यह विचार था कि मूल्य को सुख की इकाइयों के रूप में नापा जाना चाहिए। हॉब्स का मूलभूत मनोवैज्ञानिक तथ्य यह है कि प्रत्येक उद्दीपन जीवनी शक्ति पर या तो अनुकूल प्रभाव डालता है या प्रतिकूल। यदि प्रभाव अनुकूल है तो प्राणी इस अनुकूल प्रभाव को ग्रहण करने के लिए उपयुक्त ढंग से प्रतिचार करता है। यदि प्रभाव प्रतिकूल है तो प्राणी प्रतिचार नहीं करता और वह ऐसा कार्य करता है जिससे कि हानिप्रद प्रभाव से बचा जा सके। सम्पूर्ण व्यवहार के मूल नियम यह है कि प्राणी अपनी जीवनी शक्ति को कायम रखने और बढ़ाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। संक्षेप में, सम्पूर्ण व्यवहार के मूल में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त—आत्मरक्षा का उद्देश्य मनुष्य के जैविक अस्तित्व को कायम रखना है। जो चीज इस काम में सहायता देती है वह अच्छी है और जो सहायता नहीं देती वह बुरी है।

हॉब्स को यह स्पष्ट मालूम था कि आत्मरक्षा का सिद्धान्त इतना आसान नहीं था जैसा कि वह अब तक माना गया है। जीवन एक ऐसा अवकाश नहीं है जिसमें साध्य को एक बार में ही हमेशा के लिए प्राप्त कर लिया जाये। जीवन में आत्मरक्षा के साधनों की पग-पग पर खोज करनी पड़ती है। चूंकि सुरक्षा के साधन कम हैं, इसलिए जीवन संघर्ष अनन्त है। मानव प्रकृति की मूल आवश्यकता सुरक्षा की इच्छा है। इस इच्छा को शक्ति की इच्छा से पृथक् नहीं किया जा सकता। हमें आज सुरक्षा की जितनी भावना है, उसे नित्य प्रति सशक्त करने की जरूरत है।

"सम्पूर्ण मानव जाति शक्ति की शाश्वत और अविश्रांत इच्छा से प्रेरित है। इस लालसा का अन्त मृत्यु के साथ ही होता है। इसका कारण यह नहीं है मनुष्य के पास इस समय जितनी खुशी है वह उससे अधिक खुशी चाहता है या उसका कुछ कम शक्ति से काम नहीं चल सकता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के पास इस समय जीविका के जो साधन हैं और जो शक्ति है, बिना और अधिक प्राप्त किये हुए उसकी रक्षा का आश्वासन नहीं होता।"[1]

इसलिए, मनुष्य को निरन्तर सुरक्षा की जरूरत है। इसका अभिप्राय यह है कि उसे हर तरह की शक्ति चाहिए, उसे धन चाहिए, पद चाहिए, सम्मान चाहिए, ये सारी चीजें उस अपरिहार्य विनाश को रोकती हैं जो एक न एक दिन अन्त में हर मनुष्य के ऊपर आता है। इसके साधन मूर्त हो सकते हैं : मूर्त साधनों को हॉब्स

1. Leviathan, Ch. XI.

ने लाभ कहा है। अथवा इसके साधन अमूर्त हो सकते हैं, अमूर्त साधनों को हॉब्स ने गौरव कहा है। लेकिन दोनों का मूल्य एक ही है।

मानव अभिप्रेरणाओं के इस विवरण के पश्चात् हॉब्स ने समाज से बाहर मनुष्य की अवस्था का वर्णन किया है। इस अवस्था में मनुष्य के सामने मुख्य लक्ष्य अपनी सुरक्षा का अथवा अपनी शक्ति का होता है। उसके लिए दूसरे मनुष्यों का उसी सीमा तक महत्त्व है जहाँ तक वे इस पर असर डालते हैं। चूँकि शक्ति और बुद्धिमत्ता में सभी मनुष्य प्राय बराबर हैं, इसलिए जब तक उनके व्यवहार पर नियन्त्रण रखने के लिए कोई नागरिक शक्ति न हो तब तक हर मनुष्य की हर मनुष्य के साथ लड़ाई है। इस तरह की स्थिति सभ्यता के प्रतिकूल है। इस स्थिति में उद्योग धंधों, नौ-वहन, वास्तु, शिल्प कला तथा साहित्य किसी की भी उन्नति नहीं हो सकती। इस अवस्था में मनुष्य का जीवन एकान्त, निर्धन, घृणित, जंगली और अल्पकालीन होता है। इस अवस्था में न न्याय होता है और न अन्याय, न उचित होता है और न अनुचित। इस अवस्था में जीवन का नियम सिर्फ यह है कि मनुष्य जो कुछ प्राप्त कर सकता है उसे प्राप्त कर ले और उसे जब तक अपने पास रख सकता है उसे अपने पास रख ले। हॉब्स का विचार था कि जंगली व्यक्तियों का जीवन इसी तरह का रहा होगा। लेकिन, हॉब्स को अपने विवरण की ऐतिहासिक शुद्धि का विशेष ध्यान नहीं है। उसका उद्देश्य इतिहास नहीं बल्कि विश्लेषण है।

बुद्धिसंगत आत्मरक्षा
(Rational Self preservation)

अभी तक हॉब्स ने अपना आधा विश्लेषण ही प्रस्तुत किया है। जीवनी शक्ति का क्षणिक उन्नयन जो मानवीय अभिलाषा का स्रोत है तथा जीवन की दीर्घता दो भिन्न वस्तुएँ हैं। हॉब्स का कहना है कि मनुष्य की प्रकृति में दो सिद्धान्त हैं—अभिलाषा और विवेक। अभिलाषा के कारण मनुष्य ऐसी सारी चीजों को हथियाना चाहता है जिसे दूसरे मनुष्य चाहते हों। परिणाम यह होता है कि मनुष्य आपस में लड़ने लगते हैं। मानव प्रकृति का दूसरा सिद्धान्त, विवेक, मनुष्य को यह सिखाता है कि वे आपसी झगड़ों को भूल जाएँ। विवेक एक प्रकार की नियामक शक्ति है जिससे कि सुरक्षा की खोज आत्मरक्षा के सामान्य सिद्धान्त का अनुसरण किए बिना ही अधिक कारगर हो जाती है। मनुष्य जल्दी-जल्दी सारी चीजों को हथियाना चाहता है। इससे विरोध पैदा होता है और मनुष्य आपस में लड़ते हैं। मनुष्य के विवेक तथा सहजवृत्ति में क्या सम्बन्ध है अथवा विवेक सहजवृत्ति पर किस तरह असर डालता है, हॉब्स ने यह स्पष्ट नहीं किया है। हॉब्स ने प्राकृतिक शब्द का द्व्यर्थक प्रयोग किया है। कभी तो प्राकृतिक वह है जिसे मनुष्य सुरक्षा की दृष्टि से स्वतः करता है। इसका अभिप्राय अर्जनशीलता और आक्रमणशीलता है। कभी प्राकृतिक का अभिप्राय वह है जो मनुष्य पूर्ण विवेक की स्थिति में और परिस्थितियों के अनुसार सुरक्षित होने के लिए करेगा।

चूंकि ये दोनों अर्थ अभी तक अलग हैं इसलिए हॉब्स मनुष्य की पूर्व-*सामाजिक अवस्था और सामाजिक अवस्था के बीच भेद पैदा कर देता है।* समाज की स्थापना के पहले प्राकृतिक मनुष्य बिलकुल विवेकहीन था। लेकिन राज्य की स्थापना करने और उसका संचालन करने में वह अपने को बड़ा बुद्धिमान् प्राणी सिद्ध कर देता है। सामाजिक होने के लिए यह जरूरी है कि मनुष्य पूर्ण रूप से अहंवादी हो। लेकिन, इस तरह के अहंवादी दुर्लभ होते हैं। परिणाम एक प्रकार का विरोधाभास है। यदि मनुष्य वास्तव में ऐसे जंगली और समाजविरोधी हों जैसा कि हॉब्स ने उन्हें दिखाया है तो वे शासन की स्थापना कभी नहीं कर सकते। यदि वे इतने बुद्धिमान् हैं कि शासन की स्थापना कर सकते हैं तो वे शासन के बिना कभी नहीं रहे होंगे। इस विरोधाभास का कारण यह है कि हॉब्स ने समाज के उद्‌भव का वर्णन करते समय विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के दो भागों में समन्वय स्थापित किया है। एक मनोवैज्ञानिक रूढ़ि के द्वारा हॉब्स ने अभिप्रेरणा को इस रूप में चित्रित किया है मानो वह विवेकहीन हो लेकिन इसके साथ ही वह विवेक का आश्रय लेता है जिससे कि प्रेरणाओं का विनियमन किया जा सके—यह विनियमन ही समाज को सम्भव बनाता है। यह भेद काल्पनिक है। मानव प्रकृति न इतनी विवेकशील है और न इतनी विवेकहीन है जैसा कि हॉब्स ने प्रकट किया है।

मानव प्रकृति की जिस कच्ची सामग्री के आधार पर समाज का निर्माण होता है उसमें दो विरोधी तत्त्व हैं आदिम इच्छा और विमर्श। समस्त प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ इन्हीं से उत्पन्न होती हैं। विवेक का भी यही उद्‌गम है। विवेक के द्वारा ही मनुष्य आत्मरक्षा के कार्य में बुद्धिमत्तापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है। विवेक की नियामक शक्ति के द्वारा ही मनुष्य अपनी जंगली और एकाकी स्थिति से निकल कर सभ्य और सामाजिक स्थिति में प्रवेश करता है। यह परिवर्तन प्रकृति की विधियों के द्वारा होता है। प्रकृति की विधियाँ समाज अथवा मानवी शक्ति की दशाएँ हैं। ये विधियाँ बताती हैं कि यदि एक विवेकशील प्राणी अपनी सुरक्षा से सम्बन्धित सभी प्रश्नों के बारे में अन्य मनुष्यों के साथ अपने सम्बन्धों की समस्या पर निष्पक्षता से विचार करे तो वह क्या करेगा।

"इसलिए, प्रकृति की विधि उचित विवेक का आदेश है। वह उन वस्तुओं की निरंतर अभ्यस्त है जिन्हें जीवन की सतत रक्षा के लिए या तो करना पड़ता है या छोड़ना पड़ता है।"[1]

"प्रकृति की विधि एक उपदेश या सामान्य नियम है जो विवेक के ऊपर आधारित है और जिसके अनुसार मनुष्य जीवन का विनाश करने वाली वस्तुओं का परित्याग करता है और जीवन की रक्षा करने वाली वस्तुओं को अपनाता है।"[2]

मनुष्य के समस्त कार्यों का स्रोत अब भी आत्मरक्षा ही है। लेकिन आत्म-रक्षा की यह भावना बड़ी सजग है और पहले से ही समस्त परिस्थितियों पर विचार कर लेती है। प्रकृति की विधियाँ ही वे सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर हॉब्स अपने

---

1 *De Cive*, Ch. II, 1, *English Works* (ed Molesworth), Vol II, p. 16

2. *Leviathan*, Ch XIV

समाज का निर्माण करता है। वे बुद्धिमत्ता तथा सामाजिक नैतिकता के सिद्धान्त हैं। वे सभ्यता की विधि तथा नैतिकता के मूल्यों की रचना करते हैं।

हॉब्स ने प्रकृति की विधियों के जो तीन विवरण दिए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उसने अपने सिद्धान्तों को क्रमबद्ध रूप देने का कभी प्रयास नहीं किया। यद्यपि हॉब्स की विश्लेषण शक्ति बड़ी तीव्र थी, लेकिन वह इस कला की बारीकियों को कभी नहीं समझ सका। हॉब्स की तीनों सूचियाँ (जिनमें से एक एक का हम प्रत्येक उपर्युक्त रचना में उल्लेख कर चुके हैं) सार रूप में तो एक सी हैं लेकिन विवरण में एक सी नहीं हैं और इन तीनों ही सूचियों में कुछ ऐसे नियम हैं जिनका विशेष महत्व नहीं है तथा जिन्हें अधिक सामान्य नियमों के विशेष उदाहरण समझा जा सकता है। इन विभिन्न सूचियों की विस्तृत रूप से परीक्षा करना या तुलना करना आवश्यक नहीं है।

संक्षेप में हॉब्स के सिद्धान्तों का अभिप्राय यह है . शान्ति और सहयोग आत्म-रक्षा के लिए हिंसा और प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। शान्ति के लिए पारस्परिक विश्वास की आवश्यकता है। मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है कि वह अपनी सुरक्षा चाहता है। यदि मनुष्य अपनी रक्षा खुद ही करता है और उसे अपने इस प्रयत्न में अन्य किसी पक्ष से सहायता नहीं मिलती, तो उसे यह 'अधिकार' है कि वह अपने इस प्रयत्न में जो ठीक समझे, करे। यहाँ हॉब्स ने 'अधिकार' शब्द का आलंकारिक ढंग से प्रयोग किया है। यहाँ 'अधिकार' शब्द किसी वैधिक अथवा नैतिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। साधनों और साध्यों पर बुद्धिमत्तापूर्वक विचार करने से ज्ञात होता है कि "जहाँ तक सम्भव हो, प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। यहाँ 'चाहिए' का अर्थ यह है कि यदि मनुष्य इस रास्ते पर न चल कर और किसी रास्ते पर चलते हैं, तो इससे सुरक्षा नष्ट हो सकती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य को शान्ति-रक्षा का उस समय अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिए, जब अन्य व्यक्ति भी शान्ति रक्षा के लिए प्रयत्नशील हों। जहाँ तक आत्म-रक्षा का प्रश्न है, उसे अपने पास इतनी स्वतन्त्रता रखनी चाहिए जितनी स्वतन्त्रता वह अन्य व्यक्तियों को भी देने के लिए तैयार हो।" इस नियम का मुख्य तत्त्व यह है कि आप दूसरे व्यक्तियों को उसी समय स्वतन्त्रता दें जब कि दूसरे व्यक्ति भी आपको स्वतन्त्रता देने के लिए तैयार हों। यदि दूसरे व्यक्ति आप को स्वतन्त्रता देने के लिए तैयार नहीं हैं, तो आप का उनको स्वतन्त्रता देना व्यर्थ है। इसलिए, समाज की मुख्य शर्त पारस्परिक विश्वास तथा संविदाओं का पालन करना है। इसके अभाव में समाज टिक नहीं सकता। लेकिन यह तभी सम्भव है जब कि अन्य व्यक्ति भी आपके साथ समानता का व्यवहार करने के लिए तैयार हों।

इस तर्क में और इसके मनोविज्ञान में विकृति है। सब से पहले हॉब्स मनमाने ढंग से मानव प्रकृति की उन प्रतियोगी और निर्मम विशेषताओं को अलग कर देता है जो पारस्परिक विश्वास के प्रतिकूल हैं। इसके बाद वह दिखाता है कि इन विशेषताओं के आधार पर समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। प्राकृतिक विधि की सकल्पना सन्तुलन को बनाए रखने का साधन है। ये दोनों तत्त्व मिलकर एक ऐसी

मानव-प्रकृति की सृष्टि करते हैं जो समाज का निर्माण कर सकती है। मनोवैज्ञानिक भावना के मूल में समाज के स्वरूप के बारे में एक धारणा छिपी हुई है जो अत्यधिक महत्त्व की है। चूँकि मनुष्य का सम्पूर्ण व्यवहार इसी उद्देश्य से प्रेरित होता है, अत समाज को इस साध्य की सिद्धि का एक साधन मात्र समझना चाहिए। हॉब्स एक साथ ही पूर्ण उपयोगितावादी भी था और पूर्ण व्यक्तिवादी भी। राज्य की शक्ति और विधि की सत्ता की यही सार्थकता है कि वे व्यक्ति की सुरक्षा मे मदद देती हैं। लोग सत्ता के आगे इसीलिए शीश भुकाते हैं क्योंकि इसके द्वारा उन्हें ज्यादा लाभ की उम्मीद होती है। इस सिद्धान्त मे एक इकाई के रूप मे स्वतन्त्र समाज की सत्ता नष्ट हो जाती है और उसके स्थान पर हम पाते हैं पृथक् स्वार्थों का एक जोड। इस दशा में समाज की स्थिति एक कृत्रिम सस्था की-सी रहती है। इसकी उपयोगिता सिर्फ यही है कि मनुष्य पदार्थों और सेवाओं का विनिमय करते हैं।

हॉब्स के दर्शन को उसके युग का सब से क्रान्तिकारी सिद्धान्त बनाने वाला तत्त्व उसका व्यक्तिवाद है। इसके अतिरिक्त उसका राजतन्त्र का समर्थन सतही है। क्लैरेंडन का यह कहना सही है कि हॉब्स को इस प्रकार के तर्क द्वारा अपने राजा-धिराज का समर्थन करने के लिए कभी जन्म ही नहीं लेना चाहिए था। यह तर्क उस सम्पूर्ण निष्ठा और आदर-भावना को समाप्त कर देता है जिसके ऊपर राजतन्त्र आधारित है। हॉब्स ने परम्परा की शक्ति को सुस्पष्ट तर्कबुद्धिवाद के द्वारा पहली बार तोड़ा है। राज्य दैत्याकार या लेवियाथन है। लेकिन, कोई भी व्यक्ति लेवियाथन से न प्रेम करता है और न उसका आदर करता है। इसका महत्त्व केवल यह है कि वह उपयोगी है। वह जनसाधारण की सुरक्षा का साधन है। इस तर्क के द्वारा हॉब्स ने मानव प्रकृति के विषय म वह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जो दो शताब्दियों की परम्परागत आर्थिक और सामाजिक सस्थाओ के पतन का परिणाम था। पुन उसने लैसेज फेयर की उस भावना को पकड लिया था जिसने सामाजिक चिन्तन को दो शताब्दियो तक अनुप्राणित रखा।

प्रभुसत्ता और काल्पनिक निगम

(Sovereignty and the Fictitious Corporation)

चूँकि समाज पारस्परिक विश्वास पर निर्भर करता है, अत अगला कदम अनिवार्य रूप से यह समझना है कि यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है। इससे हम हॉब्स के प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर पहुँच जाते हैं। चूँकि मनुष्यो म समाजविरोधी प्रवृत्ति होती है, अत उनसे यह उम्मीद नही की जा सकती कि वे एक दूसरे के अधिकारो का सम्मान करेंगे। जब तक वे ऐसा नही करते, उनसे यह उम्मीद करना भी उचित नही है कि वे एक दूसरे के अधिकारों का सम्मान करना छोड दें। प्रसंविदाओं का पालन उसी समय हो सकता है जब कि एक प्रभावशाली शासन हो और यह शासन उन लोगो को दण्ड दे, जो उनका पालन नही करते।

"तलवार के बिना प्रसंविदाएँ केवल शब्द ही शब्द हैं और उनमें यह ताकत नहीं होती कि मनुष्य उनका पालन करने को विवश हो।"[1]

1. *Leviathan*, Ch XVII

"यदि किसी बलप्रवर्ती शक्ति का भय न हो, तो शब्दों के कथन इतने कमजोर होते हैं कि वे मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा, लोभ, क्रोध तथा अन्य उद्वेगों को नियन्त्रण में नहीं रख सकते।"[1]

सुरक्षा शासन के ऊपर निर्भर है। शासन में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह शान्ति को कायम रख सके। आवश्यकता पड़ने पर उसे मनुष्य की असामाजिक प्रवृत्तियों का दमन करने का अधिकार होना चाहिए। मनुष्य दंड के भय से ही सामाजिक व्यवहार करने के लिए विवश होते हैं। विधि का प्राधिकार उसी सीमा तक व्याप्त है जिस सीमा तक उसका पालन हो सकता है। इस दृष्टिकोण का प्रसंविदाओं के पालन के विवेक के साथ क्या सम्बन्ध है, यह बात स्पष्ट नहीं है। हॉब्स का विचार था कि मनुष्य विवेक के आधार पर एक-दूसरे के साथ मिल कर अवश्य ही रह सकते हैं, लेकिन विवेक इतना दुर्बल होता है कि वह साधारण मनुष्य के लोभ को अंकुश में नहीं रख सकता। संक्षेप में, उसके सिद्धान्त ने शासन को बल के साथ समीकृत किया है। बल का चाहे प्रयोग किया जाए या नहीं, वह पृष्ठभूमि में अवश्य रहना चाहिए।

बल का औचित्य सिद्ध करने के लिए हॉब्स ने संविदा की पुरानी पद्धति का सहारा लिया। तथापि, उसने इस संविदा को शासक के ऊपर लागू नहीं किया। इसने इस संविदा को व्यक्तियों के बीच ही लागू किया। इस संविदा के द्वारा सारे लोग आत्म-सहायता की भावना छोड़ देते हैं तथा अपने को एक प्रभु की अधीनता में कर देते हैं

"मैं इस आदमी या आदमियों के इस सघ को अधिकार देता हूँ और अपने आपको शासित करने के अपने अधिकार को छोड़ता हूँ, इस शर्त पर कि आप भी उसे अपना अधिकार दे दें और उसके सब कार्यों को इसी रूप में अधिकृत करें।" महान् दैत्य अथवा (यदि हम अधिक सम्मानजनक शब्दों का प्रयोग करें) उस मर्त्य प्रभु का इसी रीति से जन्म होता है। यह वही मर्त्य प्रभु है जिसकी कृपा पर, अमर्त्य ईश्वर की छत्रछाया में, हमारी शांति तथा सुरक्षा निर्भर है।"[2]

चूँकि केवल प्राकृतिक शक्ति के प्रयोग का अधिकार त्यागा गया है, और "तलवार के बिना प्रसंविदाएँ केवल शब्द होती हैं", इसलिए यह केवल कहने की ही प्रसंविदा है। संभवतः, यह उसके मनोविज्ञान के समाज विरोधी तत्त्व को दूर करने के लिए एक तार्किक कल्पना है। इसके आधार पर उसने सामाजिक सम्बन्धों में नैतिक दायित्व का समावेश किया। इससे उसके तर्क में काफी जान आ गई। अभिधार्थ में वह कह रहा है कि मनुष्य को स्वयोग की दृष्टि से ऐसा काम भी करना चाहिए जो वह पसंद नहीं करता। यदि वह ऐसा करने के लिए तय्यार नहीं होगा, तो उसे और भी अरुचिकर परिणाम देखने होंगे। हॉब्स के दर्शन में दायित्व का भाव और किसी रूप में नहीं है।

इस मुद्दे पर हॉब्स के विचार को संविदा के स्थान पर नियम की वैधिक संकल्पना के प्रयोग द्वारा सुगमता से व्यक्त किया जा सकता है। उसने डी सिवे (De Cive) नामक ग्रंथ में यही किया है।[3] उसका कहना है कि भीड़ के न तो अधिकार हो सकते

1 *Leviathan*, Ch. XIV
2 *Ibid*, Ch. XVII
3 Ch. V, VI

हैं और न वह कोई काम कर सकती है। काम केवल व्यक्ति ही कर सकते है। इस निष्कर्ष का आधार यह है कि कोई भी सामूहिक संस्था कृत्रिम होती है। फलत जब यह कहा जाता है कि मनुष्यों का कोई समाज सामूहिक रूप से कार्य कर रहा है, तब इसका यह अभिप्राय होता है कि व्यक्ति सम्पूर्ण समुदाय की ओर से उसके विश्वास प्राप्त प्रतिनिधि के नाते कार्य कर रहा है। जब तक ऐसा कोई प्रतिनिधि न हो, तब तक समुदाय की कोई सामूहिक सत्ता नहीं होती। इसलिए, यदि हॉब्स की मूल धारणाएँ स्वीकार की जाएँ, तो निगम का निर्माण सहमति के द्वारा नहीं प्रत्युत् 'सघ' के द्वारा होता है। 'सघ' का अभिप्राय यह है कि सारे व्यक्ति अपनी इच्छाओं को एक व्यक्ति की इच्छा के हवाले कर दें। वास्तव में निगम कोई सामूहिक सस्था नहीं है प्रत्युत् वह एक व्यक्ति है। वह उसका अधिष्ठाता अथवा सचालक है। उसकी इच्छा समस्त व्यक्तियों की इच्छा मानी जाती है। इस तारतम्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज वास्तव में एक कल्पना है। व्यवहार में इसका अभिप्राय केवल प्रभुसत्ता सम्पन्न व्यक्ति होता है। जब तक प्रभुसत्ता सम्पन्न व्यक्ति नहीं होता, तब तक समाज भी नहीं बनता। हॉब्स ने यह सिद्धान्त निरन्तर ही समस्त निगमों के ऊपर लागू किया है। अन्य कोई सिद्धान्त निगमों को पूरा राज्य नहीं बनाता। वे प्राकृतिक मनुष्य की आंतों में कीड़ों की तरह पड़े रहते हैं। राज्य की अनुपमता सिर्फ इस बात में है कि उससे बढ़ कर कोई सत्ता नहीं होती। अन्य निगम उसकी अनुमति से ही रहते हैं।

काल्पनिक निगम के निष्कर्ष
(Deductions from the Fictitious Corporation)

इस आधार पर हॉब्स ने कुछ सबसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। समाज तथा राज्य के बीच कोई भेद मानना भ्रम है। इसी प्रकार राज्य और उसके शासन के बीच भी कोई भेद नहीं माना जा सकता। जब तक कोई मूर्त शासन न हो, जब तक अपनी इच्छा को लागू करने की शक्ति से सम्पन्न कोई व्यक्ति न हो, तब तक न राज्य होता है और न समाज होता है, प्रत्युत् एक 'प्रधानहीन' भीड़ होती है। हॉब्स का इस मत में जितना दृढ विश्वास है, उतना अन्य किसी लेखक का नहीं रहा है। इसका यह भी निष्कर्ष निकलता है कि विधि तथा आचारों का भेद भ्रम है। इसका कारण यह है कि समाज की केवल एक आवाज होती है जिसमें वह बोल सकता है और उसकी केवल एक ही इच्छा होती है जिसे वह लागू कर सकता है। यह आवाज और यह इच्छा सत्ताधारी व्यक्ति की है जो समाज का निर्माण करता है। हॉब्स ने अपने प्रभु को ठीक ही 'मर्त्य देवता' कहा है और उसके हाथ में तलवार तथा धर्म की प्रतीक छड़ी दोनों ही दे रखी हैं।

निगमात्मक सस्थाओं का यह सिद्धान्त हॉब्स के निरंकुशतावाद के ऊपर भी लागू होता है। हॉब्स की दृष्टि में निरकुश शक्ति और पूर्ण अराजकता, सर्वशक्ति-सम्पन्न शासक और समाजहीनता इन दोनों के बीच कोई विकल्प नहीं है। किसी भी सामाजिक सस्था का अस्तित्व उसकी सविहित सत्ताओं के माध्यम से ही हो सकता है। उसके सदस्यों को भी जो भी अधिकार मिलते है, केवल प्रत्यायोजन के द्वारा।

इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण सामाजिक सत्ता शासक में केन्द्रित होनी चाहिए। विधि और आचार केवल उसकी इच्छा हैं। उसकी सत्ता असीमित होती है। यदि वह सीमित भी होती है, तो केवल उसकी शक्ति के द्वारा। इसका कारण यह है कि उसकी सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता केवल उसकी अनुमति के द्वारा ही होती है। यह भी स्पष्ट है कि प्रभुसत्ता दिखाई नहीं देती और उसे काटा नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि या तो उसकी सत्ता को स्वीकार किया जाता है और राज्य का अस्तित्व होता है और या राज्य को अभिज्ञात नहीं किया जाता और अराजकता रहती है। शासन की सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ—उदाहरण के लिए विधि-निर्माण, न्याय व्यवस्था, बल का प्रयोग, निम्न प्रशासनिक इकाइयों का सगठन—प्रभु में ही निहित होती हैं। बोदाँ ने प्रभुसत्ता के ऊपर जो मर्यादाएँ आरोपित कर रखी थीं, हॉब्स ने उसे उनसे बिलकुल मुक्त कर दिया। लेकिन उसकी विमुक्तियों का वास्तविक राजनैतिक शक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका सिद्धान्त विशुद्ध रूप से तार्किक विश्लेषण पर निर्भर था।

हॉब्स के प्रभुसत्ता सिद्धान्त का एक पक्ष और था। हॉब्स ने इस पक्ष पर जोर कम दिया है लेकिन वह इसकी ओर से बिलकुल उदासीन नहीं था। उसका कहना था कि विवादास्पद प्रयोजनों के लिए सत्ता का विरोध कदापि उचित नहीं होता क्योंकि इसके औचित्य के लिए सत्ता का अनुमोदन आवश्यक होता है। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि प्रजाजन सुरक्षा के लिए ही शासन के अधीन होते हैं। यदि शासन सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता, तो शासन का विरोध अवश्यम्भावी हो जाता है। शासन के पक्ष में एक मात्र तर्क यह है कि उसे शासन करना चाहिए। यदि विरोध सफल हो जाता है और प्रभु के हाथ से उसकी शक्ति निकल जाती है, तो प्रभु तत्पेन प्रभु नहीं रहता और उसके प्रजाजन प्रजाजन नहीं रहते। इस अवस्था में प्रजाजन अपनी रक्षा खुद ही करने के लिए विवश हो जाते हैं। वे एक नये प्रभु की आज्ञा का पालन करने के लिए तय्यार हो सकते हैं जो उनकी रक्षा कर सके। हॉब्स के सिद्धान्त में शक्तिविहीन वैधता (legitimacy) के लिए कोई अवकाश नहीं था। इससे राजतन्त्रवादी प्रसन्न नहीं थे। हॉब्स ने अपने सिद्धान्त को लेवियाथन में सबसे अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है। उसकी राजनीति सम्बन्धी पुस्तकों में यही एक ऐसी पुस्तक है जो उसने चार्ल्स के प्राणदण्ड के बाद लिखी थी और उस समय लिखी थी जब वह, जैसा कि क्लेरेंडन (Clarendon) ने कहा है "घर जाने का इच्छुक था"। लेकिन यह सदा ही उसके सिद्धान्तों का एक स्पष्ट निष्कर्ष था और उसने डी सिवे में इसका उल्लेख किया था। उपयोगितावादी दृष्टि से शासन—कोई भी शासन—निरंकुशता से बेहतर होता है। उसका विचार था कि राजतन्त्रात्मक शासन अन्य किसी शासन-प्रणाली से श्रेयस्कर होता है, लेकिन यह सिद्धान्त ऐसे किसी भी शासन के ऊपर लागू हो सकता है जो शान्ति और व्यवस्था बनाए रख सके। बाद के विचारकों ने इस सिद्धान्त को गणतन्त्रीय अथवा ससदीय शासन-प्रणाली के ऊपर लागू किया और इसमें उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई।

चूँकि शासन का मूलतत्व प्रभुसत्ता का प्रयोग है, इसलिए बोदाँ की भाँति ही हॉब्स ने भी विभिन्न शासन-प्रणालियों का आधार, प्रभुसत्ता कहाँ निवास करती है, इस पर आधारित माना है। हॉब्स की विचारधारा में विकृत शासन प्रणालियों के लिए कोई स्थान नहीं है। लोग अत्याचारी शासन अथवा अल्पतन्त्रात्मक शासन को विकृत शासन प्रणालियाँ केवल इसलिए मानते हैं क्योंकि वे शक्ति के प्रयोग को पसंद नहीं करते। चूँकि वे राजतन्त्र को पसन्द करते हैं अतः वे इसके सम्बन्ध में प्रशंसात्मक शब्दों का प्रयोग करते हैं। चाहे कैसा भी शासन क्यों न हो, उसमें कहीं न कहीं प्रभुसत्ता अवश्य रहती है। प्रश्न सिर्फ यह है कि यह प्रभुसत्ता किस के पास है। यही वजह है कि हॉब्स के दर्शन में मिश्रित अथवा सीमित शासन प्रणाली नहीं है क्योंकि प्रभुसत्ता अविभाज्य है। कोई न कोई व्यक्ति ऐसा अवश्य होना चाहिए जो अन्तिम निर्णय करता हो और जो ऐसा कर सकता है, वही प्रभु है। हॉब्स ने आग्रह किया है कि वे सभी शासन जो व्यवस्था कायम रखते हैं, अन्त में एक ही चीज पर आ जाते हैं। इससे ज्ञात हो जाता है कि एक जन्मजात उपयोगितावादी क्रान्तिकारी युग की भावना में प्रवेश करने में किस प्रकार असमर्थ था। राजनैनिक साहित्य में इस प्रकार का अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता। उसे अधिक न्याय और अधिक अधिकार की आकांक्षा केवल बौद्धिक भ्रम मालूम पड़ती थी। हॉब्स के विचार से यदि लोग अत्याचारी शासन का विरोध करते हैं, तो इसका केवल यह अभिप्राय है कि वे सत्ता के एक विशेष प्रयोग को पसन्द नहीं करते। इसके विपरीत यदि लोगों में स्वतन्त्रता के प्रति उत्साह है, तो इसका अभिप्राय केवल यह है कि वे या तो भावनात्मक उद्वेग का परिचय दे रहे हैं या पाखंड रच रहे हैं। हॉब्स ने अपने बेहेमोथ (*Behemoth*) नामक ग्रंथ में गृहयुद्धों का जो विवरण दिया है, उससे ज्ञात होता है कि ये गृहयुद्ध किसी शैतानी और बुद्धिहीन दिमागों की उपज थे। उसके राजनैनिक दर्शन की स्पष्टता का राजनीति में मानव प्रकृति के प्रभाव को समझने से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रभुसत्ता के सिद्धान्त से अगला कदम नागरिक विधि के सिद्धान्त का है। यथार्थ की दृष्टि से विधि "उस व्यक्ति का आदेश है जिसमें अपने आदेश का पालन कराने की क्षमता होती है।"[1] उसकी दृष्टि में विधि का अर्थ शासन सत्ता की ओर से प्रचलित वे नियम अथवा शासन की ओर से व्यक्त की गई वह इच्छा है जो नागरिक को सही और ग़लत का विवेक कराती है।[2] हॉब्स ने नागरिक विधि और प्राकृतिक विधि में भेद माना है। नागरिक विधि तो प्रभुसत्ता का आदेश है जिसे बलपूर्वक लागू किया जा सकता है लेकिन प्राकृतिक विधि विवेक का आदेश है। प्राकृतिक विधि का केवल आलंकारिक महत्त्व है। नागरिक विधि का मूलतत्व यह है कि उसमें आदेश का अथवा बलप्रयोग का भाव निहित है। हॉब्स के मत से संसदज्ञों तथा कोक जैसे सामान्य विधिवेत्ताओं की स्थिति में यही भ्रम है। संसदज्ञ समझते हैं कि प्रतिनिधिक संस्था की सहमति में कुछ गुण है और सामान्य विधि के

1. *De Cive*, Ch. XIV
2. *Leviathan*, Ch XXVI.

आचार्यों का विचार है कि प्रथा मे कुछ वैधता है। वस्तुस्थिति यह है कि बलप्रयोग करने वाली शक्ति ही विधि को बंधनकारी बनाती है। विधि उन्ही की है जिसके हाथ मे शक्ति है। सत्तासम्पन्न व्यक्ति प्रथा को जारी रहने दे सकता है लेकिन उनकी गर्भित स्वीकृति ही प्रथा को विधि की शक्ति देती है। कोक का यह अंधविश्वास नितान्त मूर्खतापूर्ण है कि सामान्य विधि का अपना विवेक होता है। इसी प्रकार, प्रभु संसद् से राय ले सकता है और संसद् को विधियाँ बनाने की आज्ञा दे सकता है लेकिन ये विधियाँ का वास्तविक रूप तभी धारण करती हैं जब कि उनका पालन होता है। हॉब्स यह मानता है कि विधि का पालन राजा के नाम से होता है लेकिन उसका सिद्धान्त संसद् की प्रभुसत्ता के विरुद्ध भी नहीं है। शर्त सिर्फ यह है कि संसद् विधि का पालन भी करती हो और उसका प्रशासन तथा क्रियान्वीकरण भी। हॉब्स का यह सोचना गलत था कि वह निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन कर सकता है। लेकिन उसका यह विश्वास गलत नहीं था कि किसी न किसी रूप में केन्द्रीकृत सत्ता आधुनिक राज्यों का प्रमुख लक्षण है।

चूंकि प्रकृति की विधियाँ उन विवेकपूर्ण सिद्धान्तों का ही निरूपण करती हैं जिनके आधार पर किसी राज्य का निर्माण किया जा सकता है, अतः वे प्रभु की शक्ति पर मर्यादाएँ नहीं हैं। हॉब्स का तर्क बकवास मालूम पड़ता है, लेकिन उसके पीछे कुछ तर्क है। उसका कहना है कि कोई भी नागरिक विधि प्राकृतिक विधि के प्रतिकूल नहीं हो सकती। सम्पत्ति प्राकृतिक अधिकार हो सकती है लेकिन नागरिक विधि सम्पत्ति की व्याख्या कर सकती है। यदि कोई विशिष्ट अधिकार समाप्त हो जाता है, तो फिर वह सम्पत्ति नहीं रहता और तदनन्तर वह प्राकृतिक विधि में शामिल नहीं किया जा सकता। प्रभु के ऊपर अंकुश प्राकृतिक विधि का नहीं, प्रत्युत उसके प्रजाजनों की शक्ति का है। हॉब्स के प्रभु को एक शर्त का सामना करना पड़ता है, किसी सिद्धान्त का नहीं। लेकिन नागरिक विधि के ऊपर उसके अपने क्षेत्र में कोई अंकुश नहीं है। हॉब्स के हाथों में थोरों की संवैधानिक विधि की वह संकल्पना जो प्रभु की शक्ति को नियन्त्रित करती है, बिलकुल समाप्त हो गई है।

राज्य और चर्च

(The State and the Church)

मार्सिलियो ऑफ पाडुआ (Marsilio of Padua) ने आध्यात्मिक तथा लौकिक शक्तियों को एक दूसरे से पृथक् कर दिया था। उसके इस कार्य के द्वारा चर्च को नागरिक शासन की अधीनता में रखने की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी। हॉब्स ने इस प्रक्रिया को पूरा किया और चर्च को पूरी तरह से नागरिक शक्ति की अधीनता में कर दिया। हॉब्स पूरी तरह से भौतिकवादी था और उसके लिए आध्यात्मिक सत्ता केवल भूत, एक काल्पनिक वस्तु थी। वह यह नहीं कहता कि अनुभूति नहीं होती अथवा आध्यात्मिक सत्य नहीं होते। लेकिन, उसका स्पष्ट मत है कि उनके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।

"यदि बीमार आदमी स्वास्थ्यप्रद औषधियों को निगल जाते हैं, तो इससे उन्हें लाभ होता

है। वहाँ स्थिति धर्म के रहस्यों की है। यदि उनका चर्वण किया जाता है तो इससे उन्हें कोई लाभ नहीं होता।"[1]

हॉब्स का विचार था कि अभौतिक वस्तुओं में विश्वास करना एक ऐसी गलती है जिसे हमने अरस्तू से ग्रहण किया है और जिसका प्रचार धर्माचार्यों ने अपने लाभ के लिए किया है। इस गलती का दूसरा पक्ष यह है कि चर्च को ईश्वर का राज्य मान लिया जाता है और उसे राज्य के अतिरिक्त सत्ता प्रदान की जाती है। हॉब्स का अब भी यह विश्वास है कि धर्म को लागू नहीं किया जा सकता लेकिन धर्म की घोषणा एक बाहरी चीज है, इसलिए वह विधि के क्षेत्र में आती है। जहाँ तक धर्म की स्वतन्त्रता के बाहरी परिणाम निकलते हैं, उसके ऊपर राज्य का अंकुश रखना आवश्यक है। यदि धार्मिक विधि निषेधों, धार्मिक पुस्तकों के सिद्धान्तों, धर्मतत्त्व और चर्च-शासन को कोई सत्ता प्राप्त होती है, तो वह प्रभु के द्वारा प्राधिकृत होती है। चूँकि धार्मिक विधि का कोई वस्तुपरक मानक नहीं है, अतः किसी धर्म अथवा उपासना-पद्धति की स्थापना प्रभु की इच्छा के ऊपर आधारित होनी चाहिए।

हॉब्स के लिए चर्च एक निगम मात्र है। किसी भी निगम की भाँति उसका एक प्रधान होना चाहिए और उसका वह प्रधान प्रभु है। वह कई व्यक्तियों की एक कम्पनी है जो प्रभु के व्यक्तियों में संयुक्त होती है। इसलिए, वह स्वयं राज्य से भिन्न होती है। लौकिक तथा आध्यात्मिक शासन समरूप हैं। मार्सिलिओ की भाँति हॉब्स का भी यह विचार है कि चर्च का काम शिक्षा देना है। लेकिन, उसने यह बात और जोड़ दी है कि कोई भी शिक्षण उस समय तक विधिसंगत नहीं होता जब तक कि प्रभु उसे प्रमाणित न कर दे। धर्म बहिष्कार अथवा चर्च की ओर से दिया जाने वाला अन्य कोई दण्ड प्रभु की सत्ता से ही आरोपित होता है। इसी आधार पर हॉब्स का कहना है कि दैवी विधि और मानवी विधि में कोई विग्रह नहीं हो सकता। चाहे किसी भी दृष्टि से देखा जाए, धर्म पूरी तरह से विधि तथा शासन के नियन्त्रण में है। हॉब्स के चिंतन में धर्म का विशेष महत्त्व नहीं था। उसने धर्म को मैकियावेली की अपेक्षा कम नैतिक गरिमा प्रदान की है। राजनैतिक स्वतन्त्रता की भाँति ही धार्मिक स्वतन्त्रता भी हॉब्स को केवल बौद्धिक विभ्रम ही मालूम पड़ी होगी और वह वास्तविक धार्मिक विश्वासों से बिलकुल अपरिचित रहा होगा। इसके बावजूद, धार्मिक प्रश्नों ने उसके राजनैतिक दृष्टिकोण पर व्यापक प्रभाव डाला था। लेवियाथन का आधा हिस्सा इन्हीं प्रश्नों से भरा पड़ा है। इस दृष्टि से इंगलैंड के राजनैतिक चिंतन ने १६५० और १७०० के बीच में तीव्र उन्नति की थी। हॉब्स के चालीस वर्ष बाद लॉक ने लिखा था। उसने राजनैतिक और धार्मिक प्रश्नों को हॉब्स की अपेक्षा अधिक गहराई से अलग कर दिया था।

हॉब्स का व्यक्तिवाद

(Hobbes' Individualism)

इंगलैण्ड के गृहयुद्धों के युग में जिन राजनैतिक दर्शनों का जन्म हुआ था, उनमें हॉब्स का राजनैतिक दर्शन सबसे भव्य और गौरवपूर्ण है। हॉब्स के तर्क

1 *Leviathan*, Ch XXXII

बिलकुल स्पष्ट है। उसने जिन मूल धारणाओं को आरम्भ में स्वीकार किया था, उन धारणाओं का अन्त तक निर्वाह किया। हॉब्स का राजनैतिक दर्शन यथार्थपरक राजनैतिक निरीक्षण पर आधारित नहीं है। मनुष्य के नागरिक जीवन में प्रेरक तत्त्व क्या रहते हैं, हॉब्स इनसे पूरी तरह परिचित नहीं था। उसने अपने समसामयिकों के चरित्रों की जो व्याख्या दी है, वह भी अधिकतर आलंकारिक है। उसका मनोविज्ञान भी निरीक्षण पर आधारित नहीं है। वह इस बात का विवरण नहीं था कि मनुष्य वास्तव में क्या है, प्रत्युत् इस बात का विवरण था कि सामान्य सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को कैसा होना चाहिए। हॉब्स के लिए विज्ञान का यही अभिप्राय था—सरल-सरल वस्तुओं के आधार पर जटिल वस्तुओं का निर्माण। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ज्यामिति है। इस दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ कि हॉब्स ने शासन को पूरी तरह से लौकिक और उपयोगितावादी माना। शासन का महत्त्व केवल इस बात पर निर्भर है कि वह क्या कार्य करता है। चूंकि शासन का विकल्प अराजकता है, अतः इसमें कोई संदेह नहीं है कि उपयोगितावादी क्या चुनेगा। इस चुनाव में भावना का कोई स्थान नहीं है। शासन के लाभ बिलकुल ठोस हैं और ये व्यक्तियों को ठोस तरीके से प्राप्त होने चाहिएँ—शान्ति, सुविधा, सुरक्षा और सम्पत्ति के रूप में। यही एकमात्र ऐसा आधार है जिसके ऊपर शासन निर्भर है अथवा उसका औचित्य है। सार्वजनिक इच्छा की भाँति ही सामान्य अथवा सार्वजनिक हित केवल कल्पना की वस्तु है। केवल व्यक्ति ही अपने जीवन साधनों के लिए रहना और संरक्षण का उपभोग करना चाहता है।

हॉब्स के चिन्तन में व्यक्तिवाद का तत्त्व पूर्ण रूप से आधुनिक है। इस दृष्टि से हॉब्स ने आगामी युग का संकेत अच्छी तरह से समझ लिया था। उसके दो शताब्दियों बाद तक अधिकांश विचारकों को स्वार्थ उदासीनता की अपेक्षा कहीं अधिक प्रेरक तत्त्व लगा था। वे किसी सामूहिक कार्यवाही की अपेक्षा प्रबुद्ध स्वार्थ के आधार पर सामाजिक बुराइयों को अधिक आसानी से दूर कर सकते थे। हॉब्स का नाम प्रभु की निरंकुश शक्ति के सिद्धान्त के साथ विशेष रूप से संयुक्त है। यह सिद्धान्त उसके व्यक्तिवाद का ही एक पूरक तत्त्व है। हॉब्स के दर्शन में एक मूर्त उच्च मानव के अतिरिक्त, जिसकी आज्ञा का मनुष्य पालन करते हैं और जो आवश्यकता पड़ने पर अपनी आज्ञा का पालन करा सकता है, अन्य सब केवल व्यक्ति हैं, और ऐसे व्यक्ति हैं जो केवल अपने स्वार्थों से प्रेरित हैं।

हॉब्स की विचारधारा में व्यक्ति बिलकुल अलग-अलग इकाइयाँ हैं और राज्य बाहर की एक शक्ति है जो उन्हें एकता के सूत्र में ग्रथित रखती है और उनके समान स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित करती है। विविध प्रकार के संघ नष्ट हो जाते हैं। यदि वे रहते हैं तो बहुत ही संकोच के साथ। इसका कारण उनके बारे में यह संदेह है कि वे राज्य की शक्ति को चुनौती दे सकते हैं। यह उस युग में सर्वथा स्वाभाविक भी था जिसमें आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन की अनेक परम्परागत संस्थाएँ नष्ट होती जा रही थीं और जिसमें अनेक शक्तिशाली राज्यों का उदय हुआ था—इन राज्यों में विधि का निर्माण एक प्रमुख गतिविधि थी।

ये दो प्रवृत्तियाँ—वैयक्तिक शक्ति की वृद्धि और स्वार्थ को जीवन का प्रमुख उद्देश्य मानना—आधुनिक काल में सबसे अधिक व्यापक रही हैं। हॉब्स ने इन प्रवृत्तियों को अपने दर्शन का आधार बनाया और उनका अत्यन्त तार्किक रीति से प्रतिपादन किया। यही है उसकी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि और राजनैतिक विचारक के रूप में उसकी महत्ता।

Selected Bibliography

Thomas Hobbes' Mechanical Conception of Nature By Frithof Brandt, London 1928

Thomas Hobbes as Philosopher, Publicist and Man of Letters By George E. G. Catlin Oxford, 1922

English Political Philosophy from Hobbes to Maine, By W Graham New York, 1900

The Social and Political Ideas of Some Great Thinkers of the Sixteenth and Seventeenth Centuries Ed F J. C Hearnshaw London, 1926. Ch. VII.

Hobbes und die Staatsphilosophie By Richard Honigswald Munich, 1924.

Hobbes By John Laird London, 1934

"Hobbes and Hobbism" By Sterling Lamprecht In *American Political Science Review*, Vol. XXXIV. (1940), p 31.

The Political Philosophy of Hobbes By Leo Strauss Trans from the German manuscript by Elsa M. Sinclair. Oxford 1936

Thomas Hobbes, der Mann und der Denker By Ferdinand Tonnies. Second edition Stuttgart, 1922.

La pensee et l'influence de Th. Hobbes', *Archives de Philosophie*. Vol. XII, Cahier II. Paris, 1936.

अध्याय २४

उग्रतावादी और साम्यवादी

(Radicals And Communists)

हॉब्स का राजनीतिक दर्शन मुख्यतः विद्वत्ता अथवा विज्ञान से सम्बन्धित था। यद्यपि उसका उद्देश्य घटनाक्रम को राजतन्त्रवादियों के पक्ष में मोड़ना था, लेकिन उसका ऐसा कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने परम्परागत निष्ठाओं का नष्ट कर दिया और प्रबुद्ध अहंवाद का आदर्श प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से उसने उत्तरवर्ती उदारवाद को इतना प्रोत्साहन दिया, जितना सत्रहवीं शताब्दी की व्यावहारिक राजनीति को देखते हुए सम्भव नहीं दिखाई देता था। इसके साथ ही हॉब्स ने अपने दर्शन में उग्रतावादी व्यक्ति-वाद को स्थान दिया था। इस उग्रतावादी व्यक्तिवाद की एक झलक गृह-युद्ध के समय उत्पन्न होने वाले वामपक्षी लोकतन्त्र में दिखाई देती है। इसका कारण यह नहीं था कि उग्रतावादियों ने हॉब्स से कुछ शिक्षा ग्रहण की थी। इसका कारण केवल यह था कि वे दोनों ही ऐसा सामाजिक और बौद्धिक परिवर्तन चाहते थे जो दलों तथा तात्कालिक हितों के परे हो। परम्परागत संस्थाएं नष्ट हो गई थीं और इसके कारण आर्थिक दबाव पैदा हो गया था। ये बातें सिद्धान्त नहीं थीं, प्रत्युत् तथ्य थीं। हॉब्स के तर्क ने अहंवाद को सामाजिक दर्शन में एक तत्त्व के रूप में बदल दिया था, लेकिन वे परिस्थितियां जिन्होंने व्यक्तिवाद को एक अपरिहार्य तत्त्व बना दिया, अपने अधिकार से ही उठी हुई थीं। यह विश्वास कि सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएं इसीलिए सार्थक होती हैं कि वे व्यक्तिगत स्वार्थों की रक्षा करती हैं और व्यक्तिगत अधिकारों को कायम रखती हैं कुछ ऐसी परिस्थितियों के दबाव में उत्पन्न हुआ जो पहले तो सत्रहवीं शताब्दी के बीच में इंगलैण्ड में प्रबल हुआ, लेकिन जो आगे भी चला तथा आगे की दो शताब्दियों में अधिक प्रभावी हो गया।

इंगलैण्ड के गृह-युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण भाग यह था कि इसमें सार्वजनिक चर्चाओं ने पुरजोर भाग लिया था। वे लोकमत के पहले उदाहरण हैं जिन्होंने राजनीति पर असर डाला। इस काल में जिस विवादास्पद साहित्य का निर्माण हुआ, उसका परिमाण विशाल है। फ्रांस में धार्मिक युद्धों के समय जिस साहित्य की रचना हुई थी, यह साहित्य

उससे अधिक है।[1] यह चर्चा अधिकांश में दार्शनिक थी। इसमें सामान्य रूप से धार्मिक और नैतिक विचारों का तथा शासन के ऊपर उनके प्रयोग के बारे में विवेचन किया गया था। इसमें आरोप लगाये गये थे, संविधान की चर्चा की गई थी, धार्मिक सहिष्णुता के पक्ष और विपक्ष में तर्क पेश किये गये थे, चर्च के शासन का विरोध और समर्थन किया गया था तथा नागरिक सत्ता के साथ उसके सम्बन्ध की परीक्षा की गयी थी, नागरिक स्वतन्त्रता के प्रत्येक प्रकार का स्वीकार और अस्वीकार किया गया था और एक-एक करके ऐसी समस्त राजनैतिक पद्धतियों का सुझाव दिया गया था जिन्हें उस समय के बाद से आज तक लोकतन्त्रात्मक शासन आजमाता आ रहा है। यह पैम्फलेट-वाद-विवाद सार्वजनिक राजनीतिक शिक्षा में पहला प्रयोग था जिसमें प्रिंटिंग प्रेस को भी काम में लाया गया था और उसे लोकतन्त्रात्मक शासन का एक अंग समझा गया था। यद्यपि उस समय प्रस्तुत किये गये समस्त विचार बड़े अस्पष्ट और अव्यवस्थित थे, लेकिन उन्होंने जनसाधारण में राजनीतिक चेतना का प्रचार किया। अंग्रेजों में जिन विचारों और भावनाओं का प्रसार हुआ, उनसे चाहे कोई तात्कालिक प्रयोजन सिद्ध न हुआ हो, लेकिन भविष्य की दृष्टि से वे बड़े उपयोगी सिद्ध हुए।

लोकप्रिय राजनीतिक चिंतन के इन आन्दोलनों में सब से रोचक और महत्त्वपूर्ण आन्दोलन लोकतन्त्रात्मक उग्रतावाद (Democratic Radicalism) का था। यह आन्दोलन लेवलर्स नामक समुदाय के बीच उत्पन्न हुआ। धर्म के क्षेत्र में उनका सम्बन्ध इंडेपेंडेंट्स से था। उनकी तरह वे धार्मिक सहिष्णुता के उपासक थे। वे न तो प्रेसविटेरियन चर्च शासन चाहते थे और न एपिस्कोपल। यद्यपि इस समुदाय के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं थी, लेकिन १६४७ और १६५० के बीच में इस समुदाय ने एक वास्तविक राजनीतिक दल का रूप धारण किया। उसके क्रान्ति के राजनीतिक उद्देश्यों के सम्बन्ध में कुछ निश्चित विचार थे। वह संविधान में उदारतावादी तत्वों का समावेश करना चाहता था। उसकी इच्छा थी कि संविधान को कुछ सामान्य राजनीतिक विश्वासों के आधार पर गठित किया जाये। उसके ये सारे उद्देश्य विफल हो गए। लेकिन, उसने उन विचारों तथा तर्कों का प्रतिपादन किया जो आगे चल कर अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में क्रान्तिकारी उदारतावाद के प्रमुख लक्षण बन गये। उसने उदारतावाद के दो भेद किये—एक तो कम सुविधासम्पन्न आर्थिक

---

1 पुस्तक विक्रेता जार्ज थॉमसन ने १६४१ में लौंग पार्लियामेंट के अधिवेशन और १६६१ में चार्ल्स द्वितीय के राज्याभिषेक के समय के बीच में लिखी गयी जिन पुस्तकों का एकत्रित किया था, उनकी संख्या २० हजार से अधिक है। अब ये सारी पुस्तकें ब्रिटिश म्यूजियम में रक्खी है। विलियम हेलर की टीका *Tracts on Liberty in the Puritan Revolution, 1638 1647, 3 Vol (New York, 1934)* की पहली जिल्द में इस बारे में विवरण देखिए।

वर्गों का उदारतावाद और दूसरे धनिक वर्गों का उदारतावाद। दूसरे उदारतावाद का एक अन्य नाम ह्विगवाद है।

इसी समय डिगर्स (Diggers) नामक क्रान्तिकारियों का एक अन्य वर्ग पैदा हुआ। ये लोग ट्रू लेवलर्स (True Levellers) कहलाते थे। कभी-कभी इनमें तथा बृहत्तर समुदाय में भेद करना मुश्किल हो जाता था। उनकी संख्या बहुत सीमित थी। उनकी समस्त लिखित घोषणाएं एक ही व्यक्ति की कलम से निकली थीं। वह व्यक्ति था—जेरार्ड विंस्टेन्ले (Gerard Winstanley)। लेकिन, उद्देश्य तथा दृष्टिकोण के विचार से वे बृहत्तर समुदाय से भिन्न थे। जहां लेवलर्स उग्र मध्यवर्गीय लोकतन्त्र के उदाहरण थे, डिगर्स कल्पनावादी साम्यवादियों के उदाहरण थे। डिगर्स राजनीतिक सुधारों को उस समय तक व्यर्थ समझते थे जब तक कि आर्थिक पद्धति की विषमताओं का अन्त न हो जाए। लेवलर्स मध्यवर्ग के कम समृद्ध सदस्य थे। इसके विपरीत डिगर्स वे लोग थे जिन्हें आर्थिक दबाव ने सम्पत्तिहीनों की श्रेणी में खड़ा कर दिया था। विंस्टेन्ले ने कहा है कि "क्रय-विक्रय की छलपूर्ण कला ने उनका नाश कर दिया था।" डिगर्स के दर्शन को सर्वहारा वर्ग के सामाजिक दर्शन का आदि रूप माना जा सकता है। इस अध्याय का उद्देश्य आरम्भिक उग्रतावाद के इन दो रूपों की परीक्षा करना है।

लेवलर्स
(The Levellers)

लेवलर आन्दोलन थोड़े समय तक ही चला। उसका गृह-युद्ध के एक विशिष्ट चरण से सम्बन्ध रहा था और अपने इस विशिष्ट सम्बन्ध के कारण उसे एक दल के रूप में अपने उद्देश्यों की व्याख्या करने में सहायता मिली। १६४६ के अन्त तक चार्ल्स के खिलाफ क्रॉमवेल की सफलता ने एक राजनीतिक त्रिकोण पैदा कर दिया था। शान्ति की व्यवस्था के लिए इस त्रिकोण का समाधान आवश्यक था। राजा पराजित तो अवश्य हो गया था, लेकिन वह नष्ट नहीं हुआ था। यदि राजा अपने विभिन्न शत्रुओं को एक-दूसरे से लड़ा देता, तो वह अब भी उम्मीद कर सकता था। संसद् अपनी नयी सफलता से कुछ परेशान भी थी। उसे यह नहीं मालूम था कि वह अपनी नवप्राप्त प्रभुसत्ता का क्या करे। उसके नेता प्रेसबिटेरियनिज्म की स्थापना में ज्यादा दिलचस्पी रखते थे—किसी विशिष्ट राजनीतिक सुधार का करने में कम। अन्त में, सब [redacted] महत्त्वपूर्ण तथ्य यह था कि यह विजय क्रॉमवेल की सेना ने प्राप्त की थी। उसका यह कतई इरादा न था कि उसकी विजय के फल को राजा या प्रेसबिटेरियन प्राप्त करें। कूटनीति के दाव-पेचों में चार्ल्स ने नये गृह-युद्ध की तैयारी की और संसद् ने सेना से छुटकारा पाने तथा अपना कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक करने का प्रयास किया। वास्तविक शक्ति सेना के पास थी। वह इस उहापोह का तुरन्त ही समाप्त कर सकती थी। उसने तीन वर्ष बाद यह किया भी। लेकिन नेता, क्रॉमवेल तथा उसके दामाद आइरेटन (Ireton) सैनिक

अधिनायकवाद से घृणा करते थे और उनकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि क्रान्ति को वैधानिक रूप कैसे दें। वे इतने सकोच में थे कि १६४७ में उनकी सेना में विद्रोह तक का खतरा पैदा हो गया। सिपाहियों का न तो ससद् पर ही भरोसा था और न राजा पर ही। उन्हें यह डर पैदा हो गया कि कहीं क्रॉमवेल भी उनके द्वारा वाछित सुधारों से मुह न मोड ले। इन परिस्थितियों में ही लेवलर्स का उदय हुआ। वे पहले साधारण सिपाहियों में उग्रतावादी पक्ष के रूप में सामने आए। वे अपने अधिकारियों की सजग और रूढिवादी सुधार-योजनाओं से असन्तुष्ट थे। उन्होंने बताया कि क्रान्ति के परिणामों को उनके उग्रतावादी कार्यक्रम द्वारा किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है।

जिस प्रकार १९१७ में रूस की सेना में सोवियटें पैदा हो गई थी, उसी प्रकार इगलैण्ड में भी सेना में गुल्मीय समितियां (regimental committees) बन गई थी। इन समितियों ने भी नीतियों के निर्माण में कुछ हिस्से की माग की। सौभाग्यवश सेना परिषद् (Army Council) में जो चर्चाए हुई थी, उनका शब्दश प्रतिवेदन मौजूद है। इन चर्चाओं में जिन लोगों ने भाग लिया था, उनमें एक ओर तो अधिकारियों के प्रतिनिधि थे। इनके नेता क्रॉमवेल और इरेटन (Ireton) थे। दूसरी ओर रेजीमेंटों के प्रतिनिधि थे। इन्हें कुछ उच्च अधिकारियों की सहायता और समर्थन प्राप्त था।[1] सेना में इस घटना के पहले और बाद अनेक पुस्तिकाए प्रकाशित हुई। ये पुस्तिकाए मुख्य रूप से लेवलर पार्टी के नेताओं जॉन लिलबर्न (John Lilburne) और रिचर्ड ओवर्टन (Rechard Overton) द्वारा लिखी गई थी। इन पुस्तिकाओं में इन लोगों ने अपने व्यावहारिक उद्देश्यों और राजनीतिक दर्शन का निरूपण किया।[2] सेना-परिषद् के वाद विवाद विशेष रूप से रोचक और

---

1 *The Clarke Papers*, ed C H. Firth 4 Vols Camden Society Publications, 1891-1901

2 इनमें से कुछ पुस्तिकाए (दुर्भाग्यवश इनमें १६४७ के पश्चात् प्रकाशित पुस्तिकाए नहीं हैं) विलियम हालर द्वारा सपादित *Tracts on Liberty in the Puritan Revolution*, 1638-1647 (न्यूयार्क १९३४) में मिल जाती हैं। टी० सी० पीज ने *The Leveller Movement* (वाशिंगटन, १९१६) नामक ग्रन्थ में इस साहित्य का साराश प्रस्तुत किया है। लेवलर्स की दलगत घोषणाए 'An Agreement of the People' नामक प्रलेख में सम्मिलित है। इसे पहले १६४७ में सेना-परिषद् को प्रस्तुत किया गया था। १६४९ में इसे सशोधित रूप में और कुछ हद तक समझौते के रूप में १६४९ में ससद् को पेश किया गया। ये दोनों ही प्रलेख एस० आर० गार्डिनर के *Constitutional Documents of the Puritan Revolution*, द्वितीय सस्करण (१८९९) पृ० ३३३ और ३५९ पर दिए हुए हैं।

वैविध्यपूर्ण हैं क्योंकि वे हमारे सामने तीन शताब्दियों पहले के वाद विवाद को पुनः सजीव कर देते हैं। इनके आधार पर हम निम्न स्थिति के अंग्रेजों, छोटे व्यापारियों, कारीगरों, और किसानों के दिमागों की झलक पा सकते हैं। क्रॉमवेल की सेना में अधिकतर ऐसे ही लोग थे। इन पुस्तिकाओं के आधार पर हम जान सकते हैं कि ये लोग किन उद्देश्यों के लिए लड़ रहे थे और इनके विचारों तथा समृद्ध वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले इनके अधिकारियों के विचारों में कितना अन्तर था। गम्भीर विद्रोह का खतरा वास्तविक था। नवम्बर, १६४७ में क्रॉमवेल ने कठोरता से और तीव्र गति से अनुशासन कायम करने की कोशिश की। इसके शीघ्र बाद उसने अपने आप ही चार्ल्स से और ज्यादा बातचीत न करने का फैसला किया। इस निर्णय से सेना के अधिकतर सिपाहियों में विश्वास पैदा हो गया। १६४८ के उत्तरार्द्ध में लेवलर्स एक नागरिक दल के रूप में सामने आए। लेकिन, जब उनके अफसरों ने बल-प्रयोग की नीति अपना ली और राजा को प्राणदण्ड दे दिया, तब उनका महत्व समाप्त हो गया।

लेवलर्स का मुख्य नेता जॉन लिलबर्न (John Lilburne) था। वह उग्र आन्दोलनकर्ता था। वह बुराइयों की निन्दा करने और अपने अधिकारों के समर्थन में सबसे आगे था। अपने जीवन में उसकी शासन की प्रत्येक शाखा से कभी न-कभी लड़ाई रही। लार्डों, कॉमन्स, कौंसिल ऑफ स्टेट और सेना के अफसरों, सब से उसकी ठनी रही। वह ईमानदार तथा निर्भीक था, लेकिन झगड़ालू और शकालु प्रकृति का भी था। उसके ऊपर दो बार १६४९ और १६५३ में मुकदमा चला और दोनों बार उसने अदालत के ऊपर जनता की भावनाओं से अपील की और उसे छोड़ दिया गया। लिलबर्न के प्रभाव का मुख्य कारण यह था कि वह अपने को जनता की स्वतन्त्रताओं के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करता था। "जहां अन्य लोग राजा तथा संसद् के अधिकारों की बात करते थे, वह जनता के अधिकारों की बात करता था।" लेवलर्स की संख्या थोड़ी ही थी। ये लोग राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत निर्धन वर्गों से सम्बन्धित थे। उनकी योजनाओं में न तो जमींदारों की रुचि थी और न लन्दन के अमीर नागरिकों की। वे हर दिशा में असफल हुए। जहां एक बार सैनिकों का सेना के अधिकारियों में विश्वास जम गया, वे सैनिकों को अपने साथ न रख सके। वे अपने अफसरों को उग्र सुधारों के लिए तैयार न कर सके। उन्हें कभी इतना महत्व न मिल सका कि वे संसद् पर असर डाल सकते। लेवलर्स का महत्व इस बात में नहीं है कि वे कुछ कर सके, बल्कि इस बात में है कि उनके विचारों में हमें ऐसी बहुत सी बातें मिल जाती हैं जो बाद में लोकतन्त्रात्मक उग्रतावाद (Democratic Radicalism) के दर्शन और कार्यक्रम में प्रकट हुईं।

एक अंग्रेज का जन्मसिद्ध अधिकार

(An Englishman's Birth Right)

स्पष्ट है कि लेवलर्स नाम विशेषार्थक था। इसका अभिप्राय था कि यह दल विविध सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक भेदभावों को समाप्त कर सब मनुष्यों में

समानता स्थापित करना चाहता है। एक शत्रु ने उनके तर्क को निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया था

"चूंकि सभी मनुष्य प्रकृत्या एडम के पुत्र हैं और उन्होंने उससे विधिन सहज न्याय, अधिकार और स्वतन्त्रता प्राप्त की है, इसलिए इगलैण्ड और अन्य समस्त राष्ट्र तथा प्रत्येक राष्ट्र के विशिष्ट व्यक्ति विधियों और सरकारों, श्रेणियों और उपाधियों के अन्तरों के बावजूद समग्र रूप से स्वतन्त्र होने चाहिए, उन्हें अपनी सहज स्वतन्त्रताएं उपलब्ध होनी चाहिए तथा उन्हें मानव जाति के सहज अधिकार और परमाधिकार प्राप्त होने चाहिए। मनुष्य मनुष्य सब समान हैं। इसलिए, जनसाधारण को भी लार्डों के समान ही अधिकार प्राप्त होने चाहिए। प्राकृतिक जन्म के आधार पर सभी मनुष्य समान न्याय, स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के अधिकारी है। चूंकि हमें ईश्वर ने प्रकृति के हाथों इस संसार में भेजा है,अतः हममें से प्रत्येक व्यक्ति अन्तरंग स्वतन्त्रता और न्याय का अधिकारी है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन इस तरह बिताना चाहिए कि वह अपने जन्मसिद्ध अधिकार और विशेषाधिकार का उपभोग कर सके।"[1]

उपर्युक्त अवतरण का लेखक निश्चित रूप से पक्षपाती था। लेवलर्स की दलगत घोषणाओं में इस बात का रंचमात्र भी साक्ष्य नहीं है कि वे जिस "समान न्याय" को चाहते थे उसमें सम्पत्ति का समानीकरण अथवा सामाजिक मतभेदों का समानीकरण सम्मिलित था। वे यह नहीं चाहते थे कि कुलीनों को राजनीतिक विशेषाधिकार प्राप्त हों, अथवा धनी लोग वाणिज्य में एकाधिकार का उपभोग करें अथवा वकील व्यावसायिक एकाधिकार से सम्पन्न रहें। लेवलर्स का आक्षेप केवल विधि द्वारा समर्थित विशेषाधिकारों पर था। वे आर्थिक या सामाजिक विषमता के विरोधी नहीं थे। क्लार्क पेपर्स में जो चर्चाएं दी हुई हैं, उनमें यह बार-बार कहा गया है कि लेवलर्स का उद्देश्य सम्पत्ति पर आक्षेप करना कदापि नहीं था। वे जिस समानता को विशेष रूप से चाहते थे, वह विधि के समक्ष समानता और राजनीतिक अधिकारों की समानता थी। वे यह समानता विशेष रूप से छोटे सम्पत्तिधारियों के लिए चाहते थे। प्रतीत होता है कि लेवलर्स ने उग्रतावादी लोकतन्त्रात्मक उदारतावाद के तत्त्व को आश्चर्यजनक स्पष्टता के साथ ग्रहण कर लिया था। यह दर्शन समाजवादी न होकर व्यक्तिवादी और आर्थिक न होकर राजनीतिक अधिक था।

इस व्यक्तिवाद का तर्कबुद्धिपरक विश्वास यह मालूम पड़ता है कि मनुष्यों के मूल अधिकार स्वतः स्पष्ट हैं। लेवलर्स इंडेपेंडेंटों के समय ही हुए थे और उनका इंडेपेंडेंटों से सम्बन्ध भी था। क्लार्क पेपर्स के तर्कों में धार्मिक भावनाओं अथवा धार्मिक

---

1 Thomas Edwards, *Gangraena*, Part III, p 17 एडवर्ड्स ने रिचर्ड ओवर्टन के *Remonstrance* (१६४६) की चर्चा की है। देखिए *Tracts on Liberty in the Puritan Revolution*, 1638-1647 ed by W. Haller, Vol III, p 351.

सत्ता को कोई स्थान नहीं दिया गया है। कभी-कभी इनके विरोधी यह कहते थे कि इन लोगों की धर्म, प्रधानत विधि अथवा शासन में कोई श्रद्धा नहीं है प्रत्युत् वे दोनों की परख इस आधार पर करना चाहते हैं कि वे कहा तक प्राकृतिक और विवेकसंगत हैं।

"वे धर्म और अन्तःकरण के क्षेत्र में धर्मनादेशों तथा उनमें वर्णित अति प्राकृतिक सत्यों से दूर भागते हैं जिससे कि यदि कोई व्यक्ति उनके विरुद्ध जाए, तो उस पर कोई आपत्ति न की जा सके। वे केवल उसी वस्तु को गलत मानते हैं जो प्रकृति तथा न्यायपूर्ण विवेक के प्रतिकूल हो। नागरिक शासन तथा इस जीवन की वस्तुओं के बारे में भी उनका यही दृष्टिकोण है। वे राज्य की विधियों और संविधानों में भी कोई आस्था नहीं रखते। वे केवल प्रकृति और न्यायपूर्ण विवेक के नियमों से ही शासित होना चाहते हैं।"[1]

इस आदर्श को लिलबर्न की पुस्तिकाओं, विशेषकर बाद की पुस्तिकाओं के अनेक वक्तव्यों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता था। उदाहरण के लिए उसने १६४६ में कहा था कि चूंकि मनुष्य एडम की सन्तान है, इसलिए वे "प्रकृत्या समान हैं और शक्ति, गरिमा, सत्ता तथा भव्यता में एक जैसे हैं।" इसलिए, "समस्त नागरिक सत्ता का प्रयोग केवल सस्थिति अथवा दान द्वारा अर्थात्, एक दूसरे के लाभ और सुविधा के लिए किए गए पारस्परिक करार और दी गयी सहमति के आधार पर होना है।" संक्षेप में सरकारें अपनी न्यायपूर्ण शक्तियां शासितों की सहमति से प्राप्त करती हैं। इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि वे ये शक्तियां प्रत्येक नागरिक की व्यक्तिगत सहमति से प्राप्त करती हैं। रेजिमेंटों के एक प्रतिनिधि ने अफसरों से बातचीत करते समय इस सिद्धान्त को बड़े आकर्षक और आग्रहपूर्ण ढंग से पेश किया था

"मेरा विचार तो यह है कि इंगलैण्ड के गरीब से गरीब आदमी को बड़े से बड़े आदमी की तरह जीवन व्यतीत करने का अधिकार है। इसलिए, श्रीमन्, यह स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति का शासन के अधीन रहना है, उसे अपने आपको अपनी मर्जी से ही उस शासन के अधीन करना चाहिए। इंगलैण्ड का गरीब से गरीब आदमी भी उस शासन से बंधा हुआ नहीं हो सकता जिसके अधीन उसने अपने आपको अपनी मर्जी से न सौंपा हो।"[2]

यह मानना पड़ता है कि लिलबर्न जिस चीज को अपना 'जन्मसिद्ध अधिकार' कहता था, उसके सम्बन्ध में उसका तर्क जरा भ्रमपूर्ण था। 'जन्मसिद्ध अधिकार' से लिलबर्न का अभिप्राय या तो अंग्रेजों की परम्परागत स्वतन्त्रताओं से हो सकता था—ये परम्परागत स्वतन्त्रताएं सामान्य विधि अथवा मैग्ना कार्टा में निहित थीं—या मनुष्य के सार्वभौम अधिकारों से। लिलबर्न निपुण आन्दोलक था। परिस्थितियों को देखते हुए जिस चीज से सब से अधिक लाभ की उमीद होती, लिलबर्न उसी की दुहाई

1. *Gangraena*, Pt III, p. 20
2. *Clarke Papers*, Vol. I, p 301

देना था। वह लार्डों के विरुद्ध जनसाधारण की, सामान्य विधि के विरुद्ध मैग्ना कार्टा की और उन सब के विरुद्ध विवेक की दुहाई देता था। जब तक किसी पूर्व दृष्टान्त अथवा परम्परागत अधिकार से काम चल सकता था, तब तक अमूर्त विचारों की कोई आवश्यकता न थी। लेकिन उग्र सुधारों का समर्थक कोई दल केवल प्रथा के आधार पर नहीं टिक सकता था। १६४५ में विलियम वाल्वीन (William Walwyn) ने लिखा था—

"(आपको समझना चाहिए) मैग्ना कार्टा जनता के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का एक भाग मात्र है। इसे हमारे पूर्वजों ने अपने रक्त द्वारा घनघोर संघर्ष और युद्ध के पश्चात् उन राजाओं के पंजे से निकाला था जिन्होंने बलपूर्वक राष्ट्र को विजित किया था, विधियों को बदला था और बल प्रयोग द्वारा उन्हें बन्धन में रक्खा था।"[1]

१६४६ में रिचर्ड ओवर्टन (Richard Overton) ने मैग्ना कार्टा को एक 'भिक्षुकाचित वस्तु" बताया और अपना तर्क प्रथा से इतर आधार पर प्रतिष्ठित किया।

"आपको (संसद् को) इसलिए चुना गया था कि आप हम मुक्ति दें और हमें उस स्वाभाविक तथा न्यायपुक्त स्वतन्त्रता में प्रतिष्ठित करें जो विवेक और सामान्य न्यायभावना के अनुकूल है। हमारे पूर्वज चाहे जैसे रहे हों, उन्होंने चाहे कुछ भी किया हो, कुछ भी नुकसान उठाया हो और उन्हें चाहे किसी के सामने झुकना पड़ा हो, हम वर्तमान युग के मनुष्य हैं और हमें सब प्रकार की अनिश्चितताओं, अपमानों और स्वेच्छाचारी शक्ति से बिलकुल स्वतन्त्र होना चाहिए।"[2]

इरेटन और रजिमेंटों के प्रतिनिधियों में प्रथागत अधिकार और प्राकृतिक अधिकार के प्रश्न को लेकर काफी वाद-विवाद था। इरेटन का वैधानिक मस्तिष्क प्राकृतिक अधिकार के दावे की अनिश्चितता से परेशान होता था।

"यदि आप प्राकृतिक अधिकार की दुहाई दें, तो उनके अनुसार आपका इतनी जमीन से अधिक का अथवा जो कुछ चीज मेरे पास है, उससे अधिक का अधिकार नहीं है।"[3]

"वास्तविक रूप में और सम्योचित रूप में केवल विधि ही" किसी चीज को मेरे अधिकार का रूप देती है। लेवलर का तर्क था कि अन्यायपूर्ण विधि कोई विधि ही नहीं है।

---

1. *England's Lamentable Slaverie. Tracts on Liberty in the Puritan Revolution*, 1638-1647, Vol. III, p 313.

2. *A Remonstrance, Tracts on Liberty in the Puritan Revolution*, 1638-1647, Vol III, p. 354.

3. *Clarke Papers*, Vol I, p. 263

लेवलर दर्शन की एक रोचक और विशिष्ट विशेषता यह है कि उसने प्राकृतिक अधिकार और सहमति की प्राचीन कल्पनाओं को नया रूप दिया। लेवलर दार्शनिकों के अनुसार प्राकृतिक विधि मनुष्यों को कुछ अनन्य तथा अविच्छेद्य अधिकार प्रदान करती है। इन अधिकारों की रक्षा का दायित्व वैधिक तथा राजनीतिक संस्थाओं पर होता है। उन्होंने सहमति का यह अर्थ लगाया कि वह मनुष्य का अपना व्यक्तिगत कार्य है जिसके निष्पादन का प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र अधिकार है। हॉब्स की भाँति ही उन्होंने यह युक्ति दी—यद्यपि उनकी युक्ति में हॉब्स जैसी स्पष्टता न थी—कि समाज के अस्तित्व का एकमात्र औचित्य यह है कि उससे व्यक्तियों को लाभ पहुँचे। सहमति के विचार में संविदा का विचार भी निहित है। यदि वे संविदा के विचार का विकसित करते, तो वे भी हॉब्स की भाँति ही सामाजिक संविदा के विचार का प्रतिपादन करते। इस संविदा के अनुसार मनुष्य आपस में मिल कर एक दूसरे के साथ सामाजिक समुदाय का निर्माण करते। यह पुराने क्रम की राजा और समुदाय के बीच की संविदा न होती। व्यक्ति और उसके अधिकार सम्पूर्ण सामाजिक गठन के आधार हैं। उग्र उदारतावाद के सामाजिक दर्शन के अनुसार प्रतिबन्ध का एकमात्र औचित्य यह है कि उससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में सहायता मिलती है।

मध्यमार्गी और उग्र सुधार

(Moderate and Radical Liberalism)

लेवलर्स ने राजनीतिक सुधार की जो योजना प्रस्तुत की थी, वह उनके राजनीतिक दर्शन के सिद्धान्तों से पूरी तरह मेल खाती थी। वे क्रॉमवेल की सेना के अधिकारियों में वामपक्ष के अन्तर्गत थे। उनके अफसरों की योजनाएं रूढ़िवादी होती थीं। इन योजनाओं से उनका भेद था और उनकी स्थिति को इस भेद के आधार पर अच्छी तरह समझा जा सकता है। १६४७ तक क्रांति पूरी हो चुकी थी और अब कुछ सांविधानिक व्यवस्था जरूरी हो गई थी। कई बातें ऐसी थीं जिन पर मध्यमार्गी और उग्रवादी सहमत थे। यदि उनमें कुछ मतभेद थे भी, तो वे सिद्धान्त के आधार पर नहीं, बल्कि विवरण के आधार पर थे। दोनों पक्ष उन बुराइयों को अवश्य दूर करना चाहते थे जिनके कारण राजा और संसद् के बीच लड़ाई हुई थी। उनमें मुख्य अन्तर यह था कि सेना के अफसर जमींदार वर्गों से सम्बन्धित थे। वे एक ऐसी व्यवस्था चाहते थे जिसमें राजनीतिक शक्ति उनके हाथ में बनी रहे। तथापि, उनकी योजना में ऐसे बहुत से लोकतन्त्रात्मक सुधार भी शामिल थे जो इंग्लैण्ड में उन्नीसवीं शताब्दी तक में जाकर पूरे नहीं हो सके थे। इसके विपरीत लेवलर्स और रेजीमेंटों के व्यक्ति छोटी सम्पत्ति के स्वामी थे। यह वर्ग ऐसा था जिसे युद्ध से सब से अधिक नुकसान पहुंचा था। वे एक ऐसी व्यवस्था चाहते थे जो राजनीतिक अधिकारों और सम्पत्तिगत अधिकारों में स्पष्ट भेद स्थापित करे। फलत, क्रॉमवेल तथा इरेटन की अधीनता में अफसरों ने एक ऐसी व्यवस्था का समर्थन

किया जो ऐतिहासिक संविधान में कम-से-कम परिवर्तन करती और उनके विचारानुसार युद्ध के सुपरिणामों की रक्षा करती। लेवलर्स इस अवसर से लाभ उठा कर आमूल परिवर्तन करना चाहते थे। उन्हें परम्परा की कोई परवाह न थी। वे तो एक न्यायपूर्ण और विवेकयुक्त व्यवस्था के कायल थे।

"आपको मालूम है कि इस राष्ट्र की विधियां स्वतन्त्र राष्ट्र के अनुकूल नहीं हैं। उन पर शुरू से आखिर तक विवाद करना है और उन्हें एक ऐसे करार का रूप देना है जो न्याय तथा विवेक से परिपूर्ण हो और प्रत्येक शासन का जीवन और रूप बने।"[1]

अफसरों और रेजिमेंटों के प्रतिनिधियों के बीच जो वाद विवाद हुए, उनमें क्रॉमवेल को प्रस्तावित परिवर्तनों की नवीनता और महत्ता पर आश्चर्य हुआ। अनेक सफल क्रान्तिकारियों की भांति वह भी हृदय से रूढ़िवादी था। इसके अतिरिक्त, वह लेवलर्स की अपेक्षा यह ज्यादा अच्छी तरह जानता था कि तत्कालीन परिस्थितियों में भावपरक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करना कितना कठिन था।

सैनिकों के बीच आन्दोलन आरम्भ होने के पूर्व ही अफसरों की परिषद् ने एक कार्यक्रम तैयार कर लिया था। इस कार्यक्रम के माध्यम से वे क्रांति द्वारा सम्पादित सांविधानिक परिवर्तनों को स्थायी रूप देना चाहते थे। अफसरों का यह कार्यक्रम "Heads of Proposals" के नाम से विख्यात था।[2] इसके विपरीत रेजिमेंटों के प्रतिनिधियों ने जनता के करार (Agreement of the People) नाम से अपना पृथक् कार्यक्रम तैयार किया था। इस कार्यक्रम में लेवलर्स के सिद्धान्तानुसार शासन की रूपरेखा निश्चित की गयी थी। कुछ बातें ऐसी थी जिन्हें दोनों पक्षों ने ही मान लिया था संसद् को स्वतन्त्र रहना चाहिए, समय-समय पर उसकी बैठकें निश्चित समय पर होती रहनी चाहिए, संसद् में स्थानों का पुनर्वितरण होना चाहिए जिससे कि समाज के विभिन्न वर्गों को अधिक समतायुक्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। दोनों पक्ष इस बात पर भी सहमत थे कि संसद् का कार्यकारी अधिकारियों के ऊपर नियन्त्रण रहना चाहिए। इन कार्यकारी अधिकारियों में सेना और नौसेना के कमांडर भी शामिल थे। जहां अफसर इस व्यवस्था को केवल दस वर्ष तक रखना चाहते थे, लेवलर्स इस व्यवस्था को अपने संविधान का स्थायी भाग बनाना चाहते थे। दोनों पक्ष रोमन कैथोलिकों को छोड़ कर अन्य समस्त धार्मिक समुदायों के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर सहमत थे। वे विधि व्यवस्था की भी कुछ विशिष्ट बुराइयों को दूर करना चाहते थे। इन परिवर्तनों की स्वीकृति होने पर अफसर राजा के व्यक्तिगत अधिकारों और स्वतन्त्रता को

1 Richard Overton's *Remonstrance, Tracts on Liberty in the Puritan Revolution* 1638-1647, Vol III, p 365

2 Gardiner, *Op Cit* p 316

वापिस करने के लिए तैयार थे। लेकिन यह उनके लिए कोई महत्वपूर्ण मुद्दा न था और उन्होंने कुछ समय बाद उसे त्याग दिया। कुछ लवलर्स गणतन्त्रवादी थे और उनका विचार था कि राजतन्त्र "सब प्रकार के अत्याचारों का जन्मदाता" है।[1] लेकिन लेवलर्स के कार्यक्रम में राजतन्त्र का अन्त करना महत्वपूर्ण न था। उनकी शासन योजना में गणतन्त्रवाद एक साध्य नहीं प्रत्युत् साधन था।

यद्यपि साधनों के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में काफी हद तक सहमति थी लेकिन उनके राजनीतिक दर्शन में उग्र मतभेद था। लेवलर्स संसद् की स्वतन्त्रता चाहते थे उसकी परम्परागत स्वतन्त्रताओं के कारण नहीं प्रत्युत् इस कारण कि वह जनता की प्रतिनिधि थी। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि प्रभुसत्ता संसद् में नहीं, प्रत्युत् जनता में निहित है। संसद् में यह केवल प्रत्यायित रहती है। अपने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की व्यक्तिवादी धारणाओं के अनुसार वे संसद् को राष्ट्र के नागरिकों का प्रतिनिधि मानते थे निगमों निहित स्वार्थों और सम्पत्ति के अधिकारों का प्रतिनिधि नहीं। उनके उग्र कार्यक्रम का मुख्य आधार यही दो सिद्धान्त थे—संसद् की प्रत्यायित शक्ति और प्रत्येक व्यक्ति का अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से विधि पर स्वीकृति देने का अधिकार।

जहां अफसर और लेवलर्स समान रूप से संसद् में प्रतिनिधित्व की समानता चाहते थे वहां समानता के अर्थ के सम्बन्ध में उनमें आधारभूत मतभेद था। अफसरों ने यह सुझाव दिया कि विभिन्न निर्वाचन क्षेत्र जो कर देते हैं उसके अनुपात के आधार पर ही स्थानों का पुनर्वितरण होना चाहिए। इसके विपरीत लेवलर्स जनसंख्या के अनुपात से समानता चाहते थे। अधिक रूढ़िवादी सिद्धान्त जो संसद् की ऐतिहासिक संकल्पना के ज्यादा निकट था, संसद् को हितों का प्रतिनिधि मानता था। ये हित थे—भूमि का स्वामित्व या एक ऐसे निगम की सदस्यता जिसमें वाणिज्य की अनुमति हो। इरेटन (Ireton) ने इस दृष्टिकोण को बड़ी स्पष्टता के साथ व्यक्त किया था। उसका कहना था कि किसी व्यक्ति को उस समय तक मत देने का अधिकार नहीं है जब तक कि उसका इस राज्य में स्थायी और स्थिर हित न हो। यह हित ऐसा होना चाहिए जो प्रायः अटल हो तथा आर्थिक और राजनीतिक संगठन का स्थायी भाग हो।[2] समानता का अभिप्राय यह है कि इनमें से छोटे से छोटे हित की प्रतिनिधियों के निर्वाचन में आवाज होनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति की आवाज होनी चाहिए। लेवलर इस आपत्ति का यह उत्तर देता था कि विधि के अधीन व्यक्ति होता है हित नहीं। इसलिए, प्रतिनिधित्व व्यक्ति का होना चाहिए हित का नहीं। लेवलर ने यह साफ साफ कह दिया कि वह सम्पत्ति के अधिकारों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं चाहता। वह इन

---

1 Overton's *Remonstrance*, *Tracts on Liberty in the Puritan Revolution*, 1638 1647, Vol III, p 356

2 *Clarke*, *Papers* Vol I, pp 302 ff

अधिकारों को मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों में सन्निविष्ट मानता था। लेकिन, उसने स्वामित्व तथा राजनीतिक अधिकारों के स्वत्व में विभाजक रेखा खीची। राजनीतिक अधिकार सम्पत्ति नहीं हैं। गरीब आदमी का भी एक 'जन्म सिद्ध अधिकार' होता है। राज्य को इस अधिकार की उसी भाँति रक्षा करनी चाहिए जिस भाँति वह अमीर की सम्पत्ति की रक्षा करता है।

फलत, सैद्धान्तिक रूप से लेवलर सार्वभौम पुरुष मताधिकार का समर्थक था। हाँ, भिखारियों को मताधिकार देने के पक्ष मे नहीं था। इसके विपरीत इरेटन का सिद्धान्त जमींदारों को ही मताधिकार देना चाहता था। अफसरों का विचार था कि सार्वभौम मताधिकार से सम्पत्ति खतरे में पड जाएगी और अराजकता पैदा होगी। इस सम्बन्ध में इरेटन का कहना था कि यदि मनुष्य को केवल इसीलिए मत देने का अधिकार प्राप्त हो कि वह साँस लेता है, तब तो उसे सम्पत्ति के वैधिक अधिकारों के विरुद्ध भी प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होना चाहिए। प्राकृतिक अधिकार कोई अधिकार नहीं है क्योंकि राजनीतिक अधिकार और सम्पत्ति के अधिकार दोनों ही विधि के आधार पर उत्पन्न होते हैं। लेवलर का जवाब था कि वास्तविक आवश्यकता यह समझने की है कि विधि के अन्दर क्या क्या शामिल है। जब तक कोई विधि राष्ट्र की स्वीकृति से न बनी हो और जब तक विधि का निर्माण उस संस्था ने न किया हो जिसमे व्यक्ति के प्रतिनिधि रहे हों, तब तक व्यक्ति को वह विधि स्वीकार करने के लिए किस प्रकार बाध्य किया जा सकता है। और व्यक्ति का प्रतिनिधित्व उस समय तक कैसे हो सकता है जब तक कि प्रतिनिधियों के निर्वाचन में उसकी आवाज न रही हो। ये दो दृष्टिकोण एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। एक ओर तो यह सिद्धान्त है कि समुदाय स्थायी हितों, विशेषकर भूमिसम्बन्धी हितों का संगठन है और वह परम्परागत परमाधिकारों द्वारा आपस में बन्धा हुआ है। दूसरी ओर यह सिद्धान्त है कि राष्ट्र स्वतन्त्र व्यक्तियों का एक संकुल है, ये व्यक्ति स्वार्थ की भावना से एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हित में विधि बनाते हैं।

विधानमंडल के ऊपर प्रतिबन्ध

(The Curb on the Legislature)

लेवलर के दृष्टिकोण से राजा की भाँति ही संसद् को भी प्रभुसत्ता का कोई अधिकार नहीं था। राजा की भाँति ही संसद् को भी प्रत्यायित शक्ति प्राप्त है। जिस प्रकार कार्यांग के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा आवश्यक है, उसी प्रकार विधानांग के विरुद्ध भी व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा जरूरी है। लाग पार्लियामेंट के प्रेसबिटेरियन नेता उस समय जो रिकार्ड तैयार कर रहे थे, वह इंडिपेंडेंटों को यह विश्वास दिलाने के लिए काफी था कि प्रभुसत्ता-सम्पन्न विधानांग पर अंकुश लगाना एक बौद्धिक भ्रम नहीं है। फलत, लेवलर्स एक ऐसी सांविधानिक व्यवस्था चाहते थे जो व्यक्ति के

मूल अधिकारों की उसके अपने प्रतिनिधियों के विरुद्ध भी रक्षा कर सके। जो योजना तैयार की गई वह एक लिखित संविधान की थी जिसमें मूल अधिकारों का भी एक बिल शामिल किया गया था। जनता के करार (Agreement of the People) ने यह मान लिया था कि संसद् शासन की अन्य शाखाओं से उच्चतर है। लेकिन, उसने यह स्पष्ट रूप से कहा कि नागरिकों के कुछ अधिकार ऐसे हैं जिन्हें संसद् भी नहीं छू सकती। जनता के करार नागरिकों में इस प्रकार के अधिकारों की गणना भी की गई है। संसद् को ऋणों को रद्द नहीं करना चाहिए, उसे विधि के संचालन के सम्बन्ध में मनमाने अपवाद नहीं करने चाहिए और उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को नष्ट नहीं करना चाहिए। उसे संविधान में वर्णित किन्हीं अधिकारों का हरण या संशोधन विशेष रूप से नहीं करना चाहिए। संक्षेप में, करार अपरिवर्तनशील सांविधानिक विधि है। जिस शासन-विधि (Instrument of Government) ने १६५३ में प्रोटेक्टरेट की स्थापना की थी, उसमें इसी विधि को अपनाया गया था। १६४८ में लेवलर्स ने एक सांविधानिक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन का उद्देश्य किसी "विधायी शक्ति का प्रयोग करना नहीं, प्रत्युत् न्यायपूर्ण शासन की बुनियाद तैयार करना था।" यह करार एक विशेष प्रकार की सामाजिक संविदा के रूप में था। यह विधि के ऊपर था। इसने संसद् की विधायी शक्ति की सीमाएं निश्चित कर दी थी। निर्वाचकों और उम्मीदवारों को प्रत्येक निर्वाचन के समय इस पर हस्ताक्षर करने थे। जनता के करार में यह भी कह दिया गया था कि यदि संसद् करार की सीमाओं का उल्लंघन करे, तो जनता संसद् का प्रतिरोध कर सकती है। यह बाद के उन संविधानों की भांति था जिनमें मानव अधिकारों की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ व्यवस्था कर ली गई थी।

इंगलैण्ड के इस क्रांति युग में लेवलर्स ने ही एक ऐसे राजनीतिक दर्शन का निर्माण किया जो बाद में उग्र लोकतन्त्र का राजनीतिक दर्शन बन गया। लेवलर्स ने अपने राजनीतिक दर्शन में प्राकृतिक विधि के प्राचीन सिद्धान्त, प्रत्येक व्यक्ति के कतिपय न्यूनतम राजनीतिक परमाधिकारों, प्रतिनिधियों के निर्वाचन में योगदान द्वारा सहमति के सिद्धान्त, व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा के लिए विधि और शासन के औचित्य, अविच्छेद्य अधिकारों की एक सूची द्वारा जनता की प्रभुसत्ता के अधीन शासन की प्रत्येक शाखा के परिसीमन का निरूपण किया था। इंगलैण्ड में सत्रहवीं शताब्दी के बीच में इस प्रकार के विचारों की उपस्थिति इसलिए और भी रोचक मालूम पड़ती है क्योंकि इनके आधार पर निर्मित सांविधानिक परियोजनाएं बिल्कुल विफल हो गईं। इसके विपरीत अमेरिका में इस प्रकार की योजनाएं पूरी तरह सफल हुई थीं। १६५३ की शासन-विधि इंगलैण्ड में लिखित संविधान के द्वारा संसद् की विधायी शक्ति को सीमित करने की पहली और आखिरी चेष्टा थी। क्रांति का एक परिणाम यह भी था कि संसद् की वैधानिक उच्चता के प्रश्न को सुलझाना था। अमेरिका में वह लिखित संविधान जो विधान मंडलों के ऊपर अंकुश लगाता हो, सामान्य प्रथा बन गया। इस अन्तर की आसानी

वादियों का मूल सिद्धान्त ईसाइयों का मध्ययुग में व्यापक रूप से प्रचलित यह विश्वास था कि साझे का स्वामित्व व्यक्तिगत स्वामित्व की अपेक्षा जीवन का अधिक पूर्ण सिद्धान्त है। व्यक्तिगत स्वामित्व प्राकृतिक व्यवस्था नहीं थी, प्रत्युत मनुष्यों की दुष्टता का परिणाम थी। डिगर्स के दर्शन का मुख्य भाग यह था कि उन्होंने इस विश्वास के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों को पलट दिया। सामान्य निष्कर्ष यह था कि यद्यपि व्यक्तिगत सम्पत्ति साझे के स्वामित्व से घटकर है लेकिन मनुष्य की पतित प्रकृति को देखते हुए वह सब से उपयुक्त व्यवस्था है। डिगर्स का कहना था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति समस्त सामाजिक बुराइयों और भ्रष्टाचारों का मूल कारण था। समस्त बुराइयों का मूल—मोह और लोभ है। यही व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रेरक तत्त्व हैं। जब व्यक्तिगत सम्पत्ति पैदा हो जाती है तब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के ऊपर हो जाता है। इसकी वजह से रक्तपात होता है। मनुष्य दास बन जाते हैं। वे गरीबी की चक्की में पिसते हैं और अपने परिश्रम से अपने को गुलाम बनाने वाले लोगों की शक्ति को ही कायम रखते हैं। यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति को, विशेषकर भूमि की व्यक्तिगत सम्पत्ति को नष्ट कर दिया जाये, तो मानव समाज की अधिकांश बुराइयां दूर हो सकती हैं। डिगर्स का तर्क रूसो के 'मनुष्यों में असमानता की उत्पत्ति' नामक लेख से आश्चर्यजनक साम्य रखता है।

डिगर्स की पत्रिकाएं जमींदारों के प्रति शत्रुता के भाव से परिपूर्ण हैं :

'मिस्र के शासको ! तुम अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते हो और तुम्हारी तोंदें निकली हुई हैं। तुम्हें सब प्रकार के सम्मान प्राप्त हैं और तुम मजे से रहते हो। लेकिन, कयामत का दिन आ पहुंचा है और वह जल्दी ही तुम्हारे पास पहुंचने वाला है। जिन गरीबों को तुम सताते हो, वही भूमि के रक्षक होंगे। यदि तुम दया चाहते हो, तो इजरायल को आजाद होने दो। सम्पत्ति की जंजीरों को तोड़ दो।"[1]

डिगर्स ने वकीलों और धर्माचार्यों की भी कठोर निन्दा की। इस निन्दा का कारण केवल यही नहीं है कि वकील विधि को भ्रष्ट करते हैं या धर्माचार्य निकृष्ट धर्म-शास्त्र पढ़ाते हैं, बल्कि यह भी है कि दोनों व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रमुख समर्थक हैं। डिगर्स विजय के पश्चात् इंगलैण्ड के सम्पूर्ण इतिहास की व्याख्या निम्न प्रकार से करते थे विजेता ने जनता से भूमि छीन ली और उसे अपने सेनाध्यक्षों को दे दिया। भूमि सेनाध्यक्षों से होते होते वर्तमान जमींदारों के पास पहुंची है। इंगलैण्ड एक जेल है। विधि की बारीकियां इसकी बेड़ियां हैं और विधिवेत्ता इसके जेलर हैं। विधि की सारी पुरानी किताबों को जला देना चाहिए। इसके साथ ही विजेता ने पादरियों को खरीद लिया और उनसे लोगों में प्रचार करवाया कि वे अपना मुंह बन्द रक्खें तथा चुपचाप

1 *The True Levellers' Standard Advanced* (1649), quoted by Gooch, *op. cit.* p 184

शासकों की आज्ञा का पालन करें। इसका निष्कर्ष स्पष्ट है। चूँकि क्रांति ने राजा की सम्पूर्ण शक्ति को नष्ट कर दिया है, इसलिए व्यक्तिगत भू-स्वामित्व की प्रथा भी समाप्त होनी चाहिए और जमीन जनता को वापस मिल जानी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो जनता को विजय के लाभ नहीं मिलते।

यद्यपि ये सारी बातें बड़ी जोशीली हैं, लेकिन डिगर्स ने हिंसा या या बलपूर्वक जमीदारों की जमीन छीनने का विचार कदापि प्रकट नहीं किया। ज्यादा सख्या होने पर वे क्या करते, इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। चूँकि, उनकी सख्या थोड़ी ही थी, अत उनके लिए हिंसा का प्रचार आत्मघातक सिद्ध होता। उनकी माग यही थी कि उन्हें सार्वजनिक जमीन में खेती करने की अनुमति दी जाए। वे थोड़े की जमीन मालिकों के पास छोड़ने के लिए तैयार थे। उनकी ईमानदारी में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। अधिकांश कल्पनावादियों की भाति वे भी शान्तिवादी थे। उनका विचार था कि उनकी जीवन-पद्धति इतनी अच्छी है कि जमीदार भी उसे अपना लेंगे। वे कुछ कुछ रहस्यात्मक ढंग से हृदय परिवर्तन में विश्वास रखते थे। पादरियों के विरोधी होते हुए भी वे धर्मप्राण थे। उनका कहना था "ईसा मसीह सब से बड़े लेवलर हैं"। वे सीधे-सादे लोग थे और उनका विश्वास था कि भ्रातृ-प्रेम के ईसाई सिद्धान्त को यथावत् ग्रहण करना चाहिए।

विंस्टेन्लेकृत "लॉ ऑफ फ्रीडम"

(Winstanley's "Law of Freedom")

डिगर्स में एकमात्र महत्त्वपूर्ण लेखक गेरार्ड विंस्टेन्ले (Gerard Winstanley) था। इसने "लॉ ऑफ फ्रीडम" नामक एक पुस्तिका लिखी थी। यह पुस्तिका १६५२ में प्रकाशित हुई थी, और क्रॉमवेल को सम्बोधित की गई थी। इसने एक कल्पनात्मक आदर्श समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की। इसका मन्तव्य था कि राज्य का शासन न्याय के सिद्धान्तानुसार सचालित होना चाहिए। विंस्टेन्ले के राज्य का आधार-भूत विचार यह था कि समस्त बधनों का मूल कारण गरीबी है।

"मनुष्य को खाना न मिले, इससे ज्यादा अच्छा तो यही था कि मनुष्य का जन्म ही नहीं होता।" सच्ची स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि मनुष्य पृथ्वी का और उससे मिलने वाले पदार्थों का समान रूप से उपयोग कर सकें। मानव प्रकृति में दो विरोधी प्रवृत्तियां हैं—सामूहिक रक्षा की प्रवृत्ति और व्यक्तिगत रक्षा की प्रवृत्ति। सामूहिक रक्षा की प्रवृत्ति परिवार की तथा समस्त शान्ति और नीति-परायणता की मूल कारण है। आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति लाभ तथा अत्याचार का मूल कारण है। राज्य पहली प्रवृत्ति का तत्त्वाभी है। इसमें दुर्बलों की रक्षा भी सशक्त लोगों के साथ ही साथ होती है। राजा

का शासन तथा विजेता की विधि दूसरी प्रवृत्ति की तत्स्थानी है। इनमें महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि राजा का शासन तो "क्रय और विक्रय की छलपूर्ण कला" से चलता है। यह डाकू का शासन है जिसने पृथ्वी को अपने छोटे भाई से चुरा लिया है। इसलिए, सुधार का सार यह है कि क्रय और विक्रय का प्रतिषेध किया जाये, विशेषकर जमीन के क्रय-विक्रय का। वास्तविक समानता केवल पदार्थों की ही समानता है। इससे हट कर और कोई समानता नहीं है। इसका कारण यह है कि धन शक्ति देता है और शक्ति का अभिप्राय दमन है। पुनः, कोई व्यक्ति केवल अपने प्रयत्न से ही धन पैदा नहीं कर सकता। वह दूसरे व्यक्ति के हिस्से को दाबकर ही धनी बन सकता है।

इसलिए, सच्ची स्वतन्त्रता का यह तकाजा है कि भूमि साझे की रहे। भूमि का उत्पादन एक साझे के स्टोर में रक्खा जाए जहां से सब लोग अपनी आवश्यकताओं के अनुसार चीजें ले सकें। चालीस वर्ष तक की आयु के समस्त समर्थ व्यक्तियों को उत्पादन-कार्य करना चाहिए। जिन परिवारों के पास अपना साज सामान और मकान है, उन्हें विन्स्टेन्ले ने ऐसे ही छोड दिया है। उसने राज्य के स्थायित्व के विचार से मजिस्ट्रेटों और एक दुष्परिवर्तनीय विधि-संहिता की भी विस्तृत योजना प्रस्तुत की थी। यह विधि सरल थी और इसकी व्याख्या नहीं हो सकती थी। उसने सार्वभौम मताधिकार की और एक वर्ष के कार्यकाल की सिफारिश की। उसकी योजना का एक रोचक अंग यह भी था कि राष्ट्रीय चर्च को लोकशिक्षा की संस्था बना दिया जाए। उसकी धर्मसम्बन्धी संकल्पना में अति प्राकृतिक तत्त्व का कोई स्थान नहीं था। जो पादरी इस समय अज्ञानी लोगों के बीमार दिमागों को सन्तुष्ट करने के लिए और मोहित, मूर्ख तथा मूढ़ व्यक्तियों के बीच अपनी सम्पदा और इज्जत बनाए रखने के लिए भाषण देते रहते है, वे स्कूल मास्टर हो जायेंगे और हर सातवें दिन सार्वजनिक मामलों, इतिहास, कला और विज्ञान में शिक्षा देंगे। "प्रकृति के रहस्यों को जानना ईश्वर के रहस्यों को जानना है"। देवत्व "कमजोरों और बीमारों का सिद्धान्त है"। "दैवी आध्यात्मिक सिद्धान्त एक छल है"। शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग यह है कि उपयोगी उद्योगों और दस्तकारियों की शिक्षा दी जाए।

"मनुष्य यह तो जरूर सोचते रहते है कि उन्हें मरने के बाद स्वर्ग मिलेगा या नरक, सुख मिलेगा या दुःख, लेकिन वे यह नहीं देखते कि उनके जन्मसिद्ध अधिकार क्या है।"[1]

सत्रहवीं शताब्दी के राजनीतिक दर्शन में विन्स्टेन्ले के साम्यवाद का अपना विशेष स्थान था। उसने श्रमिक वर्ग के कल्पनावाद को अधिकृत वाणी दी और अव्यवस्थित जनता की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को पहली बार उत्तेजना दी। उसने न्यायमुक्त समाज का उद्देश्य जनसाधारण का कल्याण बताया। यद्यपि उसका उद्देश्य

1. **Quoted by Bernstein op. cit. p 127.**

कल्पनावादी था, लेकिन उसने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि राजनीतिक स्वतन्त्रता और समानता आर्थिक कारणों के नियन्त्रण पर निर्भर है। राजनीति धन के वितरण पर निर्भर है इसका इससे अधिक निश्चित विचार सत्रहवीं शताब्दी में सिर्फ हैरिंगटन (Harrington) की रचनाओं में ही पाया जाता है। लोकतन्त्री समाज को आर्थिक शोषण की समस्या का सुलझाना चाहिए इसका इससे अधिक स्पष्ट विचार उस काल में अन्यत्र नहीं मिलता। यद्यपि विंस्टेन्ले के राजनीतिक विचार धार्मिक विश्वास में निहित थे, तथापि उस युग के बहुत कम लेखक ऐसे हुए हैं, जो सम्प्रदायगत धर्म के बन्धन से स्वतन्त्र हों या जिन्होंने अपने सिद्धान्त को मानवप्रेम और चेतना के आधार पर प्रतिष्ठित किया हो।

Selected Bibliography

John Wildman, Plotter and Postmaster, By Maurice P Ashley New Haven, 1947

Cromwell and Communism By Eduard Bernstein Trans by H J Stenning London, 1930 *Sozialismus und Demokratie in der grossen Englischen Revolution*.

History of the Great Civil War, 1642 1649 By Samuel R Gardiner 3 Vols London 1886 91

English Democratic Ideas in the Seventeenth Century By G P Gooch Second edition Cambridge, 1927

Political Thought in England from Bacon to Halifax By G P Gooch London, 1914

Tracts on Liberty in the Puritan Revolution, 1638 1647 Ed William Haller 3 Vols New York, 1944

The Leveller Tracts 1647 1653 Ed William Haller and Godfrey Davies New York 1944

Mysticism and Democracy in the English Commonwealth By Rufus M Jones Cambridge, Mass 1932

The Development of Religious Tolerance in England By W K Jordan 4 Vols Cambridge, Mass 1932 40

The Leveller Movement By Theodore Pease Washington, 1916

Left Wing Democracy in the English Civil War By David W Petergorsky London, 1940

The Works of Gerard Winstanley Ed George H Sabine Ithaca, 1941 Introduction

Leveller Manifestoes of the Puritan Revolution Ed Don M Wolfe, New York, 1944 Introduction

Puritanism and Liberty being the Army Debates (1647 9) from the Clarke Manuscripts With Supplementary Documents selected and Edited with an Introduction by A S P Woodhouse London 1938

अध्याय २५

गणतंत्रवादी : हैरिंगटन, मिल्टन और सिडनी

(The Republicans, Harrington, Milton and Sidney)

प्यूरिटन क्रांति की किसी भी अवस्था में राजतन्त्रात्मक शासन के विरोध में गणतन्त्रात्मक शासन के प्रश्न का कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं रहा था। १६४८ में क्रॉमवेल की सेना के अफसर इस बात के लिए तैयार थे कि क्रांति के परिणाम प्राप्त होने के कुछ समय बाद राजा को मुक्त कर दिया जाये और उसके ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगा कर उसे पुनः शक्तियां दे दी जायें। कुछ महीनों बाद इन्हीं अफसरों ने चार्ल्स को प्राणदण्ड दिया। उन्होंने यह कार्य किन्हीं गणतन्त्रवादी सिद्धान्तों के अनुसार नहीं किया, प्रत्युत् इस विश्वास के आधार पर किया कि राजा के साथ स्थायी रूप से कोई समझौता नहीं किया जा सकता था। लेवलर्स, जिनमें से कुछ कट्टर गणतन्त्रवादी थे, राजतन्त्र के अन्त को मुख्य साध्य नहीं मानते थे। इसलिए, राजतन्त्र-विरोधी सिद्धान्तों का कोई विशेष व्यावहारिक महत्व न था। लेकिन, यह बात अवश्य है कि किसी-न किसी रूप में गणतन्त्रवादी सिद्धान्त अवश्य था। हां, वह किसी विशेष उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए संगठित नहीं किया गया था। जॉन मिल्टन (John Milton) तथा अलगरनॉन सिडनी (Algernon Sidney) ने भावपरक आधार पर गणतन्त्रवाद का समर्थन किया। उनका कहना था कि गणतन्त्रवाद प्राकृतिक विधि और जनता की प्रभुसत्ता में निहित है। यद्यपि जेम्स हैरिंगटन ने कल्पना राज्य के बारे में एक पुस्तक लिखी थी, तथापि उसने विरपरिचित विधिपरक तर्क को सब से जोरदार रूप में प्रस्तुत किया और सामाजिक तथा आर्थिक क्रांति के परिणाम के रूप में गणतन्त्रवाद का समर्थन किया। यद्यपि हैरिंगटन का यह विचार तो गलत था कि राजतन्त्र असंभव हो गया है लेकिन उसका यह विचार सही था कि आर्थिक शक्ति में परिवर्तन हो गया है। इंगलैण्ड के प्रत्येक शासन के लिए आर्थिक शक्ति के इस परिवर्तन की ओर ध्यान देना आवश्यक था।

हैरिंगटन असाधारण शक्ति और स्वतन्त्रता से सम्पन्न राजनीतिक विचारक था। प्यूरिटन क्रांति का वही एक ऐसा राजनीतिक विचारक था जो उसके मूल में कार्य करने वाले सामाजिक कारणों को दार्शनिक दृष्टि से समझता था। यद्यपि वह कट्टर गणतन्त्रवादी था, लेकिन अपने वंश और वातावरण की दृष्टि से वह कुलीनतन्त्रवादी था।

वह राजा चार्ल्स का घनिष्ठ मित्र था। जब चार्ल्स को फांसी हुई थी, उस समय भी वह वहां था। वह हॉब्स का प्रशंसक था और उसे "अपने समय का संसार का सर्वश्रेष्ठ लेखक" कहता था। लेकिन, उसका राजनीतिक दर्शन हॉब्स के दर्शन का बिल्कुल विरोधी था। उसे हॉब्स के दर्शन में दो बातें बहुत पसन्द थी—सार्वभौम कार्य-कारण की प्रवृत्ति और मानवी आचरण के स्रोत के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि। लेकिन, हैरिंगटन का यह विचार था कि हॉब्स अपनी विचार-सरणि पर अन्त तक स्थिर नहीं रहा। उनके सामाजिक संविदा के सिद्धान्त ने वैधानिक सादृश्य के कारणों को छोड़ दिया था और उसकी प्रभु-सत्ता की सकल्पना ने उन सामाजिक कारणों का विश्लेषण नहीं किया जो शासन को वास्तविक शक्ति देते हैं। हैरिंगटन ने इन प्रश्नों का समाधान करने की कोशिश की और वह प्रथम श्रेणी का मौलिक राजनीतिक चिंतक प्रमाणित हुआ। यद्यपि उसकी चिंतन शक्ति हॉब्स की भांति पुष्ट नहीं थी लेकिन वह राजनीतिक वास्तविकताओं को हॉब्स से ज्यादा अच्छी तरह समझता था।

हैरिंगटन का राजनीतिक ग्रंथ *Oceana* लन्दन में १६५६ में छपा था।[1] यह ग्रन्थ भी एक प्रकार की राजनीतिक यूटोपिया ही है। इसमें ओशेना नामक एक काल्पनिक राज्य के लिए नूतन शासन-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। यद्यपि इस शासन व्यवस्था में अनेक काल्पनिक बातों का समावेश किया गया है, लेकिन वास्तव में हैरिंगटन की विचारधारा में काल्पनिक तत्त्व अपेक्षाकृत कम ही है। ओशेना इंगलैण्ड था। हैरिंगटन ने जिन व्यक्तियों अथवा घटनाओं की चर्चा की है, वे भी समझ में आ जाते हैं। वे सब ऐतिहासिक हैं। यह पुस्तक ओलिवर क्रॉमवेल को सम्बोधित की गई थी और उस समय एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित की गई थी। इसको एक कथा का रूप इसलिए दिया गया था जिससे कि यह सेंसरशिप से बच जाए। हैरिंगटन के राजनीतिक सिद्धान्त निरूपण में कोई काल्पनिक तत्त्व नहीं था। वह मैकियावेली का उत्साही प्रशंसक था और उसे एकमात्र ऐसा आधुनिक राजनीतिक लेखक समझता था जो प्राचीन राजनेतृत्व की ऊंचाई तक पहुंचता था। मैकियावेली और बोदां की भांति उसने भी मुख्य रूप से ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया था। ओशेना के काल्पनिक शासन की प्रत्येक बात प्राचीन अथवा वर्तमान शासन-प्रणालियों के आधार पर नकल की गई थी। यहूदियों, रोम, स्पार्टा और वेनिस के उदाहरण विशेष रूप से लिये गए थे। हैरिंगटन का कहना है कि इतिहास का अध्ययन और वर्तमान शासन-प्रणालियों का निरीक्षण और उनकी तुलना—यही वह पद्धति है जिसके द्वारा राजनेतृत्व की कला का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

---

1 इसका एकमात्र श्रेष्ठ तत्कालीन संस्करण एस० बी० लिलजेग्रेन का है। (हाइडेल्बर्ग, १९२४) हैरिंगटन की समस्त कृतियों का सम्पादन जॉन टोलैण्ड (John Toland) ने किया है। (लन्दन, १७००)।

गणतन्त्रवाद का आर्थिक आधार

(The Economic Basis of Republicanism)

अपने समय के राजनीतिक लेखकों में हैरिंगटन ही एक ऐसा विचारक था जिसने यह समझा कि शासन के संगठन और संचालन पर आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों का प्रभाव पड़ता है। एक ऐसे समय में जबकि दलबन्दी बहुत उग्र थी और प्रत्येक दल राजनीतिक अव्यवस्था के लिए अपने विरोधियों की मूर्खता और दुष्टता को उत्तरदायी ठहराता था, हैरिंगटन का दृष्टिकोण बड़ा वैज्ञानिक था। तथापि, उसने अपने काल्पनिक शासन को राजनीतिक पुनर्निर्माण की योजना के रूप में प्रस्तुत किया। हैरिंगटन के सिद्धान्त का मूल विचार यह था कि किसी देश में जो शासन-प्रणाली स्थायी रूप से सम्भव हो सकती है, वह सम्पत्ति, विशेषकर भूमि सम्बन्धी सम्पत्ति के वितरण पर आधारित होती है। जिस वर्ग के पास अधिक भूमि, राज्य की तीन-चौथाई भूमि होगी, उसी का शासन पर नियन्त्रण होगा।

हैरिंगटन ने राजतन्त्रवादियों अथवा संसदज्ञों की बुराइयों का विवेचन नहीं किया। इसके स्थान पर उसने गृह-युद्ध का एक आर्थिक-ऐतिहासिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। यह सिद्धान्त काफी हद तक सन्तुलित था। हैरिंगटन का मत था कि गृह-युद्ध के कारणों को समझने के लिए हमें ट्यूडरकालीन इंगलैण्ड के सामाजिक इतिहास को देखना चाहिए। लोक-शासन की माँग उसी समय शुरू हो गई थी जबकि वार्स ऑफ रोजेज (Wars of Roses) में इंगलैण्ड के कुलीन नष्ट हो गए थे और हेनरी सातवें ने बड़ी-बड़ी राजसम्पदाओं को छोटे-छोटे अनेक स्वामियों के बीच बाँट दिया था। इस तरह कुलीनों के मूल्य पर ऐच्छिक अश्वारोही सैनिकों की वृद्धि हुई थी। इसी दिशा में दूसरा कदम यह था कि हेनरी अष्टम ने मठों को नष्ट कर दिया। इससे चर्च, जो इंगलैण्ड का सब से बड़ा जमींदार था, अपनी जमींदारी से वंचित हो गया। उसके स्थान पर अनेक छोटे-छोटे जमींदार पैदा हो गए। दोनों अवस्थाओं में परिणाम यह हुआ कि धन असंख्य छोटे-छोटे जमींदारों को बाँट दिया गया। इन जमींदारों के लिए देर-सबेर लोक-अधिकारों की माँग उठाना आवश्यक था। हैरिंगटन ने एलिजाबेथ की राजनीतिक चालों के बारे में कहा है कि "उसके और उसके प्रजाजनों के बीच शाश्वत प्रणय-व्यापार चलता रहता था जिसने एक रोमांस का रूप धारण कर लिया था।" लेकिन, राजनीतिक अभिनय उस दिन को जबकि शासन लोक-स्वामित्व की वास्तविकताओं को स्वीकार करता, केवल कुछ स्थगित ही कर सकता था।

"जब कोई शासक वाद-विवादों में कड़ा रुख ग्रहण कर लेता है और उसे धर्माचार्यों से प्रोत्साहन मिलता है, वह अपनी संसद् के दर्शन में विश्वास न करके

धर्माचार्यों के तर्क मे विश्वास करता है, तो उस समय उसके और संसद् के बीच एक चौडी खाई पैदा हो जाती है।"[1]

हैरिंगटन ने यह सिद्धान्त कुछ तो अरस्तू के इस दृष्टिकोण से प्राप्त किया था कि क्रातियां मुख्य रूप से सम्पत्ति की विषमताओं के कारण पैदा होती हैं और कुछ मैकियावेली के इस दृष्टिकोण से ग्रहण किया था कि शक्तिशाली कुलीन वर्ग की लोकशासन के साथ सगति नही बैठती। हैरिंगटन का कहना था कि मैकियावेली अपने विचार का आर्थिक कारण नही समझ सका था लेकिन जब मैकियावेली के अपूर्ण सिद्धान्त के साथ अरस्तू का सिद्धान्त भी जोड दिया जाता है, तो सही सिद्धान्त की भी कुजी मिल जाती है। जमीदारो की सख्या का आधारभूत महत्त्व है। यदि बची हुई जमीन का काफी हिस्सा कुलीनो के पास है तो जनसाधारण आर्थिक रूप से और इसलिए राजनीतिक रूप से कुलीनो के ऊपर निर्भर रहता है। यदि जमीन बहुत से सामान्य लोगों के पास चली जाती है, तो कुलीनो की शक्ति भी कम हो जाती है। इस सिद्धान्त के द्वारा हैरिंगटन हॉब्स के सिद्धान्त की त्रुटियां भी दूर करना चाहता था। हैरिंगटन ने हॉब्स के इस मत की कि शासन-शक्ति केवल संविदा पर आधारित होती है, आलोचना की है।

"हॉब्स ने विधि के बारे में कहा है कि तलवार के बिना यह सिर्फ कागज है। इसी तरह यह तलवार हाथ के बिना सिर्फ लोहा है। जो हाथ इस तलवार को धारण करता है, वह राष्ट्र का सैनिक वर्ग है। लेकिन, सेना एक बहुत बडा जानवर है जिसका बहुत बडा पेट है और जिसको भरना चाहिए। यह खाना खेतों से आएगा। खेत सम्पत्तिधारियों के पास हैं। इस प्रकार सम्पत्ति के बिना सार्वजनिक तलवार केवल नाम की ही चीज रह जाती है।"[2]

वैधिक अर्थ में शक्ति व्याख्यासापेक्ष शब्द नही है। उसके लिए सामाजिक शक्ति की आवश्यकता है। सामाजिक शक्ति उसी व्यक्ति या वर्ग के पास होती है जिसके पास निर्वाह के साधन होते हैं। हॉब्स और हैरिंगटन के बीच का प्रश्न एक वैधानिक तर्कशास्त्री और सामाजिक अर्थशास्त्री के बीच का प्रश्न था।

हैरिंगटन ने गृह-युद्ध के परिणाम को पहले से ही समझ लिया था। उसकी दृष्टि में यह अमूर्त न्याय और अन्याय का प्रश्न नहीं था। वह वास्तव में एक सामाजिक प्रश्न था। भूमि का और इसके साथ ही राजनीतिक शक्ति का नियंत्रण मध्यवर्ग के हाथो में आ गया था। ट्यूडर राजवंश केवल उस समय तक राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कर सकता था जब तक कि नया वर्ग जागरूक न हो जाता। लेकिन, देर-सबेर शासन के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने को सम्पत्ति-वितरण के अनुसार ढाल लेता। हैरिंगटन

---

1. *Oceana*, ed. by Liljegren, p. 49

2. *Ibid.*, p. 16.

इसी आधार पर गणतन्त्रवादी था। उसे राजतन्त्र पर कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं थी, लेकिन वह गणतन्त्र को उच्चतर समझता था।

"इंगलैण्ड का गणतन्त्र के रूप में विकसित होना निश्चित और स्वाभाविक है। प्रकृति को शान्ति की जरूरत है। शान्ति के लिए विधियों का पालन जरूरी है। इंगलैण्ड में विधियां केवल संसदों के द्वारा ही बनायी जा सकती हैं। इंगलैण्ड में संसदें केवल लोक सभाएं ही हो गई हैं। लोक सभाओं द्वारा निर्मित विधियां लोकप्रिय होनी चाहिए हालांकि कुछ समय के लिए उनसे डर पैदा हो सकता है और उनके साथ धोखा किया जा सकता है। इन समस्त लोकप्रिय विधियों के योग से ही गणतन्त्र का निर्माण होता है।"[1]

यह वाक्य राजतन्त्र की पुनर्प्रतिष्ठा के एक साल के भीतर ही लिखा गया था। इससे राजतन्त्र के विरोधियों को एक हथियार मिल गया था। लेकिन, इंगलैण्ड में सत्रहवीं शताब्दी में ऐसे बहुत कम, वाक्य लिखे गए थे जिन्होंने वहां के परिवर्तनों के स्वरूप का ठीक-ठीक विवेचन किया हो। अच्छा हो या बुरा, भूमिसम्पन्न मध्यमवर्ग सत्तारूढ़ हो गया था और इंगलैण्ड की कोई भी व्यवस्था उसकी ओर ध्यान दिए बिना नहीं रह सकती थी।

हैरिंगटन के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था में भूमि ही एक ऐसी सम्पत्ति है जिसका वास्तव में महत्त्व होता है। यह सही है कि उसने भूमि-स्वामित्व के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया था, और उद्योग-धंधा, वाणिज्य तथा वित्त के महत्त्व को कम आंका था। उसका विचार था कि फ्लोरेंस जैसे छोटे-से राज्य में जिसमें मुख्य रूप से व्यापारी थे, धन का महत्त्व हो सकता था, लेकिन इंगलैण्ड जैसे बड़े देश में इसकी संभावना नहीं थी। अपने युग को ध्यान में रखते हुए उसका यह विचार ठीक था। लेकिन, उसका जमींदार का दृष्टिकोण था और वह इंगलैण्ड में व्यापारियों के महत्त्व को नहीं समझ सका हालांकि उसके समय में भी वहां व्यापारियों का महत्त्व बढ़ता जा रहा था। यह विचार कि इंगलैण्ड व्यापारिक दृष्टि से हालैण्ड से आगे निकल जाएगा, देखने में ठीक मालूम पड़ता था। लेकिन, यह विचार इस विश्वास पर आधारित था कि इंगलैण्ड कच्चे पदार्थों को खुद पैदा कर सकेगा। व्यवहार में ऐसा नहीं हुआ।

हैरिंगटन ने भूमि स्वामित्व के सन्तुलन के सिद्धान्त के आधार पर ही सरकारों का वर्गीकरण किया था। यहां उसने सरकारों के तीन परम्परागत वर्गीकरण प्रस्तुत किए थे—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र। इसके साथ ही उसने अरस्तू की शैली पर तीन विकृत शासन प्रणालियों की भी चर्चा की थी। ये तीन विकृत शासन प्रणालियां थीं—निरंकुश राजतन्त्र मिश्रित अथवा सामन्ती राजतन्त्र, और गणतन्त्र। ये तीनों शासन-रूप भूमि-व्यवस्था के ऊपर निर्भर हैं। यदि राजा भूमि का नियंत्रण अपने हाथ

---

1. *Art of Lawgiving, Works*, 1747, p. 432

मे रखता है, उसे पट्टे पर बहुत से छोटे छोटे काश्तकारो को दे देता है और ये काश्तकार आवश्यकता के समय राजा की सैनिक सेवा के लिए बाध्य किए जा सकते हैं, तब फिर वह निरकुश राजतन्त्र, एक प्रकार का सैनिक राजतन्त्र होता है। साम्राज्य काल में रोम अथवा तुर्की साम्राज्य इसी प्रकार का सैनिक राजतन्त्र था। जब भूमि छोटे कुलीनो के हाथो मे आ जाती है और इन कुलीनो के नियत्रण मे काफी किसान होते हैं, उस समय मिश्रित राजतन्त्र की स्थापना होती है। यह दुर्बल राजतन्त्र है। इसका कारण यह है कि राजा अपने बड़े बड़े सामन्तो के ऊपर निर्भर रहता है। ये सामन्त कभी कभी विद्रोह कर देते हैं। लेकिन चूंकि इन सामन्तो म एक दूसरे से होड लगी रहती है, इसलिए वे राजतन्त्र को सीधे नष्ट नहीं कर पाते। अन्त मे, जब बडी बडी जमीदारिया समाप्त हो जाती हैं और कुलीन काश्तकारो को अधिक सख्या मे अपने नियत्रण मे नहीं रख सकते, तो गणतन्त्र अथवा लोक शासन की बुनियाद पड जाती है।

अपने इस सिद्धान्त के द्वारा हैरिंगटन ने जनता के "भ्रष्टाचार" के भ्रामक विचार को दूर कर दिया। मैकियावेली के चिंतन मे इस विचार को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। यह सिद्धान्त सविधानो के चक्र की प्राचीन कल्पना मे भी निहित था। तथाकथित भ्रष्टाचार जो गणतन्त्र को राजतन्त्र के रूप मे परिवर्तित कर देता है, केवल भूमि के नियत्रण का ही परिवर्तन है। "एक शासन का भ्रष्टाचार दूसरे शासन का जन्म है।" यदि कभी कोई नैतिक परिवर्तन होता है, तो यह भी सम्पत्ति के स्वामी के परिवर्तन के फलस्वरूप ही होता है। हैरिंगटन के वर्गीकरण मे 'विकृत' शासन-प्रणालियो के लिए कुछ अवकाश रहता है। लेकिन, कई स्थितिया ऐसी होती हैं जिनमे शासन का रूप सम्पत्ति के सन्तुलन से सगत नही होता। इस दृष्टि से एलिजाबेथ का राजतन्त्र एक विकृति था। कुछ ऐसी स्थितिया भी होती हैं जिनमे शक्ति का सन्तुलन निर्णायक नही होता। यदि भूमि कुलीनो तथा साधारण जना के बीच बराबर बाट दी जाती है, तो स्थायी शासन उस समय तक स्थापित नही हो सकता जब तक कि एक वर्ग दूसरे वर्ग को समाप्त नही कर देता। इस योजना ने शासन-प्रणालियो का एक लचीला और यथार्थवादी वर्गीकरण प्रस्तुत किया।

विधि का साम्राज्य

(The Empire of Law)

लेकिन, हैरिंगटन एक आर्थिक भौतिकवादी नही था। सम्पत्ति खुद एक वैधानिक सस्था है। इसलिए, विधि के द्वारा सम्पत्ति के वितरण मे आमूल परिवर्तन नही किया जा सकता। लेकिन, सम्पत्ति का ऐसा वितरण अवश्य किया जा सकता है जो वाछित शासन-प्रणाली के अनुरूप हो। उसने राजनीति मे दो सिद्धान्तो को मान्यता दी। एक सिद्धान्त शक्ति का है। यह सम्पत्ति के वितरण पर आधारित है और स्थायी शासन प्रणालियो की सभावना को सीमित कर देता है। फिर, इसमे भी चुनाव की

कुछ गुंजायश बनी रहती है। दूसरा सिद्धान्त "प्राधिकार" का है। हैरिंगटन के शब्दों में यह विवेक, साहस और ज्ञान जैसे मानसिक गुणों पर आधारित होता है। व्यक्ति का ज्ञान अथवा विवेक व्यक्ति के हित की ओर ध्यान देता है। इसी प्रकार, गणतन्त्र का ज्ञान सम्पूर्ण समुदाय के हित की ओर ध्यान देता है। यदि हैरिंगटन सत्ता अथवा ज्ञान को शासन-प्रणाली के सापेक्ष मानता, तो शायद उसके चिंतन में अधिक संगति रहती। लेकिन, इस स्थल पर उसके गणतन्त्रवाद ने उसे बहुत अधिक प्रभावित किया था। स्थूल रूप से उसने शक्ति और सत्ता में वही भेद किया जो 'प्राचीन ज्ञान' अथवा विधि के द्वारा समान हित के लिए शासन करने की कला और "आधुनिक ज्ञान" अथवा एक वर्ग अथवा व्यक्ति के हित में सम्पूर्ण समुदाय का शोषण करने की कला के बीच में है। उसका विचार था कि आधुनिक लेखकों में मैकियावेली तो 'प्राचीन ज्ञान' का और हॉब्स 'आधुनिक ज्ञान' का प्रतिनिधि है। चूंकि आधुनिक ज्ञान रोमी गणतन्त्र के पतन के साथ आरम्भ होता है, अतः यह विभेद मुख्यतः राजतन्त्र, चाहे वह निरपेक्ष हो या मिश्रित और गणराज्य के विभेद से सादृश्य रखता है। प्राचीन यूनान और रोम के प्रति हैरिंगटन में नवजागरण की भावना का सा उत्साह था। उसने गणराज्य का उद्देश्य एथेंस, स्पार्टा रोम और यहूदी राज्य के आदर्शों तक पहुंचने का था। हैरिंगटन इन सब को लोक-शासन-प्रणालियां समझता था।

गणराज्य का विभेदकारी लक्षण यह है कि वह 'विधियों का शासन है, मनुष्यों का नहीं'। हैरिंगटन के मतानुसार हॉब्स का यह कहना भ्रामक था कि चूंकि सभी सरकारें व्यक्तियों पर कुछ न कुछ नियन्त्रण रखती हैं, इसलिए नागरिक की स्वतन्त्रता प्रत्येक विधि प्रणाली में समान रहती है। यहां हैरिंगटन का विभेद प्रायः वही है जो अरस्तू ने अत्याचारी शासन और सांविधानिक शासन के बीच किया था। अरस्तू अत्याचारी शासन को व्यक्तिगत और स्वेच्छाचारी मानता था। उसके अनुसार सांविधानिक शासन विधि के अनुसार शासन था। उसमें सार्वजनिक हित को प्रधानता दी जाती थी और प्रजाजनों का भी योगदान और सहमति रहती थी। समस्त शासन प्रणालियों के लिए शक्ति और सत्ता का समन्वय आवश्यक है। यह शर्त गणतन्त्र के ऊपर भी लागू होती है। विवेक चाहे कितना भी हो, वह किसी शासन को उस समय तक संचालित नहीं रख सकता जब तक कि राजनीतिक शक्ति और आर्थिक शक्ति एक साथ न रहें, लेकिन यह भी सही है कि शासन किसी आर्थिक व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम नहीं होता। अरस्तू तथा मैकियावेली की भांति हैरिंगटन का भी यह विचार था कि राजनीति एक कला है। लेकिन, यदि गणराज्य का ठीक से संगठन किया जाए, तो वह राजतन्त्र की अपेक्षा अधिक वास्तविक रूप से विधियों का शासन है तथा अधिक स्थायी है। निरंकुश राजतन्त्र मनुष्यों का शासन है और सामन्ती राजतन्त्र राजा तथा कुलीनों की प्रतियोगिता का रंगमंच है। गणतन्त्र ही एकमात्र ऐसी शासन-प्रणाली है जिसके अन्तर्गत स्वतन्त्रता को प्रचुर अवकाश रहता है और सच्चे राजनेतृत्व तथा सार्वजनिक

भावना को फलने-फूलने का अवसर मिलता है। हैरिंगटन का विश्वास था कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी नहीं, बल्कि सामाजिक होते हैं। लेकिन, वह स्वार्थहीनता के ऊपर कम-से कम दबाव डालना चाहता था। वास्तविक राज्यशिल्प व्यक्तिगत स्वार्थ और सार्वजनिक स्वार्थ के बीच एकता स्थापित करता है। यह कार्य लोक-शासन के अन्तर्गत सब से सुकर होता है। हैरिंगटन इस प्रकार के राज्य को "समतायुक्त गणराज्य" कहता है। इस शासन प्रणाली में जो लोग राजद्रोही होना चाहते हैं, उनके पास कोई शक्ति नहीं होती और जिन लोगों के पास शक्ति होती है, वे राजद्रोही नहीं होना चाहते। जहां तक पतन के आन्तरिक कारणों का सम्बन्ध है, ऐसे शासन को स्थायी होना चाहिए।

हैरिंगटन के राजनीतिक दर्शन के शेष भाग में उन साधनों की चर्चा की गई है जिनके द्वारा इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। तर्क की दृष्टि से प्रत्येक शासन प्रणाली का वास्तविक उद्देश्य यह होना चाहिए कि भूमि के वितरण में कोई गम्भीर परिवर्तन न होने पाए। गणतन्त्र में उद्देश्य यह रहना चाहिए कि भूमि केवल थोड़े से हाथों में केन्द्रित न होने पाए। इसीलिए, हैरिंगटन ने अपनी "कृषि विधि" को बहुत महत्त्व दिया है। इस विधि का अभिप्राय यह है कि बड़ी-बड़ी राजसम्पदाओं को ऐसे छोटे-छोटे अनेक हिस्सों में बांट दिया जाए जिनकी वार्षिक आय २००० पौंड से अधिक न हो। हैरिंगटन उस विधि को जिसके द्वारा सम्पत्ति सब से बड़े पुत्र उत्तराधिकारी को प्राप्त होती है, राजनीतिक समानता और न्याय के सिद्धान्त के प्रतिकूल समझता था।

"मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि हम अपने बच्चों के साथ प्रायः वही व्यवहार करते हैं जो अपने कुत्तों के साथ करते हैं। हम एक बच्चे को तो खूब लाड़-प्यार करते हैं, उसे गोदी में बैठाते हैं, उसे अच्छे-से-अच्छा खिलाते हैं और पांच को पानी में डुबा देते हैं।"[1]

तथापि, हैरिंगटन का उद्देश्य भावपरक अन्याय को दूर करना नहीं, प्रत्युत् सामाजिक खतरे को दूर करना था। हैरिंगटन ने जिस कृषि विधि का सुझाव दिया था, उसके अन्तर्गत यदि उत्तराधिकारी एक है, तो वह सम्पूर्ण सम्पत्ति का, चाहे उसका कैसा भी आकार क्यों न हो, प्राप्त कर सकता है। यदि सम्पत्ति अधिकतम से कम है, तब भी वह एक ही उत्तराधिकारी को दी जा सकती है। सम्पत्ति का विभाजन तभी करना है, जबकि वह काफी अधिक हो और उसके अनेक उत्तराधिकारी हों। हैरिंगटन यह नहीं चाहता था कि इंगलैण्ड में भूमि के ऊपर जनता का नियंत्रण बढ़ जाए। वह यथास्थिति को बनाए रखने के पक्ष में था।

"हम उस चीज के लिए तर्क नहीं करते जो हम भविष्य में चाहेंगे, प्रत्युत् हम उस चीज के लिए तर्क करते हैं जो हमारे पास पहले से है।"[2]

---

1. *Oceana*, p 94
2. *Ibid*, p 93.

उसका अनुमान था कि इंगलैण्ड को सुरक्षित गणराज्य बनाने के लिए पाँच हजार सम्पत्तिशाली काफी हैं।

यह कहना कठिन है कि हैरिंगटन अपने लोक-शासन को कितने व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित करना चाहता था। वह नागरिकता केवल उन लोगों तक सीमित रखना चाहता था जो जीविका के अपने स्वतन्त्र साधनों पर निर्भर रहते हैं। इनमें सेवक और मजदूर शामिल नहीं थे। फिर भी, हैरिंगटन ने शासन की जो रूपरेखा प्रस्तुत की थी, उसमें तीस वर्ष से ऊपर की आयु के नागरिकों की संख्या ५ लाख से ऊपर पहुंचती थी। यदि हैरिंगटन को अपने समय के इंगलैंड की जनसंख्या का ठीक अनुमान होता, तो नागरिकता से वंचित वर्ग बहुत अल्प होते। कुछ भी हो, उसकी योजना यह नहीं थी कि राजनीतिक अधिकारों को केवल भू स्वामियों तक ही सीमित रखा जाए। उसने सीनेट की सदस्यता के लिए थोड़ी सी सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता को ही आवश्यक ठहराया था। उसने यह भी कहा था कि सीनेट के सदस्यों को वेतन दिया जाना चाहिए जिससे कि गरीब आदमी भी उसकी सदस्यता प्राप्त कर सकें। दूसरी ओर, उसने यह भी मान लिया था कि गणराज्य का नेतृत्व कुलीनों के हाथों में रहेगा।

"यदि किसी व्यक्ति ने गणराज्य की स्थापना की है, तो वह पहले सज्जन था।"[1]

जब तक सज्जन लोग इतने अधिक होते हैं कि वे एक कुलीन वर्ग का निर्माण कर सकते हैं, तब तक वे गणराज्य के लिए किसी प्रकार का खतरा नहीं होते, प्रत्युत् उसके जीवन-आधार होते हैं। हैरिंगटन ने निर्वाचन के द्वारा मजिस्ट्रेटों के चुनाव का समर्थन किया है। इस पद्धति से "स्वाभाविक कुलीन" मजिस्ट्रेट हो सकते हैं। ये लोग सहज रूप से प्रतिभाशाली भी होते हैं। हैरिंगटन इस विचार से सहमत नहीं था कि लोक-शासन आर्थिक मतभेदों को दूर करने का एक साधन होगा।

गणराज्य का संगठन

(The Structure of the Commonwealth)

जब गणराज्य का कृषिविधि के अनुसार संगठन हो जाता है, तब शासन को लोकेच्छा के प्रति उत्तरदायी बनाए रखने के तीन साधन हैं। पहला उपाय तो यह है कि शासकों को यह बारी-बारी से दिए जायें। हैरिंगटन ने इसकी रक्त-संचार से तुलना की है। शासकों को अल्पकाल के लिए, प्रायः एक वर्ष के लिए निर्वाचित होना चाहिए और उनका तुरन्त दुबारा निर्वाचन नहीं होना चाहिए। दूसरे, निर्वाचक अपने शासकों का चुनाव स्वतन्त्र रीति से कर सकें, इसके लिए निर्वाचन मतपत्र द्वारा होना चाहिए। हैरिंगटन ने लिखा है कि उसने वेनिस में गुप्त मतदान पद्धति को देखा था। उसने इस

1. *Ibid.* p 35

पद्धति के अनुसार ही इंगलैण्ड में भी गुप्त मत-पद्धति के अपनाने का सुझाव दिया है। तीसरे, उसने स्वतन्त्र शासन के निर्माण के लिए शक्तियों के पृथक्करण को आवश्यक समझा था। हैरिंगटन ने राजनीतिक शक्तियों का जो विभाजन प्रस्तुत किया है, वह माटेस्क्यू के विभाजन से पूरी तरह मेल नहीं खाता। हैरिंगटन का शक्ति-विभाजन उसके नगर-राज्य विषयक अध्ययन पर आधारित है। वह विमर्शात्मक अथवा नीति-निर्माण विषयक कार्य को मूलतः कुलीनतन्त्रात्मक समझता था—इस अर्थ में कि यह कार्य केवल उन थोड़े से व्यक्तियों को ही करना चाहिए जिन्हें अनुभव तथा विशेष ज्ञान हो। प्रस्तावित नीति को स्वीकार या अस्वीकार करने का कार्य जनता के हाथ में रहना चाहिए। इस कार्य के लिए एक विशाल लोक-सभा का निर्वाचन होना चाहिए जिसे विमर्श करने की कोई शक्ति न रहे। गृह-युद्ध के पहले इंगलैण्ड का जो अनुभव रहा था, उसको ध्यान में रखते हुए उसने न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के बारे में कुछ नहीं कहा है। फिर भी, यह आश्चर्यजनक है।

कृषिविधि, पदों का बारी-बारी से धारण करना, मत-पद्धति, और शक्ति-विभाजन, हैरिंगटन के "समतायुक्त गणराज्य" के यही सिद्धान्त हैं। उसका विचार है कि इस गणराज्य में राजद्रोह कभी नहीं हो सकेगा। उसने निम्न शब्दों में इसकी परिभाषा प्रस्तुत की है

"समतायुक्त गणराज्य वह शासन है जो समतायुक्त कृषिजीवियों के ऊपर आधारित होता है। इस शासन के तीन अंग होते हैं। सीनेट विवाद करता है और प्रस्ताव करता है, जनता निर्णय करती है और मजिस्ट्रेट मतपत्र द्वारा जनता के मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होकर बारी-बारी से इस नीति को कार्यान्वित करते हैं।"[1]

हैरिंगटन केवल सिद्धान्तों के निरूपण से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने अपने सिद्धान्तों के विस्तृत प्रयोग के आधार पर इंगलैण्ड के लिए एक संविधान की रचना की। यह संविधान एक प्रकार का कल्पना-राज्य बन गया। उसने बालोचित उत्साह से अपने संविधान का विस्तृत निरूपण किया। उसने यहां तक लिखा है कि सभाओं का किन-किन तारीखों को किस समय सम्मेलन हो तथा पदाधिकारी किन कपड़ों को पहनें। वास्तव में, इन काल्पनिक विवरणों का उसके दार्शनिक सिद्धान्तों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। उसे अपनी राजनीतिक व्यवस्था की सुधारना के बारे में पूरा यकीन था और इस दृष्टि से वह अपने अन्य समसामयिकों से बहुत भिन्न नहीं था। यह आश्चर्यजनक है कि जिस व्यक्ति ने राजनीतिक शक्ति के आर्थिक कारणों पर इतना जोर दिया हो वह व्यवस्था पर निर्भर होता।

हैरिंगटन के संविधान ने सम्पूर्ण जनता को दो भागों में बांटा है—फ्रीमैन जो नागरिक हैं और सेवक। इसके बाद आयु के आधार पर नागरिकों के दो मुख्य भेद किए गए हैं। तीस वर्ष से कम आयु के व्यक्ति सक्रिय सैनिक वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। तीन

1. *Oceana*, p. 33

वर्ष से ऊपर की आयु के व्यक्ति सैनिक रिजर्व और नागरिक समुदाय के अन्तर्गत हैं। सैनिक वर्ग को धन के अनुसार घुड़सवारों तथा पैदल सैनिकों के बीच विभाजित किया गया है। ये लोग मुख्यतः कुलीनों और साधारण जनता के तत्स्थानी हैं। शासन की योजना विस्तृत परोक्ष प्रतिनिधित्व की है। सब से छोटी स्थानीय इकाई पैरिश है। इसके सभी वरिष्ठ सदस्य अपनी जनसंख्या के पांचवें भाग का अगली बृहत्तर इकाई के लिए प्रतिनिधि के रूप में चुनते हैं। पैरिश के एक समुदाय में कुल मिलाकर सौ प्रतिनिधि होते हैं। बीस शतक मिल कर एक 'जन' का निर्माण करते हैं। पैरिश, शतक और 'जन' ये सब मिल कर स्थानीय मजिस्ट्रेटों का चुनते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक 'जन' प्रति वर्ष सीनेट के लिए दो नाइटों को तथा 'प्रेरोगेटिव ट्राइब' के लिए सात प्रतिनिधियों (तीन नाइट और चार साधारण जन) को चुनता है। प्रेरोगेटिव ट्राइब" "लोक" के रूप में विधि का निर्माण करता है। इन संस्थाओं का कार्यकाल तीन वर्ष है। चूंकि पचास "जन" हैं, इसलिए सीनेट में तीन सौ सदस्य हैं। इन सदस्यों में से सौ सदस्य प्रति वर्ष अवकाश ग्रहण कर लेते हैं। "लोक" में दस सौ पचास सदस्य हैं। इनमें से तीन सौ पचास सदस्य प्रति वर्ष अवकाश ग्रहण करते हैं। सीनेट मुख्य मजिस्ट्रेटों को तथा चार परिषदों को निर्वाचित करता है। ये परिषदें क्रमशः राज्य, युद्ध धर्म और वाणिज्य से सम्बन्धित होती हैं। राज्य का मुख्य कार्य इन चार परिषदों के माध्यम से ही चलता है। शक्ति-विभाजन के अनुसार सीनेट का मुख्य कार्य वाद-विवाद करना है। जब सीनेट विधि अथवा नीति का निर्माण कर चुकता है तब उसके प्रस्तावों को छाप कर "लोक" अथवा 'प्रेरोगेटिव ट्राइब" के पास भेज दिया जाता है। यह इन प्रस्तावों को स्वीकार या अस्वीकार करता है अथवा इन्हें और आगे के विचार के लिए परिषद् के पास वापस भेज देता है। लेकिन वह अपने आप उन प्रस्तावों पर वाद-विवाद नहीं कर सकता और न उन्हें संशोधित ही कर सकता है।

हैरिंगटन की शासन-योजना में स्पष्ट रूप से तो नहीं, लेकिन निहित रूप से ये सांविधानिक विचार आ जाते हैं जो सत्रहवीं शताब्दी में काफी प्रचलित थे। वे विचार हैं—शासन का एक लिखित प्रलेख, संविधान-निर्माण के लिए एक असाधारण विधान सभा और सविधिक तथा सांविधानिक विधि में अन्तर। उसने अपना यह ग्रन्थ १६५६ में लिखा था और उसे क्रॉमवेल को सम्बोधित किया था। उसने क्रॉमवेल को एक पौराणिक विधि-निर्माता का गौरव प्रदान किया है। उसने क्रॉमवेल से प्रार्थना की थी कि वह नए शासन का निर्माण करने के लिए राजमर्मज्ञों तथा विद्वानों की एक परिषद् की रचना करे और प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्रस्ताव इस परिषद् के पास पहुंचाने की स्वतन्त्रता रहे। जहां संविधान एक बार बन चुकता, वह धाराओं द्वारा प्रख्यापित होता। प्रत्येक धारा शासन के किसी न किसी महत्त्वपूर्ण अंग का विवेचन करती। हैरिंगटन ने अपने संविधान के संशोधन का कहीं विवेचन नहीं किया है। तथापि, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह उसके उपबन्धों और विधानमंडल के साधारण अधिनियमों के बीच भेद करना चाहता था।

जहा तक धार्मिक स्वतन्त्रता की जटिल समस्या का सम्बन्ध है, हैरिंगटन ने प्रत्येक चर्च को स्वतन्त्र रखने की पद्धति (congregationalism) और राष्ट्रीय चर्च के बीच समझौता करने का प्रयास किया। वह किसी न-किसी प्रकार के राष्ट्रीय धार्मिक सस्थान को आवश्यक समझता था—पादरियो को उचित वेतन देने के लिए और राष्ट्रीय चेतना के अनुसार उपासना के रूपो को कायम रखने के लिए। वह बल-प्रयोग के बिल्कुल विरुद्ध था। उसके अनुसार "बल-प्रयोग उस घृणित प्रथा का कारण था जिसके अनुसार लोग धर्म के नाम पर एक दूसरे से लडते थ और शासक को उसके ऊपर कोई क्षेत्राधिकार देने के लिए प्रस्तुत नही थ। यह घृणित प्रथा पहले समार मे प्रचलित नही थी।"[1] इसलिए उसका विश्वास था कि प्रत्येक चर्च का विधि द्वारा निर्धारित विषयो का छोड कर अपने पादरियो और उपासना-रूपो को चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। ज्यू यहूदी और कैथोलिक इस सम्बन्ध मे अपवाद थे। इसके साथ ही वह राष्ट्रीय विद्यालयो की स्थापना करना चाहता था। ये विद्यालय सार्वजनिक व्यय से चलने और निर्धन विद्यार्थियो के लिए निःशुल्क होते। नौ से पन्द्रह वर्ष तक की आयु के बच्चो के लिए इन विद्यालयो म पढना आवश्यक होता।

यद्यपि हैरिंगटन का गणराज्य काल्पनिक था, लेकिन उसने उसमे ऐसी अनेक योजनाओ का समावेश किया जो आगे चल कर उदारवादी शासन की आवश्यक अंग मानी जाने लगी। लिखित सविधान, मजिस्ट्रेटो का निर्वाचन, मतपत्र का प्रयोग, अल्प कार्यकाल, पदो का प्रत्यावर्तन (rotation), शक्तियो का विभाजन, धार्मिक स्वतन्त्रता की गारटिया और सार्वजनिक व्यय पर लोक शिक्षा, ये सारी बातें इसे स्पष्ट कर देती हैं। फिर भी, हैरिंगटन लोकतन्त्रवादी नही था—न सिद्धान्त मे और न प्रयोजन मे। उसका विश्वास था कि गणराज्य का नेतृत्व भूमिधर कुलीनो के ही हाथ मे सुरक्षित रह सकता है। वह इस वर्ग को शक्ति और क्षमता दोनो की दृष्टि से श्रेष्ठ मानता था। उसकी अर्थ-व्यवस्था मे लेवलर्स का एक लोकतन्त्रात्मक आदर्श नही था। इस आदर्श के अनुसार राजनीतिक अधिकार सम्पत्तिगत अधिकारो से पृथक् रहने चाहिए। हैरिंगटन का राजनीतिक आदर्श कुलीनो के तत्त्वावधान मे स्थापित प्राचीन गणराज्य था। इस दृष्टि से वह अपने समय के समस्त गणतन्त्रवादियो से सहमत था। लेकिन, इस युग का वही एकमात्र ऐसा विचारक था जिसने बताया कि शासन-प्रणालिया धन के वितरण पर आधारित होती हैं। गृह-युद्ध के कारणो की हैरिंगटन ने जो व्याख्या दी थी, वह सामाजिक चिंतन का श्रेष्ठ उदाहरण थी। हैरिंगटन का यह कहना सही था कि भूमिधर कुलीनो का उत्थान युग का सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्य था। लेकिन, अगर हैरिंगटन इगलैण्ड की वाणिज्य-व्यवस्था को ज्यादा अच्छी तरह समझता, तो उसे ज्ञात हो जाता कि जोतो को बराबर-बराबर बाट देने से भूमिधर कुलीनो की शक्ति स्थायी नही हो सकती थी। वाणिज्य का विस्तार आर्थिक समानता से मेल नही खाता

1. *Oceana*, p. 38

था। यदि वह इस बात को समझ लेता, तब या तो वह धन के ऊपर राजनीतिक नियन्त्रण रखने के अधिक उग्र उपायों पर विचार करता या वह लोकशासन सम्बन्धी अपनी सम्पूर्ण सकल्पना को ही बदलता।

जान मिल्टन

(John Milton)

जॉन मिल्टन और अल्गेरनन सिडनी का गणतन्त्रवाद हैरिंगटन के गणतन्त्रवाद से कम मौलिक और कम महत्त्वपूर्ण था। इन तीनों व्यक्तियों का एक धरातल पर प्रतिष्ठित करने वाला समान आधार यह था कि वे प्राचीन यूनानी और रोमी युग के प्रशसक थे और कुलीनतत्रात्मक गणराज्य को आदर्श रूप मे चित्रित करना चाहते थे। हैरिंगटन को राजनीतिक इतिहास और तुलनात्मक सस्थाओ तथा राजनीतिक परिवर्तन के सामाजिक कारणो का जितना ज्ञान था, मिल्टन और सिडनी उससे अपरिचित थे। उनकी दृष्टि मे गणतन्त्रवाद एक नैतिक आदर्श था। यह आदर्श प्राकृतिक अधिकार और न्याय के भावपरक आदर्श पर टिका हुआ था। इनमे से किसी ने सत्रहवी शताब्दी की राजनीतिक विचारधारा मे कोई योग नही दिया। मिल्टन की पुस्तिकाए मुख्य रूप से अपनी साहित्यिक शैली के कारण विख्यात है। लगन एव श्रेष्ठ राजनीतिक आदर्श का बड़े मुखर ढग से वर्णन किया है। सिडनी की पुस्तक बड़ी अव्यवस्थित और योजनाहीन है। यदि वह इगलैण्ड मे राजनीतिक चिंतन के विशिष्ट अवसान काल मे न लिखी जाती और यदि वह जैफरी (Jeffrey) के एक प्रसिद्धतम न्यायिक अत्याचार का अवसर न बनती, तो उसकी ओर शायद किसी का ध्यान न जाता।

मिल्टन की पुस्तिकाओ मे सब से प्रसिद्ध एरिओपेजिटिका (१६४४) है। इस पुस्तिका मे उसने प्रकाशन की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। जिस समय इस ग्रन्थ की रचना हुई थी, उस समय उसकी ओर विशेष ध्यान नही दिया गया था।[1] लेकिन आगे चल कर यह पुस्तक बड़ी प्रसिद्ध हुई और इसकी गणना जॉन स्टुअर्ट मिल की 'ऑन लिबर्टी' (On Liberty) पुस्तक के साथ होने लगी। अब ये दोनो ही पुस्तकें अग्रेजी भाषा मे स्वतन्त्र भाषण का समर्थन करने वाली सर्वश्रेष्ठ पुस्तकें मानी जाती है। मिल्टन ने बौद्धिक उदारवाद के विश्वास को बड़े निर्णायक ढग से व्यक्त किया है। उसने लिखा है कि जब सत्य और असत्य दोनो का विवेचन और *अनुसधान हो, तब असत्य के ऊपर सत्य की ही विजय होगी*

---

1 See *Tracts on Liberty in the Puritan Revolution*, 1638-1647 ed. William Haller, Vol. I Appendix B

"जब सिद्धान्तवादिता की समस्त हवाएं पृथ्वी पर अबाध गति से चलती हों और सत्य अकेला मैदान में खड़ा हो, तब भी हमें उसकी शक्ति को कम नहीं आंकना चाहिए। सत्य और असत्य में मुठभेड़ होने दीजिए। स्वतन्त्र और मुक्त संघर्ष में सत्य की कभी पराजय नहीं होती'''हर कोई इस बात को जानता है कि शक्तिशालियों में ईश्वर के उपरान्त सत्य का ही स्थान है। सत्य को अपनी विजय के लिए नीतियों, चालाकियों अथवा अनुज्ञाओं की आवश्यकता नहीं होती। ये तो असत्य के हथियार हैं। जिनका वह सत्य की शक्ति के खिलाफ प्रयोग करता है।"[1]

इसलिए, मिल्टन वह कार्य कर सका जो उसके युग के बहुत कम व्यक्ति कर सके थे। वह विविध सम्प्रदायों और दलों को नवीन सत्य और नवीन स्वतन्त्रता की खोज में संलग्न प्रयोग समझता था। उसने धार्मिक सहिष्णुता का प्रतिपादन किया था। लेकिन, उसके इस प्रतिपादन पर उसके युग तथा दल के पक्षपात का प्रभाव था। यह सहिष्णुता रोमन कैथालिकों के ऊपर लागू नहीं होती थी क्योंकि उसके विचार से वे मूर्तिपूजक थे और पोप के अतिरिक्त अन्य किसी शासक के प्रति निष्ठावान् नहीं रह सकते थे। इन परिसीमा के बावजूद एरोपैजिटिका में सेंसरशिप की मूर्खताओं और निष्फलताओं के विरोध में लिखे गए कुछ सर्वश्रेष्ठ तर्क मौजूद हैं।

१६४९ में मिल्टन कौंसिल ऑफ स्टेट फार दि कामनवेल्थ का सचिव नियुक्त हुआ। उसकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार इस पद पर उसकी नियुक्ति थी। टेन्योर ऑफ किंग्स एण्ड मैजिस्ट्रेट्स नामक अपनी पुस्तक में उसने चार्ल्स के वध का समर्थन किया था। प्रेसबिटेरियन इस वध के विरुद्ध थे और उनका विचार था कि क्रांति बहुत दूर तक जा चुकी है। १६४९ में उसने एकोनोक्लास्टेस नामक ग्रन्थ लिखा। इसके बाद १६५१ में उसने, डिफेंसियो प्रो पोपुलो एन्लिकनो नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ उसने साल्मेसियस ऑफ लीडेन के जवाब में लिखा था। साल्मेसियस ने राजतन्त्रवादियों की ओर से राजा के समर्थन में एक ग्रन्थ लिखा था। मिल्टन की रचनाओं ने एक ऐसे अत्याचारी शासक के प्राणदण्ड को जिसे प्राकृतिक विधि, धर्मशास्त्र, और इंग्लैण्ड की विधि ने दोषी ठहराया हो, उचित ठहराया। उसने अपने मत को इतनी शक्तिमत्ता से उपस्थित किया कि गणराज्य के रक्षक के रूप में उसकी पुस्तक की क्रॉमवेल की सेवा के साथ तुलना की जाने लगी। क्रान्ति के उत्साहपूर्ण आदर्शवाद का उससे बढ़ कर कोई वर्णन नहीं कर सकता था।

"यहां मैं अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में अपने को बधाई दिए बिना नहीं रह सकता। इन पूर्वजों ने इस राज्य की प्राचीन रोमनों अथवा ग्रेसियनों की-सी बुद्धिमत्ता और स्वतन्त्रता के साथ स्थापना की थी। यदि इन पूर्वजों को हमारे कार्य-व्यापारों की जानकारी होगी, तो वे भी अपनी संतति के सम्बन्ध में अपने को बधाई दिए बिना नहीं रह सकते। जब उनकी सन्तति पर दासता के जुए को कस दिया गया था, तब उसने

1 *Works*, ed by F. A Patterson, Vol IV, pp 347 f

बुद्धिमत्ता और साहस के साथ राजा की उग्र निरंकुशता से राज्य का पुनरुद्धार किया, उस राज्य का जो इतनी अधिक स्वतन्त्रता पर आधारित है।"[1]

मिल्टन की मुख्य युक्ति यह है कि उसने इस प्राचीन सिद्धान्त का आग्रह किया कि अत्याचारी शासक के विरोध में विद्रोह करना प्राकृतिक अधिकार है। 'टेन्योर' में उसने कहा है कि मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होते हैं और वे एक-दूसरे की रक्षा के लिए सरकारों की स्थापना करते हैं। सार्वजनिक सत्ता प्रत्येक मनुष्य के अपनी रक्षा अपने आप करने के अधिकार का स्थान ग्रहण कर लेती है। विधि की स्थापना सार्वजनिक सत्ता को नियन्त्रित और मर्यादित करने के लिए होती है। मजिस्ट्रेट अपनी शक्ति सार्वजनिक हित के लिए जनता से ही प्राप्त करता है। इसलिए, अत्याचारी शासन के विरोध में समान हित की रक्षा करने का अधिकार सदैव ही जनता के पास रहता है।

"राजाओं और मजिस्ट्रेटों की शक्ति जनता से प्राप्त होती है। उसे हस्तान्तरित किया जा सकता है और वह एक अमानत के रूप में उन्हें सौंपी जाती है। उन्हें यह शक्ति समान हित के लिए दी जाती है। मूल शक्ति जनता में ही बनी रहती है और वह जनता से उसके जन्मसिद्ध प्राकृतिक अधिकार का उल्लंघन किए बिना नहीं ली जा सकती।"[2]

राजा के पास कोई अमिट अधिकार नहीं होता। जनता जितनी बार ठीक समझे, उसे अपदस्थ कर सकती है। अत्याचारी शासक को, चाहे तो वह बलपूर्वक गद्दी पर अधिकार करने वाला हो या वैध शासक हो, मार डालना विधिसंगत है। मिल्टन ने अपनी युक्ति के समर्थन में नॉक्स (Knox) और बुकानन (Buchanan) जैसे प्रोटेस्टैंट सुधारकों के अनेक उद्धरण दिए हैं।

धार्मिक प्रश्न के सम्बन्ध में मिल्टन के विचार सब से उन्नत इंडेपेंडेंटों के विचार थे।[3] उसके विचार से धार्मिक भ्रष्टाचार के दो ही कारण थे—धार्मिक विश्वासों में बाध्यता और पादरियों को सार्वजनिक राजस्व से सहायता। उसने न केवल प्रोटेस्टेंटों के इस सिद्धान्त को ही स्वीकार किया कि धर्मशास्त्र विश्वास का नियम है, बल्कि उसने इसकी व्यापकतम व्याख्या की—प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप ही धर्मशास्त्र की व्याख्या करनी चाहिए। कोई व्यक्ति यह नहीं जान सकता कि उसके विचार बिल्कुल सही हैं। इसलिए, शासक अथवा चर्च को किसी विशेष व्याख्या के अनुसार विश्वास को बलपूर्वक आरोपित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। व्यक्ति की अन्तरात्मा ही निर्णायक

---

1 Defensio prima, ch viii, English transl by Wolff *Works* Vol VII, p 451

2 *Works*, Vol V, p 10

3 *A Treatise of Civil Powers in Ecclesiastical Causes* and *Considerations touching the likeliest Means to Remove Hirelings out of the Church* ये दोनों ही ग्रंथ १६५९ में प्रकाशित हुए थे।

है और कोई भी सच्चा विश्वासी नास्तिक नहीं है। चर्च का सम्बन्ध आध्यात्मिक मनुष्य से है। आध्यात्मिक मनुष्य को बल द्वारा प्रबुद्ध नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत राज्य का सम्बन्ध मनुष्य के बाहरी कार्यों से ही है। ये दोनों संस्थाएं स्वरूप और प्रयोजन की दृष्टि से अलग-अलग हैं और उनमें भेद रहना चाहिए। यदि पादरी लोग उन लोगों से सहायता नहीं लेते जिन्हें उनकी शिक्षा से लाभ पहुंचता है, प्रत्युत शासन से सहायता की आशा रखते हैं, तो इसका स्वाभाविक परिणाम भ्रष्टाचार हुआ है। इसलिए, चर्च और राज्य दो पृथक् संस्थाएं हैं जिनके न तो सदस्य ही एक हैं और न प्रयोजन ही एक है। यह पृथकता सिद्धान्त और व्यवहार में उस पृथकता से भिन्न थी जिसके लिए हुकर ने प्रेसबिटेरियनों और कैथोलिकों की आलोचना की थी। मिल्टन का निष्कर्ष प्रायः वही था जो बीस वर्ष पूर्व रोगर विलियम्स (Roger Williams) का था। रोगर विलियम्स मैसाचुसेट्स के धर्मतन्त्र के वाद-विवाद में इस निष्कर्ष पर पहुंचा था। राजतन्त्र की पुनस्स्थापना (Restoration) के समय यह आदर्श इंगलैंड में व्यावहारिक नहीं था।

मिल्टन के गणतन्त्रवाद के मूल में प्लेटो का एक अस्पष्ट सिद्धान्त भी छिपा हुआ था—सत्ता का वास्तविक औचित्य नैतिक और बौद्धिक उन्नतता है। "प्रकृति चाहती है कि बुद्धिमान व्यक्ति मूर्खों पर शासन करें।" इसलिए, आनुवंशिक शक्ति अस्वाभाविक है। मिल्टन ने राजतन्त्र की पुनस्थापना के कुछ समय पहले ही १६६० में *The Ready and Easy Way to establish a Free Commonwealth* नामक एक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में उसने यह सन्देह प्रकट किया है कि कहीं ईसा मसीह ने तो "राजपद के ऊपर सज्जनता की छाप अंकित नहीं कर दी है।" जिस समय इस ग्रन्थ की रचना हुई थी, मिल्टन यह जरूर जानता होगा कि राजतन्त्र पुनः स्थापित होकर रहेगा। इसलिए, इस पुस्तक में राजतन्त्र के विरोध में एक अन्तिम निराशाजनक क्रन्दन ध्वनित होता है। मिल्टन को क्रान्ति से बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। राजतन्त्र की पुनस्स्थापना ने उन समस्त आशाओं को धूल धूसरित कर दिया।

"कोई राष्ट्र इतना साहसी और शूरवीर हो कि वह युद्धक्षेत्र में अपनी स्वतन्त्रता को अर्जित कर ले, लेकिन उसे एक बार अर्जित करने के बाद इतना हृदयहीन और बुद्धिहीन हो जाए कि यह न समझ सके कि उसका कैसे प्रयोग किया जाए, उसे कैसे महत्त्व दिया जाए, उसका क्या किया जाए अथवा खुद कैसे आचरण किया जाए। युद्ध की सफलता और अत्याचार के अन्त के दस-बारह वर्ष बाद पुनः उसी जुए में अपनी गर्दन जोती जाए, जिसे इतने परिश्रम के बाद उतार फेंका गया था—यदि हमारे ऊपर यह दुर्भाग्य आ पड़ा, तो वह एक ऐसा दुर्भाग्य होगा जो अभी तक किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र के ऊपर न पड़ा हो।"[1]

1. *Works*, ed. by Mitford. Vol V, p. 431.

मिल्टन की यह पुस्तिका रचनात्मक राजनीति के क्षेत्र में उसके मुख्य प्रयास को प्रकट कर देती है। उसके आदर्शों की यथार्थता के साथ सगति न बैठ सकी। उसकी "तत्पर और सुगम पद्धति" पूरी तरह से असभव थी। उसकी योजना सिर्फ यह थी कि लोगों को अपने पक्षपात तथा स्वार्थ दूर कर के राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को एक शासन परिषद् का सदस्य चुनना चाहिए। परिषद् के सदस्यों को परिषद् की सदस्यता आजीवन प्राप्त होनी चाहिए। पुनश्च 'सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों' के प्रति विश्वास और स्थायी और अस्थायी परिषद् को चुनने को निर्वाचकों की योग्यता में अविश्वास का अद्भुत मिश्रण है। मिल्टन ने यह मान लिया है कि जिस एक निर्वाचन को वह चाहता था, वह तो ठीक रहेगा और शेष सारे निर्वाचन जिन्हें वह नहीं चाहता था, खराब हो जायेंगे। मिल्टन का व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रति अदम्य उत्साह था, लेकिन उसमें जनसाधारण की बुद्धिमत्ता और सद्भावना के प्रति अरुचि थी। वह स्वभाव से ही अभिजात था और ससदों के प्रति उसे उतनी ही घृणा थी जितनी की राजाओं के प्रति। वह इस बात को नहीं समझ सका कि यदि हम लोगों को शासन में भाग देने के लिए तैयार नहीं है, तो फिर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एक अव्यावहारिक आदर्श है। उन समस्त व्यक्तियों की तरह जो क्रान्ति के आरम्भिक चरणों को सभ्यता का एक नवीन जन्म मानते हैं, वह उसके अन्तिम चरण की यथार्थताओं का सामना करने के लिए पूरी तरह तैयार नहीं था।

फिल्मर और सिडनी

(Filmer and Sidney)

एलगर्नन सिडनी का गणतन्त्रवाद सभी महत्त्वपूर्ण दृष्टियों से मिल्टन के गणतन्त्रवाद से साम्य रखता था। इगलैण्ड में १६६० में राजतन्त्र की पुन प्रतिष्ठा हो गई। इसके बाद वहा राजनीति की चर्चा बन्द सी हो गई। पिछले दो दशकों में वहा राजनीति के दो गौरव ग्रन्थों हॉब्स के लैवियाथन और हैरिंगटन के ओशेना के अतिरिक्त कई विवादास्पद पुस्तिकाएं लिखी गई थी। इस साहित्य में राजनीतिक दर्शन और इतिहास के प्राय. प्रत्येक पक्ष का विवेचन हो गया था। जब चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु आसन्न प्रतीत होने लगी, तब कैथोलिक उत्तराधिकार का प्रश्न पुन उत्पन्न हुआ। जेम्स का आनुवंशिक दावा बड़ा पुष्ट था और वह राजतन्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल था। लेकिन वह प्रोटेस्टैंटों को कुछ त्राण देगा या नहीं, इसके प्रति अधिकाश अंग्रेजों के मन में सन्देह था। जब इस प्रश्न ने उग्र रूप धारण किया, तब राजतन्त्रवादियों ने अपने पक्ष में सर रार्बर्ट फिल्मर के अद्भुत व्यक्तित्व को उपस्थित किया। फिल्मर की मृत्यु १६६३ में हो चुकी थी और अपने जीवनकाल में उसने राजतन्त्र के पक्ष में अनेक पुस्तिकाओं की रचना की थी। उसके जीवन-काल में उसकी रचनाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था, लेकिन १६७९ में इन रचनाओं को इकट्ठा करके छापा गया। १६८० में

उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति *Patriarchal or the Natural Power of Kings* पहली बार प्रकाशित हुई। यह पुस्तक बडी प्रसिद्ध रही है, क्योंकि सिडनी और लॉक ने इसका विस्तार से खण्डन किया है। सिडनी के *Discourses Concerning Government* की रचना १६८०–१६८३ के बीच हुई थी लेकिन यह ग्रन्थ १६८९ में छपा। सिडनी को १६८३ में एक षड्यन्त्र के सिलसिले में प्राण दण्ड दे दिया गया। इस अभियोग में उसके *Discourses* के निबन्ध प्रस्तुत किए गए थे। सिडनी के दोषारोप में कहा गया था कि उसने राजा के विरोध में अनेक अपशब्दों का प्रयोग किया है। उसे विधि के अधीन जनता के प्रति उत्तरदायी बताया है, और कहा है कि एक झूठे, षड्यन्त्रकारी और देशद्रोही व्यक्ति के रूप में उसे अपदस्थ किया जा सकता है।

फिल्मर की 'पेट्रियार्की' में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उसका प्रकाशन पहली बार १६८० में हुआ था। आनुवंशिक अधिकार के दावे को एक ऐसी पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया गया जो प्राय: ३० वर्ष तक एक अज्ञात पाडुलिपि के रूप में पडी रही थी और जिसमें अनेक मूर्खतापूर्ण बातों का समावेश था—इससे यह साफ प्रकट होता है कि उत्तराधिकार के प्रश्न में कोई जान नही रही थी। फिल्मर की पुस्तक जब लिखी गई थी उस समय भी वह एक असगति हो थी। इस पुस्तक में राजकीय शक्ति के दो शत्रुओं के खिलाफ शखनाद किया गया था। यह शत्रु थे—जैसुएट और कॉल्विनिस्ट। इन्होंने 'राजतन्त्र' को दो चोरो कॉल्विनिस्ट और जैसुएटो के बीच सूली पर चढा दिया था। इसने 'राजतन्त्र' के सिद्धान्तों—दैवी अधिकार और निष्क्रिय आज्ञा पालन का कर्तव्य—का प्रतिपादन किया, लेकिन फिल्मर ने यह भयकर गलती की कि वह लडाई को शत्रु के देश में ही घसीट कर ले गया। धर्मशास्त्र की सत्ता पर विश्वास करने के स्थान पर उसने यह प्रमाणित करने की कोशिश की कि राजा की शक्ति स्वाभाविक है। फिल्मर ने राजा की शक्ति की पिता की शक्ति के साथ तुलना की। सक्षेप में, आदम पहला राजा था और वर्तमान राजा उसके आसन्न उत्तराधिकारी हैं या होने चाहिए। फिल्मर के आलोचक इस तर्क की असारता को ग्रहण करने से जरा भी नही चूके। चूकि उत्तराधिकार नियम के अनुसार आजकल का एक शासक ही आदम का उत्तराधिकारी हो सकता है, और चूकि यह किसी को नही मालूम कि वह कौन है इसलिए स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रत्येक राजा की शक्ति अवैध है। सिडनी और लॉक ने जिस सतत धैर्य के साथ अपनी युक्ति का प्रतिपादन किया है उससे यह प्रकट हो जाता है कि एक मूर्खतापूर्ण निष्कर्ष भी ऐसा साधन है जिसकी कोई भी विवादी उपेक्षा नहीं कर सकता।

तथापि, फिल्मर के बारे में यह कहना सही होगा कि यदि वह पिसे हुए को ही न पीसता होता तो उसके विरोधी लाभ न उठा पाते। वे इस सिद्धान्त के कायल थे कि राजनीतिक शक्ति जनता में निहित है और सरकारो का निर्माण जनता की सहमति से ही होता है। फिल्मर ने यह बडी आसानी से सिद्ध कर दिया कि यदि इन वचनो को शब्दश:

ठीक माना जाए तो यह बिल्कुल बेहूदा है। जनता कौन है? यदि सम्पूर्ण जनता जनसंख्या है तो उसने कब समझौता किया और वह किसी चीज के सम्बन्ध मे अपनी सहमति कैसे दे सकती है और यदि हम साहित्यिक रूप से यह मान लें कि उसने सहमति दी है तो फिर गुटो की कोई सीमा कैसे रह सकती है? फिल्मर ने इन युक्तियो के प्रतिपादन मे हॉब्स से बहुत कुछ ग्रहण किया था। हॉब्स को वह बडे आदर की दृष्टि से देखता था। उसका कहना था कि जनता "बुद्धिहीन भीड" है। वह जनसंख्या की इतनी बडी इकाइया हैं। प्रतिनिधित्व, निर्वाचन और बहुमत का शासन जैसी सकल्पनाओ का केवल वैधानिक महत्त्व है। समुदाय का निर्माण करने के लिए एक प्रभु होना चाहिए। यदि फिल्मर आदम की राजकीय शक्ति के बारे मे मूर्खतापूर्ण तर्क देकर अपने को बदनाम न कर लेता, तो वह एक अप्रतिहत आलोचक सिद्ध होता। इगलैण्ड के सावैधानिक इतिहास पर उसका सिडनी और लॉक की भाति ही अधिकार था।[1] वह उन अधिकाश व्यक्तियो की भाति था जो अपने आलोचको द्वारा जाने जाते हैं। उसे जितना मूर्ख बताया गया है, वह वास्तव मे उतना मूर्ख नही था।

सिडनी का डिस्कोर्सेज को प्रकाशित करने का विचार नही था। यद्यपि बाद मे इस पुस्तक का बडा आदर हुआ, उदाहरण के लिए जैफरसन (Jefferson) इसका बडा आदर करता था, लेकिन वास्तव मे यह कोई कारगर ग्रन्थ नही था। उसने फिल्मर का अनुसरण किया है और उसकी प्रत्येक आपत्ति को एक भाषण का रूप दिया है। इस पद्धति के परिणामस्वरूप पुस्तक की सारी सुसम्बद्धता नष्ट हो गई है। यदि पुस्तक का आकार जितना है, उससे दसवा रहता, तो यह अवश्य ही एक प्रभावशाली पुस्तक सिद्ध होती। इस पुस्तक मे कोई मौलिक विचार नही है। सिडनी ने फिल्मर के विरोध मे केवल सामान्य तर्क ही दुहराए हैं। सब राष्ट्रो को अपना शासन आप करने का स्वाभाविक अधिकार है, वे जैसा ठीक समझें अपने शासको को चुन सकते है, शासन अपनी शक्ति जनता से प्राप्त करता है, उसका अस्तित्व उसकी सुरक्षा और भलाई के लिए होता है तथा वह इन साध्यो के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। सिडनी का विचार था कि "इगलैण्ड मे ससद् और जनता को राजाओ के बनाने की शक्ति है"। लेकिन, उसका यह भी विश्वास था कि ससद् की शक्ति प्रत्यायुक्त होती है तथा वह वापस भी ली जा सकती है। तथापि, सिडनी ने यह नही बताया है कि इस शक्ति को किस प्रकार वापस लिया जा सकता है।

बिशप बर्नेट के अनुसार सिडनी गणतन्त्रात्मक सिद्धान्तो के खिलाफ था। सम्भवत, गणराज्य के दिनो मे उसका यही दृष्टिकोण रहा हो। लेकिन, डिस्कोर्सेज में ऐसी कोई चीज नही है जो सावैधानिक राजतन्त्र के विरुद्ध पडती हो। उसका यह विश्वास था कि निर्वाचित प्रतिनिधि शासन के कृपापात्रो की अपेक्षा कम भ्रष्ट होते हैं। उसके कई

---

1 उसके *Freeholders Grand Inquest touching our Sovereign Lord the King and his Parliament* नामक ग्रन्थ को देखिए।

विचार मिल्टन से मिलते-जुलते थे। मिल्टन की भांति वह भी कुलीनतंत्रात्मक गणराज्य का प्रशंसक था और उसका विचार था कि निर्वाचन शासन करने के लिये सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को चुनने का साधन है। मिल्टन की भांति गणराज्य के प्रति उसके मन में भी आस्था थी और वह इसे एक ऐसी सिद्धि मानता था जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिए इगलैण्ड में यूनान और रोम की सी स्वतन्त्रता स्थापित हो गयी थी। सम्भवत, १६८० में स्टुअर्ट राजतन्त्र की पुन स्थापना के २० वर्ष पश्चात् सिडनी क्रॉमवेल के छद्म अधिनायकत्व को मिल्टन की अपेक्षा अधिक आदर्श रूप में समझ सकता था। गणतन्त्रवादी होने के नाते उसका यह विचार था कि "महामहिम सम्राट् की पुन प्रतिष्ठा के पश्चात् राजतन्त्र फ्रांस से व्यवस्थित रिश्वतखोरी और षड्यन्त्रकारिता ले आया है।" उसने लिखा है कि मनुष्यों को इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि

"क्या व्यभिचारियों, वेश्याओं, चोरों, मूर्खों, कामचोरों और इस प्रकार के अन्य दुष्टों के पास, जो स्वभावत भाड़े के टट्टू होते हैं, व्हाइटहाल, वर्साय, वेटिकन और एस्क्युरियल में वेनिस, एम्सटर्डम और स्विट्जरलैण्ड की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त नहीं है? क्या हाइड, एलिंगटन, डेन्बी, उनकी क्लीवलैण्ड और पोर्टस्माउथ, सडरलैण्ड, जेन्किन्स अथवा चिफिन्च की शान शौकत उस अवस्था में जब कि ससद् और जनता मताधिकार के द्वारा उनके ऐश्वर्य को समाप्त कर देती, इतनी अधिक हो सकती थी?"[1]

सत्रहवीं शताब्दी में इगलैण्ड के गणतन्त्रवाद का क्या महत्त्व था, इसे सक्षिप्त रूप में बताना आसान नहीं है। इसमें सिद्धान्तवादिता का बहुत आग्रह था। इसमें राजतन्त्र को समाप्त करना वास्तविक प्रश्न नहीं था। राजतन्त्र को कुछ समय के लिए केवल परिस्थितियों वश ही समाप्त किया गया था। लेकिन, गणतन्त्र का क्रॉमवेल की अधिनायकता के साथ सम्बन्ध रहा था, इसलिए वह शीघ्र ही बदनाम भी हो गया। मिल्टन और सिडनी की रचनाओं में उसके आदर्श रूप का ही चित्रण हुआ था। लेकिन, उनकी रचनाओं में लेवलर्स के दर्शन की भी शक्तिमत्ता नहीं थी। सत्रहवीं शताब्दी में गणतन्त्रवाद मुख्यत एक कुलीनतन्त्रात्मक सिद्धान्त था। उसमें, जैसा कि लेवलर्स के राजनीतिक कार्यक्रम में सुझाव दिया गया था, मानव के अधिकारों की सामान्य उद्घोषणा नहीं की गयी थी। मिल्टन और सिडनी के लिए जनता एक समुदाय थी जिसका नेतृत्व प्रबुद्ध लोग ही कर सकते थे। जनता का अभिप्राय ऐसे समान व्यक्तियों का जिनके पास अपने अन्तरग अधिकार हो, समुदाय नहीं था। क्रांति के फलस्वरूप शक्ति कुलीनों के हाथ में आ गई थी। यह व्यवस्था लोकतन्त्रात्मक होने की अपेक्षा कुलीनतन्त्रात्मक ही अधिक थी। इस व्यवस्था का गणतन्त्रवाद से कोई सम्बन्ध न था। जब राजतन्त्र ससद् पर निर्भर हो गया, तो कुलीनों की राजा के साथ सुलह हो गई। इसलिए, सत्रहवीं शताब्दी में गणतन्त्रवाद कोई मुख्य प्रश्न नहीं रहा। हैरिंगटन का आर्थिक

[1] iscourses ed by J Tol and (1763), p 275

विश्लेषण सिद्धान्तवादी नहीं था, लेकिन उसका उसके गणतन्त्रवाद से कोई युक्तिसंगत सम्बन्ध नहीं था। यदि वह गणराज्य के दिनों में न लिखता, तो वह अपने दर्शन को आसानी से सांविधानिक राजतन्त्र के अनुरूप ढाल सकता था।

Selected Bibliography

Milton and the Puritan Dilemma 1641 1660 By Arthur Barker Toronto, 1942

"*Harrington and his Influence upon American Political Institutions and Political Thought* " By T Dwight In Political Sciene Quarterly, Vol II (1887), p 1

The Life and Times of the Hon Algernon Sydney By A D Ewald, 2 Vols London 1873

The Classical Republicans By Zera S Fink Northwestern University Studies in the Humanities Evanston 1945

Political Thought in England from Bacon to Halifax By G P Gooch Second edition Cambridge 1927 London 1914, Ch V

English Democratic Ideas in the Seventeenth Century, By G P Gooch Second edition Cambridge, 1927

Milton and Wordsworth Poets and Prophets By Sir Herbert Grierson Cambridge, 1937

The Rise of Puritanism By William Haller New York, 1938

The Social and Political Ideas of some Great Thinkers of the Sixteenth and Seventeenth Centuries Ed F J C Hearnshaw London 1926 Ch VIII

The Social and Political Ideas of some English Thinkers of the Augustan Age, A D 1650 1750 Ed F J C Hearnshaw London 1928 Ch II

"A Historical Sketch of Liberty and Equality as Ideals of English Political Philosophy' By F W Maitland In *Collected*

Papers (Cambridge, 1911), Vol. I, p. I.

Milton's Contemporary Reputation, By W. R. Parker, Columbus, 1940.

Milton in the Puritan Revolution. By Don. M. Wolfe, New York, 1941

अध्याय २६

हैलीफेक्स और लॉक

(Halifax and Locke)

सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड की राजनीति के नाटक का अन्तिम अंक १६८८ की रक्तहीन क्रांति थी। यह क्रांति अकालक ही हुई थी। जेम्स द्वितीय ने इंगलैण्ड में कैथोलिक धर्म का प्रचार करने की कोशिश की। इससे इंगलैण्ड के प्रोटेस्टैंट रुष्ट हो गए। इंगलैण्ड की अधिकांश जनता प्रोटेस्टैंट थी और जेम्स द्वितीय के साथ अपने अल्पकालीन अनुभव के बाद उसे यह निश्चय करते देर न लगी कि इंगलैण्ड में प्रोटेस्टैंट धर्म की उच्चता आवश्यक है। 'गौरवपूर्ण क्रांति' बड़ी सुगमता से और तीव्रता से समाप्त हो गयी थी। इस क्रांति के निष्पादन में जेम्स की मूर्खता का काफी हाथ रहा था। इस क्रांति ने प्रोटेस्टैंट धर्म के प्रश्न को तो सुलझाया ही, और भी बहुत सी बातों का निर्णय कर दिया। इसने गणतन्त्रवाद के भूत को हमेशा के लिए दूर भगा दिया। अब किसी भी महत्वपूर्ण व्यक्ति ने गणराज्य के अनुभव को दुबारा दुहराने की चर्चा नहीं की। इंगलैण्ड को संसद् द्वारा नियन्त्रित राजतन्त्र होना था और बहुत कुछ उस पद्धति पर जैसी कि गृहयुद्ध के परिणामों ने निश्चित कर दी थी। विलियम और मेरी के उत्तराधिकार का प्रश्न निपट जाने के पश्चात् इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा कि यदि राजमुकुट को अपने जीवन की रक्षा करनी थी, तो उसे संसद् के इशारे पर चलना था। इस प्रकार, इंगलैण्ड में शासन का कुछ ऐसा रूप तय हो गया जो आगे के सौ वर्षों तक यथावत् चलता रहा। १६५० में प्रतिनिधित्व विषयक सुधार आवश्यक पड़ने लगे थे, लेकिन नया शासन इन सुधारों के बिना भी अपना काम चलाने में सफल हुआ। वास्तव में यह वर्ग-शासन का विकृत रूप था। अठारहवीं शताब्दी में इस शासन में वर्ग-शासन की कुछ निकृष्टतम बुराइयां पैदा हो गईं। फिर भी, यह प्रतिनिधिक शासन था और यूरोप के किसी भी शासन की तुलना में इसे उदारतावादी कहा जा सकता है। इस व्यवस्था के सिद्धान्तों का निरूपण अपनी पीढ़ी के दो सब से प्रबुद्ध अंग्रेजों, राजनेता जॉर्ज सेवाइल, फर्स्ट मार्क्विस ऑफ हेलीफेक्स और दार्शनिक जॉन लॉक ने किया।

यद्यपि कैथोलिक राजवंश की धमकी ने क्रांति को पैदा किया था, लेकिन व्यवस्था ने धर्म और राजनीति के सम्बन्धों के एक अध्याय को पूरा कर दिया। प्रोटेस्टैंट

रिफर्मेशन के समय से धर्म और राजनीति अभिन्न रहे थे। अब वे एक-दूसरे से अलग-अलग हो गये। चर्चों के बीच स्थायी शांति का एकमात्र व्यावहारिक आधार सहिष्णुता अधिनियम (Toleration Act) था। यद्यपि परीक्षा अधिनियम (Text Act) इंगलैण्ड के विधान की एक विचित्रता के रूप में कायम रहा, फिर भी कैथोलिकों और डिसेंटरों के साथ जो अन्याय किया जाता था, वह धार्मिक उत्पीड़न से बहुत भिन्न था। हैलीफैक्स और लॉक के राजनीतिक चिंतन में धार्मिक प्रश्नों को बहुत कम महत्त्व दिया गया है। लॉक ने अपनी जवानी में यह आशा की थी कि इंगलैण्ड का चर्च सार्वभौमिकता की नीति अपनायेगा। जब उसकी यह आशा फलीभूत नहीं हुई, तो उसने सार्वभौम सहिष्णुता और चर्च तथा राज्य के व्यावहारिक पृथक्करण का सिद्धान्त अपनाया। इंगलैण्ड में शांति के द्वारा यह आदर्श काफी हद तक प्राप्त कर लिया गया। धीरे-धीरे धर्म और राजनीति की प्राचीन समस्या का यही समाधान सर्वत्र स्वीकृत हो गया। लॉक और हैलीफैक्स दोनों का दृष्टिकोण इतना अधिक धर्मनिरपेक्ष था, कि पचास वर्ष पूर्व इसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी। इन विचारकों की हॉब्स के साथ भी तुलना हृदयग्राही है। यद्यपि हॉब्स भी पूरी तरह से धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति था, फिर भी उसने 'लेवियाथन' का आधा हिस्सा राज्य और चर्च की समस्या पर विचार करने में लगा दिया है। लॉक का व्यक्तिगत जीवन आदर्श प्युरिटन का जीवन था। उसने धर्म और राजनीति के प्रश्न पर केवल वहीं तक विचार किया, जहां तक यह प्रश्न उसकी सहिष्णुता विषयक युक्ति से सम्बन्ध रखता था। इस दृष्टि से हैलीफैक्स और लॉक दोनों सत्रहवीं शताब्दी के नहीं, प्रत्युत् अठारहवीं शताब्दी के व्यक्ति थे। धार्मिक विवाद का सामना करने के लिए उनका सब से शक्तिशाली हथियार था उदासीनता। लॉक व्यक्तिगत जीवन में बड़ा धर्मप्राण और नीतिवान् व्यक्ति होते हुए भी विवेकयुक्त तथा रूढ़िविरोधी था।

हैलीफैक्स और लॉक की राजनीतिक विचारधाराओं में भी यही विशेषताएं दृष्टिगत होती हैं। दोनों में व्यावहारिक बुद्धि का तर्क की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व है। दोनों ही सजग थे, इस बात के लिए तैयार थे कि जहां परिस्थितियां अनुमति दें, वहां रूढ़िवादी रहा जाये। दोनों ही बड़े व्यवहारपटु और समन्वयशील थे। वे बीती हुई बात के बारे में ज्यादा तर्क-वितर्क करना पसन्द नहीं करते थे। उन्हें उस बात को स्वीकार करना और उसका अधिकतम उपयोग करना ज्यादा प्रिय था। सत्रहवीं शताब्दी में हैलीफैक्स ने इस मानसिक दृष्टिकोण के प्रचार में सब से बढ़ कर योग दिया। उसे लम्बी-चौड़ी बातों से चिढ़ थी और शिष्ट-हास प्रिय था। अपनी व्यंगोक्तियों और सजगतापूर्ण चिंतन के प्रति उदासीनता के कारण वह किसी भावात्मक सिद्धान्त का निर्माण नहीं कर सका। लेकिन, वह बड़ा प्रबुद्ध व्यक्ति था और उसकी अन्तर्दृष्टि बड़ी पैनी थी। वह एक अनुभववादी और सन्देहशील व्यक्ति था। लॉक जैसे दार्शनिक के लिए सामान्यीकरण (generalization) के प्रति यह अविश्वास संभव नहीं था। लॉक भी अनुभववादी था। लेकिन, उसकी दार्शनिक तर्कबुद्धिवाद में आस्था थी।

साथ ही उसका न्याय और अन्याय के स्वत स्पष्ट सिद्धान्तों में भी विश्वास था। दुर्भाग्यवश, विरोधी दार्शनिक दृष्टिकोणों में केवल व्यवहार-बुद्धि के आधार पर ही समन्वय स्थापित नहीं किया जा सकता। इसके परिणामस्वरूप हमें लॉक के दर्शन में अनेक समझौता के दर्शन होते हैं और उसके प्रथम सिद्धान्त अस्पष्ट रह जाते हैं। यह सही है कि उसके समझौता ने प्राय आधी शताब्दी तक हर किसी का सन्तुष्ट किया और उसने अपनी व्यवहार-बुद्धि के आधार पर अंग्रेजी व्यवस्था के मूल नैतिक आदर्श अर्थात् व्यक्तिगत अधिकारों के आदर्श को अच्छी तरह से समझ लिया था। फिर भी उसके समझौतों ने आदर्श की तथा अठारहवीं शताब्दी के इंगलैण्ड में इस आदर्श की सिद्धि की अनेक त्रुटियों को काफी छिपा लिया था। परिणामत, बाद के राजनीतिक दर्शन का लॉक के साथ बड़ा जटिल सा सम्बन्ध रहा था।

हैलीफैक्स

(Halifax)

हैलीफैक्स[1] के जिज्ञासु और शकाशील मन को जिस बात ने सब से अधिक प्रभावित किया था, वह यह थी कि कुछ सामान्य सिद्धान्त ही ऐसे होते हैं जो शासन के सम्बन्ध में लागू हो सकते हैं। शासन सामान्यत एक स्थूल वस्तु है जिसमें कार्यसाधक तत्त्वों तथा समझौतों की प्रधानता होती है। उसमें शायद ही कोई बात ऐसी होती है जो छल-प्रपंचपूर्ण न हो। सिद्धान्तों की उच्च घोषणा व्यक्तिगत अथवा दलगत स्वार्थों पर परदा डालने का बहाना होती है। *"मूलभूत सिद्धान्तों" के बारे में हैलीफैक्स ने लिखा है कि वह*

"एक ऐसी कील है जिसे हर कोई उस चीज को ठोकने के काम में लाएगा जो उसके लिए हितकर है। इसका कारण यह है कि हर आदमी उस सिद्धान्त को

---

1 हैलीफैक्स की रचनाओं का सम्पादन वाल्टर रैले ने किया है। (आक्सफोर्ड, १९१२)। एच० सी० फॉक्सक्रॉफ्ट ने भी उसकी रचनाओं को प्रकाशित किया है। देखिए *Life and Letters of Sir George Savile, Bart, First Marquis of Halifax* 2 Vol (लन्दन १८९८) उसके सबसे महत्त्वपूर्ण निबन्ध निम्नलिखित हैं "The Character of a Trimmer" जो १६८५ में लिखा गया था और सब से पहले १६८८ में छपा था, "A Rough Draught of a New Model at Sea" यह १६९४ में छपा था लेकिन इसका आधार काफी पहले लिखा गया एक निबन्ध था और "The Anatomy of an Equivalent" (१६८८)। ये सब सामयिक निबन्ध थे।

अचल मानेगा जिससे उसका प्रयोजन उस समय सब से अधिक सिद्ध होता हो"।[1]

"मूल मूत सिद्धान्त एक ऐसा शब्द है जिसका जनसाधारण उसी प्रकार प्रयोग करते है जैसे कि पादरी पवित्र शब्द का। इसके द्वारा वे जिस चीज को चाहते है, पुस्ता रखते है जिससे कि और कोई उसे न छू सके।"[2]

इससे ज्यादा निश्चित बात और कोई नही है कि प्रत्येक मानवी सस्था मे और उसके साथ ही शासन के तथाकथित मूलमूत सिद्धान्तो मे परिवर्तन होता है। राजाओ का दैवी अधिकार, सम्पत्ति अथवा व्यक्तियो के अमिट अधिकार तथा वे विधिया जिन्हें रद्द या सशोधित न किया जा सके—ये सब भविष्य को बाधने की चेष्टाए हैं। वे न तो सफल हो सकती है और न उन्हें होना चाहिए। हैलीफेक्स का कहना है कि विधियो और सविधानो की रचना एक बार नही, बल्कि सैकडो बार होती है। उनका अपने आप मे कोई अर्थ नही होता। अन्त मे उनका अर्थ वही निकलता है जो उनके व्याख्याता अथवा प्रशासक अथवा निष्पादक तय कर देते हैं। कोक का हवाला देते हुए उसने लिखा है कि सामान्य विधि "बादलो मे घूमती है"। हा, उस समय की बात दूसरी है जब न्यायालय अथवा अधिशासक उसका प्रयोग करते हैं। अन्तिम विश्लेषण मे विधि और शासन उन लोगो की बुद्धिमत्ता तथा सद्भावना पर निर्भर है जो उनका सचालन करते हैं। अमूर्त भावो का कुछ महत्त्व होता है, लेकिन मूर्त स्वार्थों और शक्तियो का कहीं अधिक मल्य होता है। हैलीफेक्स का विचार था कि शासन मुख्य रूप से एक शासक वर्ग का कार्य है, लेकिन यह वर्ग बुद्धिमान् तथा सार्वजनिक भावना से परिपूर्ण होना चाहिए। इस वर्ग के मुख्य गुण यह हैं कि वह शक्ति और स्वतन्त्रता मे समझौता स्थापित कर सके, सकट काल का सामना करने के लिए अपना विस्तार कर सके, अपने को बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप ढाल सके, उसमे इतनी शक्ति हो कि वह शान्ति स्थापित कर सके लेकिन इतनी उदारता भी हो कि दमन से बचा रहे।

शासन के कार्यकर्ताओ पर इतना जोर देने के बावजूद हैलीफेक्स यह समझता था कि शासन अपनी मनमानी नही कर सकता। शासन के पीछे राष्ट्र है। राष्ट्र शासन का निर्माण करता है, शासन राष्ट्र का निर्माण नही करता। जो जनता अपने राजा से हाथ धो बैठती है, वह फिर भी जनता बनी रहती है, लेकिन जो राजा अपनी जनता से हाथ धो बैठता है, वह राजा नही रहता। प्रत्येक राष्ट्र मे एक ऐसी सर्वोच्च शक्ति होती है जो जितनी बार लोकहित के विचार से आवश्यक होता है, सविधान को बदल देती है। हैलीफेक्स राष्ट्रीय जीवन अथवा आत्मरक्षा के ऐसे सिद्धान्त की परिभाषा अथवा व्याख्या करने मे असमर्थ है। हा, यही वस्तु राजनीति के लिए कुछ हद तक मूलभूत हो सकती है।

---

1 Foxcroft, Vol II, p 492

2 *Ibid*, p 497

"राज्य का एक प्राकृतिक विवेक होता है। उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। वह मानव जाति के सामान्य हित पर आधारित होता है। यह हित अमर होता है और समस्त परिवर्तनों तथा क्रांतियों के बावजूद राष्ट्र की रक्षा कर सकता है जब कि विधि के अक्षर सम्भवतः उसका नाश कर सकते हैं।"[1]

राष्ट्र की आत्म विकास की यह अन्तर्निहित शक्ति न तो नष्ट की जा सकती है और न इसे नष्ट करना चाहिए। शासन की वास्तविक शक्ति उसकी आन्तरिक प्रेरणा पर निर्भर है। इसके बिना न तो संविधान ही दीर्घ काल तक चल सकते हैं और न बल का ही कोई उपयोग हो सकता है। प्रतिनिधिक संस्था राष्ट्र की महत्त्वाकांक्षाओं को मुखर करने की सब से अधिक व्यावहारिक पद्धति है। लेकिन, हैलीफैक्स इसे केवल एक पद्धति ही मानता था। व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए नेतृत्व की एक ऐसी शक्ति भी होनी चाहिए जिसकी व्याख्या न की जा सकती हो लेकिन जो महान् अवसरों पर परा-शक्ति के रूप में प्रकट हो तथा "राष्ट्र को विनाश से बचा सके"।

हैलीफैक्स ने इसी कार्यसाधकता और राष्ट्रीय इतिहास के आधार पर इंगलैण्ड के संकट का मूल्यांकन किया था। उसने अपने ग्रन्थ *New Model At Sea* में तीन सम्भावनाओं की कल्पना की है। एक सम्भावना निरंकुश राजतन्त्र की है। फ्रांस इसका उदाहरण था। राजतन्त्र में एकता रहती है और कार्य शीघ्रता से निष्पादित होता है। लेकिन, इससे "स्वतन्त्रता की वह योग्य अवस्था" समाप्त हो जाती है जिसमें मनुष्यों को रहना चाहिए। कुछ भी हो, इंगलैण्ड में निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना असम्भव है। इसका कारण कुछ तो इंगलैण्ड की परम्परा है और कुछ उसकी वाणिज्य पद्धति है जो स्वतन्त्रता की सृष्टि है। इंगलैण्ड की महानता उसकी वाणिज्य-पद्धति पर ही निर्भर है। दूसरी सम्भावना जो सैद्धान्तिक रूप से राजतन्त्र से बेहतर हो सकती है, गणराज्य की है। लेकिन, इसके ऊपर अकाट्य आक्षेप यह है कि अंग्रेज इसे पसन्द नहीं करते। यह सही है कि राजतन्त्र "घड़ी और घड़ियालों" की चीज है लेकिन यह एक तथ्य है कि इंगलैण्ड ने गणराज्य का एक परीक्षण किया था लेकिन उसकी परिणति सैनिक अधिनायकवाद में हुई। अब केवल एक ही सम्भावना रहती है और वह 'मिश्रित राजतन्त्र" की सम्भावना है। मिश्रित राजतन्त्र सांविधानिक शासन होता है जो राजा तथा संसद् के बीच विभाजित रहता है। हैलीफैक्स इस चुनाव से सन्तुष्ट था क्योंकि उसके विचार से इस प्रकार का शासन शक्ति और स्वतन्त्रता के बीच सर्वश्रेष्ठ सन्तुलन स्थापित करता है। वह निरंकुश राजतन्त्र और गणराज्य के बीच का मार्ग है।

"हम एक से अत्यधिक हानि पहुंचाने की शक्ति ले लेते हैं लेकिन उसके पास इतनी शक्ति छोड़ देते हैं कि वह हमारे ऊपर शासन कर सके और हमारी रक्षा कर सके। हम दूसरे से अव्यवस्था, समता, शत्रुता और उच्छृंखलता ले लेते हैं लेकिन

---

1 *Trimmer* (ed by Raleigh), p 60

इस प्रकार की स्वतन्त्रता को बनाए रखते हैं जिसका मनुष्य को निष्ठा के साथ निर्व्‍ाह हो सके।"[1]

ससदें कष्टप्रद हो सकती हैं, लेकिन वे बुद्धिमान् प्रशासन को महान् शक्ति प्रदान करती हैं।

लेकिन, हैलीफेक्स दो दृष्टियों से नए शासन की व्यवस्था को नहीं समझ सका। वह यह नहीं समझ सका कि मत्री ससद् के ऊपर निर्भर और उसके प्रति उत्तरदायी रहने चाहिए। वे सम्राट् की व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के अनुसार निर्वाचित नहीं होंगे। सम्भवत:, इस बात को उस समय तक कोई नहीं समझ सकता था जब तक कि ससद् के इतिहास ने इसे स्पष्ट नहीं कर दिया। हैलीफेक्स इस तरह का साक्ष्य उपस्थित होने के पूर्व ही कालकवलित हो गया था। इसीलिए, वह यह भी नहीं समझ सका कि राजनीतिक दल ससदीय शासन के अनिवार्य अंग हो गए हैं। वह दलों का विरोधी था। इसका कारण उसका अपना अनुभव था। राजतन्त्र की पुन: स्थापना के पश्चात् जो केवल स्थापित हुए थे, उन्होंने अपना काम ठीक से नहीं किया था। क्रान्तिकाल के दुष्प्रही गुटों ने भी स्थिति को बिगाड़ा ही था। हैलीफेक्स की तुनुकमिजाजी भी उसके दल विषयक दृष्टिकोण के लिए उत्तरदायी थी। उसके लिए ऐसी किसी चीज के साथ सहयोग करना मुश्किल था जिस पर वह अपना नियत्रण न रख पाता। उसका विचार था कि दल शेष राष्ट्र के विरुद्ध षड्यन्त्र होता है। दल के अनुशासन का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ मेल नहीं बैठ सकता। राजनीतिक दलों का यह निम्न मूल्याकन १७७० में बर्क के प्रेजेंट डिस्कटेंट्स पुस्तक के प्रकाशित होने तक कायम रहा।

हैलीफेक्स की राजनीतिक अन्तर्दृष्टि अपने युग के अन्य किसी भी राजमर्मज्ञ की अपेक्षा कहीं अधिक पैनी थी। सम्भवत:, अधिकाश इतिहासकार मैकाले के इस कथन से सहमत होंगे कि "सार्वजनिक भावनाओं में बार-बार उग्र क्रांति करने के बाद अपने युग के महान् प्रश्नों के सम्बन्ध में उसने वही दृष्टिकोण अपनाया जिसे अन्तिम रूप से इतिहास ने स्वीकार किया।" उसका कोई राजनीतिक सिद्धान्त नहीं था। उसने यह कहा भी है कि कोई राजनीतिक सिद्धान्त सम्भव नहीं है। उसके लिए यह सम्भव भी नहीं था कि वह निरपेक्ष अधिकारों अथवा दायित्वों के सन्दर्भ में किसी सिद्धान्त का निरूपण करता। सत्रहवीं शताब्दी की विशेषता यह थी कि उसमें अतियों की प्रधानता थी और मध्यम मार्ग के लिए अवकाश नहीं था। हैलीफेक्स अतियों से बचकर मध्यम मार्ग का कायल था। हैलीफेक्स की समझौते की इस प्रवृत्ति में, हर नीति को कार्य-साधकता की कसौटी पर परखने की इस चेष्टा में, अठारहवीं शताब्दी का रहस्य छिपा हुआ था। उसने 'मूल सिद्धान्तों' पर आक्षेप किया और लॉर्ड

---

1. *Ibid*, p. 54.

ने अतएव विचारों पर। यही वह पृष्ठभूमि बनी जिसके आधार पर आगे चल कर ह्यूम ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की अनुभूतिपरक आलोचना की। हैलीफैक्स ने इस बात पर बार बार जोर दिया कि राजनीतिक सामञ्जस्य की प्रक्रिया मे कार्य साधकता का तत्व हमेशा मौजूद रहता है। यह उस नैतिक और राजनीतिक उपयोगितावाद की जो सम्पूर्ण अठारहवी शताब्दी में इगलैण्ड का एकमात्र सप्राण सामाजिक दर्शन था और जो बेंथम तथा मिलद्वय के दार्शनिक उग्रतावाद मे अपनी पराकाष्ठा को पहुचा, पीठिका बनी। यदि लोग हैलीफैक्स को दार्शनिक कहते, तो शायद वह खुश न होता। लेकिन, उसने एक ऐसी मनोवृत्ति का परिचय दिया जो दर्शन का अभिन्न अग बन गई।

लॉक व्यक्ति और समुदाय

(Locke The Individual and the Community)

जॉन लॉक के राजनीतिक दर्शन पर सामयिकता की छाप है। उसका राजनीतिक दर्शन १६९० मे प्रकाशित दो निबन्धों मे निहित था। ये निबन्ध क्रान्ति का औचित्य प्रतिपादित करने के विचार से लिखे गये थे।[1] इनमे से पहले निबन्ध मे फिल्मर का खडन किया गया था और उसका कोई स्थायी महत्त्व नही था। दूसरा निबन्ध केवल सामयिक रचना नही थी। उसका मूल भूतकाल मे, गृह युद्ध के पूर्व तक पहुचा हुआ था। महत्त्व की दृष्टि से वह हुकर की *Ecclesiastical Polity* पुस्तक से साम्य रखता था। रिफर्मेशन की समाप्ति पर और ससद् तथा राजा के विद्रोह के शुरू होने से पहले इगलैण्ड मे राजनीतिक दर्शन की जो अवस्था थी, हुकर की पुस्तक मे उसका निरूपण कर दिया गया था। हुकर के माध्यम से लॉक मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की सुदीर्घ परम्परा से, सेंट थॉमस से जा मिला था। इस परम्परा के मुख्य तत्व ये—शक्ति पर नैतिक प्रतिबन्ध लगने चाहिए, शासकों को अपने शासित समुदायो के प्रति उत्तरदायी रहना चाहिए, शासन को विधि की अधीनता मे रहना चाहिए। लॉक किसी तरह से पुराना नही था। उसने न तो बहुत अध्ययन ही किया था और न वह तर्क

---

1 *Two Treatises of Government*। उसका *Letter Concerning Toleration* १६८९ मे प्रकाशित हुआ था। *Second Letter* १६९० मे और *Third Letter* १६९२ मे प्रकाशित हुआ था। लेकिन, लॉक ने सहिष्णुता के सम्बन्ध मे १६६७ मे लिखा था। देखिए एच० आर० फॉक्स बोर्न द्वारा लिखित *Life of John Locke*, Vol I, p. 174.

का ही पडित था। वह तो व्यवहार-बुद्धि का धनी था। अपनी इस व्यवहार-बुद्धि के आधार पर उसने दर्शन, राजनीति, आचारा और शिक्षा के क्षेत्र मे कुछ ऐसे विश्वासों का समावेश किया था जिन्हें भूतकाल के अनुभव ने उसकी पीढ़ी के अधिक प्रबुद्ध मस्तिष्कों मे उत्पन्न कर दिया था। उसने इन विश्वासो को सरल, गम्भीर और हृदय ग्राही वाणी दी तथा उन्हें अठारहवी शताब्दी मे पहुचा दिया। यहा उनके आधार पर इगलैण्ड में और महाद्वीप के बाद के राजनीतिक दर्शन का निर्माण हुआ। लॉक ने हुकर के माध्यम से जिस मध्ययुगीन परम्परा को प्राप्त किया था, वह १६८८ की क्रांति के सावियानिक विचारा की एक अनिवार्य अश थी। गृह-युद्ध के वर्षो ने इस परम्परा का नष्ट नही किया था, सिर्फ बदल दिया था। इसलिए, लॉक की समस्या यह नहीं थी कि वह हुकर के विचारा का ऐतिहासिक दृष्टि से पुनरुत्थान करे। उसकी समस्या यह थी कि वह हुकर के विचारो के स्थायी तत्वा को ग्रहण करे और बीच की शताब्दी के घटनाक्रम का ध्यान म रखते हुए उसका पुनर्कथन कर दे।

बीच की शताब्दी म सब से महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थॉमस हॉब्स हुआ था। वही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने एक सुसगत राजनीतिक दर्शन का निर्माण किया था। हॉब्स ने निरकुश राजतन्त्र का प्रतिपादन किया था। लॉक अपने सावियानिक शासन के सिद्धान्त का तभी प्रतिपादन कर सकता था, जबकि वह हॉब्स का खडन कर देता। हॉब्स ने 'आफ सिविल गवर्नमेंट' की दूसरी 'ट्रिटाइज' मे हुकर के आधार पर लॉक का खडन ही किया है। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि लॉक ने अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से नहीं समझा। यदि वह अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से समझ लेता, तो वह समाज और शासन के सिद्धान्तो मे गहराई स प्रवेश करता। इससे उसके दर्शन का बहुत सा भ्रम दूर हो जाता। उसका सिद्धान्त ऊपर से देखने म तो सरल लगता है, लेकिन उसके अन्दर अनेक दोष हैं। तात्कालिक प्रभाव की दृष्टि से यह ज्यादा हितकारी था कि वह गरीब फिल्मर का खडन करता। फिल्मर मे खास बात यह थी कि वह मूर्ख था और वह जितना वास्तव म मूर्ख था, उससे ज्यादा मूर्ख मालूम पड़ता था। लॉक फिल्मर की मूल धारणा और उसके ठोस तर्कों मे कोई भेद नही कर सका। फिल्मर ने अपने ठोस तर्क अधिकतर हॉब्स से ग्रहण किए थे। लॉक के दर्शन के समस्त अगा की सबसे बडी दुर्बलता यह है कि वह प्रथम सिद्धान्तो पर कभी नही पहुचा। उसकी व्यवहार-बुद्धि ने उसे बहुत सी यायी दलीलो से बचा लिया। लेकिन, अन्त मे इसका अभिप्राय यह भी निकला कि उसने बहुत सी बाता को उपयुक्त विश्लेषण के बिना ही स्वयंसिद्ध मान लिया था। उसके दर्शन मे ऐसी अनेक प्रस्थापनाए थी जो विश्लेषण की दृष्टि से असगत सिद्ध हुई।

लॉक के राजनीतिक दर्शन को सक्षेप रूप मे इस प्रकार बताया जा सकता है। हुकर के माध्यम से मध्ययुग की जो परम्परा लॉक के पास पहुची थी और १६८८ की व्यवस्था में जिन सावियानिक विचारो को अपनाया गया था, उनके अनुसार शासन

विशेष रूप से राजा तथा राजा के साथ ही संसद् और अन्य प्रत्येक राजनीतिक अभिकरण—जनता अथवा समुदाय के प्रति उत्तरदायी होता है। उसकी शक्ति कुछ तो नैतिक विधि के द्वारा सीमित होती है और कुछ देश के इतिहास में निहित सांविधानिक परम्पराओं और अभिसमयों द्वारा। शासन के बिना काम नहीं चल सकता। इसलिए, शासन का अधिकार आवश्यक है। लेकिन, यह अधिकार इस अर्थ में जनता से लिया गया है कि वह राष्ट्र के कल्याण के लिए होता है। यह तर्क समुदाय को एक नैगमिक सत्ता अथवा सामाजिक यथार्थता के रूप में ग्रहण करता है। इस युग में यह सिद्धान्त मुश्किल भी नहीं था। इस युग में समाज लोकाचार के द्वारा नियंत्रित होता था। मध्ययुगीन अरस्तूवाद का यह एक मान्य सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त ने हुकर को भी प्रेरणा दी थी। हॉब्स के विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य यह प्रकट करना था कि वास्तविक समुदाय विशुद्ध कल्पना है। उसका अस्तित्व केवल उसके सदस्यों के सहयोग पर ही निर्भर है। यह सहयोग केवल इस कारण है कि उसके सदस्यों को कुछ लाभ होता है। यह समुदाय का रूप उसी समय धारण करता है जबकि कोई व्यक्ति प्रभुशक्ति का प्रयोग कर सकता हो। इस विश्लेषण के आधार पर ही हॉब्स ने अपना यह निष्कर्ष निकाला था कि शासन का चाहे कैसा ही रूप क्यों न हो, उसमें अधीनता अपरिहार्य होती है। संविदा, प्रतिनिधित्व और उत्तरदायित्व जैसे विचार उस समय तक बिल्कुल निरर्थक होते हैं जब तक कि उनकी पीठ पर कोई प्रभुशक्ति न हो। इसलिए, वे राज्य के अन्तर्गत ही वैध है, राज्य के लिए नहीं।

इन दोनों दृष्टिकोणों में आधारभूत अन्तर है। पहले दृष्टिकोण में कार्यों पर जोर दिया गया है। इसमें व्यक्तियों तथा संस्थाओं दोनों के बारे में यह कल्पना की गई है कि वे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कार्य करते हैं। शासन सब की भलाई के विचार से उनका नियमन करता है। वे विधि की सीमाओं में रहते हुए कार्य करते हैं और इन्हीं आधारों पर एक समूह समुदाय का रूप धारण करता है। दूसरे दृष्टिकोण को व्यक्तिगत आत्मतुष्टि की शब्दावली में व्यक्त किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार समाज स्वार्थी व्यक्तियों का एक संगठन है। यह व्यक्ति अपने समान ही स्वार्थी अन्य व्यक्तियों से अपनी रक्षा करने के लिए विधि तथा शासन का आश्रय चाहते हैं। वे अपना ऐसा अधिक-से-अधिक भला चाहते हैं जो सार्वजनिक शांति से संगत हो। यदि लॉक इनमें से किसी एक दृष्टिकोण को पूरी तरह से अपना लेता और दूसरे को अस्वीकार कर देता तो उसके दर्शन में अधिक संगति रहती।

लॉक ने जिन परिस्थितियों में लिखा था, उनमें दोनों दृष्टिकोणों को अपनाने की आवश्यकता थी। इसके लिए यह जरूरी था कि सिद्धान्तों की परीक्षा तथा संश्लेषण में उच्चतम शक्ति का परिचय दिया जाए। यह कार्य लॉक की शक्तियों से परे था। उसने क्रांति का समर्थन हुकर द्वारा निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार किया। इस पद्धति का

कुछ हद तक प्रयोग हैलीफैक्स ने भी किया था। इस पद्धति के अनुसार यह मान लिया जाता है कि अंग्रेज जनता एक विशिष्ट सामाजिक समुदाय का निर्माण करती है। यह सामाजिक समुदाय अपने राजनीतिक विकास के कारण शासन के क्षेत्र में निरन्तर ही कुछ-न कुछ परिवर्तन चाहता है। वह कुछ ऐसे नैतिक मानदडों को भी निर्धारित करता है जिनका उसके शासको को पालन करना चाहिए। लॉक ने अपने सामाजिक दर्शन में हॉब्स की बहुत सी स्थापनाओ को भी स्थान दिया, इसके भी कुछ अत्यन्त आवश्यक कारण थे। हॉब्स के अहवादी मनोविज्ञान को ग्रहण किया जाता था नहीं, लॉक के दिनों में व्यक्तिगत स्वार्थों पर आधारित समाज-दर्शन एक पूर्वनिश्चित निष्कर्ष था। प्राकृतिक विधि का सिद्धान्त इसी दिशा की ओर उन्मुख था। इस प्रवृत्ति के प्रति लॉक का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। लॉक ने प्राकृतिक विधि की व्याख्या इस रूप में की कि वह प्रत्येक व्यक्ति मे निहित कुछ अतरग और अभेद्य अधिकारो का दावा है। इन अधिकारो मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार एक आदर्श अधिकार है। फलतः, व्यक्तिवाद की दृष्टि से उसका सिद्धान्त भी इतना ही अहवादी था जितना कि हॉब्स का। शासन और समाज दोनों का उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा करना है। इन अधिकारो की अखडता दोनो की सत्ता के ऊपर एक सीमा है। इसलिए, लॉक के सिद्धान्त के एक भाग मे तो व्यक्ति और उसके अधिकारो की प्रधानता है तथा दूसरे भाग मे समाज की। इस बात की उपयुक्त व्याख्या नहीं मिलती कि दोनो निरपेक्ष कैसे हो सकते हैं।

सम्पत्ति का प्राकृतिक अधिकार

(The Natural Right to Property)

लॉक ने हॉब्स द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था की विशेष रूप से आलोचना की है। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से लड़ता रहता था। इसके विपरीत लॉक का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था "शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहायता और रक्षा की अवस्था है"। इस अवस्था के समर्थन मे यह कहा जाता है कि प्राकृतिक विधि मानवी अधिकारो और कर्त्तव्यो की पूरी तरह से व्यवस्था करती है। प्राकृतिक अवस्था का एकमात्र दोष यह है कि इसमे मजिस्ट्रेटो, लिखित विधि और नियत दण्डो की कोई व्यवस्था नहीं है जिससे कि अधिकार सम्बन्धी नियमों को मान्यता दी जा सके। जो चीज सही है या जो चीज गलत है, वह हमेशा ही ऐसी रहती है। भावात्मक या सकारात्मक विधि आचरण के विभिन्न प्रकारों मे किसी नैतिक गुणवत्ता का समावेश नहीं करती। वह उन्हें कार्यरूप मे परिणत करने का साधन मात्र प्रस्तुत करती है। प्राकृतिक अवस्था मे प्रत्येक मनुष्य अपने स्वत्व को जिस प्रकार भी हो सकता है, रक्षा करता है। इस अवस्था मे उसे अधिकार होता है कि वह अपनी चीज की

की रक्षा करे और उसका कर्तव्य होता है कि वह दूसरे की चीज का सम्मान करे। उसका यह अधिकार और कर्तव्य इतना ही पूर्ण होता है जैसा कि किसी शासन के अन्तर्गत। बॉमस ने लौक से शताब्दियों पूर्व इसी आधार को ग्रहण किया था। लौक विधि और आचारों के सम्बन्ध के बारे में केवल हूकर की और हूकर के माध्यम से मध्ययुगीन परम्परा की ही आवृत्ति कर रहा था। यदि प्राकृतिक अवस्था की कल्पना को अलग हटा दिया जाए, तो इसका केवल एक ही अभिप्राय होगा—नैतिक नियम मानवकृत विधि के नियमों की अपेक्षा अधिक व्यापक होते हैं और वे विधिसम्मत होते हैं चाहे सरकारें उनका पालन करें या न करें। नैतिकता को यह बल कहां से प्राप्त होता है—यह प्रश्न बना रहता है। वह दैवी इच्छा पर आधारित हो सकती है, या वह तर्कयुक्त रीति से अपने आप स्पष्ट हो सकती है या वह इस तथ्य पर आधारित हो सकती है कि समाज शासन की अपेक्षा मानव प्रकृति में अधिक गहरा घुसा हुआ है और इसलिए वह ऐसे मानकों को निर्धारित करता है जिनकी सरकारें भी उपेक्षा नहीं कर सकती। लेकिन, लौक ने हॉब्स के विरोध में यह स्थापना प्रस्तुत की कि नैतिक अधिकार और कर्तव्य सहज सिद्ध होते हैं, नैतिकता विधि का निर्माण करती है, विधि नैतिकता का नहीं। जो चीजें स्वाभाविक रूप से सही होती हैं, सरकारों को उन्हें कार्यान्वित करना पड़ता है। इस बारे में वे कानून बाद में ही बनाती हैं।

स्पष्ट है कि लौक का सम्पूर्ण सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित था कि वह प्राकृतिक विधि की ठीक ठीक व्याख्या करता। लौक की पारस्परिक सहायता की प्राक्-राजनीतिक अवस्था इसी प्राकृतिक विधि पर आधारित थी और इसी प्राकृतिक विधि से राजनीतिक समाज का जन्म हुआ था। लौक के लिए कम-से-कम यह प्रमाणित करना आवश्यक था कि प्रशासन अथवा प्रवर्तन के बिना भी वह किस प्रकार बन्धनकारी थी। लौक ने इस सब का सावधानी से कहीं विश्लेषण नहीं किया है। उसने अरस्तू की देखा देखी पैतृक शक्ति को राजनीतिक शक्ति से पृथक् माना है। उसका यह प्रयत्न फिल्मर के विरोध में था। चूंकि परिवार के सम्बन्ध में विचार करते समय सम्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करना परम्परागत-सा था, अतः लौक ने प्राकृतिक विधि के सम्बन्ध में विचार करते समय व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव पर भी विचार किया है। हमारे लिए प्राकृतिक विधि की वैधता के सामान्य प्रश्न पर विचार करने से पहले लौक के व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त पर विचार करना ज्यादा अच्छा होगा क्योंकि लौक के विचार से अन्य समस्त प्राकृतिक अधिकार व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार से ही सादृश्य रखते हैं।

लौक का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था में सम्पत्ति इस अर्थ में साझी थी कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति से अपने जीवन-निर्वाह की सामग्री प्राप्त करता था। यहां भी वह सुदूर भूत के विचारों को दुहरा रहा था। मध्ययुग में यह विचार असामान्य नहीं था कि सामान्य स्वामित्व व्यक्तिगत स्वामित्व की अपेक्षा अधिक पूर्ण और इसलिए अधिक स्वाभाविक होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति तो मनुष्य के पतन का, उसके पाप का चिन्ह है।

रोम की विधि में इससे बिल्कुल भिन्न सिद्धान्त पाया जाता था। यह सिद्धान्त यह था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म उसी समय हुआ जबकि लोगों ने वस्तुओं पर अनधिकार कब्जा करना आरम्भ कर दिया। इसके पूर्व सब लोग चीजों का मिल-जुल कर इस्तेमाल करते थे यद्यपि उस समय भी सामुदायिक स्वामित्व नहीं था। लॉक ने इन दोनों सिद्धान्तों से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि जिस चीज को मनुष्य ने अपने शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त किया है, उस पर उसका प्राकृतिक अधिकार है। उदाहरण के लिए यदि वह किसी जमीन पर चहारदिवारी बनाता है या उसे जोतता है, तो वह उसकी हो जाती है। उस समय अमेरिका जैसे नए उपनिवेशों में यही हो रहा था। लॉक पर वहां के उदाहरण का प्रभाव पड़ा था। इसके साथ ही लॉक यह भी मानता था कि व्यक्तिगत कृषि अर्थ व्यवस्था में आदिम काल की सामूहिक काश्त की अपेक्षा उत्पादन ज्यादा अच्छा होता है। लॉक का विश्वास था कि अधिक उत्पादन होने से सम्पूर्ण समुदाय का जीवन स्तर उन्नत हो जाएगा। अठारहवीं शताब्दी में जमीन के चारों ओर चहारदिवारी खड़ी करने से उसकी उपज वास्तव में बढ़ जाती थी लेकिन पूंजीवादी जमींदार ने अपनी स्थिति का लाभ उठा कर सारे लाभ खुद ही हड़प लिये। लॉक के सिद्धान्त का मूल चाहे कुछ भी रहा हो, उसका तर्क यह था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि जब व्यक्ति परिश्रम करता है, तब वह अपने परिश्रम से अर्जित पदार्थ में अपने व्यक्तित्व का आरोपण कर देता है। अपनी आन्तरिक शक्ति का विस्तार करके वह उन्हें अपने व्यक्तित्व का ही एक अंग बना लेता है। सामान्यतः उनकी उपयोगिता इस बात पर निर्भर रहती है कि उनके सम्बन्ध में कितना परिश्रम किया गया है। इस प्रकार लॉक के सिद्धान्त ने परवर्ती शास्त्रीय और समाजवादी अर्थ-व्यवस्थाओं के श्रम सम्बन्धी मूल्य सिद्धान्तों (labour theories of value) का पथ प्रशस्त किया।

लॉक ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की उत्पत्ति का जो सिद्धान्त दिया है, उससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य का सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार आदिम समाज से पहले का है। लॉक ने इस आदिम समाज को प्राकृतिक अवस्था का नाम दिया है। उसने कहा भी है "सम्पत्ति समस्त साधारण जनों के स्पष्ट समझौते के बिना भी रहती है।"[1] यह एक ऐसा अधिकार है जो प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अभिन्न भाग के रूप में लेकर समाज में आता है। इस प्रकार, समाज अधिकार की सृष्टि नहीं करता और वह कुछ सीमाओं को छोड़ कर उसका विनियमन भी नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि समाज और शासन दोनों का उद्देश्य सम्पत्ति के पूर्ववर्ती अधिकार की रक्षा करना है। यद्यपि लॉक ने सम्पत्ति विषयक विवरण प्रसंगवश ही दिया है, तथापि इसका उसके सम्पूर्ण सामाजिक दर्शन पर गहन प्रभाव पड़ा है। उसने न तो यह कभी कहा और न उसका यह विश्वास ही था

1 *Of Civil Government*, Book II, sect 25

कि सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं है। प्राकृतिक अधिकारों को प्रकट करने के लिए उसने "जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा" शब्दावली का प्रयोग किया है। और जहां कहीं किसी अधिकार के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता है वह सम्पत्ति शब्द का प्रयोग करता है। चूंकि सम्पत्ति ही एकमात्र ऐसा अधिकार है जिसकी उसने विस्तार से परीक्षा की है अतः स्पष्ट है कि इस अधिकार को उसने अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। चाहे कुछ भी स्थिति हो उसने समस्त प्राकृतिक अधिकारों को सम्पत्ति के समान ही माना है। इसका अभिप्राय यह है कि उसने प्राकृतिक अधिकारों को व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार माना है। अतः ये अधिकार समाज तथा शासन के प्रति व्यक्ति के अनुल्लंघनीय दावे हैं। इन दावों को कभी निराकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि समाज का उद्देश्य ही उनकी रक्षा करना है। समाज उन पर उतना ही नियन्त्रण रख सकता है जितना उनकी रक्षा के लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दों में एक व्यक्ति के "जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा" पर उसी सीमा तक नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है जिस सीमा तक कि इस कार्य से दूसरे व्यक्तियों के ऐसे ही अधिकारों की रक्षा करने में सहायता प्राप्त होती है।

दार्शनिक अस्पष्टताएँ

(Philosophical Ambiguities)

सामाजिक तथा राजनीतिक अस्पष्टताओं की दृष्टि से यह सिद्धान्त हॉब्स के सिद्धान्त की भांति ही अहंवादी था। यह सही है कि लॉक ने प्राकृतिक अवस्था का एक मित्र चित्र प्रस्तुत किया। सब व्यक्तियों की सब व्यक्तियों के खिलाफ लड़ाई अतिरंजित चीज मालूम पड़ती है। लेकिन, हॉब्स की भांति ही लॉक ने यह कहा है कि समाज सम्पत्ति की तथा उन अन्य व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करता है जिनका उसने निर्माण नहीं किया है। फलतः, लॉक के मानस सिद्धान्त के आधार पर अठारहवीं शताब्दी में जिस मनोविज्ञान का विकास हुआ, वह मानवी व्यवहार की व्याख्या करने में मूलतः अहंवादी था। यह हॉब्स के समान आत्म रक्षा के आधार पर नहीं, प्रत्युत् सुख और दुःख के आधार पर चलता था। लेकिन, इससे स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ था क्योंकि सुख और दुःख की गणना भी सुरक्षा की गणना की भांति ही आत्मकेन्द्रित थी। हॉब्स का बेहतर तर्क लॉक की बेहतर भावना की अपेक्षा अधिक कारगर था। एक अद्भुत और योजनाहीन सहयोग के द्वारा दोनों ने एक ऐसे सामाजिक सिद्धान्त का विकास किया जिसमें व्यक्ति के स्वार्थ को प्रधान स्थान दिया गया था और समाज के हित को गौण। लेकिन, सम्भवतः लॉक का प्रभाव ज्यादा दूर तक गया। उसने प्राकृतिक विधि के प्राचीन सिद्धान्त को, उसके समस्त भावनात्मक निष्कर्षों और धार्मिक मान्यताओं को, यों ही छोड़ दिया लेकिन उसने इसके अर्थ को अनजाने में ही बदल दिया। हूकर

ने इस शब्द का जिस अर्थ मे प्रयोग किया था, लॉक ने उसका उससे बिल्कुल भिन्न अर्थ मे प्रयोग किया। लॉक ने समाज के समान हित के सम्बन्ध मे कोई व्यवस्था नही दी, उसने कुछ अतरग, अखड व्यक्तिगत अधिकारो की सृष्टि की जो समाज की शक्ति पर नियन्त्रण लगाते है और समाज को व्यक्तियो की स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति मे हस्तक्षेप करने से रोकते है। अन्य उदारवादियो की भाति लॉक का भी विचार था कि दोनों चीजों का समान हित की रक्षा और व्यक्तिगत अधिकारो की रक्षा का एक ही अर्थ है। उस समय के राजनीतिक और औद्योगिक क्षेत्र मे यह काफी हद तक सही था। लेकिन, इसका कोई तर्कसंगत आधार नहीं था। इसके मूल मे सिर्फ यह अस्पष्ट धारणा थी कि प्राकृतिक सामञ्जस्य मे "बुराई का अन्तिम लक्ष्य अच्छाई है"। प्रकृति के प्रति इस भावात्मक विश्वास को न तो विज्ञान का ही समर्थन प्राप्त था और न दर्शन का ही। फिर भी, अठारहवी शताब्दी के राजनीतिक और आर्थिक दर्शन मे यह व्यापक रूप से प्रचलित रहा।

यह समझ मे नही आता कि लॉक प्राकृतिक अधिकारो सम्बन्धी अपने सिद्धान्त का क्या दार्शनिक औचित्य समझता था, अथवा दूसरे शब्दो मे वह अपने राजनीतिक सिद्धान्त को अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के साथ किस प्रकार समन्वित करना चाहता था। विधाता ने समस्त व्यक्तियो को, चाहे उनके सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्ध कैसे भी क्यो न हो, जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा के अधिकार प्रदान किए हैं, यह एक ऐसी प्रस्थापना नही है जिसके लिए कोई अनुभूतिपरक प्रमाण दिया जा सकता है। इस प्रस्थापना को प्रमाणित करने का कोई उपाय नही है। जैफरसन की शब्दावली में यह प्रस्थापना तो स्वतः स्पष्ट है। यह एक ऐसा सूत्र है जिसके आधार पर सामाजिक और नैतिक प्रमेयो को निकाला जा सकता है लेकिन जो खुद किसी भी नैतिक सिद्धान्त की अपेक्षा कही अधिक स्पष्ट है। सम्भवत, लॉक का भी यही विचार था। सत्रहवीं शताब्दी मे ग्रोशियस के पश्चात् नैतिक तथा वैधिक विज्ञान में प्राकृतिक विधि को ज्यामिति के सूत्रो की भाति माना जाने लगा था। यदि कुछ नैतिक मूल्यों को स्वतः स्पष्ट माना जाता है, तब भी यह स्पष्ट नहीं है कि उन्हें अतरग व्यक्तिगत अधिकार कैसे मान लिया जाये। सम्भवत, लॉक ने इस प्रश्न का कभी सामना नहीं किया। सम्भवत, इसका कारण यह है कि उसे यह न मालूम रहा हो कि प्राकृतिक अधिकारों सम्बन्धी उसका सिद्धान्त इस सिद्धान्त के प्राचीन रूपो से कितना भिन्न था।

यदि बाद के प्रश्न को अलग हटा दिया जाए, तो यह समझ में नहीं आता कि लॉक ने अपनी दार्शनिक स्थिति के कारण यह कैसे मान लिया कि नीतिशास्त्र अथवा अन्य किसी विषय मे स्वतः स्पष्ट लगने वाली प्रस्थापना सही कैसे हो सकती है। 'एसे कंसर्निंग ह्यूमेन नेचर' की पहली पुस्तक मे लॉक ने यह सिद्ध किया है कि कोई भी विचार अतरग नही होता अर्थात् मस्तिष्क का मूल अग नही होता। फलत, उसके लिए साक्ष्य के अतिरिक्त विश्वास की भी आवश्यकता होती है। व्यावहारिक दृष्टि से यह ऐसा ही कहना है कि स्वतःसाक्ष्य विश्वसनीय नही है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथा

अथवा आदत के कारण झूठी प्रस्थापना भी सही मालूम पड सकती है। लॉक का विश्वास था कि उसने अनेक विचारों पर जो आक्षेप किया है, उससे आचारों, धर्म और विज्ञान के समस्त प्रश्नों का समाधान हो सकता है। उसका अपना विश्वास यह था कि विचार इन्द्रिय-माध्यम द्वारा है। वह इसे ज्ञान का एक ऐसा आधार मानता था जो असत्यता की पुरानी कसौटी से भिन्न था।

सचाई यह है कि लॉक इस बात को नही समझ सका कि यदि उसके अनुभववाद का तर्क-संगत दृष्टि से विकास किया जाए, तो वह उसे कहाँ तक ले जाएगा। उसकी ज्ञान विषयक संकल्पना पर गणित का बड़ा प्रभाव पड़ा था। उसके समय मे लोगो में गणित के प्रति आदरभाव भी बहुत था। उसने बताया कि विचार अनुभव के आधार पर उत्पन्न होते है। तथापि, उसने सम्पूर्ण अनुभूतिजन्य ज्ञान की निश्चितता को अस्वीकार किया। तथापि, उसने यह नही माना कि इन्द्रियो का भौतिक अस्तित्व से कोई सम्बन्ध होता है। नीति शास्त्र मे उसने अपने इस विश्वास को कायम रक्खा—इस विश्वास पर उसने आचरण कभी नही किया था—कि ज्यामिति के सादृश्य पर आचारों के एक प्रदर्शनात्मक विज्ञान का निर्माण किया जा सकता है। उसके राजनीतिक सिद्धान्त में, कम से कम उसके नैतिक आधार मे यह विश्वास कायम रक्खा था। इस प्रकार, लॉक का कुल दर्शन मस्तिष्क के सादृश्य के आधार पर था। उसकी वर्णनात्मक पद्धति अनुभव पर आधारित थी और वैज्ञानिक पद्धति से मिलती-जुलती थी। राजनीति विज्ञान में लॉक ने जिस प्रक्रिया को अपनाया, वह तर्क बुद्धिवाद पर आधारित थी। इस पृष्ठभूमि का लॉक के सामाजिक दर्शन पर यह प्रभाव पड़ा कि वह बहुत सहिष्णु हो गया, उसमें धार्मिक सहिष्णुता पर बल दिया गया और सम्पत्तिगत अधिकारों की रक्षा करने के सिलसिले मे उसमे कट्टरता का दृष्टिकोण अपनाया गया।

शुद्ध दर्शन की दृष्टि से लॉक अनुभववाद (empiricism) के पक्ष में था। इसका अभिप्राय यह था कि वह एक ऐसे मनोविज्ञान का समर्थक था जिसमें मानवी ज्ञान तथा आचरण की इन्द्रियो के आधार पर व्याख्या की जाती है और जिसमें आचरण के नियम अनुभव के आधार पर निर्धारित किए जाते है। स्पष्ट था कि प्राकृतिक अधिकारों को इस प्रकार से पुष्ट नही किया जा सकता था। जब लॉक ने अंतरंग अधिकारों का खंडन कर दिया था, तब इन अधिकारों को स्वयंसिद्ध सूत्रों के रूप मे भी ग्रहण नही किया जा सकता था। प्राकृतिक अधिकारों का अभिप्राय यह था कि मनुष्य को प्रकृति की ओर से कुछ अधिकार मिले हैं, ये अधिकार उसके अंतरंग अधिकार हैं, चाहे उसके सामाजिक सम्बन्ध कैसे भी हो। लॉक के सामाजिक दर्शन का परिणाम यह हुआ कि अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे उसके उत्तराधिकारियों ने सुख और दुःख की शब्दावली मे आचरण के सिद्धान्त का तीव्र गति से विकास किया। उन्होने यह कार्य लॉक के ग्रन्थ 'एसे कंसर्निंग ह्यूमेन अंडरस्टैंडिंग' के आधार पर किया था। इन विचारकों के अनुसार सुख आकर्षण का कार्य करता है और दुःख विकर्षण का। यदि दुःख को

नकारात्मक मात्राएं मान कर निकाल दिया जाए, तो सुख की मात्राओं का अधिकतम शुद्ध योग आचरण का सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण साध्य बन सकता है। शुरू-शुरू में यह बौद्धिक मनोविज्ञान का प्रश्न था जो धार्मिक नीति शास्त्र से जुड़ा हुआ था। बाद में यह सिद्धान्त फ्रेंच माध्यम से बेंथम और दार्शनिक उग्रतावादियों (Philosophical Radicals) के हाथों में पहुंच गया। ह्यूम ने यह ठीक ही सिद्ध किया है कि उन्होंने लॉक के प्राकृतिक अधिकारों, और प्राकृतिक अवस्था तथा संविदा सम्बन्धी कल्पनाओं का निराकरण कर दिया। लेकिन, आचरण और नैतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मूल्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में उसने अहतत्त्व पर बहुत जोर दिया। उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकतम सार्वजनिक हित के साथ संगत माना। लॉक तथा जॉन स्टुअर्ट मिल के बीच में समस्त सामाजिक दर्शन का व्यक्तिवाद तर्क पर कम निर्भर था। वह, जो वर्ग उसका प्रतिपादन करता था, उसके हितों की सगति पर अधिक निर्भर था।

संविदा

(The Contract)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लॉक ने अपने दर्शन में सब से पहले प्राकृतिक अवस्था का वर्णन किया है। इस अवस्था का उसने शान्ति और पारस्परिक सहायता की अवस्था बताया है। उसने प्राकृतिक अधिकारों को भी सम्पत्ति के सादृश्य पर समाज से पहले का बताया है। इसके बाद वह नागरिक समाज के उद्‌भव का वर्णन करता है। यह समाज अपने सदस्यों की सहमति पर आधारित है। उसके सिद्धान्त के इस अंश में दुर्बलताएं थीं। इसका कारण यह था कि उसने कुछ तो हूकर से ग्रहण किया था और कुछ हॉब्स से तथा इन दोनों विचारकों में एक-दूसरे से मतभेद था। लॉक ने नागरिक सत्ता की परिभाषा इस प्रकार की थी "यह संपत्ति की रक्षा और उसका विनियमन करने के लिए दण्ड सहित कानूनों के बनाने का और इन कानूनों के निष्पादन में सार्वजनिक हित के लिए समुदाय की शक्ति के प्रयोग करने का अधिकार है।"[1] इस प्रकार की शक्ति केवल सहमति के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। यह शक्ति गर्भित रूप से दी जा सकती है लेकिन यह प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए ही दे सकता है। नागरिक शक्ति के अधिकार का आधार प्रत्येक व्यक्ति का अपनी और अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने का व्यक्तिगत अधिकार है। शासन सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए जिस विधायी और कार्यकारी शक्ति का प्रयोग करता है, यह वही शक्ति है जिसे व्यक्ति ने समुदाय को अथवा जनता को सौंप दिया है। इस शक्ति को हस्तांतरित करने का कारण यह है कि यह प्राकृतिक

1 *Of Civil Government*, Book II, sect 3

अधिकारों की रक्षा करने का बेहतर उपाय है। यह मूल समझौता है। इसके द्वारा मनुष्य समुदाय का या राजनीतिक समाज का निर्माण करते हैं। यह समझौता व्यक्तियों का आपस में होता है।[1]

इस सिद्धान्त की कठिनाई यह है कि लॉक ने इस बात को कहीं स्पष्ट नहीं किया है कि उसका 'मूल समझौते' से क्या अभिप्राय है। यह समाज है या सिर्फ शासन? उसने दूसरी 'ट्रिटाइज'में यह स्पष्ट किया है कि ये दोनों अलग अलग चीजें हैं। वह राजनीतिक क्रांति को शासन का विघटन कर देती है, शासन द्वारा शासित समुदाय का विघटन नहीं करती। अपरच, व्यक्ति अपना प्राकृतिक अधिकार समुदाय को या जनता को सौंप देता है। यदि समुदाय अथवा जनता शक्ति का अनुदान ग्रहण करती है, तो यह आवश्यक है कि वह कोई सत्ता हो। दूसरी ओर, लॉक के सिद्धान्त के अनुसार अधिकार व्यक्ति को ही दिया जा सकता है जब तक कि वह उसे त्याग न दे। लेकिन, व्यक्ति अपने अधिकार को एक शर्त के ऊपर छोड़ता है। शर्त यह है कि समाज और शासन को व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए।[2] इस समस्या का समाधान करने के लिए एल्थूसियस और पुफेनडोर्फ जैसे महाद्वीपीय लेखकों ने दो संविदाओं की कल्पना की थी। एक संविदा तो व्यक्तियों में आपस में हुआ था जिसके परिणामस्वरूप समुदाय का जन्म हुआ। दूसरा, संविदा समुदाय और शासन में हुआ। लॉक ने भी कुछ-कुछ यही दृष्टिकोण ग्रहण किया है यद्यपि उसने इस दृष्टिकोण का निरूपण कहीं नहीं किया है। दो संविदाओं से कोई स्पष्टीकरण नहीं होता क्योंकि एक ही संकल्पना को दो अवस्थाओं में लागू करना उचित नहीं है। लेकिन, इससे सिद्धान्त को औपचारिक स्पष्टता प्राप्त होती है। लॉक औपचारिक स्पष्टता को कोई महत्व नहीं देता था। इसलिए, उसने दो दृष्टिकोणों के समन्वय से ही सन्तोष कर लिया। उसने हुकर से जो पुराना सिद्धान्त प्राप्त किया था, उसके अनुसार समुदाय के शासक उसके प्रति नैतिक रूप से उत्तरदायी होते हैं। उसने क्रांति के समर्थन में इसी तर्क का कि इंग्लैण्ड के शासन को इंग्लैण्ड की जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिए, प्रयोग किया। नए सिद्धान्त का सब से स्पष्ट निरूपण हॉब्स ने किया था। इस सिद्धान्त में केवल व्यक्तियों और उनके व्यक्तिगत स्वार्थों का ही उल्लेख किया गया था। लॉक ने इस सिद्धान्त को भी ग्रहण किया और उसने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पदा की रक्षा करने के लिए समाज तथा शासन दोनों को उत्तरदायी ठहराया।

लॉक के सिद्धान्त के इन दोनों पहलुओं में एकता है। इस एकता का आधार यह है कि जो कार्य समुदाय के सदस्यों के बहुमत से होता है, वह समुदाय का ही कार्य माना जाता है। जब प्रत्येक व्यक्ति दूसरों की सहमति से राजनीतिक समाज का निर्माण

1. *Ibid* sect, 99.
2 *Ibid*, sect 131

करने के लिए तैयार होता है, तब वह इस बात के लिए बाध्य हो जाता है कि वह दल के निर्णय को शिरोधार्य करे। इस सम्बन्ध में पुफेनडोर्फ ने यह ठीक ही कहा था कि सामाजिक संविदा की कल्पना को पुष्ट करने के लिए सर्वसम्मति की कल्पना का प्रयोग किया जाना चाहिए। बहुमत का समझौता सम्पूर्ण समाज का समझौता माना जा सकता है।

"कोई भी समुदाय अपना कार्य अपने सदस्यों की सहमति द्वारा ही कर सकता है। चूंकि, यह समुदाय एक इकाई होता है, अतः समग्र समुदाय की एक निर्दिष्ट गति होना आवश्यक है। इकाई उसी दिशा में अग्रसर हो सकती है जिस ओर सर्वाधिक सुगम हो। इसी प्रकार समुदाय की भी वह नीति हो सकती है, जिसको उसके अधिकांश सदस्यों का अनुमोदन प्राप्त हो।"[1]

कठिनाई को सुलझाने के इस तरीके पर दोनों पक्षों की ओर से आपत्ति की जा सकती है। यदि व्यक्ति के अधिकार वास्तव में आवश्यक हैं, तो उसे उन अधिकारों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए—चाहे वंचित करने वाला एक अत्याचारी हो अथवा बहुमत हो। स्पष्ट है कि लॉक को यह कभी नहीं सूझा कि बहुमत भी अत्याचारी हो सकता है। यह मानने का भी कोई विशेष कारण नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने निर्णय की इसलिए क्यों उपेक्षा करे कि जो लोग उससे सहमत नहीं हैं, वे बहुमत में हैं। यदि 'जनता' अथवा 'समुदाय' एक इकाई है, तो यह समझ में नहीं आता कि उसके निर्णय बहुमत के आधार पर ही क्यों हों। लोक प्रभुसत्ता के पुराने सिद्धान्तों—उदाहरण के लिए मारसिलिओ का प्रभुसत्ता विषयक सिद्धान्त लिया जा सकता है—के अनुसार समुदाय के 'प्रभावी अंग' को गुणवत्ता और परिमाण दोनों की दृष्टि से महत्त्व दिया जा सकता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि बहुमत-शासन के सिद्धान्त में ऐसी कोई वैधता नहीं है जैसी कि लॉक ने मानी थी।

समाज और शासन

(Society and Government)

सब मिला कर लॉक ने शासन की स्थापना को नागरिक समाज का निर्माण करने वाले मूल संविदा से कम महत्त्व की घटना माना था। यहाँ एक बार बहुमत शासन का निर्माण करने के लिए तैयार हो जाता है समुदाय की सम्पूर्ण शक्ति स्वभावतः बहुमत के साथ हो जाती है। शासन का स्वरूप इस बात पर निर्भर है कि बहुमत अथवा

1 *Of Civil Government*, Book II, sect. [illegible]

समुदाय अपनी शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है। बहुमत अथवा समुदाय इस सत्ता को अपने पास रख सकता है अथवा वह इसे किसी विधायी सत्ता को सौंप सकता है। इंग्लैण्ड की क्रांति के अनुभव के आधार पर लॉक ने यह मान लिया था कि शासन मे विधायी शक्ति सब से ऊंची होती है। तथापि, वह यह भी मानता था कि कार्यांग विधि निर्माण मे भाग ले सकता है। लेकिन, दोनो शक्तियां सीमित होती हैं। विधायी शक्ति स्वेच्छाचारी नही हो सकती। स्वेच्छाचारी शक्ति तो उन लोगों के पास भी नहीं थी, जिन्होने उसकी स्थापना की थी। वह मौलिक मनचाही आज्ञप्तियों द्वारा शासन नही कर सकती। इसका कारण यह है कि शासन की स्थापना करने वाले व्यक्ति विधि और न्यायाधीशो से परिचित होते हैं। वह सहमति के बिना सम्पत्ति भी नही ले सकती। लॉक के अनुसार सहमति का अर्थ बहुमत का निर्णय है। वह अपनी विधायी शक्ति किसी दूसरे को भी नहीं सौंप सकती। यह शक्ति तो वही रहती है जहां समुदाय ने उसे प्रतिष्ठित किया है। संक्षेप में, उसकी शक्ति अमानत की है। सर्वोच्च शक्ति जनता के पास रहती है। जब विधानमंडल जनता की इच्छा के खिलाफ चलता है, तब जनता इस शक्ति को वापस ले सकती है। कार्यपालिका की शक्ति और भी सीमित होती है—कुछ तो वह विधानमंडल के ऊपर निर्भर रहती है और कुछ उसके ऊपर विधि का नियन्त्रण रहता है। स्वतन्त्रता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि विधायी और कार्यकारी शक्ति एक ही हाथ में केन्द्रित न रहे। लॉक ने विधानमंडल और कार्यपालिका के सम्बन्धो का जो विवरण दिया है, वह राजा और संसद् के बाद विवाद के किसी न किसी पहलू को प्रकट करता है।

लेकिन, लॉक ने शासन के ऊपर जनता की शक्ति इतनी पूर्ण रूप से स्थापित नही की है जैसी कि बाद के अधिक लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तो ने की। यद्यपि उसने विधानमंडल की शक्ति को एक अमानत बनाया है और यह कहा है कि समुदाय के नाम पर कार्य करने वाला बहुमत यह शक्ति विधानमंडल को सौंपता है, लेकिन उसने यह भी स्वीकार किया है कि जब तक शासन अपने कर्त्तव्यो का पालन करता रहता है, उस समय तक जनता अपनी शक्ति से वंचित रहती है। इस दृष्टि से उसका सिद्धान्त जैसा कि बाद मे रूसो ने कहा था बहुत कुछ स्वेच्छाचारी था। यदि शासन जनता का ट्रस्टी है, तो यह समझ मे नही आता कि लॉक ने इस ट्रस्ट को पूरी तरह से कार्यान्वित करने का क्या प्रयास नही किया। जनता की विधायी शक्ति मे केवल एक ही कार्य आता है और वह है सर्वोच्च विधानमंडल की स्थापना। (लेकिन, लॉक का विचार है कि इस अवस्था मे भी लोकतन्त्र की कल्पना की जा सकती है)। यदि समुदाय अपनी शक्ति को हमेशा के लिए वापस लेना चाहे, तो वह उस समय तक ऐसा नही कर सकता जब तक कि शासन का विघटन न हो जाये। रूसो जैसा लोकतन्त्रवादी इसे जनता की अपना शासन आप करने की शक्ति पर अनुचित प्रतिबन्ध मानता था। लॉक के इस विचार के अनेक कारण थे। वह बड़ा सावधान और गम्भीर व्यक्ति था। यद्यपि उसे एक क्रांति का समर्थन करना था, लेकिन वह उच्छृंखलता को बिलकुल प्रोत्साहन नही देना चाहता था। इसके अतिरिक्त, वह

लोकतन्त्रात्मक शासन को, कम से कम इंगलैण्ड में, एक बौद्धिक प्रश्न मानता था। इन कारणों से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह था कि उसके मन में हुकर की वह परम्परा जमी हुई थी जिसने कुक और सर थॉमस स्मिथ के विचारों को शासित किया था। इस परम्परा के अनुसार राजा तथा अन्य शासी अंगों के साथ साथ समुदाय भी अपना शासन स्वयं करने के अधिकार को कायम रख सकता था। राजा तथा शासी अंगों का भी अपना एक स्थान था और उनके कुछ निहित स्वार्थ भी थे। लॉक के सिद्धान्त का यह पक्ष अठारहवीं शताब्दी के ह्विग उदारतावाद में कायम रहा था। ह्विग उदारतावाद के अनुसार यद्यपि शासन सामान्य कल्याण के लिए उत्तरदायी था, लेकिन वह देश के विभिन्न महान् हितों, उदाहरण के लिए राजमुकुट, कुलीन, चर्च और जनसाधारण के हितों के बीच सन्तुलन स्थापित कर सकता था। एडमंड बर्क के लिए यह सिद्धान्त आधुनिक अनुदारतावाद के दर्शन की पीठिका बन गया। इंगलैंड की क्रांति ने इंग्लैण्ड के शासन की परम्परा को नहीं तोड़ा था। इसी प्रकार, उसका दार्शनिक व्याख्याता लॉक भी क्रांतिकारियों में सब से अधिक अनुदार था। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस में लॉक के विचारों का भिन्न इतिहास रहा था।

चूंकि लॉक का उद्देश्य १६८८ की क्रांति की नैतिक वैधता का समर्थन करना था, अतः उसने दूसरे निबन्ध के उत्तर भाग में अत्याचारी शासन के प्रतिरोध के अधिकार का विवेचन किया। इस विवेचन का सब से प्रभावशाली भाग वह है, जो उसने हुकर के सिद्धान्तों पर आधारित किया था। संक्षेप में, वह इस प्रकार है इंगलैण्ड का समाज और इंगलैण्ड का शासन दो भिन्न वस्तुएं हैं। शासन समाज की भलाई के लिए है। जो शासन समाज को नुकसान पहुंचाता है उसे बदला जा सकता है। इस युक्ति की पुष्टि में लॉक ने क्रांति के अधिकार का विस्तृत विवेचन किया है। लॉक का कहना है कि यह अधिकार विजय के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। लॉक ने यहां उचित और अनुचित युद्ध में भेद माना था। आक्रामक को कोई अधिकार नहीं मिलता। न्यायपूर्ण युद्ध में कोई विजेता अपने ऐसे अधिकार की स्थापना नहीं कर सकता जो विजित लोगों की सम्मति और स्वाधीनता के विरुद्ध हो। यह तक हॉब्स के विरुद्ध तो है ही, शासन के ऐसे प्रत्येक सिद्धान्त के विरुद्ध है जिसके अनुसार शासन बल के सफल प्रयोग के द्वारा अपनी न्यायपूर्ण शक्ति प्राप्त करता है। लॉक के तर्क का आधार प्रायः वही है जिसका बाद में रूसो ने विकास किया था। वह आधार यह है कि नैतिक औचित्य और बल दो भिन्न वस्तुएं हैं। बल के आधार पर नैतिक औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिए, जो शासन बल से आरम्भ होता है वह उसी समय न्यायपूर्ण माना जा सकता है जबकि वह व्यक्तियों तथा समुदायों के अन्तर्निहित अधिकारों को मान्यता दे। दूसरे शब्दों में नैतिक व्यवस्था स्थायी और शाश्वत है और शासन नैतिक व्यवस्था में केवल तत्त्वमात्र है। इस अर्थ में लॉक के लिए प्राकृतिक विधि का प्रायः वही अभिप्राय था, जो उसका सिसरो, सेनेका और सम्पूर्ण मध्ययुग के लिए था।

समाज से पृथक् शासन का उसी समय विघटन हो सकता है जबकि या तो विधायी शक्ति के केन्द्र में परिवर्तन हो या शासक उस विश्वास का उल्लंघन करे जो लोगों ने उसमें किया हो। लॉक के सामने दो घटनाएँ थीं और दोनों ही इंगलैंड के पिछले पचास वर्षों के इतिहास पर आधारित थीं। लॉक यह सिद्ध करना चाहता था कि क्रांति का वास्तविक उत्तरदायित्व राजा पर है। राजा ने अपने परमाधिकार को बढ़ाने की और संसद् के बिना शासन करने की कोशिश की थी। यह उस सर्वोच्च विधायी शक्ति का विस्थापन था जो लोगों ने अपने प्रतिनिधियों में प्रतिष्ठित की थी। उसे लांग पार्लियामेंट के अनिष्ट व्यवहार का भी स्मरण था और इसलिए वह विधानमंडल को भी अनियंत्रित नहीं छोड़ना चाहता था। प्रजाजनों के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर आक्रमण करना स्वतः अवैध है, और जो विधानमंडल ऐसे अन्याय करता है वह अपनी शक्ति से हाथ धो बैठता है। इस अवस्था में शक्ति जनता के पास वापस आ जाती है और जनता नए संविधान द्वारा नए विधानमंडल की स्थापना करती है। इस प्रकार के समस्त तर्कों में लॉक ने 'विधिसंगत' शब्द के प्रयोग द्वारा काफी और शायद अनावश्यक भ्रम उत्पन्न कर दिया है। वह कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका के अवैध कार्यों की बार-बार चर्चा करता है जबकि वह यह अच्छी तरह जानता है कि कोई वैधानिक उपचार नहीं है। इसी प्रकार वह अत्याचारी शासन के विधिसंगत प्रतिरोध की निरन्तर चर्चा करता है जबकि उसका वास्तविक अभिप्राय विधि बाह्य उपायों का आश्रय लेना है। यह दूसरी बात है कि ये उपाय नैतिक दृष्टि से उचित हो सकते हैं। स्थूल रूप से उसने 'विधिसंगत' शब्द का प्रयोग 'न्यायपूर्ण' के अर्थ में किया है। लॉक ने नैतिक रूप से उचित और वैधानिक रूप से व्यावहारिक के बीच कोई भेद नहीं माना है। यह प्रयोग इस परम्परा के आधार पर विकसित हुआ था कि प्राकृतिक, सदाचारात्मक और नैतिक विधियाँ एक ही वस्तु हैं और इसलिए कुछ ऐसी मूल विधियाँ भी हैं जिनकी उच्चतम विधानमंडल तक रचना नहीं करते। इंगलैंड में इस प्रकार के नियमों की वैधता उस क्रांति के साथ ही समाप्त हो गई थी, जिसका लॉक समर्थन करने का प्रयास कर रहा था। तथापि यह विश्वास बराबर बना रहा था कि संसद् के ऊपर कुछ नैतिक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। अमरीका में सांविधानिक और संविधिक तथा सामान्य विधि और जनमतसंग्रह के द्वारा निर्मित असाधारण विधि के बीच कुछ भेद माना जाता है। सम्भवतः यह मत लॉक के विचारों के अधिक निकट था।

लॉक के सिद्धान्त की जटिलता

(The Complexity of Locke's Theory)

लॉक के राजनीतिक दर्शन को सरल शब्दावली में व्यक्त करना कठिन है। इसका कारण यह है कि जब उसका विश्लेषण किया जाता है तो उसमें अनेक तार्किक

कठिनाइयां दिखाई देती हैं। ऊपर से देखने पर यह दर्शन काफी आसान मालूम पड़ता है। अपनी इस सरलता के कारण यह काफी लोकप्रिय भी हो गया था। लेकिन, वास्तव में इसमें अनेक गुत्थियां हैं। इन गुत्थियों का प्रधान कारण यह है कि सत्रहवीं शताब्दी की राजनीति में लॉक ने अनेक प्रश्नों को देखा था और उसने इन सभी प्रश्नों का एक साथ समाधान करने का प्रयास किया। लेकिन, उसका सिद्धान्त इतना तर्क-सम्मत नहीं था कि वह ऐसी जटिल विषय-वस्तु को सम्हाल सकता। यद्यपि परिस्थितियों ने उसे क्रांति का समर्थक बना दिया था, लेकिन वह किसी भी प्रकार से आमूल परिवर्तनवादी नहीं था। बौद्धिक मनोवृत्ति से वह सिद्धान्तवादी दार्शनिक नहीं था। सम्भवतः, इसका कारण यह हो सकता है कि उसकी प्रौढ़ अवस्था में गृह-युद्ध के परिणाम तो सामने आ गए थे, लेकिन उन्हें मान्यता नहीं मिली थी। उसने अपने सिद्धान्तों को अधिकतर उत्तराधिकार में प्राप्त किया था, लेकिन उसने उनकी पूरी परीक्षा कभी नहीं की। लेकिन, वह वास्तविकताओं के प्रति संवेदनशील था और उसने उनका बुद्धिमत्तापूर्वक समाधान करने का प्रयास किया। सत्रहवीं शताब्दी के मध्याह्न में इंग्लैण्ड की राजनीति और इंग्लैण्ड की विचारधारा दोनों ही बदल गई थी। लेकिन, उन्होंने गृह-युद्ध के पहले के दिनों से अपनी अविच्छिन्नता नहीं तोड़ी थी। लॉक ने अपने राजनीतिक दर्शन में भूतकाल और वर्तमान को मिलाने की कोशिश की। उसने एक ऐसी आधारभूमि ढूंढने की भी चेष्टा की जहां सभी दलों के बुद्धिमान् व्यक्ति आकर मिल सकें। लेकिन, उसने जो कुछ जोड़ा, उसमें वह संश्लेषण नहीं कर सका। जिस प्रकार, उसने भूतकाल के विभिन्न तत्त्वों को अपने दर्शन में जोड़ा था, उसी प्रकार आगामी शताब्दी में उसके राजनीतिक दर्शन के आधार पर अनेक सिद्धान्त निकले।

लॉक के राजनीतिक दर्शन की तर्कपरक त्रुटियों का प्रधान कारण यह है कि लॉक इस बात को कभी पूरी तरह से नहीं समझ सका कि क्या तो मूलभूत है और क्या आनुषंगिक है। उसके नागरिक समाज के विवरण में कम-से-कम चार धरातल हैं। अन्तिम तीन धरातलों को पहले धरातल से निकला हुआ माना गया है। लेकिन, यदि सुविधाजनक हुआ, तो लॉक ने इनमें से प्रत्येक धरातल को निरपेक्ष मान लिया है। उसकी दार्शनिक पद्धति की बुनियाद व्यक्ति और उसके अधिकार हैं, विशेषकर सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार। उसके राजनीतिक दर्शन का सब से महत्त्वपूर्ण अंश वह है जिसमें उसने राजनीतिक दमन से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा का सुझाव दिया है। लॉक के दर्शन में मनुष्य समुदाय के सदस्य हैं। लॉक ने समाज को व्यक्तियों की गर्भित सहमति पर आधारित माना है जिसका व्यवहार में अभिप्राय बहुमत है। तथापि, उसने बार-बार समुदाय को एक निश्चित इकाई और व्यक्ति के अधिकारों का ट्रस्टी कहा है। समाज के आगे शासन है जो समुदाय का ट्रस्टी है। कुछ इसी तरह जैसे कि समुदाय व्यक्ति का ट्रस्टी है। अन्त में, शासन के अन्तर्गत कार्यपालिका विधानमंडल की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण और कम सत्तावादी है। इस पर भी, लॉक राजा तथा उसके मंत्रियों को संसद् की समिति नहीं समझता। स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा में विधानमंडल कार्यपालिका

पर नियंत्रण रखता है और समुदाय शासन पर, स्वतन्त्रता की रक्षा का दायित्व व्यक्ति के अपने ऊपर उसी समय आता है जबकि समाज का विघटन हो जाये। लेकिन, समाज का विघटन होना जरा दूर की बात है और लॉक ने इस सम्भावना की गम्भीरता से कदापि कल्पना नहीं की। लॉक के मत से समाज, राजा तथा विधानमंडल—इन सबके कुछ निहित अधिकार होते हैं अथवा उनके पास कुछ स्थायी सत्ता होती है और इस सत्ता का अतिक्रमण केवल कुछ विशिष्ट लक्ष्य के लिए ही किया जा सकता है। लेकिन, लॉक के मत से स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार ऐसे हैं जिनका किसी भी दशा में अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। लॉक ने यह कहीं नहीं बताया है कि संस्थाओं को व्यक्तियों के समान और अविच्छेद्य अधिकारों से किस प्रकार शक्ति प्राप्त होती है। इस कारण लॉक के सिद्धान्त में जटिलता का तत्त्व बहुत बढ़ गया है।

लॉक का चिंतन ऊपर से देखने पर तो साफ सा लगता है, लेकिन उसके अन्दर बहुत अधिक जटिलता छिपी हुई है। इस जटिलता के कारण यह समझना जरा कठिन है कि उसका बाद के सिद्धान्तों से क्या सम्बन्ध है। विचारकों ने उसके दर्शन के जिन तत्त्वों को तुरन्त ही ग्रहण किया, वे उसके सबसे स्पष्ट लेकिन साथ ही सब से कम महत्त्वपूर्ण तत्त्व थे। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भिक भाग में उसका दर्शन काफी लोकप्रिय हुआ। इसके दो कारण थे। इसका पहला कारण तो यह था कि यह बहुत सरल लगता था जबकि वास्तव में इतना सरल नहीं था। इसका दूसरा कारण यह था कि यह व्यावहारिक बुद्धि से सम्बन्ध रखता था। क्रांति की सफलता के बाद जो उदारतावादी दर्शन जारी रहा था, वह लॉक के दर्शन की अन्तरात्मा को लेकर आगे चलता रहा। इस दर्शन में धार्मिक सहिष्णुता के तत्त्व की प्रधानता थी। अठारहवीं शताब्दी के इंगलैण्ड में इस प्रश्न का बहुत महत्त्व था। यह इसके बावजूद था कि टेस्ट एक्ट की अविच्छिन्नता ने कैथोलिकों और डिसेंटरों को राजनीतिक दृष्टि से अपात्र कर दिया था। संसद् की सर्वोच्चता अब कोई विवादास्पद प्रश्न नहीं रहा था। राजा की शक्ति के बारे में भी दल के मतभेदों का कोई महत्त्व नहीं था। अठारहवीं शताब्दी में ह्विगवाद उसकी ट्रिंगइज के गौण तत्त्वों को ही प्रकट करता था, हालांकि वह मौखिक रूप से लॉक की ही दुहाई देता था। ह्विगवाद का मुख्य तत्त्व यह था कि शासन की शक्तियां उस समय तक केवल उन्हीं अंगों में रहती हैं जिनमें उन्हें एक बार निहित कर दिया गया हो जब तक कि वे किसी दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करते। शासन मूलतः राज्य के विभिन्न हितों—राजमुकुट, भूमिधारी कुलीनों और निगमों—के बीच सन्तुलन स्थापित करता है।[1] इसमें लॉक के व्यक्तिगत अधिकारों के सिद्धान्त का कोई तत्त्व नहीं बचा था। इरेटन (Ireton) ने लेवलर्स के साथ के अपने विवाद में राज्य के 'स्थायी स्थिर हितों' की

1 बर्क के *Appeal from the New to the Old Whigs* में ह्विग के सिद्धान्तों का विवरण देखिए।

चर्चा की थी। ह्विग सिद्धान्तों में ये हित ही शेष रह गए थे। इसके कारण शक्तियों के पृथक्करण की कल्पना शताब्दी के अन्त तक चलती रही थी। इस सम्बन्ध में ब्लैकस्टोन ने यह ठीक ही कहा था :

"हमारी राज व्यवस्था की प्रत्येक शाखा शेष का समर्थन करती है और शेष के द्वारा समर्थित होती है, वह शेष का विनियमन करती है और शेष के द्वारा विनियमित होती है। दो सदन दो विरोधी दिशाओं में जाते हैं। राजमुकुट एक अन्य दिशा में जाता है जो इन दोनों दिशाओं से भिन्न होती है। इस अवस्था में कोई भी अपनी उचित सीमाओं से आगे नहीं बढ़ पाता। शासन के विभिन्न अंगों का एक-दूसरे के ऊपर नियन्त्रण रहता है। वे एक-दूसरे से पूरी तरह अलग भी नहीं होते। राजमुकुट का स्वरूप निश्चित है और वह सब को एक सूत्र में बांधे रखता है। वह विधानांग का एक अंग होता है और एकमात्र कार्यकारी मजिस्ट्रेट होता है।"[1]

जमींदार वर्ग का शक्ति पर एकाधिकार प्राप्त करना लॉक के व्यक्तिगत अधिकारों के सिद्धान्त के ही प्रतिकूल नहीं था, प्रत्युत् सम्पत्ति के महत्त्व के सम्बन्ध में भी उसके सिद्धान्त के प्रतिकूल था।

इसलिए, लॉक के दर्शन का सब से अधिक महत्त्व यह था कि उसने अमेरिका और फ्रांस की तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव डाला था। इसकी चरम परिणति अमेरिका तथा फ्रांस में अठारहवीं शताब्दी के अन्त में होने वाली महान् क्रांतियां थीं। लॉक ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सहमति तथा सम्पत्ति के अर्जन और उपभोग के अविच्छेद्य अधिकारों का प्रतिपादन किया था। उसका कथन था कि इन अधिकारों के नाम पर शासन-शक्ति का प्रतिरोध भी किया जा सकता है। लॉक के इस मत का सुदूरव्यापी प्रभाव पड़ा था। ये सब कल्पनाएं वैसे बहुत में लॉक से काफ़ी पुरानी थीं। ये सोलहवीं शताब्दी के बाद से ही यूरोप के समस्त राष्ट्रों का जन्मसिद्ध अधिकार रही थीं। इसलिए, यह तो नहीं कहा जा सकता कि अमेरिका और फ्रांस में विचार अकेले लॉक के माध्यम से ही पहुंचे थे। लेकिन, उसका नाम राजनीतिक दर्शन की ओर ध्यान देने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात था। ईमानदारी, नैतिक विश्वासों में दृढ़ता, स्वतन्त्रता, मानव अधिकार और मानव प्रकृति की गरिमा में विश्वास, सौम्यता तथा सद्भावना—उसके कुछ ऐसे गुण थे जिन्होंने उसे मध्यवर्ग की क्रांति का आदर्श प्रवक्ता बना दिया था। लॉक हिंसक सुधारों का नहीं, प्रत्युत् उदारतावादी सुधारों का प्रतिपादक है। इस दृष्टि से उसकी स्थिति बेजोड़ है। शक्तियों के पृथक्करण और बहुमत के निर्णयों ने आगे चलकर उसके अधिक सन्देहास्पद विचार भी लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त के भाग बन गए।

लॉक के राजनीतिक दर्शन का तात्त्विक आधार प्राकृतिक विधि का सिद्धान्त था। सत्रहवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त को बड़ी प्रबल स्थिति थी। सत्रहवीं शताब्दी

1. Commentaries, Bk. Ch. II. Sect. 2.

के वैज्ञानिक चिंतन में इसकी यह प्रबल स्थिति धीरे धीरे क्षीण हो गई। इसका कारण कुछ तो यह था कि प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनुभववादी पद्धति की सामान्य रूप से प्रगति हुई थी। लेकिन, इसका एक प्रधान कारण यह भी था कि लॉक के दर्शन ने मानवी ज्ञान के प्राकृतिक इतिहास पर बल दिया था। यह विकास बहुत कुछ उसी ढंग से हुआ जैसा कि लॉक ने निर्देश दिया था। उसने व्यवहार की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का विस्तार किया। उसने मानवी व्यवहार का मुख्य प्रेरक तत्व यह ठहराया कि वह सुख को प्राप्त करना चाहता है और दुख का निवारण करना चाहता है। प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त में यह कहा गया था कि व्यक्ति अंतर्भूत हित के तर्कसम्मत मानक को प्राप्त करना चाहता है। लॉक ने इसके स्थान पर नैतिक, राजनीतिक और आर्थिक मूल्य के उपयोगितावादी सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया। शताब्दी के मध्य में ह्यूम ने यह प्रतिपादित किया कि यदि इस चिंतन का उचित परिणति तक पहुंचाया जाता है, तो प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को बिल्कुल छोड़ा जा सकता है। इस प्रकार, लॉक के राजनीतिक दर्शन का आंतरिक संगठन बिल्कुल नष्ट हो गया था। तथापि उसके अधिकांश व्यावहारिक प्रयोजन और अधिकांश आंतरिक भावना उपयोगितावाद के पास पहुंच गई। यद्यपि उपयोगितावाद ने क्रांति का समर्थन कम ही किया था तथापि उसने लॉक की उग्र सुधार की भावना को जारी रक्खा। उसने व्यक्तिगत अधिकारों को आदर्शरूप दिया, उपयोगितावाद को समस्त राजनीतिक बुराइयों का उपचार माना सम्पत्ति के अधिकारों के प्रति आदर-भावना को कायम रक्खा और इस बात पर बार-बार जोर दिया कि सार्वजनिक हितों पर व्यक्तिगत कल्याण के सन्दर्भ में विचार करना चाहिए।

Selected Bibliography

John Locke ses theories politiques et leur influence en Angleterre By Charles Bastide Paris, 1907

Life and Letters of Sir George Savile, Bart, First Marquis of Halifax By H C. Foxcroft 2 Vols London, 1898

A Character of the Trimmer Being a Short Life of the First Marquis of Halifax By H C Foxcroft, Cambridge, 1946

"*Religious Toleration in England* By H M Gwatkin in *The Cambridge Modern History* Vol V (1908) Ch XI

The Social and Political Ideas of some English Thinkers of the Augustan Age, A D 1650 1750 Ed F J C Hearnshaw London, 1928 Chs III, IV

John Locke and the Doctrine of Majority Rule By W. Kendall Urbana, 1941.

The Moral and Political Philosophy of John Locke By Sterling P Lamprecht, New York, 1918

Property in the Eighteenth Century, with Special Reference to England and Locke By Paschal Larkin, London 1930

Political Thought in England from Locke to Bentham. H.J Laski, London 1920

"Locke's Theory of the State" By Frederick Pollock. In *Proceedings of the British Academy* 1903 4, p 237.

Darwin and Hegel with other Philosophical Studies, By D G Ritchie London, 1893, Chs VI VII

"*English Political Philosophy in the Seventeenth and Eighteenth Centuries*" By Arthur Lionel Smith In *The Cambridge Modern History* Cambridge, 1909, Vol VI Ch XXIII.

Studies in the History of Political Philosophy By C.E Vaughan 2 Vols Manchester, 1925, Vol. I, Ch IV.

अध्याय २७

फ्रांस : प्राकृतिक विधि का पतन

(France : The Decadence of Natural Law)

१६८८ की क्रांति और लॉक की पुस्तिकाओं के प्रकाशन ने रचनात्मक राजनीतिक दर्शन की आधी शताब्दी समाप्त कर दी। इस आश्चर्यजनक आधी शताब्दी में ही इंगलैण्ड में गृह-युद्ध हुआ था। इसके बाद एकदम से निष्क्रियता का, यहां तक कि जड़ता का समय आ गया। इस समय की आवश्यकता यह थी कि नयी सरकार अपने कामों को दृढ़ रूप दे। अठारहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में स्टुअर्ट वंश पुनः राजसिंहासन पर बैठा। उसने फ्रांस के प्रभाव से रोमन कैथोलिक उत्तराधिकार की जिस परम्परा को पुष्ट किया, वह एक वास्तविक खतरा मालूम पड़ती थी। इंगलैण्ड का चिंतन पुनः रूढ़िवादी, यहां तक कि निर्जीव हो गया। इसके कुछ कारण भी थे। यद्यपि इंगलैण्ड का शासन अल्पजनसत्तात्मक और भ्रष्ट था, लेकिन शेष यूरोप की तुलना में वह उदारतावादी था। वह सभी वर्गों को नागरिक स्वतन्त्रता प्रदान करता था। वह राजनीतिक स्वाधीनता केवल राजनीतिक रूप से जाग्रत वर्गों को ही प्रदान करता था। इंगलैण्ड में दल-पद्धति अथवा मंत्रीय उत्तरदायित्व का विकास किसी सचेतन सिद्धान्त निरूपण के आधार पर नहीं, प्रत्युत् परीक्षण तथा सामंजस्य के आधार पर हुआ था। डेविड ह्यूम ने अठारहवीं शताब्दी के बीच में और एडमंड बर्क ने उसके अन्त में इंगलैण्ड के सामाजिक दर्शन का विकास किया। बर्क का परवर्ती चिंतन फ्रांस की राजनीतिक घटनाओं से प्रभावित रहा था।

फ्रांस में राजनीतिक दर्शन का पुनरुत्थान

(The Revival of Political Philosophy in France)

अठारहवीं शताब्दी में राजनीतिक दर्शन का केन्द्र फ्रांस था। यह बात अपने आप में एक क्रांति थी। इसका कारण यह था कि डेकार्टीज के युग में फ्रांस के दर्शन ने यूरोप की वैज्ञानिक उन्नति का पथ प्रशस्त किया था, उसी प्रकार जैसे कि फ्रांस के साहित्य ने कलाओं की उन्नति की थी। तथापि, उसने राजनीति और सामाजिक प्रश्नों

के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा था। उसने गणित, तत्त्वमीमांसा और धर्मशास्त्र के क्षेत्र में अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया था। फ्रांस मे हेनरी चतुर्थ की अधीनता में व्यक्तिगत अथवा नौकरशाही स्वेच्छाचारिता का जन्म हुआ। रिशलू और मेज़ारिन के युग मे यह स्वेच्छाचारिता बढ़ी और लुई चौदहवें के राजतन्त्र मे इसकी चरम परिणति हुई। ऐसे युग मे सामाजिक दर्शन का विकास होना कठिन था। यह सही है कि जब इंगलैण्ड मे गृह युद्ध हुआ था, फ्रोंद[1] के समय मे उसकी ओर फ्रांस का ध्यान गया था लेकिन, यह ध्यान बहुत कम था और उससे सिर्फ यही पता चलता था कि राजनीतिक विचार उस समय तक शक्तिहीन होते हैं, जब तक कि वे राजनीतिक अवसरों के अनुकूल न हों। लुई की स्वेच्छाचारिता के अनुरूप बॉसुएट ने यह विचार प्रस्तुत किया था: "राजा का सिंहासन एक व्यक्ति का सिंहासन नही, प्रत्युत् ईश्वर का सिंहासन है।"[2] जहां तक रूप का सम्बन्ध है, यह राजाओं के दैवी अधिकार का पुराना सिद्धान्त ही था। जहां तक तत्त्व का सम्बन्ध है, यह हॉब्स के इस तर्क पर आधारित था कि निरंकुशता और अराजकता के बीच कोई तीसरी स्थिति नही हो सकती। लुई के शासन के अन्तिम तीस वर्ष प्राय: १६८५ से १७१५ मे उसकी मृत्यु तक, बढ़ते हुए पतन के वर्ष थे। सैनिक गौरव के एक युग के पश्चात् जिसने फ्रांस को सम्मोहित कर दिया था, लुई का पतन शुरू हो गया। उसकी महत्त्वाकांक्षा ने सारे यूरोप को उसके विरुद्ध कर दिया। उसकी विशाल की भव्य योजनाएं पराजय मे परिणत हो गईं। युद्धों के व्यय ने देश को दिवालियेपन तक पहुंचा दिया। विषम तथा दमनात्मक कर प्रणाली ने गरीबी का व्यापक प्रसार किया। उसने शासन की भांति ही धर्म पर भी कठोर नियन्त्रण रखा। लेकिन, जेसुइटों के प्रति उसकी नीति कुछ नरम थी। इसके कारण गैलीकन कैथोलिक उससे नाराज हो गए। उसने प्रोटेस्टैंटों के ऊपर अनेक अत्याचार किए जिसकी चरम परिणति एडिक्ट ऑफ नान्टीज के पुन: प्रस्थापन मे हुई। इसके कारण उदार चित्त के सभी व्यक्ति क्षुब्ध हुए और देश काफी गरीब हो गया।

निरंकुश शासन के पतन ने फ्रांस के दर्शन को एक बार फिर राजनीतिक और सामाजिक सिद्धान्त की दिशा मे मोड़ दिया। फ्रांस के लोगों मे सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में राजनीति मे रुचि जाग्रत हुई थी। यह रुचि धीरे-धीरे बढ़ती गई। फ्रांस मे अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे सब प्रकार के विषयों पर पुस्तकें लिखी गईं। इन विषयों मे से कुछ ये थे—फ्रांस की पुरानी संस्थाएं, यूरोप की शासन-प्रणालियां विशेषकर इंगलैण्ड की

---

1. इस सम्बन्ध में एक मात्र महत्त्वपूर्ण लेखक क्लाउड जोली था। देखिए जे० बी० बिसाउडकृत ग्रन्थ Un liberal au xvii siecle : Claude Joly (1607-1700), Paris, 1898.

2. Politique tiree des propres paroles del' ecriture saint (इस ग्रन्थ की रचना १६७० के आस-पास हुई थी। यह पहले पहल १७०९ मे प्रकाशित हुआ था)। III, ii, 1.

शासन-प्रणाली, अमेरिका और एशियायी देशों की संस्थाओं और आचार-विचारों का परिचय देने वाली यात्रा-पुस्तकें, कराधान, कृषि तथा वाणिज्य के सुधार की योजनाएं, शासन के औचित्य तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में दार्शनिक सिद्धान्त। १७५० और क्रांति के बीच में इन विषयों पर चर्चा एक आम बात हो गई। साहित्य की प्रत्येक शाखा—काव्य, नाटक और उपन्यास—सामाजिक चर्चा का माध्यम बन गई। समस्त दर्शन, समस्त विद्वत्ता सामाजिक चर्चा का माध्यम बन गई। वैज्ञानिक ग्रन्थों में भी सामाजिक दर्शन की छाप दिखाई देती थी। मोंटेस्क्यू जैसे समाजशास्त्री ने जिस सहज भाव से ग्रन्थ की रचना की थी, उसी सहज भाव से वाल्टेयर जैसे कवि अथवा रूसो जैसे उपन्यासकार दिदरो अथवा डी एलमबर्ट जैसे वैज्ञानिक, टर्गट जैसे राजकर्मचारी और हॉलबॉश जैसे तत्वमीमांसक ने राजनीतिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में रचनाएं कीं।

विचारों का यह उद्दाम प्रवाह बहुरंगी था। इसके अनेक रूप थे। इन अव्यवस्थित विचारों के आधार पर किन्हीं व्यवस्थित विचारों का निर्माण करना मुश्किल है। इस काल में पुराने दार्शनिक सूत्रों में नवीन अर्थ भरने का प्रयास किया गया। यदि इसे केवल भावपरक सिद्धान्त ही माना जाये, तो काल के इस दर्शन में ऐसी बहुत कम चीज थी जिसे बिल्कुल नया माना जाए। इस चर्चा ने दर्शन का निर्माण नहीं किया, उसे केवल लोकप्रिय बनाया। दार्शनिक मौलिकता की दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी सत्रहवीं शताब्दी की तुलना में कोई महत्व नहीं रखती थी। फिर भी, नई पृष्ठभूमि में पुराना विचार बिल्कुल वही नहीं होता। पहले जो सिद्धान्त स्पष्ट रहे थे, अब उन्होंने विकृत रूप धारण कर लिया था और अब वे कुछ ऐसे बहुरंगी हो गए थे जो लोकचिंतन की विशेषता होती है। प्राकृतिक अधिकारों की स्वतः स्पष्टता पर बार-बार जोर दिया गया। लेकिन, स्वतः स्पष्ट सिद्धान्तों के लिए एक प्रकार का तर्कबुद्धिवाद आवश्यक होता है। यह तर्कबुद्धिवाद सामाजिक शास्त्रों के बढ़ते हुए अनुभववाद से निरन्तर दूर पड़ता जा रहा था। एक ओर नैतिक तथा राजनीतिक उपयोगितावाद था। यह अनुभव पर आधारित था। दूसरी ओर प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त था। इन दोनों के दृष्टिकोण अलग-अलग थे। लेकिन, फिर भी वे आपस में मिल जाते थे। इसके साथ ही इस काल में राजनीतिक स्वच्छन्दतावाद का विकास हुआ। यह अनुभववाद तथा तर्कबुद्धिवाद दोनों के प्रतिकूल था। लेकिन, इसकी अभिव्यक्ति भी पुरानी शब्दावली में ही हुई। यह नयी प्रवृत्ति वह सब से मौलिक तत्त्व था जो अठारहवीं शताब्दी के दर्शन में प्रकट हुआ। लेकिन, इसकी विघटनकारी शक्ति क्रांति के बाद ही पूरी तरह से प्रकट हुई।

इस जटिल सामग्री की सन्तोषजनक व्यवस्था सम्भव नहीं है लेकिन सब मिला कर यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि अठारहवीं शताब्दी के ह्रास में जीन जेक्स रूसो (Jean Jacques Rousseu) का व्यक्तित्व अनूठा था। इस बात को वह खुद भी समझता था और इसके लिए उसने कष्ट भी सहा था। उसके परिचित व्यक्ति भी इस बात को समझते थे और इसके लिए उससे घृणा करते थे। सभी मेधावी

आलोचकों ने इस पर विचार किया है। लिटन स्ट्रेची (Lytton Strachey) ने कहा है कि, "उसमें एक ऐसा गुण था जो उसे उसके समसामयिकों से अलग कर देता है। इस गुण ने उसके और उसके सम-सामयिकों में बीच एक खाई पैदा कर दी थी। वह आधुनिक था।" "आधुनिक" शब्द का कुछ अभिप्राय नहीं है, लेकिन उससे एक बात ज्ञात होती है। रूसो ने तत्कालीन आकर्षक शब्दों का चाहे किसी प्रकार प्रयोग किया है उसका राजनीतिक दर्शन भिन्न था, गुण में भी और प्रभाव में भी। उसका क्रान्ति से न सम्बन्ध था और क्रान्ति के परवर्ती काल से भी। इसलिए यह उचित लगता है कि हम रूसो पर एक अलग अध्याय में विचार करें तथा उसके राजनीतिक दर्शन का जो अस्पष्ट होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, सम्यक् विश्लेषण करें। प्रस्तुत अध्याय में क्रान्ति से पहले के फ्रेंच राजनीतिक दर्शन पर विचार किया जाएगा। मुख्य रूप से यह दर्शन लॉक के दर्शन पर आधारित था लेकिन कुछ बातों में वह उससे भिन्न भी था। इन मतभेदों पर ध्यान देना जरूरी है।

लॉक का स्वागत

(The Reception of Locke)

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में लुई चौदहवें के शासन की आलोचना शुरू हो गई थी। यह आलोचना किसी विशेष राजनीतिक दर्शन के कारण नहीं हुई थी। इस आलोचना का कारण सिर्फ यह था कि उस समय की शासन व्यवस्था बहुत दोषपूर्ण थी और जागरूक व्यक्तियों को उससे चोट पहुंचती थी। वाउबन जैसे इंजीनियरों ने कृषि के ऊपर विषम करारोपण के प्रभावों का वर्णन किया। इसी प्रकार बोइसगुलिबर्ट जैसे शासक ने उद्योग धंधों पर लगाए गए दमनात्मक प्रतिबंधों की कठोर आलोचना की। इस प्रकार की आलोचना में अधिक प्रबुद्ध अभिजाततन्त्र की मांग की गई थी।[1] अभिजाततन्त्र की आलोचना फ्रांस की उन पुरानी संस्थाओं के नाम पर की गई जिन्हें राजमुकुट ने दबा दिया था। फैनेलोन ने अपनी प्रेम कथा टेलेमैक में इस विचार का विकास किया था। अपनी अन्य कुछ रचनाओं में भी उसने इस विचार का प्रतिपादन किया था।[2] इस श्रेणी के आलोचकों की मांग थी कि स्थानीय सरकारों और प्रान्तीय सभाओं को स्वतन्त्रता प्राप्त हो, स्टेट्स जनरल को फिर से प्रतिष्ठा मिले, कुलीनों की शक्ति और प्रभाव का फिर से उत्थान किया जाए तथा देश के पुराने संविधान की ओर फिर से वापस चला जाए।[3] इस तरह का स्वप्न बराबर कायम रहा और वह कम से कम कुलीनों

1 Vauban, *Project d'une dixme royale* (1707), Boisguillebert *Le detail de la France* (1695)

2 लुई चौदहवें के प्रति उसका पत्र देखिए (१६९४), *OEuvres* (Paris,1870), Vol III, p 425

3 Boulainvilliers, *Histoire de l' ancien gouvernment de la France* (1727)

में क्रांति के समय तक बना रहा। इसके चिन्ह रिस्ट ऑफ दी लाज में भी देखे जा सकते हैं। लेकिन यह सिर्फ स्वप्न था। कभी-कभी पेरिस की पार्लियामेंट राजकीय आदेश पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार करके कुछ लोकप्रियता प्राप्त कर लेती थी। लेकिन, यह सिर्फ एक प्रकार की बाधा थी जो कोक तथा जेम्स प्रथम के बाद विवादों की याद दिला देती है। लेकिन कोक और जेम्स प्रथम का वाद विवाद चार्ल्स तथा संसद के वाद-विवाद की पूर्व पीठिका मात्र था क्योंकि फ्रांस में कोई संसद नहीं थी जो इस बात को लेकर आगे बढ़ती। वस्तुस्थिति यह थी कि पार्लियामेंट किसी का भी प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। १७७० में जब उनके विशेषाधिकारों का दमन किया गया तो वह वास्तव में एक सुधार था। निरंकुशता ने फ्रांस में ऐसा कोई परम्परागत संविधान नहीं छोड़ा था जिसे कोई सुधारवादी दल पुन: प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता।

निरंकुश राजतन्त्र की आलोचना के लिए एक दर्शन की जरूरत थी। इस दर्शन की दो कारणों से जरूरत थी। पहला कारण तो यह था कि सांविधानिक परम्परा की जड़ें बिल्कुल नष्ट कर दी गई थीं। इंगलैण्ड की क्रांति का दर्शन निकट ही था। सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस का दर्शन और विज्ञान अपेक्षाकृत आत्मकेन्द्रित थे। अठारहवीं शताब्दी में ज्यों-ज्यों कारटेशियनवाद ने एक प्रकार के पांडित्यवाद का रूप धारण किया, उसके स्थान पर जान-बूझ कर लॉक के दर्शन और न्यूटन के विज्ञान की प्रतिष्ठा की गई। राजनैतिक दर्शन में इस तरह का परिणाम पहले से ही निश्चित था। एडिक्ट ऑफ नान्टीज के अन्त के बाद धार्मिक सहिष्णुता किसी भी सुधारवादी दर्शन का एक महत्वपूर्ण भाग थी। १७२६ और १७२९ के बीच में वाल्टेयर और उसके दस वर्ष पश्चात् मॉटेस्क्यू इंगलैण्ड में रहे थे। इसके कारण लॉक का दर्शन फ्रांस के नवजागरण के लिए बुनियाद बन गया। फ्रांस के उदारतावादी विचारक इंगलैण्ड की शासन प्रणाली के भी प्रशंसक थे। इसलिए सामाजिक और मनोवैज्ञानिक चिंतन में विचारों का नवीन प्रवाह एक नियम सा बन गया था। ट्रीटाइजेज ऑफ गवर्नमेंट तथा अन्य अंग्रेज लेखकों की रचनाओं के सिद्धान्त राजनीतिक तथा सामाजिक आलोचना के मूल मंत्र बन गए थे। यह सिद्धान्त बड़े सुगम और सामान्य थे। यह माना जाता था कि प्रकृति की विधि अथवा विवेक की विधि जीवन के उपयुक्त नियम का निर्देश करती है। इसके साथ किसी अतिप्राकृतिक अथवा ईश्वरीय शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। यह भी विश्वास था कि यह विधि सभी मनुष्यों के दिमागों पर समान रूप से अंकित है। हॉब्स तथा लॉक के चिंतन के परिणामस्वरूप प्राकृतिक विधि को प्रबुद्ध स्वार्थ का भाव माना जाता था। लेकिन, चूंकि प्रकृति में एक प्रकार की समरसता पाई जाती है, इसलिए प्रबुद्ध स्वार्थ को भी सामाजिक हित के अनुकूल समझा गया। इन सामान्य नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार ही यह माना गया कि सरकारें स्वतन्त्रता, सुरक्षा, सम्पत्ति तथा अन्य व्यक्तिगत हित के कार्यों को करने के लिए हैं। इसलिए, राजनीतिक सुधार का यह उद्देश्य होना चाहिए कि उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाए, उसे प्रतिनिधिक बनाया जाए। बुराइयों तथा अत्याचार को रोका जाए। एकाधिकार और विशेषाधिकार को समाप्त किया जाए।

संक्षेप में एक ऐसे समाज की रचना की जाए जिसमें व्यक्तिगत शक्ति और सम्पदा देने और धन प्राप्त करने की कुंजी हो। इन सामान्य सिद्धान्तों के औचित्य के सम्बन्ध में न तो फ्रेंच लेखकों में ही कोई महत्त्वपूर्ण मतभेद था और न लॉक तथा उनमें ही। लेकिन फ्रांस की बदली हुई स्थिति ने इन विचारों को इंगलैण्ड से बिल्कुल एक भिन्न रूप दिया।

वातावरण का परिवर्तन

(The Changed Environment)

हम यह बात पहले ही कह चुके हैं कि स्वेच्छाचारिता ने अपना काम इतनी पूर्णता से किया था कि फ्रांस में परम्परागत संविधान को फिर से जीवित करने का विचार किसी भी दल को प्रिय नहीं हो सकता था। सत्रहवीं शताब्दी का फ्रांस मूल विधि के प्राचीन आदर्शों में सम्पूर्ण यूरोप के साथ ही श्रद्धा रखता था। बोदां के दर्शन में यह विचार प्रभुसत्ता का समकक्ष ही था। लेकिन, लुई चौदहवें के राजतन्त्र में इसका कोई अर्थ नहीं रह गया था। इंगलैण्ड में इस विचार का अपना विशिष्ट महत्त्व था। यदि लेवलर अपने जन्मसिद्ध अधिकार को मनुष्य का अधिकार कहता अथवा अंग्रेज का अधिकार कहता तो इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ता था। दोनों ही स्थितियों में यह एक ठोस चीज थी और सामान्य विधि की परम्परा द्वारा पुष्ट थी। लेकिन, फ्रांस में फ्रांसीसियों के अधिकारों की बात करने का कोई अर्थ ही नहीं था। यदि वहां किसी को कुछ अधिकार थे तो वे भी केवल कुलीनों को। इसलिए, फ्रांस में मानव अधिकारों का विचार ही एक ऐसी चीज थी जिसकी फ्रांस के उदारतावादी दुहाई दे सकते थे। मानव अधिकारों का विचार एक भावपरक विचार था। इस विचार की भावपरक व्याख्या हो सकती थी। लेकिन, जब फ्रांसीसी लॉक को फ्रांस में लाए तो उन्होंने लॉक के राजनीतिक तर्कबुद्धिवाद को छोड़ दिया। लॉक के दर्शन की यह विशेषता अंग्रेज जाति के राष्ट्रीय चरित्र के अनुसार थी। फ्रांसीसी रिचर्ड हूकर को फ्रांस में न ला सके। लॉक ने अपने दर्शन को सेंट टॉमस और मध्ययुग की परम्परा के साथ जोड़ दिया था। फ्रांसीसी लॉक के दर्शन की इस विशेषता को आत्मसात् न कर सके। वे लॉक के दर्शन का सोलहवीं शताब्दी के किसी फ्रेंच विचारक के साथ भी तारतम्य न बैठा सके। इंगलैण्ड की क्रांति ऐतिहासिक और रूढ़िवादी क्रांति थी—सिद्धान्त में भी और तथ्य में भी। फ्रांसीसी लोग उसके वास्तविक स्वरूप को न समझ सके। फ्रांस के राजनीतिक दर्शन पर इसका व्यापक प्रभाव हुआ। वहां लोकाचार तथा तथ्य के विरोध में विवेक की प्रतिष्ठा की गई। लॉक के दर्शन में ऐसा कभी नहीं हुआ था। फ्रांस में नेशनल कन्वेन्शन के सामने एक वक्ता ने जिस प्रकार के विचार प्रगट किए थे वैसे विचार शायद इंगलैण्ड का कोई भी राजनीतिज्ञ प्रगट न करता।

"इन महत्वपूर्ण मामलों पर विचार करते समय मैंने केवल प्राकृतिक व्यवस्था में ही सत्य को प्राप्त करने का प्रयास किया है और कहीं नहीं। मैं अपने चिंतन की मौलिकता को कायम रखने के लिए बोलना चाहता हूँ।"[1]

इंगलैण्ड के राजनीतिक चिंतन की तुलना में फ्रांस का राजनीतिक चिंतन अत्यधिक उग्र था। उसकी इस अत्यधिक उग्रता का कारण उसके निर्माण की परिस्थितियाँ भी थीं। यद्यपि यह सिद्धान्त निरंकुशता का सिद्धान्त था, लेकिन यह निरंकुश शासन की अधीनता में निर्मित हुआ था और उसका निर्माण उन व्यक्तियों ने किया था जिन्हें शासन का न तो कोई अनुभव था और न इस अनुभव को प्राप्त करने की सम्भावना ही थी। फ्रांस में राजकर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य किसी को शासन का कोई अनुभव नहीं था और इन राजकर्मचारियों ने राजनीतिक दर्शन का कोई निर्माण भी नहीं किया। इनमें केवल टर्गो ही एक अपवाद था। स्वेच्छाचारी राजतन्त्र ने शासन को रहस्य से परिपूर्ण व्यवस्था बना रखा था। उससे ऐसी किसी आर्थिक या अन्य प्रकार की सूचना मिलना सम्भव नहीं था जिसके आधार पर किसी नीति का उचित रीति से निर्माण हो पाता। सार्वजनिक सभाओं अथवा समाचार-पत्रों में आलोचना अथवा चर्चा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। इंगलैण्ड में स्थानीय शासन राजनीति की पाठशाला रहती है। लेकिन, फ्रांस में स्थानीय शासन को पूरी तरह से केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में रख दिया गया था। इसके कारण शासन में देरी होती थी, संघर्ष होता था और लालफीताशाही चलती थी। इंगलैण्ड की सामान्य विधि की तरह फ्रांस में सामान्य विचारों की कोई ऐसी संहिता नहीं थी जिसका निरन्तर प्रयोग किया गया हो। नैपोलियन की संहिता के पहले फ्रांस में स्थानीय शासन के सम्बन्ध में ३६० व्यवस्थाएं प्रचलित थीं। इन विविध व्यवस्थाओं को एकता के सूत्र में बाँधे रखने का श्रेय केवल राजतन्त्र की प्रशासनिक एकता को था। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस का राजनीतिक दर्शन इंगलैण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक साहित्यिक दर्शन था। यह कुछ विद्वत्तापूर्ण दर्शन न होकर पुस्तकीय दर्शन था तथा सैलूनों और शिक्षित पूंजीपतियों के लिए लिखा गया था। फ्रांस में इन्हीं लोगों की कुछ पढ़ने-लिखने की ओर रुचि थी। इस दर्शन में सूत्रों तथा सामान्य बातों की बहुतायत है। इस दर्शन की प्रवृत्ति चमत्कारप्रियता की ओर है। उसका विवेचन काफी अस्पष्ट है लेकिन, उसमें परिचित विचारों पर जोर दिया गया है। यह अवसर प्रभावशाली प्रचार है, सकारात्मक कम, नकारात्मक अधिक। लेकिन, यह उत्तरदायी बहुत कम है। यह कहना बड़ा कठिन है कि अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस की तत्कालीन सरकार की रचनात्मक आलोचना क्या होती। इस क्षेत्र में हमारी जानकारी आज कुछ नहीं बढ़ी है।

---

1 *Moniteur Universel, May 15, 1793*

फ्रांस के कुछ सामाजिक और राजनीतिक कारणों ने वहाँ के राजनीतिक दर्शन को कटु बना दिया था। लॉक के राजनीतिक दर्शन में ऐसी कोई कटुता नहीं थी। फ्रांस के समाज में अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्रचलित थे। वहाँ समाज के विभिन्न वर्गों के बीच इंगलैण्ड की अपेक्षा अधिक चौड़ी खाई थी। पादरियों के पास भूमि की पूर्ति का मालिकाना था। इससे उन्हें भारी आमदनी होती थी। पादरियों को कई विमुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार भी मिले हुए थे। लेकिन, वे नैतिक अथवा बौद्धिक दृष्टि से बिल्कुल आगे बढ़े हुए नहीं थे। इसी प्रकार, कुलीनों को भी विशेषाधिकार प्राप्त थे, लेकिन उन्हें राजनीतिक शक्ति अथवा नेतृत्व प्राप्त नहीं था। फ्रांस की कृषि ने उन्हें पूँजीवादी विकास का कोई अवसर नहीं दिया। इंगलैण्ड के जमींदारों को ऐसा अवसर मिल गया था। इसी प्रकार, फ्रांस की राजनीति में भी नेतृत्व के लिए कोई अवसर नहीं था। कुलीनों के सामन्ती विराए एवं ऐसा आर्थिक व्यय था जिसका कोई आर्थिक या राजनीतिक प्रतिफल प्राप्त नहीं होता था। मध्यमवर्ग को पादरी तथा कुलीन वर्ग बेचैन मालूम पड़ते थे। इन वर्गों को अनेक सामाजिक विशेषाधिकार प्राप्त थे। और उन्हें कर-भार से छुट्टी मिली हुई थी। अपरञ्च, फ्रांस का मध्यवर्ग इंगलैण्ड के मध्यवर्ग से भिन्न था। फ्रांस में इंगलैण्ड के ऐच्छिक भू-स्वामियों की भाँति कोई वर्ग नहीं था। फ्रांस में क्रांति से पहले भी कृषक-स्वामियों की काफी संख्या थी। मध्यवर्ग में अधिकतर शहरी पूँजीपति वर्ग के लोग थे। इन लोगों के पास देश की प्रायः सारी पूँजी थी और वे दिवालिया राज्य के ऋणदाता थे। फ्रांस के राजनीतिक साहित्य में वर्ग की भावना और शोषण की भावना थी। इस प्रकार की भावना इंगलैण्ड के राजनीतिक साहित्य में जब-तब ही सामने आती थी। एक अर्थ में फ्रांस की क्रांति सामाजिक क्रांति थी। इंगलैण्ड की क्रांति सामाजिक क्रांति नहीं थी। फ्रांस की क्रांति ने तीन-चार वर्षों में चर्च की, राजमुकुट की और प्रवासी कुलीनों की सारी जमीन छीन ली। इंगलैण्ड में इस तरह की बात हेनरी सप्तम और हेनरी अष्टम के शासन कालों में हुई थी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि फ्रांस में क्रांति से पहले लॉक के दर्शन ने निहित स्वार्थों पर हमला किया और इंगलैण्ड में रिफर्मेशन के बाद उनकी रक्षा की।

उपर्युक्त मतभेद देश से तो सम्बन्ध रखते ही हैं, उनका काल से भी सम्बन्ध है। इंगलैण्ड में लॉक सत्रहवीं शताब्दी में हुआ था, लेकिन फ्रांस में वही लॉक अठारहवीं शताब्दी में पहुँचा—इससे भी स्थिति में अन्तर पड़ गया था। ग्रोशियस और केम्ब्रिज के समय से यहाँ तक कि लॉक के दिनों में भी विवेक के प्रति अपील एक उच्च कोटि का बौद्धिक प्रयत्न था। इसने दर्शन तथा विज्ञान में नूतन क्षितिजों का उद्घाटन किया था और सत्ता से मुक्ति प्राप्त की थी। अठारहवीं शताब्दी में यह अपील बहुत कुछ निष्प्राण सी हो गई थी। ज्यों-ज्यों यह अपने स्रोत से हटती गई, त्यों-त्यों यह अधिकाधिक रूढ़िवादी और सामान्य होती गई। यद्यपि बौद्धिक प्रखरता पर जोर दिया जाता था, तथापि बौद्धिक नीतिशास्त्र और बौद्धिक राजनीति का अर्थ केवल कुछ स्वार्थपरक नीति-प्रवचन था। इसमें न तो कोई बौद्धिक अन्तर्दृष्टि थी और

न नैतिक प्रेरणा। हॉलबाश के भौतिकवाद ने यह सिद्ध कर दिया था कि शिक्षा-साहित्य नास्तिकों के द्वारा लिखा जाने पर भी उतना ही स्पष्ट हो सकता है जितना कि धर्माचार्यों के द्वारा लिखा जाने पर। फिर भी, फ्रांस, इंगलैण्ड और जर्मनी के हजारों लोगों ने इस पुस्तक को बड़े चाव से पढ़ा। उन्होंने जनता की एक बड़ी संख्या को यह बता दिया कि डेस्कार्टीज और गैलीलियो से लेकर लॉक तथा न्यूटन तक महान् दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों ने दुनिया को क्या नई चीजें दी थी। अब तुलना से ज्ञात होता है कि अठारहवीं शताब्दी में अनेक त्रुटियां थीं। किसी भी युग के प्रतिभाशाली विद्वान् की रचनाओं को हमेशा पढ़ा जा सकता है लेकिन जब कोई लोकप्रिय दर्शन लोकप्रिय नहीं रहता, तब उसे बिल्कुल मृत समझना चाहिए।

तथापि, इसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष भी है। अठारहवीं शताब्दी के आश्वासन और विवेक में उसका विश्वास केवल परिचय के कारण उत्पन्न नहीं हुआ था, बल्कि ठोस सफलताओं के कारण उत्पन्न हुआ था। १६८७ में न्यूटन का प्रिंसिपिया ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इसके प्रकाशित होने तक आधुनिक विज्ञान कसौटी पर था। कुछ दार्शनिकों का इसमें दृढ़ विश्वास था लेकिन थोड़े से दार्शनिक ही ऐसे थे जिनका इसकी कारगरता में यकीन रहा हो। न्यूटन के बाद हर कोई भाप इंजन के बारे में जानता था यद्यपि उसे इसकी अस्पष्ट सी सकल्पना ही रही होगी। नए विज्ञान ने टेक्नालॉजी की अपेक्षा मनुष्य की कल्पना पर ज्यादा असर डाला। ऐसा ज्ञात होता था कि न्यूटन ने अपने विवेक के द्वारा प्रकृति के आन्तरिक रहस्य का भेदन कर दिया है। उसका कहना था, 'जो ज्ञान सुन्दर सरचनाओं में दिखाई देता है, वह अणोरणीयान् और महतोमहीयान् अंगों की प्रतिमों में भी दिखाई देता है।'[1] विवेक की शक्ति से परे कुछ नहीं था। बेकन का यह कथन कि ज्ञान शक्ति है, सच्चा हो गया था। इतिहास में मनुष्य पहली बार ही ऐसे प्रबुद्ध इरादों के साथ सहयोग कर सकता था जिन्हें हॉलबाश जैसे नास्तिक प्रकृति की समरसता का परिणाम मानते थे। अठारहवीं शताब्दी के सामाजिक दर्शन की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि मनुष्य विवेक के मार्ग दर्शन में निश्चित रूप से सुख और प्रगति कर सकता है। इसका अधिकतर अंश—उदाहरण के लिए प्रकृति की समरसता में विश्वास—केवल भ्रम था और वह किसी भी प्रकार नए विज्ञान के कारण उत्पन्न नहीं हुआ था। फिर भी, सब मिला कर यह विश्वास कि मनुष्य का भाग्य उसकी बुद्धि के ऊपर निर्भर है, एक सम्मानजनक विश्वास था। यह सत्ता के उस धर्म से जो उसके पहले हुआ था और भावात्मकता के उस धर्म से जो उसके बाद हुआ था, अधिक मानवोचित था। उसने प्रकृति पर नियन्त्रण रखने की वैज्ञानिक विवेक की शक्ति को अधिक नहीं कूता था। लेकिन, यह शक्ति मानवी सम्बन्धों के ऊपर किस प्रकार लागू होती है, इस

---

1 From Maclaurin's popularization of Newton Quoted by Carl L Becker *The Heavenly City of the Eighteenth Century Philosophers* (1932), p 62

बात को आज का मनुष्य भी उसी प्रकार नहीं जानता जिस प्रकार कि उस समय के दार्शनिक नहीं जानते थे। उन्होंने समस्या को बहुत आसान मान रखा था, यह उनकी प्रगल्भता थी।

मोंटेस्क्यू : समाजशास्त्र और स्वतन्त्रता

(Montesquieu : Sociology and Liberty)

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस में जितने भी दार्शनिक हुए थे, उनमें (रूसो को छोड़कर) मोंटेस्क्यू सब से महत्त्वपूर्ण था। मोंटेस्क्यू को सामाजिक दर्शन की जटिलताओं का अन्य दार्शनिकों की तुलना में सब से स्पष्ट ज्ञान था। लेकिन, उसने भी कहीं-कहीं अत्यन्त दुरूह सामाजिक समस्याओं को बड़े सरल रूप में प्रस्तुत किया है। उसने ही समाज तथा शासन का विशाल पैमाने पर व्यावहारिक अध्ययन किया। तथापि, उसकी अधिकांश धारणाएं ऐसी थीं जिनके लिए उसने प्रमाण जुटाने का प्रयास नहीं किया। उसने एक ऐसे राजनीतिक दर्शन का निरूपण किया जो व्यापक से व्यापक परिस्थितियों पर लागू हो सकता था लेकिन मोंटेस्क्यू का सम्पूर्ण साहित्य फ्रांस की परिस्थितियों को ध्यान में रख कर लिखा गया था। फलतः, मोंटेस्क्यू अपने युग की वैज्ञानिक आकांक्षाओं को और अपरिहार्य सम्भ्रमों को बहुत अच्छी तरह व्यक्त करता है। उसने न्याय प्राकृतिक विधि और संविदा जैसे तर्कसम्मत सिद्धान्तों को बिल्कुल नहीं त्यागा, लेकिन संविदा की उपेक्षा की और उसके स्थान पर एक ऐसे समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद (relativism) का सुभाव दिया जो स्वतःस्पष्ट नैतिक विधियों से असंगत था। उसने भौतिक तथा सामाजिक सन्दर्भ में शासन के अध्ययन की योजना प्रस्तुत की। इसके लिए व्यापक पैमाने पर संस्थाओं की तुलना करने की जरूरत थी। लेकिन, न तो उसमें इतना परिशुद्ध ज्ञान ही था और न इतनी तटस्थता ही थी कि वह अपनी योजना को कारगर कर सकता। उसका राजनीतिक स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम और अपूर्व उत्साह अठारहवीं शताब्दी की सर्वश्रेष्ठ परम्परा के अन्तर्गत आता था। लेकिन, उसने अपने दर्शन का स्वतन्त्रता के सांविधानिक सिद्धान्तों के विश्लेषण के साथ संयुक्त कर दिया था। उसने यह विश्लेषण जल्दी में किया था और वह काफी सतही था।

यह नहीं कहा जा सकता कि मोंटेस्क्यू के स्प्रिट आफ दि लाज ग्रन्थ में कोई योजना नहीं है। बोदां के रिपब्लिक ग्रन्थ का जिस नियति का सामना करना पड़ा है यह उससे बच गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस ग्रन्थ की शैली उत्कृष्ट है। मोंटेस्क्यू ने मुख्य रूप से दो प्रश्नों पर विचार किया है और इन प्रश्नों में कोई अन्तर्भूत सम्बन्ध नहीं है। सर्वप्रथम, उसने यह प्रमाणित करके कि मनुष्य के शासन तथा विधि का संगठन और संचालन उसकी परिस्थितियों पर निर्भर है, शासन तथा विधि के एक समाजशास्त्रीय सिद्धान्त का विकास करना चाहा। इन परिस्थितियों में कई चीजें शामिल

हैं—जलवायु तथा भूमि जैसी भौगोलिक दशाएं जो राष्ट्रीय चरित्र पर सीधा प्रभाव डालती हैं, कला, उद्योग तथा उत्पादन की पद्धतियां, मानसिक तथा नैतिक मनोवृत्तियां तथा प्रवृत्तियां, राजनीतिक संविधान का स्वरूप और वे प्रथाएं तथा आदतें जो राष्ट्रीय चरित्र का एक अभिन्न भाग बन गयी हैं। यदि हम शासन प्रणाली शब्द का व्यापकतम अर्थ में प्रयोग करें, तो वह एक ऐसी समग्र व्यवस्था है, जिसके लिए राष्ट्र की समस्त संस्थाओं के पारस्परिक सामंजस्य की आवश्यकता होती है। इस सामंजस्य के होने पर ही कोई शासन प्रणाली स्थिर और व्यवस्थित हो सकती है। दूसरे, मोंटेस्क्यू को हर समय यह डर लगा रहता था कि निरंकुश राजतन्त्र ने फ्रांस के परम्परागत संविधान को इतना निस्तेज कर दिया था कि स्वतन्त्रता की स्थापना हमेशा के लिए असम्भव हो गई थी। उसे निरंकुश राजतन्त्र से घृणा थी। उसने रूस तथा तुर्की की निरंकुश शासन-प्रणालियों के बारे में जो वक्तव्य दिए हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। उसका मुख्य उद्देश्य यह था और यही उसके कृतित्व का सब से महत्वपूर्ण भाग है कि उन सांविधानिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाए जिनके ऊपर स्वतन्त्रता निर्भर है और उन साधनों की खोज की जाए जिनके द्वारा फ्रांसीसियों को उनकी प्राचीन स्वतन्त्रताएं प्रदान की जा सकती हैं। जहां तक अन्तिम प्रश्न का सम्बन्ध है, यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंच गया। उसकी रचनाओं ने प्रतिक्रियावादियों को भी सहायता दी और उदारतावादियों को भी। प्रतिक्रियावादियों को तो यह आशा हो गई कि पार्लमेंटों, एस्टेटों और प्रांतीय सभाओं की स्थापना होगी। उदारतावादियों को यह आशा हो गई कि अंग्रेजी शासन प्रणाली का अनुसरण किया जाएगा। मोंटेस्क्यू के चिंतन के ये दो पक्ष उसकी रचनाओं में अलग-अलग नहीं दिखाई देते, देश के हिसाब से भी और काल के हिसाब से भी। उसका लेटर्स पर्सन्स ग्रन्थ (१७२१) मुख्य रूप से फ्रांस की स्थिति के सम्बन्ध में एक सामाजिक व्यंग था। इस ग्रन्थ में लेखक ने चर्च, लुई चौदहवें, पार्लमेंटों के पतन और कुलीन वर्ग की अधोगति के बारे में अपने विचार प्रकट किए हैं।[1] *आलोचना के मूल में भी निरंकुशता के विषय में यही संकल्पना थी जो स्प्रिट ऑफ दि लाज ग्रन्थ में व्यक्त की गयी थी।* उसके विचार से निरंकुशता एक ऐसी शासन प्रणाली थी जिसमें राजा तथा जनता के बीच की समस्त शक्तियों का नाश कर दिया जाता है तथा विधि को सम्राट् की इच्छा के अनुरूप मान लिया जाता है। निरंकुशता की इस व्याख्या ने ही शक्तियों के पृथक्करण को महत्व दिया था। मोंटेस्क्यू का विचार था कि इंगलैण्ड के संविधान का वास्तविक महत्व शक्तियों के पृथक्करण के के कारण ही है। पर्शियन लैटर्स में उसका यह विचार परिपक्व हो गया था कि सर्वश्रेष्ठ शासन वह है जो मनुष्यों की इच्छा के अनुसार शासन की स्थापना में सहायक होता है। *उसने जनसंख्या कम होने के कारणों का जो विवेचन किया है, उससे यह ज्ञात होता है* कि उसे समाजशास्त्रीय चिंतन से प्रगाढ़ प्रेम था।[2]

---

1 See Letters 24 37, 92 98 (ed Laboulaye) ।

2 Letter 80; 112 122

मोंटेस्क्यू ने पेरिस्ट डेस लोइस की रचना प्रायः १७ वर्षों में की थी। इस बात को सभी लोगों ने स्वीकार किया है कि उसके विविध भागों में वैषम्य है। उसने पहली पुस्तक से दसवीं पुस्तक तक इंगलैण्ड के विषय में कुछ प्रकीर्ण विचार प्रकट किए हैं। इसके बाद उसने ग्यारहवीं पुस्तक में इंग्लैंड के संविधान का विवरण दिया है। पहली पुस्तक से दसवीं पुस्तक तक के प्रकीर्ण विचारों से ग्यारहवीं पुस्तक के विवरण की पुष्टि नहीं होती।[1] ग्यारहवीं पुस्तक के अन्त में उसने रोम के संविधान का विवेचन किया है। यह विवेचन उसने शक्तियों के पृथक्करण की खोज करने के बाद किया है। लेकिन, प्राचीन गणराज्य के बारे में उसने शुरू में जो विचार प्रकट किए थे, उनसे इस विवरण की पुष्टि नहीं होती।[2] मोंटेस्क्यू ने १७२८ और १७३१ के बीच में यूरोप के विभिन्न देशों की यात्राएं की थीं। इस बीच में वह कुछ समय तक इंगलैण्ड में भी रहा था। उसके बौद्धिक विकास में यूरोप का यह प्रवास एक विशेष महत्त्व रखता है। स्वतन्त्रता के प्रति उसका प्रेम मुख्य रूप से नैतिक था। उसने प्राचीन गौरव ग्रन्थों का अध्ययन किया था और वह प्राचीन गणराज्यों का प्रशंसक था। इस क्षेत्र में उसके विचार मैकियावेली, मिल्टन और हैरिंगटन से मिलते-जुलते थे। स्प्रिट ऑफ दि लाज में उसके चिंतन का यह पहलू पूरी तरह ध्वनित होता है। मोंटेस्क्यू का कहना है कि गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के लिए एक प्रकार के सद्गुण और सार्वजनिक भावना की आवश्यकता होती है। मोंटेस्क्यू ने इटली और हालैण्ड के तत्कालीन गणराज्यों के बारे में भी अपने विचार प्रकट किए थे। यहां उसने गणतन्त्रात्मक शासन की सफलता के लिए इस प्रकार की कोई शर्त निर्धारित नहीं की थी। इंगलैण्ड में रहने से मोंटेस्क्यू को यह नया विचार सूझा था कि स्वतन्त्रता के लिए यही जरूरी नहीं है कि उच्च नागरिक नैतिकता हो। स्वतन्त्रता राज्य के सही संगठन के परिणामस्वरूप भी उत्पन्न हो सकती है। उसने ग्यारहवीं पुस्तक में शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के अनुसार संविधानों का चित्र प्रस्तुत किया है। यह उसकी खोज का अभिलेख है।

विधि और वातावरण

(Law and Environment)

बाह्य रूप से मोंटेस्क्यू के सामाजिक दर्शन के सामान्य सिद्धान्त उसकी प्राकृतिक विधि सम्बन्धी संकल्पना से आरम्भ होते हैं। स्प्रिट ऑफ दि लाज का आरम्भिक वाक्य यह है: 'विधि वस्तुओं के स्वरूप के आधार पर उत्पन्न होने वाली आवश्यक

1. Cf. Bk. II, Ch. IV.
2. विभिन्न पुस्तकों की तिथियों के बारे में देखिए जे० डेड्यू मोंटेस्क्यू (१९१३) पृ० ८२।

सम्बन्धों की व्यवस्था है।' इस अस्पष्ट सूत्र में एक ऐसी दुर्बोधता छिपी हुई है जिसके निवारण का मोंटेस्क्यू ने कहीं प्रयास नहीं किया है। भौतिक शास्त्र में आवश्यक सम्बन्धों का अर्थ पिंडों के आचरण में एकरूपता है। समाज में विधि मानवी व्यवहार का एक आदर्श अथवा नियम है जिसका पालन होना चाहिए लेकिन जिसका अक्सर उल्लंघन हो जाता है। मोंटेस्क्यू ने इस तथ्य की दो व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। लेकिन, ये दोनों ही व्याख्याएं अपूर्ण हैं। इनमें से एक व्याख्या इच्छा की स्वतन्त्रता और दूसरी मनुष्य की दोषपूर्ण बुद्धि से सम्बन्ध से है। इनके कारण मनुष्य उस पूर्णता का निर्वाह नहीं कर पाता जो शेष प्रकृति में दिखाई देता है। लेकिन मांटेस्क्यू ने हॉब्स के विरोध में इस बात का आग्रहपूर्वक कहा है कि प्रकृति मानवाधार विधि के पहले भी निरपेक्ष न्याय का एक मानक निर्धारित करती है। इसको अस्वीकार करना मूर्खतापूर्ण है और यह कहने के समान है कि वृत्त खींचने से पहले समस्त त्रिज्याएं समान नहीं थीं। स्पष्ट है कि उसने प्राकृतिक विधि के बारे में कभी सावधानी से विचार नहीं किया था। प्राकृतिक विधि के बारे में विचार करते समय उसने ईश्वर ज्ञान भौतिक क्षुधाओं और समाज की मूल दशाओं पर भी विचार किया है। यह आरम्भ करने का एक परम्परागत तरीका था। मांटेस्क्यू की सब से अधिक रुचि इस बात में थी कि समाज की मूल प्राकृतिक विधि जिसे उसने विवेक के साथ समीकृत किया है विभिन्न पर्यावरणों में कार्य करती है और इसलिए उसे विभिन्न स्थानों में विभिन्न संस्थाएं उत्पन्न करनी चाहिए। जलवायु भूमि, व्यवसाय, शासन प्रणाली, वाणिज्य धर्म, रीति रिवाज—ये सभी परिस्थितियां इस बात को निर्धारित करती हैं कि किसी विशेष परिस्थिति में विवेक (अथवा विधि) किन संस्थाओं को जन्म देगा। भौतिक, मानसिक तथा संस्थागत परिस्थितियों की यह उपयुक्तता अथवा सम्बन्ध ही विधि की अन्तरात्मा है। स्पष्ट है कि मोंटेस्क्यू तुलनात्मक पद्धति से संस्थाओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन पर जोर दे रहा था। इस अध्ययन में मुख्य जोर इस बात पर था कि अन्यान्य संस्थाओं तथा संस्थातीत भौतिक परिस्थितियों का विशिष्ट संस्थाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है। यह धारणा कि सभी तत्व एक प्रकृति के विभिन्न रूप हैं केवल एक कल्पना थी।

मांटेस्क्यू की मौलिकता अथवा महत्ता के बारे में ठीक-ठीक मूल्यांकन करना कठिन है। लेकिन, इतना निश्चित है कि वह अपनी योजना को विशाल पैमाने पर कार्यान्वित करना चाहता था। यह विचार उसने सम्भवतः अरस्तू से और उसकी पालिटिक्स की उन पुस्तकों[1] से ग्रहण किया था जिसमें उसने नगर-राज्यों में लोकतन्त्र तथा अल्पजनतन्त्रों के असंख्य दोषों का उल्लेख किया है। अरस्तू ने यह बात साफ साफ कह दी थी कि विधियों को विविध भौतिक तथा संस्थागत परिस्थितियों के अनुसार ढालना चाहिए और श्रेष्ठ शासन इसी सापेक्ष अर्थ में श्रेष्ठ होना चाहिए। अरस्तू ने जलवायु तथा राष्ट्रीय चरित्र के सम्बन्ध का भी भली-भांति निरूपण कर दिया

1 परम्परागत विन्यास के अनुसार ४ से ६ पुस्तकों तक।

था। आधुनिक लेखकों में बोदां ने इन संकल्पनाओं पर अपने विचार प्रकट किए थे। लेकिन, अरस्तू तथा बोदां—इन दोनों में से किसी ने भी व्यापक पैमाने पर अनुसन्धान का प्रयास नहीं किया था। सत्रहवीं शताब्दी में अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया के आदिवासियों तथा पुरानी सभ्यताओं के बारे में प्रचुर साहित्य निर्मित हुआ था। मोंटेस्क्यू ने इस साहित्य का अध्ययन किया था। चार्डिन के जर्नल (१७११) ने जलवायु के प्रभाव का विवेचन किया था। मोंटेस्क्यू को अपने पर्शियन लेटर्स की अधिकांश सामग्री इसी जर्नल से प्राप्त हुई थी। मोंटेस्क्यू का उद्देश्य यह प्रकट करना था कि प्रमुख शासन प्रणालियां विभिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार विभिन्न रूप धारण कर लेती हैं।

अरस्तू की भांति ही मोंटेस्क्यू के लिए भी शासन के प्रकार या भेद निश्चित थे। ये भेद अपने पर्यावरण के प्रभाव से बदल भर जाते हैं। चूंकि अरस्तू ने केवल यूनानी नगर-राज्यों के बारे में ही विचार किया था, अतः यह धारणा काफी हद तक सही थी। लेकिन, मोंटेस्क्यू ने जिस विशाल पैमाने पर अनुसंधान की योजना बनाई थी, उसमें यह धारणा खतरनाक थी। मोंटेस्क्यू की यह योजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। तथापि तुलना में कितनी विभिन्न शासनप्रणालियों का प्रयोग हो सकता है, इस ओर उसने बहुत कम ध्यान दिया है। वह न तो यह बताता है कि उसने राज्यों के परम्परागत त्रिगुण वर्गीकरण को केवल अंशतः ही क्यों अपनाया है और न यह कि वह इस वर्गीकरण से क्यों दूर हटा है। उसने सिर्फ यह कहा है कि शासन-प्रणालियां तीन प्रकार की होती हैं: गणतन्त्रात्मक (लोकतन्त्र तथा अभिजाततन्त्र का सम्मिश्रण), राजतन्त्रात्मक और निरंकुश शासन। निरंकुश शासन राजतन्त्र से इस अर्थ में भिन्न है कि वह स्वेच्छाचारी और स्वार्थपूर्ण होता है। राजतन्त्र विधि के रूपों के अनुसार सांविधानिक शासन है। इस शासन-प्रणाली में यह आवश्यक है कि राजा तथा जनता के बीच कुछ बीच की शक्तियां हों—उदाहरण के लिए कुलीन हों या कम्यून हों। मोंटेस्क्यू ने कल्पना की है कि इनमें से प्रत्येक शासन प्रणाली के अन्तर्गत प्रजाजनों के चरित्र में एक विशेष सिद्धान्त एक विशेष प्रेरक शक्ति कार्य करती है। शासन-प्रणाली के सचालन के लिए यह प्रेरक शक्ति आवश्यक है। इस प्रकार, लोक शासन जनता के नागरिक सद्गुण अथवा सार्वजनिक भावना पर निर्भर होता है। राजतन्त्र सैनिक वर्ग की सम्मान-भावना पर निर्भर होता है। निरंकुश शासन प्रजाजनों के दासभाव अथवा भय पर आधारित होता है।

यह समझ में नहीं आता कि मोंटेस्क्यू के वर्गीकरण ने किसी विशिष्ट सिद्धान्त का अनुसरण किया था। जहां तक शासकों की संख्या का सम्बन्ध है, राजतन्त्र तथा निरंकुश शासन एक साथ पड़ते हैं। जहां तक सांविधानिकता का सम्बन्ध है, राजतन्त्र भी ऐसा ही विधि-विहीन हो सकता है जैसा कि निरंकुश शासन। यह विचार गलत था कि निरंकुश शासन-प्रणालियों में कोई विधि नहीं होती। यह विचार भी कल्पना मात्र ही था कि ये तीनों शासन-प्रणालियां क्रमशः छोटे, बीच के और बड़े राज्यों के लिए उपयुक्त होती हैं। यह नहीं माना जा सकता कि शासन प्रणालियों का यह वर्गी

करण निरीक्षण अथवा तुलना के आधार पर निश्चित किया गया था। राजनीतिक यथार्थता के क्षेत्र में उसकी तुलना हैरिंगटन के इस सिद्धान्त से भी नहीं की जा सकती थी कि सरकारों का वर्गीकरण भूमि के पट्टे की कुछ प्रणालियों के अनुसार किया जा सकता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि मोंटेस्क्यू की इस विषय में केवल वैयक्तिक रुचि थी। इसके साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि फ्रांस की राजनीतिक समस्याओं ने उसके मन में एक नैतिक प्रतिक्रिया उत्पन्न की थी और इस प्रतिक्रिया ने उसके शासन-प्रणालियों के वर्गीकरण के सिद्धान्त पर असर डाला है। मोंटेस्क्यू के आदर्श गणराज्य में नागरिकों के नागरिक सद्गुण की प्रधानता थी। उसका आधुनिक गणराज्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था। उसका विचार था कि फ्रांस रिशलू और लुई चौदहवें की अधीनता में निरंकुश शासन बन गया था। इस काल में स्थानीय शासन, पार्लमेंटों और कुलीनों को उनके विशेषाधिकारों से वंचित कर दिया गया था। उसके राजतन्त्र का आदर्श रूप वह था जो वह फ्रांस में कायम करना चाहता था और जो उसके विचार से इंगलैण्ड में प्रचलित था। इसलिए, मोंटेस्क्यू के सिद्धान्त की मुख्य रूपरेखा किन्हीं व्यावहारिक धारणाओं के आधार पर निर्धारित नहीं हुई थी। वह इस सिद्धान्त से निर्धारित हुई थी कि फ्रांस में क्या वांछनीय है।

स्प्रिट आफ दि लाज में मुख्य जोर इस बात पर दिया गया है कि भौतिक तथा संस्थागत परिस्थितियों के अनुसार प्रत्येक शासन के अन्तर्गत यथाआवश्यकता विधि तथा संस्थाओं में संशोधन किया जा सकता है। सचाई यह है कि मोंटेस्क्यू के ग्रन्थ में मसाला बहुत कम है। इसमें अप्रासंगिकता की मात्रा बहुत अधिक है। चौथी से लेकर दसवीं पुस्तक तक उसने शिक्षा संस्थाओं, दंड विधि, व्यवहार-विधि, स्त्रियों की स्थिति प्रत्येक शासन-प्रणाली के विकृत रूपों, और प्रत्येक शासन-प्रणाली के लिए उपयुक्त सैनिक संगठन का विवेचन किया है। ग्यारहवीं और बारहवीं पुस्तकों में राजनीतिक तथा नागरिक स्वतन्त्रता का विख्यात विवेचन है। तेरहवीं पुस्तक में कराधान की पद्धतियों का विवेचन किया गया है। चौदहवीं से लेकर सत्रहवीं पुस्तक तक में शासन तथा उद्योग-धंधों पर जलवायु के प्रभाव का वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि इसका दासता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता से क्या सम्बन्ध है। अठारहवीं पुस्तक में भूमि के प्रभावों का संक्षिप्त रूप से विवेचन है। उन्नीसवीं पुस्तक में लोकाचारों के प्रभाव का वर्णन है। यहाँ यह रूपरेखा भी भंग होने लगती है। बीसवीं से लेकर बाईसवीं पुस्तक तक में वाणिज्य तथा मुद्रा के बारे में विचार किया गया है। तेईसवीं पुस्तक जनसंख्या और चौबीसवीं तथा पच्चीसवीं पुस्तकें धर्मों का विवेचन करती हैं। छब्बीसवीं से लेकर इकत्तीसवीं पुस्तकों तक में रोमन तथा सामन्ती विधि की चर्चा है।

मोंटेस्क्यू के निष्कर्षों का सारांश उपस्थित करना असंभव है। वे अधिकतर घटनापरक हैं। मोंटेस्क्यू ने जिस चीज को साक्ष्य माना है, वे उस पर बहुत कम निर्भर हैं। उसके मुख्य उद्देश्य के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह उन दो मूल प्रवृत्तियों के बीच झूलता रहता है जो उसके आमक आधारभूत सिद्धान्तों में अन्तर्निहित हैं। एक

ओर तो उसने यह मान लिया था कि मानवी विधि मविवेक है और इसलिए, यदि कोई रूढ़ि व्यापक तथा स्थायी रूप में प्रचलित होती है, तो उसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है। उसका यह दृष्टिकोण उसकी अनुदार प्रवृत्ति तथा उसके इस मान्य सिद्धान्त के अनुकूल था कि जलवायु जैसे भौतिक कारण मानसिक तथा नैतिक दशाओं पर सीधे प्रभाव डालते हैं। यदि इस दृष्टिकोण को इसके उचित निष्कर्ष तक पहुँचाया जाए तो इसका अर्थ पूर्ण भौतिकवाद होगा। मॉटेस्क्यू का यह दृष्टिकोण कदापि नहीं था। इसके विपरीत मॉटेस्क्यू का विचार था कि जलवायु तथा दासता और बहु-विवाह जैसी कुछ संस्थाएं प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण करती हैं। विधि द्वारा वांछनीय नैतिक परिणामों को उत्पन्न कर के इस क्षति की पूर्ति की जाती है। राजनीतिक घटनाक्रम की व्याख्या करने के इस तरीके का यह अर्थ होता है कि विधिकर्ताओं के नैतिक विचार सामाजिक कार्यकारण से स्वतन्त्र होते हैं और जलवायु तथा अन्य तत्वों का आकस्मिक प्रभाव केवल उसी सीमा तक कारगर होता है जिस सीमा तक वह उनकी गणनाओं में प्रवेश कर सकता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण राजनीति के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के प्रतिकूल होता है और यह शासकों के प्रभाव के बारे में उन अतिरंजित विचारों को प्रकट करता है जिन्हें मैकियावेली ने प्रचलित कर दिया था। इस दृष्टि से मॉटेस्क्यू अपने समसामयिकों से कम दोषी था।

मॉटेस्क्यू के इस विख्यात सूत्र का, कि विधियों को उन परिस्थितियों के अनुरूप ढालना चाहिए जिनमें कोई राष्ट्र रहता है, कोई निश्चित अर्थ बताना असम्भव है। इस पद्धति ने राजनीतिक न्याय के भावपरक आख्यान के बारे में कोई आधार नहीं दिया। इसमें व्यापक आधार पर तुलनात्मक विधि के अध्ययन की योजना प्राप्त होती थी, लेकिन इस अध्ययन योजना में कई बातें अस्पष्ट थीं। मॉटेस्क्यू का सब में महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि जलवायु जैसी प्राकृतिक शक्तियां शरीर तथा मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव डालती हैं। लेकिन, उसके इस सिद्धान्त की भी वही गति हुई है जो लामार्क के इस प्रकार के जीवशास्त्रीय सिद्धान्त की हुई है। यह कथन कि मॉटेस्क्यू ने सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करने के लिए एक तुलनात्मक और निगमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया था, आंशिक रूप में ही सही था। मॉटेस्क्यू में सामान्यीकरण करने की विशेष प्रवृत्ति थी। इसके साथ ही वह अपने पूर्वनिश्चित विश्वासों के अनुसार ही निष्कर्ष निकालता था। इस क्षेत्र में वह अन्य राजनीतिक सिद्धान्तवादियों से काफी आगे बढ़ा हुआ था। उसका अध्ययन बड़ा व्यापक था, लेकिन उसका ज्ञान अपूर्ण था, बाद के बौद्धिक मानकों की दृष्टि से नहीं बल्कि उसके समाधनों की दृष्टि से। उसका अद्भुत ज्ञान अनुपम विश्वासों को प्रकट करता था। यदि उसने कभी ईरान के बारे में न सुना होता, तब भी उसके ये विश्वास ऐसे ही रहते। यूरोप का राजनीतिक घटनाक्रम मॉटेस्क्यू की आंखों के सामने ही घटित हुआ था। लेकिन, मॉटेस्क्यू ने इस घटनाक्रम का मैकियावेली, बोदां अथवा हैरिंगटन की भांति गम्भीरतापूर्वक अवलोकन नहीं किया था। ये लोग ऐसे थे जिन्हें मॉटेस्क्यू की भांति सर्वज्ञता का कोई अहंकार नहीं था। मॉटेस्क्यू की परिपक्वता

का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण उसकी वैज्ञानिक सिद्धि नहीं, प्रत्युत् स्वतन्त्रता के प्रति उसका उत्साह है। वह एक नीतिवेत्ता था जिसके लिए शाश्वत सत्य क्षीण होने लगे थे लेकिन जिसमे उनके बिना काम चलाने की रचनात्मक शक्ति नही थी।

शक्तियो का पृथक्करण

(The Separation of Powers)

मोंटेस्क्यू के समसामयिकों के विचार से मोंटेस्क्यू के महत्व का कारण यह था कि उसने *ब्रिटिश संस्थाओ को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक साधन* बताया और इस रूप मे उनका प्रचार किया। मोंटेस्क्यू कुछ समय इगलैण्ड रहा था। वहा रहने से उसकी यह पूर्वधारणा दूर हो गई थी कि राजनीतिक स्वतन्त्रता एक उच्चतर सद्गुण के ऊपर आधारित है। यह सद्गुण केवल रोमनो को ही ज्ञात था और इसे केवल नगर-राज्य मे ही सिद्ध किया गया था। उसने निरकुशता के प्रति उसकी बद्धमूल अरुचि को सार प्रदान किया और एक ऐसे उपाय का निर्देश किया जिसके द्वारा फ्रास मे निरकुशतावाद के दुष्परिणामो को दूर किया जा सकता है। यह कहना सही नही है कि मोंटेस्क्यू फ्रास मे इगलैण्ड के शासन का अनुकरण सम्भव मानता था। तथापि, इसमे कोई सन्देह नही है कि स्प्रिट ऑफ दि लाज की सुप्रसिद्ध ग्यारहवी पुस्तक ने उदार संविधान-निर्माण के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। इन सिद्धान्तो ने आगे चल कर रूढियो का रूप धारण किया। इस पुस्तक मे शासन की विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियो के पृथक्करण का और एक-दूसर के विरोध मे इन शक्तियो के सन्तुलन का निरूपण किया गया था। इस क्षेत्र मे मोंटेस्क्यू का प्रभाव अतुलनीय है। अमेरिकी और फ्रासीसी संविधानो के अधिकार-पत्रो पर उसकी छाप स्पष्ट है।[1]

यह विचार राजनीतिक दर्शन मे बहुत पुराना था। प्लेटो ने लाज मे मिश्रित राज्य के विचार का प्रतिपादन किया था। पोलीबियस ने रोमी शासन की कथित स्थिरता का यही कारण बतलाया था। मर्यादित अथवा मिश्रित राजतन्त्र मध्ययुग की एक सुपरिचित सकल्पना थी। मध्ययुग का संविधान शक्तियो के विभाजन पर आधारित था। वह उस नए राजतन्त्र से भिन्न था जिसने प्रभुशक्ति का दावा किया था। इगलैण्ड मे राजमुकुट तथा सामान्य विधि की अदालतो तथा राजमुकुट और संसद के

---

1 उदाहरण के लिए वर्जीनिया का अधिकारो का घोषणा-पत्र (१७७६), सेक्शन ५, १७८० का मैसाचुसेट्स का संविधान, प्रस्तावना सेक्शन ३०, फ्रास की मानव और नागरिको के अधिकारों की घोषणा (१७९१), सेक्शन १६। शक्तियो के पृथक्करण के लिए अमेरिकी केवल मोंटेस्क्यू पर ही निर्भर नही थे।

महत्व स्पष्ट है। इसी समय इस व्याख्या को पुष्ट करने के लिए इस युग की दो महान् सिद्धियाँ सामने आईं—न्यूटन का भौतिक शास्त्र और लॉक का मनोविज्ञान। इन्होंने यहाँ व्याख्या पुष्ट की। न्यूटन ने प्रकृति के यान्त्रिक सिद्धान्तों की सरल व्याख्या की। ये सिद्धान्त समय अथवा आकाश की सीमा से आबद्ध नहीं थे। उन्होंने इस धारणा को आधार दिया कि राजनीतिक और आर्थिक घटनाओं पर सामान्य रीति से विचार किया जा सकता है। इसी समय लॉक ने न्यूटन के भौतिक शास्त्र के ढंग पर ही मन के एक मानो प्राकृतिक इतिहास का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार [illegible] अथवा संस्थाओं के विकास द्वारा निर्धारित सामाजिक प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में किए गए सामाजिक प्रक्रियाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती थी। न्यूटन और लॉक दो ऐसे व्यक्ति थे जिनका अठारहवीं शताब्दी में सब से अधिक महत्व था। जब वाल्टेयर १७२९ में इंग्लैण्ड से फ्रांस वापस लौटा उस समय वह अपने साथ दो योजनाएँ लाया था—न्यूटन के भौतिक शास्त्र और लॉक के मनोविज्ञान का प्रचार।[1]

वाल्टेयर इंग्लैण्ड का प्रशंसक था लेकिन वह उसके प्रतिनिधिक शासन का उतना प्रशंसक नहीं था, जितना उसकी चिन्तन और प्रकाशन की स्वतन्त्रता का। इस लिए, लॉक के दर्शन का फ्रांस में जो पहले-पहल प्रभाव पड़ा, वह परोक्ष रीति से ही राजनीतिक था। लॉक का यह प्रभाव *Letters on Toleration* तथा *Treatises of Government* दोनों ही ग्रन्थों के माध्यम से पड़ा। यह प्रभाव उसी समय पड़ा था जब कि फ्रांस में सविधानवाद की परम्परा तोड़ लुई चौदहवें ने एडिक्ट आफ नान्टीज का पुनरुद्धार कर उल्लंघन किया था और पियरे बेली ने अपने सन्देहवादी दर्शन का प्रतिपादन किया था। बेली ने लॉक के विचारों के प्रकाशन के काफी समय पूर्व यह कहा था कि कोई भी धार्मिक सिद्धान्त न तो सन्देहातीत है और न वह आचारों के लिए अपरिहार्य ही है। फ्रांस में जहाँ धार्मिक और राजनीतिक विचार स्वातन्त्र्य का दमन किया जाता था, प्रकाशन की स्वतन्त्रता का प्रश्न सब से महत्वपूर्ण हो गया था। इस क्षेत्र में वाल्टेयर ने जितना परिश्रम किया था, उतना अन्य किसी विचारक ने नहीं। उसने ईसाई मत के दमन का तीव्र विरोध किया। उसका यह प्रयत्न इतिहास में भाषण-स्वातन्त्र्य के लिए सब से बड़ा योगदान है। लेकिन, उसने अपनी इस जिहाद को लोक-शासन के लक्ष्य से अलग रक्खा था। यह कोई दूरदर्शी नीति नहीं थी क्योंकि राजनीतिक स्वतन्त्रता के बिना नागरिक स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं हो सकती थी। वाल्टेयर की राजनीति में स्वतन्त्र रीति से कोई रुचि नहीं थी। उसकी जनसाधारण में भी कोई रुचि नहीं थी। वह जनसाधारण को क्रूर और मूर्ख समझता था। लेकिन, विद्वानों की स्वतन्त्रता में उसकी बहुत अधिक दिलचस्पी थी। फ्रांस की दण्डविधि की क्रूरता और निर्दयता के वह बहुत खिलाफ था। उसका स्वभाव बड़ा झगड़ालू था। वह वाग्वैदग्ध्य में निपुण था

---

1 वाल्टेयर का ग्रन्थ *Letters on the English* अंग्रेजी में १७३३ में और फ्रेंच में १७३४ में प्रकाशित हुआ था।

और इसके द्वारा अपने शत्रुओं का उपहासास्पद बना देता था। चूँकि ऐसी संस्थाओं के साथ जिनके दिमाग नहीं था, तर्क करना, असम्भव था, अतः वह अपने सबसे शक्तिशाली औजार के द्वारा उनका मजाक उड़ा देता था। उस समय विचार-स्वातंत्र्य पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे। अतः, चर्च और राज्य की खुल्लम खुल्ला आलोचना नहीं की जा सकती थी। उनकी आलोचना परोक्ष रीति से व्यंग के माध्यम से ही की जा सकती थी। दिदरो ने विश्वकोश की भूमिका में अपनी योजना का इस प्रकार वर्णन किया था

'जब हम कोई निबन्ध तैयार कर रहे हों तो उन समस्त अवस्थाओं में जहां राष्ट्रीय पक्षपात सम्मान का पात्र हो, निबन्ध में उसका सम्मानजनक विवरण दिया जाना चाहिए। इसमें विषय से सम्बन्धित सभी अच्छी बातों और सम्भावनाओं का उल्लेख कर देना चाहिए। लेकिन हमें ऐसे निबन्धों के सन्दर्भ द्वारा जिनमें ठोस सिद्धान्त विरोधी सत्यों के लिए आधार का निर्माण करें, कीचड़ के अम्बार को हटा देना चाहिए और कूड़े-करकट को भी नष्ट कर देना चाहिए। सचाई के दर्शन कराने की यह पद्धति सही ढंग के आदमियों पर तो तुरन्त असर करती है। यह अन्य प्रकार के व्यक्तियों के दिमाग पर भी चुपके-चुपके तथा बिना किसी परेशानी के कार्य करती है। वह सफल तो होती ही है किसी प्रकार की कठिनाई भी पैदा नहीं करती।'[1]

वाल्टेयर के धर्म और सहिष्णुता सम्बन्धी विचारों की नवीनता का अभिप्राय यह नहीं था कि उनमें कोई अन्तर्भूत विशेषता थी। वे लॉक से केवल कुछ ही बातों में भिन्न थे। वाल्टेयर ने आत्म साक्षात्कार को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया था। लेकिन वाल्टेयर के विचारों ने फ्रांस में उग्र रूप धारण किया। इंगलैंड में इस उग्रता का अभाव था। लॉक के राजनीतिक दर्शन के साथ भी यही बात हुई थी। लॉक के राजनीतिक दर्शन का प्रभाव इंगलैण्ड में तो नरम ही रहा था, लेकिन फ्रांस में उसका प्रभाव उग्र रहा। इस अन्तर का कारण विचार नहीं थे, प्रत्युत् परिस्थितियां थीं। उस समय फ्रांस के शासन और फ्रांस के चर्च की जो स्थिति थी, उसमें नरम से नरम विचार भी राज द्रोहात्मक लगते थे। इंगलैण्ड में जिस दर्शन का स्वर अनुदारवादी रहा था, फ्रांस में उसी दर्शन का स्वर उग्र हो गया था। इस सम्बन्ध में जॉन मार्ले ने यह ठीक ही कहा है कि अठारहवीं शताब्दी में जिन लोगों ने अंग्रेजी चिंतन को प्रेरणा दी थी वे सब यथास्थिति को बनाए रखने के पक्ष में थे। इसके विपरीत, फ्रांसीसी लेखकों के ऐसे ही समुदाय में ऐसे अनेक लोग सम्मिलित थे जिनको काफी सताया गया था।

---

1. S V Encyclopedie जॉन मार्ले के अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर।

हेल्वेटियस फ्रांस का उपयोगितावाद

(Helvetius . French Utilitarianism)

लॉक के सामाजिक दर्शन का सैद्धान्तिक विस्तार इंग्लैंड और फ्रांस दोनों स्थानों में एक से ढंग पर हुआ था। लॉक के ट्रिटाइज ऑन गवर्नमेंट मानव के व्यक्तिगत अधिकारों की स्व-प्रामाणिकता का और ऐसे नामक ग्रन्थ के चौथे अध्याय में ज्ञान के सिद्धान्त का निरूपण किया गया था। लेकिन उसकी इस देन का उसके कृतित्व के सब से महत्वपूर्ण अंश से बहुत कम सम्बन्ध था। उसके कृतित्व का सब से महत्वपूर्ण अंश यह था कि उसने मानव प्रकृति व बोध का विचारों के सन्दर्भ में इन्द्रियपरक प्रस्तुत किया था। मानव प्रकृति व बोध सम्बन्धी विचार अन्ततोगत्वा इन्द्रियों पर आधारित थे। उसने अपनी दूसरी पुस्तक में इन सब बातों पर विस्तार से विचार किया था। लॉक के दर्शन के विचारात्मक विकास का अर्थ विचारों की एक नयी पद्धति का विकास और परिशीलन प्रवृत्ति का था। उसके वैज्ञानिक ज्ञान के सिद्धान्त का मूलतत्व थी, अन्य था। सम्भवतः जिस कृति ने प्रश्न का वर्णन किया, वह बर्कले का एक छोटा सा निबन्ध था—New Theory of Vision। यह निबन्ध १७०९ में प्रकाशित हुआ था और मान्यताओं पर आधारित था। इसमें बतलाया गया था कि साहचर्य के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का मानसिक क्रिया (गहराई की दृश्य भावना) के विश्लेषण और स्पष्टीकरण में किस प्रकार प्रयोग हो सकता था। यह मानसिक क्रिया अथवा गहराई की दृश्य भावना एकात्म और अनतरम प्रतीत होती थी। अतएव, लॉक के चिन्तन के विकास की यह पद्धति लॉक की इच्छा के अनुकूल ही थी क्योंकि न्यूटन के भौतिक शास्त्र के प्रति लॉक के मन में सराहना का भाव था। ह्यूम ने अपनी ट्रिटाइज (१७३९) में मनोविज्ञान के क्षेत्र में विचारों के साहचर्य के सिद्धान्त की भौतिक क्षेत्र में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के साथ तुलना की। अब मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन का यह अर्थ हो गया कि उनकी संवेदना के तत्वों के रूप में व्याख्या की जाए और साहचर्य के सिद्धान्त के सन्दर्भ में उनका विकास प्रदर्शित किया जाए। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक कॉन्डिलेक ने इस प्रकार के मनोविज्ञान का फ्रांस में काफी प्रचार कर दिया था।

अब लॉक के नैतिक और मनोवैज्ञानिक विचारों में [illegible] की अस्पष्टता थी। इसका कारण यह था कि वे विचार विवेक की इस सहज शक्ति पर निर्भर थे कि वह स्पष्ट सत्यों को ग्रहण कर सकती है। वह अनतरम विचारों को अस्वीकार कर सकता था, लेकिन वास्तव में व्यक्तियों के स्वतः स्पष्ट अधिकार और ध्रुव थे भी नहीं। तथापि, मानवी आचरण के एक ऐसे सिद्धान्त के निर्माण में कोई कठिनाई नहीं थी जिसकी विचारों के साहचर्य के आधार पर व्याख्या न की जा सकती हो। सब से सुगम सिद्धान्त यह था कि मनुष्य के समस्त कार्यों के दो प्रेरक उद्देश्य मान लिए जायें, सुख की

इच्छा और दुःख से विरक्ति। मनुष्य के विविध कार्यों के और भी प्रेरक उद्देश्य हो सकते हैं। लेकिन मुख्य प्रेरक उद्देश्य यही हैं। दूर के अन्य प्रेरक उद्देश्यों का भी इन मूल प्रेरक उद्देश्यों से ही सम्बन्ध रहता है। मानवी आचरण का उद्देश्य यही है कि अधिक से अधिक सुख प्राप्त किया जाए और कम से कम दुःख सहा जाए। इंगलैण्ड में १७३० और १७४० में इस सिद्धान्त का विकास किया गया।[1] फ्रांस में हल्वेटियस ने १७५८ में डी ला एस्प्रिट में इस सिद्धान्त का विस्तार से निरूपण किया। पुनः, इंगलैण्ड में इस उपयोगितावादी नीतिशास्त्र का जो स्वर रहा था और फ्रांस में इसका जो स्वर रहा था उसमें आश्चर्यजनक अन्तर था। इंगलैण्ड में यह मुख्यतः एक धार्मिक सिद्धान्त था। यह पुराने विचारों के लोगों को विशेष रूप से प्रिय था क्योंकि वे लोग भावी जीवन के सुख और दुःख को काफी महत्त्व देते थे। फ्रांस में हल्वेटियस ने इसे विधायक को सुधारने के कार्यक्रम का रूप दिया। विधायक मानव प्रेरणाओं के उपयोग द्वारा व्यक्तिगत सुख और सार्वजनिक कल्याण में समरसता उत्पन्न कर सकता है। संक्षेप में उसने महत्तम सुख के सिद्धान्त को सुधार का साधन बना दिया और उसे अपने दो अनुयायियों बेकारिया और बेंथम को सौंप दिया। बेंथम ने उपयोगितावादी दर्शन का अध्ययन फ्रांस में हल्वेटियस से किया था। यह दर्शन मुख्य रूप से अंग्रेजी दर्शन था और जब वह उसे लेकर इंगलैण्ड वापस आया, तब उसने इसका उग्र सुधार के साधन के रूप में प्रयोग किया। तथापि, प्रायः आधी शताब्दी तक इसके दार्शनिक सिद्धान्त इंगलैण्ड के अनुदारतावाद के संरक्षक रहे थे।

डी ला एस्प्रिट की भूमिका में हेल्वेटियस ने कहा है कि उसने नीतिशास्त्र का अन्य किसी विज्ञान की भांति निरूपण किया और उसे भौतिक शास्त्र की भांति अनुभव सापेक्ष बनाने का प्रयास किया है। नीतिवादियों ने सदैव ही प्रोत्साहन देने की अथवा निन्दा करने की कोशिश की है। ये दोनों ही निष्फल हैं। इसका कारण यह है कि आचारों को उन शक्तियों के बोध से आरम्भ होना चाहिए जो मानवी क्रिया के कारण हैं। आचरण का पहला सिद्धान्त यह तथ्य है कि मनुष्यों को आवश्यकतावश अपने स्वार्थों की साधना करनी चाहिए। नीतिविज्ञानों में स्वार्थ का वही स्थान है जो भौतिकशास्त्र में गति का। आदमी जिस चीज को अच्छी समझता है, वह उसके स्वार्थ की साधक होती है। इसी प्रकार, कोई व्यक्ति-समुदाय अथवा राष्ट्र जिस चीज को नैतिक समझता है, वह सामान्य हित की साधक होती है।

---

1 इस सिद्धान्त की रूपरेखा का सब से पहले स्पष्ट निरूपण जान गे के *Concerning the Fundamental Principle of Virtue of Morality* (१७३१) में मिलता है। एल० ए० सेल्बी बिगे के *British Moralist*, Vol II p 267। देखिये E Albee: *English Utilitarianism* (1902), Ch I IX

"नीतिवादी मनुष्य की निकृष्टता की सदैव निन्दा करते रहते हैं। इससे पता चलता है कि वे वस्तुस्थिति को कितना कम समझते हैं। मनुष्य निकृष्ट नहीं हैं। वे केवल अपने हितों की साधना करते हैं। नीतिवादियों के अश्रुपात से मानव प्रकृति की यह प्रेरक शक्ति नहीं बदल सकती। शिकायत करने की चीज मनुष्यों की निकृष्टता नहीं है, बल्कि विधायकों का अज्ञान है। विधायक व्यक्तियों के हित को सदैव ही सामान्य हित के विरोध में रखते हैं।"[1]

कुल मिलाकर आचरण का एकमात्र विवेकसम्मत मानक अधिकतम संख्या का अधिकतम हित होना चाहिए। किसी विशेष वर्ग अथवा समुदाय का विशेष हित इसका विरोधी होता है। हो सकता है कि किसी समुदाय का अपने सुख के कारणों के बारे में गलत धारणा हो। इस स्थिति में वह दोषपूर्ण मानकों का निर्धारण कर सकता है। एक स्थिति यह भी हो सकती है कि छोटा समुदाय अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए बड़े समुदाय का शोषण करे। दोनों ही स्थितियों में उपचार यह है कि वास्तविक हित का ठीक-ठीक समझा जाए अथवा सद्ज्ञान का अधिकाधिक प्रचार हो। इस प्रकार, नैतिकता विधायक की समस्या हो जाती है। विधायक को चाहिए कि वह विशेष हितों का सामान्य हितों के साथ संयुक्त करे और ज्ञान का प्रचार करे जिससे लोग यह देख सकें कि सार्वजनिक कल्याण में उनका अपना कल्याण किस प्रकार सम्मिलित है। चूँकि नैतिक शिक्षा अधिकतर धार्मिक अन्धविश्वासियों के पास रही है, अत्याचारी शासकों ने सदैव ही सार्वजनिक हित को नहीं समझा है, मनुष्य आलसी, अन्धविश्वासी और अज्ञानी रहे हैं, इसीलिए नीतिशास्त्र अन्य विज्ञानों की तुलना में पिछड़ा हुआ रहा है। जब मनुष्यों का ऐसी संस्थाओं के अधीन छोड़ दिया जाता है जो अवगुण को प्रोत्साहन देती है, तब फिर सद्गुण का सम्मान करने की बात कहना व्यर्थ है। मनुष्य के प्रेरक तत्वों का ठीक ठीक समझना बुद्धिमान् शासकों के हाथों में असीम शक्ति दे देना है और मानवीय सुख की असीम संभावना के द्वार उन्मुक्त कर देना है। इस प्रकार का नीतिशास्त्र सार्वजनिक नीति का नियामक बन जाता है।

"श्रेष्ठ कानून ही मनुष्यों को सद्गुणी बनाने के एकमात्र साधन हैं। विधि-निर्माण की सम्पूर्ण कला यह है कि मनुष्यों को आत्म-प्रेम की भावना के द्वारा दूसरों के प्रति न्यायमुक्त होने के लिए विवश किया जाये। इस प्रकार के कानूनों को बनाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के हृदय को जाना जाये और यह समझा जाये कि मनुष्य न तो अच्छे पैदा होते हैं और न बुरे बल्कि वे समान हित के अनुसार ही अच्छे अथवा बुरे बन जाते हैं। जब कोई चीज उन्हें समान हित से बांधती है, तो वे अच्छे होते हैं और जब कोई चीज उन्हें समान हित से अलग करती है, तो वे बुरे होते हैं। मनुष्य की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि वह अपने आपको दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व

1 *De l' espirit* II, 6, *Aeuvres* (Paris, 1795), Vol I, p 208 n

देता है। भौतिक संवेदना हमारे मन में सुख के प्रति प्रेम और दुःख के प्रति विरक्ति पैदा करती है। सुख और दुःख ने प्रत्येक मनुष्य के हृदय में आत्मप्रेम के बीज बिखेर दिये हैं। ये बीज आगे चल कर उद्वेगों का रूप धारण करते हैं जिनमें समस्त सद्गुण और दुर्गुण पैदा होते हैं।"[1]

इस अवतरण में जो मनोवैज्ञानिक तर्क निहित है हल्वेटियस ने उसका विकास कर के अपने निष्कर्ष की पुष्टि की। सुख के प्रति आकर्षण और दुःख के प्रति विकर्षण—यही दो सहज वृत्तियां हैं। उसका कहना है—उसकी इस भाषा को बाद में बेंथम ने ग्रहण किया था—कि ये दो परित्राण ऐसे हैं जो प्रकृति ने मनुष्यों को दिए हैं। बाकी और सारे प्रेरक तत्त्व तो केवल 'तथ्य' मात्र हैं। वे ऐसे कार्यों के साथ जो दूर से ही उनके कारण हुए सुख-दुःख के साहचर्य द्वारा उत्पन्न होते हैं। हेल्वेटियस ने इसी आधार पर संस्कृति के एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का विकास किया। यह सिद्धान्त मांटेस्क्यू के इस सिद्धान्त से भिन्न है कि संस्कृति पर जलवायु आदि तत्त्वों का असर पड़ता है। चूंकि सभी मानसिक क्रियाएं साहचर्य पर आधारित होती हैं, अतः उसका निष्कर्ष था कि बौद्धिक प्रतिभा में किसी प्रकार के अन्तरंग भेद नहीं होते। साहचर्यों का निर्माण अवधान पर निर्भर होता है और अवधान सुख अथवा दुःख द्वारा प्रदत्त प्रेरक शक्ति पर निर्भर रहता है। विशेष रूप से कोई अन्तरंग नैतिक क्षमताएं नहीं होतीं। मनुष्य अच्छाई और बुराई के बारे में जो विचार बनाते हैं, वे परिस्थितियों पर अथवा स्थूल अर्थ में शिक्षा पर निर्भर करते हैं अर्थात् परिस्थितियां और शिक्षा किस चीज को सुखपूर्ण बनाती है और किस को दुःखपूर्ण। राष्ट्र के आचारों की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता मुख्य रूप से आचारों की परिणाम होती है। निरंकुशता नागरिकों को बर्बर बना देती है। इसके विपरीत श्रेष्ठ विधियां व्यक्तिगत और सार्वजनिक हितों में सामंजस्य पैदा करती हैं। जहां विधायक अपनी निपुणता से प्रतिभा और सद्गुण के लिए पुरस्कारों की व्यवस्था कर देते हैं, वहां महान् और श्रेष्ठ व्यक्तियों का आविर्भाव होता है। यद्यपि यह कार्य मुश्किल है, लेकिन असम्भव नहीं है। सिद्धान्त की दृष्टि से राष्ट्र का नैतिक विकास किसी भी ऊंचाई तक सम्भव है। यदि सद्गुणों के बदले में सुख और दुर्गुण के बदले में दुःख मिलने लगे, तो ऐसे वातावरण का निर्माण हो सकता है जिसमें राष्ट्र का नैतिक विकास हो सके।

साहचर्यपरक मनोविज्ञान और उपयोगितावादी नीतिशास्त्र ने लॉक के राजनीतिक दर्शन को बड़ा सरल कर दिया था। इसका कारण यह था कि इन्होंने स्वतः स्पष्ट अधिकारों की अनिर्दिष्ट संख्या के स्थान पर मूल्य का एक अनन्य मानक—अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख—प्रतिष्ठित किया। वास्तव में यह सरलीकरण से कुछ अधिक था क्योंकि पूरी तरह से लागू किए जाने पर उसने प्राकृतिक अधिकार, शासन के संविदा सिद्धान्त और प्राकृतिक विधि की सम्पूर्ण व्यवस्था को जो समाज में व्यक्तिगत

---

1 Deel' esprit II, 24 Vol I, pp 394 ff

उसका टैबले इकोनोमीक ग्रन्थ उसी साल छपा था जिस साल कि ला एस्प्रि प्रकाशित हुआ था। हेल्वेटियस की भांति फिजियोक्रेट विचारक सुख और दुःख को मानव कार्य के दो स्रोत समझते थे। उनके विचार में प्रबुद्ध स्वार्थ सुनियमित समाज का सिद्धान्त था। उन्होंने विधायक को कोई कार्य नहीं सौंपा। उसका काम आसान है। उसे आर्थिक नियमों की स्वाभाविक क्रिया में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है अतः मनुष्यों को सुखी बनाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह है कि व्यक्तिगत प्रयत्न और उद्यम पर कम से कम प्रतिबन्ध लगाए जायें। सरकारों को चाहिए कि वे कम से कम कानून बनाएं और ऐसे कानून बनाएं जिनसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अतिक्रमण रुक सके। इस तर्क के अनुसार कुछ प्राकृतिक आर्थिक नियम होते हैं। बाद में एडम स्मिथ ने इन्हें *प्राकृतिक स्वतन्त्रता की स्पष्ट और सरल व्यवस्था* नाम दिया था। जब इन नियमों में हस्तक्षेप नहीं किया जाता तब सब से अधिक समृद्धि और समरसता उत्पन्न होती है। प्राकृतिक विधि के ये दो अर्थ कुछ भ्रम सा उत्पन्न कर देते हैं। इसका पुराना अर्थ तो यह है कि न्याय और सद्विवेक का मानक ऊंचा रखा जाए। इसका नया अर्थ यह है कि इसका केवल एक व्यावहारिक और सामान्य सिद्धान्त के रूप में प्रयोग हो। उपयोगिता की दृष्टि से यह मानने का कोई कारण नहीं था कि यदि शासन को व्यापार के क्षेत्र से बाहर रखा जाए, तो इससे अधिकतम संख्या का अधिकतम हित साधन होगा। आर्थिक स्वतन्त्रता में राजनीतिक अधिकार शामिल नहीं थे। यदि निरंकुश राजतन्त्र प्रबुद्ध आर्थिक नीति पर चलता तो फिजियोक्रेट विचारक उसमें सन्तुष्ट थे। सामान्य रूप से रूसो को छोड़ कर अन्य सभी फ्रेंच दार्शनिक लोक शासन के लिए उतने चिंतित नहीं थे जितने वे विधि के समक्ष समानता और कार्य की स्वतन्त्रता जैसी नागरिक स्वतन्त्रताओं के लिए उत्सुक थे।

हॉलबाख

(Holbach)

फ्रांस में प्राकृतिक अधिकारों के उपयोगितावादी सिद्धान्त की पूरी विवादास्पद शक्ति की अनुभूति १७७० तक नहीं हुई। इस वर्ष हॉल्बाख ने *System of Nature* नामक अपना एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ नास्तिकों की बाइबिल के नाम से विख्यात है। उसने अपने इस ग्रन्थ के साथ साथ अपने राजनीति विषयक ग्रन्थ भी प्रकाशित किए।[1] वाल्टेयर के अस्पष्ट ईश्वरीय विश्वास के स्थान पर उसने पूर्ण नास्तिकता अथवा भौतिकवाद का प्रतिपादन किया। उसका यह भौतिकवाद भौतिक विज्ञान पर आधारित था और उसने इस धर्म की भयंकर आलोचना करने का आधार

---

1 *System Social* 1773 *La Politique Naturelle* (1773)।

बनाया। सिस्टम ऑफ नेचर उन पुस्तकों में पहली पुस्तक थी जो प्राय: एक-एक दशक के अन्तराल में प्रकाशित होती रही हैं और जिन्होंने धर्म को जनता की अफीम मानने वाले लोगों के बीच काफी लोकप्रियता प्राप्त की है। अन्य विचारकों की भांति हॉल्बाख की पुस्तक में भी एक प्रकार का सर्वदेववाद निहित था जो मुक्ति की दृष्टि से विज्ञान के ऊपर आधारित नहीं था। उसने अपनी पुस्तक का अन्त प्रकृति की एक प्रशस्ति के साथ किया था। यह प्रशस्ति किसी धार्मिक व्यवस्था के बौद्धिक चिन्तन का फल नहीं थी।

हॉल्बाख ने वाल्टेयर को एक और दृष्टि से पीछे छोड़ दिया था। उसने धर्म की आलोचना के साथ ही शासन की भी प्रखर आलोचना की थी। सामान्य रूप से सभी सरकारें और विशेष रूप से फ्रांस की सरकार अज्ञानी, अक्षम, अन्यायी और हिंसक रही हैं। उन्होंने प्रजाजनों के हित की ओर कम ध्यान दिया है, शोषण की ओर अधिक। वे वाणिज्य, कृषि, शिक्षा और कला-कौशल के प्रति उदासीन रही हैं। उनकी मुख्य रुचि युद्ध और विजय में थी। उन्होंने सामान्य कल्याण का प्रयास नहीं किया, प्रत्युत आवश्यकताओं को और अकाल पैदा किए। इस भर्त्सना के पीछे वर्ग-चेतना की भावना थी, वस्तुतः मध्यम वर्ग की भावना थी। यह वर्ग अपने सद्गुणों का पूरी तरह कायल था। यह वर्ग उस शासन का विरोधी था जो सामाजिक मुफ्तखोरियों के हित में उसका शोषण करता था। इस वर्ग को यह भी दृढ़ विश्वास था कि उसके अपने हित सामान्य कल्याण के साथ समीकृत हैं। हॉल्बाख और अंग्रेज उपयोगितावादियों का विश्वास था कि मध्य वर्ग एक विशेष अर्थ में सामाजिक कल्याण का प्रतिनिधि है। इस धारणा के आधार पर इस वर्ग का यह भी विचार था कि राजनीतिक अधिकारों के विस्तार द्वारा वर्ग-संघर्ष को दूर किया जा सकता है। उपयोगितावाद वर्ग-संघर्ष की इस भावना को और शासन को शोषण का एक साधन समझने की भावना को इंग्लैण्ड ले आया। यहां से इस भावना को कार्ल मार्क्स ने ग्रहण किया।

जहां तक सामान्य सिद्धान्तों का प्रश्न है, हॉल्बाख के राजनीतिक दर्शन और हेल्वेटियस के राजनीतिक दर्शन में बहुत कम अन्तर था। लेकिन, हॉल्बाख की मनोविज्ञान में कम और शासन में अधिक रुचि थी। मनुष्य निकृष्ट उत्पन्न नहीं होते। उन्हें निकृष्ट शासन निकृष्ट बना देते हैं। निकृष्ट शासन वह शासन है जिसने सर्वसाधारण के सुख को अपना मुख्य उद्देश्य नहीं बनाया है। निकृष्ट शासन का कारण यह है कि वह ऐसे अत्याचारी शासकों और पुरोहितों के हाथ में रहता है जिनका उद्देश्य शासन करना नहीं, प्रत्युत शोषण करना है। इस समस्या का समाधान यह है कि 'सामान्य इच्छा'[1]

---

1 दिदरो ने विश्वकोश में इस शब्द का प्रयोग प्राकृतिक विधि सम्बन्धी अपने निबन्ध में किया था। रूसो ने इसका प्रयोग राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था विषयक अपने निबन्ध में किया था (१७५५)। इस शब्द का जन्मदाता कौन था, इस बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन, रूसो ने इस शब्द को अपना एक विशिष्ट अर्थ प्रदान किया।

का मुक्त क्षेत्र प्रदान किया जाए। सामान्य इच्छा का अभिप्राय स्वार्थ और प्राकृतिक हित का सामंजस्य है। प्रभु एक माध्यम है जो अहितकर आचरण का दमन करने के लिए समाज की सत्ता का प्रयोग करता है। समाज इसीलिए अच्छा होता है क्योंकि वह मनुष्यों को अपने हित की साधना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। स्वतन्त्रता एक अविच्छेद्य अधिकार है क्योंकि उसके बिना समृद्धि असम्भव है। सारे राष्ट्र मिल कर अन्तर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करते हैं। राष्ट्र में जो स्थान हत्या और डाकेजनी का है, अन्तर्राष्ट्रीय समाज में वही स्थान युद्ध का है। निरंकुशता प्रभुसत्ता की विकृति है जिसमें शासक वर्ग के हित सामान्य हित का रूप धारण कर लेते हैं। विभिन्न वर्गों के बीच स्वार्थों का विभाजन दुर्बलता का प्रधान कारण है। संक्षेप में, इसका उपचार शिक्षा है। हॉल्बाख का विचार था कि शिक्षा ही वास्तविक सुधार कर सकती है। इसका कारण यह है कि मनुष्य स्वभाव से ही विवेकवान् है और उसे सिर्फ यह बताने की आवश्यकता है कि उसके वास्तविक हित क्या हैं। लोगों को शिक्षित कीजिए, अन्धविश्वास और अत्याचारी शासन द्वारा प्रस्तुत की गई बाधाओं को हटाइए, उन्हें अपने विवेक के अनुसार चलने दीजिए, शासकों को यह विश्वास दिलाइए कि उनके हित उनके प्रजाजनों के हितों के अनुकूल हैं। इन शर्तों के पूरा होने पर एक सुखी समाज का अपने आप निर्माण हो जाएगा। यदि मनुष्य अपने वास्तविक हितों को समझ लें, तो वे उनका अवश्य पालन करेंगे। यदि वे अपने वास्तविक हित का पालन करेंगे, तो सब की भलाई होगी। यह बात सचमुच आश्चर्यजनक है कि हॉल्बाख एक ओर तो सम्पूर्ण इतिहास की मूर्खता की निन्दा करता है और दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि इतिहास को बदला जा सकता है और इसमें मूर्खता कोई रुकावट न डाल सकेगी।

यहां तो हॉल्बाख ने शासन के ऊपर गम्भीर दोषारोप किए हैं, और कहां उसने वांछित सुधारों के लिए बड़े नरम उपायों का सुझाव दिया है। वह किसी भी अर्थ में कम से कम विचारों में, क्रांतिकारी नहीं था। उसने बार-बार यह कहा है कि विवेक रक्तपात नहीं करता, प्रबुद्ध व्यक्ति शान्तिपूर्ण होते हैं, बुद्धि का कार्य धीरे-धीरे होता है लेकिन निश्चित रूप से होता है। हॉल्बाख जनतन्त्रवादी भी नहीं था। सम्पत्तिवान् व्यक्तियों को ही जनता के प्रतिनिधि होना चाहिए।

"ये लोग अपनी सम्पत्ति के कारण राज्य से बंधे होते हैं और स्वतन्त्रता की रक्षा करने के साथ ही साथ अपनी सम्पत्ति की भी रक्षा करना चाहते हैं।"

"जनता से मेरा अभिप्राय ऐसे मूर्ख लोग नहीं हैं जिनमें शिक्षा और समझदारी का अभाव होता है और जो किसी भी समय समाज में अशांति उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाले उपद्रवी लोक-नेताओं के हाथों में खिलौना बन सकती है। जो व्यक्ति सम्पत्ति की आय से सम्मानपूर्वक गुजर-बसर कर सकता है और परिवार के प्रत्येक प्रधान को जिसकी अपनी जमीन है, नागरिक समझा जाना चाहिए। यदि शिल्पी, व्यापारी और मजदूर अपने-अपने ढंग से राज्य की सेवा करें, तो राज्य को

उनकी रक्षा करनी चाहिए। लेकिन, जब तक वे अपने परिश्रम और उद्यम से भूमि अर्जित न कर लें, तब तक उन्हें राज्य का सच्चा सदस्य नहीं मानना चाहिए।"[1]

इसलिए, हॉल्बाख के लिए सच्चा सुधारक प्रभु था। उसको सिर्फ यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता है कि "अन्याय करने का मूर्खतापूर्ण अधिकार" निकृष्ट है। शिक्षा की सर्वशक्तिमत्ता का विश्वास कोई लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त नहीं था क्योंकि सार्वभौम शिक्षा असम्भव मालूम पड़ती थी। रूसो अठारहवीं शताब्दी का महान् लोकतन्त्रवादी था। उसके शिक्षा विषयक विचारों में बौद्धिक उन्मेष के लिए बहुत कम स्थान था।

प्रगति : टर्गट और कंडरसेट

(Progress : Turgot and Condorcet)

हेल्वेटियस से हॉल्बाख तक के सम्पूर्ण इतिहास में मानव प्रगति का विचार निहित है। यह विचार प्राकृतिक समाज व्यवस्था में, मानव प्रकृति के सामान्य विज्ञान के दृष्टिकोण में, इस विश्वास में कि सामाजिक कल्याण ज्ञान का परिणाम है और सब से अधिक लॉक की इस सकल्पना में कि ज्ञान अनुभव के संचय से उत्पन्न होता है, निहित था। प्रगति का विचार बेकन के समय से ही दार्शनिक अनुभववाद से कभी अनुपस्थित नहीं रहा था। बेकन ने प्राचीन और अर्वाचीन ज्ञान की तुलना करते हुए कहा था, "आधुनिक युग संसार का अधिक उन्नत युग है। इसके गर्भ में अनन्त परीक्षण और अनुभव छिपे हुए हैं।" इसी प्रकार पैस्कल का कहना था कि व्यक्ति की भांति जाति का इतिहास भी सतत अध्ययन की प्रक्रिया है। वाल्टेयर ने भी अपने इतिहासों में इस बात पर जोर देकर कि कला और विज्ञान का विकास सामाजिक विकास का मूलाधार है, इसी दृष्टिकोण को पुष्ट किया था। टर्गट और कंडरसेट ने प्रगति के विचार को इतिहास के एक दर्शन का रूप दिया। उन्होंने यह भी बताया कि समाज विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरा है।[2] इन दोनों में टर्गट का संक्षिप्त निबन्ध दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। तथापि, कंडरसेट ने इस बात को बहुत अच्छी तरह समझाया

---

1. *Systeme Social* (1773), Vol. II, p. 52.

2. Turgot *'Discours sur les progres successifs de l' esprit humain'* (1750); Condorcet, *Esquisse d'un tableau historique des progres, de l' esprit humain* (1794); इंगलैण्ड में गॉडविन के *Political Justice* (१७९३) ग्रन्थ ने भी कंडरसेट के समान ही एक दर्शन प्रस्तुत किया था।

है कि प्रगति में विश्वास ने किन आशाओं और आकांक्षाओं को जन्म दिया था। टर्गट ने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से भौतिक शास्त्र और इतिहास जैसे विज्ञानों का आधारभूत भेद प्रकट किया है। भौतिक शास्त्र बार बार होने वाले व्यापार के नियमों की व्याख्या करता है। इसके विपरीत इतिहास अनुभव के सतत वृद्धिशील संचयन का जो सभ्यता का निर्माण करता है, वर्णन करता है। टर्गट ने कॉम्टे के ढंग पर सतत विकासशील और वैविध्यपूर्ण इतिहास के तीन युगों का निरूपण किया था—पशु युग, विचारात्मक युग और वैज्ञानिक युग। कंडरसेट ने तीन प्रागैतिहासिक युगों का वर्णन करने के पश्चात् यूरोप के इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया था—दो प्राचीन युग, दो मध्यकालीन युग और दो आधुनिक युग। उसका विचार था कि फ्रांस की क्रांति ने एक नए और अधिक गौरवपूर्ण युग का उन्मेष किया है। क्रांति ने उसकी पुस्तक के पूरे तरह सशोधित होने के पूर्व ही उसके ऊपर अनेक आपत्तियां डाल दी थी और अन्ततोगत्वा उसे नष्ट कर दिया था। लेकिन, इसके बावजूद मानव नियति में उसका विश्वास नष्ट नहीं हुआ।

कंडरसेट ने इतिहास विभाजन के साथ ही आगामी युग का भी सकेत दिया है। उसका आगामी युग का यह विवरण प्रगति विषयक विचार का अधिक स्पष्टीकरण करता है। स्वर्ण-युग ज्ञान के प्रसार और ज्ञान द्वारा प्रसूत शक्तियों के आधार पर उत्पन्न होगा। ज्ञान की शक्ति युग के मार्ग में आने वाली बाधाओं को—वे बाधाएं चाहे मानसिक हों और चाहे भौतिक—दूर कर देगी। इसका आधार हेल्वेटियस द्वारा व्याख्यात लॉक का अनुभववाद है। कंडरसेट का विश्वास था कि प्रगति के तीन रूप होंगे—राष्ट्रों के बीच बढ़ती हुई समानता, वर्ग भेदों का उन्मूलन, और पहले दो रूपों के आधार पर होने वाली सामान्य मानसिक और नैतिक उन्नति। जिस प्रकार क्रांतियों ने फ्रांस और अमेरिका की उन्नति की है, उसी प्रकार वे सभी राष्ट्रों की उन्नति कर सकती हैं। लोक-तन्त्र पिछड़ी हुई जातियों के शोषण को बन्द कर देगा और वह यूरोप के लोगों को काले आदमियों का स्वामी नहीं, बल्कि बन्धु गार्ड बना देगा। सामाजिक वर्गों की असमानता ने कम भाग्यशील लोगों के ऊपर शिक्षा धन तथा अवसरों के अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए हैं। इन प्रतिबन्धों को प्रत्येक राष्ट्र के अन्तर्गत दूर किया जा सकता है। वाणिज्य की स्वतन्त्रता, रोगियों तथा वृद्धों के लिए बीमा, युद्ध का उन्मूलन गरीबी और विलास दोनों का अन्त, स्त्रियों के लिए समान अधिकार और सब से बढ़ कर सार्वभौम शिक्षा सब को व्यवहारतः समान अवसर दे सकती है। अतएव, कंडरसेट का विचार था कि प्रगति सर्वग्राही होगी क्योंकि सामाजिक व्यवस्था की पूर्णता से जाति की मानसिक, नैतिक और भौतिक शक्तियों का विकास होगा।

'एक समय वह आएगा जब सूर्य केवल ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तियों के संसार में चमकेगा जो अपने विवेक के अतिरिक्त अन्य किसी को अपना स्वामी नहीं मानते,

जब अत्याचारी शासक और दास, पुजारी और उनके मूर्ख अथवा दम्भी अनुयायी केवल इतिहास अथवा रंगमंच पर रह जायेंगे।"[1]

Bliss was it in that dawn to be alive,
But to be young was very heaven !

जब हम इस अध्याय में वर्णित दर्शन की समीक्षा करते हैं, तब यह निष्कर्ष अपरिहार्य प्रतीत होता है कि यद्यपि इसने किन्हीं नवीन अथवा गहरे विचारों का प्रतिपादन नहीं किया था, तथापि इसने काफी बड़ी जनसंख्या को प्रभावित किया था। इसमें प्रचार का अधिक अंश था, खोज का कम। अठारहवीं शताब्दी को वितर्कों का युग कहा गया है। इस शताब्दी में यूरोप ने पूर्ववर्ती शताब्दी में की गई उन्नति को समेकित रूप दिया। यह बात मॉंटेस्क्यू जैसे अधिक प्रेरणादायी व्यक्तित्व के बारे में भी सही है। उसका राजनीतिक दर्शन मुख्य रूप से प्राकृतिक अधिकारों का दर्शन था। ये अधिकार मनुष्यों के व्यक्तित्व में निहित थे। इन्होंने इस बात के मानक निर्धारित कर दिए थे कि विधि तथा शासन उचित रीति से क्या-क्या कर सकते हैं और उन्हें किन सीमाओं से आगे नहीं बढ़ना चाहिए। इन अधिकारों को सूत्रों के रूप में रखना चाहिए। वे विवेकवती प्रज्ञा के सूत्र हैं। उन्हें प्रमाणित नहीं किया ही नहीं जा सकता। उनका अनुभव के आधार पर औचित्य भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसका निकृष्टतम रूप यह था कि यह उस सत्ता से बेहतर रूढ़िवाद था जिससे उसने सत्रहवीं शताब्दी को मुक्त किया था। लेकिन, स्वतः साक्ष्य की अपील फिर भी रूढ़िवाद से परिपूर्ण थी। वह विज्ञान अथवा सामाजिक अध्ययन दोनों में अनुभव सापेक्ष उपायों के व्यापक अथवा अनवरत प्रयोग के सामने नहीं टिक सकती थी।

सम्पूर्ण अठारहवीं शताब्दी में इस सम्बन्ध में निरन्तर सचेतन परिवर्तन हुआ यद्यपि यह परिवर्तन पूर्ण नहीं था। सामाजिक दर्शन अब उस रूप में अनुभव पर आधारित हो गया था जैसा कि न हॉब्स का दर्शन रहा था और न लॉक का। इसने सामाजिक इतिहास के अध्ययन पर विशेष बल दिया। सत्रहवीं शताब्दी में सामाजिक इतिहास के अध्ययन पर ऐसा बल नहीं दिया गया था। इसने लोगों के रीति-रिवाजों और आचारों की ऐसी छानबीन की जिसे शायद कोई भी विवेकवादी ठीक नहीं समझता। इसने निर्माण और यांत्रिक कलाओं, वाणिज्य, वित्त और कराधान की प्रक्रियाओं का इस तरह से अनुसरण किया जिससे कि उच्च ज्ञान के पंडितों को आघात पहुँचता था। फिर भी, इस अनुभववाद में विवेकवाद, विज्ञान और सरलता का पुट था। अनुभववाद तथ्य पर जोर देता था, लेकिन उसका आग्रह था कि तथ्यों को पूर्व निर्धारित नापों का प्रयोग करना चाहिए। उपयोगिता का नया नीतिशास्त्र और नवीन अर्थशास्त्र, ये दोनों सामाजिक सिद्धान्त के क्षेत्र में नए योग थे। लेकिन, तर्क की दृष्टि से इनमें भी अनेक असंगतियाँ थीं। वे मानव प्रेरणाओं के एक अनुभव-सापेक्ष सिद्धान्त पर अवलम्बित

[1] *Esquisse* (ed O H Prior) p 210

थीं लेकिन उन्होंने प्रकृति की समरसता की एक ऐसी पूर्वकल्पना कर ली थी जिसके लिए कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता था। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी की लोक विचारधारा ने एक ऐसे दर्शन का प्रवर्त्तन किया जिसमें उसका आधा विश्वास था, उसने एक ऐसी पद्धति का निर्देश किया जिसका वह आधा अभ्यास ही कर सका। इस लोक-दर्शन का व्यावहारिक महत्त्व बहुत अधिक था। इसने सम्पूर्ण यूरोप में विज्ञान के प्रति विश्वास का प्रसार किया, उसने इस आशा का प्रचार किया कि विवेक के द्वारा मनुष्य अपने सामाजिक और राजनीतिक भाग्य का निर्माण कर सकता है। उसने स्वतन्त्रता, अवसर और मानव कल्याण के आदर्शों की उग्र रूप से रक्षा की यद्यपि उसने यह कार्य केवल एक सामाजिक वर्ग के हित में ही किया था। उसने एक सीमा से आगे बढ़ कर अपने पक्षपातों पर आग्रह नहीं किया। लेकिन, बौद्धिक दृष्टि से यह सतही था और इसलिए रूसो द्वारा प्रसूत भावना के प्रवाह में बह गया। स्वयं रूसो में इस दर्शन के ठोस गुणों का अभाव था।

Selected Bibliography

The Heavenly City of the Eighteenth Century Philosophers By Carl L Becker, New Haven, 1932,

The Idea of Progress By J B Bury, London 1920

Montesquieu By J Dedieu, Paris, 1913

Montesquieu and English Politics (1750 1800), By F T H Fletcher

Condorcet on the Progress of Human Mind By Sir J G Frazer, Oxford 1933

Turgot By G J Gignoux, Paris, 1945

The Social and Political Ideas of Some Great French Thinkers of the Age of Reason Ed F J C Hearnshaw London, 1930 Chs v, vi, viii

"The Age of Reason "Diderot" By H J Laski in *Studies in Law and Politics* London 1932

The Rise of European Liberalism By H J Laski London 1936 Ch ■

The Political Doctrine of Montesquieu's Esprit des Lois By L L Levin New York 1936

French Liberal Thought in the Eighteenth Century By Kingsley Martin Boston, 1929

Diderot and Encyclopaedists By John Morley, 2 vols London, 1878

Voltaire By John Morley Fourth edition London 1882

Turgot *Condorcet* By John Morley In *Critical Miscellanies*. London 1898-1903 Vol II

Essays in the History of Materialism By G V Plekhanov Trans by Ralph Fox London 1934

Natural Rights By David G Ritchie London, 1895

The Pioneers of the French Revolution By Marius Roustan Trans by Frederic Whyte Boston 1926

Condorcet and the Rise of Liberalism By J S Schapiro New York 1934

Montesquieu in America 1760-1801 By P M Spurlin University of Louisiana, 1940

Baron d' Holbach By W H Wickwar London, 1935

अध्याय २८

समुदाय की पुनर्खोज : रूसो

(The Rediscovery of Community : Rousseau)

फ्रेंच नवजागरण में रैस्को और जीन जक्स रूसो के बीच एक महान् खाड़ी है। इस खाड़ी की सत्ता का प्रत्येक सम्बद्ध व्यक्ति को ज्ञान है, लेकिन इसके ठीक-ठीक स्वरूप का अभी तक निर्णय नहीं हो सका है। दिदरो ने इसे 'स्वर्ग और नरक के बीच एक विशाल व्यवधान" बताया है और कहा है कि रूसो का विचार आते ही मेरे काम में खलल पड़ता है और मालूम पड़ता है मानो मेरे समीप कोई पतित आत्मा खड़ी है। इसके विपरीत रूसो ने कहा है कि जो व्यक्ति उसकी सत्यनिष्ठा में सन्देह करता है, वह फांसी के तख्ते के लायक है। इस विवाद की गूंज सारे यूरोप में सुनाई दी। आज दोनों पक्षों के बीच की कटुता का अनुमान करना भी मुश्किल है। व्यक्तिगत ईमानदारी का प्राथमिक प्रश्न तक अभी विवादास्पद है। तथापि अब कुछ ही लोग यह मानते होंगे कि दिदरो पूरी तरह से ईमानदार व्यक्ति था अथवा रूसो वास्तव में छली था। कार्लायल ने एक बार कहा था कि स्टर्लिंग से उसका भेद केवल 'विचारों' के सम्बन्ध में था। रूसो का अपने समसामयिकों से, विचारों के अतिरिक्त और हर चीज में भेद था। जब वह उन्हीं शब्दों का प्रयोग करता था, तब भी उसका अर्थ कुछ भिन्न होता था। चरित्र, जीवन विषयक दृष्टिकोण, मूल्यों का मानदंड, सहज वृत्तियां, रूसो की ये सारी चीजें नवजागरण काल से बिल्कुल भिन्न थीं। रूसो ने १७४४ से १७५६ तक के १२ वर्ष पैरिस में व्यतीत किए थे। इस अवधि में उसका विश्वकोश के लेखक-वृन्द से निकट सम्बन्ध स्थापित हुआ। तथापि, इस सम्पर्क के फलस्वरूप दोनों पक्षों में यह विचार दृढ़ हुआ कि रूसो का वास्तविक स्थान वहां नहीं था।

यह विरोध और रूसो का दर्शन तथा राजनीति सम्बन्धी समस्त साहित्य उसके जटिल और आनन्द-विहीन व्यक्तित्व का परिणाम था। उसके कन्फैशन्स से उसके गहन रूप से विभक्त व्यक्तित्व का स्पष्ट रूप से दर्शन होता है। उसके इस विभक्त व्यक्तित्व में यौवन तथा धर्म-विषयक अनेक असंगतियां पाई जाती हैं। उसने कहा है 'मेरी रुचियां और विचार सदैव ही उच्च तथा अधम के बीच झूलते हुए मालूम पड़ते थे।" स्त्रियों के साथ उसके वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार के सम्बन्ध बड़े कामाध थे। उनमें न तो पाशविक तृप्ति का ही भाव था और न मानवी उदात्तीकरण का ही।

इन सम्बन्धो मे भावना तथा मनमौजीपन का अद्भुत सम्मिश्रण था। काल्विनिज्म मे जिस बौद्धिक अथवा नैतिक अनुशासन को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था, रूसो की दृष्टि मे उसका कोई अस्तित्व नही था। लेकिन, फिर भी रूसो धर्मभीरु था। उसे पाप से सदैव डर लगा रहता था। उसे आत्म-पतन की भी शका थी। इस मनोवृत्ति का रूसो के क्रिया-कलापो पर बहुत कम असर पड़ा था। लेकिन, इसने रूसो के मन में कुछ उच्च नैतिक भावो को जन्म दिया था। उसने एक स्थल पर लिखा है, "मैं अपने दुष्कर्मों को बड़ी आसानी से भूल जाता हू, लेकिन मैं अपनी गलतियो को और सद्गुणपूर्ण भावो को नही भूल सकता।" रूसो का दृढ विश्वास था कि मनुष्य स्वभावत अच्छे हैं। उसका यह विश्वास उसकी नैतिक रचनाओ का आधारभूत सिद्धान्त है। लेकिन, उसका यह विश्वास बौद्धिक विश्वास नहीं था। उसका यह विश्वास उसके इस आन्तरिक मत का विपर्यय था कि वह खराब है। समाज के ऊपर दोष डाल कर उसने निन्दा की अपनी आवश्यकता को पूरा किया और अपने लिए एक सुविधाजनक गल्प का आश्रय ग्रहण किया।

रूसो के व्यक्तित्व मे उत्तम और अधम, आदर्श और यथार्थ के बीच निरन्तर ही इस प्रकार का सघर्ष चलता रहता था। इस सघर्ष ने रूसो के सम्पूर्ण सन्तोष और सम्पूर्ण विश्वास को हर लिया था। उसके लिए किसी विचार की उद्भावना स्वर्ग के प्रकाश की भाति थी जो "हमारी सामाजिक व्यवस्था के समस्त अन्तर्विरोधो का शमन कर देती है"। इस शब्दावली से कोई बात साफ-साफ समझ मे नही आती थी, हा, एक प्रकार के स्वर्ण-स्वप्न का ही आभास होता था। उसके सामाजिक सम्बन्धो मे अनुपयुक्तता, मूर्खता और आत्म-वचना का भाव छिपा हुआ था। उसे स्त्रियो की सगति में और ऐसे लोगो की सगति मे जिनके पास बुद्धि का अभाव था, विशेष आराम मिलता था। स्वभाव से ही वह परावलम्बी था। उसने अपने जीवन का काफी भाग दूसरों के ऊपर निर्भर रह कर बिताया था। लेकिन, उसने इस निर्भरता को कभी भी प्रसन्नता से स्वीकार नही किया। उसने अपने चारो ओर एक ऐसा आवरण तैयार कर रखा था मानो वह आत्म-निर्भर है। इस झूठी भावना के कारण वह उन लोगों को भी सन्देह की दृष्टि से देखता था जो उसे फायदा पहुचाने की कोशिश करते थे। उसके मन में सदैव ही यह डर समाया रहता था, जो सम्भवत काल्पनिक ही होता था, कि सारी दुनिया हाथ धोकर उसके पीछे पड़ी है और उसे नष्ट कर देना चाहती है। मृत्यु से पूर्व उसकी इस प्रकार की शकाओ ने बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया था। वर्षों की आवारागर्दी के बावजूद, वह रुचि तथा आचारो मे निम्न मध्यवर्ग की भावना का प्रतिनिधित्व करता था। मूलत, वह घरेलू चीजों में दिलचस्पी रखता था, उसे विज्ञान और कला से डर लगता था, उसे शिष्ट रीति रिवाजो पर अविश्वास था, वह सामान्य सद्गुणों को भावात्मक रूप देता था और बुद्धि के ऊपर भावना को प्रतिष्ठित करता था।

विवेक के विरुद्ध विद्रोह

Revolt Against Reason)

रूसो की प्रकृति में खुद ही कुछ अन्तर्विरोध और असंगतियां थीं। उसने इन अन्तर्विरोधों और असंगतियों को समाज के ऊपर भी लागू किया और अपनी पीड़ा-जनक संवेदनशीलता के लिए उपचार प्राप्त करने का प्रयास किया। विवेक को आधार मान कर जो तर्क प्रस्तुत किए जाते थे, उनमें प्राकृतिक और वास्तविक के विरोध पर विशेष बल दिया जाता था। रूसो ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया। तथापि, उसने विवेक की दुहाई नहीं दी। उसने विवेक पर आक्षेप किये। उसने बुद्धि, ज्ञान और विज्ञान के विकास का विरोध किया और इनके स्थान पर प्रबुद्ध भावों, सद्भावना और श्रद्धा को प्रतिष्ठित किया। रूसो का विश्वास था कि मनुष्य के लिए तर्क से अधिक महत्त्व भावनाओं अथवा सहज वृत्तियों का है। ये चीजें सभी मनुष्यों में समान रूप से पायी जाती हैं और प्रबुद्ध तथा आडम्बरपूर्ण व्यक्ति की अपेक्षा सीधे-सादे मनुष्य में कम विकृत रूप में मिलती हैं। 'विचारशील मनुष्य पतित पशु है।" रूसो की दृष्टि में मनुष्य के सब से अधिक महत्त्व-पूर्ण भाव थे पारिवारिक जीवन के सुख, मातृत्व का आनन्द और सौन्दर्य, जमीन की जुताई जैसी घरेलू कलाओं से प्राप्त होने वाली तृप्ति, धार्मिक श्रद्धा की सार्वभौम भावना, समान विपत्ति का और समान जीवन में भाग लेने का भाव। रूसो इन चीजों को मनुष्य के दैनिक जीवन की वास्तविकताएं कहता था। इसके विपरीत विज्ञान निष्क्रिय जिज्ञासा का परिणाम है, दर्शन केवल बौद्धिक प्रदर्शन है शिष्ट जीवन की सुविधाएं केवल अलंकरण हैं।

रूसो के आदिकालीन समाज का "हीरो" कुलीन वन्य मनुष्य नहीं था। वह तो क्षुब्ध और रुष्ट बुर्जुआ था। इस बुर्जुआ की समाज से नहीं पटती थी क्योंकि समाज उससे घृणा करता था और उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। उसे अपने हृदय की पवित्रता पर और अपनी फकीरी की महत्ता पर नाज था। उसे ऐसे दार्शनिकों की निष्ठुरता से घबरा पहुंचता था जिनके लिए दुनिया में कोई भी चीज पवित्र नहीं थी। भावों के एक विचित्र तर्क द्वारा, उसने उस समाज व्यवस्था की तो आलोचना की है जिसने उसका दमन किया था, उसने उस दर्शन की भी आलोचना की जिसने इस समाज की बुनियादों पर आक्षेप किया था। इन दोनों के विरोध में उसने सरल हृदय के सद्गुणों और पवित्रताओं को प्रतिष्ठित किया। सचाई यह है कि रूसो ने एक नए मत को मुखर किया। मत यह था कि सविवेक आलोचना जिसने चर्च की रूढ़ियां और प्रथाओं जैसी अधिक असुविधाजनक पवित्रताओं का नष्ट कर दिया था वही ऐसी पवित्रताओं के सामने न रुक जाए जिन्हें कायम रखना वह अभी न्यायपूर्ण समझती थी।

विचारों को मूर्त रूप दिया।[1] उसकी रचना का दूसरा काल वह है जिसमें उसने सोशल कन्ट्रेक्ट को १७६२ में प्रकाशन के लिए अन्तिम रूप से तैयार किया। अनेक आलोचकों को इन दो कालों की रचनाओं में कुछ आधारभूत असंगति दिखाई देती है। इस संबंध में वाघन का कहना है कि "वहां तो डिस्कोर्स ऑन इनेक्विलिटी का घोर व्यक्तिवाद है और यहां सोशल कन्ट्रेक्ट का घोर समष्टिवाद है।" सामान्य रूप से रूसो का मत ठीक था, लेकिन यह बात भी सही है कि उसकी रचनाओं में एक-दूसरे से विसंगत विचार प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं। "घोर व्यक्तिवाद" के दर्शन सोशल कन्ट्रेक्ट तक में होते हैं। रूसो की किसी भी रचना में व्यवस्थित दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया गया है। रूसो की आरम्भिक रचनाओं में और उसके सोशल कन्ट्रेक्ट में सिर्फ यह अन्तर है कि अपनी आरम्भिक रचनाओं में तो उसने सहानुभूति शून्य सामाजिक दर्शन से स्वतन्त्र होकर अपने विचारों को व्यक्त किया है और सोशल कन्ट्रेक्ट में उसने अपने विचारों के विरोधी दर्शन का प्रतिपादन किया है।

रूसो को जिस सामाजिक दर्शन से अपने आपको मुक्त करना था, वह एक प्रकार का व्यक्तिवाद था जो उसके समय में लॉक की देन समझा जाता था। इस विचार के अनुसार किसी भी सामाजिक समुदाय का महत्त्व यह समझा जाता था कि वह अपने सदस्यों के लिए सुख अथवा आत्म-तुष्टि की व्यवस्था करे, विशेष रूप से उनके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा करे। मनुष्य एक-दूसरे के साथ सहयोग स्वार्थ की भावना तथा व्यक्तिगत लाभ की भावना से करते हैं। समुदाय अनिवार्य रूप से उपयोगितावादी होता है। यद्यपि वह मूल्यों की रक्षा करता है, लेकिन उसका अपना कोई मूल्य नहीं होता। समुदाय सार्वभौम स्वार्थ के उद्देश्य पर आधारित होता है। वह अपने सदस्यों को मुख्य रूप से सुविधा तथा सुरक्षा प्रदान करता है। रूसो इस दर्शन को जितनी लॉक की देन मानता था, उतनी ही हॉब्स की भी। हॉब्स के ऊपर उसका यह उचित आक्षेप था कि उसने प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तिगत मनुष्यों की जिस युद्ध स्थिति की कल्पना की है, वह वास्तव में "सार्वजनिक व्यक्तियों" अथवा

---

1 इस युग में उसकी मुख्य रचनाएं थीं *Discours sur l' inegalite* (१७५४), एनसाइक्लोपीडिया में "Economie Politique" (१७५५) विषय पर लेख, एक अप्रकाशित अध्याय *"De la societe generale du genre humaine"* (I, II), कन्ट्रेक्ट सोशल का पहला प्रारूप और अन्य अनेक अप्रकाशित लेखादि। रूसो की रचनाओं का सर्वश्रेष्ठ संस्करण सी० ई० वाघन का है—*Political Writings of Jean Jacques Rousseau.* 2 vols (Cambridge, 1915) I. रूसो की प्रकाशित रचनाओं का अनुवाद जी० डी० एच० कोल ने किया है। *The Social Contract and Discourses* (Everyman's Library).

"प्रभु नाम से ख्यात नैतिक प्राणियों" की युद्ध स्थिति है।[1] मनुष्य निरासक्त व्यक्तियों के रूप में नहीं, प्रत्युत् नागरिकों अथवा प्रजाजनों के रूप में लड़ते हैं।

रूसो को व्यक्तिवाद के शिकंजे से मुक्त करने में सब से अधिक हाथ प्लेटो का था। रूसो के साथ राजनीतिक दर्शन पर यूनान के प्रभाव का एक नया युग आरम्भ होता है। हीगेल के माध्यम से इस प्रभाव का और विस्तार हुआ। अठारहवीं शताब्दी पर यूनानी चिन्तन का काफी प्रभाव था, लेकिन रूसो के माध्यम से जिस प्रभाव का श्रीगणेश हुआ, वह अधिक वास्तविक था। रूसो ने प्लेटो से एक सामान्य दृष्टिकोण ग्रहण किया। इस दृष्टिकोण का एक आधारभूत सिद्धान्त यह था कि राजनीतिक अधीनता अनिवार्यतः नैतिक होती है। यह शक्ति तथा सत्ता का विषय गौणतः ही है। दूसरे, उसने प्लेटो से यह धारणा ग्रहण की—यह धारणा नगर-राज्य के समस्त दर्शन में अन्तर्निहित थी—कि समुदाय स्वयं ही नैतिकता प्रदान करने वाला माध्यम है और इसलिए वह उच्चतम नैतिक मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है। प्लेटो ने जिस दर्शन का विरोध किया था, वह पूर्ण विकसित मनुष्यों का दर्शन था। इस दर्शन के अनुसार मनुष्य सब प्रकार के स्वार्थों और कामनाओं से परिपूर्ण थे। उनमें सुख की इच्छा थी, स्वामित्व का भाव था, दूसरे मनुष्यों के साथ विचार-विनिमय करने, सौदा करने, करार करने और करार को कार्यान्वित करने के लिए शासन का निर्माण करने की शक्ति थी। प्लेटो ने रूसो को यह जिज्ञासा करने की प्रेरणा दी—व्यक्तियों को ये सारी क्षमताएं समाज के अतिरिक्त और कहां मिलती हैं? समाज के अन्तर्गत व्यष्टिता, स्वतन्त्रता, स्वार्थ तथा प्रसंविदाओं के प्रति सम्मान होता है। इसके बाहर कोई चीज नैतिक नहीं होती। इससे मनुष्य अपनी मानसिक और नैतिक क्षमता ग्रहण करते हैं और तब वही सही अर्थों में मानव बन पाते हैं। आधारभूत नैतिक इकाई मनुष्य नहीं, बल्कि नागरिक है।

रूसो जेनेवा के नगर-राज्य का नागरिक था। इस नागरिकता का भी उसके ऊपर प्रभाव पड़ा था। रूसो के आरम्भिक जीवन पर इस नागरिकता का कोई प्रभाव नहीं मालूम पड़ता। लेकिन, प्रतीत होता है कि आगे चल कर उसने इसका अच्छी तरह विश्लेषण किया और उसे आदर्श रूप प्रदान किया। उसने *Discourse on Inequality* का जो समर्पण लिखा है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह समर्पण उसने उस समय लिखा था, जब वह जेनेवा को अपना घर बनाने की योजना बना रहा था। नगर-राज्य का यह आदर्शीकरण एक कारण था जिसकी वजह से उसका राजनीतिक दर्शन समसामयिक राजनीति से कभी घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका। सिद्धान्त का निर्माण करते समय उसने राष्ट्रीय पैमाने पर राज्य की कभी कल्पना नहीं की। जब वह व्यावहारिक प्रश्नों पर लिखता था, उसके विचारों का उसके सिद्धान्तों से बहुत कम सम्बन्ध रहता था। रूसो खुद किसी भी तरह राष्ट्रवादी नहीं

1 Tho fragment on *L' ctat de guerre*, Vaughan, Vol I, p. 203

था यद्यपि उसके दर्शन ने राष्ट्रवाद के विकास में योग दिया। नगर-राज्य की नागरिकता में राज्य के प्रति एक प्रकार की सम्मान भावना निहित थी। रूसो ने इस भावना का पुनरुद्धार किया। यह भावना कम-से-कम भावात्मक धरातल पर राष्ट्रीय राज्य के क्षेत्र में भी लागू हो सकती थी। प्राकृतिक विधि में निहित विश्वबन्धुत्ववाद को उसने नागरिक के कर्तव्यों से बचने के बहाने के रूप में प्रयुक्त किया।

दो वर्षों की अवधि में, जब रूसो के अपने राजनीतिक विचारों का निर्माण हो रहा था, वह 'प्राकृतिक अवस्था' अथवा 'प्राकृतिक मनुष्य' जैसे सूत्रों पर विचार करता रहा था। उसका अपना विचार यह था कि समुदाय के बाहर मनुष्य के कोई नैतिक गुण नहीं होते। उपर्युक्त सूत्र रूसो के इस विचार से कतई मेल नहीं खाते थे। इस विषय पर रूसो का दिदरो के साथ मतभेद था और यह मतभेद जीवनपर्यन्त कायम रहा। १७५५ में विश्वकोश की जो जिल्द प्रकाशित हुई थी, उसमें प्राकृतिक विधि पर दिदरो का और राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था पर रूसो का एक लेख छपा था। इसी समय रूसो ने सामाजिक संविदा के लिए दिदरो के लेख की आलोचना लिखी। लेकिन बाद में उसे अन्तिम मसौदे से निकाल दिया।

दिदरो का लेख अलंकारयुक्त भाषा में लिखा गया था और उसमें परम्परागत विचारों की भरमार थी। मनुष्य विवेकयुक्त प्राणी है। उसकी विवेक शक्ति उसे प्राकृतिक न्याय की विधि के अधीन कर देती है। आचारों और शासन की कसौटी जाति की सामान्य इच्छा है। यह इच्छा सभ्य राष्ट्रों की विधि और व्यवहारों के रूप में व्यक्त होती है। रूसो इस लेख की गतानुगतिकता के कारण इस पर आक्षेप करने के लिए विशेष रूप से तैयार हो गया था। वह मान्य विचारधारा के प्रत्येक सिद्धान्त से असहमत था। सर्वप्रथम, सम्पूर्ण मानवजाति का समाज "एक कल्पना मात्र" है। जाति समाज नहीं है क्योंकि केवल प्रकार की समानता से वास्तविक एकता का निर्माण नहीं होता। इसके विपरीत, समाज एक नैतिक प्राणी है। यह नैतिक प्राणी उस समय उत्पन्न होता है जब समाज के विविध सदस्यों के बीच कोई नैतिक बन्धन होता है। समाज के पास कुछ समान विभूतियाँ होनी चाहिए जैसे कि समान भाषा और समान हित और कल्याण। ये चीजें व्यक्तिगत हितों का जोड़ नहीं हैं, बल्कि उनका योग हैं। मानव जाति में इस प्रकार की कोई समान बातें नहीं पायी जातीं। दूसरे, परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार अपने ही व्यक्तिगत सुख की चिंता करता है। इस दृष्टि से यह मानना बिल्कुल गलत है कि विवेक मनुष्य को एकता के सूत्र में ग्रथित कर देगा। यह सम्पूर्ण तर्क झूठा है क्योंकि हमारे समस्त विचार, हमारे स्वार्थ-विषयक विचार भी उस समुदाय के आधार पर ही उत्पन्न होते हैं, जिसमें हम निवास करते हैं। स्वार्थ उन सामाजिक आवश्यकताओं से जो मनुष्यों को समुदायों के रूप में समवेत करती हैं, अधिक प्राकृतिक अथवा अधिक अतरंग नहीं है। अन्त में, यदि सामान्य मानव परिवार का कोई विचार है, तो वह उन छोटे-छोटे समुदायों से उत्पन्न होता है जिनमें मनुष्य सहज भाव से रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय साध्य है, वह आरम्भ नहीं है।

हम अपने विशिष्ट समाजों के अनुसार ही सामान्य समाज की कल्पना करते हैं। छोटे राज्यों की स्थापना हमें बड़े राज्यों के बारे में सोचने के लिए प्रेरित करती है। जब हम नागरिक हो जाते हैं, इसके बाद ही हम समुचित रूप से मनुष्य होना आरम्भ करते हैं। इससे प्रकट हो जाता है कि हम उन बनावटी विश्वबन्धुत्ववादियों के बारे में क्या सोचें जो मानव जाति के प्रति अपने प्रेम के द्वारा अपने देश के प्रति अपने प्रेम को उचित सिद्ध करने में सम्पूर्ण संसार से प्रेम करने का दम्भ भरते हैं जिससे कि उन्हें किसी से भी प्रेम न करने का विशेषाधिकार प्राप्त हो जाए।"[1]

प्रकृति और सरल जीवन

(Nature and the Simple Life)

रूसो की डिस्कोर्सेज आन इनेक्वैलिटी नामक रचना भी इसी समय प्रकाशित हुई थी। इस रचना में व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कठोर आक्षेप किया गया था। यह रचना मुख्य रूप से इसी आक्षेप के लिए प्रसिद्ध भी है। स्पष्ट है कि यदि मनुष्य के पास कोई अधिकार नहीं है, तो उसके पास सम्पत्ति का भी अधिकार नहीं हो सकता। रूसो ने कॉर्सिका के संविधान के लिए जो योजना प्रस्तुत की थी, उसमें यहाँ तक कहा था कि सम्पूर्ण स्वामित्व राज्य में ही केन्द्रित होना चाहिए। उसने अपने राजनीतिक अर्थ व्यवस्था विषयक लेख में कहा था कि सम्पत्ति नागरिकता के पवित्रतम अधिकारों में से है। उसने डिस्कोर्सेज में भी उसे एक अपरिहार्य सामाजिक अधिकार माना है। यह सही है कि फ्रांस में क्रान्ति से आधी शताब्दी पूर्व कल्पनावादी साम्यवाद की अनेक योजनाएं प्रस्तुत की गई थी। इन योजनाओं का मध्यवर्गीय उग्रतावाद से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि विंस्टेन्ले के साम्यवाद का अथवा लैवलर्स के राजनीतिक सिद्धान्त से है। मेजलियर ने रूसो से पहले और मेब्ली तथा मॉर्ले ने उसके बाद समाज की ऐसी "प्राकृतिक" योजनाएं प्रस्तुत की थी जिनमें पदार्थों विशेषकर भूमि पर तथा उत्पादन पर सब का समान नियंत्रण रहता। क्रान्तिकाल में मारेक्ल के मनीफेस्टो आफ ईक्वल्स ने और १७९६ में बावेअफ के साम्यवादी विद्रोह ने इस विचार का प्रतिपादन किया था कि आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ है। रूसो ने डिस्कोर्सेज में व्यक्तिगत सम्पत्ति पर जो आक्षेप किया था, वह कुछ इसी तरह का था। लेकिन, रूसो का ऐसा कोई गम्भीर विचार नहीं था कि सम्पत्ति को समाप्त कर दिया जाए। समुदाय में सम्पत्ति की वास्तविक स्थिति के बारे में भी उसका कोई निश्चित विचार नहीं था। रूसो की कल्पनावादी समाजवाद अथवा अन्य किसी प्रकार के समाजवाद को मुख्य देन यह है कि समस्त अधिकार, जिनमें सम्पत्ति का अधिकार भी शामिल है, समाज के अन्तर्गत ही हैं, उसके विरोध में नहीं हैं।

---

1. Vaughan, Vol I, p 463

डिस्कोर्सेज में मुख्य रूप से प्रायः उसी प्रश्न पर विचार किया गया है जो रूसो ने दिदरो के प्राकृतिक विधि विषयक लेख की आलोचना करते समय उठाया था। रूसो ने पुस्तक की प्रस्तावना में उनकी समस्या को इस रूप में रखा था, मानव प्रकृति में क्या स्वाभाविक है और क्या बनावटी है? सामान्य शब्दावली में उसका उत्तर यह है कि स्वार्थ को छोड़ कर मनुष्यों में दूसरों की पीड़ा से विकर्षण होता है। सामाजिकता का समान आधार विवेक नहीं, प्रत्युत् भावना है। विकृत मनुष्यों को छोड़कर अन्य सभी मनुष्यों को पीड़ा, चाहे वह कहीं भी हो, कष्टदायक होती है। इस दृष्टि से मनुष्य "स्वभावतः" अच्छे हैं। सिद्धान्तों की चर्चा करने वाला तर्कप्रधान अहम्मन्य मनुष्य प्रकृति में नहीं पाया जाता, वह केवल विकृत समाज में ही पाया जाता है। दार्शनिक इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि "लन्दन अथवा पेरिस का नागरिक क्या है लेकिन वे यह नहीं जानते कि मनुष्य क्या है।"[1] तब फिर, वास्तव में प्राकृतिक मनुष्य कौन है? इस प्रश्न का उत्तर इतिहास से नहीं प्राप्त किया जा सकता क्योंकि यदि प्राकृतिक मनुष्य कभी पाए जाते थे, तो वे अब नहीं पाए जाते। यदि कोई काल्पनिक चित्र खींचना चाहे, तो उत्तर स्पष्ट है प्राकृतिक मनुष्य पशु था और उसका व्यवहार सहजवृत्ति पर आधारित था। विचार चाहे कैसा भी हो "पतित" होता है। उसके पास सिर्फ क्रन्दन की ही भाषा थी, और कोई भाषा नहीं थी। भाषा के बिना किसी प्रकार के विचार असम्भव हैं। फलतः प्राकृतिक व्यक्ति न तो नीतिवादी ही था और न दुष्ट ही। वह दुखी नहीं था, लेकिन वह सुखी भी नहीं था। स्पष्ट है कि उसके पास सम्पत्ति भी नहीं थी क्योंकि सम्पत्ति विचारों, पूर्वकल्पित आवश्यकताओं, ज्ञान और उद्योग से पैदा होती है। लेकिन ये चीजें प्राकृतिक नहीं थीं। इनके लिए भाषा, विचार और समाज की आवश्यकता थी। स्वार्थ, रुचि, दूसरों के विचारों के प्रति आदर, लज्जा, युद्ध, दासता, अधर्म, दाम्पत्य तथा पैतृक स्नेह ये सारी बातें केवल मनुष्यों में ही पाई जाती हैं क्योंकि वे सामाजिक प्राणी हैं जो छोटे-बड़े समुदायों में मिल-जुल कर रहते हैं।

यह तर्क बड़ा सामान्य-सा था। इसने केवल यह सिद्ध किया कि पूर्णरूप से प्राकृतिक व्यक्ति केवल कल्पना की वस्तु है; किसी न किसी प्रकार का समुदाय अनिवार्य है और कोई भी समाज पूर्ण रूप से सहजवृत्ति पर आधारित नहीं होता। रूसो ने इसमें एक तर्क और जोड़ दिया जो युक्ति की दृष्टि से बिल्कुल असम्बद्ध था। उसकी आरम्भिक रचनाओं में सोशल कन्ट्रैक्ट की अपेक्षा अधिक निराशावाद पाया जाता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि जब वह पेरिस में रहा था, तो उसके मन में कुछ रोषभाव पैदा हो गया था। उसका यह विश्वास हो गया था कि तत्कालीन फ्रेंच समाज शोषण का एक साधन मात्र है। एक वर्ग में तो अत्यधिक दरिद्रता है, लेकिन दूसरे वर्ग में अत्यधिक विलास है। बजाए "मनुष्य की जंजीरों के ऊपर फूलों की मालाएं

1. *L' etat de guerre.* Vaughan, Vol I. p. 307.

लाती हैं।" यद्यपि ये जनसाधारण की पहुँच के बाहर हैं जब कि वे टिकी जनसाधारण के परिश्रम के ऊपर हैं। आर्थिक शोषण का परिणाम अनिवार्यतः राजनीतिक निरंकुशता होता है। रूसो ने इस विकृत समाज के विरोध में एक आदर्श रूप में सरल समाज की स्थापना की। यह समाज आदिकालीन निष्क्रियता और सभ्यता के अहंकार के बीच का मार्ग है। फलतः यह निष्कर्ष कि वर्तमान समाज विकृत है और उसे नष्ट करना चाहिए इस पूर्व निष्कर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं रखता कि समाज, चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, मानव जीवन में नैतिकता उत्पन्न करता है। यदि समाज विकृत है, तो उसका निष्कर्ष यह निकलता कि उसे समाप्त कर देना चाहिए। रूसो ने यह निष्कर्ष नहीं निकाला है अतः उस पर कायरता का आक्षेप लगाया गया है। वास्तव में उसका यह निष्कर्ष नहीं था। उसने जिस सरल समाज की सराहना की है, वह सामाजिक सहजवृत्ति से दूर की वस्तु है। इसलिए यह बात बिलकुल साफ नहीं है कि प्राकृतिक अवस्था की उसकी आलोचना के व्यावहारिक निष्कर्ष क्या निकलते हैं। यह सब उस समाज के स्वरूप पर निर्भर है जिसमें व्यक्ति का निर्वाह करता है। मनुष्य किस प्रकार के समाज के प्रति निष्ठावान रहे, इस सम्बन्ध में अनेक सुझाव हो सकते हैं। राष्ट्रीय राज्य, उग्र धार्मिक या वैयक्तिक समाज, रूसो द्वारा प्रतिपादित नगर राज्य—ये सभी मनुष्य की निष्ठा के पात्र हो सकते हैं। इस विचार के निष्कर्ष रूढ़िवादी भी हो सकते हैं और उग्र भी।

आरम्भिक रचनाओं में जिन्होंने रूसो के राजनीतिक दर्शन का निरूपण किया था, विश्वकोश के पाँचवें भाग में प्रकाशित उसका राजनीतिक अर्थ व्यवस्था विषयक लेख सब से स्पष्ट है। इसी भाग में प्राकृतिक विधि पर दिदरो का लेख छपा था। दिदरो का लेख एक प्रकार से रूसो के लेख का पूरक है। रूसो का सब से प्रमुख राजनीतिक विचार—सामान्य इच्छा का था। इस संकल्पना का दोनों लेखों में रूसो के अपने लेख में और दिदरो के लेख में विवेचन है। यह बात निश्चित नहीं है कि इस शब्द का आविष्कार उसने किया अथवा दिदरो ने। रूसो ने इस शब्द को अपना बना लिया। रूसो ने इस लेख में अपने उन अधिकांश विचारों का थोड़ा-सा संकेत दे दिया था जिन्हें बाद में उसने सोशल कन्ट्रैक्ट में विकसित किया। उसके इस प्रकार के कुछ प्रमुख विचार थे—समुदाय का अपना एक सामूहिक व्यक्तित्व होता है। सामाजिक समुदाय नैतिक सत्ता की भाँति होता है। सामूहिक सत्ता अपने सदस्यों के लिए उचित मानकों की स्थापना करती है, शासन सामान्य इच्छा की पूर्ति का अभिकरण मात्र होता है। इस तर्क के पीछे सामान्य सिद्धान्त वह है जिसकी हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं मनुष्य केवल मनुष्य होने से ही समाज की रचना नहीं कर देते। समाज की स्थापना एक मनोवैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक बन्धन के द्वारा होती है। यह बन्धन समाज के समस्त भागों की पारस्परिक संवेदनशीलता और आन्तरिक सम्बन्ध के द्वारा निर्धारित होता है तथा एक जीवित प्राणी के जीवन सिद्धान्त के अनुरूप होता है।

"इसलिए, राजनीतिक समाज अपनी इच्छा से सम्पन्न एवं नैतिक इकाई भी होता है और यह सामान्य इच्छा जो सदैव ही सम्पूर्ण तथा प्रत्येक भाग की रक्षा तथा कल्याण के लिए प्रेरित होती है और विधियों का स्रोत होती है, राज्य के समस्त सदस्यों के लिए, उनके पारस्परिक सम्बन्धों में और अपने सम्बन्धों में, क्या न्याय है और क्या अन्याय है। इस नियम का निर्माण करती है।"[1]

समाजों का निर्माण करने की प्रवृत्ति सार्वभौम है। जहां कहीं व्यक्तियों का कुछ समान हित होता है, वे समाज की स्थापना कर बैठते हैं। यह समाज स्थायी भी हो सकता है और अस्थायी भी। प्रत्येक समाज की एक सामान्य इच्छा होती है जो उनके सदस्यों के आचरण का नियमन करती है। बड़े समाज व्यक्तियों से मिल कर नहीं बनते प्रत्युत् छोटे समाजों से मिल कर बनते हैं। बड़ा समाज छोटे समाजों के लिए कर्तव्य का निर्धारण कर देता है। सब से बड़ा समाज मानव जाति है। रूसो ने इसे छोड़ दिया उसके विचार से यह समाज नहीं, प्रत्युत् जाति है। इसके बन्धन बड़े शिथिल हैं। रूसो ने देशभक्ति को सब से बड़ा गुण और अन्य समस्त गुणों का स्रोत बताया।

'यह निश्चित है कि देशभक्ति के गुण ने बड़े-बड़े चमत्कार किए हैं। यह मधुर और सजीव भावना आत्म-प्रेम की शक्ति को अद्भुत सौन्दर्य प्रदान करती है। वह उसे विकृत नहीं करती, प्रत्युत् समस्त आवेगों में सब से वीरतापूर्ण बना देती है।'[2]

मानव प्राणी पहले नागरिक बनें, इसके बाद ही वे मनुष्य बन सकते हैं लेकिन, वे नागरिक बनें, इसके लिए यह आवश्यक है कि वे विधि के अधीन स्वतन्त्रता प्राप्त करें, भौतिक कल्याण की व्यवस्था करें, धन के वितरण की उग्र विषमताओं को समाप्त करें और सार्वजनिक शिक्षा की एक ऐसी व्यवस्था चालू करें जिसके द्वारा "बच्चे अपने व्यक्तित्व को समाज के सन्दर्भ में समझने के आदी हो जाएं"। रूसो ने सोशल कन्ट्रैक्ट का आरम्भ निम्नलिखित विरोधाभासपूर्ण वाक्य से किया था। इस वाक्य में उसके राजनीतिक दर्शन की सामान्य समस्या का निरूपण कर दिया गया था। 'किसी अकल्पनीय कला के द्वारा मनुष्यों को अधीन बना कर स्वतन्त्र बनाने का साधन हस्तगत कर लिया गया है।'[3]

सामान्य इच्छा
(General Will)

सोशल कन्ट्रैक्ट १७६२ में प्रकाशित हुआ था। रूसो के विवरण के अनुसार यह बहुत अधिक बड़ी पुस्तक का एक भाग था। रूसो ने इस बड़ी पुस्तक की केवल योजना बनाई

1 Vaughan Vol I, pp 241f , Eng trans by G D H Cole, p 253

2 Vaughan, Vol I, p 251, Eng trans by G D H Cole, p 263

3. Ibid, Vol 1, p 245, Eng trans by G. D H Cole, p 256.

थी और वह उसे पूरा नहीं कर सका था। इस बड़ी पुस्तक की योजना अज्ञात है, लेकिन उसने सोशल कन्ट्रैक्ट में विषय-वस्तु का जिस ढंग से निरूपण किया है, उसके अनुसार उसने सब से पहले सामान्य इच्छा के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त का सूक्ष्मता से विवरण दिया था और इसके बाद इतिहास तथा राजनीति के बारे में अपने विचार प्रकट किए थे। इस पुस्तक के बाद के भाग पर मोंटेस्क्यू की छाप है। रूसो की कोर्सिका के संविधान विषयक योजना तथा *Considerations sur le gouvernement de Pologne* पुस्तकों पर भी मोंटेस्क्यू का प्रभाव है। सोशल कन्ट्रैक्ट का सैद्धान्तिक भाग बहुत अधिक भावपरक है। जब रूसो सामयिक प्रश्नों पर लिखता है, तब साधारणतः यह समझ में नहीं आता कि सिद्धान्त का सुझावों से और सुझावों का सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध है। इसलिए, यह आसानी से कहा जा सकता है कि यदि रूसो ने बड़ी पुस्तक को लिखने की योजना त्याग दी, तो इससे कुछ नुकसान नहीं हुआ। रूसो के चिंतन में सब से महत्वपूर्ण बातें दो थीं—सामान्य इच्छा का सिद्धान्त और प्राकृतिक अधिकारों की आलोचना। सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग क्या हो सकता है, रूसो को न तो इसकी कोई जानकारी थी और न उसमें इतना धैर्य ही था कि वह इसका पता लगाने की कोशिश करता। रूसो का विश्वास था कि नगर-राज्य जैसा एक छोटा सा समुदाय सामान्य इच्छा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। अपने इस विश्वास के कारण वह समसामयिक समस्याओं पर उचित ढंग से विचार नहीं कर सका।

रूसो ने सोशल कन्ट्रैक्ट में सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का जिस ढंग से विकास किया है, उसमें अनेक अन्तर्विरोध हैं। इसका कारण कुछ तो यह है कि रूसो के अपने विचार अस्पष्ट थे और कुछ यह है कि उसे एक अलंकारशास्त्री की भांति अन्तर्विरोध अच्छे लगते थे। रूसो ने प्राकृतिक मानव की जिस ढंग से आलोचना की थी, उसको ध्यान में रखते हुए, उसे संविदा का विचार बिल्कुल छोड़ देना चाहिए था, निरर्थक और भ्रामक मान कर। सम्भवतः, उसने इस शब्द को इसकी लोकप्रियता के कारण कायम रक्खा था। उसके विवेचन में कोई असंगति न रहे, इसके लिए उसने प्राकृतिक अवस्था की वह आलोचना हटा दी जो दिदरो के खिलाफ लिखी थी। वह इस जटिलता से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। पहले तो उसने संविदा की चर्चा की और फिर उसके किसी स्पष्ट अर्थ का निरूपण किए बिना ही विषयान्तर कर दिया। सर्वप्रथम, उसके संविदा का शासन के अधिकारों और शक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। शासन जनता का एजेंट मात्र है और इसलिए उसके पास कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। फलतः वह किसी संविदा के अधीन नहीं रह सकता। दूसरे, जिस काल्पनिक कृत्य के द्वारा समाज की स्थापना होती है, वह किसी भी हालत में संविदा नहीं है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का समाज से पृथक् कोई महत्व नहीं है। रूसो का सम्पूर्ण तर्क इस तथ्य पर आधारित था कि नागरिकों का समुदाय अनुपम होता है और वह नागरिकों का समसामयिक होता है। सदस्य न तो उसका निर्माण करते हैं और न उनके पास उसके विरोध में कोई अधिकार होते हैं। वह एक "समुच्चय" नहीं, प्रत्युत् एक संघ है। उसका

एक नैतिक और सामूहिक व्यक्तित्व होता है। इस प्रकार के विचार को व्यक्त करने के लिए संविदा शब्द बड़ा भ्रामक था।

"सामाजिक व्यवस्था एक पवित्र व्यवस्था है जो अन्य समस्त अधिकारों का आधार है।"[1]

"समस्या एक इस प्रकार के संघ को प्राप्त करने की है जो सम्पूर्ण सामूहिक शक्ति के साथ मिल कर प्रत्येक व्यक्ति तथा उसके हितों की रक्षा करे और जिसमें वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने को सब के साथ मिला दे, वहाँ वह पहले की तरह स्वतन्त्र भी बना रहे।"

"हम में से प्रत्येक व्यक्ति अपनी समस्त शक्ति को सामान्य इच्छा के निर्देशन में अर्पित करता है और हम अपनी सामूहिक क्षमता में प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अविभाज्य भाग के रूप में प्राप्त करते हैं।"[2]

रूसो के चिन्तन का एक अन्तर्द्वंद्व यह है कि वह यह प्रमाणित करने की कोशिश कभी नहीं छोड़ सका कि व्यक्ति समाज के सदस्य बन जाने पर पहले की अपेक्षा अधिक लाभ में रहते हैं। सोशल कन्ट्रैक्ट के प्रसिद्ध आरम्भिक वाक्य का यही अर्थ है। इसमें रूसो ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि समाज के बन्धन को "उचित" किस प्रकार ठहराया जा सकता है। प्रश्न को इस प्रकार उठाने से यह मालूम पड़ता था मानो वह हॉब्स अथवा हेल्वेटियस की भाँति यह सिद्ध करना चाहता था कि समाज का सदस्य होना अच्छा सौदा है। यदि प्राकृतिक अवस्था एक कल्पना थी और वे सब मूल्य जिनके आधार पर यह सौदा होगा, समाज से पृथक् कोई अर्थ नहीं रखते, तो वास्तव में रूसो का ऐसा करने का कोई विचार नहीं था। इसी प्रकार, "मनुष्य सर्वत्र बन्धनों में जकड़ा हुआ है," इस कथन का यह अभिप्राय होना था कि समाज एक बन्धन है जिसके लिए व्यक्तियों को मुआवजा देने की जरूरत है। इसके विपरीत रूसो यह तर्क करने जा रहा था कि मनुष्य केवल समुदाय का सदस्य होने पर ही मनुष्य बनता है। निकृष्ट समुदाय अपने सदस्यों के ऊपर बन्धन आरोपित कर सकता है। लेकिन तर्क की दृष्टि से रूसो यह मानने के लिए बाध्य था कि वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि वह निकृष्ट है, इसलिए नहीं कि वह समुदाय है। समुदायों के अस्तित्व की सार्थकता पर, रूसो इस प्रश्न को बिल्कुल मूर्खतापूर्ण मानता है। यह प्रश्न कि एक समुदाय दूसरे समुदाय से किस प्रकार बेहतर हो जाता है, निश्चित रूप से ठीक है। इस प्रश्न के अन्तर्गत विभिन्न समुदायों की तुलना हो सकती है कि वे सामाजिक और व्यक्तिगत हितों की कहाँ तक रक्षा करते हैं, इसमें समाज और उसके अनस्तित्व की तुलना नहीं होती। पुनः, व्यक्ति एक समुदाय में दूसरे समुदाय की अपेक्षा ज्यादा अच्छे ढंग से रह सकता है। लेकिन, यह प्रश्न कि वह समुदाय की अनुपस्थिति में ज्यादा अच्छा रहेगा या ज्यादा बुरा, बिल्कुल निरर्थक है। रूसो के शब्दों में समाज ने सहजवृत्ति के स्थान पर न्याय का

1. *Social Contract*, 1, I
2. *Ibid* 1, VI

प्रतिष्ठित किया और मनुष्य के कार्यों को एक ऐसी नैतिकता प्रदान की जो उनके पास पहले नहीं थी। समाज ने मनुष्य को "मूर्ख और कल्पनाहीन प्राणी बनाने के स्थान पर उसे एक बुद्धिमान प्राणी और मनुष्य बना दिया।" समाज को छोड़ कर मूल्यों का कोई ऐसा पैमाना नहीं होता जिसके आधार पर हम अच्छाई बुराई को परख सकें।

इसलिए, सामान्य इच्छा समुदाय के एक अनुपम तथ्य को प्रकट करती है। वह तथ्य यह है कि उसका एक सामूहिक हित होता है जो उसके सदस्यों के व्यक्तिगत हितों से अभिन्न नहीं होता। एक दृष्टि से समुदाय स्वयं अपना जीवन जीता है, अपनी नियति को सिद्ध करता है और अपनी गति को प्राप्त करता है। एक सप्राण व्यक्तित्व की भांति उसकी भी अपनी इच्छा होती है जो 'सामान्य इच्छा' (general will) या फ्रेंच में Volonte generale कहलाती है। यह वही विचार है जिसे रूसो ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था विषयक अपने लेख में विकसित किया था।

"यदि राज्य एक नैतिक प्राणी है जिसका जीवन उसके सदस्यों के साथ मिल जुल कर चलता है और यदि राज्य का सब से अधिक चिंता अपनी रक्षा की चिंता है, तो उसके पास सार्वभौम और विवशकारी शक्ति होनी चाहिए जिससे कि वह प्रत्येक भाग को इस तरह से चला सके कि वह सम्पूर्ण के लिए सब से अधिक लाभजनक हो।"[1]

स्वतन्त्रता, समानता और सम्पत्ति जैसे व्यक्तियों के अधिकार जिन्हें प्राकृतिक विधि ने मनुष्यों को प्रदान किया था, वास्तव में नागरिकों के अधिकार हैं। रूसो के अनुसार मनुष्य 'रूढ़ि और वैधिक अधिकार के द्वारा' समान बनते हैं इसलिए नहीं जैसा कि हॉब्स ने कहा था कि उनकी भौतिक शक्ति प्रायः समान होती है।

"प्रत्येक व्यक्ति का अपनी सम्पदा के ऊपर जो अधिकार होता है वह उस अधिकार के सदैव अधीन होता है जो समुदाय का सब के ऊपर रहता है।"[2]

समुदाय में मनुष्य को सब से पहले नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। यह नागरिक स्वतन्त्रता केवल नैतिक अधिकार है। यह केवल 'प्राकृतिक स्वतन्त्रता' नहीं है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता केवल एकाकी पशु को ही प्राप्त हो सकती है।

स्वतन्त्रता का विरोधाभास

(The Paradox of Freedom)

अब तक का विवेचन बिलकुल सही है। रूसो के समय में प्राकृतिक अवस्था के बारे में जो काल्पनिक चिन्तन चल रहा था यह उसका अच्छा खासा जवाब है। लेकिन,

---

1 *Social Contract*, II, VI

2 *Ibid* I, IX

रूसो के विवेचन के सन्दर्भ में मनुष्य को समाज में क्या अधिकार प्राप्त होते हैं, यह बात बिल्कुल स्पष्ट नहीं होती। इस प्रश्न को लेकर रूसो ने कभी-कभी एक पृष्ठ पर ही परस्पर-विरोधी विचार प्रकट किए हैं। उदाहरण के लिए

"सामाजिक समझौता राजनीतिक समाज को अपने समस्त सदस्यों के ऊपर निरपेक्ष शक्ति प्रदान करता है।

मैं स्वीकार करता हूं कि सामाजिक समझौते के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तियों, हितों और स्वतन्त्रता का केवल इतना भाग ही छोड़ता है जिस पर नियंत्रण रखना समाज के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। लेकिन, यह भी मान लेना चाहिए कि क्या महत्त्वपूर्ण है, इसका एकमात्र निर्णायक प्रभु है।

लेकिन प्रभु अपनी मरजी से प्रजाजनों के ऊपर ऐसे बन्धन लागू नहीं कर सकता जो समुदाय के लिए व्यर्थ हों।

इससे हम यह समझ सकते हैं कि प्रभुशक्ति जो निरंकुश, पवित्र और अनुल्लंघनीय होती है, सामान्य रूढ़ियों की सीमाओं का उल्लंघन न करती है और न कर सकती है, और प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार ऐसे हितों और स्वतन्त्रताओं को छोड़ सकता है जो रूढ़ियां इसे प्रदान करती हैं।"[1]

सचाई यह है कि रूसो सामान्य इच्छा के अपने सिद्धान्त तथा अविच्छेद्य व्यक्तिगत अधिकारों के सिद्धान्त के बीच जिसे उसने दिखावे के लिए त्याग दिया था, झूले झूलता रहा। यह तथ्य कि किसी भी तरह के अधिकारों के लिए सामाजिक स्वीकृति की जरूरत होती है और इन अधिकारों की रक्षा एक समान हित के सन्दर्भ में ही की जा सकती है, इस बारे में कोई बात नहीं बताता कि सुव्यवस्थित समुदाय अपने सदस्यों को क्या व्यक्तिगत अधिकार प्रदान करेगा। रूसो का विश्वास था कि समाज के कल्याण के लिए भी व्यक्तिगत रुचि और कर्म की स्वतन्त्रता आवश्यक होती है। जहां कहीं ऐसा सवाल उठता है, रूसो उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के ऊपर प्रतिबन्ध मान लेता है। यदि स्वतन्त्रता को सामान्य हित के लिए आवश्यक चीज माना जाता है, तो तर्क की दृष्टि से वह ऐसी चीज नहीं है। दूसरी ओर, रूसो यह भी तर्क कर सकता था कि चूंकि सामान्य हित के विरोध में कोई अविच्छेद्य अधिकार नहीं होते, अतः कोई व्यक्तिगत अधिकार भी नहीं होते। यह भी तर्क का भ्रम था। हां, उस समय की बात दूसरी है जब यह युक्ति दी जाती कि समस्त स्वतन्त्रता सामाजिक हित के प्रतिकूल है। सचाई यह है कि सामान्य इच्छा बड़ी भावपरक है। उसमें केवल यह कहा गया है कि समस्त स्वतन्त्रता सामाजिक हित के प्रतिकूल होती है। उसमें यह नहीं बताया गया है कि समाज के अन्दर व्यक्तियों को अपने कार्य-व्यापार में कहां तक स्वतन्त्र छोड़ा जा सकता है फिर भी रूसो का सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के विरोध में काफी हद तक

1. *Social Contract* II, IV.

ठीक था। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त में सामाजिक कल्याण को बिल्कुल ही अछूता छोड़ दिया गया था।

रूसो के तर्क में इस विभ्रम ने एक विरोधाभास को और जन्म दिया था। यह विरोधाभास जो बड़ा महत्त्वपूर्ण और उत्तेजक है, स्वतन्त्रता का विरोधाभास है। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि समाज में ऐसी स्थिति भी हो सकती है जबकि 'मनुष्य स्वयं अपनी आज्ञा का ही पालन करे। यह बोझा वास्तव में अहंवादी सिद्धान्तों का था। लेकिन उसने इसे व्यर्थ ही अपने ऊपर ले लिया। उसने बताया कि समाज में वास्तव में कभी बलप्रयोग नहीं होता। जिस चीज को बल प्रयोग समझा जाता है, वह वास्तव में बल-प्रयोग नहीं होती। यह कितना निकृष्ट विरोधाभास है? स्वयं अपराधी भी अपने दण्ड की ही कामना करता है।

'सामाजिक संविदा केवल शून्यमात्र न रह जाए, इसके लिए यह प्रतिज्ञा आवश्यक है कि जो व्यक्ति सामान्य इच्छा को मानने से इनकार करता है, उसे सम्पूर्ण समुदाय द्वारा सामान्य इच्छा को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया जाएगा। इसका अभिप्राय यह है कि वह स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य कर दिया जाएगा। इसकी वजह से ही नागरिक व्यवस्थाएं वैध रूप धारण करती हैं। इसके बिना वे मूर्खतापूर्ण, अत्याचारी और दुरुपयोगों से परिपूर्ण होंगी।"[1]

दूसरे शब्दों में बल-प्रयोग वास्तव में बल-प्रयोग नहीं है क्योंकि जब कोई व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से उस चीज से भिन्न कोई चीज चाहता है जो सामाजिक व्यवस्था उसे दे सकती है तब वह केवल कामी होता है और इस चीज को ठीक से नहीं जानता कि उसका अपना वास्तविक हित अथवा इच्छाएं क्या हैं।

इस तरह का तर्क, रूसो के चिंतन में और उसके बाद हीगेल के चिंतन में अस्पष्टताओं के निरूपण का एक भयानक परीक्षण था। मार्टिन कैम्लीन के शब्दों में स्वतन्त्रता एक सम्मानजनक शब्द बन गया था और वह एक ऐसे भाव के लिए प्रयुक्त होने लगा था जिसके नाम पर स्वयं स्वतन्त्रता पर ही आक्षेप किए जा सकते थे। यह बताना बिल्कुल ठीक था कि कुछ स्वतन्त्रताएं ठीक नहीं हैं, एक दिशा की स्वतन्त्रता दूसरी दिशा की स्वतन्त्रता का लोप कर सकती है अथवा कुछ ऐसे अन्य राजनीतिक मूल्य भी हैं जो कुछ परिस्थितियों में स्वतन्त्रता से कहीं अधिक सम्मानजनक हैं। माया के चमत्कार से यह प्रकट करना कि स्वतन्त्रता को सीमित करना वास्तव में उसको विकसित करना है, और बलप्रयोग वास्तव में बल प्रयोग नहीं है राजनीति की माया को और भी अशिष्ट बनाता था। लेकिन, यही इसका निकृष्टतम रूप नहीं था। इसका अर्थ यह था कि वह व्यक्ति जिसके नैतिक विश्वास समाज के सामान्य नैतिक विश्वासों के प्रतिकूल होते हैं, कामी होता है और उसका दमन किया जाना चाहिए। सम्भवतः यह सामान्य इच्छा के भावात्मक सिद्धान्त का उचित निष्कर्ष नहीं था क्योंकि वास्तव में अन्तरात्मा

1 *Ibid* I, VII

की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तिगत हित नहीं प्रत्युत् सामाजिक हित है। लेकिन, प्रत्येक ठोस परिस्थिति में सामान्य इच्छा को वास्तविक मन के किसी न किसी भाग के साथ समीकृत करना पड़ता है और नैतिक सत्तावाद का सामान्य अभिप्राय यह होता है कि नैतिकता को उन मानकों के साथ समीकृत कर दिया जाता है जो सामान्य रूप से स्वीकृत होते हैं। किसी व्यक्ति को स्वतन्त्र होने के लिए विवश करना उसे जनता अथवा उसके सत्ताधारी दल का आंख मूंद कर आज्ञाकारी बनाना है। जब रोबेस्पीयर ने यह कहा कि "हमारी इच्छा सामान्य इच्छा है," तब उसने यही किया था।

"वे कहते हैं कि आतंकवाद निरंकुश शासन का साधन है। तब क्या हमारा शासन निरंकुश शासन है? हां यह उसी प्रकार है जैसे कि वह तलवार जो स्वतन्त्रता के वीर के हाथ में चमकती है उस तलवार के समान है जिससे अत्याचारी शासन के समर्थक सज्जित हैं ... ।[1] क्रान्ति का शासन अत्याचारी शासन के विरोध में स्वतन्त्रता की निरंकुशता है।"

रूसो ने यह बार बार कहा है कि सामान्य इच्छा सदैव सही होती है। यह सही है क्योंकि सामान्य इच्छा स्वयं सामाजिक हित को व्यक्त करती है जो खुद सचाई का मानक है। जो चीज सही नहीं है, वह सामान्य इच्छा नहीं है। लेकिन, सामान्य इच्छा की अनेक व्याख्याएं हैं और ये व्याख्याएं कभी कभी एक दूसरे की विरोधी होती हैं। सामान्य इच्छा के इस निरपेक्ष अधिकार का इन विरोधी व्याख्याओं से क्या सम्बन्ध है? इस बात का निर्णय करने का किसे अधिकार है कि क्या चीज सही है? रूसो ने इस प्रश्न का उत्तर देने में अनेक अन्तर्विरोधों और भ्रान्तियों को जन्म दिया। कभी उसने कहा कि सामान्य इच्छा केवल सामान्य व्यक्तियों अथवा कार्यों का ही विवेचन करती है, किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों अथवा कार्यों का नहीं। इस दृष्टि से सामान्य इच्छा का प्रयोग व्यक्तिगत निर्णय के ऊपर निर्भर है। लेकिन, यह सिद्धान्त इस सिद्धान्त के विरुद्ध जाता था कि सामान्य इच्छा व्यक्तिगत निर्णय के क्षेत्र को निर्धारित करती है। कभी-कभी उसने सामान्य इच्छा को बहुमत के निर्णय के समानार्थक बनाया। लेकिन, इसका यह अर्थ होगा कि बहुमत सदैव सही होता है, तथापि, रूसो इस बात को नहीं मानता था। कभी-कभी वह कहता था कि सामान्य इच्छा मतभेदों को आपस में लड़ा कर रद्द कर देती थी और इस प्रकार स्वयं प्रतिष्ठित हो जाती थी। इस मत को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और न इसे प्रमाणित ही किया जा सकता है। इस मत को मानने का अभिप्राय यह हो जाता है कि समुदायों में राज्यों और राष्ट्रों में अपना भला और अपनी सही नियति को समझने की अपूर्व क्षमता होती है। रूसो ने समुदाय की 'स्वच्छंद पूजा' को जन्म दिया था और उसके सामाजिक दर्शन तथा व्यक्तिवाद में जिससे उसने विद्रोह किया था, मूल अन्तर था। विवेकवादी व्यक्ति के परिष्कार, बौद्धिक नव-

1. To the National Convention, February 5, 1794, *Moniteur universel*, 19, pluviose I' an 2, p 562

आचरण, तथा निर्णय और उद्यम की स्वतन्त्रता को अपनी मूल्य योजना का केन्द्र बनाता था। रूसो के दर्शन मे समुदाय की उपमा योगदान की तुष्टि तथा विवेकेतर तत्वो के विकास पर जोर दिया गया था।

रूसो के विचार से सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने शासन के महत्त्व का बहुत कम कर दिया था। प्रभुसत्ता पर सामूहिक रूप से केवल जनता का अधिकार है। शासन केवल एक अभिकर्ता है और उसके पास प्रत्यायित शक्तियां हैं। जनता अपनी इच्छानुसार इन शक्तियो को वापस ले सकती है अथवा इनमे सशोधन कर सकती है। लॉक के संविदा सिद्धान्त ने शासक का कुछ निहित अधिकार प्रदान किए थे। रूसो के विचार से शासन के पास ऐसे कोई निहित अधिकार नहीं हैं। रूसो के सिद्धान्त ने शासन को केवल एक समिति का स्तर दिया था। रूसो का मत था कि चूंकि प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नही किया जा सकता, अत कोई भी शासन प्रणाली क्यो न हो, वह प्रतिनिधिक नही हो सकती। एकमात्र स्वतन्त्र शासन प्रत्यक्ष लोकतन्त्र है जिसके अन्तर्गत लोग नगर-सभा मे उपस्थित हो सकते हैं। इसमे कोई सन्देह नही कि रूसो नगर राज्य का प्रशसक था। लेकिन, सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति एक ही प्रकार तक क्यो सीमित रहे, यह बात स्पष्ट नहीं है। रूसो का निश्चित रूप से यह विश्वास था कि लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त ने कार्यपालिका की शक्ति को कम कर दिया है, लेकिन यह केवल एक भ्रम था। यद्यपि, जनता के पास सम्पूर्ण शक्ति और सम्पूर्ण नैतिक अधिकार तथा ज्ञान निहित है लेकिन सामूहिक शक्ति इसे न व्यक्त कर सकती है और न कार्यान्वित ही। ज्यों-ज्यो समुदाय को अधिक गौरव दिया जाता है, त्यो त्यो उसके प्रवक्ताओ के पास अधिक शक्ति आ जाती है। इन प्रवक्ताओ को चाहे प्रतिनिधि कहा जाए और चाहे नही। रूसो दलो और गुटों से पूरी तरह घृणा करता था। लेकिन समुदाय की प्रभुसत्ता के विचार से वे भी दुर्बल नही पड़ते, बल्कि और मजबूत बनते हैं। एक सुनियन्त्रित अल्पसंख्यक वर्ग ने जिसके नेता अपनी प्रेरणा के प्रति आश्वस्त होते हैं और जिसके सदस्य अगर रूप से मानते हैं अपने आपको सामान्य इच्छा का पूर्ण अभिकरण प्रमाणित किया है।

रूसो और राष्ट्रवाद

(Rousseau and Nationalism)

रूसो का राजनीति-दर्शन इतना अस्पष्ट था कि वह किसी विशेष दिशा की ओर संकेत नही करता। क्रान्ति के युग मे राम्मजन, राब्स्पीयरी और जैकोबिन्स उसके प्रति सब से अधिक ऋणी थे। गिबर्क का मत है कि रूसो ने लोक-प्रभुसत्ता के सिद्धान्त और शासन मे कोई निहित अधिकार न मानने के सिद्धान्त ने एक प्रकार की "स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त" की स्थापना की थी। यह सिद्धान्त एक उग्र लोकतन्त्रात्मक दल के लिए बहुत उपयुक्त था। पुन, सामान्य इच्छा की सकल्पना म ऐसी कोई बात न थी जिसमे कि

उसमे सम्पूर्ण जनता का योगदान आवश्यक होता अथवा जो केवल एक लोक-सभा मे ही व्यक्त हो सकती। रूसो का लोकतन्त्रात्मक नगर-राज्य के प्रति उत्साह एवं प्रगति की असगति था। सम्भवत एक छोटा सा समुदाय, जिसकी अर्थ-व्यवस्था मुख्य रूप से ग्रामीण होती और जिसका इसी प्रकार के अन्य समुदायो के साथ छोटा-सा शिथिल संघ बन जाता, रूसो के आदर्शों का सब से अच्छी तरह् से प्रतिनिधित्व करता। तथापि, इस प्रकार के विचारो का यूरोप मे तो कोई महत्त्व था ही नही, अमेरिका मे भी बहुत मामूली महत्त्व था। यद्यपि रूसो का यह विश्वास था कि किसी बडे राज्य मे नागरिकता असम्भव है, तथापि यह आवश्यक था कि उसके द्वारा जाग्रत भावना राष्ट्रीय देश-भक्ति को प्रोत्साहन दे। उदाहरण के लिए उसने पोलैण्ड विषयक अपने निबन्ध में विकेन्द्रीकरण की नीति का परामर्श दिया है, तथापि उसका मत है कि वास्तविक कार्य पोलैण्ड मे राष्ट्रवाद के भाव को उभार कर ही सम्भव है। दूसरी ओर, उसने बौद्धिक जागरण के मानववादी और सार्वभौम आदर्शों को नैतिक सिद्धान्तो का अभाव मात्र माना है।

"आज फ्रेंच, जर्मन, स्पेनी अथवा अंग्रेज नही हैं। आज केवल यूरोपीय लोग हैं। जहा कही चुराने के लिए धन और लुभाने के लिए औरत हो, वही उन्हें चैन मिलता है।"[1]

इस विचारधारा का परिणाम यह हुआ कि रूसो ने नगर-राज्य की नागरिकता के आदर्श को आधुनिक राष्ट्रीय राज्य के ऊपर, जो उससे बिल्कुल भिन्न सामाजिक और राजनीतिक इकाई है, लागू किया। फलत, रूसो के दर्शन मे राज्य में राष्ट्रीय सम्पत्ति के समस्त मूल्यो का समावेश हो जाता है, प्राय उसी प्रकार जैसे कि यूनानी नगर-राज्य मे यूनानी जीवन के समस्त पक्ष आ जाते थे। तथापि, यूनानी नगर-राज्य का क्षेत्र जितना व्यापक था, आज के नगर-राज्य का क्षेत्र उतना व्यापक तो नही है। इस प्रकार यद्यपि रूसो स्वय तो राष्ट्रवादी नही था, तथापि उसने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को कुछ इस रूप मे उपस्थित किया जिससे कि राष्ट्रवाद के विकास मे मदद मिली।

तथापि, राष्ट्रवाद कोई ऐसी शक्ति न था जो एक ही दिशा मे अथवा एक ही उद्देश्य के साथ आगे बढता। इसका एक अर्थ लोकतन्त्र तथा मनुष्य के अधिकार हो सकता था। क्रांति के युग मे सामान्य रूप से यही हुआ था। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता था कि जमीदार वर्ग तथा नए सम्पत्तिशाली मध्यवर्गीय कुलीनो के बीच समझौता हो जाता। वह सामन्ती संस्थाओ के अवशेषों को समाप्त कर सकता था और उनके स्थान पर ऐसी नयी संस्थाओ को खडा कर सकता था जो परम्परागत निष्ठाओ तथा वर्गो की अधीनता पर उसी भांति आधारित हो। फ्रास और इगलैण्ड मे राजनीतिक एकता थी। इसके विपरीत जर्मनी मे राजनीतिक एकता नही थी। वहा राष्ट्रीय शासन

1 *Considerations sur le gouvernement de Pologne*, Ch III, Vaughan, Vol II, p 432

और जर्मन संस्कृति की एकता का प्रश्न सब से महत्त्वपूर्ण था। इस स्थिति में इंगलैण्ड और फ्रांस का राष्ट्रवाद जर्मनी के राष्ट्रवाद से बिल्कुल भिन्न होता। रूसो ने सरल मनुष्य की नैतिक भावनाओं का गुणगान किया है। काट के नीतिशास्त्र में उसकी तात्कालिक प्रतिध्वनि प्राप्त होती है। रूसो के दर्शन का वास्तविक महत्व—सामुदायिक इच्छा और समान जीवन में योगदान के बारे में उसका आग्रह—जर्मन दर्शन में विशेषकर हीगेल के आदर्शवाद में प्रकट हुआ। तथापि, रूसो के समुदायवाद ने प्रथा, परम्परा और राष्ट्रीय संस्कृति की सच्ची विरासत का पुनर्मूल्यांकन किया। इस पुनर्मूल्यांकन के बिना सामान्य इच्छा केवल शून्य मात्र रहती। इसने दार्शनिक मूल्यों में आमूल क्रांति कर दी। डिसकार्टीज के समय से समान सहमति द्वारा प्रथा और विवेक का एक दूसरे के विरोध में प्रतिष्ठित किया जाता था। विवेक का मुख्य कार्य यह था कि वह मनुष्य को सत्ता और परम्परा के बन्धन से मुक्त कर दे जिससे कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकृति के आलोक का अनुसरण कर सके। प्राकृतिक विधि की सम्पूर्ण गौरवशाली व्यवस्था का यही अर्थ था। रूसो की भाव-प्रवणता ने इसको बड़ी बुद्धिमानी से अलग हटा दिया। हीगेल के आदर्शवाद ने विवेक और परम्परा को एक इकाई के रूप में ग्रथित करने का प्रयास किया था। यह इकाई थी एक राष्ट्रीय अन्तरात्मा अथवा चेतना की विकासशील संस्कृति। वास्तव में विवेक को प्रथा, परम्परा और सत्ता की सेवा करनी थी और इसके अनुसार ही स्थिरता, राष्ट्रीय एकता तथा विकास की निरन्तरता के मूल्यों पर जोर देना था।

हीगेल के दर्शन ने सामान्य इच्छा का राष्ट्र की अन्तरात्मा के रूप में ग्रहण किया था। राष्ट्र की अन्तरात्मा निरन्तर विकास करती है और राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में व्यक्त होती है। अपनी ऐतिहासिक रचना के दौरान वह अपनी संस्थाओं का निर्माण करती है। रूसो ने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को बड़े असम्बद्ध रूप में तो व्यक्त किया ही है, उसका एक अन्य दोष यह है कि वह बहुत ही सूक्ष्म है। वह समुदाय का एक रूप अथवा विचारमात्र था जिस प्रकार कि काट का निरपेक्ष आदेश अथवा कैटेगोरिकल इम्परेटिव नैतिक इच्छा का एक रूपमात्र था। यह केवल एक ऐतिहासिक संयोग ही था कि इस विचार का राष्ट्र की सदस्यता से सम्बन्ध स्थापित हो गया और उसने राष्ट्रीय नागरिकता का गौरवगान किया। रूसो फ्रांस के राष्ट्रीय जीवन से बिल्कुल दूर था, वह अपने को किसी सामाजिक उद्देश्य के साथ न जोड़ सका, और जिस समय उसने लिखा था, उस समय फ्रांस की राजनीतिक अवस्था भी बड़ी डावाडोल थी। इन सब बातों के कारण रूसो सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को कोई व्यावहारिक रूप नहीं दे सका। इस आवश्यकता को एडमंड बर्क ने पूरा किया। बर्क के लिए संविधान की रूढ़ियां, अंग्रेजों के परम्परागत अधिकार और कर्तव्य, एक ऐसी सजीव राष्ट्रीय संस्कृति जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकास करती है, केवल कल्पना की चीजें नहीं थी, बल्कि वास्तविक चीजें थीं। इन चीजों में कट्टर देश भक्ति की गरिमा और नैतिक भावना की महिमा निहित थी। बर्क को उसकी वृद्धावस्था में फ्रांसीसी क्रांति की विभीषिका ने जीवनव्यापी आदर्श

को छोड़ने के लिए और अपने दर्शन का जिस पर उसने जीवनभर आचरण किया था, सामान्य विवेचन करने के लिए बाध्य कर दिया था। इसका परिणाम रूसो का विरोध भी था और उसका पूरक तत्त्व भी। बर्क के चिन्तन में इंगलैण्ड का सामूहिक जीवन एक सविवेक वास्तविकता बन गया। बर्क ने सामान्य इच्छा को जैकोबिनों के बन्धन से मुक्त किया और उसे रूढ़िवादी राष्ट्रवाद में एक तत्त्व बना दिया।

अठारहवीं शताब्दी दार्शनिक विवेकवाद और प्राकृतिक विधि की व्यवस्था—यह व्यवस्था दार्शनिक विवेकवाद की सब से प्रमुख सृष्टि थी—के क्रमिक पतन की शताब्दी है। रूसो ने इसको अस्वीकार किया, इसका बहुत कुछ कारण उसकी अपनी भावना ही थी। उसमें न तो इतनी बौद्धिक पकड़ थी और न इतना धैर्य ही था कि वह दार्शनिक विवेकवाद अथवा प्राकृतिक विधि की व्यवस्था की जम कर आलोचना कर पाता। यह आलोचना डेविड ह्यूम के चिन्तन में पहले से ही विद्यमान थी। लॉक के बाद से अनुभवपरक दर्शन और सामाजिक अध्ययन के अनुभवपरक व्यवहार ने प्राकृतिक विधि की व्यवस्था में अनेक असंगत विचारों को समाविष्ट कर दिया था। वस्तुतः यह कहना ज्यादा सही होगा कि खुद प्राकृतिक विधि की व्यवस्था में विवेक के नाम पर ऐसे अनेक तत्त्व आ गए थे जिनकी ठीक से छानबीन करनी जरूरी थी और जो सामाजिक अध्ययन की प्रगति के साथ-साथ असंगत होते गए। पुरानी व्यवस्था ने सम्बन्ध विच्छेद का मुख्य श्रेय ह्यूम की विश्लेषणात्मक प्रतिभा को है। ह्यूम ने विवेक के ऊपर कुछ प्रतिषेधात्मक सीमाएं आरोपित की थीं। उसका यह प्रयत्न रूसो द्वारा प्रतिपादित नैतिक भाव तथा बर्क द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीय परम्परा के मूल्य की तर्कसमर्थित पूर्ण शर्त था।

Selected Bibliography

Rousseau and Romanticism. By Irving Babbitt. Boston, 1919

The Philosophical Theory of the State. By Bernard Bosanquet London, 1899. Chs. IV-V.

La Politique Comparee de Montesquieu, Rousseau, et Voltaire By Emile Faguet Paris, 1902.

Jean Jacques Rousseau Discours sur les Sciences et les arts Ed. by G R. Havens. New York, 1946. Introduction

The Social and Political Ideas of Some Great French Thinkers of the Age of Reason, Ed F. J. C Hearnshaw. London, 1930. Ch. VII.

Jean Jacques Rousseau, Moralist. By Charles W. Hendel, 2 Vols London, 1934

Du Contrat social precede d'un essai la politique de Rousseau, By Bertrand de Jouvenal Geneva 1947.

The Idea of Nationalism By Hans Kohn New York, 1944 5

Rousseau By John Morley Second edition 2 Vols London 1883

Rousseau and Burke By Annie M Osborn New York 1940

La Pensee de Jean Jacques Rousseau By Albert Schinz Paris 1929

The Political Writings of Jean Jacques Rousseau Ed C E Vaughan 2 Vols Cambridge 1915 Introduction

The Political Tradition of the West By F M Watkins Cambridge Mass 1948 Ch 4

The Meaning of Rousseau. By Ernest H Wright Oxford, 1929 Ch III



अध्याय २६

रूढ़ि तथा परम्परा : ह्यूम तथा बर्क

(Convention and Tradition : Hume and Burke)

रूसो के दर्शन ने प्राकृतिक विधि के केवल एक मर्यादित क्षेत्र पर ही आक्षेप किया था। यह क्षेत्र था समाज को व्यक्तिगत हित का एक साधन मानने की और मानव प्रकृति को लाभो की गणना करने वाली सत्ता समझने की प्रवृत्ति। रूसो ने इस प्रवृत्ति के विरोध मे अपने दर्शन की प्रतिष्ठा की। इस दर्शन के अनुसार स्वस्थ व्यक्ति प्रबल भावनाओ का पुंज होता है। इन भावनाओ का बौद्धिक शक्ति से कोई सम्बन्ध नही होता। लेकिन, फिर भी ये भावनाएं मनुष्यो को समुदायों में बांधे रखती हैं जिसके परिणामस्वरूप समाज के कल्याण के साथ व्यक्ति का कल्याण भी होता है। उसने इस सिद्धान्त का पूरी तरह से प्रतिपादन नही किया था। उसने इसका केवल एक नैतिक सिद्धान्त के रूप में आख्यान किया था। यह सिद्धान्त शुद्ध प्रकृति की अन्तर्दृष्टि का परिणाम था। यूरोपीय समाज मे जो स्वार्थवृत्ति दिखाई देती है और सार्वजनिक भावना का अभाव दिखाई देता है, रूसो ने इसका दोषी दार्शनिकों को और उनकी अन्धाधुन्ध आलोचना को ठहराया था। यदि रूसो अकेला होता, तो प्राकृतिक विधि की इमारत इतनी आसानी से नही ढह सकती थी। रूसो की अपनी आलोचना बड़ी अव्यवस्थित थी और उसका व्यावहारिक परिणाम सामान्य इच्छा जैसी अनिश्चित चीज थी। लेकिन, रूसो अकेला नहीं था। उसके विचारो का जो न तो पूरी तरह पके हुए और न बहुत अधिक थे, और जिन्हें रूसो ने बड़ी भावना के साथ व्यक्त किया था, अपूर्व स्वागत हुआ था। इससे ज्ञात होता था कि जनता एक नए प्रकार की बौद्धिक अपील का जवाब देने के लिए पूरी तरह से तैयार थी। बौद्धिक दृष्टि से भी प्राकृतिक विधि की व्यवस्था बिल्कुल अनुपयुक्त थी। वह ऐसी किसी तर्कसम्मत प्रणाली को प्रदान नहीं कर सकती थी जो उस समय के सामाजिक अध्ययनों के लिए उपयुक्त होती। स्वतः प्रामाणिकता के विषय में उसका दावा केवल एक गर्व मात्र था। प्राकृतिक विधि का सिद्धान्त फ्रांस में जरूर जीवित था। वहां उसकी उपयोगिता यह थी कि वह पुरानी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का औचित्य सिद्ध कर सकता था।

इंगलैण्ड में इस प्रकार का कोई स्थिर तत्त्व नहीं था। वहां क्रान्ति का समर्थन लॉक के साथ समाप्त हो गया। बाद में फ्रांस की क्रान्ति के समय वहां प्राकृतिक अधिकारों

की गूंज अवश्य सुनाई दी। अठारहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड के लेखकों की मनोवृत्ति क्रांति और धर्म दोनों के विषय में निश्चित रूप से रूढ़िवादी थी। एक ऐसे देश में जहां चर्च और शासन अनेक बुराइयों के बावजूद राजनीतिक दृष्टि से मुखर तत्वों की रक्षा करता हो, प्राकृतिक विधि की व्यवस्था की तात्कालिक उपयोगिता नहीं रही थी। पुन, लॉक का पत्र छपने के प्राय आधी शताब्दी बाद तक, इंगलैण्ड के दर्शन में पूरी तरह अनुभववाद की प्रधानता रही थी। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से विचारों के इतिहास का प्रतिपादन किया गया था और बताया गया था कि ये विचार मुख्य रूप से इन्द्रिय सापेक्ष होते हैं। इसका संकेत लॉक ने भी दिया था। इंगलैण्ड के नैतिक साहित्य में भी यही पद्धति कार्य करती रही थी।

निगमनात्मक नीतिशास्त्र का विचार जो स्वत स्पष्ट नैतिक नियमों से आरम्भ होता है और जिसे लॉक ने कायम रक्खा था, शीघ्र ही पुराना पड़ गया। बेंथम के समय तक इंगलैण्ड के उपयोगितावाद में क्रांतिकारी और सुधारात्मक प्रयोजनों का वह तत्व नहीं था जो हेल्वेटियस ने इस सिद्धान्त को फ्रांस में प्रदान किया था। लेकिन, फिर भी वह ज्यादा स्पष्ट था क्योंकि उसने प्राकृतिक न्याय और प्राकृतिक अधिकार जैसे असगत विचारों को दूर करने की कोशिश की थी। उन्नीसवीं शताब्दी में अर्थशास्त्र प्राकृतिक विधि का गढ़ रहा था। उसमें भी एडम स्मिथ निगमनात्मक पद्धति को अपने बाद के परम्परागत अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा कम ही मानता था। इसका कारण सम्भवत यह था कि बाद के अर्थशास्त्रियों पर फ्रांस के फिजियोक्रेटों का स्मिथ की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ा था। यदि एडम स्मिथ अपने मित्र ह्यूम के अर्थशास्त्र विषयक निबन्धों का अधिक गहराई से अध्ययन करता तो सम्भवत उसका अर्थशास्त्र अधिक अनुभव-परक होता।

ह्यूम विवेक, तथ्य और मूल्य

(Hume : Reason, Fact and Value)

प्राकृतिक विधि की आलोचना और क्रमिक पतन की परिणति ह्यूम की ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमेन नेचर नामक ग्रन्थ में दृष्टिगत होती है। यह ग्रन्थ १७३९-४० में प्रकाशित हुआ था। आधुनिक दर्शन में इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व है। इसका महत्त्व केवल राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं है, प्रत्युत् उससे कुछ अधिक है। इसके साथ ही ह्यूम के दर्शन का सामाजिक सिद्धान्त की सभी शाखाओं पर प्रभाव पड़ा। ह्यूम के दर्शन का एक विशेष लक्षण प्रखर दार्शनिक विश्लेषण था। यदि इस विश्लेषण को स्वीकार किया जाए तो वह प्राकृतिक विधि की वैज्ञानिकता के समस्त दावों का खंडन कर देता है। नीतिशास्त्र, धर्म और राजनीति में प्राकृतिक विधि का जिस ढंग से प्रयोग होता था, ह्यूम ने उसकी भी आलोचना की। ह्यूम के विश्लेषण के सामान्य सिद्धान्तों का तो

विवेचन किया ही जाना चाहिए क्योंकि उन्होंने सामाजिक सिद्धान्त के सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रभावित किया। हम उसकी कुछ उन तकनीकी बारीकियों को जिनके आधार पर उसने अपने तर्क का निर्माण किया था और जो अब पुरानी पड़ गई हैं, छोड़ सकते हैं।

ह्यूम ने विवेक की सकल्पना का विश्लेषण करने का प्रयास किया। यह शब्द परम्परागत रूप से प्राकृतिक विधि की व्यवस्थाओं में प्रयुक्त होता रहा था। ह्यूम का उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि इस शब्द के अन्तर्गत तीन तत्व या प्रक्रियाएं जिनके अर्थ भिन्न हैं, बिना समझे-बूझे एक दूसरे से मिल गए हैं। इस भ्रम का परिणाम यह हुआ कि कुछ प्रस्थापनाओं को प्रकृति और नैतिकता के आवश्यक सत्य अथवा अपरिवर्तनीय नियम कह कर वर्णित किया गया। ये प्रस्थापनाएं ऐसी थीं जिनमें निरपेक्ष निश्चितता जैसी कोई बात नहीं थी। सर्वप्रथम, ह्यूम ने यह बताया कि इस आवश्यक और अपरिहार्य अर्थ में ठीक ढंग से विवेक किस को कहा जा सकता है। उसने यह स्वीकार किया कि कुछ विचारों की तुलनाएं होती हैं जो इस प्रकार से सत्य सामने लाती हैं। उसका विचार था कि ये चीजें गणित के केवल कुछ सीमित अंशों में ही पायी जाती हैं और उनकी कुछ निश्चित विशेषताएं होती हैं। ये ऐसी चीजें हैं जिन्हें अब औपचारिक निष्कर्ष कहा जाता है और उनके अनुसार यदि किसी प्रतिज्ञा को स्वीकार कर लिया जाता है, तो फिर एक विशेष प्रकार का निष्कर्ष निकलता है। प्रतिज्ञा की सचाई के बारे में कुछ जानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह समझा जाता है कि यदि एक प्रस्थापना सच है, तो दूसरी प्रस्थापना भी सच होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में ह्यूम का कहना है यद्यपि उसका यह कहना बहुत सही नहीं है कि सम्बन्ध केवल विचारों के बीच है, वास्तविक तथ्यों का कोई महत्त्व नहीं है। ह्यूम की रुचि कुछ अन्य दिशाओं में थी, अतः उसने इस गणितीय अथवा औपचारिक सत्य को जितना महत्त्व देना चाहिए था, उतना महत्त्व नहीं दिया। ह्यूम का उद्देश्य विवेक की सचाई को उन अन्य तात्विक क्रियाओं से अलग करना था, जिनके साथ वह मिल गई थी। उसका उद्देश्य यह सिद्ध करना भी था कि सविवेक अथवा आवश्यक सत्य का यह ठीक और वास्तविक अर्थ है।

उपर्युक्त विवेचन का स्पष्ट निष्कर्ष यह निकलता है कि "विचारों की तुलना" तथ्य के किसी मामले को सिद्ध नहीं कर सकती और किसी दृढ़ अथवा सविवेक अर्थ में तथ्य के मामले कभी आवश्यक नहीं होते। ह्यूम ने कार्य और कारण की जो व्याख्या की है, उसकी मुख्य बात यही है। तथ्य के किसी मामले की विरोधी बात को स्वीकार कर लेना सदैव सम्भव है, और जब दो तथ्य या घटनाएं कार्य कारण के रूप में एक दूसरे से सम्बद्ध होती हैं, तो उनके बारे में केवल यही जाना जा सकता है कि वे कुछ नियमितता के साथ वास्तव में घटित होती हैं। यह ठीक है कि हम उन्हें एक साथ देख सकते हैं, लेकिन एक के आधार पर दूसरे का अनुमान करना असम्भव होगा। इसलिए, यदि हम आवश्यक शब्द का ठीक से प्रयोग करें, इस तरह प्रयोग करें जैसे कि यह गणित में प्रयुक्त होता है, तो फिर यह प्रतीत होगा कि कार्य-कारण का तथाकथित

आवश्यक सम्बन्ध केवल एक काल्पनिक विचार है। कार्य तथा कारण में केवल अनुभव-परक सह-सम्बन्ध है। कारणगत सम्बन्धों तथा तथ्य के मामलों के उपर्युक्त विश्लेषण से यह ज्ञात होगा कि अनुभवपरक विज्ञान—ये विज्ञान उन घटनाओं का जो वास्तव में घटित होती हैं और उन अन्त सम्बन्धों का जो उनके बीच वास्तव में घटित होते हैं, विवेचन करते हैं—गणित से अथवा निगमनात्मक तर्कशास्त्र से बिल्कुल भिन्न होते हैं इससे सिर्फ यही प्रमाणित होता है कि एक प्रस्थापना दूसरी प्रस्थापना से निकलती है।

तीसरे, शब्द विवेक अथवा विवेकोचित मानवी आचरण के ऊपर लागू होता है। विशेष रूप से प्रकृति की विधि सदैव ही यह प्रमाणित करने का प्रयास करती थी कि सत्य अथवा न्याय अथवा स्वतन्त्रता के कुछ सविवेक सिद्धान्त हैं जो आवश्यक अथवा अटल सिद्ध किए जा सकते हैं। ह्यूम ने निष्कर्ष निकाला था कि यह गलत और भ्रम था। जहां ऐसे मामलों में कोई कार्य अच्छा या सही कहा जाता है, वहां निर्देश विवेक के प्रति नहीं होता प्रत्युत किसी मानवी अभिरुचि या इच्छा या 'प्रवृति' के प्रति होता है। विवेक स्वयं कार्य की किसी पद्धति का आदेश नहीं देता। वह कार्य-कारण के ज्ञान के आधार पर यह कह सकता है कि अमुक कार्य करने का परिणाम अच्छा होगा और अमुक का बुरा। विवेक का दायरा समाप्त होने पर भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि परिणाम मानवी अभिरुचि के अनुकूल है या नहीं। विवेक आचरण का इसी अर्थ में पथ प्रदर्शक है कि वह यह बता देता है कि कौन से साधन वांछित उद्देश्य तक पहुँचेंगे अथवा किसी अनुचित परिणाम का कैसे निवारण किया जा सकता है। परिणाम की प्रसन्नता अपने आप में न तो विवेकपूर्ण ही होती है और न विवेकहीन ही। इस सम्बन्ध में ह्यूम ने कहा था, "विवेक आवेगों का दास होता है और उसे ऐसा होना भी चाहिए। उसका काम केवल इनकी सेवा करना और आज्ञा का पालन करना है। वह और कोई काम नहीं कर सकता।" इस विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र अथवा राजनीतिशास्त्र अथवा अन्य कोई सामाजिक विज्ञान जहां मूल्य निर्णयों पर ध्यान देना पड़ता है, निगमनात्मक अथवा विशुद्ध रूप से कार्य-कारण सम्बन्धी विज्ञानों से भिन्न होते हैं।

इसलिए तीन मूलतः भिन्न प्रस्थापनाएं हैं जिन्हें विवेक के नाम पर गलती से एक मान लिया गया है। ह्यूम ने इन तीनों में भेद स्थापित करने की कोशिश की। सर्वप्रथम, निश्चित अर्थ में निगमन अथवा विवेक है। दूसरे, अनुभव विषयक अथवा कार्य-कारण सम्बन्ध हैं। तीसरे, जब कभी कोई सत्य, ज्ञान अथवा उपयोगिता के बारे में चर्चा करता है, तब मूल्यों का प्रश्न उठ खड़ा होता है। यदि इन तीनों प्रस्थापनाओं में सावधानी से भेद स्थापित किया जाए, तो प्राकृतिक विधि की सम्पूर्ण कथित विवेकवत्ता टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। चूंकि वाद के दोनों तत्व पूरी तरह से विवेकपूर्ण नहीं हैं, अतः उन दोनों में कुछ ऐसे तत्व हैं जिन्हें पूरी तरह से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ह्यूम ने इन तथ्यों को "रूढ़ियां" कहा है। ह्यूम के दर्शन का अधिकांश भाग यह प्रमाणित करने में लग गया है कि आनुभविक अथवा सामाजिक विज्ञानों में ये तत्व उपस्थित रहते

हैं। ये रूढ़ियाँ इस अर्थ में अटल हैं कि अनुभवपरक निष्कर्ष और व्यावहारिक बुद्धि—इन दोनों के लिए इस चीज की जरूरत है। वे इसलिए उचित मालूम पड़ती हैं क्योंकि मनुष्य अभ्यासवश उनका प्रयोग करते हैं और वे इस अर्थ में उपयोगी हैं क्योंकि उनके आधार पर कार्य के न्यूनाधिक स्थायी नियमों का निर्माण किया जा सकता है। लेकिन, उन्हें आवश्यक नहीं कहा जा सकता। एक तरह से उन्हें अनावश्यक ही समझा जा सकता है। वे विवेक पर कम कल्पना पर अधिक निर्भर होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अनुभव और प्रकृति में जितनी नियमितता पाई जाती है, वे उसमें उससे अधिक की कल्पना कर लेते हैं। अनुभवपरक विज्ञानों में कार्य-कारण का नियम एक उदाहरण है। उसके समस्त कथित प्रमाण सदिग्ध हैं। उसके समस्त प्रयोग केवल ऐसे निष्कर्षों की ओर ले जाते हैं जो न्यूनाधिक रूप से सम्भाव्य होते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ह्यूम का विचार है कि यह केवल एक आदत है। उसे इस बात का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि प्रकृति मानवी आदतों के अनुकूल क्यों बने। इसी प्रकार न्याय और स्वतन्त्रता जैसे सामाजिक मूल्य हैं। इनके अन्तर्गत भी कुछ रूढ़ियाँ शामिल हैं। इन रूढ़ियों का महत्त्व यह है कि वे उपयोगी होती हैं अथवा उनका मानवी कार्य के उद्देश्यों अथवा प्रवृत्तियों से सम्बन्ध होता है।

प्राकृतिक विधि का विनाश

(The Destruction of Natural Law)

ह्यूम की सामान्य दार्शनिक पृष्ठभूमि का हम ऊपर विवेचन कर चुके हैं। ह्यूम ने अपनी आलोचना को प्राकृतिक विधि की विविध शाखाओं के ऊपर लागू किया। उसने प्रतिपाद्य विषय का पूरी तरह से विवेचन नहीं किया। उसके तर्क के पूरे निष्कर्ष बाद में सामने आए। लेकिन, उसने इस प्रणाली की कम-से-कम तीन शाखाओं पर आक्षेप किया, प्राकृतिक अथवा विवेकपूर्ण धर्म, विवेकपूर्ण नीतिशास्त्र और राजनीति का सविदागत अथवा संविदागत सिद्धान्त। उसका तर्क था कि विवेकपूर्ण धर्म का विचार ही झूठा होता है क्योंकि तथ्य के किसी मामले का निगमनात्मक प्रमाण असम्भव होता है। इसी आधार पर उसका कथन था कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इसका निष्कर्ष अधिक सामान्य है। किसी भी वस्तु के आवश्यक अस्तित्व को सिद्ध करने वाली सविवेक तत्त्वमीमांसा सम्भव है। धर्म के तथाकथित सत्यों में वैज्ञानिक सामान्यीकरण की व्यावहारिक निर्भरता भी नहीं होती। वे शुद्ध रूप से भावना के क्षेत्र से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए, धर्म का एक प्राकृतिक इतिहास हो सकता है। इस कथन का आशय यह है कि धर्म के बहुत से विश्वासों और प्रथाओं की मनोवैज्ञानिक अथवा मानवशास्त्रीय व्याख्याएं की जा सकती हैं। लेकिन, उसकी सचाई का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार आचारों और राजनीति के क्षेत्र में मूल्य मनुष्य की कार्य-विषयक प्रवृत्तियों पर

निर्भर रहते हैं। अत, यह असम्भव है कि विवेक खुद ही किसी दायित्व का निर्माण करे। फलत, सद्गुण केवल मस्तिष्क की एक विशेषता अथवा कार्य है और वह भी ऐसा जो कि सामान्य रूप से अनुमोदित हो। धर्म की भांति ही उसका भी एक प्राकृतिक इतिहास हो सकता है। लेकिन, नैतिक दायित्व का बल प्रवृत्तियो, आवश्यकताओ तथा कार्य की प्रेरणाओ की स्वीकृति पर निर्भर है। इसका सिर्फ यही औचित्य है और कुछ नही।

ह्यूम की नैतिक आलोचना का बहुत सा अश तत्कालीन उपयोगितावाद के विरुद्ध था। उपयोगितावाद के अनुसार मनुष्य के समस्त कार्यों का प्रेरक तत्त्व सुख को प्राप्त करने और दु ख के निवारण की चेष्टा थी। ह्यूम ने उपयोगितावाद का व्यावहारिक आधार पर विरोध किया है। ह्यूम का कहना है कि उपयोगितावाद मानवी प्रेरणाओ की बहुत सरल व्याख्या करता है इतनी सरल कि वह व्याख्या झूठी मालूम पड़ने लगती है। ह्यूम के विचार से मानव प्रकृति इतनी सरल नही है कि वह केवल एक प्रवृत्ति से ही अनुशासित हो। मनुष्य की बहुत सी आदिम प्रवृत्तिया ऐसी हैं जो सुख से सीधा सम्बन्ध नही रखती। हो सकता है कि वे उदार हो। उदाहरण के लिए हम एक सीमित क्षेत्र मे माता-पिता का प्रेम ले सकते हैं। यह भी सम्भव है कि ये प्रवृत्तिया न स्वार्थपूर्ण हो और न उदार। मनुष्य की प्रकृति जैसी है हमे वह उसी ही रूप मे ग्रहण करनी चाहिए। यह प्रचलित धारणा कि स्वार्थपूर्ण प्रेरणाए कुछ विवेकपूर्ण होती हैं, इस कल्पना का ही एक भाग है जिसके आधार पर विवेकवादी यह सोचने लगे थे कि न्याय विवेकपूर्ण होता है। उस समय के सभी श्रेणियो के नीतिवादी मनुष्य की प्रकृति को अन्तर्दृष्टि और बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण मानते थे लेकिन ह्यूम का ऐसा कोई विचार नही था। उसने कहा है कि मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि मे या अन्य किसी कार्य मे बहुत अधिक सोच विचार नही करते। वे उसी समय दूरदृष्टि से काम लेते हैं जबकि उनकी भावनाएं और प्रेरणाएं सीधे प्रभावित नही होती। लेकिन, मनुष्य की प्रवृत्ति स्वार्थ मे भी उतना ही हस्तक्षेप करती है जितना कि उदारता में। ह्यूम के उपयोगितावाद ने अहकारिता को विशेष महत्त्व नहीं दिया था। उसने मानवी बुद्धि को भी बहुत ऊचा दर्जा नही दिया। इस दृष्टि से वह बेंथम की अपेक्षा जान स्टुअर्ट मिल के अधिक नजदीक था। जान स्टुअर्ट मिल ने मानव प्रकृति को अधिक सरल माना था। फ्रास के उपयोगितावादियो का भी बहुत कुछ ऐसा ही विचार था।

ह्यूम ने सहमति के सिद्धान्त की भी कठोर आलोचना की है। उसका कहना है कि राजनीतिक दायित्व केवल इसलिए बन्धनकारी होता है कि वह ऐच्छिक रूप से स्वीकृत हो जाता है। लेकिन, उसकी इस आलोचना मे एक उलझन यह थी कि उसने ऐतिहासिक आधार पर इसके ऊपर कोई आपत्ति नही की है। ह्यूम ने इस सिद्धान्त को सिर्फ काल्पनिक सिद्धान्त माना और इस तरह उसे कमजोर कर दिया। अपने बाद के विचारक बर्क की भांति वह यह स्वीकार करने के लिए तैयार था कि सम्भवत सुदूर भूतकाल मे पहला आदिमकालीन समाज समझौते के द्वारा बना हो। यदि यह बात सच भी थी तो उसका वर्तमान समाजो से कोई सम्बन्ध न होता। यदि नागरिक आदेश पालन का दायित्व समझौते को कायम रखने के दायित्व से पैदा होता है तो यह प्रश्न करना स्वाभाविक

है कि समझौता किस प्रकार बन्धनकारी हो जाता है। अनुभव की दृष्टि से दोनों चीजें भिन्न हैं। कोई भी सरकार अपने प्रजाजनों से यह नहीं कहती कि वे सहमति दें। सरकार राजनीतिक अधीनता और संविदा की अधीनता में भी कोई भेद स्थापित नहीं करती। मनुष्य की प्रेरणाओं में शासन के प्रति निष्ठा अथवा भक्ति भावना उतनी ही पाई जाती है जितनी कि यह प्रवृत्ति कि समझौतों का पालन होना चाहिए। सम्पूर्ण राजनीतिक संसार में वे निरंकुश सरकारें जो सहमति के सिद्धान्त को रंच मात्र भी नहीं मानतीं, स्वतन्त्र सरकारों की अपेक्षा अधिक पाई जाती हैं। उनके प्रजाजन अपनी सरकारों के अधिकार की आलोचना भी नहीं करते। यदि वे आलोचना करते हैं तो केवल उसी समय जबकि अत्याचारी शासन बहुत दमन करने लगता है। अन्ततः, इन दोनों चीजों का उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। राजनीतिक निष्ठा व्यवस्था कायम रखती है और शान्ति तथा सुरक्षा को बनाए रखती है। संविदाओं की पवित्रता प्राइवेट व्यक्तियों के बीच पारस्परिक विश्वास को जन्म देती है। ह्यूम का निष्कर्ष था कि नागरिक आदेश पालन का कर्त्तव्य और समझौते को कायम रखने का कर्त्तव्य यह दो भिन्न चीजें हैं। एक को दूसरे पर आधारित नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा किया भी जाए, तो एक-दूसरे की अपेक्षा अधिक बन्धनकारी नहीं है। तब, फिर कोई भी क्यों बन्धनकारी हो? यह इसलिए बन्धनकारी होनी चाहिए क्योंकि उसके बिना एक ऐसे शान्तिपूर्ण तथा व्यवस्थापूर्ण समाज का निर्माण नहीं हो सकता जिसमें अमन चैन रहे, सम्पत्ति की रक्षा हो और पदार्थों का विनिमय किया जा सके। दोनों प्रकार के दायित्व इस एक मूल से आगे बढ़ते हैं। यदि प्रश्न पूछा जाए कि मनुष्य व्यवस्था कायम रखने और सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए क्यों तैयार होते हैं तो इसके दो उत्तर हैं—कुछ तो वे इसलिए तैयार होते हैं क्योंकि इससे मनुष्य की स्वार्थ पूर्ति में सहायता मिलती है और कुछ इसलिए कि निष्ठा एक ऐसी आदत है जो शिक्षा के द्वारा लागू की जाती है और इसलिए वह अन्य किसी प्रेरक उद्देश्य की भांति ही मनुष्य की प्रकृति का एक अंग बन जाती है। समाज के सदस्य समान हित की भावना से प्रेरित होते हैं और वे इसके दायित्वों को भी स्वीकार करते हैं।

जहां तक प्रकृति का सम्बन्ध है, ह्यूम का यह तर्क था कि यह समान हित वचन अथवा सविवेक सत्य की अपेक्षा भाषा से अधिक साम्य रखता है। यह कुछ ऐसी रूढ़ियों अथवा सामान्य स्थूल नियमों का समूह है जिन्हें अनुभव ने सामान्य रूप से मानवीं आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन बताया है। हां, यह बात दूसरी है कि उनके प्रयोग में कभी-कभी कुछ दिक्कतें आ जाती हैं। स्थिरता के विचार से मनुष्यों को यह जानना पड़ता है कि वे किन चीजों पर निर्भर रह सकते हैं। इसलिए, कुछ नियम जरूरी हैं। यदि यह नियम बहुत असुविधाजनक हो जाते हैं तो मनुष्य उन्हें बदल सकते हैं। यदि नियम और किसी प्रकार से न बदले जा सकें, तो मनुष्य उन्हें हिंसा से बदल लेंगे। अधिक-से-अधिक यही आशा की जा सकती है कि ये नियम अच्छी तरह काम करेंगे। नियम मनुष्य प्रकृति के शाश्वत तत्त्व नहीं हैं, वे व्यवहार के कुछ मानक उपाय हैं। अनुभव उनका औचित्य

सिद्ध करता है तथा वे स्वभाव द्वारा स्थिर हो जाते हैं। वे एक स्थायी सामाजिक जीवन को कायम रखते हैं। यह सामाजिक जीवन मनुष्य की प्रवृत्तियों और हितों के अनुसार होता है। ह्यूम ने इस तरह की रूढ़ियों के दो भेद माने थे। इनमें से एक वह है जो सम्पत्ति का विनियमन करते हैं। ह्यूम ने उन्हें न्याय के नियम कहा है। दूसरे नियम वह हैं जो राजनीतिक सत्ता की वैधता से सम्बन्ध रखते हैं। न्याय का सामान्य अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति का स्वामित्व स्थायी होगा, सम्पत्ति को सहमति के आधार पर स्थानान्तरित किया जा सकेगा और करार बन्धनकारी होंगे। इन नियमों का औचित्य सिर्फ यही है कि वे सम्पत्ति को एक स्थायी संस्था बना देते हैं। वे उन सब आवश्यकताओं को भी पूरा करते हैं जो सम्पत्ति के हितों को जन्म देती हैं। वैध शासन जो अनधिग्रहण से भिन्न होता है ऐसे ही रूढ़िगत नियमों पर आधारित होता है जो वैधिक सत्ता का बल से पृथक् करते हैं। इन नियमों में चिर भोगाधिकार और औपचारिक अधिनियमन सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ह्यूम ने इन नियमों की कुछ असंगतियों की ओर निर्देश करते हुए कहा था कि कभी कभी वे समय की दृष्टि से पीछे हो होते हैं। १६८८ में विलियम का राजगद्दी पर बैठना वैध नहीं था। उसका यह कार्य उस समय के किसी भी सिद्धान्त के अनुसार अनुचित था। लेकिन आजकल वह इसलिए वैध माना जाता है क्योंकि उसके उत्तराधिकारियों को वैध मान लिया गया है।

भावना का तर्क

(The Logic of Sentiment)

यदि ह्यूम के तर्क की बुनियादों को स्वीकार किया जाए तो इस बात को मुश्किल से ही अस्वीकार किया जा सकता है कि उसने प्राकृतिक अधिकार, स्वतः स्पष्ट शक्तियों, और शाश्वत तथा अविनाशी नैतिकता के नियमों के सम्पूर्ण विवेकवादी दर्शन को नष्ट कर दिया। अविचल अधिकारों अथवा प्राकृतिक न्याय और स्वतन्त्रता के स्थान पर अब केवल उपयोगिता रह जाती है। यह उपयोगिता या तो स्वार्थ के रूप में अथवा सामाजिक स्थिरता के रूप में ग्रहण की जा सकती है और आचरण के कुछ ऐसे रूढ़िगत मानकों के रूप में व्यक्त होती है जो मानवी प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं। हो सकता है कि ये रूढ़ियाँ मनुष्यों में व्यापक रूप से प्रचलित हों और आपेक्षिक रूप से स्थायी भी हों क्योंकि मानवी प्रेरणाएँ काफी हद तक एकरूप होती हैं और वे धीरे धीरे बदलती हैं। ये प्रेरणाएँ इसी रूप में सार्वभौम नहीं जा सकती हैं और किसी रूप में नहीं। वे तथ्यों पर, तथ्यों के मानवी प्रवृत्तियों के साथ सम्बन्धों पर और इन प्रवृत्तियों को क्षेत्र देने के लिए निर्मित नियमों पर आधारित होती हैं। समाज की रूढ़ियाँ इतिहास या मनोविज्ञान या मानव-शास्त्र के द्वारा समझाई जा सकती हैं। लेकिन उनकी वैधता सिर्फ यही है कि वे सुविधाजनक होती हैं और मनुष्य के लिए उपयोगी होती हैं। यह कहना कि वे हमेशा

हो ठीक या उपयुक्त होती हैं, सही नहीं है। यदि हम उपयोगिता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं, तो प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त के बिना हमारा काम चल सकता है।

इस विध्वंसात्मक विश्लेषण का तात्कालिक परिणाम वह नहीं हुआ जिसकी ह्यूम को उम्मीद थी। यदि ह्यूम की आलोचना सही है तो इसका एकमात्र निष्कर्ष एक प्रकार का अनुभवपरक भाववाद है। यह भाववाद तत्त्वमीमांसा अथवा दर्शन, धर्म, अथवा नीतिशास्त्र से परे है। वह समाज की परिस्थितियों और उसकी आवश्यकताओं से भी निरपेक्ष है। जो कुछ हुआ, उसने यह सिद्ध कर दिया कि तत्त्वमीमांसा, धर्म और नीतिशास्त्र जो बहुत कुछ परम्परागत ढर्रे पर चलते थे, ह्यूम की आलोचना से अधिक शक्तिशाली थे। अन्य दार्शनिक इस बात को तो अस्वीकार नहीं करते थे कि यदि ह्यूम की प्रतिज्ञाओं को स्वीकार कर लिया जाता तो उसके निष्कर्ष अकाट्य थे। प्राकृतिक विधि की व्यवस्था को तथा उसके विवेक की स्वतः स्पष्ट शक्तियों को फिर से जीवित करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। इसके विपरीत फ्रांस की क्रांति के बाद और उसके विरोध में उठने वाली रूढ़िवादी प्रतिक्रिया के बाद दार्शनिक यह सोचने लगे थे कि व्यक्तिगत अधिकारों के सिद्धान्त की जो नियति हुई वह ठीक ही थी। यह सिद्धान्त बौद्धिक रूप से खोखला था और सामाजिक रूप से भयानक। लेकिन उनमें से किसी की यह इच्छा नहीं थी कि वे ह्यूम के परिणामों के साथ रुक जाएं। उस समय का फैशन यह हो गया कि लोग ह्यूम के परिणामों को नकारात्मक कहने लगे थे। फलतः, उनके लिए एकमात्र रास्ता यह था कि वे ह्यूम की मूल प्रतिज्ञा से पीछे जायें और यह कहें कि विवेक, तथ्य तथा मूल्य में ह्यूम ने जो भेद स्थापित किया था, वह गलत था। यदि इन सब को एक क्रिया में रक्खा जाता और यदि इन सब को विवेक के अन्दर शामिल कर लिया जाता तो एक नए तर्कशास्त्र, एक नई तत्त्वमीमांसा और निरपेक्ष मूल्यों का एक नया समर्थन तैयार हो सकता था। कांट के निर्देशन में और हीगेल के आदर्शवाद में दर्शन ने यही रूप धारण किया। इसने एक नया सश्लेषण प्राप्त किया अथवा एक नए भ्रम को जन्म दिया, यह विवादास्पद है। फिर भी ह्यूम के भाववाद का एक विरोधाभासपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उसने एक विस्तृत तत्त्वमीमांसा, धार्मिक पुनरुत्थान और निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में दृढ़ आस्था को जन्म दिया।

यद्यपि हीगेल ने इस नए दर्शन को बहुत व्यवस्थित रूप से व्यक्त किया, तथापि उसके दर्शन में ऐसे विचार अन्तर्निहित थे जो अठारहवीं शताब्दी के अन्त में प्रचलित थे। हीगेल ने भावना या साहित्यिक और स्वच्छन्दतावादी मध्ययुगीन शैली में व्यक्त किया। उसने लोक-काव्य का पुनरुत्थान किया। उसने इस बात पर जोर दिया कि राष्ट्रीय संस्कृति की एक अनिर्वचनीय पृष्ठभूमि होती है और विधि तथा सस्थाएं राष्ट्र की आन्तरिक भावना का प्रकटन करती है। जहां तक सामाजिक दर्शन का सम्बन्ध है, हम यहां तीन बातों का उल्लेख कर सकते हैं। उस समय उन्माद की जो मनोवृत्ति थी कि इन तीनों बातों का मिलाकर एक नए सर्वान्वित सिद्धान्त का रूप दिया जा सकता है। सर्वप्रथम, भावना की तुलना में तर्क अथवा सूक्ष्म विवेक की निन्दा करने की प्रवृत्ति थी। यह माना जाता

था कि इनको मिलाकर एक उच्चतर और महत्तर तर्कशास्त्र का निर्माण किया जा सकता है। मार्लायिस ने ह्यूम के दर्शन के सम्बन्ध में कहा था कि वह अविश्रान्त रूप से तर्क पर ही जोर देता है। इसमें किराए से लेकर धर्म के प्राकृतिक इतिहास के सभी प्रश्न एक सी यान्त्रिक निष्पक्षता के साथ निपटाए जा सकते हैं। रूसो ने धार्मिक निष्ठा और समुदाय के प्रति भक्ति की जिन नैतिक और व्यापक भावनाओं को जाग्रत किया था उन्हें तार्किक निष्पक्षता की अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण समझा जाता था। दूसरे, भावना तथा समुदाय के प्रति यह आस्था रूढ़ि तथा परम्परा के नए मूल्यांकन को अपने गर्भ में छिपाए हुए थी। नए दर्शन ने इन चीजों को विवेक का विरोधी नहीं माना बल्कि यह कहा कि वे जाति अथवा राष्ट्र की चेतना में निहित विवेक का उद्घाटन करती हैं। इसलिए, ये ऐसी चीजें नहीं हैं जिन्हें व्यर्थ समझा जाए और शिक्षित व्यक्ति अवहेलना की दृष्टि से देखें। इसके विपरीत ये तो मूल्यवान विरासत हैं जिनकी रक्षा करनी चाहिए और जिनका प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान होना चाहिए। बर्क ने इस परम्परागत राष्ट्रीय संस्कृति के नए मूल्यांकन को सब से स्पष्टता से व्यक्त किया। अन्त में, इस परिवर्तन में इतिहास का एक नया अर्थ भी निहित था। अब लोग सभ्यता के इतिहास में यह देखने लगे कि दैवी मस्तिष्क अथवा दैवी प्रयोजन का धीरे-धीरे उद्घाटन होता है। फलत, सामाजिक जीवन के मूल्य उसके आचार, कला, धर्म और सांस्कृतिक सिद्धियां ये सब निरपेक्ष भी हैं और सापेक्ष भी। ये निरपेक्ष तो अपने परम महत्त्व में हैं और सापेक्ष किसी विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में। मनुष्य में विवेक एक अन्तर्मुख विश्वात्मा की अभिव्यक्ति है जो अपने को धीरे-धीरे राष्ट्रों के इतिहास में व्यक्त करती है।

बर्क : विहित संविधान

(Burke : The Prescriptive Constitution)

दर्शन की भारी भरकम लेकिन भव्य अट्टालिका को, जो हीगेल के आदर्शवाद में अपनी परिणति को पहुंची, और जिसने अठारहवीं शताब्दी में प्राकृतिक विधि का स्थान ग्रहण किया बर्क की महत्त्वपूर्ण देन है। अठारहवीं शताब्दी का वही एकमात्र ऐसा विचारक था जिसने राजनीतिक परम्परा को धर्म की आस्था से ग्रहण किया। उसने राजनीतिक परम्परा को एक ऐसी देववाणी माना जिससे राजमर्मज्ञों का अवश्य ही पथप्रदर्शन करना चाहिए। पुन, राजनीतिक परम्परा में जाति की कुछ सिद्धियां निहित होती हैं। अत, राजनीतिक परम्परा को उसी समय बदला जाना चाहिए जबकि उसके आन्तरिक अर्थ को कोई क्षति न पहुंचे। ह्यूम और बर्क को एक ही अध्याय में रखना कुछ असंगत है। ह्यूम बड़ा ठंडा और व्यंग्यप्रिय दार्शनिक था। इसके विपरीत बर्क बड़ा कल्पना-प्रवीण तथा धर्मप्राण राजनेता था। फिर भी, एक अर्थ में बर्क ने विवेक तथा

प्राकृतिक विधि के उस निषेध को जो ह्यूम ने प्रतिपादित किया था स्वीकार कर लिया था। बर्क यह मानता है कि समाज प्राकृतिक नहीं अपितु कृत्रिम है। वह केवल विवेक की सृष्टि नहीं है। उसको मानक रूढ़ियां हैं और वह अस्पष्ट भावनाओं तथा प्रवृत्तियों पर यहां तक कि पक्षपातों पर भी निर्भर रहता है। लेकिन "कला मनुष्य की प्रकृति में मूलबद्ध है।" ये प्रवृत्तियां और इनके आधार पर उत्पन्न होने वाला समाज मानव प्रकृति के अविभाज्य अंग हैं। इनके बिना और इनके आधार पर निर्मित नैतिक संहिताओं और संस्थाओं के बिना मनुष्य या तो पशु है या देवता। वह मनुष्य नहीं है। इसलिए, राष्ट्रीय जीवन की परम्पराओं की ऐसी उपयोगिता होती है जिसे व्यक्तिगत सुविधा अथवा व्यक्तिगत अधिकारों के आधार पर नहीं नापा जा सकता। राष्ट्रीय जीवन की परम्पराओं में सम्पूर्ण सभ्यता नैतिकता, धर्म और विवेक निहित रहता है। ह्यूम ने विवेक तथा प्राकृतिक विधि की शाश्वत वास्तविकताओं को नष्ट कर दिया था। बर्क ने यह प्रगट किया है कि इसका क्या परिणाम हुआ। स्वतः स्पष्ट अधिकारों के हटने के बाद जो स्थान रिक्त रह गया था, वह भावना, परम्परा और आदर्शीकृत इतिहास ने ग्रहण कर लिया। इसके साथ ही व्यक्ति की पूजा के स्थान पर समुदाय की पूजा आ गई।

बर्क के राजनीतिक दर्शन की सुसम्बद्धता के बारे में काफी वाद विवाद हुआ है। बर्क ह्विग सिद्धान्तों को मानने वाला था लेकिन इसके साथ ही उसने फ्रांस की क्रांति का विरोध किया था। उसकी इन दो प्रवृत्तियों में क्या संगति थी इस प्रश्न को लेकर भी काफी वाद-विवाद हुआ है। बर्क की फ्रांसीसी क्रांति के सम्बन्ध में इस प्रतिक्रिया ने उसके जिन्दगी भर के सम्बन्धों और मित्रताओं को समाप्त कर दिया। उसके समसामयिक यह नहीं समझ सके कि जिस व्यक्ति ने अमेरिकी स्वतन्त्रता का समर्थन किया था, सम्राट् के ऊपर राजा के नियन्त्रण की आलोचना की थी, और ईस्ट इंडिया कम्पनी के विहित अधिकारों को समाप्त करने की कोशिश की थी वही व्यक्ति फ्रांसीसी क्रांति के कैसे विरुद्ध हो गया। वास्तव में यह गलत धारणा है। बर्क का दर्शन कोई क्रमबद्ध दर्शन नहीं था। उसके कुछ रूढ़िवादी सिद्धान्त थे। उसने जिन सिद्धान्तों से प्रेरित होकर क्रांति पर आक्षेप किया था, उन्हीं सिद्धान्तों से प्रेरित होकर उसने फ्रांस की क्रांति से पहले सारे कार्य किए थे। यह सही है कि फ्रांस की घटनाओं ने उसे डरा दिया था, उसकी बुद्धि को असन्तुलित कर दिया था, ऐसी घृणा को प्रगट किया था जो अब तक बड़ी सुन्दरता से छिपी हुई थी और इसके कारण उसके लेखनों में ऐसा अनावश्यक अलंकार आ गया था जिसने उसकी निष्पक्षता, इतिहास बोध और तथ्यों पर अधिकार को नष्टप्राय कर दिया था। लेकिन क्रांति ने उसे न तो कुछ नए विचार दिए और न उसके पुराने विचारों को बदला। उसके मुख्य राजनीतिक विचार हमेशा एक से रहे थे। राजनीतिक संस्थाएं विहित अधिकारों और रूढ़िगत प्रथाओं की एक जटिल व्यवस्था है। ये प्रथाएं भूतकाल से उत्पन्न होती हैं और अपनी निरन्तरता को तोड़े बिना है

अपने को वर्तमान के अनुकूल बना लेती है। संविधान तथा समाज का परम्परा को धर्म की भावना से देखना चाहिए क्योंकि उसमें सामुदायिक बुद्धि और सभ्यता निहित है। बर्क प्राकृतिक अधिकारों का विरोधी तो था ही, क्रांति ने उसके इस विरोध को और भी उग्र कर दिया। लेकिन अब भी प्राकृतिक अधिकारों का विचार पूरी तरह से नष्ट नहीं हो सका। सुविधा की दृष्टि से हमें बर्क की विचारधारा को दो भागों में बाट लेना चाहिए। एक भाग में तो कुछ संस्थाओं विशेषकर ब्रिटिश संस्थाओं के सम्बन्ध में बर्क के विचार आते हैं। संविधान के स्वरूप, संसदीय प्रतिनिधित्व तथा राजनीतिक दलों के महत्त्व के बारे में बर्क ने अपने विचार प्रगट किए हैं। इसके साथ ही बर्क ने फ्रांसीसी क्रांति से सम्बन्धित राजनीतिक सिद्धान्त के बारे में कुछ सामान्य विचार प्रगट किए हैं।

बर्क ह्विग सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान था। अपनी इस निष्ठा के आधार पर वह लॉक के इस सिद्धान्त को स्वीकार करता था कि संविधान राजमुकुट, लार्ड्स तथा कामन्स का सन्तुलन है। अनुकरण की दृष्टि से वह मान्टेस्क्यू का प्रमाण दे देता था। लेकिन, वास्तव में सांविधानिक सन्तुलन के बारे में उसका विचार शक्तियों के पृथक्करण से कोई सम्बन्ध नहीं रखता था। उदारवादी शक्तियों के पृथक्करण को व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का दृढ़ स्तम्भ समझते थे। बर्क के लिए सन्तुलन राज्य के महत्त्वपूर्ण निहित स्वार्थों के बीच को चीज है। उसकी बुनियाद व्यक्तिगत अधिकारों की अलंघ्यता नहीं, बल्कि प्रयोग-सिद्धि है। वह ह्यूम के इस मत को स्वीकार करता था कि राजनीतिक समाज अभ्यास तथा प्रयोग से सिद्ध रूढ़ियों पर आधारित होता है।

'हमारा संविधान प्रयोग-सिद्ध संविधान है। यह एक ऐसा संविधान है जिसका एकमात्र प्रमाण यह है कि यह अनन्तकाल से हमारे दिमागों में रहा है। आपके नरेश, लार्ड न्यायाधीश, जूरी—छोटे और बड़े—ये सब परम्परा पर आधारित हैं। चिरभोगाधिकार समस्त अधिकारों में महत्त्वपूर्ण है। यह बात केवल सम्पत्ति के सम्बन्ध में ही नहीं है बल्कि शासन के सम्बन्ध में भी सही है। यदि कोई शासन-प्रणाली स्थिर है तो उसके सम्बन्ध में यह धारणा की जा सकती है कि उसके अधीन राष्ट्र काफी दीर्घकाल से रहा है और उसने उन्नति की है। यह बात उस शासन-प्रणाली के विरोध में विशेष रूप से लागू होती है जिसकी आजमाइश न की गई हो। आकस्मिक निर्वाचनों द्वारा केवल अस्थायी शासनों का निर्माण होता है। अतः राष्ट्र भी प्रयोगसिद्ध संविधान को ही पसन्द करता है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र केवल स्थानीय महत्त्व का ही विचार नहीं है। उसमें व्यक्तियों के अल्पकालिक समुच्चय का भी भाव नहीं है। राष्ट्र में निरन्तरता का भाव होता है। राष्ट्र समय, संख्या और स्थान इन तीनों में फैला होता है। वह एक दिन अथवा एक तरह के लोगों की पसन्द नहीं है। वह किसी अनुशासनहीन और चंचल पसन्द के परिणामस्वरूप नहीं बनता। संविधान ऐसी चीजों से मिलकर बनता है जो पसन्द से दस हजार गुनी बेहतर होती हैं। वह कुछ विशिष्ट परिस्थितियों, अवसरों, स्वभावों, प्रवृत्तियों और जनता की नैतिक, नागरिक तथा सामाजिक आदतों के फल-स्वरूप बनता है। ये सारी चीजें दीर्घकालावधि में ही अपने को व्यक्त कर पाती हैं।

जब व्यक्ति और समुदाय दोनों ही बिना सोच-विचार के कार्य करते हैं तो वे मूर्ख होते हैं। लेकिन जाति सदैव बुद्धिमान होती है। जब उसे समय मिल जाता है और वह जाति के रूप में कार्य करती है तो वह सदैव ही सही होती है।"[1]

इसे संविधान सम्बन्धी इस विचार का कुछ आधार लॉक में प्राप्त हो सकता है लेकिन लॉक के विचारों के उस अंश में नहीं जिसने व्यक्ति के अधिकारों को अलग ही बताया और जो क्रान्तिकारियों को विशेष रूप से प्रिय थे। बर्क के संविधान सम्बन्धी विचार उस परम्परा में थे जो लॉक ने हूकर से ग्रहण की थी और जो क्रान्ति से पूर्व की थी। इस विचार के अनुसार संविधान के विविध अंग एक-दूसरे के अधिकारों को सहर्ष स्वीकार करते हैं। सभी अंगों की सत्ता मौलिक होती है। उनमें से कोई भी वैधानिक रूप में सर्वोच्च नहीं होता। बर्क का संविधान सम्बन्धी विचार और संसदीय शासन सम्बन्धी विचार १६८८ की वास्तविक व्यवस्था के ऊपर आधारित था। लॉक ने इस व्यवस्था का जो दार्शनिक निरूपण किया था बर्क का सिद्धान्त उससे कुछ भिन्न था। १६८८ की व्यवस्था के फलस्वरूप वास्तविक राजनीतिक नियन्त्रण ह्विग कुलीनों के हाथों में आ गया था। बर्क ने ह्विग पार्टी में पुनर्जीवन लाने की कोशिश की थी। लेकिन, १७७० में इसका परिणाम प्रतिक्रियावादी हो रहा था। कारण यह था कि क्रान्ति के पश्चात् ह्विग पार्टी को जो निर्द्वन्द्व कर्तृत्व प्राप्त हो गया था, अब वह नहीं रहा था। ब्रिटिश शासन की इस सकल्पना के कारण ही बर्क ने संसद् के सुधारों का और संसद् में जार्ज तृतीय के प्रभाव की वृद्धि का विरोध किया था। उसे यह डर था, और उसने अपने इस डर को साफ-साफ बता दिया था कि राजमुकुट की संरक्षकता तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के नवाबों के धन से एक ऐसा दल उत्पन्न हो सकता है जिसका प्रभाव ह्विग पार्टी से ज्यादा हो। बर्क का संसदीय शासन सम्बन्धी सिद्धान्त यह था कि मन्त्रालय न्यायपालिका से स्वतन्त्र रहे और उसे संसद् में नेतृत्व प्राप्त हो। लेकिन बर्क यह नहीं चाहता था कि लोक-सभा में जनता के चुने हुए प्रतिनिधि आयें।

संसदीय प्रतिनिधित्व और राजनीतिक दल (Parliamentary Representation and Political Parties)

बर्क का प्रतिनिधित्व सम्बन्धी सिद्धान्त सत्रहवीं शताब्दी की ओर देखता था। बर्क ने इस विचार को अस्वीकार किया कि निर्वाचन-क्षेत्र कोई सस्थागत या प्रादेशिक इकाई होता है। उसने यह भी नहीं माना कि प्रतिनिधित्व का अर्थ यह है कि जनता के

1. *Reform of Representation in the House of Commons* (1782) Works, Vol. VI, pp 146 f ये उद्धरण बोहिन के संस्करण (लन्दन), (१८६१) से लिये गये हैं।

अधिकतर भाग को मतदान का अधिकार प्राप्त हो जिससे कि वह प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर सके। उसने कहा है कि व्यक्तिगत नागरिकों का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता और देश के परिपक्व लोकमत में सख्या सम्बन्धी बहुमतों का कोई स्थान नहीं होता। उसका कहना था कि वास्तविक प्रतिनिधित्व वह है जिसमें हितों की एकता हो और भावनाओं तथा इच्छाओं की सहानुभूति हो। बर्क का विचार था कि इस तरह के प्रतिनिधित्व से अनेक लाभ हैं और इसमें वे बुराइयाँ नहीं होतीं जो प्रायः निर्वाचन के प्रतिनिधित्व में पाई जाती हैं। संक्षेप में बर्क ने एक ऐसे संसदीय शासन की कल्पना की थी जो एक सुसंगठित गर्वित सार्वजनिक भावना से अनुप्राणित अल्पसंख्यक वर्ग के समूह से संचालित हो। तथापि यह अल्पसंख्यक वर्ग ऐसा होना चाहिए जिसका देश अनुसरण कर सके। संसद् में इस अल्पसंख्यक वर्ग के नेताओं की सम्पूर्ण देश के हित में उनके दल द्वारा आलोचना की जा सके और उनसे जवाबदेही की जा सके। बर्क के समय में प्रतिनिधि शासन की जो अवस्था थी, उसने उसकी कुछ आलोचना की है। उसने यह बताया है कि जब संसद् में बहुत अधिक कानून बनाए जाते हैं तो क्या कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। बर्क ने ब्रिस्टल के अपने निर्वाचकों के सामने जो भाषण दिया था उसमें उसने बताया कि निर्वाचित सदस्य अपने निर्णय तथा कार्य में आज़ाद होता है। जब प्रतिनिधि एक बार निर्वाचित हो जाता है। वह सम्पूर्ण राष्ट्र और साम्राज्य के हितों के प्रति उत्तरदायी होता है। उसका यह अधिकार होता है कि वह अपनी बुद्धि का स्वतन्त्रतापूर्ण प्रयोग करे, चाहे वह उसके निर्वाचकों की इच्छा के अनुकूल हो या न हो। सदस्य अपने निर्वाचकों के पास विधि तथा शासन के सिद्धान्तों को सीखने के लिए नहीं जाता। सदस्य का निर्वाचन-क्षेत्र उसके लिए पाठशाला नहीं है।

बर्क ने ह्विग पार्टी को नया जीवन देने की कोशिश की। उसने इंगलैण्ड के अन्य किसी राजनेता की अपेक्षा यह ज्यादा अच्छी तरह समझा कि संसदीय शासन में राजनीतिक दल का क्या महत्व होता है।[1] ह्विग दल की इस सकल्पना में कि मंत्रिमंडल लोक-सभा का नेता होता है, राजनीतिक दल के इस महत्व की स्वीकृति थी। जार्ज तृतीय जैसे दलमुक्त राजा का यह विचार था कि राष्ट्र के अन्दर राजनीतिक प्रयोजन को लेकर जो भी गुट तैयार होता है, वह गिरोह होता है। यह देशभक्ति की भावना से हीन होता है और केवल स्वार्थ भावना से कार्य करता है। बर्क का तर्क इस प्रकार की प्रवृत्ति के विरोध में था। उसकी राजनीतिक दल की सुप्रसिद्ध परिभाषा यह है

दल उन व्यक्तियों का एक समुदाय है जो अपने संयुक्त प्रयत्नों से किसी विशिष्ट सिद्धान्त पर एकमत होकर राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रयास करते हैं।

बर्क का तर्क था और उसके इस तर्क का कोई जवाब नहीं था कि गम्भीर राजनेता के इस बारे में कुछ विचार होने चाहिए कि स्वस्थ सार्वजनिक नीति के लिए

1 *Thoughts on the Cause of the Present Discontents* (1770), Works Vol I, especially pp 372 ff

इस प्रकार का सामूहिक संगठन गणना, अथवा स्वार्थ अथवा सचेतन इच्छा के ऊपर बहुत कम निर्भर होता है। बुद्धिवादियों ने विवेक को बहुत गौरवपूर्ण माना था। बर्क इसके विरुद्ध था। इस विरोध में वह यहां तक कहने को तैयार था कि समाज 'पक्षपात' पर अर्थात् प्रेम और निष्ठा की गहन भावनाओं पर निर्भर होता है। उसका यह प्रेम और निष्ठा भाव परिवार तथा पड़ोस से आरम्भ होकर देश तथा राष्ट्र तक विस्तृत हो जाता है। मूलतः, ये भावनाएं बड़ी सहज और स्वाभाविक होती हैं। वे मानवी व्यक्तित्व की आधारभूमि का निर्माण करती हैं। इनकी तुलना में विवेक तथा स्वार्थ बिल्कुल सतही मालूम पड़ते हैं। समाज तथा आचारों के मूल में एक बुनियादी विचार है। प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से ही अपने से किसी बड़ी चीज और अपने से किसी अधिक स्थायी चीज का एक भाग होना चाहता है। समुदाय स्वार्थ की भावना से एकता के सूत्र में ग्रथित नहीं रहते। वे सदस्यता और कर्त्तव्य की भावना से एकता के सूत्र में बंधे रहते हैं। उनमें यह भावना होती है कि समुदाय में उनका एक स्थान है, चाहे वह स्थान कितना ही नीचा क्यों न हो। वह नैतिक दृष्टि से अपने को इस बात के लिए बाध्य अनुभव करता है कि अपनी स्थिति के दायित्वों का पालन करे। इस प्रकार की भावना के बिना मनुष्यों का कोई स्थायी संगठन नहीं बन सकता। यदि व्यक्ति की बुद्धि के पीछे प्रथागत संस्थाओं और उनके कर्त्तव्यों का भाव न हो, तो बुद्धि बहुत कमजोर चीज है।

"मनुष्यों को उनके व्यक्तिगत विवेक के आधार पर कार्य करने और व्यापार करने की अनुमति देते हुए हमें भय लगता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में विवेक का यह माद्दा बहुत कम होता है। यदि व्यक्ति राष्ट्रों और युगों के सामान्य बैंक तथा पूंजी का लाभ उठायें, तो बेहतर है।"[1]

सामुदायिक जीवन की विशालता और व्यक्तिगत विवेक की दुर्बलता के इस भाव ने बर्क को राजनीति में आमूलचूल विचारों का विरोधी बना दिया था। इस प्रकार के विचार सदैव ही इतने सरल होते हैं कि वे तथ्यों के साथ सदैव मेल नहीं खाते। इन विचारों में ऐसी नवीनता होती है जिससे बुद्धिमान से बुद्धिमान राजनेता भी सम्पन्न नहीं होता। उनके अनुयायी इतने अधिक होते हैं जितने संस्थाओं के भी नहीं होते। संस्थाओं का आविष्कार अथवा निर्माण नहीं होता। वे तो सजीव होती हैं और बढ़ती हैं। इसलिए हमें संस्थाओं के सम्बन्ध में श्रद्धा और सावधानी से विचार करना चाहिए। चतुर राजनीतिज्ञ जिसके दिमाग में नयी-नयी योजनाएं भरी रहती हैं, अक्सर पुरानी संस्थाओं को नष्ट कर देता है। राजनीतिज्ञ में इन पुरानी संस्थाओं के पुनर्निर्माण की क्षमता नहीं होती। पुरानी संस्थाएं इसलिए अच्छी तरह काम करती हैं क्योंकि लोगों को उनका युग-युग से अभ्यास होता है, लोग उनसे अच्छी तरह परिचित होते हैं

1. *Reflections on the Revolution in France* (1790), *Works*, Vol II, p 359

और उनका आदर करते हैं। कोई नयी संस्था, वह चाहे कितनी तर्कसम्मत क्यों न हो उस समय तक ठीक से काम नहीं करेगी जब तक कि लोगों को उसका अच्छी तरह अभ्यास न हो जाए और उनके उसके प्रति श्रद्धाभाव जाग्रत न हो उठे। इसीलिए, क्रान्तिकारियों का यह कथन कि वे एक नया संविधान और नया शासन बनायेंगे, बर्क को महज पागलपन लगता था। शासन को बदला जा सकता है और उसमें सुधार किया जा सकता है लेकिन एक समय में थोड़ा-सा ही किया जा सकता है। यह भी जनता की आदतों और देश के इतिहास की भावना के अनुसार ही किया जा सकता है। जब बर्क ने संविधान की प्रकृति को समझने के बारे में कुछ कहा, तब उसका यही मन्तव्य था। जनता के मूर्तिमान विवेक के प्रति उसके मन में रहस्यात्मक श्रद्धा का भाव था। बर्क का मत था कि महान् राजनीतिक परम्परा में अपने विकास का बीज छिपा रहता है। कोई संस्था अपने पूर्व दृष्टान्त का आंख मूंद कर ही अनुसरण करने विकास नहीं कर सकती। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने प्रचलित व्यवहार को नई परिस्थिति के अनुसार ढाले। उसके लिए राजनेता की कला यही है—वह आवश्यकतानुसार बदल कर पुराने की रक्षा करता है। यह विवेक के साथ ही अन्तर्दृष्टि की भी बात है और इसलिए इसकी कोई परिभाषा नहीं की जा सकती।

इतिहास की दैवी योजना

(The Divine Tactics of History)

बर्क ने ह्यूम की भांति केवल इस भ्रम का निवारण ही नहीं किया कि सामाजिक संस्थाएं विवेक अथवा प्रकृति पर निर्भर रहती हैं। उसने तो प्राकृतिक विधि की व्यवस्था में निहित मूल्यों की योजना को भी ह्यूम की अपेक्षा कहीं अधिक बदल दिया। बर्क का कहना था कि प्रथा, परम्परा और समाज की सदस्यता मानव प्रकृति को व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक गरिमा प्रदान करती है। रूसो ने इसी बात को यों कहा था कि व्यक्ति नागरिक बन कर ही मनुष्य बनता है। मनुष्य की सामाजिकता ही उसके जीवन में विवेक का संचार करती है। 'कला मनुष्य की प्रकृति है।' विरोध मूर्खतापूर्ण, दमनशील सत्ता तथा स्वतन्त्र और अविवेक व्यक्ति के बीच नहीं, बल्कि "उस सुन्दर व्यवस्था, सचाई और प्रकृति की, आदत और पक्षपात की उस शक्ति" तथा "विश्वासघातियों और अवारागर्दों की एक उच्छृंखल जाति" के बीच है। सभ्यता व्यक्तियों की सम्पत्ति नहीं है, बल्कि समुदायों की सम्पत्ति है। मनुष्य की समस्त आध्यात्मिक सम्पदाएं संगठित समाज की सदस्यता से प्राप्त होती है। जाति ने अब तक जो कुछ अर्जन किया है—नैतिक आदर्श कला, ज्ञान और विज्ञान—समाज और सामाजिक परम्परा उन सबकी रक्षक है। समाज की सदस्यता का अभिप्राय यह है कि मनुष्य संस्कृति के समस्त कोषों तक पहुंच जाए। यही बर्बरता और सभ्यता के बीच का अन्तर है। यह कोई भार नहीं, बल्कि मानवी मुक्ति का खुला द्वार है।

"समाज वास्तव में एक समझौता है। सामयिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए किए जाने वाले छोटे-मोटे समझौतों को इच्छानुसार भंग किया जा सकता है। लेकिन, राज्य को काली मिर्च और कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही अन्य घटिया कारोबार के हिस्सेदारी के समझौते के समान नहीं समझना चाहिए जिसे लोग अस्थायी स्वार्थ के लिए कर लेते हैं और जब दोनों पक्षों में से कोई चाहता है तो भंग कर देते हैं। इसे पवित्रता की दृष्टि से देखना चाहिए। इसका कारण यह है कि यह अस्थायी और अस्थिर पशु जीवन के अधीन रहने वाली वस्तुओं में हिस्सेदारी नहीं है। यह हिस्सेदारी पूर्ण वैज्ञानिक है। यह हिस्सेदारी पूर्ण कलात्मक है। यह हर प्रकार से और हर उपाय से पूर्ण हिस्सेदारी है। चूंकि इस प्रकार की हिस्सेदारी का लक्ष्य कई पीढ़ियों में भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिए यह हिस्सेदारी न केवल उन लोगों में की जाती है जो जी रहे हो बल्कि उनमें भी की जाती है जो मर चुके हैं अथवा जिन्हें जन्म लेना है। प्रत्येक विशिष्ट राज्य का प्रत्येक समझौता शाश्वत समाज के महान् आदिकालीन समझौते मे एक धारा मात्र है। एक स्थिर समझौते के अनुसार वह निम्न प्रकृति को उच्च प्रकृति से, दृश्यमान् जगत् को अदृश्यमान् जगत से जोड़ देता है। यह स्थिर समझौता एक ऐसी अलंघ्य शपथ द्वारा स्वीकृत होता है जो समस्त भौतिक तथा समस्त नैतिक प्रकृति को अपने-अपने नियत स्थान पर स्थिर रखती है।"[1]

बर्क द्वारा लिखित अवतरणों में यह सम्भवत सब से ओजस्वी अवतरण है। इसमें उसने राज्य शब्द का हीगेल के अर्थ में प्रयोग किया है, जिसकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए। उसने राज्य और समाज के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची है। उसने राज्य को एक विशिष्ट अर्थ में सभ्यता के समस्त उच्चतर हितों का संरक्षक माना है। तथापि, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि राज्य अपनी निम्नतर क्षमताओं में वह शासन भी है जो "काली मिर्च और कहवा के वाणिज्य" को प्रोत्साहन देता है। यह शब्दों का बहुत गलत प्रयोग था क्योंकि समाज, राज्य और शासन इन सब का अलग अलग अर्थ है। पुन, इस अन्तर्विनिमय ने बर्क के तर्क में अलंकार की आवश्यकता को पूरा किया। इसके द्वारा वह यह कहना चाहता था कि फ्रांस का क्रांतिकारी शासन राजतन्त्र को नष्ट करने के कारण फ्रेंच समाज का शत्रु हो गया था और वह फ्रेंच सभ्यता को नष्ट कर रहा था। यह सही है कि बर्क इस बात को साग्रह सिद्ध करना चाहता था लेकिन उसे तर्क को इस रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं थी जिससे कि प्रश्न का उत्तर ही प्राप्त न हो पाता। शासन को पलटना और समाज को नष्ट करना ये दो भिन्न चीजें हैं। सभ्यता के अनेक पक्ष ऐसे हैं जो राज्य के ऊपर निर्भर नहीं होते। बर्क के अनुसरण पर ही हीगेल तथा इंग्लैण्ड के आदर्शवादी राज्य को सभ्यता के उच्चतम मूल्यों का वाहक बताने लगे और उसका आदर्श रूप में चित्रण करने लगे।

---

1 *Reflections on the Revolution in France* (1790), *Works* Vol II, p 368

बर्क राज्य के प्रति श्रद्धापूर्ण दृष्टिकोण के कारण ह्यूम तथा उपयोगितावादियों से बिल्कुल अलग श्रेणी में था। उसके होंठों पर 'आवश्यकता' शब्द अवश्य रहता था लेकिन इसका अर्थ उपयोगिता नहीं था। बर्क ने व्यवहारतः राजनीति का धर्म के साथ समन्वय कर दिया था। यह बात केवल इसी अर्थ में सही नहीं थी कि वह खुद एक धार्मिक व्यक्ति था, उसका विश्वास था कि श्रेष्ठ नागरिकता धार्मिक पवित्रता से अभिन्न है। उसने अंग्रेजी चर्च की स्थापना को राष्ट्र के लिए अत्यन्त हितकारी माना था। यह बात इस अर्थ में ज्यादा सही थी कि वह सामाजिक संगठन, उसके इतिहास, उसकी संस्थाओं, उसके बहुमुखी कर्तव्यों और निष्ठाओं को धार्मिक श्रद्धा के भाव से देखता था। उसमें यह भावना केवल इंगलैण्ड के प्रति ही नहीं थी, प्रत्युत् किसी भी प्राचीन सभ्यता के प्रति थी। अपने इसी विश्वास के कारण उसने ईस्ट इंडिया कम्पनी और वारेन हेस्टिंग्ज की कठोर आलोचना की थी। बर्क के मन में भारत की प्राचीन सभ्यता के प्रति आदर का भाव था और वह चाहता था कि भारतीयों का शासन उनके अपने सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए, अंग्रेजों के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं। बर्क का यह भी विश्वास था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने केवल शोषण किया है और प्राचीन संस्थाओं को नष्ट किया है। फ्रांस की संस्कृति के प्रति भी बर्क में यही आस्था भाव था। यद्यपि फ्रांस कैथॉलिक धर्मावलम्बी था और बर्क प्रोटेस्टेंट था, लेकिन इसके कारण बर्क के श्रद्धाभाव में कोई कमी नहीं आने पाती थी। बर्क ने यह कभी नहीं माना कि कोई भी समाज अथवा शासन केवल मानवी चिंता का ही विषय है। वह उसे एक ऐसी दिव्य नैतिक व्यवस्था का भाग मानता था जिसका अधिष्ठाता ईश्वर है। वह यह भी नहीं समझता था कि प्रत्येक राष्ट्र पूरी तरह से स्वतन्त्र है। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का अपने राष्ट्र की स्थायी और अनवरत व्यवस्था में स्थान होना चाहिए, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का उस विश्व-व्यापी सभ्यता में एक स्थान होना चाहिए जो "दैवी योजना" के अनुसार अपना उद्घाटन करती है। इतिहास की इस दैवी योजना में बर्क की यह आस्था बड़ी गहरी थी। जब वह फ्रांसीसी क्रांति की आलोचना करते करते थक गया, तब एक स्थल पर इतिहास की दैवी योजना में उसकी यह आस्था क्रांति के प्रति उसके अदम्य घृणा भाव से भी आगे बढ़ गई और उसने बड़ी विरक्ति के साथ लिखा, "यदि कोई महान् परिवर्तन आने को ही है, तो जो लोग मानव कार्य-व्यापारों की इस शक्तिशाली धारा को रोकने की चेष्टा करते हैं, वे केवल मनुष्य की योजनाओं का ही नहीं, प्रत्युत् भाग्य की आज्ञप्तियों का भी विरोध करते हैं।"[1] सामाजिक व्यवस्था और उसके विकास में दैवी भूमिका के बारे में बर्क के विचार हीगेल के विचारों से बहुत मिलते-जुलते थे।

'मैं उस आने वाली पीढ़ी की शपथ खाता हूं, मैं उस आने वाली पीढ़ी की शपथ खाता हूं जिसके बीच में हम खड़े हैं—शाश्वत व्यवस्था की महान् शृंखला में एक कड़ी के रूप में।'"

---

1 *Warren Hastings Works*, Vol VIII, p 439

बर्क, रूसो और हीगेल

(Burke, Rousseau and Hegel)

बर्क को आत्म-चेतन राजनीतिक अनुदारवाद का प्रवर्तक समझा जाता है। यह ठीक भी है। बर्क के समस्त सिद्धान्त उसके भाषणों और पैम्फलेटों में निहित हैं। सामाजिक व्यवस्था की जटिलता और प्रथाओं के ताने-बाने की विशालता की सराहना, पुरानी संस्थाओं, विशेषकर धर्म और सम्पत्ति के विवेक के प्रति आदर, सामाजिक संस्थाओं की ऐतिहासिक निरन्तरता का विश्वास और यह धारणा कि व्यक्ति की इच्छा और विवेक अपेक्षाकृत शक्तिहीन होते हैं तथा व्यक्तियों के निश्चित पदों के प्रति निष्ठा का भाव। यह बात नहीं है कि बर्क के पहले अनुदारवाद नहीं था। लेकिन यह बात जरूर है कि बर्क के पहले अनुदारवादी दर्शन नहीं था। बर्क का उद्देश्य ह्विग दल के राजनीतिक विशेषाधिकार की रक्षा करना था। उस समय इंग्लैण्ड के शासन पर ह्विग दल का नियन्त्रण कम होता जा रहा था। लेकिन, बर्क के विचार कहीं अधिक व्यापक थे। बर्क ने फ्रांस की क्रांति के विरोध का नेतृत्व किया। इसके कारण राजनीतिक दर्शन में एक नया मोड़ आया। उसने स्थायित्व के और उस प्रथा की शक्ति के जिस पर स्थायित्व निर्भर होता है, जोर दिया। यह कहना सच नहीं है कि नया उदारवाद वर्तमान स्थिति को कायम रखना चाहता था। हीगेल के दर्शन में बर्क के समस्त बिखरे हुए विचार निहित थे। इस दर्शन ने जर्मनी में एक नई राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया। इस दर्शन के उदय ने एक नए युग का सन्देश दिया जिसमें परिवर्तन की शक्तियां स्थायित्व की शक्तियों के साथ हाथ मिलाने के लिए तैयार हो गई थीं। इस दर्शन के पीछे सामाजिक वर्गों की वह संरचना थी जो उस समय अपेक्षाकृत स्थायी थी और जिसमें उदारवादी भी क्रांति के द्वारा नहीं प्रत्युत् विकास के द्वारा अपने उद्देश्य प्राप्त करने की आशा रख सकते थे।

यूरोप की विचारधारा में यह परिवर्तन कितना व्यापक था, यह बात बर्क और रूसो के बुनियादी विचारों की आश्चर्यजनक समता से स्पष्ट हो जाती है। ऊपरी तौर से दोनों आदमियों में कोई चीज समान न थी। बर्क का रूसो से थोड़े समय के लिए परिचय हुआ था और इस परिचय के फलस्वरूप बर्क रूसो के चरित्र से घृणा करने लगा था। फिर भी, रूसो का नगर राज्य के प्रति आदरभाव और बर्क का राष्ट्रीय परम्परा के प्रति सम्मान भाव एक ही चीज थी। ये दोनों समाज के नए सम्प्रदाय के दो पहलू थे। समाज का यह नया सम्प्रदाय व्यक्ति के पुराने सम्प्रदाय का स्थान ग्रहण कर रहा था। बर्क और ह्यूम दोनों ही स्वभाव से अनुदार थे और वे प्राकृतिक विधि की व्यवस्था को अस्वीकार करते थे, फिर भी इन दोनों विचारकों में भेद था। ह्यूम यथार्थवादी उद्देश्यों का कायल था। इस दृष्टि से उसका झुकाव उपयोगितावाद की तरफ था। वह "उत्साह" को अविश्वास की दृष्टि से देखता था। उसने प्राकृतिक विधि के प्रति आस्था को नष्ट

किया लेकिन इसके स्थान पर उसे कोई नई आस्था प्रतिष्ठित करने की जरूरत नहीं मालूम हुई। ह्यूम के लिए समाज की पूजा अन्य पूजाओं की अपेक्षा कोई खास बेहतर चीज नहीं मालूम पड़ती थी। इसके विपरीत बर्क ने प्राकृतिक विधि की अर्ध-वैज्ञानिक मान्यता को नष्ट करके बाद की भांति विवेकयुक्त विश्वास को प्रतिष्ठित किया।

वस्तुत, बर्क का अपना कोई राजनीतिक दर्शन नहीं था। उसके अपने विचार विभिन्न भाषणों और पैम्फलेटों में बिखरे मिलते हैं। इन विचारों को उसने कुछ विशिष्ट घटनाओं के प्रसंग में व्यक्त किया था। तथापि, इन विचारों में एक संगति है। यह संगति इस बात का परिचय देती है कि बर्क की निष्ठा बड़ी प्रबल थी और उसके कुछ निश्चित नैतिक विश्वास थे। बर्क के दर्शन का आधार सिर्फ यह था कि उसने अपने समय की कुछ प्रमुख घटनाओं में भाग लिया था और इनके बारे में उसके अपने कुछ विचार थे। साथ ही उसे दर्शन के इतिहास की भी कुछ जानकारी थी। इसलिए बर्क को यह नहीं मालूम था कि उसके अपने विचारों का और प्राकृतिक विधि की व्यवस्था का जिसका उसने विरोध किया था आधुनिक यूरोप के सम्पूर्ण बौद्धिक इतिहास से क्या सम्बन्ध है। वह सामाजिक और राजनीतिक नैतिकता सम्बन्धी अपने विचारों तक को व्यवस्थित रूप नहीं दे सका। वह यह बात भी नहीं बता सका कि इन विचारों का धर्म तथा विज्ञान के व्यापक प्रश्नों से क्या सम्बन्ध होगा। बर्क के इस अधूरे काम को आगे चल कर हीगेल ने पूरा किया। शायद बर्क ने हीगेल के ऊपर सीधा असर नहीं डाला। हीगेल ने बर्क की कभी चर्चा भी नहीं की लेकिन हीगेल के ऊपर रूसो का काफी असर है। बर्क ने जिस चीज को स्वयंसिद्ध मान लिया था हीगेल ने उसे प्रमाणित करने की चेष्टा की। आंशिक सामाजिक परम्परा को सामाजिक विकास की सामान्य व्यवस्था में रक्खा जा सकता है। हीगेल ने बर्क के चिंतन को एक दृष्टि से आगे बढ़ाया। उसने यह बताया कि इस विकास की विवेकयुक्त प्रणाली के आधार पर एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जा सकता है जो दर्शन तथा सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में सामान्य रूप से लागू की जा सके।

Selected Bibliography

A History of English Utilitarianism By Ernest Albee London, 1902 Ch V

'*Burke and his Bristol Constituency*' '*Burke and the French Revolution*'' By Ernest Barker In *Essays in Government* Oxford, 1945

Morals and Politics By Edgar F Carritt Oxford, 1935

Hume's Theory of the Understanding By Ralphy W. Church. London, 1935

Edmund Burke and the Revolt against the Eighteenth Century By Alfred Cobban London, 1929

"*Europe and the French Revolution.*" By G. P. Gooch In *The Cambridge Modern History*, Vol VIII (1908), Ch. XXV.

David Hume By J Y. T. Greig London, 1931.

David Hume. By B. M. Laing London, 1932.

Hume's Philosophy of Human Nature By John Laird London, 1932.

Political Thought in England from Locke to Bentham. By H. J. Laski London, 1920

The Political Philosophy of Burke. By John MacCunn London, 1913

Edmund Burke, a Life. By Sir Philip Magnus London, 1939

Burke By John Morley, London, 1879.

Edmund Burke, a Biography By Robert H Murray London, 1931

Edmund Burke By Bertram Newman, London 1927.

"*Burke's Social Philosophy*" By A. K Rogers In *American Journal of Sociology* Vol XVIII (1912-13), p. 51.

The Philosophy of David Hume By N. K. Smith. London. 1941

English Thought in the Eighteenth Century By Leslie Stephen. Second edition 2 Vols London, 1881. Chs. VI, X, XI.

Studies in the History of Political Philosophy. By C. E Vaughan 2 Vols Manchester, 1925 Vol I, Ch. VI Vol. II, Ch. I.

Hume and Present day Problems. The Symposia read at the Joint Session of the Aristotelian Society, the Scots Philosophical Club, and the Mind Association at Edinburgh, July 7-10, 1939 London, 1939

अध्याय ३०

हीगेल : द्वन्द्वात्मक पद्धति और राष्ट्रवाद

(Hegel : Dialectic and Nationalism)

हीगेल के दर्शन का उद्देश्य आधुनिक चिन्तन का पूरी तरह से पुनर्निर्माण करना था। उसके दर्शन में राजनीतिक प्रश्न और विचार महत्त्वपूर्ण अवश्य थे, लेकिन धर्म और तत्त्वमीमांसा की गणना में उनका स्थान गौण था। व्यापक अर्थ में हीगेल की समस्या वह थी जो आधुनिक चिंतन में शुरू से ही रही है तथा जो आधुनिक विज्ञान के विकास के साथ ही साथ निरन्तर जटिल होती गई है। वह समस्या है वैज्ञानिक प्रमाणना के लिए ग्रहण की जाने वाली प्रकृति की व्यवस्था और ईसाई धर्म की नैतिक तथा धार्मिक परम्परा में निहित उसकी सकल्पना के बीच विरोध। जब हीगेल ने अपनी दार्शनिक शिक्षा शुरू की थी, उसके आधी शताब्दी पहले तीन महत्त्वपूर्ण विचारकों ने इस विरोध को तीव्र कर दिया था। ह्यूम ने 'विवेक' शब्द की अस्पष्टताओं को प्रगट कर दिया था और इस प्रकार उसने प्राकृतिक विधि की व्यवस्था के मूल सिद्धान्त के बारे में ही सन्देह उत्पन्न कर दिया था। रूसो ने हृदय के विवेक को मस्तिष्क के विवेक के विरोध में प्रतिष्ठित किया था और धर्म तथा सदाचार को केवल भावना की वस्तु माना था। काँट ने विज्ञान तथा सदाचार दोनों को उनके अपने क्षेत्र में रख कर दोनों की स्वतन्त्रता को बनाए रक्खा था। उसने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेक के विरोध को भी स्पष्ट रूप से चित्रित किया था। ये तीनों दार्शनिक ज्ञान युग के प्रतिनिधि विचारक हैं। उनके दर्शन विश्लेषणात्मक सिद्धान्त—विभाजित करो और विजय करो—पर आधारित है। इन विचारकों के विरोध में हीगेल ने सश्लेषण का एक कल्पनापरक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। हीगेल का विश्वास था कि यदि विज्ञान के विश्लेषणात्मक तर्क से परे किसी नए और अधिक शक्तिशाली सश्लेषणपरक तर्क की खोज की जाए तो सदाचार और धर्म का तात्विक औचित्य सिद्ध किया जा सकेगा। ह्यूम और काँट के विश्लेषण ने जिस चीज को अलग-अलग कर दिया था, हीगेल का दर्शन विवेक की एक बृहद् सकल्पना के द्वारा उसे फिर से मिलाना चाहता था। हीगेल के दर्शन का आधार एक नया तर्क था और उसने एक नई बौद्धिक पद्धति को प्रतिष्ठित किया। हीगेल ने इस पद्धति को द्वन्द्वात्मक पद्धति कहा। हीगेल का कहना था कि यह पद्धति तथ्य के क्षेत्र और मूल्य के क्षेत्र के बीच आवश्यक तार्किक सम्बन्ध स्पष्ट कर देती है। फलत, वह समाज, सदाचार और धर्म की समस्याओं को समझने के लिए एक

अपरिहार्य साधन प्रस्तुत करती है। यह पद्धति मूल्य का पूरी तरह से विवेकयुक्त मानक प्रदान कर सकती थी और प्राकृतिक विधि का स्थान ग्रहण कर सकती थी। प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त की दार्शनिक दुर्बलता को ह्यूम ने प्रमाणित कर दिया था और इसकी व्यावहारिक दुर्बलता फ्रांस की क्रांति ने स्पष्ट कर दी थी। हां, यह अवश्य है कि हीगेल का विवेक नई परिभाषा का विवेक था।

उपर्युक्त विवेचन से यह आभास हो सकता है कि हीगेल का दर्शन बहुत ही अधिक कल्पनापरक था। फ्रांस की राज्य क्रांति ने यूरोप के राजनीतिक इतिहास के साथ ही साथ बौद्धिक इतिहास में भी एक नए युग का श्रीगणेश किया। इस क्रांति में हिंसा हुई थी और आतंकवाद का खुला नृत्य हुआ था। नैपोलियन के शासन-काल में फ्रांस ने छोटी-छोटी राष्ट्रीयताओं पर हमला किया और उन्हें नष्ट किया। इसके कारण वे लोग जो शुरू में मनुष्य के अधिकारों के समर्थक थे, क्रांति के विरोधी हो गए थे। उनके विरोधियों में बर्क का नाम उल्लेखनीय है। ऐसे विचारकों का विश्वास था कि क्रांति की अतिरंजनाएं उसके उग्र दर्शन की स्वाभाविक परिणाम थी। इस प्रतिक्रिया का फल यह हुआ कि क्रांतिकारियों ने जिन राष्ट्रीय परम्पराओं और प्रथागत निष्ठाओं की अवहेलना की थी उन्हें अब फिर से नया महत्त्व मिलने लगा। अपरञ्च, नैपोलियन के युद्धों ने यूरोपीय देशों की सांविधानिक व्यवस्थाओं को बिलकुल छिन्न भिन्न कर दिया था। उनका पुनर्निर्माण एक बहुत बड़ी समस्या थी। मनुष्य के अधिकारों जैसी भावनात्मक बातों से इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता था। आगे की घटनाओं ने इस बात को सिद्ध भी कर दिया। लोग यह समझने लगे थे कि क्रांति विध्वंसात्मक ही रही है। समाज तथा मानव प्रकृति के पुनर्गठन के बारे में उसके दावे बिलकुल थोथे हैं। फ्रांस की क्रांति और उसके राजनीतिक दर्शन के व्यक्तिवाद के बारे में हीगेल का यही विचार था। हीगेल तथा उसके जैसे अन्य अनेक विचारकों का विश्वास था कि राष्ट्र का पुनर्निर्माण तभी सम्भव हो सकता है जबकि राष्ट्रीय संस्थाओं की निरन्तरता को कायम रक्खा जाए, राष्ट्रीय शासन के मूलाधार-सम्बन्धी सामयिकों का प्रयोग किया जाए और व्यक्ति को राष्ट्रीय संस्कृति की परम्परा पर आधारित बताया जाए। हीगेल के दर्शन में यह प्रवृत्ति केवल प्रतिक्रियावादी ही नहीं थी। हां, यह जरूर है कि क्रांति के बाद जो मध्ययुगीन स्वच्छन्दतावाद की लहर उठी थी उसमें इस प्रवृत्ति का स्वरूप ऐसा ही था। हीगेल के दर्शन का प्रयोजन रचनात्मक था। वह पूरी तरह से अनुदार था। उसे एक प्रकार से क्रांतिविरोधी भी कहा जा सकता है। हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति क्रांति और पुनरुद्धार की प्रतीक है। इस पद्धति के अनुसार समाज की जीवन्त शक्तियां पुरानी संस्थाओं को नष्ट कर देती हैं। लेकिन, राष्ट्र की सृजनात्मक शक्तियां स्थिरता बनाए रखती हैं। हीगेल ने पुराने के विनाश और नए के निर्माण में व्यक्तिगत मनुष्यों का कोई महत्त्व नहीं दिया। उसका विश्वास था कि समाज में निहित निर्वैयक्तिक तत्त्व अपनी नियति का स्वयं ही निर्माण करते हैं।

हीगेल के राजनीतिक दर्शन की मुख्य विशेषता यह है कि उसने राष्ट्रीय राज्य को बहुत महत्त्व दिया है। हीगेल ने इतिहास की जो व्याख्या की है, उसमें मुख्य इकाई

व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का कोई समुदाय नहीं, प्रत्युत् राज्य है। हीगेल के दर्शन का उद्देश्य यह था कि वह द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से विश्व-सभ्यता के विकास में प्रत्येक राज्य की देन का मूल्यांकन प्रस्तुत करे। हीगेल का मत था कि प्रत्येक राज्य की प्रवृत्ति अथवा अन्तरात्मा व्यक्तियों के माध्यम से अथवा अधिकतर स्वतन्त्र रूप से ही कार्य करती है और वह कला, सदाचार तथा धर्म की वास्तविक निर्माता होती है। इस प्रकार, सभ्यता का इतिहास एक के बाद दूसरी राष्ट्रीय संस्कृति के उत्थान का इतिहास है। सम्पूर्ण मानव जाति की सिद्धि में प्रत्येक संस्कृति की अपनी कुछ विशिष्ट और सामयिक सिद्धि है। यह राष्ट्रीय राज्य पश्चिमी यूरोप के आधुनिक इतिहास में ही अपनी पराकाष्ठा को पहुंचा है। अब उसे अपनी चेतना का ज्ञान हो गया है और वह अपनी अन्तरात्मा की सविवेक अभिव्यक्ति कर सकता है। इसलिए, राज्य ही राष्ट्रीय विकास का सचालक और साध्य है। राष्ट्र जिस चीज की भी सृष्टि करता है और सभ्यता के लिए जो भी चीज नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उपयोगी होती है, राज्य में उस सबका समावेश हो जाता है। क्रांति के युग में उग्रवाद, समतावाद और व्यक्तिवाद—ये सब राष्ट्रवाद के अन्तर्गत शामिल थे। हीगेल ने राष्ट्रवाद को इनसे अलग कर दिया। इस दृष्टि से वह जर्मनी के विकासशील राष्ट्रवाद का और जर्मनी की राष्ट्रीय एकता की अनुदार शक्तियों का प्रतिनिधि था। उन्नीसवीं शताब्दी के विकास के साथ ही साथ न केवल जर्मनी में ही प्रत्युत् अन्यत्र भी राष्ट्रवाद का धीरे-धीरे उदारवाद से सम्बन्ध टूट गया। जब तक राष्ट्रवाद राजवंशों का विरोधी रहा था, तब तक उसका उदारवाद से सम्बन्ध रहा था।

इसलिए, हीगेल के राजनीतिक दर्शन में दो तत्त्व सब से महत्त्वपूर्ण थे। इनमें से एक तत्त्व तो द्वन्द्वात्मक पद्धति का था। इसके द्वारा हीगेल ने सामाजिक अध्ययनों में कुछ नए परिणाम निकाले। ये परिणाम ऐसे थे जो अन्यथा सामने नहीं आ सकते थे। दूसरा तत्त्व राष्ट्रीय राज्य का था। हीगेल राष्ट्रीय राज्य को राजनीतिक शक्ति का सजीव प्रतीक मानता था। हीगेल के बाद ये दोनों ही सिद्धान्त बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। हीगेल के चिंतन में ये दोनों सिद्धान्त अभिन्न थे। हीगेल द्वन्द्वात्मक चिंतन के द्वारा राष्ट्रीय राज्य के महत्त्व का प्रतिपादन करता था। लेकिन, वस्तु-स्थिति यह है कि इन दोनों में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं था। यदि द्वन्द्वात्मक पद्धति को एक शक्तिशाली बौद्धिक उपकरण भी मान लिया जाए तो भी यह समझ में नहीं आता कि समस्त राजनीतिक और सामाजिक समुदायों में राष्ट्र को ही ऐसा समुदाय क्यों माना जाए जिसमें इतिहास की परिणति हुई है अथवा आधुनिक राजनीतिक इतिहास में राज्यों के पारस्परिक तनाव को ही मुख्य प्रेरक शक्ति क्यों माना जाए। राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में हीगेल के विचारों का मुख्य कारण उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति नहीं थी बल्कि उसकी जर्मन राष्ट्रीयता की भावना थी। कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का अपने ही ढंग से प्रयोग किया था। मार्क्स का मत था कि इतिहास की चरम परिणति वर्ग-विहीन समाज में होती है और सामाजिक वर्गों का पारस्परिक विरोध ही इतिहास को गति प्रदान करता है। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक

पद्धति के आधार पर इतिहास की बौद्धिक अथवा आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की। मार्क्स का सिद्धान्त कम-से-कम कथनों में राष्ट्र-विरोधी और राज्य-विरोधी था। इस प्रकार हीगेल के दर्शन में दो तत्त्व थे जो आगे चल कर अलग-अलग ही नहीं हुए बल्कि एक-दूसरे के विरोधी भी हो गए। एक तत्त्व अनुदार था और उदारवाद का विरोधी था। इसके अनुसार राज्य एक राष्ट्रीय शक्ति है। दूसरा तत्त्व द्वन्द्वात्मक पद्धति का था जो एक नए सर्वहारा उग्रवाद की भूमिका बन गया।

ऐतिहासिक पद्धति

(The Historical Method)

हीगेल के राजनीतिक और सामाजिक दर्शन का केन्द्र-बिन्दु इतिहास तथा इतिहास का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध था। पश्चिमी संस्कृति के इतिहास के बारे में हीगेल का ज्ञान आधुनिक काल के किसी भी दार्शनिक की अपेक्षा अधिक बढ़ा हुआ था। धर्मों का इतिहास, दर्शन का इतिहास और विधि का इतिहास, ये विषय हीगेल के दर्शन के प्रभाव के कारण ही अध्ययन और अनुसंधान के विशिष्ट विषयों के रूप में मान्य हुए। उन्नीसवीं शताब्दी में इस अध्ययन का इतना अधिक महत्त्व हो गया कि बहुत से विचारक ज्ञान युग के लेखकों को 'अनैतिहासिक' बताने लगे। यह निर्णय बिलकुल गलत था। अठारहवीं शताब्दी में गिबन, वाल्टेयर और मांटेस्क्यू जैसे मनीषी हुए थे। ये लोग प्रतिभा की दृष्टि से बाद के इतिहासकारों से किसी भी तरह घट कर नहीं थे। ज्ञान युग में इतिहास की रचना भी डटकर हुई थी। शायद उन्नीसवीं शताब्दी के इन नए विचारकों की मन्शा यह थी कि उन्हें इतिहास की एक नई सकल्पना मिल गई है और वे उसका एक नए ढंग से प्रयोग कर सकते हैं। इतिहास एक विशिष्ट पद्धति प्रदान करता है और विधि, राजनीति, अर्थशास्त्र, और दर्शन जैसे सामाजिक विषयों के अध्ययन में इस पद्धति का प्रयोग किया जा सकता है। ऐतिहासिक पद्धति विश्लेषण तथा सामान्यीकरण की पद्धतियों के अभावों को दूर कर देती है। यह बात निश्चित रूप से अतिशयोक्ति थी। हाँ, यह जरूर है कि ग्यारहवीं शताब्दी में ऐतिहासिक अध्ययन का दायरा बढ़ गया और ऐतिहासिक अनुसंधान के तरीकों में भी सुधार हुए। हीगेल ने अपने दर्शन में ऐतिहासिक पद्धति का जो रूप माना था और उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक विज्ञानों में जो रूप व्यापक आधार पर स्वीकृत था, उसने अनुभवपरक गवेषणा के क्षेत्र में कोई सुधार नहीं किया। हीगेल अपनी पद्धति के द्वारा ऐतिहासिक विकास के क्रम में से वैज्ञानिक अथवा नैतिक मूल्यों के कुछ मानक निकालना चाहता था और इनके आधार पर वह विकास के कुछ विशिष्ट चरणों के महत्त्व का निर्धारण करना चाहता था। ऐतिहासिक पद्धति का अर्थ इतिहास का एक दर्शन अथवा सांस्कृतिक विकास की दिशा या सामान्य नियम की खोज था। हीगेल को आशा थी कि वह इस पद्धति के प्रयोग द्वारा उन्नत

तथा अनुन्नत राष्ट्रों, विकसित तथा आदिम सभ्यताओं, प्रगतिशील और प्रतिगामी जातियों के बीच विभाजन-रेखा खींच सकता है और यह विभाजन-रेखा वैज्ञानिक होगी। इस तरह की योजना जो सावयव विकास के असम्बद्ध विचार द्वारा और भी मजबूत हुई, उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक दर्शन में एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति बन गई। आगे चल कर वह बिल्कुल झूठी और कभी-कभी दुष्टतापूर्ण प्रमाणित हुई।

हीगेल के दर्शन में सब से पहले उन सिद्धान्तों का वर्णन किया गया था जिनके ऊपर उसका ऐतिहासिक पद्धति विषयक विश्वास आधारित था। हीगेल की ऐतिहासिक पद्धति में यह मान लिया गया था कि प्रकृति में विकास का एक ढंग अथवा नियम है। इस ढंग अथवा नियम को विषयवस्तु की समुचित व्यवस्था के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। यह बात समाज अथवा सभ्यता के मुख्य चरणों के सम्पूर्ण विकास के बारे में तो सही है ही, यह इतिहास की किसी भी शाखा के बारे में भी सही है। हीगेल की ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर विधि, आर्थिक संस्थाओं, दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक चिन्तन अथवा शासन के विकास को व्यवस्थित रीति से प्रस्तुत किया जा सकता है। अनुसंधाता इस व्यवस्था को विषय-वस्तु के ऊपर आरोपित नहीं करता। यह व्यवस्था तो तथ्यों में ही निहित रहती है। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि इन तथ्यों को उचित संदर्भ में देखा जाए। ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि का विशेष कार्य यह है कि इस ढंग को प्रकाश में लाया जाए। यह ढंग तथ्यों के ढेर में छिपा रहता है। यही कारण है कि ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक अध्ययन एक-दूसरे से संबंधित होते हैं। ऐतिहासिक विकास की सामान्य योजना या तर्क समझने पर महत्वपूर्ण को महत्वहीन से अलग किया जा सकता है। हीगेल के अनुसार ऐतिहासिक पद्धति का उद्देश्य नदी की लहरों के आवर्तन और प्रत्यावर्तन का अध्ययन कर के उसकी मुख्य धारा का पता लगाना और इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यों के एक वस्तुपरक मानक की खोज करना था। यह मानक धीरे-धीरे अपने को धर्म, आचार, विधि अथवा शासन के विकास में व्यक्त करता है और फिर प्राकृतिक विधि के दर्शन द्वारा रिक्त छोड़े गए स्थान की पूर्ति करता है। ऐतिहासिक पद्धति का लक्ष्य स्वतः स्पष्ट नैतिक सूत्रों को प्रकट करना नहीं, प्रत्युत् नैतिक और सामाजिक विकास के आवश्यक चरणों को प्रदर्शित करना था।

इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक दर्शन में तीन मुख्य धाराएं थीं जो काफी हद तक एक-दूसरे से मिलती थीं लेकिन फिर भी अलग-अलग थीं। सर्वप्रथम, सार्वभौम मानव प्रगति का विचार था। यह विचार ज्ञान युग से विशेषकर कॉण्ट और कण्डरसेट से लिया गया था। दूसरे, ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में हीगेल का विचार था। इस विचार के अनुसार ऐतिहासिक विकास में एक व्यवस्थित प्रक्रिया होती है और यह एक राष्ट्रीय संस्कृति के बाद दूसरी राष्ट्रीय संस्कृति के उत्थान की कहानी है। अन्त में, डार्विन के *Origin of Species* नामक ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त सावयव विकास का एक सिद्धान्त सामने आ गया था। इसके परिणामस्वरूप काफी भ्रम फैल गया था। न तो मनुष्य की असीम प्रगति में आस्था और न इतिहास के दर्शन में

हीगेल का विश्वास ही किसी तरह से जैविक प्राणियों की परिवर्तनशीलता अथवा जैविक आनुवंशिकता पर आधारित था। ये जैविक तत्त्व नैतिक विकास अथवा सामाजिक प्रगति के बारे में भी कुछ प्रकाश नहीं डालते। पुनः, सांस्कृतिक विकास के एक अन्तर्मूल नियम के बारे में हीगेल की सकल्पना व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों रूपों से प्रगति के उस विचार से भिन्न थी जो क्रान्ति के विश्वास का एक भाग रहा था। जहां तक व्यावहारिक पक्ष का सम्बन्ध है, हीगेल के दर्शन के इतिहास-तत्त्व की प्रवृत्ति, सामान्य रूप से इतिहास तत्त्व की हो प्रवृत्ति चाहे वह हीगेल का हो या न हो, अनुदारवाद की तरफ थी जो कडरसेट के प्रगति-सिद्धान्त के क्रान्तिकारी निष्कर्षों से बिल्कुल भिन्न थी। इस कथन का मुख्य अपवाद मार्क्स है। उसने हीगेल के दर्शन में संशोधन कर के उसे क्रान्तिकारी बना दिया। तथापि सामान्य रूप से हीगेलवादी जो मार्क्सवादी नहीं थे, इस बात पर जोर देते थे कि इतिहास में एक अविच्छिन्न प्रवाह पाया जाता है और मनुष्यों के प्रयत्नों से इस प्रवाह में आकस्मिक अथवा उग्र परिवर्तन नहीं हो सकते। सैद्धान्तिक दृष्टि से द्वन्द्वात्मक पद्धति की मुख्य विशेषता—हीगेल के आदर्शवाद और मार्क्स के भौतिकवाद में—यह थी कि वह आनुभविक कार्यकारण का सिद्धान्त न होकर तर्कशास्त्र का सिद्धान्त अधिक था। इस दृष्टि से वह सावयव विकास से भी भिन्न था और सार्वभौम प्रगति के सिद्धान्त से भी। कडरसेट और उसके बाद कॉम्टे का यह विचार था कि प्रगति का साक्ष्य आनुभविक है और उसका कारण सांयोगिक है। प्रगति का कारण मानव व्यवहार के विषय में ज्ञान की निरन्तर वृद्धि है। प्रगति सिद्धान्त के इस अनुभवपरक पक्ष के कारण ही हीगेल ने और उससे कुछ कम मार्क्स ने उसे दार्शनिक दृष्टि से सतही माना। हीगेल का प्रयोजन यह था कि वह उन आवश्यक अवस्थाओं को प्रदर्शित कर दे जिनके द्वारा मानव विवेक निरपेक्ष के निकट पहुंचता है। इससे उल्टी प्रक्रिया द्वारा वह विकास के उस क्रम को प्रदर्शित करना चाहता था जिसमें निरपेक्ष विवेक सभ्यता के विचारों और संस्थाओं के रूप में व्यक्त होता है।

इस कल्पनापरक चिन्तन का आधार हीगेल का यह विश्वास था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति के रूप में उसने सत्यान्वेषण के एक ऐसे नियम की खोज निकाला है जो मस्तिष्क की पद्धति में भी अन्तर्निहित है और वस्तुओं की प्रकृति में भी। हीगेल इस अर्थ में ही आदर्शवादी था। अन्तिम रूप से चिन्तन के नियम और घटनाओं के नियम एक ही होते हैं और दोनों में वृद्धि का एक बोधगम्य प्रतिरूप दृष्टिगत होता है। यह ह्यूम के लिए हीगेल का उत्तर भी था। हीगेल ने इतिहास में 'आवश्यकता' के एक तत्त्व का समावेश कर दिया था। यह तत्त्व कार्यकारण के सम्बन्ध और विकासशील प्रयोजन का संश्लेषण था। यदि इतिहास का उचित रीति से अध्ययन किया जाए तो उसमें वस्तुपरक आलोचना के कुछ सिद्धान्त निकलते हैं। यह वस्तुपरक समीक्षा विकास में स्वतः अन्तर्निहित है। यह सत्य को असत्य से, महत्त्वपूर्ण को महत्त्वहीन से और स्थायी को क्षणिक से, संक्षेपतः हीगेल की शब्दावली में 'वास्तविक' को 'आभासी' से पृथक् करता है। इतिहास के इस ढंग से अध्ययन के लिए एक विशेष उपकरण की आवश्यकता है। हीगेल ने अपनी द्वन्द्वात्मक

पद्धति के द्वारा इस उपकरण को प्रदान किया। विकास की दिशा संश्लेषणात्मक है। उसे समझने के लिए संश्लेषण के एक उपकरण की और विश्लेषण से उच्चतर मानसिक शक्ति की आवश्यकता है। विश्लेषण और संश्लेषण की इन दो शक्तियों को वह बोध तथा विवेक नाम देता है। इन शब्दों को हीगल ने काण्ट से ग्रहण किया था लेकिन उसने उन्हें एक नया अर्थ प्रदान किया। काण्ट ने इन दोनों में भेद माना था। उसने बोध का सम्बन्ध सांयोगिक नियमों से जोड़ा था। इन नियमों को वह अनुभवपरक जगत् की समष्टता पर निर्भर मानता था। उसने विवेक का सम्बन्ध नैतिक जगत् के विनियामक सिद्धान्तों से जोड़ा। उसका विश्वास था कि इन नियमों के पीछे नैतिक सत्ता होती है। फिर भी उनमें सांयोगिक कार्यक्षमता नहीं पायी जाती। इसके विपरीत, हीगल द्वन्द्वात्मक पद्धति को एक ऐसा माध्यम समझता था जिसके द्वारा उन्हें संयुक्त किया जा सकता है। अपने दर्शनशास्त्र को वह विवेक का तर्कशास्त्र समझता था। अठारहवीं शताब्दी के सामाजिक अध्ययन की कमियों का कारण वह यह समझता था कि उनमें केवल विश्लेषणात्मक बोध के तर्कशास्त्र का ही प्रयोग किया गया था। यदि हम किसी चीज को विश्लेषण द्वारा समझने की कोशिश करते हैं, तो उसे पूरी तरह से एक सर्वांग सत्ता के रूप में नहीं समझ सकते। हम उसे अनेक भागों में विभक्त करके समझने का प्रयास करते हैं। परिणाम यह होता है कि हम उसे एक सृजनात्मक अथवा निरन्तर विकासशील वस्तु के रूप में ग्रहण नहीं कर पाते। हीगल के विचार से यह दृष्टिकोण फ्रांस के व्यक्तिवाद का दार्शनिक आधार था। उसका मत था कि इस आधार पर हम इतिहास को ठीक से नहीं समझ सकते। इसके कारण यह भ्रम पैदा हो जाता है कि मनुष्य अपनी स्वेच्छा इच्छाओं के अनुसार समाज का पुनर्निर्माण कर सकते हैं। यह प्रवृत्ति क्रान्ति और अव्यवस्था को जन्म देती है। केवल संश्लेषण की प्रतिभा अर्थात् विवेक ही ऐतिहासिक विवरण के नीचे झाँक कर देख सकता है वह इस प्रक्रिया पर नियन्त्रण रखने वाली अन्तर्निहित शक्तियों को समझ सकता है और इस प्रकार इस आवश्यकता को हृदयंगम कर सकता है कि प्रक्रिया जिस रूप में है, उसे उसी रूप में क्यों होना चाहिए। संश्लेषणात्मक बोध का यह कार्य हीगल के लिए बौद्धिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से उचित है—उसे बौद्धिक दृष्टि से समझा जा सकता है और नैतिक दृष्टि से उचित ठहराया जा सकता है। जो है उसका होना आवश्यक भी है और उचित भी। हीगल के राजनीतिक दर्शन में शक्ति को अन्ततः न्याय के साथ अनन्य मानने का यह दायित्व इस दुहरी भूमिका को है।

हीगेल की ऐतिहासिक पद्धति पूर्ण रूप से बौद्धिक क्रान्ति थी। उसके दर्शन ने इस क्रान्ति का प्रतिपादन किया। उसने अपने दर्शन का स्पष्टीकरण बड़े रोबीले स्वर से किया है। यह बात केवल बौद्धिक अहंकार के कारण ही नहीं थी। उससे केवल यह विश्वास ही प्रकट होता था कि उसके चिन्तन ने एक ऐसी पद्धति का प्रयोग किया था जो दर्शन की गुत्थियों से अपरिचित व्यक्ति के लिए उपलब्ध नहीं थी। इस दर्शन को ऐसे रूप में भी उपस्थित नहीं किया जा सकता था जो साधारण तर्कशास्त्री की समझ में आ

जाता। यह दर्शन तो ऐसे तकशास्त्री की ही समझ मे आ सकता था जो तार्किक विश्लेषण की परिसीमाओ के पार चला जाता।

'हम प्रकथनो, प्रस्थापनाओ आदि के द्वारा राज्य का जिसे एक स्वतन्त्र सत्ता मानना चाहिए, ठीक मूल्याकन नही कर सकते। राज्य के बारे मे करीबकरीब वही बात लागू होती है जो कि ईश्वर की प्रकृति के बारे मे।'[1]

प्रश्न यह है कि क्या इसका अभिप्राय केवल रहस्यवाद या प्रमाणवाद नहीं था यद्यपि हीगेल ऐसा नही समझता था। क्या हीगेल का यह विचार कि विवेक इतिहास के पीछे कार्य करने वाली सृष्टि की शक्तियो का—राज्य जैसी शक्तियो का—अनुभव कर सकता है और ये शक्तिया विशिष्ट घटनाओं और तथ्यो से अधिक महत्वपूर्ण होती हैं, कल्पना मात्र न था? क्या सावयव इकाइयो को समझने का तार्किक उपकरण द्वन्द्वात्मक पद्धति जिससे सामाजिक विषयो के अध्ययन का सम्बन्ध है, वास्तव में किसी व्यवस्थित पद्धति का रूप धारण कर सकता है जिसम कि उसकी कथित उद्भावनाओं की आलोचनात्मक परीक्षा हो सके? अन्त म, यदि इन प्रश्नो का अनुकूल उत्तर दिया जाता है तो क्या यह स्पष्ट होगा कि ऐतिहासिक प्रक्रिया का सश्लेषणात्मक बोध कार्य कारण विषयक स्पष्टीकरण और नैतिक आलोचना मे—इन्हें ह्यूम तथा काट ने मूलत एक-दूसरे से भिन्न माना था—सयोग स्थापित करेगा। इन प्रश्नो के उत्तर पर ही हीगेल की दार्शनिक पद्धति का मूल्याकन निर्भर है। इनके ऊपर ही हीगेल और मार्क्स दोनों के चिंतन मे द्वन्द्वात्मक पद्धति का सही मूल्याकन—क्या वह सामाजिक कार्य-व्यापार को समझने के लिए एक अपरिहार्य साधन है और क्या वह एक वैध ऐतिहासिक विज्ञान का निर्माण कर सकता है—निर्भर है।

राष्ट्र की अन्तरात्मा

(The Spirit of the Nation)

हीगेल के निष्कर्षो की वैधता चाहे कुछ भी हो, इस बात म कोई सन्देह नही हो सकता कि उसके विचारो का उस तार्किक सूक्ष्मता और सशक्त शब्दावली से बहुत कम सम्बन्ध था जिसमे अन्ततोगत्वा उसने अपने दर्शन को व्यक्त किया था। उसने यूरोपीय सस्कृति का विशेषकर ईसाई धर्म के इतिहास का गहन अध्ययन किया था। उसके मुख्य विचार इसी अध्ययन के फलस्वरूप बने थे। बाद मे उसने अपने विचारो

---

1 *Philosophy of Right*, sect 269 addition सारे उद्धरण एस० डब्ल्यू० डाइड के अनुवाद के आधार पर हैं।

को सूत्रों के रूप में प्रकट किया था।[1] हीगेल अपनी जवानी में राजनीति की अपेक्षा धर्म के प्रति अधिक झुका हुआ था। उसका चिंतन हर्डर और लेसिंग से तथा उनके इस विचार से शुरू हुआ था कि विश्वधर्मों का उत्तरोत्तर क्रम धार्मिक सत्य का उद्घाटन करता है और वह मानव जाति को एक प्रकार की दैवी शिक्षा प्रदान करता है।

हीगेल का मुख्य विचार यह था कि प्रक्रिया 'उस शक्ति के साथ शुरू होती है जो अपने आपको सिद्ध करने का प्रयास करती है' और वह 'अपने को उस रूप में विस्तृत कर लेती है जिस रूप तक बढ़ने की उसकी सदैव शक्ति होती थी।' हीगेल ने अपने इस विचार को अपने दर्शन में विस्तृत रूप दिया था। वास्तव में यह विचार अरस्तूवाद का ही एक तत्त्व था और लिबनिज़ के समय से जर्मन चिंतन में अन्तर्भूत रहा था। हीगेल ने हर्डर और लिबनिज़ से यह भी सीखा था कि सम्प्रदाय और संस्कार न तो पूरी तरह से सच्चे होते हैं और न अन्धविश्वासपूर्ण ही। वे तो आध्यात्मिक सत्यों को प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त करते हैं। वे अपने समय के लिए अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होते हैं लेकिन उनका महत्त्व अस्थायी होता है। आलोचना तथा मूल्यांकन के इस ढंग में द्वन्द्वात्मक पद्धति के बीज देखना कठिन नहीं है। अपने समय के योग्यतम विद्वानों के समान ही हीगेल पर भी यूनान विषयक अध्ययन के युगप्रवर्तक नवजागरण का प्रभाव पड़ा था। उसका शुरू से ही यह विश्वास बन गया था कि पश्चिमी सभ्यता दो बड़ी शक्तियों—यूनान की स्वतन्त्र बुद्धि और ईसाई धर्म की गहनतर नैतिक और धार्मिक अन्तर्दृष्टि—की सृष्टि है। वह प्लेटो तथा अरस्तू के दर्शन की तुलना में ईसाई धर्मशास्त्र को पतनशील मानता था, फिर भी उसका विश्वास था कि ईसाई धर्म ने पश्चिमी सभ्यता को एक ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति दी है जिसका यूनानी दर्शन के पास अभाव था। जब हीगेल ने इस समस्या पर विचार किया, वह अंशतः मोंटेस्क्यू के प्राकृतिक विधि के स्पष्टीकरण के प्रभाव से यह समझने लगा कि एथेंस का धर्म और दर्शन नगर-राज्य की सम्पूर्ण जीवन-पद्धति का एक भाग था और ईसाई धर्म का रहस्यवाद, शान्तिवाद और विश्व चिन्ता का नगरों की स्वतन्त्रता के लोप तथा विश्वव्यापी मानवता के एक नए विचार की चेतना की प्रसव वेदना से सम्बन्ध था।

इस प्रकार हीगेल के शुरू-शुरू के धार्मिक चिंतन में ज्ञानयुग के विरोधस्वरूप जर्मन ज्ञानयुग के विचार और दृष्टिकोण जम गए थे। वे विचार और दृष्टिकोण ये संस्कृति के समस्त तत्त्व एक इकाई का निर्माण करते हैं जिसमें धर्म, दर्शन, कला और नैतिकता एक दूसरे पर असर डालते हैं, संस्कृति के ये समस्त तत्त्व राष्ट्र विशेष की 'अन्तरात्मा' को उसकी आन्तरिक बौद्धिक प्रतिभा को व्यक्त करते हैं और राष्ट्र का इतिहास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा वह सम्पूर्ण मानव सभ्यता के लिए अपनी विशिष्ट देन

1 यह बात सब से पहले विल्हेम डिल्थी ने अपने ग्रन्थ जुगेंडगेस्चिश्टे हीगेल्स (१९०५) में सुझाई थी। बाद में टी० एल० हेरिंग ने हीगल, सीन वोलेन उन्द सीन वर्के (२ भागों में, १९२९ और १९३८) इस बात पर विस्तार से विचार किया है।

का उद्घाटन करता है। जब हीगेल ने इन विचारों पर और अधिक चिंतन किया, तो उसका यह विश्वास हो गया कि इस प्रक्रिया के तीन चरण होते हैं। पहला चरण प्राकृतिक सुखद, उत्साहपूर्ण लेकिन अधिकतर अचेतन स्वतःस्फूर्ति का होता है। दूसरा चरण दुःखपूर्ण निराशा और आत्म-चेतना का होता है; इसमें 'अन्तरात्मा' अन्तर्मुखी हो जाती है और अपनी स्वतःस्फूर्त सृजनशीलता से वंचित हो जाती है। तीसरे चरण में वह अपने वास्तविक रूप को एक उच्चतर धरातल पर पुनः प्राप्त करती है और इसमें वह नए युग की निराशा से उपलब्ध एक अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न होती है। इस काल में स्वतन्त्रता का सत्ता और आत्म-अनुशासन से समन्वय हो जाता है। हीगेल ने इन अवस्थाओं को द्वन्द्वात्मक पद्धति की तीन विशिष्ट अवस्थाओं का नाम दिया है—वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-Thesis) और संवाद (Synthesis)। उसने इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को 'विचार' नाम दिया है। हीगेल का इतिहास-दर्शन पश्चिमी सभ्यता के इतिहास से इस विचार को प्रमाणित करने की एक चेष्टा है। अपने सृजनात्मक युग में यूनानी नगर पहली अवस्था को, मुक्ता और ईसाई धर्म दूसरी अवस्था को तथा प्रोटेस्टैंट धर्म और धर्म-सुधार के समय से आरम्भ होने वाले जर्मन राष्ट्रों का युग तीसरी अवस्था को प्रकट करता है। राष्ट्रीय मानस अपने ऐतिहासिक विकास की एक विशिष्ट अवस्था में विश्व-मानस की अभिव्यक्ति होता है।

"विश्व इतिहास की प्रक्रिया में प्रत्येक विशिष्ट राष्ट्रीय प्रतिभा को केवल एक व्यक्ति मानना चाहिए"।[1]

प्रत्येक राष्ट्र मानव जाति की उन्नति में कितना योगदान देता है, इसी आधार पर उसका मूल्यांकन होना चाहिए। हर राष्ट्र ऐतिहासिक महत्त्व के योग्य नहीं होता। सामान्य रूप से यह विचार जर्मन दार्शनिकों को प्रिय था। हीगेल से कई वर्ष पूर्व हर्डर ने यह कहा था कि जर्मनी की सदैव ही एक "स्थिर राष्ट्रीय अन्तरात्मा" रही है और वह रहेगी। हीगेल के समसामयिक श्लीरमेकर (Schleiermacher) ने कहा था, "ईश्वर इस पृथ्वी पर प्रत्येक राष्ट्र को एक विशिष्ट कार्य सौंपता है।"

इतिहास की इस उन्मेषकारी (Revelatory) शक्ति का विश्वास किसी भी प्रकार पुराना नहीं था, कम-से-कम हीगेल के सन्दर्भ में नहीं। यह तो राष्ट्रीय लक्ष्य के लिए कष्टपूर्ण खोज थी। लोक-धर्म में हीगेल ने एक ऐसी चीज की खोज की जो ज्ञानयुगीन धर्म 'विवेक' की अपेक्षा कम सैद्धान्तिक हो और चर्च की कट्टरता की अपेक्षा कम कठोर हो। सामाजिक अध्ययन की सभी शाखाओं में उसका चिंतन इस विश्वास से निर्दिष्ट होता था कि विचारों और संस्थाओं को समग्र संस्कृति के भागों के रूप में ही

---

1. हीगेल के ग्रन्थ *Philosophy of History* की प्रस्तावना, खंड ३ में उसके इतिहास-दर्शन का विवरण देखिए। Eng trans. by J. Sibree ; Bohn Library, p 551.

समझा जा सकता है और उनके इतिहास के आधार पर ही हम उनके वर्तमान महत्त्व को तथा विश्व संस्कृति के विकास में उनकी भूमिका को समझ सकते हैं। शिलर के सूत्र में "सार्वभौम सत्य ही सार्वभौम संस्कृति है"। *Die Weltgeschichte ist das Weltgericht*।

हीगेल की राजनीति-विषयक, विशेषकर जर्मन राजनीति-विषयक रचनाओं में यही प्रयोजन तथा संकल्पना दृष्टिगत होती है। हीगेल अन्तरात्मा के नैराश्य को ईसाई धर्म के उत्थान का प्रधान कारण समझता था। उसका विश्वास था कि यह नैराश्य उसके युग की भी विशेषता थी। हीगेल को आशा थी कि इस नैराश्य के आधार पर ही जर्मनी में महान् सामाजिक तथा आध्यात्मिक परिवर्तन होंगे। जर्मनी की अन्तरात्मा तथा जर्मन राजनीति की वास्तविक अवस्था में उसे पूर्ण वैषम्य दिखाई देता था। इस वैषम्य को ही वह निराशा तथा निष्फलता का कारण और साथ ही नयी आशा और सक्रियता का आधार मानता था। १७९८ में फ्रांस की क्रांति द्वारा प्रज्वलित उत्साह के आवेश में उसने लिखा था

"वस्तुओं के वर्तमान रूप के विषय में मूक स्वीकृति, निराशा, एक विराट् प्रभुत्वकारी नियति के विषय में धैर्यपूर्ण सहिष्णुता ने आशा, प्रत्याशा तथा एक भिन्न वस्तु की इच्छा की ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया है। अधिक अच्छे और अधिक न्यायपूर्ण समय का स्वप्न मनुष्यों की आत्मा में प्रविष्ट हो गया है। अधिक शुद्ध, अधिक स्वतन्त्र परिस्थिति की इच्छा ने प्रत्येक हृदय को आन्दोलित कर दिया है और उसे वर्तमान परिस्थिति से अलग कर दिया है। आप यदि चाहें, तो इसे ज्वर का सवेग कह सकते हैं। लेकिन, इसकी परिणति या तो मृत्यु में होगी या रोग के उन्मूलन में।'[1]

यह निश्चित है कि हीगेल किसी भी समय क्रांतिकारी नहीं था। उसकी ऐसी संस्थाओं के औचित्य में दृढ़ आस्था थी जिनमें राष्ट्रीय जीवन व्यक्त होता है। फिर भी, उसके राजनीतिक साहित्य में जहां भविष्य के प्रति निर्देश था, वहां वर्तमान के प्रति अपील भी थी। लेकिन, यह अपील राष्ट्र की सामूहिक इच्छा के प्रति थी, उसके व्यक्तिगत सदस्यों की आत्म-सहायता के प्रति नहीं।

"वे लोग कितने अन्धे हैं जो यह कल्पना कर लेते हैं कि संस्थाएं, संविधान और विधियां उस समय भी बनी रहती हैं जब वे मानव जाति के आचारों, आवश्यकताओं और प्रयोजनों के अनुकूल नहीं रहतीं तथा उनका सारा सार समाप्त हो जाता है। कितने मूर्ख हैं वे लोग जिनका यह विचार होता है कि ऐसे संगठन भी

---

1. Uber die neusten inneru verhalt nisse Wurtturbergs (1798), Werke (ed. Lasson), Vol. VII, pp. 1506, नीचे का उद्धरण पृ० १५१ पर है।

राष्ट्र को एकता के सूत्र में ग्रथित रखने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं जिनमें न बोध ज्ञान है और न भावना ही।"

इस प्रकार की संस्थाओं का बदलना चाहिए और उनके स्थान पर राष्ट्र की भावना को व्यक्त करने वाली नई संस्थाएं आनी चाहिए। प्रश्न यह है कि ये नई संस्थाएं क्या रूप ग्रहण करें।

हीगेल ने अपने इस विचार का विकास १८०२ में लिखित *Constitution of Germany*[1] नामक अपने निबन्ध में किया है। यह निबन्ध उसने जर्मनी की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रख कर लिखा था। प्रस्तुत कृति का आरम्भ इस आग्रह के साथ हुआ था कि "जर्मनी अब राज्य नहीं है।" हीगेल ने वेस्टफेलिया की शान्ति-संधि के पश्चात् साम्राज्य के पतन का मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत कर अपने आग्रह को प्रमाणित किया था। उसका तर्क था कि जर्मनी प्रायः स्वतन्त्र इकाइयों का अराजकतापूर्ण समूह मात्र रह गया है। वह एक ऐसा नाम अवश्य है जिससे पूर्वकालीन महत्ता का आभास होता है लेकिन एक संस्था के रूप में यूरोपीय राजनीति की वास्तविकताओं से उसका कोई मेल नहीं बैठता। उसकी तुलना विशेष रूप से फ्रांस, इंगलैण्ड और स्पेन से की जानी चाहिए जहां आधुनिक राजतन्त्र ने एकीकृत राष्ट्रीय सरकारों का निर्माण किया है। आधुनिक राजतन्त्र इटली अथवा जर्मनी में एकीकृत राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करने में असफल रहा है। तथापि, यह ऐतिहासिक विश्लेषण एक साध्य को प्राप्त करने का साधनमात्र था। हीगेल का मुख्य प्रयोजन इस प्रश्न को उठाना था कि जर्मनी राज्य कैसे बन सकता है?

जर्मन राज्य

(A German State)

हीगेल का विचार था कि जर्मनी में साम्राज्य की दुर्बलता का कारण वहां का स्थानवाद और प्रान्तवाद था। सांस्कृतिक दृष्टि से जर्मन एक राष्ट्र है, लेकिन उन्होंने यह कभी नहीं सीखा है कि वे अंश को सम्पूर्ण के अधीन कर दें और यह एक ऐसा भाव है जो राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए आवश्यक होता है। साम्राज्य के पास केवल वही शक्ति है जो उसे अंश दे देते हैं और वर्तमान संविधान का केवल यह उद्देश्य है कि वह राज्य को कमजोर रक्खे। स्वतन्त्र नगर, स्वतन्त्र शासक, जमींदारियां, गिल्ड, तथा धार्मिक सम्प्रदाय—ये सब अपने-अपने रास्ते पर चलते हैं। वे राज्य के अधिकार का हड़प लेते हैं और उसकी कार्यशक्ति को नष्ट कर देते हैं। ऐसा करते समय वे उसी पुरानी

1 *Die Verfassung Deutsch lands* (1802), Werke (ed. by Lasson) Vol VII, p 1 ff

सामन्ती विधि का सहारा लेते हैं जो साम्राज्य का शासन करती है। हीगेल ने कटुता से कहा कि जर्मनी की आदर्शोक्ति *Fiat justitia pereat Germania* है। इस समय जर्मनी में व्यक्तिगत विधि और सांविधानिक विधि में कोई अन्तर नहीं रहा है। विधायी, न्यायिक, धार्मिक और सैनिक परमाधिकारों को व्यक्तिगत सम्पत्ति की भांति खरीदा और बेचा जाता है। शताब्दी के आरम्भ में जर्मनी की स्थिति का हीगेल ने जो विश्लेषण किया था, उसमें उसके उत्तरकालीन राजनीति-दर्शन की दो मुख्य विशेषताएं देखी जा सकती हैं। सर्वप्रथम उसने जर्मनी के वैशिष्ट्यवाद (particularism) को स्वतन्त्रता के उच्छृंखल प्रेम से अभिन्न माना। इस दृष्टिकोण के अनुसार स्वतन्त्रता अनुशासन और सत्ता का अभाव है। उसने इसे सच्ची स्वतन्त्रता से भिन्न बताया। उसके अनुसार सच्ची स्वतन्त्रता राष्ट्रीय राज्य की सीमाओं में ही पायी जा सकती है। राष्ट्र सामन्ती अराजकता का नाश करके और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर स्वतन्त्रता को पा सकता है। हीगेल के मतानुसार स्वतन्त्रता का अंग्रेजी और फ्रेंच राजनीतिक दर्शन के व्यक्तिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं था। वास्तव में वह तो एक ऐसा गुण था जो राष्ट्रीय आत्म निर्णय की शक्ति के द्वारा व्यक्ति को प्राप्त होता है। दूसरे, हीगेल ने व्यक्तिगत विधि को सार्वजनिक अथवा सांविधानिक विधि से भिन्न माना। यह राज्य तथा नागरिक समाज के भेद से मिलता जुलता है। हीगेल के परिपक्व राजनीति दर्शन की एक मुख्य विशेषता थी।

हीगेल ने जर्मनी की इस दुर्बलता के विश्लेषण के आधार पर राज्य की परिभाषा यह कह कर की कि वह एक ऐसा समुदाय है जो सामूहिक रूप से उसकी सम्पत्ति की रक्षा करता है। उसकी अनिवार्य शक्तियां केवल ऐसा एक नागरिक और सैनिक विभाग हैं जो इस उद्देश्य को पूरा कर सकता हो।[1] दूसरे शब्दों में राज्य एक शक्ति है। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय की भावना को अवश्य ही प्रकट करता है लेकिन मूलतः वह एक ऐसी शक्ति है जो राष्ट्रीय इच्छा को स्वदेश में और विदेश में कारगर करता है। राज्य का अस्तित्व वहां भी सम्भव है जहां एकरूपता न हो। लेकिन, इसके कारण एकीकृत शासन की स्थापना के मार्ग में कोई विशेष बाधा उपस्थित नहीं होनी चाहिए। हीगेल को किसी विशेष शासन-प्रणाली से प्रेम नहीं था। हां, वह राजतन्त्र को अपरिहार्य मानता था। उसका तर्क था कि राज्य के अस्तित्व का यह अभिप्राय नहीं होता है कि सम्पूर्ण राष्ट्रीय क्षेत्र में नागरिक अधिकारों की समानता हो अथवा विधि की एकरूपता हो। राज्य में कुछ विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग हो सकते हैं और आचार, संस्कृति, भाषा तथा धर्म के भेद हो सकते हैं। उसने फ्रांस के केन्द्रीकृत गणतन्त्र शासन को आडम्बरपूर्ण बताया क्योंकि यह शासन सारा काम अपने आप करता था और उसने जनता को समान नागरिकता के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया था।

---

1. *Die Verfassung Deutschlands* (1802). *Werke* (ed. by Lasson). Vol. VII, p. 17

जीन बोदां की भांति हीगेल का भी यह विश्वास था कि राज्य के अस्तित्व के लिए एक राष्ट्रीय सांविधानिक राजतन्त्र का उत्थान अत्यन्त आवश्यक है। उसका विचार था कि फ्रांस, स्पेन और इंगलैण्ड के अनुभव से यह प्रमाणित होता है कि सामन्तवाद का विनाश और राष्ट्रीय राज्य का उत्थान केवल राजतन्त्र के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है और यह प्रक्रिया ही "स्वतन्त्रता" है।

"इन देशों की शक्ति, सम्पत्ति तथा विधि के अधीन उनके नागरिकों की स्वतन्त्र दशा उसी समय से आरम्भ होती है, जब से इन देशों ने राज्यों का रूप धारण किया।[1]"

हीगेल के निर्णय की परिशुद्धता के बारे में विवाद करने की आवश्यकता नहीं है। इसके साथ ही वह जर्मनी के लिए एक ऐसा उपचार बता रहा था जिसे कोई अंग्रेज या फ्रांसीसी राजनीतिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ मानता। यह भी सही है कि "उनके नागरिकों की स्वतन्त्र दशा" से हीगल का यह अभिप्राय कदापि नहीं होता था जो फ्रांसीसियों के 'मनुष्य तथा नागरिक के अधिकार' जैसे सूत्र से ध्वनित होता है।

हीगेल का राजतन्त्र के ऐतिहासिक महत्त्व के बारे में विश्वास था। उसने इसी विश्वास के आधार पर उसे १८०२ में यह आशा थी कि जर्मनी में एक महान् सैनिक नेता ही राष्ट्र में एकता स्थापित करेगा और उसे आधुनिक रूप देगा। हीगेल ने यह आवश्यक माना था कि ऐसा नेता सांविधानिक सीमाओं को स्वीकार करेगा और जर्मनी की राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को अपना एक नैतिक लक्ष्य मानेगा। वह यह नहीं समझता था कि जर्मनी समान सहमति से अथवा राष्ट्रीय भाव के शान्तिपूर्ण प्रसार से एकीकृत हो सकेगा। उसने बड़ी कटुता से कहा था कि गैंग्रीन रोग का उपचार लैवेंडर पानी से नहीं होता। राज्य अपनी वास्तविक शक्ति को शांतिकाल में नहीं, प्रत्युत् युद्धकाल में व्यक्त करता है। हीगेल के विचार से आधुनिक राजनीति में दो ही वीर पुरुष हुए हैं—मैकियावेली और रिशलू। उसने प्रिंस के बारे में लिखा है कि "यह एक वास्तविक राजनीतिक प्रतिभा की महान् तथा सच्ची सकल्पना है। इसका उद्देश्य महत्तम तथा उच्चतम है।"[2] व्यक्तिगत नैतिकता के नियम राज्यों के कार्य को मर्यादित नहीं करते। राज्य का सब से बड़ा कर्तव्य अपनी रक्षा करना और अपने को सशक्त बनाना है। रिशलू के दो शत्रु थे—फ्रांस के कुलीन और ह्यूगोनॉट। इन शत्रुओं का नाश तभी हो सका जबकि रिशलू ने फ्रांस की राष्ट्रीय एकता के आदर्श को अपने सामने रक्खा। हीगेल का एक और सूत्र था जो उसके इतिहास-दर्शन के अनुकूल ही है "राजनीतिक प्रतिभा अपने को एक सिद्धान्त के

1. *Die Verfassung Deutschlands* (1802), *werke* (ed. by Lasson), Vol. VII, p. 109. फिलासफी ऑफ राइट में राजतन्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिए गए विचारों से तुलना कीजिए। भाग ४, सेक्शन २, अध्याय २।

2. *Die Verfassung Deutschlands* (1802), *Werke* (ed. by Lasson), Vol. VII, p. 113.

साथ तदाकार करने में निहित है।[1] हीगेल का १८०२ में ही यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि जर्मनी को आधुनिक बनाने के लिए रक्त और लोहे के एक युग की जरूरत होगी। उस समय उसकी आशा का केन्द्र प्रशा नहीं, प्रत्युत् आस्ट्रिया था। बाद में उसकी निष्ठा का परिवर्तन कुछ ऐसा था जो नैपोलियन के युद्धों के पश्चात् दक्षिण जर्मनवासियों में अक्सर हुआ।

हीगेल के *Constitution of Germany* निबन्ध की विस्तार से चर्चा करना दो कारणों से आवश्यक प्रतीत हुआ है। सर्वप्रथम, हीगेल ने १८०२ में एक प्रचारक के रूप में लिखा था। अभी उसमें द्वन्द्वात्मक पद्धति की वे गूढ़ कल्पनाएं नहीं आ पाई थीं जिन्होंने बाद में उसके राजनीति-दर्शन को इतना कठिन बना दिया था। फिर भी, उसके सारे मुख्य राजनीतिक विचार इस निबन्ध में मिल जाते हैं। हां, उनका तर्क-पक्ष कुछ दुर्बल है। सम्भवतः, यह संकेत किया जा चुका है कि १८०२ में उसकी महत्वाकांक्षा जर्मनी का मैकियावेली बनने की थी। उसके चिंतन की मुख्य विशेषताएं ये थीं कि वह ऐतिहासिक सापेक्षवाद और कठोर राजनीतिक यथार्थवाद को समझता था। वह राज्य को शक्ति के साथ समीकृत करता था और राज्य की सफलता के मूल्यांकन का आधार यह समझता था कि वह राष्ट्रीय दृढ़ता की नीति को स्वदेश और विदेश में कहां तक लागू कर सकता है। वह राज्य को राष्ट्र की इच्छा और नियति का एक आध्यात्मिक प्रतीक मानता था। "वह स्वतन्त्रता का एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें विवेक के विचार को मूर्त रूप धारण करना है।" इस रूप में वह नागरिक समाज की आर्थिक व्यवस्था से उच्च तथा भिन्न है। इसी प्रकार, वह व्यक्तिगत नैतिकता के उन नियमों से भी ऊपर है जो नागरिकों के कार्यों पर नियंत्रण रखते हैं। राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्तियों की अनुभूति विकासशील सभ्यता के लिए चरम महत्व की देन है, यह विश्वास भी उन्नतिशील अनुभूति का एक अंग है, वह नागरिकों के व्यक्तिगत कार्यों की गरिमा तथा महिमा का भी स्रोत है। उसके मत से व्यक्ति की 'स्वतन्त्रता' इसी बात में निहित है कि वह राष्ट्रीय आत्मसिद्धि के कार्य में प्राणपण से जुट जाए। राष्ट्रीय आत्मसिद्धि का यह कार्य व्यक्तिगत आत्मसिद्धि का भी कार्य है। उसने राष्ट्रीय राजतन्त्र को उच्चतम सांविधानिक शासन और आधुनिक राजनीति की एक अनुपम सफलता बताया था। इस शासन में स्वतन्त्रता और सत्ता का अपूर्व समन्वय स्थापित हो जाता है। हीगेल का विश्वास था कि इस शासन-व्यवस्था में सामन्ती वैशिष्ट्यवाद के पुराने रूपों को उदात्त रूप दिया जा सकता है और उन्हें राष्ट्रीय कार्यों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। वह इसी सीमा तक फ्रेंच क्रांति के परिणामों से सहमत था और उसने उन्हें स्वीकार किया था। लेकिन, वह क्रांति सिद्धान्त के व्यक्तिवाद से पूरी तरह असहमत था। अपने बाद के अनेक जर्मनों की भांति उसका भी यह विश्वास था कि वह व्यक्ति में तो चंचलता

---

1. *Die Verfassung Deutschlands* (1802), *Werke* (ed. by Lasson), Vol. VII, p 108.

और अहंकारिता की वृद्धि करता है और समाज में धनिकतन्त्र की। हीगेल इतिहास को नैतिक तथा राजनीतिक ज्ञान का स्रोत मानता था। यदि हम विचारों तथा संस्थाओं के विकास का अध्ययन करें, तो हमें ज्ञात होगा कि उनका महत्त्व सामयिक भी होता है और नैतिक भी।

दूसरे, कान्स्टीट्यूशन ऑफ़ जर्मनी ने स्पष्ट रूप से यह सिद्ध कर दिया था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति के विषय में हीगेल की संकल्पना वैज्ञानिक कम, नैतिक अधिक थी। निबन्ध के आरम्भिक पृष्ठों में उसने बताया कि उसका उद्देश्य वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में समझना है, उसका उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि राजनीतिक इतिहास में उच्छृंखलता का तत्त्व नहीं होता, प्रत्युत् आवश्यकता का तत्त्व होता है। मनुष्य के दुःख अथवा नैराश्य का कारण यह है कि वह किसी चीज के यथार्थ रूप और आदर्श रूप में अन्तर देखता है। यह इसलिए होता है क्योंकि वह यह कल्पना कर लेता है कि घटनाएं असम्बद्ध विवरण मात्र हैं। उनमें "अन्तरात्मा द्वारा शासित किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं पायी जाती।" इसका उपचार समन्वय के द्वारा, इस अनुभूति के द्वारा ही सम्भव है कि जो है, उसका होना आवश्यक है, और जिसका होना आवश्यक है, उसे होना चाहिए। यह वही सिद्धान्त है जिसे हीगेल ने अपने इस सूत्र में व्यक्त किया था, "वास्तविक ही विवेक सम्मत है।" लेकिन, हीगेल के आरम्भिक लेख अथवा फिलॉसफी ऑफ राइट को पढ़ने वाला कोई भी समझदार व्यक्ति यह नहीं समझ सकता कि हीगेल राजनीतिक शान्तिवाद अथवा राजनीतिक प्रतिक्रिया मात्र की शिक्षा दे रहा था। जिसका होना "आवश्यक" है, वह वर्तमान स्थिति नहीं है, बल्कि जर्मनी का आधुनिकीकरण और राष्ट्रीयकरण है। 'आवश्यक' एक नैतिक आदेश है। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो भौतिक रूप से अपरिहार्य हो अथवा केवल वाञ्छनीय हो। वह तो एक ऐसा नैतिक उद्देश्य है जो मनुष्य की निष्ठा और भक्ति को प्राप्त कर सकता है तथा उनके व्यक्तिगत उद्देश्यों को सभ्यता की नियति के साथ जोड़ कर गौरवमंडित कर सकता है। नैतिक, भौतिक तथा तार्किक आवश्यकता का यह सम्मिश्रण ही द्वन्द्वात्मक पद्धति का सार था।

द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक आवश्यकता

(Dialectic and Historical Necessity)

फिलॉसफी ऑफ राइट[1] एक ऐसी पुस्तक है जिसका सारांश प्रस्तुत करना लाभदायक नहीं होगा। इसके दो कारण हैं। एक कारण तो यह है कि इसमें तकनीकी जटिलताएं बहुत अधिक हैं। दूसरा कारण यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से इसका विन्यास बहुत खराब है। यह कुछ तो हीगेल की असावधानी के कारण हुआ और कुछ हीगेल

1. *Grundlinien der Philosophie des Rechts* (1821), Eng. trans by S. W. Dyde (1896)

की तार्किक पद्धति के कारण। हीगेल ने विषय-वस्तु की व्यवस्था किसी अनुभवगत विवरण के आधार पर नही की, प्रत्युत् उसके 'विचार' के आधार पर की। इससे हीगेल का मन्तव्य द्वन्द्वात्मक पद्धति को ध्यान मे रख कर उसके महत्त्व से था। पुस्तक की रचना का प्रत्यक्ष आधार बोध तथा विवेक का अन्तर था। पहले दो भाग जिनमे भावपरक अधिकार और वस्तुपरक नैतिकता का वर्णन है, अधिकार तथा विधि का एक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। यह सिद्धान्त प्रतिवादो की ओर ले जाता है जो बोध की दृष्टि से अपरिहार्य हैं। पहले भाग मे सम्पत्ति के अधिकारो, व्यक्तित्व और संविदा का वर्णन किया गया है और इन्हें प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त के अन्तर्गत लिया गया है। लेकिन, चूंकि बोध से काम नही चलता, अत यह भाग कुछ ऐसे अन्तर्विरोधो को जन्म देता है जिन्हे बोध नही सुलझा सकता। फलत यह द्वन्द्वात्मक रीति से तीसरे भाग की ओर ले जाता है। इस भाग का सम्बन्ध स्वतन्त्रता अथवा वस्तुपरक इच्छा से है। इसमे विवेक अन्तर्विरोधो का समाधान कर देता है। तीसरे भाग मे विशेषकर राज्य और नागरिक समाज विषयक उसके खडो मे हीगेल के महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष सुरक्षित है। पुस्तक के इस विन्यास ने विषय-वस्तु को बहुत बिखेर दिया है। कभी-कभी ऐसे विषय जिनका एक साथ विवेचन होना चाहिए, अलग-अलग कर दिए हैं। उदाहरण के लिए सम्पत्ति तथा संविदा का विवेचन आर्थिक व्यवस्था से, विवाह का परिवार से और दण्ड का विधि-प्रशासन से अलग किया है। हीगेल ने तार्किक विन्यास की खातिर विषय वस्तु के विन्यास को बिगाड दिया है। इसके कारण हीगेल के दर्शन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार कि आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और नैतिक संस्थाएं सामाजिक दृष्टि से एक दूसरे पर निर्भर हैं, अस्पष्ट रह गया है। इसके साथ ही यह भी मानना चाहिए कि विषय-वस्तु के विन्यास ने हीगेल के एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निष्कर्ष को व्यक्त किया राज्य नैतिक दृष्टि से नागरिक समाज से बढ कर है।

चूंकि हीगेल के राजनीतिक विचारो का स्पष्टीकरण उस ढग से तो नही हो सकता, जिस ढग से फिलॉसफी ऑफ राइट मे उसके विचार विकसित हुए थे, इसलिए यह अच्छा होगा कि हम उसके विचारो और युक्तियो का विश्लेषण कर ले और फिर उन्हें सरल ढग से व्यक्त करें। उसके दर्शन का आलोचनात्मक बोध और मूल्याकन दो बातो पर निर्भर है। सर्वप्रथम, उसके इस दावे के बारे मे निर्णय की आवश्यकता है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति एक ऐसी नयी पद्धति है जिससे इतिहास तथा समाज मे पारस्परिक निर्भरताओ और सम्बन्धो का ज्ञान होता है जो अन्य प्रकार से सम्भव नही है। यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योकि द्वन्द्वात्मक पद्धति को कार्ल मार्क्स ने अपनाया था। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति के आध्यात्मिक आधार मे अवश्य थोडा परिवर्तन किया था, लेकिन उसकी तर्क-पद्धति को यथावत् स्वीकार किया था। इस प्रकार, द्वन्द्वात्मक पद्धति मार्क्सीय समाजवाद अथवा साम्यवाद की एक अन्तर्भूत भाग बन गई। मार्क्सवाद उसके आधार पर ही अपनी वैज्ञानिक श्रेष्ठता का दावा करता रहा है। दूसरे, हीगेल के राजनीतिक दर्शन ने मार्क्सवाद को एक ऐसे रूप मे व्यक्त किया है जिसने व्यक्तिवाद की

तथा मनुष्य के अधिकारों के सार्वभौमवाद की सदैव उपेक्षा की है। उसने राज्य की संकल्पना को एक ऐसा विशिष्ट अर्थ दिया जो उन्नीसवीं शताब्दी के आदर्शवादी राजनीति-दर्शन की विशेषता बन रहा।

चूंकि द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोजन एक ऐसे तार्किक उपकरण को प्रदान करना था, जिसके द्वारा इतिहास की "आवश्यकता" का ज्ञान हो जाए, अतः द्वन्द्वात्मक पद्धति का अभिप्राय ऐतिहासिक आवश्यकता के उस जटिल अर्थ पर निर्भर है जो हीगेल ने उसे दिया था। इस विषय पर उसका विचार इस विश्वास के साथ आरम्भ हुआ जो उसने अपने जीवन के आरम्भ में ही अर्जित कर लिया था—राष्ट्र के इतिहास में एक राष्ट्रीय मनोवृत्ति के विकास का लेखा-जोखा होता है। यह राष्ट्रीय मनोवृत्ति उसकी संस्कृति के समस्त पक्षों में व्यक्त होती है। इतिहास के इस दृष्टिकोण के विरोध में हीगेल ने एक दूसरा दृष्टिकोण रखा जो ज्ञानयुग के दृष्टिकोण के निकट था—दर्शन, धर्म और संस्थाएं व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए जानबूझ कर ईजाद की गई चीजें हैं। उसका विश्वास था कि यह भ्रम केवल इस कारण पैदा हुआ क्योंकि इतिहास को राजमर्मज्ञ के लिए एक सहायक कला माना जाता रहा था। इसके आधार पर राजमर्मज्ञ और विधायक समाज के जीवन और विकास के बारे में अधिक सशक्त योजना बना सकते हैं। यह इस रूढ़ि पर आधारित था कि मानव प्रकृति सदैव और सर्वत्र एक सी है। ह्यूम द्वारा प्रतिपादित "प्रवृत्तियों" की एक सरल सूची के आधार पर सम्पूर्ण मानवी व्यवहार को समझा जा सकता है और इसके अनुसार ही व्यवहार को वांछित दिशा में मोड़ा जा सकता है। ये ऐसे सिद्धान्त थे जिन्हें हेल्वेटियस और बाद में जरमी बैंथम जैसे उपयोगितावादियों ने स्वीकार किया था। हीगेल का विश्वास था कि ऐतिहासिक दृष्टि से ये सिद्धान्त सतही हैं क्योंकि वे संस्थाओं की पारस्परिक निर्भरता की उपेक्षा करते हैं और इसके साथ ही वे उस गति की भी उपेक्षा करते हैं जिससे संस्थाएं अपनी अन्तर्निहित प्रवृत्तियों का अनुसरण करती हैं। सम्पूर्ण प्रक्रिया में व्यक्तियों तथा उनके सचेतन प्रयोजनों का बहुत कम महत्व होता है। व्यक्ति संयोगवश ही उस संस्कृति से योग्य निम्न होता है जिसने उसका निर्माण किया है। जिस सीमा तक वह निम्न होता है, उस सीमा तक उसका व्यक्तित्व महत्वपूर्ण नहीं, बल्कि अस्थिर होता है। पुनः, व्यक्तियों का महत्व बहुत अधिक नहीं होना चाहिए क्योंकि सामान्यतः "व्यक्ति साधनों की श्रेणी में आते हैं।" यह ठीक ही है कि उनकी इच्छाओं और अभिलाषाओं को राष्ट्रों के बृहत्तर प्रयोजनों की सिद्धि के लिए बलिदान कर दिया जाए। इसलिए, इतिहास की आवश्यकता विषयक हीगेल के विश्वास में उसके दर्शन के दो महत्वपूर्ण तत्व मिले हुए थे। सर्वप्रथम, वह तार्किक यथार्थवादी था। उसका विश्वास था कि इतिहास में प्रभावशाली वास्तविकताएं और कारण निर्वैयक्तिक होते हैं और वे सामान्य शक्तियों के रूप में होते हैं। वे अलग-अलग व्यक्ति या घटनाओं के रूप में नहीं होते। व्यक्ति अथवा घटनाएं अधिकतर सामाजिक शक्तियों के अपूर्ण मौलिक रूप होते हैं। दूसरे उसके नीतिशास्त्र ने यह मान लिया

था कि व्यक्ति का महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि वह सामाजिक नाटक में क्या कार्य करता है और क्या भूमिका निभाता है।

हीगेल का कहना था कि सभ्यता का इतिहास काल की सीमा में विश्वात्मा की सतत अनुभूति है। अतः उसका दर्शन अपने से बड़े उद्देश्य के प्रति निर्भरता और निष्ठा के धार्मिक भाव से अनुप्राणित था। इस दर्शन में मानवी इच्छाओं की निष्फलता के प्रति उपहास का भाव भी निहित था। मनुष्य कितना ही अधिक विवेकवान क्यों न हो विश्वात्मा की चतुरता के आगे उसकी एक नहीं चलती। मानवी अभिनेताओं की दृष्टि से इतिहास व्यंग और त्रास का संगम है। सम्पूर्ण की दृष्टि से यह एक प्रकार की तर्कीय गति है।

"इसे विवेक की चतुरता कहा जा सकता है कि यह कुछ आवेगों को कार्य के लिए तत्पर कर देती है। जो इसके अस्तित्व का प्रेरणा के द्वारा विकसित करता है, उसे दण्ड देना पड़ता है, नुकसान उठाना पड़ता है। सामान्य की तुलना में विशिष्ट का बहुत कम महत्त्व है। व्यक्तियों का बलिदान कर दिया जाता है और उन्हें त्याग दिया जाता है।"[1]

इतिहास के पास अपनी समस्याओं का खुद ही समाधान होता है। बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी इन समाधानों को बहुत कम समझ पाते हैं। बड़े आदमी न तो इतिहास का निर्माण करते हैं और न उसे निर्देश देते हैं। अधिक से अधिक वे ऐतिहासिक शक्तियों को थोड़ा सा समझ लेते हैं और उनके साथ सहयोग करते हैं। ये शक्तियां उनकी इच्छा और बौद्धिक शक्ति से कहीं अधिक व्यापक होती हैं। राजनीतिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति वह नहीं है जिसमें अपनी कुछ मान्यता होती है। वास्तव में राजनीतिक दृष्टि से प्रतिभावान व्यक्ति वह है जो अपने को एक सिद्धान्त के साथ, दूसरे शब्दों में अपने समय की एक शक्ति अथवा प्रवृत्ति के साथ समीकृत कर लेता है। बड़े आदमी निर्वैयक्तिक सामाजिक शक्तियों के उपकरण होते हैं। घटनाओं के अन्तर्भूत तर्क के आगे उन्हें झुकना पड़ता है। इसलिए, इतिहास के विकास में दर्शन अथवा विज्ञान का भी बहुत कम भाग रहता है। हीगेल का मत था कि किसी सामाजिक पद्धति को हम ठीक तभी समझ सकते हैं जबकि वह पद्धति समाप्त हो रही हो। प्लेटो और अरस्तू ने नगर राज्य के दर्शन का निर्माण चौथी शताब्दी में किया था जबकि पैरीक्लीज के युग की सृजनशीलता मृतकाय की तरह बन गई थी।" "मिनर्वा का उल्लू सन्ध्या को अपनी उड़ान शुरू करता है।" इस्टोइक देवता की भांति इतिहास बुद्धिमान व्यक्ति का तो पथ प्रदर्शन करता है और मूर्ख व्यक्ति को खदेड़ता है।

तथापि, हीगेल इतिहास को मूलतः रहस्यात्मक अथवा विवेक निरपेक्ष नहीं मानता था। उसके विचार से इतिहास में अविवेक का नहीं बल्कि विश्लेषणात्मक विवेक से ऊंचे विवेक के एक नए रूप का निवास है। "वास्तविक ही विवेकसम्मत है और

1. *The Philosophy of History*, Introduction. Bohn Library p 34

विवेकसम्मत ही वास्तविक है।" इतिहास के सम्बन्ध में हीगेल की एक विशिष्ट धारणा थी। इतिहास के विकास को वह बेतरतीब सदा का विकास नहीं बल्कि एक सप्राण विकास मानता था। इस दृष्टि से इतिहास की प्रक्रिया को समझने के लिए एक भिन्न तर्क-पद्धति की आवश्यकता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए थी। भावपरक दृष्टि से यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न का समाधान करने के लिए अपेक्षाकृत सरल रीति थी। हीगेल ने जिस विचार सूत्र को ग्रहण किया था, वह बहुत पुराना था। इसकी झलक यूनान के प्रकृति सम्बन्धी आरम्भिक चिंतन में भी उपलब्ध होती है। यूनानियों का विचार था कि ऐतिहासिक प्रक्रिया विरोधों के माध्यम से संचालित होती है। जब कभी कोई प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा का पहुंच जाती है तो वह एक विरोधी प्रवृत्ति को जन्म देती है। यह विरोधी प्रवृत्ति पहली प्रवृत्ति को नष्ट कर देती है। इस विचार का मिश्रित संविधान के समर्थन में प्रयोग किया गया था। अनियन्त्रित लोकतन्त्र उच्छृंखलता का रूप धारण कर लेता है। असीमित राजतन्त्र निरंकुशता के रूप में बदल जाता है। विरोध और वैपरीत्य प्रकृति के सार्वभौम नियम हैं। ये सृष्टि के भी नियम हैं और चिंतन के भी। दुनिया हर जगह विरोधों के माध्यम से बढ़ती है। लेकिन, वहां निश्चित संविधान के सिद्धान्तों में यह मान लिया गया था कि विरोधी प्रवृत्तियों के सन्तुलन के द्वारा स्थायित्व और स्थिरता की स्थापना की जा सकती है, वहां हीगेल का यह विचार था कि संसार अनन्त रूप से सचरणशील सन्तुलन है। विपरीत शक्तियां इतिहास को गति देती हैं। लेकिन, सन्तुलन कभी भी स्थायी नहीं हो सकता। वह पर दर्शन को निरन्तरता और दिशा प्रदान करता है। फलत, हीगेल का विचार था कि विरोध कभी निरपेक्ष नहीं होता। किसी विवादास्पद दशा में एक स्थिति का विनाश कभी पूर्ण नहीं होता। दोनों ही पक्ष कुछ सही और कुछ गलत होते हैं। जब सही और गलत दोनों बातों को ठीक से तोल लिया जाता है तब एक तीसरी स्थिति पैदा होती है और उसमें दोनों पक्षों की सचाई होती है। हीगेल का विचार था कि प्लेटो के संवादों में यह आधारभूत अन्तर्दृष्टि निहित थी। हीगेल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति शब्द प्लेटो से ही ग्रहण किया था।

शक्तियों के विरोध का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त कि ये शक्तियां एक सन्तुलन की ओर आगे बढ़ती हैं तथा उनका निरन्तर तर्कयुक्त विकास होता रहता है—हीगेल को एक ऐसा उपाय मालूम पड़ता था जो सम्पूर्ण प्रकृति तथा इतिहास के ऊपर लागू हो सकता है। उसने इसे दर्शन के इतिहास पर सब से अधिक गम्भीरता से लागू किया। इस सिद्धान्त के प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि समस्त दर्शन-प्रणालियां अपूर्ण रही हैं। प्रत्येक दर्शन-प्रणाली सत्य के किसी न किसी अंश का साक्षात्कार कर लेती है। लेकिन, पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कोई भी दर्शन-प्रणाली नहीं कर पाती। प्रत्येक दर्शन-प्रणाली दूसरी दर्शन-प्रणाली का स्थान ग्रहण करती है। शाश्वत समस्या प्रश्नों को इस ढंग से पुनः व्यक्त करने की है जिसमें विरोधी पद्धतियों के प्रतीयमान अन्तर्विरोध शामिल हों। निरपेक्ष अर्थ में समस्याओं का कभी समाधान नहीं होता। सापेक्ष अर्थ में उनका सदैव समाधान

होता रहता है। एक नए बिन्दु के चारों ओर विवेचन फिर शुरू हो जाता है। इस विवेचन में पूर्ववर्ती विवेचन की ओर पूरा ध्यान दिया जाता है। फलतः, हीगेल का कहना था कि दर्शन का इतिहास स्वयं दर्शन है। वह ऐसा निरपेक्ष सत्य है जिसका काल की सीमा में प्रक्षेप कर दिया जाता है। वह निरन्तर एक पराकाष्ठा की ओर बढ़ता है लेकिन इस पराकाष्ठा को कभी प्राप्त नहीं कर पाता। यह कुन्तल की भाँति होता है जो हर मोड़ पर ऊंचा उठ जाता है। हीगेल अन्तर्विरोध को इतिहास की प्रेरक शक्ति मानता था। इस प्रकार, हीगेल ने एक पुराने तर्कशास्त्रीय शब्द को एक नया अर्थ दे दिया था। हीगेल के तर्कशास्त्र में अन्तर्विरोध का अभिप्राय दो पद्धतियों का फलदायी विरोध है। इस विरोध में एक दूसरे की वस्तुपरक आलोचना निहित होती है। इसके परिणामस्वरूप एक ग्रहणशील और अधिक सुव्यवस्थित पद्धति का निर्माण होता है। हीगेल के अनुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति केवल दर्शन के विकास पर ही लागू नहीं होती थी, वह एक ऐसी पद्धति थी जो ऐसी प्रत्येक विषय-वस्तु पर लागू हो सकती थी जिसमें प्रगतिशील परिवर्तन और विकास की सकल्पनाएं निहित रहती हैं। इस तरह के विषयों में इसका प्रयोग बहुत आवश्यक होता है। इसके प्रयोग द्वारा विकास की प्रक्रिया का अधिक सुगमता से समझा जा सकता है। यह पद्धति सामाजिक शास्त्रों पर बहुत अच्छी तरह लागू हो सकती है। समाज तथा उसके सगठन के मुख्य भाग, कानून, सदाचार, धर्म, तथा संस्थाएं ये सब आन्तरिक शक्तियों के सतत तनाव तथा चिंतन के द्वारा निरन्तर स्थापित होने वाले सामंजस्य के फलस्वरूप विकसित होती हैं। यही कारण है कि वास्तव में एक ऐतिहासिक पद्धति जैसी कोई चीज है। घटनाओं की आन्तरिक प्रवृत्ति को ग्रहण कर हम यह समझ सकते हैं कि अगला कदम क्या होगा।

जब द्वन्द्वात्मक पद्धति को सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त का सूत्र माना जाता है तब इसकी दो व्याख्याएं निकलती हैं और ये व्याख्याएं एक दूसरे की विरोधी हो सकती हैं। द्वन्द्वात्मक पद्धति के दृष्टिकोण से विचार के प्रत्येक कार्य में दो प्रवृत्तियां होती हैं। एक ओर तो वह नकारात्मक होता है। प्रत्येक वाद में कुछ ऐसे अन्तर्विरोध निहित होते हैं जो स्पष्ट हो जाते हैं और स्पष्ट होने पर मूलवाद को नष्ट कर देते हैं। दूसरी ओर यह सकारात्मक और रचनात्मक भी होता है। वह एक उच्चतर धरातल पर वाद का पुनर्कथन होता है, ऐसा पुनर्कथन जिसमें अन्तर्विरोधों को उदात्त रूप दे दिया जाता है और वे एक नए संश्लेषण के रूप में प्रस्तुत होते हैं। चूंकि हीगेल सम्पूर्ण सामाजिक विकास को 'विचार' का विकास समझता था इसलिए द्वन्द्वात्मक पद्धति की यह द्विमुखी विशेषता सामाजिक संस्थाओं में होने वाले प्रगतिशील परिवर्तनों में भी दिखाई देती है। प्रत्येक परिवर्तन अविच्छिन्न भी है और विच्छिन्न भी। वह भूतकाल को आगे भी ले जाता है और नई चीज को बनाने के लिए उससे नाता भी तोड़ता जाता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति को सामाजिक इतिहास पर लागू करने से दो प्रकार के निष्कर्ष निकल सकते हैं। एक तो निरन्तरता या क्रमिकता पर जोर हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि लम्बे समय से चली आती हुई पुरानी परम्पराओं या प्रथाओं से एक बारगी नाता तोड़ना असम्भव है।

दूसरा निष्कर्ष यह भी निकल सकता है कि परिवर्तन उग्र होना चाहिए और उसे स्वीकृत प्रथाओं और पद्धतियों का नाश कर देना चाहिए। कोई विचारक द्वन्द्वात्मक पद्धति के किस पहलू पर जोर देता है, यह उसकी सम्पूर्ण विचार-पद्धति और विशेषकर उसकी मनोवृत्ति पर निर्भर है। हीगेल ने कुल मिलाकर और उसके पुरातनपंथी अनुयायियों ने अविच्छिन्नता पर जोर दिया था। हीगेल का विचार था कि परिवर्तन भूतकाल में हुए हैं। कार्ल मार्क्स ने दूसरे पहलू पर जोर दिया है। उसका विचार है कि परिवर्तन भविष्य में होंगे। लेकिन, मार्क्सवाद में भी द्वन्द्वात्मक पद्धति के दोनों पहलू पाए जाते हैं। एक क्रांतिवादी विचारधारा के रूप में और दूसरा संशोधनवादी विचारधारा के रूप में। सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि सामाजिक इतिहास को सतत विकास की प्रक्रिया मानना चाहिए। इस प्रक्रिया में समय-समय पर क्रांतियों के भी दौर आते रहते हैं। किसी भी स्थिर स्थिति के अन्तर्भूत तनाव ऐसे चरम बिन्दु पर पहुंच जाते हैं जबकि सम्पूर्ण व्यवस्था में आमूल परिवर्तन आवश्यक हो जाता है।

द्वन्द्वात्मक पद्धति की आलोचना
(Criticism of Dialectic)

हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यह केवल विपरीत प्रवृत्तियों के विवरण के रूप में ही प्रस्तुत नहीं किया गया था—सामाजिक इतिहास में इन प्रवृत्तियों के बीच समझौता हो जाता है और एक दूसरे के साथ सामंजस्य बैठ जाता है—बल्कि तर्कशास्त्रके एक नियम के रूप में प्रस्तुत किया गया था। हीगेल का उद्देश्य इस विषय का पूरी तरह से संशोधन करना था। उसने स्वयं कहा था कि वह बोध के तर्कशास्त्र का अतिक्रमण करने अथवा उसके रिक्त स्थान की पूर्ति करने के लिए विवेक के तर्कशास्त्र का निर्माण करना चाहता था। द्वन्द्वात्मक पद्धति "विचार के नियमों' को विशेषकर तार्किक अन्तर्विरोध के नियम को जिस रूप में वह अरस्तू के बाद से समझा जाता रहा था, संशोधन करना था। यदि भावपरक दृष्टि से कहा जाए, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि तर्कशास्त्र का निर्माण इस सिद्धान्त के आधार पर होना चाहिए कि एक ही प्रस्थापना एक ही समय में सही भी हो सकती है और गलत भी। हीगल के बाद किसी भी दार्शनिक ने इस प्रस्थापना को पूरी गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया है।[1] इस तर्कशास्त्र की उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि क्या इसके उपयोग के लिए कोई निश्चित पद्धति है या नहीं। अन्यथा, इसकी

---

1 सामान्य रूप से हीगेल के दृष्टिकोण से अंग्रेजी में लिखी गई सब से महत्त्वपूर्ण रचना बर्नार्ड बोसांक्वे की *Logic or the Morphology of Thought* है। (१८८८ द्वितीय संस्करण १९११), व्हाइट हेड और रसेल के कृतित्व के फलस्वरूप जिस आधुनिक तर्कशास्त्र का विकास हुआ है, वह हीगेल की शब्दावली में बोध का तर्कशास्त्र कहा जा सकता है। इसका ऐतिहासिक सम्बन्ध लीबनिज और ह्यूम से है, हीगेल से नहीं।

स्वीकृति अथवा अस्वीकृति आत्मपरक है। इतिहासकार तथा अन्य समाजवैज्ञानिक इस धारणा का सामना करने के लिए तैयार नहीं हैं कि उनके विषयों के लिए अन्य विज्ञानों द्वारा प्रयुक्त तर्कशास्त्र से भिन्न तर्कशास्त्र की आवश्यकता है। इस धारणा को कभी-कभी दर्शन में स्वीकार किया गया है। वहां इसने स्पष्ट रूप से अबुद्धिवाद का रूप ग्रहण किया है। वहां इसका अभिप्राय यह रहा है कि सप्राण सत्ता तथा अविच्छिन्न सावयव वृद्धि को समझने के लिए विवेक से भिन्न किसी युक्ति (उदाहरण के लिए बर्गसा की "अन्तः-प्रेरणा") की जरूरत होती है। जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद में इस दृष्टिकोण का दुरुपयोग किया गया था। यह दृष्टिकोण पूरी तरह से आत्मपरक है। इसका अभिप्राय यह है कि सामाजिक समस्याओं में विवेकयुक्त अथवा वैज्ञानिक मानकों को लागू नहीं किया जा सकता। हीगेल के दर्शन की और बाद में मार्क्स द्वारा उसके संशोधित रूप की विशेषता यह थी कि जहां यह एक ओर तो पूर्ण रूप से विवेकयुक्त दर्शन था वहां यह दूसरी ओर तार्किक प्रस्थापनाओं के उस सिद्धान्त के अतिक्रमण की बात कहता था जिसके द्वारा तर्कशास्त्र प्रस्थापनाओं को ठीक-ठीक अर्थ देता रहा है। अन्त में, उसका वैज्ञानिक होने का दावा इस योजना की संदिग्ध व्यावहारिकता पर आधारित है।

जब हम हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति की परीक्षा करते हैं, तो इस सम्बन्ध में पहली बात यह है कि वह अत्यधिक अस्पष्ट है। हीगेल ने विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का, जिनकी परिभाषा करना कठिन है, बड़ी अस्पष्टता से प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए हम दो शब्दों 'विचार' और 'अन्तर्विरोध' को ले सकते हैं। हीगेल के अनुसार प्रत्येक प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तन—धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र, विधि अथवा राज-नीति का परिवर्तन—"विचार" में उन्नति के कारण होता है। यह प्रयोग संयोगवश ही नहीं किया गया था, प्रत्युत् उसकी तत्त्वमीमांसा और द्वन्द्वात्मक पद्धति के कारण आवश्यक था। उसका आदर्शवाद मस्तिष्क की प्रक्रिया को प्रकृति की प्रक्रिया के साथ समीकृत करने पर निर्भर था। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति इस बात पर निर्भर थी कि विचार के नियम को ऐसे समस्त विषयों के ऊपर लागू कर दिया जाए जिनमें प्रक्रिया एक अनि-वार्य विशेषता होती है। समस्त परिवर्तन विचार की प्रेरणा के फलस्वरूप होते हैं। उनका उद्देश्य अन्तर्निहित अन्तर्विरोधों का निवारण करना है जिससे कि सामरस्य अथवा तार्किक संगति के एक उच्चतर धरातल को प्राप्त कर लिया जाए। यदि इन शब्दों को ठीक ठीक अर्थ दिया जाए, तो फिर सिद्धान्त ठीक नहीं बैठता। विज्ञान अथवा दर्शन में जो भी नए-नए परिवर्तन होते हैं, उनका कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वे आरम्भिक सिद्धान्तों के अन्तर्विरोधों के कारण ही सम्भव हुए हैं। जब विज्ञान और दर्शन के बारे में ही यह बात है, तो अन्य कम बौद्धिक सामाजिक शास्त्रों के बारे में क्या कहा जा सकता है? न्यायमूर्ति होम्स ने विधि के बारे में कहा था कि उसमें विधि की अपेक्षा अनुभव का अधिक महत्त्व होता है। न्यायमूर्ति होम्स का यह कथन सामाजिक विकास की सभी शाखाओं के बारे में लागू होता है। हीगेल ने विचार को सार्वभौम रूप देने की जो कोशिश की, उसका उसकी शैली के इतिहास-लेखन पर दो तरह से असर पड़ा—या तो असंगत

तथ्यों को मनमाने ढंग से तर्कसम्मत माना गया या सामरस्य या सुसंगति जैसे शब्दों को ऐसा अस्पष्ट अर्थ दिया गया कि उनका कोई उपयोग ही नहीं रहा। इसी प्रकार, हेगेल द्वारा प्रयुक्त 'अन्तर्विरोध' शब्द का कोई सटीक अर्थ नहीं था। हीगेल ने उसका बड़े अस्पष्ट रीति से विरोध अथवा वैपरीत्य के अर्थ में प्रयोग किया था। कभी-कभी इसका अर्थ ऐसी भौतिक शक्तियां होता था, जो विरोधी दिशाओं अथवा कारणों की ओर सचालित होती हैं तथा जिनके फलस्वरूप विरोधी परिणाम सामने आते हैं। उदाहरण के लिए हम जीवन और मरण को ले सकते हैं। कभी-कभी विरोध का अभिप्राय नैतिक गुणावगुण होता था। उदाहरणार्थ, वह कहा करता था कि दण्ड अपराध को नकार देता है और बुराई परस्पर अन्तर्विरोधयुक्त होती है। वास्तविक व्यवहार में द्वन्द्वात्मक पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का मनमाने ढंग से प्रयोग किया गया था, वह किसी भी प्रकार से कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं थी। हीगेल के हाथों में पहुंच कर द्वन्द्वात्मक पद्धति ने कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले, जिन तक हीगेल उसके बिना भी पहुंच गया था। द्वन्द्वात्मक पद्धति ने उनका कोई प्रमाण नहीं दिया था।

द्वन्द्वात्मक पद्धति का विशेष गुण यह माना जाता था कि वह ऐतिहासिक विकास की "आवश्यकताओं" को स्पष्ट कर सकती है। लेकिन, "आवश्यकता" का विचार उतना ही अस्पष्ट बना रहा जितना कि ह्यूम ने उसे प्रमाणित कर दिया था। वह इतिहास में कार्य-कारण सम्बन्ध का निर्देश कर सकता है। इस अर्थ में सारी घटनाएं आवश्यक समझी जा सकती हैं। जब हीगेल ने यह कहा था कि "वास्तविक ही विवेकयुक्त है," तब उसका यह अभिप्राय नहीं था। हीगेल वास्तविक तथा जिसका अस्तित्व है, उसके बीच भेद करता था।[1] "वास्तविक" इतिहास का सारभूत तत्व है। इसकी तुलना में विविध घटनाएं आकस्मिक, अस्थायी अथवा आभासी होती हैं। फलतः, द्वन्द्वात्मक पद्धति मूल रूप से एक प्रवरणात्मक प्रक्रिया थी। वह इस बात की छानबीन करती थी कि सारे रूप से कौन सी चीज आकस्मिक और महत्वहीन है तथा कौन सी चीज आगे चल कर महत्त्वपूर्ण तथा वास्तव प्रमाणित होगी। जिसका अस्तित्व है, वह सदैव अस्थिर और काफी हद तक आकस्मिक है। वह गहराई में पड़ी हुई शक्तियों का—जो वास्तविक हैं—सतही प्रदर्शन मात्र है। लेकिन महत्वपूर्ण तथा आकस्मिक के भेद का आधार पुनः अस्पष्ट था। इसका अर्थ सिर्फ यह हो सकता था कि ऐतिहासिक परिणाम प्राप्त करने में कुछ घटनाओं का अन्य घटनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व होता है। अथवा इसका अर्थ यह हो सकता था कि कोई परिणाम इसलिए सामने आता है क्योंकि, वह महत्त्वपूर्ण होता है। दूसरे शब्दों में उसका मूल्य एक प्रभावशाली कारण के रूप में कार्य करता है। हीगेल ने न्याय और शक्ति को समीकृत करके इन दोनों अर्थों को मि

1 उसने वास्तविकता के लिए जर्मन शब्द *Wirklichkeit* और अस्तित्व के लिए *Dasein* का प्रयोग किया है और इन्हें एक दूसरे से भिन्न माना है।

दिया था। इसे तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से उचित ठहराया जा सकता था क्योंकि उसने प्रकृति के आधार पर एक ऐसे संविधान की कल्पना की थी जो न्याय को सब से अधिक शक्ति देता है। लेकिन, व्यवहार में इसका अभिप्राय यह था कि वह शक्ति को न्याय की कसौटी मानता था। इस प्रकार, उसने इतिहास में जिस आवश्यकता का दर्शन किया था, वह भौतिक विवशता भी थी और नैतिक भी। जब उसने यह कहा कि जर्मनी के लिए राज्य बनना आवश्यक है, तब उसका अभिप्राय यह था कि उसे ऐसा करना चाहिए, सभ्यता और उसके राष्ट्रीय जीवन दोनों के उच्चतम हित की दृष्टि से ऐसा परिणाम अपेक्षित है और कुछ ऐसी आकस्मिक शक्तियां भी हैं, जो उस इस दिशा में प्रेरित कर रही हैं। इसलिए, *द्वन्द्वात्मक पद्धति में एक नैतिक निर्णय भी सम्मिलित है और ऐतिहासिक विकास का एक आकस्मिक नियम भी।* जर्मनी के लिए एक राज्य बनना आवश्यक है, इसलिए नहीं कि जर्मन ऐसा चाहते हैं और इसलिए भी नहीं कि वह उनकी इच्छा के बावजूद ऐसा बन जाएगा। आवश्यक एक संकल्प को भी व्यक्त करता है और एक तथ्य को भी। वह एक दृढ़ इच्छा को व्यक्त करता है क्योंकि जर्मनी का एक राज्य के रूप में विकास राजनीतिक विकास की सम्पूर्ण दिशा के अनुकूल है। वह एक ऐसा तथ्य है जो एक आकस्मिक घटना से अधिक है क्योंकि वह इस विकास के सब से मूल्यवान् तत्त्व का संक्षिप्त रूप से व्यक्त करता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति का विशिष्ट दावा यह था कि वह बुद्धि तथा इच्छा को एक कर देती है। जोशिया रोयेस के शब्दों में, वह "आवेग का तर्कशास्त्र," विज्ञान तथा काव्य का समन्वय है। वास्तव में द्वन्द्वात्मक पद्धति को तर्कशास्त्र की अपेक्षा नीतिशास्त्र के रूप में समझना अधिक आसान था। द्वन्द्वात्मक पद्धति में स्पष्ट उपदेश की भावना नहीं थी। वह एक सूक्ष्म और बारंबार नैतिक अपील के रूप में थी। नैतिक चमत्कार का वह भाव जो हीगेल समस्त कारगर मानवी क्रिया के रूप में देखता था, निष्क्रिय भी था और सक्रिय भी। वह त्याग भी है और सहयोग भी। वह निष्फलता और शक्तिहीनता के उस असह्य भाव को दूर करता है जिसका शिकार कभी-कभी एकाकी आत्म-चेतना को होना पड़ता है। इसका कारण यह है कि वह केवल एक भावना नहीं है बल्कि वह एक उच्चतर शक्ति के साथ समीकरण है। हीगेल ने भावना और केवल शुभेच्छा की कठोर निंदा की है। उसने इन्हें कटुता से "अच्छे इरादों का पाखंड" कहा है। इसे वह सर्दैव कमजोर या धर्मान्धतापूर्ण और दोनों ही अवस्थाओं में निष्फल मानता था। हीगेल का दृढ़ मत था कि असगठित शुभेच्छा संसार में कुछ नहीं कर सकती। संसार में न्याय की अन्तिम कसौटी क्रियाशीलता है। भावना राष्ट्रों का निर्माण नहीं करती। राष्ट्रों का निर्माण राष्ट्रीय इच्छा से होता है। जब राष्ट्रीय इच्छा अपने को संस्थाओं और राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में व्यक्त करती है तभी राष्ट्र का जन्म होता है। जब कोई व्यक्ति राष्ट्रीय कार्य को एक नैतिक लक्ष्य के रूप में स्वीकार करता है और वह इसके आधार पर उठने वाले समस्त आवश्यक कर्तव्यों का पालन करता है तब उसकी रचनात्मक शक्तियां प्रस्फुटित हो जाती हैं और वह वास्तव में एक स्वतन्त्र नैतिक व्यक्ति बन जाता है। लूथर और कांट के विचार से व्यक्ति में कर्तव्य का भाव

उसके ईश्वर के साथ सम्बन्ध के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। लेकिन हीगेल के विचार से व्यक्ति में कर्त्तव्य बोध का श्रेय उसकी राष्ट्र की सदस्यता को है। हीगेल के दर्शन में राष्ट्र स्वयं एक दैवी तत्त्व है और उसमें पवित्रता का भाव होता है। एक नैतिक अपील के रूप मे यह विचार चाहे कितना ही कारगर क्यों न हो यह कांट के इस मूल सिद्धान्त को निराकृत नहीं करता कि नैतिक दायित्व और कारण तर्क की दृष्टि से भिन्न होते हैं।

द्वन्द्वात्मक पद्धति ने कर्त्तव्य की खुद कुछ विचित्र व्याख्या की थी। वाद और प्रतिवाद प्रतिकूल हितो और मूल्यो को प्रगट करते हैं। वे एक दूसरे के बिल्कुल विरोध मे होते हैं। उनके बीच संघर्ष और विरोध का रिश्ता होता है। अन्तर्विरोध संश्लेषण के रूप में तभी विकसित हो सकते हैं जबकि वाद और प्रतिवाद दोनो का चरम विकास हो जाए। संशोधन और समझौते निश्चित रूप से होते हैं। वे विचार के विकास के साथ ही साथ सामने आते हैं। लेकिन, यदि मनुष्य उनकी पहले से कल्पना कर ले और उनके लिए प्रयत्न करे तो यह उसकी भावात्मक कमजोरी है और अस्थिरता है। यह निरपेक्ष की महिमा के विरोध में एक प्रकार का राजद्रोह है। इसके फलस्वरूप समाज को ऐसे मानवी सम्बन्धो के एक समुदाय के रूप मे नही जिनमे संशोधन और समन्वय स्थापित किया जाए, प्रत्युत् ऐसी विरोधी शक्तियो के एक संगम के रूप में प्रकट किया गया जो खुद ही एक अपरिहार्य परिणति की ओर पहुंच जाती हैं। द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर सम्प्रेषण बहुत कठिन हो जाता है क्योंकि कोई भी प्रस्थापना न तो पूरी तरह से सही होती है और न गलत। उसका अर्थ जितना मालूम पड़ता है, उससे सदैव ही अधिक अथवा कम ही होता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति का एक विशेष दावा यह था कि वह सापेक्षवाद को निरपेक्षवाद के साथ संयुक्त करती है। प्रत्येक अवस्था मे निरपेक्ष का सम्पूर्ण बोझ और बल रहता है यद्यपि अन्त में वह केवल अल्पकालिक ही प्रमाणित होता है। जब तक वह चलता है, तब तक वह निरपेक्ष रहता है यद्यपि अन्त मे विश्वात्मा के विकास में उसकी पराजय हो जाती है। इस प्रकार, द्वन्द्वात्मक पद्धति मे एक ऐसा नैतिक दृष्टिकोण निहित था जो बिल्कुल कठोर भी है और बिल्कुल लचीला भी है। वह न्याय की केवल एक ही कसौटी प्रदान करता है और वह है सफलता। यही कारण है कि हीगेल के आलोचकों ने, उदाहरण के लिए नीत्शे ने कहा था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति "सफलताओं की सम्पूर्ण शृंखला का गौरवगान है।"

हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति मे ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि और यथार्थवाद, नैतिक अपील, स्वच्छन्द आदर्शीकरण और धार्मिक रहस्यवाद का पुट था। मन्तव्य की दृष्टि से वह विवेकसम्मत था और तार्किक पद्धति का विस्तार था, लेकिन इस मन्तव्य को ठीक से व्यक्त नहीं किया जा सकता था। व्यवहार मे उसने वास्तविक और आभासी, आवश्यक और आकस्मिक, स्थायी और अस्थायी शब्दों का मनमाने अर्थ में प्रयोग किया था। हीगेल के ऐतिहासिक निर्णय और नैतिक मूल्यांकन भी देश, काल और पात्र की परिस्थितियो से उतने ही प्रभावित थे जितने अन्य किसी दार्शनिक के होते। द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगेल के निष्कर्षों को कोई वस्तुपरक आधार नहीं दे सकी थी। इतने विभिन्न

तत्वों और प्रयोजनों को एक सांगोपांग दार्शनिक पद्धति का रूप देना असम्भव सा कार्य था। द्वन्द्वात्मक पद्धति की सिद्धि यह थी कि उसने ऐतिहासिक निर्णयों को एक तार्किक आधार प्रदान किया। यदि ये निर्णय सही हो, तो इन्हें व्यावहारिक साक्ष्य पर आधारित किया जा सकता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति ने नैतिक निर्णयो को भी तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित किया। नैतिक निर्णय नैतिक अन्तर्दृष्टि पर निर्भर होते हैं जो हरेक के लिए खुली होती है। इन दोनो को मिलाने की कोशिश मे द्वन्द्वात्मक पद्धति किसी के अर्थ को स्पष्ट न कर सकी बल्कि उसने दोनो के अर्थ को उलझा दिया।

व्यक्तिवाद तथा राज्य का सिद्धान्त

(Individualism and the Theory of the State)

फिलॉसफी ऑफ राइट ग्रन्थ का महत्व उसकी युक्ति के औपचारिक गठन पर आधारित नही था। उसका वास्तविक महत्व राजनीतिक वास्तविकताओ के निर्देश पर निर्भर था। यह निर्देश औपचारिकता के कारण कभी-कभी बिल्कुल प्रच्छन्न होता था। इसमे मुख्यत मूल महत्व के दो विषयो—मनुष्य तथा सामाजिक और आर्थिक सस्थाओं के सम्बन्ध और इन सस्थाओ तथा राज्य के सम्बन्ध पर विचार किया गया था। हीगेल राज्य को समस्त सस्थाओ मे अनुपम मानता था। इस अध्याय के शेष भाग मे हम इन सम्बन्धो के बारे मे उसके सिद्धान्तो पर विचार करेंगे। उसके सिद्धान्तो पर विचार करने से पहले हम यह बात स्पष्ट कर दें कि यद्यपि हीगेल का दृष्टिकोण फ्रासीसी और आग्ल राजनीतिक दर्शन का विरोधी था, फिर भी उसके पीछे कुछ विशिष्ट युक्तिया थी और इस दृष्टिकोण का राजनीति-दर्शन के क्षेत्र मे आगमन सामयिक तथा महत्वपूर्ण था। फिलॉसफी ऑफ राइट मे विचार के वही गुण मौजूद थे जो हीगेल की आरम्भिक रचनाओ मे पाए जाते हैं—राजनीतिक दर्शन पर पूर्ण अधिकार और राजनीतिक इतिहास का यथार्थपरक बोध। सीमित अर्थ मे उसका प्रयोजन यह कहा जा सकता है कि वह सांविधानिक इतिहास के द्वारा राजनीतिक सिद्धान्त की परीक्षा करना चाहता था। विचाराधीन दर्शन व्यक्ति के अविच्छेद्य अधिकारों का सिद्धान्त—जिस रूप मे फ्रांस की क्रांति ने इस सिद्धान्त का उद्घाटन किया था—था। हीगेल ने क्रांति का मूल्यांकन एक विशिष्ट दृष्टिकोण से किया। यह दृष्टिकोण जर्मन दृष्टिकोण था और जर्मनों के राजनीतिक अनुभव को प्रकट करता था। प्राकृतिक अधिकारों के दर्शन का निरूपण कुछ इस ढग से किया गया था कि वह फ्रांसीसियों और अंग्रेजो के राजनीतिक अनुभव के अनुकूल बैठता था। हीगेल द्वारा प्राकृतिक अधिकारो की अस्वीकृति और उसके द्वारा प्रतिपादित राज्य सिद्धान्त का निरूपण ऐसा था जो जर्मनों के राजनीतिक अनुभव के अनुकूल बैठता था। व्यापक अर्थ में हीगेल की आलोचना का मुख्य तत्व यह था कि उसमे व्यक्तिवाद का दार्शनिक विश्लेषण किया गया था और राज्य के सिद्धान्त के रूप मे उसकी वैधता

की परीक्षा की गई थी। सामाजिक दर्शन में जो भी मनोवैज्ञानिक और नैतिक समस्याएं आती है, हीगेल के दर्शन मे उन सब को परखने का प्रयास किया गया था। इस दृष्टि से हीगेल का दर्शन जर्मनी के बाहर जर्मनी के भीतर की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था। इसका कारण यह है कि यह उन ऐसी धारणाओ को सामने लाया जिनकी व्यक्तिवाद ने उपेक्षा की थी।

जर्मनी की राजनीति म ऐसी चीज बहुत कम थी जो जर्मनी को व्यक्तिगत अधिकारो के विचार के प्रति आकृष्ट करती। इस सिद्धान्त के रूप मे प्राकृतिक अधिकारो का दर्शन जर्मनो को अच्छी तरह ज्ञात था लेकिन उनके लिए वह बुद्धि-विलास की ही वस्तु था प्राय उसी तरह जैसे कि १८४८ मे जर्मन उदारवाद रहा था। फ्रास और इगलैण्ड मे इस सिद्धान्त का निर्माण अल्पसख्यक वर्गों के इस दावे के आधार पर हुआ था कि बहुमत के विरोध मे—इस बहुमत के पास केन्द्रीय और राष्ट्रीय शासन की शक्ति होती है—उन्हें भी धार्मिक सहिष्णुता प्राप्त होनी चाहिए। इसके विपरीत जर्मनी एक ऐसा देश था जिसमे धार्मिक मतभेद राजनीतिक सीमाओ के साथ-साथ चल सकते थे। फ्रास और इगलैण्ड मे प्राकृतिक अधिकारो का सहारा लेकर राजतन्त्र के विरोध म राष्ट्रीय क्राति का समर्थन किया गया था, लेकिन जर्मनी मे कोई क्राति नही हुई थी। जर्मनो को इस बात की कभी जरूरत नहीं मालूम पडी थी कि वे राज्य के विरोध म निजी निर्णय और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना पर जोर देते। इसे वे राष्ट्र के लिए कोई विशेष हितकारी चीज नही समझते थे। इगलैण्ड मे निर्हस्तक्षेप की नीति के अधीन वाणिज्य तथा उद्योग का अपूर्व विस्तार हुआ था। वहा व्यक्तिगत अधिकारो के सिद्धान्त ने इस विस्तार को दार्शनिक समर्थन प्रदान किया। इसके विपरीत जर्मनी मे हीगेल के समय मे और उसके बाद भी राष्ट्रीय भावना की वह एकता स्थापित नही हो सकी थी जो फ्रास और इगलैण्ड मे अरसे से रही थी। जर्मनी म अपूर्ण रूप से आत्मसात् अल्प-सख्यको के प्रति प्रातीयता की विरोध की भावना बहुत अधिक थी। इगलैण्ड और फ्रास की राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्थाओ की तुलना मे उसकी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था बहुत ही पिछडी हुई थी। हीगेल के समय मे जर्मनी की सरकारो ने नैपोलियन के आक्रमण के सम्मुख पूरी तरह से अपनी सैनिक और राजनीतिक शक्ति-हीनता प्रमाणित कर दी थी। हीगेल की मृत्यु के एक पीढी पश्चात् जर्मनी ने राष्ट्रीय एकता प्राप्त की। उसकी यह राष्ट्रीय एकता उसके सास्कृतिक राष्ट्रवाद के अनुकूल थी। हीगेल ने यह ठीक ही कहा था कि जर्मनी मे यह एकता फ्रास और इगलैण्ड के उदारवाद के ढग पर स्थापित नही होगी। उसका शासन सघात्मक होगा जो स्थानीय इकाइयो के ऊपर सशक्त राज्य के आरोपण द्वारा स्थापित होगा। उसका मन्त्रिमडल राष्ट्रीय ससद् के प्रति नही, प्रत्युत् राजा के प्रति उत्तरदायी होगा। उसका आधुनिकीकरण और विस्तार निर्हस्तक्षेप की नीति के अनुसार नही प्रत्युत् शक्तिशाली राजनीतिक मार्गदर्शन के अधीन होगा। हीगेल के दर्शन ने 'राज्य' शब्द को बडा पवित्र बना दिया था। अंग्रेज

को यह बात थोथी भावुकता लग सकती थी, लेकिन यह जर्मनों के लिए एक वास्तविक और विघटनकारी राजनीतिक आकांक्षाओं को व्यक्त करती थी।

हीगेल के राज्य सिद्धान्त और फ्रांस तथा इंगलैण्ड के व्यक्तिवाद में जो अन्तर था, वह फ्रांसीसी क्रांति के मूल्यांकन के बारे में दोनों के दृष्टिभेद का अन्तर था। हीगेल भी इस अन्तर को इसी दृष्टि से देखता था। लेकिन, क्रांति के मूल्यांकन के बारे में यह जो अन्तर था, उसका मुख्य आधार सांविधानिक शासन के सम्पूर्ण विकास के स्थायी रूप से महत्वपूर्ण तत्वों की विभिन्न व्याख्याएं थीं। उदारवादी दृष्टिकोण से क्रांति फ्रांसीसी राजतन्त्र की उत्तरदायित्वहीन अथवा अधिनायकवादी शक्तियों के ऊपर मनुष्य के अधिकारों की विजय थी। क्रांति की स्थायी सफलताएं थीं—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, शासितों की सहमति से शासन, प्रजाजनों की नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए सांविधानिक मर्यादाएं, और अधिकारियों का राष्ट्रव्यापी निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायित्व। हीगेल के मत में इन कथित सफलताओं में से कुछ तो आनुषंगिक थीं और कुछ भ्रम थीं। उसका विचार था कि क्रांति की रचनात्मक सफलता यह होती कि उसके परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना होती। यह उस प्रक्रिया का सीधा क्रम होता जिसके अनुसार मध्ययुग में राजतन्त्र ने कुलीनों, नगरों, जमींदारों तथा अन्य सामन्ती संस्थाओं के ऊपर अपना नियन्त्रण जमा लिया था। क्रांति ने सामन्तवाद के मलवे को समाप्त किया। यह मलवा राजतन्त्र के उत्थान के साथ पुराना जरूर पड़ गया था, लेकिन नष्ट नहीं हुआ था। हीगेल जैकोबिन सिद्धान्त को क्रांति का बुद्धि का भ्रम मानता था। हीगेल ने जैसा अपने निबन्ध कान्स्टीट्यूशन ऑफ जर्मनी में किया था, वैसे ही वह सामन्ती राज्य तथा आधुनिक राज्य का अन्तर सार्वजनिक विधि तथा निजी विधि के भेद की शब्दावली में समझता रहा। वह सामन्तवाद को एक ऐसी विशिष्ट व्यवस्था मानता था जिसमें सार्वजनिक पदों को एक प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति माना जाता था और उन्हें बेचा तथा खरीदा जा सकता था। इसके विपरीत राज्य का निर्माण उस समय होता है जबकि एक सच्ची सार्वजनिक सत्ता की स्थापना होती है। यह सत्ता श्रेणी की दृष्टि से नागरिक समाज से ऊपर होती है, इसमें व्यक्तिगत हित निहित होते हैं और उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह राष्ट्र के ऐतिहासिक मिशन को पूरा कर सके। वस्तुतः, प्रक्रिया राजतन्त्र के राष्ट्रीयकरण की है। इसलिए, राजनीतिक विकास की पराकाष्ठा यह है कि राज्य का उत्थान हो और नागरिक राज्य को राजनीतिक विकास की राज्य से बढ़ कर अवस्था मानें। नैतिक दृष्टि से हीगेल का विचार था कि इससे व्यक्तिगत आत्मसिद्धि की एक अगली अवस्था प्राप्त होती है। इसका अभिप्राय एक ऐसा समाज होता है जिसमें आधुनिक मनुष्य स्वतन्त्रता को एक नई ऊंचाई प्राप्त करता है और जिसमें मनुष्य के रूप में उसके हितों तथा नागरिक के रूप में उसके हितों के बीच नया सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। राष्ट्रीय राज्य विश्वात्मा की एक अभिनव अभिव्यक्ति होती है और उसका स्वरूप दैवी होता है। इतिहासकार रांके ने हीगेल के विचार को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है, 'राज्य व्यक्ति है। वे एक-दूसरे के

समान हैं, लेकिन फिर भी एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। वे आध्यात्मिक सत्ताएं हैं, मानव आत्मा भी मूल सृष्टि हैं उन्हें ईश्वर के विचार तक कहा जा सकता है।"

दूसरी ओर हीगेल ने क्रांति की निन्दा की। क्रांति के स्वतन्त्रता और समता के आदर्शों के बारे में उसका विचार था कि वे सामन्तवाद की पुरानी भ्रांति को एक नए रूप में कायम रखना चाहते हैं। उसने मनुष्य के सामाजिक बन्धनों सम्बन्धी भेदों का नष्ट कर दिया और उन्हें राजनीतिक समानता प्रदान की। इसके फलस्वरूप मनुष्य का और राज्य का सम्बन्ध केवल निजी रुचि का विषय रह गया। इसने समाज तथा राज्य दोनों की संस्थाओं को उपयोगितापरक बना दिया। अब इन दोनों संस्थाओं का उद्देश केवल कुछ व्यक्तिगत आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों की पूर्ति करना था। ये प्रवृत्तियां व्यक्तिगत आवेशों की भांति अस्थिर और चंचल होती हैं। हीगेल का विचार था कि इन्हें नैतिक गरिमा प्राप्त करने के लिए इन व्यक्तिगत उद्देश्यों को सब से पहले तो नागरिक समाज की संस्थाओं में रखना चाहिए और उसके बाद कुछ अधिक ऊंचे धरातल पर राज्य की संस्थाओं में। इसलिए, क्रांति का दर्शन दो दृष्टियों से मूलतः झूठा था। वह यह नहीं समझ सका कि नागरिक का व्यक्तित्व एक सामाजिक सत्ता होता है। उसका नैतिक महत्त्व उसी समय सार्थक हो सकता है जबकि वह नागरिक समाज के जीवन में कुछ भाग ले। वह यह भी नहीं समझ सका कि नागरिक समाज की संस्थाएं राष्ट्र की आत्मा हैं। वे एक ऐसी सार्वजनिक सत्ता के रूप में मूर्तिमन्त होनी चाहिए जो राष्ट्र के नैतिक महत्त्व की गरिमा के अनुकूल हो। समाज अथवा राज्य में से कोई भी केवल व्यक्तिगत सहमति पर आधारित नहीं माना जा सकता। मनुष्य की आत्मसिद्धि के लिए जिन नैतिक चीजों की जरूरत होती है वे उसकी पूर्ति करती हैं। मनुष्य की सब से बड़ी आवश्यकता यह है कि वह जीवन की विशाल प्रक्रिया में योग दे, वह उन कारणों और प्रयोजनों का एक अंग बने जो निजी आवश्यकताओं और तृप्तियों से वृहत्तर होते हैं। हीगेल के मत से क्रांति के दर्शन की मूलभूत त्रुटि उसका नाशपरक व्यक्तिवाद था। उसकी नीति-विषयक मूलभूत गलती यह थी कि उसने व्यक्तिवाद के आधार पर कागजी संविधानों और प्रक्रियाओं की रचना की।

व्यक्तिवाद तथा क्रांति की इस आलोचना का महत्त्व इस बात में था कि उसने न केवल जर्मनी के राजनीतिक अनुभव को व्यक्त किया बल्कि उन गम्भीर परिवर्तनों को भी वाणी दी जो यूरोप के राजनीतिक और बौद्धिक वातावरण में व्याप्त हो रहे थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी के दर्शन को नेतृत्व की स्थिति प्रदान करने वाला यही तत्त्व था। फ्रांस की क्रांति ने राजनीतिक युग के साथ ही साथ एक बौद्धिक युग को भी समाप्त कर दिया था। प्राकृतिक विधि का सिद्धान्त जो आधुनिक चिंतन के पहले के युग में राजनीतिक दर्शन पर छाया हुआ था, अत्यन्त अल्पकाल में तिरोहित हो गया। एक बौद्धिक सिद्धान्त के रूप में उसकी शक्ति दार्शनिक बुद्धिवाद की उन महान् व्यवस्थाओं पर निर्भर था जो सत्रहवीं शताब्दी से चली आ रही थीं लेकिन जिनका उन्नीसवीं शताब्दी में कोई महत्त्व नहीं रहा। रूसो ने फ्रांस में नागरिकता को उग्र रूप से आदर्श का पुट दि

ा और इंगलैण्ड में बर्क ने परम्परा को पुरातनपोषी आदर्श का रूप दिया था। इन तीनों विचारकों ने चिंतन की उन धाराओं का संकेत दे दिया था जिन्हें हीगेल ने व्यवस्थाबद्ध किया। एक ऐसे विवेकयुक्त प्राणी का भाव जो अपने सहज व्यक्तित्व के अनुरूप अपने स्वार्थ की पूर्ति में लगा हो, ऐतिहासिक या मनोवैज्ञानिक परीक्षा के आगे नहीं टिक सकता था। यह सिद्धान्त कि इस व्यक्ति के राजनीतिक और नागरिक अधिकार अकाट्य तथा अपरिवर्तनशील हैं, नए राष्ट्रवाद के साथ नहीं खप सकता था। नए राष्ट्रवाद ने अपने सामूहिक प्रयोजनों को अधिक महत्त्व दिया। इसके साथ ही नीतिशास्त्र की एक नई भावना का भी विकास हुआ जो व्यक्तिगत तथा सामाजिक मूल्यों के संबंधों के प्रति अधिक जागरूक थी। व्यक्ति का स्वरूप और समाज के साथ उसका सम्बन्ध क्या हो—व्यक्तिगत आवश्यकता का सामाजिक प्रयोजन के साथ किस प्रकार सामंजस्य बैठाया जाए—यह प्रश्न अब सामाजिक विज्ञान और सामाजिक नीतिशास्त्र की एक समस्या बन गया। इसके पहले यह समस्या कुछ सामाजिक सिद्धान्तों तक ही सीमित रही थी। हीगेल के राजनीतिक दर्शन का महत्त्व मुख्य रूप से इस बात में है कि उसने इस समस्या का व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। ऐसा करते समय उसने विकासशील राष्ट्रवाद की उदारता-विरोधी प्रवृत्तियों को निश्चित रूप दिया तथा तत्कालीन राजनीतिक उदारवाद के व्यक्तिवाद की पूर्ण रूप से पुनर्परीक्षा की। इस प्रकार, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, हीगेल के राजनीतिक दर्शन में दो मुख्य विषयों पर विचार किया गया था। इनमें से पहला विषय स्वतन्त्रता तथा सत्ता के साथ उसके सम्बन्ध का नैतिक सिद्धान्त था। यह स्थूल रूप से उसकी व्यक्तिवाद की मीमांसा से मेल खाता था। दूसरा विषय उसका राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त था। इसमें उसने राज्य की सांविधानिक रचना और नागरिक समाज की संस्थाओं के साथ उसके सम्बन्धों पर विचार किया था।

स्वतन्त्रता और सत्ता

(Freedom and Authority)

हीगेल ने व्यक्तिवाद की दो आधारों पर आलोचना की थी। सर्वप्रथम, उसने व्यक्तिवाद को उस प्रान्तवाद तथा संकीर्ण मनोवृत्ति से समीकृत किया था जिसने जर्मनी को आधुनिक राष्ट्रीय राज्यत्व प्राप्त करने से रोक रखा था। उसने इस राष्ट्रीय प्रवृत्ति के लिए लूथर के प्रभाव को उत्तरदायी ठहराया था। लूथर ने ईसाई स्वतन्त्रता की भावना को एक रहस्यात्मक रूप दे दिया था और उसे लौकिक दशाओं से निरपेक्ष ठहराया था। दूसरे, हीगेल ने व्यक्तिवाद को जैकोबिनवाद से समाकृत किया था। जैकोबिनवाद फ्रांस की क्रांति के आतंकवाद, नास्तिकता, बहशीपन और हिंसा का प्रतीक था। हीगेल इस तरह के व्यक्तिवाद को दार्शनिक बुद्धिवाद का परिणाम मानता था। उसके विचार से इन दोनों प्रकारों में समान भ्रांति यह थी कि उन्होंने मनुष्य को सगठित समाज से

अलग करके देखा था। उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि मनुष्य की समाज में एक स्थिति होती है, उसे अपने कुछ कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है और कुछ भूमिका निभानी पड़ती है। यदि हम व्यक्ति पर एकाकी दृष्टि से विचार करें तो वह एक पशु मात्र है। उसके एकमात्र नियम अपनी चंचल प्रवृत्तियां, स्वार्थ भावनाएं और मन की तरंगें हैं। यदि हमें व्यक्ति को ठीक तरह से समझना है तो हमें उसे समाज के एक सदस्य के रूप में देखना चाहिए। प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म के सहित राष्ट्रीय राज्य, आधुनिक सभ्यता की एक अनुपम सिद्धि है। उसने यह सीख लिया है कि उच्चतम सत्ता का नागरिकों की स्वतन्त्रता के उच्चतम प्रकार और रूप के साथ किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जाए।

"आधुनिक राज्य का तत्त्व यह है कि वह अंगों की सत्ता का अंग की स्वतन्त्रता के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। इसमें व्यक्तियों का कल्याण भी शामिल है"[1]

हीगेल की जर्मन संस्कृति में प्रगाढ़ आस्था थी। अपनी इसी आस्था के फलस्वरूप उसने राज्य के इस उच्चतम रूप को न केवल प्रोटेस्टेंट ही माना बल्कि विशिष्ट रूप से जर्मन भी माना।

अपने रहस्यात्मक और विवेकपरक रूप में व्यक्तिवाद व्यक्ति को एक आत्मा अथवा विवेकयुक्त सत्ता के रूप में चित्रित करता है। वह न तो उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की ओर ध्यान देता है जिन्होंने उसका निर्माण किया है और न उन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की चिंता करता है जिनके बिना उसकी धार्मिक, नैतिक और विवेकयुक्त प्रकृति अपने पैरों पर अपने आप खड़ी नहीं हो सकती। वह व्यक्ति के रूप को भी खत्म कर देता है और समाज के रूप का भी। वह व्यक्ति के रूप को इसलिए गलत करता है क्योंकि व्यक्ति की आध्यात्मिकता और विवेकसम्पन्नता सामाजिक जीवन की सृष्टि है। हीगेल ने उन्हें आध्यात्मिक सत्ता ही माना था, लेकिन इस अर्थ में नहीं जैसे कि धर्मशास्त्र अथवा विवेकवाद ने उनके बारे में कल्पना की थी। वे विश्वात्मा के चरण हैं जिसने उनका निर्माण किया है। व्यक्तिवाद सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप को भी गलत करता है क्योंकि वह उन्हें व्यक्तित्व के नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए केवल आकस्मिक और अनावश्यक मानता है। उसके विचार से यह केवल उपयोगितावादी साधन है जो मनुष्यों की विवेक विरोधी इच्छाओं की पूर्ति के लिए बनाया गया है। यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से गलत है क्योंकि भाषा, शासन, विधि और धर्म का आविष्कार नहीं होता बल्कि वे विकसित होते हैं। यह नैतिक दृष्टि से इसलिए भी गलत है क्योंकि यह स्वतन्त्रता का उन प्रतिबन्धों के विरोध में रखती है जो लोकाचार, विधि और शासन द्वारा आरोपित किए जाते हैं। व्यक्तिवादी इन प्रतिबन्धों को भार मानते हैं। स्वतन्त्रता की खातिर इन प्रतिबन्धों को कम से कम कर देना चाहिए। स्वर्णयुग अथवा प्राकृतिक

1 *Philosophy of Right*, Sect 260 addition

अवस्था में तो ये प्रतिबन्ध बिल्कुल नहीं रहने चाहिए। इस अवस्था में प्रत्येक मनुष्य अपना मनचाहा कार्य करने के लिए स्वतन्त्र होगा। लेकिन, ऐतिहासिक दृष्टि से स्वर्णयुग केवल एक कल्पना है। नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से वह सिर्फ अराजकता है। वह स्वतन्त्रता नहीं बल्कि निरंकुशता है।

प्राकृतिक अधिकारों और व्यक्तिवादी उदारवाद की यह आलोचना द्वन्द्वात्मक थी। हीगेल इस बात को अच्छी तरह समझता था कि लॉक ने या अन्य किसी गम्भीर सिद्धान्त प्रतिपादक ने सभ्यता को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी कभी नहीं माना था चाहे कोई समाज कितना ही दमनमूलक क्यों न रहा हो। हीगेल के विचार से इस आलोचना का मूल आधार लॉक के दर्शन का अन्तर्विरोध था। यदि हम किसी सामाजिक मनोविज्ञान अथवा सामाजिक नीतिशास्त्र के उपेक्षित पहलू की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं तो उसे ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है। हीगेल की आलोचना ने इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक गठन उस समाज की रचना से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है जिसमें वह रहता है और उसकी कोई स्थिति होती है। राष्ट्र की विधियाँ, संस्थाएँ, लोकाचार और नैतिक मूल्य उसकी मनोवृत्ति को प्रगट करते हैं। लेकिन वे अपने विकास के साथ-साथ उसको प्रभावित भी करते हैं। व्यक्ति का नैतिक और बौद्धिक दृष्टिकोण उस समाज के दृष्टिकोण से अभिन्न होता है जिसकी वह एक इकाई हो। उसके इस दृष्टिकोण पर नागरिकता सामाजिक वर्ग और धार्मिक सम्बन्ध का भी असर पड़ता है। नागरिक समाज का वर्णन करते समय हीगेल ने आर्थिक आवश्यकताओं को दैनिक आवश्यकताओं के समकक्ष नहीं माना। आवश्यकताएँ मस्तिष्क की अवस्थाएँ हैं। और इसलिए वे सामाजिक व्याख्या, आर्थिक पद्धति, सामाजिक वर्ग की स्वीकृत जीवन-पद्धति और नैतिक मूल्यों पर निर्भर होती हैं। यदि कोई व्यक्ति सामाजिक रूप से तिरस्कृत हो जाता है और उसका आत्म-सम्मान नहीं रहता तब वह भिखारी हो जाता है। गरीबी से कोई आदमी भिखारी नहीं बनता। भिखारीपन इस बात पर निर्भर है कि कोई गरीब व्यक्ति दूसरों की निगाह में कैसा है और वह खुद अपनी निगाह में कैसा है।

'इंगलैण्ड में गरीब से गरीब आदमी का यह विश्वास है कि उसका अधिकार होता है। उसके लिए यह मानदण्ड उस मानदण्ड से भिन्न है जो दूसरे देशों में गरीब को सन्तुष्ट करता है—सामाजिक दशाओं में आवश्यकता एक या दूसरे वर्ग के प्रति अन्याय का रूप धारण कर लेती है।'[1]

इस तरह के अवतरणों में मार्क्स के इस सिद्धान्त का बीज छिपा हुआ है कि विचारधारा सामाजिक स्थिति पर निर्भर होती है। हीगेल के तर्क ने सामाजिक स्थिति की आर्थिक व्याख्या का सुझाव दिया था, यद्यपि उसने पूरी तरह से आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की। तथापि, उसमें यह भाव जरूर था कि समाज अथवा संस्कृति मानव

1 *Philosophy of Right*, Sect 244, addition

सिद्धान्त तार्किक कल्पनाओं की एक क्रीड़ा मात्र बन कर रह जाता है। हीगेल ने व्यक्तिगत रुचि को चपलता, भावनात्मकता अथवा धर्मान्धता के साथ समीकृत किया था। इस तरह वह इस तथ्य को भूल गया कि कोई भी मनुष्य अपनी इच्छाओं को, चाहे वे इच्छाएं कितनी अस्थिर अथवा कितनी ही गम्भीर क्यों न हों, समान महत्त्व नहीं देता। ये इच्छाएं मनुष्य के व्यवहार पर एक-सा असर नहीं डालतीं। हीगेल ने जिस प्रकार मानवी प्रेरणाओं का यह मनमाना मूल्यांकन किया था, उसी भांति उसने मानवी समाज को भी यांत्रिक आवश्यकता का क्षेत्र, व्यक्तिगत इच्छा की अविवेकी शक्तियों का एक परिणाम मात्र माना था। यह समाज, विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में, मनुष्यों की गति के नियमों से संचालित होता है। इस प्रकार, हीगेल ने समाज को राज्य से पृथक् नैतिकता-निरपेक्ष, आकस्मिक धारणा से शासित और, इसलिए, नैतिक रूप से अराजकतावादी समझा। इसका परिणाम व्यंगचित्रण के द्वारा व्यक्तिवाद की आलोचना निकला। व्यक्ति को स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से नियमित माना गया और उसे सामाजिक प्रेरणाओं से वंचित ठहराया गया। राज्य से विहीन समाज को इन नीति-निरपेक्ष प्रेरक तत्त्वों का यांत्रिक सन्तुलन बताया गया। हीगेल का मत था कि राज्य नागरिक समाज की अराजकता का अन्त कर देता है और वह सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया में एकमात्र सच्चा नैतिक तत्त्व होता है। राज्य नैतिक प्रयोजनों की साक्षात् मूर्ति है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति अथवा समाज में नैतिक प्रयोजनों का सर्वथा अभाव रहता है। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि राज्य को निरपेक्ष होना चाहिए क्योंकि नैतिक मूल्य सिर्फ उसमें ही पाए जाते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति नैतिक 'गरिमा' और स्वतन्त्रता को केवल उसी समय प्राप्त करता है जबकि वह अपने को राज्य की सेवा में लगा देता है।

यदि हीगेल अपनी इस तर्कना को वास्तविक नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के ऊपर लागू करता तो पता नहीं क्या परिणाम निकलता। मूर्त राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में उसके वक्तव्य नितान्त अस्पष्ट थे। अकसर एक वक्तव्य दूसरे वक्तव्य का विरोधी होता था। हीगेल का मत था कि व्यक्ति की रुचि सदैव अस्थिर होती है। अपनी इसी धारणा के बल पर उसने बड़ी आसानी से यह निष्कर्ष निकाल लिया कि व्यक्तिगत निर्णय, चाहे वह समझ-बूझ कर किया गया हो, सतही चीज होता है। इस तरह के अवतरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह कर्तव्य को केवल आज्ञापालनमात्र समझता था। उसके लिए श्रेष्ठ नागरिकता का अभिप्राय वर्तमान स्थिति को स्वीकार करना अथवा शासन द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना था। फिलासफी आफ राइट की भूमिका में उसने राजनीतिक दर्शन को यह अधिकार भी नहीं दिया है कि वह राज्य की आलोचना कर सके। हीगेल का मूल सिद्धान्त यह था कि व्यक्तिगत हित के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति का समाज में उचित स्थान प्राप्त हो। इसी धारणा को लेकर वह अकसर ऐसी बातें किया करता था मानो व्यक्तियों तथा उसके समाज के बीच कभी कोई संघर्ष ही पैदा न होता हो। दूसरी ओर हीगेल का यह भी विचार था कि यदि कोई समाज अपने सदस्यों को उचित कार्य नहीं दे पाता तो एक तरह की

व्यक्तिगत निराशा पैदा होती है। हीगेल का सामाजिक दर्शन इस व्यक्तिगत निराशा के भाव पर भी आधारित था। यद्यपि हीगेल प्रशा के राजतन्त्र का प्रशंसक था, तथापि उसने जर्मन राजनीति की कठोर आलोचना की है। इतिहासकार के रूप में हीगेल कानफरमिस्ट का अपेक्षा सफल मूर्तिभंजक को अधिक पसन्द करता था। हीगेल का विश्वास था—उसने अपने इस विश्वास को कहीं स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया है—कि आधुनिक सांविधानिक शासन भूतकाल के किसी भी शासन की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिक आदर करता है और वह व्यक्ति के आत्म-निर्णय के अधिकार को अधिक महत्त्व देता है। इसका यह भी अभिप्राय हो जाता था कि मनुष्य के अधिकारों के प्रति आदर का भाव रक्खा जाए।

"मनुष्य को एक सार्वभौम प्राणी मानना चाहिए, इसलिए नहीं कि वह यहूदी, कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, जर्मन या इटालियन है बल्कि इसलिए कि वह मनुष्य है।"[1]

लेकिन, यह विश्वास कि मनुष्य का मनुष्य के नाते मूल्य है, इस विश्वास से असंगत है कि उसके नैतिक निर्णय केवल मन की तरंग हैं अथवा उसका महत्व समाज में उसकी स्थिति के कारण है और इस समाज का नैतिक साम्य राष्ट्रीय राज्य द्वारा प्राप्त किया जाता है।

इसी प्रकार का अनिश्चय और भ्रम हीगेल के इस विश्वास में निहित है कि राज्य उच्चतम नैतिक मूल्यों को व्यक्त करता है। हीगेल ने इस प्रश्न को आध्यात्मिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था। यह बात आध्यात्मिक आधार पर भी स्पष्ट नहीं है कि कोई एक राज्य जो विश्वात्मा की केवल एक अभिव्यक्ति है, कला और धर्म के समस्त मूल्यों को किस प्रकार व्यक्त कर सकता है अथवा इन मूल्यों के एक राष्ट्रीय संस्कृति से दूसरी राष्ट्रीय संस्कृति के लिए स्थानान्तरण की किस प्रकार व्याख्या कर सकता है। हीगेल के कला और धर्म के बारे में वक्तव्य बड़े असंगत थे। कभी-कभी वह उन्हें राष्ट्रीय अन्तरात्मा की सृष्टि मानता था। फिर भी, वह ईसाई धर्म को किसी एक राष्ट्र का एकाधिकार नहीं समझता था। न उसका यही विश्वास था कि कला और साहित्य सदैव राष्ट्रीय ही होते हैं। दूसरी ओर उसके दृष्टिकोण से कोई ऐसा सामान्य यूरोपीय या मानव समाज भी नहीं था जिससे उनका सम्बन्ध हो सकता था क्योंकि राज्य के बिना आधुनिक संस्कृति परस्पर विरोधाक्रांत है। इस भ्रम का कारण शायद यह मालूम पड़ता है कि विशुद्ध राजनीतिक धरातल पर हीगेल के पास राज्य और चर्च के सम्बन्धों के बारे में अथवा अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता के बारे में कहने के लिए कोई खास बात नहीं थी। हाँ, यह अवश्य है कि हीगेल का धार्मिक कट्टरपंथ में विश्वास नहीं था। हीगेल ने रोमन कैथोलिक धर्म और जर्मनी के धार्मिक पवित्रता आन्दोलन की कठोर आलोचना की है और लूथर के प्रोटेस्टेंट धर्म की

---

1 *Philosophy of Right*, Sect 209, note

सराहना की है। उसकी इस आलोचना और सराहना में सन्तुलित दृष्टि का अभाव है। हीगेल ने एक ओर तो राज्य को जो आध्यात्मिक सर्वोच्चता प्रदान की है, तथा दूसरी ओर वास्तविक सरकार को जो राजनीतिक कार्य प्रदान किए हैं, उनमें किसी प्रकार का उचित तारतम्य नहीं मालूम पड़ता। फलतः, हीगेल के स्वतन्त्रता सिद्धान्त में किसी भी प्रकार की नागरिक अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का भाव नहीं है। तथापि, राज्य के आदर्शीकरण और नागरिक समाज के निम्न नैतिक मूल्यांकन ने राजनीतिक अधिनायकवाद को अपरिहार्य कर दिया।

राज्य और नागरिक समाज

(The State and the Civil Society)

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं हीगेल का राज्य सिद्धान्त राज्य तथा नागरिक समाज के सम्बन्धों के विशिष्ट स्वरूप पर आधारित था। यह सम्बन्ध विरोध का भी है और पारस्परिक निर्भरता का भी। हीगेल के विचार से राज्य कोई ऐसी उपयोगितावादी संस्था नहीं है जो सार्वजनिक सेवाओं, विधि के प्रशासन पुलिस कर्तव्यों के पालन और औद्योगिक तथा आर्थिक हितों के सामंजस्य में लगी हो। ये सारे कार्य नागरिक समाज के हैं। राज्य आवश्यकतानुसार उनका निर्देशन और विनियमन कर सकता है। लेकिन वह खुद इन कार्यों को नहीं करता। नागरिक समाज बुद्धिमत्तापूर्ण पर्यवेक्षण और नैतिक महत्व के लिए राज्य के ऊपर निर्भर रहता है। यदि हम समाज पर पृथक् रूप से विचार करें, तो ज्ञात होगा कि समाज उन कुछ यान्त्रिक नियमों द्वारा शासित होता है जो बहुत से व्यक्तियों के अर्जनशील और स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होते हैं। लेकिन, राज्य अपने नैतिक प्रयोजनों की पूर्ति के साधनों के लिए नागरिक समाज पर निर्भर रहता है। यद्यपि नागरिक समाज और राज्य दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं, फिर भी वे एक-दूसरे से अलग-अलग हैं। राज्य साधन नहीं है, बल्कि साध्य है। वह विकास में विवेकयुक्त आदर्श का और सभ्यता में आध्यात्मिक तत्व को प्रकट करता है। इस दृष्टि से वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नागरिक समाज का प्रयोग करता है या एक विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ में उसका निर्माण करता है।

"राज्य वर्तमान चेतना के रूप में एक दैवी इच्छा है जो संगठित संसार के रूप में अपना उद्घाटन करती है।[1]

जहाँ नागरिक समाज में विवेकहीन प्रवृत्ति और आकस्मिक आवश्यकता की प्रधानता रहती है, राज्य "कुछ ऐसे मान्य साध्यों, ज्ञात सिद्धान्तों और नियमों के अनुसार कार्य करता है जो उसकी चेतना के सामने पूर्ण रूप से स्पष्ट रहते हैं।" इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिए जा सकते हैं। राज्य पूर्ण रूप से विवेकयुक्त है, वह दैवी सत्ता है जो

---

1 *Philosophy of Right*, Sect 270, note

खुद जानती है और इच्छा करती है, वह चेतना की शाश्वत और आवश्यक सत्ता है यह संसार में ईश्वर की यात्रा है।

यहां यह कह देना आवश्यक है कि यदि हीगेल ने राज्य को नैतिक दृष्टि से इतना उच्च ठहराया था, तो इसका यह अभिप्राय नहीं था कि उसे नागरिक समाज अथवा उसकी संस्थाओं से घृणा थी। वस्तुस्थिति इससे उल्टी थी। हीगेल अपने व्यक्तिगत चरित्र और राजनीतिक चिंतन दोनों की दृष्टि से बुर्जुआ था। स्थिरता और सुरक्षा के प्रति उसके मन में बड़ा सम्मान था। उसका विचार था कि राज्य तथा नागरिक सत्ता के बीच पारस्परिक सम्बन्ध है। यह दूसरी बात है कि यह सम्बन्ध उच्च स्थिति और निम्न स्थिति का सम्बन्ध है और राज्य की सत्ता निरपेक्ष है। राज्य और उसका शासकीय विधान समाज के ऊपर निर्भर है। इससे समाज के आर्थिक जीवन का नैतिक महत्त्व बढ़ जाता है। यद्यपि राज्य की विनियामक शक्ति निरपेक्ष है, लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उन संस्थाओं अथवा अधिकारों को समाप्त कर दिया जाए, जिनके ऊपर आर्थिक कार्यों का सम्पादन निर्भर है। हीगेल के अनुसार सम्पत्ति का निर्माण राज्य अथवा समाज नहीं करता प्रत्युत् वह मानव व्यक्तित्व की अनिवार्य परिस्थिति है। हीगेल का यह विचार लॉक के विचार से मिलता है। हीगेल ने नागरिक समाज का जो विवरण दिया है, उसमें उसने गिल्डों और निगमों, एस्टेटों और वर्गों, संस्थाओं और स्थानीय समुदायों का विस्तार से वर्णन किया है। यह वर्णन उसके जर्मन समाज के व्यावहारिक अनुभव पर आधारित था। हीगेल इन संस्थाओं को या इनसे मिलती-जुलती कुछ अन्य संस्थाओं को मानवी दृष्टि से अत्यावश्यक समझता था। इन संस्थाओं के बिना लोग रूपविहीन भीड़ मात्र बन जायेंगे तथा व्यक्ति की स्थिति एक ऐटम की भांति होगी। इसका कारण यह है कि मनुष्य का व्यक्तित्व केवल आर्थिक तथा संस्थागत जीवन के सन्दर्भ में ही सार्थक होता है। इसलिए, हीगेल के दृष्टिकोण से राज्य का निर्माण मुख्यतः व्यक्तिगत नागरिकों से मिल कर नहीं होता। राज्य को विभिन्न निगमों और समुदायों का सदस्य होना चाहिए—इसके बाद ही वह राज्य की गौरवपूर्ण नागरिकता प्राप्त कर सकता है। जैकोबिनवाद शासन को जनता की इच्छा पर आधारित मानता है और जनता की यह इच्छा मताधिकार के माध्यम से व्यक्त होती है। व्यवहार में इस प्रकार का शासन एक प्रकार की भीड़शाही होता है। हीगेल का कथन था, "भीड़ यह नहीं जानती कि उसकी क्या इच्छा है"। उसका कार्य "बचकाना, विवेकरहित, हिंसक और उग्र होगा है।"[1]

यह ध्यान रखना चाहिए कि नागरिक समाज के इस दृष्टिकोण के अनेक पहलू थे। एक ओर तो उसे प्रतिक्रियावादी कहा जा सकता है। निश्चित रूप से यह एक ऐसे समाज का दृष्टिकोण था जो अभी तक वर्गबद्ध था, जिसमें अभी तक श्रेणी और पद के प्रति अगाध आदर था और जिसने अभी तक उद्योगीकरण के समतावादी प्रभावों

1. *Philosophy of Right*, sect. 301 ; note ; 303, note.

का अनुभव नहीं किया था। यह समान नागरिकता की भावना को जो इंग्लैण्ड और फ्रांस की राजनीति के अनुसार स्वतन्त्र शासन की आवश्यक शर्त हो गई थी, बिल्कुल महत्त्व नहीं देता था और यदि देता भी था तो बहुत कम। लेकिन, हीगेल का नागरिक समाज विषयक दृष्टिकोण केवल प्रतिक्रियावादी ही नहीं था। वह उपयोगितावादी अर्थशास्त्रियों के इस भ्रम को स्वीकार नहीं करता था कि निहस्तक्षेप नीति प्रकृति की अपरिवर्तनशील व्यवस्था का एक भाग है। उसने इसे मार्क्स के ढंग पर सामाजिक विकास की एक विशिष्ट अवस्था बताया। हीगेल का दृष्टिकोण राष्ट्रवाद की भावना के अनुसार था। हीगेल के मत से राज्य को उद्योग और वाणिज्य का विकास करना चाहिए तथा राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाना चाहिए। यह स्वीकार करने योग्य है कि हीगेल ने फ्रांस के जैकोबिनवाद की जो आलोचना की थी वह काफी ठीक थी। जैकोबिनवाद ने स्वतन्त्रता के नाम पर सामाजिक सगठन के अनेक रूपों को जो बहुत उपयोगी थे, बुरी तरह से नष्ट कर दिया था। इनमें से अनेक सामाजिक संस्थाओं को उदारवाद के हित में ही पुनः प्रतिष्ठित करने की जरूरत हुई।[1] सामान्य रूप से हीगेल के नागरिक समाज सम्बन्धी दृष्टिकोण में एक सिद्धान्त निहित था जब व्यक्ति को केवल एक नागरिक समझा जाता है तब राज्य मानव साहचर्य के समस्त रूपों को अपने में समेटने की कोशिश करता है। व्यवहार में यह स्वतन्त्रता नहीं, बल्कि निरंकुशता है। राजनीतिक अधिकारवाद के सभी रूप इस बात को सिद्ध करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में राजनीतिक बहुवादियों ने जिस तरह के तर्क दिए थे, वे हीगेल के नागरिक समाज सम्बन्धी सिद्धान्त पर काफी हद तक आधारित हो सकते थे। मार्क्स ने राजनीति में जिन आर्थिक शक्तियों को महत्त्व दिया था, हीगेल के चिंतन में उनके बीज भी दिखाई देते हैं यद्यपि मार्क्स ने हीगेल के राज्य के नष्ट होने की भविष्यवाणी की थी।

हीगेल ने नागरिक समाज का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया था और राज्य के साथ उसका जो सम्बन्ध बताया था, उसने ही उसके सांविधानिक शासन के स्वरूप का निर्धारण किया है। हीगेल के विचार से राज्य की शक्ति निरपेक्ष जरूर है लेकिन वह मनमानी नहीं है। उसकी निरपेक्षता उसकी उच्च नैतिक स्थिति को प्रगट करती है तथा यह बताती है कि राज्य समाज के समस्त नैतिक पक्षों पर एकाधिकार रखता है। तथापि, राज्य को अपनी नियामक शक्ति का विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। राज्य विवेक का प्रतीक है और विधि विवेकपूर्ण होती है। हीगेल के लिए इसका अभिप्राय यह था कि सार्वजनिक सत्ता के कार्यों के बारे में पहले से भविष्यवाणी की जा सकती है क्योंकि वे ज्ञात नियमों के अनुसार किए जाते हैं। नियम अधिकारियों की स्वविवेकी शक्तियों को मर्यादित करते हैं और अधिकारियों के कार्य पद की सत्ता को व्यक्त

---

1 मिल्टन आर० कोनविट्ज तथा आर्थर ई० मर्फी द्वारा सम्पादित *Essays in Political Theory* ग्रन्थ (१९४८) में आर० आर० पामर का लेख देखिए 'Man and Citizen Application of Individualism in the French Revolution" *pp* 130 ff

इकाइयों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को पिछली चौथाई शताब्दी में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। सम्भवतः, इसीलिए हीगेल इस सिद्धान्त के आधार पर प्रतिनिधिक शासन की किसी व्यावहारिक योजना का निर्माण नहीं कर सका। दूसरी ओर वह यह आवश्यक समझता था कि विधान मंडल में मन्त्रियों का राजकर्मचारी वर्ग का, जो नागरिक समाज का नियन्त्रण करता है, प्रतिनिधित्व करना चाहिए। लेकिन, मन्त्री विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी बिलकुल नहीं है। हीगेल के मत से विधानमंडल का कार्य यह होना चाहिए कि वह मन्त्रिमंडल को सलाह दे। मन्त्रिमंडल राजा के प्रति उत्तरदायी होता है। हीगेल के अनुसार राजा को कोई विशेष शक्ति प्राप्त नहीं है। उसे जो भी शक्ति प्राप्त है, राज्य के अध्यक्ष की अपनी वैधानिक स्थिति के कारण प्राप्त है।

"सुव्यवस्थित राजतन्त्र में विधि का वस्तुपरक पक्ष ही सामने आता है और इसके बारे में राजा अपनी यह आत्मपरक बात कह देता है—मैं सहमत हूँ"।[1]

हीगेल राष्ट्रीय भावना, राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय राज्य जैसे काल्पनिक तत्त्वों को राजनीति तथा इतिहास के मूल में वास्तविक शक्तियाँ समझता था। यहाँ इन काल्पनिक तत्त्वों का यथार्थ प्रयोग है।

हीगेलवाद का उत्तरकालीन महत्त्व

(The Later Significance of Hegelianism)

यद्यपि हीगेल के विचार बहुत अधिक जटिलताओं से युक्त हैं और उसके निष्कर्ष बहुत अधिक काल्पनिक हैं, फिर भी बहुत कम राजनीतिक सिद्धान्त ऐसे हुए हैं जिनका राजनीतिक यथार्थताओं से इतना घनिष्ट सम्बन्ध रहा हो। हीगेल की विचारधारा में नैपोलियन के युद्धों की समाप्ति के समय की जर्मनी की अवस्था का—फ्रांस के हाथों उसके कटु राष्ट्रीय अपमान का और जर्मन संस्कृति की महत्ता तथा एकता के अनुसार ही राष्ट्रीय एकता का निर्माण करने के लिए उसकी महत्त्वाकांक्षा का अच्छा चित्रण मिलता है। हीगेल के चिंतन ने इस बात को भी अच्छी तरह समझ लिया था कि यह महत्त्वाकांक्षा किस प्रकार कार्यरूप में परिणत होगी। उसने राज्य की संकल्पना को एक विशिष्ट अर्थ दिया और इस संकल्पना को कुछ ऐसी धारणाओं से भर दिया जो फ्रांस तथा इंगलैंड के राजनीतिक चिंतन में नहीं पायी जाती थीं लेकिन जिन्होंने इस संकल्पना को सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी के राजनीतिक और न्यायिक दर्शन का मुख्य सिद्धान्त बना

1. *Philosophy of Right*, sect. 280 addition

दिया। हीगेल ने राज्य की संकल्पना को द्वन्द्वात्मक पद्धति की जिन जटिलताओं से युक्त कर दिया था, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में राज्य उन दार्शनिक जटिलताओं से तो मुक्त हो गया, लेकिन उसने अपनी मुख्य विशेषताओं को पारिभाषिक रूप के बिना ही कायम रक्खा। हीगेल का दर्शन एक प्रकार से शक्ति के आदर्शीकरण का दर्शन था। इसमें शक्ति से पृथक् अन्य किसी भी आदर्श के प्रति एक प्रकार की अवज्ञा का भाव था। इसमें शक्ति के आदर्श को एक प्रकार का नैतिक और न्यायपूर्ण आदर्श माना गया था। उसने राष्ट्र को एक ऐसे आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियंत्रण से परे था और जिसकी नैतिक दृष्टि से भी आलोचना नहीं हो सकती थी। राजनीतिक निष्कर्षों की दृष्टि से हीगेल का राज्य-सिद्धान्त उदारताविरोधी था। उसमें राजतन्त्र के सत्तावाद को उदात्त रूप दे दिया गया था। इसमें राष्ट्रवाद ने राजवंशीय और सत्ता का रूप धारण कर लिया था। लेकिन, वह संविधान-विरोधी नहीं था। उसने संविधानवाद के बारे में एक ऐसे ढंग से विचार किया था जो उन देशों के ढंग से भिन्न था जहां उदारवाद तथा संविधानवाद एक ही राजनीतिक आन्दोलन के पहलू थे। इसका अर्थ था "मनुष्यों का नहीं, बल्कि विधियों का शासन"। हीगेल के संविधानवाद में सुव्यवस्थित नौकरशाही शासन का भाव निहित था, लोकतन्त्रात्मक प्रक्रियाओं का नहीं। उसने देह तथा सम्पत्ति की रक्षा का आश्वासन दिया था। उसने इस बात पर भी जोर दिया था कि शासन को लोक-कल्याण की व्यवस्था करनी चाहिए। लेकिन, इस बात के लिए यह आवश्यक नहीं है कि शासन लोकमत के प्रति उत्तरदायी हो। यह कार्य एक ऐसा राजकर्मचारी-वर्ग कर सकता है जो सार्वजनिक भावना से अनुप्राणित हो और जो आर्थिक तथा सामाजिक हितों के संघर्ष से ऊपर हो। व्यवहार में इसका अर्थ यह था कि राजनीति को ऐसे लोगों के हाथों में छोड़ दिया जाए जो वंश तथा व्यवसाय के द्वारा शासन करने के योग्य हैं। यह प्रयत्न एक ऐसे समाज में समझ में आ सकता था जिसमें राजनीतिक एकता के निर्माण और राजनीतिक शक्ति के विस्तार की चिंता ने राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना को ग्रस्त कर रक्खा था। हीगेल का दर्शन इन समस्त बातों में जर्मनी के द्वितीय साम्राज्य की अवस्था का आश्चर्यजनक रूप से यथातथ्य चित्रण था।

यदि हम हीगेल के राजनीतिक दर्शन पर अकेले जर्मनी के सन्दर्भ में ही विचार करते हैं, तो उसके महत्त्व का पूरी तरह से प्रतिपादन नहीं हो पाता। हीगेल का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था और उसके दर्शन में न केवल आधुनिक चिंतन पूरी तरह व्याप्त था, बल्कि वह आधुनिक चिंतन का समाकलन भी था और संसिद्धि भी। इस दृष्टि से उसका मुख्य विचार सार्वभौम इतिहास का विचार था। यह एकता स्थापित करने वाला विचार था और हीगेल ने उसका निरूपण इस तरह से किया था कि वह उस स्थान को ग्रहण कर सके जो सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को प्राप्त था। इसमें हीगेल ने रूसो द्वारा असम्बद्ध रीति से प्रतिपादित सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को—यह सिद्धान्त राष्ट्रों में अन्तर्निहित है, लेकिन उस अधिक व्यापक आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति है जो स्वयं वास्तविकता का मूलतत्त्व है—और बर्क द्वारा प्रति-

पादित इतिहास के धार्मिक दृष्टिकोण को जिसके अनुसार इतिहास "दैवी चमत्कार" है सयुक्त किया। इन अस्पष्ट कल्पनाओं को हीगेल ने तर्कशास्त्र की निश्चितता और यथार्थता प्रदान करने की कोशिश की। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति के रूप में वैज्ञानिक खोज का एक ऐसा उपकरण तैयार करने की कोशिश की जो "ससार में ईश्वर की यात्रा" को प्रमाणित कर सके। उसने अपरिवर्तनशील प्राकृतिक विधि की व्यवस्था के स्थान पर इतिहास में निरपेक्ष के विवेकयुक्त उद्घाटन को प्रतिष्ठित किया।

हीगेल के चिंतन को स्वच्छन्द कल्पना कह कर तिरस्कृत कर देना बहुत आसान है। तथापि वह एक ऐसा बीज था जिसने आगे चल कर उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक दर्शन के प्रत्येक पहलू पर असर डाला, अच्छा भी और बुरा भी। महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि हीगेल की उन्मेषकारी सार्वभौम शक्ति जिसे उसने ज्ञानयुग के दार्शनिकों की भांति विवेक का नाम दिया है, व्यक्तियों में नहीं, प्रत्युत् सामाजिक समुदायों, राष्ट्रों, राष्ट्रीय संस्कृतियों और संस्थाओं में व्यक्त होती है। यदि हीगेल के 'विश्वात्मा' शब्द के स्थान पर 'उत्पादन की शक्तियां' शब्द रख दिए जायें, तब भी परिणाम एक-सा ही होगा। दोनों ही अवस्थाओं में समाज व्यक्तियों का समुदाय नहीं रहता, प्रत्युत् वह शक्तियों की एक व्यवस्था हो जाता है। उसका इतिहास उन संस्थाओं के विकास का इतिहास हो जाता है जो सामूहिक रूप से समुदाय की संस्थाएं होती हैं। ये शक्तियां और संस्थाएं अपने स्वरूप में निहित प्रवृत्तियों का अनुसरण करती हैं। विधि, आचारों, संविधानों, दर्शन और धर्मों का संस्थागत इतिहास सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन का एक प्रमुख और स्थायी भाग बन गया। इन सामाजिक शक्तियों के कार्य और विकास के लिए व्यक्ति के नैतिक निर्णय और व्यक्तिगत रुचियां बिल्कुल असम्बद्ध हो गईं क्योंकि समाज में वास्तविक एजेंट शक्तियां हैं जो अपने आप ही सार्थक हैं क्योंकि उनका मार्ग निश्चित होता है। इस तरह के विचार जिनमें एक साथ सचाई भी थी और अतिशयोक्ति भी, उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक दर्शन पर पूरी तरह से छा गए। उन्होंने राजनीति के अध्ययन को समृद्धि भी दी और दरिद्रता भी। जब विधिवाद तथा व्यक्तिवाद के स्थान पर संस्थाओं का ऐतिहासिक अध्ययन आरम्भ हुआ तथा शासन और मनोविज्ञान में निहित सामाजिक और आर्थिक तत्त्वों का अधिक ठोस अध्ययन होने लगा, तो राजनीति समृद्ध हुई तथा वह अधिक यथार्थपरक हो गई। लेकिन, इसके साथ ही राजनीति सामाजिक शक्तियों, राष्ट्रों की प्रतियोगिताओं और आर्थिक वर्गों के संघर्षों की 'प्रतिबिम्ब' मात्र रह गई और इस दृष्टि से उसकी स्वतन्त्र सत्ता तक खतरे में पड़ने लगी। इसका कारण यह था कि इस दृष्टिकोण के कारण मानवी सम्बन्धों में सुलह का क्षेत्र बहुत कम रह गया और यह तथ्य धुन्धला पड़ गया कि राजनीतिक संस्थाएं शक्ति का दावा करने वाली एजेंसियां नहीं, बल्कि सुलह करने वाली एजेंसियां हैं। उसने इस तथ्य को भी धुंधला कर दिया कि सुलह को और इसलिए राजनीतिक बुद्धिमत्ता की कला केवल शक्तियों की कौशलयुक्त गणना में व्यक्त नहीं की जा सकती। स्पष्ट है कि दृष्टिकोण के इस परिवर्तन के कारण राजनीति की उदारवादी संकल्पना नष्ट हो सकती थी।

हीगेल के दर्शन में ये सारी प्रवृत्तियाँ बीज रूप से विद्यमान थी यद्यपि उनका स्रोत अकेला हीगेल का ही दर्शन नहीं था। तथापि, इससे हमे उस सामाजिक और बौद्धिक परिवर्तन का आभास मिल जाता है जिसके ऊपर ये प्रवृत्तिया निर्भर थी।

हीगेल के चिंतन के आधार पर राजनीतिक सिद्धान्त मे जिन विविध प्रवृत्तियो का विकास हुआ, उनमें से तीन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। विकास की सीधी रेखा असंदिग्ध रूप से हीगेल से मार्क्स और बाद के साम्यवादी सिद्धान्त की थी। यहा द्वन्द्वात्मक पद्धति जोडने वाली कडी थी। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को हीगेल के दर्शन की युगान्तकारी खोज कहा था। मार्क्स हीगेल के राष्ट्रवाद और राज्य के आदर्शीकरण को केवल ऐसी "रहस्यात्मकता" मानता था जिसने द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपने आध्यात्मिक आदर्शवाद के कारण अनुप्राणित कर रक्खा था। मार्क्स का विचार था कि वह द्वन्द्वात्मक पद्धति को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का रूप देकर और उसके आधार पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या कर सामाजिक विकास की वैज्ञानिक रीति से व्याख्या कर सकता है। (राज्य से पृथक्) नागरिक समाज एक संगठन है, मार्क्स यह निष्कर्ष सीधे हीगेल से ग्रहण कर सकता था। दूसरे, आक्सफर्ड विश्वविद्यालय के आदर्शवादियो ने इंगलैण्ड के उदारवाद का जो संशोधन किया था, उसमे भी हीगेल का चिंतन एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा था। यहा द्वन्द्वात्मक पद्धति का कोई विशेष महत्त्व नही था। यहा हीगेल की जिज्ञासा और व्यक्तिवाद की आलोचना का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा था। उद्योगवाद की उन्नति ने इस प्रश्न को बडा आवश्यक कर दिया था। हीगेल के राजनीति सिद्धान्त का उदारवाद-विरोधी स्वर ब्रिटिश राजनीति की वास्तविकताओ से इतना दूर था कि उसकी ओर कोई ध्यान ही नही दिया गया। अन्त मे, इटली मे फासिज्म ने अपने आरम्भिक चरणो मे हीगेलवाद से दार्शनिक आधार ग्रहण किया। तथापि, फासिज्म ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही हीगेल के कुछ सिद्धान्तो को अपने अनुरूप ढाल लिया था।

Selected Bibliography

History of Political Thought in Germany from 1789 to 1815 By Reinhold Aris London 1936

The Philosophical Theory of the State By Bernard Bosanquet London, 1899 Chs IX X

Der Begriff des Volksgeistes bei Hegel By Friedrich Dittmann Leipzig, 1909

"The Growth of 'Historical Science" By G P Gooch In *The Cambridge Modern History* Vol XII (1910) Ch XXVI

The Decline of Liberalism as an Ideology By J H. Hallowell University of California Publications in Political Science Berkeley and Los Angeles, 1943

The Social and Political Ideas of some Representative Thinkers of the Age of Reaction and Reconstruction Edited by F J C Hearnshaw, London, 1932 Ch III

Hegel und der nationale Machtstaatsgedanke in Deutschland By Herman Heller Leipzig, 1921

The Metaphysical Theory of the State By L. T Hobhouse London 1918

Reason and Revolution Hegel and the Rise of Social Theory By Herbert Marcuse, New York, 1941

An Introduction to Hegel By G R G Mure, Oxford, 1940

Hegel und der Staat By Franz Rosenzweig 2 Vols Munich 1920

The Philosophy of Hegel By W T Stace, London 1924 Part IV second Division

Studies in the History of Political Philosophy C.E Vaughan 2 Vols Manchester 1925 Vol II Chs II IV

Hegels Gesellschafts begriff By Paul Vogel Berlin 1925

अध्याय २१

उदारवाद : दार्शनिक उग्रवाद

(Liberalism : Philosophical Radicalism)

रूसो और बर्क ने प्राकृतिक अधिकारो के दर्शन के विरोध मे प्रतिक्रिया आरम्भ की थी। हीगेल ने इस प्रतिक्रिया का पहली बार व्यवस्थित रूप से वर्णन किया। तथापि, इस प्रतिक्रिया ने व्यक्तिवाद का स्थान ग्रहण नहीं किया। व्यक्तिवाद सत्रहवी और अठारहवी शताब्दियों म राजनीतिक चिंतन का मुख्य उपादान बना रहा। इसके विपरीत प्राकृतिक अधिकारो के दर्शन ने उन्नीसवी शताब्दी म अपने व्यावहारिक परिणाम प्रकट किए। इसका इतिहास हीगेल द्वारा प्रतिपादित विरोधाभास का एक श्रेष्ठ उदाहरण था—किसी दर्शन का प्रयोग और विवरण की दृष्टि से पूरा विस्तार उस समय होता है जबकि उसके मुख्य सिद्धान्तो का स्वीकार कर लिया जाता है और फिर जिनके चिंतन मे आगे के लिए कोई गुजायश नही रहती। क्रान्तियुग के सिद्धान्तो का लॉक ने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से निरूपण किया था। बाद मे अमेरिका की स्वातन्त्र्य घोषणा और अमेरिका तथा फ्रास के अधिकार-पत्रो मे इन अधिकारो को समाविष्ट किया गया। इन सिद्धान्तो मे कुछ ऐसे राजनीतिक आदर्श निहित थे जिनके बारे मे यह आशा की जाती थी कि पश्चिमी यूरोप की सस्कृति से प्रभावित समस्त देशो मे और यदि सम्भव हुआ तो समस्त ससार मे उन्हें धीरे-धीरे कार्यान्वित कर दिया जाएगा। इन आदर्शों मे निम्नलिखित आदर्श थे—नागरिक स्वतन्त्रताए, विचार-अभिव्यक्ति और सस्था बनाने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति की सुरक्षा और प्रबुद्ध लोकमत के द्वारा राजनीतिक सस्थाओ का नियत्रण। इन साध्यो का सर्वत्र ही कुछ विशिष्ट साधनो द्वारा कार्यान्वित किया जाता था। इनमे से मुख्य ये—सावैधानिक शासन की स्थापना, इस नियमो की स्वीकृति कि शासन को विधि द्वारा निर्धारित सीमाओ मे रह कर कार्य करना चाहिए, राजनीतिक सत्ता का केन्द्र प्रतिनिधिक विधानमडलो मे रहना चाहिए और शासन की समस्त शाखाए निर्वाचक मडल के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिए तथा इस निर्वाचकमडल मे समस्त वयस्क जनसख्या शामिल रहनी चाहिए। इन आदर्शों और इन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक साधनो का प्राकृतिक अधिकारो के नाम पर समर्थन किया गया। ये आदर्श और ये साधन उन्नीसवी शताब्दी के उदारवाद के प्रयोजनो तथा स्थूल रूप से उसकी सफलताओ

को बहुत अच्छी तरह से व्यक्त करते थे। इस चिंतन के मूल में मूल्य के स्वरूप के बारे में एक विचार निहित था—अन्ततोगत्वा समस्त मूल्य मानव व्यक्तित्व की तृप्ति और अनुभूति में निहित हैं। कांट ने इसी सिद्धान्त को अपने इस प्रसिद्ध सूत्र में व्यक्त किया था कि नैतिकता व्यक्ति को साध्य मानने में है, साधन मानने में नहीं। जेफरसन का भी यही मत था कि सरकारें मनुष्य के अनन्यक्राम्य अधिकारों की रक्षा करने और उन्हें सिद्ध करने के लिए हैं।

फिर भी, क्रांति युग के प्राकृतिक अधिकारों के दर्शन और उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवाद में मनोवृत्ति तथा भावना का बहुत अन्तर था। प्राकृतिक अधिकारों का दर्शन मूलतः एक क्रान्तिकारी दर्शन था। जहां किसी मूल अधिकार पर हमला होता था, वह किसी प्रकार के समझौते को सहन नहीं कर सकता था। लेकिन, फ्रांस की क्रांति ने अनेक क्षेत्रों में क्रांति के विरोध में प्रतिक्रिया पैदा कर दी थी। महाद्वीप पर नैपोलियन की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं ने प्रत्येक पश्चिमी राष्ट्र की सांविधानिक परम्परा को नष्ट कर दिया था। इंगलैण्ड में यह स्थिति नहीं थी लेकिन वहां भी प्रतिक्रिया ने संसदीय सुधारों की प्रगति को रोक दिया और यह प्रगति दुबारा १८१५ के पश्चात् ही कठिनाई से आरम्भ की जा सकी। जैसा कि क्रांतियां किया करती हैं, क्रांति ने सर्वत्र अपनी अतिरंजना के विरोध में विकर्षण पैदा किया। इस अतिरंजना के लिए मनुष्य के अधिकारों के दर्शन को दोषी ठहराना फैशन हो गया। चैट्यूब्रिएण्ड ने उदारवाद की मनोवृत्ति को व्यक्त करते हुए कहा था, "हमें उस राजनीतिक कार्य की रक्षा करनी चाहिए जो क्रांति का फल है। लेकिन, हमें इस कार्य से क्रांति को हटा देना चाहिए।" कुछ समय बाद कतिपय विचारकों ने क्रांति के विरोध में विकास पर जोर देकर इसी विचार को एक नए रूप में व्यक्त किया।

अतः, उदारवाद का यह सौम्यीकरण दार्शनिक कारणों से था। प्राकृतिक अधिकारों का दर्शन जिस नैतिक सिद्धान्त पर आधारित था, वह मुख्यतः मनुष्य की अन्तःप्रज्ञा से सम्बन्धित था। मनुष्य के अकाट्य व्यक्तिगत अधिकारों के सिद्धान्त की रक्षा करने का एक ही उपाय है—लॉक तथा जेफरसन की भांति इन अधिकारों को स्वतःस्पष्ट बनाना। लेकिन, विज्ञान में सामान्य रूप से और सामाजिक चिन्तन में विशेष रूप से प्रवृत्ति कुछ व्यावहारिकता की तरफ थी। अब कोई भी व्यक्ति किसी भी चीज को केवल श्रद्धा और विश्वास के आधार पर ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं था। संक्षेप में, विवेकवाद की शक्ति धीरे-धीरे कम हो गई। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त में सदैव ही दार्शनिक विवेकवाद का कुछ पुट रहा था। लेकिन, किसी सैद्धान्तिक विचार की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली वे परिवर्तन थे जो वाणिज्यिक तथा औद्योगिक वर्ग की उन्नति के साथ-साथ उसके दृष्टिकोण में आते जा रहे थे। उन्नीसवीं शताब्दी में यह वर्ग सभी जगह उदारवादी सुधार आन्दोलन का नेता बना। औद्योगिक तथा वाणिज्यिक विकास की प्रवृत्ति ने इस वर्ग की राजनीतिक शक्ति का विस्तार पहले से निश्चित कर दिया। इसके साथ ही जमींदार वर्ग का प्रभाव धीरे-धीरे घट रहा था। मजदूर वर्ग में अभी बहुत

कम राजनीतिक चेतना आई थी और उसका संगठन भी बहुत शिथिल था। उदारवाद के मार्क्सवादी आलोचक यह कहा करते हैं यद्यपि उनका यह कहना निपट अतिशयोक्ति है कि सांविधानिक शासन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आदर्श केवल मध्यवर्ग के हितों का ही प्रतिनिधित्व करते थे। तथापि, यह सही है कि युग में यह वर्ग इन आदर्शों का मुख्य प्रवक्ता था। यह भी सही है कि इस वर्ग की सामाजिक स्थिति ने इसे दृष्टिकोण तथा उपायों में कम क्रांतिकारी बना दिया। फ्रांसिस प्लेस ने १८३२ में यह धमकी देकर कि यदि सुधार विधेयक पास नहीं हुआ तो इंगलैण्ड के बैंक का दिवाला निकल जाएगा, सुधार विधेयक को पास करवा दिया था। उस समय वह निश्चित रूप से एक ऐसे वर्ग को सम्बोधित नहीं कर रहा था जो अपना प्रभाव बैरिकेडों में प्रकट करता।[1] समय बीतने के साथ-साथ यह बात और साफ होती गई कि उदारवादी राजनीतिक सुधारों का प्रश्न अब केवल विचारधारा का प्रश्न नहीं रहा था, अब वह संस्थागत पुनर्निर्माण का प्रश्न हो गया था। प्रशासन का आधुनिकीकरण, वैधानिक प्रक्रिया का सुधार अदालतों का पुनर्गठन, स्वच्छता-संहिताओं का निर्माण और कारखानों का निरीक्षण—ये सारे विशिष्ट उदारवादी सुधार क्रांति के उत्साह के कारण नहीं प्रत्युत् व्यावहारिक गवेषणा और सजगतापूर्ण विधि निर्माण के फलस्वरूप हुए थे। उदारवाद के आदर्श क्रांतियुग के फल थे, लेकिन उसकी सफलताओं का श्रेय उस उच्चकोटि की व्यावहारिक बुद्धि को है जो विशिष्ट समस्याओं के ऊपर लागू की गई थी। उसका सिद्धान्त अब भी विवेकवाद पर आधारित था लेकिन उसके विवेकवाद पर यह शर्त लगी हुई थी कि आदर्शों को यथार्थ मामलों में कारगर होना चाहिए। स्वभावतः, इसके दर्शन में क्रांतिकारी होने के बजाय उपयोगितावादी होने की अधिक प्रवृत्ति थी।

राजनीतिक उदारवाद एक विशाल आन्दोलन था जिसका पश्चिमी यूरोप के देशों और अमेरिका में प्रभाव पड़ा लेकिन जिसका सब से विशिष्ट विकास इंगलैण्ड में हुआ। जर्मनी में उदारवादी दर्शन अधिकतर बौद्धिक रहा। वह वहां के लोकचिंतन में गहरी जड़ें नहीं जमा सका। जर्मनी में १८४८ में संसदीय शासन और मंत्रीय उत्तरदायित्व का लक्ष्य निश्चित रूप से पराजित हो गया। जर्मनी के लिए उदार संविधानवाद की अपेक्षा राष्ट्रीय एकीकरण का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण था। वहां बिस्मार्क तथा होहेनजोलर्न शासकों के अनुदार नेतृत्व में यह कार्य सम्पन्न हुआ। जर्मनी की न्याय-व्यवस्था में सम्पत्ति की सुरक्षा और नागरिक स्वतन्त्रता जैसे उदारवादी मूल्यों को सिद्ध किया गया। इस प्रकार, जर्मनी का उदारवाद राजनीतिक नहीं प्रत्युत् न्यायिक था। फ्रांस में क्रांति का सब से महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिणाम यह था कि वहां ५०-६० लाख कृषक स्वत्वाधिकारी पैदा हो गए थे। ये लोग राजनीतिक दृष्टि से रुकावटें डालने के अलावा और कुछ नहीं कर सकते थे। ये अपने हितों को बुर्जुआ वर्ग के हितों से मिले हुए मानते थे। इन दोनों के विरोध में यूरोप में पहली बार प्रोलेटेरियट श्रमिक वर्ग का आन्दोलन

---

1 Graham Wallas, *Life of Francis Place* (1898), pp 309 ff

उत्पन्न हुआ। वह आन्दोलन अपने राजनीतिक दृष्टिकोण में उदारवादी नहीं, प्रत्युत समाजवादी और उग्र था। यह युगान्तकारी महत्व की सामाजिक घटना थी और मार्क्स ने अपने वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में इसे समाविष्ट किया। इसलिए, फ्रांस का उदारवाद इंगलैण्ड के उदारवाद की अपेक्षा एक वर्ग का सामाजिक दर्शन अधिक था। उसका दृष्टिकोण "जनता" के प्रति अविश्वासात्मक नहीं था। चूंकि, वह राष्ट्रीय नीति को कार्यान्वित करने की क्षमता से युक्त नहीं था अतः उसका मुख्य कार्य आलोचना करना था।[1] उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैण्ड संसार का सब से अधिक उद्योग प्रधान देश था। वहां एक ऐसा देश था जिसमें उदारवाद ने एक राष्ट्रीय दर्शन और राष्ट्रीय नीति का पद ग्रहण किया। वहां मार्क्सवाद की उम्मीदों के विरोध में उसने सुव्यवस्थित और शान्तिपूर्ण परिवर्तन के सिद्धान्त प्रस्तुत किए। उसने सब से पहले औद्योगिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता स्थापित की और मध्य वर्ग को मताधिकार प्रदान किया। बाद में उसने श्रमिक वर्ग को मताधिकार प्रदान किया और उत्पादन के बन्धनों से उनकी रक्षा की। इंगलैण्ड में यह इस कारण सम्भव हो सका कि वहां सामाजिक और आर्थिक वर्गों का विभाजन राजनीतिक दलों के आधार पर नहीं था। आरम्भिक युग में उदारवाद के आर्थिक सिद्धान्त उद्योगपतियों के हितों को स्पष्टता से व्यक्त करते थे। लेकिन, उदारवाद उस समय भी, कम-से-कम मन्तव्य की दृष्टि से सम्पूर्ण राष्ट्रीय समुदाय के हित का सिद्धान्त था। बाद में जब यह बात सामने आई कि उद्योग तथा वाणिज्य के हितों के साथ-साथ श्रम तथा कृषि के हितों पर भी विचार करना है, तब यह मन्तव्य और स्पष्ट हो गया।

एक प्रभावशाली राजनीतिक आन्दोलन के रूप में इंगलैण्ड में उदारवाद ऐसे अनेक तत्वों से मिल कर बना था जिन्होंने सैद्धान्तिक सहमति पर जोर दिए बिना ही विशिष्ट प्रयोजनों के लिए सहयोग करना सीख लिया था। ग्राहम वालास के शब्दों में, इनमें सब से महत्वपूर्ण एवेंजेलिकल ईसाई धर्म और जेरमी बेंथम तथा दार्शनिक उग्रवादियों के धर्मेतर उग्रवाद के बीच 'काम चलाऊ गठबन्धन की परम्परा' थी। उनके दार्शनिक विश्वासों की विषमता उनके नैतिक तथा सामाजिक प्रयोजनों की समानता से दूर हो जाती थी। जैसा कि ग्लैडस्टन ने कहा था, "राजनीतिक उदारवाद का मेरुदण्ड नॉन-कन्फर्मिस्ट धार्मिक सम्प्रदाय थे।"[2] शुरू में उनका उद्देश्य अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा और उसका विस्तार करना तथा राजनीतिक अधिकारों में भाग लेना था। यद्यपि उनका बौद्धिक आधार पुष्ट नहीं था, लेकिन उन्होंने उपयोगितावादी

---

1 महाद्वीपीय उदारवाद के अध्ययन के लिए देखिए Guido de Ruggiero, *The History of European Liberalism*. Eng trans by R. G. Collingwood (1927).

2 उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इंगलैण्ड में नॉन कन्फर्मिटी के महत्व के बारे में देखिए Elie Halevy, *A History of the English People in 1815*. विशेषकर जिल्द १, पुस्तक ३, अंग्रेजी अनुवादक ई० आई० वाटकिन (१९२४)।

नीतिशास्त्र तथा क्लासिकल अर्थशास्त्र में ईसाई पुण्यता तथा मानववाद का समावेश किया। अपरच, एक समूह के रूप में नॉन कन्फर्मिस्टों के राजनीतिक विचार क्रांतिकारी अथवा उग्र नहीं थे। चूंकि इस समुदाय के तथा इस प्रकार के अन्य समुदायों के विचार अस्थिर थे, अतः राजनीतिक उदारवाद शुरू से ही कम सिद्धान्तवादी था। इसने अनेक हितों के बीच सामंजस्य स्थापित किया और वे समस्त हित उसके दर्शन के एक भाग हो गए। आरम्भिक उदारवाद की बौद्धिक संरचना और उसके कार्यक्रम के निर्माण का श्रेय दार्शनिक उग्रवादियों को है। ये लोग किसी एक राजनीतिक दल के रूप में नहीं, प्रमुख बुद्धिजीवियों के एक वर्ग के रूप में थे। लेकिन, उनका प्रभाव उनकी संख्या से कहीं अधिक था। जैसा कि राजनीति में अक्सर होता है, बुद्धिजीवियों ने विचार प्रदान किए। राजनीतिज्ञों ने परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इन विचारों का कभी उपयोग किया और कभी नहीं किया।

इंग्लैण्ड के उदारवादी दर्शन के इस समन्वयमूलक दृष्टिकोण को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसे दो युगों में बांट लिया जाए और फिर इन दोनों युगों की ऐतिहासिक निरन्तरता को स्पष्ट रूप से ध्यान में रखा जाए। इसके इतिहास की मुख्य विशेषता यह थी और इसकी ओर इसके आलोचकों का भी ध्यान गया है कि शुरू में यह मध्यवर्ग के हितों का दर्शन था। बाद में यह ऐसे राष्ट्रीय समुदाय का दर्शन हो गया जिसका आदर्श समस्त वर्गों के हितों की रक्षा करना हो गया। यह परिवर्तन इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि आलोचना अन्यायपूर्ण न होते हुए भी पूरी तरह सच कभी नहीं थी। यद्यपि आरम्भिक उदारवादी अक्सर संकीर्ण और उदारवादी थे, लेकिन वे सार्वजनिक भावना से भी ओतप्रोत थे। उन्होंने एक त्रुटिपूर्ण सामाजिक दर्शन को ऐसे प्रयोजनों में लगा दिया जो सामाजिक दृष्टि से हितकारी थे और शोषण से दूर थे। यही कारण था कि उदारवाद अपने आरम्भिक युग के व्यक्तिवाद तथा सामाजिक तथा सामुदायिक हितों में मूल्य और यथार्थता की स्वीकृति के बीच एक बौद्धिक सेतु का निर्माण कर सका। उदारवाद का व्यक्तिवाद नीतियुग के दर्शन की देन था और सामाजिक तथा सामुदायिक हित अक्सर उदारवाद विरोधी रूपों में प्रकट होते थे। इन दोनों का समन्वय सचमुच एक सिद्धि थी। इस प्रकार, बाद के उदारवाद का प्रयोजन यह हो गया कि वह व्यक्तिवाद द्वारा पोषित राजनीतिक तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा करे तथा इसके साथ ही उन्हें उद्योगवाद तथा राष्ट्रवाद की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप संशोधित करे। उदारवाद राजनीतिक स्वतन्त्रता को आधुनिक संस्कृति के लिए स्थायी मूल्य की चीज मानता था, लेकिन उसने यह भी प्रयत्न किया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता और अधिक लोगों को उपलब्ध हो सके और इस प्रकार वह वास्तव में एक सच्चे सामाजिक हित का रूप धारण कर सके। उदारवाद के इतिहास का दो भागों में विभाजन केवल व्याख्या की सुविधा के लिए नहीं है। इसका उद्देश्य एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और साथ ही निरन्तरता की सूचना देना है। जॉन स्टुअर्ट मिल यह विभाजक-रेखा है। उसका दर्शन रेखा के दोनों ओर था। फलतः, इस अध्याय में हम उदारवाद

के क्लासिकल रूप अर्थात् दार्शनिक उग्रवादियों पर तथा अगले अध्याय में उदारवाद के संशोधन तथा आधुनिकीकरण पर विचार करेंगे।

अधिकतम सुख का सिद्धान्त

(The Greatest Happiness Principle)

दार्शनिक उग्रवादियों का कार्यक्रम वैधानिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधारों का था। वे इन समस्त सुधारों को अधिकतम संख्या के अधिकतम हित पर आधारित मानते थे। उनके विचार से यह सिद्धान्त व्यक्तिगत आचारों और सार्वजनिक नीति दोनों के लिए सर्वश्रेष्ठ पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त था। उनके दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष का उद्देश्य इस सिद्धान्त को व्यावहारिक समस्याओं पर लागू करना था। इस समुदाय के किसी भी सदस्य में, बेंथम तक में दार्शनिक मौलिकता नहीं थी। उनकी दार्शनिक सिद्धान्तों तक पर कोई पक्की पकड़ नहीं थी। वे अपने विचारों को औपचारिक और निगमनात्मक रीति से उपस्थित करते थे। इससे यह आभास होता था कि उनके विचारों के पीछे कोई दर्शन है लेकिन विश्लेषण करने पर यह बात गलत सिद्ध होती है। इस पद्धति के अनेकों भाग जिस क्रम में थे, वह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनका सम्बन्ध तार्किक नहीं, बल्कि व्यावहारिक था। शुरू-शुरू में और प्रायः साठ वर्ष की आयु तक बेंथम केवल वैधानिक सुधारों में ही दिलचस्पी लेता रहा था। उसको उम्मीद थी कि ये सुधार राजनीतिक उदारवाद की अपेक्षा प्रबुद्ध निरंकुशता से ज्यादा जल्दी हो सकेंगे। इसलिए, १७८९ में *Principles of Morals and Legislation* के प्रकाशन के बाद उसने अपनी न्यायशास्त्र विषयक उत्तरकालीन रचनाएं फ्रेंच में प्रकाशित की जिससे कि महाद्वीप की जनता उसके विचारों से अवगत हो सके। उसकी फ्रेंच रचनाएं अंग्रेजी में अनूदित होकर १८२० में इंगलैण्ड पहुंची। जॉन स्टुअर्ट मिल ने उसकी पाण्डुलिपियों के आधार पर *Rationale of Judicial Evidence* का सम्पादन और प्रकाशन किया (१८२७)। १८०८ के आस-पास जेम्स मिल ने बेंथम को विश्वास दिलाया कि इंगलैण्ड में वैधानिक सुधार उसी समय हो सकता है जबकि वहां प्रतिनिधित्व का विस्तार किया जाए। जेम्स मिल के आग्रह पर ही बेंथम ने टोरी राजनीति को छोड़ा। इस परिवर्तन का कारण यह नहीं था कि तार्किक दृष्टि से उदारवाद अधिकतम सुख के सिद्धान्त पर निर्भर था प्रत्युत् यह आशा थी कि सम्भवतः यह वैधानिक सुधार के लिए अभिजाततन्त्र अथवा प्रबुद्ध निरंकुशता की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक माध्यम प्रमाणित हो सके। यही दशा दार्शनिक उग्रवादियों के आर्थिक सिद्धान्त की थी। इस सिद्धान्त का निर्माण मुख्य रूप से रिकार्डो ने किया था। इसका बेंथम के वैधानिक सुधारों के कार्यक्रम से कोई निकट सम्बन्ध नहीं था। इसका आरम्भ से ही मुख्य उद्देश्य यह था कि संरक्षणात्मक आगम शुल्क ने वाणिज्य के क्षेत्र में जो अनेक प्रतिबन्ध लगा रक्खे हैं,

उन प्रतिबन्धों को हटा दिया जाए। वैधानिक सुधारों की भांति ये सुधार भी उसी समय किए जा सकते थे जबकि इगलैण्ड के जमीदार वर्ग के राजनीतिक एकाधिकार को समाप्त कर दिया जाता। जब इस प्रकार के व्यावहारिक प्रयोजन कायरूप म परिणत होने लगे, तब जेम्स मिल ने इस समुदाय के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्तों की सैद्धान्तिक परीक्षा आरम्भ की। उसका ग्रन्थ *Analysis of the Phenomena of the Human Mind* १८२९ म छपा जब उसकी आयु ५६ वर्ष की हो गई थी। इस ग्रन्थ मे डेविड हार्टले, अठारहवी शताब्दी के अंग्रेज नीतिवादियों और कांडिलक तथा हेल्वेटियस जैसे फ्रेंच विचारकों द्वारा प्रतिपादित साहचर्य मनोविज्ञान (associational psychology) का निगमनात्मक तथा बड़े नपे तुले ढग स निरूपण किया गया था। इस मनोविज्ञान के प्रति मिल की कोई मौलिक देन नही थी। उसने कोई ऐसा विचार नही दिया जिससे यह मनोविज्ञान निरीक्षण पर आधारित मानव व्यवहार के यथार्थपरक अध्ययन के निकट आ जाता। उपयोगितावादियों के कथित व्यवहारवाद मे अनेक अपरीक्षित धारणाएं भरी हुई थी। नीतिशास्त्र मे अधिकतम सुख क सिद्धान्त का हीडोनिस्टिक मनोविज्ञान के बिना भी स्वीकार किया जा सकता था। भूतकाल मे ऐसा हुआ था। लेकिन, इस समय यह माना जाता था कि हीडोनिस्टिक मनोविज्ञान अधिकतम सुख के सिद्धान्त का समथन करता है। अधिकतम सुख के नाम पर जिन सुधारों की दुहाई दी जाती थी, वे सुधार भी उसी समय सार्थक हो सकते थे जबकि इस सिद्धान्त के साथ ऐसी कुछ और धारणाएं भी जोड़ दी जाती जिनका उपयोगितावादी दर्शन से कोई सीधा सम्बन्ध नही था।

अर्थशास्त्र का छोड कर उपयोगितावादी चितन की सामान्य रूपरेखा बेंथम की आरम्भिक रचना फ्रैगमेंट आन गवर्नमेंट मे मिलती है। यह पुस्तक १७७६ मे छपी थी। इसमे ब्लेक्स्टोन की कमेंट्रीज की आलोचना की गई है। और इस आलोचना के माध्यम से सम्पूर्ण वैधिक व्यवसाय तथा इगलैण्ड के शासन के सम्बन्ध मे ह्विग विचारधारा की आलोचना की गई है। इस पुस्तक मे बेंथम ने अपनी मुख्य रुचि की घोषणा की तथा संक्षिप्त रूप से उस दृष्टिकोण को व्यक्त किया जिसे उसने बाद मे न्यायशास्त्र विषयक अपने अनेक ग्रन्थों मे विकसित किया। उसने कहा कि ब्लेकस्टान का अंग्रेजी विधि सम्बन्धी विवरण केवल वर्तमान विधि की व्याख्या करता है। व्याख्या के नाम र वह वतमान विधि का एक प्रकार से बचाव है। न्यायशास्त्र का वास्तविक काय वैधि व्यवस्था की आलोचना करना है जिससे कि उसका सुधार किया जा सके। इस आलोचना के लिए मूल्य का एक मानक अपेक्षित है और यह मानक केवल उपयोगिता सिद्धान्त द्वारा ही प्रदान किया जा सकता है। अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख ही न्याय और अन्याय का मापक है।"— बेंथम इस अन्तर्दृष्टि को ह्यूम की देन मानता था। बेंथम का कहना था कि जब उसने ह्यूम की नैतिक रचनाओं को पहली बार पढ़ा तब उसकी आखें खुल गई थी। ह्यूम की आलोचना ने प्राकृतिक अधिकारों तथा संविदा सिद्धान्त को बिल्कुल नष्ट कर दिया। उसने बताया कि यह सिद्धान्त बिल्कुल निरर्थक

हैं, यह उसी सीमा तक सही है जिस सीमा तक कि वह उपयोगिता पर आधारित है। शासन का आधार संविदा नही बल्कि मानवी आवश्यकता है। शासन का एकमात्र औचित्य यह है कि वह मानवी आवश्यकताओं को पूरा करे। इसलिए, बेंथम ने कुछ तो हाब्स के आधार पर और कुछ ह्यूम के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि ब्लेकस्टोन द्वारा किया गया ब्रिटिश संविधान का गौरवगान तथा उसका शक्तियों का विभाजन कल्पना-गार की चीज है। वैधानिक शक्ति का स्वरूप ही कुछ ऐसा होता है कि उसे वैधानिक रूप से सीमित नही किया जा सकता। प्रत्येक राजनीतिक समाज मे मुख्य सत्ता कहीं न कहीं ऐसे व्यक्ति मे या व्यक्ति समूह मे अवश्य रहनी चाहिए जिसका और लोग आज्ञापालन करते हों। बेंथम का मत था कि यह बात स्वतन्त्र सरकारों और निरंकुश सरकारों दोनों के बारे मे सही है। इन दोनों मे कुछ अन्तर जरूर है। उदाहरण के लिए स्वतन्त्र शासन मे शासक अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होते हैं। प्रजाजन आलोचना कर सकते हैं तथा राजनीतिक प्रयोजनों के लिए संगठन बना सकते हैं। समाचार पत्रों को स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। लेकिन जहां तक शक्ति का स्वरूप है, दोनों सरकारें एक होती हैं। इस प्रकार फ्रेगमेंट आन गवर्नमेंट ग्रन्थ ने दार्शनिक उग्रवादियों के मुख्य विचारों का निरूपण कर दिया। वे विचार थे—मूल्य के एक मानक के रूप मे अधिकतम सुख का सिद्धान्त, विधायी प्रक्रिया द्वारा सुधार के एक आवश्यक उपकरण के रूप में वैधानिक प्रभुसत्ता का सिद्धान्त और एक न्यायशास्त्र जो विधि की इस आधार पर आलोचना करता हो कि वह सामान्य सुख की वृद्धि मे कहां तक योग देती है।

फ्रेगमेंट आन गवर्नमेंट ग्रन्थ मुख्य रूप से आलोचनात्मक था। लेकिन बेंथम ने पुनर्निर्माण की भी कोशिश की। उसका एक अन्य ग्रन्थ इन्ट्रोडक्शन टु दि प्रिंसिपल्स आफ मोरल्स एण्ड लेजिसलेशन निजी रूप से १७८० मे मुद्रित किया गया था। लेकिन वह सार्वजनिक रूप से १७८९ मे प्रकाशित किया गया था। इस ग्रन्थ मे हैल्वेटियस द्वारा प्रतिपादित शैली पर मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और न्यायशास्त्र को संयुक्त किया गया था। बेंथम का कहना था कि सुख और दुःख न केवल आलोचनात्मक न्यायशास्त्र के लिए आवश्यक मूल्य का मानक प्रदान करते हैं बल्कि वे मानव आचरण के उन कारणों को भी निर्धारित करते हैं जिनके द्वारा कुशल विधायक मानवी व्यवहार पर नियंत्रण रख सकता है और उसे दिशा दे सकता है।

"प्रकृति ने मानव जाति को दो स्वामियों दुःख और सुख की अधीनता मे रखा है। वही हमे यह बताते हैं कि हम क्या करें और वही यह निर्धारित करते हैं कि हम क्या करेंगे। एक ओर न्याय और अन्याय का मानक तथा दूसरी ओर कार्य तथा कारण की शृंखला उनके सिंहासन से बन्धे हैं।"[1]

बेंथम ने अपने सिद्धान्त के निरूपण के लिए सुख और दुःख का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। उसने उन्हें समस्त कार्यों का प्रेरक तत्त्व माना है और यह बताया है कि किस

1 Ch 1, sect 1

प्रकार उनकी मात्रा तथा प्रभाव की गणना हो सकती है। हीडोनिस्ट आचारशास्त्रियों की भांति उसका भी यह मत है कि सुख और दुःख को नापा जा सकता है। एक की कुछ निश्चित मात्रा दूसरे की उसी तरह की मात्रा का निराकरण कर सकती है। सुख और दुःख को जोड़ा भी जा सकता है। इस तरह से हम सुखों की गणना कर सकते हैं जो व्यक्ति के अधिकतम सुख को भी बतायेगा और व्यक्तियों के समुदाय के अधिकतम सुख को भी। इस गणना में बेंथम ने सुख अथवा दुःख के चार रूप माने हैं—उनकी गहनता, उनकी अवधि, उनकी निश्चितता जिससे कि वह एक कार्य को करेगा तथा समय की दूरी जिसके हिसाब से वह घटित होगा। चूंकि एक सुख या दुःख दूसरे को प्रभावित करेगा अतः इसकी ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। सामाजिक गणना में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सुख अथवा दुःख का कितने व्यक्तियों पर असर पड़ता है। बेंथम अक्सर इस तरह की बात किया करता था मानो उसका यह विश्वास हो कि मनुष्य सदैव ही सुख और दुःख की गणित सक्रियता से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। लेकिन, कभी-कभी वह यह भी कहता था कि सुखों का जोड़ने की बात विशेष कर विभिन्न व्यक्तियों के सुखों को जोड़ने की बात काल्पनिक है। तथापि, यह निश्चित है कि वह इस कल्पना को 'एक प्रकार की आवश्यकता समझता था जिसके बिना समस्त राजनीतिक चिंतन निश्चल हो जाता है।" उसमें मनोवैज्ञानिक निरीक्षण की न तो कोई विशेष योग्यता ही थी और न विशेष रुचि ही थी। लेकिन, वह "आचार विज्ञान का न्यूटन" बनना चाहता था। वह अपनी मनोवैज्ञानिक कल्पनाओं को उन कल्पनाओं से अधिक उग्र नहीं मानता था जो अन्य विज्ञान में उपयोगी प्रमाणित हुई थी।

बेंथम सुख और दुःख के सिद्धान्त तथा उससे सम्बद्ध संवेदनात्मक मनोविज्ञान द्वारा विधि के प्रभावों को तो आंक ही सकता था, उसके लिए इसका इसके अतिरिक्त भी कुछ मूल्य था। उसे सामाजिक अध्ययन और राजनीतिक चिंतन में सर्वत्र ही कुछ 'परिकल्पनाएं (Fictions)' दिखाई देती थीं। उसका विश्वास था कि वह इस मनोविज्ञान के द्वारा उन परिकल्पनाओं को पकड़ सकता है और उन्हें निष्प्रभ कर सकता है। बेंथम का ज्ञान-सिद्धान्त विशुद्ध रूप से नामवादी था। सम्भवतः, उसने यह विशेषता ह्यूम की अपेक्षा हॉब्स से अधिक ग्रहण की थी। नाम किसी न किसी चीज का होता है और यह चीज अन्त में संवेदनात्मक अनुभव होनी चाहिए। किसी चीज के नाम का अर्थ उसके अनुभव से निर्दिष्ट होता है। इस अनुभव को 'निर्दिष्ट अनुभव' कहते हैं। फलतः, जहां तक नाम वास्तविक वस्तुओं का हवाला देते हैं, वे "व्यक्तिवाची, संज्ञाओं के समूह" होते हैं। यदि इस तथ्य की उपेक्षा कर दी जाए, तो सामान्य शब्दों के रूप में उनके परिकल्पनात्मक हो जाने का खतरा रहता है। बातचीत की सुविधा के लिए परिकल्पनात्मक वस्तुएं जरूरी होती हैं (उदाहरण के लिए "सम्बद्ध पदार्थों" के स्थान पर "सम्बन्ध")। लेकिन, स्पष्टता के लिए यह आवश्यक है कि वास्तविक हवाले का ठीक ठीक ज्ञान हो। "परिकल्पनात्मक वस्तुओं के नामों को वास्तविक वस्तुओं के नाम

समझने के कारण बहुत अधिक भ्रम तथा अन्धकार रहा है।"[1] मनुष्य को जो ठोस अनुभव होता है, उसका वर्णन करना सदैव सम्भव है। इसी बात को विलियम जेम्स ने कई वर्षों बाद कहा था, "व्यवहारवादी के लिए प्रत्येक अन्तर कुछ अन्तर कर देता है।" बेंथम के लिए परिकल्पनाओं के इस सिद्धान्त की उपयोगिता राजनीति तथा विधि के क्षेत्र में थी। ये दोनों ही परिकल्पनाओं से भरे हुए हैं। बेंथम का विश्वास था कि 'वैधानिक परिकल्पना का तो केवल एक ही प्रयोग हुआ है—ऐसी चीज का औचित्य सिद्ध करना जो अन्यथा अनुचित सिद्ध होगी।" अधिकार, सम्पत्ति, राजमुकुट और सामान्य कल्याण जैसे शब्दों का परिकल्पनात्मक प्रयोग हो सकता है और उनके आधार पर निहित स्वार्थों का समर्थन किया जा सकता है। बेंथम के दृष्टिकोण से राज्य अथवा समाज जैसा कोई भी निगम-निकाय परिकल्पनात्मक होता है। इनके नाम से जो काम किया जाता है, वह कोई न कोई व्यक्ति करता है। "उसका हित उसका निर्माण करने वाले अनेक सदस्यों के स्वार्थों का योग है।" किसी भी विधि अथवा संस्था की वास्तविक उपयोगिता उसके कार्य के आधार पर, इस आधार पर कि वह विशिष्ट व्यक्तियों के लिए क्या करता है, परखी जानी चाहिए। बेंथम यह जानता था कि सभी अवस्थाओं में यह पता लगाना सम्भव नहीं है कि प्रभाव कहां पड़ते हैं, लेकिन इसमें कम की चीज होती भी कामचलाऊ ही है। चूंकि मूल्य सुख का पर्यायवाची है और सुख केवल व्यक्तियों के हित में ही आ सकता है, अतः विधि तथा शासन का महत्त्व यह है कि वे वास्तविक स्त्रियों और पुरुषों के भाग्य पर क्या प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार का सिद्धान्त किसी भी उदारवादी दर्शन का आधार तत्त्व होता है। लेकिन, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि बेंथम के मनोविज्ञान की अपरिष्कृत बातों को स्वीकार कर लिया जाए।

बेंथम का विधि सिद्धान्त

(Bentham's Theory of Law)

बेंथम का विश्वास था कि अधिकतम सुख का सिद्धान्त एक कुशल विधायक के हाथों में एक प्रकार का सार्वभौम साधन दे देता है। इसके द्वारा वह "विवेक तथा विधि के हाथों सुख के वस्त्र को बना सकता है।" यह बुनियादी मानव प्रकृति का सिद्धान्त प्रदान करता है। वह उसके मूल्यों की भी व्याख्या करता है तथा प्रेरक उद्देश्यों की भी। बेंथम का मत था कि ये सिद्धान्त सभी स्थानों और सभी कालों में लागू हो सकते हैं। विधायक के लिए केवल यह जानना आवश्यक है कि काल और स्थान की वे कौन सी परिस्थितियां हैं जिन्होंने विशिष्ट प्रथाओं और आदतों को उत्पन्न किया है। वह

---

1. See *Bentham's Theory of Fictions*, edited by [illegible] K. Ogden 1932, with Ogden's Introduction

वांछनीय परिणामों को प्राप्त करने के लिए दुःख तथा दण्ड की मात्राएं निर्धारित करके आचरण पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। बेंथम ने इस पद्धति पर केवल मनोवैज्ञानिक और नैतिक प्रतिबन्ध आरोपित किए थे। एक ओर तो उसने यह बताया कि विधि क्या कर सकती है और दूसरी ओर उसने यह बताया कि विधि बुद्धिमत्तापूर्वक क्या करने की कोशिश कर सकती है। तथापि, इस पद्धति पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध आरोपित नहीं किए जा सकते। परम्परागत प्रथाओं अथवा संस्थाओं द्वारा आरोपित बड़े-बड़े प्रतिबन्धों तक को बेंथम मनोवैज्ञानिक ही मानता था क्योंकि उसका विचार था कि प्रथाएं और संस्थाएं केवल आदत मात्र हैं। उनमें भी समस्त आदतों की भांति साधनों और साध्यों के बुद्धियतापूर्ण सामंजस्य के लिए अनेक बाधाएं होती हैं। वे ऐसी अनेक जटिलताओं और परिकल्पनाओं की स्रोत होती हैं जिन्हें अधिकतम सुख का सिद्धान्त दूर करना चाहता है। प्रथा के प्रति यह अविश्वास और उसे पूर्णतः विधान के अधीन कर देना बेंथम के न्यायशास्त्र की मुख्य विशेषता थी। इसके साथ ही बेंथम सामाजिक संस्था के अध्ययन में इतिहास के महत्त्व के प्रति उदासीन था। उसके मन में इतिहास के प्रति घृणा तक थी। बेंथम के दृष्टिकोण से इतिहास अधिकतर मानव जाति के अपराधों और मूर्खताओं का संकलन होता है। इसी मनोवृत्ति के कारण उसका सामाजिक दर्शन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पुराना मालूम पड़ने लगा था। बेंथम का शिष्य जॉन स्टुअर्ट मिल तक इसे एक दुर्बलता मानता था। ऐतिहासिक ज्ञान की कमी के कारण ही बेंथम विभिन्न संस्कृतियों के मनुष्यों का अन्तर ठीक से नहीं समझ सका।

बेंथम का न्यायशास्त्र विषयक कार्य उसका सब से महान् कार्य था। यह उन्नीसवीं शताब्दी की सब से महत्त्वपूर्ण बौद्धिक सिद्धियों में से था। न्यायशास्त्र को बेंथम की मुख्य देन यह है कि उसने अपने ऊपर वर्णित दृष्टिकोण को विधि की समस्त शाखाओं, दीवानी तथा फौजदारी विधि, प्रक्रियागत विधि और न्याय व्यवस्था के संगठन पर लागू किया।[1] सभी अवस्थाओं में उसका प्रयोजन जैसा कि उसने आरम्भ में ही ब्लैकस्टोन के विरोध में कहा था, विवरणात्मक नहीं, प्रत्युत् आलोचनात्मक, व्याख्यात्मक नहीं, प्रत्युत् 'निन्दात्मक' था। उसने न्यायशास्त्र की सभी शाखाओं में प्राविधिक पद्धति के स्थान पर स्वाभाविक पद्धति को प्रतिष्ठित किया। प्राविधिक पद्धति का अभिप्राय यह है कि विधि के परम्परागत वर्गीकरण और प्राविधिक प्रक्रियाओं, प्रथागत शब्दावली, आदेशों और प्रपत्रों का शिरोधार्य किया जाए। इसके विपरीत, स्वाभाविक पद्धति समस्त वैधानिक प्रतिषेधों और प्रक्रियाओं को उपयोगिता की शब्दावली में व्यक्त करती है। यह समस्त वैधिक नियमों का अधिकतम संख्या के अधिकतम हित की कसौटी पर कसती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार न्यायिक समस्या यह है कि वांछनीय परिणामों को प्राप्त करने के लिए दशा का सही कथन किया जाए।

---

1 See Elie Halevy, *The Growth of Philosophic Radicalism* Eng trans. by Mary Morris (1928), especially Part 1, Ch 2, and Part III Ch 2

विचार था कि यह जनता को ठगने के लिए वकीलों का एक प्रकार का षड्यंत्र है।[1] बेंथम ने फ्रेगमेंट आन गवर्नमेंट में ही वकीलों के प्रति अपनी श्रद्धा को व्यक्त किया था और वह अपने सम्पूर्ण जीवन उनके प्रति इसी प्रकार के विचार व्यक्त करता रहा।

'निष्क्रिय और निर्वीर्य जाति, हर चीज को हड़पने और हर चीज पर सहन करने के लिए तैयार, न्याय और अन्याय के भेद को समझने में असमर्थ और दोनों के प्रति उदासीन, अबोध, अल्पदृष्टि सम्पन्न, दुराग्रही, आलसी, झूठे डर से आतंकित, विवेक तथा सार्वजनिक उपयोगिता की आवाज के प्रति बहरी, स्वार्थ की वाणी और शक्ति के संकेत के प्रति सजग।"[2]

बेंथम का आदर्श यह था कि "प्रत्येक व्यक्ति को अपना वकील बनना चाहिए" इसके लिए उसका कहना था कि औपचारिक वकालत समाप्त हो जाए और उसके स्थान पर एक विवाचक के सामने अनौपचारिक कार्यवाही हो। विवाचक दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने की कोशिश करे। मुकदमे में कोई भी साक्ष्य उपस्थित किया जा सके, असम्बद्धता के निवारण के लिए कठोर नियमों का आश्रय न लेकर न्यायिक विवेक का आश्रय लिया जाए। अदालतों के संगठन के बारे में बेंथम को इस बात पर आपत्ति थी कि न्यायाधीशों तथा अदालतों के अन्य अधिकारियों को वेतन न देकर फीसें दी जाएं। उस समय इंगलैण्ड की अदालतें के क्षेत्राधिकार एक दूसरे का अतिक्रमण करते थे। बेंथम को यह रुचिकर न था। बेंथम जूरी प्रथा के भी खिलाफ था। उसका विचार था कि इस प्रथा को व्यर्थ में ही इतनी लोकप्रियता प्राप्त हो गई है।

बेंथम के विधि सिद्धान्त ने विश्लेषणात्मक न्यायशास्त्र के दृष्टिकोण को स्थापित किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज और अमरीकी विधिवेत्ताओं को इसी पद्धति की जानकारी थी। यह सम्प्रदाय जॉन आस्टिन के नाम से विशेष रूप से प्रख्यात है। लेकिन आस्टिन ने सिर्फ यही किया था कि बेंथम के विशालकाय और अपाठ्य ग्रन्थों में बिखरे हुए विचारों को व्यवस्थित रूप दे दिया।[2] राजनीतिक सिद्धान्त में आस्टिन के कार्य का प्रभाव यह था कि उसने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्त्व दिया। यह सिद्धान्त भी एक प्रकार से बेंथम की ही देन है। यह सिद्धान्त बेंथम की उस योजना का एक भाग था जिसके द्वारा वह अदालतों पर संसद् का नियन्त्रण स्थापित करके

1. Preface, ed F. C. Montague 1891, p. 104.

2 बेंथम ने न्यायशास्त्र विषयक अपने भाषण १८२८ और १८३२ के बीच में यूनिवर्सिटी कालेज, लन्दन में दिए थे। इस विद्या केन्द्र की स्थापना बेंथम के प्रयत्नों से कुछ समय पूर्व ही हुई थी। ये भाषण *Province of Jurisprudence Determined* (१८३२) में छपे। बाद में उन्हें अधिक विस्तृत ग्रन्थ *Lectures on Jurisprudence* (१८६१–६३) में समाविष्ट कर लिया गया। डब्ल्यू० जेथ्रोब्राउन ने *The Austinian Theory of Law* (लन्दन १९०६) से इसके कुछ चुने हुए अंशों का, आवश्यक स्थलों पर टिप्पणियां देते हुए सम्पादन किया है।

उनका सुधार करना चाहता था। संगठन की स्पष्टता के लिए यह जरूरी है कि उत्तर-दायित्व कहीं न कहीं केन्द्रित हो। लेकिन बेंथम का यह विचार कि शासन केवल कुछ व्यक्तियों का एक समूह है, जिसका काम सिर्फ शासन करना है और जिसके प्रति प्रजाजनों को स्वभावतः आदेशपालन का भाव रखना चाहिए, ठीक नहीं था। यह विचार राजनीति में संस्थाओं के महत्त्व की उपयुक्त व्याख्या नहीं है। प्रभुसत्ता सिद्धान्त से भी महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि बेंथम के न्यायशास्त्र के आधार पर इंगलैण्ड की न्याय व्यवस्था में आमूल सुधार हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी में उसे पूरी तरह से संशोधित करके आधुनिक रूप दे दिया गया। यह सही है कि बेंथम के विचारों को एक ही समय में व्यवस्थित रूप से कार्य रूप में परिणत नहीं किया गया। उसके कुछ विचार विशेष-कर, अंग्रेजी विधि को संहिताबद्ध करने से सम्बन्धित विचार, कभी स्वीकार नहीं किए गए। लेकिन इंगलैण्ड में एक के बाद एक अधिनियम का निर्माण करके विधि तथा अदालतों का पूरा सुधार किया गया और अधिकतर अवस्थाओं में बेंथम की आलोचना द्वारा निर्दिष्ट रास्ते को अपनाया गया था।[1] सर फ्रेडरिक पोलक ने यह ठीक ही कहा है कि उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में विधि के क्षेत्र में जो भी सुधार हुआ उस पर बेंथम का प्रभाव देखा जा सकता है।

बेंथम का *न्यायशास्त्र* उपयोगिता के सिद्धान्त से उतना अधिक निर्धारित नहीं हुआ था जैसा कि उसका विचार था। वास्तव में *उपयोगिता* बहुत ही अनिश्चित शब्द है। उपयोगिता के सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न यह है कि उपयोगिता किसकी है और किस के लिए है। जब तक इन प्रश्नों का उत्तर साफ न हो उपयोगिता की बात समझ में नहीं आती। बेंथम के दर्शन में उदारवाद के तत्त्व उसकी निहित प्रतिज्ञाओं में निहित थे। जब उसने यह कहा कि "एक व्यक्ति का महत्त्व दूसरे व्यक्ति के बराबर है", अथवा 'अधिकतम सुख की गणना करने में प्रत्येक व्यक्ति को एक माना जाएगा और किसी का भी एक से अधिक नहीं माना जाएगा," उस समय वह प्राकृतिक विधि से समानता के सिद्धान्त को ग्रहण कर रहा था। वास्तव में वह इस अप्रमाणित धारणा को स्वीकार नहीं करता था कि एक व्यक्ति का सुख दूसरे व्यक्ति के सुख के बराबर होता है। बेंथम व्यवस्था और कार्य-पटुता का प्रेमी था। इसके मूल में कुछ उदारवादी सिद्धान्त थे। वह

---

1 सर चार्ल्स सिंगे क्रिस्टाफर बोवेन का लेख देखिए 'The Administration of the Law, 1837-1887' in *The Reign of Queen Victoria* (1887), ed by T H Ward, Vol. I p 281। यह निबन्ध कमेटी ऑफ दि असोसिएशन ऑफ अमेरिकन लॉ स्कूल्स द्वारा सम्पादित *Select Essays in Anglo-American Legal History*, Vol I, (1907), p. 516, पर पुनः मुद्रित किया गया है। वैधिक सुधारक के रूप में बेंथम को अपने समय में क्या मान्यता प्राप्त हुई, इस सम्बन्ध में आप लॉर्ड ब्रोघम का भाषण देखिए "On the Present State of the Law", February 7, 1828। उनकी *Speeches* की प्रस्तावना भी देखिए, (१८२८) Vol II, p 207

चाहता था कि सब व्यक्तियों को जीवनयापन की मानवोचित दशाएं सुलभ हों। यह भी सही है कि अपने व्यक्तिवाद के कारण उसका न्यायशास्त्र कुछ पक्षपातपूर्ण था। यह नियम कि विधि की परख इस आधार पर होनी चाहिए कि कि वह व्यक्तियों पर, व्यक्तियों के निश्चित समूह पर, कितना असर डालती है, एक उदार सिद्धान्त था। लेकिन, इस नियम को कुछ विधियों पर तो आसानी से लागू किया जा सकता था और कुछ पर नहीं। सम्पत्ति के अधिकार पर लगाए जाने वाले प्रतिबन्ध तो स्पष्ट होते हैं। लेकिन, सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा करने वाली विधि के परिणामों को इस आधार पर नहीं परखा जा सकता कि किसी एक व्यक्ति का स्वास्थ्य ज्यादा अच्छा है। जैसा कि आगे चल कर स्पष्ट हुआ, संविदा की स्वतन्त्रता को अधिक से अधिक निजी सम्बन्धों पर लागू करने का परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्रता के नए अर्थ पैदा हो गए। बेंथम के न्यायशास्त्र के गुणार्थों (connotations) ने सामाजिक विधान को अनर्दिष्ट रूप से अधिक कठिन बना दिया था। वह जितना समझता था, उसके विचार अस्थायी धारणाओं से उसकी तुलना में कहीं अधिक प्रभावित थे। उसके समय में वैधिक सुधार मुख्य रूप से पुरानी प्रथाओं से छुटकारा पाने में निहित था। उसके चिंतन की इन कुछ सीमाओं के बावजूद, सामाजिक दर्शन के इतिहास में बहुत कम विचारक ऐसे हुए हैं जिनका प्रभाव बेंथम की भांति व्यापक तथा हितकारी रहा हो।

प्रारम्भिक उदारवाद का आर्थिक सिद्धान्त

(The Economic Theory of Early Liberalism)

विधि का उदारवादी दर्शन प्राय पूरी तरह बेंथम द्वारा प्रेरित था। उसका आर्थिक सिद्धान्त—तथाकथित प्राचीन अर्थशास्त्र या निर्हस्तक्षेप का सिद्धान्त उदारवादी चिंतन का एक और तत्व था जो बेंथम के प्रति कम ऋणी था लेकिन प्रयोजन और दृष्टिकोण में उससे साम्य रखता था। जिस प्रकार बेंथम के अपने आर्थिक विचार एडम स्मिथ के वेल्थ आफ नेशन्स पर आधारित थे, उसी प्रकार निर्हस्तक्षेप की आर्थिक विचारधारा भी एडम स्मिथ से प्रभावित थी। इस विचारधारा के विकास में अनेक अंग्रेज लेखकों और क्वेजने तथा फिजियोक्रेटों के फ्रेंच उत्तराधिकारियों ने भी योग दिया था। डेविड रिकार्डो के ग्रन्थ प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकोनोमी (१८१७) में परम्परागत अर्थशास्त्र की सब से महत्त्वपूर्ण व्याख्या की गई थी। इस ग्रन्थ में टी० आर० माल्थस के जनसंख्या विषयक सिद्धान्त तथा माल्थस के किराए के सिद्धान्त को भी समाविष्ट कर लिया गया था। माल्थस के किराए के सिद्धान्त के साथ रिकार्डो का नाम भी जुड़ा हुआ था। बेंथम के न्यायशास्त्र और राजनीति के अतिरिक्त अर्थशास्त्र भी अब एक स्वतन्त्र सामाजिक शास्त्र हो गया। इन विषयों की भांति वह भी मानव प्रकृति के उन सामान्य नियमों पर आधारित माना जाने लगा जिनकी बेंथम द्वारा

प्रयुक्त सस्थागत और हीडोनिस्टिक मनोविज्ञान ने व्याख्या की थी। नया अर्थशास्त्र आर्थिक समाज के नियमो की व्याख्या करने लगा। इस आर्थिक समाज का सम्बन्ध न तो किसी विशेष काल से था और न स्थान से। विधि अथवा शासन द्वारा आरोपित विशिष्ट व्यवस्थाओ से भी उसका कोई सम्बन्ध नही था। अपनी बौद्धिक मनोवृत्ति और दृष्टिकोण मे परम्परागत अर्थशास्त्र बेंथम के दर्शन से पूरी तरह साम्य रखता था। वह एक प्रकार का सामाजिक न्यूटनवाद था, जो सस्थाओ और उनके इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टि से असम्बद्ध मानता था क्योकि वे विचार और कार्य की ऐसी आदतो पर निर्भर हैं जिन्हें व्यक्तिगत व्यवहार के कुछ साधारण नियमो द्वारा पूरी तरह समझाया जा सकता है। आरम्भिक उदारवाद का यह एक प्रमुख विचार था कि अर्थशास्त्र और शासन एक-दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं और यदि उनका कोई सम्बन्ध होता भी है तो वह व्यक्तिगत मनोविज्ञान के माध्यम से परोक्ष सम्बन्ध होता है। यह एक ऐसी विशेषता है जिसके आधार पर परम्परागत अर्थशास्त्र पुराना मालूम पड़ता है। इसका कारण सिर्फ यही नही है कि सस्था सम्बन्धी मनोविज्ञान ही पूरी तरह पुराना था या उदारवादी अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित निर्हस्तक्षेप की नीति उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे धीरे-धीरे असम्भव हो गई थी। सामाजिक मनोविज्ञान और मानव शास्त्र ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि किसी भी सस्कृति मे सामाजिक तथा आर्थिक सस्थाए एक-दूसरे से सम्बन्धित होती हैं और सस्कृति की सस्थाए व्यक्तियो का उनके जन्मकाल से ही निर्माण करती हैं। मानव व्यवहार के नियम चाहे कुछ भी हो, उनका किसी विशिष्ट काल अथवा स्थान की प्रथाओ से बहुत सामान्य प्रकार का सबध होता है।

यद्यपि परम्परागत अर्थशास्त्र एक विज्ञान होना चाहता था और इसलिए वह अपने जन्मकाल की विशिष्ट सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो से स्वतन्त्र होना चाहता था, लेकिन बेंथम के न्यायशास्त्र की भाति वह भी अपने निर्माताओ के व्यावहारिक सुधारवादी प्रयोजनो से अनुप्राणित था। १८१५ की शाति ने ब्रिटिश निर्माताओ के लिए स्वदेश तथा विदेश के बाजारो मे भारी मन्दी पैदा कर दी थी। इगलैण्ड के जमीदारो और निर्माताओ के हितो मे भारी विषमता रही थी। नैपोलियन-कालीन युद्धो के सकट मे यह विषमता छिपी रही थी। अब वह उभर कर फिर सामने आ गई। इगलैण्ड कृषि खाद्यान्नो पर लगे हुए आयात शुल्को द्वारा रक्षित था। अग्रेज व्यापारियो के हित इसी बात मे थे कि अन्न सस्ता रहे। निर्माताओ का प्रौद्योगिक ज्ञान अन्य किसी देश से कही आगे बढा हुआ था। इसलिए, उन्हें सरकारी सहायता की जरूरत नही थी। इन परिस्थितियो मे स्वतन्त्र वाणिज्य की नीति उनके हित मे थी। युद्ध के बाद जो कठोर रीति अपनाई गई उसके कारण एक वाद विवाद शुरू हो गया। फलत, १८३२ मे ससद् का सुधार किया गया और १८४६ मे कार्न लाज को रद्द कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि इगलैण्ड आधुनिक काल के प्रथम औद्योगिक राष्ट्र के रूप मे उदित हुआ। उसकी वाणिज्यिक नीति निर्हस्तक्षेप के सिद्धान्त पर आधारित

थी। उसने देश मे प्रतिनिधिक शासन के विस्तार का समर्थन किया। उसकी वैदेशिक नीति अपने जैसे उदार राष्ट्रो के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग करने की थी। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन में वह राष्ट्रीय स्वार्थ के सिद्धान्त पर चलता था। रिकार्डो का अर्थशास्त्र वाद-विवाद के इन्ही वर्षों मे बना था और उस पर अपने समय की पूरी छाप थी।

यद्यपि परम्परागत अर्थशास्त्र एक कठोर तार्किक व्यवस्था समझी जाती थी, लेकिन वास्तव मे उसमे दो दृष्टिकोण निहित थे। ये दोनो दृष्टिकोण एक-दूसरे से भिन्न थे और आर्थिक समाज के सम्बन्ध मे उनके अलग-अलग विचार थे।[1] यह विषमता प्रकृति के सम्बन्ध मे दो सकल्पनाओ को व्यक्त करती थी। ये सकल्पनाए आधुनिक दर्शन मे शुरू से ही व्याप्त रही थी। एक सकल्पना तो यह थी कि प्राकृतिक व्यवस्था बिल्कुल सरल है, सामजस्यपूर्ण है और हितकारी है। दूसरी सकल्पना यह थी कि वह नैतिक गुणो से वचित है और उसके नियमों का न्याय, विवेक अथवा मानव कल्याण से कोई सम्बन्ध नही है। हम यह कह चुके हैं कि बेंथम के न्यायशास्त्र मे भी प्राकृतिक अधिकार के कुछ बीज थे जो उस विशुद्ध प्रकृतिवाद अथवा उपयोगितावाद से भिन्न थे जिसे उसने ह्यूम से ग्रहण किया था और जिसका वह पालन करता था। रिकार्डो के अर्थशास्त्र मे यह भेद गतिहीन सिद्धान्त और गतिशील सिद्धान्त के बीच था। सामाजिक गणना की दृष्टि से अर्थशास्त्र एक स्वतन्त्र प्रतियोगितापूर्ण बाजार मे पदार्थों के विनिमय का सिद्धान्त है। इस बाजार मे कीमतें बाजार की दशाओ द्वारा ही निर्धारित होती हैं। कीमतो के निर्धारण पर व्यक्ति की रुचियो के अतिरिक्त और किसी चीज का असर नही पड़ता। आर्थिक समाज व्यक्तिगत उत्पादको द्वारा बनता है। प्रत्येक उत्पादक बाजार मे अपने उत्पादनो को लाता है और उनका दूसरे उत्पादकों के उत्पादनों से बदलता है। प्रत्येक उत्पादक इस बात की कोशिश करता है कि वह अपने माल को अधिक से अधिक महगा बेचे और उसके बदले मे सस्ते से सस्ता माल खरीदे। सामाजिक गतिशीलता की दृष्टि से अर्थशास्त्र कुल उत्पादनो के उत्पादकों के बीच में वितरण का सिद्धान्त है। रिकार्डो के शब्दो मे वह उन नियमो की जिज्ञासा है जो उद्योग को उत्पादक वर्गों मे विभाजित करते हैं। इस विज्ञान के मुख्य भाग थे किराए का सिद्धान्त, मुनाफे का सिद्धान्त और मजूरी का सिद्धान्त थे। उद्योग का उत्पादन मुख्य रूप से इन्ही वर्गों मे बाटा जाना चाहिए। इस दृष्टि से आर्थिक समाज व्यक्तियो का नही बल्कि वर्गों का समाज हो जाता है।

इन दो दृष्टिकोणों मे बहुत अधिक अन्तर है। यह माना गया है कि एकाधिकारपूर्ण प्रतिबन्धो से मुक्त स्वतन्त्र बाजार सब के हितो को समान रूप से पूरा करता है। इसलिए वह अधिकतम सख्या का अधिकतम हित भी करता है। एडम स्मिथ का विचार था कि प्राकृतिक स्वतन्त्रता का सरल सिद्धान्त कीमतो को कम से कम रखना

---

1 इस विषमता का हेलेवी ने अच्छा विवेचन किया है। देखिए उसका ग्रन्थ *The Growth of Philosophic Radicalism*, विशेषकर भाग ३, अध्याय १।

है और इसके साथ ही साथ व्यापारियों को मुनाफा भी होता रहता है। संक्षेप में, विनिमय की पूर्ण स्वतन्त्रता हितों के एक स्वाभाविक सामरस्य को पैदा कर देती है। इससे सब को परिस्थितियों के अनुसार समान रूप से लाभ पहुंचता है। लेकिन जब हम वितरण के नियमों पर विचार करते हैं तब कठिनाई पैदा होती है। ये नियम आर्थिक वर्गों के सन्दर्भ में कार्य करते हैं। किसी व्यक्ति का भाग्य काफी हद तक इस बात से बंध जाता है कि आर्थिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उसके वर्ग के पास कितनी सम्पदा आई है। इस स्थिति में यह भी अपरिहार्य हो जाता है कि एक वर्ग के हित शेष वर्गों के हितों से उलटे हों। इस दृष्टिकोण से आर्थिक समाज में वर्ग-संघर्ष चलता रहता है। रिकार्डों का विचार था कि आर्थिक समाज के गतिशील नियम विकासशील अर्थ-व्यवस्था को हितों के स्वाभाविक सामरस्य की ओर नहीं ले जायेंगे।

इन दो विरोधी दृष्टिकोणों में पहला दृष्टिकोण मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित था। इस सिद्धान्त की मान्यता यह थी कि स्वतन्त्र बाजार में किसी पदार्थ का मूल्य उसके उत्पादन में लगने वाले श्रम से निर्धारित होता है। रिकार्डो इस सिद्धांत के द्वारा यह तय कर देना चाहता था कि वास्तविक बाजार में कीमतों का जो अन्तर दिखाई देता है, उसका ठीक-ठीक कारण क्या है। रिकार्डो का मत था कि कीमतें माग और पूर्ति की स्थायी दशाओं के अनुसार मूल्य के इर्द-गिर्द चढ़ती-उतरती रहेंगी। लेकिन, वास्तव में ऐसा नहीं होता क्योंकि यह तर्क खुद चक्करदार है। कीमतें खुद ही वह एक-मात्र तत्त्व हैं जो यह निर्धारित करती हैं कि किसी पदार्थ में ठीक-ठीक कितना श्रम लगेगा। लेकिन, यह अर्थ श्रम के मूल्य सिद्धान्त से कुछ दूर जाकर पड़ता था। लॉक ने इस सिद्धान्त के आधार पर सम्पत्ति के अधिकार को उचित ठहराया था। उसका कहना था कि जब व्यक्ति अपने द्वारा उत्पादित पदार्थों में अपने श्रम को मिला देता है तब वह सम्पत्ति का अधिकार अर्जित करता है। एडम स्मिथ ने "स्वाभाविक" कीमत की संकल्पना के विकास में इस सिद्धान्त का प्रयोग किया था। उसका विचार था कि स्वाभाविक कीमत न्यायपूर्ण कीमत होती है। यदि पदार्थों का विनिमय उस श्रम की मात्रा के अनुसार होता है जो उनका उत्पादन करता है, तो इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि सामान्य रूप से (यहां हम अस्थायी विसंगतियों को छोड सकते हैं) क्रेताओं और विक्रेताओं को मूल्य की समान मात्रा देनी और लेनी चाहिए। कुल मिला कर प्रत्येक व्यक्ति ने श्रम की जितनी मात्रा खर्च की है, वह उसके बराबर ही मूल्य रक्खेगा और वास्तव में उसने जितना उत्पादन किया है, वह उतना ही मूल्य रखना चाहेगा। इसलिए, पूर्ण रूप से स्वतन्त्र विनिमय "प्राकृतिक" न्याय की व्यवस्था को जन्म देगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूल्य का श्रम सिद्धान्त रिकार्डो के शिष्यों, उदाहरण के लिए मैक-कुलॉच को, बहुत अच्छा लगा, इसलिए नहीं कि इसका अर्थशास्त्र में प्रयोग हो सकता था, प्रत्युत इसलिए कि यह स्वतन्त्र वाणिज्य के लिए नैतिक औचित्य प्रदान करता था और उसके मार्ग में विधान द्वारा आरोपित की जाने वाली कृत्रिम बाधाओं का विरोध करता था। मानवी प्रेरणाओं की स्वतन्त्र क्रिया प्रतिक्रिया समुदाय का अधिकतम

हित करती है और वह उसके समस्त सदस्यों के लिए यथासम्भव न्यायपूर्ण भी होती है। एडम स्मिथ के "अदृश्य हाथ" से सम्बन्धित वाक्यांश का सारांश प्रस्तुत करते हुए रिकार्डो ने स्वयं कहा था, "व्यक्तिगत लाभ की साधना का सम्पूर्ण समुदाय के हित के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।"

लेकिन, यह तर्क उपयोगितापरक नहीं था। बेंथम ने सुख और दुख शब्दों का जिस अर्थ में प्रयोग किया था, यह तर्क उससे कुछ भिन्न था। बेंथम के अनुसार उपयोगिता के लिए हितों का सामरस्य और सब का अधिकतम हित जरूरी है। लेकिन, इस प्रकार की स्थिति स्वाभाविक नहीं है। यह स्थिति केवल विधान के द्वारा ही पैदा की जा सकती है। न्यायशास्त्री के लिए सुख का महत्त्व यह है कि वह जहां मूल्य का मानक है, वहां वह मानव व्यवहार पर नियन्त्रण भी स्थापित करता है। बेंथम ने स्वतन्त्रता को विधि का उद्देश्य कभी नहीं माना था। उसका मत था कि विधि मनुष्य को ऐसे काम करने के लिए विवश करती है जो मनुष्य स्वेच्छा से कभी नहीं करते। बेंथम के दृष्टिकोण से सामाजिक सामंजस्य विधि के बल-प्रयोग द्वारा पैदा होता है। अर्थशास्त्री के दृष्टिकोण से आर्थिक हितों का सामंजस्य विधि की अनुपस्थिति में पैदा होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उपयोगितावादी के लिए बेंथम का दृष्टिकोण अधिक सुसंगत था यद्यपि आन्तरिक शुल्क के निरसन की चेष्टा में अर्थशास्त्री का तर्क अधिक ग्राह्य था। यद्यपि बल-प्रयोग सदैव ही एक बुराई है लेकिन बेंथम का विश्वास था कि वह एक आवश्यक बुराई है। उसके प्रयोग की सीमाएं केवल ज्यादा बड़ी बुराई को रोकने की उसकी शक्ति द्वारा मर्यादित होती हैं। उपयोगितावादी आधारों पर यह तर्क करना सम्भव है कि वाणिज्य के ऊपर प्रतिबन्ध नहीं लगाने चाहियें लेकिन उनके ऊपर कुछ न कुछ वैधिक प्रतिबन्ध लगाना जरूरी है। उपयोगिता का सिद्धान्त वाणिज्य के क्षेत्र में कितना ही 'हस्तक्षेप' उचित ठहरा सकता है। शर्त केवल यह है कि इस हस्तक्षेप में भलाई की अपेक्षा बुराई कम होनी चाहिए। निर्हस्तक्षेप का समर्थन इस आधार पर समर्थन किया जाता था कि कोई भी वैधिक नियन्त्रण विनिमय की असमताएं पैदा करता है। इस तर्क के अनुसार विनियमन की अनुपस्थिति प्राकृतिक स्वतन्त्रता और प्राकृतिक समानता की स्थिति होती है।

गतिशील नियम सामाजिक उत्पादन के वितरण का नियमन करते हैं। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था में सामरस्य और न्याय का जो भाव निहित रहता है, गतिशील नियम उससे भिन्न भिन्न उपस्थित करते हैं। वितरण सामाजिक वर्गों के बीच है और वर्गों के हित अक्सर विरोधी होते हैं। गतिशील नियम सामाजिक विकास के नियम हैं। रिकार्डो के मत से एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए वे जो आशा उपस्थित करते हैं, वह बहुत अधिक उत्साहप्रद नहीं है। गतिशील शक्तियों में सब से महत्त्वपूर्ण प्रश्न जनसंख्या का है। माल्थस ने १७९८ में प्रकाशित अपने निबन्ध में इस समस्या पर

गम्भीरता से विचार किया था।[1] माल्थस का मत था कि यदि हम मनुष्य की प्रजनन शक्ति पर रोक नहीं लगाते, तो वह सामाजिक उन्नति पर एक अनिवार्य सीमा आरोपित कर देती है। कण्डरसेट ने और इंगलैण्ड में विलियम गॉडविन ने इस तरह की सम्भावना की पूर्व कल्पना की थी। यदि जीवन-स्तर में सुधार होता है तो जनसंख्या बढ़ती है। जनसंख्या बढ़ने से सुधार व्यर्थ हो जाता है। चूंकि जनसंख्या खाद्य के उत्पादन से अधिक तेजी से बढ़ती है, अतः जीविका के साधनों पर जनसंख्या का सदैव ही दबाव रहता है। इस स्थिति में अल्पकालिक उतार-चढ़ावों को छोड़ कर मानव जाति के अधिकांश का जीवन-स्तर सदैव निर्वाह-स्तर पर ही रहता है। वह स्थायी रूप से इस निम्नतम से कम नहीं हो सकता। लेकिन, वह स्थायी रूप से इससे ऊंचा भी नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि यदि खाद्य के उत्पादन में वृद्धि होगी, तो जनसंख्या भी बढ़ जाएगी। इस समाजशास्त्रीय नियम में आर्थिक निष्कर्षों को दूसरे गतिशील नियम के रूप में प्रकट किया गया था। यह किराए का नियम था। माल्थस ने इसका निरूपण किया था और रिकार्डो ने उसकी व्याख्या की है। खाद्य जमीन से पैदा होता है। जमीन की यह विशेषता है कि उसकी मात्रा सीमित है और उसकी उत्पादनशीलता अलग अलग है। स्पष्ट है कि काश्तकार उपजाऊ जमीन के लिए अनुपजाऊ जमीन की अपेक्षा अधिक लगान दे सकता है क्योंकि उपजाऊ जमीन से समान लागत पर ज्यादा पैदावार की जा सकती है। यदि जमीन सिर्फ इतनी पैदावार देती है जो उत्पादन की लागत के बराबर होती है, तो ऐसी जमीन के लिए कोई लगान नहीं दिया जा सकता। अधिक उपजाऊ जमीन का लगान भी अधिक हो सकता है क्योंकि अधिक उपजाऊ जमीन की पैदावार भी अधिक होगी। इसलिए, लगान किसी जमीन के टुकड़े की उत्पादनशीलता और उस जमीन की उत्पादनशीलता के बीच जो खाद्य की प्रचलित कीमतों के आधार पर अपने प्रयोग की लागत नहीं चुका सकती, अन्तर है।

रिकार्डो ने जनसंख्या और किराए के दो नियमों के आधार पर महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। इसका पहला निष्कर्ष यह है कि जमींदार एकाधिकारी अथवा आर्थिक परजीवी है जो अन्य समस्त आर्थिक वर्गों से बलि ग्रहण कर सकता है क्योंकि किराया उत्पादन में कोई योग नहीं देता। इस सम्बन्ध में रिकार्डो का कहना था, "जमींदार का हित सदैव ही समुदाय के अन्य प्रत्येक वर्ग के हित का विरोधी होता है।" पुनः, खाद्य की कीमत में वृद्धि होने से, चूंकि इसके कारण कम उपजाऊ जमीन पर काश्त होगी, किराया बढ़ जाएगा और जनसंख्या बढ़ने से कीमतें बढ़ जायेंगी। दूसरे, किराए और जनसंख्या के नियमों में मजूरी का भी एक नियम निहित है। वह नियम यह है कि कुछ कालों को छोड़ कर मजूरी निर्वाह-स्तर से कम या अधिक कभी नहीं हो सकती।

---

1 माल्थस के निष्कर्षों को उसके पहले भी अनेक लेखकों ने प्राप्त कर लिया था। माल्थस की मौलिकता यह थी कि उसने इन निष्कर्षों को गणितीय परिशुद्धता के साथ व्यक्त किया था। देखिए हेलेवी, पूर्वोक्त कृति में पृ० २५ ff।

इस सम्बन्ध मे रिकार्डो का कहना था, "श्रम की स्वाभाविक कीमत वह है जो श्रमिकों को अपना निर्वाह करने के लिए अपनी जाति की वृद्धि या कमी के बिना ही, कायम रखने के लिए आवश्यक होती है।" अतएव, चूंकि उद्योग का कुल उत्पादन किराए, मजूरी या लाभ के रूप मे बट जाता है, अत: पहले दो अशो की वृद्धि तीसरे अश मे से जो पूजीपति के पास जाता है, निकल जाती है। इसलिए, एक प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था को, जिसमे उत्पादन बढ रहा है, सामान्य प्रवृत्ति यह होगी कि उसमे जमीदारो को ज्यादा बडा भाग मिलेगा यद्यपि वे प्रगति मे कुछ भी योग नही देते, पूजीपतियो को कम भाग मिलेगा और श्रमिको को सदैव की भाति उतना ही भाग मिलेगा जिससे कि वे अपना जीवन-निर्वाह कर सकें। दृढ से दृढ आशावादी भी इस व्यवस्था को प्राकृतिक न्याय की व्यवस्था नही कह सकता। रिकार्डो के गतिशील नियमो में प्रकृति निष्कर्षों की चिंता किए बिना ही प्रजनन की बर्बर प्रवृत्ति के रूप मे दिखाई देती है।

स्वाभाविक रूप से सामजस्यपूर्ण आर्थिक समाज के विचार तथा स्वाभाविक रूप से सघर्षशील वर्गों के विचार को एकता के सूत्र मे ग्रथित रखने का श्रेय तर्कशास्त्र को नही प्रत्युत् इस तथ्य को था कि दोनो ही स्वतन्त्र वाणिज्य के पक्ष मे थे तथा खाद्यान्न पर लगाए गए प्रशुल्क का हटाना चाहते थे। यह निष्कर्ष इस सिद्धान्त पर आधारित है कि आर्थिक समाज प्रतियोगिता के द्वारा अपना नियमन अपने आप कर लेता है। यदि किराया उत्पादन मे कोई योग नही देता और अर्थ-व्यवस्था पर व्यर्थ का भार है, तो उस विधान के द्वारा जो कृत्रिम रूप से खाद्य की कीमत बढा देता है, किराए की वृद्धि नही की जानी चाहिए। एक खास किस्म के कराधान को दूर करने की इस चेष्टा ने परम्परागत अर्थशास्त्र के हित को एक ऐसे ढग से सीमित कर दिया था जो इस व्यवस्था की युक्ति पर बहुत कम निर्भर था। कोई भी करायान किसी न किसी ढग से अर्थशास्त्र पर अवश्य ही प्रभाव डालता है और कोई कारण नही दिखाई देता कि विधायक करा-धान का इस तरह से प्रयोग क्यो न करे जिससे सामान्य कल्याण की वृद्धि हो। शर्त यह है कि उसके उपाय कारगर होने चाहिएँ। उदाहरण के लिए जेम्स मिल का विचार था कि उसका प्रयोग पूजी को बढाने के लिये हो सकता है। तथापि, वह यह समझता था कि सम्भवत यह प्रयत्न सफल नही होगा। जमीन के किराए के अतिरिक्त आर्थिक किराए के और भी बहुत से रूप हैं। यदि राज्य उन सब को जब्त करने का विधान बनाए, तब भी उससे सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन मे कोई बाधा नही पडेगी। हेनरी जॉर्ज की पुस्तक *Progress and Poverty*, (१८७९) ने—इस पुस्तक ने फेबियन समाज की स्थापना करने वाले तरुण अग्रेजो पर काफी असर डाला था—सिद्धान्त का परिवर्तन नही, प्रत्युत् हित का परिवर्तन प्रकट किया। उसने इस सम्भावना को परखने की आकाक्षा व्यक्त की कि क्या वर्तमान आर्थिक सिद्धान्त के अन्तर्गत विधान के द्वारा अर्थ-व्यवस्था का इस तरह से विनियमन किया जा सकता है कि उससे सर्वसाधारण की भलाई हो सके। अधिकतर परम्परागत अर्थशास्त्री, शिक्षा को सार्वजनिक सहायता देने के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के ढसामाजिक विधान के विरुद्ध थे। इससे वे इगलैण्ड

की अर्थव्यवस्था की एक समस्या के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त करते थे। इससे जिस वर्ग का वे प्रतिनिधित्व करते थे, उसके प्रति उनका पक्षपात भी प्रकट होता था। विधान के द्वारा मजदूरों की स्थिति में सुधार करने की कथित असम्भावना माल्थस के जनसंख्या विषयक समाजशास्त्रीय नियम पर निर्भर थी। लेकिन, यह नियम इस विचारधारा का सब से कम विश्वसनीय अंग प्रमाणित हुआ। मानवप्रेमी उदारवादी सामाजिक विधान के कभी विरुद्ध नहीं थे। १८२०-३० के ब्रिटिश कानूनों ने व्यापार पर से प्रतिबन्धों को हटाना शुरू कर दिया। इनके साथ ही फैक्टरी अधिनियम बनने शुरू हो गए और मजदूरों का संगठित होने का अधिकार मिल गया। तथापि, यह सही है कि शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक उदारवादी विधान का मुख्य जोर निर्हस्तक्षेप के पक्ष में था।

उदारवादी अर्थशास्त्र तर्क से नहीं, प्रत्युत् व्यावहारिक विचारों से कहां तक नियंत्रित था, यह बात कार्ल मार्क्स के अनुभव से सिद्ध हो जाती है। मार्क्स ने बड़ी आसानी से उसकी युक्तियों का एक भिन्न प्रयोजन के लिए प्रयोग किया। रिकार्डो ने कहा था कि जमींदारों के हित श्रमिकों तथा पूंजीपतियों के हितों के विरुद्ध होते हैं। मार्क्स ने कहा कि पूंजीपतियों के हित श्रमिकों के हितों के प्रतिकूल होते हैं। उत्पादन का जो अंश मुनाफे के रूप में जाता है, वह मजदूरी से निकाल लिया जाता है। यदि जमींदार इस आधार पर किराया वसूल कर सकता है कि उसका जमीन पर एकाधिकार होता है, तो यह भी कहा जा सकता है कि उद्योग-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में पूंजीपति का उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार होता है और उसके लाभ एक प्रकार के अतिरिक्त मूल्य अथवा आर्थिक किराए के रूप में होते हैं। यह फेबियनों का प्रिय तर्क था। रिकार्डो को यह डर था कि जमींदारों के हित में पूंजीपतियों को दबाया जाएगा लेकिन आशावादी यह सोच सकते थे कि मजदूरों के हित में पूंजीपतियों को समाप्त कर दिया जाए। सचाई यह है कि परम्परागत अर्थशास्त्र ने मार्क्स को श्रमिकों के शोषण की एक तैयार तस्वीर प्रदान की। अर्थशास्त्री का तो विचार यह था कि वह एक ऐसी व्यवस्था का वर्णन कर रहा है जो स्वाभाविक है। लेकिन, मार्क्स के दिमाग में तो हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति थी। उसने तत्परता से यह समझ लिया कि यह व्यवस्था इतिहास में जमी हुई है और शोषण के लिए पूंजीवादी व्यवस्था उत्तरदायी है।

प्रारम्भिक उदारवाद का राजनीतिक सिद्धान्त

(The Political Theory of Early Liberalism)

बेंथमी उग्रवाद का राजनीतिक सिद्धान्त उसके न्यायशास्त्र अथवा परम्परागत अर्थशास्त्र से कम महत्त्वपूर्ण था। इसका कुछ कारण तो यह था कि स्वनियमनकारी अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त में शासन के लिए कोई खास काम नहीं रहता। इसका कुछ कारण यह था कि इंगलैण्ड में उदार राजनीतिक सुधार किस दिशा में हो, यह बात लम्बे

समय में स्पष्ट थी और इन सुधारों के होने में विलम्ब हो गया था। यदि वैधिक या राजनीतिक सुधार करने थे, तो यह जरूरी था कि संसद् में जमींदारों के राजनीतिक एकाधिकार को समाप्त किया जाए। उग्रवादियों के एक नवस्थापित मुखपत्र वेस्टमिन्स्टर रिव्यू[1] में जेम्स मिल ने एक लेख प्रकाशित किया जिसमें उसने बताया कि हाउस ऑफ कामन्स मुख्य रूप से दो सौ परिवारों द्वारा चुना जाता है जिनमें सम्पत्तिशाली चर्च के पादरी और वकील भी गौण रूप में शामिल हैं। दोनों राजनीतिक दलों में कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई अन्तर है भी तो सिर्फ यह कि विरोधी दल सत्तारूढ़ दल के लाभों को प्राप्त करने के फेर में रहता है। दोनों में से कोई भी उन एकाधिकार को नहीं बदलना चाहते जिससे उन्हें लाभ होता है। उसका कहना था कि इंगलैण्ड का शासन पूर्ण रूप से वर्ग-हित का शासन है। दोनों दलों में शासन की शक्ति केवल थोड़े से लोगों के हाथों में रहती है। इन लोगों में से अधिकतर जमींदार हैं। इनमें से कुछ ही व्यक्ति पूंजीपति हैं जिन्होंने रिश्वत के द्वारा अपना प्रभाव स्थापित कर लिया है। उनके विचार में इस समस्या का समाधान यह था कि मतदान का अधिकार सम्पूर्ण समुदाय को विशेषकर औद्योगिक मध्यम वर्ग को दिया जाए। आधुनिक काल में प्रतिनिधित्व की गौरवपूर्ण पद्धति के द्वारा समस्त सैद्धांतिक और व्यावहारिक समस्याओं का हल खोजा जा सकता है।[2]

उपयोगितावाद के आरम्भिक राजनीतिक दर्शन का मूल अंश बेंथम के न्याय-शास्त्र पर आधारित था। बेंथम ने अपने ग्रन्थ फ्रेगमेंट ऑन गवर्नमेंट में उसकी रूपरेखा प्रस्तुत कर दी थी। इस राजनीतिक सिद्धान्त का मुख्य तत्त्व यह था कि बेंथम ने न्याय-पद्धति के पुनर्गठन के बारे में जिन विचारों को प्रस्तुत किया था, उन्हीं विचारों को उसने सांविधानिक विधि के ऊपर भी लागू किया।[3] मूल सिद्धान्त यह है कि उदारवादी शासन को दुर्बल शासन नहीं समझा जा सकता। अधिकारों के विधेयक, शक्तियों के पृथक्करण और प्रतिबन्धों तथा सन्तुलनों के सिद्धान्तों को जो प्रभुसत्ता पर वैधिक प्रतिबन्ध लगाते हैं, बेंथम ठीक नहीं मानता था। उसका विचार था कि इस तरह के सिद्धान्त भ्रमपूर्ण होते हैं और वे अपने उद्देश्यों को सिद्ध नहीं कर पाते। इनकी स्थिति प्रायः वही होती है जो कि विधि में औपचारिकताओं और प्रविधियों की होती है। इसलिए, उसने संसद् की पूर्ण वैधिक प्रभुसत्ता स्वीकार की और कहा कि प्रबुद्ध जनरुचि उत्तरदायित्व की व्यवस्था कर सकता है। उसका कहना था कि अन्तिम राजनीतिक प्रभुसत्ता जनता में रहनी चाहिए क्योंकि इसी तरह से शासन का हित सर्वसाधारण के हित से सामंजस्य रख सकता है। जनता का हित तभी कारगर हो सकता है जबकि

---

1 Vol. I (1824) ; p 206 ; on the *Edinburgh Review*

2 एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के पूरक अंक में शासन विषयक लेख (१८२०)। यह लेख *Essays on Government* पुस्तक (१८२५) में दुबारा छपा है।

3. मुख्य रचना *Constitutional Code* (1830) है। *Works* (ed by Bowring), Vol. IX.

सार्वभौम मताधिकार हो। मताधिकार की सफलता के लिए यह जरूरी है कि सार्वभौम शिक्षा का प्रचार हो। संसद् को निर्वाचक मंडल के प्रति उत्तरदायी बनाने के लिए, वह उसका कार्यकाल एक वर्ष रखना चाहता था। इन राजनीतिक विचारों का महत्त्व यह नहीं था कि वे बहुत उग्रवादी थे और बेंथम के जीवन काल में उनको कार्यान्वित करना सम्भव नहीं था। इन विचारों का महत्त्व यह था कि बेंथम ने उदारवाद के रामच से इनको व्यक्त किया। उदारवाद का रामच सांविधानिक सीमाओं को स्वतन्त्रता की मुख्य गारण्टी समझता था। बेंथम ने शासन सम्बन्धी जिन कल्पनाओं को शुरू में निरंकुश शासन के ऊपर लागू किया था उन्हीं को अब उसने उदारवादी शासन के ऊपर लागू किया। बेंथम का ज्ञान-ज्योति में इतना अधिक विश्वास था कि उसे बहुमत के सम्भव अत्याचार के बारे में कोई गलतफहमी नहीं थी। जॉन स्टुअर्ट मिल ने ठीक ही कहा था कि आरम्भिक उपयोगितावादी इसलिए उदारवादी नहीं थे कि उनका स्वतन्त्रता में विश्वास था। वे इसलिए उदारवादी थे कि उनका श्रेष्ठ शासन में विश्वास था। राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रता के लिए संस्थाओं का भी कुछ महत्त्व होता है बेंथम इस बात को नहीं समझ सका। लेकिन वह इस बात को जरूर कहता था कि उदारवादी शासन में कार्यक्षमता अधिक होती है। कार्यक्षमता के अभाव के कारण उदारवादी शासन का समर्थन करने की जरूरत नहीं है।

जेम्स मिल के शासन सम्बन्धी विचार बेंथम के शासन सम्बन्धी विचारों में बहुत भिन्न नहीं थे। जेम्स मिल ने अपने ग्रन्थ ऐसे ऑन गवर्नमेंट में इन विचारों के दार्शनिक आधार को अधिक स्पष्टता से व्यक्त किया। उसने इस बात को विशेष रूप से सिद्ध किया कि बेंथमी उदारवादियों का राजनीतिक दर्शन ह्यूम की अपेक्षा हॉब्स पर अधिक निर्भर था। हॉब्स की भाँति मिल का भी विश्वास था कि सभी मनुष्यों में शक्ति प्राप्त करने की एक अदम्य इच्छा होती है और संस्थाएँ प्रतिबन्ध इस इच्छा को नहीं रोक सकते। बेंथम की भाँति उसने भी उदारवादी और स्वेच्छाचारी दोनों प्रकार की शासन प्रणालियों के लिए शक्तियों के विभाजन अथवा सन्तुलन की कल्पना को अस्वीकार किया। तथापि वह यह मानता था कि शासन-सम्बन्धी सब से जटिल प्रश्न शासकों की शक्ति को मर्यादित करने से सम्बन्धित होते हैं। उसके विचार से इस समस्या का एकमात्र समाधान यह था कि एक ऐसे विधानमण्डल की स्थापना की जाए जिसके हित देश के हितों से साम्य रखते हों। विधानमंडल के सदस्य अपनी शक्ति का प्रयोग केवल सर्वसाधारण के हित के लिए करें और विधानमंडल का कार्यपालिका के ऊपर नियंत्रण स्थापित हो। उसे आशा थी कि जब सार्वभौम मताधिकार के आधार पर प्रतिनिधिक शासन व्यवस्था की स्थापना होगी और संक्षिप्त पदावधि रक्खी जाएगी तब यह परिणाम अपने आप प्राप्त हो जाएगा। यद्यपि मिल अपने हर तर्क को इस ढंग से प्रस्तुत करता था मानो वह एक सार्वभौम और शाश्वत सिद्धान्त हो तथापि मिल के राजनीतिक चिंतन का एक तात्कालिक उद्देश्य था और वह यह कि औद्योगिक मध्यवर्ग को मतदान का अधिकार प्राप्त हो। मिल इस वर्ग को समुदाय का सब से बुद्धिमान

अदा समझता था। उसका यह भी विचार था कि निम्न वर्ग को इस वर्ग में पद-प्रदर्शन प्राप्त होगा। मिल ने इस सम्भावना पर कभी विचार नहीं किया कि मध्य वर्ग राजनीतिक शक्ति का अपने हित के लिए भी प्रयोग कर सकता है।

परम्परागत अर्थशास्त्र की भांति मिल के राजनीतिक दर्शन में भी दो प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण था। इसमें एक ओर तो व्यक्तिवादी अभिप्रेरणा का अहंवादी सिद्धान्त था और दूसरी ओर मानवी हितों के स्वाभाविक सामंजस्य का विश्वास था। सार्वजनिक मताधिकार के पक्ष में उसकी युक्ति यह थी कि यदि मनुष्यों को थोड़ी-सी शिक्षा प्राप्त हो जाती है तो वे अपने हितों को अच्छी तरह से समझ सकते हैं और अपने हितों को अच्छी तरह समझने पर वे उनकी रक्षा के लिए अवश्य प्रयत्न करेंगे। यदि सब मनुष्य अपने-अपने हितों की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं तो अधिकतम संख्या का अधिकतम हित अपने आप सिद्ध हो जाएगा। यद्यपि मानव प्रकृति के सम्बन्ध में उसका मूल्यांकन कुछ निराशावादी था लेकिन फिर भी उसका विवेक में दृढ़ विश्वास था और इस प्रकार वह भी कॉण्डरसैट तथा गॉडविन की भांति मनुष्य की असीम प्रगति में आस्था रखता था। जॉन स्टूअर्ट मिल ने अपने पिता के दृष्टिकोण को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया था।

"मेरे पिता का विवेक के ऊपर दृढ़ विश्वास था। उनका कहना था कि यदि विवेक की पहुंच सब लोगों तक हो जाए और सब लोग पढ़ना सीख जायें या सब लोगों को मौखिक तथा लिखित रूप में स्वतन्त्र विचारों को व्यक्त करने की अनुमति दे दी जाए तथा वे अपने विचारों को कार्यान्वित करने के लिए एक विधानमंडल का निर्माण कर सकें तो सब कुछ प्राप्त हो जाएगा। उनका विश्वास था कि जब विधानमंडल किसी विशेष वर्ग के हित का प्रतिनिधित्व नहीं करेगा तब वह ईमानदारी और बुद्धिमत्ता के साथ सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए कोशिश करेगा।"[1]

इस तरह का विचार व्यावहारिक अथवा उपयोगितावादी आधार पर सम्भव नहीं था। इसका आधार तो सिर्फ यह था कि विवेक से किया गया कार्य स्वभावतः सामाजिक सामंजस्य उत्पन्न करता है।

दार्शनिक उग्रवादियों का उदारवाद उन्नीसवीं शताब्दी की राजनीति में व्यावहारिक महत्त्व की एक अपूर्व शक्ति रहा था। यद्यपि इन लोगों ने खुद किसी राजनीतिक दल का निर्माण नहीं किया परन्तु उन्होंने ऐसे विचारों का प्रचार किया जिनके कारण पुरानी राजनीतिक कुरीतियां दूर हुईं और विधान, प्रशासन तथा न्यायिक प्रक्रिया में आमूल सुधार हुए। संसद् का सुधार हुआ, वाणिज्य तथा उद्योग पर से पुराने प्रतिबन्ध हटे और न्यायिक व्यवस्था का पुनर्गठन किया गया। १८३२ में संसद् का सुधार हुआ। इसने बेंथम के इस विश्वास को सार्थक सिद्ध कर दिया कि उदारवाद के सुधार से शासन की शक्ति कम नहीं होगी बल्कि उसकी कार्यक्षमता बढ़ जाएगी। संसद् के सुधार

1. *Autobiography* (1873), p. 106.

के कुछ ही वर्षों के भीतर प्रशासनिक सुधारों की भी शृंखला चल पड़ी। इन सुधारों में बेंथम के मानसिक शिष्यों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। पुअर ला के लिए एक केन्द्रीकृत प्रशासन शुरू किया गया। इसकी प्रेरक शक्ति एडविन चाडविक तथा जार्ज ग्रोटे थे। सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए सेवाओं का पुनर्गठन हुआ और काउन्टी पुलिस के लिए केन्द्रीकृत प्रशासन की स्थापना की गई। कुछ समय बाद कारखानों का निरीक्षण भी शुरू हो गया। इनमें भी चाडविक ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।[1] १८४० में जे० ए० रोबक तथा बेंथम के कुछ अन्य अनुयायियों ने प्रारम्भिक शिक्षा को सर्वसुलभ करने वाला एक विधेयक पास करवा दिया। १८३९ में लार्ड डरहम की रिपोर्ट तैयार हुई। इस रिपोर्ट का कुछ अंश चार्ल्स बुलर तथा एडवर्ड गिबन वेकफील्ड ने तैयार किया था। इस रिपोर्ट ने औपनिवेशिक नीति का संशोधन शुरू कर दिया और कनाडा में एक उदार संविधान चालू किया जो किसी भी उपनिवेश को दिया गया पहला संविधान था। इसके साथ ही वेकफील्ड ने आस्ट्रेलिया के उपनिवेशीकरण की योजना तैयार की। यही ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का बीज था। इन उपयोगितावादियों का एक ओर तो विवेक में विश्वास था जो उन्होंने ज्ञान युग से प्राप्त किया था और दूसरी ओर उनमें व्यावसायिक योग्यता भी थी जो उन्होंने बेंथम से सीखी थी। इन दोनों गुणों के मणि-कांचन संयोग से ऐसे सुधार सम्भव हुए जिन्होंने शासन को अधिक उदार भी बनाया और अधिक सक्षम भी।

दार्शनिक उग्रवादियों के खिलाफ सामान्य आलोचना यह थी और इसमें जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे उदारवादी उत्तराधिकारी भी शामिल थे कि उसने संस्थाओं तथा उनके ऐतिहासिक विकास की उपेक्षा की। मानव प्रकृति और उसकी प्रेरणाओं के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण गलत था। ये दोनों आलोचनाएं सही थीं। इन आलोचनाओं का अभिप्राय अकसर यह समझा जाता था कि दार्शनिक उग्रवाद स्पष्ट था, बहुत अधिक व्यवस्थित था, और संकीर्ण प्रतिज्ञाओं पर निर्भर था। यह बात सच न थी। उसकी बुनियादी कमजोरी यह थी कि उसमें स्पष्टता का अभाव था और उसने अपनी धारणाओं तथा अपने निष्कर्षों को कभी नहीं परखा। कुछ दृष्टियों से सत्रहवीं शताब्दी के बुद्धिवादी दर्शनों की भांति वह भी प्रकृति का एक दर्शन था। लेकिन, उसका कोई ऐसा ज्ञान सिद्धान्त नहीं था जिससे कि प्रकृति के प्रति उसकी अपील बोधगम्य होती। उसका दावा था कि वह व्यवहारवादी है लेकिन उसने निरीक्षण के द्वारा अपने आधारभूत सिद्धान्तों को जांचने की कभी कोशिश नहीं की। उसका व्यवहारवाद एक प्रकार का अपरिष्कृत संवेदनावाद था जो दो पीढ़ियों पूर्व लॉक के दर्शन से लिया गया था। इसलिए, जब कुछ ऐसे विचारकों

---

1 देखिए, बी० डब्ल्यू० रिचर्डसन, *The Health of Nations, a Review of the Works of Edwin Chadwick* (1887) विशेषकर जीवनी विषयक अंश और जिल्द २ भाग १ और २। जे० ए० विलियमसन, *Short History of British Expansion* (2nd ed 1930) Part V, Ch 3 and 4

ने जो उसके विशिष्ट सिद्धान्तो से मिल की अपेक्षा कम प्रभावित थे, उसकी आलोचना की तो वह बड़ी आसानी से बिखर गया। दार्शनिक उग्रवाद मुख्य रूप से एक अस्थायी दर्शन था। वह अधिकतर एक सामाजिक हित का प्रवक्ता था। उसने इस हित को जल्दी मे, यद्यपि इसमे उसकी कोई पाखडता नही थी, सम्पूर्ण समुदाय के हित के साथ समीकृत कर दिया था। इस तथ्य की चेतना ने और इसके साथ ही साथ उसकी सामाजिक नीति के असह्य परिणामो ने एक सामाजिक दर्शन के रूप मे उसे बदनाम कर दिया। वह जिन वैधिक सुधारो का प्रतिपादन करता था, उन सुधारो के होने से पहले ही बदनाम हो गया था। सामाजिक दर्शन के रूप मे उसकी मुख्य दुर्बलता यह थी कि सामाजिक हित की उसके पास कोई सकारात्मक सकल्पना नही थी। उसका अहकारपूर्ण व्यक्तिवाद इस तरह की सकल्पना को सन्देह की दृष्टि से देखता था और वह भी एक ऐसे समय मे जबकि समुदाय का समग्र कल्याण चिंता का मुख्य विषय होता जा रहा था। राजनीतिक दर्शन के रूप मे उसकी मुख्य दुर्बलता यह थी कि उसका शासन-सिद्धान्त बिल्कुल नकारात्मक था, एक ऐसे समय मे जबकि यह जरूरी होता जा रहा था कि शासन सामान्य कल्याण के लिए अधिकाधिक उत्तरदायित्व ग्रहण करे। इसलिए, राजनीतिक विकास के लम्बे सन्दर्भ मे, देखने पर ज्ञात होता है कि दार्शनिक उग्रवाद आगे नही बढ़ा बल्कि वह रुद्ध हो गया। उसने राजनीतिक सुधारो की दिशा मे अपने समय मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। लेकिन, वह कार्य समाप्त होने पर वह खुद भी विलुप्त हो गया।

Selected Bibliography

The Austinian Theory of Law. By W. J. Brown, London, 1906.

Political Thought in England from Benthan to J. S. Mill, By W. L Davidson New York, 1916.

The Growth of Philosophical Radicalism. By E. Halevy. Trans. by Mary Morris New York, 1928.

The Social and Political Ideas of Some Representative Thinkers of the Revolutionary Era Ed. F. J. C. Hearnshaw. London, 1931. Ch VII.

The Social Problems of an Industrial Civilization. By Elton Mayo Boston, 1945 Ch. 2.

Bentham's Theory of Fictions. By C. K. Ogden London, 1932. Introduction

"*Benthamism in England and America*" By P. A Palmer. *American Political Science Review*, Vol. XXXV (1941), p. 855.

Three Criminal Law Reformers.Beccaria, Bentham, Romilly By Coleman Phillipson. London, 1923. Part II.

A History of European Liberalism By Guido de Ruggiero Trans by R G Collingwood Oxford 1927

French Political Thought in the Nineteenth Century By Roger Soltau New Haven 1931

The English Utilitarians By Leslie Stephen 3 Vols New York 1900

The Life of Francis Place 1771 1854 By Graham Wallas London 1898

Select Essays in Anglo-American Legal History 3 Vols Boston 1907 09 Vol I Part IV

अध्याय ३२

उदारवाद का आधुनिक रूप

(Liberalism Modernized)

दार्शनिक उपवाद को सब से बड़ी विधायी सफलता उस समय प्राप्त हुई, जब उसका पतन आरम्भ हो गया था। उसका प्रभाव १८४६ में अपने शिखर पर पहुँच गया जबकि कॉर्न लाज़ को रद्द कर दिया गया और स्वतन्त्र वाणिज्य को इंगलैंड की राष्ट्रीय नीति मान लिया गया। लेकिन अनियन्त्रित उद्योगवाद के सामाजिक प्रभावों ने इसके पहले ही उदारवादियों तक के दिमागों में गम्भीर गलतफ़हमी पैदा की और उन वर्गों में प्रतिक्रिया उत्पन्न की जिनके निहित स्वार्थों अथवा परम्परागत जीवन-पद्धतियों के लिए खतरा उत्पन्न हो गया था। इंगलैण्ड में खनन उद्योग की जाँच करने के लिए जो राजकीय आयोग नियुक्त किया गया था, १८४१ में उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट ने सारे इंगलैण्ड को हिला दिया। इसने बताया कि खानों में कितनी निर्दयता बरती जाती है, बच्चों और स्त्रियों के रोजगार की दशाएँ कितनी खराब हैं, मजदूरों को कितनी-कितनी देर तक काम करना पड़ता है, सुरक्षा के साधनों की कितनी कमी है और अनाचार तथा गन्दगी का कितना बोलबाला है। इस रिपोर्ट का तथा अन्य उद्योगों की इसी तरह की बातों का अंग्रेजी साहित्य पर तुरन्त प्रभाव पड़ा। उद्योगवाद के बारे में लिखे गए उपन्यासों में इन सब समस्याओं की चर्चा हुई। इन उपन्यासों में श्रीमती गैस्केल का *Mary Barton*, डिज़रैली का *Sybil* और किंग्स्ले का *Alton Locke* विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी उपन्यास १८४०–५० में प्रकाशित हुए थे। शताब्दी के शेष भाग में कार्लाइल, रस्किन और विलियम मॉरिस उद्योगवाद की कुछ नैतिक और कुछ सौंदर्यपरक आधारों पर आलोचना करते रहे। १८३० के बाद संसद् ने सकोचपूर्वक फैक्ट्री अधिनियमों को पास करना शुरू कर दिया। इन अधिनियमों का उद्देश्य कारखानों में काम के घंटों तथा दशाओं को नियन्त्रित करना था। ये सारे कानून संविदा की स्वतन्त्रता को सीमित करते थे और इसलिए आरम्भिक उदारवादी विधान की प्रवृत्ति के विरुद्ध थे। उनके बारे में सामान्य रूप से यह भी विचार था कि वे उदारवादी नीति के खिलाफ हैं। ज्यों-ज्यों उन्नीसवीं शताब्दी आगे बढ़ती गई, सामाजिक विधान की मात्रा में भी निरन्तर वृद्धि होती गई। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि शताब्दी

के तीसरे चतुर्थांश में कुछ समर्थ आलोचकों ने यहां तक कहना शुरू कर दिया कि संसद् ने व्यक्तिवाद को अपना पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त मानना छोड़ दिया है और उसने "समुदायवाद" (collectivism) को अपना लिया है।[1] उदारवाद को जिस रूप में ग्रहण किया गया था, वह अपने बचाव पर था। यह एक प्रकार की आश्चर्यजनक असंगति ही है कि सामाजिक कल्याण और इसलिए अधिकतम सुख के हित में जो विधान पास किया गया था, वह मान्य उदारवादी विचारों के विरुद्ध था।

आर्थिक उदारवाद के विरोध की यह प्रतिक्रिया किसी प्रकार के विरोधी सामाजिक दर्शन पर आधारित नहीं थी। इसका यह अभिप्राय भी नहीं था कि इससे प्रभावित लोग दार्शनिक दृष्टि से एकमत हैं। डायसी जिसे "समुदायवाद" कहता था, वह कोई दर्शन नहीं था। इसे एक प्रकार का स्वतःप्रेरित बचाव कहा जा सकता है—औद्योगिक क्रान्ति की सामाजिक विनाशकता तथा एक ऐसी नीति की अनवधानता के विरोध में जिसने उद्योगवाद को बढ़ावा दिया लेकिन उद्योगवाद द्वारा प्रसूत संहारकारी शक्तियों को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। इसका नियन्त्रक तत्त्व यह भावना थी—इस भावना को व्यवस्थित रूप नहीं दिया गया था—कि अनियन्त्रित उद्योगवाद और व्यापारवाद सामाजिक सुरक्षा तथा स्थिरता के लिए एक खतरा है। यदि यह बात सही है कि इसकी वजह से समृद्धि बढ़ी है और मजदूरी में भी वृद्धि हुई है, तब भी इस खतरे की भीषणता कम नहीं होती। वस्तुस्थिति यह है कि निर्हस्तक्षेप की नीति पर सभी देशों में प्रतिबन्ध लगाए गए और इन प्रतिबन्धों का समर्थन ऐसे राजनीतिक दलों तक ने किया जिनके सामाजिक दर्शन एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न थे।[2] इस प्रतिक्रिया का कारण कुछ तो यह था कि औद्योगिक मजदूरों की असन्तोषजनक दशाओं ने मानवोचित करुणा का भाव जाग्रत कर दिया था। एक राजनीतिक आन्दोलन के रूप में उदारवाद मानववाद से नाता नहीं तोड़ सकता था क्योंकि मानववाद उदारवादियों के बीच सदैव ही एक शक्तिशाली तत्त्व रहा था यद्यपि उसे दार्शनिक उग्रवादियों से इस प्रकार की मान्यता कम ही प्राप्त हुई थी। इस सामान्य प्रतिक्रिया के अतिरिक्त एक बात और बहुत महत्त्वपूर्ण थी। उदारवादियों ने उद्योगपतियों के हितों का समर्थन किया था। इससे दो अन्य आर्थिक हितों में, जिनकी स्थिति को उदारवाद से खतरा पैदा हो गया था, राजनीतिक

---

1. A V Dicey, *Law and Public Opinion in England during the Nineteenth Century* (1905), सातवां व्याख्यान। लिबरल पार्टी ने जिस तरह का उदारवाद-विरोधी विधान पास किया, हर्बर्ट स्पेंसर उससे बहुत अधिक सशंकित हो गया था। उसने अपने ग्रन्थ *The Man Versus the State* (१८८४) में ऐसे अधिनियमों की एक लम्बी सूची तैयार की जो स्वतन्त्र बाजार के क्रियाकलापों में हस्तक्षेप करते थे। इन कानूनों में न केवल श्रम-सम्बन्धी कानून ही शामिल थे, बल्कि स्वच्छता और सार्वजनिक शिक्षा विषयक कानून भी शामिल थे।

2 Karl Polanyi, *The Great Transformation* (1944), pp 145 ff.

चेतना फैल गई। इंगलैण्ड में लम्बे समय से यह नीति चली आ रही थी। कृषि के संरक्षण के लिए प्रशुल्क लगा दिए जाते थे। स्वतन्त्र व्यापार को अपनाने से यह नीति बदल गई। इससे यह प्रतीत होने लगा मानो वाणिज्य तथा उद्योग की वेदी पर किसानों के हितों का बलिदान किया जा रहा है। कृषक वर्ग सदैव ही अनुदार रहा था। अनुदारवाद का जहाँ तक कोई राजनीतिक दर्शन था, वह बर्क से ग्रहण किया गया था। वह सामाजिक स्थिरता और समुदाय की ऐतिहासिक निरन्तरता पर जोर देता था। इस दृष्टि से वह उद्योगवाद का स्वाभाविक आलोचक और विरोधी था। इसका परिणाम बड़ा अमंगल हुआ, कम-से कम जेम्स मिल जैसे उदारवादी की दृष्टि से। जेम्स मिल का विचार था कि मजदूर सदैव ही "समुदाय के सब से बुद्धिमान भाग" अर्थात् औद्योगिक मध्यम वर्ग का अनुसरण करेंगे। एक ऐसे मजदूर के लिए जिसके व्यापार को नई टेक्नालाजी से खतरा पैदा हो गया था, यह सोचना स्वाभाविक था कि मेरे हित, उस दल के हाथों में ज्यादा सुरक्षित हैं जो मेरे सेवानियोजकों का प्रवक्ता न होकर जमींदारों के हितों का प्रतिनिधि है। डिजरैली का 'टोरी लोकतन्त्र' कुछ समय के लिए एक वास्तविक राजनीतिक शक्ति बन गया। दूसरे, औद्योगिक सेवानियोजकों की राजनीतिक चेतना ने मजदूरों में भी राजनीतिक चेतना जाग्रत की। १८६७ में अनुदारवादी शासन ने मजदूरों के एक बड़े भाग को मतदान का अधिकार दिया। इससे स्थायी महत्त्व का राजनीतिक परिवर्तन शुरू हो गया। इसका अभिप्राय मतदाताओं के ऐसे समुदाय का अभ्युत्थान था जिसे मजूरी की रक्षा करने, काम के घंटे कम करने और रोजगार की दशाओं को सुधारने की ज्यादा चिंता थी। यह समुदाय व्यापारिक उद्यम को बढ़ाने में बिल्कुल दिलचस्पी नहीं रखता था। इसको यह भी पूरी तरह ज्ञात था कि उसकी शक्ति सविदा की स्वतन्त्रता में नहीं बल्कि सामूहिक सौदेबाजी में है। अब दो चीजों में से एक ही चीज हो सकती थी। या तो उदारवाद इन मांगों को पूरा करता या मजदूर वर्ग उदारवादी न रहता।

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया था ब्रिटिश उदारवाद की मुख्य विशेषता यह थी कि वह एक राष्ट्रीय राजनीतिक आंदोलन के रूप में विकसित हुआ और आगे चलकर वह केवल मध्यवर्ग के औद्योगिक हितों का ही प्रवक्ता नहीं रहा जैसा कि वह शुरू में था। इंगलैण्ड संसार का सब से अधिक उद्योगप्रधान देश था और उसके उद्योगपतियों के पास ऐसी राजनीतिक शक्ति आ गई थी जो संसार के अन्य किसी देश के उद्योगपतियों के पास नहीं थी। लेकिन, ये उद्योगपति एक ऐसे समाज के अंग थे जिसे अपनी राष्ट्रीय एकता का और राष्ट्रीय हितों की समानता का पूरा भान था। यह जनता प्रतिनिधिक शासन के दीर्घकालीन अनुभव से इस बात को अच्छी तरह समझ गई थी, जैसा कि लार्ड हैलीफैक्स ने क्रांति के समय कहा था, कि "राज्य का एक विवेक होता है जो उस समय भी जबकि विधि की शब्दावली राष्ट्र को नष्ट कर सकती है, राष्ट्र को बचाए रखने के अपने मूल अधिकार को कायम रखता है।" फलतः, यदि उदारवाद को अपनी जनता से हाथ नहीं धोना था तो यह जरूरी था कि वह अपनी विधि की शब्दावली को बदलता। उसने यह किया भी। एक दल के रूप में उसे अपनी

नीति बदलनी थी लेकिन सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में अपने महत्त्व को कायम रखने के लिए उसे अपना सिद्धान्त भी संशोधित करना था। इन दो में पहला काम आसान था क्योंकि यह राजनीतिक कार्यसाधकता पर निर्भर था। जरूरी सिर्फ यह था कि इस रूढ़ि की उपेक्षा की जाए कि समाज सदैव 'स्टेटस' से संविदा की ओर प्रगति करता है। डायसी का कहना था कि १८७० तक यही हुआ है। यह रूढ़ि कभी भी बहुत अधिक विश्वसनीय भी नहीं रही थी। लेकिन, इस रूढ़ि के पीछे न केवल भावनाओं का समूह ही था बल्कि बेंथम का भारी भरकम न्यायशास्त्र था और परम्परागत अर्थशास्त्रियों का यह दावा था कि उनकी नीति मानव व्यवहार के सुपरीक्षित नियमों पर आधारित थी। इसलिए, उदारवादी सिद्धान्त के आमूल संशोधन के लिए यह जरूरी था कि राज्य के स्वरूप तथा कार्य की स्वतन्त्रता के स्वरूप की, और स्वतन्त्रता तथा वैधिक बल-प्रयोग के सम्बन्ध की पुनर्परीक्षा की जाए। यह पुनर्परीक्षा तभी हो सकती थी जबकि इस प्रश्न का समाधान कर लिया जाए कि व्यक्तिगत मानव प्रकृति तथा उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में क्या सम्बन्ध होता है। अन्तिम प्रश्न के लिए स्वार्थ, सुख और उपयोगिता पर आधारित व्याख्याएँ सन्तोषजनक नहीं थीं। नीतिशास्त्र और सामाजिक विज्ञान दोनों में ही समय की धारा व्यक्तिवाद से दूर तथा समुदायवाद के निकट थी। संक्षेप में, उदारवादी सिद्धान्त को आधुनिक रूप तभी दिया जा सकता था जबकि दार्शनिक उग्रवाद के बौद्धिक पृथकत्व को जो उसके रूढ़िवाद के लिए उत्तरदायी था, तोड़ दिया जाता और उसे अन्य सामाजिक वर्गों के दृष्टिकोण के निकट लाया जाता, उसका महाद्वीपीय देशों की विचारधाराओं के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता तथा वैज्ञानिक गवेषणा के नए-नए क्षेत्रों से परिचय प्राप्त किया जाता। यह होने पर ही उदारवाद एक विशेष वर्ग की विचारधारा न होकर एक सामाजिक दर्शन बन सकता था।

यह संशोधन दो धाराओं में हुआ। पहली धारा जान स्टुअर्ट मिल और हर्बर्ट स्पेंसर के सम्बद्ध लेकिन विरोधी दर्शनों की थी। दूसरी धारा आक्सफर्ड आदर्शवादियों, विशेषकर थामस हिल ग्रीन के दर्शन की थी। पहले दो व्यक्तियों का कार्य संशोधन की अपरिहार्यता का नहीं प्रत्युत् तात्कालिकता का स्पष्टतम प्रमाण है। दोनों ही सहज दार्शनिक परम्परा में पले थे और अपने-अपने ढंग से वे दोनों ही उसके प्रति निष्ठावान् रहे। लेकिन, उन दोनों की ही यह सब से स्पष्ट विशेषता थी कि वे ऐसे बौद्धिक प्रभावों की ओर अग्रसर हुए जिनका परम्परा में अभाव था। हर्बर्ट स्पेंसर ने अपने सामाजिक दर्शन को सावयव विकास तथा समस्त प्राकृतिक विज्ञानों के सन्दर्भ में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। मिल ने उपयोगितावाद और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सकल्पना को संशोधित करने का प्रयत्न किया तथा कास्टे के सामाजिक दर्शन से भी लाभ उठाया। लेकिन, इस बात का श्रेय आक्सफर्ड की आदर्शवादी विचारधारा को ही है कि उसने अपनी आलोचना के द्वारा आंग्ल-अमेरिकी दार्शनिक चिंतन पर व्यवहारवाद की परम्परा का प्रभाव नष्ट कर दिया और स्वयं को कांट के बाद के जर्मन दर्शन पर आधारित किया। लेकिन, जहाँ तक राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध है, आदर्श-

वाद ने उदारवाद की निरन्तरता को बनाए रखा। ग्रीन ने संवेदनावाद तथा सुखवाद की, जिस पर पुराना उदारवाद आधारित था, कठोर आलोचना की। लेकिन, अपने राजनीतिक दर्शन में वह जान स्टुअर्ट मिल की अपेक्षा कहीं अधिक सम्बद्ध रूप से उदार था। यद्यपि उदारवादी अपने को नव्य हीगेलवादी कहते थे, लेकिन उनके दर्शन में वह राजनीतिक अधिकारवाद नहीं था—ग्रीन में तो वह बिल्कुल ही नहीं था—जो हीगेल के जर्मन अनुयायियों में पाया जाता था।

जॉन स्टुअर्ट मिल : स्वतन्त्रता

(John Stuart Mill : Liberty)

जान स्टुअर्ट मिल के सामाजिक दर्शन, विशेषकर उसके नीतिशास्त्र का सामान्य दृष्टिकोण जितना बौद्धिक विचारों से प्रभावित था, उतना ही व्यक्तिगत अनुभव से भी। उसके पिता ने उसे जन्मकाल से ही ऐसी शिक्षा दी थी कि वह दार्शनिक उग्रवादियों की जिहाद को आगे बढ़ा सके। बड़े मिल ने यह कभी कल्पना नहीं की थी कि इस जिहाद के लक्ष्य कभी बदल सकते हैं। छोटे मिल को बचपन में ही दार्शनिक उग्रवाद के सिद्धान्तों की घुट्टी घोट-घोट कर पिलाई गई थी। इस तरह के कम ही उदाहरण मिलते हैं कि किसी व्यक्ति को बचपन में इतनी कठोर शिक्षा दी जाए और वह आगे चलकर बौद्धिक स्वतन्त्रता प्राप्त करे। १८३६ में बड़े मिल की मृत्यु हुई। इसके बाद ही छोटे मिल ने नैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी स्वतन्त्र विचारधारा का विकास किया। इस समय उसकी अवस्था ३० वर्ष की थी लेकिन इसके पहले भी वह उदारवादी पत्रों में लेख लिखता रहा था और सम्पादक के रूप में उसकी ख्याति दूर दूर तक पहुंच गई थी। इस बीच में अत्यधिक परिश्रम के कारण मिल को स्नायविक दुर्बलता हो गई थी। उसने अपनी आत्मकथा में बताया है कि रुग्णावस्था में उसने वर्ड्सवर्थ के काव्य का अध्ययन किया। निश्चित रूप से यह एक ऐसी पद्धति नहीं थी जिसका उसका पिता समर्थन करता। इस प्रकार मिल का बौद्धिक जीवन द्विमुखी हो गया। एक ओर तो उसके मन में बेंथम तथा अपने पिता के दर्शन के प्रति अदम्य व्यक्तिगत निष्ठा का भाव था। आगे चलकर वह इस दर्शन का प्रमुख प्रवक्ता भी बना। दूसरी ओर वह जर्मन आदर्शवाद के प्रतिवादात्मक दर्शन का भी प्रशंसक हो गया। उसने इस दर्शन को पढ़ने और समझने की कोशिश की। उसका विचार था कि उसे इस दर्शन की प्रेरणा वर्ड्सवर्थ से मिली है। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तीन दशकों में जर्मन आदर्शवाद को इंगलैण्ड में कालरिज ने अपने व्यक्तिगत प्रभाव से फैलाया था। मिल बौद्धिक रूप से बहुत ईमानदार था और इसलिए वह यह चाहता था कि अपने विरोधी दर्शन के प्रति पूरा न्याय करे। वह इस दर्शन के प्रति कुछ ऐसी रियायतें करने के लिए भी तैयार था जो आलोचनात्मक होने की अपेक्षा दयापूर्ण अधिक थीं। उसने लन्दन एण्ड वेस्ट मिन्स्टर रिव्यू में १८३८ और १८४० में बेंथम तथा कालरिज के ऊपर तुलनात्मक लेख लिखे।

इन लेखों में उसने अपने पिता के प्रभाव से एक प्रकार की स्वतन्त्रता की घोषणा की। ये लेख कालरिज के प्रति बेंथम की अपेक्षा अधिक सहानुभूतिपूर्ण थे। मिल को ऐसा लगा कि कालरिज के दर्शन में समाज की संस्था के स्वरूप के प्रति और संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास के प्रति आदर का भाव है। दार्शनिक उग्रवादियों के दर्शन में इन चीजों की कमी थी। बाद में आगस्ट काम्ट के प्रत्यक्ष दर्शन के प्रति भी वह इन्हीं गुणों के कारण आकृष्ट हुआ था। इसलिए व्यापक अर्थ में मिल का दर्शन अपने परम्परागत व्यवहारवाद में काम्ट के दर्शन तथा काट के बाद के जर्मन दर्शन के विरोधी दृष्टिकोण को लेकर सुधार करने का प्रयत्न था।

दुर्भाग्यवश मिल में इतनी प्रतिभा नहीं थी कि वह इतनी विरोधी दर्शनधाराओं के आधार पर किसी संश्लिष्ट दर्शन का निर्माण कर पाता। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैण्ड और अमरीका के सभी दार्शनिक इस कार्य में लग रहे थे। मिल के चिंतन में उस संक्रमणकाल के समस्त लक्षण दिखाई देते हैं जिसमें समस्याएं इतनी विकट हो जाती हैं कि उनके समाधान सम्भव नहीं होते। बिना किसी अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि उसकी पुस्तक एक सूत्र के अनुसार लिखी गई थी। जब वह किसी विषय पर लिखना शुरू करता था तब सब से पहले सिद्धान्तों का सामान्य विवरण दे देता था। ये सिद्धान्त इतने कठोर और भावपरक मालूम पड़ते थे कि मानो उनकी रचना उसके पिता ने ही की हो। परम्परागत रूढ़ियों के प्रति अपनी निष्ठा को प्रगट करने के बाद मिल उनमें इतना रियायतें करने लगता था और इस तरह के पुनराख्यान प्रस्तुत करने लगता था कि आलोचनात्मक पाठक को यह सन्देह होने लगता था कि कहीं मूल वक्तव्यों को बिल्कुल निराकृत तो नहीं कर दिया गया है। उदाहरण के लिए उसका तर्कशास्त्र कहने को आनुभविक था लेकिन उसने निगमन के वैज्ञानिक महत्व को स्वीकार किया है और उसने आगमन प्रक्रिया को कुछ ऐसे नियमों के रूप में व्यक्त किया है जो सर्वाक्य के नियमों के सदृश मालूम पड़ते हैं। मिल के ज्ञान सिद्धान्त में औपचारिक विवेक की तार्किक विवेचना का समाधान का कोई साधन नहीं था। यदि कोई साधन था तो वह सिर्फ शाश्वत साहचर्य का था। ए० डी० लिंडसे के शब्दों में यह पद्धति तथ्यों और अपरिष्कृत अनुभववाद की धारणा पर आधारित काल्पनिक तथ्यों के बीच की विषमताओं की व्याख्या करने का एक दार्शनिक साधन हो गया थी। मिल का जिस दर्शन में पालन हुआ था वह उससे कभी निरासक्त नहीं हो सका। फलतः उसका मनोविज्ञान अब भी एक ऐसा संवेदनावाद था जिसमें विचारों का साहचर्य ही मानसिक गठन का एकमात्र नियम था। उसके नीतिशास्त्र में मूल्य तथा अभिप्रेरणा का सिद्धान्त सुखवाद की तुला पर आधारित था। उसका उपयोगितावाद प्रथम के अहंकारपूर्ण व्यक्तिवाद पर आधारित था लेकिन इन वक्तव्यों से हम मिल के वास्तविक दर्शन को नहीं समझ सकते। सिद्धान्त नहीं बल्कि सिद्धान्त की सीमाएं उसके अर्थ को प्रगट करती थी। इसके लिए व्यवस्थित आलोचना बहुत आसान है और व्यवहार में वह बिल्कुल व्यर्थ है। मिल के दर्शन का महत्त्व यह है कि वह इस व्यवस्था

से दूर हट गया जिसका वह अब भी मौलिक रूप से समर्थन करता था। मिल ने उपयोगितावाद की परम्परा में महत्त्वपूर्ण संशोधन किए।

मिल ने अपने ग्रन्थ यूटीलिटेरियनिज्म में "जिस नीति सिद्धान्त का विवेचन किया है, उसमें उसने इस दर्शन की त्रुटियां दिखाई देती हैं। तथापि, यही उसके उदारवाद के संशोधन की जड़ है। ग्रन्थ के आरम्भ में उसने बेंथम द्वारा प्रतिपादित अधिकतम सुख के सिद्धान्त को समग्र रूप से स्वीकार कर लिया। प्रत्येक व्यक्ति अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिक-से अधिक सुख मिले यह सामाजिक हित का मानक भी है और समस्त नैतिक कार्य का उद्देश्य भी। मिल ने इन प्रस्थापनाओं को एक ऐसे थोथे तर्क से संयुक्त किया कि वह सर्वसाधारण सम्बन्धी पुस्तकों में उदाहरण के रूप में दिया जाने लगा। उसने कहा कि सुख नैतिक गुण की दृष्टि से ऊंचे भी हो सकते हैं और नीचे भी। इसका अभिप्राय यह था कि मिल एक मानक को नापने के लिए एक मानक की मांग कर रहा था। यह एक तरह की विरोधोक्ति थी और इसने उपयोगितावाद को पूरी तरह से अनिश्चित सिद्धान्त बना दिया। सुखों के गुण को परखने का कभी कोई मानक नहीं बताया गया था और यदि यह मानक बनाया भी जाता तो यह सुख नहीं होता। इस भ्रम का मूल यह था कि मिल बेंथम के अधिकतम सुख के सिद्धान्त के व्यावहारिक पक्ष को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। उसका व्यावहारिक पक्ष यह था कि उसके आधार पर विधान की उपयोगिता को परखा जा सकता था। बेंथम अधिकतम सुख के सिद्धान्त को मुख्य रूप से विधान के ऊपर ही लागू करना चाहता था। उसे इस बात की चिंता नहीं थी कि व्यक्तिगत नैतिकता में किन मानकों का प्रयोग किया जाना है। इसके विपरीत मिल के उपयोगितावाद की विशेषता यह थी कि उसने अपने व्यक्तिगत आदर्शवाद के अनुसार ही नैतिक चरित्र की एक संकल्पना प्रस्तुत की। बेंथम का कहना था कि 'पुशपिन (बच्चों का एक प्रकार का खेल) उतना ही अच्छा है जितना कि काव्य" शर्त यह है कि वह समान सुख देता हो। मिल के अनुसार यह कथन मूर्खतापूर्ण है। उसका अपना मत यह था कि एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात बेहतर है। मिल का कथन एक सामान्य नैतिक प्रतिक्रिया को अवश्य व्यक्त करता है लेकिन वह सुखवाद नहीं है। मिल के नीतिशास्त्र का उदारवाद के लिए यह महत्त्व है कि उसने अहंकारिता का त्याग किया और यह माना कि सामाजिक कल्याण एक ऐसा विषय है जिसके बारे में सभी सदाशय लोगों को चिंता होनी चाहिए। मिल स्वतन्त्रता, ईमानदारी, आत्मसम्मान और व्यक्तिगत अभ्युदय को अपने आप में ही अच्छी चीजें मानता था। ये चीजें सुख को बढ़ाती जरूर हैं। यदि ये सुख को न बढ़ायें तब भी काम्य हैं। इस तरह वे नैतिक विश्वास मिल के उदारवादी समाज की सम्पूर्ण संकल्पना में निहित हैं।

इसलिए, यह स्वाभाविक था कि मिल का सब से महत्त्वपूर्ण राजनीतिक चिंतन आन लिबर्टी (१८५९) नामक पुस्तक में निहित था। राजनीतिक दर्शन को यह उसकी सब से प्रमुख देन है। इस पुस्तक ने उपयोगितावाद के साहित्य में एक नए स्वर को जन्म

दिया। मिल ने एक अन्य स्थल पर स्वयं भी यह कहा है कि उसके पिता की पीढ़ी के उपयोगितावादी उदारवादी शासन को इसलिए पसन्द नहीं करते थे कि उससे स्वतन्त्रता प्राप्त होगी बल्कि इसलिए पसन्द करते थे कि वह एक सक्षम शासन होगा। जब बेंथम ने प्रबुद्ध निरंकुशता को छोड़कर उदारवाद को अपनाया तब उसने विवरण की कुछ बातों को छोड़ कर और कुछ नहीं बदला था। मिल के लिए विचार और अनुसंधान की स्वतन्त्रता, विवेचन की स्वतन्त्रता, और स्वनियमित नैतिक निर्णय तथा कार्य की स्वतन्त्रता अपने आप में ही अच्छी चीजें थीं। इन आदर्शों ने उसके हृदय में ऐसा उत्साह तथा चैतन्य जाग्रत किया जो उसकी अन्य रचनाओं में नहीं दिखाई देता। इन गुणों के कारण ही मिल का स्वतन्त्रता सम्बन्धी ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में स्वतन्त्रता के समर्थन में लिखा गया सब से महत्त्वपूर्ण वक्तव्य माना जाता है। इसकी तुलना में मिल्टन के एरियोपैजिटिका ग्रन्थ को ही रक्खा जा सकता है। मिल का विश्वास था कि बौद्धिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता न केवल उस समाज के लिए ही हितकर हैं जो उनकी अनुमति देता है बल्कि उस व्यक्ति के लिए भी हितकर हैं जो उनका उपभोग करता है। लेकिन मिल के तर्क का कारगर अंश उपयोगितावादी नहीं था। जब उसने यह कहा कि सम्पूर्ण मानव जाति को एक असहमत व्यक्ति को चुप करने का अधिकार नहीं है तब वह निर्णय की स्वतन्त्रता का भी समर्थन कर रहा था। इस स्वतन्त्रता का आशय यह है कि आप अपनी बात मनवाने के लिए किसी व्यक्ति के साथ जोर जबर्दस्ती न कीजिए बल्कि उसको अपनी बात समझाइए और उसको यकीन दिलाइए कि आपकी बात ठीक है। यह विशेषता परिपक्व व्यक्तित्व का लक्षण है। उदारवादी समाज वह है जो इस अधिकार को स्वीकार करता है और अपनी संस्थाओं को इस तरह ढालता है कि इस अधिकार को सिद्ध किया जा सके। व्यक्तित्व और व्यक्तिगत निर्णय को इस तरह से अनुमति देना मानो वे सहन की जाने वाली बुराइयां हों, पर्याप्त नहीं है। उदारवादी समाज उनको वास्तविक मूल्य देता है। वह उन्हें मानव जाति के कल्याण के लिए आवश्यक समझता है तथा उच्च सभ्यता के लक्षण मानता है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व के इस मूल्यांकन ने मिल के उदारवादी शासन के मूल्यांकन पर भारी प्रभाव डाला था। मिल ने लोक शासन का इस आधार पर समर्थन नहीं किया कि वह कार्यकुशल होता है। इस बारे में उसके मन में सदैव गम्भीर सन्देह था। मिल अपने पिता के इस विश्वास को भी खो चुका था कि उदारवादी शासन के मताधिकार जैसे साधन सदैव हितकारी उद्देश्यों के लिए ही प्रयुक्त होंगे। उसके विचार से राजनीतिक स्वतन्त्रता के पक्ष में वास्तविक तर्क यह था कि वह उच्च प्रकार के नैतिक चरित्र को जन्म देती है। सार्वजनिक प्रश्नों पर उन्मुक्त चर्चा हो, राजनीतिक निर्णयों में हाथ हो, नैतिक विश्वास हो, और उन नैतिक विश्वासों को कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायित्व का भाव हो—जब ये चीजें होती हैं तभी विवेकसम्पन्न मनुष्यों का जन्म होता है। इस तरह का चरित्र-निर्माण सिर्फ इसलिए जरूरी नहीं है कि उससे किसी स्वार्थ की पूर्ति होती है। वह इसलिए जरूरी है क्योंकि वह मानवोचित है, क्योंकि वह सभ्य है।

"यदि यह अनुभव किया जाए कि व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास कल्याण की एक प्रमुख शर्त है, वह सभ्यता, उपदेश, शिक्षा, और संस्कृति का सहयोगी तत्व ही नहीं है बल्कि इन सब चीजों का एक आवश्यक भाग और शर्त है तब इस बात का कोई खतरा नहीं रहेगा कि हम स्वतन्त्रता की कम कीमत आकें।"[1]

मिल के स्वतन्त्रता और प्रतिनिधिक शासन सम्बन्धी तर्क में एक मुख्य बात यह है कि उसमें विशुद्ध रूप से राजनीतिक प्रश्न सामने नहीं रहते। उसका तर्क राज्य के प्रति सम्बोधित न होकर समाज के प्रति सम्बोधित था। स्वतन्त्रता सम्बन्धी पुस्तक में मिल ने राजनीतिक दमन से मुक्ति अथवा राजनीतिक संगठन के परिवर्तन की मांग नहीं की है। इसके उसने इस बात पर जोर दिया है कि एक ऐसे लोकमत की वृद्धि होनी चाहिए जो सहिष्णुतापूर्ण हो, जो आपसी मतभेदों को महत्व देता हो, और जो नए विचारों का स्वागत करने के लिए तैयार हो। मिल को डर था कि स्वतन्त्रता के लिए सब से बड़ा खतरा सरकार की ओर से नहीं आता बल्कि ऐसे बहुमत की ओर से आता है जो नए विचारों के प्रति असहिष्णु होता है, जो विरोधी अल्पसंख्यकों को सन्देह की दृष्टि से देखता है और जो अपनी संख्या के जोर से उनको दबा देना चाहता है। यह एक ऐसी सम्भावना थी जिसके बारे में पुरानी पीढ़ी के उदारवादियों ने कभी विचार नहीं किया था। उनकी मुख्य समस्या यह रही थी कि सत्तारूढ़ अल्पसंख्यकों के हाथों से शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लेने से सारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा। बड़े मिल का विचार था कि प्रतिनिधित्व के सुधार, मताधिकार के विस्तार और थोड़ी सी सार्वजनिक शिक्षा के द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता की समस्त गम्भीर समस्याएं सुलझ जायेंगी। १८५९ तक यह बात स्पष्ट हो गई थी कि इन समस्त सुधारों के हो जाने के बाद भी वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। राजनीतिक संगठन के चक्रव्यूह में स्वतन्त्रता के अभिमन्यु की रक्षा करना बहुत बड़ी समस्या बना हुआ था। पुराने उदारवादी इस बात को नहीं समझ सके थे। लेकिन मिल ने इस बात को पूरी तरह से समझ लिया था कि उदारवादी शासन के पीछे उदारवादी समाज भी होना चाहिए।

राजनीतिक संस्थाएं एक विशाल सामाजिक सन्दर्भ की भाग होती हैं और यह सन्दर्भ उनकी कार्य-पद्धति को निश्चित करता है—यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण खोज थी और इसने एक नई राजनीतिक संकल्पना को जन्म दिया। व्यक्ति और शासन के सम्बन्ध में तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में समाज अथवा समुदाय तीसरा तत्व हो जाता है। मिल दमनशील और असहिष्णु लोकमत से जो डरता था, उसका कारण कुछ हद तक यह था कि वह यह समझता था कि आरम्भिक उदारवादी सिद्धान्त का व्यक्तिवाद अनुपयुक्त था। इसके साथ ही यह कहना कठिन है कि मिल के चिंतन का यह पहलू ठीक-ठीक किस दृष्टिकोण को व्यक्त करता था। उसके पिता की पीढ़ी की जो बड़ी बड़ी आशाएं थीं, उनकी तुलना में यह निराशा का स्वर था। इसके

1. *On Liberty* Ch. 3

साथ ही यह इस बात को भी व्यक्त करना था कि एक बहुत ही संवेदनशील परिपक्व बुद्धि और सजग व्यक्तित्व व्यावहारिक राजनीति की समस्याओं से इतना व्यथित था। सम्भवतः इससे यह भय भी प्रगट होता था कि समाज का लोकतन्त्रीकरण व्यक्तिगत गौरव के साथ असंगत सिद्ध होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के बीच में यह भय काफी सामान्य था। फिर भी यह बात निश्चित है कि मिल ने उदारवादी सुधार के परम्परागत रूप में अपना विश्वास नहीं खोया था। इसके विपरीत उनमें से कुछ सुधारों को, उदाहरण के लिए स्त्रियों के मताधिकार को वह बहुत महत्त्व देता था। अपने प्रतिनिधिक शासन सम्बन्धी ग्रन्थ में उसने आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की बड़ी सराहना की है। मिल के स्वतन्त्रता सिद्धान्त का कुछ प्रभाव कुछ अनिश्चित और सम्भवतः नकारात्मक है। वह स्वतन्त्रता के उस नैतिक मूल्य में विश्वास करता था जो आरम्भिक उदारवादी साहित्य में उपलब्ध नहीं था। तथापि, उसने स्वतन्त्रता के आधार पर राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने की किसी नई नीति का निर्देश नहीं दिया। उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की उन समस्याओं का सामना नहीं किया जो औद्योगिक समाज के सामने विशेष रूप से आती हैं। उसने स्वतन्त्रता की उन समस्याओं को भी नहीं उठाया जो ऐसे समाज में मजदूरों के सामने आती हैं।

स्वतन्त्रता के नैतिक मूल्य का बखान करने के बाद जब मिल इस व्यावहारिक समस्या पर विचार करने लगा कि राज्य अथवा समाज उसके ऊपर क्या प्रतिबन्ध लगा सकता है, तब उसका तर्क बहुत शिथिल पड़ गया। मिल का कहना था कि मनुष्य के कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो सिर्फ उससे ही सम्बन्ध रखते हैं। मनुष्य के इन कार्यों में न समाज को हस्तक्षेप करना चाहिए और न राज्य को। यह तर्क बहुत ही बचकाना है क्योंकि जो कार्य सिर्फ एक व्यक्ति पर असर डालता है, और किसी पर नहीं, वह सम्भवतः उस पर भी ज्यादा असर नहीं डालेगा। लेकिन मिल ने इस तर्क को बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से उपस्थित किया है। उसका कहना है कि जो कार्य केवल एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है उसके बारे में व्यक्ति को ही उत्तरदायित्व ग्रहण करना पड़ता है। जब उसे उत्तरदायित्व ग्रहण करना पड़ता है, तो निर्णय का अन्तिम अधिकार भी उसे ही होना चाहिए। लेकिन, मिल का व्यक्तिगत निर्णय के इस क्षेत्र की पूरी तरह से व्याख्या करनी थी। वह वह नहीं कर सका। उसका तर्क उसी समय विश्वासजनक हो सकता था जब यह माना जाता कि मनुष्य के कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिनसे उन्हें कभी वंचित नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन, उपयोगितावादी का ऐसे किन्हीं अधिकारों में विश्वास नहीं था। फलतः मिल इस तर्क-पद्धति का ग्रहण नहीं कर सकता था। लेकिन, मिल स्वतन्त्रता को इतना अधिक महत्त्व देता था कि वह बेंथम के तर्क का सहारा लेकर यह नहीं कह सकता था कि अधिकार विधि की सृष्टि हैं और मनुष्य के पास केवल वही स्वतन्त्रताएं रहती हैं जो राज्य उन्हें प्रदान करता है। मिल के तर्क की मूलभूत कठिनाई यह थी कि उसने स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्व के सम्बन्ध की वास्तविक व्याख्या कभी नहीं की। कभी-कभी वह बेंथम से लिए गए इस परम्परागत दृष्टिकोण

को व्यक्त करता था कि कोई भी विवशता अथवा सामाजिक प्रभाव स्वतन्त्रता को कम करता है। फिर भी, उसका यह विचार कभी नहीं रहा कि विधि के बिना महत्वपूर्ण स्वतन्त्रता हो सकती है। जब उसने स्वतन्त्रता को सभ्यता के साथ समीकृत किया तब उसकी यह कल्पना नहीं थी कि समाज के बिना सभ्यता हो सकती है। फिर भी स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के लिए यह सिद्ध करने की जरूरत थी कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक और वैधिक अधिकारों और दायित्वों पर निर्भर होती है। टॉमस हिल ग्रीन ने इस समस्या का स्पष्टीकरण किया और उदारवाद को यही उसकी विशिष्ट देन है।

विधान की क्या उचित सीमाएं हों, इसके बारे में मिल के विचार बहुत स्पष्ट थे। उसने कुछ वास्तविक मामलों पर जिस ढंग से विचार किया है, उससे यह बात प्रमाणित हो जाती है। उसके निष्कर्ष किसी नियम पर आधारित नहीं थे। वे मिल की आत्मनिष्ठ आदतों पर निर्भर थे। उदाहरण के लिए मिल ने मादक द्रव्यों की बिक्री के निषेध को स्वतन्त्रता का अतिक्रमण माना है। लेकिन, उसने अनिवार्य शिक्षा को स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहीं माना है। उसके ये दोनों विचार कुछ असंगत से हैं। इस असंगति को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य की शिक्षा उसके निजी व्यक्तित्व की अपेक्षा दूसरे व्यक्तियों पर ज्यादा असर डालती है। वह सार्वजनिक स्वास्थ्य और कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योगों पर सरकार का व्यापक नियन्त्रण स्वीकार करने के लिए तैयार था। उसने इस नियन्त्रण की ठीक-ठीक सीमाएं नहीं बनाई। मिल का सिद्धान्त चाहे कितना ही अस्पष्ट क्यों न रहा हो, इसका एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह सामने आया कि उसने आर्थिक निर्हस्तक्षेप को त्याग दिया। बेंथम का कहना था कि विधान स्वभाव से ही खराब होता है और वह कम-से-कम रहना चाहिए। बेंथम के इस कथन का वास्तविक आशय जो बेंथम के लिए था, वह मिल के लिए नहीं रहा था। मिल ने आरम्भिक उदारवाद के इस सिद्धान्त को छोड़ दिया कि अधिकतम स्वतन्त्रता उसी समय सम्भव हो सकती है जबकि विधान न हो। उसने कहा कि बल-प्रयोग की विधान के अतिरिक्त और भी अनेक विधाएं हो सकती हैं। इसका दो परिणामों में से एक परिणाम हो सकता था—या तो विधान को बल-प्रयोग कम करने के उदारवादी प्रयोजन के द्वारा नहीं परखा जा सकता या उदारवादी सिद्धान्त का इस तरह विस्तार किया जाना चाहिए कि उसमें वैधिक बल-प्रयोग तथा उस विधिबाह्य बल-प्रयोग के जो राज्य के निष्क्रिय रहने से उत्पन्न होगा सम्बन्ध पर विचार हो सके। ग्रीन ने 'सकारात्मक स्वतन्त्रता" के सिद्धान्त द्वारा इस प्रश्न पर आगे चल कर विचार किया। जहां तक मिल का सम्बन्ध है, उसने मानववादी आधारों पर सामाजिक विधान की आवश्यकता को स्वीकार किया। तथापि, उसने इसकी उचित सीमाओं का निर्धारण नहीं किया।

मिल के आर्थिक सिद्धान्तों में भी तार्किक अस्पष्टता की कमियां हैं और इसलिए उनकी भी आलोचना की जा सकती है। मिल ने रिकार्डो के अर्थशास्त्र और

प्राचीन अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों में शुरू किया था। सिद्धान्ततः, उसने अपने इस बुनियादी दृष्टिकोण को कभी नहीं त्यागा। लेकिन, उसे यह विश्वास हो गया था कि परम्परागत अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन की कुछ अनिवार्य परिस्थितियों को गलती से वितरण की वे परिस्थितियाँ मान लिया था जो आर्थिक तथा सामाजिक संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। मिल इन परिस्थितियों को सार्वजनिक नीति का विषय मानता था और उसका विश्वास था कि इन पर विधायी नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। परम्परागत अर्थशास्त्र की इस आलोचना के लिए मिल आरम्भिक उदारवादियों के सामाजिक दर्शन का दावेदार था। आरम्भिक उदारवादियों ने समाज के संस्थागत स्वरूप और संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास की उपेक्षा की थी। परम्परागत अर्थशास्त्र के बारे में मिल की यह आलोचना सही थी कि उसमें समस्त आर्थिक संकल्पनाओं को बिल्कुल सामान्य माना गया था और उनके ऐतिहासिक आधार की उपेक्षा की गई थी। आरम्भिक उदारवादी इन संकल्पनाओं को मानव प्रकृति की सार्वभौम विशेषताओं और मानव जीवन की अपरिवर्तनशील भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर मानते थे। उनकी यह मान्यता भी आपत्तिजनक थी। मिल ने ऐतिहासिक संस्थाओं और मानव व्यवहार के सामान्य मनोवैज्ञानिक नियमों के बीच अथवा संस्थाओं और अपरिवर्तनशील भौतिक परिस्थितियों के बीच भेद किया था। यह उत्पादन और वितरण के आर्थिक भेद से सामान्य नहीं रखता था। फलतः, उसने उत्पादन की पूंजीवादी व्यवस्था को वितरण की समाजवादी व्यवस्था के साथ संयुक्त करने की कठिनाइयों पर विचार नहीं किया था। मिल के अर्थशास्त्र की मुख्य विशेषता यह थी कि उसने प्राकृतिक आर्थिक नियमों की संकल्पना को और इसके परिणामस्वरूप स्वनियमित प्रतियोगी आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्त का त्याग किया था। इस प्रकार उसने विधान और अर्थ-व्यवस्था के सम्पूर्ण प्रश्न को, एवं स्वतन्त्र बाजार की रक्षा के साथ उसके सम्बन्ध को खोल दिया। लेकिन, इस परिवर्तन के व्यावहारिक निष्कर्ष स्पष्ट नहीं थे। सामान्य रूप से उदारवादियों की भाँति मिल शासन और उसकी रीतियों को सन्देह की दृष्टि से देखता था। उसका विचार था कि शासन जो भी कार्य करेगा, खराब करेगा। इसलिए, वह व्यक्तिगत उपक्रम को पसन्द करता था। उसे राज्य के अभिभावकत्व से भी भय लगता था यद्यपि इस सम्बन्ध में उसकी आपत्ति आर्थिक नहीं प्रत्युत् नैतिक थी। सामाजिक दर्शन की भाँति मिल के आर्थिक चिंतन पर भी नैतिकता का असर था। पूंजीवादी समाज के अन्यायों के प्रति उसके मन में नैतिक रोष की भावना थी। उसका विचार था कि पूंजीवादी समाज श्रम के उत्पादन का वितरण श्रम के उल्टे अनुपात में करता है।

मिल के उदारवाद का न्यायपूर्ण और इसके साथ ही सहानुभूतिपूर्ण मूल्यांकन बहुत कठिन है। यह कह देना सचमुच बड़ा आसान होगा कि मिल ने नई शराब को पुरानी बोतलों में रख कर पेश किया। मिल के मानव प्रकृति, सदाचार, समाज और उदारवादी समाज में शासन के कार्य से सम्बन्धित समस्त सिद्धान्त उस बोझ को वहन करने के

लिए अनुपयुक्त थे जो मिल ने उनके सिर पर डाल दिया था। लेकिन, इस तरह का मार्क्सवादी विश्लेषण और आलोचना न तो महानुभूतिपूर्ण है और न ऐतिहासिक दृष्टि से संगत है। मिल की रचनाओं में एक स्पष्टता पाई जाती है हालांकि यह स्पष्टता सतही है। मिल की उदारता और भावप्रवणता उसकी बहुत-सी कमियों को छुपा लेती है। मिल उदारवादियों की पहली पीढ़ी का स्वाभाविक उत्तराधिकारी था। इन्हीं सब बातों ने उसके विचारों को काफी महत्त्व और प्रभाव दे दिया था। तथापि, मिल अपने तर्कों के पीछे इस प्रभाव के अनुपात में दार्शनिक विश्लेषण नहीं रख सका। मिल सदैव ही साक्ष्य के महत्त्व पर जोर देता था। लेकिन, व्यवहार में वह नैतिक अन्तर्दृष्टि पर बहुत अधिक निर्भर रहता था। मिल की नैतिक संवेदना बहुत बढ़ी हुई थी। सामाजिक दायित्व के प्रति भी उसके मन में गहरी चेतना थी। मिल के चिंतन में व्यवस्था और संगति का अभाव है। फिर भी, उदारवादी दर्शन के प्रति उसकी देन को चार बातों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। एक—मिल ने उपयोगितावाद का महत्त्वपूर्ण संशोधन किया। उससे पूर्व उपयोगितावाद का नैतिक दर्शन केवल सुख और दुःख की तराजू से बन्धा हुआ था। मिल ने उसे इस बन्धन से मुक्ति दी। कान्ट की भांति मिल के नीतिशास्त्र में भी मुख्य विचार मानव जाति के प्रति सम्मान का था। मिल का कहना था कि हमें मनुष्य के प्रति गौरव का भाव रखना चाहिए। मनुष्य से नैतिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा हम तभी कर सकते हैं। मिल का नीतिशास्त्र इस अर्थ में उपयोगितावादी था कि वह व्यक्तित्व के प्रश्न का एक आध्यात्मिक रूढ़ि के रूप में नहीं देखता था। उसका विचार था कि व्यक्तित्व को स्वतन्त्र समाज की वास्तविक परिस्थितियों में सिद्ध किया जा सकता है। दो—मिल के उदारवाद ने राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता को अपने में ही एक सिद्धि मानी थी। मिल का मत था कि स्वतन्त्रता का महत्त्व इसलिए नहीं है कि वह किसी भौतिक स्वार्थ का सिद्ध करती है बल्कि उसका महत्त्व इसलिए है कि वह उत्तरदायी मनुष्य की एक सहज और स्वाभाविक आस्था है। अपने ढंग से जीवन व्यतीत करना अपनी सहज प्रतिभा का विकास करना, सुख को प्राप्त करने का साधन नहीं है वह खुद सुख का एक अंग है। इसलिए, एक श्रेष्ठ समाज वह है जो स्वतन्त्रता की अनुमति देता है तथा विविध जीवन-पद्धतियों के निर्वाह के उचित अवसर प्रदान करता है। तीन—स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्तिगत हित नहीं है, वह एक सामाजिक हित भी है। स्वतन्त्र विचार-विनिमय के द्वारा समाज को भी लाभ पहुंचता है। यदि किसी मत को बलपूर्वक दबा दिया जाता है तो इससे व्यक्ति को तो नुकसान पहुंचता ही है, इससे समाज का भी अपकार होता है। जिस समाज में विचार स्वतन्त्र चर्चा की प्रक्रिया के द्वारा जीवित रहते हैं और मरते हैं, वह समाज न केवल एक प्रगतिशील समाज है बल्कि ऐसा समाज भी है जो स्वतन्त्र विवेचन के अधिकार का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को भी पैदा करता है। चार—स्वतन्त्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक है। वह विधि-निर्माण से विरत रह कर या यह मानकर कि चूंकि वैधिक प्रतिबन्धों को हटा दिया गया है इसलिए स्वतन्त्रता की अवस्थाए

विद्यमान हैं, नागरिकों को स्वतन्त्र नहीं कर सकता। विधान के द्वारा अवसरों का निर्माण किया जा सकता है, उनका विकास किया जा सकता है और समानता की स्थापना की जा सकती है। उदारवाद उसके उपयोग पर मनमाने नियन्त्रण नहीं लगा सकता। उसकी सीमाएं सिर्फ इस आधार पर निश्चित की जा सकती हैं कि वह इस तरह के अवसरों को जिनसे व्यक्ति अधिक मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें और उन्हें विवशता से मुक्ति मिल सके, वहां तक दे सकता है, उसके पास इसके लिए कहां तक साधन हैं।

सामाजिक अध्ययन के सिद्धान्त

(The Principles of Social Study)

मिल ने अपने राजनीतिक और नैतिक उदारवाद का प्रतिपादन मुख्य रूप से यूटीलिटेरियनिज्म ऑन लिबर्टी तथा रप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट नामक ग्रन्थों में किया है। ये विचार अधिकतर अंग्रेजी परम्परा के अन्तर्गत रहे थे। उसने जिन महत्वपूर्ण परिवर्तनों को किया था, उन्हें उसने गलती से संशोधन या जोड़ समझा था। लेकिन, मिल यह भी समझता था कि उसके सामाजिक दर्शन में कुछ सामान्य त्रुटियां हैं। उसने अपनी स्वतन्त्र मनोवृत्ति के आधार पर दूसरे दृष्टिकोणों को समझने और उनका उपयोग करने का प्रयत्न किया। उसका विचार था कि इन त्रुटियों को दो मुख्य शीर्षकों के अधीन रखा जा सकता है। एक—बैंथम के युग की राजनीति और अर्थशास्त्र मानव प्रकृति के कुछ सामान्य नियमों पर आधारित था। इन नियमों को समस्त कालों और समस्त स्थानों में सार्वभौम समझा जाता था। उस युग की यह धारणा थी कि राजनीति और अर्थशास्त्र सम्बन्धी नियम इन सार्वभौम नियमों के ही एक भाग हैं और वे कुछ विशिष्ट समाजों में कुछ विशिष्ट कालों पर विधि की एक विशिष्ट व्यवस्था के अन्तर्गत लागू किए जा सकते हैं। इसलिए, पुराने उपयोगितावादी संस्थाओं के महत्व को पूरी तरह से नहीं समझ सके थे। न वह यही समझ सके थे कि व्यक्तिगत मनोविज्ञान और किसी समय तथा काल की मूर्त प्रथा के बीच एक तीसरी वास्तविकता भी होती है। दो—चूंकि संस्थाओं को स्वतन्त्र वास्तविकताएं नहीं माना गया था, इसलिए ऐतिहासिक विकास के तत्त्व को जितना महत्त्व दिया जाना चाहिए था उतना नहीं दिया गया। मिल ने सामाजिक दर्शन में ये दोनों चीजें जोड़ दीं। उस पर यह प्रभाव कुछ तो जर्मन आदर्शवाद की तरफ से आया था और कुछ आगस्ट काम्टे की तरफ से। राजनीति तथा अर्थशास्त्र जैसे सीमित विज्ञानों को सहायता देने के लिए समाज के एक सामान्य विज्ञान की जरूरत थी। मिल का विचार था कि काम्टे इस जरूरत को पूरा करता है। मिल सामाजिक विकास के एक सामान्य नियम को भी काम्टे की देन मानता था। यह संक्षेप में समाजशास्त्र तथा "तीन अवस्थाओं का नियम था।"

ये दोनों योजनाएं उन्नीसवीं शताब्दी के बीच में सामाजिक दर्शन की महत्वपूर्ण विशेषताएं थीं। उनके कुछ महत्वपूर्ण परिणाम भी निकले। लेकिन, उस समय वे किसी विशेष सिद्धि को नहीं, प्रत्युत् दृष्टिकोण के परिवर्तन को ही प्रगट करती थीं। एक अर्थ में काम्टे का दर्शन उस सामाजिक चिंतन की पराकाष्ठा थी जो रूसो के सामान्य इच्छा सम्बन्धी रहस्यपूर्ण विचार के साथ, इस सिद्धान्त के साथ कि समाज एक सामुदायिक सत्ता है, उसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं और मूल्य हैं जो उसके सदस्यों की इच्छाओं और प्रयोजनों का अतिक्रमण करती हैं, शुरू हुआ था। फ्रांस की क्रांति के विरोध में होने वाली प्रतिक्रिया ने इस सकल्पना को आरम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक दर्शन में एक केन्द्रीय स्थान दे दिया था। काम्टे ने बोनाल्ड तथा डोमेईस्ट्रे जैसे रोमन कैथोलिक परम्परावादियों में इस प्रतिक्रिया को पाया था और उसका विरोध किया था। लेकिन हीगेल का सामाजिक दर्शन एक भिन्न रूप में इसी सामान्य प्रवृत्ति से प्रेरित था। मार्क्सवाद ने भी इसी का विकास किया था। इस दर्शन की क्रांति की देन यह नहीं थी कि उसने कोई नई खोज की थी। उसकी देन यह आशा थी कि चिंतन के स्थान पर विज्ञान को रखा जा सकता है, समाज की सकल्पना का विश्लेषण किया जा सकता है और उसके नियमों की व्यावहारिक जांच-पड़ताल के आधार पर खोज की जा सकती है तथा सामाजिक संस्थाओं और मानव प्रकृति के सम्बन्धों का अनुसंधान हो सकता है। इसलिए एक अन्य अर्थ में काम्टे का दर्शन पराकाष्ठा नहीं बल्कि श्रीगणेश था। वह प्रस्थान बिन्दु था जहां से सामाजिक शास्त्रों को आधुनिक विज्ञान के क्रोड में समेटने का प्रयत्न किया जाता है। इस दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि उसने एक ऐसे नए कार्य को आरम्भ किया जिसकी जटिलता को उस समय नहीं समझा गया था और जिसने अभी तक कोई आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त नहीं की है। काम्टे के समय से अब तक उसका इतिहास नई समस्याओं और नई पद्धतियों का, अनुसंधान के नए क्षेत्रों का और सांस्कृतिक मानव शास्त्र तथा सामाजिक मनोविज्ञान जैसे सम्पूर्ण नए विज्ञानों का इतिहास रहा है। काम्टे के दर्शन का यह मूल प्रयोजन मिल को बहुत प्रिय था। यह एक ऐसे विश्वास का विस्तार था जो उदारवादियों के सिद्धान्त में शुरू से ही पाया जाता रहा था। यह विश्वास था कि मनुष्य के सम्बन्धों को बुद्धिमत्ता से समझा जा सकता है और उनका नियंत्रण किया जा सकता है।

समाज के विज्ञान के लिए काम्टे की सामान्य योजना उसकी दूसरी योजना के साथ बंधी हुई थी। दूसरी योजना का मूल विचार यह था कि इस प्रकार के विज्ञान के परिणामस्वरूप समाजों के विकास के "नियम" की खोज हो जाएगी। उसे आशा थी कि यह नियम इस बात को निर्दिष्ट कर देगा कि प्रत्येक समाज के विकास की सामान्य रूपरेखा क्या होगी। हां, परिस्थितियों की भिन्नता के अनुसार इस विकास-क्रम में थोड़े-बहुत परिवर्तन अवश्य हो सकते हैं। लिओन ब्रन्चविग ने इस मोहक चिंतन को उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक चिंतन की "प्रिय बुराई" कहा है। इस चिंतन को विभिन्न स्रोतों से जो कभी-कभी एक-दूसरे के असंगत होते थे, प्रेरणा मिली है। टर्गट

और कण्डरसेट जैसे क्रांति के पूर्ववर्ती विचारकों की धारणा थी कि संसार प्रगति की ओर जा रहा है और उनका यह विश्वास इस धारणा में भी पाया जाता है। यह विचार हीगेल के इतिहास-दर्शन में और उस ऐतिहासिक पद्धति में जो हीगेलवाद ने सामाजिक शास्त्रों के क्षेत्र में चालू की थी, एक भिन्न रूप में पाया जाता है। हर्बर्ट स्पेंसर ने यह प्रमाणित किया कि यह पद्धति डार्विन द्वारा प्रतिपादित जैविक विकास की पद्धति से साम्य रखती है। जैविक विकास का सिद्धान्त भी उन्नीसवीं शताब्दी का एक प्रमुख राजनीतिक विचार था। ये सारे विचार मिलकर एक तुलनात्मक पद्धति का निर्माण करते थे। यह "तुलनात्मक पद्धति" सामाजिक अध्ययन की सभी शाखाओं में एक मान्य पद्धति बन गई थी यद्यपि इसके फलस्वरूप सामाजिक और राजनीतिक संगठन विषयक ज्ञान बहुत अधिक बढ़ गया था तथापि इससे मुख्य प्रयोजन की सिद्धि में कोई सहायता नहीं मिली। आज इस बात को बहुत कम मानवशास्त्री मानते होंगे कि संस्कृतियाँ वास्तव में किसी सामान्य विकास क्रम का अनुसरण करती हैं। सामाजिक परिवर्तन के कारणों को ध्यान में रखते हुए यह बात समझ में नहीं आती कि वे इस विकास-क्रम का अनुसरण भी क्यों करें।[1]

जब मिल का कॉम्टे के दर्शन से मुकाबला हुआ, उस समय ये विचार तत्कालीन विचार-मंडल के एक भाग थे। उसने जिस सामाजिक दर्शन को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था, वह एक सीमित सामाजिक दर्शन था। मिल इस सामाजिक दर्शन की त्रुटियों को दूर करना चाहता था और उसे एक समग्र दर्शन का रूप देना चाहता था। इसलिए, उसने कुछ संकोच के साथ एक सामाजिक विज्ञान के विचार को स्वीकार किया और यह भी माना कि इतिहास के एक दर्शन का विकास किया जा सकता है। यह विचार उसके मन में काफी देर से आया था। अतः, वह अपने चिंतन की पुरानी धाराओं के साथ इस विचार का सामंजस्य नहीं बैठा सका। उसने अपनी आत्मकथा में अपने ऊपर कॉम्टे तथा कॉलरिज के प्रभाव का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है।

'मानव मस्तिष्क के प्रगति का कुछ क्रम होता है। इस क्रम में कुछ चीजें दूसरी चीजों की अपेक्षा पहले हो जाती हैं। सार्वजनिक शिक्षा तथा शासन के द्वारा इस क्रम में थोड़ा बहुत परिवर्तन किया जा सकता है परन्तु अधिक नहीं। राजनीतिक संस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रश्न निरपेक्ष नहीं बल्कि सापेक्ष होते हैं। मानव प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न संस्थाएं न केवल होंगी बल्कि उन्हें होना भी चाहिए। शासन सदैव उस वर्ग के हाथों में रहता है या उस वर्ग के हाथों में चला जाता है जिसकी समाज में सब से अधिक शक्ति होती है। यह शक्ति संस्थाओं पर निर्भर नहीं होती

1 ऐतिहासिक नियमों की सफलता से पद्धति सम्बन्धी कठिनाइयों के लिए देखिए कार्ल पॉपर कृत 'The Poverty of Historicism", *Economica* N S, Vol XI (1944) p 86 p 119 Vol XII (1945), p 69

बल्कि संस्थाएं इस शक्ति पर निर्भर होती हैं। राजनीतिक दर्शन का कोई भी मान्य सिद्धान्त इस बात को मानकर चलता है कि प्रगति का एक सिद्धान्त होता है। इतिहास के दर्शन के साथ भी यही बात लागू होती है?"[1]

इस वाक्य की व्याख्या करने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र और विकासात्मक समाजशास्त्र के महत्त्वपूर्ण भाग पर एक ग्रन्थ लिखने की जरूरत पड़ेगी। इस समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र का अधिकांश भाग मिल और ग्रीन के उदारवादी समाज दर्शन पर आधारित था।[2] उदारवाद का सदैव ही यह दावा था कि वह व्यावहारिक बुनियाद पर टिका हुआ है। लेकिन, व्यवहारवाद का अभिप्राय वह व्यक्तिगत मनोविज्ञान था जिसका लॉक ने अपने ऐसे में प्रतिपादन किया था और जिसे वह अपनी मौलिक अन्तर्दृष्टि मानता था। अब यह दीखने लगा कि केवल व्यक्तिगत मनोविज्ञान से ही काम नहीं चल सकता। इसके साथ ही सामाजिक संस्थाओं का विशेषकर उनके ऐतिहासिक विकास का भी अध्ययन होना चाहिए। पद्धति अब भी व्यावहारिक ही रहेगी लेकिन यह व्यवहारवाद अधिक विशाल पैमाने पर होगा। इस कार्यक्रम का बहुत व्यापक क्षेत्र था और मिल को इस बात की बहुत कम समझ थी कि इसमें क्या-क्या बातें लगी हुई हैं। यदि मस्तिष्क में प्रगति का कुछ क्रम होता है तो ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर इस बात का प्रमाणित किया जाना चाहिए कि यह क्रम क्या रहा है। यदि मानव प्रगति की विभिन्न अवस्थाएं होती हैं तो यह सम्भव होना चाहिए कि हम नैतिक विचारों का विकास दिखा सकें और उन सामाजिक संस्थाओं का विकास दिखा सकें जिनमें ये विचार व्यक्त होते हैं। अन्त में हमें तुलनात्मक आधार पर यह दिखाना चाहिए कि मस्तिष्क का विकास सभ्यता के विकास के साथ जुड़ा होता है। यदि यह सब हो जाए तो यह प्रमाणित हो जाएगा कि उदारवाद मानव प्रगति के एक सिद्धान्त पर आधारित है और वह राजनीतिक विकास की पराकाष्ठा है। उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में यह सम्भव था, यहां तक कि विचारणीय भी था कि राजनीतिक संस्थाएं सर्वत्र ही क्रमिक विकास के द्वारा उदारवादी रूप ग्रहण कर लेंगी। लेकिन, तुलनात्मक पद्धति में जो कठिनाइयां और भ्रम रहते हैं, मानव विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधानों ने उन्हें प्रगट नहीं किया था।

मिल ने उपर्युक्त अवतरण की रचना १८७३ में की थी। उस समय सम्भवतः इस कार्यक्रम की विशालता का उसे अनुमान नहीं था। तथापि, उसने दो महत्त्वपूर्ण

---

1. *Autobiography* (1873), p. 162.

2. उदारवाद तथा विकास-सिद्धान्त को समन्वित करने का और इसके साथ ही पूर्ण ऐतिहासिक आगमन के द्वारा सामान्य सिद्धान्तों की परीक्षा करने का प्रयत्न लिओनार्ड हाबहाउस के समाजशास्त्र में विशेषकर उसके दो ग्रन्थों *Mind in Evolution* (१९०१) तथा *Morals in Evolution* (२ जिल्दें, १९०६) में पाया जाता है।

विचारों को जो बहुत श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण थे, ग्रहण कर लिया था। पहला विचार तो यह था कि राजनीतिक संस्थाएं सामाजिक संस्थाओं पर निर्भर होती हैं और दूसरा विचार यह था कि समाज का एक मनोवैज्ञानिक संगठन होता है। पहला विचार पुराने उदारवादियों की इस आलोचना से सम्बन्ध रखता है कि वे लोग इस बात से अपरिचित रहे थे कि व्यक्तिगत मनोविज्ञान के सामाजिक नियम संस्थाओं और ऐतिहासिक परिस्थितियों पर कहां तक निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए न्यायशास्त्र में उन्होंने प्रभुसत्ता को कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति आदेश पालन का भाव बताया था। अर्थशास्त्र में उन्होंने पूंजीवादी समाज की प्रथाओं को मूल से अपरिवर्तनशील मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं बताया था। आन लिबर्टी ग्रन्थ में मिल ने उदारवादी शासन को व्यक्तित्व के प्रति सामाजिक और नैतिक आदर पर निर्भर माना था। मिल समाज के महत्व को समझता था और उसका यह मत था कि व्यक्तिगत व्यवहार का कुछ सामाजिक पक्ष भी होता है। मिल का यह विचार उसके दर्शन का एक प्रमुख तत्व है। लेकिन, मिल इस बात को पूरी तरह से नहीं समझ सका कि इसमें क्या-क्या निहित है। दूसरा मुख्य विचार यह था कि जीवशास्त्र नहीं, प्रत्युत् मनोविज्ञान सामाजिक व्यवहार का बुनियादी मनोविज्ञान है। मिल इस विचार में काम्टे से असहमत था। इस सम्बन्ध में वह उस दृष्टिकोण से सहमत था जो इंग्लैण्ड के सामाजिक अध्ययन में सदैव से प्रचलित रहा था। सम्भवतः, इसका कारण यह था कि मिल का यह विचार जीव वैज्ञानिक विकास की सकल्पना के दृढ़तापूर्वक स्थापित होने से पहले ही बन गया था। सामाजिक और नैतिक विकास को जैविक विकास के साथ जोड़ देना एक बहुत बड़ी गलती थी और इससे दोनों में ही भ्रम उत्पन्न होता था। स्पेंसर के विकासवादी दर्शन ने इस बात को सिद्ध कर दिया था। दूसरी ओर यह भी समझ में नहीं आता कि मिल अपने साहचर्यपरक मनोविज्ञान के द्वारा प्रगति के क्रम को किस प्रकार समझ सकता था। इसके लिए यह जरूरी था कि आदतों के निर्माण और मानसिक विकास की प्रक्रिया का वर्णन किया जाता। लेकिन, ये चीजें मन पर नहीं बल्कि परिस्थितियों पर निर्भर रहती हैं। यहां भी मिल का विचार अधूरा था। इस विचार को पूरी तरह से विकसित करने के लिए उसमें पर्याप्त संशोधन की आवश्यकता थी।

मिल ने अपने ग्रन्थ लाजिक की छठी पुस्तक में सामाजिक शास्त्रों की वैज्ञानिक पद्धति के बारे में विचार किया है। तर्कशास्त्र सम्बन्धी एक ग्रन्थ में जिसमें मुख्य रूप से आगमनात्मक प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति के बारे में विचार किया गया था, इस विषय का समावेश महत्वपूर्ण था। इससे यह प्रकट होता था कि मिल सामाजिक शास्त्रों के क्षेत्र को बढ़ाने की आवश्यकता समझता था। वह यह चाहता था कि सामाजिक शास्त्रों की पद्धति को अधिक कठोर बनाया जाए और उन्हें प्राकृतिक विज्ञानों के समकक्ष स्थान दिया जाए। सामान्य रूप से उसका विचार यह था कि सामाजिक विज्ञानों में आगमन और निगमन दोनों की जरूरत है। यह बात सही थी लेकिन इसके आधार पर सामाजिक शास्त्र अन्य विषयों से पृथक् नहीं हो पाते थे। यह निष्कर्ष कुछ ऐसा था जो

दार्शनिक उग्रवादियों की निगमनात्मक पद्धति की आलोचना के प्रति एक विरोध के रूप में था। इसके साथ ही इसमें इस प्रक्रिया की आवश्यकता और सार्थकता की बात कही गई थी। १८२९ में मैकाले ने एडिनबर्ग रिव्यू में मिल के ऐसे आन गवर्नमेंट की आलोचना की थी। इस आलोचना का मुख्य अंश यह था कि यह प्रस्तर बहुत अधिक बुद्धिवादी है। मैकाले ने यह दृष्टिकोण व्यक्त किया था कि राजनीति विज्ञान को विशुद्ध रूप में व्यावहारिक विज्ञान होना चाहिए। मिल ने लॉजिक में दोनों एकांगी दृष्टिकोणों का त्याग कर यह दृष्टिकोण ग्रहण किया था कि आगमनात्मक और निगमनात्मक दोनों पद्धतियों का प्रयोग होना चाहिए। उसका कहना था कि राजनीति आचरण के मनोवैज्ञानिक नियमों का अनुसरण करती है। यह मनोवैज्ञानिक आचरण केवल आगमनात्मक पद्धति पर आधारित हो सकता है। लेकिन, राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या अधिकतर निगमनात्मक होती है क्योंकि उसकी व्याख्या का अर्थ यह होता है कि मनोविज्ञान का सहारा लिया जाए। मिल ने अपनी प्रक्रिया को काम्टे की प्रक्रिया के अनुकूल बनाने के लिए ही इसी तर्क का प्रयोग किया था। उसने यह स्वीकार किया कि ऐतिहासिक विकास के कुछ नियम आगमनात्मक पद्धति के आधार पर निर्धारित किए जा सकते हैं। यद्यपि उसे इस प्रक्रिया के विस्तार और इसकी निश्चितता के बारे में कुछ सन्देह था, फिर भी वह यह समझता था कि मनोविज्ञान के आधार पर इन नियमों की व्याख्या की जा सकती है। इसलिए, मिल का सामान्य निष्कर्ष यह था कि सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन के लिए दो पद्धतियाँ हैं और इन दोनों पद्धतियों को एक दूसरे का पूरक होना चाहिए। एक पद्धति को वह प्रत्यक्ष निगमनात्मक पद्धति और दूसरी को परोक्ष निगमनात्मक पद्धति कहता था। दूसरी पद्धति का श्रेय वह काम्टे को देता था।

हर्बर्ट स्पेंसर

(Herbert Spencer)

उन्नीसवीं शताब्दी की तीसरी चौथाई में उदारवादी सिद्धान्त की दशा को समझने के लिए मिल के दर्शन की हर्बर्ट स्पेंसर के दर्शन के साथ तुलना करनी चाहिए। यह तुलना रोचक भी है और शिक्षाप्रद भी। राजनीतिक उदारवाद तथा इंग्लैण्ड की सहज दार्शनिक परम्परा के ये दो सर्वश्रेष्ठ प्रवक्ता थे। दोनों की पृष्ठभूमि दार्शनिक उग्रवाद में थी। लेकिन, यह बात स्पेंसर के बारे में इतनी सच नहीं थी जितनी कि मिल के बारे में सत्य थी। इसका कारण यह था कि स्पेंसर ने जैविक विकास के सिद्धान्त को अपने दर्शन का केन्द्र-बिन्दु बना रखा था। स्पेंसर का सोशल स्टेटिक्स नामक ग्रन्थ डार्विन के ओरिजिन आफ स्पीशीज ग्रन्थ के प्रकाशन से नौ वर्ष पहले छपा था। स्पेंसर के उत्तर-कालीन विकासात्मक नीतिशास्त्र का मुख्य प्रयत्न यह रहा था कि उसने सुख तथा

जैविक जीवन के बीच कल्पनात्मक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश की थी। यह तथ्य कि मिल और स्पेंसर दोनों ही दार्शनिक उग्रवाद से प्रेरणा ग्रहण करते थे लेकिन फिर भी दोनों के मत एक-दूसरे से भिन्न थे इस निष्कर्ष को पुष्ट करता है कि दोनों की चिंतन धाराएं काफी अलग-अलग थीं और दार्शनिक उग्रवाद का सिद्धान्त एक प्रकार की खिचड़ी थी। मिल मुख्य रूप से बेंथम का बौद्धिक उत्तराधिकारी था। वह एक व्यवहारवादी था और उसने विधान के सामाजिक कार्यों पर बहुत कम प्रतिबन्ध लगाए थे। स्पेंसर परम्परागत अर्थशास्त्रियों की बुद्धिवादी परम्परा का प्रतिनिधि था। उसने विकास के आधार पर प्राकृतिक समाज के दर्शन का निरूपण किया। इस दर्शन में राजनीति और अर्थशास्त्र अलग-अलग थे। इसने पुराने उदारवाद की संकीर्णता को भी नष्ट किया। स्पेंसर ने पुराने उदारवाद का जीव विज्ञान और समाजशास्त्र से और जैविक तथा सामाजिक विकास से सम्बन्ध स्थापित किया।

स्पेंसर का संश्लिष्ट दर्शन उन्नीसवीं शताब्दी के बुद्धिवाद का एक आश्चर्यजनक चमत्कार था। इसमें भौतिक शास्त्र से लेकर नीतिशास्त्र तक ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र को समाविष्ट कर लिया गया था। स्पेंसर ने इस दर्शन को दस जिल्दों में लिखा है और उसे यह कार्य पूरा करने में ३५ वर्ष लगे। ग्रन्थ की आरम्भिक रूपरेखा तथा ग्रन्थ के अन्तिम खंड में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुए। तुलना की दृष्टि से सत्रहवीं शताब्दी का प्राकृतिक विधि का दर्शन ही इसके सामने टिक सकता है। स्पेंसर के बौद्धिक दर्शन और प्राकृतिक विधि के दर्शन में कुछ बौद्धिक सादृश्य भी थे। स्पेंसर के दर्शन में "प्रकृति" का स्थान विकास ने ले लिया था। उसने वॉन बेअर के भ्रूण विज्ञान से "अनिश्चित असंगत सजातीयता से निश्चित संगत विजातीयता" के मिश्र और एकीकरण का नियम ग्रहण किया था। इस नियम के आधार पर उसने एक सार्वभौम सिद्धान्त का निर्माण किया जो हजारों विषयों में प्रकट होता है लेकिन जिसमें प्रतिरूप की समानता बनी रहती है। स्पेंसर सजातीय तत्त्व को अस्थिर मानता था। अतः, उसने शक्ति के संरक्षण को जैविक विकास का मूल माना। इस आरम्भ के बाद यह व्यवस्था जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के ऊपर भी लागू की गई। प्रकृति में थोड़ा बहुत विघटन अवश्य होता रहता है, फिर भी प्रकृति के विकास की रेखा सरल रहती है—शक्ति से जीवन, जीवन से मस्तिष्क, मस्तिष्क से समाज, समाज से सभ्यता तथा फिर अधिक मिश्रक और एकीकृत सभ्यताएं।

यह बिल्कुल स्पष्ट सी बात है कि इस प्रकार का तर्क वैज्ञानिक नहीं था और न इसके निष्कर्षों में किसी प्रकार की संगति ही थी। अपने समय में यह सिद्धान्त काफी लोकप्रिय रहा था। अब यह सिद्धान्त पुराना पड़ चुका है। वह सिद्धान्त अपने समय के अनुरूप ही था। फिर भी, ऐसे विचारक बहुत कम हुए हैं जिन्होंने इतने विशाल पैमाने पर दार्शनिक संश्लेषण का प्रयास किया हो। हमने इतिहास के जिस दर्शन की पहले चर्चा की है, स्पेंसर का विकासवाद उसका ही संस्करण था। उसने यह आशा व्यक्त की कि समाज की वृद्धि से विकास की निम्नतर और उच्चतर अवस्थाओं की स्पष्ट कसौटी प्राप्त

हो जाएगी। इसके आधार पर हम निर्णय कर सकेंगे कि कौन सी चीज पुरानी और कौन सी नई, कौन-सी उपयुक्त और कौन सी अनुपयुक्त, कौन-सी अच्छी और कौन-सी बुरी है। स्पेंसर ने अपनी इस धारणा को सावयव विकास के सिद्धान्त पर आधारित किया था। उसके विचार से नैतिक सुधार अनुकूलन की जैविक सकल्पना का विस्तार मात्र है। स्पेंसर का मत था कि योग्यतम व्यक्तियों को ही जीवित रहने का अधिकार है और उनके जीवित रहने से ही समाज का कल्याण होता है। इस सिद्धान्त म अनक असंगतियां थीं। इसने गम्भीर वैज्ञानिक भ्रम को जन्म दिया। जैविक अनुकूलन के सिद्धान्त को नैतिक प्रगति के ऊपर लागू करने का अर्थ यह था कि सामाजिक दृष्टि से हितकारी व्यवहार को एक ऐसी आदत का रूप दे दिया जाता जो पीढ़ी दर पीढ़ी परम्परा के रूप मे विकसित होती है। स्पेंसर ने इस विचार का सम्पूर्ण जीवन प्रतिपादित किया। यह विचार जीव विज्ञान की दृष्टि से तो निराधार था ही, इसने सस्कृति तथा सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप के बारे म भी अनन्त भ्रम पैदा किए। स्पेंसर के दर्शन म ये सारी त्रुटियां थीं, फिर भी उसने सामाजिक शास्त्रो के अध्ययन के क्षेत्र मे अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। उसने मनोविज्ञान और जीव विज्ञान का सम्बन्ध स्थापित किया और इस प्रकार पुराने साहचर्यपरक मनोविज्ञान के रूढिवाद को समाप्त किया। उसने राजनीति और नीतिशास्त्र पर समाजशास्त्रीय और मानवशास्त्रीय अनुसधान और इसलिए सास्कृतिक इतिहास के सन्दर्भ म विचार किया। सश्लिष्ट दर्शन का युग ई० बी० टिलर और एल० एच० मोरगन के अधिक मौलिक तथा अधिक महत्वपूर्ण कार्य का भी युग था।[1] मिल की भांति स्पेंसर ने भी पुराने उपयोगितावादी दर्शन और सामाजिक अध्ययन के बौद्धिक पृथकत्व को नष्ट किया तथा उन्हें आधुनिक विज्ञान के व्यापक क्षेत्र का एक भाग बना दिया। इस दृष्टि से काम्टे के दर्शन की भांति उसके दर्शन का भी बौद्धिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व था।

दूसरी ओर स्पेंसर का राजनीति दर्शन केवल प्रतिक्रियावादी था। वह उस समय भी दार्शनिक उग्रवादी रहा जबकि दार्शनिक उग्रवाद एक पीढ़ी पुराना पड गया था। विकास के सिद्धान्त ने उसे प्राकृतिक समाज की एक सकल्पना प्रदान की। यह सकल्पना प्राकृतिक स्वतन्त्रता की पुरानी पद्धति का नया रूपान्तर मात्र थी। इस निष्कर्ष म कुछ कठिनाइयां थीं। इसका कारण यह था कि विकास समाज की भांति राज्य को भी अधिक जटिल तथा अधिक एकीकृत बना देता जबकि स्पेंसर को यह सिद्ध करना था कि वह समाज जो धीरे-धीरे अधिक जटिल हुआ है अधिक से-अधिक सरल राज्य का ही समर्थन करेगा। उसने इस विरोधाभास का समाधान यह मान कर किया कि शासन के अधिकांश कार्य एक सैनिक समाज म पैदा हुए थे और उद्योगप्रधान समाज मे युद्ध का नामोनिशान नहीं रहेगा। इसलिए, उसने यह निष्कर्ष निकाला कि ज्यों-ज्यों उद्योगी-

---

1 टिलर का *Primitive Culture* ग्रन्थ १८७१ म और मोरगन का *Ancient Society* १८७७ मे छपा था।

त्रुटि के बावजूद भी उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल का सब से अधिक विश्वसनीय उदारवादी माना गया था। इस समय जरूरत उस दर्शन के पुनर्निरीक्षण की थी जो उदारवादी समाज के आदर्शों तथा उसमे उदारवादी शासन के कार्यों का समर्थन करती थी।

उदारवाद का आदर्शवादियो द्वारा संशोधन

(The Idealist Revision of Liberalism)

उदारवादी सिद्धान्त का यह संशोधन १८८० से आगे की दो पीढ़ियों में आक्सफर्ड के आदर्शवादियों ने किया। इन आदर्शवादियों में थामस हिल ग्रीन सब से प्रमुख था—कम-से-कम राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में। अमेरिका में भी दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में इससे मिलता-जुलता एक आन्दोलन चला। जोसिया रौसे इस आन्दोलन का सबसे प्रख्यात प्रतिनिधि था। जॉन ड्यूवी आदर्शवाद की एक नयी धारा का प्रवर्तक था। इस धारा ने उदारवाद को ग्रहण किया, लेकिन उसकी तत्त्वमीमांसा को अस्वीकार कर दिया। ड्यूवी को छोड़ कर विचारकों का यह शिथिल समुदाय नव्य-हीगेलवादी समुदाय कहलाता था हालांकि यह बात स्पष्ट नहीं हो सकी है कि नव्य-हीगेलवाद का वास्तविक अर्थ क्या था। हीगेल तथा उसके बाद मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को तार्किक विश्लेषण का एक पूर्ण साधन समझा था। लेकिन नए दार्शनिकों में से कोई भी ऐसा नहीं समझता था। नए दार्शनिक हीगेल के राजनीतिक सिद्धान्त के सत्तावादी तत्त्व का ग्रहण करने के लिए भी तैयार नहीं थे। यदि उनमें से कुछ उदारवाद के विरोध में अनुदारवाद की ओर झुके हुए थे, तो यह ऐसा अनुदारवाद था जिसके मन में प्रतिनिधिक राजनीतिक संस्थाओं के बारे में किसी प्रकार की गलतफहमी नहीं थी। इन विचारकों में जो उग्रवादी थे, उनमें से किसी का मार्क्स की भांति वर्ग-संघर्ष में विश्वास नहीं था। उनके सामाजिक दर्शन को हीगेल के सामाजिक दर्शन से जोड़ने वाला तत्त्व यह सामान्य विचार था कि मनुष्य की प्रकृति मूलतः सामाजिक होती है। आक्सफर्ड आदर्शवाद उस बौद्धिक प्रभाव की परिणति था जो इंगलैण्ड की व्यावहारिक परम्परा के बाहर से आया था। यह मुख्य रूप से कांटोत्तर जर्मन दर्शन की देन था और यह कालरिज तथा कार्लाइल के नाम के साथ विशेष रूप से संयुक्त था। लेकिन, इनमें एक महत्वपूर्ण अन्तर था। आरम्भिक उदारवाद मुख्य रूप से उद्योगवाद तथा उसके सामाजिक परिणामों की आलोचना के रूप में था। वह अपने राजनीतिक दृष्टिकोण में उदार नहीं था। ग्रीन का सिद्धि यह है कि उसने इस स्थिति को दो तरह से बदला। एक ओर तो उसने उदारवाद के लिए एक ऐसा विचार-आन्दोलन पकड़ा जो शताब्दी के मोड़ पर एक पूरी पीढ़ी तक आंग्ल-अमेरिकी दर्शन पर छाया रहा। दूसरी ओर उसने उदारवाद का संशोधन किया इस आलोचना के निवारण के लिए कि उसमें एक वर्ग के हितों की ही प्रधानता रहती है और उसकी स्वतन्त्रता विषयक संकल्पना ऐसी है जो सामाजिक स्थिरता और सुरक्षा की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देती। मिल ने जिन उपबन्धों के द्वारा व्यक्तिवाद

तथा बेंथम के उदारवाद के स्वार्थ को उचित ठहराया था, ग्रीन ने उस उपवस्था को अधिक सगत और स्पष्ट किया।

आदर्शवाद का मुख्य प्रयोजन एक दर्शनशास्त्र का निर्माण करना था। एक राजनीतिक आन्दोलन को दिशा देने का प्रयोजन तो आनुषगिक ही था। दर्शन म उसकी मुख्य सिद्धि आलोचनात्मक थी।[1] इसने इगलैण्ड के चिंतन को सदैव के लिए एक भार-वाही परम्परा से मुक्त कर दिया। वह परम्परा थी—साहचर्यपरक मनोविज्ञान तथा तर्कशास्त्र के लिए उसके मान्य निष्कर्ष, और नीतिशास्त्र मे मूल्य तथा प्रयोजन का सुख-दुख सिद्धान्त जिसमे सामाजिक दर्शन के लिए व्यक्तिवादी निष्कर्ष शामिल थे। जहा तक वाद के प्रश्न का सम्बन्ध है, आदर्शवादियो ने व्यक्तिवाद की उस आलोचना का विकास किया और उसे अधिक सगत बनाया जो रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के साथ शुरू हुई थी और जिसे हीगेल के स्वतन्त्रता-सिद्धान्त ने और अधिक विकसित किया था। इसलिए, आदर्शवाद की मूल दार्शनिक समस्याए थी—व्यक्तित्व का स्वरूप, सामाजिक समुदाय का स्वरूप और दोनो का सम्बन्ध। उसका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि व्यक्तित्व उसी समय पूर्णता को प्राप्त करता है जबकि वह समाज के जीवन मे महत्त्वपूर्ण भाग ले। उसकी समस्याए तार्किक विश्लेषण और आध्यात्मिक शैली के ढग पर प्रस्तुत की गई थी। यह पद्धति ही आदर्शवाद की शक्ति और सीमा के लिए उत्तरदायी थी। एक ओर तो उसने विज्ञान के उस धार्मिक रूढिवाद की कठोर आलोचना की जो आज से पचास वर्ष पूर्व आज की अपेक्षा कही अधिक प्रचलित था। दूसरी ओर, आदर्शवादियो का तर्क कल्पना के एक ऐसे ऊचे धरातल पर चलता था कि वह वैज्ञानिको पर या राजनीति मे लगे हुए लोगों पर पूरा प्रभाव नही डाल पाता था। आदर्श-वाद सदैव ही एक बौद्धिक दर्शन था और वह ऐसी बोझिल, जर्मन शब्दावली मे व्यक्त होता था जिसके कारण काफी हद तक दुर्बोध बन जाता था। उसकी केन्द्रीय समस्या थी—व्यक्तित्व के गठन तथा सामाजिक पृष्ठभूमि के सास्कृतिक गठन मे अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। इस दृष्टिकोण के महत्त्व मे निरन्तर वृद्धि हुई है और सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन पर उसका प्रभाव बढा है। यह दृष्टिकोण आदर्शवाद के माध्यम से ही सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र मे उदित हुआ और उसने उदारवाद की ठोस सकल्पना के ऊपर प्रभाव डाला।

---

1 आक्सफर्ड आदर्शवादियो ने इस क्षेत्र मे अनेक पुस्तकें प्रकाशित की—ग्रीन द्वारा सम्पादित ह्यूम की *Treatise* (१८७४), जिसमे उसकी प्रस्तावना बडी महत्त्वपूर्ण है, ग्रीन का अपना ग्रन्थ *Prolegomena to Ethics* (१८८३), एफ० एच० ब्रैडले का *Ethical Studies* (१८७६), और *Principles of Logic* (१८८३) अन्तिम ग्रन्थ के कुछ अध्याय आलोचना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ब्रैडले का *Appearance and Reality* (१८९३) तथा बर्नर्ड बोसाके का *Principles of Individuality and value* (१९१२) आलोचना पर आधारित विशुद्ध तत्त्व-मीमासा विषयक ग्रन्थ हैं।

कुछ ऐसी परिस्थितियां हैं जो टी० एच० ग्रीन के दर्शन का अध्ययन बहुत कठिन बना देती है। उसकी मृत्यु छोटी आयु में ही हो गई थी। उसने केवल एक ही पुस्तक को अपने जीवन काल में पूरा करके प्रकाशित किया था। इस पुस्तक में किसी राजनीतिक या ठोस सामाजिक प्रश्न का उल्लेख नहीं है। उसका *Lectures on the Principles of Political Obligation* ग्रन्थ उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुआ और उसे उसके छात्रों ने उसकी टिप्पणियों के आधार पर तैयार किया था। पुन, ग्रीन का अपना अनुभव मुख्य रूप से बौद्धिक था यद्यपि माध्यमिक शिक्षा के सुधार से उसका जीवन-पर्यन्त सम्बन्ध रहा था। उद्योगीकरण द्वारा उत्पन्न की गई सामाजिक समस्याओं से उसका कोई घनिष्ठ परिचय नहीं था। उसने खेती के काम में लगे हुए मजदूरों के ऊपर उद्योगीकरण के प्रभावों का थोड़ा सा निरीक्षण किया था। लेकिन, इस सम्बन्ध में उसके विचारों में कोई खास गहराई नहीं है। ग्रीन के प्रत्यक्ष प्रभाव को समझने का आधार सिर्फ यही है कि उसने अपने विद्यार्थियों के ऊपर बहुत अधिक प्रभाव डाला था। तथापि, इस सम्बन्ध में उसकी प्रकाशित रचनाओं से कोई जानकारी नहीं मिलती। समाज में जो नैतिक अन्याय प्रचलित है, ग्रीन के मन में उसके प्रति क्षोभ का भाव है। समाज का अन्याय यह है कि वह अपनी सम्पदा से जो अंशतः भौतिक तथा मुख्यतः आध्यात्मिक है, अपने अधिकांश सदस्यों को वंचित रखता है। इस सम्बन्ध में ग्रीन ने एक बार कहा था, "लन्दन के किसी भूखे नागरिक का इंगलैण्ड की सम्पदा में उतने अधिक कोई भाग नहीं था जितना दास का एथेंस की सम्यता में था।" कुछ हद तक यह भावना मिल की उस भावना से साम्य रखती थी जिससे प्रेरित होकर उसने प्रतियोगितापूर्ण अर्थव्यवस्था का अस्वीकार कर दिया था। लेकिन, ग्रीन के दर्शन में एक वैशिष्ट्य था। उसके दर्शन में एक धार्मिक तत्व था जो उपयोगितावाद में नहीं पाया जाता था। ग्रीन का विचार था कि अत्यधिक दरिद्रता से नैतिक पतन होता है। ग्रीन के लिए सामाजिक जीवन में पूर्ण योगदान आत्म-विकास का उच्चतम रूप था। उदारवादी समाज का साध्य इस योगदान की सम्भावना पैदा करना है। ग्रीन ने यह विचार हीगेल से ग्रहण नहीं किया था। उसने यह विचार कुछ तो ईसाई धर्म के अध्ययन से ग्रहण किया था और कुछ यूनानी नागरिकता की उदार कल्पना से। इसलिए ग्रीन के विचार से राजनीति वह माध्यम है जो नैतिक विकास की सामाजिक परिस्थितियों को सम्भव बनाती है।

"हम सिर्फ यह कानून बना कर ही सन्तोष कर लेते हैं कि किसी व्यक्ति का उसकी इच्छा के विरुद्ध साधन के रूप में प्रयोग नहीं होगा। लेकिन, हम यह बात केवल भाग्य के ऊपर ही छोड़ देते हैं कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक कोईसामाजिक कार्य करते, समान हित के प्रति कुछ योगदान करने के योग्य होगा या नहीं।"[1]

ग्रीन के उदारवाद का सब से ठोस विवरण हमें उसके एक भाषण में मिलता है जो उसने १८८० में दिया था। इस भाषण का शीर्षक था "उदारवादी विधान और संविदा

1. *Political Obligation*, sect 165

की स्वतन्त्रता" (Liberal Legislation and Freedom of Contract) ।[1] ग्लैडस्टन का यह प्रस्ताव कि आयरलैण्ड के किसानों तथा जमींदारों की संविदा का विनियमन कर दिया जाए, इस भाषण की पृष्ठभूमि था। इस योजना ने एक ऐसा प्रश्न खड़ा कर दिया जो ग्रीन के विचार से उदारवादी विधान के बारे में निरन्तर ही उठा करता था। यह योजना उदारवादी थी लेकिन फिर भी यह संविदा के अधिकार का विनियमन करती थी। शुरू की उदारवादी नीति अधिकतर इस नियम पर आधारित थी कि वैधिक प्रतिबन्धों को कम करने के लिए संविदा की स्वतन्त्रता इस सीमा तक विस्तृत होनी चाहिए जहां तक वह सार्वजनिक व्यवस्था तथा सुरक्षा के साथ संगत हो। तो फिर, क्या उदारवाद को विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न नीतियों का पालन करना चाहिए? यदि हम बेंथम के दृष्टिकोण को सही मानते हैं, तो इस प्रश्न का उत्तर हां में होगा। बेंथम का दृष्टिकोण यह था कि समस्त विधान स्वतन्त्रता के ऊपर प्रतिबन्ध आरोपित करता है। अधिक स्वतन्त्रता उस समय होती है जब कोई सम्बन्ध विधि के द्वारा नियन्त्रित नहीं होता प्रत्युत् वह सम्बद्ध पक्षों के ऐच्छिक समझौते के ऊपर आधारित होता है। लेकिन, जैसा कि ग्रीन ने लिखा है, बेंथम के दृष्टिकोण ने निहित रूप से यह मान लिया था कि विधि स्वतन्त्रता के ऊपर एकमात्र प्रतिबन्ध है। यह उस समय तक सही नहीं है जब तक कि हम स्वतन्त्रता की परिभाषा यह वह कर न करें कि स्वतन्त्रता वैधिक प्रतिबन्धों की अनुपस्थिति है। ग्रीन इस प्रकार की स्वतन्त्रता को 'नकारात्मक स्वतन्त्रता' कहता था। इसके विरोध में उसने स्वतन्त्रता की एक "सकारात्मक' परिभाषा उपस्थित की। इसके अनुसार 'स्वतन्त्रता उस चीज के करने अथवा उपभोग करने का नाम है जो करने अथवा उपभोग करने योग्य है।" इसलिए, स्वतन्त्रता को एक वैधिक संकल्पना नहीं, प्रत्युत् वास्तविक संभावना होना चाहिए। उसका अर्थ यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में मनुष्यों की वास्तविक क्षमताओं का विकास हो व्यक्ति की शक्ति का विकास हो जिससे कि वह समाज के हितों में अधिक-से-अधिक भाग ले सके तथा वह समान हित के क्षेत्र को अधिक से अधिक योगदान दे सके। यदि यह साध्य अच्छा है तो संविदा की स्वतन्त्रता इसे सिद्ध करने के लिए एक श्रेष्ठ साधन हो सकती है। लेकिन वह स्वयं में एक साधन नहीं है। जहां मालिक और मजदूर की सौदेबाजी की शक्ति बहुत विषम होती है वहां संविदा की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रहता। जब बदलने का अर्थ भुखमरी हो तब आयरलैण्ड के काश्तकार के लिए अपने जमीन के मालिक के साथ संविदा की स्वतन्त्रता का अर्थ केवल एक औपचारिकता होता है। ग्रीन का तर्क है कि जब इन अवस्थाओं में मालिक या जमींदार संविदा के वैधिक रूप के अन्तर्गत बल प्रयोग करता है तब यह बल-प्रयोग उस बल-प्रयोग से अधिक दमनमूलक तथा वास्तविक स्वतन्त्रता का अधिक विनाशक होता है जिसका उपयोग राज्य दुर्बल पक्ष की रक्षा करने के लिए संविदा के अधिकार को सीमित करके करता है। ग्रीन के मत से दूसरे मार्ग का अपनाना स्वतन्त्रता का विपर्यय

1 *Works* Vol III, p 365

नहीं है। विधि ने यह सदैव स्वीकार किया है कि कुछ संविदाएं उदारवादी नीति के प्रतिकूल होती हैं। इन संविदाओं को सार्वजनिक नीति का विरोधी मान कर रोक देना चाहिए। यदि कुछ दूसरी संविदाएं भी सार्वजनिक स्वास्थ्य अथवा सार्वजनिक शिक्षा के सामान्य हितों के प्रतिकूल पड़ती हों, तो उन्हें भी इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

इस भाषण में ग्रीन ने एक छोटे से पैमाने पर इस बात का प्रभावपूर्ण विश्लेषण किया है कि विधान के क्षेत्र में उदारवाद के क्या उद्देश्य होते हैं। ग्रीन ने इस भाषण में बताया कि भूतकाल में उदारवाद की नीति पुराने और अनुपयुक्त विधान को रद्द करने की रही थी। लेकिन, उदारवाद को स्थायी रूप से इतने संकीर्ण आधार पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता था। यह जरूरी है कि उदारवादी नीतियां परिस्थितियों का सामना करने के लिए सदैव ही लचीली हों। यदि वे वास्तव में उदारवादी नीतियां हैं, तो उन्हें नैतिक प्रयोजनों का अनुसरण करना चाहिए। उनका उद्देश्य अधिकांश व्यक्तियों के लिए जीवन की मानवोचित दशाओं को प्रस्तुत करना है। फलतः, उसने यह निष्कर्ष निकाला कि उदारवादी दर्शन का केन्द्र-बिन्दु सामान्य हित अथवा समान मानव कल्याण का भाव है। इस भाव में प्रत्येक व्यक्ति का भाग होता है और वह विधान का एक मानक प्रदान करता है। यह मानक केवल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि स्वतन्त्र चुनाव पर कम-से-कम वैधिक प्रतिबन्ध लगाए जायें। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्र चुनाव केवल कुछ परिस्थितियों में ही होता है। कुछ परिस्थितियां ऐसी होती हैं जो स्वतन्त्र चुनाव को उपहास की चीज बना देती हैं। चुनाव का अर्थ अवसर है और अवसर का अर्थ एक ऐसा समाज है जिसके वैधिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में आवश्यकता से अधिक बल का प्रयोग न होता हो। इसलिए, यह नहीं कहा जा सकता कि यदि कोई शासन विधान का निर्माण नहीं करता, तो वह उदारवादी शासन है, अथवा राजनीतिक उदासीनता से ही किसी उदारवादी शासन का निर्माण हो जाता है। उदारवादी शासन का कार्य स्वतन्त्र समाज के अस्तित्व का समर्थन करना है। शासन लोगों को विधि के द्वारा नैतिक नहीं बना सकता। वह नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निवारण कर सकता है। ग्रीन ने उदारवादी विधान विषयक अपने भाषण में जिन विचारों को व्यक्त किया था, उसके नीतिशास्त्र और राजनीतिक दर्शन में उन्हीं विचारों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

ग्रीन के नीतिशास्त्र का केन्द्रीय विचार यह है कि व्यक्ति और समाज में पारस्परिकता का भाव होता है। उसके शब्दों में, "आत्मा एक सामाजिक आत्मा है"। इसने अरस्तू की भांति ही उसका भी यह विचार था कि समुदाय का उच्चतम रूप वह है जिसमें समान का समान के साथ सम्बन्ध होता है और जिसमें समस्त सदस्य समुदाय के तथा उसके प्रयोजनों के प्रति समान रूप से निष्ठावान् होते हैं। इस प्रकार के समुदाय का सदस्य होना, उसके कार्य में भाग लेना और उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना एक स्वस्थ व्यक्तित्व को प्राप्त करने की शर्त है और इसके साथ ही वह उच्चतम सन्तोष है जो कोई मनुष्य प्राप्त कर सकता है। ग्रीन का विचार था कि कुछ सीमाओं के भीतर प्रत्येक

सामाजिक समुदाय इसी प्रकार का होता है। सब से शक्तिशाली और सब से निरंकुश शासन भी केवल शक्ति के द्वारा समाज को एकता के सूत्र में बांध कर नहीं रख सकता। इस सीमा तक इस पुराने विश्वास में कुछ सत्य था कि सरकारें सहमति के द्वारा उत्पन्न होती हैं। ग्रीन का कहना था कि शासन शक्ति पर नहीं, बल्कि इच्छा पर आधारित होता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति को समुदाय से बांधने वाली कड़ी उसके अपने स्वभाव की विवशता है, विधि के दण्ड अथवा स्वार्थपूर्ण लाभों की गणना नहीं। उदारवादी समाज के विषय में आजवाव तर्क यह है कि वह मानव प्रकृति की इस मूल सामाजिक प्रवृत्ति को स्वीकार करता है। यह प्रवृत्ति पूरी तरह से नैतिक भी है और नैतिकता के अर्थ को सार्थक भी करती है। इस आदर्श के लिए यह आवश्यक है कि समाज के सदस्य एक-दूसरे से समानता के आधार पर मिलें, वे एक-दूसरे के साथ आदरयुक्त व्यवहार करें, वे स्वतन्त्रतापूर्वक सोचें और कार्य करें, उनके समस्त विचारों और कार्यों के मूल में पूर्ण नैतिकता की भावना रहे। इसके लिए यह भी जरूरी है कि बल-प्रयोग चाहे तो राज्य का हो और चाहे अन्य किसी प्रकार का, कम से-कम रहे। इसका कारण यह है कि बल-प्रयोग चाहे वह किसी प्रकार का क्यों न हो स्वतन्त्र नैतिक विकास के मार्ग में बाधक बनता है। कांट की भांति ग्रीन के लिए भी व्यक्तियों का समुदाय "साध्यों का राज्य" है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक साधन नहीं, प्रत्युत् एक साध्य माना जाता है। चूंकि समुदाय का और व्यक्ति का यह आदर्श स्वरूप है अतः प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का पूरा अवसर प्राप्त होना चाहिए कि वह अपनी क्षमताओं का पूरा विकास कर सके। इसलिए, वास्तविक रूप से उदारवादी समाज सारे मनुष्यों को नैतिक आत्मनिर्णय तथा नैतिक गरिमा का अधिकार प्रदान करता है और अधिकार ही व्यक्तित्व के विकास की आवश्यक शर्त है।

ग्रीन ने इस सकल्पना का अपने अधिकार विषयक विश्लेषण में विकास किया। उसका कहना था कि अधिकार में दो तत्व होते हैं। सर्वप्रथम, वह कार्य की स्वतन्त्रता के प्रति एक प्रकार का दावा होता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति की इस प्रवृत्ति का आग्रह होता है कि व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्तियों और क्षमताओं का विकास करना चाहता है। उसका तर्क था कि सुखवादी दर्शन मूलतः झूठा होता है क्योंकि मानव प्रकृति ऐसी इच्छाओं और प्रवृत्तियों की राशि होती है जो सुख की भावना से प्रेरित होकर नहीं, प्रत्युत् ठोस तुष्टि की भावना से प्रेरित होकर कार्य की ओर निर्दिष्ट होती हैं। लेकिन, यह दावा नैतिक रूप से केवल इच्छा के आधार पर ही सार्थक नहीं है। यह तो विवेकपूर्ण इच्छा के आधार पर ही सार्थक होता है। यह विवेकपूर्ण इच्छा दूसरे व्यक्तियों के दावों को भी अपने ध्यान में रखती है। उसकी सार्थकता को प्रमाणित करने वाला तत्व यह तथ्य है कि सामान्य हित इस प्रकार की कार्य-स्वतन्त्रता की अनुमति देता है। यह भाग लेने और अंशदान देने का दावा है। परिणामतः, अधिकार में दूसरा तत्व यह सामान्य स्वीकृति है कि यह दावा आवश्यक होता है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता वास्तव में समान हित के प्रति योगदान देती है। इसलिए ग्रीन के दृष्टिकोण से नैतिक समुदाय वह है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता के दावे को सामाजिक हितों की ध्यान

के सम्बन्ध में बैंथम की इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करता था कि वे 'विधि की सृष्टि हैं।" इसका कारण ग्रीन का यह विश्वास था कि उदारवादी शासन केवल ऐसे समाज में ही सम्भव हो सकता है जहां विधान और सार्वजनिक नीति लोकमत के प्रति निरन्तर सदय हों। यह लोकमत प्रबुद्ध भी होना चाहिए और नैतिक दृष्टि से सम्वेदनापूर्ण भी। उसके विचार से प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त में यही सचाई थी। उसने विधि के समक्ष न्याय, साम्य (equity) और मानवता का एक आदर्श रक्खा जिसके अनुसार उसे होना चाहिए। इससे उसका अभिप्राय यह नहीं था कि विधि मनुष्यों को नैतिक बना सकती है। इसका कारण यह है कि नैतिकता का सम्बन्ध चरित्र से है और चरित्र विधियों के दबाव से पैदा नहीं हो सकता। विधि का सम्बन्ध मनुष्य के बाहरी आचरण से होता है, उस आचरण की भावना अथवा इरादों से नहीं। तथापि यदि शासन को वास्तव में उदारवादी होना है, तो यह आवश्यक है कि विधि तथा आचारों के बीच निरन्तर आदान-प्रदान होते रहना चाहिए। यह आदान-प्रदान दो रूपों में होता है। एक ओर तो विधि जिन अधिकारों और दायित्वों को लागू करती है, वे उस स्तर के नहीं होते जो सम्भव हों। समाज का नैतिक निर्णय शासन को इस बात के लिए निरन्तर प्रेरणा देता रहता है कि वह अच्छे से अच्छा कार्य करे। दूसरी ओर, यदि राज्य मनुष्यों को नैतिक नहीं बना सकता, तो वह ऐसी सामाजिक परिस्थितियां अवश्य पैदा कर सकता है जिसमें मनुष्य अपने पूर्ण उत्तरदायी नैतिक चरित्र का विकास कर सके। शासन यदि और कुछ नहीं, तो यह जरूर कर सकता है कि वह व्यक्ति के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निवारण कर दे। शासन यह स्वीकार कर ले कि बच्चों को शिक्षा पाने का अधिकार है, यही कार्य करता है। ग्रीन का कहना था कि जो सरकारें अपने को उदारवादी बताती हैं, वे भी ऐसे अनेक कार्यों को नहीं करती, जो उन्हें करने चाहिए। राज्य का यह नैतिक दायित्व है कि वह अवसरों का निर्माण करे। यदि मनुष्य इन अवसरों का उपयोग नहीं करते, तो इससे राज्य के दायित्व में कोई कमी नहीं आती। मनुष्यों से एक ऐसे नैतिक स्तर की, जिस पर वे खरे नहीं उतर सकते, आशा करना व्यर्थ भी है और निर्दय भी। ग्रीन के उदारवाद का सब से मुख्य तत्त्व यह है कि वह एक ऐसी सामाजिक चेतना में यकीन रखता था जो विधि का नियन्त्रण भी कर सकती है और विधि के द्वारा नियन्त्रित भी हो सकती है। रूसो की सामान्य इच्छा का वह यही अभिप्राय समझता था। लेकिन उसका तर्क था कि जब रूसो ने यह पता लगाने का प्रयत्न किया कि समाज में सामान्य इच्छा कहां रहती है, तब वह भ्रम में पड़ गया। नैतिक निर्णय किसी एक स्थान पर प्रतिष्ठित नहीं होते। कारण यह है कि न तो ऐसा कोई व्यक्ति है और न कोई ऐसी सामाजिक संस्था ही है जिससे कभी न कभी गलती न होती हो। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि और अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करना चाहिए। उदारवादी समाज वह है जो व्यक्ति के नैतिक निर्णय के अधिकार को स्वीकार करता है तथा साथ ही यह सम्भावना बढ़ा देता है कि उसका निर्णय सामाजिक दृष्टि से विश्वसनीय होगा।

ग्रीन का विचार था कि यह नैतिक स्वतन्त्रता जो आत्मा अथवा व्यक्तित्व के आध्यात्मिक स्वरूप से उत्पन्न होती है, राजनीतिक उदारवाद की बुनियाद है। उसका कहना था कि यह पूछताछ करना बिल्कुल व्यर्थ है कि कोई मनुष्य सामाजिक संस्थाओं द्वारा बनाए गए नियमों की अधीनता में क्या रहता है अथवा समाज के सदस्य के रूप में उसे क्या अधिकार प्राप्त रहते हैं। उसकी स्वतन्त्रताएं और दायित्व एक ही सामाजिक सम्बन्ध के दो पहलू हैं जो उसे एक ओर तो सामाजिक संगठन में एक निश्चित स्थान देते हैं जिसके कुछ कर्तव्य होते हैं तथा दूसरी ओर उसे एक ऐसा व्यक्तित्व प्रदान करते हैं जो कुछ अधिकारों से मंडित किया जा सकता है। इसलिए, मानव समाज संस्थाओं का एक संश्लेष है जिसमें मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन का यापन करते हैं। उनके व्यक्तित्व का वास्तविक तत्त्व यह है कि वे समाज की सदस्यता द्वारा आरोपित समस्त कार्यों को करते हैं और उसके जीवन में पूरा भाग लेते हैं। इस सामाजिक संश्लेष में शासन का कार्य यह है कि वह स्वतन्त्र योगदान के आदर्श को ध्यान में रखते हुए विनियमन और नियंत्रण करे। उदारवादी शासन का उद्देश्य बल-प्रयोग को कम-से-कम रखना है। लेकिन, बलप्रयोग अनेक प्रकार का होता है और वह बहुत सी परिस्थितियों पर निर्भर रहता है सामान्य अनुभव में कोई भी स्थिति उस समय बलप्रयोग की हो जाती है जबकि वह सहज क्षमताओं के सहज विकास का अवसर नहीं देती और नैतिक आत्म-नियंत्रण के स्थान पर विवशता को प्रतिष्ठित कर देती है। विधि के बल-प्रयोग का औचित्य यह है कि वह बल-प्रयोग के अन्य रूपों को निराकृत कर देता है। बल-प्रयोग के अन्य रूप कम नहीं होते हैं। ग्रीन ने निर्णय और कार्य की स्वतन्त्रता का अधिकार श्रेणी अथवा धन के बिना किन्हीं भेदों के ऐसे सब व्यक्तियों को प्रदान किया जो सामाजिक उत्तरदायित्व को स्वीकार करते है। ग्रीन का विश्वास था कि जिस सीमा तक इन व्यक्तियों को सभ्यता द्वारा प्रस्तुत की गई नैतिक संस्कृति में भाग लेने का अवसर मिलता है उस सीमा तक वे सामाजिक दायित्वों को निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं। शिक्षा सब से महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य है। प्राचीन और आधुनिक सभ्यताओं में मुख्य अन्तर यह है कि आधुनिक राष्ट्र कुछ ऐसी सुविधाएं जो प्राचीन काल में केवल कुछ कुलीन लोगों को ही सुलभ हो पाती थी, सब लोगों को प्रदान करता है। ग्रीन का विचार था कि आजकल राष्ट्र ही वह सब से बड़ी इकाई है जिसमें सामाजिक दृढ़ता पाई जाती है। राष्ट्र ही समान हित के विचार को साकार रूप दे सकता है लेकिन उसे विश्वास था कि राज्यों को अपनी नीति सामान्य मानव कल्याण के भाव को ध्यान में रख कर निर्दिष्ट करनी चाहिए। उसका तर्क था कि युद्ध कहीं न कहीं नैतिक भूल के बिना कभी नहीं हो सकता। कुछ परिस्थितियां ऐसी जरूर हो सकती हैं जबकि युद्ध अपरिहार्य हो जाए। लेकिन, उस समय यह नैतिक असफलता की स्वीकृति होगा।

उदारवाद, अनुदारवाद और समाजवाद
(Liberalism, Conservatism and Socialism)

ग्रीन ने उदारवाद की जो व्याख्या प्रस्तुत की थी, उसने अर्थशास्त्र तथा राजनीति का वह भेद हटा दिया जिसके आधार पर पुराने उदारवादी राज्य को स्वतन्त्र बाजार की क्रिया से अलग रखते थे। ग्रीन के दृष्टिकोण से स्वतन्त्र बाजार भी कोई प्राकृतिक अवस्था नहीं प्रत्युत् एक सामाजिक संस्था है और उसे स्वतन्त्र रखने के लिए विधान की जरूरत हो सकती है। राजनीतिक और आर्थिक संस्थाएं एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं होतीं। वे दोनों ही उदारवादी समाज के नैतिक प्रयोजनों की सिद्धि में सहायता देती हैं। राजनीतिक दर्शन में इस परिवर्तन का अभिप्राय यह था कि पुराने उदारवाद का राज्य तथा विधान के प्रति अब तक जो रुख रहा था, वह अब बिल्कुल बदल गया। उदारवाद ने राज्य को अब तक पूर्ण सन्देह की दृष्टि से देखा था और उसकी गतिविधियों को संकीर्ण सीमाओं में बांध रखा था। उसका यह विचार था कि सांविधानिक गारंटियां अथवा विधान स्वतन्त्रता में अवांछनीय हस्तक्षेप करते हैं। इसके विपरीत ग्रीन के उदारवाद में यह मान लिया गया था कि राज्य एक सकारात्मक माध्यम है जो विधान के माध्यम से व्यक्ति की सकारात्मक स्वतन्त्रता में योग दे सकता है। जहां कहीं राज्य कुछ ऐसी बुराइयों को दूर करता है जो व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधाएं बनती हैं, वहां वह सामान्य कल्याण की वृद्धि करता है। यह सही है कि खुद ग्रीन तथा उसकी पीढ़ी के अन्य उदारवादियों ने सिद्धान्त के इस परिवर्तन को पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया, उन्हें अब भी यह डर बराबर बना रहा कि सामाजिक विधान से व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का भाव कम हो जाएगा। ग्रीन के लिए यह प्रश्न सिद्धान्त के अन्तर का नहीं था बल्कि इसका सम्बन्ध तथ्य से और विधान के सम्भाव्य प्रभावों से था। ग्रीन के संशोधन का मुख्य प्रयोजन राज्य को विधान के ऐसे क्षेत्रों में प्रवृत्त करना था जिनमें वह अब तक उदारवादी सिद्धान्तों के आधार पर प्रवृत्त नहीं हुआ था। उदाहरण के लिए ग्रीन का विश्वास था कि राज्य को सार्वजनिक शिक्षा का वित्त पोषण करना चाहिए और उसे अनिवार्य बना देना चाहिए। शिक्षा का विषय ऐसा था जिस पर हर्बर्ट स्पेंसर को छोड़कर और सभी उदारवादियों ने जोर दिया था। ग्रीन यह भी मानता था कि राज्य को सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए सफाई के भी नियम बनाने चाहिए शिष्ट जीवन-स्तर के लिए अच्छे मकानों का इन्तजाम करना चाहिए, और श्रम सम्बन्धी संविदाओं पर नियन्त्रण रखना चाहिए। चूंकि ग्रीन का कहना था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी सभी अधिकारों का समर्थन केवल उसी समय किया जा सकता है जबकि वे समान हित में योग दें, अतः उसके सिद्धान्त ने विधायी विनियमन की व्यापक संभावनाएं खोल दीं। ग्रीन का विश्वास था कि सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों में किसी बड़े परिवर्तन की जरूरत नहीं होगी क्योंकि विशाल पैमाने के पूंजीवाद के विकास के साथ ही साथ छोटे पैमाने के पूंजीवाद का भी विकास होगा। लेकिन यह प्रश्न भी तथ्य का था। यदि ग्रीन को यह विश्वास होता कि

वह गलती कर रहा है तो वह अपने इस विश्वास को बड़े युक्तिपरक ढंग से रख सकता था।

ग्रीन के उदारवाद की उपर्युक्त विशेषता बड़ी अनोखी थी। ग्रीन ने उदारवादी समाज की एक नैतिक सकल्पना पर जोर दिया था। जब तक कोई राजनीतिक निर्णय इस नैतिक सकल्पना से बिल्कुल अलग न होता, उसे ग्रीन के दर्शन से बिल्कुल अलग दर्शन मानना मुश्किल था। इस बात को जरा दूसरे ढंग से भी कहा जा सकता है। ग्रीन के उदारवाद में राजनीतिक अथवा विधायी नीति की कोई एक अपरिवर्तनशील धारा नहीं थी। उसमें नीति-विषयक विभिन्न धाराएं मिली हुई थीं। लेकिन सबका मूल उद्देश्य एक था—उन सामाजिक हितों की रक्षा करना जो सामान्य हित की वृद्धि करते हों। इस तरह से उदारवाद और अनुदारवाद या उदारवाद तथा समाजवाद के उदारवादी रूप का भेद केवल सिद्धान्त की बात रह जाती है। मिल के सामाजिक दर्शन की भांति ग्रीन का सामाजिक दर्शन भी उपयोगितावाद का एक विस्तृत और आदर्श रूप कहा जा सकता है। एक दृष्टि से यह परिवर्तन उदारवाद के सामान्य स्वरूप से बहुत भिन्न नहीं था, प्रत्युत् यह अधिकतम सुख की सकल्पना का विकास मात्र था। वस्तुस्थिति यह है कि ग्रीन ने उदारवाद को कुछ ऐसे सामाजिक मूल्य और नीतियां प्रदान कीं जिनका इंग्लैण्ड की राजनीति में अनुदारवाद से सम्बन्ध रहा था। यही वजह है कि मार्क पैटीसन जैसे कुछ सामयिक विद्वान उनके दर्शन को भ्रमपूर्ण समझते थे। डिजरैली का अनुदारवाद मुख्य रूप से बर्क के चिंतन पर आधारित था। डिजरैली बहुत तीव्र और उग्र परिवर्तनों के खिलाफ था। वह इनके विरोध में स्थिरता और सुरक्षा को ज्यादा महत्व देता था। इस समय परिवर्तन का मुख्य कारण उद्योग-धंधों का विस्तार था। ग्रीन के सशोधन ने यह निश्चित् किया कि स्थिरता और सुरक्षा स्वयं सामान्य हित के महत्वपूर्ण तत्व हैं और वे स्वतन्त्रता की आवश्यक दशाएं हैं। ग्रीन के दर्शन ने नैतिकता का इतना विस्तृत रूप प्रस्तुत किया जिस पर सामाजिक सद्भावना के सभी व्यक्ति खड़े हो सकते थे। ग्रीन को अपने इस कार्य में सफलता भी मिली। ग्रीन से पहले उदारवाद का सामाजिक दर्शन बड़ा सकीर्ण था और वह केवल एक वर्ग के हितों का ही प्रतिपादन करता था। ग्रीन ने उदारवाद को इतना विस्तृत कर दिया कि उसमें समाज के सभी महत्वपूर्ण हितों का समावेश हो सकता था और सम्पूर्ण राष्ट्रीय समुदाय की कल्याण कामना हो सकती थी।

स्पष्ट है कि यह प्रयोजन पूरी तरह से सफल नहीं हो सकता था। ग्रीन की नैतिक शब्दावली में व्यापकता के साथ ही साथ अस्पष्टता भी थी। इसका फल यह हुआ कि कई पीढ़ी के बहुत से विचारक जो उससे काफी हद तक सहमत थे, कुछ बातों में एक-दूसरे से भिन्न मत रखते थे। आदर्शवादी राजनीति के सिद्धान्त का दो तरह से निरूपण हो सकता था। एक ढंग तो सत्तावादी अथवा अनुदारवादी था। दूसरा ढंग निश्चित रूप से उदारवादी था। इस अन्तर का मुख्य कारण यह था कि ग्रीन के दर्शन को हीगेल के दर्शन के बहुत नजदीक माना गया था। ग्रीन के सब से प्रमुख शिष्य बर्नार्ड बोसांके ने अपने ग्रन्थ दी फिलासफिकल थ्योरी आफ दि स्टेट (१८९९) में ग्रीन के दर्शन में पाए जाने वाले

हीगेलवादी तत्त्वों को छांटा और उन पर विशेष जोर दिया। प्रथम महायुद्ध के समय में लियोनार्ड हाबहाउस ने बोसांक्वे के ग्रन्थ की कठोर आलोचना की। हॉबहाउस स्वयं ग्रीन से प्रभावित था। इस सम्बन्ध में हॉबहाउस के विचार उसके ग्रन्थ मैटाफिजिकल थ्योरी ऑफ दि स्टेट (१९१८) में मिलते हैं। हॉबहाउस का मुख्य कार्य यह था कि उसने युद्ध की प्रेरणा में हीगलवाद के कुछ उदारतावाद विरोधी तत्त्वों पर जिन्हें अंग्रेज तथा अमेरिकी हीगेलवादी महत्त्वहीन समझने लगे थे विशेष बल दिया। बोसांक्वे और हॉबहाउस ने जिन दो प्रश्नों पर विशेष जोर दिया—ये प्रश्न ग्रीन के चिंतन में कुछ अस्पष्ट रहे थे—वे थे व्यक्ति तथा समुदाय का नैतिक सम्बन्ध और समाज तथा राज्य का सम्बन्ध।

ग्रीन का यह आग्रह कि 'स्व' सामाजिक स्व होता है वास्तव में उस समय तक एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य था जब तक कि कोई उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता। लेकिन, जहां यह एक बार स्वीकार कर लिया जाता वहां तुरन्त ही यह प्रश्न खड़ा हो जाता था कि इसका वास्तविक अभिप्राय क्या है और उस समय जबकि व्यक्ति का कुछ स्वीकृत सामाजिक विश्वासों और प्रथाओं से सम्बन्ध हो इसका क्या अभिप्राय होता है। हीगेल ने समान और ग्रीन के विपरीत बोसांक्वे नैतिक मतभेद रखने वाले व्यक्ति की सामाजिक आलोचना को बहुत कम महत्त्व देता था। उसका विश्वास था कि संस्थाओं में परिवर्तन सामाजिक विकास की अन्तर्निहित युक्ति के द्वारा होते हैं। फलतः जिस प्रकार हीगेल व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को चपलता का नाम देता था, उसी प्रकार बोसांक्वे भी उन्हें साधारण अस्थिर प्रवृत्तियां और संकीर्ण स्वेच्छाचारी परस्पर-विरोधी इच्छा कहता था। जिस प्रकार रूसो का सामान्य इच्छा के बारे में यह कहना था कि वह मनुष्य के कार्यों को ऐसी नैतिकता प्रदान करती है जिसका उनके पास पहले अभाव था, उसी प्रकार बोसांक्वे भी समाज की एक वास्तविक इच्छा का अस्तित्व मानता था और कहा करता था कि यदि मनुष्य पूरी तरह से नैतिक और बुद्धिमान होगा तो उसकी इच्छा तथा वास्तविक इच्छा में कोई भेद नहीं रहेगा। व्यावहारिक दृष्टि से इसका अभिप्राय यह होगा कि समाज सदैव सही होता है और व्यक्ति सदैव गलत होता है। व्यक्ति को सदैव ही सत्ता के प्रति विनम्र भाव रखना चाहिए और उसके आदेश का पालन करना चाहिए। एफ० एच० ब्रैडले ने अपने 'माई स्टेशन एण्ड इट्स ड्यूटीज' नामक अध्याय में प्राय इसी विचार को व्यक्त किया था।

'हम यह सोचना चाहिए कि नैतिक विषयों पर अपने कुछ ऐसे विचार रखना जो संसार के विचारों से भिन्न हों, स्वर्गजात देवदूत को छोड़ कर अन्य किसी व्यक्ति के लिए केवल आत्म-प्रवंचना तो नहीं है।"[1]

हीगेल की विचारधारा को देखते हुए तो यह निष्कर्ष ठीक मालूम पड़ता है। लेकिन, यह निष्कर्ष ग्रीन के बिल्कुल विपरीत है। ग्रीन का सदैव यह मत था कि व्यक्तिगत

1 *Ethical Studies* (1876), 2nd ed., p. 200.

निर्णय और सामाजिक संस्थाओं में सदैव ही आदान प्रदान का भाव रहता है। बोसांके का यह कहना सही था कि सामाजिक दबाव की वजह से व्यक्ति आचरण के कुछ उच्च स्तरों को कायम रखता है और यदि उसके ऊपर समाज का दबाव न रहे तो वह इन स्तरों को कायम नहीं रख सकता। लेकिन, यह बात भी बिलकुल सही है कि व्यक्तिगत आदर्श विधि तथा शासन के उच्च स्तरों को कायम रखते हैं। यदि ये आदर्श न हों तो विधि तथा शासन के स्तर गिर सकते हैं। वह राजनीतिक दर्शन जो दूसरे विचार की अवहेलना करता है, बड़ा दोषपूर्ण होगा। कारण यह है कि इसके बिना स्वतन्त्र विचार और स्वतन्त्र भाषण का कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं रहेगा।

अंग्रेजी भाषा में स्टेट शब्द को चालू करना और उसे ऐसे पारिभाषिक अर्थ में चालू करना कि उसमें हीगेलवाद के विचार निहित हों, बहुत दुर्भाग्यपूर्ण था। आदर्शवादियों के पहले किसी भी अंग्रेज राजनीतिक विचारक ने इस शब्द का प्रयोग न तो विशिष्ट अर्थ में किया था और न किसी सामान्य अर्थ में। आदर्शवादियों ने इसे कोई सही अर्थ भी नहीं दिया था। ग्रीन के चिंतन में और ग्रीन से भी अधिक बोसांके के चिंतन में इसके कारण बड़ा भ्रम आ गया था। यह शब्द कभी शासन के अर्थ में, कभी राष्ट्र के अर्थ में और कभी समाज के अर्थ में प्रयुक्त होता था। कभी-कभी इसका अर्थ एक ऐसी आदर्श सत्ता होता था जो रूसो की सामान्य इच्छा की भांति सदैव सही होती है लेकिन जिसे दुनिया की सारी चीजों के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता। तथापि, अन्तिम अर्थ को लेकर तथा उसके साथ कुछ और बातें जोड़कर राज्य को एक ऐसी गरिमा प्रदान कर दी गई जिसका और कोई मुकाबला नहीं कर सकता था। हॉबहाउस ने इसे शब्द का आध्यात्मिक प्रयोग अथवा दुरुपयोग बताया। उसने सिद्ध किया कि इस ढंग से हम राजनीतिक निरंकुशता अथवा सामाजिक स्तरण का औचित्य सिद्ध कर सकते हैं और यह बात उदारवाद की भावना के विरुद्ध होगी। अपनी एक अन्य कृति में हॉबहाउस ने कहा था कि उदारवादी समाज का एक लक्षण यह है कि इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को समुदाय में महत्त्वपूर्ण स्थान धर्म दान के रूप में नहीं मिलता बल्कि न्याय के रूप में मिलता है और उदारवाद तथा दान भावना के बीच यही मुख्य नैतिक अन्तर है।[1]

इस प्रकार यद्यपि ग्रीन का उदारवाद अनुदारवाद की ओर झुका हुआ है तथापि, यह समाजवाद के एक उदारवादी रूप के साथ भी संगत बैठ सकता है, शर्त सिर्फ यह है कि यह समाजवाद वर्ग-संघर्ष में आस्था न रखता हो। जिन तरुण व्यक्तियों ने १८८४ में फेबियन सोसायटी की स्थापना की थी उनका समाजवाद ग्रीन के उदारवाद से बहुत अधिक भिन्न नहीं था। इसका अभिप्राय यह नहीं था कि ग्रीन ने फेबियनों के ऊपर कोई सीधा प्रभाव डाला हो। यह भी नहीं मालूम पड़ता कि फेबियनों के ऊपर किन्हीं अन्य भावपरक सिद्धान्तों का प्रभाव पड़ा था। ग्रीन और फेबियन दोनों ही इस बात का समर्थन करते थे कि व्यक्तिगत उद्यम के द्वारा समाज का हित साधन नहीं हो सकता। समाज की

1 Liberalism (1911), Ch 8

भलाई के लिए यह जरूरी है कि राज्य अपनी विधायी और प्रशासनिक शक्ति का प्रयोग करे। ग्रीन की भांति फेबियन भी अपने कार्यक्रम को उदारवाद का विस्तार मात्र कहते थे। फेबियन पेपेर्स (१८८९) में सिडनी ने लिखा था कि "लोकतन्त्रात्मक विचार का आर्थिक पक्ष ही समाजवाद है।" सिडनी ओलीवियर ने कहा था कि "समाजवाद केवल विवेकयुक्त व्यक्तिवाद है। उसकी नैतिकता जीवन के शाश्वत आवेग की, जो योग्यतम तथा पूर्णतया सक्रियता के द्वारा अपनी तुष्टि चाहता है, अभिव्यक्ति है।" समाजवाद व्यक्तित्व का दमन नहीं करता बल्कि उसका सार्थक करता है। वस्तुतः यह सिद्ध करना कठिन नहीं होगा कि फेबियन समाजवाद ने ग्रीन के सकारात्मक स्वतन्त्रता के भाव को कार्यान्वित करने की कोशिश की। अर्थशास्त्र तथा औद्योगिक और राजनीतिक प्रशासन के बारे में फेबियन समाजवादियों का ज्ञान ग्रीन के ज्ञान से कहीं अधिक व्यापक था। फेबियन समाजवादी बुनियादी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और उत्पादन तथा वितरण के नियन्त्रण की दिशा में ग्रीन से कहीं आगे बढ़ना चाहते थे। तथापि, उन्होंने ग्रीन की भांति अपनी योजनाओं का आधार यह रखा था कि अनियमित अर्थ-व्यवस्था के परिणाम बहुत खराब होते हैं। फेबियन समाजवादी मार्क्स की भांति आर्थिक विकास की द्वन्द्वात्मक पद्धति अथवा वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता नहीं मानते थे। फेबियन अर्थशास्त्र मार्क्सवादी नहीं था। उसका मुख्य आधार आर्थिक किराए का सिद्धान्त था। वह ऐसा सिद्धान्त था जो पूंजी के संचयन तक विस्तृत कर दिया गया था। इस सिद्धान्त का हेनरी जार्ज ने प्रतिपादन किया था। फेबियन नीति का मूल आधार यह था कि अनर्जित आय को सामाजिक प्रयोजनों में लगाया जाए। यह प्रयोजन ग्रीन की भांति ही इस विश्वास पर आधारित था कि सुरक्षा की पर्याप्त मात्रा के बिना स्वतन्त्रता असम्भव है। परिणामतः, सामाजिक सुरक्षा और स्थिरता की राजनीतिक नीति के उसी प्रकार लक्ष्य होने चाहिए जैसे कि स्वतन्त्रता। फलतः सिडनी के ग्रन्थ लेबर एण्ड दि न्यू सोशल आर्डर (१९१८) में पुनर्गठित ब्रिटिश लेबर पार्टी के समाजवादी सिद्धान्तों का जो विवेचन किया गया था, उसमें यह बताया गया था कि जनता को अवकाश, स्वास्थ्य, शिक्षा, और जीवन निर्वाह का कुछ निम्नतर स्तर अवश्य प्राप्त होना चाहिए। शासन की नीति कुछ इस तरह संचालित होनी चाहिए जिससे कि जनता के अधिकांश भाग को ये चीजें अवश्य ही प्राप्त होती रहें। इस कार्यक्रम को स्वतन्त्रता का विस्तार बताया गया। १९४२ में दल की कार्यकारिणी ने अपने इस विश्वास को फिर से दुहराया कि योजनाबद्ध समाज प्रतियोगितापूर्ण समाज से अधिक स्वतन्त्र हो सकता है। योजनाबद्ध समाज में व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त होता है और उसे उन नियमों के निर्माण में भी भाग मिलता है जिनके अनुसार उसे कार्य करना पड़ता है।

उदारवाद का आधुनिक अर्थ
(The Present Meaning of Liberalism)

जब हम 'उदारवाद' शब्द के आधुनिक अर्थ पर विचार करते हैं, तब हम यह स्मरण रखना चाहिए कि इस समय इस शब्द का प्रयोग दो विरोधी अर्थों में होता है।

एक ओर तो इसे औद्योगिक मध्यवर्ग का सामाजिक दर्शन समझा जाता है। इस दृष्टि से यह निर्हस्तक्षेप नीति अथवा आर्थिक साम्राज्यवाद का समानार्थक बन जाता है। उदारवाद का इस अर्थ मे प्रयोग इगलैण्ड अथवा अमेरिका मे उतना नहीं होता, जितना महाद्वीपीय देशो मे होता है। वहा उदारवाद के मार्क्सवादी अथवा फासिस्ट आलोचक उसका यही अर्थ समझते हैं। उदारवाद का दूसरा अर्थ यह है कि वह सम्पूर्ण "पश्चिमी राजनीतिक परम्परा" और "पश्चिमी सभ्यता के लौकिक रूप" की चरम परिणति है।[1] उदारवाद के इस अर्थ को ऐतिहासिक दृष्टि से सगत ठहराया जा सकता है। इस व्यापक अर्थ मे उदारवाद "लोकतन्त्र" का पर्यायवाची सिद्ध होगा। इस अर्थ में उदारवाद के लिए न केवल यही आवश्यक ठहराया जाएगा कि सम्पूर्ण जनसख्या को राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रता उपलब्ध हो, बल्कि यह भी आवश्यक ठहराया जाएगा कि उसे अवसर उपलब्ध हो तथा पर्याप्त सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता मिले। इस दर्शन का मुख्य सिद्धान्त यह है कि ये सभी प्रयोजन सामान्य हित अथवा समग्र सामाजिक कल्याण की सकल्पना के अन्तर्गत आ जाते हैं। सार्वजनिक नीति का लक्ष्य यही होना चाहिए कि वह इस सकल्पना को सार्थक करे। हितो की विविधता के बावजूद अधिकतर लोग इस सकल्पना को शिरोधार्य कर सकते हैं। यदि उदारवाद को इस अर्थ मे ग्रहण किया जाता है, तो उसे किसी विशिष्ट सामाजिक वर्ग का दर्शन नहीं कहा जा सकता। हा, उस समय की बात दूसरी है जबकि हम उसके प्रयोजन को तो असम्भव मानें और उसकी घोषणा को आडम्बरपूर्ण। मार्क्सवादी अक्सर इस दृष्टिकोण को ग्रहण करते हैं जिसके कारण सन्तुलित विवेचन मुश्किल हो जाता है। प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि उदारवाद को निर्हस्तक्षेप की नीति के साथ सम्मोहन करना या उसे मध्य वर्ग का सामाजिक दर्शन बताना, ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक ठीक नही है। यह बात आरम्भिक उदारवाद के युग अर्थात् उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बारे मे तो सही थी। इस युग मे उदारवाद एक आन्दोलन था और उसका लक्ष्य औद्योगिक तथा वाणिज्यिक मध्यवर्ग की राजनीतिक शक्ति को उसके आर्थिक और सामाजिक महत्त्व के सदृश सुदृढ करना था। उसके सिद्धान्त ने शासन के कार्यों पर उन व्यक्तियों के दृष्टिकोण से विचार किया जिनके कार्य की स्वतन्त्रता मे विधान के द्वारा मदद नही, बल्कि बाधा ही पहुचती है। बैंथम के न्यायशास्त्र के मूल्यवान् प्रभावो के बावजूद आरम्भिक उदारवाद का राजनीतिक दर्शन बहुत अधिक सिद्धान्तवादी था और उसकी नीति असावधानी थी। उसका दर्शन सिद्धान्तवादी इसलिए था क्योंकि उदारवादी अर्थशास्त्रियों ने एक सीमित वर्ग-हित को समग्र सामाजिक हित मान लिया था। उन्होंने सीमित प्रयोग वाली सकल्पनाओं का व्यापक अर्थ मे भी प्रयुक्त करने की कोशिश की थी। उसकी नीति इसलिए असावधान

---

1 फ्रेडरिक एम० वाटकिन्स के ग्रन्थ *The Political Tradition of the West A Study in the Development of Modern Liberalism* (१९४८) की यही विषय-वस्तु है।

थी क्योंकि उसने यह मान लिया था कि वह सामाजिक सुरक्षा और स्थिरता जिसके बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता असम्भव है, अपार मात्रा में है और उसने नयी औद्योगिक टेक्नालॉजी के विघटनकारी प्रभावों की उपेक्षा की थी।[1] यह ऐसा इसलिए कर सका क्योंकि यह मुख्य रूप से ऐसे व्यक्तियों का दर्शन था जिनके लिए सुरक्षा कोई समस्या नहीं थी और जो उन व्यक्तियों की स्थिति को बिल्कुल नहीं समझ सकते थे जिनके लिए सुरक्षा मुख्य समस्या थी। सब से अधिक ऐतिहासिक महत्त्व का प्रश्न यह है कि यह स्थिति अस्थायी थी और रूढ़िवादी ढग का उदारवाद अपनी सफलता के साथ ही समाप्त होने लगा। जॉन स्टुअर्ट मिल के बाद से हर्बर्ट स्पेंसर को छोड़कर ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण उदारवादी विचारक नहीं हुआ जिसका अर्थशास्त्र और शासन के सम्बन्धों का सिद्धान्त निर्हस्तक्षेप की नीति से मिलता हो अथवा जिसने शासन को ऐसे नकारात्मक काम सौंपे हों जिनकी कथन के न्यायशास्त्र में कल्पना की गई थी।

उदारवादी चिंतन का यह विकास न तो आकस्मिक था और न आनुषंगिक ही। यह आकस्मिक इसलिए नहीं था क्योंकि इसके पीछे दो शक्तिशाली कारण काम कर रहे थे जिनकी हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं (१) एक ऐसे लोकमत की जिसमें विभिन्न विचारधाराएं शामिल थीं, निर्हस्तक्षेप के विरोध में प्रतिक्रिया, और (२) श्रमिक वर्ग का जिनकी अपनी विशिष्ट विचारधारा थी राजनीतिक महत्त्व प्राप्त करना। इस स्थिति में राजनीतिक उदारवाद को या तो समझौते का रास्ता अपनाना था या नेतृत्व छोड़ देना था। यदि उसने इगलैण्ड में समझौते का रास्ता अपनाया तो यह आकस्मिक नहीं था। वहां यह राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप अपनी ऐतिहासिक विशेषता के कारण ही धारण कर सका। मार्क्सवाद की दृष्टि से यह बात बड़ी असंगत-सी थी। इंगलैण्ड के बारे में सोचा जा सकता था कि वह सब से अधिक उद्योग-प्रधान देश है। वहां उद्योगपतियों ने अभूतपूर्व शक्ति प्राप्त कर ली है। इस स्थिति में वहां शोषण तथा वर्ग-संघर्ष बहुत तीव्र होगा। फिर भी, इगलैण्ड में उदारवादी चिंतन व्यापकता की दिशा में आगे बढ़ा उसने अपने विशिष्ट हितों के अतिरिक्त अन्य सामाजिक हितों को भी समझा, उसने विभिन्न वर्गों के सम्बन्धों को सहानुभूतिपूर्ण तथा मानवोचित दृष्टिकोण से देखा, उसने अनियन्त्रित उद्योगवाद के दुष्परिणामों को कम करने की कोशिश की और इस सब के परिणामस्वरूप उसने उदारवादी समाज में उदारवादी राज्य की एक सकारात्मक सकल्पना प्रस्तुत की। यह विकास राजनीतिक अवसरवाद अथवा चिंतन की अस्पष्टता के कारण नहीं हुआ था। मिल और ग्रीन ने बौद्धिक भ्रम के कारण अपने को उदारवादी नहीं समझा था। उत्तरकालीन उदारवाद पूर्वकालीन उदारवाद का ही अविच्छिन्न रूप था। बेंथम तथा परम्परागत अर्थशास्त्रियों ने अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख अथवा उपयोगिता के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध आरोपित कर रक्खे थे। यह जरूरी नहीं था कि ये प्रतिबन्ध उनके ऊपर

---

1 Cf Karl Mannheim, "The Crisis in Valuation" in *Diagnosis of our Times* (1944)

सदैव लगे रहते। मार्क्स की शब्दावली में यह आवश्यक नहीं था कि मनुष्य के अधिकार मध्यवर्ग के ही अधिकार बने रहते। जब उदारवाद निश्चित रूप से मध्यवर्ग का दर्शन था, उस समय भी उसने अधिकतम सामाजिक हित का समर्थन किया था। वितरण के अर्थ आर्थिक सिद्धान्त को छोड़ कर उदारवाद ने ऐसे किसी समाज की कभी कल्पना नहीं की थी जिसमें स्थायी रूप से दो विरोधी आर्थिक वर्ग रहते हैं। उसकी कल्पना तो यह थी कि राजनीतिक विशेषाधिकार की समाप्ति के साथ-साथ वर्ग भी समाप्त हो जायेंगे। बेंथम ने मिल और ग्रीन की भांति और कहीं-कहीं तो उनसे भी अधिक प्रभावशाली ढंग से यह तर्क किया था कि न्यायशास्त्र एक नैतिक कसौटी के आधार पर विधि के कार्यकरण की आलोचना है। यद्यपि ग्रीन ने आरम्भिक उदारवाद की आलोचना की थी, लेकिन राज्य अथवा समाज के समुदायवादी अथवा "सावयववादी" सिद्धान्त से वह भी उतना ही दूर था जितना कि बेंथम। समाज जो भी मूल्य प्राप्त करता है, ग्रीन के मत से वे व्यक्तियों को भी सुलभ होने चाहिएं, इस अर्थ में कि व्यक्तियों को अधिक सन्तोष प्राप्त हो तथा उनके चरित्र का विकास हो। बेंथम के उदारवाद तथा मिल और ग्रीन के उदारवाद में महत्त्वपूर्ण अन्तर थे। मिल और ग्रीन ने बेंथम के उदारवाद की निरन्तरता को ही कायम नहीं रक्खा। उन्होंने उदारवाद के अर्थ को ठीक किया, उसे विकसित किया, उसे स्पष्ट किया, लेकिन उसे बदला नहीं।

उदारवाद का मुख्य सिद्धान्त उसके विकास की समस्त अवस्थाओं में बेंथम की भांति अधिकतम सुख का सिद्धान्त रहा। बाद के उदारवादियों ने उसमें यह और जोड़ दिया कि अधिकतम हित को समान हित भी होना चाहिए। इस जोड़ में एक अन्तर्दृष्टि निहित थी, जो उदारवाद के विकास के साथ ही साथ उभरी। सिद्धान्त तथा राजनीतिक व्यवहार के रूप में उदारवाद दो धारणाओं पर आधारित था। पहली धारणा यह थी कि सार्वजनिक हित या सामान्य हित राजनीति में एक कारगर प्रेरक तत्त्व होता है। दूसरी धारणा यह थी कि इस तरह के हित के बारे में सामान्य सहमति प्राप्त की जा सकती है। उदारवादी शासन के पीछे एक ऐसा समाज होना चाहिए जिसमें इतनी शक्ति हो कि समुदाय के हित की चेतना अन्य सभी विभाजक हितों की चेतना के ऊपर हावी हो सके। ये विभाजक हित हैं सामाजिक स्थिति के अथवा आर्थिक वर्गों के। सम्पूर्ण समुदाय को एकता के सूत्र में बांधे रखने की इच्छा तथा उसे दृढ़तापूर्वक संचालित करने की इच्छा का यह अभिप्राय नहीं होता कि हित या दल के भेदों को बिल्कुल स्वीकार ही न किया जाए। इसका अभिप्राय सिर्फ यह होता है कि इन भेदों को सीमा के अन्दर रक्खा जाए। दूसरे शब्दों में समाज की विविध शक्तियां कुछ सुनिश्चित नियमों के आधार पर कार्य करती हैं। ग्रीन के इस कथन का कि समुदाय शक्ति पर नहीं प्रत्युत् इच्छा पर आधारित है, यही अभिप्राय है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदारवादी शासन का प्राथमिक दायित्व समस्त आवश्यक हितों की रक्षा करना है तथा इसका प्राथमिक कर्तव्य उन अवस्थाओं और माध्यमों की रक्षा करना है जिनके द्वारा हितों का संघर्ष कम-से-कम बल-प्रयोग के द्वारा समाप्त किया जा सकता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता

है कि राजनीतिक दल अपने को किसी एक हित अथवा वर्ग के प्रवक्ता नहीं मान सकते। उदारवादी शासन में राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य विविध हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करना है। मार्क्सवाद का सिद्धान्त यह है कि राजनीति में एक ऐसे वर्ग-संघर्ष का दर्शन होता है, जिसे दूर हो नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त के अनुसार एक वर्ग सदैव शक्तिशाली रहता है और दूसरे वर्ग का सदैव ही शोषण होता रहता है। उदारवादी सिद्धान्त मार्क्सवादी सिद्धान्त से बिल्कुल उलटा है। राजनीतिक उदारवाद उस समय तक असम्भव होता है जब तक कि राजनीतिक प्रश्न और राजनीतिक दल सामाजिक वर्ग अथवा आर्थिक लाभ के आधार पर बटे हुए न हों और जब वे इस तरह बटे हुए हों तब संघर्षों को दूर किया जाए और उन्हें सीमाओं के भीतर रक्खा जाए। एक राजनीतिक आन्दोलन के रूप में उदारवाद इसलिए सफल हुआ क्योंकि अंग्रेजी राजनीति में ये धारणाएं काफी हद तक सत्य थी। इन धारणाओं के सच्चे होने का कारण यह था कि इंगलैण्ड के सभी राजनीतिक दलों ने इन्हें स्वीकार किया और ये आदर्श उनके राजनीतिक नीतिशास्त्र के प्रतिमान बन गए। उदारवादी शासन समान हित की एक प्रबल भावना पर आधारित होता है, इसका व्यवहार में यह अभिप्राय हो सकता है कि उदारवाद सीमित उपयोगिता का राजनीतिक आदर्श है। तथापि, मिल अथवा ग्रीन इससे परिचित नहीं थे। वांछित दृढ़ता राष्ट्र से बड़ी किसी इकाई में कभी नहीं रही है। यह दृढ़ता कभी कभी राष्ट्र में भी नहीं पाई जाती। क्या यह दृढ़ता बड़ी इकाइयों में पाई जा सकती है और क्या जहां यह न हो वहां उसका निर्माण किया जा सकता है, यह उदारवाद के कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका अभी तक हल नहीं निकल पाया है?

उदारवादी सिद्धान्त के विकास का एक और रूप भी रहा है। उदारवादी सकल्पनाओं को राजनीतिक संगठन के क्षेत्र से हटा कर नैतिक आदर्शों और सामाजिक प्रभावों के क्षेत्र में स्थानान्तरित कर दिया गया है। इसका कारण कुछ तो राजनीतिक अनुभव की यह शिक्षा थी कि किसी उदारवादी आदर्श को व्यावहारिक रूप देना कितना कठिन होता है। इसका कुछ कारण यह मान्यता थी कि समान हित की धारणा कोई सरल सूत्र नहीं है बल्कि वह अनेक और कभी-कभी विरोधी हितों का कामचलाऊ सामंजस्यमात्र है। वास्तव में वह राजनीतिक सूत्रों का विषय नहीं है प्रत्युत् मानव सम्बन्धों का विषय है। उदारवाद की इस प्रवृत्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हमें जॉन स्टुअर्ट मिल के जीवन के उत्तरकाल से मिल जाता है। उस समय उसे अपने पिता के इस सरल सहज विश्वास पर बड़ा आश्चर्य होता था कि प्रतिनिधित्व तथा मतदान के माध्यम से मानव व्यवहार का विवेक समस्त समस्याओं का समाधान कर देगा। इस प्रवृत्ति का एक अन्य प्रमाण स्वतन्त्रता की सकल्पना के विकास और स्वतन्त्रता के सांविधानिक संरक्षण की समस्या से प्राप्त होता है। बेंथम को यह बिल्कुल विश्वास नहीं था कि यदि हम संविधानों में कुछ अपरिवर्तनीय प्राकृतिक अधिकारों का अंकित कर देते हैं। तो हम वास्तव में वे अधिकार प्राप्त हो जायेंगे। बेंथम यह भी नहीं मानता था कि दुर्बल शासन वास्तव में उदारवादी शासन होता है। तथापि, ग्रीन ने यह ठीक ही समझ लिया था कि शासन की निपुणता

के सम्बन्ध में बेंथम के उत्साह का यह मतलब बिल्कुल नहीं था कि शासन नागरिकों के अधिकारों का सम्मान करे। इसलिए, ग्रीन का विचार था कि उसका अपना दर्शन कुछ हद तक प्राकृतिक विधि के दर्शन में मेल खाता था। तथापि, उसका यह इरादा बिल्कुल नहीं था कि वह प्राकृतिक अधिकारों की उस संकल्पना को जीवित करे जो सत्रहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद के सिद्धान्त में निहित थी। सकारात्मक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में उसका अपना विचार—ऐसे किसी काम को करने की क्षमता जो करने योग्य है—काफी हद तक औपचारिक था। इसका कारण यह है कि जिस काम को हम करने योग्य समझते हैं, उसका किया जाना बहुत कुछ उपयुक्त परिस्थितियों और दशाओं पर निर्भर है। यदि ग्रीन ने प्राकृतिक विधि को फिर से प्रतिष्ठा की तो यह प्राकृतिक विधि का एक नया रूप थी। इसे "परिवर्तनशील विषय-वस्तु के सहित प्राकृतिक विधि" कहा गया है।

ग्रीन ने प्राकृतिक विधि की जो पुनर्व्याख्या की थी, उसका अभिप्राय यह नहीं था कि वह विधि के दो भेदों पर जोर देना चाहता था। उसका अभिप्राय सिर्फ यह था कि वह विधि की प्रकृति-सापेक्षता पर, समाज में उसके महत्व पर और आचारों के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्धों पर जोर देना चाहता था। बेंथम की भांति ग्रीन का यह विचार भी नहीं था कि विधि को सुख-दुःख की कसौटी पर कसा जा सकता है अथवा विधि तथा आचारों के बीच मूल भेद यह है कि विधि के उल्लंघन पर दण्ड मिलता है और आचारों के उल्लंघन पर कोई दण्ड नहीं मिलता। ग्रीन के विचार से विधि तथा आचारों का अन्तर दो ऐसी सामाजिक संस्थाओं का अन्तर है जो एक-दूसरे को सहारा जरूर देती हैं लेकिन फिर भी एक-दूसरे से मूलतः भिन्न हैं। एक ओर तो चरित्र, नैतिक भावना, और सामाजिक दृष्टिकोण है जो शिक्षित और सभ्य मानव प्रकृति का अंग है। दूसरी ओर व्यवहार के कुछ निश्चित और स्थिर रूप हैं। इस व्यवहार को लागू किया जा सकता है और वह व्यक्तिगत अभिरुचि की सीमाएं निर्धारित करता है। ग्रीन की सकारात्मक स्वतन्त्रता में ये दोनों चीजें निहित हैं। लेकिन उनमें से कोई एक-दूसरे का स्थान नहीं ले सकती। स्वतन्त्रता केवल तभी सम्भव है जबकि पसन्द और स्वतन्त्र निर्णय के कुछ क्षेत्र हों। साथ ही कुछ ऐसी निश्चित समझ और प्रथाएं हों जो इन क्षेत्रों पर सीमाएं लगाती हों। व्यक्तिगत निर्णय का क्षेत्र और वैधिक आवश्यकता का क्षेत्र उसी समय तक युक्तिसंगत माना जाता है जब तक कि वह अपनी-अपनी सीमाओं में बन्धा हो और इस समझौते के आधार पर चलता हो कि कोई भी एक-दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करेगा। उदारवादी राजनीति के दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष थे। एक निष्कर्ष यह था कि शासन को कुछ निश्चित वैधिक अथवा सांविधानिक सीमाओं के भीतर रह कर कार्य करना पड़ता है। इस शासन-प्रणाली में कार्यपालिका विधि की सीमाओं में रहती हुई अपने विवेक से कार्य करती है। इसमें आदेश अथवा स्वेच्छाचारी शक्ति का कोई प्रभाव नहीं होता। इसी कारण उदारवादी शासन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह शक्ति पर नहीं, प्रत्युत् इच्छा पर आधारित होता है। उदारवादी शासन का दूसरा मुख्य सिद्धान्त यह है कि सामाजिक व्यवहार के अनेक क्षेत्रों को व्यक्तिगत निर्णय, स्वतन्त्र विवेचन, और ऐच्छिक समुदाय

के ऊपर छोड़ दिया जाता है। उदारवादी शासन ऐसी किसी नीति की कल्पना नहीं कर सकता जिसमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की समस्त अन्तरंग व्यवस्थाएं राजनीतिक नियन्त्रण में आ जायें। इन दोनों के बीच विभाजक रेखाएं सदैव के लिए नहीं खींची जा सकतीं। लेकिन, फिर भी कुछ न कुछ विभाजक रेखाएं तो रहती ही हैं। सांविधानिक पार्टियों का अन्तिम समर्थन, जैसा कि मिल ने कहा, उस सार्वजनिक चेतना में निहित है जो गोपनीयता, व्यक्तित्व और निजी उत्तरदायित्व को महत्वपूर्ण मानती है।

उदारवादी चिंतन के विकास में शासन की सामाजिक बुनियादों के बारे में एक और मूल सिद्धान्त निहित था। ग्रीन ने इस सिद्धान्त का स्पष्ट कथन नहीं किया है। उसने इसे केवल स्वीकार ही किया है। उदारवादी शासन केवल ऐसे समुदाय के ऊपर ही निर्भर नहीं होता जो समान हित की भावना से अनुप्राणित हो। वह ऐसे समुदाय के ऊपर भी निर्भर होता है जो अपने भीतर बहुत से छोटे-छोटे समुदायों को फलने फूलने की अनुमति देता है। ये छोटे समुदाय राज्य द्वारा आरोपित वैधिक कर्त्तव्यों और अधिकारों की सीमाओं में रहते हुए काफी हद तक स्वायत्तशासी और आत्मनिर्देशक होते हैं। इन समुदायों को सम्पूर्ण समुदाय के हितों को ध्यान में रख कर कार्य करना पड़ता है। इस दृष्टि से उदारवाद का विरोधी सिद्धान्त सर्वाधिकारवाद है। सर्वाधिकारवाद के अन्तर्गत चर्च अथवा श्रमिक संघों जैसी संस्थाओं के ऊपर शासन का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। उदारवादी शासन वह है जो समुदायों के अधिकारों का भी आदर करता है और व्यक्तियों के अधिकारों का भी। वास्तव में ये दोनों भिन्न नहीं हैं। कारण यह है कि जब व्यक्ति अपने अधिकारों का ठीक ढंग से प्रयोग करते हैं, वही अधिकार स्वतन्त्र समुदाय के अधिकार बन जाते हैं। इसी प्रकार, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता काफी हद तक समुदायों की सदस्यता का अधिकार है। ये समुदाय महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य करते हैं और इस सम्बन्ध में खुद ही अपने नियम बनाते हैं। व्यक्तित्व शब्द का वास्तविक अभिप्राय उस अभिनेता से है जो अनेक प्रकार की भूमिकाओं का निर्माण करता है। आदर्शवादी नीतिशास्त्र के अन्तर्गत आत्मसिद्धि का अभिप्राय यह था कि व्यक्ति समाज के अन्तर्गत अपने पद को तथा उसके कर्त्तव्यों को प्राप्त करे। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि व्यक्तित्व का वास्तविक अभिप्राय समाज से अलग रहना नहीं बल्कि समाज के कार्यों में योगदान देना है। इसी कारण उदारवाद के आदर्शवादी सिद्धान्त में राज्य शब्द का जिस ढंग से प्रयोग किया गया, वह काफी हानिकर रहा है। इसके बारे में हम पहले भी निर्देश कर चुके हैं। वास्तव में उदारवादी सिद्धान्त के लिए यह जरूरी था कि इस समाज अथवा समुदाय और समाज के राजनीतिक और वैधिक संगठन के बीच स्पष्ट भेद कर दिया जाए। ग्रीन ने यह भेद करने की कोशिश की थी लेकिन कभी-कभी वह अपने राज्य शब्द के प्रयोग के द्वारा इस भेद को धूमिल कर देता था। ग्रीन ने यह स्पष्ट रूप से कहा था कि राज्य अपने ऐतिहासिक विकास में सामाजिक संस्थाओं का अतिक्रमण नहीं करता। बहुत-सी सामाजिक संस्थाएं राज्य से भी पुरानी हैं। राज्य अधिकारों का निर्माण नहीं करता, वह अधिकारों को अभिज्ञात करता है और उनका विनियमन करता है। वास्तव में समाज अनेक समुदायों

का सामूहिक नाम है और मनुष्य इस तरह के अनेक समुदायों के सदस्य होते हैं इस बात को ठीक-ठीक ग्रीन के पश्चात् समझा गया। ग्रीन के बाद समाजशास्त्र के ज्ञान में अत्यधिक वृद्धि हुई है और इस वृद्धि के फलस्वरूप ही समाज में समुदायों के महत्त्व का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हुआ है। इस तथ्य का राजनीतिक सिद्धान्त के लिए नैतिक महत्त्व उन हितों के फलस्वरूप ज्ञात हुआ जो सर्वाधिकारवादी सरकारों ने सामाजिक संगठन के इस रूप के साथ की है। आर० एम० मैकाइवर ने यह ठीक ही कहा है कि एक स्वतन्त्र समाज ही स्वतन्त्र शासन का समर्थन कर सकता है, 'वह समुदाय समाज" होता है।[1]

स्वतन्त्र शासन की उदारवादी योजना के मुख्य तत्त्व हैं—मताधिकार, प्रतिनिधित्व दलगत संगठन और शासन पर दल का नियन्त्रण। उदारवादी शासन मुख्य रूप से एक उदारवादी समाज के ऊपर निर्भर होता है और उदारवादी समाज वह है जिसने समान हित तथा व्यक्तिगत साम्प्रदायिक और वर्गगत हितों के बीच सन्तोषजनक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। उदारवादी शासन की समस्त प्रक्रियाएं वे व्यावहारिक उपाय हैं जो अनुभव तथा परीक्षण के द्वारा उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इन उपायों का मुख्य लक्ष्य विवादास्पद प्रश्नों के सम्बन्ध में लोगों को शांतिपूर्वक विचार करने की सुविधाएं देना है। स्वतन्त्र शासन का यही आधार है। इन उपायों के द्वारा विरोधी विचारों के बारे में चर्चा हो सकती है, प्रतिकूल नीतियों के बारे में विचार-विमर्श हो सकता है और संघर्षपूर्ण हितों के बारे में बातचीत हो सकती है। इन सब के परिणामस्वरूप स्थायी हल तथा सर्वस्वीकृत मत को प्राप्त किया जा सकता है। उदारवादी शासन की यह सारी व्यवस्था इस विश्वास के आधार पर संचालित होती है कि मतभेदों को आपसी बातचीत के द्वारा दूर किया जा सकता है और बातचीत के परिणामस्वरूप जो भी निष्कर्ष उभर कर सामने आता है उसमें ऐच्छिक सहयोग का भाव होता है, बल-प्रयोग का नहीं। यह सारी व्यवस्था सन्तोषजनक रूप से उसी समय चल सकती है जबकि कुछ विशिष्ट और कठिन नैतिक प्रतिबन्धों के अधीन रह कर कार्य किया जाए। इस व्यवस्था के सफल संचालन के लिए एक आवश्यक शर्त यह है कि शासन इस तथ्य को स्वीकार करे कि वह जिस विचार के आधार पर कार्य कर रहा है वह किसी भी दशा में पूर्ण नहीं है। इसलिए, यदि शासन बहुमत के आदेशों का पालन कर रहा हो तब भी उसे अल्पसंख्यकों के प्रति आदरपूर्ण सम्मान का भाव रखना चाहिए। उसे जनता के इस अधिकार को स्वीकार करना चाहिए कि वह संगठन बना सकती है और जिन नीतियों को ठीक समझे उनका प्रचार कर सकती है। शासन को इस बात की कोशिश कभी नहीं करनी चाहिए कि वह सार्वजनिक सूचना के स्रोतों में विकृति पैदा करे या कुछ हस्तक्षेप करे। राजनीतिक दलों को अपनी नीति इस आधार पर बनानी चाहिए कि उनका कार्य-काल शाश्वत नहीं

---

1 *The Web of Government* (1947), pp 421 ff cf Pendleton Herring, *Politics of Democracy* (1940), pp 427 ff , George H, Sabine "Beyond Ideology," *The Philosophical Review* Vol LVII (1948), pp. 1 ff

हो सकता। उन्हें अपने विरोधियों को शक्तिहीन रखने के लिए केवल सीमित और वैध उपायों का ही प्रयोग करना चाहिए। इसलिए उन्हें अपने विरोधी दल का भी सहयोग प्राप्त करना चाहिए और यह मानना चाहिए कि विरोध शासन के अन्तर्गत एक अनिवार्य कार्य है। इस व्यवस्था की सफलता के लिए यह भी जरूरी है कि जो लोग इसमें काम करते हैं उनमें अपने पक्ष के प्रति आग्रह होने के साथ ही साथ बौद्धिक ईमानदारी भी हो उनमें समझौते की इच्छा के साथ ही साथ दृढ़ता भी हो उनमें अपने सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा होने के साथ ही साथ किए हुए समझौते के प्रति भी निष्ठा हो। इन सब चीजों की परिभाषा नहीं की जा सकती। इन्हें केवल समझा ही जा सकता है। यह विचार उन लोगों का है जिन्होंने इस विचारधारा में लम्बे अरसे तक काम किया है।

Selected Bibliography

Political Thought in England from Herbert Spencer to the Present Day By Ernest Barker London 1915

Reflections on Government By Ernest Barker London 1942

The Political Ideas of the English Romanticists By Crane Brinton Oxford 1926

English Political Thought in the Nineteenth Century By Crane Brinton London, 1933

Thomas Hill Green, 1836 1882 In *Studies in Contemporary Biography* By James Bryce New York, 1903

Morals and Politics By E F Carrit Oxford 1935

The Political Theory of Thomas Hill Green By Y L Chin New York 1920

Fabian Socialism By G. H D Cole London 1943

What is Liberty? A Study in Political Theory By Dorothy Fosdick New York 1939

The Neo Idealist Political Theory By I P Harris New York 1944

The Social and Political Ideas of some Representative Thinkers of the Age of Reaction and Reconstruction Ed F. J C Hearnshaw London 1932 Chs VI, VII

The Social and Political Ideas of some Representative Thinkers of the Victorian Age. Ed F J C Hearnshaw London 1933 Ch VII

The Metaphysical Theory of the State By Leonard T Hobhouse London, 1918

Social Evolution and Political Theory By Leonard T Hobhouse New York, 1911

"Bernard Bosanquet's philosophy of the State" By R F A Hoernle In *Political Science Quarterly*, Vol XXXIV (1919) p 609

The Victorian Critics of Democracy By Benjamin E Lippincott. Minneapolis 1938

England in Eighteen eighties By Helen M Lynd New York 1945

The Web of Government By R M MacIver New York 1947

The Service of the State By J H Muirhead London, 1908

Carlyle and Mill By Emery Neff Second edition revised New York 1926

History of the Fabian Society By E R Pease Second edition London, 1925

The Political Tradition of the West By F. M Watkins. Cambridge Mass, 1948

States and Morals By T D Weldon London, 1946

अध्याय ३३

मार्क्स और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

(Marx and Dialectical Materialism)

उदारवादी राजनैतिक चिन्तन के दो मूल सामाजिक अथवा नैतिक विचार थे—राजनीति बिना किसी बल-प्रयोग के विरोधी वर्गों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की कला है और इस प्रकार का सामंजस्य केवल लोकतन्त्रात्मक प्रक्रियाओं के द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। फलत, यद्यपि उसके बाद के इतिहास ने व्यक्तिवाद के सम्बन्ध में हीगेल की आलोचना की ओर ध्यान दिया था, लेकिन उसने हीगेल के सामाजिक दर्शन की दो मुख्य धारणाओं को कभी स्वीकार नहीं किया। वे धारणाएं थीं—एक—समाज उन विरोधी शक्तियों का एक गतिमान् सन्तुलन है जो अपने तनाव और संघर्ष के द्वारा सामाजिक परिवर्तन करती हैं। दो—सामाजिक इतिहास इन शक्तियों का आन्तरिक अथवा अर्द्ध-तार्किक विकास है। तथापि, हीगेल के चिन्तन के इन तत्त्वों ने उन्नीसवीं शताब्दी तथा इसके बाद के राजनैतिक चिन्तन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इसका अधिकांश श्रेय कार्ल मार्क्स को है जिसने हीगेल के चिन्तन में कायाकल्प कर दिया था। मार्क्स ने हीगेल के सिद्धान्त से इस धारणा को निकाल दिया कि राष्ट्र सामाजिक इतिहास की वास्तविक इकाइयां होती हैं। इस धारणा का हीगेल के दर्शन से कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं था। उसने राष्ट्रों के संघर्ष के स्थान पर वर्गों के संघर्ष की धारणा को प्रस्तुत किया। इस प्रकार, मार्क्स ने हीगेलवाद की मुख्य विशेषताओं का अपहरण कर लिया। ये विशेषताएं थीं—राष्ट्रवाद, अनुदारवाद तथा क्रांतिविरोधी स्वर। उसने हीगेलवाद को क्रान्तिकारी उग्रवाद का एक नया और शक्तिशाली दर्शन बना दिया। मार्क्सवाद उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान समाजवाद का और फिर कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के सहित आधुनिक साम्यवाद का प्रवर्तक बन गया। मार्क्स का दर्शन दो दृष्टियों से हीगेल के दर्शन से भिन्न था। मार्क्स ने हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को कायम रखा और उसकी आर्थिक नियतिवाद (economic determinism) के रूप में व्याख्या की। विचार सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं, हीगेल के चिन्तन में यह धारणा जगह बिखरे हुए रूप में मिलती है। मार्क्स ने इस धारणा को क्रमबद्ध किया और उसे आधुनिक चिन्तन में एक प्रतिष्ठित स्थान दिया। हीगेल के दर्शन के उदारतावाद विरोधी तत्त्व मार्क्स के उग्रवाद में समाविष्ट हो गए। इसका कारण कुछ तो यह था कि एक

सक्रिय क्रांतिकारी के रूप में उसका जीवन १८५० के आस-पास समाप्त हो गया और कुछ यह था कि उसका पूरा विश्वास था और उसने अपना यह विश्वास उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश समाजवादियों को दिया था कि समाजवाद राजनैतिक उदारवाद की परम्परा को बदलेगा नहीं, बल्कि उसे जारी रक्खेगा। तथापि, ये धारणाएं कि आर्थिक शक्तियों पर विधायी नियंत्रण स्थापित नहीं किया जा सकता और सामाजिक इतिहास केवल वर्ग-संघर्ष का लेखा होता है, सिद्धान्ततः इस विश्वास से असंगत थीं कि राजनैतिक विरोधी हितों के बीच शांतिपूर्ण सामंजस्य स्थापित करती है। यह अन्तर्निहित विरोध क्रांतिकारी मार्क्सवाद के साम्यवादी रूपांतर में स्पष्ट हो गया।

सर्वहारा वर्ग की क्रांति

(The Proletarian Revolution)

उन्नीसवीं शताब्दी में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया था। वह परिवर्तन था—औद्योगिक श्रमिक वर्ग में राजनैतिक चेतना का उत्थान। मार्क्स ने इस परिवर्तन पर विशेष ध्यान दिया और उसे उद्भासित किया। जैसा कि हम पहले अध्याय में कह चुके हैं, इसने उदारवादी चिंतन की दिशा को बदल दिया। लेकिन, मार्क्स ने इसके महत्त्व को उदारवाद की अपेक्षा कहीं पहले समझ लिया था। मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर जो उसके दर्शन का एक अभिन्न भाग था, पूंजीवाद को उसके मानवतावादी पक्ष के रूप में पहली बार प्रस्तुत किया। उसने पूंजीवाद को एक संस्था के रूप में प्रस्तुत किया, एक ऐसी संस्था के रूप में जो मजूरी के आधार पर जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि करती जाती है और इन व्यक्तियों का अपने सेवानियोजकों से केवल मजदूरी पाने का सम्बन्ध होता है। उनके पास केवल एक ही सामग्री है जिसे वे प्रतियोगितापूर्ण बाजार में बेच सकते हैं और वह सामग्री है काम करने की शक्ति। इस सामग्री को खरीदने वाले का एकमात्र दायित्व यह है कि वह चालू कीमत अदा करे। इस प्रकार, उद्योग-धंधों में मालिक और मजदूर के बीच जो सम्बन्ध होता है, उसमें न तो कोई मानवी अंश रहता है और न नैतिक दायित्व। यह सम्बन्ध विशुद्ध रूप से शक्ति का सम्बन्ध बन जाता है। मार्क्स को यह स्थिति आधुनिक इतिहास का सब से क्रांतिकारी तत्त्व प्रतीत होती थी। इसमें एक ओर तो एक ऐसा वर्ग है जिसका उत्पादन के साधनों पर पूरा स्वामित्व है और जो मुनाफा कमाने में जुटा हुआ है। इसमें दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग है जिसकी एक मात्र शक्ति संगठन-क्षमता है और जिसका उद्देश्य राजनैतिक स्वाधीनता को प्राप्त करना नहीं, प्रत्युत अपने जीवन-स्तर का सुधार करना है। मार्क्स इस बात को समझता था कि पूंजीवाद एक संस्था है, वह कालहीन आर्थिक नियमों का परिणाम नहीं है, बल्कि आधुनिक समाज के विकास में एक चरणमात्र है। मार्क्स के चिंतन का मूलाधार वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त था जो परम्परागत अर्थशास्त्रियों ने स्पष्ट कर दिया था। इस आधार पर चल कर उसने राजनैतिक

उदारवाद को मध्यवर्ग के विशिष्ट दर्शन के रूप में चित्रित किया और उदीयमान सर्वहारा वर्ग के लिए एक ऐसे सामाजिक दर्शन के निर्माण का प्रयास किया जो उसके लिए शक्ति-संघर्ष में उपयोगी हो सके।

अस्तु, हीगेल की भाँति ही मार्क्स के सामाजिक दर्शन का लक्ष्य भी दुहरा था। सामाजिक विकास के जिस दर्शन का निर्माण इन दोनों व्यक्तियों ने किया था, उसमें यह भी शामिल था कि वे उसमें भाग लें और उसे प्रभावित करें। हीगेल की भाँति मार्क्स का दर्शन भी सामाजिक दर्शन था। इसमें विकास की उन क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन कर दिया गया था जो द्वन्द्वात्मक पद्धति में आन्तरिक घात प्रतिघात के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। हीगेल का यह विचार था कि यूरोपीय इतिहास की चरम परिणति जर्मन राष्ट्र के विकास में हुई है और जर्मनी यूरोप का आध्यात्मिक नेतृत्व ग्रहण करेगा। इसके विपरीत मार्क्स का यह विश्वास था कि सामाजिक इतिहास की चरम परिणति सर्वहारा वर्ग के उत्थान के रूप में हुई है और यह वर्ग समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा। हीगेल के समाज-दर्शन में प्रेरक शक्ति एक स्वविकासशील आध्यात्मिक सिद्धान्त है जो अपने को बारी-बारी से इतिहास-प्रसिद्ध राष्ट्रों के रूप में व्यक्त करता है। इसके विपरीत मार्क्स के दर्शन में यह प्रेरक तत्त्व वे स्वविकासशील उत्पादन-शील शक्तियाँ हैं जो अपने आपको आर्थिक विकास में बुनियादी वर्गों में तथा उनसे सम्बद्ध सामाजिक वर्गों में व्यक्त करती हैं। हीगेल के लिए प्रगति का तत्त्व राष्ट्रों के संघर्ष में निहित था। मार्क्स के लिए यह तत्त्व सामाजिक वर्गों के विरोधभाव में निहित था। दोनों व्यक्ति इतिहास में प्रवाह को तर्कसम्मत ढंग से आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि यह प्रवाह एक सुनिश्चित योजना के अनुसार संचालित होता है और एक सुनिर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता है। मार्क्स के दर्शन में हीगेल के दर्शन की अपेक्षा विकास के क्रम में हस्तक्षेप करने का अधिक भाव था। मार्क्स के दर्शन में कार्य करने की भी प्रेरणा थी। यह मार्क्स के दर्शन की खास प्रेरणा थी। जहाँ हीगेल राष्ट्रीय देशभक्ति के भाव के प्रति अपील करता था, मार्क्स मजदूरों की वर्ग-निष्ठा के प्रति अपील करता था। दोनों ही अवस्थाओं में यह अपील साम्प्रदायिक होती थी। यह स्वार्थ के प्रति नहीं, प्रत्युत निष्ठा के प्रति अपील होती थी। यह अधिकारों के प्रति नहीं, प्रत्युत कर्त्तव्यों के प्रति अपील होती थी। फिर भी यह व्यक्तियों की भावनाओं और कर्त्तव्यों को अपनी ओर खींच सकती थी। इस अपील में मनुष्यों से प्रार्थना की जाती थी कि वे अपनी इच्छा का, अपने स्वार्थ को दबा दें और सभ्यता की दुर्निवार धारा में अपना उचित स्थान ग्रहण करें। मार्क्स के दर्शन में इस अपील का उद्देश्य मजदूरों को सामाजिक क्रान्ति की योजना समझाना और उन्हें इसके लिए तैयार करना था।

मार्क्स के दर्शन में दो तत्त्वों का समन्वय था—क्रान्ति के कार्यक्रम का और सामाजिक विकास की आवश्यक दिशा के दार्शनिक सिद्धान्त का। यद्यपि इस प्रकार का समन्वय हीगेल के चिन्तन में भी मिलता है, तथापि टीकाकारों को मार्क्स के दर्शन की

इस विशेषता पर सदैव ही उलझन रही है। सहानुभूतिशून्य आलोचकों ने मार्क्स के दर्शन के इन दो तत्त्वों को सदैव अलग अलग करके देखा है। उन्होंने मार्क्स को एक सामाजिक दार्शनिक माना है और फिर दलगत समाजवाद का संस्थापक। इस तरह की व्याख्या को मार्क्सवादी सदैव सतही तथा पूंजीवादी व्याख्या समझते हैं। यह निश्चित है कि मार्क्स को स्वयं इस बात का कोई ज्ञान नहीं था कि वह दुहरी भूमिका का निर्वाह कर रहा है। ऐतिहासिक अनिवार्यता के बारे में उसके विचार हीगेल के विचारों के समान ही थे। इसका अभिप्राय यह था कि इतिहास के विकास में मनुष्यों को भी योग दान देना चाहिए। दलगत हथकंडों का सिद्धान्त इसका स्वाभाविक निष्कर्ष था। हीगेल तथा मार्क्स दोनों के लिए इस समन्वय का रहस्य द्वंद्वात्मक पद्धति में छिपा हुआ था। द्वंद्वात्मक पद्धति के अनुसार सामाजिक विकास का साध्य साम्यवाद है। यह सिद्धान्त काल्विनिस्टों के दैवी नियतिवाद के सिद्धान्त को ही मानता है। इस विवशता का न तो वांछनीयता से सम्बन्ध है, न कार्यकारण से और न नैतिक दायित्व से। इसका सम्बन्ध तीनों के समन्वित रूप से—एक प्रकार के सार्वभौम आदेश से है। किसी परिणाम को प्राप्त करने में मानवीय गणना अथवा मानवीय हितों का हाथ होता है। फिर भी, प्रक्रिया इस गणना के साध्य को निर्धारित कर देती है और उस दिशा को निर्धारित कर देती है जिसकी ओर हितों को निर्दिष्ट होना चाहिए।

मार्क्स का सामाजिक दर्शन दो भागों में आकर पड़ता है। ये दो भाग उसके जीवन के दो चरणों से सम्बन्ध रखते हैं और मुख्य रूप से दो ऐतिहासिक प्रभावों के परिणाम हैं। इनमें से पहला चरण उसका हीगेल का अध्ययन है जो उसने अपने छात्र जीवन में बॉन और बर्लिन में किया था। इस समय हीगेल की विचारधारा दो भागों में बट गई थी। एक पक्ष आदर्शवादी विचारधारा का था। इस पर मुख्य रूप से धर्म का प्रभाव था। दूसरा पक्ष उदारवादी विचारधारा का था। इस पर मुख्य रूप से लुडविग फाउरबाख का प्रभाव था। बाद के वर्षों में मार्क्स ने फाउरबाख को हीगेल की तुलना में एक बहुत छोटा आदमी बताया था। लेकिन, फिर भी हीगेल के पश्चात् वह एक युगान्तकारी विचारक था क्योंकि उसने हीगेलवाद को आदर्शवादी 'रहस्यवादिता' के बन्धन से मुक्त कर दिया था। जर्मनी छोड़ने के पश्चात् मार्क्स का फ्रेंच समाजवाद से सम्पर्क स्थापित हुआ और इसकी वजह से उसका ध्यान फ्रेंच समाजवाद की ओर गया। मार्क्स को यह विश्वास हो गया था कि समाजवादी दर्शन सतही है क्योंकि उसकी न तो आर्थिक सिद्धान्त पर पकड़ है और न आर्थिक इतिहास पर। मार्क्स ने अपने शेष जीवन इन्हीं विषयों का अध्ययन किया। मार्क्स के अध्ययन का आरम्भिक और अधिक सामान्य परिणाम द्वंद्वात्मक अथवा आर्थिक भौतिकवाद था। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह था कि सामाजिक विकास आर्थिक उत्पादन के साधनों के विकास पर निर्भर रहता है। बाद में मार्क्स ने परम्परागत अर्थशास्त्र का गहरा अध्ययन किया। इस विशिष्ट अध्ययन के परिणामस्वरूप उसने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का विकास किया। मार्क्स के कृतित्व के पहले भाग में स्थूल रूप में उसकी १८५० तक की रचनाएं आ

जाती हैं। ये रचनाएं अधिकतर विवादास्पद पुस्तिकाओं के रूप में थी। इन रचनाओं का तात्कालिक उद्देश्य क्रांतिकारी होता था। १८४८ तक मार्क्स के जीवन का यह दौर समाप्त हो गया। मार्क्स के जीवन का दूसरा दौर कैपिटल के सैद्धांतिक भाग की रचना से सम्बन्ध रखता है। इसमें आर्थिक भौतिकवाद को स्वीकार तो कर लिया गया था लेकिन उसका निरूपण कहीं नहीं किया गया था। यह विभाजन दुर्भाग्यपूर्ण था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क्रांतिकारी आंदोलन नहीं हुए थे। फलत मार्क्स की प्रारम्भिक पुस्तिकाएं भी विद्वानों की निगाहों से ओझल हो गई। कैपिटल के पहले भाग (१८६७) ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को वैज्ञानिक समाजवाद का आधारभूत लक्षण बना दिया। मार्क्स के सम्पूर्ण अर्थशास्त्र का उद्देश्य इस सिद्धान्त की आन्तरिक संगति को रक्षा करना हो गया। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् आर्थिक भौतिकवाद पर व्यापक रूप से चर्चा होने लगी। लेनिन के इस विचार से सम्भवत प्रत्येक व्यक्ति सहमत होगा कि आर्थिक भौतिकवाद "वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारो ओर व्यक्त तथा विवेचित विचारो का जाल सा बिछा हुआ है।'

इसलिए, यह दुर्भाग्य की ही बात है कि मार्क्स ने अपने सामाजिक दर्शन के सबसे महत्त्वपूर्ण भाग का स्वयं कभी व्यवस्थित रीति से प्रतिपादन नहीं किया था। उसके दर्शन का यह अंश उसकी सामयिक रचनाओं के कुछ चुने हुए अंशों में पाया जाता है। मार्क्स ने अधिकांश सिद्धान्त निरूपण आर्थिक क्षेत्र में किया है। इस अध्याय में यह मान लिया जाएगा कि मार्क्स के सामाजिक दर्शन का सब से महत्त्वपूर्ण भाग द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद था अर्थात् यह सिद्धान्त था कि आर्थिक उत्पादन का द्वन्द्वात्मक विकास समाज के संस्थागत तथा सैद्धान्तिक ऊपरी ढांचे को निर्धारित करता है। मुख्य प्रश्न इस सिद्धान्त के अर्थ और औचित्य की परीक्षा करना है। अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त पर अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप से विचार किया जा सकता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

(Dialectical Materialism)

मार्क्स तथा एंगिल्स में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अध्ययन के स्रोत दो श्रेणियों में आते है। पहली श्रेणी के अन्तर्गत मार्क्स की वे छोटी-छोटी रचनाएं आती हैं जिनका प्रणयन उसने सामाजिक क्रांति सम्बन्धी अपने सिद्धान्त का निर्माण करते समय अथवा फ्रांस में क्रान्ति के प्रयत्नों की असफलता का विश्लेषण करते समय किया था। दूसरी श्रेणी में एंगिल्स की कई रचनाएं आती हैं जिनमें उसने मार्क्स की मृत्यु के बाद मार्क्स के विचारों की व्याख्या की है। इस श्रेणी में उसके महत्त्वपूर्ण पत्र भी हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी में तरुण समाजवादी लेखक मार्क्स के सिद्धान्तों का दुरुपयोग करने लगे थे। एंगिल्स ने इन लोगों को मार्क्स के सिद्धान्तों का सही अर्थ बताने के लिए

अनेक पत्र लिखे थे। इन दोनों में से कोई भी ऐसी अवस्था नहीं थी जबकि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का स्पष्ट रूप से विवेचन हुआ हो। जब मार्क्स अपने जीवन के उत्तरकाल में ऐतिहासिक विकास की समस्या का अध्ययन कर रहा था, तब उसने ऐसे प्रयत्नों को सदैव अविश्वास की दृष्टि से देखा था जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को इतिहास के विशिष्ट दर्शन के रूप में बदलना चाहते थे। यह सही है कि मार्क्स की रचनाओं में कुछ रूढ़िवादी सामान्य सिद्धान्तों का उल्लेख मिल जाता है, उदाहरण के लिए उसने कैपिटल की भूमिका में लिखा है कि कुछ प्रवृत्तियां दुर्निवार आवश्यकता के वशीभूत होकर एक अनिवार्य लक्ष्य की ओर बढ़ती हैं। तथापि, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विवेचन में उसके दो लक्ष्य थे। उसका पहला लक्ष्य यह था कि वह क्रांतिकारी सर्वहारावर्गीय दल के लिए उचित हथकंडों का निर्माण करना चाहता था। उसका दूसरा लक्ष्य यह था कि वह इसके आधार पर इतिहास को समझना और आर्थिक तथा सामाजिक सिद्धान्त की आलोचना करना चाहता था। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एक सूत्र का रूप दे देना और उसे यथावत् इतिहास के ऊपर लागू करना मार्क्स की मंशा के खिलाफ था। उदाहरण के लिए १८८२ में उसने वेरा जासुलिच के कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो के रूसी संस्करण की भूमिका लिखी थी। उसमें उसने लिखा था कि रूस में यह जरूरी नहीं है कि साम्यवाद सामन्तवाद और पूंजीवाद की मानक अवस्थाओं से होकर ही विकसित हो। उसका कहना था कि रूस में साम्यवाद ग्राम पंचायतों के आधार पर ही विकसित हो सकता है।

मार्क्स ने १८४४ और १८४८ के बीच में अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विषयक ग्रंथों का निर्माण किया था। इन ग्रंथों में उसने दर्शन तथा न्यायशास्त्र विषयक अपने विचारों का भी प्रतिपादन किया—ये विचार बॉन तथा बर्लिन विश्वविद्यालयों में अध्ययन करते समय बने थे। इनमें उसने हीगेल के सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर फ्रेंच समाजवाद की फिर से व्याख्या की।[1] उसका मुख्य उद्देश्य द्विमुखी था। एक ओर तो वह जर्मन दर्शन का सत्कार और दूसरी ओर समाजवाद का निरूपण करना चाहता था।

---

1 *Deutsch-franzosische Fahrbucher*, 1844, *Die heilige Familie*, 1845। इनमें से कुछ चुने हुए अंशों को एच० जे० स्टेनिंग ने *Selected Essays by Karl Marx* नाम से प्रकाशित किया है। (न्यूयार्क १९२६) । *Die deutsche Ideologie*, 1846 (यह पूरा ग्रन्थ *Gesamtausgabe* में पहली बार छपा था)। *The German Ideology*, Eng trans. of parts I and III by R Pascal, New York, 1939; *La misere de la Philosophie*, 1847 ; Eng *trans. The Poverty of Philosophy*, ed by C P. Dutt, New York, 1936 *The Communist Manifesto*, 1848 मार्क्स और एंगिल्स की रचनाओं का मानक संस्करण जो अभी पूर्ण नहीं है, निम्नलिखित है—*Karl Marx, Friedrich Engels historisch-kritische Gesamtausgabe, Werke, Schriften, Briefe* Im Auftrage des Marx-Engels Instituts, Moskau, hrsg. v. D Rjazanov. Frankfurt a M., 1927.

मार्क्स का विश्वास था कि औद्योगिक और राजनैतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ जर्मनी जैसा देश यूरोपीय सभ्यता का केवल भावपरक दार्शनिक विश्लेषण सम्भव मे, द्वन्द्वात्मक पद्धति ही दे सकता था। यह मान्यता इस सिद्धान्त की एक असाधारण टीका थी कि ऊपरी ढाचा आर्थिक उत्पादन की पद्धति की बुनियाद पर ही खड़ा हो सकता है। मार्क्स का मत था कि यद्यपि अनुदार हीगेलवादियों ने हीगेल के दर्शन का प्रतिक्रियावादी ढग से प्रयोग किया है फिर भी वास्तव मे हीगेल का दर्शन क्रांतिकारी है। हीगेल के दर्शन को वास्तविक महत्व देने का एकमात्र उपाय यह है कि उसे क्रांतिकारी दल का बौद्धिक उपकरण बना दिया जाए। हीगेल के दर्शन की सब से क्रांतिकारी विशेषता यह है कि उसमे धर्म की आलोचना की गई है। द्वन्द्वात्मक पद्धति यह सिद्ध करती है कि समस्त कथित निरपेक्ष सत्य और परात्पर धार्मिक मूल्य सापेक्ष होते हैं। वे कुछ सामाजिक फल होते हैं जो किसी समुदाय के लौकिक तथा ऐतिहासिक विकास के दौरान उत्पन्न हो जाते हैं। वे मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताओं की काल्पनिक पूर्ति करते है और इस प्रकार मनुष्य को वास्तविक समाधान खोजने से विरक्त कर देते हैं। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म मनुष्य के दो जीवनों की कल्पना करता है, एक शरीर का जीवन और दूसरा आत्मा का जीवन। आत्मा का जीवन मनुष्य को स्वर्ग मे मिलता है। इस धारणा का परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने वास्तविक कष्टों को दूर करने का प्रयत्न नही करता। यदि हीगेलवाद को ठीक ठीक समझा जाए तो ज्ञात होगा कि धर्म मनुष्य की आखो के आगे मोह का पर्दा डाल देता है और इस प्रकार वह जनता की अफीम है। हीगेल ने राज्य का जो आदर्शीकरण किया है, मार्क्स उसे भी काल्पनिक सन्तोष का एक अन्य रूप समझता था। यदि सच्चे सुख के साधनों की प्रभावशाली माग उपस्थित करनी है, तो इसके लिए यह जरूरी है कि इन काल्पनिक छलनाओं को छोड दिया जाए। इसलिए, मार्क्स की दृष्टि से द्वन्द्वात्मक पद्धति का पहला उपयोग तो यह था कि उसके आधार पर रूढ़िगत रूप से प्रचारित तथाकथित निरपेक्ष मूल्यों का खडन किया जा सकता था और वास्तविक तथा आभासी के बीच हीगेल द्वारा प्रतिपादित भेद को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जा सकता था। [द्वन्द्वात्मक पद्धति की भौतिकवादी व्याख्या का यह अभिप्राय था कि धार्मिक रूढ़ियों और धार्मिक सत्ता के प्रतीकात्मक अर्थों से मुक्त हुआ जाए और यह समझा जाए कि धर्म समाज को एक बहुत बड़ी प्रतिक्रियावादी तथा अनुदार शक्ति रही है।]

मार्क्स ने अपने ग्रथ होलीफैमिली मे अपने दर्शन के भौतिकवादी स्वरूप पर विशेष प्रकाश डाला। उसने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और अठारहवी शताब्दी के फ्रेंच भौतिकवाद म भेद किया। उसका कहना था कि फ्रेंच भौतिकवाद एक प्रकार की यात्रिक व्याख्या है। वह भौतिक शास्त्र अथवा रसायन शास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञानो पर तो ठीक तरह से लागू होता है। इसका कारण यह है कि इन विषयो मे ऐतिहासिक विकास की कोई समस्याए नही होती। इसके विपरीत जहा ये समस्याए उठ खडी होती है वहा इस पद्धति मे काम नही चलता। मार्क्स का मत था कि हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति अधिक शक्ति-

शाली साधन है क्योंकि वह सतत विकासशील विषय-वस्तु का अधिक अच्छे ढंग से विवेचन कर सकती है और ऐतिहासिक विकास में अन्तर्निहित आवश्यकता का उद्घाटन कर सकती है। हालबाख ने अपने ग्रंथ सिस्टम आफ नेचर में जिस भौतिकवाद का विवेचन किया था, उसमें और मार्क्स के भौतिकवाद में निर्क एक समानता थी। दोनों ही धर्म से घृणा करते थे। मार्क्स का मत था कि भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में दी गई व्याख्याएं सामाजिक शास्त्रों के क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध नहीं होंगी। प्राकृतिक वैज्ञानिक इतिहास और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में जो हस्तक्षेप करते थे, उनके बारे में मार्क्स की कोई अच्छी राय नहीं थी। इस सम्बन्ध में उसने कैपिटल में अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किए हैं। मार्क्स अपने कार्य की तुलना डार्विन के कार्य से किया करता था। डार्विन की भांति ही उसका विचार था कि उत्पादन और विनिमय की प्रणालियों में सतत विकास होता है और यह विकास ही समस्त सामाजिक व्यापार को समझने की कुंजी है। मार्क्स का विचार था कि डार्विन वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का बाहरी तरीके से समर्थन करता है। जब मार्क्स ने ओरीजिन आफ स्पेशीज को पहले पहल पढ़ा था, तब वह "विकास की रूखी अंग्रेजी पद्धति से प्रभावित हुआ था"।[1] डार्विन की विशुद्ध व्यावहारिक पद्धति के सम्बन्ध में एक हीगेलवादी की यही प्रतिक्रिया हो सकती थी।

सचाई यह है कि मार्क्स की पद्धति व्यावहारिक नहीं थी और उसमें भौतिकवाद शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया था वह भी इस शब्द के तत्कालीन अर्थ को देखते हुए कुछ भ्रामक था। सामाजिक विकास के सम्बन्ध में उसके दार्शनिक सिद्धान्त को प्रकृतिपरक जीवनवाद कहा जा सकता है। यह बहुत कुछ अरस्तू की पद्धति से मिलता-जुलता था। इस दृष्टि से वह पूर्व वैज्ञानिक था। उत्पादन की शक्तियां अपने आप ही विकसित होती हैं और वे समाज की संस्थाओं तथा विचारधारा के रूप में व्यक्त होती हैं। हीगेल की भांति ही मार्क्स के लिए भी नियत्रक शक्ति एक विकासशील आध्यात्मिक तत्त्व था जो अवास्तविक आभासों के मूल में छिपी हुई वास्तविकता होता है। वास्तविकता ऐसी चीज नहीं है जिसका अस्तित्व होता है अथवा जो घटित होती है। यह वास्तव में एक प्रेरक शक्ति है जो व्यक्ति-निरपेक्ष प्रयोजन रखती है।

मार्क्स ने हीगेल की द्वद्वात्मक पद्धति के व्यावहारिक प्रयोग का केवल यही एक निष्कर्ष नहीं निकाला कि धर्म को त्याग दिया जाए। मार्क्स का यह भी विश्वास था कि हीगेल ने फ्रेंच क्रांति और मनुष्य के क्रांतिकारी अधिकारों का जिस ढंग से निषेध किया था वह भी द्वद्वात्मक पद्धति को ध्यान में रखते हुए सच्चा प्रमाणित होगा क्योंकि ये चीजें भी उसी तरह निरपेक्ष नहीं हो सकती जिस प्रकार की धार्मिक विश्वास निरपेक्ष नहीं होते। ये चीजें भी विकास की किसी विशिष्ट अवस्था की अभिव्यक्ति होती हैं। चूंकि

---

1. Letter to Lasalle, January 16, 1861; *Marx-Engels Correspondence, 1846-1895* (1934), p 125 Cf *Capital*, Vol. I, Eng trans by E. and C Paul, p 392, note 2

मार्क्स द्वन्द्वात्मक पद्धति को क्रान्तिकारी समझता था, इसलिए उसके लिए यह जरूरी था कि वह हीगेल की आलोचना की पुनर्व्याख्या करता। आध्यात्मिक राज्य अन्तिम रूप अथवा अन्तिम संश्लेषण नहीं हो सकता। द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार यह जरूरी है कि एक उच्चतर स्तर पर राजनैतिक क्रान्ति के विरोध में सामाजिक क्रान्ति हो। राजनैतिक क्रान्ति शक्ति को एक वर्ग के हाथों से लेकर दूसरे वर्ग के हाथों में दे देती है। सामाजिक क्रान्ति वर्गों का समूल नाश कर देगी। भूतकाल में जितनी भी क्रान्तियाँ हुई हैं उनके परिणामस्वरूप शोषण की शक्ति एक वर्ग के हाथों से निकल कर दूसरे वर्ग के हाथों में आ गई है। लेकिन शोषित वर्ग जरूर बना रहा है। इसलिए राजनैतिक क्रान्ति जिन नागरिक और राजनैतिक स्वतन्त्रताओं की खोज करती है, वे वास्तव में स्वतन्त्रताएँ नहीं हैं। उसके अधिकार मानव अधिकार नहीं बल्कि बोर्जुआ अधिकार हैं। यद्यपि धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है, फिर भी व्यक्तिगत धन का लोभ बना रहता है। यद्यपि सम्पत्ति पर नियन्त्रण रखने की स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है फिर भी सम्पत्ति एक व्यक्तिगत अधिकार बना रहता है। यद्यपि नागरिक समानता प्राप्त की जा सकती है फिर भी समाज अनेक वर्गों में बटा रहता है। ईसाई धर्म की भाँति राजनैतिक क्रान्ति मनुष्य के दुहरे जीवन को कायम रखती है। एक जीवन वास्तविक दासता का है और दूसरा काल्पनिक स्वतन्त्रता का। कोई भी समाधान उस समय तक अन्तिम नहीं हो सकता जब तक कि वह मनुष्य और नागरिक को, व्यक्ति की निजी और सामाजिक क्षमताओं को एक नहीं कर देता। सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति ही यह उद्देश्य प्राप्त कर सकती है। सर्वहारा वर्ग से नीचे कोई वर्ग नहीं है। वही वर्गविहीन समाज की स्थापना करने में समर्थ हो सकता है। इस तरह से जिस वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी वह श्रम के विभाजन को तथा समस्त अनिवार्य श्रम को समाप्त कर देगा।

'श्रम-विभाजन का अभिप्राय यह है कि पृथक् व्यक्ति अथवा व्यक्ति के परिवार और समस्त व्यक्तियों के सामूहिक हित में विरोध है। इन समस्त व्यक्तियों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रहता है—जैसे ही श्रमिकों में विक्षोभ पैदा होता है प्रत्येक मनुष्य को एक विशिष्ट कार्य करना पड़ता है। यह कार्य उसके ऊपर लाद दिया जाता है और यह उससे बच नहीं सकता। साम्यवादी समाज में कोई व्यक्ति किसी अपवर्जी कार्यक्षेत्र के लिए विवश नहीं होता। वह जिस क्षेत्र में चाहे विशेष योग्यता प्राप्त कर सकता है। समाज सामान्य उत्पादन पर नियन्त्रण रखता है और इस प्रकार यह सम्भव होता है कि आज तो मैं एक काम और कल दूसरा काम कर सकता हूँ।'[1]

सामाजिक विकास का अन्तिम उद्देश्य वर्गविहीन समाज है। यह बोर्जुआ क्रान्तियों के युग के बाद का युक्तिसंगत कदम है। हीगेल के दर्शन की भाँति मार्क्स के दर्शन में भी विरोधाभास पाया जाता है। उसने सापेक्षवाद के एक दर्शन को निरपेक्षता

1 *The German Ideology*, Eng trans by R Pascal, p 22

और कल्पनावाद का दर्शन बना दिया है। हीगेल और मार्क्स दोनों के दर्शन में ही वर्तमान के प्रति यथार्थवाद और नीति-निरपेक्षता का भाव मिलता है। इसके साथ ही दोनों दर्शन-पद्धतियों में भविष्य के प्रति नैतिक स्वच्छन्दतावाद का भाव है।

आर्थिक नियतिवाद

Economic Determinism)

क्रांति के दोनों प्रकारों में से प्रत्येक हो उस वर्ग की जो क्रांति को करता है, सामाजिक स्थिति और इसलिए उसके सामाजिक प्रयोजन को प्रकट करता है। राजनैतिक क्रांति एक बोर्जुआ क्रांति होती है जिसे मुख्य रूप से मध्य वर्ग करता है ताकि शोषण करने के लिए उसकी शक्ति प्रतिष्ठित हो जाए। इसके विपरीत सामाजिक क्रांति वर्गों तथा शोषण को समाप्त कर देती है। वह नागरिक स्वतन्त्रताओं के साथ ही आर्थिक विशेषाधिकारों का भी समतानुकूल कर देती है। सर्वहारा वर्ग का उद्देश्य इसी प्रकार की क्रांति होता है। मार्क्स की व्याख्या के अनुसार फ्रांस की क्रांति बोर्जुआ क्रांति थी। इस क्रांति के द्वारा मध्यवर्ग ने कुलीनों और धर्माचार्यों की राजनैतिक उच्चता को समाप्त कर दिया, अपने लिए राजनैतिक अधिकार प्राप्त किए और सामन्ती विधि तथा शासन के ऐसे अवशेषों को नष्ट कर दिया जो पूंजीवादी उत्पादन की विकासशील व्यवस्था के मार्ग में बाधक थे। इसने मानव अधिकारों के नाम पर अपने प्रयोजनों को विवेकयुक्त तथा पवित्र माना। लेकिन, श्रमिक वर्ग के दृष्टिकोण से नागरिक स्वतन्त्रताएं अथवा लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणालियां ऐसे शाश्वत सत्य अथवा स्वतःस्पष्ट सिद्धान्त नहीं हैं जैसा कि प्राकृतिक विधि की व्यवस्था ने उन्हें मान रक्खा था। वे मध्यवर्ग के अधिकार हैं। लेकिन, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे उपेक्षणीय हैं। वे सर्वहारा वर्ग की शक्ति और राजनैतिक चेतना बढ़ाने की पूर्व-शर्त हैं। सामान्य रूप से मार्क्स राजनैतिक उदारवाद को समाजवाद की सिद्धि की पूर्ववर्ती आवश्यक अवस्था मानता था। उसका विश्वास था कि समाजवाद राजनैतिक स्वतन्त्रता के क्रम को जारी रखेगा और उसे विस्तार देगा।

अस्तु, मार्क्स ने समाज के एक ऐसे विकासात्मक सिद्धान्त का निरूपण किया जिसमें प्राकृतिक विधि की सम्पूर्ण व्यवस्था विकास की एक विशिष्ट अवस्था की विचारधारा के अनुकूल थी। सामाजिक विकास का सामान्य क्रम है—सामन्तवाद, पूंजीवाद, समाजवाद। इनमें से प्रत्येक के अनुकूल एक राजनैतिक संगठन होता है। मार्क्स के क्रांति-सिद्धान्त ने उस प्रणाली का भी निरूपण कर दिया जिसके द्वारा राजनैतिक परिवर्तन होता है। राजनैतिक परिवर्तन सामाजिक वर्गों के विरोधी हितों के फलस्वरूप होता है। प्रत्येक वर्ग यह चाहता है कि वह समाज पर अपने स्वार्थ की दृष्टि से नियन्त्रण स्थापित करे। फ्रांस की क्रांति ने मध्य वर्ग को पुराने वर्गों के शोषण में

मुक्त कर दिया लेकिन खुद उसे शोषक की स्थिति में रख दिया। मजूरी से अपनी जीविका निर्वाह करने वाला सर्वहारा वर्ग पूंजीवाद का अनिवार्य परिणाम है। बोर्जुआ वर्ग के उत्थान के साथ-ही-साथ उसका भी उत्थान होता है। बार्जुआ क्रांति की सफलता सर्वहारा वर्ग की क्रांति का रास्ता साफ कर देती है। सर्वहारा वर्ग की क्रांति नए शोषक वर्ग का अन्त कर देगी। इसके परिणामस्वरूप वर्गों तथा शोषण का आमूल अन्त हो जाएगा।

मार्क्स ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का प्रवर्त्तक नहीं था। उसने क्रांति की व्याख्या करने के लिए फ्रेंच इतिहासकारों के सिद्धान्त को ग्रहण किया और उसका विस्तार किया। एंगिल्स को लिखे गए एक पत्र में उसने आगस्टिन थिएरी को "फ्रांस के ऐतिहासिक साहित्य में वर्ग-संघर्ष का जनक' माना है।[1] मार्क्स को मध्यवर्गीय इतिहासकारों की इस धारणा पर कि बार्जुआ वर्ग के सत्तारूढ़ होने के साथ ही साथ वर्ग-संघर्ष समाप्त हो गया था, उसी प्रकार आपत्ति थी जिस प्रकार कि वह अर्थशास्त्रियों की इस धारणा पर आपत्ति करता था कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के नियम शाश्वत और अकाट्य हैं। अपने युग की क्रांतियों के सम्बन्ध में मार्क्स का विचार था कि उनका प्रेरणा-स्रोत मध्यवर्ग न होकर श्रमिक वर्ग है—एक ऐसा श्रमिक वर्ग जिसे अपनी अधोगति का पूरा भान हो गया है और जो न केवल राजनीति के ऊपरी ढांचे को ही बदलना चाहता है बल्कि सामाजिक असमानता के मूल आर्थिक कारणों को भी बदलना चाहता है।

"मैंने जो नया काम किया, वह यह सिद्ध करना था कि (१) वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास में विशिष्ट ऐतिहासिक अवस्थाओं के साथ युक्त होता है। (२) वर्ग-संघर्ष अनिवार्य रूप से सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित करता है। (३) यह अधिनायकवाद स्वयं संक्रांति की अवस्था होती है। अन्त में, यह स्वयं समस्त वर्गों का अन्त करती है और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना कर देती है।[2]

मार्क्स के तर्क का अन्तिम अंश यह है कि किसी युग विशेष में वर्गों का जो संगठन होता है वह स्वयं इतिहास की उपज होता है जो समाज के आर्थिक उत्पादन की शक्तियों के साथ-साथ बदलता जाता है। मार्क्स का विचार था कि समाज का सम्पूर्ण सामाजिक, वैधिक और राजनैतिक संगठन उत्पादन की शक्तियों के ऊपर निर्भर रहता है। जब आर्थिक उत्पादन की पद्धतियों में परिवर्तन होता है तब इनमें भी परिवर्तन होता है। १८५९ में मार्क्स ने अपने एक व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर

---

1 July 27, 1854, *Marx—Engels Correspondence*, 1846-1895, p 71

2 Letter to Weydemeyer, March 5 1852, *Marx Engels Correspondence*, 1846 1895, p. 57 इटैलिक्स अंश स्वयं मार्क्स के हैं।

लिखा है कि किस प्रकार आर्थिक प्रश्नों पर विचार करते समय उसे दर्शन तथा न्यायशास्त्र के सम्बन्ध में हीगेल के अध्ययन पर फिर से विचार करना पड़ा।

"मैं अपने अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वैधिक सम्बन्धों तथा राज्य के रूपों को अपने आप नहीं समझा जा सकता। उनकी मानव मन की सामान्य प्रगति के आधार पर भी व्याख्या नहीं की जा सकती। वे जीवन की भौतिक परिस्थितियों में निहित होते हैं जिन्हें हीगेल ने "नागरिक समाज" का नाम दिया है। नागरिक समाज की रचना का मूल राजनैतिक अर्थव्यवस्था में पाया जाता है।"[1]

मार्क्स हीगेल के आदर्शवाद के विरोध में भौतिकवाद को यह महत्त्व देता था। सामाजिक विकास में मूलतत्त्व हीगेल का राज्य नहीं, प्रत्युत् नागरिक समाज है। राज्य का निर्माण करने वाले समस्त वैधिक और संस्थागत सम्बन्ध और उनके साथ चलने वाले समस्त नैतिक और धार्मिक विचार उस ऊपरी ढांचे की तरह हैं जो नागरिक समाज की आर्थिक बुनियाद पर टिका होता है।

"मनुष्य की बुद्धि में जिन भ्रांतियों का निर्माण होता है, वे अनिवार्य रूप से भौतिक जीवन की प्रक्रियाओं की परिणाम होती हैं। इन्हें व्यावहारिक आधार पर परखा जा सकता है और वे भौतिक धारणाओं से बंधी होती हैं। नैतिकता, धर्म, तत्त्व-मीमांसा, शेष विचारधारा तथा चेतना के तत्स्थानी रूप अपनी स्वतन्त्रता के भाव को कायम नहीं रख पाते। उनका न तो कोई इतिहास होता है और न कोई विकास। जब मनुष्य अपने भौतिक उत्पादन और भौतिक सम्पर्क का विकास करते हैं, तब वे अपने वास्तविक जीवन के साथ-साथ अपने चिंतन को और अपने चिंतन से सम्बद्ध अन्य बातों को भी बदल देते हैं। जीवन चेतना के द्वारा निर्धारित नहीं होता, प्रत्युत् चेतना जीवन के द्वारा निर्धारित होती है।"[2]

अब महत्त्व का तथा कार्य-कारण का क्रम बदल जाता है। अब आर्थिक व्यवस्था 'उत्पादन' करती है और मस्तिष्क केवल प्रतिबिम्बित करता है। इस सम्बन्ध में मार्क्स ने बाद में कहा था कि हीगेल के चिंतन में द्वन्द्वात्मक पद्धति अपने सर के बल खड़ी थी। मार्क्स ने उस में से आदर्शवाद के रहस्यात्मक तत्त्वों को हटा कर और उनके स्थान पर औद्योगिक पद्धति की सारभूत तथा ठोस वास्तविकताओं को प्रतिष्ठित कर के उसे सीधे खड़ा कर दिया। अब द्वंद्वात्मक पद्धति तार्किक भावनाओं के क्षेत्र में नहीं, प्रत्युत् वास्तविक शक्तियों के क्षेत्र में भ्रमण करने लगती है।

यहां इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि मार्क्स ने द्वंद्वात्मक पद्धति को नहीं, बल्कि उसकी आध्यात्मिक व्याख्या को बदला। द्वंद्वात्मक पद्धति तो एक पद्धति थी

1. *Critique of Political Economy*, Preface, Eng trans by N. G. Stone (1904), p 11.

2. *The German Ideology*, Eng. trans. by. R. Pascal, pp. 14 f

और यह स्पष्ट है कि मार्क्स हीगेल के मुख्य अंश को कायम रखना चाहता था। हीगेल के चिंतन में इस पद्धति का उद्देश्य आध्यात्मिक था। वह पूर्वापरता के अथवा "वास्तविकताओं की श्रेणियों के क्रम" को जिसके द्वारा कोई विचार आभासों से बढ़ते-बढ़ते निरपेक्ष विचार (Absolute Idea) तक पहुंचता है, निश्चित करना चाहता था। मार्क्स ने पूर्वापरता के क्रम को ठीक किया। मार्क्स की भौतिक शक्तियां हीगेल की निरपेक्ष अन्तरात्मा (Absolute Spirit) के समकक्ष ही हैं। इस प्रकार, मार्क्स ने सामाजिक, वैधिक और राजनैतिक इतिहास के वास्तविक तथ्यों को अपने 'संघटनापरक रूप' इस अन्तर्भूत एकता के आभास अथवा अभिव्यक्तियां क्षणिक तथा अधिकतर आकस्मिक परिस्थितियों की लीला समझा था, ऐसी लीला जो अपने उद्‌भव की अन्तर्निहित शक्ति पर निर्भर रहती है। यदि हम विशुद्ध रीति से व्यावहारिक धरातल पर विचार करें तो इस तथ्य का कि राजनैतिक संस्थाएं और नैतिक विचार आर्थिक परिस्थितियों के परिणाम होते हैं, यह अभिप्राय कदापि नहीं होता कि वे इन परिस्थितियों पर असर नहीं डाल सकते। संक्षेप में, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में आर्थिक तत्त्व केवल ऐसे वैज्ञानिक कारणों के रूप में कार्य नहीं करते जो व्यावहारिक परिणाम उत्पन्न करते हैं। वे प्रायः रचनात्मक शक्तियों के रूप में होते हैं जो व्यक्ति साधन के रूप में कार्य करते हैं। यह कहना उचित ही है कि जब मार्क्स ने ऐतिहासिक विश्लेषण की वास्तविक समस्या पर विचार किया था, उस समय उसका व्यावहारिक ढंग सैद्धांतिक पद्धति की अपेक्षा बेहतर रहा था। फिर भी, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना ही रहता है कि क्या द्वन्द्वात्मक पद्धति वास्तव में कोई पद्धति थी ? मार्क्स के भौतिकवाद का समाजशास्त्रीय महत्त्व यह है कि उसके अन्तर्गत द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वन्द्वात्मक नहीं रही, प्रत्युत् वह व्यावहारिक और हेतुपरक हो गई।

मार्क्स ने पॉवर्टी ऑफ फिलासफी ग्रंथ में अपने नए दृष्टिकोण को आर्थिक विज्ञान की आलोचना में लगाया है। उसने परम्परागत अर्थशास्त्र को भी लिया है और सामयिक समाजवाद के अर्थशास्त्र को भी। वह परम्परागत अर्थशास्त्र का प्रशंसक था। उसका विचार था कि क्रांतिकारी दर्शन को आर्थिक विश्लेषण के शुद्ध परिणामों का प्रयोग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में उसे सिर्फ यही आपत्ति थी कि अर्थशास्त्री अपने विषय में ऐतिहासिक पहलुओं की ओर पूरा ध्यान नहीं देते। इस सम्बन्ध में एंगिल्स ने बाद में कहा था कि वे लोग कुछ इस तरह से तर्क करते थे कि यदि शेरे दिल रिचर्ड को कुछ अर्थशास्त्र ज्ञात होता, तो वह अपना समय जिहाद में नष्ट न करता और स्वतन्त्र वाणिज्य को अपनाकर छः शताब्दियों की गोलमाल बचा लेता। जिस प्रकार, धर्मशास्त्री, अपने धर्मों को तो सच्चा मानते हैं तथा दूसरे धर्मों को झूठा मानते हैं, उसी प्रकार परम्परागत अर्थशास्त्री भी पूंजीवादी अर्थशास्त्र को तो सही मानते हैं तथा शेष आर्थिक पद्धतियों को गलत मानते हैं। इस दृष्टिकोण के विपरीत मार्क्स का विचार था कि अर्थशास्त्र एक ऐतिहासिक विज्ञान है। उसके नियम आर्थिक उत्पादन

की कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में ही लागू हो सकते हैं। मुनाफा, मजूरी, और किराया विषयक उसके सिद्धान्त उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति हैं।

"ये विचार, ये श्रेणियाँ उसी प्रकार शाश्वत नहीं हैं जिस प्रकार कि वे सम्बन्ध, जिन्हें वे व्यक्त करती हैं। वे ऐतिहासिक और सक्रान्तिकालीन चीजें हैं।"[1]

इस प्रकार, मार्क्स के लिए अर्थशास्त्र इतिहास और विश्लेषण का संयोग बन गया। इसमें उत्पादन की एक विशिष्ट व्यवस्था के अन्तर्गत प्रचलित सम्बन्धों का विश्लेषण होता था और इसके साथ ही इस पद्धति के उत्थान और विकास का अध्ययन किया जाता था।

मार्क्स परम्परागत अर्थशास्त्र की मानवपरक, काल्पनिक और सुधारवादी आलोचनाओं के प्रति कम सहिष्णु था। उसका विचार था कि इस तरह की योजनाएं भावुक और स्वप्निल होती हैं। उनमें न इतिहास होता है और न विश्लेषण। इनकी कोशिश यही रहती है कि वे पूंजीवाद के अच्छे तत्वों को बुरे तत्वों से अलग कर दें और यह बतायें कि पूंजीवादी उत्पादन का समाजवादी वितरण के साथ किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जाए। मार्क्स का विश्वास था कि जिस पद्धति की उत्पादन-व्यवस्था होती है, वही पद्धति अपनी वितरण प्रणाली भी निर्धारित करती है। फलत, उत्पादन-पद्धति समाज के वर्ग-संगठन को और अन्ततोगत्वा उसके संस्थागत तथा राजनैतिक संगठन को निर्धारित करती है। वास्तव में, मार्क्स ने काल्पनिक समाजवादियों के साथ पूरा न्याय नहीं किया है। तथापि, उसकी कुछ योजनाओं के सम्बन्ध में उसका जो रोष है, वह समझना ज्यादा कठिन नहीं है। वर्गविहीन समाज की सकल्पना भी काल्पनिक ही थी। इसका मुख्य लाभ यह था कि इसे सदैव ही अनिश्चित भविष्य के लिए स्थगित किया जा सकता था। मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त में एक तर्क यह भी थी कि यदि औद्योगिक व्यवस्था पर, चाहे वह काल्पनिक हो या न हो, विधायी नियन्त्रण स्थापित किया जाता है, तो वह व्यर्थ ही प्रमाणित होता है। मार्क्स के सिद्धान्त से उदारवादी सुधार का बहिष्कार कर दिया गया था। फलत, अब समाधान का एकमात्र उपाय क्रांति था।

विचारधारा और वर्ग-संघर्ष

(Ideology and the Class Struggle)

मार्क्स द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को इतिहास के दर्शन के रूप में मर्यादापूर्ण बनाने में कम दिलचस्पी रखता था। उसकी ज्यादा दिलचस्पी इस बात में थी कि वह द्वन्द्वात्मक

---

1 *The Poverty of Philosophy*, Eng trans edited by C P Dutt, p 93

पद्धति को ठोस परिस्थितियों के ऊपर लागू करे, विशेष कर इस उद्देश्य से कि उसके आधार पर क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के लिए किसी कार्यक्रम की खोज की जा सके। १८४८ में उसने और एंगिल्स ने कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में जो समस्त युगों की एक बड़ी क्रांतिकारी पुस्तिका बन गई है, वर्ग संघर्ष को अब तक के समस्त समाजों का मूलमंत्र माना। कुछ समय बाद उसने दो पुस्तिकाएं लिखीं जिनमें उसने फ्रांस में कुछ समय पूर्व हुई क्रांतियों की असफलता का विश्लेषण किया। इन पुस्तिकाओं में उसने तत्कालीन इतिहास की एक समस्या पर आर्थिक व्याख्या को लागू किया।[1] इन पुस्तिकाओं में क्रांति में भाग लेने वाले अनेक दलों के आर्थिक सम्बन्धों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है और सर्वहारा वर्गों की अव्यवस्थित दशा का वर्णन किया गया है। क्रांतिकारी स्थिति के ये विश्लेषण बहुत कुछ ऐसे हैं जो आज कल का प्रथम कोटि का कोई भी पत्रकार प्रस्तुत करने का प्रयास करेगा। इससे ज्ञात होता है कि मार्क्स की व्याख्या को सामान्य रूप से वहां तक स्वीकार कर लिया गया है। तथापि उनसे मार्क्सवाद का यह दावा सिद्ध नहीं होता कि उनके आधार पर भविष्य की घटनाओं का ज्ञान हो सकता है। मार्क्स की यह भविष्यवाणी कि १८४७ जैसी व्यापारिक मन्दी क्रांति का नए सिरे से आरम्भ कर देगी, गलत सिद्ध हुई। एंगिल्स ने बाद में यह स्वीकार किया था कि मार्क्स पूंजीवादी व्यवस्था में निहित विकास की सम्भावनाओं को नहीं समझ सका।

इन पुस्तिकाओं से यह भी ज्ञान हो जाता है कि मार्क्स का सामाजिक वर्गों के इतिहास विषयक दृष्टिकोण के बारे में तथा खुद उनके अपने मानसिक दृष्टिकोण के बारे में क्या विचार था। मार्क्स की दृष्टि में वर्ग सामुदायिक एकता में सम्पन्न होता था, उसी तरह जैसे कि हीगेल की दृष्टि में राष्ट्र। वह इतिहास में एक इकाई के रूप में कार्य करता है और एक इकाई के रूप में ही अपने विशिष्ट विचारों और विश्वासों को प्रकट करता है। आर्थिक तथा सामाजिक पद्धति में उसका अपना एक स्थान होता है। व्यक्ति का महत्व उसकी वर्ग की सदस्यता के कारण होता है। उसके अपने विचार, नैतिक विश्वास, सौन्दर्य सम्बन्धी रुचि, चिंतन शैली—यह सब उसके वर्ग के विचारों के अनुसार होती हैं।

"सम्पत्ति के विभिन्न रूपों के आधार पर, जीवन की सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर कुछ विशिष्ट भावनाओं, भ्रांतियों, चिंतन-पद्धतियों और जीवन विषयक

---

1 *Die Klassenkampfe in Frankreich*, 1848 1850 articles in the *New Rheinische Zeitung*, 1850 published by Engels 1895 Eng trans, ed by C P Dutt, *The Class Struggles in France* (1848 50), New York, 1934 *Der achtzehnte Brumaire des Louis Bonaparte*, 1852, Eng trans, ed by C P Dutt, *The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte*, New York, 1935

दृष्टिकोणों का निर्माण हो जाता है। सम्पूर्ण वर्ग इन्हें अपनी भौतिक परिस्थितियों तथा तत्स्थानी सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर बनाता है। व्यक्ति जो इन्हें परम्परा तथा शिक्षा के द्वारा प्राप्त करता है, यह समझ सकता है कि वे उसके कार्य के वास्तविक प्रेरक उद्देश्य तथा आधार-स्थल हैं।"[1]

यह अवतरण उस विशिष्ट अर्थ को व्यक्त करता है, जिसमें मार्क्स ने विचारधारा शब्द को प्रयुक्त किया था। विचार एक अन्तर्भूत आर्थिक वास्तविकता को व्यक्त करता है। वह उसे न्यूनाधिक रूप से गलत ढंग से प्रकट करता है। वे उन आर्थिक वास्तविकता के रहस्यात्मक तत्त्व होते हैं, कम-से-कम उस सीमा तक जहाँ तक कि उनके उद्भव का उद्घाटन नहीं होता। आचरण के आदर्श उद्देश्यों अथवा कारणों के रूप में वे एक बिल्कुल भिन्न चीज के आभास अथवा प्रदर्शन मात्र हैं। यद्यपि वे अपने आडम्बरहीन स्वामी के लिए वैध तथा विश्वासकारी प्रतीत होते हैं, तथापि उनकी विश्वसनीय शक्ति एक ऐसी चीज है जो उसकी चेतना में नहीं है, बल्कि उसके वर्ग की सामाजिक स्थिति में और उसके आर्थिक उत्पादन के सम्बन्धों में छिपी होती है। यह स्पष्टीकरण हीगेल के शब्दों—आभास और वास्तविकता—के आधार पर चलता रहा। हीगेल की विश्वात्मा की भाँति, उत्पादन की शक्तियाँ भी अत्यधिक निपुण होती हैं और वे सब तरह की भ्रान्तियाँ तथा रहस्य पैदा करती हैं। इनसे केवल वही व्यक्ति बच सकता है जो उनकी उत्पत्ति को समझता है। मार्क्स के वर्ग भी व्यक्ति रूप ही थे जो अपनी-अपनी उपयुक्त विचारधाराएँ उत्पन्न करते हैं। यह भाग हीगेल के अनुसरण पर ही था। हीगेल कल्पना करता था कि राष्ट्र की अन्तरात्मा राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करती है। विचारधारा की संकल्पना मार्क्स का एक प्रमुख विचार था। इसमें अस्पष्टता भी बहुत थी और व्यवहार में इसका दुरुपयोग भी बहुत हुआ। यह एक शक्तिशाली विवादास्पद साधन था। इसका प्रयोग प्रत्येक पक्ष प्रत्येक दिशा में समान शक्ति के साथ कर सकता था। यहाँ तक कि इसका प्रयोग मार्क्सवाद के विरुद्ध भी किया जा सकता था। इसकी दशा शीशमहल में दिखाई पड़ने वाले अनेक प्रतिबिम्बों की भाँति थी। इसका वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग तभी हो सकता था जबकि लोगों को यह मालूम हो कि आर्थिक तत्त्व मस्तिष्क पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं। यह बहुत कठिन व्यावहारिक समस्या है। इसके बारे में चिंतन तो बहुत हुआ है लेकिन विश्वसनीय सूचना बहुत कम मिल सकी है।

मार्क्स ने फ्रान्स के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर जो दो पुस्तिकाएँ लिखी थीं, उनमें उनमें आधुनिक औद्योगिक समाजों में वर्ग-संगठन के अपने सिद्धान्त का निरूपण किया है। मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त का निर्माण फ्रेंच समाज के निरीक्षण और फ्रेंच समाजवाद के अनुभव के आधार पर किया है। उसने यह मान लिया था कि जो स्थिति फ्रेंच समाज की है, वही न्यूनाधिक रूप से अन्य पूँजीवादी समाजों की होगी। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्क्स ने मुख्य रूप से दो ऐसे वर्गों की कल्पना की थी जो आधुनिक समाज

1. *The Eighteenth Brumaire*, Eng. trans., pp. 40f.

मे सक्रिय राजनैतिक शक्ति होते हैं। इनमे से एक मध्यवर्ग है। यह वर्ग नगरो मे रहता है और व्यापार मे लगा होता है। यह क्रांति की नागरिक और राजनैतिक स्वतन्त्रताओ मे विशेष दिलचस्पी लेता है। दूसरा वर्ग औद्योगिक सर्वहारा वर्ग है। यह भी नगरो मे रहता है। लेकिन, यह वर्ग राजनैतिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा आर्थिक सुरक्षा को ज्यादा महत्त्व देता है। आधुनिक समाज मे इन दोनो वर्गों के बीच संघर्ष होता रहता है। अत, मूल प्रश्न यह है कि किस वर्ग का आधिपत्य कायम होता है। इस सिद्धान्त मे दो वर्गों का अस्तित्व और माना गया था—कृषक वर्ग और छोटे बोर्जुआ। ये वर्ग राजनैतिक दृष्टि से निष्क्रिय रहते है। हा उचित परिस्थितियो मे ये कुछ असर दिखा सकते हैं। मार्क्स का यह भी मत था कि कृषक वर्ग की विचारधारा छोटे बोर्जुआ वर्ग की विचारधारा होती है। यदि मार्क्स इगलैण्ड को अपना आदर्श मानता—इगलैण्ड मे पूंजीवादी कृषि व्यवस्था और मध्यवर्ग की प्रधानता रही है—तो सम्भवत उसका वर्गों का विश्लेषण यह न होता। मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष मे दो विरोधी वर्गों का अस्तित्व अनिवार्य मान लिया था। उसका विचार था कि इन दो विरोधी वर्गों मे सदैव संघर्ष होता रहता है। इस दृष्टि से मार्क्स ने अपने वर्ग-संघर्ष को बहुत आसान कर दिया था। यही कारण है कि उसकी कुछ भविष्यवाणिया बिल्कुल गलत सिद्ध हुईं। मार्क्स के सिद्धान्त मे यह माना गया था कि निम्न मध्य वर्ग सर्वहारा वर्ग मे शामिल हो जाएगा। लेकिन, उद्योगप्रधान समाजो मे वेतनभोगी कर्मचारियों, किरानियो, व्यावसायिक लोगो और छोटे दुकानदारो की वृद्धि हुई है। मार्क्स की योजना मे इन वर्गों को छोटे बोर्जुआ ही कहा जा सकता है। फासिज्म ने यह प्रमाणित कर दिया कि इस प्रकार के लोग सर्वहारा वर्ग मे शामिल होने का इतनी निर्दयता से विरोध करते है जिसकी मार्क्स कल्पना भी नही कर सकता था। पुन, औद्योगिक समाज मे कृषि की क्या अवस्था हो, यह केवल कृषक वर्ग की ही समस्या नही है। सम्पूर्ण उन्नीसवी शताब्दी मे किसान मार्क्सवादी सिद्धान्तशास्त्रियो और समाजवादी संगठनकर्त्ताओ के लिए सरदर्द बने रहे थे। जहा तक सामान्य किसानो तक का सम्बन्ध है—उदाहरण के लिए हम रूसी किसानो को ले सकते हैं—मार्क्स का सिद्धान्त भ्रामक सिद्ध हुआ था। क्रातिकारी के रूप मे लेनिन की सफलता का एक प्रधान कारण यह था कि उसने किसानो को उपेक्षा की दृष्टि से नही देखा हालाकि अधिकाश रूसी मार्क्सवादी उन्हें उपेक्षणीय समझते थे। सचाई यह है कि किसी भी समाज का वर्ग-संगठन विशेषकर औद्योगिक समाज का वर्ग-संगठन बड़ा जटिल होता है और केवल आर्थिक तत्त्वो के आधार पर ही उसकी पूरी तरह से व्याख्या नही की जा सकती। मार्क्स का सिद्धान्त वस्तुस्थिति का थोडा सा परिचय ही देता था। उसने इस सिद्धान्त का निर्माण विवादास्पद प्रयोजना के लिए किया था।

मार्क्स का सारांश

(Marx's Summary)

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त अनेक रचनाओं में बिखरा हुआ मिलता है। मार्क्स ने अपने एक अवतरण में अपने निष्कर्षों का सारांश प्रस्तुत किया है। स्पष्टता और शक्तिमत्ता की दृष्टि से यह अवतरण बेजोड़ है। यहां हम इस अवतरण को उद्धृत कर रहे हैं

"मनुष्य सामाजिक उत्पादन का जो कार्य करते हैं उसके दौरान वे आपस में एक निश्चित प्रकार के सम्बन्ध कायम कर लिया करते हैं। इन सम्बन्धों के बिना उनका काम नहीं चल सकता। अतः वे अपरिहार्य होते हैं और मनुष्यों की इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन के भौतिक तत्त्वों के विकास की विशिष्ट अवस्था के अनुरूप हुआ करते हैं। इन उत्पादन के सम्बन्धों के सम्पूर्ण योग से ही समाज का आर्थिक ढांचा बनता है और यही ढांचा असली नींव होता है जिस पर वैधिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का निर्माण होता है और इसी ढांचे के अनुरूप मनुष्यों की सामाजिक चेतना के निश्चित रूप हुआ करते हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की जो पद्धति होती है, उसी से जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का सामान्य रूप निर्धारित होता है। मनुष्यों का जीवन उनकी चेतना से निर्मित और निर्धारित नहीं होता, बल्कि उनके सामाजिक जीवन से उनकी चेतना बनती है। समाज के विकास में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब कि उत्पादन के भौतिक तत्त्वों और विद्यमान उत्पादन के सम्बन्धों—अर्थात् सम्पत्ति विषयक सम्बन्धों जिनके अन्तर्गत वे तत्त्व पहले से कार्य करते आए हैं—के बीच संघर्ष उठ खड़ा होता है। दूसरे शब्दों में ये सम्बन्ध उत्पादन के तत्त्वों के विकास में बाधा डालने लगते हैं। तब सामाजिक क्रांति का युग आरम्भ होता है। इस प्रकार, आर्थिक नींव के बदलने से सम्पूर्ण व्यवस्था शीघ्र ही बदल जाती है। इस परिवर्तन पर विचार करते समय उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों का भौतिक परिवर्तन जो प्राकृतिक विज्ञान की परिशुद्धता के साथ निर्धारित हो सकता है, और वैधिक, राजनीतिक, धार्मिक, सौंदर्य सम्बन्धी तथा दार्शनिक संक्षेप में वैचारिक रूपों जिनसे आदमी इस संघर्ष को समझने लगता है और उनसे जूझता है, के परिवर्तन के बीच सदैव ही भेद करना चाहिए ··· किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कोई सामाजिक व्यवस्था तब तक विलुप्त नहीं होती, जब तक कि उत्पादन के तत्त्व, जिनके लिए उनके भीतर गुंजाइश होती है, पूर्णतया विकसित नहीं हो जाते, और उत्पादन के नए, उच्चतर सम्बन्ध तब तक प्रकट नहीं होते जब तक कि पुराने समाज की कोख में ही उनके अस्तित्व के

लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ परिपक्व नहीं हो जाती। इसलिए, मनुष्य जाति उन्हीं समस्याओं को अपने हाथ में लेती है जिन्हें कि वह हल कर सकती है, बल्कि अधिक ध्यान से देखने पर हमें पता लगेगा कि कोई समस्या उठती ही तब है जबकि उसके हल करने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकती हैं अथवा कम से कम उत्पन्न होने लगती हैं।'[1]

मार्क्स ने उपर्युक्त अवतरण में सांस्कृतिक विकास के विषय में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, उसमें चार मुख्य बातें हैं। प्रथम, यह विभिन्न अवस्थाओं का अनुक्रम है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में वस्तुओं के उत्पादन और विनिमय की एक विशिष्ट व्यवस्था हुआ करती है। उत्पादन शक्तियों की यह व्यवस्था अपनी विशिष्ट और उपयुक्त विचारधारा का निर्माण करती है। इस विचारधारा में विधि और राजनीति तो शामिल हैं ही, सभ्यता के तथाकथित आध्यात्मिक तत्त्व भी शामिल हैं जैसे कि आचार, धर्म, कला और दर्शन। एक आदर्श प्रतिमान के रूप में प्रत्येक अवस्था पूर्ण और व्यवस्थित होती है। वह एक समन्वित इकाई होती है जिसमें वैचारिक तत्त्व उत्पादन की शक्तियों के साथ रच-पच जाते हैं। वास्तविक व्यवहार में उदाहरण के लिए 'कैपिटल' के विवरणात्मक और ऐतिहासिक अध्यायों में मार्क्स ने अपने सिद्धान्त की तार्किक कठोरता को कम कर दिया है। उत्पादन की शक्तियाँ एक ही समय में विभिन्न देशों में विभिन्न रीति से कार्य करती हैं। वे एक ही देश के विभिन्न उद्योगों में विभिन्न रूपों में होती हैं। उनमें पुरानी व्यवस्था के स्मारक और नई के अंकुर होते हैं। फलत, एक ही जनसंख्या में विभिन्न स्तरों की विभिन्न विचारधाराएँ होती हैं। दूसरे, सम्पूर्ण प्रक्रिया द्वंद्वात्मक है। उत्पादन की नयी विकासशील प्रक्रिया तथा पुरानी प्रक्रिया के बीच जो आन्तरिक संघर्ष होता है, वही इसकी प्रेरक शक्ति होती है। उत्पादन की नयी पद्धति अपने को एक विरोधी वैचारिक वातावरण में पाती है। नयी उत्पादन पद्धति के विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि पुरानी वैचारिक पद्धति नष्ट हो जाए। पुरानी पद्धति की विचारधारा नयी पद्धति का अधिकाधिक बहिष्कार करती है। इसके परिणामस्वरूप आन्तरिक खिंचाव और तनाव यहाँ तक बढ़ जाते हैं कि वे टूटने लगते हैं। उत्पादन की नयी व्यवस्था के अनुरूप ही एक नया सामाजिक वर्ग पैदा हो जाता है और उसकी अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार एक नयी विचारधारा होती है। इस नयी विचारधारा का पुरानी विचारधारा के साथ संघर्ष होता है। विकास का सामान्य क्रम यही रहता है। उत्पादन की नयी व्यवस्था के अनुरूप ही एक नयी विचारधारा बनती है, उसका पुरानी विचारधारा के साथ संघर्ष

---

1. *Critique of Political Economy*, Preface, Eng trans, by N I. Stone, pp 11 ff

होता है। इस सघर्ष के परिणामस्वरूप एक अन्य विचारधारा का उदय होता है और यह क्रम चलता रहता है। तीसरे, उत्पादन की पद्धति—वस्तुओं के उत्पादन की और उनका वितरण करने की पद्धति वैचारिक निष्कर्षों की तुलना मे सदैव महत्त्वपूर्ण होती है। भौतिक अथवा आर्थिक शक्तिया सदैव 'वास्तविक' अथवा सारवान् होती हैं। इसके विपरीत वैचारिक सम्बन्ध सदैव प्रतीयमान अथवा संघटनापरक होते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि वैचारिक सम्बन्धो का अस्तित्व नही होता अथवा वे वास्तविकता पर कोई प्रभाव नही डालते। तथापि, उनका पारस्परिक सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है, केवल कार्य-करण सम्बन्धी नही। यह भेद वही है जो हीगेल की शब्दावली में वास्तविकता अथवा महत्ता की श्रेणियो के बीच होता है। अन्तर सिर्फ यह है कि मार्क्स वैचारिक तत्वो को नही, प्रत्युत् भौतिक तत्त्वो को ही सारवान् मानता है। चौथे, द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया प्रस्फुटित होने की आन्तरिक प्रक्रिया है। समाज की उत्पादन शक्तिया पहले पूरी तरह विकसित हो जाती हैं। इसके बाद ही उनमे द्वन्द्वात्मक परिवर्तन होता है। चूंकि विचार सम्बन्धी ऊपरी रचना अन्तरग आध्यात्मिक तत्त्व के आन्तरिक विकास को ही प्रकट करती है, अत: चेतना के ऊपरी धरातल पर जो समस्या मालूम पड़ती है, उसका चेतना की और परतें खुलने पर सदैव ही समाधान सम्भव है। स्पष्ट है कि इस आध्यात्मिक निष्कर्ष का कोई व्यावहारिक प्रमाण नहीं मिलता।

द्वन्द्वात्मक पद्धति के सम्बन्ध मे एंगिल्स के विचार

(Engels on Dialectic)

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का सिद्धान्त १८५० के करीब पूरा कर लिया था। इसके बाद मार्क्स ने जो कुछ लिखा, उस सबमे इस सिद्धान्त को मान लिया गया था। लेकिन, इसका कही भी, कैपिटल तक मे विवरण नहीं दिया गया है। इसमे समाजवाद का विवेचन अपेक्षाकृत कम महत्त्व के आर्थिक सिद्धान्तो, उदाहरण के लिए अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त तक ही सीमित रहा है। इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे महत्त्व प्राप्त करने लगा था। अब इसका प्रभाव मार्क्सवादियों से इतर विचारकों पर भी पड़ने लगा। जनता जैविक विकास के साथ-साथ इसमे रुचि लेने लगी यद्यपि दोनों के बीच कोई विशेष तार्किक सम्बन्ध नहीं था। लेविस मोर्गन जैसे मानवशास्त्रियों ने मार्क्स पर निर्भर न रहते हुए भी प्रारम्भिक संस्कृतियो मे टैकनालॉजी के महत्त्व पर जोर दिया। जब समाजवादियों मे, विशेषकर जर्मनी के समाजवादियो मे ऐतिहासिक ज्ञान का विकास हुआ, तब उन्होने इतिहास की आर्थिक व्याख्या को लागू किया और उसकी पुनर्परीक्षा की। इस समय तक मार्क्स का स्वास्थ्य खराब हो गया था और १८८३ मे उसकी मृत्यु हो गई। उसके सिद्धान्त का और आगे

स्पष्टीकरण उसके मित्र फ्रेडरिक एंगिल्स ने किया।[1] यद्यपि एंगिल्स की व्यवहार-बुद्धि बड़ी तीव्र थी और वह बड़ा समझदार व्यक्ति था, लेकिन वह दार्शनिक रूप से बहुत मेधावी अथवा मौलिक नहीं था। उसने मार्क्स के खंड-ग्रन्थों की व्याख्या की, लेकिन उनमें जो अस्पष्टताएं थीं, वे यथावत् बनी रहीं।

जहां तक द्वंद्वात्मक पद्धति के स्वरूप का और इतिहास में उसके द्वारा प्रकट की गयी आवश्यकता का सम्बन्ध है, मार्क्स और एंगिल्स दोनों ही हीगेल पर निर्भर थे। हीगेल ने इस पद्धति के जो विशिष्ट प्रयोग किए थे, उन पर दोनों को आपत्ति थी। एंगिल्स का कहना था कि हीगेल के ऐसे प्रयोग सदैव ही मनमाने हुआ करते थे। मार्क्स और एंगिल्स दोनों ही द्वंद्वात्मक पद्धति की इस आदर्शवादी व्याख्या से सहमत नहीं थे कि वह चिंतन का आत्म-विकास है। इसके विपरीत उनका मत था कि वह चिंतन में व्यक्त प्रकृति का आत्म-विकास है। लेकिन, इससे यह परिणाम नहीं निकलता था कि हीगेल के मन्तव्य में कोई विशेष परिवर्तन कर दिया गया है। हीगेल का भी यह विश्वास था कि द्वंद्वात्मक पद्धति वास्तविकता में निहित विकास को प्रकट करती है। हीगेल का आध्यात्मिक तर्क मार्क्स के सम्पूर्ण चिंतन में एक बहुत बड़ा तत्त्व था। अन्तर सिर्फ यह था कि मार्क्स और एंगिल्स ने आदर्शवादी तत्त्वमीमांसा के स्थान पर भौतिकवादी तत्त्वमीमांसा प्रतिष्ठित कर दी थी। हीगेल की भांति ही एंगिल्स के लिए भी द्वंद्वात्मक पद्धति का महत्त्व यह था कि उसके आधार पर इतिहास में एक आवश्यक विकास का दर्शन किया जा सकता है।

"इस दृष्टिकोण (हीगेल के दर्शन) के कारण मानव जाति का इतिहास हिंसा के ऐसे मूर्खतापूर्ण मायों का एक भ्रांतिपूर्ण चक्र नहीं मालूम पड़ेगा जिन्हें अब परिपक्व दार्शनिक विवेक के न्यायासन के सामने समान रूप से निंदित ठहराया जा सके। इसके विपरीत वे मानवता के विकास की प्रक्रिया मालूम पड़ेंगे।"[2]

---

1 *Herrn Eugen Duhrings Umwalzung der Wissenschaft 1878.* (इस ग्रन्थ को सामान्य रूप से "Anti-Duhring" कहा जाता है और इसकी रचना में मार्क्स ने सहयोग दिया था), Eng trans by E Burns, *Herr Eugen Duhring's Revolution in Science*, New York, 1935 *Ludwig Feuerbach und der Ausgang der deutschen Philosophie*, (1884), Eng trans *Ludwig Feurbach and the Outcome of Classical German Philosophy*, New York, 1934. Letters to Conrad Schmidt, August 5 and October 27, 1890, July 1 and November 1, 1891, *Marx-Engels Correspondence*, 1846-1895, pp 472, 477, 487, 494, to J Bloch, September 21, 1890, *ibid*, p 475, to Franz Mehring, July 14, 1893, *ibid*. p. 510.

2 *Anti-Duhring*, Eng trans by E Burns, p. 30

फाउरबाख मे एंगिल्स ने प्रकृति को हीगेल के अर्थ में ही विवेकसम्मत माना है। वास्तविक अथवा विवेकसम्मत को अस्तित्व के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि जिस चीज का अस्तित्व है, उसका अधिकांश विवेकहीन और इसलिए अवास्तविक है। उदाहरण के लिए १७८९ मे फ्रांस के राजतन्त्र का अस्तित्व था, लेकिन वह वास्तविक नही था। दूसरे शब्दो मे हीगेल की भांति ही एंगिल्स के लिए भी 'वास्तविक' का अर्थ अस्तित्वशील नहीं, प्रत्युत् महत्त्वपूर्ण अथवा मूल्यवान है। इतिहास की प्रक्रिया हेतुपरक नहीं, प्रत्युत् प्रकरणात्मक और आत्मानुभूतिमूलक होती है। वास्तव में महत्त्वपूर्ण अपने को इसीलिए अस्तित्व मे ले आता है क्योंकि वह महत्त्वपूर्ण होता है। यह प्राय अरस्तू के प्रस्फुटनवाद के ढग पर होना है। सम्पूर्ण सकल्पना हीगेल की विचारधारा के समान रहस्यवादी थी। यद्यपि मार्क्स तथा एंगिल्स की भौतिकवाद में आस्था थी, फिर भी वे हीगेल की भांति ही इतिहास की आवश्यकता को नैतिक आवश्यकता समझते थे। एंगिल्स के अनुसार इतिहास सभ्यता की आन्तरिक शक्तियों के द्वारा सभ्यता का क्रमिक विकास होता है। इस आवश्यकता के आधार पर उनका यह विश्वास दृढ़ हो गया था कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति अवश्य सफल होगी। यह प्राय उसी प्रकार था जैसे कि हीगेल को जर्मनी के मिशन मे पूरा विश्वास था।

एंगिल्स ने फाउरबाख मे द्वन्द्वात्मक पद्धति का जो विवरण दिया है, उसके अनुसार मार्क्स और हीगेल मे मुख्य अन्तर यह था कि मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का भौतिकवादी रूप अपनाया था। इसके अनुसार विचार शक्तियां नही होते, जैसे कि हीगेल समझता था, प्रत्युत् वे "वास्तविक वस्तुओं के चित्र", "वास्तविक ससार के द्वन्द्वात्मक विकास के सचेतन प्रतिबिम्ब" होते हैं। एंगिल्स का विचारो को चित्रों के रूप में प्रस्तुत करने का सिद्धान्त उसकी मृत्यु के बाद विशेष महत्त्वपूर्ण हो गया क्योंकि लेनिन ने अपने ग्रन्थ *Materialism and Empirio-Criticism* मे इसे उद्धृत किया था। 'चित्र' शब्द को वैज्ञानिक सिद्धान्त से लेकर मतिभ्रम तक के प्रत्येक विचार के लिए प्रयुक्त करना व्यर्थ का आडम्बर था। इसके दो अर्थ थे। इसका एक अर्थ तो यह था कि आर्थिक शक्तियों की तुलना मे विचारधारा अपेक्षाकृत महत्त्वहीन वस्तु होती है और दार्शनिक आदर्शवाद का प्रत्येक रूप एक प्रकार का 'रहस्य' होता है, जिसका वास्तविक प्रयोजन प्रतिक्रिया का समर्थन करना होना है। इसका दूसरा अर्थ यह था कि इस ससार मे विचारो के वास्तविक प्रतिरूप होते हैं। इस दृष्टि से यह आत्मनिष्ठवाद को अस्वीकार करने का एक आलकारिक ढग था। यद्यपि आत्मनिष्ठवाद कभी कोई गम्भीर दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं रहा है, फिर भी एंगिल्स के लिए काट और ह्यूम को इस दृष्टि से देखना सुविधाजनक था। एंगिल्स का आधुनिक दर्शन के सम्बन्ध मे विवेचन बहुत संक्षिप्त है। उसने कहा कि प्रत्येक दर्शन का या तो आदर्शवादी होना चाहिए और या भौतिकवादी। इस एक वाक्य मे उसने ह्यूम से लेकर काट तक की समस्त आध्यात्मिकता-विरोधी परम्परा को छिन्न-भिन्न कर दिया। एंगिल्स का वास्तव मे यह विश्वास था कि उसके

तर्क को सिर्फ यह कह कर काटा जा सकता है कि अनुभवपरक पुष्टि जैसी एक क्रिया का भी अस्तित्व होता है। सचाई यह है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति के सम्बन्ध में आलोचना का प्रश्न आध्यात्मिक बिलकुल नहीं था। प्रश्न यह था कि ह्यूम और कांट ने हेतुपरक निष्कर्ष और मूल्यांकन में बीच जो पद्धति विषयक भेद किया था, क्या वह ठीक था।

एंगिल्स ने फायरबाख में यह स्पष्ट कर दिया था कि उसे और मार्क्स को द्वन्द्वात्मक पद्धति मुख्य रूप से इसलिए प्रिय थी क्योंकि वह रूढ़िवाद का नाश कर देती है। उसका कहना था कि अपने इसी गुण के कारण हीगेल का दर्शन एक क्रान्तिकारी दर्शन बन गया था।

"सत्य जिसका ज्ञान दर्शन का कार्य है, हीगेल के हाथों में ऐसे पूर्ण रूढ़िवादी वक्तव्यों का संकलन नहीं रहा जिन्हें एक बार खोज लेने पर जबानी याद रखना पड़ता। अब सत्य ज्ञान की प्रक्रिया में, विज्ञान के लम्बे ऐतिहासिक विकास में निहित था। यह ऐतिहासिक विकास ज्ञान के निम्न स्तरों से उच्च स्तरों की ओर निरन्तर बढ़ता है। वह तथाकथित निरपेक्ष सत्य की खोज के द्वारा ऐसे किसी बिन्दु पर कभी नहीं पहुंच पाता जहां से उसे और आगे न जाना पड़े और जहां उसे इसके अतिरिक्त और कोई कार्य न करना पड़े कि वह अपने हाथ जोड़ दे और उस निरपेक्ष सत्य की जिसे उसने प्राप्त कर लिया है, सराहना करे।"[1]

न तो विज्ञान में कुछ स्थायी स्पष्ट सत्य होते हैं और न समाज में कुछ प्राकृतिक और अविच्छेद्य अधिकार होते हैं। कोई भी चीज निरपेक्ष, अन्तिम, अथवा पवित्र नहीं होती। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि कोई भी वैज्ञानिक सिद्धान्त अथवा सामाजिक प्रथा अपने काल तथा परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही अनुकूल हो सकती है। जो भी सिद्धान्त अथवा प्रथाएं प्रचलित होती हैं, वे अनुकूल होती हैं। उनकी अनुकूलता उनके प्रचलन से ही पुष्ट हो जाती है। लेकिन, यह निश्चित है कि समय बीतने और परिस्थितियां बदलने पर वे लुप्त हो जायेंगी और उनके स्थान पर कोई उच्चतर वस्तु आ जायेगी। कोई चीज नहीं रहती, केवल एक चीज रहती है निम्नतर से उच्चतर स्तर की ओर बढ़ने की प्रक्रिया। एंगिल्स के तर्क में कठिनाई यह है कि उसने "उच्चतर" की कोई कसौटी नहीं बतायी है। उसका यह विश्वास है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति आगे की दिशा में एक कदम होगा। यह बात समझ में नहीं आती कि आगे का कदम पिछले कदम से उन्नत ही क्यों हो? इस प्रश्न का उत्तर एंगिल्स का प्रगति में विश्वास मात्र है।

मार्क्स और एंगिल्स का कभी-कभी यह विचार होता था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति एक कामचलाऊ उपकल्पना है और इसके आधार पर कोई ठोस निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। यह सम्भवतः कांट की शिक्षा का प्रभाव था। उन्नीसवीं शताब्दी की तीसरी

---

1. *Ludwig Feuerbach*, Eng trans., p 11

चौथाई मे इस प्रभाव से बचना मुश्किल था। यह एक "विषयन" भी था जिस पर संशोधनवादी मार्क्सवादी जोर देते थे। जब १९०९ मे रूस के मार्क्सवादियों में भी यह प्रवृत्ति पैदा हुई, तो लेनिन ने इसका प्रतिवाद किया। यदि द्वंद्वात्मक पद्धति को केवल एक कामचलाऊ उपकल्पना माना जाता, तो उसका नैतिक प्रभाव शून्य हो जाता। उदाहरण के लिए एंगिल्स ने एंटी डूहरिंग म लिखा था कि द्वंद्वात्मक पद्धति कोई चीज सिद्ध नहीं करती, वह तो अनुसंधान के नए क्षेत्रों को उन्नत करने का साधन मात्र है और वह एक तत्त्वमीमांसा अथवा इतिहास के दर्शन से छुटकारा दिला देती है। मार्क्स ने इससे भी अधिक स्पष्ट बात कही है। उसने अपने एक पत्र मे जो उसने १८७७ में एक रूसी संवाददाता को लिखा था, कहा था कि कैपिटल मे आरम्भिक संचयन का जो विवरण दिया गया है, उससे सिर्फ यही पता चलता है कि पश्चिमी यूरोप की सामन्ती अर्थव्यवस्था में पूंजीवाद किस रास्ते से चल कर पहुंचा है। उसने अपने एक ऐसे आलोचक से विरोध प्रकट किया जिसने उसके विवरण को रूस पर लागू करके एक ऐतिहासिक रेखाचित्र को "उस सामान्य यात्रा के एक ऐतिहासिक दार्शनिक सिद्धान्त का रूप दे दिया जो नियति प्रत्येक राष्ट्र पर आरोपित करती है।"

"यदि हम विकास के इन रूपों का अलग-अलग अध्ययन करें और फिर उनकी तुलना करें, तो हम इस घटना का (एक सी परिस्थितियों मे विभिन्न ऐतिहासिक परिणामों का) रहस्य पा सकते हैं। लेकिन हम किसी सामान्य ऐतिहासिक-दार्शनिक सिद्धान्त के—इस सिद्धान्त का सब से बड़ा गुण अति-ऐतिहासिक होना है—सार्वभौम पासपोर्ट के द्वारा वहां तक नहीं पहुंच सकते।"[1]

यदि हम इस वक्तव्य को सही मानते हैं, तो द्वंद्वात्मक पद्धति का अभिप्राय तुलनात्मक पद्धति होगा। यह पद्धति उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम चौथाई में मानव विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी लोकप्रिय रही है। इस पत्र मे एंगिल्स ने उन तरुण जर्मन समाजवादियों की भी आलोचना की है जो इतिहास का अध्ययन न करने के बहाने के रूप में ऐतिहासिक भौतिकवाद का प्रयोग करते हैं। फिर भी यह निश्चित है कि मार्क्स पूंजीवाद के इतिहास को अनुभवपरक इतिहास नहीं मानता था। यदि उसकी ऐसी धारणा होती, तो वह कैपिटल की प्रस्तावना में उन प्रवृत्तियों की जो अनिवार्य भाव से एक अपरिहार्य लक्ष्य की ओर उन्मुख होती हैं और विकास की स्वाभाविक अवस्थाओं की चर्चा न करता और न यही कहता कि औद्योगिक दृष्टि से जो देश आगे बढ़ा हुआ होता है वह दूसरे देशों को उनके अपने विकास की झांकी दिखा देता है। या तो द्वंद्वात्मक पद्धति एक ऐसी पद्धति है जिसके आधार पर ऐतिहासिक भविष्यवाणी सम्भव हो जाती है अथवा मार्क्सवादी इतिहासकार के पास भी वही पद्धतियां हैं जिनका अन्य इतिहासकार प्रयोग करते हैं। यदि द्वंद्वात्मक पद्धति केवल एक कामचलाऊ उपकल्पना है, तो यह कथन सत्य प्रमाणित नहीं होता कि सर्वहारा वर्ग की क्रांति "अपरिहार्य" है।

1. *Marx-Engels Correspondence. 1846-1895*, pp. 354 f

आर्थिक नियतिवाद के सम्बन्ध में एंगिल्स के विचार

(Engels on Economic Determinism)

एंगिल्स ने द्वंद्वात्मक पद्धति के बारे में दो दृष्टियों से विचार किया है। एक तो उसने द्वंद्वात्मक पद्धति के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है और दूसरे उसने इतिहास की आर्थिक व्याख्या के क्षेत्र में द्वंद्वात्मक पद्धति के उपयोग के बारे में विचार किया है। १८९० और १८९४ के बीच उसने जो पत्र लिखे थे और जिनकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं, उनमें उसने इस बात पर विचार किया था कि इस तरह की व्याख्या कहाँ तक सम्भव अथवा उपयोगी हो सकती है। दल के कुछ तरुण सदस्य द्वंद्वात्मक पद्धति के बारे में बहुत बढ़-चढ़ कर दावे किया करते थे। एंगिल्स का मुख्य उद्देश्य इस भ्रम का निवारण करना था। उसने यह स्वीकार किया कि उसने तथा मार्क्स ने एक नए विचार को प्रस्तुत किया था और इसलिए स्वभावतः उनसे कुछ अतिशयोक्ति हो गई थी। उसका कहना था कि सम्पूर्ण इतिहास के लिए आर्थिक कारणों की खोज नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ जर्मन भाषा व्यंजन प्रधान है—इसका सम्भवतः कोई आर्थिक कारण नहीं दिया जा सकता। यह उदाहरण कुछ विचित्र सा था। यह भाषा के इतिहास से सम्बन्धित था। भाषा संस्कृति सापेक्ष होती है। यह समझ में नहीं आता कि एंगिल्स ऐसी बात कैसे कह गया। एंगिल्स का कहना है कि धर्म और पुराणकथा के क्षेत्र में आर्थिक शक्तियाँ सकारात्मक रूप से नहीं, प्रत्युत् नकारात्मक रूप से कार्य करती हैं। उसने यह स्वीकार किया कि आर्थिक शक्तियों के सामान्य ढाँचे के भीतर राजनैतिक अथवा राजवंशीय सम्बन्ध भी व्यापक ऐतिहासिक प्रभाव डाल सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रशा का लिया जा सकता है। प्रशा का उत्थान ब्रैंडेनबर्ग से हुआ था, जर्मनी के अन्य किसी छोटे राज्य से नहीं। एंगिल्स ने यह भी माना कि विधान आर्थिक विकास के कुछ रास्तों को बन्द कर सकता है और कुछ को खोल सकता है यद्यपि वह उसके मुख्य प्रवाह को नहीं बदल सकता। उसका कहना था कि मार्क्स का यह विचार कभी नहीं रहा था कि आर्थिक शक्तियाँ ऐतिहासिक परिवर्तन की एकमात्र कारण हैं। वे 'केवल अन्तिम' अथवा मूल' कारण हैं। आर्थिक तत्त्व सब से शक्तिशाली, सब से प्राथमिक और सब से निर्णायक होता है।"

अन्त में, एंगिल्स ने द्वंद्वात्मक पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह बतायी कि वह ऐतिहासिक स्थिति में विद्यमान विविध पद्धतियों की क्रिया-प्रतिक्रिया पर भी पूरा ध्यान देती है।

'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार अन्तिम रूप से निर्णायक तत्त्व वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है। इससे अधिक न मैंने कभी आग्रह किया है और न मार्क्स ने। जब कभी कोई इसको विकृत करके यह कहने लगता है कि आर्थिक तत्त्व ही एकमात्र तत्त्व है, तो वह इस कथन को, निरर्थक, काल्पनिक और

मूर्खतापूर्ण बना देता है। आर्थिक परिस्थिति आधार है। लेकिन ऊपरी ढांचे के विविध तत्त्व—वर्ग-संघर्षों के राजनैतिक रूप और उनके परिणाम, संविधान, वैधिक रूप, और संघर्ष में भाग लेने वाले व्यक्तियों के राजनैतिक, वैधिक, दार्शनिक और धार्मिक विचार, इन सब का ऐतिहासिक संघर्षों पर असर पड़ता है और कभी-कभी वे निर्णायक सिद्ध होते हैं।"[1]

जब इतनी सारी रियायतें कर दी जाती है, तब यह समझ में नहीं आता कि इतिहास की आर्थिक व्याख्या में ऐसी क्या चीज रह जाती है जिस पर बोर्जुआ इतिहासकार को आपत्ति होगी अथवा जिसके स्पष्टीकरण के लिए द्वन्द्वात्मक पद्धति की आवश्यकता होगी। एंगिल्स के कथन का सारांश यह है कि मार्क्स ने सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में एक ऐसे तत्त्व को प्रधानता दी जो अब तक उपेक्षित था। यह तत्त्व था कि राजनैतिक और वैधिक संस्थाएं पदार्थों के उत्पादन और विनिमय की प्रणाली पर आधारित रहती हैं। यह निश्चित रूप से एक महत्त्वपूर्ण खोज थी और इसका श्रेय मुख्य रूप से मार्क्स को प्राप्त होना चाहिए। समय बीतने के साथ-साथ इतिहास में आर्थिक तत्त्वों का महत्त्व बढ़ता गया है और इस तथ्य की मान्यता केवल मार्क्सवादियों तक ही सीमित नहीं है। सम्भवतः अब इस बात को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाएगा कि उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में व्याख्या के जो अनेक सिद्धान्त विकसित हुए, उनमें इस सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तथापि, यह समझ में नहीं आता कि जब एंगिल्स ने यह कहा कि सामाजिक रचना में आर्थिक तत्त्व "सब से प्राथमिक और सब से निर्णायक है" तब उसका क्या विचार था। यदि उसकी यह बात सच है कि विधि तथा राजनीति आर्थिक विकास के कुछ द्वारों को खोल देती हैं और कुछ को बन्द कर देती हैं, तो वे इस सीमा तक निर्णायक होनी चाहिए और यह तथ्य कि वे सर्वशक्तिमाली नहीं हैं, उन्हें अनिर्णायक नहीं बनाता। 'प्राथमिक' जैसा शब्द द्वन्द्वात्मक पद्धति की आध्यात्मिक उत्पत्ति का ही संकेत देता है। समाज की उत्पादन शक्तियां, उत्पादन मानव-सम्बन्ध, वर्गों का संगठन और उनके विरोध, प्रत्येक वर्ग में विकसित कला, धर्म और आचार विषयक विचार नव्य प्लेटोवादी स्थापनाओं की भांति वास्तविकता से दूर की अवस्थाएं हैं। यह मार्क्स के यथार्थवाद की विशेषता है कि उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति की पौराणिकता ने उसके ऐतिहासिक विश्लेषण में कोई बाधा पैदा नहीं की। द्वन्द्वात्मक पद्धति कितनी मूर्खतापूर्ण बातों को जन्म दे सकती है, इसका एक उदाहरण एंगिल्स का यह आग्रह है कि ऐतिहासिक व्यक्ति केवल संयोग होते हैं। यदि नैपोलियन पैदा न हुआ होता, तो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया एक स्थानापन्न पैदा कर लेती।

---

1. Quoted by E. R. A. Seligman. *The Economic Interpretation of History* (1902); pp 142 f. *Der Sozialistische Akademiker* में प्रकाशित एक पत्र से, १५ अक्तूबर, १८९५।

मार्क्स ने विचारधारा और आर्थिक पद्धति से उसके सम्बन्ध के बारे में संक्षिप्त रूप से अपने विचार प्रकट किए थे। एंगिल्स ने अपने पत्रों में इन विचारों का विस्तार किया। एंगिल्स के विवेचन की मुख्य विशेषता यह थी कि उसने विचारधारा को दो भागों में बांटा तथा प्रत्येक भाग पर अलग-अलग विचार किया। समाज द्वारा खड़ी की गई आदर्श संरचना के एक भाग में तो विज्ञान और टैक्नालॉजी आती हैं तथा दूसरे में विधि, आचार, कला, दर्शन और धर्म। स्पष्ट है कि पहला भाग उत्पादन की शक्तियों को निर्धारित करने में अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि टैक्नालॉजी अधिकतर वैज्ञानिक पद्धति पर निर्भर होती है। विज्ञान के आर्थिक निधारण के बारे में एंगिल्स का अधिक-से-अधिक यही दावा था कि वैज्ञानिक जिन समस्याओं का अनुसंधान करते है, वे अधिकतर औद्योगिक व्यवस्था की सृष्टि होती हैं। वैज्ञानिकों की खोजें सामाजिक दृष्टि से इसलिए महत्त्वपूर्ण होती हैं क्योंकि वे टैक्नालॉजी पर असर डालती हैं। एंगिल्स का विचार था कि वैज्ञानिक सिद्धान्त का सत्य इस आधार पर स्पष्ट किया जाता है कि वह वस्तुओं का अविकल "चित्र" होता है। जहां तक विचारधारा का अभिप्राय विज्ञान था, मार्क्सवादी दृष्टिकोण में एंगिल्स के दर्शन ने एक विरोधाभास प्रकट किया---उत्पादन की वस्तुपरक शक्तियों का आत्मपरक विचारधारा के द्वारा स्पष्टीकरण किया। स्पष्ट है कि उसे यह नहीं सूझा कि कोई व्यक्ति वैज्ञानिक सत्य की संकल्पना के लिए एक आर्थिक आधार खोजने का प्रयास करेगा। यदि मार्क्सवाद की दृष्टि में विज्ञान भी उसी धरातल पर प्रतिष्ठित है जिस पर कि आचार, कला और धर्म प्रतिष्ठित हैं, तो इस प्रश्न की ओर अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिए था। इस दृष्टि से किसी समाज में सत्य की जो कसौटी मानी जाती है, वह उस समाज के वर्ग-संगठन पर निर्भर होनी चाहिए। सर्वहारा वर्ग का विज्ञान बोर्जुआ वर्ग के विज्ञान से भिन्न हो सकता है। बाद के मार्क्सवादियों ने यह बात बड़े आग्रह के साथ कही है। यदि इस सिद्धान्त को इसके तार्किक निष्कर्ष तक पहुंचाया जाए, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि विभिन्न सामाजिक वर्गों के व्यक्तियों के बीच सम्प्रेषण नहीं हो सकता। कम कठोरता से लागू किए जाने पर इस विचार ने कि सत्य के मानव कुछ विषयों में सामाजिक स्थिति पर निर्भर रहते हैं, ज्ञान के समाजशास्त्र नामक एक नए शास्त्र को जन्म दिया है।[1] लेनिन ने समाज में बुद्धिजीवियों के वर्ग को असाधारण महत्त्व दिया, इसके कारण इस विषय की महत्ता और बढ़ गई है। तथापि, यह मानने का कोई कारण नहीं है कि एंगिल्स ने विज्ञान को विचारधारा की एक शाखा समझने के समस्त निष्कर्षों की पूर्वकल्पना कर ली थी।

---

1. उदाहरण के लिए कार्ल मैनाहिम के *Ideology and Utopia*, An Introduction to the Sociology of Knowledge को देखिए। इसका अंग्रेजी अनुवाद लुई वर्थ और एडवर्ड शिल्स, १९३६ ने किया है। इस पुस्तक में एक लम्बी सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची दी हुई है।

वैचारिक संरचना के अन्य भागों का एंगिल्स ने भिन्न रीति से विवेचन किया है। मनुष्य विधि, आचार, राजनीति, कला, धर्म और दर्शन को जिस आधार पर उचित ठहराते हैं, वह आधार ही गलत है। यह आधार उनके विशिष्ट वर्गगत स्वार्थों के कारण उत्पन्न हो जाता है। यहां विचारक अपने प्रेरक उद्देश्यों से परिचित नहीं है। वह सोचता है कि उसके विचार अपने आप ही सही हैं। एंगिल्स का मत था कि न्याय और स्वतन्त्रता जैसी सकल्पनाएं तथा सौंदर्यात्मक, नैतिक और धार्मिक भावनाएं जब वे किसी विशिष्ट सामाजिक सन्दर्भ से सम्बन्ध नहीं रखतीं, इसी श्रेणी में आती हैं। इस प्रवृत्ति को आजकल "विवेकीकरण" नाम दिया जाता है। यह काल्पनिक चिंतन का समर्थन करने का अथवा वर्ग-हितों को आदर्श रूप देने का प्रयत्न है। इसके साथ ही एंगिल्स ने समस्त विचारधाराओं को झूठा नहीं समझा था। सर्वहारा वर्ग की विचारधारा बूर्जुआ वर्ग की विचारधारा से दो कारणों से ऊंची होती है। पहला कारण यह है कि मार्क्स का दर्शन सर्वहारा व्यक्ति के सामने यह स्पष्ट कर देता है कि नैतिकता, कला तथा दर्शन विषयक उसके विचार उसके वर्ग पर तथा वर्ग-संघर्ष में उसकी स्थिति पर निर्भर होते हैं। इस तर्क का अभिप्राय यह मालूम पड़ता है कि कोई अभिमान यदि उसे विवेकपूर्ण ढंग से समझ लिया जाए और उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से स्वीकार किया जाए, एक पक्षपात की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक उच्च नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित होता है। नैतिक आदर्शवाद के समस्त दर्शनों में यह एक मान्य और स्वीकृत सिद्धान्त है। लेकिन, जो दर्शन अपने को भौतिकवादी कहता है, उसमें यह जरा आश्चर्यजनक मालूम पड़ता है। दूसरे, सर्वहारा वर्ग एक विकासशील वर्ग है। वर्तमान ऐतिहासिक युग में वह प्रमुखता की स्थिति ग्रहण करने वाला है। आसन्न भविष्य में उसकी विचारधारा ही प्रभावी विचारधारा होगी। यह तर्क उतना ही सशक्त है जितनी कि उसकी मूल स्थापना अर्थात् प्रत्येक युग में एक न एक वर्ग प्रधान होता है और अब सर्वहारा वर्ग के प्रधान होने की बारी है।

विचारधारा के विषय में मार्क्स की सकल्पना बहुत अर्थपूर्ण उपकल्पना थी। लेकिन, अनेक उपकल्पनाओं की भांति उसने समस्याओं को उभार दिया, उनका समाधान नहीं किया। यदि इस कथन का कि विश्वास और विचार व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति तथा आर्थिक अवस्था को प्रकट करते हैं, इससे अधिक कोई अभिप्राय नहीं था कि मनुष्य अपने स्वार्थों द्वारा गलत रास्ते पर चलते हैं, तो यह मुश्किल से ही एक खोज होगी। वास्तव में, मार्क्स ऐसी कोई सामान्य बात नहीं कहना चाहता था। इस सकल्पना का महत्व इस तथ्य पर आधारित था कि सम्बद्ध प्रभाव बड़े सूक्ष्म होते हैं तथा वे ऐसी रीतियों द्वारा कार्य करते हैं जो स्पष्ट नहीं होतीं। सकल्पना के आधार पर उचित निष्कर्ष उसी समय निकाले जा सकते हैं जब हम यह जानें कि ये प्रभाव मनुष्यों के दिमागों पर किस प्रकार कार्य करते हैं। पुनः, सामाजिक वर्ग के प्रभाव मनुष्य के अन्तःसम्बन्धों तथा अन्तर्वैयक्तिक प्रभावों पर निर्भर होते हैं और वे दिमागों

पर वही सूक्ष्म तथा अप्रत्याशित रीतियों से असर डालते हैं। इसलिए 'विवेकीकरण' अत्यन्त कठिन तथा जटिल मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यह इसके बावजूद है कि दार्शनिक अविशेषज्ञ इसका बड़ी सुगमता से प्रयोग करते हैं। मुख्य समस्या मनोवैज्ञानिक हेतुवाद की अथवा यह जानने की है कि सामाजिक प्रभाव किसी विशिष्ट व्यक्ति के गठन का किस प्रकार निर्माण करते हैं।[1] विचारधारा की इस संकल्पना का सब से महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक परिणाम यह हुआ कि इसने सामाजिक मनोविज्ञान के लिए इस प्रकार की समस्याएं प्रस्तुत कीं। इन समस्याओं का विश्वस्त उत्तर मनोवैज्ञानिक अनुसंधान से ही उपलब्ध हो सकता है।

सामान्य रूप से मार्क्सवाद की प्रवृत्ति वर्गों को व्यक्ति का रूप देने की और व्यक्ति की भांति ही उन्हें एक सामूहिक व्यक्तित्व से मंडित करने की थी। मार्क्स और एंगिल्स का यह विचार था कि प्रत्येक सामाजिक वर्ग सामान्य रूप से अपने हित में कार्य करेगा और वह एक ऐसी विचारधारा का निर्माण करेगा जो उसके उत्थान में और उसे सत्तारूढ़ रखने में मदद दे। मार्क्स का वर्ग अपने स्वार्थ की उसी निर्भ्रान्त निश्चय के साथ सिद्धि करता है जिसके साथ परम्परागत अर्थशास्त्रियों का आर्थिक मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि करता था। जहां एक बार विचारधारा के उत्थान को कार्य-कारण की शब्दावली में समझा जाता है, इस बात का कोई स्पष्ट कारण नहीं है कि ऐसा क्यों हो। किसी वर्ग-विशेष के विचार अथवा व्यवहार उसी प्रकार हानिकर हो सकते हैं जिस प्रकार कि तनावग्रस्त व्यक्ति अक्सर विवेकहीन होकर कार्य करते हैं। दूसरी ओर, अन्य वस्तुओं की भांति वर्गों के लिए भी यह आवश्यक है कि उनके अन्दर अपने विघटन के बीज विद्यमान हों। इसलिए, एक स्थिति वह आती है जबकि वर्ग का व्यवहार उसके लिए हानिकर हो जाता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त के निर्माण में बुद्धिजीवियों के योग के बारे में लेनिन का जो तर्क था, उसमें कुछ इस तरह की धारणा निहित थी। उसने इस बात का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है, लेकिन वह यह मानता था कि मध्यवर्ग कुछ ऐसे बुद्धिजीवियों को पैदा करता है जो अपने वर्ग के विनाश का सिद्धान्त निर्मित करता है। सचाई यह है कि ये दोनों ही प्रवृत्तियां अर्थात् वर्ग अपनी रक्षा अपने आप करते हैं अथवा वर्ग अपना विनाश अपने आप करते हैं, इतनी अस्पष्ट हैं कि उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। जरूरत इस बात की है कि हम उन रीतियों की पूर्ण मनोवैज्ञानिक परीक्षा करें जिनमें सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियां मनुष्य की मनोवृत्ति पर प्रभाव डालती हैं। इस परीक्षा में इस उपकल्पना को आधार बनाने का कोई कारण नहीं है कि आर्थिक शक्तियां एक प्रमुख भाग लेती हैं। फ्रायड के मनोविज्ञान ने यह बता दिया है कि मनुष्य जिन मूल वृत्तियों से सचालित होता है। ये वृत्तियां आर्थिक नहीं होतीं। इन वृत्तियों के कारण वह "झूठी चेतना" पैदा हो जाती है जो एंगिल्स

---

1 गार्डनर मर्फी ने अपने ग्रन्थ *Personality* (१९४७), अध्याय ३३-३५ में आर्थिक परिस्थितियों पर व्यक्तित्व की निर्भरता का विवेचन किया है।

विचारधारा से सम्बन्धित मानता था। अब तक मनोविश्लेषण ने सामाजिक मनोविज्ञान को आर्थिक व्याख्या की अपेक्षा अधिक समृद्ध किया है।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या का राजनैतिक और सामाजिक सिद्धान्त के लिए असंदिग्ध महत्त्व है।[1] इसने यह स्पष्ट कर दिया है कि टेक्नालॉजी, परिवहन, कच्चे पदार्थों की पूर्ति, धन के वितरण और वित्त जैसे आर्थिक तत्त्वों ने सामाजिक वर्गों के संगठन, भूतकालीन और वर्तमानकालीन राजनीति, विधि तथा नैतिक और सामाजिक विचारों के निर्माण पर कितना व्यापक प्रभाव डाला है। उदारवादी सिद्धान्त के आरम्भिक रूपों ने राजनैतिक संस्थाओं के उपयोगितावादी सामंजस्य और आर्थिक उत्पादन के 'प्राकृतिक' नियमों के बीच जो कृत्रिम भेद खड़ा कर दिया था, उसने इसे सदैव के लिए समाप्त कर दिया। आरम्भिक राजनैतिक सिद्धान्त के विविध वादों के अन्तर्गत राजनैतिक समस्याओं पर विचार करने के लिए जो विविध उपाय उपलब्ध थे, मार्क्सवाद ने उन्हें समझने के लिए कहीं अधिक यथार्थपरक उपाय प्रदान किए। राजनैतिक सिद्धान्त को समाजशास्त्र मानवशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान के संदर्भ में लाने में इस तत्त्व का सब से अधिक योग रहा है। यह तथ्य कि मार्क्स का सिद्धान्त इन प्रवृत्तियों के विकास में एकमात्र तत्त्व नहीं था, उसकी मौलिकता को कम नहीं कर देता। उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक सिद्धान्त के क्षेत्र में जो नयी बातें हुईं, उनमें इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है। इस परम्परागत आलोचना में कि मार्क्स ने इतिहास में आर्थिक तत्त्वों के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ा कर प्रदर्शित किया, कोई जान नहीं है। इन तत्त्वों का महत्त्व वास्तव में बहुत अधिक होता है और कोई नहीं जानता कि कितना अधिक आर्थिक तत्त्वों पर मार्क्स की अपेक्षा मार्क्सवादियों ने अधिक ज़ोर दिया है। उन्होंने तो आर्थिक कारणों को आध्यात्मिक तत्त्व तक मान लिया है। मार्क्स की प्रक्रिया की अधिक गम्भीर आलोचनाएँ दी थीं। प्रथम, उसने अत्यधिक जटिल सामाजिक और राजनैतिक व्यापार को बड़े सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। दूसरे, उसने हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले, जो उसमें वास्तव में निहित नहीं थे।

अति सरलीकरण की त्रुटि का आंशिक कारण यह था कि वैज्ञानिक उपकल्पना अपने आरम्भिक चरण में थोड़ी-बहुत दोषपूर्ण होती ही है। मार्क्स के सन्दर्भ में इसका

---

1 मूल्यांकन और आलोचना के लिए मैक्स वेबर के निबन्ध को देखिए "*Die 'objektivitat sozial wissenschaftlicher und sozial politiker Erkenntnis*। जब मैक्स वेबर ने *Archiv fur Sozial wissenschaft und Soziol politik* का १९०४ में सम्पादन ग्रहण किया था, तब उसने सम्पादकीय नीति को स्पष्ट करते हुए यह लेख लिखा था। इसका अनुवाद एडवर्ड शिल्स और हेनरी ए फिन्च द्वारा प्रस्तुत *Max Weber on the Methodology of the Social Sciences* में मिलता है। (ग्लेनको इल्लिनोइस, १९४९), पृ० ५०।

कारण यह भी था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति का निर्माण और बाद में उसका प्रयोग विवादास्पद प्रयोजनों के लिए हुआ था। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त काफी हद तक १८४०–५० के बीच फ्रांस के क्रान्तिकारी उपद्रवों के उसके निरीक्षण पर आधारित था। मार्क्स ने आधुनिक समाज के वर्ग-संगठन का अपना विश्लेषण इसी स्थिति के ऊपर आधारित किया था। लेकिन, इस विश्लेषण का सामान्यीकरण कुछ ऐसे प्रश्न उठा देता है, जिनका आसानी से उत्तर नहीं दिया जा सकता। वह स्थिति कैसी थी जिसका मार्क्स ने विश्लेषण किया है। यदि मार्क्स इंगलैण्ड अथवा रूस की राजनीति में उतना ही भाग लेता जितना उसने १८४०–५० में फ्रांस और जर्मनी की राजनीति में भाग लिया था, तो क्या उसके निष्कर्ष वही होते ? यदि नहीं, तो फ्रांस की स्थिति अन्य किसी स्थिति की अपेक्षा क्या अधिक विशिष्ट थी ? यदि वह विशिष्ट थी, तो क्या इसका अभिप्राय यह है कि समस्त उद्योग-प्रधान समाजों का विकास इसी ढंग से होगा ? ऊपर हमने रूस में समाजवाद के विकास के बारे में मार्क्स के जिस पत्र का उद्धरण दिया है, उससे प्रकट होता है कि मार्क्स का गम्भीरता से ऐसा विश्वास नहीं था यद्यपि कभी-कभी वह यह कहता था कि उसका ऐसा विश्वास है। यदि समाजवाद का उत्थान 'अनिवार्य' है, तो क्या यह आवश्यक है कि वह सामाजिक क्रान्ति के माध्यम से ही हो। मार्क्स स्वयं इस सम्भावना पर विचार करता था कि इंगलैण्ड में समाजवाद शान्तिपूर्ण उपायों से प्राप्त हो सकता है यद्यपि इंगलैण्ड सब से अधिक उद्योग-प्रधान देश था। यदि हम यह मान लें कि आधुनिक उद्योगवाद का समस्त देशों में एक सा विकास होगा, तो क्या यह निश्चित है कि वह समानता विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों के अन्य विविध तत्वों का अतिक्रमण कर लेगी ? अन्त में, क्या यह सराहनीय है कि सामाजिक वर्ग लुप्त हो जायें और वे वर्गहीन समाज की स्थापना करें ? एंगिल्स श्रम-विभाजन को समाज के वर्ग विभाजन तथा सामाजिक दृष्टिकोणों के भेदों का कारण समझता था। लेकिन, सामाजिक श्रम का विभाजन एक ऐसा व्यापार है जो समस्त समाजों में, सब से आदिम से सब से विकसित समाजों में, पाया जाता है और उद्योगीकरण के साथ काम नहीं होता। अतः, आशा की जा सकती है कि पूर्ण समाजवादी सिद्धान्त पर संगठित समाज भी सामाजिक वर्गों के अपने संगठन को विकसित करेगा। लेकिन क्या इस समाजशास्त्रीय तथ्य का (यदि यह एक तथ्य है) यह अभिप्राय है कि वर्गों के बीच नैतिक सम्बन्ध शासनात्मक और विभेदात्मक ही हों ?

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को वर्गों के सम्बन्ध का आधार स्वीकार किया था। इस स्वीकृति के फलस्वरूप उसे दो धारणाएं ग्रहण करनी पड़ी, जो स्पष्ट नहीं हैं। प्रथम, वर्गों का सम्बन्ध विरोध अथवा संघर्ष का होता है। दूसरे, सामाजिक विकास के किसी भी युग में एक वर्ग प्रधान तथा दूसरे वर्गों का शासक होता है। इन धारणाओं के कारण उसने सामाजिक विधान के समस्त रूपों को बहुत कम महत्व दिया। उसकी दृष्टि में सामाजिक विधान का केवल यही महत्व था कि वह सर्वहारा वर्ग की संघर्ष

शक्ति को कहां तक बढ़ा सकता है। इन धारणाओं के कारण वह सामाजिक बुराइयों की नैतिक आलोचना को भी घृणा की दृष्टि से देखता था और उसका विश्वास था कि समस्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्त्तन केवल शक्ति के जोर से ही हो सकते हैं। यद्यपि वर्गों के कुछ विशेष हित होते हैं और इन हितों में संघर्ष होता है, तथापि मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार यह असम्भव है कि उनमें सदैव संघर्ष ही होता रहे। यदि ये वर्ग सामाजिक श्रम के विभाजन के आधार पर उत्पन्न होते हैं, तो उनके विशेष हित समाज के सामान्य कल्याण के विरोधी अथवा उसके लिए हानिकर नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि ये वर्ग खुद भी तो समाज के कार्यशील अंग होते हैं। इस सम्बन्ध का सह-कारितापूर्ण पक्ष भी उतना ही सामान्य होता है जितना कि विरोधपूर्ण पक्ष। पुनः कोई भी कार्यशील सामाजिक पद्धति क्यों न हो, सार्वजनिक हित और स्वस्थ सार्वजनिक नीति के आधार पर विशेष हितों के ऊपर कुछ नियन्त्रण लगने चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता, तो वह सामाजिक पद्धति नष्ट हो जाएगी। विशेष हितों का विनियमन समाज का उसी प्रकार सामान्य भाग है जिस प्रकार कि स्वयं हितों का अस्तित्व। यह एक ऐसा कार्य है जो प्रत्येक उत्तरदायी शासन को किसी न किसी रूप में करना पड़ता है। रूस में साम्यवादी शासन को यह मानना पड़ता है कि सर्वहारा वर्ग तथा कृषक वर्ग के बीच सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हैं। लेकिन, इस मान्यता से यह तथ्य नहीं बदल जाता कि निर्मित वस्तुओं और कृषिगत उत्पादनों की सापेक्ष कीमतों के सन्दर्भ में एक का लाभ दूसरे की हानि होना है। यह सिद्धान्त कि राज्य केवल शोषण के साधन हैं, एवं क्रांतिकारी अल्प-संख्यक वर्ग का प्रचार मात्र है, वह ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसके आधार पर कोई सत्तारूढ़ शासन कार्य कर सके।

पूंजीवाद एक संस्था के रूप में

(Capitalism as an Institution)

मार्क्स का विश्वास था कि ऐतिहासिक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त समस्त समाजों और समस्त युगों के ऊपर लागू हो सकते हैं। यदि कोई अपवाद हो सकता है तो आदिम साम्यवाद का वह युग है जो एंगिल्स के विचार से प्रागैतिहासिक काल में विद्यमान था। १८५० के बाद मार्क्स के विद्वत्तापूर्ण जीवन का मुख्य कार्य उन्हें अधिक समाजों तथा युगों के ऊपर लागू करना नहीं, प्रत्युत् उनके आधार पर पश्चिमी यूरोप के तत्कालीन औद्योगिक समाज की व्याख्या करना था। इसके लिए यह आवश्यक था कि वह वर्तमान सामाजिक वर्गों की आर्थिक उत्पत्ति का गहन अध्ययन करता और इन वर्गों के विरोध के स्वरूप का पूर्ण आर्थिक विश्लेषण करता। कैपिटल ग्रन्थ की मुख्य विषय-वस्तु इन्हीं दो विषयों का सर्वांगपूर्ण विवेचन है। तदनुसार, मार्क्स ने उद्योग के पूंजीवादी संगठन, मध्यवर्ग के उदय और उसके प्रतिभाग औद्योगिक श्रमिक वर्ग

के निर्माण के बारे में व्यापक ऐतिहासिक गवेषणा की। मार्क्स का विचार था कि औद्योगिक श्रमिक वर्ग का निर्माण आधुनिक यूरोपीय समाज की एक मुख्य घटना है। अपने दूसरे उद्देश्य को पूरा करने के लिए मार्क्स ने परम्परागत अर्थशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट पद्धति के आधार पर पूंजीवाद का आर्थिक विश्लेषण किया और यह बताया कि पूंजीवाद दो मुख्य वर्गों को किस प्रकार उत्पन्न करता है और ये वर्ग किस प्रकार एक दूसरे के विरोधी होते हैं। मार्क्स ने अपने इस कार्य के आधार पर अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का जन्म दिया। मार्क्सीय समाजवाद के आरम्भिक कालों में यह सिद्धान्त काफी प्रमुख रहा।

मार्क्स की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ अंश कैपिटल के वे ऐतिहासिक अध्याय हैं जिनमें उसने अठारहवीं शताब्दी से पहले के उद्योग के पूंजीवादी संगठन के बारे में और मजदूर वर्ग के निर्माण के बारे में विचार किया है। यद्यपि आर्थिक इतिहास के अनेक उत्तरकालीन लेखकों ने मार्क्स से प्रोत्साहित होकर इस प्रश्न की ओर ध्यान दिया है, लेकिन वे मार्क्स को नहीं पछाड़ सके हैं। मार्क्स ने पूंजीवाद के ऐतिहासिक अध्ययन की मुख्य दिशाएं निर्दिष्ट कीं। उसने बताया कि नयी औद्योगिक पद्धति का सामाजिक इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा है कृषक वर्ग के भूमि विषयक सामान्य अधिकारों को समाप्त कर देने के परिणामस्वरूप सर्वहारा वर्ग का निर्माण, पूंजीवादी संगठन के विकास के फलस्वरूप घरेलू उद्योग-धंधों का विनाश, इस संगठन की इकाइयों की शक्ति और आकार में निरन्तर वृद्धि, धर्म के सम्पत्तिहरण तथा अमरीका और भारत के औपनिवेशिक शोषण द्वारा इन प्रक्रियाओं की तीव्रता में वृद्धि। मार्क्स के विवेचन की मुख्य विशेषता यह थी कि उसने औद्योगिक तथा व्यापारिक परिवर्तनों के फलस्वरूप होने वाले मानवीय तथा सामाजिक सम्बन्धों के परिवर्तनों पर विशेष जोर दिया और बताया कि श्रम-विभाजन की अनवरत उन्नति के फलस्वरूप श्रमिकों की जिन्दगी कितनी असह्य और दयनीय हो जाती है। मार्क्स का सामान्य सिद्धान्त यह था कि औद्योगिक संगठन ने मजदूरों की स्थिति बहुत खराब कर दी है जो बाजुआ लोकतन्त्रात्मक दर्शन की स्वतन्त्रता तथा समानता विषयक घोषणाओं के बिल्कुल विपरीत है।

"सामूहिक उत्पादनशीलता के क्षेत्र में, निर्माण में सामूहिक मजदूर की और इसलिए पूंजी की समृद्धि उत्पादन में मजदूरों की व्यक्तिगत शक्तियों के ह्रास पर निर्भर है।"[1]

कैपिटल के वर्णनात्मक अध्यायों में भी इसी सिद्धान्त का विकास किया गया। इनमें पूंजीवाद के सामयिक इतिहास का तथा मजदूर वर्ग पर उसके प्रभावों का विवेचन किया गया। यहां मार्क्स ने पूंजीवादी उद्योग की वे अधिकांश आलोचनाएं प्रस्तुत कीं

---

1 *Capital*, Vol I, Eng trans by E. and C Paul, p 362 f.

जो आज भी प्रचलित हैं। मार्क्स ने अपनी आलोचनाओं की पुष्टि में पार्लमेन्टरी रिपोर्टों से उनके उदाहरण और आकडे दिए। पुस्तक के इस भाग में उन्हें मुख्यतः एंगिल्स से मदद मिली थी। एंगिल्स १८४४ में *Condition of the Working Class in England* प्रकाशित कर चुका था। मार्क्स ने यथार्थपरक ढंग से ऐसी समस्याओं पर विचार किया निश्चित अवधियों पर सकटो की आवृत्ति, समृद्धिकाल में भी उच्च टैक्नालॉजिकल बेरोजगारी, नयी नयी मशीनों द्वारा अच्छे से अच्छे हस्तकला कौशल का विनाश, अनिपुण मजदूरों द्वारा निपुण मजदूरों का विस्थापन, गैर-उद्योगीकृत धंधों में मजदूरों का शोषण और गन्दी बस्तियों में रहने वाले बेरोजगार सर्वहाराओं की वृद्धि। जो विशेषताएं मार्क्स के ऐतिहासिक अध्ययन में पायी जाती थीं, वही विशेषताएं यहां भी दिखाई देती हैं। यहा उसने जिन विषयों पर विशेष जोर दिया है, वे हैं उद्योगीकरण के सामाजिक परिणाम, उसकी परिवार जैसे प्राथमिक समुदायों को कमजोर बनाने की प्रवृत्ति और इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली मानवी समस्याएं। इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह था कि पूजीवाद वास्तव में एक निकृष्ट व्यवस्था है और वह समाज को मानव तत्त्व से वंचित कर देता है। हीगेल की भाति ही मार्क्स को भी पूंजीवाद में अनेक अन्तर्विरोध दिखाई देते थे। पूंजीवाद में सगठन और अराजकता का एक साथ सयोग है। इसमें एक ओर तो टैक्नालॉजिकल सगठन है और दूसरी ओर विनिमय की अराजकता है। इसमें एक ओर तो उत्पादन की इकाइयों का विस्तृत सामजस्य उपलब्ध होता है तथा दूसरी ओर औद्योगिक साधनों का प्रयोग करते समय मानवीय साध्यों की नितात उपेक्षा की जाती है। यद्यपि मार्क्स ने इस आदर्श का यदा-कदा ही सकेत किया है, तथापि पूंजीवाद तथा योजनाबद्ध और समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था का भेद सदैव ही उसके मन में रहता था। मार्क्स का विश्वास था कि योजनाबद्ध और समाजीकृत अर्थ-व्यवस्था में लोगों की आवश्यकतानुसार पदार्थों का वितरण हो सकता है। इसलिए, उसकी पूंजीवाद की आलोचना मुख्यत नैतिक थी। यह औद्योगिक समाज की वास्तविक अवस्था तथा एक ऐसी आदर्श अवस्था के जो मार्क्स के विचार में इस समाज का नैतिक सुधार हो सकती थी, भेद पर आधारित थी। मार्क्स की आलोचना का सब से प्रभावशाली अश उसका यह आग्रह था कि यदि किसी नैतिक आदर्श को प्रभावी होना है, तो यह आवश्यक है कि वह उस सामाजिक स्थिति पर निर्भर हो जिसमें कि उसका जन्म हुआ है। उसे उस स्थिति के वर्तमान रूप को तो समझना ही चाहिए, यह भी समझना चाहिए कि उस स्थिति में परिवर्तन की क्या सम्भावनाएं निहित हैं। इससे न तो इस तथ्य में ही कोई फर्क आता है कि आदर्श स्वय एक नैतिक मूल्याकन है और न नैतिक चुनाव का तत्त्व ही समाप्त हो जाता है क्योंकि प्रत्येक स्थिति में अनेक सम्भावनाएं निहित होती हैं। प्रत्येक स्थिति में नीति निर्माण की क्षमता होती है और यही कारण है कि राजनीति उसका एक चरण होती है।

अतिरिक्त मूल्य

(Surplus Value)

चूंकि मार्क्स किसी भी नैतिक आदर्श की स्वीकृति को कल्पनावाद की स्वीकृति मानता था और चूंकि हीगेल की भांति ही वह अपने आदर्शों को अपरिहार्य मानता था, अतः उसने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि द्वन्द्वात्मक आवश्यकता के वशीभूत होकर पूंजीवादी व्यवस्था अपने आन्तरिक अन्तर्विरोधों के कारण अपने से विरोधी समाजवादी व्यवस्था का पथ प्रशस्त करेगी। स्थूल रूप से उसने अपना यह तर्क निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया था। उत्पादन के साधनों के पूंजीवादी स्वामी अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करते हैं। इसके कारण पूंजीवाद विशाल स्तर के उत्पादन तथा एकाधिकार की ओर बढ़ता है। मार्क्स का निष्कर्ष था कि इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप धन न्यूनतर व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होगा तथा समाज का पूंजीपतियों तथा सर्वहाराओं के बीच तीव्रतर विभाजन होगा। इसके परिणामस्वरूप अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाएगी जिसमें शोषकों का शोषण होगा और उत्पादन का समाजीकरण। मार्क्स का विचार था कि सामान्य प्रवृत्ति यह होगी कि जनसंख्या का अधिकतर भाग मजदूर बन जाएगा और उसे कठोर दरिद्रता का सामना करना पड़ेगा। मार्क्स की यह भविष्यवाणी सही सिद्ध नहीं हुई क्योंकि मार्क्स ने जो कल्पना की थी, सम्बन्धित तत्त्व उससे अधिक थे और कहीं जटिल थे। उद्योग का बृहत्तर इकाइयों में सकेन्द्रण हुआ लेकिन यह स्वामित्व का सकेन्द्रण नहीं था क्योंकि स्वामित्व और नियन्त्रण एक वस्तु नहीं है। पूंजीवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण किया लेकिन मजदूरों की मनोवृत्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वर्ग-संघर्ष चालू करने के लिए राष्ट्रीय सीमाओं को पार नहीं किया। मजदूरों की आर्थिक स्थिति में भी पहले की अपेक्षा सुधार हुआ। वेतनभोगी कर्मचारियों की संख्या में बेहद वृद्धि हुई लेकिन इससे सर्वहारा वर्ग की वृद्धि नहीं हुई क्योंकि निम्न मध्यवर्ग ने सर्वहारा वर्ग की स्थिति को स्वीकार करने की कोई प्रवृत्ति प्रकट नहीं की। व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से यह मार्क्स की भविष्यवाणी का सब से विनाशक पक्ष था। मजदूरों की पुरानी पीढ़ी को जो तर्क बहुत विश्वसनीय मालूम पड़ते थे, वेतनभोगी कर्मचारी उन तर्कों के आधार पर मार्क्सवादी दलों में शामिल नहीं हुए।[1] क्रांति का रास्ता उससे कहीं लम्बा और उससे कहीं जटिल था जिसकी मार्क्स ने कल्पना

---

1 वीमर गणराज्य की दुर्बलता का एक कारण उसके समर्थकों की आयु थी। १९३१ में जर्मनी के वेतनभोगी कर्मचारियों में से केवल चौथाई कर्मचारी ही मार्क्सवादी यूनियनों में सगठित थे। सोशल डेमोक्रेटों में से केवल १० प्रतिशत ही पच्चीस वर्ष से कम आयु के थे। देखिए William Ebenstein *The German Record* (1945), p 216.

की थी। शताब्दी के अन्त में एंगिल्स ने स्वीकार किया था कि उसने और मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत आन्तरिक विकास की क्षमता को बहुत कम आंका था।

मार्क्स के तर्क का सैद्धान्तिक आधार अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त था। १८६७ में कैपिटल की पहली जिल्द के प्रकाशन के बाद से इस सिद्धान्त के बारे में वाद-विवाद शुरू हो गया। इस वाद विवाद का कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकला। इस सिद्धान्त को केवल कट्टर मार्क्सवादियों ने ही स्वीकार किया और उन्होंने भी इसे आलोचना के बीच स्वीकार किया। इसी बीच रिकार्डो का मूल्य सिद्धान्त जिससे मार्क्स ने दीक्षा ली थी मार्क्सेतर अर्थशास्त्रियों के लिए पुराना पड़ गया। फलत, अब वाद-विवाद के लिए बहुत कम गुजायश रह गई। अब विवाद का आधार केवल यही रहा था कि मार्क्स के विचारों और रिकार्डो के विचारों में कुछ आधारभूत अन्तर था। लेकिन, यह कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं थी। यह वाद विवाद इस बात का एक श्रेष्ठ उदाहरण था कि एक तर्क का परस्पर-विरोधी प्रयोजनों के लिए किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है। कोई एक पक्ष दूसरे पक्ष की निहित धारणाओं को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। कभी-कभी सन्देह होता है कि आज मार्क्सवादियों तक के लिए अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त गुरु का स्मारक होने के नाते आदरपत्र मात्र रह गया है और वह उसके दर्शन का कोई गम्भीर भाग नहीं है। उदाहरण के लिए लेनिन ने उसका कभी उल्लेख तक नहीं किया।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त परम्परागत अर्थशास्त्रियों के मूल्य के श्रम सिद्धात (Labour Theory of Value) का विस्तार मात्र था। बाजार में जिन पदार्थों का विनिमय होता है, उनमें एक समान विशेषता यह पाई जाती है कि वे श्रम की उपज होते हैं। लेकिन, मार्क्स का कहना था कि यहां जिस श्रम का प्रयोग होता है, वह "सजातीय" होता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह शुद्ध, अविकल श्रम होता है, किसी विशेष गुण का श्रम नहीं। उसकी नाप केवल अवधि के द्वारा ही हो सकती है। इस दृष्टि से दक्ष श्रम (skilled labour) को उसका गुणित माना जा सकता है। पदार्थ में श्रम का समावेश ही उसे मूल्य देता है। लेकिन, यह जरूरी है कि श्रम "सामाजिक दृष्टि से आवश्यक" हो। इसका अभिप्राय यह है कि वह उन तकनीकी साधनों से किया जाए जो उत्पादन की प्रचलित परिस्थितियों में सामान्य होते हैं। पुन, पदार्थों का उत्पादन इतनी मात्रा में होना चाहिए कि उनका विनिमय हो सके। कारण यह है कि यदि बाजार सारे उत्पादित पदार्थों को लेना अस्वीकार कर देता है, तो उनके ऊपर लगा हुआ श्रम-समय उसी प्रकार व्यर्थ जाता है जैसे कि उनका निर्माण पुरानी टेक्नालॉजी के आधार पर हुआ हो। श्रम की शक्ति स्वयं एक पदार्थ है और उसका मूल्य उसी ढंग से स्थिर किया जाता है जैसे कि किसी पदार्थ का। इसका अभिप्राय यह है कि विनिमय में उसका मूल्य उस श्रम द्वारा निर्धारित होता है जो उसे बनाने के लिए आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में श्रम का विनिमय मूल्य उन पदार्थों के

बराबर होता है जो श्रमिकों को सहारा देने तथा उनके जीवनयापन की सुविधाएं जुटाने के लिए आवश्यक होता है। लेकिन, पदार्थों में श्रम की स्थिति अनुपम है। इसका जितना अधिक प्रयोग होता है, उतना ही मूल्य बढ़ जाता है। लेकिन, मूल्य की दो मात्राएं समान नहीं होतीं। सेवा नियोजक अपने नियंत्रण और संगठन के द्वारा इस बात का ध्यान रखता है कि जब मजदूरों की श्रम-शक्ति चुक जाए तब वे जिस मात्रा का उत्पादन करें, वह उस मात्रा से अधिक हो जिसके लिए कि उन्हें पारिश्रमिक दिया जाए। प्रयुक्त श्रम शक्ति खपत की गई श्रम शक्ति के पुनर्स्थापन से अधिक का मूल्य पैदा करती है। इस अतिरिक्त मूल्य से ही समस्त मुनाफा, ब्याज और किराए की उत्पत्ति होती है। इसका कारण यह है श्रम अथवा अन्य किसी पदार्थ के विनिमय मात्र से उसका मूल्य नहीं बढ़ता।

इस तर्क की पहली उलझन तो यह पता लगाना है कि इसका उद्देश्य किस चीज की व्याख्या करना था। मार्क्स के आलोचकों की धारणा थी कि वह प्रतियोगितापूर्ण बाजार में पदार्थों की कीमतों की व्याख्या करने का प्रयास कर रहा था। जब रिकार्डो ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त का निरूपण किया था, उस समय उसका यही उद्देश्य था। मार्क्स ने कैपिटल की पहली जिल्द में यह मान भी लिया था कि पदार्थों की कीमतें पूर्ति और मांग के प्रभाव के अधीन, अपने मूल्य से या तो कुछ ऊपर रहेंगी और या कुछ नीचे। लेकिन, इस धारणा के आधार पर सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम समय का विचार सम्पूर्ण सिद्धान्त को बकवास सिद्ध कर देता है क्योंकि पदार्थ जिस मूल्य का आएगा, वही उस समय का प्रमाण है जो उसके उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है। यह आक्षेप मूल्य के किसी भी श्रम सिद्धान्त के ऊपर लागू हो सकता है, लेकिन मार्क्स के सिद्धान्त पर कुछ और भी आक्षेप किए जा सकते हैं। यदि अतिरिक्त मूल्य केवल श्रम शक्ति की खपत के आधार पर ही उत्पन्न होता है, तो उस उद्योग को जिसमें पूंजी श्रम को खरीदने के लिए लगती है, उस उद्योग की तुलना में जिसमें, पूंजी का उस उद्योग की तुलना में जिसमें पूंजी का प्रयोग मुख्य रूप से मशीनें खरीदने के लिए होता है, अधिक अतिरिक्त मूल्य और अधिक मुनाफा पैदा करना चाहिए। लेकिन जैसा कि मार्क्स जानता था, पूंजी को चाहे कैसे लगाया जाए, उस पर लाभ बराबर ही होता है। मार्क्स ने कैपिटल की तीसरी जिल्द में विनियोग के अधिक लाभदायक रूपों के लिए पूंजीपतियों की प्रतियोगिता के आधार पर इसकी व्याख्या की थी। लेकिन इस प्रकार की प्रतियोगिता केवल कीमतों पर अपने प्रभाव के द्वारा ही लाभों को समान कर सकती है। तदनुसार, मार्क्स ने कीमतों की व्याख्या करते हुए कहा कि वे उत्पादन की लागत तथा विनियुक्त पूंजी के औसत लाभ के योग द्वारा निर्धारित होती है। ये दोनों सिद्धान्त केवल संयोग द्वारा ही सहवर्ती हो सकते हैं अर्थात् यह केवल संयोग का ही चमत्कार हो सकता है कि उत्पादन की लागत द्वारा निर्धारित कीमत और पदार्थ के उत्पादन में लगी श्रम शक्ति द्वारा निर्धारित कीमत बराबर हो। कैपिटल की पहली और तीसरी जिल्दों में पाए जाने वाले इस विचार-भेद पर दीर्घ काल तक वाद-विवाद

चला था। आस्ट्रिया के अर्थशास्त्री बोहम-बावर्क (Bohm Bawerk) ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है।[1] यदि हम यह मानते हैं कि मार्क्स का मूल्य सिद्धान्त केवल कीमतो की व्याख्या करने का प्रयत्न था, तो उसका तर्क निश्चित रूप से दुर्बल विरोधी था।

अतिरिक्त मूल्य की आलोचना मे आर्थिक सकारवाद की कुछ मात्रा निहित थी। यह आर्थिक सकारवाद मार्क्स अथवा परम्परागत अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण के निकट न होकर उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे जो दृष्टिकोण था, उसके निकट था। इसका कारण यह है कि मूल्य के श्रम सिद्धान्त ने उन नैतिक धारणाओ को कभी नहीं त्यागा जो लॉक के चिन्तन मे विद्यमान थी। वह न्यायपूर्ण तथा प्राकृतिक कीमत का सिद्धान्त बना रहा। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त ने बोर्जुआ अर्थशास्त्रियों के पूजीवाद के समर्थन को द्वद्वात्मक रीति से तिरस्कृत कर दिया था। यह तिरस्कार प्रभावहीन भी नहीं था। यद्यपि मार्क्स यह कहा करता था कि उसका नैतिक धारणाओं मे कोई विश्वास नहीं है, लेकिन उसका तर्क अपने आर्थिक रूप की अपेक्षा अपने नैतिक रूप में अधिक शक्तिशाली मालूम पडता है। उसने मूल्य रूप से दो कार्य किए। बोर्जुआ विचारक प्रतियोगितापूर्ण अर्थ-व्यवस्था के समर्थन मे नैतिक तर्कों की दुहाई दिया करते थे। मार्क्स ने बताया कि यह नैतिकता व्यक्तिवादी उदारवाद की घोषणाओं के साथ सगत नहीं बैठती। दूसरे, मार्क्स ने एक अत्यधिक सगठित समाज मे जिसमें व्यक्तिवाद एक मान्य नैतिक दर्शन नहीं रहा था, सामाजिक न्याय के स्वरूप का प्रश्न उठाया। सक्षेप मे, मार्क्स का सामाजिक दर्शन मुख्य रूप से अर्जनशील समाज के ऊपर गहरा यथार्थवादी आक्रमण था। इसमे कोई सन्देह नहीं कि द्वद्वात्मक पद्धति की अपेक्षा मार्क्सवाद के इस गुण ने उसे अपने अनुयायियो के बीच अधिक प्रिय बनाया।

यदि हम उपर्युक्त दो प्रयोजनो मे से पहले प्रयोजन को ध्यान में रखें, तो अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। पूजीवाद की रक्षा मे श्रम शक्ति दो रूपो मे कार्य करती है। वह एक पदार्थ है जिसके लिए मजदूर निर्वाह-मजदूरी प्राप्त करता है। इसके साथ ही वह मूल्य का स्रष्टा भी है। पूजीपति मजदूर को निर्वाह-मजदूरी देने के बाद सम्पूर्ण मूल्य स्वय ग्रहण कर लेता है। मजदूर उत्पादन म चाहे कितनी योग्यता, निपुणता और निष्ठा से काम क्यों न करें, उन्हें उसके बदले मे केवल निर्वाह मजदूरी मिलती है। बाकी सारा लाभ पूजीपति की जेब में जाता है। पूजीपति के बारे में समझा जाता है कि उसको यह लाभ उसकी उद्यमशीलता, अन्तर्दृष्टि, बुद्धिमत्ता और सगठन-क्षमता के कारण मिलता है। इस सम्बन्ध मे मार्क्स का कहना है कि श्रम की सम्पूर्ण उत्पादनशीलता को इस रूप मे प्रस्तुत किया जाता है मानो वह पूजी की उत्पादनशीलता हो। अत, अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त ने मार्क्स

---

1 *Karl Marx and the Close of his System*, Eng trans. by Alice M. Macdonald, New York, 1898.

के लिए वही काम किया जो बाद मे आर्थिक किराए के सिद्धान्त ने फेबियन समाजवादियो के लिए किया था।[1] इसने प्रमाणित किया कि पूंजीवाद उत्पादन के साधनो के स्वामियो को लाभ की स्थिति प्रदान करता है जिससे वे उत्पादन की प्रक्रिया मे जितना योगदान देते है, उसकी तुलना म कही अधिक अशग्रहण कर लेते हैं। दूसरी ओर, श्रमिको की स्थिति हीन रहती है। वे, अन्य मानवतर पदार्थों की भाति ही समझे जाते हैं। इस प्रकार, एंगिल्स के अनुसार मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त का तत्व यह था कि "श्रम का कोई मूल्य नही होता"। यह कहना कि श्रम का मूल्य होता है, यह कहने के तुल्य होगा कि मूल्य का मूल्य होता है। मार्क्स ने इस सम्बन्ध मे अपने तर्क को एक तार्किक अन्तविरोध के रूप मे प्रस्तुत किया है। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था अपना विनाश अपने आप करेगी। जब पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोध समाप्त हो जायेंगे, तब समाजवाद का उदय होगा। समाजवाद मे श्रमिक की स्थिति एक पदार्थ की सी नही रहेगी।[2] उपर्युक्त विवेचन मे कथित अन्तर्विरोध का तर्क बेहद भ्रामक है। इसका वास्तविक मन्तव्य केवल यह प्रकट करना है कि श्रम को एक पदार्थ मानना आपत्तिजनक है। अन्तर्विरोध उस स्थिति के बीच जो श्रम को प्रतियोगितापूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे दी जाती है तथा उदारवाद की इस नैतिक घोषणा के बीच है कि मनुष्यो को साध्यो के रूप मे देखना चाहिए न कि साधनो के रूप मे।

सामुदायिक मजदूर

(The Collective Worker)

मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त के दूसरे पहलू ने कोई समाधान नही दिया, प्रत्युत् एक समस्या ही खडी कर दी। श्रम सिद्धान्त का नैतिक तर्क यह था कि पूर्ण रूप से स्वतन्त्र विनिमय व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति बाजार मे अपने श्रम का उत्पादन लाएगा और उसके बदले मे समान मूल्य प्राप्त करेगा। पदार्थों का वितरण इस अर्थ मे न्यायपूर्ण होगा कि प्रत्येक व्यक्ति जितना परिश्रम करेगा, उसे उसके बदले मे उतना ही मूल्य मिल जाएगा। सक्षेप मे प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम के पूर्ण उत्पादन का उपभोग करेगा। यह तर्क दो दृष्टियो से व्यक्तिवादी था। उसने यह मान लिया था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता तथा प्रयत्न के आधार पर ही बिना किसी सगठन और सहयोग के ही उत्पादन करता है, और उसने यह भी मान लिया था कि व्यक्तिगत कामो का योग ही समग्र सामाजिक हित है। मार्क्स का विचार था कि एक अत्यधिक उद्योग-प्रधान समाज मे

---

1. George Bernard Shaw in Fabian Tract No. 41 *The Fabian Society : Its Early History*, 1892 शॉ ने अपनी इस पुस्तिका मे इस परिवर्तन पर जोर दिया है।

2. *Anti-Duhring*, Eng trans by E. Burns, p 228.

ये दोनो ही धारणाए यदि पूरी तरह झूठी नही, तो अत्यधिक सन्देहास्पद हैं। अत्यधिक समाजीकृत उत्पादन की व्यवस्था पूरी तरह से सहकारिता पर आधारित होती है। इसमे कोई व्यक्ति अकेला किसी पदार्थ का निर्माण नही कर सकता। इस व्यवस्था में यह नही बताया जा सकता कि अमुक व्यक्ति ने यह पैदा किया है। यह उत्पादन शुद्ध रूप से सामाजिक उत्पादन होता है और वास्तविक उत्पादक इकाई स्वय समाज होता है। मार्क्स के शब्दो मे यह "सामुदायिक मजदूर" होता है जो सयुक्त सहकारी उत्पादन के लिए सगठित किया जाता है। यह "वास्तविकता" है। पूजीवादी व्यवस्था इसके चारो ओर कीमतो, मुनाफो और मजदूरी के "रहस्य" लपेट देती है। एक ही व्यवस्था में दो विरोधी तत्त्वो का सह-अस्तित्व—समाजीकृत उत्पादन और पूजीवादी शोषण—वह अन्तर्विरोध है, जो समाज को क्राति की ओर उन्मुख करता है। क्राति के फलस्वरूप नया सामजस्य पैदा होता है जिसमे एक पूर्ण सामाजिक अर्थ-व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक पद्धति को जन्म देती है जो उसकी पूर्ण सहकारी प्रकृति के अनुरूप हो।

इसलिए, मूलत मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त का प्रयोजन विशुद्ध रूप से आर्थिक नही, प्रत्युत् नैतिक था। वह कीमतो का सिद्धान्त नही, सामाजिक हित का सिद्धान्त था। मार्क्स के सिद्धान्त और रिकार्डो के सिद्धान्त मे जिससे मार्क्स ने अपना सिद्धान्त ग्रहण किया था, मुख्य अन्तर यह था कि सामाजिक न्याय और कल्याण का आकने के बारे मे उनके *मानक अलग-अलग थे।* मार्क्स ने पूजीवादी व्यवस्था पर मुख्य आक्षेप यह किया है कि वह मानवी सम्बन्धो को पूजी के सन्दर्भ मे निर्धारित करता है और मानव तत्त्व की ओर बिल्कुल ध्यान नही देता। जहा तक ये आर्थिक सकल्पनाए वास्तविक स्थिति का परिचय देती हैं, वे मजदूरो के लिए व्यर्थ तथा विकृत हैं। सामुदायिक मजदूर की प्राविधिक पूर्णता उसके मानवी तत्त्वो के नैतिक मूल्य पर खरीदी जाती है।

"वह (निर्माण) मजदूर को उत्पादन की प्रवृत्तियो और क्षमताओ की दुनिया के मूल्य पर उसे एक उच्च तथा विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए विवश करके एक पशु, एक अपरूप प्राणी बना देता है। शुरू मे मजदूर अपनी श्रम शक्ति को पूजी-पतियो के हाथ इसलिए बेचता है क्योकि उसके पास पदार्थ के निर्माण के लिए आवश्यक भौतिक साधन नही होते। बाद मे उसकी श्रम शक्ति उस समय तक काम नही करती जब तक कि वह पूजीपतियो के हाथो मे बिक नही जाती।"[1]

एक ऐसे समाज की सकल्पना के विरोध मे *जिसमे अर्थव्यवस्था को बाजार की क्रिया के द्वारा स्वत नियामक माना जाता है और जिसमे मानव सम्बन्ध कीमतो के* सन्दर्भ मे ग्रहण किए जाते हैं, मार्क्स एक योजनाबद्ध तथा मानवीकृत अर्थव्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत करता है . "ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तियो का एक सघ जो सयुक्त रूप से नियत्रित उत्पादन-साधनो द्वारा कार्य करते हैं और अपनी अनेक श्रमशक्तियो को

---

1. *Capital*, Vol I, Eng trans by E and C Paul, p. 381.

प्रसन्नतापूर्वक एक संयुक्त सामाजिक श्रम शक्ति के रूप में विकसित करते हैं"।[1] वह समाज जिसमें उत्पादन का सामाजिक नियंत्रण उत्पादन की वास्तविक सामाजिक स्थिति के साथ संगत होता है, एक ऐसा समाज होता है जिसमें अर्थव्यवस्था आवश्यकतानुसार उत्पादन करती है तथा सम्पूर्ण उत्पादन-शक्ति सामाजिक दृष्टि से वाछनीय परिणाम प्राप्त करती है।

"जब उत्पादन समाज के सचेतन और प्राक्व्यवस्थित नियंत्रण में होगा, समाज केवल उसी समय निश्चित पदार्थों के उत्पादन में नियुक्त सामाजिक श्रम, समय की मात्रा तथा उनके लिए समाज की माग की मात्रा के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा।"[2]

मार्क्स अथवा द्वंद्वात्मक पद्धति की प्रवृत्ति से यह नहीं था कि वे एक अर्जनशील पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना स्वीकार करते। यह आलोचना ऐसे समाज के मानवी परिणामों के नैतिक विरोध में थी। हीगेल के प्रभाव से मार्क्स के मन में भी नैतिक विश्वासों की उपादेयता के प्रति एक प्रकार की विरक्ति का भाव था। उसका विचार था गया था कि नैतिक आदर्श केवल कुछ वैयक्तिक मनोवृत्तियां हैं जो समाज की मारभूत लेकिन नैतिकता निरपेक्ष शक्तियों द्वारा मन में पोषित होते हैं। हीगेल तथा मार्क्स दोनों व्यक्तियों के लिए यह इस स्वस्थ विचार की स्वभावजन्य विकृति थी कि यदि नैतिक आलोचना को कारगर होना है, तो यह आवश्यक है कि वह आलोच्य वस्तु के यथार्थवादी विश्लेषण पर आधारित हो। इस पक्षपात का एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि जब मार्क्स ने इस विचार की आलोचना की कि सामाजिक न्याय का अभिप्राय प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम का फल देना है, तो उसकी यह आलोचना अधिक और नैतिक व्यक्तिवाद के विरुद्ध नहीं थी बल्कि कल्पनावादी समाजवादियों अथवा उन अधिशेषज्ञों के विरुद्ध थी जिन्हें वह "अशिष्ट अर्थशास्त्री" (Vulgar economists) कहा करता था। मार्क्स का विचार था कि इस प्रकार का समस्त चिंतन उन भावात्मक योजनाओं के समान है जो पूंजीवादी उत्पादन के लाभों को स्वीकार कर लेती हैं और फिर वितरण की व्यवस्था कुछ ऐसे मनमाने ढंग से करती हैं जिससे मालूम पड़ता है कि श्रमिक को उसके उद्योग का सारा उत्पादन प्राप्त हो रहा है। इन सारी योजनाओं के विरोध में मार्क्स ने तर्क दिया और उसका यह तर्क परम्परागत अर्थशास्त्रियों के ढंग पर था कि पूंजीवाद अथवा आर्थिक उत्पादन की अन्य कोई व्यवस्था अपने साथ ही उस उत्पादन को वितरित करने की पद्धति भी लिए चलती है। मार्क्स का विचार था कि उसका अपना "वैज्ञानिक समाजवाद" कल्पनावाद (Utopianism)

1 *Capital*, Vol. I, Eng trans. by E and C Paul, p 32

2 *Capital*, Vol III, Eng Trans by Ernest Untermann, p 221.

से इस अर्थ में भिन्न है कि वह अर्थ-विज्ञान अर्थात् परम्परागत अर्थशास्त्र के समस्त निष्कर्षों को स्वीकार करता है, लेकिन इन निष्कर्षों के साथ अपना यह प्रमाण भी जोड़ देता है कि द्वंद्वात्मक पद्धति के आधार पर वे विफल मनोरथ हैं।

परिणामतः, निर्हस्तक्षेपवादी अर्थशास्त्रियों की भाँति मार्क्स का भी यह विचार हो गया था कि अर्थव्यवस्था के नियंत्रण के लिए कानूनों की रचना करने में कोई लाभ नहीं है। ये कानून मर्ज का इलाज नहीं करते, उसे दबा भर देते हैं। अर्थव्यवस्था के सुधारने के श्रेष्ठ उपाय वही हैं जो क्रांति का पथ प्रशस्त करते हैं। सामाजिक विधान के प्रति मार्क्सवादी दलों ने जो नीति ग्रहण की, उसमें इस प्रवृत्ति ने सदैव कठिनाई पैदा की। इस प्रवृत्ति ने ही मार्क्सवाद के संशोधन अथवा पुनरुत्थान का पथ प्रशस्त किया।

दूसरी ओर दृढ़तापूर्वक यथार्थवादी होने के सम्बन्ध ने मार्क्सवाद में एक काल्पनिक तत्त्व का समावेश किया। स्पष्ट है कि मार्क्स का यह कथन कि समाज का सचेतन और प्राक् व्यवस्थित नियंत्रण उद्योग का संचालन करेगा, एक अलंकार मात्र था। उसने "समाज" को इसलिए व्यक्ति रूप दिया जिससे कि समाज के हित में आरोपित नियंत्रण का वर्ग के हित में आरोपित नियंत्रण में भेद स्थापित किया जा सके। लेकिन, कोई भी सामाजिक व्यवस्था क्यों न हो, समाज किसी भी चीज का कभी भी नियंत्रण नहीं कर सकता। इस व्यक्तीकरण का परिणाम गुप्त रूप से यह मान लेना था कि क्रांति की योजना बनाना तो आवश्यक है, लेकिन यह सोचना जरूरी नहीं है कि उसके बाद क्या होगा। मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त में भी यह मानने की प्रवृत्ति है कि संगठन स्वतः संचालित होता है। मार्क्स को यह सिद्ध करने की उत्सुकता थी कि श्रम प्रत्येक चीज का उत्पादन करता है और पूँजी किसी चीज का उत्पादन नहीं करती। अपनी इस उत्सुकता में वह सन्तोषपूर्वक ही यह मानने को तैयार था कि व्यवस्था और प्रबन्ध भी अपने आप में उत्पादनशील होते हैं। लेकिन, यदि उत्पादन का पूरी तरह से समाजीकरण हो जाए, तब भी उद्योग में नीतियों के निर्माण का कार्य उतना ही महत्त्वपूर्ण रहेगा जितना कि वह व्यक्तिगत उद्यम में रहता है। सम्भवतः, योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में यह और भी ज्यादा आवश्यक होगा क्योंकि स्वतन्त्र बाजार में जो काम कीमत व्यवस्था करती है, उसमें भी वह काम करने के लिए कोई प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। ऊपर के दूसरे पैरा में हमने जिन अवतरणों को उद्धृत किया है, उनसे ऐसा आभास मिलता है कि समाजवाद की स्थापना के साथ ही औद्योगिक श्रम-विभाजन के परिणाम लुप्त हो जायेंगे। सचाई यह है कि समाजवादी सरकार को भी अन्य किसी सरकार की भाँति ही नीति और इसलिए राजनैतिक कार्यसाधकता तथा सामाजिक न्याय के प्रश्नों का सामना करना पड़ता है। शासन और प्रबन्ध के बारे में क्रान्तिकारी मार्क्सवादियों के विचार कितने अपरिपक्व थे, यह हम लेनिन की उस रूपरेखा से समझ सकते हैं जो उसने क्रान्ति के पश्चात् के रूसी शासन के बारे में प्रस्तुत की थी। थोड़े में काल्पनिक समाज-

वादियों ने ही एक ऐसे राज्य की योजना प्रस्तुत की है जो व्यवहार में इतना दूर का सिद्ध हुआ हो ।[1]

मार्क्सवाद का काल्पनिक तत्त्व वर्गविहीन समाज में निहित था। वर्गविहीन समाज इतिहास में सम्पूर्ण द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का लक्ष्य है। वर्गविहीन समाज एक प्रकार का रहस्यात्मक तत्त्व था जो किसी भी क्रांतिकारी सिद्धान्त के लिए अपरिहार्य होता है। उसमें भविष्य के लिए सुखद आशा का सन्देश था जो वर्तमान की निराशाओं और क्रांति की निराशाओं की क्षतिपूर्ति कर देता है। मार्क्स तथा एंगिल्स दोनों में से किसी ने भी इस आदर्श का चित्र नहीं खींचा है और न उन्होंने यह बताया है कि यह आदर्श किस प्रकार प्राप्त होगा। सम्भवतः उनका विचार था कि किसी आदर्श का वर्णन करना गुस्ताखी होता है। लेनिन का विचार था कि यदि हम आदर्श को कभी प्राप्त नहीं कर सकते, तब भी आदर्श का महत्त्व कम नहीं होता। इस प्रकार, वर्गविहीन समाज की संकल्पना क्रांतिकारी दल को दृढ़ता एवं प्रेरणा प्रदान करने के लिए एक प्रकार की गल्प थी। यह गल्प सोरेल की उन गल्पों की भांति ही थी जिन्हें उसने क्रांतिकारी सिंडिकलिज्म के सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण भाग बना दिया था। महत्त्व की बात यह भी कि यह आदर्श दूर की एक घटना थी। इसका उद्देश्य यह नहीं था कि वह दिन-प्रति-दिन के सुधार की प्रतिमा में पथ-प्रदर्शन करे। जहां तक मार्क्सवाद एक क्रांतिकारी सिद्धान्त रहा, उसने अपना ध्यान क्रांतियों पर केन्द्रित किया। जहां तक वह विकासवादी तथा संशोधनवादी हो गया, प्रथम विश्वयुद्ध के पहले के वर्षों में वह ऐसा ही हो गया था, वहां उसका लक्ष्य वामपक्षी उदारवाद का हो गया। एक आदर्श के रूप में वर्गविहीन समाज का अभिप्राय एक ऐसा समाज था जिसमें बल-प्रयोग बिल्कुल न हो न तो राजनैतिक सत्ता की दृष्टि से और न उद्योग में संचालन तथा प्रबन्ध की सत्ता की दृष्टि से। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार इच्छा से देगा और प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार बिना किसी कीमत के प्राप्त करेगा। एंगिल्स की प्रसिद्ध शब्दावली में राज्य 'तिरोहित हो जाएगा' क्योंकि वह शोषण पर आधारित समाज का दमनात्मक साधन है और वर्गविहीन समाज में उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। इसमें उद्योग का प्रबन्ध और प्रशासन भी समाप्त हो जाएगा। इस सम्बन्ध में एंगिल्स ने कहा

"व्यक्तियों के शासन के स्थान पर वस्तुओं का प्रशासन और उत्पादन की प्रक्रिया का निदेशन स्थापित हो जाएगा।"[2]

---

1 *State and Revolution*, ch 5

2 *Anti-Duhring*, Eng. trans by E Burns, p 315 तुलना कीजिए, एंगिल्स का बेबेल को पत्र। मार्च १८-२८, १८७५, *Marx-Engels Correspondence*, 1846-1895, p 332 ff

उद्योग के समाजीकरण से प्रबन्ध की सत्ता किस प्रकार कम हो जाएगी अथवा श्रम-विभाजन के दुष्परिणाम किस प्रकार दूर हो जायेंगे मार्क्स अथवा एंगिल्स ने इस बारे में कुछ नहीं कहा है।

वर्गविहीन समाज से भी ज्यादा महत्त्व का चरण सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद था, जो मार्क्स तथा एंगिल्स के अनुसार सर्वहारा वर्ग की क्रांति के तुरन्त बाद स्थापित होता है। इस अवस्था में यह कल्पना की जाती है कि सर्वहारा वर्ग शक्ति छीन लेता है और एक ऐसे राज्य का निर्माण करता है जो अपनी ओर से बल का प्रयोग करता है। इसलिए, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद भी बोर्जुआ राज्य की भांति ही वर्ग-प्रभुत्व का साधन होता है। उसका कार्य होता है कि वह विस्थापित पूंजीवादी राज्य की नौकरशाही को नष्ट करे, उत्पादन के साधनों को सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में बदले और यदि पूंजीपति वर्ग प्रतिक्रांति का कोई प्रयत्न करे, तो उसे दबा दे। जब ये कार्य हो चुकेंगे, तभी सम्भवत राज्य के तिरोहित होने की प्रक्रिया आरम्भ होगी। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद कितने दिनों कायम रहेगा, यह बात पूरी तरह से कल्पना पर छोड़ दी गई है। मार्क्स तथा एंगिल्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का अपने सामाजिक सिद्धान्त के एक महत्त्वपूर्ण भाग के रूप में विकास नहीं किया। इसके सम्बन्ध में मुख्य बातें १८४८-५० के फ्रांस के क्रांतिकारी उपद्रवों से सम्बन्ध रखती हैं। तथापि, यह बात निश्चित थी कि यदि वर्गविहीन समाज को एक वास्तविकता बनना है, तो वह एक दिन में नहीं बन जाएगी। इसके लिए एक संक्रमण काल की आवश्यकता होगी। १८५० के बाद यूरोप की राजनीति में क्रांति का महत्त्व कम हो गया था और वह शांतिपूर्ण पथ पर अग्रसर होने लगी थी। फलत, इस विषय का आगे विवेचन अनावश्यक हो गया था। इस संकल्पना को १९१७ में लेनिन ने ग्रहण किया और उसे क्रांतिकारी मार्क्सवाद के पुनरुत्थान का एक साधन बनाया। लेनिन की क्रांति की सफलता ने इसे आधुनिक राजनैतिक चिन्तन के लिए एक महत्त्वपूर्ण विषय बना दिया है।

Selected Bibliography

Karl Marx's Interpretation of History By Mandell M. Bober. Second edition, revised Cambridge, Mass., 1948.

The Marxian Theory of the State. By S. H. Chang Philadelphia, 1931.

What Marx Really Meant. By G D H Cole, London, 1934.

The Materialistic Conception of History. By Karl Federn, London, 1939

"The Social Philosophy of Karl Marx" By A L Harris In *Ethics*, Vol LVIII (1948), No 3, Part II.

Towards the Understanding of Karl Marx By Sidney Hook. New York, 1933.

From Hegel to Marx. By Sidney Hook, New York, 1936

Reason, Social Myths and Democracy By Sidney Hook New York, 1940 Chs 9—12

Karl Marx : An Essay Harold J Laski London 1922

Karl Marx's Capital An Introductory Essay By A D Lindsay London, 1925.

Karl Marx, the Story of his Life By Franz Mehring Trans by Edward Fitzgerald New York 1935

The Open Society and its Enemies By K R Popper, 2 Vols London, 1945 Chs 13 21

An Essay on Marxian Economics By Joan Robinson London, 1942.

Democracy and Socialism By Arthur Rosenberg Trans by George Rosen, New York, 1939

Karl Marx, his Life and Work By Otto Ruhle Trans by F and C. Paul, New York, 1929

The Economic Interpretation of History By E R A Seligman Second edition New York, 1924

The Theory of Capitalist Development By P M Sweezy, New York, 1942

Human Nature The Marxian View By Vernon Venable New York, 1945



अध्याय ३४

साम्यवाद

(Communism)

कार्ल मार्क्स ने स्वयं एक बार कहा था कि वह मार्क्सवादी नहीं है। इसका कुछ अभिप्राय तो यह था कि वह अपने सामाजिक दर्शन को सैद्धान्तिक दृष्टि से अपूर्ण समझता था और कुछ यह था कि वह तथा एंगिल्स अपने बाद के जीवन में अपने कुछ शिष्यों को रूढ़िवादी समझते थे। मार्क्स के इस कथन का कुछ संकेत उन विविध तथा अनेक सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक प्रभावों के प्रति भी था जो उसके चिन्तन पर आधारित थे। ये प्रभाव इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों और राजनीति वैज्ञानिकों, राजनैतिक उपचार के प्रत्येक रूप, समाजवादी, सिंडिकलिस्ट और अराजकतावादी सबके ऊपर थे। जर्मन सोशल डैमोक्रेटिक पार्टी जैसे मार्क्सवादी दलों में भी मार्क्सवाद सामान्य रूप से स्वीकृत विचारों की पद्धति नहीं था। जब आकार तथा प्रभाव की दृष्टि से मार्क्सवादी दलों का विकास हुआ, तब उन्होंने मार्क्सवाद के क्रांतिकारी तत्त्वों को छोड़ दिया तथा वे अपने दर्शन में विकासवादी अथवा 'संशोधनवादी' और नीति में सुधारवादी हो गए। लेनिन, ऐसे सिद्धान्तवादियों की भी कमी नहीं थी जो मार्क्सवाद को क्रान्तिकारी समझते थे। मार्क्सवाद की व्याख्याओं का भी कोई अन्त नहीं था।[1] रूसी साम्यवाद के विकास के साथ ही ये सारे मतभेद केवल ऐतिहासिक महत्त्व के रह गए। रूसी मार्क्सवाद जो प्रथम विश्वयुद्ध तक केवल नाम का मार्क्सवाद रहा था, सर्वोत्कृष्ट मार्क्सवाद बन गया। मार्क्सवाद के इस पुनरुत्थान का श्रेय लेनिन को है यद्यपि ट्राट्स्की ने भी इसमें काफी योग दिया था—उससे अधिक जितना कि अधिकृत रूप से माना जाता है। लेनिन की मृत्यु और ट्राट्स्की के निर्वासन के पश्चात् स्टालिन ने उसका विकास किया। लेनिन, स्टालिन का कृतित्व अवसरोचित था, उसमें सैद्धान्तिक प्रगल्भता नहीं थी। इन विचारों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इनकी मार्क्सवाद पर निर्भरता को ध्यान में रखें और साथ ही यह समझें कि वे पश्चिमी यूरोप की मार्क्सवादी परम्परा से बहुत अलग थे।

---

1 See Francis W. Coker's *Recent Political Thought* (1934) chs 3-9.

लेनिनवाद का मार्क्सवाद से सम्बन्ध

(The Relation of Leninism to Marxism)

घोषणा की दृष्टि से लेनिन का मार्क्सवाद पूर्णरूप से रूढ़िवादी तथा कट्टर था। वह मार्क्स के सभी वचनों को 'वेदवाक्य' मानता था और उनकी तदनुसार ही व्याख्या करता था। अपने विरोधियों के ऊपर उसका सब से बड़ा आक्षेप यह रहता था कि वे मार्क्स के अर्थ में अपमिश्रण करते हैं। इस दृष्टि से लेनिन उस परम्परा का अनुसरण करता था जो रूसी मार्क्सवादियों ने पहले से ही निर्धारित कर दी थी। रूसी मार्क्सवादियों के बारे में एंगिल्स ने व्यग के भाव से १८९३ में कहा था, "ये लोग मार्क्स की रचनाओं और पत्रों के अवतरणों को बड़े विरोधी ढंगों में व्याख्या करते हैं—इस तरह व्याख्या करते हैं मानों वे प्राचीन प्रतिष्ठित ग्रन्थों अथवा न्यू टेस्टामेंट के पाठ हों।" इसके साथ ही लेनिन सिद्धान्त को सदैव ही कार्य का पथप्रदर्शक मानता था। वह कुछ गतिहीन नियमों का सकलन नहीं है, बल्कि प्रेरणाप्रद विचारों का सकलन है। वह यथार्थ परिस्थितियों के मूल्यांकन में प्रयुक्त होता है तथा व्यवहार में आवश्यकतानुसार उसे सशोधित किया जा सकता है। मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों को लेकर लेनिन का अपने अनुयायियों में अनेक बार तीव्र मतभेद हुआ और वह उन्हें ऐसे रास्तों पर ले गया जो मार्क्सवादी सिद्धान्तों की दृष्टि से समान नहीं थे। लेनिन का रूढ़िवाद करनी की अपेक्षा कथनी के लिए अधिक था। जब वह अपने रूढ़िवाद पर आचरण करता था, तो अक्सर उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता था। लेनिन के नेतृत्व में अनेक विशेषताएं थीं। उसमें कठोरता और नम्रता का अपूर्व समन्वय था, वह अवसर से तुरन्त लाभ उठा सकता था, वह मोर्चे बदल सकता था, लेकिन उसका यह मोर्चा बदलना युक्तिसगत अगला कदम मालूम पड़ता था। वह अपने रास्ते को छोड़े बिना ही दिशा बदल सकता था और अवसरवाद को सिद्धान्त के दृढ़ पालन के साथ समन्वित कर सकता था। मार्क्सवाद ने लेनिन के चिंतन में दो भूमिकाएं अदा कीं और साम्यवाद के क्षेत्र में उसकी ये भूमिकाएं अब भी चल रही हैं। एक ओर तो वह एक रूढ़ि, एक निरपेक्ष और अबाध्य सिद्धान्त अथवा अर्द्ध-धार्मिक प्रतीक था जिसका मुख्य कार्य एक लक्ष्य के लिए अविश्रांत भाव से कार्य करना था। दूसरी ओर वह व्याख्याओं तथा उपकल्पनाओं का सकलन था और उसका उद्देश्य राजनैतिक नीति को दिशा देना था। हां, अनुभवों के प्रकाश में उसमें आवश्यकतानुसार सशोधन हो सकता था। इन दो अतियों के बीच लेनिन की यह व्याख्या तैयार रहती थी कि कोई भी नीति, चाहे वह कितनी ही अप्रत्याशित क्यों न हो, वास्तव में मार्क्सवाद से हट कर नहीं होती थी। वह सदैव ही मार्क्सवाद के वास्तविक अभिप्राय को ज्यादा अच्छी तरह प्रकट करती थी।

स्टालिन ने अपने ग्रन्थ *Foundations of Leninism*, १९२४ में लेनिन दर्शन की अधिकृत परिभाषा यह दी है कि 'लेनिनवाद साम्राज्यवाद तथा सर्वहारा

क्रांति के युग का मार्क्सवाद है।" इस परिभाषा का अभिप्राय यह है कि लेनिन ने मार्क्सवाद को आधुनिक रूप दिया, उसने मार्क्स के बाद के पूंजीवादी समाज के विकास पर ध्यान दिया और उन प्रवृत्तियों को ध्यान में रख कर जिनको मार्क्स ने केवल आरम्भ ही देखा था, उसकी नीति तथा सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया। इसके साथ ही स्टालिन ने लेनिन के दर्शन की एक भिन्न तथा गलत व्याख्या की ओर भी ध्यान दिया जिसके अनुसार वह मार्क्सवाद का रूसी संस्करण है। बाद की व्याख्या को स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयां थीं। इसमें सब से बड़ी कठिनाई तो यह थी कि इससे लेनिनवाद का यह दावा खंडित होता था कि वह एक ऐसा सामाजिक दर्शन है जो सामान्य रूप से सभी देशों के ऊपर लागू हो सकता है। यदि इस दावे को स्वीकार कर लिया जाता, तो मार्क्सवादी सिद्धान्तकार के नाते लेनिन का कार्य असफल समझा जाता। सचाई यह है कि लेनिन ने मार्क्सवाद में जो अनेक परिवर्तन किए थे, वे परिवर्तन लेनिन के कार्य के सम्बन्ध में स्टालिन द्वारा प्रस्तुत विवरण से बहुत कम साम्य रखते हैं। कुछ दृष्टियों से यह सही है कि लेनिन के संशोधन ने मार्क्सवाद में विकास किया विशेषकर उन परिवर्तनों को ध्यान में रख कर जो पूंजीवाद के विकास के फलस्वरूप हुए थे। लेनिन और ट्राट्स्की दोनों का यह कहना था कि इन परिवर्तनों ने रूसी क्रांति की स्थिति को बिल्कुल बदल दिया था, उन क्रांतियों की तुलना में जिन्हें मार्क्स ने १८४०-५० में देखा था। यह भी सही है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने रूसी मार्क्सवादियों को चिंतित करना आरम्भ किया, लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्त में उससे काफी पहले महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए थे। सामान्य रूप से इन परिवर्तनों का आधार रूस की आन्तरिक स्थिति तथा जार की अधीनता में क्रांतिकारी दल की स्थिति थी। रूस में मार्क्सवादी दल की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि मार्क्सवाद को रूस की परिस्थिति के अनुसार ढाल लिया जाए।

एक क्रांतिकारी के रूप में लेनिन की सफलता के लिए पूंजीवाद के विकास के सिद्धान्त को समझने की अपेक्षा रूस को समझना ज्यादा जरूरी था।

रूस के समाजवादी दल ने पहले पहल १८८० में मार्क्सवाद को एक दर्शन के रूप में अंगीकृत किया था। यह रूस के स्वाभाविक समाजवाद के ऊपर जो कृषिगत तथा मानववादी था, एक प्रकार का आरोपण था। इस दर्शन का मुख्य सिद्धान्त यह विश्वास था कि सम्भवतः रूस को समाजवाद प्राप्त करने के लिए सामाजिक विकास की उस प्रक्रिया से होकर न गुजरना पड़े जो उद्योगवाद के अन्तर्गत सामान्य होती है। वहां यह आशा की जाती थी कि सम्भवतः साम्यवाद गांव अथवा मीर के आधार पर ही विकसित हो जाए। इसका निष्कर्ष यह था कि रूस में किसानों के बीच समाजवाद का प्रचार होना चाहिए। इसके विपरीत मार्क्सवादियों का यह विश्वास था कि सामन्तवाद के पश्चात् पूंजीवाद और पूंजीवाद के पश्चात् समाजवाद आना है। अतः अन्य देशों की भांति रूस में भी समाजवाद का उत्थान शहरी सर्वहारा वर्ग के ऊपर ही निर्भर है। आश्चर्य की बात यह है कि रूसी मार्क्सवादियों का जो दृष्टिकोण था, वह सुद

मार्क्स का दृष्टिकोण नहीं रहा था। इस बारे में हम पिछले अध्याय में संकेत कर चुके हैं। स्वभावत, कोई भी मार्क्सवादी रूस के राजनैतिक और आर्थिक पिछड़ेपन से अपरिचित नहीं था। लेनिन, उनके सिद्धान्त की सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि वे रूसी क्रांति में सर्वहारा वर्ग के महत्त्व को कम से कम रखते थे। क्रांति के संगठनकर्ता के रूप में लेनिन की शक्ति का एक स्रोत यह था कि वह रूसी मार्क्सवाद की इस प्रवृत्ति के आगे नहीं झुका और उसने किसानों तथा भूमि के प्रश्न की कभी उपेक्षा नहीं की। १९१७ में उसकी सफलता का एक प्रधान आधार यह था कि उसने यह समझ लिया था कि किसानों की स्वीकृति के बिना कोई क्रांति सफल नहीं हो सकती। तदनुसार, उसने भूमि का राष्ट्रीयकरण करने की अपनी नीति का स्थगित कर दिया था। लेनिन का मार्क्सवाद व्यवहार में बड़ा लचीला रहता था और वह बड़ी आसानी से ऐसी दिशा ग्रहण कर लेता था जिसे रूसी मार्क्सवादी मार्क्सवाद के बिल्कुल विपरीत समझते थे।

रूसी मार्क्सवाद के लिए केन्द्रीय महत्त्व की एक अन्य समस्या जो उसके इतिहास के आरम्भिक काल में ही पैदा हो गई थी, यह थी कि एक क्रांतिकर समाजवादी दल का संगठन किस प्रकार किया जाए और उसका षड्यन्त्रात्मक तथा विधिबाह्य कार्यों से क्या सम्बन्ध हो। दलगत संगठन के इस प्रश्न का इस बात से घनिष्ठ सम्बन्ध था कि राज्य में लोकतन्त्र के राजनैतिक सिद्धान्तों और व्यवहारों को स्वीकार किया जाए अथवा अस्वीकार। अन्त में रूसी साम्यवाद के राजनैतिक स्वरूप को निर्धारित करने में दल का निर्णायक हाथ रहा। तथापि १९१७ से पहले के वर्षों में रूसी मार्क्सवादियों के बीच इस प्रश्न पर तीव्र वाद विवाद रहा था। जमीन और किसानों के प्रश्न को लेकर जो बात हुई थी, वही बात यहां भी हुई। रूसी मार्क्सवादियों को मार्क्स और एंगिल्स से बहुत कम पथ-प्रदर्शन प्राप्त हुआ। १८५० के बाद रूसी क्रांतिकारियों ने भूमिगत कार्यवाइयां बन्द कर दी थीं। यह रास्ता भी ऐसा था जिस पर वे जार के शासन-काल में नहीं चल सकते थे। रूस में यह भी सम्भव नहीं था कि बड़े मार्क्सवादी दलों उदाहरण के लिए जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी, के हथकंडों का प्रयोग किया जाता। सामान्य रूप से इन दलों की यह धारणा थी कि समाजवादी कार्यक्रम की सफलता शासन को उदारवादी रूप देने पर निर्भर है, उद्योग-धंधों पर सामाजिक नियंत्रण के विस्तार से राजनैतिक स्वतन्त्रता कायम रहेगी और बढ़ेगी और सामाजिक दल अपने आन्तरिक संगठन में बोर्जुआ दलों की अपेक्षा अधिक लोकतन्त्रात्मक होंगे। रूस में इन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने की अपेक्षा इनकी दुहाई देना ज्यादा आसान था। वस्तुत, यह बात सन्देहास्पद है कि क्या रूस में इन आधारों पर कोई समाजवादी क्रांति सफल भी हो सकती थी।

इन प्रश्नों को लेकर, विशेषकर दलगत संगठन और नीतियों के प्रश्न को लेकर रूसी मार्क्सवादियों में बीसवीं सदी के आरम्भ से ही अनेक मतभेद थे। मार्क्स-

वादी सिद्धान्तकार के रूप में लेनिन सब से पहले एक विशेष प्रकार के दलगत संगठन के प्रवक्ता के रूप में उदित हुआ और वह अपने जीवन के अन्त तक मार्क्सियन सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी के बाल्शेविक पक्ष का नेता बना रहा।[1] लेनिन में दलगत संगठन-कर्त्ता और सिद्धान्तकार का अपूर्व समन्वय था। यह समन्वय ही उसकी शक्ति का स्रोत था। रूस का और कोई मार्क्सवादी ऐसा नहीं था जिसमें ये दोनों गुण समान मात्रा में मिलते हों। लेकिन, लेनिन पहले संगठनकर्त्ता था और फिर बाद में सिद्धान्तकार था। लेनिन की प्रत्येक रचना किसी न किसी विशिष्ट परिस्थिति के सन्दर्भ में लिखी गई था। इस प्रसंग में उसका एक ग्रन्थ *Development of Capitalism in Russia* ही अपवाद था। उसने यह ग्रन्थ अपने साइबेरिया के निर्वासन-काल में लिखा था। दल में लेनिन का महत्त्व एक सदस्य के रूप में ही था। क्रांति से पहले वह समाजवादियों में बहुत बदनाम था क्योंकि उसका नेतृत्व अधिनायकवादी ढंग का था। लेनिन अपने साथियों से पूर्ण आज्ञापालन की आशा रखता था। उसे अपनी नीतियों के सही होने का दृढ़ विश्वास रहता था। क्रांति के प्रति उसमें दृढ़ निष्ठा का भाव था और उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ रंचमात्र को भी नहीं था। यद्यपि उसके सिद्धान्तों में मार्क्स की दुहाई रहती थी, लेकिन इन सिद्धान्तों का निरूपण सदैव ही एक विशिष्ट कार्य-पद्धति तथा एक निश्चित परिस्थिति के सन्दर्भ में होता था। इसलिए, लेनिन का मार्क्सवाद अत्यधिक रूढ़िवादी भी था और व्यावहारिक भी। उसके इस समन्वय से इतिहासकारों को भी उसी प्रकार उलझन हो सकती है जिस प्रकार कि उसके मार्क्सवादी साथियों को होती थी।

लेनिन के गुट और उसके मेन्शेविक विरोधियों के बीच लम्बा और कटु वाद-विवाद क्रांति के पहले पन्द्रह वर्षों तक चलता रहा और और वह बड़ी द्वन्द्वात्मक सूक्ष्मता के साथ संचालित हुआ। गुटों के पीछे दृष्टिकोण का आधारभूत अन्तर था। यह अन्तर बोधगम्य था और व्यावहारिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण था। अन्तर का मुख्य प्रश्न यह था कि महायुद्ध के पहले रूस में समाजवादी दल का संगठन कैसा हो जिससे कि वह अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सके। जहां तक मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रश्न था, दोनों गुटों

1 बोल्शेविक और मेन्शेविक शब्द क्रमशः बहुमत और अल्पमत के लिए प्रयुक्त होते थे। १९०३ के दलगत सम्मेलन में दोनों पक्षों की सापेक्ष स्थिति के कारण ये नाम पड़े थे। यद्यपि, लेनिन का गुट बहुमत में नहीं था और कभी कभी उसका दल के रूप में अस्तित्व ही नहीं रहता था, फिर भी लेनिन नाम के महत्त्व के कारण अपने दल को बहुसंख्यक दल कहता था। १९०३ में जो फूट पैदा हुई, वह १९१२ तक पूर्ण और स्थायी नहीं हुई। इस बीच दोनों गुटों के बीच एकता स्थापित करने की अनेक कोशिशें हुईं लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के लिए बेट्राम डी० वुल्फे की पुस्तक देखिए : *Three Men who made a Revolution* (1948). chs. 14 and 30 and *passim*.

मे कोई आधारभूत मतभेद न था लेकिन इन सिद्धान्तो को कारगर रूप कैसे दिया जाए, इस बारे मे उनके विचार अलग-अलग थे। सामान्य रूप से बाल्शेविकों का विचार यह था कि आन्दोलन एक षड्यन्त्र के रूप मे गोपनीय रीति से सचालित होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह था कि दल के सदस्य घोर क्रातिकारी होने चाहिए, उन्हे क्राति के प्रति पूरी तरह निष्ठावान् होना चाहिए, उनमे कठोर अनुशासन तथा दृढ़ सगठन होना चाहिए उनकी सख्या छोटी ही होनी चाहिए जिससे कि उनकी गतिविधियो को गुप्त रखा जा सके, उसके सदस्यो को श्रमिक सघो तथा अन्य मजदूरों के बीच गुप्त रूप से कार्य करना चाहिए और उन लोगो को क्राति के प्रति सचेत रखना चाहिए। इसके विपरीत लेनिन के विरोधियो का यह विचार था कि मजदूरो को वैधानिक राजनैतिक कार्यवाही के लिए तैयार करना चाहिए। इसलिए, उनके लिए दल एक व्यापक सगठन था जिसमे श्रमिक सघ तथा मजदूरो की अन्य सस्थाए शामिल हो सकती थी। इस स्थिति मे यह आवश्यक है कि उसका सगठन विकेन्द्रीकृत अथवा सघीकृत और लोकतन्त्रात्मक हो। दो समुदायो की विचारधाराए सामान्य रूप से इन दो दृष्टिकोणो से साम्य रखती थी। एक ओर तो वे यह व्यक्त करती थी कि एक क्रातिकारी षड्यन्त्रकारी का विधिबाह्य गोपनीय समाज के प्रति क्या दृष्टिकोण हो और दूसरी ओर यह व्यक्त करती थी कि मजदूर का अपनी यूनियन के प्रति क्या दृष्टिकोण हो।[1] इन दृष्टिकोणो से ज्ञात होता था कि यदि क्राति एक बार सफल हो जाती, तो उसकी दिशा के बारे मे क्या अलग अलग विचार थे। स्पष्ट है कि लेनिन का दृष्टिकोण ऐसा था कि जो रूस के क्रातिकारी और आतकवादी सगठनो का, चाहे वे मार्क्सवादी हो या नही, काफी समय से रहा था। इसके विपरीत, उसके विरोधी पश्चिमी यूरोप के मार्क्सवादी दलो का अनुसरण करना चाहते थे। इस दृष्टि से लेनिन का मार्क्सवाद पूरी तरह से रूसी था और वह मार्क्सवादी परम्परा की मुख्य धारा से अलग था। इसमे कोई सन्देह नही कि रूस मे उसकी सफलता का मुख्य कारण यही था। लेकिन, लेनिन ने १९१७ की क्राति को जो दिशा दी, उसके कारण उसे भारी कीमत भी चुकानी पडी थी।

दल के सगठन के प्रश्न को लेकर लेनिन ने अपनी पहली सैद्धान्तिक पुस्तिका *What is to be done?* लिखी थी। यह पुस्तिका १९०२ मे इस्क्रा मे छपी थी। इस्क्रा एक नया पत्र था जिसका सस्थापक और सयोजक लेनिन था। इस रचना की मुख्य विषय-वस्तु निम्नलिखित अवतरण मे आ गई है।

"एक छोटा, सुगठित गुट जिसमे विश्वसनीय अनुभवी और कठोरहृदय मजदूर हो, मुख्य केन्द्रो मे अपने उत्तरदायी एजेंटो को रख कर, कठोर गोपनीयता के नियमो के आधार पर क्रातिकारियो के सगठनो के साथ सम्बद्ध होकर और जनता का व्यापक समर्थन मिलने पर, बिना किन्ही विस्तृत नियमो के ही श्रमिक सघ सगठन के

---

1 Wolfe, *Op cit*, p 367

समस्त कार्यों को कर सकता है और उन्हें इस ढंग से कर सकता है जो सोशल डेमोक्रेट पसन्द करते हैं।"[1]

ट्रेड यूनियनिस्ट और समाजवादी विचारधारा

(Trade Unionist and Socialist Ideology

लेनिन का यह उद्देश्य बिल्कुल नहीं था कि वह केवल राजनैतिक कार्यसाधकता के आधार पर दलगत सगठन का निर्माण करता। उसको और उसके अनुयायियों को यह अच्छी तरह ज्ञान था कि उसने ऊपर के उद्धरण में जिस दल का वर्णन किया है, वह जर्मनी के सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के ढंग पर नहीं बना था। वह इस बात को भी मानता था कि यह मार्क्सवाद के मान्य सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। लेनिन मार्क्स के इस वाक्य को अक्सर उद्धृत किया करता था, "मजदूर वर्ग की मुक्ति मजदूर वर्ग का ही काम है।" इस वाक्य में आर्थिक भौतिकवाद का यह सिद्धान्त आ जाता है कि उत्पादन के सम्बन्ध सर्वहारा वर्ग की विशिष्ट क्रान्तिकारी विचारधारा का निर्माण करते हैं और यह विचारधारा कारगर सामाजिक क्रान्ति का मुख्य स्रोत है। मार्क्सवादियों ने इस सिद्धान्त के आधार पर ही अपने वैज्ञानिक समाजवाद को कल्पनावाद से और अपरिहार्य क्रान्ति को आदर्शवादी स्वप्नदर्शी की निर्मित क्रान्तियों से भिन्न माना था। सामाजिक क्रान्ति बल प्रयोग के द्वारा नहीं हो सकती। सर्वहारा वर्ग की मनोवृत्ति औद्योगिक विकास पर निर्भर रहती है। इसलिए अन्तर्मन औद्योगिक विकास से परे जाकर भी औद्योगिक क्रान्ति सम्भव नहीं है। लेनिन यह सब समझता था, और इसलिए उसे यह पूरी तरह ज्ञान था कि जब तक वह मार्क्सवादी सिद्धान्त में आवश्यक संशोधन नहीं करता तब तक उसका दल सगठन का सिद्धान्त तर्क की दृष्टि से ठीक नहीं होगा। फलत, उसने मार्क्सवादी सिद्धान्त में बड़े साहसपूर्ण और उग्र परिवर्तन किए। उससे पहले ऐसे परिवर्तन अन्य किसी मार्क्सवादी ने नहीं किए थे। लेनिन ने कहा कि सामान्य मार्क्सवादी तर्क ट्रेड यूनियनों की विचारधारा और समाजवाद की विचारधारा को एक कर देता है। यह दृष्टिकोण गलत है। मजदूर अपने आप समाजवादी नहीं होते। पहले वे ट्रेड यूनियनों के सदस्य बनते हैं। समाजवाद तो बाहर से मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के द्वारा लाया जाता है।

---

1. *Collected Works* IV. Book II, p. 194. *Selected Works*, Vol II, p 133. लेनिन की सकलित रचनाओं का अंग्रेजी सस्करण जो मास्को के लेनिन इस्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित रूसी सस्करण से अनुदित है, अभी पूरा नहीं है। *Selected Works* 12 Vols. में लेनिन इस्टीट्यूट द्वारा चुने हुए गए अवतरण हैं। इन दोनों को इटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क ने प्रकाशित किया है।

"हमने कहा कि अभी मजदूरों में सामाजिक लोकतन्त्र की चेतना नहीं हो सकती थी। (यहां १८९०–१९०० की रूसी हड़तालों का जिक्र है)। यह चेतना बाहर से लानी पड़ती है। समस्त देशों का इतिहास यह प्रगट करता है कि मजदूर वर्ग केवल अपने प्रयत्नों से श्रमिक वर्गों की चेतना का ही विकास कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि वह यूनियन बनाने की, मालिकों से लड़ने की और आवश्यक सामाजिक विधान पास करने के लिए सरकार को विवश करने की आवश्यकता का खुद ही अनुभव कर सकता है।"[1]

लेनिन का तर्क था कि मार्क्स और एंगिल्स का समाजवादी दर्शन बोर्जुआ बुद्धिजीवियों ने निर्मित किया था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। रूस में इस दर्शन को लाने का श्रेय भी इसी दल को है। ट्रेड यूनियन आन्दोलन अपने आप ही किसी क्रांतिकारी विचारधारा का विकास नहीं कर सकता। इसलिए, ट्रेड यूनियनों के लिए यह जरूरी है कि वे क्रांतिकारी दल के साथ संयुक्त हों। यदि वे ऐसा नहीं करते तो या तो मध्य वर्ग की विचारधारा के शिकार हो जायेंगे अथवा समाजवादी बुद्धिजीवियों की।

समाजवादी विचारधारा विषयक यह कल्पना पश्चिमी मार्क्सवादियों की नहीं थी बल्कि रूसी क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों की थी। ये बुद्धिजीवी क्रांति को एक ऐसी चीज समझते थे जो जनता के पास बाहर से आनी चाहिए। इन लोगों के विचार से जनता क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों के नेतृत्व के बिना निरुद्देश्य, निरुद्यमी और असहाय होती है। रूस के ट्रेड यूनियनिस्टों के बारे में लेनिन का तर्क छोटे बोर्जुआ तथा किसानों के बारे में मार्क्स के तर्क से साम्य रखता था। मार्क्स का विचार था कि छोटे बोर्जुआ और किसान राजनैतिक दृष्टि से शक्तिहीन होते हैं। वे तो या बोर्जुआ वर्ग का अनुसरण करते हैं या सर्वहारा वर्ग का। लेनिन ने यह तर्क सर्वहारा वर्ग के ऊपर लागू किया। मजदूर वर्ग अपनी विचारधारा का निर्माण नहीं कर सकता। वह दो विचारधाराओं के बीच में लटका रहता है—एक बोर्जुआ वर्ग की विचारधारा होती है और दूसरी क्रांतिकारी समाजवादी वर्ग की। इन दोनों विचारधाराओं में से उसे कोई भी अपनी ओर आकृष्ट कर सकती है। लेकिन, दल या बुद्धिजीवी ही उस विचारधारा का निर्माण करता है जिस पर क्रांति निर्भर रहती है। लेनिन ने सर्वहारा क्रांति के क्षेत्र में बुद्धिजीवियों को अत्यधिक और स्वयं सर्वहारा वर्ग को बहुत कम महत्व दिया है। इस दृष्टि से वह अन्य राजनैतिक विचारकों से बिल्कुल भिन्न है। स्पष्ट है कि लेनिन ने १९०२ में दल तथा उसकी विचारधारा के बारे में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, उसने सर्वहारा वर्ग में अधिनायकवाद के अर्थ का पूर्वाभास दे दिया था।

---

1 *Collected Works*, Vol IV Book II pp 114 I *Selected Works* Vol II, p 53.

तथापि, इसे बड़ी सुगमता से मार्क्सवाद का द्वंद्वात्मक प्रतिवाद कहा जा सकता है। यदि, जैसा कि असंख्य मार्क्सवादी विचारकों ने कहा है, "नए सामाजिक विचार और सिद्धान्त उसी समय उत्पन्न होते हैं जबकि समाज का भौतिक विकास समाज के सम्मुख नए उद्देश्य उपस्थित कर देता है।"[1] और यदि मजदूर वर्ग अपने औद्योगिक अनुभव के द्वारा ट्रेड यूनियनवाद की मनोवृत्ति का विकास करता है और उसके आगे नहीं जा पाता, तो फिर यह क्यों न माना जाए कि मजदूर वर्ग की विचारधारा के विकास में यह अन्तिम कदम है और ट्रेड यूनियन के हथकंडे सर्वहारा वर्ग का पूंजीवाद के लिए अन्तिम बचाव है? अथवा, यदि मध्यवर्ग समाजवादी विचारधारा का निर्माण करता है और वही उसे सर्वहारा वर्ग के बीच में फैलाता है, तो फिर समस्त मार्क्सवादियों द्वारा स्वीकृत उस सिद्धान्त का क्या शेष रहता है जिसके अनुसार समाज में उत्पादन के सम्बन्ध मनुष्यों के सचेतन और सविवेक प्रयत्नों के फलस्वरूप नहीं, प्रत्युत् अपने आप, अचेतन रूप से, मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र होकर उत्पन्न होते हैं? पुनः, आर्थिक भौतिकवाद के किस जादू से उत्पादन व्यवस्था, जिसने पूंजीपति वर्ग और मजदूर वर्ग का निर्माण किया है और उन्हें एक दूसरे का विरोधी बनाया है, मध्यवर्ग में से एक ऐसे बुद्धिजीवी वर्ग को पैदा करती है जिसका सामाजिक कार्य मध्यवर्ग का नाश करने के लिए एक विचारधारा का निर्माण करना है। यदि क्रांति दल के द्वारा निर्मित एक विचारधारा के आधार पर होती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं, तब क्या मार्क्स उस समय अत्यधिक विनम्र नहीं था, जब उसने यह कहा कि उसका दर्शन, "प्रसव पीड़ा को केवल कुछ कम कर सकता है।" रूसी साम्यवाद एक विदेशी आयात था। केवल एक कड़ी ही ऐसी थी जो सामान्य सामाजिक दर्शन के रूप में उसकी मार्क्सवाद के साथ निरन्तरता को कायम रख सकती थी। वह कड़ी यह धारणा थी कि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद सर्वत्र एक एकीकृत विचारधारा का निर्माण करता है। इस बात को लेनिन की अपेक्षा ट्राट्स्की ने ज्यादा जल्दी समझ लिया था।

१९०२ में लेनिन को किसी दार्शनिक पद्धति के निर्माण की विशेष चिंता नहीं थी। उस समय उसकी विशेष रुचि एक सशक्त दल तथा कारगर दलगत संगठन में थी। इस दृष्टि से देखने पर सामाजिक विचारधारा विषयक उसका सिद्धान्त बोधगम्य था और उसने एक ऐसी सामाजिक समस्या का सामना किया जिसकी रूस का कोई भी दल जो सफलता प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प हो, उपेक्षा नहीं कर सकता था। मार्क्स का यह सिद्धान्त कि क्रांति को परिपक्व होना चाहिए अथवा कोई भी समाज विधान की स्वाभाविक अवस्थाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता, संशोधनवाद को आमंत्रण देता

---

1. Stalin, "Dialectical and Historical Materialism", *Leninism - Selected Writings* (New York, 1942), pp 417 f

था और इसलिए उसका क्रांतिकारी दलों के ऊपर बड़ा बुरा असर पड़ता था। जो क्रांतिकारी क्रांति के परिपक्व होने की प्रतीक्षा करता है, वह अवसर से चूक सकता है। लेनिन ने १९१७ में कहा था, 'निर्णायक क्षण पर और निर्णायक स्थान पर आपको अधिक शक्तिशाली प्रमाणित होना चाहिए। आपको विजयी होना चाहिए।' कभी-कभी सामाजिक पद्धति का द्वन्द्वात्मक विकास एक ऐसे नेता और दल की क्रांतिकारी इच्छा में समाविष्ट हो जाता है जो सफलता के संयोगों से जुआ खेलने के लिए तैयार होती है। मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के बारे में विस्तार से इसलिए विचार नहीं किया था क्योंकि उसके क्रांति-विषयक प्रयत्न सफलता की सीमा तक कभी नहीं पहुंच सके थे। फलत, मार्क्स के चिंतन में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का प्रश्न केवल एक काल्पनिक प्रश्न ही बना रहा। लेकिन, लेनिन इतिहास के द्वन्द्वात्मक विकास में दृढ़ आस्था रखने के साथ-साथ पक्का क्रांतिकारी भी था। लेनिन ने १९०२ में दल-संगठन के विषय में अपनी योजना प्रकाशित की थी। १९०५ में रूस में क्रांति हो गई। इस क्रांति में यह समस्या एक व्यावहारिक समस्या के रूप में सामने आई कि कोई समाजवादी दल एक बोर्जुआ क्रांति के समय किन हथकंडों का प्रयोग करे। इस अध्याय में आगे चल कर हम इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करेंगे। यहां हमें यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि मजदूर वर्ग की क्रांति के बारे में लेनिन के मन में क्या धारणाएं थीं। यदि हम मार्क्सवाद की तकनीकी बातों को निकाल दें, तो इसका यह अभिप्राय था : मजदूरों में चाहे वे खेती में लगे हों अथवा उद्योग में, क्रांति के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। चूंकि लेनिन को इसमें कभी सन्देह नहीं था कि क्रांति अनिवार्य है, अत इसका अभिप्राय यह कहना होता था कि उनमें अपने आप विचार करने की बहुत कम क्षमता है, वे आर्थिक पद्धति के अपने अनुभव से बहुत कम सीखते हैं, उनके लिए क्या हितकर है, इस बारे में खुद उनके विचार कोई विशेष महत्व नहीं रखते। अत, यदि उनको एकाकी छोड़ दिया जाए तो उनमें स्वशासन की स्वाभाविक क्षमता नहीं होती। "दल के प्रभाव के अतिरिक्त मजदूरों के लिए कोई स्वतन्त्र क्रिया-कलाप नहीं होता।" फलत, उन्हें अपने विचार पेशेवर मार्क्सवादियों से ग्रहण करने चाहिए। वे लोग क्रांति की द्वन्द्वात्मक पद्धति समझते हैं और यह बता सकते हैं कि क्रांति का क्या परिणाम होगा। समाजवाद की इस शिक्षणात्मक संकल्पना ने लेनिन को पश्चिमी यूरोप की मार्क्सवादी परम्परा से अलग कर दिया। लेनिन के इस दृष्टिकोण की क्रांतिविरोधियों ने नहीं, प्रत्युत् रोजा लुक्जेम्बर्ग जैसे क्रांतिकारियों ने तीव्र आलोचना की। लेनिन जिस चीज को सर्वहारा वर्ग का अनुशासन कहता था, वह उसकी शब्दावली में सामाजिक लोकतन्त्र का ऐच्छिक अनुशासन नहीं, प्रत्युत् दल की केन्द्रीय समिति का अनुशासन था।"

दल

(The Party)

अत, लेनिन ने मार्क्सवाद मे जो सशोधन किया और रूसी क्रान्ति ने जिस रास्ते का अनुसरण किया, उसका आधार उसका दलगत सिद्धान्त था। लेनिन के मत से दल कुछ विशिष्ट बुद्धिजीवियो और नीतिज्ञ पुरुषो का एक सुसगठित गुट होता है। यह चुने हुए बुद्धिजीवियो का गुट इस अर्थ मे था कि उनकी मार्क्सवाद विषयक विद्वता मार्क्स के सिद्धान्त की शुद्धता को कायम रखती है तथा दल की नीति का पथ-प्रदर्शन करती है और जब दल शक्ति प्राप्त कर लेता है तब राज्य की नीति का पथ-प्रदर्शन करता है। वह चुने हुए नीतिज्ञ पुरुषो का सगठन इस अर्थ मे है कि चुनाव और कठोर दलगत प्रशिक्षण के कारण ये लोग दल तथा क्रांति के प्रति पूरी तरह से निष्ठावान हो जाते हैं। दल सम्बन्धी यह सकल्पना समाजवाद के सिद्धान्त मे कोई नई चीज नहीं थी। तथापि, इस सकल्पना का निरूपण मार्क्स ने नही बल्कि फ्रेंच सिडिकलिस्ट ब्लाकी ने किया था। लेनिन के मत मे दल सदैव ही मजदूर वर्ग के आदोलनो के बीच मे रहता है। वह इन आदोलनो को आवश्यकतानुसार नेतृत्व तथा पथ-प्रदर्शन प्रदान करता है। तथापि, दल कार्यकर्त्ता समुदाय से विशिष्ट होता है। लेनिन के मन मे यह इच्छा नहीं थी कि कार्यकर्ताओ को दल की सदस्यता से अलग रखा जाए लेकिन वह यह जरूर चाहता था कि जिन लोगो को चुना जाए उनकी कड़ी परीक्षा हो, तथा उन्हें दल की सदस्यता का कठोर प्रशिक्षण दिया जाए। दल का प्रयोजन सर्वहारा वर्ग तथा सम्पूर्ण जनता की भलाई करना है लेकिन उनके लिए क्या भला है, इसका एकमात्र निर्णायक दल ही है। इस तरह सर्वहारा वर्ग के शक्ति प्राप्त करने और उसे प्राप्त करके कायम रखने के संघर्ष मे दल की स्थिति सैनिक सगठन की भांति है। वह सर्वहारा वर्ग की अग्रिम सैनिक शक्ति है। वह वर्ग चेतना मे और मजदूर वर्ग के लिए त्याग करने मे सब से आगे रहता है। मार्क्सवाद का सिद्धान्त उसे एकता के सूत्र मे ग्रथित रखता है और सगठन उसे शक्तिशाली बनाता है।

जब मे लेनिन ने क्रांति की बागडोर अपने हाथ मे सम्भाली थी, वह उसी समय से क्रांतिकारी आन्दोलन को दो सुदृढ आधारशिलाओ पर रखना चाहता था—मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर आदर्श एकता और कठोर सगठन तथा अनुशासन के आधार पर भौतिक एकता। निम्नलिखित दो उद्धरण यह सिद्ध करते है कि लेनिन इस प्रयोजन को कितनी दृढता से मानता था। पहला उद्धरण उसकी पुस्तिका *One Step Forward, Two Steps Back* से है। यह पुस्तिका १९०४ में प्रकाशित हुई थी।

"अपने शक्ति-सघर्ष में सर्वहारा वर्ग के पास सगठन के अतिरिक्त अन्य कोई हथियार नही है। पूजीवादी ससार की अराजकतापूर्ण प्रतियोगिता द्वारा विभक्त

पूँजीपतियों द्वारा पूरी तरह से प्रताडित, पतन, अधोगति तथा वहशीपन के गर्त में पड़े हुए मजदूर उसी समय एक अप्रतिहत शक्ति का रूप धारण कर सकते हैं और निश्चित रूप में करेंगे, जब मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के आधार पर उनकी वैचारिक एकता संगठन की भौतिक एकता के द्वारा दृढ़ हो जाती है और वे लाखों-करोड़ों कामगर मजदूरों की सेना का रूप धारण कर लेते हैं।"[1]

दूसरा उद्धरण कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कांग्रेस (१९२०) में स्वीकृत एक प्रस्ताव में लिया गया है

"साम्यवादी दल मजदूर वर्ग का एक भाग है। वह उसका सब से अधिक उन्नत, वर्ग-चेतन और इसलिए सब से अधिक क्रांतिकारी भाग है। साम्यवादी दल सब से अच्छे, सबसे बुद्धिमान्, आत्म-त्यागी और दूरदर्शी मजदूरों से मिल कर बनता है। साम्यवादी दल वह संगठित राजनैतिक व्यवस्था है जिसके द्वारा मजदूर वर्ग का अधिक उन्नत भाग समस्त मजदूरों और अर्द्ध मजदूरों को सही दिशा में ले जाता है।"[1]

बाद का उद्धरण १९३४ के चार्टर में, १९३९ के संशोधित चार्टर में और फिर १९३६ के संविधान में दल के विवरण का आधार बन गया। १९३६ के संविधान ने दल को पहली बार वैधानिक स्थिति प्रदान की। संविधान के अनुसार दल "मजदूरों के सभी संगठनों के प्रमुख तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है।" स्तालिन ने संविधान के "अविच्छिन्न तथा पूर्ण लोकतन्त्रवाद की सराहना की" क्योंकि यह बोर्ज़ुआ लोकतन्त्रात्मक संविधानों के परित्राणों तथा प्रतिबन्धों से मुक्त होता है और कहा

"मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि नए संविधान का प्रारूप मजदूर वर्ग की अधिनायकता के शासन को कायम रखता है और इसके साथ ही यू० एस० एस० आर० की कम्युनिस्ट पार्टी की वर्तमान प्रमुख परिस्थिति को अपरिवर्तित रखता है।

"दल वर्ग का एक भाग होता है, उसका सबसे अधिक उन्नत भाग होता है। जिस समाज में विरोधी दल हों तथा उन दलों के विरोधी हित हों, उस समाज में ही अनेक दल हो सकते हैं तथा दलों की स्वतन्त्रता हो सकती है

यू० एस० एस० आर० में केवल दो वर्ग हैं —किसान और मजदूर। इन वर्गों के सम्बन्ध एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि मित्रतापूर्ण हैं। इसलिए, यहां इस बात की कोई जरूरत नहीं है कि अनेक दल हों अथवा दलों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो।"[2]

---

1 पहला उद्धरण *Selected Works*, Vol. II, p 466 पर है। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की थीसिसों और संविधियों को जो १९२० में अंगीकृत की गई थी *Blueprint for World Conquest* में छापा गया है। (वाशिंगटन, १९४६) यह उद्धरण पृ० ७३ f. पर है।

2. *Leninism : Selected Writings* (New York, 1942), p. 395.

इस प्रकार, लेनिन ने १९०४ मे दल का जिस सकल्पना का निर्माण किया था, दल की वही सकल्पना अब तक कायम रही है। क्रांति की सफलता के साथ ही साथ दल शासन का मुख्य प्रेरणा-स्रोत बन गया। इस सम्बन्ध मे स्टालिन ने १९२८ में कहा था

"सोवियत यूनियन मे जहा सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद क्रियाशील है, हमारे दल के निर्देशो के बिना, हमारी सोवियतें अथवा अन्य जनसगठन, किसी भी महत्वपूर्ण राजनैतिक अथवा सगठन सम्बन्धी समस्या पर निर्णय नही करते। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद वास्तव में दल का अधिनायकवाद है क्योकि दल ही सर्वहारा वर्ग का पथप्रदर्शन करता है।"[1]

लेनिन का दल सम्बन्धी विचार उसके दार्शनिक मार्क्सवाद विषयक विचार का प्रतिभाग अथवा पूरक था। मार्क्सवाद एक रूढि और एक प्रतीक है, जो गहनतम निष्ठा की माग करता है। इसके साथ ही वह कार्य के लिए वैज्ञानिक पथ-प्रदर्शन भी प्रदान करता है। इसी प्रकार, दल सत्य का पुजारी के समान ही अभिरक्षक है। अशिक्षित और दुष्ट व्यक्ति सत्य को विकृत करने का प्रयत्न करते हैं। उनसे उसकी शुद्धता की रक्षा का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। इसके साथ ही दल विशेष नीतिज्ञ पुरुषो का एक सगठन है। ये लोग इतिहास तथा समाज के एक वैज्ञानिक सिद्धान्त से सज्जित होते हैं। लेनिन मार्क्सवादी दर्शन की शुद्धता तथा दल की दृढता की दुहाई देते कभी नहीं थकता था।

"समाजवादी विचारधारा के महत्त्व को जरा भी कम करना, उससे जरा भी हटना, पूजीवादी विचारधारा को मजबूत करना है।"

आलोचना की स्वतन्त्रता अवसरवादिता, सिद्धान्तहीनता 'बर्नस्टीन सशोधनवाद' और इसलिए एक प्रकार की गद्दारी है।

"हम एक सकटपूर्ण और मुश्किल रास्ते पर एक दूसरे का हाथ पकडे हुए एक सुसगठित समुदाय के रूप मे चल रहे हैं। हम चारो ओर शत्रुओ से घिरे हुए हैं और हमारे ऊपर निरन्तर ही उनकी गोलिया बरस रही हैं। हमने इच्छा से सगठन किया है, विशेषकर शत्रु से लडने के लिए इसलिए नही कि हम पास के दलदल मे फस जाए। अब हमारी भीड मे से अनेक लोग कहते हैं कि चलो, दलदल की ओर चलो।"[2]

---

1 Quoted in *Socio-Economic Movements* (1946), ed. Harry W. Laidler, p 428. दल की वर्तमान सकल्पना के बारे मे देखिए Julian Towster, *Political Power in the U.S.S.R.* (1948), ch. 6

2 *What is to be done? Collected Works*, Vol. IV, Book II. pp 123, 97. *Selected Works*, Vol. II, pp 62, 63

इसके साथ ही सिद्धान्त के आधार पर ऐसी शुद्ध वैज्ञानिक भविष्यवाणियां की जा सकती हैं कि राजनीति एक प्रकार की इंजीनियरी बन जाती है। कम्यूनिस्ट पार्टी के सरकारी इतिहास में कहा गया है

"मार्क्सवाद-लेनिनवादी सिद्धान्त की शक्ति यह है कि वह दल को किसी भी स्थिति में सही दिशा प्रदान करता है, वर्तमान घटनाओं के आन्तरिक अर्थ का बोध कराता है, उनके प्रवाह को समझ लेता है, और केवल यही नहीं जान लेता कि वे वर्तमान में किस प्रकार तथा किस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं बल्कि यह भी जान लेता है कि वे भविष्य में किस प्रकार और किस दिशा में आगे बढ़ेंगे।"[1]

इसलिए, दल का यह भी कार्य है कि वह 'मार्क्स लेनिनवादी सिद्धान्त' के प्रकाश में नीतिविषयक प्रश्नों को तय करे और विभिन्न विचारों की शुद्धता के बारे में अपने निर्णय दे। इस दुहरे कार्य का परिणाम निकलता है स्वतन्त्र चिंतन और गुप्त निर्णय। पश्चिम के आलोचकों को रूसी राजनीति का यह तत्त्व बड़ा रहस्यमय लगा है। जब कभी कोई विचारधारा निर्माण की प्रक्रिया में होती है उस समय कुछ प्रश्नों पर विचार हो सकता है और उनके बारे में आलोचना की गुंजायश रहती है। अन्य प्रश्न ऐसे होते हैं जिनके बारे में निर्णय हो चुकता है और फिर उन पर आलोचना की गुंजायश नहीं रहती। पश्चिमी यूरोप के चिंतन में निश्चित सीमाओं के भीतर स्थिर सिद्धान्तों तथा मुक्त वाद विवाद के समन्वय का कोई सादृश्य नहीं मिलता। यहां यदि हमें इसके नजदीक की कोई चीज दिखाई देती है, तो वह मध्ययुग का स्वानुभूति तथा विवेक का अन्तर है। इस दृष्टि से साम्यवाद एक प्रकार का राजनैतिक धर्मवाद (political clericalism) है और उसका दर्शन एक प्रकार का लौकिक पांडित्यवाद (secular scholasticism) है। मार्क्सवाद जितना ही बदल सकता है, लेकिन इन परिवर्तनों का आधार मार्क्सवाद के अपरिवर्तनशील सिद्धान्तों का अटल पुनरुत्थान होना चाहिए। दल की वाणी देववाणी के समान पावन होती है और वह कभी गलती नहीं करती।

दल के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि उसका संगठन बहुत अधिक केन्द्रीकृत अथवा सोपानबद्ध होना चाहिए। उसमें सत्ता का प्रसार ऊपर से नीचे की ओर होना चाहिए। लेनिन का विचार था कि दलगत संगठन में लोकमत व्यर्थ और हानिकर होता है"। लेनिन ने ऐसे विकेन्द्रीकरण अथवा संघवाद का सदैव ही विरोध किया जो स्थानीय समुदायों को स्वतन्त्रता प्रदान करता था अथवा दल के अवयवी तत्त्वों को स्वायत्तता देता था। १९०४ से १९१७ तक लेनिन इस विषय के वाद विवाद में उलझा रहा। कारण यह था कि यह बोल्शेविकों और मेन्शेविकों के बीच विवाद का

1 *History of the Communist Party of the Soviet Union (Bolsheviks) Short Course* (New York, 1939), p 355.

एक प्रधान विषय था। कभी-कभी आलोचना के कारण उसे कुछ समय के लिए पीछे हटना पड़ता था, लेकिन उसने अपने दृष्टिकोण को कभी नहीं बदला। अपनी स्थिति के विवेचन के लिए उसने "लोकतन्त्रात्मक केन्द्रवाद" (Democratic Centralism) शब्द गढ़ा था। "लोकतन्त्रात्मक केन्द्रवाद" के लोकतन्त्र को लेनिन के अतिरिक्त और कोई नहीं समझ सकता था। १९०४ में One Step Forward, Two Steps Back में उसने इस प्रश्न को निम्नलिखित रूप में उपस्थित किया था

"नौकरशाही बनाम लोकतन्त्र वही चीज है जैसे कि केन्द्रवाद बनाम स्वचालनवाद (Automatism)। वह सोशल डेमोक्रेसी के अवसरवादियों के संगठनात्मक सिद्धान्त के विरोध में क्रांतिकारी राजनैतिक लोकतन्त्र का संगठनात्मक सिद्धान्त है। सोशल डेमोक्रेसी के अवसरवादी नीचे से ऊपर की ओर जाना चाहते हैं और इसलिए जहां कहीं सम्भव होता है तथा जिस सीमा तक सम्भव होता है, वे स्वचालनवाद तथा लोकतन्त्र का समर्थन करते हैं। क्रांतिकारी राजनैतिक लोकतन्त्र के समर्थक ऊपर से चलते हैं और वे अंगों की तुलना में केन्द्र के अधिकारों और शक्तियों का समर्थन करते हैं।"[1]

इस वाद-विवाद के दौरान लिओन ट्राट्स्की ने जो उस समय मेंशेविक था और इसलिए लेनिन के विरोध में था, निम्नलिखित आश्चर्यजनक भविष्यवाणी की थी :

"दल का संगठन दल का स्थान ले लेता है, केन्द्रीय समिति संगठन का स्थान ले लेती है और अन्त में अधिनायक केन्द्रीय समिति का स्थान ले लेता है।"[2]

१९१७ में ट्राट्स्की बारह वर्ष पूर्व की गई इस भविष्यवाणी को भूलने के लिए तैयार था लेकिन १९२७ के पश्चात् उसे अवश्य ही इसकी याद आई होगी। उस समय वह अधिनायकवाद के विकास का इस रूप में विवेचन कर रहा था मानो वह "थर्मिडोरियन प्रतिक्रिया" अथवा "क्रांति के प्रति विश्वासघात" हो। सब मिलाकर उसकी पहले की अन्तर्दृष्टि बेहतर थी। लेनिन के दल ने क्रांति को और लेनिन के दलगत सिद्धान्त ने सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के राजनैतिक दर्शन को निश्चित किया।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के बारे में लेनिन के विचार

(Lenin on Dialectical Materialism)

लेनिन के दृष्टिकोण की अर्द्ध-धार्मिकता उसकी मुख्य सैद्धान्तिक कृति *Materialism and Empirio-Criticism* में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इसका

1. *Selected Works*, Vol II, pp 447 f
2. Quoted by Wolfe, *Op. Cit.* p. 253

यह ग्रन्थ १९०९ में प्रकाशित हुआ था। ऊपरी तौर से इस पुस्तक में सामान्य दार्शनिक समस्याओं पर विचार किया गया है—द्वंद्वात्मक पद्धति का स्वरूप क्या है, उसका प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है, भौतिकवाद, आदर्शवाद और वैज्ञानिक भाववाद दार्शनिक पद्धतियों के रूप में कहां तक ठीक हैं? लेकिन वास्तव में यह पुस्तक दल के एक वाद-विवाद के दौरान लिखी गई थी। लेनिन इस तरह के वाद विवादों में सदैव ही लगा रहता था।[1] लेनिन के दल के कुछ साथी और सम्पादक मार्क्सवाद को अर्नस्ट माच (Ernst Mach) के वैज्ञानिक भाववाद की संगति में लाना चाहते थे। लेनिन ने इस प्रयत्न का विरोध करने के लिए ही *Materialism and Empirio Criticism* की रचना की थी। मार्क्सवाद की अर्नस्ट माच के वैज्ञानिक भाववाद के साथ संगति दार्शनिक आधार पर उसी समय स्थापित की जा सकती थी जब कि मार्क्स का हीगेल के साथ सम्बन्ध छोड़ दिया जाता और उसके द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को केवल एक कामचलाऊ उपकल्पना ही माना जाता। इसका अभिप्राय यह था कि मार्क्सवाद में उग्र संशोधन किया जाता। लेनिन को स्वभावतः इस पर आपत्ति हो सकती थी। लेनिन ने जिन पुस्तकों पर आपत्ति की उनमें उसे मार्क्सवाद के शुद्ध सिद्धान्तों से विचलन दिखाई देता था। मार्क्सवाद के शुद्ध सिद्धान्त को उसने बड़े रूढ़िवादी ढंग से प्रतिपादित किया।

"मार्क्सवाद का दर्शन फौलाद के एक ठोस पिंड की तरह है। आप इसमें से एक भी मूलभूत धारणा, एक भी सारभूत अंश नहीं निकाल सकते। यदि आप ऐसा करते हैं, तो आप वस्तु सत्य को त्याग देते हैं, आप पूंजीवादी-प्रतिक्रियावादी झूठ के हाथों में पड़ जाते हैं।"[2]

लेनिन ने अपने तर्क की समस्त महत्त्वपूर्ण बातें एंगिल्स के *Anti Duhring* और *Feuerbach* से ली थीं। लेकिन एंगिल्स और लेनिन की तर्कपद्धतियों में समानताएं कम, असमानताएं अधिक थीं। एंगिल्स अपने विरोधियों के सिद्धान्तों पर आक्षेप करता था, उनके चरित्रों पर नहीं। लेकिन, लेनिन के लिए मतभेद एक नैतिक प्रश्न बन गया। उसके लिए उसके विरोधी का दर्शन 'अपराधी अन्तरात्मा' का चिह्न था। 'वैज्ञानिक माच का दर्शन विज्ञान के लिए वैसी चीज है जैसे कि ईसा के लिए जुडास का चुम्बन।" लेनिन के विरोधियों ने जो कुछ कहा, लेनिन ने उसकी निन्दा नहीं की। लेनिन के विचार से उसके विरोधियों का जो अभिप्राय था, अथवा उनका जो स्वार्थपूर्ण प्रयोजन था, उसने उसी अभिप्राय की निन्दा की। लेनिन के विचार से यदि दर्शन में किसी नए दृष्टिकोण का पता लगाने का प्रयास किया जाता है, तो वह "आत्मा

1. Wolfe, *Op. Cit.*, Ch 29

2. *Collected Works*, Vol XIII, p 281. *Selected Works*, Vol XI, p 377.

की दरिद्रता" को प्रकट करता है। चूंकि लेनिन की पुस्तक में ऊपरी तौर पर दार्शनिक विवेचन किया गया था, लेकिन इसमें वास्तव में उन व्यक्तियों पर आक्षेप किया गया था, जिनके लेनिन ने केवल कुछ अंशों को ही पढ़ा था, अतः यह कहना कठिन है कि उसकी कटुता उसके वास्तविक विश्वास को कहां तक प्रकट करती है और कहां तक वह अपने विरोधी को बदनाम करने के लिए इस शब्दावली का प्रयोग करता था।

मैटीरियलिज्म एण्ड एम्पीरिओ-क्रिटिसिज्म का दार्शनिक तर्क बड़ा सादा और सतही था। उसने एंगिल्स के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था कि प्रत्येक दर्शन को या तो आदर्शवादी होना चाहिए या भौतिकवादी। तीसरा रूप सिर्फ भ्रम या बहाना मात्र होता है। आदर्शवाद एक प्रकार का धर्मवाद है। पादरियों ने स्थान-निरपेक्ष तथा भौतिकता-निरपेक्ष प्राणियों का आविष्कार केवल जनता को धोखा देने के लिए किया था। वह एक निकृष्ट सामाजिक व्यवस्था की एक निकृष्ट उपज थी। लेकिन, आदर्शवाद पूरी तरह से मूर्खतापूर्ण नहीं होता। दूसरी ओर वैज्ञानिक भाववाद "आदर्शवाद और भौतिकवाद से परे जाने का एक कूट विद्वत्तापूर्ण बहाना," "गुप्त धर्मवाद", "सन्तोषकारी नीम हकीमी" और रूढ़ियों को "पूंजीवादी, अशिष्ट तथा कायरतापूर्ण सहिष्णुता" है। लेनिन ने माख के वैज्ञानिक भाववाद का आधार काट तथा ह्यूम की दार्शनिक परम्परा को माना था। एंगिल्स की भांति लेनिन भी उसे इस तथ्य के आधार पर तिरस्कृत मानता था कि वक्तव्यों को अनुभव के आधार पर परखा जा सकता है। लेनिन भाववाद को आद्यतः बर्कले के आदर्शवाद का संशोधित रूप अथवा आत्मवाद का समानार्थक मानता था। इस मत के अनुसार वस्तुपरक सत्य अथवा वास्तविकता का अस्तित्व केवल चेतना की परतों में ही होता है, अन्यत्र नहीं। वह धार्मिक विश्वास का केवल भ्रमयुक्त अथवा आडम्बरयुक्त समर्थन ही करता है। लेनिन ने इस ऐतिहासिक तथ्य की बड़ी सुगमता से उपेक्षा कर दी थी कि ह्यूम का दर्शन आधुनिक काल में धार्मिक रूढ़िवाद का सब से बड़ा शत्रु रहा है। दूसरी ओर लेनिन ने भौतिकवाद को भी बड़े निम्न धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया था। उसका कहना था कि वस्तुपरक वास्तविकता (अर्थात् पदार्थ) हमारे ज्ञान से स्वतन्त्र होकर रहती है। लेनिन के मत से इसके तीन अर्थ हो सकते हैं—प्रतिबोध (perception) हमारे मन में चीजों के बारे में सही प्रभाव पैदा करता है, हम वस्तुओं को खुद ही सीधे जान लेते हैं और वस्तुएं हमारी इन्द्रियों पर असर डालती हैं। अतः, हमारे विचार पदार्थों को प्रतिबिम्बित करते हैं अथवा वे हमारे मनों में बिंब या 'छायाएं' पैदा करते हैं। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति का भी इसी प्रकार एंगिल्स की शब्दावली में विवरण दिया है। सत्य एक ही साथ सापेक्ष भी है और निरपेक्ष भी। इसका अर्थ यह है कि वह अंशतः अशुद्ध होता है लेकिन निरपेक्ष वस्तुपरक सत्य से साम्य रखता है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्येक विचारधारा सोपबन्ध होती है लेकिन यह एक निरुपबन्ध सत्य है कि एक वस्तुपरक सत्य होता है जो प्रत्येक वैज्ञानिक सिद्धान्त से साम्य रखता है। वह इतना अनिश्चित होता है कि

विज्ञान को रूढ़िवादी नहीं होने देता। लेकिन, इसके साथ ही वह इतना निश्चित होता है कि विश्वास अथवा अज्ञेयवाद (agnosticism) के किसी रूप को बहिष्कृत कर देता है। लेनिन के सम्पूर्ण तर्क में धर्मवाद के प्रति सहानुभूति थी और वैज्ञानिक भाववाद के प्रति नैतिक अवज्ञा। वह धर्मवाद अथवा आदर्शवाद से घृणा करता था लेकिन वह इससे डरता नहीं था क्योंकि उसे उत्तर मालूम था। वह उसे एक ऐसा ईमानदार शत्रु समझता था जो अपने रूढ़िवादी तथा सत्तावादी प्रयोजन को छिपाता नहीं है। उसने अपनी नोटबुक में लिखा था, 'धर्मवाद एक बन्ध्य फूल है जो एक उर्वर सच्चे शक्तिशाली सर्वसमर्थ, वस्तुपरक और निरपेक्ष मानव ज्ञान के जीवन्त पेड़ पर उग रहा है।' दूसरी ओर, आध्यात्मिक प्रश्नों के सम्बन्ध में माश जैसे वैज्ञानिक की उदासीनता ने और उसके दर्शन के व्यावहारिक तथा सत्ता निरपेक्ष स्वर ने लेनिन के मन में प्रभूत नैतिक विकर्षण का भाव पैदा कर दिया था। यह उसकी विचार पद्धति के लिए इतना अजनबी था कि वह उसे सच्चा नहीं मान सकता था।

लेनिन का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और उसका विज्ञान के साथ सम्बन्ध का विवेचन एक दृष्टि से मार्क्स और एंगिल्स के विवेचन से भिन्न था। इस अन्तर का कारण यह नहीं था कि लेनिन ने अपने विचार बदल दिए थे। हीगेल का अनुसरण करते हुए मार्क्स का यह विचार था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति सामाजिक अध्ययन में विशेष उपयुक्त होती है। इसका कारण यह है कि इसमें एक ऐसी विषय-वस्तु का विवेचन रहता है जिसमें विकास अथवा वृद्धि का विशेष हाथ रहता है। भौतिकशास्त्र तथा रसायन शास्त्र जैसे विज्ञानों में अचेतन पदार्थों का विवेचन रहता है। मार्क्स का विचार था कि इनमें द्वन्द्वात्मक पद्धति से इतर भौतिकवाद से भी काम चल सकता है। हालबाख का भौतिकवाद कुछ इसी तरह का था। इसके विपरीत, जब लेनिन ने माश की आलोचना की, तो उसे अ-न्यूटनीय यान्त्रिकी (non Newtonian mechanics) के नए भौतिकशास्त्र तथा अ-यूक्लिडीय ज्यामिति (non Euclidean geometry) पर भी विचार करना पड़ा। लेनिन का कहना था कि ये चीजें इसलिए आश्चर्यजनक मालूम पड़ती है क्योंकि भौतिकशास्त्रियों तथा गणितज्ञों ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की शिक्षा नहीं ग्रहण की है। यदि वे यह सीख लेते कि द्वन्द्वात्मक पद्धति समस्त भेदों को निरपेक्ष नहीं, प्रत्युत् सापेक्ष सिद्ध करती है तो उन्हें यह देखकर कि कभी पदार्थ शक्ति बन जाता है और कभी शक्ति पदार्थ का रूप धारण कर लेती है कोई आश्चर्य और भ्रम न होता। आधुनिक भौतिक विज्ञान की खोजों से एंगिल्स का यह कथन पुष्ट होता है कि प्रकृति में तथा मार्क्स की प्राक् क्रांति फ्रांसीसी भौतिकवाद की आलोचना में सीमांकन की कोई निश्चित रेखाएं नहीं हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्त द्वारा निर्धारित रास्ते पर चलकर व्यक्ति वस्तुपरक सत्य के अधिकाधिक निकट पहुंचता है। दूसरे किसी रास्ते पर चलने से केवल झूठ और भ्रम ही उसके हाथ लगता है।[1]

---

1 *Collected Works*, Vol XIII, p 114 *Selected Works*, Vol XI, p 205

संक्षेप में, लेनिन की धारणा के अनुसार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद एक ऐसी सार्वभौम पद्धति बन गया जो विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में लागू हो सकती थी और सही पथ प्रदर्शन कर सकती थी। इस दृष्टिकोण ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को एक उच्चतर ज्ञान, एक प्रकार का धर्मशास्त्र बना दिया जो समस्त विज्ञानों के गहनतम प्रश्नों का निर्णय कर सकता था। फलत, वह कुछ सब से आश्चर्यजनक स्थलों में विधर्मता की खोज कर सकता है। उदाहरण के लिए लेनिन का कहना था कि त्रि-विमा स्थान (three dimensional space) के बारे में माच के सन्देहों ने उसे विज्ञान छोड़ कर आस्तिक भाव ग्रहण करने पर विवश किया। इस प्रकार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद गणितज्ञ को यूक्लिडीय तथा अ-यूक्लिडीय ज्यामिति के बारे में और भौतिकशास्त्री को पदार्थ तथा विद्युत् के सही सम्बन्धों के बारे में शिक्षा दे सकता है। १९४८ में उसने कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के निर्णय के द्वारा जीवशास्त्र में अर्जित गुणों के उत्तराधिकार का प्रश्न तय किया। इस निर्णय के अनुसार मेंडेलिज्म (Mendelism) एक प्रकार का पूंजीवादी पाखण्ड था जिसे आस्ट्रिया के एक पुरोहित तथा अमरीका के एक प्रजनन शास्त्री ने पूंजीवाद के प्रभाव से तैयार किया था।[1] सम्भवत, लेनिन का यह विचार नहीं था कि ऐसे विचार सामने आयें। *Materialism and Empirio-Criticism* की रचना १९०४ में एक छोटे से दलगत विवाद को लेकर हुई थी। यह दलगत विवाद जिनेवा में निर्वासित थोड़े से रूसियों के बीच था। उस समय जिन लोगों ने इस पुस्तक का पढ़ा था, वे जानते थे कि इसमें क्या है। लेकिन, आज यह पुस्तक रूस में एक बुनियादी दार्शनिक पुस्तक मानी जाती है। अब लेनिन के दल ने रूसी राज्य का रूप धारण कर लिया है और वह इस पुस्तक की अर्द्ध-वैज्ञानिक रूढ़ियों को कार्यान्वित करने पर तुला हुआ है।

लेनिन के मत से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा प्राकृतिक विज्ञानों से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। लेनिन का आग्रह था कि दर्शन और सामाजिक शास्त्र अनिवार्य रूप से पक्षधर होते हैं। अर्थशास्त्र के अध्यापक पूंजीपति वर्ग के वैज्ञानिक विक्रेता होते हैं और दर्शन शास्त्र के अध्यापक धर्मशास्त्र के। समाज का वैज्ञानिक सिद्धान्त आर्थिक और ऐतिहासिक विकास के वस्तुपरक तर्क की सामान्य रूपरेखा मात्र प्रस्तुत कर सकता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद यही काम करता है। दर्शन, अर्थशास्त्र और राजनीति में निष्पक्षता अथवा वैज्ञानिक निरासक्ति केवल एक बहाना है जिसका उद्देश्य निहित स्वार्थों की रक्षा करना है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के

---

1. *The New York Times*, August 25 and 28, 1948 Cf. "The Destruction of Science in the U S S.R.," by H J. Muller. *Saturday Review of Literature*, December 4, 1948.

चौखटे मे सामाजिक विज्ञान की दो प्रणालियां हैं—एक प्रणाली मध्यवर्ग के हित मे है तथा दूसरी सर्वहारा के हित मे है। पूंजीपति तथा सर्वहारा वर्गीय साहित्य तथा कला के क्षेत्र मे भी यही विभाजन दिखाई देता है। सर्वहारा वर्ग के सामाजिक विज्ञान की उच्चता का यह आधार नहीं है कि वह अधिक यथार्थ है अथवा व्यावहारिक दृष्टि से अधिक विश्वसनीय है प्रत्युत् यह है कि द्वद्वात्मक पद्धति सर्वहारा वर्ग को 'उदयशील' वर्ग घोषित करती है—एक ऐसा वर्ग जो सामाजिक प्रगति मे सब से आगे है। मध्यवर्ग की कोशिश सदैव यह रहती है कि वह पूंजीवाद को साम्यवाद के रूप मे न बदलने दे। इसलिए, उसका विज्ञान गतिहीन, पतनशील और प्रतिक्रियावादी है। इस प्रकार, वैज्ञानिक साक्ष्य के अतिरिक्त वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ही वैज्ञानिक निष्कर्षों की सचाई को और कला के सौन्दर्यपरक मूल्य का निर्धारित करता है। कहने का सार यह है कि सामाजिक तथा मानव विज्ञानों मे वस्तुपरक निर्णय जहा एक ओर असम्भव है, वहा उसको प्राप्त करने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए। समाज-वैज्ञानिक चाहे तो श्रमिक हो और चाहे पूंजीपति हो, वह एक विशेष प्रकार का वकील होता है। यदि वह सत्य-निष्ठ है, तो वह पहले अपने विश्वास की घोषणा करता है। वह किसी भी निष्कर्ष पर पहुचे, उसका निष्कर्ष अपने आरम्भिक विश्वास से प्रभावित रहता है। व्यवहारत, साम्यवादी दल जैसे संगठन द्वारा नियन्त्रित व्यवस्था मे, उसके सत्य की कसौटी दल की नीति हो जाती है।

यदि यह बात समाज के वैज्ञानिक सत्य के बारे मे सही है तो यह राजनैतिक वार्ताओ तथा विभिन्न सामाजिक समुदायो के पारस्परिक सम्बन्धो के बारे मे भी सही है। ट्राट्स्की का कहना है कि जब कोई दल अन्य दलो के साथ सम्बन्ध स्थापित कर रहा हो अथवा कोई राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर रहा हो, तो इन सबधो का आधार भी वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ही होना चाहिए। वर्ग-संघर्ष एक परम सिद्धान्त है। वह अस्थायी रूप से धूमिल पड सकता है, लेकिन उसे कभी हटाया नहीं जा सकता। वर्ग-संघर्ष का शाश्वत तत्त्व द्वद्वात्मक पद्धति का अनिवार्य परिणाम है। द्वद्वात्मक पद्धति समाज तथा प्रकृति मे अनिवार्य रूप से निहित है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रगति अन्तर्विरोधो के माध्यम से होती है। यह संघर्ष कुछ समय के लिए केवल तभी रुक सकता है जब कि एक दल प्रधान बन गया हो। इसलिए, बातचीत का उद्देश्य समाधान, समझौता या पारस्परिक विचार-विनिमय नहीं है। ये चीजें तो असम्भव हैं। बातचीत का मुख्य उद्देश्य यह है कि नीति की दृष्टि से लाभ की स्थिति को प्राप्त किया जाये जिससे कि दुबारा संघर्ष आरम्भ होने पर लाभान्वित हुआ जा सके। १९३८ मे स्टालिन ने द्वद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद का अधिकृत विवरण प्रस्तुत किया।

इसमें वह एंगिल्स तथा लेनिन के पदचिह्नों पर चला था लेकिन उसने द्वंद्वात्मक पद्धति तथा नीति के सम्बन्धों पर जोर दिया था।[1]

द्वंद्वात्मक पद्धति का अभिप्राय यह है कि निम्न स्तर से उच्च स्तर का विकास संघटना के एक समरसतापूर्ण प्रस्फुटन के रूप में नहीं होता, वह वस्तुओं तथा संघटना में निहित अन्तर्विरोधों के उद्घाटन के रूप में होता है, वह विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्ष के रूप में होता है। ये विरोधी प्रवृत्तियां इन अन्तर्विरोधों के रूप में कार्य करती हैं।

अतः, नीति-विषयक गलती से बचने के लिए व्यक्ति को श्रमिक वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के हितों के समन्वय की सुधारवादी नीति का नहीं, पूंजीवाद तथा समाजवाद के विकास की समझौतावादी नीति का नहीं, प्रत्युत् समझौता न करने की सर्वहारा वर्ग की नीति का ही सदैव अनुसरण करना चाहिए।

साम्राज्यवादी पूंजीवाद

(Imperialist Capitalism)

प्रथम महायुद्ध शुरू होने तक लेनिन का ध्यान रूसी समाजवाद के आन्तरिक प्रश्नों की ओर ही रहा था। इस समय तक उसने मार्क्सवाद में जो चीजें जोड़ी थीं, उनका सम्बन्ध इस बात से था कि रूस में मार्क्सवाद को किस प्रकार सफल किया जा सकता है, उसके लिए क्या दलगत नीति अपनाई जाए। १९१४ में वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की ओर से इतना उदासीन था कि जब लड़ाई शुरू हुई थी, उस समय वह आस्ट्रियायी पोलैण्ड में था और विदेशी शत्रु समझ कर पकड़े जाने से बाल-बाल बचा था। तथापि, लड़ाई ने और समाजवादियों के पक्षत्याग ने—इस समय समाजवादी अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति से हटने लगे थे और उनका देशभक्ति विरोधी भाव शिथिल पड़ने लगा था—उसे मार्क्सवाद के कुछ बृहत्तर पक्षों पर सोचने के लिए विवश किया। इन परिस्थितियों में उसने साम्राज्यवादी पूंजीवाद के सिद्धान्त का निर्माण किया। उसने बताया कि यह युद्ध साम्राज्यवादी युद्ध है और इस संकटकाल में बिना समाजवादी हस-

1 *Leninism : Selected Writings* (New York, 1942) शुरू में यह *History of the Communist Party of the Soviet Union* का चौथा अध्याय था। उद्धरण पृ० ४१० और ४१२ पर हैं।

कड़ो को अपनाना चाहिए।[1] मार्क्सवाद के प्रति लेनिन की विशेष देन यह मानी जाती है कि उसने पूंजीवाद के उत्तरकालीन विकास को ध्यान मे रख कर मार्क्सवाद का पुनराख्यान किया। लेनिन अधिकतर स्विट्जरलैण्ड मे निर्वासन मे रहा था। उसके अपने रूसी गुट में बहुत कम लोग रह गए थे। दूसरे देशो के राष्ट्रविरोधी समाजवादियों की सख्या भी बहुत कम थी। उदाहरण के लिए उस समय जर्मनी मे दो ही मुख्य राष्ट्रविरोधी समाजवादी थे—कार्ल लीबनेट और रोजा लुक्जेम्बर्ग। लेनिन उन थोड़े से समाजवादियो मे से था जो अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति को पराकाष्ठा तक ले जाते हैं। वह अपने राष्ट्र की पराजय तक को भी मान्य समझता था। 'श्रमिक वर्ग तथा रूस की मेहनतकश जनता की दृष्टि से जार के राजतन्त्र तथा उसकी सेना की पराजय हल्की बुराई होगी।" लेनिन का शुरू से ही यह कहना था कि युद्धग्रस्त देशो मे किसका कितना दोष है, इस तरह की बातचीत करना व्यर्थ है, सभी राष्ट्र एक से आर्थिक स्वार्थो से प्रेरित हैं, युद्ध पूंजीवाद के विकास मे एक चरण है और बुद्धिमान समाजवादी दल की नीति इन तथ्यो पर आधारित होनी चाहिए। विभिन्न राष्ट्र लूट के माल को आपस मे किस तरह बाटते हैं, इसमे मजदूरो की कोई गहरी दिलचस्पी नही है। रूसी मजदूरो को इस बात मे कोई दिलचस्पी नही है कि वे नए लुटेरे (जर्मनी) से लूट का कोई सामान ले लें और फिर उसे दो पुराने लुटेरो (इगलैण्ड और फ्रास) को दें। लेनिन के जीवन की एक बडी आशा यह थी कि सम्भवत साम्राज्यवादी युद्ध को एक गृहयुद्ध के रूप मे अथवा सर्वहारा वर्ग की क्राति के रूप मे बदला जा सकता है। उसे यह पूरा विश्वास था कि इस प्रकार की क्राति ससारव्यापी धरातल पर शीघ्र ही होने वाली है।

समाजवादियो द्वारा 'समाजवाद के प्रति विश्वासघात' मार्क्सवाद के दृष्टिकोण मे सचमुच एक असगति थी। मार्क्सवाद के सिद्धान्त के अनुसार ज्यो-ज्यो पूंजीवाद का विकास होता जाता है, त्यो-त्यो वर्ग-सघर्ष तीव्र होना चाहिए तथा समाज पूंजीपतियो और श्रमिको के दो वर्गों मे स्पष्टता से विभक्त होना चाहिए। श्रमिको मे ज्यो-ज्यो वर्ग-चेतना बढती जाए, त्यो त्यो उसे राष्ट्रीय देशभक्ति से कम प्रभावित होना चाहिए। अत यह आवश्यक था कि इस महान् अपवाद के स्पष्टीकरण के लिए सविधान म सशोधन किया जाता। लेनिन ने यह स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया। उसने एक

---

1 देखिए *Collected Works*, Vol XVIII और XIX, *Selected Works*, Vol V. विशेषकर, *Under a Stolen Flag*, *Socialism and War*, 1915 (जी० जिनोवीव के साथ), *Imperialism The Highest Stage of Capitalism*, 1916. बुखारिन का *Imperialism and World Economy* (न्यूयार्क, १९२९) भी देखिए। ये १९१७ मे मार्च की क्राति के पश्चात् छपे थे।

असंदिग्ध ऐतिहासिक तथ्य से आरम्भ किया। १८७१ के पश्चात् समाजवादी दल कानूनी उपायों से इतने बढ़ गए थे कि अब वे संसदीय पद्धतियों में पूरी तरह से आस्था रख सकते थे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि इन दलों में छोटे पूंजीपति लोग काफी संख्या में प्रविष्ट हो गए थे। इन लोगों की विचारधारा भी पूंजीवादी विचारधारा थी। फलतः, समाजवादी दलों ने क्रांति के हथकंडों के स्थान पर श्रमिक संघवाद के हथकंडे अपना लिए थे। लेकिन चूंकि विचारधारा उत्पादन के सम्बन्धों का अनुसरण करती है, अतः इस तथ्य का भी कुछ विशेष कारण रहा होगा और वह कारण इस अवधि में पूंजीवाद का एक विशिष्ट ढंग से विकास है। लेनिन का मत था कि सफल साम्राज्यवादी देशों में व्यापार और उत्पादन का विस्तार हुआ है। इस विस्तार के फलस्वरूप मजदूरों की, विशेषकर तकनीकी उद्योगों के मजदूरों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। इससे १८७१ और १९१४ के बीच वर्ग-संघर्ष में शैथिल्य आ गया। मजदूरों का एक छोटा लेकिन प्रभावशाली वर्ग पूंजीपतियों के साथ मिल गया और उसने प्रशिक्षण-हीन मजदूरों का, विशेषकर पिछड़े हुए देशों और उपनिवेशों के मजदूरों का शोषण किया। इस आन्दोलन की विचारधारा हल्की पूंजीवादी विचारधारा थी। उसने इस भ्रम को स्वीकार किया कि आर्थिक विकास शान्तिपूर्ण रीति से हो सकता था और पूंजीपतियों तथा मजदूरों के हितों में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता था। अतः, "१९१४ में श्रमिक वर्ग पूरी तरह से असंगठित और उत्साहहीन था। प्रशिक्षित और श्रमिक सभी मजदूर उदार तथा बोर्जुआ राजनीति में चले गए थे।" विदेशी वाणिज्य का ब्रिटिश श्रमिक आन्दोलन पर जो प्रभाव पड़ा था, उसके बारे में एंगिल्स के निष्कर्ष ही लेनिन के इस सिद्धान्त का आधार थे।

इस प्रकार, लेनिन ने पहले तो १८७१ के बाद के युग में पूंजीवाद की मुख्य विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए वर्ग-संघर्ष को उनके साथ सम्बद्ध किया और इसके बाद उसने यह बताया कि इस काल में पूंजीवाद पूंजीवादी व्यवस्था के समग्र विकास में किस तरह सम्बन्ध रखता था। लेनिन ने पूंजीवाद के साम्राज्यवादी चरण का जो विवरण दिया है उसमें ऐसी कोई विशेषताएं पाई जाती हैं जिनकी ओर उससे पहले समाजवादी और गैर-समाजवादी मर्मी लेखकों का ध्यान गया था।[1] यह विवरण मार्क्स के पूंजीवादी संचयन के सिद्धान्त का विकास था। जब उद्योग की इकाइयां अपने आकार में बढ़ती हैं और वे एकाधिकारपूर्ण हो जाती हैं, चाहे तो सम्पूर्ण उद्योग के ऊपर अथवा कुछ सम्बद्ध उद्योगों के महत्त्वपूर्ण बिन्दु के ऊपर, तब एक ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि एकाधिकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगता

---

1. देखिए E. M. Winslow, *The Pattern of Imperialism* (1948), विशेषकर अध्याय ७।

है। इस समय बाजार विश्वव्यापी हो जाता है तथा वस्तुओं और मजदूरी दोनों की कीमतें विश्व-बाजार में निर्धारित होने लगती हैं। राष्ट्रीय इकाइयों के भीतर प्रतियोगिता प्राय समाप्त हो जाती है और मुक्त प्रतियोगितापूर्ण पूंजीवाद एक प्रकार से लुप्त हो जाता है। लेकिन इसके साथ ही राष्ट्रीय एकाधिकारों के बीच अधिकाधिक प्रतियोगिता तथा प्रतिस्पर्धा होने लगती है। आगम शुल्क शिशु उद्योगों का पोषण करना बन्द कर देते हैं और वे राष्ट्रीय वाणिज्य उद्योगों में हथियार बन जाते हैं। औद्योगिक संघों के निर्माण के साथ ही उपयोग का नियंत्रण पदार्थों के उत्पादकों के हाथों से निकल कर फाइनेंसरों और बैंकरों के हाथों में चला जाता है। वाणिज्यिक पूंजी बैंकिंग पूंजी के साथ मिल जाती है और उस पर थोड़े से विसयारियों का अधिकार हो जाता है। पूंजी खुद निर्यात का एक महत्त्वपूर्ण मद हो जाती है। अब एक ओर तो यह होता है कि बड़े-बड़े बाजार मिलें और दूसरी ओर यह आवश्यक होता है कि कच्चा माल मिले। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति पिछड़े हुए प्रदेशों और उपनिवेशों में ही हो सकती है। फलत, संसार के विभिन्न उन्नतिशील राष्ट्रों में इस बात के लिए होड़ लग जाती है कि वे अविकसित प्रदेशों तथा पिछड़े हुए राष्ट्रों पर अधिकार करें। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सब से महत्त्वपूर्ण प्रश्न यही हो जाता है कि शोषण योग्य प्रदेशों तथा जनसंख्या का किस प्रकार विभाजन हो। आन्तरिक राजनीति में पूंजीपति राजनीतिक संस्थाओं पर अधिक सीधा नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं और संसदीय उदारवाद धोखा मात्र बन जाता है। इस दृष्टि से १९१४ का साम्राज्यवादी युद्ध जर्मन पूंजीपतियों के सिंडीकेटों और फ्रांस तथा इंगलैण्ड के सिंडीकेटों के बीच अफ्रीका के नियंत्रण के लिए संघर्ष था। इस लड़ाई में सिंडीकेटों के साथ ही साथ उनकी सहायक एजेंसियां भी शामिल थीं। इस संघर्ष में कुछ उतार-चढ़ाव भी आते हैं। छोटे-छोटे पूंजीपति भी कुछ सीमित लाभों को प्राप्त करने के लिए मुख्य संघर्ष में भाग लेने लगते हैं। उदाहरण के लिए रूसी पूंजीपति को कुस्तुनतुनिया प्राप्त करने की और जापान को चीन का शोषण करने की आशा थी। पिछड़े हुए देश में उदाहरण के लिए सर्बिया अथवा भारत में सच्चे राष्ट्रीय आन्दोलन भी हैं। फिर भी एकाधिकार और वित्त पूंजीवाद स्वतन्त्र प्रतियोगितापूर्ण पूंजीवाद का स्वाभाविक परिणाम है। राजनीतिक साम्राज्यवाद एकाधिकारपूंजीवाद का स्वाभाविक परिणाम है और युद्ध पूंजीवाद का स्वाभाविक परिणाम है। साम्राज्यवाद पूंजीवादी विकास की उच्चतम व्यवस्था है। वह उस प्रक्रिया का एक भाग है जिसके द्वारा एक अधिक ऊंचे पूंजीवाद-विहीन अथवा साम्यवादी समाज तथा अर्थ-व्यवस्था का निर्माण हो रहा है।

साम्राज्यवाद सामान्य पूंजीवाद की मुख्य विशेषताओं से परिपूर्ण है और उसका विकास पूंजीवाद की सीधी परम्परा में हुआ है। लेकिन, पूंजीवाद साम्राज्यवादी पूंजीवाद अपने विकास की एक बहुत उच्च और निश्चित अवस्था में बना। ऐसा उस

समय हुआ जबकि उसकी कुछ मूलभूत विशेषताएं उलटा रूप ग्रहण करने लगीं, जब पूंजीवाद से उच्चतर सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन की विशेषताएं रूप ग्रहण करने लगीं तथा अपने को प्रकट करने लगीं।[1]

साम्राज्यवादी युद्ध

(The Imperialist War)

पूंजीवादी विकास की अवस्थाओं से सम्बन्धित लेनिन के सिद्धान्त के लिए यह आवश्यक था कि वह उसकी वैचारिक तथा संस्थागत संरचना का विश्लेषण करता। यह विश्लेषण इसलिए आवश्यक था कि वह पूरा सिद्धान्तवादी हो सकता अर्थात् उसे दूसरी इंटरनेशनल पर आक्षेप करने की युक्तियुक्त बुनियाद मिल जाती और वह सही समाजवादियों की नीतियों के बारे में अपने निष्कर्षों को ठोस रूप दे सकता। फलतः, लेनिन ने अपने वित्त-पूंजीवाद के पूरक तत्त्व के रूप में साम्राज्यवादी युद्ध के युग में श्रमिकों तथा पूंजीपतियों की सापेक्ष स्थिति का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया। इसके लिए यह आवश्यक था कि पूंजीवाद के अन्तर्गत यूरोपीय समाज के विकास पर विचार किया जाता और उसके इतिहास को मुख्य-मुख्य युगों में विभाजित किया जाता। लेनिन ने दो युगान्तकारी बिन्दु माने थे—१८७१ और १९१४। १८७१ में पेरिस के कम्यून में अन्तिम महत्त्वपूर्ण क्रांतिकारी विप्लव हुआ था और १९१४ में पहला साम्राज्यवादी युद्ध हुआ था। लेनिन का कहना था कि फ्रांस की क्रांति तथा १८७१ के बीच पूंजीवाद का निरन्तर विकास हुआ था और सामन्तवादी वर्ग की तुलना में पूंजीवादी वर्ग एक प्रगतिशील वर्ग रहा था। इस काल में इसके कुछ विशिष्ट सामाजिक और राजनीतिक परिणाम हुए। इसने शासन का लोकतन्त्रीकरण किया और राष्ट्रीयताओं को स्वतन्त्रता प्रदान की। लेनिन को १९१७ की क्रांति की विषम परिस्थितियों ने पूर्ण रूप से अधिनायक बना दिया था। इसके पहले उसका यह विचार रहा था और यह विचार प्रायः सभी मार्क्सवादियों का था कि साम्यवाद के विकास में राजनीतिक स्वाधीनता एक आवश्यक चरण है। इसके साथ ही राष्ट्रीय विकास के सम्बन्ध में भी उसका दृष्टिकोण सदैव उदार रहा था। उसने राष्ट्रवाद को नूतन एवं सांस्कृतिक आधार कभी नहीं माना। लेनिन का कहना था कि १८७१ तक श्रमिक वर्ग अपने निर्माण की प्रक्रिया में था, अतः, वह पूंजीपति वर्ग की विकासशील शक्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए बाध्य था। इसलिए, यह पता लगाना एक श्रेष्ठ समाजवादी

---

1. *Imperialism : The Highest Stage of Capitalism, Collected Works*, Vol. XIX, p 159. *Selected Works*, Vol. V, p 50

नीति थी कि श्रमिक वर्ग के अन्तर्राष्ट्रीय हित राष्ट्रीय वाद-विवाद के किस परिणाम द्वारा अधिक अच्छी तरह पूरे होंगे। जब १८५९ में आस्ट्रिया तथा फ्रांस में संघर्ष था, उस समय मार्क्स ने भी यही किया था। १८७१ से १९१४ तक का युग वक्र का समतल सिरा था। यह युग पूंजीवाद का मध्याह्न था। इसके बाद पूंजीवाद का पतन आरम्भ हो गया था। इस काल में यूरोप के अधिक प्रगतिशील देशों में वर्ग-संघर्ष कुछ छिप-सा गया था और सामंजस्य का कुछ झूठा आभास होने लगा था। समाज का पूंजीवादी संगठन एकाधिकारपूर्ण हो गया और उसने उन साम्राज्यवादी विशेषताओं को ग्रहण करना शुरू कर दिया जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। १९१४ के विश्वयुद्ध ने इस युग के अन्त की सूचना दी। अब पूंजीवाद का वक्र तीव्र गति से गिरने लगा। अब पूंजीपति वर्ग एक पतनशील तथा प्रतिक्रियावादी वर्ग हो गया था। वह मुख्य रूप से अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो गया। उसे अब उत्पादन की चिन्ता नहीं थी, बल्कि उपभोग की चिन्ता थी। उसकी विचारधारा भी अवकाशजीवी वर्ग की विचारधारा हो गई थी।[1] इसलिए, पूंजीवादी नीति उत्पादन-पद्धति की वास्तविक प्रवृत्तियों को प्रकट नहीं करती। इस काल में उत्पादन विषयक वास्तविक नीति वित्त-पूंजीवाद द्वारा निर्धारित होती है। इस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि अनेक साम्राज्यवादी संघर्ष हों। इन संघर्षों में साम्राज्यवादी युद्ध पहला संघर्ष है। लेकिन, यह आवश्यक नहीं है कि वह अन्तिम संघर्ष भी प्रमाणित हो। अतः, श्रमिक वर्ग के दृष्टिकोण से यूरोप की स्थिति निश्चित रूप से क्रांतिकारी हो गई है। १९१४ में प्रगतिशील पूंजीपति शब्द एक विरोधोक्ति है और श्रमिकों तथा राष्ट्रीय साम्राज्यवादी पूंजीपतियों के बीच गठबन्धन का कोई उचित आधार नहीं है। दूसरी इंटरनेशनल के समाजवादी राष्ट्रवादी जो यह कहते हैं कि एक पक्ष या दूसरे पक्ष के जीतने से लाभ होगा अथवा जो काउट्स्की की तरह यह तर्क करते हैं कि पूंजीवादी पद्धति के अन्तर्गत ही विश्व अर्थव्यवस्था का विकास हो सकता है, वे वास्तव में अपने साथियों को धोखा देते हैं और श्रमिक वर्ग के साथ विश्वासघात करते हैं। श्रमिक वर्ग की नीति यह होनी चाहिए कि वह अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-पूंजीवाद का नाश कर दे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेनिन के सिद्धान्त ने मार्क्स के पूंजीवाद के विश्लेषण का बड़ी योग्यता से विस्तार किया और उसकी अनुपूर्ति की। उसने मार्क्स के सूत्रों

---

1 तुलना कीजिए। बुखारिन ने बोहम बावर्क के मूल्य सिद्धान्त का विश्लेषण किया है और उसे उपभोक्ता वर्ग की विचारधारा बताया है। *Economic Theory of the Leisure class*, New York, 1927। यह पुस्तक युद्ध से पहले १९१४ में लिखी गई थी और सब से पहले १९१९ में प्रकाशित हुई थी। १९३७–३८ की विक्रांतियों (*purges*) में बुखारिन की हत्या कर दी गई थी। लेकिन, १९१४ में वह लेनिन का निकट सहयोगी था।

के आधार पर तत्कालीन राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का मार्मिक विश्लेषण किया साम्राज्यवादी राष्ट्रीय समुदायों के विरोधी हितों को उद्योग की उत्पादन शक्तियों तथा एक जीर्ण विचारधारा द्वारा आरोपित प्रतिबन्धों के बीच 'अन्तर्विरोध' कहा जा सकता था। लेनिन के सिद्धान्त का उद्देश्य उन समस्त आक्षेपों का प्रतिवाद करना था जो संशोधनवादियों तथा अवसरवादियों की दो पीढ़ियों ने मार्क्सवादियों के ऊपर किए थे। इस अवधि में श्रमिक वर्ग की विचारधारा शान्तिपूर्ण विकास तथा संशोधन की झूठी आशा से विकृत हो गई थी। इस सिद्धान्त ने यह मान लिया था, जैसा कि १८९५ में एंगिल्स ने माना था कि मार्क्स यह नहीं समझ सका था कि स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही आन्तरिक विकास की क्या सम्भावनाएं हो सकती हैं। लेनिन, एंगिल्स की भांति ही इस सिद्धान्त ने भी इस बात का समर्थन किया कि मार्क्स ने पूंजीवादी विकास की सामान्य दिशा को ठीक समझा था। लेनिन के सिद्धान्त की मुख्य देन यह थी कि उसने युद्ध को पूंजीवादी विकास का एक विशिष्ट चरण माना। उसने इस सिद्धान्त को मार्क्सवाद का एक अभिन्न अंग बना दिया कि युद्ध विकासशील पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का एक अनिवार्य परिणाम होता है। अतिरिक्त मूल्य के विनियोग के कारण होने वाली दरिद्रता की सापेक्ष अथवा निरपेक्ष वृद्धि के बारे में संशोधनवादी बाल की खाल निकाला करते थे। लेनिन ने इस सब को समाप्त कर दिया। १९१९ में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने जो दूसरा कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो अपनाया था, उसमें कहा गया था कि दूसरे महायुद्ध ने मनुष्य जाति को अपार कष्ट दिए हैं। इन कष्टों ने "बढ़ती हुई दरिद्रता के सिद्धान्त के बारे में समाजवादियों के बौद्धिक विवाद को नष्ट कर दिया।" लेनिन ने युद्ध का संकटों की अधिकता तथा कठोरता के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। उसके मत से युद्ध मृद एक विशाल पैमाने का संकट था। लेनिन के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोजन यह था कि उसने मार्क्सवाद को सामाजिक क्रांति का एक दर्शन बना दिया और उसे कायरों, मावुकों, शान्तिवादियों, सुधारवादियों, समझौतावादियों तथा लोकतन्त्रवादियों के हाथों से छीन लिया। संसदीय उदारवाद के ढांचे में मजदूरों की शांति और स्वतन्त्रता का तथा साम्राज्यवाद के ढांचे में राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का जो झूठा आभास होता है, वह पूरी तरह भ्रामक है। इनके मूल में वर्ग-संघर्ष की वास्तविकता रहती है।

लेनिन के पूंजीवाद के विकास से सम्बन्धित सिद्धान्त में एक मुख्य बात यह थी कि उसे शीघ्र ही संसारव्यापी क्रांति की आशा थी। १९१४ की स्थिति से यह दिखाई भी देता था। मार्क्स ने भी १८४०-५० की स्थिति को देख कर कई बार यह आशा की थी कि अब श्रमिक क्रांति होने वाली है। १९१४ की स्थिति में खास बात यह थी कि उद्योगों ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया था लेकिन राष्ट्रीय राजनैतिक इकाइयों ने उनके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध आरोपित कर रक्खे थे। वह शासक वर्ग जिसका उत्पादन और श्रम दोनों पर नियंत्रण रहता है राष्ट्रीय समुदायों में विभक्त है। इन राष्ट्रीय

समुदायों के हितों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा होती है। उत्पादन की पद्धति में इस तरह की कोई प्रतियोगिता नहीं होती। इन कृत्रिम समुदायों के नियंत्रण में राष्ट्रीय राज्यों की नीतियां उत्पादन के सामान्य विकास में बाधक बन जाती हैं। राष्ट्रीय दृढ़ता और राजनैतिक आत्म-निर्णय की विचारधारा आयात शुल्क-अपवर्जन तथा राष्ट्रीय एकाधिकार के सहित, आर्थिक पद्धति के अनुकूल विस्तार में बाधक होती है। यह आर्थिक विस्तार साम्राज्यवादी विस्तार का विकृत रूप धारण कर लेता है। यह आवश्यक है कि उत्पादन की अन्तर्भूत शक्तियां अपना प्रभाव स्थापित करें। लेनिन का विश्वास था कि युद्ध का तात्कालिक परिणाम यह होगा कि राजनैतिक शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाएगा, छोटे-छोटे राज्य नष्ट हो जायेंगे और एकाधिकार का विस्तार होगा। लेकिन, इसका सब से महत्त्वपूर्ण परिणाम यह होगा कि वर्ग-संघर्ष एक स्थायी शक्ति के रूप में पूंजीवादी व्यवस्था में शामिल हो जाएगा और अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के मन में यह विश्वास जम जाएगा कि उसके हित केवल अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक क्रांति से ही पूरे हो सकते हैं।

"युद्ध उस अन्तिम शृंखला को तोड़ देता है जो मजदूरों को अपने मालिकों से बांधे रखती है। वह साम्राज्यवादी राज्य के प्रति उनकी दासवृत्ति को समाप्त कर देता है। श्रमिकों के दर्शन की अन्तिम सीमा समाप्त हो जाती है। वह अन्तिम सीमा है राष्ट्रीय राज्य के प्रति बंधा रहना, देशभक्ति की भावना से अनुप्राणित रहना। अब श्रमिक वर्ग अपने सामयिक लाभों की ओर ध्यान नहीं देता। श्रमिक वर्ग का सामयिक लाभ यह है कि वह साम्राज्यवादी राज्य का सदस्य होने के नाते साम्राज्यवादी लूट में से कुछ अंश प्राप्त कर सकता है। अब वह अपने स्थायी लाभों और समूचे वर्ग के लाभों की ओर ध्यान देता है। उसके सामने मुख्य प्रश्न यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक वर्ग की सामाजिक क्रांति हो जिसमें वित्त-पूंजीवाद के अधिनायकवाद का अन्त हो जाए, उसके राजकीय उपकरण नष्ट हो जाएं और उनके स्थान पर एक नई शक्ति का, पूंजीपतियों के विरोध में मजदूरों की एक नई शक्ति का विकास हो।"[1]

लेनिन अप्रैल, १९१७ में पेट्रोग्रेड आया था। उस समय उसे यह दृढ़ विश्वास था कि शीघ्र ही सर्वव्यापी श्रमिक क्रांति होने वाली है। उसने इस विश्वास के आधार पर ही रूस की स्थिति के प्रति अपनी नीति निर्धारित की और एक के बाद एक ऐसे अनेक कार्य किए जिन्होंने क्रांति को सफलता प्रदान की और उसका स्वरूप निश्चित किया।

---

1. Bukharin, *Imperialism and World Economy*, Eng. trans., p. 167.

बोर्जुआ तथा सर्वहारा क्रांतिया

(The Bourgeois and the Proletariat Revolutions)

रूस मे मार्च क्राति की सफलता के बाद रूसी मार्क्सवादियो मे सिद्धान्त तथा हथकडो के प्रश्नो को लेकर वाद-विवाद आरम्भ हो गया। इस वाद-विवाद के बादल १९०५ की क्राति के बाद से ही घुमड रहे थे। मार्क्सवाद का सब से दृढ सिद्धान्त यह था कि क्रातिया केवल नग्न शक्ति के द्वारा नही होती, प्रत्युत् वे क्रातिकारी विचारधारा के द्वारा होती हैं। यह विचारधारा उसी समय पैदा हो सकती है जब कि मजदूर पूजीवादी उत्पादन के विरोध मे दृढता से सगठित हो। मार्क्स ने स्वय कहा था कि "कैपिटल का अन्तिम प्रयोजन यह प्रमाणित करना था कि कोई भी राष्ट्र विकास की स्वाभाविक अवस्थाओं का अतिक्रमण नही कर सकता।" एगिल्स ने भी एँटी डहरिंग के तीन अध्यायो मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि शक्ति उस क्रातिकारी स्थिति को जिसे आर्थिक विकास तैयार करता है, केवल अनुपूर्ति ही हो सकती है। इस विश्वास पर सन्देह करने का अर्थ मार्क्स-विरोधी होना था। इस बात को मार्क्सवादी भी समझते थे कि १९०५ की रूसी क्राति मध्यवर्ग की क्राति थी। वह ऐसी क्राति नही थी जिसे मजदूरो ने समाजवादी प्रयोजना के लिए किया हो। मार्च, १९१७ की क्राति के बारे मे भी यही बात सच थी। सिद्धान्त के अनुसार यह आवश्यक था कि श्रमिक क्राति तभी हो सकती थी जब कि बोर्जुआ क्राति पूरी हो जाती। इस सैद्धान्तिक समस्या के साथ ही हथकडो का प्रश्न भी बहुत महत्वपूर्ण था। श्रमिक दलो को यह तय करना था कि वे बोर्जुआ क्रातिकारी दलो के प्रति क्या रुख ग्रहण करेंगे। वर्ग-सघर्ष के अनुसार पूजीपतियो को यह सहायता देना कि वे श्रमिको के शोषक हो जायें, मूर्खतापूर्ण होगा। फिर भी, समाजवादी क्राति उस राजनैतिक लोकतन्त्र पर निर्भर होती है जो बोर्जुआ क्राति के फलस्वरूप पैदा होता है। कुछ भी हो, श्रमिक वर्ग उस समय तक शक्ति प्राप्त करने की आशा नही रख सकता जब तक कि उचित समय न आ जाए।

इस विषम परिस्थिति मे १९०५ में रूसी मार्क्सवादियो ने दो विरोधी सिद्धान्तो का निर्माण किया। इन सिद्धान्तो ने उन्हें १९०५ से १९१७ तक दो शिविरों मे विभाजित रक्खा। मेन्शेविक गुट का मार्क्सवाद स्पष्ट अवश्य था लेकिन यह कल्पनाहीन था और पश्चिमी यूरोप के उग्र समाजवादी दलो के विचारो पर आधारित था। इस सिद्धान्त के अनुसार श्रमिक दल शक्ति ग्रहण नही कर सकता। वह पहले बहुमत का निर्माण करता है। जब पूजीवादी क्राति के द्वारा राजनैतिक स्वतन्त्रता स्थापित हो जाती है और श्रमिकों की सख्या बढ जाती है, तब वे सत्ता हथिया सकते हैं। श्रमिक शक्ति-सघर्ष मे पूजी-

पतियों की सामान्य सहायता कर सकते हैं, लेकिन जहाँ एक बार पूँजीवादी शासन की स्थापना हो जाती है, श्रमिक दल वामपक्षी विरोधी दल के रूप में ही कार्य कर सकता है। यह सिद्धान्त निश्चित रूप से मार्क्सवाद था, लेकिन यह क्रान्तिकारी दल के उत्साह को भंग कर सकता था। मेन्शेविकों के इस दृष्टिकोण के विरोध में ट्राट्स्की ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ट्राट्स्की का खुद भी मेन्शेविकों से थोड़ा सम्बन्ध रहा था। ट्राट्स्की ने जिस सिद्धान्त का विकास किया, उसे स्थायी क्रांति का सिद्धान्त कहा गया है। बीस वर्ष बाद यही उसके ऊपर लगाए गए आरोप का मुख्य आधार बना। उसके ऊपर यह आरोप लगाया गया था कि वह लेनिनवाद की कट्टरता को अस्वीकार करता है। उस समय ट्राट्स्की ने मेन्शेविक सिद्धान्त को दुर्बोध मार्क्सवाद बताया था।

"यह सोचना कि श्रमिक वर्ग की अधिनायकता और देश के तकनीकी तथा उत्पादन साधनों के बीच पारस्परिक निर्भरता होती है, आर्थिक नियतिवाद को बहुत आदिम रूप से समझना है। इस प्रकार की सक्ल्पना का मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है।"[1]

ट्राट्स्की का कहना था कि रूस में जो भी क्रांति होगी वह भूतकाल की समस्त क्रांतियों से भिन्न होगी। इसके दो कारण हैं—पूँजीवाद का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकास और रूसी बुद्धिजीवियों के बीच एक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद का अस्तित्व। रूसी पूँजीपति डरपोक हैं और वे भूमि-स्वामित्व की पद्धति पर साहसपूर्वक आक्षेप नहीं कर सकेंगे। इसलिए, किसानों की सहायता से श्रमिक वर्ग को नेतृत्व ग्रहण करना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है, तो वह निश्चित रूप से राजनैतिक उदारवाद की सीमाओं से आगे जाएगा। ट्राट्स्की ने इसे "संयुक्त विकास का नियम" (The Law of Combined Development) कहा। इस प्रकार, दो क्रांतियाँ एक साथ होंगी। श्रमिक वर्ग की शक्ति उसकी संख्या पर निर्भर नहीं है, प्रत्युत् राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उसकी स्थिति पर निर्भर है। रूस में क्रांति का परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद की दशा पर निर्भर है। इसलिए, पूँजीवादी प्रतिक्रिया से बचने का एकमात्र उपाय यह है कि रूस के

---

1 ट्राट्स्की ने १९०४ और १९०६ के बीच में लिखे गए अपने अनेक निबन्धों में इस सिद्धान्त का विकास किया था। इन निबन्धों में से कुछ चुने हुए अंश अंग्रेजी में 'Prospects of a Labour Dictatorship" शीर्षक से *Our Revolution* में छपे थे (न्यूयार्क, १९१८, पृ० ६३–१४४)। उपर्युक्त उद्धरण पृ० ८५ पर है। सारांश के लिए ट्राट्स्की के *Stalin* (१९४१) में देखिए 'Three Concepts of the Russian Revolution', परिशिष्ट। इसकी उसके निबन्ध Permanent Revolution से तुलना कीजिए (१९३०)। अंग्रेजी अनुवाद न्यूयार्क, १९३१। वुल्फ ने विभिन्न सिद्धान्तों का सारांश प्रस्तुत किया है *op cit* ch 17

बाहर अत्यधिक पूंजीवादी देशो मे श्रमिक क्रातिया की जायें। १९०५ मे इस सिद्धान्त का विवादास्पद मार्क्सवादी क्रातियों का एक साथ होना था। उस समय इस बात को कोई अस्वीकार नही करता था कि रूस की क्राति अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर निर्भर रहेगी। ट्राट्स्की ने हथकंडो के प्रश्न को भी बहादुरी के साथ सुलझाया। उसने कहा कि सैनिक विद्रोह अथवा आम हड़ताल की तुरन्त आवश्यकता है। क्राति की सफलता के पश्चात् राजनैतिक शक्ति श्रमिक वर्ग के हाथो मे आ जाएगी क्योंकि वही ऐसा वर्ग है जो संघर्ष मे सब से बढ़ कर भाग लेता है। दूसरे शब्दों मे शासन श्रमिक वर्ग का अधिनायकवाद बन जाता है। इसमे किसानो के ऊपर भी सर्वाच्च सत्ता स्थापित हो जाती है। व्यवहार मे इसका अर्थ क्राति मे नेतृत्व करने वाले दल का अधिनायकवाद होता है।

१९१७ तक लेनिन ने इन दो विरोधी सिद्धान्तो मे से किसी को स्वीकार नहीं किया, बल्कि बीच का रास्ता अपनाया। ट्राट्स्की की भाति उसका भी यह विश्वास था कि मेन्शेविकों द्वारा प्रस्तावित नीति का परिणाम यह होता कि नेतृत्व मध्यवर्गीय उदारवादियो के हाथो मे आ जाता और वे कम से कम राजनैतिक सुधार करते। फलत, समाजवादी क्रातिकारी दल को न केवल क्राति मे ही भाग लेना चाहिए, प्रत्युत् जहा तक हो सके उसे नेतृत्व भी करना चाहिए। वह दल समाजवादी क्राति करने की आशा नही कर सकता था यद्यपि लेनिन ने यह कहा था कि दोनों क्रातिया "अनवरत" होंगी। किसानो की क्रातिकारी प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देकर वह मध्यवर्ग को इस बात के लिए प्रोत्साहन दे सकता है कि वह (मध्य वर्ग) राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना करे। उसने इस कार्यक्रम को "कृषको और किसानो का क्रातिकारी अधिनायकवाद" नाम दिया। लेनिन का यह भी स्पष्ट मत था कि रूस मे क्रातिकारी आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जबकि उसे किसानो का निष्क्रिय समर्थन प्राप्त हो। सम्भवतः, इसी कारण वह ट्राट्स्की के इस विचार को स्वीकार नही कर सका कि अन्तर्वर्ती श्रमिक अधिनायकवाद के परिणामस्वरूप किसानों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित हो जाएगा। फलत, १९०५ तक मे लेनिन मार्क्स के इस परम्परागत सिद्धान्त को स्वीकार करता था कि राजनैतिक लोकतन्त्र समाजवाद की पूर्व शर्त है। वह स्थायी क्राति के विचार का "मूर्खतापूर्ण अर्द्ध-अराजकतावादी विचार" मानता था। संक्षेप मे, लेनिन अभी ट्राट्स्की के सिद्धान्त के इस निष्कर्ष को स्वीकार करने के लिए तैयार नही था कि रूस मे समाजवादी क्राति केवल तभी हो सकती है जबकि लोकतन्त्र को त्याग दिया जाए।

"हम मार्क्सवादियों को यह जान लेना चाहिए कि किसानो तथा मजदूरो के लिए वास्तविक स्वतन्त्रता का रास्ता पूंजीवादी स्वतन्त्रता तथा पूंजीवादी प्रगति का ही रास्ता है, अन्य कोई रास्ता न है और न हो सकता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस समय समाजवाद को निकट लाने का केवल एक ही उपाय है और वह है पूर्ण

राजनैतिक स्वतन्त्रता, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य, मजदूरों और किसानों का क्रांतिकारी लोकतन्त्रात्मक अधिनायकवाद।"[1]

इस प्रकार, १९०२ से १९०५ तक रूस की राजनैतिक स्थिति बड़ी विचित्र थी। ट्राट्स्की लेनिन के दलगत सिद्धान्त को अस्वीकार कर रहा था क्योंकि उसमें एक ऐसे संगठन का भाव था जो अधिनायकवाद की स्थापना करता। लेनिन ट्राट्स्की के क्रांति सिद्धान्त को अस्वीकार कर रहा था क्योंकि उसमें एक ऐसी प्रक्रिया का भाव था जो लोकतन्त्र को त्याग देता। १९१७ की क्रांति में दोनों व्यक्तियों तथा दोनों सिद्धान्तों ने सहयोग किया।

जब लेनिन अप्रैल, १९१७ में रूस वापस लौटा और उसने क्रांतिकारी स्थिति के बीच समाजवादी दल का नेतृत्व ग्रहण किया, उस समय उसने यह समझ लिया था कि जो समाजवादी क्रांति के परिपक्व होने की प्रतीक्षा करता है वह अवसर को हाथ से निकल जाने देता है। १९०५ में ट्राट्स्की सेंट पीटर्सबर्ग सोवियट का नेता था। वहाँ उसे भी कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ था। पेट्रोग्राड पहुँचने के एक सप्ताह के भीतर ही लेनिन ने अपने इस पुराने सिद्धान्त को त्याग दिया कि पूँजीवादी क्रांति तथा श्रमिक क्रांति के बीच तैयारी का कुछ समय बीतना चाहिए। लेनिन का यह दृष्टिकोण उसके १९०५ के दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न था। लेनिन ने कहा कि यथार्थ स्थिति सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक "मौलिक" सिद्ध हुई है। 'सजीव मार्क्सवाद' तथ्यों तथा समय के साथ रहने में है।

"इस अकाट्य सत्य को समझना आवश्यक है कि मार्क्सवादी का सप्राण जीवन की ओर, वास्तविकता के सच्चे तथ्यों की ओर ध्यान देना चाहिए। उसे कल के सिद्धान्त से ही चिपके नहीं रहना चाहिए। कल का सिद्धान्त प्रत्येक सिद्धान्त की भाँति केवल मुख्य तथा सामान्य रूपरेखा का ही निर्देश देता है। वह जीवन की जटिलता के निकट तक ही पहुँच सकता है जो कोई पुराने दृष्टिकोण से पूँजीवादी क्रांति की "पूर्णता" में सन्देह करता है, वह मृत अक्षरों की वेदी पर सजीव मार्क्सवाद का बलिदान कर देता है। पुराने दृष्टिकोण के अनुसार पूँजीवादी शासन के पश्चात् श्रमिकों और किसानों के शासन की, अधिनायकवाद की स्थापना होनी चाहिए। लेकिन, वास्तविक जीवन में बिल्कुल मौलिक तथा नयी स्थिति सामने आई है—एक—दूसरी स्थिति का अन्तर्ग्रथन (Interlocking) हो गया है।'[2]

---

1. *The Two Tactics of Social Democracy in the Democratic Revolution* (1905, *Selected Works*) Vol III, p 122, cf 52

2. *Letters on Tactics* (April, 1917), *Collected Works*, Vol XX, Book I, p 121. *Selected Works*, Vol VI, pp 34 f *Selected Works* में interlocking के स्थान पर interlacing (अन्तर्ग्रथन) शब्द रख दिया गया है।

दो क्रांतियों के "अन्तर्ग्रथन" का सिद्धान्त "संयुक्त विकास के नियम" से, जिसे १९०५ में ट्राट्स्की ने अपने स्थायी क्रांति के सिद्धान्त का आधार बनाया था, काफी साम्य रखता था। जब लेनिन ने १९१७ में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया, उस समय उसका भी यह विचार था कि शीघ्र ही संसारव्यापी श्रमिक क्रांति होगी और रूस की क्रांतिकारी सरकार केवल कुछ समय के लिए ही एकाकी रहेगी। यही कारण था कि इस सिद्धान्त को मार्क्सवाद का निषेध नहीं, प्रत्युत् उसका संशोधन माना जा सकता था। लेनिन और ट्राट्स्की में से कोई भी यह नहीं चाहता था कि उनका दल "पूंजीवादी क्रांति के ऊपर से कूद जाने के लिए" वचनबद्ध हो जाए। उन्होंने केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की ओर तथा इस तथ्य की ओर कि रूस में मार्क्स की क्रांतिकारी विचारधारा से अनुप्राणित एक अल्पसंख्यक वर्ग है, ही ध्यान दिया। १९१७ में महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि लेनिन और ट्राट्स्की दोनों उस नीति के बारे में सहमत हो गए थे जो १९०५ में ट्राट्स्की की नीति थी।[1]

लेनिन को अभी उन लोकतन्त्र-विरोधी निहितार्थों का समाधान करना था जिनके कारण उसने १९०५ में ट्राट्स्की के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया था। जब वह १९१७ में रूस वापस लौट कर आया, तब उसने देखा कि रूस में दुहरी शक्ति की असंगति है। उसने देखा कि वहां एक ओर तो पूंजीवादी संक्रमणकालीन सरकार है तथा दूसरी ओर सोवियटें हैं। इस स्थिति ने सिद्धान्त तथा हथकंडों दोनों की गम्भीर समस्याएं खड़ी कर दीं। संक्रमणकालीन सरकार लोकतन्त्रात्मक उदारवाद के ढंग पर संविधानवाद तथा राजनैतिक सुधारों का समर्थन करती थी। रूस में आने के तीन महीने बाद तक लेनिन बराबर इस बात पर जोर देता रहा कि अल्पसंख्यक वर्ग को सत्ता नहीं हथियानी चाहिए और शासन में उस समय तक परिवर्तन नहीं होना चाहिए जब तक कि भारी बहुमत उसके पक्ष में न हो। वह इस बात को भी बार-बार कहता रहा कि "पूंजीवादी राज्य का सब से शक्तिशाली और सब से उन्नत प्रकार संसदीय लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है।" फिर भी, यदि क्रांति के द्वारा सत्ता को हथियाना था, तो

---

1 जब स्टालिन ने "एक देश में समाजवाद" की नीति को अपनाया, उसके बाद से स्थायी क्रांति का सिद्धान्त निश्चित रूप से विधर्मी हो गया। फलतः, अब रूस में यह नहीं माना जाता कि क्रांति के सम्बन्ध में लेनिन और ट्राट्स्की के विचार एक जैसे थे। रूस में इस विषय का विवेचन भी नहीं हो सकता। देखिए: "Some Questions Concerning the History of Bolshevism" in Stalin's *Leninism : Selected Writings* (New York, 1942), p 232. १९०५ और १९०७ में लेनिन की रचनाओं की सही व्याख्या *Selected Works*, Vol. III, 547 ff. की टिप्पणियों में पायी जा सकती है। सौवेराइन के अनुसार लेनिन ने यह स्वीकार किया था कि १९०५ में ट्राट्स्की सही था। *Stalin* (१९३९), p 79

केवल सोवियटें ही इस कार्य को कर सकती थीं। अत, क्रांतिकारी दल के लिए एकमात्र नारा यही हो सकता था कि "सारी शक्ति सोवियटों को मिले"। लेकिन, लेनिन के दृष्टिकोण से सोवियटें भी कोई आसान समस्या नहीं थीं। उनके सदस्यों मे मार्क्सवादी अल्पसख्या मे थे और मार्क्सवादियों मे भी बोल्शेविक अल्पसख्या मे थे। पुन, सिद्धान्तत सोवियटों की क्रांतिकारी स्वत स्फूर्ति, मजदूरो की स्थानीय स्वतन्त्रता और सघीय शासन के बारे मे मेन्शेविको के विचारो के अधिक नजदीक थी। इस समय लेनिन केन्द्रीय प्रशासन के पक्ष मे था। १९०५ में ट्राट्स्की सेंट पीटर्सबर्ग की सोवियट के क्रांतिकारी नेता के रूप मे प्रतिष्ठित हो गया था। उसने सोवियट को 'क्रांतिकारी शासन का भ्रूण' कहा था। इसके विपरीत लेनिन का दल (लेनिन के निर्वासन से आने के पूर्व) सोवियटों तथा श्रमिक सघो को उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहा था। जब १९०६ मे लेनिन ने पूर्ववर्ती वर्ष के अनुभव का साराश प्रस्तुत किया, उस समय उसने भी दल-इतर समुदायों को 'प्रत्यक्ष जन-सघर्ष के उपकरण' माना था। तथापि, उसका विचार था कि वे विद्रोह को सगठित करने के लिए अपर्याप्त होंगे।[1] १९१७ मे जब सोवियटें बोल्शेविकों के नेतृत्व मे आईं, तब दल तथा सोवियटो को मिला कर एक कर दिया गया और इस प्रकार इस समस्या का व्यावहारिक समाधान हो गया। सोवियटें अब तक लोक-शासन की समर्थक रही थी। अब लोक शासन का अन्त हो गया। श्रमिक दल का अधिनायकवाद दल के अधिनायकवाद की स्थापना का एक उपाय था। लेनिन ने सैद्धान्तिक कठिनाई का समाधान मार्क्सवादी सिद्धान्त को त्याग कर किया। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनैतिक लोकतन्त्र समाजवाद की पूर्व शर्त है। १९०५ मे इस सिद्धान्त ने ही लेनिन को ट्राट्स्की से अलग रक्खा था। उसने मार्क्सवादी सिद्धान्त के स्थान पर इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया कि सोवियटें लोकतन्त्रात्मक राज्य की उच्चतम रूप हैं। क्रांति की स्थिति में वे स्वत ही ससदीय प्रतिनिधित्व का स्थान ग्रहण कर लेती हैं और सीधे जनता के शासन का निर्माण करती हैं।

इस दृष्टिकोण से देखने पर ज्ञात होगा कि लेनिन के नए सिद्धान्त ने उसके इस पुराने विश्वास का पुन पुष्ट किया कि साविधानिक अथवा लोकतन्त्रात्मक सूत्रों से क्रांति की किसी भी स्थिति का समाधान नहीं होता। मार्क्स की भांति लेनिन भी इस बात को हमेशा मानता था कि क्रांति अनिवार्य रूप से विधिबाह्य और इसलिए

---

[1] *The Dissolution of the Duma and the Tasks of the Proletariat* (1906), *Selected Works*, Vol III, pp 378 ff Cf Wolf, *Op Cit*, pp 368 ff रूसी शासन मे सोवियटो की स्थिति के बारे मे देखिए, Julian Towster, *Political Power in the U S S R* (1948) Chs 9 11

अधिनायकवादी व्यवस्था से ही समाप्त होती है। इस सिद्धान्त में उसने एक सामान्य तर्क और जोड़ दिया कि उन सामाजिक दर्शन के लिए जो वर्ग-संघर्ष को समाज का मूल तथा स्थायी गुण मानता है, बहुमत शासन जैसी लोकतन्त्रात्मक सकल्पना निरर्थक है। लेनिन का तर्क था कि विशेष परिस्थिति की बात तो दूसरी है। हा, सामान्यतया बहुमत की बात नही चल सकती। आवश्यक शर्त यह है कि सत्तारूढ दल के हित बहुमत के हितों के साथ समीकृत होने चाहिए। यदि ऐसा होता है, तो बहुमत की बात चलनी है क्योंकि सत्तारूढ वर्ग उसकी बात चलने देता है, अन्यथा सत्तारूढ वर्ग बहुमत का दमन कर देता है अथवा उसको धोखा देता है। इसलिए बहुमत शासन एक सांविधानिक भ्रम है। वह वर्ग-प्रभुत्व को अन्तर्भूत वास्तविकता का द्वद्वात्मक रहस्यीकरण है।[1] रूस में इसका विशिष्ट अर्थ यह हो जाता है कि किसान जो राजनैतिक दृष्टि से निष्क्रिय होते है, या तो श्रमिकों का साथ देंगे या पूंजीपतियों का। नीति की दृष्टि से इसका अर्थ यह हो जाता है कि श्रमिक अपने पूंजीवादी विरोधियों को और पूंजीवादी राज्य के उपकरणों का नष्ट कर दें तथा गैर-श्रमिक जनसाधारण की आर्थिक आवश्यकताओं का पूरा कर के पूंजीपतियों का साथ देने वाले बहुमत को अपनी ओर कर लें। सक्षेप में, क्रातिकारी दल पहले शक्ति ग्रहण करता है और इसके बाद बहुमत प्राप्त करता है। क्रातियों के इतिहास में इस बात के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब कि "अधिक सगठित, अधिक वर्ग-चेतन, अधिक अच्छी तरह से सशस्त्र अल्पसंख्यक वर्ग बहुमत के ऊपर अपनी इच्छा आरोपित कर देता है।" तात्त्विक रूप से यह सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद हो जाता है जिसका १९०५ में ट्राट्स्की ने प्रतिपादन किया था। इस व्यवस्था में श्रमिक वर्ग किसानों के ऊपर अपनी प्रभुता स्थापित कर लेता है। इसके पाच महीने बाद ही सविधान सभा का विघटन कर दिया गया। इस कार्य के सम्बन्ध में ट्राट्स्की का कहना था कि इसने "औपचारिक लोकतन्त्र के ऊपर ऐसा घूंसा आघात किया जिससे वह फिर कभी अपना सर न उठा सका।"[2] सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद औपचारिक लोकतन्त्र नही, प्रत्युत् वास्तविक लोकतन्त्र है—इस सिद्धान्त को भी मार्क्सवादी सिद्धान्त के अन्दर समाविष्ट करना था। इसके लिए विस्तृत विवेचन की आवश्यकता थी। लेनिन ने अपनी *State and Revolution* पुस्तक में इसी का विवेचन किया है।

---

1. *On Constitutional Illusions* (August, 1917) *Collected Works*, Vol. XXI, Book I, pp 66ff. *Selected Works*, Vol. VI, pp. 160 ff.
2. *Stalin* (1941), p 343.

सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद

(The Dictatorship of the Proletariat)

लेनिन की पुस्तिका *State and Revolution* इस तथ्य के बावजूद कि यह पूरी नहीं हो सकी और उसे केवल सामयिक रचना के रूप में ही लिखा गया था, नवम्बर क्रांति के समर्थन में एक क्लासिक का दर्जा रखती है।[1] लेनिन १९१४ के बाद में हुए यूरोपीय युद्ध के सम्बन्ध में जिन विचारों को प्रकट करता रहा था, इस पुस्तिका में उन विचारों को लिपिबद्ध कर दिया गया था। लेनिन ने रूस की तत्कालीन स्थिति के बारे में भी विचार किया और वह सोवियटों के द्वारा सत्ता ग्रहण के कार्य को मार्क्सवाद के ढांचे के भीतर ले आया। यदि दृष्टिकोण तथा द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा आरोपित अभ्यागत विचार-पद्धतियों की सीमाओं को छोड़ दिया जाए, तो यह मानना पड़ेगा कि यह बहुत ही विश्वासजनक और तर्कयुक्त रचना थी। रूप की दृष्टि से इस पुस्तिका में लेनिन ने आनुक्रमिक रीति से मार्क्स और एंजिल्स के उन महत्त्वपूर्ण अवतरणों की समीक्षा की थी जिनमें उन्होंने राज्य तथा क्रांति के स्वरूप के बारे में अपने विचार प्रकट किए थे। लेकिन, वस्तुतः इस निबन्ध के निर्माण और निर्वचन की एक कठोर योजना का अनुसरण किया गया था और उसी ने इसे एक क्रांतिकारी पुस्तिका का रूप दे दिया था। मार्क्स और एंजिल्स केवल अपनी कहानी कहते हैं और आनुक्रमिक व्यवस्था के आधार पर ही एक द्वन्द्वात्मक आवश्यकता का आविर्भाव होता है। उनका विचार विकसित होता है, वह समस्या का सामना करता है और फिर एक समाधान निकाल लेता है। लेनिन का भाष्य मार्क्सवाद को एक विकासशील क्रांतिकारी नीति के रूप में प्रकट करता है, वर्गों का अपरिहार्य संघर्ष और श्रमिकों द्वारा सत्ता हथियाने के लिए आन्दोलन, '४८ के आरम्भिक प्रयत्नों की असफलता, धीरे-धीरे इस पाठ को सीखना कि पूंजीवादी नौकरशाही पर नियन्त्रण स्थापित नहीं करना चाहिए बल्कि उसे नष्ट कर देना चाहिए, १८७१ के पेरिस कम्यून के रूप में श्रमिक संस्थाओं का पहली बार अव्यवस्थित ढंग से मूर्त रूप धारण करना, एंजिल्स द्वारा मार्क्स के आन्तरिक विचारों की व्याख्या, १९०५ की सोवियटों में श्रमिक शासन का उच्चतर स्तर पर विकास और अन्त में १९१७ में इसकी सफलता। इतिहास के रूप में यह बहुत अधिक कल्पनात्मक

---

1. *Collected Works*, Vol XXI, Book II, pp 147 ff *Selected Works*, Vol II, pp. 3 ff इस पुस्तिका की रचना अगस्त और सितम्बर, १९१७ में हुई थी। इस समय लेनिन हेल्सिंगफार्स में रह रहा था। लेनिन पुस्तिका का केवल एक भाग ही पूरा कर सका क्योंकि क्रांति के कारण लिखने में विघ्न पड़ गया था। इसे १९१८ में प्रकाशित किया गया था।

था। क्रांति के समर्थन में इतिहास को इसी रूप में उपस्थित किया जा सकता था। लेनिन के इस निबन्ध में मार्क्सवाद के केवल कुछ चुने हुए अवतरणों को लिया गया था और तोड़ मिला कर मार्क्सवाद को विकृत कर दिया गया था। हां, जो व्यक्ति द्वन्द्वात्मक पद्धति का अभ्यस्त है और जो आरम्भ से ही इस बात को मानता है कि साम्यवादी क्रांति अपरिहार्य है, उसके लिए लेनिन के तर्क में बहुत जान थी।

State and Revolution के दो सामान्य तथा प्रमुख प्रयोजन थे। लेनिन की शुरू से ही यह कोशिश रही थी कि वह मार्क्सवाद को सामाजिक क्रांति के दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करे और उसे सुधारवादी तथा विकासवादी समाजवाद की सशक्त विकृतियों से मुक्त कर दे। *State and Revolution* ने लेनिन के इस जीवनव्यापी प्रयत्न को सफल किया। उसने श्रमिक क्रांति को राज्य का एक विशेष सिद्धान्त दिया जो उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल था। इसलिए, पुस्तिका में वित्त-पूंजीवाद, साम्राज्यवादी युद्ध, और पूंजीवाद के अधीन सामाजिक विकास के सम्बन्ध में लेनिन के विचारों को या तो स्वयं स्वीकृत मान लिया गया था या उनका सारांश प्रस्तुत कर दिया गया था। लेनिन के इन विचारों की हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं। जहां तक उसके राज्य सिद्धान्त का सम्बन्ध है, बुनियादी बात यह है कि राज्य का चाहे कैसा भी रूप हो, वह वर्ग-संघर्ष को प्रकट करता है। वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है। वर्ग-संघर्ष का समाधान केवल वर्ग-विहीन समाज में ही हो सकता है। पूंजीवादी राज्य में पूंजीवादी वर्ग मजदूर वर्ग का शोषण करता है। इसलिए, यह असम्भव है कि इस वर्ग को शक्ति के द्वारा पदच्युत कर दिया जाए। इसलिए, शांतिपूर्ण सामाजिक विकास का कोई भी सिद्धान्त अथवा वर्ग-संघर्ष को दूर करने की कोई भी नीति केवल भ्रम है। एंगिल्स ने कहा था कि समाजवाद के अन्तर्गत राज्य तिरोहित हो जाएगा। लेनिन ने एंगिल्स के इस सूत्र का विकास किया। उसने कहा कि इस सूत्र को गलती से ही विकास अथवा धीमी नीति के पक्ष में प्रयुक्त किया गया था। इस सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि श्रमिक वर्ग क्रांति के द्वारा पूंजीवादी राज्य को उखाड़ देगा। इसके बाद वह संक्रमणकालीन राज्य की स्थापना करेगा। यह राज्य सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद होगा। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों श्रमिक वर्ग सच्चे साम्यवाद की परिस्थितियां पैदा करता जाएगा, त्यों-त्यों यह राज्य अथवा अर्द्ध-राज्य धीरे-धीरे लुप्त होता जाएगा। जहां तक मार्क्स और एंगिल्स के अर्थ का सम्बन्ध है, लेनिन का तर्क एक भाष्य के रूप में था। लेकिन, इन तर्कों में उसने तथ्यों की कोई परीक्षा नहीं की थी। जब एक वर्ग ने दूसरे वर्ग के हाथ से शक्ति ली है, तब क्या शक्ति का हस्तान्तरण शान्तिपूर्ण रीति से हुआ है अथवा यह हस्तान्तरण हिंसक क्रांतियों के फलस्वरूप हुआ है—लेनिन ने इस प्रकार के ऐतिहासिक प्रश्नों की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया था। लेनिन ने मार्क्स और एंगिल्स की इस मूलभूत धारणा

की ओर कही ध्यान नही दिया कि श्रमिक वर्ग का अधिनायकवाद राजनैतिक लोकतन्त्र की स्थापना करेगा।

जहां तक दूसरे तर्क का सम्बन्ध है, लेनिन ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि क्रांति के द्वारा प्रसूत राज्य पूंजीवादी राज्य की भांति ही शक्ति तथा दमन का एक साधन होता है। इस राज्य में श्रमिक वर्ग शासक वर्ग का रूप धारण कर लेता है। वह समाज के गैर-श्रमिक अथवा अर्द्ध-श्रमिक तत्त्वो के ऊपर अपने प्रयोजनो को लागू करने के लिए हिंसा की अपनी उपयुक्त व्यवस्था का निर्माण करता है। श्रमिक पूंजीवादी लोकतन्त्र के वर्तमान रूपो को ही ग्रहण कर के अपनी क्रांति पूरी नही कर सकते। उन्हें पूंजीवादी लोकतन्त्र को नष्ट कर के अपने शासन की स्थापना करनी चाहिए। पूंजीपतियो पर स्थायी विजय प्राप्त करने के लिए लम्बे और मरणान्तक संघर्ष की आवश्यकता होती है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के दो प्रयोजन होते हैं एक—जब पूंजीपति वर्ग को सत्ताच्युत कर दिया जाता है, तब उसकी प्रतिरोध शक्ति दसगुना बढ़ जाती है, इस वर्ग को काबू में रखना और इसकी क्रांति-विरोधी किसी भी चेष्टा को रोकना। दो—नयी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का संगठन करना। दूसरा काम विशेष रूप से दल का काम है। दल उन समस्त शोषित वर्गों का, जिनमे अभी तक वर्ग-भावना का विकास नही हुआ है शिक्षक, पथ-प्रदर्शक और नेता होता है। इसका व्यावहारिक अर्थ यह था—इस बात को लेनिन ने नही कहा था, लेकिन स्टालिन के अनुसार लेनिन का मन्तव्य यही था—कि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद दल का अधिनायकवाद है। दल समस्त मजदूर संगठनों के लिए एक आधार बन जाता है। लेनिन ने इस बात को स्पष्टता से सिद्ध किया कि श्रमिक वर्ग का अधिनायकवाद एक राज्य है, वह एक वर्ग का उपकरण है और दमन का साधन है। वह शोषको का ही दमन नहीं करता, प्रत्युत् मजदूरो और सम्पूर्ण जनसंख्या के ऊपर भी कठोर अनुशासन लागू करता है। संक्षिप्त रूप से लेनिन का मन्तव्य यह था। कोई भी राज्य चाहे वह पूंजीपतियो का राज्य हो, चाहे श्रमिको का, वर्ग-प्रभुत्व का साधन होता है। जहां कहीं प्रभुत्व होता है, वहां न स्वतन्त्रता होती है और न लोकतन्त्र। इसलिए, राजनैतिक स्वतन्त्रता को उस समय तक के लिए स्थगित किया जा सकता है जब तक साम्यवाद की स्थापना न हो जाए और वर्ग-संघर्ष लुप्त न हो जाए। वर्तमान काल मे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद एक राज्य होने के कारण न स्वतन्त्र होता है और न लोकतन्त्रात्मक ही। इस सम्बन्ध मे ट्राट्स्की ने कहा था कि "लोकतन्त्र पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का आडम्बरमात्र है।"

State and Revolution के इन दो सामान्य प्रयोजनो ने उन तात्कालिक प्रयोजनो को पुष्ट किया जो सितम्बर, १९१७ मे सब से प्रमुख थे। लेनिन का उद्देश्य था कि वह अल्पसंख्यकों द्वारा सत्ता के ग्रहण को मार्क्सवादी सिद्धान्त की सीमा मे ले आए

और राजनीतिक लोकतन्त्र तथा प्रतिनिधिक संस्थाओं के महत्त्व को कम करें। लेनिन ने यह कार्य दो रीतियों से किया। प्रथमत, उसने संसदीय प्रथाओं की निन्दा की और उन्हें पूंजीवादी नियंत्रण का साधन बताया। लेनिन का कहना था कि संसदीय संस्थाओं का मजदूरों के लिए कोई महत्त्व नहीं है। लेनिन का यह दृष्टिकोण उसके १९०५ के दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न था। दूसरे, लेनिन ने अधिक उन्नत सर्वहारा लोकतन्त्र के सिद्धान्त का विकास किया। यह लोकतन्त्र सब से पहले पेरिस कम्यून में दिखाई दिया था। लेनिनका दावा था कि मार्क्स ने अपनी पुस्तक सिविल वार इन फ्रांस में इस बात को स्वीकार किया था। १९०५ और १९१७ की रूसी सोवियटों में लोकतन्त्र का यह उच्च रूप बराबर बना रहा था और विकसित हुआ था।

राजनीतिक लोकतन्त्र के स्वरूप और महत्त्व के बारे में लेनिन मार्क्स के इस मत को मानता था कि पूंजीवादी समाज जिस उच्चतम शासन-प्रणाली को प्राप्त कर सकता है वह लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है। लेकिन, अब लेनिन ने कहा कि पूंजीवादी शासन चाहे कैसा भी क्यों न हो, उसे बहुत अधिक बर्बरता और दमन की जरूरत होती है। उसने लोकतन्त्र को आडम्बरपूर्ण और झूठा बताया। उसका कहना था कि लोकतन्त्र का महत्त्व केवल छोटे से शोषक वर्ग के लिए ही होता है।

"पूंजीवादी समाज में लोकतन्त्र के विकास के लिए सब से अधिक अनुकूल परिस्थितियां होती हैं। वहां लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के रूप में प्रायः पूर्ण लोकतन्त्र के दर्शन होते हैं। लेकिन, इस लोकतन्त्र में पूंजीवादी सदैव ही शोषण करते रहते हैं। फलत, इस लोकतन्त्र का वास्तविक उपभोग केवल थोड़े से सत्ताधारी लोग ही कर पाते हैं। पूंजीवादी समाज में स्वतन्त्रता की प्रायः वही स्थिति रहती है जो प्राचीन यूनानी गणराज्यों में थी। जिस तरह यूनान में केवल दासों के स्वामियों को ही स्वतन्त्रता प्राप्त थी उसी प्रकार पूंजीवादी समाज में केवल अमीरों को ही स्वतन्त्रता प्राप्त है। आधुनिक मजदूर पूंजीवादी शोषण की परिस्थितियों के कारण आवश्यकताओं और अभावों से इतने अधिक ग्रस्त होते हैं कि उनके लिए लोकतन्त्र का कोई अर्थ नहीं है। उनके लिए राजनीति का भी कोई अर्थ नहीं होता। सामान्य स्थिति में जनता का बहुमत सामाजिक और राजनीतिक जीवन में कोई भाग नहीं ले पाता।"[1]

१९१९ में लेनिन ने कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो का संशोधन किया था और उसके संशोधन को कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल ने स्वीकार किया था। इस ग्रन्थ में भी लेनिन ने राजनीतिक लोकतन्त्र का प्रायः यही मूल्यांकन किया है।

"यदि धनिकतन्त्र अपने हिंसक कारनामों को संसदीय वोटों के पीछे छिपाना लाभदायक समझता है तो पूंजीवादी राज्य के पास अपने इस उद्देश्य को प्राप्त करने के

---

1. *State and Revolution* Ch. 5, Sect. 2. *Collected Works*, Vol XXI, Book II, p. 217 f. *Selected Works*, Vol VII, p. 79.

लिए पुरानी शताब्दियों में उच्च वर्गीय शासन की समस्त परम्पराएं और सिद्धियां मौजूद हैं। पूंजीवादी तकनीक ने इन सिद्धियों को और बढ़ा दिया है। ये सिद्धियां हैं—झूठ, जनता को बहकाना, उत्पीड़न, बदनामी रिश्वत, गलत बयानी और आतंक। जब श्रमिक वर्ग पूंजीवाद के साथ मरणान्तक संघर्ष में लगा हो, उस समय उससे यह मांग करना कि वह पूंजीवादी लोकतन्त्र के उद्देश्यों का आंख मूंद कर पालन करे इसी प्रकार है जैसे कि डाकुओं से जान बचाने के लिए लड़ने वाले व्यक्ति से कुश्ती के उन नियमों का पालन करने के लिए कहना जिनको शत्रु ने बनाया है लेकिन शत्रु खुद जिनका पालन नहीं करता।"[1]

पश्चिमी मार्क्सवाद की परम्परा ने उदारवादी राजनीतिक संस्थाओं को जो महत्व दे रखा था, लेनिन का दृष्टिकोण उससे बिल्कुल उलटा था। कार्ल काउट्स्की का यह कहना बिल्कुल सही था कि आधुनिक समाजवाद का अर्थ केवल यही नहीं था कि वह उत्पादन का एक सामाजिक संगठन है, बल्कि उसका अर्थ यह था कि वह समाज का एक लोकतन्त्रात्मक संगठन भी है। तथापि लोकतन्त्र के सम्बन्ध में साम्यवाद की अधिकृत स्थिति वही रही जो लेनिन ने प्रतिपादित की थी। साम्यवाद के लिए राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रता एक दल के अधिनायकवाद की स्थापना के लिए एक साधन मात्र बन गई।

लेनिन ने कम्यून और सोवियटों में लोकतन्त्र के जिस अधिक शुद्ध और उच्च रूप को खोजने की कोशिश की थी वह वास्तव में एक सायास प्रयत्न था। मार्क्स की अपनी रचनाओं में इस तरह का कोई स्पष्ट चित्र नहीं मिलता। मार्क्स ने क्रांति के पश्चात् स्थापित होने वाले शासन के बारे में कहीं कोई साफ बात नहीं कही है। कम्यून के शासन के बारे में भी मार्क्स के विचार बड़े अस्पष्ट थे। सशस्त्र जनता सेना और पुलिस का स्थान ले लेती है। कम्यून संसदीय न होते हुए भी प्रतिनिधिक हैं। वे कार्य करने वाली सभाएं हैं, बात करने वाली दुकानें नहीं। उनके सदस्य कानूनों का पालन भी करते हैं और निर्माण भी। यदि इन सूत्रों को वास्तविक संस्थाओं अथवा शासनिक प्रथाओं के रूप में कार्यान्वित किया जाए तो इसका क्या अर्थ होगा, यह लेनिन ने बताने की कभी कोशिश नहीं की। क्रांति के बाद जिस अर्थ-व्यवस्था और समाज का निर्माण होगा उसके बारे में भी लेनिन के विचार अस्पष्ट थे। जहां उसके विचार अस्पष्ट नहीं थे, वहां वे गलत थे। आगे चलकर क्रांति ने जो रूप धारण किया उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। क्रांति का सिद्धान्त बहुत आसान था। हरेक आदमी से काम लिया जाए और हरेक आदमी को काम दिया जाए तथा सबको समान वेतन मिले। अधिकारियों और तकनीकी

---

1. यह मेनीफेस्टो आर० डब्ल्यू० पोस्टगेट की पुस्तक *The Bolshevik Theory* (१९२०) के परिशिष्ट २ में छपा है। उपर्युक्त उद्धरण पृ० १९५ पर है।

विशेषज्ञों को भी मामूली क्लर्कों के वेतन मिलने चाहियें। लेनिन का विचार था कि यह इसलिए सम्भव हो सकता है क्योंकि पूंजीवाद ने व्यापार तथा सार्वजनिक सेवाओं का संगठन कुछ ऐसे ढर्रे पर डाल दिया है कि जो कोई भी व्यक्ति लिख और पढ़ सकता है वह काम कर सकता है। लेनिन का कहना था कि सम्पन्न औद्योगिक संगठन डाकघर के समान होता है। जब लेनिन के क्रान्ति के बाद के प्रयोग जो उसने इस दिशा में किए थे, असफल हो गए, उस समय उसे अपनी नीति बदलनी पड़ी। लेकिन, नीति के इस परिवर्तन को वह पेरिस कम्यून के सिद्धान्तों और सर्वहारा वर्ग के शासन के विपरीत मानता था। एक प्रश्न के बारे में लेनिन का विचार स्थिर था। लेनिन का यह दृढ़ विश्वास था कि सोवियटों का शासन सघारमक नहीं हो सकता। यह शासन ऐच्छिक केन्द्रवाद होता है। केन्द्रीकृत नियत्रण को सोवियटों की वास्तविक स्वायत्तता के साथ किस प्रकार संगत किया जा सकता है, लेनिन ने इसकी कभी व्याख्या नहीं की। लेनिन ने दल को जो कार्य दिया था उसे उसने केन्द्रवाद शब्द में व्यक्त किया है। लेनिन के राजनीतिक दर्शन में साम्यवादी शासन को सोवियटों की स्वतन्त्रता नहीं बल्कि दल का अधिनायकवाद प्रदान किया गया।

रूस की साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था के इतिहास का इन कल्पनाओं से कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं था। लेनिन ने और उसके उत्तराधिकारियों ने ज्यों-ज्यों समस्याएं सामने आईं, उनका सामना किया। उन्होंने प्रयोग किए और सुधार किया। बाद में समान वेतन का सिद्धान्त मार्क्सवाद की विकृति माना जाने लगा। रूस में भी प्रबन्धक वर्ग के कार्य प्रायः वही हो गए जो पूंजीवादी उद्योगों में होते हैं। १९३१ में स्तालिन ने व्यापारमुख्या के सामने जो अभिभाषण दिया था उसमें उसने उनके कुछ कर्तव्य गिनाए थे, जो निम्नलिखित हैं :—मजदूरों की भर्ती करना, मजदूरों की कार्य-क्षमता को बढ़ाना, मजदूरी में ऐसे अन्तर रखना जिससे कि लोगों को प्रेरणा मिले, मकानों का सुधार करना, तकनीकी और प्रशासनिक स्टाफ को बढ़ाना, और लेखा-पद्धति में सुधार करना।[1] शोषणविहीन साम्यवादी उद्योग व्यवस्था का एक दावा यह है कि उसने बेरोजगारी को खत्म कर दिया। लेकिन इस सफलता के विरोध में हम यह कह सकते हैं कि रूस में मजदूरों के ऊपर कठोर अनुशासन रक्खा जाता है और उनसे बलात् श्रम कराया जाता है। वहां पर प्रबन्धक लोग अपने कर्तव्यों का पालन करते

---

1. "New Conditions, Tasks in Economic Construction", *Leninism. Selected Writings* (New York, 1942), pp. 203 ff. रूस की मजदूरी तथा प्रबन्ध सम्बन्धी प्रथाओं के विवेचन के लिए, देखिए Abram Bergson *The Structure of Soviet Wages* (Harvard Economic Studies, Vol LXXVI, 1944); *Management in Russian Industry and Agriculture* (1944), ed by Arthur Feiler and Jacob Marschak, chs 2 and 3.

मय स्वायत्तशासी श्रमिक संगठनों से परामर्श करना जरूरी नहीं समझते। राजनीतिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में भी इसी तरह का विकास हुआ। साम्यवादी नेता यह बराबर कहते रहे कि सर्वहारा लोकतन्त्र लोकतन्त्रात्मक बोर्जुआ गणराज्य से लाख गुना अच्छा है। १९३६ के संविधान में जनता को भाषण, समाचार-पत्रों और सार्वजनिक सभाओं को करने की पूरी आजादी दी गई। स्टालिन ने इस संविधान को संसार का एकमात्र पूर्ण लोकतन्त्रात्मक संविधान बताया। लेकिन, इसके साथ ही स्टालिन ने कहा कि यह संविधान दल की तथा राजनीतिक पुलिस की शक्तियों को वैसा ही रहने देता है। इसलिए, सर्वहारा लोकतन्त्र अपने नागरिकों को क्या अधिकार देता है, यह बात बिल्कुल अनिश्चित है। बोर्जुआ गणराज्य के लोकतन्त्र का तो कुछ न कुछ अर्थ था भी, लेनिन के वास्तविक लोकतन्त्र का तो कुछ अर्थ ही नहीं रहता। साम्यवाद और लोकतन्त्र के दावे और प्रतिदावे कुछ ऐसे हैं कि उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन सम्भव नहीं है।

State and Revolution के अन्तिम अध्याय में लेनिन ने अवसरवादियों के ऊपर आक्षेप किया है और साम्यवादी समाज की दो अवस्थाएं बताई हैं। पहली या निचली अवस्था समाजवाद की है। यह साम्यवाद से भिन्न है। इस अवस्था में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित होता है और शोषण काफी हद तक समाप्त हो जाता है। रूसी सरकार का यह शासकीय दृष्टिकोण है कि रूस में यह अवस्था प्राप्त कर ली गई है। १९३६ का संविधान रूस को किसानों और मजदूरों का समाजवादी राज्य कहता है। वहां किसानों और शहर के औद्योगिक मजदूरों के बीच किसी प्रकार का संघर्ष नहीं है। समान वेतन त्यागने के पश्चात् समाजवाद का सिद्धान्त यह कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार कार्य लिया जाये और प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार वेतन दिया जाये। लेनिन का कहना था कि इस पहली अवस्था के बाद दूसरी या उच्चतम अवस्था आएगी। इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार कार्य लिया जाएगा और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिलेगा। इस काल में राज्य तथा समस्त बल प्रयोग लुप्त हो जाएगा। लेनिन का विचार था कि पूंजीवाद के अन्त के पश्चात् उत्पादन का बहुत विकास होगा और लोग काफी लम्बे समय तक योजनाबद्ध सामाजिक जीवन व्यतीत करने पर साम्यवादी व्यवस्था के आदी हो जायेंगे। तब यदि कभी कोई असामाजिक व्यक्ति सामने आएगा तो उसका उसी तरह से दमन कर दिया जाएगा जिस तरह से सभ्य लोगों की भीड़ दो लड़ाकुओं को शान्त कर देती है। इसमें हाथ के काम और दिमाग के काम में कोई अन्तर नहीं रहेगा और सभी लोग कभी प्रबन्धक और कभी मजदूर बन सकेंगे। इस तरह लेनिन ने मार्क्सवाद के काल्पनिक तत्त्व को कायम रखा था। लेकिन वह अन्त तक यथार्थवादी था और उसने यह कहा कि सम्भवतः आदर्श कभी कार्यान्वित न हो सके। इस समय जो चीज निश्चित है वह यह है कि समाजवादी निचली अवस्था में,

समाज के द्वारा और राज्य के द्वारा श्रम की मात्रा और उपभोग की मात्रा का कठोरतम नियंत्रण चाहते हैं।

ऊपर हम साम्यवादी दर्शन के मुख्य तत्वों का विवेचन कर चुके हैं। लेनिन ने मार्क्सवाद से शुरू किया था और वह अपने को अन्त तक मार्क्स का अनुयायी कहता था। यहां हम प्रश्न कर सकते हैं कि लेनिन की व्याख्या ने मार्क्सवाद को क्या दिया। वास्तविकता यह है कि उसने मार्क्सवाद को विकृत कर दिया। मार्क्स का दावा था कि उसने हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को पैरों के बल खड़ा किया था। लेनिन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसने मार्क्सवाद को सर के बल खड़ा कर दिया। एक—मार्क्स का विचार था कि आर्थिक-व्यवस्था मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र उत्पादन शक्तियों के आन्तरिक विकास के द्वारा विकसित होगी। लेनिन ने कहा इसे मजदूरों की इच्छा के द्वारा और क्रमबद्ध आयोजन के द्वारा यूरोप के सब से कम औद्योगिक देश में स्थापित किया जा सकता है। दो—मार्क्स का विश्वास था कि मजदूर वर्ग की विचारधारा औद्योगिक समाज में उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति से निर्धारित होती है और मजदूर वर्ग अपने प्रयत्नों से ही मुक्ति लाभ करता है। लेनिन का मत था कि मजदूर वर्ग अपनी विचारधारा बाहर के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की शिक्षा से प्राप्त करता है। तीन—मार्क्स के मत से समाजवादी दल में संसार भर के मजदूर शामिल होते हैं। लेनिन ने साम्यवादी दल को पेशेवर क्रांतिकारियों का गुप्त संगठन बना दिया। इसमें नेतृत्व कुछ चुने हुए स्वयंभू नेताओं के हाथों में रहता है। चार—मार्क्स का विचार था कि पहले पूंजीवादी क्रान्ति होती है जो राजनीतिक लोकतन्त्र की संस्थाओं का निर्माण करती है और इसके बाद सर्वहारा क्रांति होती है। लेनिन रूस में सर्वहारा क्रांति पूंजीवादी क्रांति के साथ ही साथ हुई और छः महीने में ही उसने पूंजीवादी क्रान्ति को आत्मसात् कर लिया। अन्त में, मार्क्स का विचार था कि सफल क्रांति लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं को कायम रखेगी और उनका विकास करेगी। लेकिन लेनिन के नेतृत्व में रूस में एक दल का अधिनायकवाद स्थापित हुआ और उसने किसी दूसरे दल का अस्तित्व तक सहन करना अस्वीकार किया। सीधी-सी बात यह है और इसके लिए किसी द्वन्द्वात्मक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है कि लेनिन मार्क्सवाद की रूढ़ियों को निष्ठा से स्वीकार करता था। लेकिन जब इन रूढ़ियों का व्यावहारिकता से संघर्ष हुआ तो लेनिन ने उन्हें त्याग दिया। लेनिन के सूत्र मार्क्स के सूत्र रहे। लेकिन लेनिनवाद का अर्थ मार्क्सवाद के अर्थ से बहुत दूर हट गया।

पूंजीवादी घेरा

(Capitalist Encirclement)

लेनिनवाद के विकास में स्टालिन का मुख्य योग यह है कि १९२४ में उसने अचानक यह घोषणा की कि समाजवाद एक देश में ही सम्भव है। नीति के इस परिवर्तन के कारण यह जरूरी हो गया कि क्रांति के सिद्धान्त की पुनः परीक्षा की जाए और यह देखा जाए कि क्रांति अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर कहां तक निर्भर है। १९२४ में यह सैद्धान्तिक प्रश्न स्टालिन और ट्राट्स्की की प्रतियोगिता के नीचे दब गया था। दोनों ही लेनिन का स्थान लेना और लेनिनवाद के एकमात्र सच्चे प्रवक्ता बनना चाहते थे। ट्राट्स्की का कहना था कि स्टालिन का नीति परिवर्तन लेनिन की नीति से अलग हटना है और यह क्रांतिविरोधी प्रतिक्रिया का आरम्भ है। यह निश्चित् नहीं है कि यदि लेनिन जीवित रहता तो क्या वह भी स्टालिन के समान ही अपनी नीति को न बदल देता। लेनिन ने अपने जीवन के आखिरी दौर में जो लिखा था उससे यह मालूम पड़ता है कि उसका भी बहुत कुछ यही दृष्टिकोण था। लेनिन यह समझने लगा था कि रूस में समाजवाद का विकास देश की आन्तरिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थिति पर निर्भर है अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नहीं।[1] यदि लेनिन यह परिवर्तन करता तो सम्भवतः वह अधिक बारीकी से होता। स्टालिन ने तो यह नीति विषयक परिवर्तन बड़े स्थूल ढंग से किया था। उसका तो यहां तक कहना था कि कोई परिवर्तन हुआ ही नहीं है। उसका तर्क था कि क्रांति के सम्बन्ध में लेनिन और ट्राट्स्की के विचार अलग-अलग रहे थे। यह स्थिति १९१७ में भी थी जब समस्त साम्यवादियों को आशा थी कि पश्चिमी यूरोप में शीघ्र ही सर्वहारा वर्ग की क्रांतियां शुरू हो जायेंगी। ट्राट्स्की का स्थायी क्रांति का सिद्धान्त एक मेन्शेविक भ्रांति थी। लेनिन के पूंजीवादी और श्रमिक क्रांतियों के सम्बन्धों के बारे में १९१७ में भी वही विचार थे जो कि १९०५ में थे।[2] इन प्रस्थापनाओं का परिणाम यह हुआ कि इन्होंने स्थायी क्रांति के सिद्धान्त को एक ऐसा महत्व दिया जो उसे १९१७ में प्राप्त नहीं था। इन प्रस्थापनाओं के कारण यह सम्भावना भी उत्पन्न हो गई कि एक देश में क्रांति का विचार सदैव ही लेनिनवाद का एक अभिन्न

---

1 उदाहरण के लिए देखिए "Better Fewer, but Better" (1923), *Selected Works*, Vol IX, p 400 On Co operation", *ibid*, p 409

2 "The October Revolution and the Tactics of the Russian Communists", *Leninism . Selected Writings* (New York, 1942), pp 9 ff

भाग रहा था। श्रमिक क्रांति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विकास पर कहा तक निर्भर है, स्तालिन ने इस गम्भीर समस्या को पीछे धकेल दिया। लेनिन ने अपने साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का जिस ढग से विकास किया था उसको देखते हुए यह निश्चित मालूम पड़ता है कि वह इस विचार को कभी पसन्द न करता कि साम्यवाद अपने को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था से अलग कर सकता है। लेकिन, पूंजीवादी घेरे के अहित एक देश में समाजवाद के स्तालिन के सिद्धान्त ने आर्थिक सम्बन्धों की अपेक्षा राजनीतिक सम्बन्धों पर अधिक जोर दिया। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह था कि रूस की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था परिस्थितियों के अनुसार ही कभी सहयोग और कभी हस्तक्षेप का रास्ता अपना सकती थी और साथ ही इस बात का इन्तजार कर सकती थी कि पूंजीवाद का विनाश हो। इस तरह की नीति रूसी राष्ट्रवाद या साम्राज्यवाद से बिल्कुल अभिन्न थी और उसका मार्क्सवाद से कोई तात्विक सम्बन्ध नहीं था।

स्तालिन ने पूंजीवादी घेरे के सिद्धान्त के केवल एक पहलू का ही स्पष्टीकरण किया। यह पहलू राज्य के तिरोहित होने से सम्बन्ध रखता है। यदि समाज एक ही देश में साम्यवाद की तरफ बढ़ सकता है और यदि १९३६ तक रूस ने इस विकास की पहली अथवा समाजवादी अवस्था को प्राप्त कर लिया था तो राज्य के तिरोहित होने के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणी की गई थी, उसमे कुछ सशोधन या परिवर्तन करना जरूरी था। एंगिल्स ने ए टी डहरिंग मे कहा था कि राज्य का अन्तिम स्वतन्त्र कार्य उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण स्थापित करना होगा। लेनिन ने कहा था कि जब साम्यवाद की समाजवादी अवस्था पूरी हो जाएगी तब उच्चतम अथवा साम्यवादी अवस्था शुरू होगी। इस अवस्था में दमन के साधन धीरे-धीरे लुप्त हो जायेंगे। फलत १९३९ की पार्टी कांग्रेस मे स्तालिन ने सिद्धान्त के कुछ प्रश्नों पर विचार किया।

"हमारे देश मे शोषक वर्ग समाप्त हो गए हैं। समाजवाद की काफी हद तक स्थापना हो चुकी है। हम साम्यवाद की ओर बढ़ रहे हैं। फिर हम अपने समाजवादी राज्य को क्यों नही मरने देते ?"[1]

स्तालिन ने कहा कि जो लोग यह प्रश्न करते हैं उन्होंने, मार्क्स और एंगिल्स के सिद्धान्त को तोते की तरह रट रक्खा है। वे इस सिद्धान्त के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सके हैं। इससे सिद्ध होता है कि—

"उन्होंने यह नही समझा कि इस सिद्धान्त की विभिन्न प्रस्थापनाओं को किन विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों मे स्पष्ट किया गया था। इससे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि वे वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को नही समझते। वे यह नहीं

1. Report to the Eighteenth Party Congress *Leninism : Selected Writings* (New York, 1942), p 469.

समझते कि हमारा समाजवादी देश चारों ओर से पूजीवादी देशों से घिरा हुआ है और इस कारण उसे अनेक खतरों का सामना करना पड़ रहा है।

स्टालिन का मत था कि पूजीवादी देशों ने रूस के चारों ओर गुप्तचरों का जाल बिछा रक्खा है। इस जाल को छिन्न भिन्न करने के लिए राजनीतिक पुलिस की जरूरत है। एंगिल्स का सिद्धान्त उसी समय सही हो सकता है जबकि हम अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से अपनी आंख बन्द कर लें और देश के आन्तरिक विकास की ओर ही ध्यान दें अथवा हम यह मान लें कि ससार के सभी देशों में समाजवाद विजयी हो गया है। इस व्याख्या का अभिप्राय यह था कि एंगिल्स की भविष्यवाणी का कोई ठोस आधार नहीं था। यह भविष्यवाणी कुछ ऐसे आधारों पर की गई थी जिनका तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जहां तक लेनिन का सम्बन्ध है यदि लेनिन अपने *State and Revolution* ग्रन्थ को पूरा करता तो वह इस सवाल का जरूर ही विवेचन करता। यह नहीं मालूम कि लेनिन अपनी पुस्तक के दूसरे भाग में क्या विचार व्यक्त करता। यह जरूर है कि लेनिन १९०५ और १९१७ की क्रान्तियों का विवेचन करता। अत स्टालिन ने अपने वक्तव्य में लेनिन के प्रमाण का तो उपयोग कर लिया लेकिन उसने यह नहीं बताया कि यदि लेनिन इस तरह तर्क करता तो उसका क्या आधार होता। इस स्थिति में स्टालिन का स्पष्टीकरण काफी हद तक काल्पनिक है। स्टालिन के अनुसार साम्यवादी राज्य के दो कार्य हैं। विदेशी हस्तक्षेप से रक्षा करना और देश का आर्थिक सगठन तथा सास्कृतिक उत्थान करना। ये दोनों कार्य शाश्वत हैं। जब तक सारे ससार में वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती तब तक इन कार्यों की जरूरत रहती। अत जब तक पूजीवादी घेरा समाप्त नहीं हो जाता तब तक साम्यवाद की अवस्था में भी राज्य का अस्तित्व रहेगा।[1]

पूजीवादी घेरे का सिद्धान्त कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता क्योंकि वह रूसी राज्य के विलोप को स्थगित कर देता है। मार्क्सवाद के अनुसार राज्य का विलोप जरूरी था। इसका महत्व यह है कि यह तर्क की उस अन्तिम शृखला को नष्ट कर देता है जो राजनीति और विचारधारा को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास से सम्बन्धित करती थी। इस सिद्धान्त के अनुसार रूस में साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था का और तदनुरूप साम्यवादी सस्कृति का विकास साम्यवादी राज्य का काम है। पुन, एक देश में समाजवादी शासन स्थायी रूप से विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय पूजीवाद के बावजूद न केवल समाजवाद को प्राप्त कर सकता है बल्कि साम्यवाद की ओर बढ भी सकता है। यह सही है कि वह पूर्ण सुरक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। लेकिन, खतरा राजनीतिक हस्तक्षेप के सवाल पर ही निर्भर है।

---

1 एंड्री विशिस्की ने सावैधानिक विधि की अधिकृत पाठ्य पुस्तक सम्पादित की है। *The Law of the Soviet State*, Eng trans by Hugh W Babb (1948), p 61

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि देश में पर्याप्त प्राकृतिक साधन मौजूद हैं तो वहां की समाजवादी अर्थ-व्यवस्था उन आर्थिक कारणों से प्रायः स्वतन्त्र हो सकती है जो विश्व अर्थ-व्यवस्था में कार्य करते हैं। यदि यह सही है तो यह देखना कठिन है कि मार्क्स के आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्त में क्या रह जाता है।

साम्यवाद की मनोवृत्ति

(The Temper of Communism)

यद्यपि लेनिनवाद को एक विस्तृत और पाण्डित्यपूर्ण दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया गया है फिर भी इसका व्यावर्तक गुण तर्क नहीं प्रत्युत् एक प्रकार की मनोवृत्ति अथवा नैतिक आधार है। यह उसी प्रकार है जैसे कि लेनिन के मार्क्सवाद का विरोधाभास उसके रूढ़िवाद का ढीलापन है। जिस चीज ने लेनिन को मार्क्स से बांधा था वह मार्क्स के तर्कों की नैतिक संगति नहीं थी। यह चीज तो सामाजिक क्रांति के प्रति निष्ठा का भाव था जो लेनिन को मार्क्स की क्रान्तिकारी पुस्तिकाओं में प्राप्त हुआ था और जिसे दोनों आदमी मानव प्रगति का एकमात्र मार्ग समझते थे। मार्क्स और लेनिन के बीच ऐतिहासिक निरन्तरता वैज्ञानिक विचारों की नहीं थी बल्कि दो युगों के बीच नैतिक दृष्टिकोण की थी। यह दोनों ही मत पद्धति तथा मनोवृत्ति की दृष्टि से क्रांतिकारी थे। फलतः, साम्यवाद की मनोवृत्ति भी—वे नैतिक दृष्टिकोण और धारणाएं जो लेनिन ने उसे दी—इतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितना महत्वपूर्ण उसका बौद्धिक आधार है। इस तत्व ने ही साम्यवाद को एक धर्म का रूप दे दिया। कट्टर साम्यवादी के लिए सन्देह की कोई गुंजायश नहीं थी। उसे प्रत्येक परिस्थिति में एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त रहती थी। इस धारणा ने लेनिन के व्यक्तित्व को बहुत अधिक अहंकारपूर्ण और साथ ही स्वार्थहीन बना दिया। लेनिन क्रांति के प्रति पूरी तरह से निष्ठावान था। उसके मन में यह धारणा भी जमी हुई थी कि वह सदैव सही काम करता है। वह स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से पूरी तरह मुक्त था। इसके कारण उसकी नीति और हथकंडे भी बहुत कुछ आन्तरिक प्रेरणा पर निर्भर होते थे। वह अपने को जिस दर्शन का अनुयायी कहता था उसकी मर्यादाओं से भी नहीं बंधता था। इसने एक ऐसी चेतना को जन्म दिया था जो सत्रहवीं शताब्दी के काल्विनवाद में पाई जाती है। हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति की यह अनुपम विशेषता थी कि उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की निष्ठा को सामाजिक वर्ग की आक्रमणशीलता की निष्ठा में बदल दिया और एक ऐसी पीढ़ी के लिए जो ईश्वरीय इच्छा में विश्वास नहीं रखती थी इसे इतिहास के तर्क का नाम दिया। लेनिन ने इस धारणा को ही साम्यवाद का नीतिशास्त्र बना दिया। इस नीतिशास्त्र में निःस्वार्थ निष्ठा है, उग्र पक्षपात है, सिद्धान्त के प्रति कठोर भक्ति है, व्यावहारिक अवसरवाद है, अन्य समस्त सिद्धान्तों की

तुलना में एक सिद्धान्त का गौरवगान है और मानव कल्याण के उच्चतम सिद्धान्त की दुहाई है।

रूस में यह नैतिक दृष्टिकोण एक विशेष मानसिक गठन को व्यक्त करता था। रूस में वैधानिक उपायों द्वारा राजनीतिक सुधार के समस्त प्रयत्न विफल हो चुके थे। वहाँ वैधानिक सुधारों में केवल थोड़े से लोगों का ही विश्वास था। वहाँ सुधारक के सामने देश का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पिछड़ापन सदैव ही एक विकट समस्या रहता था। इस स्थिति में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि वहाँ पर क्रान्तिकारी स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण कर पाती। वहाँ पर इन संस्थाओं का निर्माण भी मुश्किल था। यदि संस्थाओं का निर्माण हो भी जाता तो उनका काम करना मुश्किल था क्योंकि इन संस्थाओं के चलाने के लिए जिस अनुभव और विचारधारा की जरूरत होती है उसका रूस में अभाव था। पुनः इस समय रूस में तेजी से उद्योगीकरण की बहुत जरूरत थी। जिस जनसंख्या में उद्योग धन्धों के विकास की मान्यता और प्रवृत्ति नहीं होती वह जनसंख्या लोकतन्त्रात्मक उपायों से इस रास्ते पर नहीं चल सकती। यह स्थिति केवल रूस में ही नहीं थी। पूर्वी यूरोप और एशिया के अनेक भूभागों में यही स्थिति है और इसके कारण वहाँ साम्यवाद को प्रोत्साहन मिल रहा है। पश्चिम के पूँजीपति अथवा पश्चिम के मजदूर की विचारधारा के मुकाबले में रूसी क्रान्तिकारी की विचारधारा उस नए शासक वर्ग के लिए कहीं अधिक उपयोगी है जो आधुनिक टैक्नालोजी की स्थापना करना चाहता है और उसके द्वारा अपनी पूँजी को बढ़ाना चाहता है और आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से असहाय जनता को अपने वश में करना चाहता है। हो सकता है कि यह शासक वर्ग सार्वजनिक सेवा का भाव रखता हो और उसके विचार भी जनता की सेवा करने के हों। लेकिन उसकी पद्धतियाँ मुश्किल से ही लोकतन्त्रात्मक होंगी। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि साम्यवाद औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए देश की विचारधारा है। यह एक ऐसे देश की विचारधारा नहीं है जहाँ मजदूर वर्ग पर्याप्त रूप से संगठित हो और उसने राजनीतिक प्रभाव अर्जित कर लिया हो।

तर्क के बावजूद यह सम्भव है कि आधुनिक राजनीति की दो प्रबल शक्तियाँ साम्यवाद और राष्ट्रवाद के बीच कोई विशेष विभाजक रेखा नहीं है। क्रान्तिकारी का उत्साह और निष्ठा थोड़े से भावात्मक स्थानान्तरण के द्वारा देशभक्त के उत्साह और निष्ठा का रूप धारण कर सकता है। दूसरी ओर राष्ट्रवादी की प्रेरणाएँ श्रमिक क्रान्तिकारी के स्पष्ट प्रयोजनों का स्थान ले सकती हैं और उन्हें नया मोड़ दे सकती हैं। जिन देशों में अभी राष्ट्रवाद का स्वरूप निश्चित नहीं हुआ है वहाँ साम्यवाद और राष्ट्रवाद का संयोग नए और महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त कर सकता है। लेनिन की जीवनी से ज्ञात होता है कि उसकी राष्ट्रवाद में विशेष दिलचस्पी नहीं रही थी। विश्वयुद्ध शुरू होने के कुछ समय पहले जब वह आस्ट्रिया के पोलैण्ड में था तब उसका ध्यान इस ओर

दिलाया गया था। उस समय लेनिन ने मार्क्सवाद और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की समस्या की ओर ध्यान दिया था। पूर्वी यूरोप के बहु राष्ट्रीय राज्यों की स्थिति को ध्यान में रख कर उसने जो निष्कर्ष निकाले थे वे पुराने मार्क्सवादियों के निष्कर्षों से भिन्न थे। पुराने मार्क्सवादियों ने तो राष्ट्रवाद की बिल्कुल उपेक्षा कर दी थी। लेनिन को अल्पसंख्यकों के प्रति पूरी सहानुभूति थी। उसका मत था कि उन्हें सांस्कृतिक समानता प्राप्त होनी चाहिए। वह इसे समाज की एक प्रगतिशील प्रवृत्ति मानता था। उसके विचार में मार्क्सवाद के लिए यह हितकर था कि वह उस प्रवृत्ति को स्वीकार करे और उसे प्रोत्साहन दे। इस निष्कर्ष का आधार स्पष्ट नहीं है। यदि इसका कोई आधार हो सकता है तो यही कि मार्क्सवाद संस्कृति के किसी जाति सिद्धान्त को नहीं मानता था। लेनिन ने मार्क्सवाद की परम्परागत नीति को कभी नहीं त्यागा। परम्परागत नीति के अनुसार राष्ट्रीय देशभक्ति एक पूँजीवादी गुण है और वह अन्ततोगत्वा आर्थिक कारणों पर निर्भर है। लेनिन को यह भी मालूम था कि राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को सांस्कृतिक स्वायत्तता देने से केन्द्रवाद के लिए खतरा पैदा हो सकता है। रूस के साम्यवादी शासन ने बीच का रास्ता अपनाया। उसने केन्द्रीकृत संगठन के साथ ही साथ राष्ट्रीय संघवाद का विकास किया। क्रांति के बाद राष्ट्रीय और जातीय अल्पसंख्यकों के प्रति उसकी नीति बड़ी उदार, कल्याणकारी और सफल रही। वस्तुतः, यह नीति एक प्रकार का प्रयोग थी। इसके अन्तर्गत सांस्कृतिक स्वायत्तता और समानता दी गई थी लेकिन साथ ही साथ दृढ़ केन्द्रीय शक्ति भी रक्खी गई थी। यदि पूर्वी यूरोप तथा अन्य बहु राष्ट्रीय क्षेत्रों में यह नीति सफल हो जाती है तो यह राष्ट्रवाद के राजनीतिक महत्व पर भारी प्रभाव डालेगी। दूसरी ओर अर्जित गुणों का उत्तराधिकार जो एक साम्यवादी रूढ़ि बन गया है जातिगत भेदभाव का एक नया आधार बन सकता है।

लेनिनवाद की मुख्य विशेषता यह थी कि उसने साम्यवादी दल को विशेष महत्व दिया। लेनिन ने वर्ग भावना से परिपूर्ण मार्क्सवादी को एक उग्र धार्मिक सम्प्रदाय का दृष्टिकोण दिया। यह दृष्टिकोण वह नहीं था जो कि लोकतन्त्रात्मक देशों में राजनैतिक दल के साथ समीकृत किया जाता है। साम्यवादी अपने आप ही एक बुद्धिजीवी और नैतिक अभिजात होता है। उसके पद के साथ अनेक विशेषाधिकार जुड़े हुए हैं। लेकिन इसके साथ ही उसके ऊपर उत्तरदायित्व का बोझ भी बहुत अधिक है। उसका प्रशिक्षण बड़ा कठोर होता है। उसके ऊपर दल का नियंत्रण भी बड़ा निर्मम रहता है। उसके मन में यह अटल विश्वास रहता है कि दल सही कार्य करता है और दल के एजेंट के रूप में वह भी सही कार्य करता है। ऐसा नैतिक दृष्टिकोण होने के कारण साम्यवादी दूसरे सिद्धान्तों को मानने वाले व्यक्तियों को बेईमान और झूठा समझता है। वह उनके साथ कोई समझौता करना नहीं चाहता। उन बहुत से व्यक्तियों की तरह जो यह समझते हैं कि जीवन को एक उच्चतम सिद्धान्त के आधार पर संगठित किया जा सकता है, साम्यवादी का भी यह विश्वास है और वह इस विश्वास के अनुसार आचरण भी करता है

कि केवल सिद्धान्त ही महत्वपूर्ण होता है और इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के साधन महत्वहीन होते हैं। लेनिन के व्यक्तित्व में य विशेषताए पाई जाती थी और उसने इन विशेषताओं को साम्यवाद में समाविष्ट किया। १९१७ की क्रान्ति के कई वर्षो पहले शत्रु और मित्र उसका समान रूप से एक ऐसा नेता समझते थे जो अनुयायियों की निष्ठा प्राप्त कर लेता था लेकिन जो उनसे यह भी माग करता था कि व आख मूद कर उसके पीछे चले। जब कभी दल के अन्दर उसकी बात नहीं मानी जाती थी तो वह विवाद खड़ा कर देता था। १९०६ में दल के अन्दर फूट डालने के अभियोग में उसके ऊपर दल की अदालत में मुकदमा चला था। उसके आचरण को दल के सदस्य के अनुपयुक्त बताया गया था। लेनिन ने उस समय केन्द्रीय समिति पर बेईमानी और भ्रष्टाचार का आरोप लगाया था। लेनिन का प्रत्युत्तर बड़ा रोचक और आक्रामक था। उसने स्वीकार किया कि मैंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो पाठको के अन्दर घृणा, विरक्ति और उदासीनता का भाव पैदा करेगी। यह भी सही है कि संयुक्त दल के सदस्यों को इस तरह का काय नही करना चाहिए। लेकिन उसने तर्क दिया कि दल में फूट पड़ गई है और जो गुट दल से अलग हो गए हैं वे अब संयुक्त दल के सदस्य नही रहे है।

"दल के साथियो के बारे में ऐसी भाषा लिखना जो मजदूरो में उन लोगो के लिए जो भिन्न मत रखते हैं, घृणा, विरक्ति और उदासीनता पैदा करे गलत है। लेकिन जो गुट अलग हो गया है उसके बारे में ऐसा लिखना ठीक है और जरूरी है। ऐसा क्योंकि ग'' जाए ? इसलिए कि फूट पड़ गई है और हमारा कर्तव्य है कि हम जनता को अलग होने वाले गुट के नेतृत्व से दूर करें।

'फूट पर आधारित संघर्ष की सीमाए दल की सीमाए नहीं हैं। वे सामान्य राजनैतिक सीमाए अथवा सामान्य नागरिक सीमाए हैं। ये सीमाए दण्ड विधि द्वारा निर्धारित की जाती हैं और किसी के द्वारा नही।'[1]

दल तथा गुट का राजनीतिक संघर्ष विनाश का संघर्ष होता है। स्पष्ट है कि यदि दल तथा बाहर के उन लोगो के बीच जिनके मत भिन्न होते हैं कोई संघर्ष होता है तो वह संघर्ष सत्य और न्याय के सिद्धान्तो के अनुसार सचालित नही होगा। इसकी सीमाए तो दण्ड विधि की सीमाए हैं। और यदि दल विधि का निर्माण करता है तो शक्ति की सीमाओं को छोड़ कर इसकी और कोई सीमाए नहीं हैं।

दल तथा विरोधी सदस्यो के सम्बन्ध के बारे में ऊपर जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, वही सिद्धान्त दल तथा दल के बाहर के व्यक्तियो और समुदायो के सम्बन्धो के ऊपर भी लागू होता था। इस सिद्धान्त ने साम्यवाद की नैतिक धारणाओं

---

1 लेनिन का पूरा भाषण देखिए। *Selected Works*, Vol III, pp 486 498 के उद्धरण पृ० ४९० (फुटनोट) तथा ४९४ पर है।

तथा राजनीतिक लोकतन्त्र की नैतिक धारणाओं के अन्तर को सदैव के लिए स्पष्ट कर दिया। उसने यह बता दिया कि श्रमिक लोकतन्त्र का वास्तविक अर्थ क्या होता है और गैर श्रमिकों अथवा अर्द्ध श्रमिकों के सन्दर्भ में दल का क्या कार्य रहता है। जो दल अपने को असंदिग्ध सत्य का संरक्षक समझता है—इस सत्य की घोषणा दल के नेता करते हैं और यदि इस सत्य को ठीक से समझ लिया जाए तो यह प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दे सकता है—वह अपना शैक्षणिक कार्य सिर्फ यही समझ सकता है कि लोगों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करे और जोर जबरदस्ती के द्वारा लोगों से अपनी बात मनवाए। कहने के लिए दल का उद्देश्य शोषित बहुमतों के हित की रक्षा करना है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि बहुमत इस बात को तय कर सके कि उसका हित क्या है। बहुमत की राय का कोई महत्त्व नहीं होता। दल के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह बहुमत की राय पर विचार करे। इस सिद्धान्त के अनुसार दल के नेता इस बात को समझते हैं कि मजदूरों के लिए क्या भला होगा। यदि मजदूरों को भी साम्यवाद की पूरी शिक्षा मिली होती तो वे भी उन्हीं की तरह यह समझ सकते थे कि वास्तव में उनके लिए हितकर क्या है। इस सिद्धान्त का नैतिक दृष्टिकोण बहुत कुछ ऐसे अल्पसंख्यक धार्मिक सम्प्रदाय का है जो संसार की रक्षा करना चाहता है और संसार इतना मूर्खतापूर्ण है कि वह इस बात को नहीं समझता कि उसकी रक्षा की जरूरत है। यह दृष्टिकोण कुछ विशेष परिस्थितियों में कितना ही कारगर क्यों न हो वास्तव में यह राजनीतिक शिक्षा के सम्बन्ध में लोकतन्त्रात्मक विचार का बिल्कुल उलटा है। साम्यवाद के इस शिक्षात्मक पहलू ने जर्मन मार्क्सवादियों को साम्यवाद की ओर से विरक्त कर दिया था। इसकी आलोचना करते हुए कार्ल काउट्स्की ने कहा था कि "समाजवाद की यह एक आवश्यक शर्त है कि जनता तथा उसके नेताओं को लोकतन्त्र की शिक्षा प्राप्त हो।" राजनीतिक शिक्षा के सम्बन्ध में लोकतन्त्र का जो सिद्धान्त है वह दो बातों की अपेक्षा करता है और साम्यवाद ने अपने नेताओं को जो महत्त्व दिया उसमें इन दोनों ही बातों की उपेक्षा हो गई। इन बातों में से पहली तो यह है कि राजनीतिक प्रक्रियाओं की शिक्षा राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग लेने से प्राप्त होती है। दूसरी बात यह है कि राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग लेना उस समय तक बिल्कुल व्यर्थ है जब तक कि उसमें भाग लेने वाले व्यक्ति अपने अनुभव के द्वारा उन्हें कोई ऐसी चीज न दे सकें जो कि कोई बुद्धिजीवी नहीं दता सकता।

लेनिन ने उस नैतिक दृष्टिकोण का भी निरूपण किया जिसके आधार पर दल दूसरे समुदायों अथवा संगठनों से सहयोग कर सकता है। यहां भी साम्यवाद के नैतिक दृष्टिकोण और लोकतन्त्र के नैतिक दृष्टिकोण में आधारभूत अन्तर है। समझौते, सहयोग अथवा समाधन के नैतिक महत्व के बारे में लोकतन्त्र और साम्यवाद के विचार बिल्कुल अलग-अलग हैं। लोकतन्त्र के लिए चीजें साध्य हैं लेकिन साम्यवाद के लिए ये चीजें साधन हैं। लेनिन ने अपने साहित्य में अवसरवादी शब्द का प्रयोग बड़ी कटुता से किया है। उसके विचार से अवसरवादी वह व्यक्ति है जो मार्क्स की रुढ़ियों के सम्बन्ध में कोई

रियायत करता हो, जो क्रान्ति के कार्यक्रम में किसी तरह की ढील डालता हो और जो अपने से भिन्न मत रखने वाले व्यक्तियों के साथ क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य के लिए समझौता करता हो। इसके बावजूद भी लेनिन यह कहा करता था कि वह 'सिद्धान्तवादी' नहीं है। अगस्त, १९१७ में जब उसने क्रान्ति करने का फैसला कर लिया था उस समय उसने समझौते की उपयोगिता के बारे में एक छोटा सा लेख लिखा।

"सच्चे क्रान्तिकारी दल का कार्य यह नहीं है कि वह समस्त समझौतों को असम्भव मानकर छोड़ दे। उसे चाहिए कि जहां तक समझौते आवश्यक हों वह उन्हें करे। हां, उसे अपने सिद्धान्तों के प्रति, अपने वर्ग के प्रति, अपने क्रान्तिकारी उद्देश्य के प्रति, क्रान्ति की तैयारी के प्रति और क्रान्ति में सफलता प्राप्त करने के लिए लोगों को शिक्षा देने के प्रति सच्चा रहना चाहिए।"[1]

लेनिन की नैतिक महिमा के अनुसार समझौता नैतिक दृष्टि से सदैव सन्देहास्पद होता है। हां, कभी-कभी वह जरूरी हो जाता है। समझौते का अर्थ यह नहीं है कि हम विरोधी के दृष्टिकोण में कोई गुण देख रहे हैं। इसका अर्थ सिर्फ यह है कि हमारे अन्दर कोई कमजोरी है। इसलिए समझौता दलों के शक्ति सम्बन्धों में पुनःसामञ्जस्य स्थापित करने का एक अस्थायी उपाय, एक प्रकार का युद्ध-विराम होता है। इस सम्बन्ध में लेनिन ने अन्यत्र कहा है कि क्रान्तिकारी दल अपने मित्रों की सहायता नहीं करता वह उनका उपयोग करता है। क्रान्तिकारी दल के उद्देश्य वर्ग-संघर्ष के शाश्वत सिद्धान्त के द्वारा निर्धारित होते हैं। वह इन उद्देश्यों का पूरी तरह प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प होता है। इन उद्देश्यों में परिवर्तन का कोई प्रश्न नहीं उठता। लेनिन ने १९१७ में किसानों के साथ इसी अर्थ में रियायत की थी। कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल ने इसी अर्थ में १९३५ में संयुक्त मोर्चे का समर्थन किया था।

"जब तक हम पूंजीवादी लोकतन्त्र के स्थान पर श्रमिक वर्ग के अधिनायकवाद की स्थापना नहीं कर सकते तब तक श्रमिक वर्ग यह चाहता है कि वह पूंजीवादी लोकतन्त्र के प्रत्येक चिन्ह को बनाए रखे जिससे कि वह पूंजीवाद की शक्ति को समाप्त करने और श्रमिक लोकतन्त्र को प्राप्त करने के लिए जनता को तैयार करने में उसका प्रयोग कर सके।"[2]

साम्यवादी दलों के द्वारा वैधानिक उपायों के प्रयोग के सम्बन्ध में स्टालिन ने कहा था कि "संसदीय संघर्ष श्रमिक वर्ग के संसदेतर संघर्ष में संगठन के लिए केवल एक पाठशाला, एक फलक्रम है।" इसलिए व्यवहार में सहयोग के सम्बन्ध में

1. "On Compromises", September, 1917 *Collected Works*, Vol. XXI. Book 1, p 152, *Selected Works*, Vol VI, p 208

2 सातवीं विश्व कांग्रेस में कार्यसमिति के अध्यक्ष के विचार। Quoted in *Socio-Economic Movements* (1946), ed by Harry W Laidler, p 468, n 19

साम्यवाद की नीति शासन करने या विनाश करने की होती है। इस नीति का नैतिक आधार यह विश्वास है कि विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच वास्तविक सहयोग नहीं हो सकता। यदि कभी सहयोग होता भी है तो वह केवल ऊपरी होता है और अस्थायी होता है। समझौते का विचार मूर्खतापूर्ण और आडम्बरपूर्ण है। लेनिन ने १९०६ में लिखा था कि राष्ट्रों के जीवन में बड़े बड़े प्रश्न केवल शक्ति के द्वारा ही सुलझाये जा सकते हैं।"

Selected Bibliography

Dialectical Materialism By V. Adoratsky New York 1934.

The Communist International By F Borkenau London 1938

A Philosophic Approach to Communism By T B H Brameld Chicago, 1933

The Soviet Impact on the Western World By E H Carr New York, 1947

The Russian Revolution 1917-21 By William H Chamberlin. 2 Vols New York, 1935

The Russian Enigma By William H. Chamberlin New York 1943

Toward an Understanding of the U. S. S. R. By Michael T Florinsky New York, 1939

The Political Theory of Bolshevism By Hans Kelsen University of California Publications in Political Science Berkeley and Los Angeles 1948.

Russia in Flux Edited and abridged by S Haden Guest from *Russia in Flux* and *The Russian Peasant and other Studies* New York 1948

Freedom of Artistic Expression and Scientific Inquiry in Russia' By Philip E Mosley In *Annals of the American Academy for Political and Social Science* Vol CC (1938) p 254

A History of Bolshevism from Marx to the First Five Years Plan By Arthur Rosenberg Trans by I F D Morrow, London, 1934

Power A New Social Analysis By Bertrand Russell. New York 1938

The Spirit of Post War Russia By Rudolf Schlesinger, London 1947

Soviet Philosophy By John Somerville New York 1946

Political Power in the U S S R 1917 1947 By Julian Towster New York 1948

The Law of the Soviet State Ed Andrei Y Vyshinsky Trans by Hugh W Babb New York 1948 Introduction

To the Finland Station A Study in the Writing and Acting of History By Edmund Wilson New York, 1940

Three Men Who made a Revolution A Biographical History By Bertram D Wolfe New York, 1948

'The Soviet Union Since World War II *Annals of the American Academy for Political and Social Science* Vol CCLXIII, May 1949

फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद

(Fascism and National Socialism)

साम्यवाद का राजनीतिक दर्शन सब मिलाकर एक क्रमबद्ध और भावनाओं से विकसित दृष्टिकोण को व्यक्त करता था। जब इसमें परिवर्तन हुआ, तब भी इसने मार्क्सवाद के साथ अपनी निरन्तरता को कायम रक्खा। मार्क्सवाद का दो पीढ़ी के विद्वानों ने विकास किया था। लेनिन और ट्राट्स्की दोनों ही दृढ़ विश्वासों के व्यक्ति थे। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व उन्हें दल के नेतृत्व का लम्बा अनुभव था। साम्यवाद की तुलना में इटली में फासिज्म और जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद ये दोनों ही विचारधाराएं बड़ी संकीर्ण थीं। दोनों ही देशों में दलों का उत्थान युद्ध के बाद हुआ था। वस्तुतः इसके पहले दल नहीं थे। इन दलों के नेताओं की दार्शनिक सिद्धान्तों में रुचि नहीं थी। यद्यपि उनके विचारधाराओं के मूल विश्वास और सिद्धान्त लम्बे समय से विद्यमान रहे थे लेकिन वे किसी एक सुनिश्चित विचारपद्धति के अंग नहीं थे। जब उनको मिलाकर एक दर्शन का निर्माण किया गया तो उनका यह संयोग भानुमती का पिटारा था। इन विचारों को भावनात्मक अपील के आधार पर चुना गया था। इनमें न सच्चाई थी और न संगति ही। इन विचारों में बौद्धिक ईमानदारी का भी अभाव था।

इटली और जर्मनी दोनों देशों में दलों ने अपनी शक्ति का विकास अवसरवाद के आधार पर किया था। इन दोनों देशों में कुछ बिखरे हुए समुदाय थे, उन्हें समान प्रयोजनों अथवा सिद्धान्तों के आधार पर नहीं बल्कि समान घृणाओं और शंकाओं के आधार पर एकता के सूत्र में गठित किया गया। दल के नेताओं ने किसानों और बड़े-बड़े जमींदारों, छोटे दुकानदारों और बड़े उद्योगपतियों, वेतनभोगी मध्यवर्गीय कर्मचारियों और ट्रेड यूनियन में काम करने वालों, इन सबको आपस में मिलाया। उन्होंने कोई साफ और सीधा कार्यक्रम पेश नहीं किया बल्कि हर वर्ग को हर चीज का वचन दिया। यदि वे कोई निश्चित कार्यक्रम पेश करते तो शायद कुछ लोग उनसे विरक्त हो जाते। दोनों देशों के नेताओं ने इस नीति को जान-बूझ कर अपनाया था। मुसोलिनी ने अपने आरम्भिक भाषणों में इस बात पर जोर दिया था कि वह सिद्धान्तों में यकीन नहीं रखता और एक व्यावहारिक मनुष्य है। उसका आदर्श वाक्य बात नहीं, प्रत्युत् काम है। उसका कहना

या कि "सिद्धान्तो की कोई जरूरत नही है। अनुशासन पर्याप्त है।" १९२४ मे अपने एक निबन्ध मे उसने लिखा था—

"हम फासिस्टो मे इतना साहस है कि हम परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्तो की उपेक्षा कर सकते है, हम अभिजात भी हैं और लोकतन्त्रवादी भी, क्रान्तिकारी भी हैं और प्रतिक्रियावादी भी, श्रमिक भी है और श्रमिक विरोधी भी, शान्तिवादी भी हैं और शान्तिविरोधी भी। हमारे लिए केवल एक उद्देश्य पर्याप्त है। वह उद्देश्य है—राष्ट्र और सारी चीजें साफ है।"[1]

इसी तरह जर्मनी मे नेशनल सोशलिस्ट पार्टी ने १९२६ मे २५ अनुच्छेदो को अपनाया था। उन्हें उसने अपने अपरिवर्तनशील सिद्धान्त कहा था। लेकिन इन अनुच्छेदो का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही था।[2] १९३३ के चुनाव आन्दोलन मे हिटलर ने कोई कार्यक्रम बताना अस्वीकार कर दिया था।

"सारे कार्यक्रम व्यर्थ हैं। निर्णायक वस्तु है मनुष्य की इच्छा, स्वस्थ दृष्टि, पुरुषोचित साहस, विश्वास की सत्यता, आन्तरिक इच्छा, ये ही सारी चीजें निर्णायक हैं।"[3]

ड्रेस्डन मे एक दल नेता ने १९३० मे एक उद्योगपति को जो पत्र लिखा था उसमे और भी अधिक स्पष्ट बातें कही थी।

"हमारे विज्ञापनो की भाषा से आप परेशान न हो। 'पूँजीवाद का नाश हो'—जैसे शब्द मोहक शब्द है। लेकिन वे आवश्यक है। हमे क्षुब्ध समाजवादी कार्यकर्ता की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। हमारा कोई प्रत्यक्ष कार्यक्रम नही है। इसका कारण कूटनीति है।"[4]

जब १९२९ मे मुसोलिनी ने यह तय किया कि फासिज्म का एक सिद्धान्त होना चाहिए तो यह कार्य सरकारी आदेशो के द्वारा पूरा किया गया। मुसोलिनी ने आदेश दिया था कि यह काम दो महीनो मे नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन तक हो जाना चाहिए।

---

1 Quoted by Franz Neumann, *Behemoth* (2nd ed , Oxford University Press, 1944), 462 f

2 *Mein Kampf* के अंग्रेजी अनुवाद मे उनको गिना दिया गया है और उनकी व्याख्या दी गई है। (New York, 1939), p 686 note। इस पुस्तक मे *Mein Kampf* के समस्त सन्दर्भ इसी सस्करण के है।

3 Quoted by Konrad Heiden, *Der Fuehrer* (1944), p. 554.

4 Quoted by Edgar A Mowrer, *Germany puts the Clock Back* (1934), p 149.

इन परिस्थितियों को देखते हुए कुछ लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद का अपना कोई दर्शन नहीं था। उनकी पद्धतियों में भीड़ के मनोविज्ञान और आतंकवाद का मिश्रण था। उनके नेताओं का केवल एक ही उद्देश्य था—शक्ति को प्राप्त करना और उसे बनाए रखना। यह बात कुछ हद तक सही थी लेकिन पूरी तरह सही नहीं थी। फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद लोकप्रिय आन्दोलन थे। लाखों जर्मनों और इटालियनों ने उनका आंख मूंद कर समर्थन किया था। ऊंचे नेताओं तक के बारे में जो सनकी थे यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने जिस विचारधारा के निर्माण में मदद की थी वे उसके स्वामी थे या सेवक।[1] वे यहूदियों के घोर विरोधी थे और यह उनकी एक बड़ी दुर्बलता थी। यद्यपि फासिस्ट दर्शन काफी हद तक सश्लेषणात्मक और उद्देश्यपूर्ण था लेकिन फिर भी वह ऐसे तत्वों से मिलकर बना था जो यूरोप की विचारधारा में लम्बे समय से चले आ रहे थे, लोगों को उनका ज्ञान था, और वे उग्र पक्षपातों तथा महत्वाकांक्षाओं के प्रेरक थे। यह दर्शन कुछ सीमित और निश्चित उद्देश्यों को प्राप्त करने का इच्छुक नहीं था। इसका ऐसा कोई दावा नहीं था। वह रचनात्मक दर्शन था। वह स्वस्थ दृष्टि और आन्तरिक इच्छा पर आधारित था। जब उसने यह कहा कि सृजनशीलता अथवा दृष्टि बुद्धि तथा विवेक की विरोधी होती है तो उसने केवल एक ऐसे विचार को ही व्यक्त किया जो यूरोप के दर्शन में एक शताब्दी से चला आ रहा था। जब उसने यह कहा कि विभूतिसम्पन्न नेता में सृजनशीलता होती है तो वह उसी वक्तव्य को दुहरा रहा था, जिसकी घोषणा थामस कार्लायल के दिनों से ही रोमांटिक वीर पूजक करते रहे थे। फासिस्ट वीर एक कृत्रिम व्यक्ति था, विशेषकर पराजय में। फासिस्ट दर्शन एक अशिष्ट दर्शन और एक व्यंग-चित्रण था। तथापि, समस्त व्यंग-चित्रों की भांति उसमें थोड़ी-सी सचाई भी थी। अच्छा हो या बुरा हो, यूरोप के राजनीतिक विचारों और प्रथाओं के विकास में उसका सम्बन्ध था और इस अर्थ में वह एक दर्शन था।

कुछ लोगों का विचार है कि फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद कतिपय महत्वाकांक्षी पुरुषों की महत्वाकांक्षाओं के परिणाम थे। इन्हें इटली और जर्मनी के ऊपर विचार तथा आतंकवाद के द्वारा लाद दिया गया था। यह बात उस समय तो विचारणीय हो सकती थी यदि यह निश्चित होता कि मुसोलिनी और हिटलर के साथ ही उनकी

1. तुलना कीजिए H. R. Trevor-Roper, *The Last Days of Hitler* (the Macmillan Company, 1947)। विशेषकर अध्याय १–३। गोएबिल्स ही ऐसा एकमात्र राष्ट्रीय समाजवादी नेता था जिसकी बौद्धिक क्षमता असाधारण थी। यदि हिटलर साम्यवाद, राजतन्त्र अथवा लोकतन्त्र इनमें से किसी भी पद्धति को अपनाता, तो वह अपनी प्रतिमा उसी दिशा में लगा सकता था। हिटलर के प्रति वीर पूजा की भावना और यहूदी-विरोध ने उसे पूरी तरह से अन्धा कर दिया था।

मृत्यु हो गई तथा ससार के और देशो मे उनका विकास सम्भव नही है। इस कथन को बहुत कम विचारशील व्यक्ति स्वीकार करेंगे चाहे वे इसे कितना ही पसन्द करें। फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद एक वास्तविक स्थिति की प्रतिक्रिया के रूप मे थे। बौद्धिक दृष्टि से उनमे कोई तत्त्व नही था। वे सभ्य ससार के नैतिक विश्वासो के भी प्रतिकूल जाते थे। लेकिन इससे इस बात की कोई गारण्टी नही मिलती कि उनके समान दूसरी विचारधाराओ अथवा आन्दोलनो का जन्म नही हो सकता। इस तरह के आन्दोलन फिर पैदा न हो इसकी एकमात्र गारण्टी यह है कि जिन परिस्थितियो मे वे पैदा हुए थे उनका समुचित अध्ययन किया जाए और उनके समाधान का प्रयत्न किया जाए। फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद की प्रेरक शक्ति राष्ट्रीय देशभक्ति थी। आज के राजनैतिक ससार मे यह सब से शक्तिशाली भाव है। इस भाव मे सास्कृतिक महत्त्व के भी तत्त्व हैं। फासिस्ट और राष्ट्रीय समाजवादी यूरोपीय समाज मे—वास्तव मे विश्व-समाज मे—रहते थे जिसमे निरपेक्ष राष्ट्रीय आत्मनिर्णय और प्रभुसत्ता असम्भव है। उनकी नई व्यवस्था मे राजनीतिक ससार—इसमे शासक इकाइया राष्ट्र हैं—और आर्थिक ससार—इसमे बड़ी-बड़ी शक्तिया ही आत्मनिर्भरता की आशा कर सकती हैं—के बीच की विषमता को दूर करने का वादा किया गया था। उनका समाधान यह था कि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एक प्रबल राष्ट्र के नियत्रण मे साम्राज्यवाद ही हो सकती है। यह प्रस्ताव उस समय तक अप्रामाणिक सिद्ध नही होगा जब तक कि किसी अधिक उदारवादी सिद्धान्त के आधार पर निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का आदर्श सामने न हो। फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद ने घरेलू नीति मे उस अर्थ-व्यवस्था को ठीक करने की कोशिश की जिसम स्फीति और मन्दी ने सम्पत्तिधारियो और मजदूरो दोनो की सुरक्षा को समाप्त कर दिया था। उन्होने मजदूरो और प्रबन्धको के बीच के झगड़े शान्तिपूर्ण और न्याययुक्त उपायो से सुलझाने के साधन प्रदान किए। उनका विचार था कि इन झगड़ों के कारण उत्पादन और राष्ट्रीय सुरक्षा को नुकसान पहुंचता है। उन्होने एक ऐसी अर्थ व्यवस्था मे पूरा उत्पादन और पूरा रोजगार देने का वचन दिया जिसने युद्ध की तैयारी को छोड कर अपनी उत्पादन शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग कभी नहीं किया है। उनके समाधान ने सम्पत्ति के अधिकारो अथवा औद्योगिक प्रबन्ध की स्वाधीनता को प्राप्त किए बिना ही मजदूरो के नागरिक अधिकारो को नष्ट कर दिया। इसकी कीमत विनाश थी। यह कीमत फिर से नही चुकानी पड़ेगी, इसका एकमात्र आश्वासन यह है कि इन वचनो को अधिक योग्यतापूर्वक पूरा किया जाए। जब तक जनसख्या के किसी महत्त्वपूर्ण भाग को यह विश्वास दिलाया जा सकता है कि राजनीति मे बुद्धि, निष्फल, विवादपूर्ण, कायर और अकर्मण्य होती है अथवा लोकतन्त्रात्मक प्रक्रियाए कमजोर, पतनशील, और धनिकतन्त्रात्मक होती हैं, तब तक किसी न किसी रूप मे फासिज्म का आविर्भाव कभी असम्भव नही होगा।

राष्ट्रीय समाजवाद

(Nationalist Socialism)

फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद का दर्शन विभिन्न और दीर्घकाल से परिचित तत्वों का एक संश्लेषणात्मक परिणाम था। इस तथ्य ने उसके ऐतिहासिक परिचय को निर्धारित करना कठिन कर दिया है। उसके शत्रुओं और मित्रों दोनों ने उनके स्रोत ढूंढ निकालने की कोशिश की है। ये स्रोत इटली के इतिहास में तो दांते तक और जर्मनी के इतिहास में मार्टिन लूथर तक पहुंच जाते हैं। तथापि, सन्दर्भहीन बिखरे हुए विचारों के इस संकलन के आधार पर जो ऐतिहासिक स्पष्टीकरण दिया जाता है, वह हमारी समस्या का समाधान नहीं करता। सोलहवीं शताब्दी के बाद में यूरोप में जितने साहित्यों का निर्माण हुआ है, उन सब में ही राजनीतिक निरपेक्षता के समर्थन में विचार मिल जाते हैं। इसका कारण यह है कि राजनीतिक निरपेक्षता सब से सरल राजनीतिक विचार है। अरक्षा और अव्यवस्था से बचने के लिए उसका बड़ी सुगमता से प्रयोग किया जा सकता है। फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद ने उन विचारों और उन वीरों का पता लगाने के लिए जो उनके लिए उपयोगी हो सकें इतिहास का गहन मन्थन किया था। इस प्रक्रिया के आधार पर दोनों आन्दोलनों के दो अलग-अलग दर्शन होने चाहिए थे क्योंकि जर्मनी और इटली की जनता एक-सी भावनात्मक कथाओं से प्रभावित नहीं हुई थी। शुद्ध तर्क की दृष्टि से मेन केम्फ और एनसाइक्लोपीडिया इटालियाना में मुसोलिनी के लेख के वैषम्य को सुगमता से प्रगट किया जा सकता है। लेकिन, इस वैषम्य का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि इस बात में कभी किसी को सन्देह नहीं रहा है कि भाषा में चाहे कितनी भिन्नता हो लेकिन दोनों का सार-तत्त्व एक है। यदि उनमें कुछ अन्तर हैं भी तो वे ऊपरी हैं। ये दोनों दर्शन बिल्कुल एक नहीं थे लेकिन फिर भी उनमें काफी समानता है।

इटली में फासिज्म ने और जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद ने अपने को राष्ट्रीय प्रयोजनों के लिए समाजवादी व्यवस्थाओं के रूप में पेश किया। गोएबिल्स ने अपने प्रचार में इसे सच्चा समाजवाद कहा है। दोनों देशों में उन्होंने समाजवादी दल और एक राष्ट्रीय दल के गठबन्धन के द्वारा शक्ति प्राप्त की। इटली में मुसोलिनी ने १९२० के शुरू में अचानक ही राष्ट्रवाद को अपनाया, इसके पहले वह काफी अरसे तक राष्ट्रवाद-विरोधी रहा था।[1] इसी समय राष्ट्रवादी दल ने सिंडिकलिस्ट समाजवाद को

---

1. गाउडेंस मेगारो ने *Mussolini in the Making* (1938) ग्रन्थ में मुसोलिनी के जीवनवृत्त का पूरा परिचय दिया है। विशेष रूप से पृ० २४६ ff. देखिए।

अपनाया। जर्मनी में भी बहुत कुछ इसी तरह हुआ था। वहां हिटलर ने एक घोषणा कर रखी थी कि वह समस्त समझौतों और गठबन्धनों का विरोध करेगा। लेकिन, उसने हुगेनवर्ग के राष्ट्रवादियों के साथ गठबन्धन करके रीशताग में बहुमत प्राप्त किया।[1] एलफ्रेड रोको ने १९२५ में चेम्बर ऑफ डिपीज में फासिज्म का समाजवाद का राष्ट्रवादी रूप बताते हुए निम्नलिखित विचार प्रगट किए थे। रोको इटली के राष्ट्रवादियों का एक प्रमुख नेता था और वह मुसोलिनी की संयुक्त सरकार में न्यायमंत्री बना था।

'फासिज्म ने यह समझ लिया था कि सामाजिक समुदायों के संगठन की समस्या का अर्थात् सिंडिकलिज्म का उस आन्दोलन से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है जो पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को नष्ट करना चाहता है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था उत्पादन के व्यक्तिगत संगठन पर निर्भर है। इसके विपरीत समाजवादी अर्थ-व्यवस्था उत्पादन के सामुदायिक संगठन पर निर्भर है। फासिज्म ने यह जरूरी समझा कि वह सिंडिकलिज्म का समाजवाद से अलग कर दे। समाजवाद ने सिंडिकलिज्म को राष्ट्र-विरोधी, अन्तर्राष्ट्रीय, शान्तिवादी, मानववादी, और विद्रोही विचारों से भर दिया था। इन विचारों का सिंडिकल संगठन से कोई सम्बन्ध नहीं है। अस्तु, फासिज्म ने राष्ट्रीय सिंडिकलिज्म की स्थापना की है। इसके प्रेरक भाव पितृ देश के प्रति प्रेम और राष्ट्रीय एकता है।"[2]

यह विचार काफी आसान और प्रभावशाली था। इसके उद्भव के बारे में पड़ताल करने की जरूरत नहीं थी। समाज को संघर्ष द्वारा जर्जरित नहीं होना चाहिए। उसे सहकारितापूर्ण होना चाहिए। राष्ट्र वह समाज है जिसके सब सदस्य होते हैं। इसलिए प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक हित को राष्ट्र के हित में कार्य करना चाहिए। इस विचार में उस दल के कार्यक्रम की मूल धाराएं भी निहित थीं जिनके आधार पर वह सत्ता प्राप्त करना चाहता था। उसे कम से-कम नाम से समाजवादी होना चाहिए। इटली और जर्मनी दोनों ही देशों में लोक राजनीति काफी हद तक समाजवाद के आधार पर चली थी। फिर भी उसके लिए यह जरूरी था कि वह उन मजदूर संघों के प्रभाव को क्षीण करना, जो चाहे मार्क्सवादी रहे हों या नहीं, लेकिन समाजवादी जरूर थे। राष्ट्रीय समाजवाद निम्न मध्यवर्गीय लोगों को काफी अपील करता था। इसका कारण यह था कि इन लोगों को मुद्रास्फीति और मन्दी से बहुत नुकसान हुआ था। इन लोगों को डर था कि वे सर्वहारावर्ग की श्रेणी में पहुंच जायेंगे। मार्क्स ने उनके लिए यह भविष्यवाणी भी की थी। प्रत्येक देश में इस वर्ग ने अपने को श्रमिक वर्ग तथा विशाल औद्योगिक वर्ग के बीच में रक्खा था। इस वर्ग में खुद इतनी ताकत नहीं थी कि वह इन दोनों में से

1. *Mein Kampf*, pp 759 ff

2 Quoted by Herbert L Matthews, *The Fruits of Fascism* (1943), p. 96

किसी के भी प्रहार से अकेले अपनी रक्षा कर सकता। इसलिए, जब उसे राष्ट्रीय सरकार से मदद की आशा दिखाई दी तो उसने उसका स्वागत किया। बड़े-बड़े उद्योगपतियों और व्यापारियों को यह आशा हो गई कि नए सयोग मे राष्ट्रवाद समाजवाद की बुराइयों को दूर कर देगा। उसे उम्मीद थी कि वह मजदूर सघो के दबाव से बच जाएगा। उसने समाजवाद को स्वीकार करते समय यह आशा तो छोड दी कि वह सरकारी कायदे कानूनो के बन्धन से बच सके। कुल मिलाकर उसे यह उम्मीद नजर आती थी कि शायद वह शासन पर नियत्रण स्थापित कर सके। उसे विदेशो मे अपने वाणिज्य विस्तार के लिए सरकारी मदद की जरूरत थी ही। इस तरह राष्ट्रीय समाजवाद ने हर वर्ग को खुशी का वचन दिया। यदि उस समय की हालत का ठीक-ठीक विश्लेषण किया जाए तो सम्भावनाए बहुत उज्ज्वल नही थी। लडाई ने देश की हालत बहुत खराब कर दी थी। मध्य वर्ग मुद्रास्फीति के कारण परेशान था। देश की अर्थ-व्यवस्था इतनी खराब हो गई थी कि अधिकाश नौजवानो को रोजगार नही मिल सकता था। राष्ट्रवाद और समाजवाद की यह प्रस्तावित साझेबाजी बडी विषम थी, कम-से-कम उन लोगों के लिए जिनका यह दृढ विश्वास था कि समाजवाद का अर्थ राष्ट्रीय आय का पुनर्वितरण तथा सामान्य जनता के जीवन-स्तर मे सुधार करना है। यह स्थिति बडी पेचीदा-सी थी। हर वर्ग को यह उम्मीद होती थी कि अगला कदम उसके पक्ष मे होगा। नेता लोग कभी एक पक्ष को कुछ लाभ प्रदान कर देते थे और कभी दूसरे पक्ष को। ज्यो-ज्यो दल की शक्ति दृढ होती गई वह अपने को सभी पक्षो से स्वतन्त्र करता गया।

राष्ट्रीय समाजवाद के कार्यक्रम ने उस राजनीतिक चिन्तन की मुख्य धाराओं को भी निर्धारित कर दिया जिसके आधार पर इस कार्यक्रम का गठन किया जाता। मुख्य रूप से इसका अर्थ राष्ट्रीय सरकार द्वारा राष्ट्रीय हित मे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का पूरा नियत्रण था। वह उस उदारवाद का भी विरोधी था जिसके अनुसार अर्थ-व्यवस्था पर राजनीतिक नियत्रण सीमित रहे। साथ ही वह उस मार्क्सवाद का भी विरोधी था जो राजनीति को अर्थ-व्यवस्था द्वारा मर्यादित मानता था। फासिस्ट राजनीति दर्शन के लिए यह जरूरी-सा था कि वह अपने को राजनीतिक आदर्शवाद के उदात्त रूप मे उपस्थित करे। फलत, उसने मार्क्स के भौतिकवाद की निर्ममता का और उदारवाद के धनिकतत्र की अहकारिता का समान रूप से खण्डन किया, स्वतन्त्रता, समानता और सुख के अधिकारो के विरोध मे उसने सेवा, निष्ठा और अनुशासन के कर्तव्यो पर जोर दिया। चूकि वह घोर राष्ट्रवादी था इसलिए उसने अन्तर्राष्ट्रीयता को कायरता और सम्मानहीनता का पर्याय माना। उसने स्वशासन की समस्त सस्थाओ का वर्ग-सघर्ष की एजेंसिया माना और उनका अतिक्रमण किया। उसने ससदो को बातूनी दुकानें कहा तथा लोकतन्त्रात्मक प्रक्रिया के समस्त रूपो को निष्फल, दुर्बल और पतनशील बताया। उसने राष्ट्र की शक्ति और गौरव को एक ऐसा नैतिक आदर्श बताया जिसमे

सभी व्यक्तियों के हितों का समावेश हो जाता है। उसने राष्ट्र की इच्छा को एक ऐसा महान् बल बताया जो समस्त भौतिक और आध्यात्मिक बाधाओं का निवारण कर देता है। मुसोलिनी ने १९२७ में जारी किए गए इटली के लेबर चार्टर में इन समस्त सिद्धान्तों का समावेश किया। इस चार्टर के अनुसार, "इटालियन राष्ट्र के साध्य उन समस्त पृथक् व्यक्तियों से जो उसका निर्माण करते हैं, ऊंचे हैं।" अपने सभी रूपों में कर्म एक सामाजिक कर्तव्य है। "उत्पादन का एक ही लक्ष्य है—व्यक्तियों का कल्याण और राष्ट्रीय शक्ति का विकास।"

प्रशा का समाजवाद

(Prussian Socialism)

राष्ट्र के समस्त आर्थिक और सांस्कृतिक ससाधन राष्ट्रीय प्रयोजनों के लिए जुटाए जाए, यह विचार जर्मनी में भी बहुत समय से चला आ रहा था। सचाई यह है कि इटली की अपेक्षा जर्मनी में इस विचार को अधिक निश्चयता से कार्यान्वित किया गया था। कभी तो इस विचार का उपयोग राष्ट्रवाद के हित में किया गया था और कभी समाजवाद के हित में। जोर चाहे किसी भी तत्त्व पर दिया गया हो, यह विचार अपने आप में नया नहीं था। दार्शनिक फिश्टे ने अपनी पुस्तक *Der geschlossene Handelsstaat* में १८०० में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। फ्रेडरिक लिस्ट का आर्थिक दर्शन इग्लैण्ड के अर्थशास्त्र से भिन्न था। उसने अपना उद्देश्य राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था का विकास रक्खा था। यह विकास तब हो सकता था जबकि पूंजी और श्रम दोनों पर राष्ट्रीय विस्तार के हित को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक नियत्रण रक्खा जाता।[1] यद्यपि जर्मनी में समाजवाद सामान्य रूप से मार्क्सवादी रहा था, लेकिन वहा के समाजवादी चिन्तन में रोडबर्ट्स, लासाले और यूजेन ड्यूरिंग जैसे व्यक्ति भी हुए थे। ये लोग अन्तर्राष्ट्रीयता की अपेक्षा राजकीय समाजवाद की ओर अधिक झुके हुए थे। मार्क्सवाद के सभी सशोधक यह मानते थे कि सम्भवत वर्ग-सघर्ष के स्थान पर श्रमिकों और पूंजीपतियों के बीच सहयोग का भी कोई न कोई रूप हो सकता है।

---

1. *Das nationale System der politischen Okonomie*, 1841, Eng trans by S. S Lloyd, *National System of Political Economy*, London 1885 राष्ट्रीय समाजवाद ने लिस्ट को लेबेन्सराम का अनुसधानवर्त्ता मान कर उसका पुनरुद्धार किया था

इसलिए, यदि प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जर्मनी में राजनीतिक निराशा की जो लहर व्याप्त हो गई थी, उसने यह विचार जर्मनों को आकर्षक प्रतीत हुआ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ओसवल्ड स्पेंगलर और आर्थर मोयलर वान डेन ब्रक ने प्रशा के समाजवाद के विचार को काफी लोकप्रिय किया था।[1] ये लोग दार्शनिक दृष्टि से बहुत गहरे नहीं थे लेकिन इनमें साहित्यिक प्रतिभा बहुत अधिक थी। स्पेंगलर के दर्शन के अनुसार इतिहास "संस्कृति क्षेत्रों" के संघर्ष का अभिलेख है। यह संस्कृति क्षेत्र कभी तो "एशिया" के विरोध में "यूरोप" था और कभी वह 'काली जातियों" के विरोध में "श्वेत जाति" था। दोनों ही स्थितियों में निष्कर्ष यह था कि जर्मनी का यह मिशन है कि वह एशिया और काली जातियों के विरोध में यूरोपीय सभ्यता के सीमान्त की रक्षा करे। राजनीतिक लोकतन्त्र पतन का ही एक रूप है। यह पतन कुछ तो उद्योगीकरण के कारण होता है और कुछ बुद्धिवाद के द्वारा शक्ति की इच्छा को कमजोर कर देने के कारण। इसलिए, उसके स्थान पर अब अधिनायकवादी नेतृत्व तथा विश्व साम्राज्य के संघर्ष का युग आना चाहिए। इस प्रक्रिया में राष्ट्रीय राज्य उसी प्रकार समाप्त हो जाएंगे जिस प्रकार रोम ने कबीलों और जातियों को जीत लिया था और अपने अन्दर समेट लिया था। लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता इस भ्रम पर आधारित होते हैं कि मनुष्य विवेकसम्पन्न प्राणी है। बुद्धिवाद शहरी सर्वहारा वर्ग द्वारा प्रसूत विकृति है। वह एक निकृष्ट व्यवस्था है। केवल कुलीनों और किसानों में ही स्वामित्व और शक्ति की अदम्य इच्छा रहती है। इतिहास में यही वर्ग श्रेष्ठ शक्तियां रहे हैं। मनुष्य स्वभाव से जंगली पशु है। न्याय और शान्ति स्वप्न हैं। नैतिक सुधार का आदर्श बेकार की बकवास है। इसलिए, यह जरूरी है कि समाजवाद को अन्तर्राष्ट्रीयता और वर्ग-संघर्ष की मार्क्सवादी रूढ़ियों से मुक्त कर दिया जाए। जर्मनी में इसका अभिप्राय यह है कि उसे अनुशासन और सत्ता

---

1 स्पेंगलर का *Preussentum und Sozialismus* म्यूनिच में १९२० में छपा था। उसके दो अन्य ग्रन्थ *Decline of the West* (Eng. trans. by C. F. Atkinson, New York, 1926-28) और *Hour of Decision* (Eng. trans by C. F. Atkinson, New York, 1934) अधिक प्रसिद्ध हैं हालांकि उनका राजनीतिक महत्व कम है। मोयलर वान डेन ब्रक का *Das dritte Reich* ग्रन्थ १९२३ में हैम्बर्ग में प्रकाशित हुआ था। इसका एक संक्षिप्त अनुवाद ई० ओ० लोरीमेर ने *Germany's Third Empire*, London, (1934) के नाम से किया है। देखिए Gerhard Krebs, "Moeller van den Bruck : Inventor of the Third Reich, *Am. Pol. Sci. Rev.* Vol. XXXV (1941), pp. 1085 ff.

की प्रधान परम्परा से जोड़ दिया जाए। राजनीतिक दलों और संसदीय संस्थाओं के स्थान पर राजनीतिक और आर्थिक पदसोपान की व्यवस्था करनी चाहिए। औद्योगिक मजदूरों को आज्ञापालन के लिए विवश किया जाना चाहिए। स्पैंगलर के अनुसार मूल प्रश्न यह है कि वाणिज्य राज्य का शासन करता है या राज्य वाणिज्य का शासन करता है। पहला विचार इंग्लैण्ड का है और दूसरा विचार जर्मनी का है। स्पैंगलर का स्वस्थ समाज सम्बन्धी विचार कई दृष्टियों से राष्ट्रीय समाजवाद का प्रेरक था—एक सुदृढ़ औद्योगिक राजनीतिक वर्ग, सुनिश्चित कृषक प्रधान कृषिगत अर्थ-व्यवस्था, सैनिक शक्ति का पोषण करने के लिए पर्याप्त उद्योग, श्रमिक संघों के राजनीतिक प्रभाव से मुक्त अनुशासनबद्ध आज्ञापालक श्रमिक वर्ग। स्पैंगलर की आशा थी कि यदि इन पद्धतियों को एक-दूसरे के साथ सुसंगत कर दिया जाए, तो जर्मनी एक ऐसे विशाल महाद्वीपीय साम्राज्य का निर्माण कर सकता है जो ब्रिटिश साम्राज्य से टक्कर ले कर उसे ग्रस्त कर ले।

मोयलर वान डेन ब्रक का विचार भी कुछ इसी तरह का था। पर्ड रीश का एक प्रिय सिद्धान्त यह था कि "प्रत्येक राष्ट्र का अपना विशिष्ट समाजवाद होता है", लेकिन आदर्श समाजवाद वहां से आरम्भ होता है जहां मार्क्स ने समाप्त किया है। यहूदी होने के कारण मार्क्स आदर्श मूल्यों, विशेषकर राष्ट्रीय मूल्यों को ठीक से नहीं समझ सका। सच्चा राष्ट्रीय समाजवाद भौतिकवादी नहीं, प्रत्युत् राष्ट्रवादी होता है। वह सर्वहारा-वर्गीय नहीं होता 'क्योंकि सर्वहारा निम्नतम धरातल पर रहते हैं"। उसमें से उदारवाद का प्रत्येक तत्त्व निकाल दिया गया है। उदारवाद धनिकतन्त्र के लिए एक झूठा मोर्चा है। इसमें से उदारवादी लोकतन्त्र के तत्त्वों का भी बहिष्कार कर दिया गया है क्योंकि वह राष्ट्रों की मृत्यु का कारण है। वह एक ऐसे राष्ट्र की इच्छा के ऊपर आधारित है जो यह जानता है कि उसकी क्या इच्छा है। वह एक ऐसे महान् नेता के पथ-प्रदर्शन में कार्य करता है जो राष्ट्र की इच्छा को व्यक्त कर सकता है। उसमें वर्ग-संघर्ष के स्थान पर राष्ट्रीय सुदृढ़ता का भाव आ जाता है। यूरोप की अराजकता में एक संयुक्त राष्ट्र ही खड़ा रह सकता है।

'एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या जर्मन मजदूर वर्गों के राष्ट्रीय तत्त्वों में इतनी शक्ति और इच्छा है कि वे सर्वहारा वर्ग के संघर्ष को राष्ट्रीय समाजवाद की दिशा में मोड़ दें या उसे बिलकुल उल्टी दिशा में कर दें जिससे कि वे शक्तियां जो इस समय राष्ट्र के विरोध में वर्ग-संघर्ष में उलझी हुई हैं, विदेशी शत्रु का सामना करें।'[1]

---

1 *Germany's Third Empire*, Eng trans, p 167.

इस अवतरण में 'राष्ट्रीय समाजवाद' शब्द का प्रयोग हिटलर के दल के लिए नहीं किया गया था, लेकिन इस शब्द के प्रयोग से उन कारणों का आभास मिलता है, जिनसे प्रेरित होकर हिटलर ने यह नाम अपनाया।

क्या हिटलर पर "प्रशान समाजवाद" का प्रभाव पड़ा था, इस बात को कहना कठिन है। यह बात कोई विशेष महत्त्व की भी नहीं है। यह रीश १९३१ में दुबारा छपी थी। इस बार गोएविल्स ने उसका समर्थन किया था। लेकिन, जब दल के समाजवादी सदस्यों को निकाल दिया गया था, तब बक को केवल एक "साहित्यिक व्यक्ति" ही कहा जाने लगा था। तथापि, एक बात निश्चित है कि हिटलर ने मेन केम्फ के पहले भाग के अन्त में अपने दल के संगठन के बारे में जो योजना प्रस्तुत की थी, वह समाजवादियों और राष्ट्रवादियों को मिलाने पर निर्भर थी।[1] उसका कहना था कि १९१८ में जर्मनी की जनता दो भागों में बटी हुई थी। इसका एक भाग राष्ट्रवादी था। राष्ट्र के सभी बुद्धिजीवी इसके अन्तर्गत आ जाते थे। यह भाग कायर और शक्तिहीन था क्योंकि इसमें इतनी ताकत नहीं थी कि वह युद्ध में अपनी पराजय का सामना कर सकता। दूसरा भाग मजदूरों का था। मजदूर मार्क्सवादी दलों के रूप में संगठित थे। वे राष्ट्रीय हितों के संवर्धन की बात को बिलकुल अस्वीकार करते थे। फिर भी इस भाग में राष्ट्र के ऐसे तत्त्व थे जिनके बिना राष्ट्र का उत्थान असम्भव था। हिटलर के अनुसार नए आन्दोलन का उच्चतम उद्देश्य जनता का राष्ट्रीयकरण करना और आत्मरक्षा के राष्ट्रीय भाव को पुनः प्राप्त करना था। यह भी निश्चित है कि हिटलर ने अपनी विचारधारा को इतनी चतुराई से विस्तृत किया जिससे कि मार्क्स की विचारधारा में निष्णात मजदूर भी उसके प्रभाव में आ गए। हिटलर की विचारधारा में राष्ट्र की वही कल्पनावादी धारणा थी जो कि मार्क्स की विचारधारा में वर्ग-विहीन समाज की होती है। हिटलर ने वर्ग-संघर्ष के स्थान पर यह विचार प्रस्तुत किया कि श्रमिक राष्ट्र यहूदी लोकतन्त्रात्मक धनिकतन्त्र की शक्तियों से लड़ रहे हैं। हिटलर ने आर्थिक सुधार करने के अनन्त आश्वासन दे रखे थे। लेकिन, उसके ये सभी आश्वासन अस्पष्ट थे। इसका कारण यह था कि मार्क्सवाद के विरोधियों को मिलाए रखने के लिए यह जरूरी समझा गया था।

इसलिए, फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद ने इस बात की कोशिश की थी कि राष्ट्र की सम्पूर्ण जनसंख्या को एकता के सूत्र में ग्रथित किया जाए, समुदायों और हितों के संघर्ष को समाप्त कर दिया जाए या दबा दिया जाए और राष्ट्र के समस्त संसाधन शासन के पीछे जुटाए जाएं। वे दो अर्थों में समाजवादी थे—उन्होंने एक ऐसी

---

1 तुलना कीजिए—विहल्मशेवेन में १ अप्रैल, १९३९ को उसने जो भाषण दिया था, उसमें उसकी जीवनी का भी कुछ अंश है। देखिए *My New Order.* (New York, 1941) pp 619 ff.

जनता से अपील की जिसमें लोकप्रिय राजनीतिक आन्दोलन अधिकतर समाजवादी रहे थे और उन्होंने व्यापार तथा उद्योगो के ऊपर पूर्ण राजनीतिक नियंत्रण स्थापित किया। वे इस अर्थ में समाजवादी नही थे कि उनका मजदूरो के हित मे राष्ट्रीय आय के पुर्नवितरण का विचार रहा हो। वे राष्ट्रवादी भी दो अर्थो मे थे। राष्ट्रवाद ही एकमात्र ऐसा भाव था जो जनसख्या के भिन्न हितो को एकता के सूत्र मे ग्रथित कर सकता था। दूसरे, राष्ट्रवाद ससद्वाद और अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध था। वे इस अर्थ मे राष्ट्रवादी नही थे कि राष्ट्रवाद को कोई साकृतिक मूल्य मानते हो अथवा उसे समस्त राष्ट्रो का नैतिक परमाधिकार मानते हो। इस स्थिति मे उनकी सफलता का केवल एक ही परिणाम हो सकता था। आधुनिक राष्ट्र के परस्पर-विरोधी, सामाजिक और आर्थिक हितो को दूर करने वाली एकमात्र परिस्थिति युद्ध की तैयारी है। फलत, फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद की सरकारें युद्धकालीन सरकारें थी और उनकी अर्थ-व्यवस्थाए युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्थाए थी। उनकी स्थापना किसी राष्ट्रीय सकट का सामना करने के लिए नही बल्कि स्थायी राजनीतिक पद्धतियो के रूप मे की गई थी। एक ऐसी परिस्थिति मे जहा कि यूरोप की राजनीतिक व्यवस्था के लिए राष्ट्रीय आत्म-निर्णय व्यावहारिक योजना नही थी उन्होंने दूसरे राष्ट्रो के विरोध मे अपनी साम्राज्य-वादी महत्वाकाक्षाओ का विस्तार करने के लिए राष्ट्रीय ससाधनो को जुटाया। उन्होने इटली और जर्मनी के लोगो को युद्ध के लिए तैयार किया। जैसा कि स्पेंगलर ने कहा था कि उनके विचार से अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का एकमात्र व्यावहारिक रूप वह था जो समझौतो अथवा रियायतो से नही बल्कि विजय और शत्रुओ के विनाश से प्राप्त होता है। वे इस रूप मे समाजवादी और राष्ट्रवादी थे कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और लोक-तन्त्र के विरुद्ध थे। अबीसिनिया युद्ध शुरू होने पर मुसोलिनी ने कहा था कि फासिस्ट लाग अपने पितृ देश के प्रति आज्ञापालन, बलिदान, और समर्पण का भाव रखते हैं। उनका कहना था कि राष्ट्र का राजनीतिक, आर्थिक और आध्यात्मिक—सम्पूर्ण जीवन इस तरह गठित होना चाहिए जो हमारी सैनिक आवश्यकताओ को पूरा करे।

बुद्धि निरोधवाद—दार्शनिक आधार

(Irrationalism—The Philosophic Climate of Opinion)

जिस दर्शन का तात्कालिक उद्देश्य युद्ध के द्वारा राष्ट्रीय विस्तार हो, वह एक साहसिक दर्शन ही हो सकता है। यदि व्यक्तिगत लाभ अथवा राष्ट्रीय लाभ के आधार पर सविवेक चिन्तन किया जाता तो इस तरह का प्रयोजन किसी भी हालत मे उचित नही

व्यवस्थित बोर्ज़ुआ जीवन के उपयोगितावादी और मानववादी मूल्यों से घृणा करता है। सुख और सुविधाओं से भी उसे विरक्ति है। वह नश्वरतापूर्ण जिन्दगी बिताता है और अन्त में उसे विनाश का सामना करना पड़ता है। वह स्वभाव से ही अभिजात होता है। वह अपनी आत्मा की प्रेरणापूर्ण शक्तियों द्वारा कार्य करता है। जब जनता उसके अद्भुत व्यक्तित्व को परख लेती है, तब वह उसकी उपासना करती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के इस बुद्धिनिरोधवादी चिन्तन के बौद्धिक प्रवर्तक थे—शोपेनहावर और नीत्शे। शोपेनहावर का विश्वास था कि प्रकृति और मानव जीवन इन दोनों के मूल में एक अविश्रान्त अन्ध शक्ति कार्य कर रही है। शोपेनहावर ने इस शक्ति को "इच्छा" कहा है। यह शक्ति निरुद्देश्य, निरर्थक और बेचैन है। यह सब चीज़ों की कामना करती है लेकिन किसी से भी सन्तुष्ट नहीं रहती। यह सृजन और संहार करती है लेकिन उसे सिद्धि कभी नहीं मिलती। इस बुद्धिनिरोधी महासमुद्र में केवल मानव मस्तिष्क ही एक ऐसे एकाकी और निर्जन द्वीप का निर्माण करता है जिसमें कभी-कभी विवेक तथा प्रयोजन की माया अपनी छवि दिखाती है। शोपेनहावर के नैराश्यवाद का आधार यह था कि संसार में मनुष्य की समस्त अभिलाषाएं निष्फल होती हैं। मनुष्य के प्रयत्नों का कोई महत्त्व नहीं है और मानव जीवन निराशा की निबिड़ भावना से आक्रान्त है। शोपेनहावर के मन में असाधारण व्यक्तियों के मूल्य और गुणों के प्रति विरक्ति की भावना थी। अशिष्ट और अपरिष्कृत व्यक्तियों के आत्म-सन्तोष और जड़ता के प्रति उसके मन में आक्रोश का भाव था। शोपेनहावर को शिकायत थी कि ये तुच्छ प्राणी सोचते हैं कि हम जीवन और सत्य की दुर्बोध शक्तियों को शब्द और तर्क के बन्धनों में बांध सकते हैं। शोपेनहावर का यह विचार था और उसका यह विचार ठीक नहीं था कि यह आध्यात्मिक अहंकार उसके प्रतियोगी हीगेल की चिन्ताधारा में सन्निहित है। शोपेनहावर ने इतिहास के तर्क के विरोध में "जीनियस" कलाकार और सन्त की सृजनशीलता का मानक प्रस्तुत किया। ये लोग इच्छा को अपने वश में करते हैं—उस पर नियन्त्रण पाकर नहीं बल्कि उसका निषेध करके। मानव जाति का भविष्य प्रगति में नहीं बल्कि विनाश में निहित है, इस अनुभूति में निहित है कि संघर्ष और सिद्धि, यह सब माया है। शोपेनहावर के अनुसार इस आदर्श को धार्मिक तपस्या अथवा सौन्दर्य के अवधारण के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। सौन्दर्य का अवधारण आसक्तिविहीन चेतना है। शोपेनहावर ने दैनंदिन जीवन की नैतिकता का आधार पावनता की भावना को माना था। उसका विचार था कि संसार में पीड़ा सार्वभौम है और वह प्रत्येक व्यक्ति की नियति में समान रूप से अवस्थित है।

नीत्शे ने बुद्धिनिरोध और मानववाद, इच्छा और चिन्तन के विचित्र सम्मिश्रण को तोड़ दिया। नीत्शे का कहना था कि यदि जीवन और प्रकृति वास्तव में बुद्धिनिरोधी हैं तो बुद्धिनिरोध को नैतिक और बौद्धिक दोनों रूपों से स्वीकार किया जाना चाहिए।

यदि सिद्धि निरर्थक है और मानव प्रकृति बदहवास होकर संघर्ष मे लगी हुई है तो फिर मनुष्यो को सिद्धि के स्थान पर साधना को ही प्रसन्नतापूर्वक महत्त्व देना चाहिए। वास्तविक महत्त्व संघर्ष का है चाहे संघर्ष बिल्कुल निराशाजनक ही क्यो न हो। व्यक्तित्व की आन्तरिक शक्तिया करुणा और त्याग नही बल्कि जीवन की स्वीकृति और शक्ति की इच्छा है। नीत्शे का कहना था कि साधारण और पाखंडपूर्ण व्यक्तियो के प्रति घृणा का भाव रखना चाहिए। लेकिन उनसे बढकर व्यक्तित्व सन्त का नही बल्कि 'हीरो' का होता है। नीत्शे का मत था कि समस्त नैतिक मूल्यो को अतिमूल्या का रूप दे देना चाहिए। समानता के स्थान पर अन्तरंग उच्चता, लोकतंत्र के स्थान पर प्रतिभाशाली और सशक्त व्यक्तियो के अभिजाततन्त्र, ईसाई विनम्रता और मानवता के स्थान पर कठोरता और अहंकार, सुख के स्थान पर शौर्यपूर्ण जीवन और पतन के स्थान पर सृजन को प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। नीत्शे का आग्रह था कि यह दर्शन जनता के लिए नही है। उसने जनता को बहुत निम्न स्थान दिया है। उसके विचार से जनता को अपने नेता का अनुसरण करना चाहिए। यदि जनता नेता का अनुसरण करती है तो यह उसकी स्वस्थ वृत्ति है। जहा एक बार यह स्वस्थ वृत्ति विकृत हो जाती है, जनता एक दास मनोवृत्ति का निर्माण करती है। उस समय विनय, आत्म-निषेध और हीनता की भावना का प्राधान्य हो जाता है। यह एक तरह का विष है जो समाज की सम्पूर्ण शक्ति को नष्ट कर देता है। जनसाधारण को मौलिकता की विघटनकारी शक्ति से सब से अधिक भय अथवा घृणा होती है। नीत्शे का विचार था कि लोकतंत्र और ईसाई धर्म ये दोनो ही दास मनोवृत्ति के सूचक हैं। इनमे से प्रत्येक अपने-अपने ढंग से सामान्यता और पतन का प्रतीक है। नीत्शे ने अपने "हीरो" की हिंसक वृत्ति को बहुत बढा-चढा कर बताया है। 'हीरो' अतिमानव होता है। वह एक भयंकर पशु है जो समस्त विरोध को कुचल देता है, सुख से घृणा करता है और अपने नियमो का आप ही निर्माण करता है। नीत्शे का दर्शन सभी क्रान्तिकारियो को इसलिए प्रिय लगा क्योकि उसने नैराश्यवाद तथा आधुनिक पूंजीपतियो की दुष्टता की विशेष रूप से निन्दा की है।

यद्यपि नीत्शे के विचारो और फासिज्म तथा राष्ट्रीय समाजवाद के दर्शन मे स्पष्ट साम्य था, लेकिन यह सम्बन्ध इतना आसान नही था जितना कि माना गया है। कुछ आलोचको ने नीत्शे को वह स्रोत माना है जिससे इन दोनो आन्दोलनो के विचार निकले थे। फासिस्ट और राष्ट्रीय समाजवादियो ने भी इस ऋण को स्वीकार किया है। इसका कारण कुछ तो यह है कि उनकी विचारधारा और नीत्शे की विचारधारा मे वास्तव मे कुछ साम्य है। इसका कुछ कारण यह है कि अपने साहित्य को प्रतिष्ठित आधार देने के लिए उन्हें एक महान् लेखक के नाम की जरूरत थी। उनकी अपनी साहित्य-सम्पदा बहुत मामूली थी। हिटलर और मुसोलिनी दोनो ही अपने को अतिमानव समझते थे। दोनो के मन मे ही जनता के प्रति घृणा का भाव था। दोनो ही नैतिक सनकीपन के स्थान

पर "मूल्यों के अतिमूल्यन सूत्र का अधिक बुद्धिमत्ता से प्रयोग कर सकते थे"। फासिस्ट और राष्ट्रीय समाजवादी दोनों ही नए किस्म के बर्बर थे। नैतिक त्याग अथवा अति सभ्यताओं ने उन्हें मृदु नहीं किया था। दोनों ही अपने को एक पतनशील सभ्यता के सुधारक कहते थे। नीत्शे के समान उनके हृदय में भी लोकतन्त्र और ईसाई धर्म के प्रति घृणा का भाव था। लेकिन कुछ महत्त्वपूर्ण मामलों में वे नीत्शे की रचनाओं का बड़ी सावधानी से प्रयोग करते थे। वे उनकी रचनाओं के केवल कुछ चुने हुए अंशों को ही प्रचारित करते थे। नीत्शे के मन में राष्ट्रवाद के प्रति बड़ी घृणा थी। वह राष्ट्रवाद को एक अनिष्ट धारणा मानता था। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसे बहुत कम लेखक हुए हैं जिन्होंने राष्ट्रवाद का नीत्शे के समान विरोध किया हो। नीत्शे का मुख्य अभिमान यह था कि वह एक श्रेष्ठ यूरोपीय है। दूसरे साम्राज्य के जर्मनी की जितनी अधिक निन्दा नीत्शे ने की है उतनी निन्दा और किसी जर्मन लेखक ने नहीं की है। नीत्शे का कहना था कि जर्मन दास मनोवृत्ति के व्यक्ति हैं और उनका सुधार तभी हो सकता है जबकि उनमें स्लाविक रक्त का मिश्रण हो। नीत्शे यूरोपीय इतिहास के केवल दो ही युगों की प्रशंसा करता था। वे युग थे—इटली का नवजागरण और लुई चौदहवें का काल। अन्त में, यद्यपि उसने यहूदियों के बारे में कुछ कठोर बातें कहीं हैं लेकिन वह पूरी तरह से उनका विरोधी नहीं था। उसने एक बार यहूदियों को "यूरोप की सब से शक्तिशाली, सब से कठोर और सब से शुद्ध जाति कहा था।"[1]

शोपेनहावर और नीत्शे का बुद्धिविरोध प्राय: पूरी तरह नीतिपरक था। लेकिन, उन्नीसवीं शताब्दी ने दर्शन में कुछ और भी ऐसी प्रवृत्तियाँ थीं जिनका विज्ञान से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था लेकिन जो विवेक-विरोधी भी थीं। इन प्रवृत्तियों को कभी-कभी व्यवहारवाद और सकारवाद का नाम दिया जाता था। इनके दो स्रोत थे। एक स्रोत तो जीव-विज्ञान सम्बन्धी ये खोजें थीं कि अन्य मानसिक क्षमताओं की भांति विवेक अथवा बुद्धि को भी एक ऐसी जीवन्त प्रक्रिया माना जा सकता है जिसका प्राकृतिक रीति से जन्म और विकास होता है। इसका दूसरा स्रोत यह तार्किक खोज थी कि वैज्ञानिक प्रक्रिया में, शुद्ध विज्ञानों तक में ऐसी कल्पनाएं और धारणाएं समाविष्ट होती हैं जो विवेक के आधार पर स्वत स्पष्ट नहीं होतीं लेकिन जिन्हें केवल परम्परा अथवा सुविधा पर ही आधारित माना जा सकता है। ये दो प्रवृत्तियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश दर्शन में समान रूप से पायी जाती थीं, लेकिन उनका सबसे प्रतिष्ठित व्याख्याता फ्रांस का दार्शनिक हेनरी बर्गसां था। जहां नीत्शे का दर्शन प्रवचन के रूप में है, वहां बर्गसां ने विवेक के महत्त्व को कम करने के लिए व्यवस्थित रीति से विवेक का प्रयोग किया है। वैज्ञानिक बुद्धि सत्य का स्रोत नहीं है, उसने इस धारणा की भी बड़ी पैनी आलोचना की है।

1 *Beyond Good and Evil* Sect 251

बर्गसा के क्रिएटिव एवोल्यूशन मे यह बताया गया है कि बुद्धि जैविक अनुकूलन मे एक तत्व मात्र होती है। जीवन-संघर्ष मे और वातावरण का नियंत्रण करने म वह भी एक साधन है। विज्ञान का कार्य उपयोगिता है, सत्य की सिद्धि नही। लेकिन, नकारात्मक आलोचना ने केवल पृष्ठभूमि तैयार की। बर्गसा का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि बुद्धि 'जीवन शक्ति" की सेवक होती है। यह "जीवन शक्ति" शोपनहावर की इच्छा अथवा हार्टमान के "अचेतन' की भाति एक अस्पष्ट सार्वभौम प्रेरणा है। हम केवल सहजानुभूति के द्वारा ही ससार के वास्तविक तत्त्व को समझ सकते हैं। सहजानुभूति की परिभाषा नही की जा सकती। वह एक अनिश्चित, अतिप्राकृतिक सृजनात्मक शक्ति है। बर्गसा का विचार था कि मस्तिष्क इस सहजानुभूति से सम्पन्न होता है। सहजानुभूति मनुष्य के जीवन मे विवेक की अपेक्षा अधिक गहराई से प्रविष्ट होती है। जब मनुष्य बुद्धि पर बहुत अधिक भरोसा करने लगता है तब यह प्रवृत्ति धीमी पड जाती है। बर्गसा का यह भी विचार था कि सहजानुभूति की शक्ति को प्राप्त किया जा सकता है और उसके द्वारा आध्यात्मिक शक्ति का साक्षात्कार हो सकता है। लेकिन इस साक्षात्कार की क्या प्रक्रिया हो, इस बारे मे बर्गसा ने कुछ नही कहा है। बर्गसा की सहजानुभूति का सिद्धान्त जीव विज्ञान, मनोविज्ञान और दर्शन के क्षेत्र मे रहस्यवाद का समावेश था।

दर्शन—एक कल्पना

(Philosophy—A Myth)

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक बुद्धि विरोधवाद का राजनीति के क्षेत्र मे बिल्कुल प्रयोग नही किया गया था। यह कुल मिलाकर एक कलाकार का दर्शन था। बौद्धिक दार्शनिक इसे उदासीनता की दृष्टि से देखते थे और राजनीतिक सिद्धान्तवादी उसकी उपेक्षा करते थे। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के क्षेत्र मे बुद्धि अथवा विवेक के आधार पर मानवी आचरण की व्याख्या के विरोध मे प्रतिक्रिया बढती जा रही थी। अब इन क्षेत्रों मे तर्क से इतर तत्त्वों पर जोर दिया जाने लगा था। ये तत्त्व या तो अनुभूतिया और प्रेरणाए अथवा उनके अर्ध-तार्किक विवेकीकरण होते थे। पारेटो के समाजशास्त्र मे तार्किक और अतार्किक के इस सघर्ष ने सामाजिक परिवर्तन का एक नया सिद्धान्त पैदा किया था। समझा जाता है कि इस सिद्धान्त ने मुसोलिनी को प्रभावित किया था। राजनीतिक शक्ति एक शासक वर्ग मे निहित होनी चाहिए। यह शासक वर्ग इसलिए शक्ति प्राप्त करता है क्योंकि उसके सामने एक सामाजिक आदर्श रहता है और वह उस सामाजिक आदर्श को शक्ति के द्वारा प्राप्त करने के लिए तैयार होता है। शक्ति का स्वामित्व और उसे स्थायित्व देने की आवश्यकता के कारण शासक वर्ग निकम्मा हो

जाता है। शेर का स्थान लोमड़ी ले लेती है। अन्त में पुराने शासक वर्ग के स्थान पर तरुण, अधिक शक्तिशाली और अधिक निर्मम व्यक्ति सत्ता हथिया लेते हैं। तथापि, मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से बुद्धिविरोधवादी नहीं थे। पारेटो के समाजशास्त्र का आधार उनकी यह अभिलाषा थी कि वह सामाजिक विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानों की भांति ही परिशुद्ध सिद्ध करे।

जार्जेस सोरेल ने अपने ग्रन्थ Reflexions sur la Violence (१९०८) में बर्गसा के सामाजिक दर्शन का सीधा प्रयोग किया।[1] सोरेल काफी दीर्घकाल में प्रगति तथा लोकतन्त्र के भ्रमों का आलोचक रहा था। जब तक उसका सिंडिकलिज्म मार्क्सवादी था, तब तक उसने रहस्यात्मक विकासवाद के उन तत्त्वों को चुना था जो मार्क्स ने हीगेल से ग्रहण किए थे। कोशिश करने पर इन तत्त्वों का पता लगाना मुश्किल नहीं है। सोरेल का कहना था कि मार्क्स की विचारधारा में पूंजीवाद हार्टमन के अचेतन की भांति कार्य करता है। वह एक अंधी लेकिन चतुर शक्ति है जो सामाजिक जीवन के उच्चतर रूपों का न चाहते हुए भी विकास करती है। सोरेल ने इस बात को ठीक से समझ लिया था कि बर्गसा की जीवन-शक्ति उसी दार्शनिक परम्परा से सम्बन्ध रखती थी जो सिद्धान्ततः हीगेल के इतिहास के सार्वभौम तर्क विषयक सिद्धान्त के प्रतिकूल थी। फलतः, इसके आधार पर मार्क्स के चिन्तन से आर्थिक नियतिवाद के समस्त तत्त्वों को निकाला जा सकता था। इस सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा विवेकयुक्त कारणों के आधार पर होने वाले सामाजिक परिवर्तन का भी निषेध किया जा सकता था। अब वर्ग-संघर्ष श्रमिक वर्ग की रचनात्मक हिंसा का प्रदर्शन मात्र रह गया था। चूंकि बर्गसा की सहजानुभूति रचनात्मक विकास के बारे में एक अन्तर्दृष्टि प्रदान करती थी, अतः इसके आधार पर क्रान्ति के एक दर्शन का भी निर्माण किया जा सकता था। यह दर्शन सीधी कार्यवाही और आम हड़ताल को उचित ठहरा सकता था। सीधी कार्यवाही और आम हड़ताल का वही महत्त्व था जो मार्क्सवादी समाजवादी दलों द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक कार्यवाही का था। प्रत्यक्ष कार्यवाही और आम हड़ताल सिंडिकलिस्ट विचारधारा में महत्त्वपूर्ण साधन माने जाते रहे थे। इसलिए सोरेल के लिए सामाजिक दर्शन एक कल्पना बन गया। वह एक स्वप्न अथवा एक प्रतीक था जो मजदूरों को पूंजीवादी समाज के विरोध में प्रेरित और संयुक्त कर सकता था। सोरेल का मत था कि जितने भी बड़े-बड़े सामाजिक आन्दोलन होते हैं उन सब की कोई न कोई कल्पना होती है। वे इस कल्पना को व्यावहारिक

---

1. *Reflections on Violence*, Eng. trans. by T. E. Hulme, New York, 1914, बर्गसा ने अपनी इससे पहले की रचना में इस बात की कोई कोशिश नहीं की थी कि वह अपने दर्शन को नीतिशास्त्र के ऊपर लागू करे। *Les deux sources de la morale et de la religion* १९३२ तक नहीं छपा था।

रूप देने की कोशिश करते हैं। इस कल्पना का विश्लेषण करना, यह जिज्ञासा करना कि क्या वह सच्ची है अथवा व्यावहारिक है, व्यर्थ है। वह तो एक प्रकार की छाया है जो भावनाओं को उभारती है तथा समुदाय का एकता के धागे में बांधती है। राजनीतिक दर्शन विवेकयुक्त कार्य का पथ-प्रदान नहीं करता। वह तो दुःसाहस और अन्य श्रद्धा को प्रोत्साहन देता है। सोरेल की यह कल्पना आम हड़ताल के रूप में चित्रित हुई थी। इसमें ऐसी भावनात्मक अपील नहीं थी जिससे कि श्रमिक प्रभावित होते। तथापि प्रत्येक सामाजिक दर्शन किसी न किसी प्रकार की कल्पना से युक्त होता है, यह क्रांतिकारी सिंडिकलिज्म का एक भाग हो गया, और मुसोलिनी ने कई वर्षों तक इस आन्दोलन में भाग लिया था। सोरेल की पुस्तक का १९०९ में इटली में जो अनुवाद हुआ था, मुसोलिनी ने उसकी समीक्षा की थी। दर्शन का क्या स्वरूप और प्रयोजन हो इस बारे में फासिस्टों के विचार सोरेल के विचारों से बहुत साम्य रखते थे। सोरेल के कल्पना सम्बन्धी सिद्धान्त में शापनहावर से बर्गसां तक की दार्शनिक परम्परा के बुद्धिविरोध को सामाजिक और राजनीतिक अभिव्यक्ति मिल गई थी। सोरेल ने खुद कभी अपने कल्पना सिद्धान्त की अन्तिम व्याख्या नहीं दी। अपने बाद के वर्षों में वह फासिज्म, बाल्शेविज्म और प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद के प्रति समान रूप से आकर्षित हुआ था। हां, उसने उनमें से किसी एक को पूरी तरह से नहीं अपनाया।

यदि दर्शन को एक कल्पना के रूप में ग्रहण किया जाए तो वह जीवन की योजना नहीं बल्कि एक स्वप्न है। वह कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो विवेक पर आधारित हो। वह जनता की उन मूल प्रवृत्तियों का उद्घाटन है जो जीवन शक्ति में अथवा उनके रक्त में अथवा उनकी आत्मा में निहित होती हैं। १९२२ में नेपिल्स में अपने एक भाषण में मुसोलिनी ने कहा था—

'हमने अपनी कल्पना का निर्माण कर लिया है। कल्पना एक धर्म है, एक आवेश है। यह जरूरी नहीं है कि वह वास्तविक हो। वह इसलिए वास्तविक है कि वह एक ध्येय है, एक आशा है, एक विश्वास है एक साहस है। हमारी कल्पना राष्ट्र है, हमारी कल्पना राष्ट्र की महत्ता है।'[1]

मुसोलिनी के उपर्युक्त शब्द सोरेल की विचारधारा का ही निरूपण करते हैं।

फासिस्ट कल्पना का निर्माण एल्फ्रेडो रोको जैसे इटालियन राष्ट्रवादियों ने बड़ी चतुरता से किया था। उनका कहना था कि आधुनिक इटली रोमी साम्राज्य का आध्यात्मिक उत्तराधिकारी है। रोको यूरोप के इतिहास को दुबारा लिखना चाहता था। वह सिद्ध करना चाहता था कि लोकतन्त्र उस अराजकता और पतन की चरम परिणति है जो रोम के पतन के साथ ही आरम्भ हो गयी थी। रोको का कहना था कि व्यक्तिगत

1. *Quoted by Herman Finer, Mussolini's Italy* (1935), p 218.

अधिकारों का उदारवादी विचार राज्य के अधिकार और सत्ता के सम्बन्ध में रोम के विचार को अपदस्थ करने की दिशा में सब से अन्तिम प्रयत्न था। यह जर्मन व्यक्तिवाद का परिणाम था। राष्ट्रीय विघटन के अन्धे से अन्धे युगों में भी इटली रोम की विरासत से चिपटा रहा। उदारवाद लैटिन मस्तिष्क के लिए विदेशी है। फासिज्म का उद्देश्य यह है कि वह राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में भी इटली की पुरानी परम्पराओं को, उन परम्पराओं को जो रोम की हैं फिर से जीवित करे।[1] रोको ने थामस एक्विनास और मैजनी जैसे प्रसिद्ध इटालियनों की बड़ी अभिनव व्याख्या की है। उसने इन सब की लैटिन मस्तिष्क की प्रेरणा कहा है। जर्मन व्यक्तिवाद के सम्बन्ध में उसका विचार इटली और जर्मनी के गठबन्धन तक ही सीमित रहा, उसके बाद नहीं।

सोरेल और मुसोलिनी के बीच जैसा प्रत्यक्ष सम्बन्ध था वैसा प्रत्यक्ष सम्बन्ध हिटलर और सोरेल के बीच नहीं था। यह जरूरी भी नहीं था। मुसोलिनी और फासिस्ट कल्पना हिटलर के लिए आदर्श के रूप में थी ही। हिटलर ने अपनी आत्मकथा में जीवन दृष्टिकोण का जो अर्थ किया था वह एक कल्पना के रूप में ही था। वह कभी समझौता नहीं करता। वह अपने अनुयायियों से पूर्ण और निरपेक्ष आज्ञापालन की मांग करता है। वह धर्म की भांति ही असहिष्णु होता है। वह अपने विरोधियों से प्रत्येक साधन के द्वारा लड़ता है। वह तर्क नहीं करता। वह अपने विरोधी के दृष्टिकोण को बिल्कुल स्वीकार नहीं करता। वह पूरी तरह से रूढ़िवादी और अन्धा होता है। वह एक आध्यात्मिक आधार प्रदान करता है। इस आधार के बिना मनुष्यों में उतनी कठोरता और चालाकी नहीं आ सकती जो जीवन-संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक होती है। राजनीति जीवन दृष्टिकोणों के बीच मरणान्तक युद्ध है।

"जीवन सम्बन्धी दो दृष्टिकोणों में संघर्ष के दौरान निर्मम शक्ति का हथियार निर्दयता और निरन्तर प्रयुक्त किए जाने पर उस पक्ष की विजय करा देता है जिसका वह साथ देता है।"[2]

राष्ट्रीय समाजवाद को यह आध्यात्मिक आधार रक्त और भूमि ने दिया था। जर्मनी में उसने वही कार्य किया जो इटली में साम्राज्यवादी रोम ने किया था। यद्यपि राष्ट्रीय समाजवाद ने अपने सिद्धान्तों के समर्थन में जीव विज्ञान और मानव विज्ञान का सहारा लिया था, लेकिन वैज्ञानिक आलोचना के प्रति उसका वही रुख था जो ऐतिहासिक आलोचना के प्रति रोको का रुख था। एल्फ्रेड रोजेनबर्ग ने Myth of the Twentieth

---

1. *Dottrina politica del fascismo* (1925); Eng. trans by Dino Bigongiari, "The Political Doctrine of Fascism," in *International Conciliation*, No. 223

2. *Mein Kampf*, p. 223; *cf*. p. 784.

Century में कल्पना शब्द का प्रयोग जिस ढंग से किया था उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि यह सोरेल से ग्रहण किया गया था।

"जाति अथवा राष्ट्र का जीवन एक ऐसा दर्शन नहीं होता जिसका तर्कसंगत रीति से विकास होता हो। फलतः, वह एक ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो प्राकृतिक विधियों के अनुसार विकसित होती हो। वह तो आत्मा की एक रहस्यात्मक क्रिया अथवा संश्लेषण है। उसे विवेक से अनुमानों के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। उसे कार्य कारण की शृंखला के द्वारा भी नहीं समझा जा सकता। अन्ततः, प्रत्येक दर्शन जो औपचारिक और विवेकपूर्ण आलोचना के परे जाता है ज्ञान नहीं है बल्कि एक स्वीकृति है—एक आध्यात्मिक और जातीय स्वीकृति—चरित्र के मूल्यों की स्वीकृति।"[1]

रक्त की शुद्धता विवेक अथवा तथ्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है। राष्ट्रीय समाजवाद के एक अन्य दार्शनिक अर्नस्टक्रीक ने हिडलबर्ग में भाषण देते समय इस विरोध को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया था

"रक्त औपचारिक विवेक के विरोध में, जाति प्रयोजनपूर्ण बुद्धि के विरोध में, सम्मान लाभ के विरोध में, एकता व्यक्तिगत विघटन के विरोध में, सैनिक गुण पूंजीवादी सुरक्षा के विरोध में, लोक व्यक्ति तथा जनता के विरोध में खड़ा हो गया है।"[2]

फासिज्म और हीगेलवाद

(Fascism and Hegelianism)

पूर्ववर्ती विवेचन के अनुसार फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद की बौद्धिक समानताएं दार्शनिक बुद्धिविरोधवाद के साथ थीं। इस निष्कर्ष के कारण यह जरूरी हो जाता है कि हम उनका हीगेल के राष्ट्रवाद और हीगेल के राज्य सिद्धान्त से सम्बन्ध देखें। यह सम्बन्ध कुछ जटिल-सा था। सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में हीगेल के दर्शन को शोपेनहावर ने बुद्धिविरोधवाद का विरोधी समझा गया था। फिर भी, जब मुसोलिनी ने यह निर्णय किया कि फासिज्म का एक दर्शन होना चाहिए तो उसने यह दर्शन इटली के हीगेलवाद से ग्रहण किया। उसने उदारवाद और संसद्वाद की आलोचना में हीगेल का पूरा उपयोग किया। बाद के उदारवाद के अंग्रेज सिद्धान्तवादियों ने भी हीगेल की व्यक्तिवाद विषयक आलोचना की ओर ध्यान दिया था। दूसरी ओर राष्ट्रीय समाजवाद

---

1 *Der Mythus des 20 Jahrhunderts* (1930), pp 114 f

2 Quoted by Franz Neumann, *Behemoth* (1944), p 464

के जर्मन दार्शनिकों ने हीगेल की उपेक्षा की। रोजेनबर्ग जैसे कुछ विचारकों ने तो उसको अस्वीकार ही किया। पुन, राष्ट्रीय समाजवाद के जर्मन आलोचकों का सामान्य रूप से यह विचार था कि उन्नीसवीं शताब्दी की जर्मन राजनीति में हीगेल के राज्य सिद्धान्त का जो ठोस अभिप्राय रहा था, राष्ट्रीय समाजवाद उसके प्रतिकूल पड़ता था।[1] इस विषमता का कारण यह है कि मुसोलिनी का दर्शन पूरी तरह अवसरवादी था। फिर, जर्मनी और इटली में कुछ आन्तरिक अन्तर भी थे, और इन दोनों देशों में आन्दोलनों का स्वरूप कुछ अलग-अलग रहा था।

हीगेल का दर्शन मूलत: बुद्धिनिरोध का विरोधी था, इस सम्बन्ध में हमें कुछ कहने की जरूरत नहीं है। इस दर्शन का मूल आधार तर्क था। दर्शन के विभिन्न भागों को द्वन्द्वात्मक तर्क ने आपस में बांध दिया था। यह सही है कि हीगेल की विवेक विषयक धारणा बहुत कुछ स्वच्छन्दतावादी थी। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति में भी वह यथार्थता नहीं थी जिसके आधार पर वह वैज्ञानिक अनुसंधान का एक विश्वसनीय साधन बनती। तथापि, इससे न तो हीगेल के मतव्य पर कोई असर पड़ता है और न सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में उसके दृष्टिकोण पर ही। हीगेल के अनुसार यह बिलकुल आवश्यक और तर्कपरक है। हीगेल का दर्शन "हीरो" अथवा "महान् व्यक्तियों की सहजानुभूति" को कोई महत्व नहीं देता। हीगेल के विचार से इतिहास पर महान् व्यक्तियों का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता। इस दृष्टि से हीगेल का सामाजिक दर्शन मार्क्सवाद से बहुत मिलता है। यदि हम तत्वमीमांसा को अलग कर दें, तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उत्पत्ति और धारणा की दृष्टि से मूलत: हीगेलवादी है। इसलिए मार्क्स का खण्डन करने में हीगेल का प्रयोग करना दार्शनिक दृष्टि से अनुपयुक्त था। तथापि, फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद दोनों को ही इतिहास की आर्थिक व्याख्या का उसी प्रकार विरोध करना था जिस प्रकार कि उन्हें राजनीतिक उदारवाद का विरोध करना था। पहले युद्ध की समाप्ति पर इटली और जर्मनी दोनों में यह तर्क प्रस्तुत करना जरूरी था कि राष्ट्रीय इच्छा अपने दृढ़ आग्रह के द्वारा भौतिक ससाधनों के अभाव से ऊपर उठ सकती है और राजनीतिक साधनों के द्वारा अपने आर्थिक अवसर का निर्माण कर सकती है। फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद दोनों ही राजनीतिक शक्तियों को आर्थिक शक्तियों से अधिक शक्तिशाली मानते थे। दोनों ही आन्दोलन क्रान्तिकारी अथवा ज्यादा सही यह कहना होगा कि प्रति-क्रान्तिकारी थे। हीगेलवाद की क्रांतिकारी सम्भावनाओं का मार्क्सवादियों ने पूरा उपयोग किया था। हिटलर मार्क्सवादी आन्दोलनकर्त्ताओं की मजदूरों को भड़काने वाली पद्धतियों का

---

1 उदाहरण के लिए देखिए—Herbert Marcuse, *Reason and Revolution* (1941), विशेषकर pp 402 ff तुलना कीजिए Franz Neumann *Behemoth* (1944) pp. 77f, 462

निश्चित रूप से प्रशंसक था और वह उनकी नकल भी करता था। लेकिन, वह इस बात को अच्छी तरह समझता था कि राष्ट्रीय समाजवाद मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों के दर्शन का ग्रहण नहीं कर सकता था।

हीगेल का राजनीतिक दर्शन और फासिज्म तथा राष्ट्रीय समाजवाद के राजनीतिक दर्शन में यह समानता थी कि वे राष्ट्रवाद और उदारतावाद के विरोधी थे। तथापि, इस समानता का यह अर्थ नहीं था कि उनके दार्शनिक दृष्टिकोण में एकता थी। हीगेल का राष्ट्रवाद उसके दर्शन का सब से दुर्बल अंश था। उसने यह कभी नहीं बताया कि अन्य दर्जन भर सम्भव समुदायों की तुलना में राष्ट्र ही नैतिक दृष्टि से क्यों उत्कृष्ट है। पुन, यद्यपि हीगेल ने युद्ध का गौरवगान किया है फिर भी, उसका राष्ट्रवाद साम्राज्यवादी नहीं था क्योंकि साम्राज्यवाद राष्ट्रीयता को एक सांस्कृतिक मूल्य नहीं मानता। पहले विश्व-युद्ध के काफी समय पूर्व से ही राष्ट्रवाद ने हीगेल के ऊपर निर्भर रहना छोड़ दिया था। राष्ट्रवादी हर जगह उदारतावाद और संसद्वाद के विरोधी थे। उनका आधार यह था कि प्रतिनिधिक संस्थाएं और लोक-शासन शक्तिशाली राष्ट्रीय नीति के प्रतिकूल पड़ते हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और समानता के मूल्य के विरोध में उन्होंने सर्वत्र हीगेल के तर्कों का प्रयोग किया। लेकिन, इसका यह अर्थ नहीं था कि वे हीगेल के दर्शन से परिचित थे। जिस जर्मन ने ट्रीट्श्के की पालिटिक्स पढ़ी थी या जो फ्रेंच माउरस अथवा बारेस जैसे राजतन्त्रवादियों से परिचित था उसे राष्ट्रवाद के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए हीगेल का चेला बनने की कोई जरूरत नहीं थी। हो सकता है कि अपने समय में हीगेलवाद ने यूरोप की राजनीतिक परम्परा में इन विचारों को लाने में कुछ काम किया हो। लेकिन, यदि यह स्थिति है, तो यह काम काफी समय पहले हो चुका था।

जब मुसोलिनी ने यह तय किया कि फासिज्म के लिए एक दर्शन की जरूरत है तो, उसने यह कार्य जीओवानी जेन्टायल को सौंपा। जेन्टायल बेनोडेटो क्रोचे की तरह हीगेलवादी दर्शन के एक इटालियन सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहा था। जेन्टायल हीगेल के राज्य सिद्धान्त से परिचित था और चूंकि उसके पास अधिक समय नहीं था इसलिए उसने उसका प्रयोग किया। जेन्टायल ने जो कुछ दिया मुसोलिनी ने उसे ग्रहण कर लिया। परिणामत इटालियन फासिज्म का सिद्धान्त राज्य और उसकी सर्वोच्चता का, उसकी पवित्रता, और उसकी सर्वव्यापिता का सिद्धान्त था। उसकी आदर्शोक्ति थी, 'प्रत्येक वस्तु राज्य के लिए है। राज्य के विरुद्ध कोई चीज नहीं है राज्य के बाहर कोई चीज नहीं है।'

चूंकि मुसोलिनी का नियंत्रण था, इसलिए राज्य की शक्ति को उसकी सरकार की शक्ति के साथ अभिन्न कर दिया गया। चूंकि राज्य एक नैतिक विचार का प्रतीक होता है इसलिए फासिज्म को मार्क्सवादियों के कथित भौतिकवादियों के विरोध में

उदात्त राजनीतिक आदर्शवाद के रूप मे और वर्ग-संघर्ष तथा राजनीतिक उदारतावाद के विरोध मे समाज की एक नैतिक अथवा धार्मिक धारणा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था। फासिज्म ने राजनीतिक उदारतावाद को स्वार्थपूर्ण और समाजविरोधी व्यक्तिवाद कहा। मुसोलिनी ने विश्व कोश मे दिए गए अपने निबन्ध में यही विचार प्रगट किया था।[1]

"फासिज्म अब और सदैव पवित्रता तथा वीरता मे विश्वास करता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह उन कार्यों मे विश्वास करता है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष आर्थिक उद्देश्यो से प्रभावित नही होते। इतिहास के आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य केवल कठपुतली की तरह है। वे सयोग की लहरो द्वारा इधर-उधर ले जाये जाते हैं और वास्तविक सचालिका शक्तिया उनके नियत्रण से बिल्कुल बाहर रहती हैं। अपरिवर्तनशील वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त इतिहास के आर्थिक सिद्धान्त का ही परिणाम है। यदि हम इतिहास के आर्थिक सिद्धान्त को अस्वीकार कर लेते हैं तो हम वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को भी अस्वीकार कर देते हैं। फासिज्म यह भी अस्वीकार करता है कि वर्ग-संघर्ष समाज के परिवर्तन मे एक प्रबल शक्ति हो सकता है। फासिज्म इस बात को अस्वीकार करता है कि भौतिकवादी साधनो के द्वारा सुख प्राप्त किया जा सकता है। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आविष्कारकर्त्ताओ और अर्थशास्त्रियो का यह विचार था। इसका अभिप्राय यह है कि फासिज्म समानता और सुख के ऐसे सिद्धान्तो को नही मानता जिनके अनुसार मनुष्य पशुओ के धरातल पर आ जाए और केवल खाने-पीने और मोटे होने की ही चिन्ता करे तथा इस प्रकार मानवता केवल शरीर के धरातल पर ही जीवित रहने लगे।"

इसलिए, फासिज्म "एक ऐसी धार्मिक सकल्पना है जिसमें मनुष्य को एक उच्चतर विधि, एक वस्तुपरक इच्छा से सम्बन्धित माना जाता है। यह विधि और यह

---

1. *Enciclopedia Italiana*, Vol XIV (1932) ; यह लेख *La dottrina del fascismo*, Milan 1932 से पुन मुद्रित हुआ। अंग्रेजी मे यह *Fascism, Doctrine and Institutions* (Rome, 1935) नाम से छपा। यह लेख दो भागो मे है। पहले भाग मे सामान्य सिद्धान्तो का विवेचन है जिसे शायद जेन्टायल ने तैयार किया था। दूसरे भाग मे राजनीतिक और सामाजिक सिद्धान्त के बारे मे कम भावपरक विचार हैं। पहले भाग का अनुवाद हर्मन फाइनर ने *Mussolini's Italy* (London, 1915) नामक ग्रन्थ मे किया है। pp 165 ff.। दूसरे भाग का अनुवाद जेन सोम्स ने *The Political Quarterly*, Vol IV (1933) p. 341 मे किया है। यह *International Conciliation* मे पुन मुद्रित हुआ है। यहा जो तीन उद्धरण दिए गए हैं, उनम पहला भाग २ (*International Conciliation* No. 306, p. 9) से, दूसरा भाग १, सेक्शन ५ से और तीसरा भाग १, सेक्शन १० से है।

इच्छा व्यक्ति-विशेष के पार आती है और उसे आध्यात्मिक समाज की सचेतन सदस्यता प्रदान करती है।" आध्यात्मिक समाज का निर्माण राष्ट्र नही प्रत्युत् राज्य करता है।

"राष्ट्र राज्य का निर्माण नही करता, यह एक पुरानी प्रकृतिवादी सकल्पना है। राज्य राष्ट्र का निर्माण करता है। वही लोगो को वास्तविक जीवन प्रदान करता है और उन्हें उनकी नैतिक एकता से परिचित कराता है। राज्य सार्वभौम नैतिक इच्छा की अभिव्यक्ति होता है। इस नाते वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के अधिकार का सृजन करता है।"

इन अवतरणो मे हीगेल की भाषा काफी पाई जाती है। लेकिन इनमे वास्तविक हीगेलवाद बहुत कम है। सिंडिकलिस्ट समाजवाद मे जिसमे मुसोलिनी का जन्म हुआ था, हीगेल का प्रभाव बिल्कुल नही था। उसमे मार्क्स का प्रभाव जरूर था लेकिन वह बहुत नही था। १९२० मे अपने सम्पादकीय लेखो मे उसने राज्य को मानव जाति का 'एक महान् अभिशाप' बताया है। १९३७ मे उसने जर्मनी से मैत्री का एक आधार जातीय सिद्धान्त माना था। जेन्टायल के हाथो मे फासिस्ट राज्य का सिद्धान्त आतकवाद का आधार बन गया। फासिस्ट टुकडिया फासिस्ट विरोधी श्रमिक सघो की बैठको को तितर बितर कर देती थी। उनके बारे मे उसका कहना था कि वे एक ऐसे राज्य की वास्तविक शक्ति है जिसका अभी जन्म नही हुआ है, लेकिन जिसका जन्म होने को है। पुन जैन्टायल के अनुसार शक्ति ही न्याय है और स्वतन्त्रता अधीनता है।

"जहा राज्य की शक्ति सब स अधिक होती है वही सब से अधिक स्वतन्त्रता पाई जाती है। प्रत्येक शक्ति नैतिक शक्ति होती है क्योकि वह सदैव ही इच्छा की अभिव्यक्ति होती है। हम चाहे किसी भी तर्क का प्रयोग करें, कितना ही समझाए-बुझाएं शक्ति की क्षमता इसी बात मे निहित है कि वह मनुष्य का आन्तरिक समर्थन प्राप्त करे और उसे अपना वशवर्ती बना ले।[1]

जैन्टायल का फासिस्ट राज्य सिद्धान्त हीगेल्वाद का लघु रूप ही था। बेनेडेटो क्रोचे जो इटली का सब से प्रसिद्ध हीगेलवादी था, फासिज्म का भी सब से महत्वपूर्ण विरोधी था। फासिज्म के उदय के काफी पहले उसने यह बताया था कि जैन्टायल की तत्त्वमीमासा मे नीत्शे के बुद्धिनिरोध के अनेक तत्त्व निहित थे और वह वास्तव म हीगेलवादी नही था।

---

1 *Che cosa e' il fascismo* (1925) p 50 यह अनुवाद हर्बर्ट डब्ल्यू० श्नीडर के ग्रन्थ *Making the Fascist State* (१९२८), परिशिष्ट सख्या २९ पर आधारित है। यह अवतरण उस भाषण का एक अश है जो १९२४ मे पालेरमो मे दिया गया था। फासिस्ट टुकडियो के बारे मे स्पष्टीकरण पुस्तक छपने समय एक पाद टिप्पणी मे दे दिया गया था।

जहा जेन्टायल ने फासिज्म को हीगेल का राज्य सिद्धान्त प्रदान किया, राष्ट्रीय समाजवाद ने राज्य के किसी सिद्धान्त का निरूपण नहीं किया। *Mein Kampf* में ऐसे अनेक अवतरण मिलते हैं जिनमें हिटलर ने यह कहा है कि राज्य एक साध्य नहीं, बल्कि साधन है। यदि उसकी नीति जनता के लिए अहितकर है तो उसका विरोध किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय समाजवाद के दर्शन में सब से अधिक निश्चित सिद्धान्त यह था कि राज्य जातीय लोक संस्कृति का स्रष्टा और वाहक है तथा वह नैतिकता और राजनीति के मानकों का निर्धारित करता है। दूसरे शब्दों में हिटलर का दर्शन उस पुरानी प्रकृतिवादी सकल्पना का एक उदाहरण था जिसे मुसोलिनी ने राज्य के नैतिक विचार के पक्ष में अस्वीकृत कर दिया था।

"कर्तव्य की चेतना कर्तव्य का पालन और आज्ञापालन अपने आप में उसी प्रकार साध्य नहीं है जिस प्रकार राज्य अपने आप में साध्य नहीं है। वे इस ससार में इसलिए हैं जिससे कि मनुष्यों का एक समुदाय जो मानसिक और शारीरिक रूप से एक ही नस्ल का है, इस ससार में रह सके।"[1]

फासिस्टों के राज्य और राष्ट्रीय समाजवादियों के लोक शब्द के अन्तर को बताना मुश्किल है। इन दोनो शब्दों के प्रयोग का अन्तर दो मामलों की कतिपय ऐतिहासिक परिस्थितियों के अन्तर से सम्बन्ध रखता है। जब हिटलर ने मीन कम्फ लिखा था उस समय वह जेल में था और अवैध क्रान्तिकारियों के एक बदनाम गुट का नेता था। उस समय उसके लिए यह कहना कि जर्मनी को एक राज्य की जरूरत है, हानिकर होता। दो पीढ़ियों से जर्मनों को यह विश्वास दिला दिया गया था कि उनका एक राज्य है। पुन, १९१८ की जर्मन क्रांति का एक महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि यद्यपि उसने कैसर को हटा दिया था, लेकिन उसने शासक वर्ग को कमजोर नहीं किया था। न उसने उन नौकरशाही प्रक्रियाओं को ही नष्ट किया था जिनके द्वारा दिन प्रतिदिन का शासन चलता था। जैसा कि हम हीगेल सम्बन्धी अध्याय में कह आए हैं, हीगेल के सांविधानिक शासन के सिद्धान्त में राज्य शब्द का यही ठोस अर्थ था। इस शब्द में राजनीतिक उदारतावाद निहित नहीं था। लेकिन उसमें नागरिक स्वतन्त्रता और व्यवस्थित वैधिक प्रक्रिया काफी मात्रा में निहित थी। इटली में मुसोलिनी ने इस प्रकार के शासनतन्त्र को स्थापित करने की चेष्टा की। वहा की राजनीति में इस शासनतन्त्र का सदैव अभाव रहा था। नैगमिक राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था को इसी आधार पर देखा जा सकता है। हिटलर के लिए जर्मनी में इस नीति का अनुसरण करना मूर्खतापूर्ण होता। उसकी वास्तविक समस्या नौकरशाही की शक्ति को कम करना था। अधिकांश जर्मनों के दिमागों में राज्य शब्द का अभिप्राय दूसरे साम्राज्य की नौकरशाही प्रक्रियाए था। राष्ट्रीय समाजवाद

1 *Mein Kampf*, p. 780, *cf* pp 122, 195, 579 f, 591 ff.

के लिए जातीय लोक का सिद्धान्त अधिक उपयोगी था। वह उसके नेतृत्व और सर्वाधिकारवादी शासन के लिए अधिक उपयुक्त बैठता था। इसलिए राष्ट्रीय समाजवाद के अविनायकवाद का दार्शनिक आधार इटली के आन्दोलन की भांति कृत्रिम हीगलवाद नहीं बल्कि जातीय लोक का सिद्धान्त था। इसके मुख्य रूप से दो भाग थे। एक भूमि जाति और लेबेन्सरम से सम्बन्धित विचार तथा इन विचारों का सर्वाधिकारवादी शासन में व्यावहारिक प्रयोग।

लोक, बुद्धिजीवी वर्ग और नेता

(The Folk, The Elite and the Leader)

राष्ट्रीय समाजवाद के साहित्य में व्यक्ति तथा राष्ट्र का वही सम्बन्ध माना गया था जो कि किसी अंग और अंगधारी के बीच होता है। मुसोलिनी ने १९२७ में जिस लेबर चार्टर की रचना की थी, उसमें उसने शुरू में ही यह लिखा था "इटालियन राष्ट्र एक सप्राण सत्ता है। उसके अपने साध्य हैं, जीवन है और कार्य के साधन हैं जो उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समुदायों के साध्यों, जीवन और साधनों से उच्चतर होते हैं।"

यह तुलना बहुत पुरानी थी। व्यक्तिवाद के आलोचकों ने रूसो के बाद से इसका निरन्तर प्रयोग किया था। कभी कभी इसको बहुत अतिरंजित रूप दे दिया जाता था। बहुधा इसका अभिप्राय सिर्फ यही होता था कि जिन व्यक्तियों के अधिकार होते हैं, उनके कुछ दायित्व भी होते हैं। लेकिन सप्राण शब्द में कुछ ऐसा रहस्यात्मक और जीवन सम्बन्धी तत्त्व था जिसकी जीव विज्ञान में बहुत कम बुनियाद थी। राष्ट्रीय समाजवाद के जातीय सिद्धान्त ने इन अस्पष्ट संकेतों को एक दर्शन का रूप दिया और उनके लिए एक वैज्ञानिक आधार का प्रयास किया। परिणाम यह हुआ कि लोक के एक रहस्यात्मक सिद्धान्त का जन्म हुआ। इस सिद्धान्त के साथ ही साथ रक्त और भूमि के सिद्धान्तों का भी विकास किया गया। इस ताने बाने में नेता की संकल्पना और लोक के साथ उसके सम्बन्ध की भावना का भी बड़ा महत्त्व था। राष्ट्रीय समाजवाद का राजनीतिक सिद्धान्त लोक का और लोक के उपयुक्त राज्य का दर्शन है। फलत: हिटलर ने मीन कैम्फ में यह बार-बार कहा है कि राष्ट्रीय समाजवाद लोक राज्य का सिद्धान्त है।

"लोक राज्य (folkish state) का उच्चतम प्रयोजन यह है कि वह जाति के उन प्राथमिक तत्त्वों की रक्षा करता है जो संस्कृति के आधार पर उच्चतर मानवता के सौन्दर्य तथा गौरव का निर्माण करते हैं। इसलिए हम आर्य राज्य को राष्ट्रीयता की एक सप्राण सत्ता समझते हैं। यह सप्राण सत्ता हमारी राष्ट्रीयता की रक्षा

ही नहीं करती बल्कि उनकी आध्यात्मिक और आदर्श क्षमताओं के प्रशिक्षण के द्वारा उसे उच्चतम स्वतन्त्रता प्रदान करती है।"[1]

उपर्युक्त अवतरण के अंग्रेजी अनुवाद में folkish शब्द का प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी में जर्मन शब्द *Volk* का तथा उससे व्युत्पन्न शब्दों का, विशेषकर उन शब्दों का जिनका राष्ट्रीय समाजवादियों ने उपयोग किया था कोई उचित पर्याय नहीं है। राष्ट्रीय समाजवादियों के सिद्धान्त का आधारभूत विचार जातीय लोक (racial folk) अथवा सावयव जनता" (organic people) का था। हम जाति शब्द का जो जीववैज्ञानिक अर्थ समझते हैं, लोक उस अर्थ में जाति नहीं है। लोक शब्द मूलतः संस्कृति सापेक्ष है। संस्कृति का सदैव अध्ययन किया जाता है अथवा उसे अर्जित किया जाता है। उसे उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं किया जाता। वह राष्ट्र शब्द का भी समानार्थक नहीं है क्योंकि राष्ट्रीय समाजवादियों के सिद्धान्त के अनुसार इसका जीव विज्ञान से सम्बन्ध है। वह जनता भी नहीं है क्योंकि वह सामुदायिक होती है। वह एक वास्तविक लेकिन अनुभवनिरपेक्ष तत्त्व है। कुछ समय के लिए कोई वास्तविक व्यक्ति उसका वाहक हो सकता है। स्टीफन जार्ज ने उसे "विकास का अंधेरा गर्भाशय" (dark womb of growth) कहा था। वास्तव में इस प्रकार का कुछ आलंकारिक वर्णन ही इस शब्द का उचित पर्याय हो सकता है। इसके अर्थ की तो व्याख्या ही नहीं की जा सकती। विकास के अंधेरे गर्भाशय, जातीय लोक से व्यक्ति का जन्म होता है। व्यक्ति जो कुछ भी है और वह जो कुछ भी करता है, उसके लिए वह इस जातीय लोक का ऋणी है। व्यक्ति अपने जन्म के कारण इस जातीय लोक का एक अंश होता है। उसका महत्व सिर्फ इस कारण होता है क्योंकि उसमें जातीय लोक की अनन्त सम्भावनाएं निहित होती हैं। वह "रक्त सम्बन्ध की रहस्यात्मक कड़ी" के द्वारा अपने साथियों से बंधा होता है। उसका उच्चतम प्रशिक्षण यह है कि वह उसकी सेवा करना सीखे। व्यक्ति का उच्चतम सम्मान यह है कि उसका जातीय लोक की रक्षा और विकास में प्रयोग हो। उसके समस्त मूल्य, आचार, सौन्दर्य अथवा वैज्ञानिक सत्य सम्बन्धी मूल्य लोक से प्राप्त होते हैं। इन मूल्यों का अर्थ भी वही होता है जो लोक निश्चित कर दे। फलत, महिमा अथवा योग्यता में सब व्यक्ति बराबर नहीं होते। इसका कारण यह है कि वे लोक के सत्त्व को विभिन्न मात्राओं में ही आत्मसात् कर पाते हैं। राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तियों में जैसी योग्यता और क्षमता होती है, उसको ध्यान में रखकर उनका एक पदसोपान सा बन जाता है। जिन व्यक्तियों में अधिक योग्यता होती है, उन्हें ऊंचा स्थान मिलता है और जिन व्यक्तियों में कम योग्यता होती है, उन्हें नीचा स्थान मिलता है। इन व्यक्तियों को शक्ति और विशेषाधिकार भी उनके दर्जे के अनुसार ही मिलते हैं। बीच में नेता होता है। वह अपने अनुयायियों से घिरा होता है। नेता के चारों ओर

1. *Mein Kampf*, p. 595.

अपरिचित व्यक्तियों का एक विशाल समूह होता है। नेता इन व्यक्तियों का नेतृत्व करता है।

राष्ट्रीय समाजवाद ने भीड़ में जनता की जो तस्वीर खींची है वह पहले-पहल देखने पर परस्पर-विरोधी मालूम पड़ती है। मुसोलिनी और हिटलर दोनों में से किसी ने भी जनता के प्रति अपनी घृणा को कभी नहीं छिपाया। हिटलर का कहना था कि प्रत्येक राष्ट्र में अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं जो न वीर होते हैं और न बुद्धिमान्। वे न अच्छे होते हैं और न बुरे, बल्कि साधारण होते हैं। वे सामाजिक संघर्ष में निष्क्रिय होते हैं लेकिन विजेता के पीछे चल देते हैं। वे मौलिकता से डरते हैं और उच्चता से घृणा करते हैं। उसकी सब से बड़ी इच्छा अपने नेताओं का पता लगाने की होती है। वे बौद्धिक अथवा वैज्ञानिक धारणाओं से अप्रभावित रहते हैं। इसका कारण यह है कि वे इन्हें समझते ही नहीं। उन पर केवल घृणा, भावावेश और उन्माद जैसी उग्र भावनाओं का ही असर पड़ता है। उनके दिमाग में किसी बात को बैठाने का एकमात्र उपाय यह है कि उस बात को बार-बार एकपक्षीय ढंग से कहा जाए और सत्य, निष्पक्षता तथा न्याय का बिल्कुल ध्यान न रक्खा जाए।

"अधिकांश लोग प्रकृति के एक अंश मात्र हैं। वे यह चाहते हैं कि सशक्त लोगों की विजय हो तथा दुर्बल लोगों का विनाश अथवा बिना शर्त समर्पण हो।"[1]

दूसरी ओर, हिटलर तथा मुसोलिनी दोनों ही इस बात को समझते थे कि उनकी स्थिति एकाग्र निष्ठा तथा समर्पण की उस भावना पर निर्भर थी जिसे वे जाग्रत कर सकते थे। वे इस भावना को जाग्रत कर सकते थे, यह बात साफ थी। यह अवश्य है कि फासिज्म तथा राष्ट्रीय समाजवाद आतंकवाद का निरन्तर तथा व्यवस्थित ढंग से प्रयोग करते थे। फिर भी, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है कि वे जन आन्दोलन थे और उनकी शक्ति का यही आधार था। राष्ट्रीय समाजवादियों का आतंक प्रचार का विस्तार मात्र होता था। जैसा कि जेन्टायल ने भी कहा है, उनका तर्क एक प्रकार की बौद्धिक विकृति मात्र था। राष्ट्रीय समाजवादी कभी तो गालियाँ देते थे और कभी चापलूसी करते थे। यह कुछ-कुछ मनुष्य की पाप और पापमोचन सम्बन्धी आदिम वृत्तियों को उभाड़ने की चेष्टा थी। इसकी उनके सिद्धान्त के साथ भी उचित संगति बैठ जाती थी। भीड़ में जनता के पास बुद्धि नहीं रहती। उस समय उसके पास केवल सहज वृत्ति और इच्छा ही रह जाती है। मानव प्रकृति में कहीं गहराई में वह निश्चित भीड़ वृत्ति पाई

---

1 *Mein Kampf*, p 469, cf Vol 1, ch 12, *passim*। गोएबिल्स की डायरियाँ भी देखिए। पृ० ५६ पर गोएबिल्स ने अपनी माँ के साथ बातचीत का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि 'मेरे लिए मेरी माँ सदैव ही जनता की आवाज का प्रतिनिधित्व करती है।'"

जाती है जो रक्त की एकता में निहित होती है और जो संकटकाल में राष्ट्र की विनाश से रक्षा करती है।" इसी बात को मुसोलिनी ने कुछ भिन्न शब्दों में कहा है, "आधुनिक मनुष्य की विश्वास की क्षमता असीम है। विश्वास पर्वतों को भी हिला देता है। मुसोलिनी और हिटलर दोनों का ही यह विश्वास था कि—

सभी बड़े-बड़े आन्दोलन जनता के आन्दोलन होते हैं। वे मानव आवेशों और आध्यात्मिक संवेदना के भयंकर विस्फोट होते हैं। वे या तो पीड़ा की देवी द्वारा या जनता के बीच फेंकी गई शब्द की मशाल द्वारा उद्वेलित होते हैं।"[1]

राष्ट्रीय समाजवादियों के अनुसार जनता तो केवल अनुसरण करती है और आन्दोलन का मांस-मज्जा प्रदान करती है। वे लोग जो स्वभावतः अभिजात, शासक अथवा बुद्धिजीवी होते हैं, जनता से भिन्न होते हैं। ये लोग ही आन्दोलन को बुद्धि तथा नेतृत्व प्रदान करते हैं। राष्ट्रीय समाजवाद जनता के ऊपर आधारित था, इसलिए वह अपने को 'पूरी तरह से लोकतन्त्रात्मक' कहता था। लेकिन, वह जनता के राजनीतिक मत को कोई विशेष महत्त्व नहीं देता था। वह यह भी नहीं मानता था कि राजनीतिक शिक्षा के द्वारा स्थिति में कोई परिवर्तन हो सकता है। इस दृष्टि से उसका सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी के अधिकांश क्रान्तिकारी दर्शनों की भाँति था। इटली के सिंडिकलिज्म का जिसमें मुसोलिनी का विकास हुआ था और लेनिन के दलगत संगठन का यही सिद्धान्त था। फासिस्ट बनने के काफी समय पूर्व लेनिन ने दल को "एक छोटा, दृढ़ और साहसी गुट" बनाया था।[2] राष्ट्रीय समाजवाद का विचार था कि क्रान्ति की पद्धति एक प्रकार का जैविक व्यापार है। नेताओं को चुनने की प्रक्रिया शक्ति प्राप्त करने के शाश्वत संघर्ष के द्वारा सम्पन्न होती है। यह प्रकृति के अनुरूप है। राष्ट्रीय समाजवाद का शासक वर्ग जातीय रूप से योग्यतम होता है। वह लोक के स्वाभाविक नेताओं के रूप में 'विकास के अँधेरे गर्भ" से उत्पन्न होता है।

"जीवन का वह दृष्टिकोण जो लोकतन्त्रात्मक जनता के विचार को अस्वीकार करता है और इस संसार का शासन सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों के हाथों में देना चाहता है, इस अभिजाततन्त्रात्मक सिद्धान्त का अपने लोगों के बीच भी पालन करता है और नेतृत्व तथा उच्चतम प्रभाव सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को ही प्रदान करता है।"

इसलिए, नेताओं का चुनाव एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और वह मत गिनने की यान्त्रिक पद्धति से बिलकुल भिन्न है। नेता लोक के प्रतिनिधि होते हैं, वे उसकी शक्ति प्राप्त करने की आन्तरिक इच्छा को व्यक्त करते हैं।

---

1. *Mein Kampf*, p. 136 उपर्युक्त उद्धरण पृ० ५९८ पर है। मुसोलिनी का उद्धरण एमिल लुडविग के *Talks with Mussolini* (1933) p. १२६ पर है।
2. Megaro, Op. Cit., p. 167, cf. pp. 112 ff.

"संसार का इतिहास अल्पसंख्यकों द्वारा निर्मित होता है उस समय जबकि ये संख्यागत अल्पसंख्यक बहुसंख्यकों के संकल्प और इच्छा को प्रकट करते हैं।"[1]

राष्ट्रीय समाजवादियों के चुने हुए लोगों में शिखर पर नेता होता है। सारे काम नेता के नाम से होते हैं। नेता मत के प्रति उत्तरदायी होता है लेकिन उसके कार्यों पर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। नेता और लोक का सम्बन्ध रहस्यात्मक होता है। उसमें विवेक का तत्व नहीं होता। मैक्स वेबर के शब्दों में यह सम्बन्ध आकर्षण प्रधान होता है। नेता एक प्रकार का मान्य देवता होता है। वह आन्दोलन का सौभाग्य प्रदान करता है।[2] वह लोक की उपज होता है। रक्त का रहस्यात्मक सम्बन्ध उसे जनता से बांधे रखता है। उसकी शक्ति का आधार यह है कि उसकी जड़ें जाति के जीवन में बहुत गहरी घुसी हुई होती हैं। वह जनता का एक ऐसी सहज वृत्ति के द्वारा पथ-प्रदर्शन करता है जो पशुओं से मिलती-जुलती होती है। जनता उसका अनुसरण प्रेरणावश करती है। इस प्रेरणा का कोई बौद्धिक आधार नहीं होता। नेता शुद्ध जाति का व्यक्ति होता है। वह एक "जीनियस" अथवा "हीरो" होता है। आलंकारिक ढंग से कहा जा सकता है कि 'नेता उस वृक्ष के समान है जो आकाश की ओर सिर उठा कर खड़ा होता है और जो हजारों लाखों जड़ों से पोषण प्राप्त करता है।" वह उन हजारों अज्ञात आत्माओं का जीवित योग होता है जो किसी लक्ष्य को प्राप्त करने में लगी हों। हिटलर ने अपनी आत्मकथा में नेता का प्रकार के सन्दर्भ में वर्णन किया है। नेता न तो विद्वान होता है और न सिद्धान्त-वादी। वह एक व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक और संगठनकर्ता होता है। वह मनोवैज्ञानिक इस अर्थ में होता है कि वह विभिन्न तरकीबों से अपने अनुयायियों की एक बड़ी संख्या का निर्माण करना चाहता है। वह संगठनकर्ता इस अर्थ में होता है कि अपने लाभों को स्थायी रूप देने के लिए एक विशाल संगठन का निर्माण करता है। हिटलर की आत्मकथा का वही अंश व्यवस्थित है जिसमें उसने प्रचार पर विचार किया है। प्रचार के क्षेत्र में हिटलर ने किसी भी साधन की उपेक्षा नहीं की—लिखित तर्क की तुलना में भाषण का महत्त्व, रोशनी, वातावरण, प्रतीकों, और भीड़ के प्रभाव, शाम में, जब नए विचारों के प्रतिरोध की शक्ति कम होती है, सभाएं करने के लाभ, इन सब हथकण्डों का प्रयोग किया गया था। नेतृत्व, सुझावों, सामूहिक सम्मोहन और प्रत्येक प्रकार की अचेतन अभिप्रेरणा का प्रयोग करता है। सफलता का रहस्य बुद्धिमत्तापूर्ण मनोविज्ञान तथा

---

1. *Mein Kampf*, pp 661, 603 क्रमशः।

2 गोएबिल्स जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति तक का हिटलर के बारे में यही विचार था। उसकी *Diaries*, p ६२ देखिए। हिटलर पराजय के समय भी अपने दल का निर्द्वन्द्व नेता रहा था। देखिए Traver Roper, Op. cit, Ch. 1.

जनता की चिन्तन प्रक्रिया को समझने की योग्यता में निहित है।[1] नेता जनता से उसी तरह काम लेता है जिस तरह कि कलाकार मिट्टी से।

जाति की कल्पना

(The Racial Myth)

राष्ट्रीय समाजवाद न लोक तथा नेता के विचार को अपने जाति सिद्धान्त के द्वारा भी पुष्ट किया। उसने जाति और संस्कृति के बीच एक विशिष्ट सम्बन्ध की कल्पना की। उसने पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में आर्य अथवा नार्डिक जाति को विशेष महत्व दिया। राष्ट्रीय समाजवाद की विचारधारा के मुख्य तत्त्व दो थे—जातीय सिद्धान्त और लेबेन्सरम का सिद्धान्त। राष्ट्रीय समाजवाद ने जाति की समस्या को मूल सामाजिक समस्या और इतिहास की कुंजी माना था। हिटलर ने मीन कैंफ में कहा था कि द्वितीय जर्मन साम्राज्य के पतन का कारण यह था कि उसने जाति के महत्त्व को नहीं समझा। राष्ट्रीय समाजवाद के अधिकृत दार्शनिक एल्फ्रेड रोजनबर्ग ने जातियों के संघर्ष और उनके विशिष्ट सांस्कृतिक विचारों के आधार पर एक नए सिद्धान्त की सृष्टि की और इस सिद्धान्त के द्वारा यूरोपीय सभ्यता के विकास को समझाने का प्रयास किया। राजनीतिक अथवा सामाजिक आन्दोलन के रूप में राष्ट्रीय समाजवाद इस इतिहास-दर्शन पर आधारित था। उसके समर्थन में विज्ञान, जीव विज्ञान और मानव विज्ञान का प्रभूत साक्ष्य उपलब्ध होता था। राष्ट्रीय समाजवाद ने जाति सिद्धान्त का जिस रूप में विकास किया था वह प्रजनन शास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित नहीं था। उसने जाति को एक जैविक व्यापार भी नहीं माना था। वह केवल आभासी रूप से ही वैज्ञानिक था। यह सिद्धान्त मूलतः एक कल्पना था और इसका आविष्कार उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन करने के लिए किया गया था। वह जातीय पक्षपात की धारणा पर आधारित था। उसमें यहूदी जाति के प्रति विरोध की भावना बड़ी प्रबल थी।

राष्ट्रीय समाजवाद की विचारधारा के अन्य भागों की तरह उसका जातीय सिद्धान्त भी भानमती का पिटारा था। उसमें ऐसे कई विचारों का समावेश था जो दीर्घकाल से प्रचलित रहे थे। राष्ट्रीय समाजवाद ने जाति शब्द का किसी जीव-वैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग नहीं किया था। उसका यह दावा था कि जर्मन लोग शुद्ध आर्य जाति के हैं। आर्य जाति संसार की एकमात्र शुद्ध जाति रही है। सम्भवत, यह विचार उन्नीसवीं शताब्दी के बीच में फ्रांस के विचारक गोबीनाव के द्वारा प्रतिपादित किया गया था। उसने

1. *Mein Kampf*, pp. 704 ff. cf Vol II. *passim* ये उद्धरण गोएबिल्स की *Diaries*, p 129 से हैं।

इसके आधार पर राष्ट्रवाद का नहीं बल्कि लोकतन्त्र के विरोध में अभिजाततन्त्र का समर्थन किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जर्मनी में बसने वाले एक अंग्रेज हाउसटन स्टीवर्ट चेम्बरलेन और उसके श्वसुर रिचार्ड वैगनर ने आर्य जाति की कल्पना का जर्मनी में प्रचार किया।[1] गोबीनाव और चेम्बरलेन में मुख्य अन्तर यह था कि चेम्बरलेन ने जर्मनवाद को राष्ट्रीय उच्चता का आधार बनाया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनों का जो राष्ट्रीय अपमान हुआ था, उसमें इस कल्पना ने मरहम का काम किया। जातिवाद के इस साहित्य ने विभिन्न देशों में विभिन्न आन्दोलनों का समर्थन किया। लेकिन मुख्य रूप से यह उदारवाद तथा यहूदियों के विरुद्ध था और साम्राज्यवादी था। जर्मनी में यहूदियों के प्रति विरोध की भावना मार्टिन लूथर के समय से चली आ रही थी। राष्ट्रीय समाजवाद का यहूदियों के ऊपर प्रधान आक्षेप यह था कि पूँजीवाद और मार्क्सवाद दोनों ही यहूदी हैं और यहूदियों का यह षड्यन्त्र है कि वे संसार की शक्ति अपने हाथ में कर लें। जातीय राष्ट्र का विचार कई परिचित रूढ़ियों पर आधारित होने के कारण बड़ी शीघ्रता से लोकप्रिय हो गया। इसमें यह उग्र पक्षपात की भावना भी मिली हुई थी कि प्रत्येक जाति अपनी श्रेष्ठता में विश्वास रख सकती है।

मीन कॅम्फ में जातीय सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप से निरूपण कर दिया गया था।[2] लेकिन, यह निरूपण कुछ व्यवस्थित नहीं था। उन्हें यहां संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रथम, समस्त सामाजिक प्रगति संघर्ष के द्वारा होती है। इस संघर्ष में योग्यतम व्यक्ति ही जीवित रहते है, दुर्बल व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं। यह संघर्ष जाति के अन्तर्गत होता है। इसके परिणामस्वरूप स्वाभाविक नेताओं का आविर्भाव होता है। यह संघर्ष जातियों और संस्कृतियों के बीच भी चलता रहता है। इससे विभिन्न जातियों की आन्तरिक प्रकृतियों का भी ज्ञान होता है। दो जातियों के सम्मिश्रण से उच्चतर जाति का पतन होने लगता है। इस तरह के जातीय सम्मिश्रण से सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक अध पतन होने लगता है। लेकिन, जाति अपने को शुद्ध कर सकती है क्योंकि वर्णसंकर मर जाते हैं। तीसरे, यद्यपि संस्कृति और सामाजिक संस्थाएं जाति की अन्तर्भूत रचनात्मक शक्तियों को प्रत्यक्ष रीति से व्यक्त करती हैं फिर भी सम्पूर्ण उच्च सम्पदाएं

---

1 गोबीनाव की पुस्तक पेरिस में १८५३–५५ में छपी थी। पहले भाग का अनुवाद एड्रियन कोलिन्स ने *The Inequality of Human Races* (London, 1915) नाम से किया था। चेम्बरलेन की पुस्तक १८९९ में छपी थी। अंग्रेजी में इसका अनुवाद जॉन लोज ने *The Foundations of the Nineteenth Century* (London, 1910) से किया था। उन अन्य पुस्तकों के लिए जिनमें जाति और संस्कृति के सम्बन्ध की कल्पना की गई थी, देखिए F W. Coker, *Recent Political Thought* (1934) pp 315 ff

2 Especially in Vol 1, Ch 11

अथवा महत्वपूर्ण संस्कृतियां एक ही जाति अथवा कुछ जातियों की ही सृष्टि हैं। जातियों को तीन भागों में बांटा जा सकता है—संस्कृति का निर्माण करने वाली, अथवा आर्य जाति, संस्कृति का वहन करने वाली जातियां जो उधार ले सकती हैं और ग्रहण कर सकती हैं लेकिन निर्माण नहीं कर सकती, और संस्कृति का विनाश करने वाली जाति अथवा यहूदी जाति। संस्कृति का निर्माण करने वाली जाति को निम्न जाति के श्रम और सेवाओं की जरूरत होती है। संस्कृति का निर्माण करने वाली आर्य जाति में आत्मरक्षा की भावना व्यक्ति से निकल कर समुदाय में आ जाती है। आर्यों की मुख्य नैतिक विशेषता कर्तव्य-परायणता और आदर्शवाद (सम्मान) है, बुद्धि नहीं। राष्ट्रीय समाजवाद ने लोक बुद्धिजीवियों और नेता की यही विशेषताएं मानी।

एल्फ्रेड रोजेनबर्ग ने अपने ग्रन्थ *Der Mythus des 20 Jahrhunderts* (१९३०) में जातीय सिद्धान्त के आधार पर इतिहास के दर्शन का निर्माण किया। इसमें राष्ट्रीय समाजवाद की विचारधारा का भी अधिकृत विवेचन किया गया था। रोजेनबर्ग के अनुसार सम्पूर्ण इतिहास को दुबारा लिखा जाना चाहिए। इतिहास की इस पुनर्व्याख्या का आधार जातियों तथा उनके विशिष्ट आदर्शों का संघर्ष होना चाहिए। मुख्य रूप से यह संघर्ष आर्य जाति तथा अन्य सब हीन जातियों के बीच में है। रोजेनबर्ग का विचार था कि आर्य जाति कहीं उत्तर से शुरू हुई थी और वह वहां से चलकर मिस्र, भारत, फारस, यूनान, और रोम पहुंची थी। उसी ने इन क्षेत्रों की समस्त प्राचीन सभ्यताओं का निर्माण किया था। चूंकि आर्यों ने हीन जातियों के साथ संसर्ग किया, इससे समस्त प्राचीन संस्कृतियां पतित हो गई। आर्य जाति की ट्यूटानिक शाखा ने अपनी जातीय शुद्धता को कायम रखा। आधुनिक यूरोप के राज्य में सांस्कृतिक महत्त्व के जो भी मूल्य बच रहे हैं उसका श्रेय आर्य जाति की ट्यूटानिक शाखा को ही है। समस्त विज्ञान और समस्त कला, समस्त दर्शन और समस्त महान् राजनीतिक संस्थाएं, इन सबका निर्माण आर्यों ने किया है। आर्य जाति के विरोध में यहूदी जाति है। इस जाति ने अनेक जातीय विषों की सृष्टि की है। मार्क्सवाद और लोकतन्त्र, पूंजीवाद और वित्त, निष्फल बुद्धिवाद, प्रेम और विनम्रता के नारी सुलभ आदर्श—इन सबका निर्माण यहूदी जाति ने किया है। ईसाई धर्म में जो कुछ भी रक्षणीय है, वह सब आर्य आदर्शों की देन है। ईसा मसीह स्वयं आर्य थे। लेकिन, चर्च की 'एट्रस्कन यहूदी' रोमन पद्धति ने ईसाई धर्म को विकृत कर दिया। रोजेनबर्ग का विचार था कि मध्ययुग के जर्मन रहस्यवाद में, विशेषकर एकहार्ट के रहस्यवाद में सच्चा जर्मन धर्म उपलब्ध हो सकता है। बीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी आवश्यकता एक नया धर्म सुधार है। व्यक्ति, परिवार, जाति तथा राष्ट्र इन सब का सम्मान की भावना से प्रेम होना चाहिए।

जिस दर्शन के आधार पर इस इतिहास का पुनर्निर्माण किया गया था, उसे जातीय या जीव-वैज्ञानिक व्यवहारवाद कहा जा सकता है। समस्त मानसिक और नैतिक क्षमताएं

जाति से सम्बन्धित होती हैं। आत्मा जाति का आन्तरिक रूप है। समस्त मानसिक और नैतिक क्षमताएं चिंतन के उन रूपों पर निर्भर होती हैं जो अन्तरंग होते हैं। जाति के लिए जो भी समस्या अथवा समाधान है वह उसकी जातीय विचार पद्धति पर आधारित होता है। नॉर्डिक जाति के प्रश्नों का यहूदी जाति के लिए कोई महत्व नहीं होता। 'जाति के लिए ज्ञान के जिस विकास की सम्भावना हो सकती है वह उसकी प्रथम धार्मिक कल्पना में निहित होता है।' इसलिए, नैतिक और सौन्दर्यात्मक मूल्य के कोई सामान्य मानक नहीं होते। न वैज्ञानिक सत्य के कोई सामान्य सिद्धान्त होते हैं। यह विचार कि सत्य, शिव और सुन्दर के विचार को विभिन्न जातियां समझ सकती हैं निष्फल बुद्धिवाद का उदाहरण है। प्रत्येक जाति के लिए यह जरूरी है कि वह विदेशी तत्वों का बहिष्कार करे क्योंकि ये तत्व उसकी जातीय शुद्धता को नष्ट कर देते हैं। सत्य जाति की अन्तरंग क्षमताओं की अनुभूति है। इसलिए, उसकी कसौटी यह है कि विज्ञान अथवा कला अथवा धर्म जाति के रूप, उसके आन्तरिक मूल्यों तथा उसकी जीवनी शक्ति का विकास करें। प्रत्येक रचनात्मक दर्शन एक तरह की स्वीकृति अथवा पथ होता है। वह जाति में निहित एक प्रेरणा को व्यक्त करता है। इसका उद्देश्य यह होता है कि वह उस जाति तत्व की शक्ति बढ़ाए। नेशनल सोशलिस्ट टीचर्स एसोसिएशन ने हिटलर के समर्थन में जो घोषणाएं निकाली थीं उनमें एक घोषणा दार्शनिक मार्टिन हीडेगर की थी। इस घोषणा में रोजेनबर्ग की बात को ही दुहरा दिया गया था।

"सत्य उस तत्व की अनुभूति है जो जाति को कार्य तथा ज्ञान के क्षेत्र में निश्चित, स्पष्ट और शक्तिशाली बनाता है। इस सत्य के आधार पर जानने की वास्तविक इच्छा उत्पन्न होती है। जानने की यह इच्छा जानने के दावे को मर्यादित करती है। जानने का दावा ही उन सीमाओं को निश्चित कर देता है जिनके भीतर वास्तविक समस्याएं उठनी चाहिए और उनका अनुसंधान होना चाहिए। इसी मूल स्थल से हम विज्ञान को प्राप्त करते हैं। यह विज्ञान लोगों के जीवन के लिए जरूरी होता है। हमने निराधार और अशक्त चिन्तन की पूजा से छुटकारा प्राप्त कर लिया है।

रोजेनबर्ग ने आर्य जाति की पहचान के लिए जो विविध तर्क दिए थे, वे मुख्यतः कला, नैतिक आदर्शों और धार्मिक विश्वासों से सम्बन्धित थे। ये तर्क अधिकांश में काल्पनिक और आत्मपरक थे। अपरंच उसका दर्शन प्रकटतः एक कल्पना के रूप में था। जहां एक बार राष्ट्रीय समाजवाद ने जर्मनी में अपने पैर जमा लिए, जातीय सिद्धान्त का विकास एक 'वैज्ञानिक" मानव विज्ञान के रूप में हुआ। इस कार्य का निदेशन एफ० के० गुंथर ने किया। गुंथर जेना विश्वविद्यालय में सामाजिक मानवविज्ञान का प्रोफेसर

बना दिया गया था।[1] सामान्य रूप से किसी भी स्वतन्त्रचेता जीव-वैज्ञानिक अथवा मानव-वैज्ञानिक का यह विश्वास नहीं था कि जातीय श्रेष्ठता की कुछ जीव-वैज्ञानिक कसौटियां होती हैं अथवा जातीय विशेषताओं का संस्कृति से सम्बन्ध होता है। इन प्रस्थापनाओं का अनेक बार खंडन किया जा चुका है। हमारे कहने का अभिप्राय सिर्फ यह है कि बुद्धिविरोधी लोग अपने काल्पनिक चिंतन के आधार पर ही तिल का ताड़ बना लेते हैं। जिओन के ज्ञानी पुरुषों के प्रोटोकोलों पर पर्याप्त रूप से विश्वास किया जाता था। यही कारण है कि गोएबिल्स अपनी डायरी में यह लिख सका था "जिन राष्ट्रों ने यहूदियों को सब से पहले समझा है, वही उनकी जगह संसार पर शासन करेंगे।"[2] जातीय सिद्धान्त की परख का आधार उसका सत्य नहीं होना चाहिए। उसका आधार एक तो वे परिणाम होने चाहिए जो वह सामने लाया और दूसरे वे प्रयोजन होने चाहिए जो उसने पूरे किए।

जातीय सिद्धान्त ने राष्ट्रीय समाजवाद की नीति पर तीन तरह से असर डाला। इसका पहला असर आर्य जाति की जनसख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में था। राष्ट्रीय समाजवाद की सरकार ने लोगों को इस बात के लिए प्रोत्साहन दिया कि वे ज्यादा बच्चे पैदा करें। इसके लिए सरकार ने लोगों को आर्थिक सहायता भी दी। यहा यह ध्यान देने योग्य है कि एक ओर तो सरकार ने जनसख्या की वृद्धि पर जोर दिया और दूसरी ओर यह भी कहा कि जर्मनी में पहले से ही अधिक जनसख्या है और इस जनसख्या को बसाने के लिए क्षेत्रीय विस्तार की जरूरत है। जनसख्या की वृद्धि पर जोर देने का परिणाम यह हुआ कि अवैध बच्चे काफी बड़ी तादाद में पैदा होने लगे। जातीय सिद्धान्त का दूसरा परिणाम यह हुआ कि १९३३ का प्रजनन विषयक कानून पास हुआ। कहने के लिए तो इस कानून का उद्देश्य आनुवंशिक बीमारियों के पारेषण को रोकना था। लेकिन, व्यवहार में इसका उद्देश्य यह था कि शारीरिक और मानसिक

---

1 उदाहरण के लिए उसका *Racial Elements of European History* ग्रन्थ देखिए। इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद जी०सी० ह्वीलर (लन्दन १९२७) ने किया है। जातीय सिद्धान्त की वैज्ञानिक आलोचना और राष्ट्रीय समाजवाद से पहले के उसके इतिहास के लिए रूथ बेनेडिक्ट की पुस्तक *Race: Science and Politics* (न्यूयार्क १९४०) देखिए। इस पुस्तक में जीव-वैज्ञानिकों और मानव-वैज्ञानिकों द्वारा की गई अनेक आलोचनाएं दी गई हैं।

2 *Diaries*, p. 377. उन आश्चर्यजनक अवतरणों से तुलना कीजिए जिनमे गोएबिल्स ने इस बात पर विस्मय प्रकट किया है कि ब्रिटिश और अमेरिका के समाचार-पत्रों को उसके यहूदी-विरोधी तर्कों का दमन नहीं करना चाहिए था। pp २४१, ३५३ f, ३७०। यह भी सम्भव है कि "यहूदियों के विश्व-शासन" का चित्र राष्ट्रीय समाजवाद के लिए आदर्श रहा हो। कोनराड हीडेन का यही मत है। देखिए *Der Fuehrer* (१९४४), p. 100 और *passim*। प्रोटोकोलों के इतिहास के बारे में जॉन एस० कर्टिस की पुस्तक *An Appraisal of the Protocols of Zion* (न्यूयार्क, १९४२) देखिए।

रूप से कमजोर लोगों को या तो बिल्कुल ही खत्म कर दिया जाए या उन्हें नपुंसक बना दिया जाए। इस नीति का अत्यन्त कठोरता से पालन किया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य नस्ल का सुधार करना था लेकिन इसने चाहे नस्ल का सुधार किया हो या नहीं, नैतिक और सामाजिक जीवन का बहुत अधिक विघटन किया। जातीय सिद्धान्त इस नैतिक धारणा पर आधारित था कि दुर्बलों के प्रति मानवता और करुणा का व्यवहार करना सद्‌गुण नहीं है। तीसरे, जातीय सिद्धान्त ने १९३५ और १९३८ का यहूदी विरोधी विधान उत्पन्न किया। इस विधान का भी उद्देश्य जाति की शुद्धता का विकास करना अथवा उसकी रक्षा करना था। इस विधान के अनुसार जर्मनों तथा उन लोगों के बीच जिनके पूर्वज यहूदी रहे हों, विवाह सम्बन्ध वर्जित कर दिए गए यहूदियों को व्यवसायों तथा व्यापार से हटा दिया गया तथा उनसे नागरिकों का दर्जा छीन कर उन्हें 'राज्य प्रजाजनों" का हल्का दर्जा दिया गया। इन उपायों की चरम परिणति यहूदियों को पूरी तरह से समाप्त कर देने की नीति में हुई। हिटलर ने १९३९ में भविष्य-वाणी की थी कि नए युद्ध के परिणामस्वरूप यहूदी बिल्कुल समाप्त हो जायेंगे। जो यहूदी बच रहे थे, उनको बलपूर्वक मजदूर बनाने की कोशिश की गई।[1]

एक ऐसी शताब्दी में, जो प्रधान रूप से बड़ी मानवोचित रही है, राष्ट्रीय समाजवाद की यहूदी विरोधी नीति को अमानवीयता की पराकाष्ठा ही कहा जा सकता है। तर्क की दृष्टि से, जातीय सिद्धान्त को यहूदियों के ऊपर लागू करना केवल आनुषंगिक ही था। इसे अन्य जातियों के ऊपर भी लागू किया जा सकता था। हिटलर ने जैसे-जैसे अपना साम्राज्य पूर्व की ओर बढ़ाया, उसने इस नीति को अन्य जातियों के ऊपर भी लागू किया। उदाहरण के लिए अधिकृत पोलैण्ड में युक्रेनियनों के साथ पोलों की अपेक्षा ज्यादा अच्छा व्यवहार किया गया यद्यपि उन्हें जर्मनों के बराबर दर्जा नहीं दिया गया। लेकिन, पोलों के पास तो कम-से कम नाममात्र की स्वतन्त्रता बच रही थी। यहूदी तो बिल्कुल दास ही बना दिए गए थे। सामान्य रूप से जातीय सिद्धान्त का अर्थ यह था कि नागरिक और जातीय स्थिति की दृष्टि से विभिन्न जातियों का एक क्रम निर्धारित हो गया था। शक्ति और अधिकार केवल उन लोगों के हाथों में रहे थे जो शुद्ध जर्मन जाति के थे। अन्य अधीन जातियों को अवरोहण क्रम में रख दिया गया था। संक्षेप में इसका अभिप्राय, जैसा कि हिटलर ने मीन कैम्फ में कहा था यह था कि एक तो स्वामी जाति हो तथा अन्य 'सहायक जातियाँ' उसकी सेवा करती हों। लेकिन, चूंकि जाति का सिद्धान्त काल्पनिक था, अतः राष्ट्रीय समाजवादी सरकार जिस समुदाय को चाहती,

---

1 फ्रांज न्यमैन ने अपनी पुस्तक *Behemoth* (१९४४), pp 111 ff Appendix, pp 660 ff में प्रजनन सम्बन्धी और यहूदी विरोधी विधान का विश्लेषण किया है।

जातीय आधार पर उनका दमन और शोषण कर सकती थी। तर्क की दृष्टि से राष्ट्रीय समाजवाद के नेता जातीय सिद्धान्त के आधार पर अपनी प्रभुता को विवेक का आधार देना चाहते थे।

जातीय सिद्धान्त तथा यहूदी-विरोध की नीति ने राष्ट्रीय समाजवाद को जो लाभ पहुंचाया, वह मोड़ मनोविज्ञान के क्षेत्र की वस्तु है। लेकिन, यह स्पष्ट है कि उन्होंने राष्ट्रीय समाजवाद को दो रीतियों से दृढ़ किया। सर्वप्रथम, इसके कारण जर्मन राष्ट्र की जो अनेक घृणाएं, शंकाएं, भय और वर्ग-विरोध थे, वे सब एक स्थल पर केन्द्रित हो गए। साम्यवाद का डर यहूदी मार्क्सवाद का डर हो गया। नात्सियों के प्रति रोष की भावना का अर्थ यहूदी पूंजीवाद के प्रति विरोध की भावना हो गया। राष्ट्रीय अरक्षा का अर्थ यह हो गया कि यहूदी सारे संसार पर शासन करने का षड्यन्त्र बना रहे हैं। आर्थिक अरक्षा का अर्थ यह हो गया कि समस्त बड़े-बड़े व्यापारों पर यहूदियों ने अपना अधिकार स्थापित कर रखा है। यह कहना कि यहूदियों के ऊपर लगाए गए ये समस्त आरोप निराधार थे प्रसंगोचित नहीं था। यहूदी लोग इस स्थिति में थे जिसमें वे उन कार्यों को बहुत अच्छी तरह निभा सकते थे जिनकी जातीय सिद्धान्त ने उनके बारे में कल्पना की थी। वे अल्पसंख्या में थे और उनके खिलाफ पक्षपात की भावना दीर्घकाल से संचित होती आ रही थी। वे इतने मजबूत अवश्य थे कि उनसे डर लगता था, लेकिन वे इतने कमजोर थे कि उनके ऊपर उन्हें हानि पहुंचाए बिना आक्षेप नहीं किया जा सकता था। इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि जातीय सिद्धान्त जर्मन समाज को, उसके समस्त विरोधों को एक ऐसे शत्रु के ऊपर केन्द्रित कर के जिसे आसानी से समाप्त किया जा सकता था, एक करने का मनोवैज्ञानिक उपाय था। यहां हम यह भी कह सकते हैं कि यहूदियों की सम्पत्ति के कारण दल तथा उसके समर्थकों को पर्याप्त पुरस्कार प्राप्त हो जाते थे। दूसरे, जातीय सिद्धान्त ने हिटलर के विशिष्ट साम्राज्यवाद को सैद्धान्तिक समर्थन प्रदान किया। हिटलर स्लाविक जातियों के मूल्य पर पूर्व तथा दक्षिण की ओर अपना विस्तार करना चाहता था। यहूदी लोग इन्हीं क्षेत्रों में इकट्ठे बसे हुए थे। एक मनोवैज्ञानिक शक्ति के रूप में यहूदी विरोध इस विश्वास से भिन्न नहीं था कि जर्मन जाति पोलों, चेकों और रूसियों से श्रेष्ठ थी। जातीय सिद्धान्त अक्सर जर्मनवाद से सम्बन्धित किया गया है। इस सिद्धान्त के आधार पर मध्य यूरोप में एक ऐसे जर्मन राज्य की स्थापना का जिसके चारों ओर अधीन गैर-जर्मन राज्य हों, विचार विकसित किया जा सकता था। इस प्रकार, जातीय सिद्धान्त ने राष्ट्रीय समाजवादी विचारधारा के दूसरे तत्व को जन्म दिया। यह दूसरा तत्व "भूमि का विचार था।" यह विचार रक्त के विचार का स्वाभाविक पूरक था।

लिबन्सरम

(Lebensraum)

राष्ट्रीय समाजवाद ने राज्य क्षेत्र अथवा स्थान के सिद्धान्त को भी जातीयता के सिद्धान्त की भांति ही ऐसे विचारों के आधार पर बनाया जो यूरोप में एक शताब्दी से प्रचलित रहे थे। मूलतः यह विचार उन योजनाओं का विस्तार मात्र ही था जिनके अनुसार हिटलर मध्य और पूर्वी यूरोप में एक शक्तिशाली जर्मन राज्य की स्थापना करना चाहता था। हिटलर का विचार था कि इन क्षेत्रों में जहां तक सैनिक दृष्टि से सम्भव हो, जर्मनी को अपना विस्तार करना चाहिए। जातीय सिद्धान्त की तरह यह सिद्धान्त भी विशुद्ध रूप से जर्मन सिद्धान्त था। स्वीडेन के राजनीतिशास्त्री रूडोल्फ कजेलेन ने इस योजना को एक दर्शन का रूप दिया और इसका नाम जियोपोलिटिक रखा।[1] उद्भव में कजेलेन की जियोपोलिटिक्स राजनीतिक भूगोल नामक एक पुराने विषय का विस्तार-मात्र था। राजनीतिक भूगोल मुख्य रूप से फ्रैडरिक रैटजल ने विकसित किया था। उसका मूल वैज्ञानिक विचार यह था कि यदि हम इतिहास का और राज्यों के विकास का यथार्थपरक ढंग से अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें भौतिक पर्यावरण, मानव विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, सांविधानिक संगठन और कानूनी गठन, का भी अध्ययन करना चाहिए। जब कजेलेन ने इस सिद्धान्त का विकास किया, तब वह उसके भौगोलिक आधार को बिल्कुल भूल गया। कजेलेन के सिद्धान्त निरूपण में यह डर भी छिपा हुआ था कि शायद रूस पश्चिम की तरफ अपने पैर फैला सकता है। राष्ट्रीय समाजवाद के जिन प्रवक्ताओं ने जियोपोलिटिक्स का विकास किया था उनमें कार्ल हाउशोफर का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त जर्मनी के अन्य अनेक लेखकों और विद्वानों ने भी इसके विकास में भाग लिया था। हाउशोफर ने विषय के वैज्ञानिक निरूपण को कोई खास आगे नहीं बढ़ाया। लेकिन, उसने और उसके साथियों ने संसार के समस्त

---

1 सामान्य विवरण के लिए देखिए, Robert Strausz-Hupe, *Geopolitics : The Struggle for Space and Power*, New York, (1942)। कजेलेन के कार्य के अपेक्षाकृत लम्बे सारांश के लिए देखिए, Johannes Mattern, *Geopolitik : Doctrine of National Self Sufficiency and Empire* (Baltimore, 1942), chs. 5 and 6. निम्नलिखित दो पुस्तकों में कार्ल हाउशोफर तथा जियोपोलिटिक के अन्य राष्ट्रीय समाजवादी विद्वानों के विचार मिल जाते हैं—Derwent Whittlesey, *German Strategy of World Conquest*, New York, 1942, और Andreas Dorpalen, *The World of General Haushofer*, New York, 1942.

भागों से भूगोल, समाज, अर्थ-व्यवस्था और राजनीतिक मामलों के बारे में विपुल सामग्री एकत्रित की। इस प्रकीर्ण सामग्री का उद्देश्य यह नहीं था कि इसको शुद्ध वैज्ञानिक रीति से मीमांसा की जाए। इसका उद्देश्य यह था कि जरूरत पड़ने पर युद्ध-नीति निर्धारित करते समय सेना इन सामग्री का प्रयोग कर सके या आवश्यकता पड़ने पर शासन अपना शक्ति विस्तार करते समय इस सामग्री से लाभ उठा सके। हाउशोफर ने जियोपोलिटिक्स के आधार पर जर्मनी में 'स्थानगत चेतना' का संचार किया। यही दो विशेषताएं ऐसी थी जो जियोपोलिटिक्स को राजनीतिक भूगोल से अलग करती थीं। हाउशोफर के अन्य Zeitschrift fur Geopolitik के सम्पादकों ने जियोपोलिटिक्स की परिभाषा करते हुए कहा था कि यह "व्यावहारिक राजनीति का पथ प्रदर्शन करने की कला और राज्य की भौगोलिक चेतना है"। यहां व्यावहारिक राजनीति का अभिप्राय साम्राज्यवादी विस्तार था। जातीय सिद्धान्त की भांति जियोपोलिटिक्स में भी विद्वत्ता और आभासी वैज्ञानिक भावना का सम्मिश्रण था। इस सिद्धान्त के आधार पर साम्राज्यवादी राजनीति को उचित ठहराने की कोशिश की गई थी।

राष्ट्रीय समाजवादियों को अपने साम्राज्यवाद विषयक विशिष्ट सिद्धान्त की प्रेरणा अंग्रेज भूगोल शास्त्री सर हेलफोर्ड जे० मैकाइंडर से प्राप्त हुई थी। इसके पहले के साम्राज्यवादी सिद्धान्त ने उदाहरण के लिए एडमिरल ए० टी० महन के सिद्धान्त ने मुख्य रूप से नाविक शक्ति के महत्त्व पर बल दिया था। यह सिद्धान्त अधिकतर ब्रिटिश साम्राज्य के सिद्धान्त पर आधारित था। १९०४ में मैकाइंडर ने यह विचार प्रस्तुत किया था कि यूरोपीय इतिहास के काफी अंश की व्याख्या इस आधार पर की जा सकती है कि पूर्वी यूरोप तथा मध्य एशिया की भू-वेष्टित जातियां तटवर्ती जातियों की ओर बढ़ती रही हैं। उसने पूर्वी यूरोप तथा मध्य एशिया के इस विशाल क्षेत्र को "अन्तर्देश" "विश्वद्वीप", का सार (यूरोप, एशिया और अफ्रीका) कहा है। इसमें संसार की दो-तिहाई भूमि आ जाती है। आस्ट्रेलिया तथा उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका दूरस्थ द्वीप हैं। फलतः, यदि कोई राज्य इस क्षेत्र के संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित कर ले, और इस प्रकार वह सामूहिक शक्ति के साथ स्थल शक्ति का समन्वय कर सके, तो वह सारे संसार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता है। मैकाइंडर ने अपने तर्क को निम्नलिखित सूत्र में व्यक्त किया था "जो कोई पूर्वी यूरोप पर शासन करता है, वह अन्तर्देश पर नियंत्रण रखता है। जो कोई अन्तर्देश पर शासन करता है, वह विश्वद्वीप पर नियंत्रण रखता है। जो कोई विश्वद्वीप पर शासन करता है, वह संसार पर नियंत्रण रखता है।"[1]

---

1 *Democratic Ideals and Realities* (1919), पुनर्मुद्रित 1942, p 150 मैकाइंडर के एक पूर्ववर्ती निबन्ध से तुलना कीजिए, The Geographical Pivot of History". *The Geographical Journal*, Vol. XXIII (1904). pp. 421 ff

उसका तात्कालिक प्रयोजन इग्लैण्ड को यह बताना था कि रूस के साथ मित्रता के क्या लाभ हैं लेकिन जर्मन भी इस सूत्र का अभिप्राय समझते थे। उसने एक ऐसी प्रायोजना उपस्थित की जिसने १९०० के ट्रिटिश नाविक विस्तार के बाद के जर्मन साम्राज्यवादी चिन्तन की अनिश्चितताओ, नाविक तथा स्थल-शक्ति की विषमता तथा पूर्वी जर्मनी के कुलीनो तथा पश्चिमी जर्मनी के उद्योगपतियो के दृष्टिकोणो की विविधता का समाधान कर दिया। दोनो ही सही थे लेकिन नजदीक के महाद्वीपीय देशो की ओर स्थल के द्वारा बढ़ाए जाने वाले इस कार्यक्रम को प्राथमिकता मिली। शुरू मे सब से बड़ी समस्या रूस था। इस समस्या का समाधान या तो रूस से मित्रता करके या रूस को जीतकर किया जा सकता था। स्थल-शक्ति के रूप मे फास का पतन हो चुका था। जातीय सिद्धान्त की शब्दावली मे फ्रेंच जाति बहुत कुछ नीग्रो हो गई थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का तौर-तरीका भी पुराना पड़ गया था। जर्मन कूटनीति का उद्देश्य यह था कि पश्चिमी शक्तियो का विसैन्यीकरण किया जाए, लेकिन रूस पर प्रभुता स्थापित की जाए। हिटलर ने मीन कैम्फ मे जर्मन राजनीति की यही रूपरेखा प्रस्तुत की थी।[1] कहा जाता है कि उसने यह कार्य हाउशोफर की प्रेरणा से किया था। उसका कहना था कि द्वितीय साम्राज्य की मूलभूत गलती यह थी कि उसने अपने क्षेत्र का विस्तार न कर अपने उद्योगो और निर्यातो का विस्तार किया। जर्मनो के एक हजार वर्षों के इतिहास मे सब से महत्वपूर्ण घटना ओस्टमार्क तथा एल्बे के पूर्व के क्षेत्र का उपनिवेशीकरण था। राष्ट्रीय समाजवादियो का नारा था कि हम, "यूरोप के दक्षिण और पश्चिम मे जर्मनो का बढ़ना रोक देंगे तथा अपने ध्यान को पूर्वी देशो की ओर केन्द्रित करेंगे। हम मुख्य रूप से रूस तथा उसके सीमावर्ती अधीन राज्यो के बारे मे ही विचार कर सकते हैं।"

राष्ट्रीय समाजवादियो ने लेबेन्सरम के सिद्धान्त के पक्ष में जो तर्क दिए थे उन मे भी जातीय सिद्धान्त की भांति ही भावना तथा संदिग्ध विज्ञान का अपूर्व सम्मिश्रण था। इन तर्कों का आधार यह था कि जर्मन मध्ययुगीन साम्राज्य के आदर्शीकरण के बहुत प्रेमी थे। उनकी यह गर्वोक्ति थी कि यह साम्राज्य अमेरिका की खोज के काफी समय पहले विद्यमान था। लेबेन्सरम के पक्ष मे दिए गए आने वाले तर्कों का कुछ आधार यह भी था कि मध्य यूरोप तथा साम्यवाद की स्थापना के पूर्व रूस की समस्त सास्कृतिक सिद्धियो का श्रेय जर्मनी के अल्पसख्यको को है। इसलिए, जर्मन इस क्षेत्र के स्वाभाविक नेता और शासक हैं। जिओपोलिटिक्स के सामान्यीकृत तथा कथित रूप से वैज्ञानिक तर्क ने एक जैविक सादृश्य का भी रूप धारण किया। राज्य 'सावयव सत्ताएं' हैं और उनके बीच सम्बन्ध प्राकृतिक चुनाव का है। जब तक उनमे जीवन होता है उनका

---

1 विशेषकर Vol II, Ch 14, *Cf* Vol 1 Ch 4 रूस की विजय की व्यावहारिकता के बारे मे हाउशोफर को हिटलर की अपेक्षा कम गलतफहमी थी।

विकास होता है और जब उनका विकास बन्द हो जाता है, वे मर जाते हैं। जो राज्य विस्तार नहीं करता वह या तो पतनशील होता है या एक ऐसी जाति की सृष्टि होता है जो स्थानबद्ध होती है और जिसमें राजनीतिक निर्माण की प्रतिभा नहीं होती। प्राणवान राज्य इस बात के लिए बाध्य होते हैं कि वे अपने स्थान का विस्तार करें। राज्य की सीमाएं राज्य के "परिणाह अंग" (peripheral organs) अथवा विकासशील सीमान्त होते हैं। राज्य की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। उसकी केवल एक अस्थायी सीमा रेखा होती है। वह सतत विकास में "शान्ति का एक बिन्दुमात्र" होती है। श्रेष्ठ सीमान्त वह है जो विकास के अनुकूल होता है, जो दूसरे राज्यों में प्रवेश करने तथा सीमा घटनाओं को बढ़ावा देने के लिए अनुकूल होता है। सधियां और अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्य की स्वाभाविक प्रक्रिया के ऊपर कोई अंकुश नहीं लगा सकती। राज्य का संविधान और उसकी विधि संस्थाएं उसकी शक्ति को संगठित करने और उसे विकसित करने में सहायक होती है। यदि संतति-निग्रह अथवा शान्तिवाद के द्वारा प्रतियोगितापूर्ण संघर्ष पर जान बूझ कर कोई रोक लगाई जाती है तो इसका परिणाम यह होगा कि भविष्य में हीन जातियों का प्राधान्य हो जाएगा। प्रगति संघर्ष के माध्यम से ही होती है।

"सांस्कृतिक दृष्टि से श्रेष्ठ लेकिन कम कठोर जातियों को अपनी सीमित भूमि के कारण अपना विकास रोकना होगा और वह भी एक ऐसे समय में जबकि सांस्कृतिक दृष्टि से हीन लेकिन अधिक निर्दय और अधिक नैसर्गिक जातियां अपने पास अधिक भूमि होने के कारण असीम विकास कर सकती हैं। परिणामत, एक दिन संसार ऐसी जाति के हाथों में आ जाएगा जो संस्कृति में तो हीन होगी लेकिन शक्ति और सक्रियता में श्रेष्ठ होगी।"[1]

इसलिए लेबेन्सरम का विचार जातीय लोक के विचार का निकटवर्ती था। वैज्ञानिक दृष्टि से ये दोनों विचार अलग-अलग थे। कारण यह है कि यदि संस्कृति जाति पर निर्भर होती है तो वह भूमि पर निर्भर नहीं हो सकती। लेकिन इन दोनों विचारों को जोड़ने वाला तत्त्व विज्ञान नहीं था। यह तत्त्व मूलत रहस्यात्मक अथवा भावनात्मक था। "सांस्कृतिक भूदृश्य" अथवा "लोक भूमि" जैसे वाक्यांशों में दो सार्वभौम और शक्तिशाली भावनाओं का समावेश था। ये भावनाएं थीं—प्रत्येक जाति को अपनी जन्मभूमि प्रिय होती है। इसके साथ ही प्रत्येक जाति को अपनी जीवन-पद्धति भी प्रिय होती है। राष्ट्रीय समाजवादियों ने सैनिक विजय के कार्यक्रम के पीछे इन्हीं भावनाओं की शक्ति को संगठित किया था।

यदि हम लेबेन्सरम सिद्धान्त के भावनात्मक तत्त्वों को भूल जाएं तो उसका भू-राजनीतिक विचार इस धारणा पर आधारित था कि आर्थिक समृद्धि राजनीतिक

---

1. *Mein Kampf*, pp. 174 f.

नियंत्रण पर निर्भर होती है और वे दोनो सैनिक शक्ति पर। इसके साथ ही यह सामरिक सिद्धान्त भी था कि आजकल की परिस्थितियो मे सैनिक शक्ति का अभिप्राय सामुद्रिक शक्ति नही बल्कि स्थल शक्ति है। मुख्य चिन्ता इस बात की नही थी कि क्षेत्र उपलब्ध हो। मुख्य चिन्ता इस बात की थी कि कच्चा माल मिले और तैयार माल के लिए बाजार मिले। हिटलर जनसख्या और क्षेत्र की अक्सर तुलना किया करता था। उदाहरण के लिए वह कहा करता था कि अमेरिका मे एक वर्ग किलोमीटर मे पन्द्रह लोग रहते हैं लेकिन जर्मनी मे इतनी ही जगह मे एक सौ चालीस लोग रहते हैं। इस तरह जिन राष्ट्रो के पास क्षेत्र है और जिन राष्ट्रो के पास क्षेत्र नही है अर्थात् स्वामी राष्ट्र और सर्वहारा राष्ट्र — इनके बीच सघर्ष चलता रहता है। हिटलर के इस तरह के वक्तव्यो को बाजारो के सन्दर्भों के बिना नही समझा जा सकता। यह तर्क कि जनसख्या अधिक होने से विस्तार की जरूरत है, इस प्रस्थापना पर आधारित था कि बाजार केवल राजनीतिक शक्ति के द्वारा ही प्राप्त किए जा सकते है। इस प्रकार स्थान की भू राजनीतिक सकल्पना का मुख्य आधार यह था कि बडे-बडे क्षेत्र सैनिक दृष्टि से लाभदायक होते है। जर्मनी मे इसका वास्तविक अर्थ यह था कि जर्मनी अपने निकट के भू-क्षेत्रो का आर्थिक शोषण के लिए विजय करे। इस अर्थ मे भी आत्मनिर्भरता को भू राजनीतिक सकल्पना का समझ लेना चाहिए। आन्तरिक ससाधनो का विकास और न पाए जाने वाले कच्चे सामान की जगह कुछ और सामान की खोज करना नीति के अन्तर्गत नही था। हा, थोडे से राष्ट्रीय समाजवादी (उदाहरण के लिए ग्रेगर स्ट्रासर) ही यह मानते थे कि यह कार्यक्रम भी नीति के अन्तर्गत आने चाहिए। अधिकाश राष्ट्रीय समाजवादियो का विचार था कि यह उपाय युद्ध काल मे विश्व बाजारो से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साधन हैं। यह भू राजनीतिक सिद्धान्त की आत्म निर्भरता सफल राज्यो का एक लक्षण है, निहितार्थ मे बडा भयकर था। इसका अभिप्राय यह था कि युद्ध के लिए तैयारी करते रहना एक स्थायी आवश्यकता है, क्योकि राज्य की वाणिज्यिक समृद्धि उसी के ऊपर निर्भर है।

लेबेंसरम के अर्थ के बारे मे हिटलर ने १९३२ मे डुसलडोर्फ के जर्मन उद्योगपतियो के सामने एक भाषण दिया था और इस भाषण मे उसने लेबेंसरम का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था। इस भाषण की सफलता ने उसके राजनीतिक भाग्य का पासा पलट दिया। उसने कहा कि जर्मनी की समृद्धि और बेरोजगारी का निवारण विदेशी वाणिज्य पर निर्भर है। लेकिन यह विचार कि केवल आर्थिक उपायो से ही ससार पर विजय प्राप्त की जा सकती है, एक भयकर भ्रम है।

"ऐसा नही है कि जर्मनी के व्यापार ने ससार का विजय किया हो और इसके बाद जर्मनी की शक्ति बढी हो। जहा तक हमारा सम्बन्ध है, शक्ति-राज्य ने वे परिस्थितिया पैदा की जिनमे व्यापारिक जगत् अभ्युदय कर सके। आर्थिक जीवन उस समय तक नही हो सकता जब तक कि उसके पीछे राष्ट्र की दृढ राजनीतिक इच्छा न हो—ऐसी दृढ राजनीतिक इच्छा जो आघात करने, कठोर आघात करने के लिए बिल्कुल तैयार हो।"

समस्त साम्राज्यवाद के पीछे श्वेत जाति का यह सत्कल्प छिपा हुआ है कि उसे दूसरों के ऊपर नियन्त्रण स्थापित करने का असाधारण निर्मम अधिकार प्राप्त है।

"श्वेत जाति व्यवहार में अपनी स्थिति को उसी समय तक कायम रख सकती है जब तक कि संसार के विभिन्न भागों में जीवन-स्तर का भेद बना हुआ है। यदि आप हमारे तथाकथित निर्यात बाजारों को वही जीवन-स्तर प्रदान कर दें जो हमें प्राप्त है, तो आप देखेंगे कि श्वेत जाति के लिए अपनी उच्चता की स्थिति को बनाए रखना असम्भव हो जाएगा। श्वेत जाति की उच्चता के लिए स्थिति न केवल राष्ट्र की राजनीतिक शक्ति में ही व्यक्त होती है बल्कि व्यक्ति के आर्थिक जीवन में भी व्यक्त होती है।'[1]

इससे दो साल पहले आत्म-निर्भरता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए हिटलर ने कहा था कि —

"हमारा कार्य सम्पूर्ण संसार का इस तरह से संगठन करना है जिससे कि प्रत्येक देश उस चीज का उत्पादन करे जिसका वह सब से अच्छे ढंग से उत्पादन कर सकता है। श्वेत जाति अथवा नार्डिक जाति इस महोत्तम योजना का संगठन करेगी। इसका यह अभिप्राय नहीं होना चाहिए कि दूसरी जाति का शोषण हो। हीन जाति उच्चतर जाति से भिन्न कार्य करने के लिए बाध्य है। उच्चतर जाति के हाथों में नियन्त्रण रहना चाहिए। ऐंग्लो-सेक्सनों के साथ-साथ यह नियन्त्रण हमारे ही हाथ में रहना चाहिए।"[2]

कहने का सार यह है कि राष्ट्रीय समाजवाद का लेबेन्सरम सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य और राजनीति की समस्याओं को सुलझाने का सब से निर्मम उपाय था। इसका अभिप्राय यह था कि सैनिक शक्ति के द्वारा संसार भर राजनीतिक प्रभुता स्थापित की जाए, मनु जाति अधीन जातियों का शोषण करके अपने जीवन-स्तर को ऊंचा रखे और अधीन जातियों को इस बात के लिए विवश कर दिया जाए कि वे बहुत हल्के स्तर का जीवन बितायें। एक शक्ति सारे संसार पर शासन स्थापित करे—और यह शक्ति संसार के अन्तर्गत को निश्चित करने वाली हो, इसके अलावा इस सिद्धान्त का एक अभिप्राय प्रदेशवाद भी था। सारा संसार नियन्त्रण के कुछ क्षेत्रों में बांट दिया जाएगा। प्रत्येक क्षेत्र के ऊपर एक-एक नियन्त्रणकारी शक्ति का शासन रहेगा। जियोपोलिटिक्स के सिद्धान्तवादियों ने अमेरिका के मनरो सिद्धान्त का यही अर्थ समझा था। वे मनरो सिद्धान्त को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनका विचार था कि मनरो सिद्धान्त ने इन धारणाओं को सबसे पहले स्वीकार किया था। जब अमेरिका ने यह कहा कि अमेरिकी

---

[1] इस अभिभाषण के लिए देखिए *Speeches* (London, 1942) ed. by Norman H. Baynes, pp 777 ff ये उद्धरण पृ० ८०४ f. और ७९४ पर हैं।

2. *Speeches*, p. 775

क्षेत्र के बाहर के राष्ट्रों को अधिकार मिलें तो उन्होंने इसे साम्राज्यवाद बताया। वे अपनी योजना को अकसर यूरोप का मनरो सिद्धान्त कहा करते थे। विभिन्न प्रदेशों के बीच के सम्बन्ध केवल शक्ति के द्वारा ही नियन्त्रित हो सकते थे। इसका कारण यह था कि प्रत्येक सधि एक स्थायी समझौता थी और प्रत्येक सीमा "एक शान्ति बिन्दु" थी जहा दो शक्तिया कुछ समय के लिए सतुलित हो जाती थी। प्रत्येक प्रदेश मे प्रभु जातीय समुदाय यह निश्चित करेगा कि अधीन समुदाय क्या आर्थिक कार्य करें और उनका क्या राजनीतिक स्थिति हो। न्यायिक दृष्टि से जातीय सिद्धान्त की भांति लेबेन्सरम भी लोक विधि और राज्य क्षेत्रातीत अधिकारो की व्यवस्था का निर्माण करेगा। अन्तर्राष्ट्रीय विधि दो दृष्टियो से लुप्त हो जाएगी। राष्ट्रो के समान अधिकार नही रहेंगे और जाति के बावजूद व्यक्तियो तथा अल्पसख्यकों को प्रधान अधिकार उपलब्ध नही होगे। विधि की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ ही राष्ट्रिकता भी लुप्त हो जाएगी। यद्यपि राष्ट्रीय समाजवाद को जर्मनी की राष्ट्रीय भावना से समर्थन प्राप्त हुआ था तथापि उसके सिद्धान्त ने एक ऐसे विश्व सगठन की कल्पना की जो राष्ट्रीय साम्राज्यो से पहले के विश्व सगठन से साम्य रखता था।

सर्वाधिकारवाद

Totalitarianism)

इटली के फासिज्म और जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवाद ने वर्ग तथा समुदाय के समस्त भेदो का विनाश करने की और राष्ट्र के समस्त प्रयत्नो को एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित करने की कोशिश की। वह एक लक्ष्य था—साम्राज्य-विस्तार। जिन कल्पनाओ मे उनके दर्शन का निर्माण किया वे भी इस एक लक्ष्य की सिद्धि मे निर्दिष्ट थी। जातीय लोक के राष्ट्रीय समाजवादी सिद्धान्त ने इस आन्दोलन के लिए मुसोलिनी के हीगेलवाद की अपेक्षा अधिक उपयुक्त दर्शन प्रदान किया। लेकिन, दोनो ही स्थितियो मे परिणाम एक था। दोनो देशो मे यह जरूरी हो गया कि सरकार प्रत्येक व्यक्ति अथवा समुदाय के प्रत्येक हित का नियत्रण करे और उसका राष्ट्रीय शक्ति के विस्तार मे प्रयोग करे। सर्वाधिकारवाद के सिद्धान्त के अनुसार सरकार की शक्ति ही अपरिमित नही थी, उसका कार्य भी अपरिमित था। सरकार के लिए यह जरूरी था कि वह प्रत्येक हित और प्रत्येक मूल्य का चाहे वह आर्थिक हो, नैतिक हो, अथवा सास्कृतिक हो, नियत्रण करे और राष्ट्रीय हित की दृष्टि, से उसका प्रयोग करे। सरकार की अनुमति के बिना राजनीतिक दलो, श्रमिक सघो, औद्योगिक अथवा वाणिज्यिक सस्थाओ आदि की स्थापना नही हो सकती थी। निर्माण, व्यापार अथवा कोई भी कार्य सरकार के विनियमन के बिना नही हो सकता था। सरकार के निदेशन के बिना न कोई प्रकाशन हो सकता था और न कोई

सार्वजनिक सभा। शिक्षा सरकार का साधन बन गई। सिद्धान्त में धर्म की भी यही स्थिति थी। तथापि, फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद दोनों को चर्चों का ऐच्छिक सहयोग नहीं मिला।[1] अवकाश और मनोरंजन प्रचार तथा रेजीमेंटेशन के माध्यम बन गए। व्यक्तिगत जीवन का ऐसा कोई निजी क्षेत्र नहीं रहा जिसे व्यक्ति अपना कह सकता। व्यक्तियों का ऐसा कोई संघ नहीं था जिसके ऊपर राजनीतिक नियंत्रण न हो। लोक की सदस्यता ने उसके व्यक्तित्व, उसकी क्षमताओं, और उसके अन्तरंग जीवन को पूरी तरह अपने में समाविष्ट कर लिया।

राजनीतिक संगठन के सिद्धान्त के रूप में सर्वाधिकारवाद का अर्थ अधिनायकवाद था। इसने जर्मनी के संघवाद तथा स्थानीय स्वशासन का अन्त कर दिया था। संसदें और स्वतन्त्र न्यायपालिका जैसी उदार राजनीतिक संस्थाएं नष्ट हो गईं। मताधिकार ने सावधानी से नियंत्रित जनमत संग्रहों का रूप ले लिया। राजनीतिक प्रशासन न केवल सर्वग्राही ही बना बल्कि वह एकात्म भी हो गया। इसका अर्थ यह था कि सम्पूर्ण सामाजिक संगठन ने एक व्यवस्था का रूप धारण कर लिया था और उसकी समस्त शक्तियों ने राष्ट्रीय साध्यों की पूर्ति का प्रयास किया था। सर्वाधिकारवाद के इस चित्र में कल्पना भी काफी मात्रा में थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नेता के हाथ में शक्ति पूरी तरह केन्द्रित थी। उच्चतम स्तर पर नीति निर्धारण का अधिकार केवल नेता को था। लेकिन नेता की शक्ति अपनी व्यक्तिगत प्रभुता पर निर्भर थी। जिस प्रशासनिक संगठन के द्वारा यह नीति कार्यान्वित की जाती, वह निजी साम्राज्यों, निजी सेनाओं, और निजी गुप्तचर व्यवस्थाओं का सभ्रम था।

"वास्तव में उत्तरदायित्वहीन निरकुशता सर्वाधिकारवादी प्रशासन के साथ असंगत है। राजनीति की अस्थिरता, व्यक्तिगत प्रतिशोध के भय, और स्वेच्छाचारी परिवर्तन के खतरे में उस प्रत्येक व्यक्ति के लिए जो शक्तिशाली होता है यह जरूरी है कि वह समान व्यवस्था में से जो शक्ति भी अपने लिए रक्षित रख सके, रखे। इसका परिणाम यह होता है कि कोई समान व्यवस्था नहीं रहती।'[2]

यदि यह बात प्रशासनिक स्तर पर सही थी तो यह सांविधानिक अथवा वैधिक स्तर पर और भी अधिक सही थी। राष्ट्रीय समाजवाद ने शासन की विविध शाखाओं के बीच कार्यों का उचित रीति से कभी कोई विभाजन नहीं किया। उसने शासन की ऐसी संस्थाओं का भी निर्माण नहीं किया जो निश्चित नियमों के अनुसार कार्य करती। जर्मनी के संविधानवाद की इन विशेषताओं को राष्ट्रीय समाजवाद ने नष्ट कर दिया।

---

1. गोएबिल्स को यहूदियों के बाद सब से अधिक घृणा पादरियों से थी। वह युद्ध के बाद उनको ठीक करना चाहता था। *Diaries*, p 146, Cf. 120 f, 138

2 Trevor-Roper, *Op Cit*, p. 2, *Cf.* p. 233.

जो प्रशासनिक और न्यायिक संस्थाएं बच रही थी उनमें दल के सदस्यों को भेज दिया गया। इन सदस्यों का उद्देश्य उनकी परम्परागत प्रक्रियाओं को नष्ट कर देना था। इसके साथ ही राष्ट्रीय समाजवाद ने अनेक नई संस्थाओं का निर्माण किया। इन संस्थाओं ने पुरानी संस्थाओं के बहुत से कार्यों को अपने ऊपर ले लिया। ये संस्थाएं अवसरानुकूल अनेक नए कार्य भी करती थी। इस सम्बन्ध में गोएबिल्स को शिकायत थी कि "हम एक ऐसे राज्य में रह रहे हैं जिसमें क्षेत्राधिकारों की स्पष्ट व्याख्या नहीं है—फलत जर्मनी की घरेलू नीति में निदेशन का अभाव है।"[1] राष्ट्रीय समाजवाद ने जर्मनी के रीसटेट के आदर्श को पूरी तरह से नष्ट कर दिया। इसीलिए उसके आलोचकों ने यहां तक कहा है कि वह राज्य ही नहीं था।

कार्यों का यह घपलेल और स्पष्ट वैधानिक सम्बन्धों का अभाव सर्वाधिकारवाद की विशिष्ट विशेषताएं थी। उदाहरण के लिए नेशनल सोशलिस्ट पार्टी अथवा शासन के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में कोई स्पष्ट सांविधानिक सिद्धान्त नहीं था। जर्मनी में नेशनल सोशलिस्ट पार्टी ही एक ऐसा दल था जिसकी सरकार ने अनुमति दी थी। विधि की दृष्टि से यह दल एक निगम था। लेकिन उस पर किसी तरह का वैधानिक या राजनीतिक नियन्त्रण नहीं था। इसके कार्य सब तरह के थे —विधायी, प्रशासनिक और न्यायी। यही स्थिति एलाइट गार्ड, स्टार्म ट्रूप्स और हिटलर यूथ की थी। ये सरकार के नहीं बल्कि दल के एजेंट थे। इन्हें विधायी और न्यायिक शक्तियां प्राप्त थी। ये कानून से बाहर के अनेक विशेषाधिकारों का उपभोग करते थे। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और सुरक्षा नष्ट हो गई। लेकिन, न्यायिक स्वविवेक का क्षेत्र असीम कर दिया गया। विधि खुद बहुत स्पष्ट हो गई। परिणामत, समस्त निर्णय वस्तुपरक हो गया। १९३५ में दण्ड संहिता का संशोधन कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप चाहे कोई कार्य वर्तमान विधि के विरोध में न हो लेकिन यदि वह स्वस्थ लोक-भावना के प्रतिकूल होता तो, उसे दण्ड दिया जा सकता था। इसी प्रकार यदि कोई पत्रकार ऐसी किसी चीज का प्रकाशन करता जो समान हितों के प्रतिकूल होती, जर्मन लोगों की एकता को कमजोर बनाती, किसी जर्मन के सम्मान अथवा गौरव को क्षति पहुंचाती, जो किसी व्यक्ति को उपहासास्पद बनाती, अथवा अशिष्ट होती तो पत्रकार का लाइसेंस जब्त किया जा सकता था। स्पष्ट है कि इस प्रकार के कानूनों के आधार पर किसी युक्तिसगत प्रशासन का निर्माण नहीं हो सकता था। विधि के समक्ष समानता और विधि की उचित

---

1. *Diaries*, p 301. राष्ट्रीय समाजवाद की सरकार के संगठन के बारे में देखिए, Franz Neumann, *Behemoth* (1944), pp 62 ff., Appendix, pp 521 ff. Cf. John H Herz "German Administration under the Nazi Regime", *Am Pol Sci Rev*, Vol XL (1946), p 682

प्रक्रिया के स्थान पर पूर्ण प्रशासनिक स्वविवेक की स्थापना की गई। व्यवहार में सर्वाधिकारवाद का अर्थ यह था कि यदि किसी व्यक्ति के कार्यों को राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा जाता था, और यदि सरकार या दल की कोई एजेंसी अपनी शक्ति का प्रयोग करना चाहती, तो फिर ऐसे व्यक्ति की खैर नहीं थी।

सामाजिक और आर्थिक सगठन में भी यही परिणाम दृष्टिगत हुए। सर्वाधिकारवाद ने आर्थिक और सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू का सगठन और निर्देशन करने की कोशिश की। उसने व्यक्तिगत अथवा ऐच्छिक प्रयत्नों के ऊपर किसी भी सामाजिक अथवा आर्थिक क्रिया को नहीं छोड़ा। यह विचार करना जरूरी है कि इस सगठन का व्यवहार में क्या अर्थ था। सर्वप्रथम, इसका अभिप्राय यह था कि ऐसे अनेक सगठनों को जो दीर्घकाल से आर्थिक और सामाजिक कार्य करते रहे थे, नष्ट कर दिया गया। श्रमिक सघों, वाणिज्यिक, व्यापारिक, और औद्योगिक सस्थाओं को, वयस्क शिक्षा, पारस्परिक सहायता, आदि के लिए निर्मित अनेक सामाजिक सघों को जो दीर्घकाल से ऐच्छिक आधार पर चल रहे थे और जो स्वशासी थे या तो नष्ट कर दिया गया या उन्हें सरकार ने अपने नियत्रण में ले लिया और उनमें अपने आदमियों को भर दिया। दल की सदस्यता प्राय अनिवार्य हो गई। अधिकारियों को नेतृत्व सिद्धान्त के अनुसार चुना जाता था। ये अधिकारी जिन नियमों के अनुसार कार्य करते थे उन नियमों का निर्णय सदस्यों के द्वारा नहीं होता था बल्कि नियुक्तिकारी एजेंसी के द्वारा होता था। नेतृत्व सिद्धान्त का सर्वत्र अभिप्राय यह था कि नियमित माध्यमों के द्वारा कार्य करने वाली सत्ता के स्थान पर व्यक्तिगत सत्ता और स्वशासन के स्थान पर रेजीमेंटेशन की स्थापना की गई। इसका परिणाम कुछ विरोधाभासपूर्ण हुआ। यद्यपि सर्वाधिकारवादी समाज अनेक उपायों से सगठित किया गया था और उसमें प्राय प्रत्येक कल्पित प्रयोजन के लिए एक सगठन था फिर भी व्यक्ति पहले की अपेक्षा कहीं अधिक एकाकी था। वह ऐसे सगठनों के हाथों में जिनसे उसका कथित सम्बन्ध होता था बिल्कुल असहाय हो गया। इन सगठनों के प्रयोजनों अथवा उनकी व्यवस्था के बारे में वह कुछ नहीं कह सकता था। यद्यपि राष्ट्रीय समाजवाद लोकतन्त्रात्मक समाज के आणविक व्यक्तिवाद से घृणा करता था, फिर भी सर्वाधिकारवादी समाज उससे कहीं अधिक अणुवादी था। जनता भीड़ बन गई। उसके ऊपर प्रचार का बड़ी आसानी से असर हो सकता था। सर्वाधिकारवाद का व्यावर्तक लक्षण सगठन नहीं था। प्रत्येक समाज सगठित होता है। उसका व्यावर्तक लक्षण सगठन का स्वरूप था, यह तथ्य था कि सगठन का उद्देश्य देश में रेजीमेंटेशन लागू करना था।

जहाँ तक आर्थिक सगठन का सम्बन्ध है, इटली के फासिज्म और जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवाद में बहुत अन्तर था। फासिज्म ने "नैगमिक राज्य" का रूप धारण किया। यह सिंडिकलिज्म के विचारों के अनुरूप था। जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद के

आरम्भिक दिनों में नैगमिक राज्य की अवश्य ही कुछ चर्चा चली थी, लेकिन नैशनल सोशलिस्ट पार्टी ने अपने कार्यक्रम के अन्य समाजवादी तत्वों के साथ ही साथ उसे भी बाद में छोड़ दिया। नैगमिक राज्य का विचार आसान था और वह फासिज्म के काफी पहले से चला आ रहा था। इसका अभिप्राय यह था कि मजदूरों और मालिकों को उत्पादन बढ़ाने के लिए आपस में सहयोग करना चाहिए। उन्हें हड़ताल या तालाबन्दी न करके मजदूरी के बारे में आपस में बातचीत करनी चाहिए। इटली में नैगमिक व्यवस्था धीरे-धीरे चौदह वर्षों में स्थापित की गई। इस व्यवस्था का मुख्य आधार यह था कि मुख्य-मुख्य उद्योगों में मजदूरों और मालिकों के संघों की स्थापना की गई। ये संघ दो प्रकार के थे। एक संघ तो इस प्रकार के थे जिनमें एक ही उद्योग में काम करने वाले मालिक और मजदूर रहते थे। दूसरे संघ ऐसे थे जिनमें विभिन्न उद्योगों के मजदूरों और मालिकों को एक-दूसरे के निकट आने का अवसर मिलता था। इस व्यवस्था का शिखर चैम्बर आफ कार्पोरेशन्स था। इसकी स्थापना १९३९ में हुई थी। सिद्धान्ततः, चैम्बर में विभिन्न उद्योगों के व्यावसायिक प्रतिनिधि होते थे। ये प्रतिनिधि सिंडिकलिस्टों तथा गिल्ड-समाजवादियों द्वारा प्रतिपादित पद्धति के अनुसार चुने जाते थे। सिद्धान्ततः, सिंडीकेट सामूहिक सौदेबाजी के लिए सेवानियोजकों और कर्मचारियों के स्वायत्तशासी संघ होते थे। यद्यपि, इनकी सदस्यता अनिवार्य नहीं थी, लेकिन चाहे तो सम्बद्ध व्यक्ति इनका सदस्य होता और चाहे न होता, उसकी मजदूरी में से सदस्यता की फीस काट ली जाती थी और मजदूरी सम्बन्धी ठेके सब के ऊपर समान रूप से लागू होते थे। जर्मनी में लेबर फ्रंट दल का ही एक भाग था। उसका संगठन व्यवसायों ने नहीं किया था। व्यवसायों से उसका केवल कुछ प्रशासनिक सम्बन्ध ही होता था। इसलिए, लेबर फ्रंट ने सामूहिक सौदेबाजी का कोई आडम्बर नहीं रचा। मजदूरी का निर्णय सरकार द्वारा चुने गए लेबर ट्रस्टी करते थे। सेवानियोजकों के वाणिज्य संघों को नष्ट नहीं किया गया। उन्हें नेतृत्व सिद्धान्त के अनुसार संगठित किए गए राष्ट्रीय समुदायों के रूप में बदल दिया गया।

इसलिए, स्पष्ट है कि इटली की व्यवस्था में संघ अपना विनियमन अपने आप करते थे। इन संघों में सेवानियोजकों तथा कर्मचारियों का समान प्रतिनिधित्व रहता था। इसके विपरीत जर्मनी में सरकार ने उद्योग-संघों के ऊपर सीधे अपना नियंत्रण स्थापित कर रखा था। तथापि, दोनों व्यवस्थाओं की कार्य-पद्धति में कोई खास अन्तर नहीं था। प्रबन्धकों तथा मजदूरों दोनों को संघ तथा कार्य-विषयक स्वतन्त्रता से हाथ धोना पड़ा। इटली में मजदूरों और प्रबन्धकों को वास्तव में समानता नहीं दी गई थी। दोनों ही देशों में अन्तिम निर्णय सरकार द्वारा अथवा दल द्वारा नियुक्त किए गए व्यक्तियों के हाथों में रहता था। इस तरह के व्यक्ति मजदूरों की अपेक्षा प्रबन्धकों के ज्यादा नजदीक रहते थे। दोनों ही देशों में एक सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि औद्योगिक इकाइयों के आकार को बढ़ाया जाए और छोटे-छोटे स्वतन्त्र उत्पादकों के कार्टेल बना दिए जाएं। मजदूरों को एक ठोस लाभ यह हुआ कि उन्हें पूरा रोजगार मिला। लेकिन, कुल राष्ट्रीय आय का

बहुत थोडा-सा अंश उनके हाथ आया। संक्षेप मे, इटली और जर्मनी दोनो देशों में सर्वाधिकारवाद की अर्थ-व्यवस्था नियन्त्रित युद्ध अर्थ-व्यवस्था से साम्य रखती थी। वास्तव में वह थी भी ऐसी ही।

सर्वाधिकारवाद का नियन्त्रण केवल अर्थ-व्यवस्था तक ही सीमित नहीं था। वह प्रेस, शिक्षा, विद्वत्ता, कला, राष्ट्रीय संस्कृति के ऐसे प्रत्येक अंग तक विस्तृत था जो राष्ट्रीय शक्ति का एक साधन हो सकता था। जब १९३३ में गोएबिल्स का मंत्रालय बना, तब उसे "राष्ट्र के मानसिक जीवन पर प्रभाव डालने वाले प्रत्येक तत्त्व के लिए उत्तरदायी ठहराया गया।" हिटलर ने कहा था, "हमें बच्चे की प्राइमर से लेकर अन्तिम समाचार-पत्र तक, प्रत्येक थियेटर और प्रत्येक चलचित्र पर नियंत्रण रखना है।" जर्मनी मे प्रभाव के किसी भी माध्यम की उपेक्षा नहीं की गई। प्रत्येक विषय, इसमें विज्ञान भी सम्मिलित था, की शिक्षा राष्ट्रीय अभिमान को बढ़ाने का एक साधन हो गई। शिक्षा का उद्देश्य यह हो गया कि प्रत्येक तरुण के दिमाग मे जाति की भावना ठूस-ठूस कर भर दी जाए।

"स्कूल मे पढने वाले प्रत्येक लडके और लडकी को रक्त की शुद्धता के स्वरूप और उसकी आवश्यकता का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इस ज्ञान को प्राप्त किए बिना उसे स्कूल छोडने की अनुमति नही मिलनी चाहिए"।[1]

शिक्षा-पद्धति के समस्त स्तरो तथा बौद्धिक कार्य के समस्त क्षेत्रों में इस कार्यक्रम को उपस्थित करने और लागू करने की कोशिश की गई। विधि विषयक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक मे कला के बारे मे कहा गया था :

"सर्वाधिकारवादी राज्य कला के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता ...... उसकी माग है कि कलाकारो को राज्य के प्रति सकारात्मक नीति ग्रहण करनी चाहिए।"[2]

जर्मनी मे ऐसी अनेक योजनाएं बन गई थी जिनके आधार पर ईसाई धर्म के स्थान पर नयी ट्यूटानिक उपासना-पद्धतियों को चालू किया जाता और देश से आर्येतर तत्त्वो को हटा दिया जाता। तथापि, सरकार ने नीति की दृष्टि से अपने को इनमें से किसी भी योजना के साथ समीकृत नही किया। जर्मन विश्वविद्यालयो से रोजेनबर्ग की शब्दावली मे "बिना किसी सीमा के अध्यापन की विषाक्त स्वतन्त्रता" लुप्त हो गई और

---

1. *Mein Kampf*, pp. 636 f.। उदाहरण के लिए *The Nazi Primer* देखिए। इसका अंग्रेजी अनुवाद एच० एल० चाइल्ड्स (न्यूयार्क, १९३८) ने किया है। यह हिटलर युथ के लिए जारी की गई एक पाठ्यपुस्तक थी।

2. Quoted by William M. McGovern, *From Luther to Hitler* (Boston, 1941), p 655.

इसके स्थान पर वहा "सच्ची स्वतन्त्रता" "राष्ट्र की सजीव शक्ति बनने की स्वतन्त्रता" प्रतिष्ठित की गई। यहूदी विद्वानो को वहा से हटा दिया गया, सकायो और छात्रो को "नेतृत्व सिद्धान्त" के अनुसार सगठित किया गया और जर्मनी की उच्च शिक्षा का उद्देश्य, राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्तो के अनुसार, राजनीतिक नेताओ को प्रशिक्षण देना हो गया। इस दृष्टि से वास्तविक शिक्षा सस्थाए विश्वविद्यालय नही, प्रत्युत् तकनीकी विद्यालय और दल के नेतृत्व विद्यालय थे। इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान जैसे सामाजिक शास्त्र प्रचार की शाखाए हो गए तथा उनका उद्देश्य जातीय कल्पना का प्रचार और प्रसार करना हो गया। सभवत, उस समय तो मूर्खता की पराकाष्ठा ही हो गई जब भौतिकशास्त्र विषयक एक ग्रन्थ मे कहा गया था, 'मनुष्य की अन्य किसी सृष्टि की भांति विज्ञान भी जातीय होता है और यह रक्त द्वारा मर्यादित होता है।"[1]

यह सही है कि इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण विचारो ने विज्ञान अथवा इजीनियरी की वास्तविक शिक्षा पर कोई असर नही डाला। तथापि, इससे हमे यह पता चल जाता है कि सर्वाधिकारवादी शासन मे कैसी-कैसी विकट समस्याए उठायी जाती हैं। जो शासन अपने हाथ मे अधिकतम सैनिक शक्ति और अधिकतम सैनिक नियत्रण रखना चाहता है, वह अपनी शिक्षा-पद्धति को भी विशेष प्रकार से ढालने की कोशिश करता है। उसे यह देखना होता है कि क्या वह मानवी शास्त्रो और सामाजिक शास्त्रो को विकृत कर के प्राकृतिक विज्ञानो को इतना शक्तिसम्पन्न रख सकता है कि वे टेक्नालॉजी की पूरी मदद दे सकें। यदि शासन पहला काम नही कर पाता, तो उसके अस्तित्व का आधार समाप्त हो जाता है। यदि शासन दूसरा काम नही कर पाता, तो उसकी शक्ति का आधार समाप्त हो जाता है। इन दोनो को कुछ समय के लिए तो मिलाया जा सकता है, लेकिन इनको स्थायी रूप से मिलाना असम्भव है। जर्मनी ने अपने अनेक यहूदी गणितज्ञो और भौतिकशास्त्रियो को देश से निकाल दिया था। इससे उसके युद्ध विषयक अनुसधानो को कितना नुकसान पहुचा, इस बारे मे हम कुछ नही कह सकते।

राष्ट्रीय समाजवाद, साम्यवाद और लोकतन्त्र

(National Socialism, Communism and Democracy)

पिछले पच्चीस वर्ष के राजनीतिक सिद्धान्तो का विवरण उस समय तक पूर्ण नही होगा जब तक कि हम राष्ट्रीय समाजवाद की साम्यवाद से और इन दोनो की उदार

1 इस वक्तव्य तथा इस तरह के अन्य वक्तव्यो के लिए देखिए—Edward Y Hartshorne, *The German Universities and National Socialism* (Cambridge, Mass, 1937), pp 112 ff

लोकतन्त्र से तुलना न कर लें। इस युग में ये तीनों ही विचारधाराएं ऐसी रही हैं जो मनुष्य की निष्ठा की मांग करती हैं। इन विचारधाराओं के नाम पर इनके अनुयायियों ने अपूर्व आत्म-त्याग और मनोरथ प्रयत्नों का परिचय दिया है। साम्यवाद और उदार लोकतन्त्र के अस्थायी सहयोग ने राष्ट्रीय समाजवाद को पराजित कर दिया। साम्यवाद और लोकतन्त्र के सहयोग के परिणामस्वरूप इन दोनों का भेद और भी प्रखर हो गया है। कोई बहुत आशावादी विचारक ही यह भविष्यवाणी कर सकता है कि राष्ट्रीय समाजवाद के उद्देश्य एक नए रूप में फिर नहीं उठ सकते। साम्यवाद और लोकतन्त्र का साम्य-वैषम्य राजनीतिक सिद्धान्त की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों विचारधाराओं के राजनीति के सम्बन्ध में, उसके स्वरूप के बारे में तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसके योगदान के बारे में अलग-अलग विचार हैं। हमें उनके दृष्टिकोण के भेदों को समझने की कोशिश करनी चाहिए।

राष्ट्रीय समाजवाद और साम्यवाद की बहुत-सी समानताएं बिल्कुल साफ दिखाई देती हैं। दोनों का जन्म उस सामाजिक और आर्थिक निराशा के फलस्वरूप हुआ था जो प्रथम युद्ध का परिणाम थी और पश्चिमी समाज की अन्तर्भूत विसंगतियों को प्रगट करती थी। दोनों राजनीतिक अधिनायकवाद थे। दोनों को संसदीय प्रथाओं से घृणा थी। यूरोप के शताब्दियों के राजनीतिक अनुभव ने उदारवादी सिद्धान्तों के पथ-प्रदर्शन में जिन संस्थाओं को अधिनायकवाद की तुलना में अधिक स्थायी और अधिक सुविधा-जनक समझा था, साम्यवाद और राष्ट्रीय समाजवाद की उनमें आस्था नहीं थी। इन दोनों की विचारधारा में अपने विरोधियों की हत्या एक राजनीतिक संस्था के रूप में स्वीकृत थी। दोनों केवल एक राजनीतिक दल को ही सहन करते थे। यह एक दल अपने बल-प्रयोग की व्यवस्था को कायम रखता था। दोनों के सिद्धान्त के अनुसार दल अपने आप में निर्मित अभिजाततन्त्र था। इसके नेता अपना यह मिशन समझते थे कि वे दूसरों को सही राह दिखाएं, उनको उचित प्रशिक्षण दें, और शेष मानव जाति को उस रास्ते पर चलने के लिए विवश करें जिसे वे उसके लिए अच्छा समझते हैं। दोनों विचारधाराएं इस अर्थ में सर्वाधिकारवादी थीं कि उन्होंने व्यक्तिगत निर्णय और सार्वजनिक नियंत्रण के क्षेत्रों का भेद समाप्त कर दिया। दोनों विचारधाराओं ने शिक्षा-पद्धति के माध्यम से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने की कोशिश की। दोनों के दर्शन रूढ़िवादी थे। एक आर्य जाति के नाम पर और दूसरा सर्वहारा वर्ग के नाम पर कुछ अन्तर्दृष्टि का दावा करता था और अपने को इस योग्य समझता था कि कला, साहित्य, विज्ञान और धर्म के लिए नियम निर्धारित कर दे। दोनों ने एक ऐसे मानसिक गठन को प्रेरणा दी जो धार्मिक कट्टरपन से साम्य रखता है। दोनों की नीति भी समान थी। वे अन्धा-धुंध दावे करते थे। वे विरोधियों को गालियां देते थे। यदि वे खुद कोई रियायत करते थे तो उसे स्यानी चाल समझते थे और यदि उनका विरोधी कोई रियायत करता था तो उसे कमजोरी का चिन्ह मानते थे। वे *समाज को आर्थिक अथवा जातीय शक्तियों की व्यवस्था मानते थे*। इन

शक्तियों के बीच सामंजस्य पारस्परिक सद्भावना और आदान-प्रदान के द्वारा नहीं होता, बल्कि संघर्ष के द्वारा होता है। इसलिए, दोनों ही राजनीति को शक्ति-प्रदर्शन का एक साधन समझते थे।

इन तुलनाओं के बावजूद यह निश्चित है कि नैतिक और बौद्धिक दोनों दृष्टियों से साम्यवाद राष्ट्रीय समाजवाद की अपेक्षा कहीं उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित था। शुरू-शुरू में साम्यवाद का प्रयोजन बड़ा सदय और मानवोपकारी था। उसकी ईमानदारी सन्देहातीत थी। उसका सिद्धान्त दो पीढ़ियों की मार्क्सवादी विद्वत्ता के परिणामस्वरूप विकसित हुआ था। वह मार्क्सवाद के साथ नैतिक और बौद्धिक दोनों रूपों से सम्बन्धित था। उसने मार्क्स के साथ अपने सम्बन्ध को एक रूढ़ि का रूप दे दिया था। इसके विपरीत राष्ट्रीय समाजवाद का सिद्धान्त अवसरवाद और सनकीपन तथा बौद्धिक बेईमानी का परिणाम था। उसका नीतिशास्त्र विकृत नीतिशास्त्र था। मार्क्सवाद का आधार यह ज्ञान था कि आधुनिक टैक्नोलॉजी और पूंजीवाद संसार में मानवी मूल्यों का विघटन कर रहे हैं और लोगों को अनैतिकता की ओर ले जा रहे हैं। इस बात को उदारवाद ने भी समझ लिया था। उदारवादी राजनीति ने जो लाभ पहुंचाए थे मार्क्सवाद उनको कम जरूर समझता था लेकिन वह उन्हें पूरी तरह अस्वीकार नहीं करता था। उसका दावा था कि वह लोकतन्त्र को सीमित नहीं कर रहा है बल्कि उसका और विकास कर रहा है। रूस की परिस्थितियां ऐसी थीं कि लेनिन मार्क्सवाद से उसके लोकतन्त्रात्मक तत्वों को बहिष्कृत करने के लिए बाध्य हो गया। लेकिन उसने यह जान-बूझ कर नहीं किया था। कुल मिलाकर साम्यवाद के उद्देश्य जनहितकारी रहे यद्यपि कभी कभी उसके साधन बड़े कठोर हो जाते थे। इसके विपरीत फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद ने सामाजिक और आर्थिक विशेषाधिकारों को कायम रखा और यही उनकी शक्ति का आधार था। उन्होंने लोगों को हीन जीवन-स्तर अपनाने के लिए बाध्य किया। उन्होंने जनता की भावना से अपील की और उसे विश्वास दिलाया कि वह एक महान् राष्ट्रीय कार्य में भाग ले रही है। यह महान् राष्ट्रीय कार्य आर्थिक साम्राज्यवाद था। फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद ने जनता को यह भी आश्वासन दिया कि समय आने पर उसे भौतिक लाभ प्राप्त होंगे। लेकिन, यह समय कभी नहीं आया। राष्ट्रीय समाजवाद ने राष्ट्रीय समुदाय के लिए जिस शक्ति और विशेषाधिकार व्यवस्था की कल्पना की थी उसने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए भी वैसी ही व्यवस्था का स्वप्न देखा। अन्त ने यह सिद्ध कर दिया कि यह योजना कितनी निस्सार और काल्पनिक थी। इसने युद्ध को जन्म दिया। युद्ध से अपरिमित हानि हुई और लोगों को कष्ट पहुंचा। इसकी पहले से कल्पना की जा सकती थी। राष्ट्रीय समाजवादी सरकार ने पराजय को करीब करीब विनाश का ही रूप दे दिया था। वह सरकार जिसने व्यक्तिगत अधिनायकवाद का रूप धारण कर लिया था, त्यागपत्र भी नहीं दे सकती थी जिससे कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था और राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन ठीक बना रहता।

राष्ट्रीय समाजवाद और साम्यवाद के दर्शनों को ऐसा कोई व्यक्ति नहीं समझ सकता था जो भक्त न हो। दोनों दर्शनों की माग थी कि जो व्यक्ति उनको समझना चाहता है वह पूरी तरह से आत्म-समर्पण कर दे। दोनों अपने लिए एक अन्तर्दृष्टि का दावा करते थे। यह अन्तर्दृष्टि सदैव सही होती थी। बाहर का कोई व्यक्ति इस अन्तर्दृष्टि को नहीं समझ सकता था। इन दोनों मे से कोई भी दर्शन बौद्धिक और नैतिक संप्रेषण का माध्यम नही था। राष्ट्रीय समाजवादी आर्य विज्ञान और आर्य कला का दावा करते थे। साम्यवादी सर्वहारा-विज्ञान और सर्वहारा-कला का दावा करते थे। राष्ट्रीय समाजवादी अपने दावो के समर्थन मे आर्येतर जातियो के पतन का और साम्यवादी पूजीपतियो के पतन का उदाहरण देते थे। दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी ये दोनों विचारधाराए और अधिनायकवाद एक स्तर पर नही थे। साम्यवादी दर्शन कभी भी बुद्धिविरोधी नही रहा था। साम्यवाद का ईमानदारी से विश्वास था कि द्वन्द्वात्मक पद्धति तर्क का एक साधन है। इसके आधार पर विभिन्न कार्यों और व्यापारो की युक्तिसंगत रीति से परख हो सकती है। सम्भवत, साम्यवाद का तर्क मे आवश्यकता से अधिक विश्वास था। उसका यहा तक यकीन था कि वह मार्क्सवादी सूत्रो के आधार पर इतिहास के प्रवाह, मानवी प्रेरणाओं के सचालन, और संस्थाओ के स्वरूप को समझ सकता है। इसके विपरीत राष्ट्रीय समाजवाद का कहना था कि उसका दर्शन एक कल्पना है जो विश्वास करने की इच्छा के द्वारा वास्तविक बनता है। उसने राष्ट्रों के बीच जाति की अलभ्य दीवार खडी कर दी। उसने अपने नक्शो को भी सहमति का केवल एक ही आधार दिया। वह आधार था भावना का नशा। यहा यह स्मरण रखना चाहिए कि जब द्वन्द्वात्मक पद्धति का बुद्धिविरोध सामने दिखाई पडने लगता है तब दोनों रूढ़िवादी सिद्धान्तो का भेद बहुत क्षीण रह जाता है। यदि कोई संघर्ष उस समय तक समाप्त नही होता जब तक उसके विरोधियो को नष्ट नही कर दिया जाता, यदि बुद्धि और उसके साथ ही विज्ञान, कला और दर्शन सामाजिक वर्ग से बधी हुई हैं, यदि श्रमिक वर्ग और पूजीपति वर्ग उस समय तक कभी नही मिल सकते जब तक कि वर्ग-विहीन समाज की काल्पनिक व्यवस्था मे दोनो का उदात्तीकरण नही हो जाता तो परिणाम यही निकलता है—मानो राष्ट्रीय समाजवाद और साम्यवाद मे कोई आधारभूत अन्तर नही है। तथापि इतना निश्चित है कि राष्ट्रीय समाजवाद के नेता अपना विनाश एक आदर्श के रूप मे कभी स्वीकार न करते।

उदार लोकतन्त्र और साम्यवाद अथवा राष्ट्रीय समाजवाद का मूल अन्तर यह है कि लोकतन्त्र सदैव ही सामान्य संप्रेषण मे विश्वास रखता है। चाहे तो सार्वभौम प्राकृतिक अधिकारो का प्रश्न हो अथवा अधिकतम सुख का या समान हित का प्रश्न हो, लोकतन्त्र मे सदैव ही एक ऐसे माध्यम की कल्पना की जाती रही है, जिसके द्वारा सामान्य बुद्धि तथा सदिच्छा वाले व्यक्ति राष्ट्र और सामाजिक वर्ग की सीमाओ को पारकर एक-दूसरे के साथ बातचीत कर सकते हैं और पारस्परिक मतभेदो को सुलझा सकते हैं।

इसलिए लोकतन्त्र का सामाजिक दर्शन समुदाय को निर्वैयक्तिक शक्तियो का, चाहे वे जातीय हो और चाहे आर्थिक, एक जमघट नही समझता। वह समुदाय को मानव प्राणियो तथा मानवहितो का सश्लेष समझता है। लोकतन्त्र की मान्यता है कि ये हित सदैव ही एक-दूसरे के विरोधी होते हैं और उनमे सामजस्य तथा पुन सामजस्य स्थापित करने की निरन्तर आवश्यकता बनी रहती है। लोकतन्त्र की आधारभूत धारणा है कि ये सामजस्य सम्भव हैं क्योकि सप्रेषण सम्भव है। फलत, लोकतन्त्र मे मानव सम्बन्धो का सचालन शक्ति के आधार पर नहीं, प्रत्युत् बातचीत के आधार पर होता है। लोकतन्त्र ने सामाजिक सम्बन्धो के निर्वाह मे शक्ति को एक सार्वभौम साधन नही, प्रत्युत् अन्तिम साधन माना है। इसलिए लोकतन्त्र का नीतिशास्त्र पारस्परिक रियायतो और समझौतो को सिद्धान्त से विकल्प नही मानता। वह उन्हें सहमत होने के रास्ते मानता है। उसका विश्वास है कि इस तरह से जो समझौते होते हैं, वे कुल मिला कर उन समझौतो से जिनमे किसी एक पक्ष अथवा एक हित की अन्य सब के ऊपर प्रधानता हो, अधिक सन्तोषजनक होते हैं। लोकतन्त्र के दर्शन का उद्देश्य सुलह-वार्ता को सीमित करना नही, प्रत्युत् उसका विस्तार करना है। इस उद्देश्य का आधार एक ऐसा स्वस्थ और सामान्य रूप से स्वीकृत विचार है जिसको समझने के लिए विशेष मनोवैज्ञानिक व्यायाम की आवश्यकता नही है। उसका आधार यह तथ्य है कि मानव व्यक्तित्व और सामाजिक सम्बन्धो जैसे नाजुक मामलो को सुलझाने के लिए बल का आश्रय लेना बड़ा ही कठोर और रूखा उपाय है। यह उपाय अक्सर अपने प्रयोजन मे सफल नही होता। यदि वह अपने प्रयोजन मे सफल भी हो जाता है, तो अपने पीछे इतना क्षोभ, इतनी निराशा और इतनी उग्रता छोड़ जाता है कि भावी असफलता का शिलान्यास हो जाता है। इसलिए, लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त के अनुसार राजनीति को एक ऐसा क्षेत्र होना चाहिए जिसमे सुलह की बातचीत हो सके। उसकी सस्थाएं ऐसी एजेंसिया होनी चाहिए जिनमे विचारो का आदान प्रदान हो सके ताकि सफल समझौतो पर आसानी से पहुंचा जा सके। यह दृष्टिकोण राजनीति को एक प्रकार का सामाजिक महत्त्व प्रदान करता है। जो सिद्धान्त राजनीति को केवल सामाजिक शक्तियो का प्रदर्शन अथवा सब से मजबूत शक्ति को कार्यान्वित करने का उपाय समझता है, उसमे राजनीति का कोई सामाजिक महत्त्व नही हो सकता।

तथापि, सप्रेषण और बातचीत का नैतिक अर्थ के साथ ही साथ कुछ भावनात्मक अर्थ भी है। वे समाज मे स्वतन्त्र बुद्धि के तत्त्व की कल्पना करते हैं। यह बुद्धि जाति अथवा सामाजिक स्थिति से नही बधी होती। यह बुद्धि सामाजिक शक्तियो की ओर ध्यान दे सकती है और कुछ सीमाओ में उनका निदेशन कर सकती है। वे समाज मे सदिच्छा के एक तत्त्व की भी कल्पना करते हैं। यह तत्त्व बुद्धि से असम्बद्ध नही होता। यह जाति अथवा सामाजिक स्थिति से बधा हुआ नही होता। उसका उद्देश्य यह होता है कि वह कम-से-कम सघर्ष और बल-प्रयोग के द्वारा सामाजिक शक्तियो मे सामजस्य स्थापित

करे। इस अन्तिम धारणा में परम्परागत लोकतन्त्रात्मक गुणों का राजनीतिक अर्थ छिपा हुआ है। वह यह विश्वास है—यह विश्वास अरस्तू के समय से उदारवादी चिन्तन से कभी लुप्त नहीं हुआ है—कि राजनीतिक धरातल पर मनुष्यों को एक-दूसरे से स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर मिलना है। राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता और समानता न तो अन्तरंग प्राकृतिक अधिकार हैं और न सुख के बाहरी साधन हैं। वे ऐसे नैतिक दृष्टिकोण हैं जिनके बिना न तो सच्चा संप्रेषण हो सकता है और न सुलह की बातचीत हो सकती है। दिमागों का वास्तविक मिलन उसी समय हो सकता है जबकि दोनों विवादग्रस्त पक्ष एक-दूसरे की ईमानदारी पर यकीन करें, यह मानें कि दूसरे का दृष्टिकोण नितान्त विचारहीन अथवा मूर्खतापूर्ण नहीं है। इस दृष्टिकोण के बिना सद्भाव पैदा नहीं हो सकता। इस दृष्टिकोण को अपनाने का अर्थ यह हो जाता है कि हम दूसरे व्यक्ति को भी बराबरी का दर्जा दे रहे हैं। जब प्रत्येक पक्ष अपने दृष्टिकोण को निस्संकोच भाव से खुल कर व्यक्त करता है, तब समझौते की सम्भावना अधिक होती है। यदि दोनों पक्षों में ईमानदारी और सदिच्छा है, तो इस बात को माना जा सकता है,—यह मान्यता अनिवार्य है लेकिन लाभदायक भी है—कि स्वतन्त्र राजनीति पक्षधर होती है लेकिन यह पक्षधरता ऐसी नहीं है कि इसकी कोई सीमा ही न हो अथवा इसके कोई नियम ही न हों। इन दृष्टिकोणों के कारण संप्रेषण बोध को और बातचीत समझौते को जन्म देती है। वे इस बात की गारन्टी नहीं हैं कि प्रक्रिया सफल होगी लेकिन उनकी अनुपस्थिति इस बात की गारन्टी अवश्य है कि वह विफल होगी। लोकतन्त्र की ये नैतिक धारणाएं शुद्ध व्यक्तिगत दृष्टिकोणों के रूप में कमजोर होती हैं। राजनीति में उनका सफल क्रियान्वीकरण संस्थाओं तथा प्रक्रियाओं पर निर्भर होता है। इन प्रक्रियाओं की खोज करना—ये खोजें प्रौद्योगिक खोजों की भांति ही महत्त्वपूर्ण हैं—प्रथम श्रेणी की मानव बुद्धि का, मानवी सम्बन्धों में इस बुद्धि के प्रयोग का, कार्य है। इसलिए जैसा कि आलोचकों ने कहा है, लोकतन्त्रात्मक समाज का दर्शन एक प्रकार का बुद्धिवाद है। यह एक ऐसा बुद्धिवाद है जो यह मान लेता है कि समझ सम्भावना के क्षेत्र से बाहर नहीं है और वह सदिच्छा तथा सहिष्णुता पर निर्भर ही नहीं है, बल्कि उसका विस्तार भी करती है।

Selected Bibliography

Rosenberg's Nazi Myth. By A. R. Chandler. Ithaca, 1945.

Fascist Italy. By William Ebenstein, New York, 1939

The Nazi State. By William Ebenstein, New York, 1943

Mussolini's Italy. By Herman Finer, New York, 1935.

The Dual State. By Ernst Fraenkel. Trans. by E. A. Shils. New York, 1941.

The Crisis of the National State By W Friedmann London, 1943

A History of Nationalism By Konrad Heiden New York, 1935

Der Fuehrer. By Konrad Heiden. Trans by Ralph Manheim Boston, 1944.

Freedom and Order . Lessons from the War. By Eduard Heimann. New York, 1947 Ch 2

The Educational Philosophy of National Socialism. By George F. Kneller. New Haven, 1941

The Third Reich By Henri Lichtenberger Trans by Koppel S. Pinson. New York, 1937.

The Fruits of Fascism By Herbert L. Matthews. New York, 1943

Mussolini in the Making By Gaudens Megaro. Boston, 1938

What Nietzsche Means By George A Morgan. Cambridge, Mass, 1941.

The Nazi Economic System. By Otto Nathan and Milton Fried. Durham, North Carolina, 1944.

Behemoth : The Structure and Practice of National Socialism, 1933 1944 By Franz Neumann. Second edition. New York, 1944

Permanent Revolution. By Sigmund Neumann New York, 1942.

The Rise of Italian Fascism, 1918-1922. By A Rossi Trans by Peter and Dorothy Wait London, 1938

The Plough and the Sword By Carl T Schmidt New York, 1938.

The Corporate State in Action By Carl T. Schmidt. London, 1939.

The Last Days of Hitler. By H. R Trevor-Roper. New York, 1947.